गण श्री धर्मा-प्रणीत द्वितीय

श्री सू कृ ं त्र

[प्र श्रुत-स्कन्ध]

[-छाया-अन्वयार्थ-भावार्थ एव अम ोधि ी व्याख्या समन्वित]

वाद और व्याख्या

पंडि रत्न ी हे चन्द्र जी म०

प्रेरक

नवयुग धार पंडित श्री पद्मचन्द जी रा

' ' री जी'

सपादक

अमर मुनिजी (प्रधान सम्पा)

मुनिश्री नेमिचन्द्र जी (सह-सम्प)

प्रकाशक

ात्म-ज्ञान पीठ—मान ा

जैनधर्म दिवाकर आगम-रहस्यवेत्ता स्व० आचार्य स   श्री आत्माराम जी महाराज
की जन्म शताब्दी [वि० स० २०३६] के   ध्य मे प्रकाशित

श्री सूत्र   ाग सूत्र

● अनुवादक एव व्याख्याकार
पडितरत्न श्री हेमचन्द्रजी महाराज

सपादक
प्रवचनभूपण श्री अमरमुनि जी महाराज

● प्रकाशक
आत्म-ज्ञानपीठ-
जैन-ध
मानसा मण्डी (पजाब)

वीर सवत् २५००
वि० स० २०३६ आश्विन
ई० सन् १६७६ सितम्बर

मुद्रक
श्रीचन्द सुराना (आगरा) के निदेशन से
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२

प्राप्ति स्थान
० वीर
पो० राजगृह
जि० नालन्दा (बिहार)
० सन्मति   ीठ
लोहामण्डी, आगरा-२

मूल्य   मात्र ५०) पचास रुपया

या विपय एव स्त्री के वशीभूत होकर कदापि उत्तम अनुष्ठान नहीं करते, वे इस कीचड मे फँसकर आकाशलोक या पृथ्वीलोक मे वार-वार जन्म-मरण करते हैं, अथवा वे वेपमात्र से प्रव्रज्याधारी है किन्तु विरति से रहित होने से राग-द्वेपयुक्त होकर उभयभ्रष्ट होकर बार-वार जन्म-मरण करते रहते है ।

कई लोग यह सोचते हे कर्म कर्म से समाप्त होते हे, परन्तु तीर्थंकरो का यह सिद्धान्त हे कि अज्ञानी जीव ही ऐसा सोचते हैं । पापकर्मो मे वे गहरे लिप्त होते है, इस कारण अपने पूर्व-पापो को क्षीण नही कर ˋ, नये पापकर्म और वाँधते रहते है । जो धीर और आरम्भ-परिग्रह से विरक्त होते है, वे ही अपने आस्रवो को रोककर पाप- ˚ य करते हे । जसे उत्तम वैद्य चिकित्सा के द्वारा रोग निवारण करता है, वैसे ही वीरपुरुप आस्रवो को रोककर अशत शैलेशी अवस्था मे कर्मो का करते है । प्रज्ञोन्नत पुरुष परिग्रह का सर्वथा त्याग कर लोभ का उल्लघन कर जाते है, अथवा लोभ और भय से वे परे हो जाते हैं । अथवा वे लोभ से परे होने के कारण सतोपी है, और ऐसे परम-सतोपी पुरुप आत्मतृप्त, आत्मरत, आत्मतुष्ट हो जाते है, वे पापकर्म स्वप्न मे भी नही करते । ऐसे पुरुष या तो वीतराग है, या यद्दच्छालाभ सतुष्ट है ।

जो पुरुप लोभातीत हो जाते है, वे वीतराग होते हैं । वे पचास्तिकायात्मक इस प्राणीलोक के अतीत, अनागत तथा वर्तमान के समस्त दु खो या वृत्तान्तो को जानते हैं । वे विभगज्ञानी की तरह विपरीत रूप से नही, किन्तु जिसका जैसा सुख-दु ख आदि है, उसे वे वैसा ही देखते हैं । शास्त्रकार कहते है—'णेतारो अन्नेसि अणन्नणेया ।' अर्थात्—वे केवलज्ञानी या चतुर्दशपूर्वधर परोक्षज्ञानी ससारसागर को पार करना चाहते हुए दूसरे भव्यजीवो को मोक्ष मे पहुँचा देते हैं, अथवा वे उनके मार्गदर्शक बनते हे, सदुपदेश देते हैं, परन्तु उनका कोई मार्गदर्शक (नेता) नही होता, वे स्वयबुद्ध होते हैं । इसलिए उन्हे किसी दूसरे पुरुष से तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा नही रहती । अथवा हित-प्राप्ति और अहित-त्याग के विषय मे ा कोई नेता नही होता । वे स्वयबुद्ध, तीर्थंकर, गणधर आदि ससार अथवा ससार के कारणरूप कर्मों का अन्त करते हैं ।

ऐसे स्वयबुद्ध महान् पुरुष पापकर्म से विरक्त तथा ज्ञेय पदार्थो को जानने वाले वे प्रत्यक्षदर्शी या परोक्षदर्शी पुरुष प्राणिहिंसा की आशका से न तो स्वय पाप करते हैं और न दूसरो से कराते है । वे प्राणातिपात आदि १८ ही पाप-स्थानो से सदा विरक्त-विरत होकर सयम पालन मे प्रयत्नशील रहते है । वे धीर पुरुष हेय-ज्ञेय-उपादेय को भली-भाँति जानकर नि शक मार्ग, जो जिनवरकथित है, उसे अपनाकर कर्म-विदारण करते हैं । वे ही वीर हैं, धीर हैं । परीषह-उपसर्ग को सहने मे धीर-वीर हैं । इसीलिए शास्त्रकार अन्त मे एकान्त ज्ञानवाद एव एकान्त

ा ी

जैनधर्म दिवाकर स्व० आचार्य सम्राट श्री आत्मारामजी महाराज ने जिन-वाणी की अपूर्व प्रभावना की थी। अर्द्धमागधी भाषागत जैनशास्त्रो का हिन्दी अनुवाद और विस्तृत टीकाएँ लिखकर उन्होने आगमो का अमृत जन-जन के लिए सुलभ बनाने का ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न किया था। उन्ही की प्रेरणा व मार्गदर्शन से स्थानकवासी श्रमण परम्परा के अनेक विद्वान् मुनियो ने आगमो का सरल-सुबोध हिन्दी भाषा मे सपादन-प्रकाशन कर श्रुतज्ञान-दान का महान् कार्य किया है। इसी परम्परा मे सस्कृत-प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ पडितप्रवर श्री हेमचन्द्रजी महाराज ने श्री सूत्रकृताग सूत्र का अनुवाद एव विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। इसका सम्पादन, पडितश्री जी के सुयोग्य शिष्य नवयुग सुधारक भडारी श्री पदमचन्द जी महाराज के विद्वान शिष्य प्रवचनभूषण श्री अमरमुनि जी महाराज ने किया है।

भडारी श्री पदमचन्दजी महाराज जिनधर्म की प्रभावना मे सदा अग्रणी रहे हैं। स्थान-स्थान पर चिकित्सालय, विद्यालय, वाचनालय, पुस्तकालय तथा अस-हाय सहायता केन्द्र आदि की स्थापना मे प्रबल प्रेरणा देकर आप मानव जाति की महान सेवा कर रहे हैं, साथ ही भगवान महावीर के उच्च सिद्धान्तो का सक्रिय सजीव प्रसार कर रहे हैं। आपश्री के सद्प्रयत्नो से सम्पूर्ण मानवता धन्य हो रही है। पजाब विश्वविद्यालय मे जैनविद्या की चेयर स्थापना मे भी आपश्री का मार्गदर्शन व सहयोग प्रमुख रहा है। पजाब के गाँव-गाँव मे सच्चरित्र व सद्ज्ञान की ज्योति जलाने की आपकी भावना सफल हो रही है।

प्रस्तुत सूत्र श्रीसूत्रकृताग का सपादन व प्रकाशन भी आपश्री की प्रखर प्रेरणा का ही सुफल है। आपश्री की प्रेरणा से सपादन भो शीघ्रसम्पन्न हुआ और मुद्रण एव प्रकाशन भी। हम आपके सदा आभारी रहेगे।

प्रवचनभूषण श्री अमरमुनि जी तटस्थ विचारक व लेखक मुनि श्री नेमीचन्द्र जी महाराज का भी अथक श्रम इस पुण्य कार्य मे लगा है। वास्तव मे सपादक द्वय की निष्ठा का ही यह सुपरिणाम है। सस्था आपकी सदा कृतज्ञ रहेगी।

प्रकाशन मे सहयोग देने वाले दानी सज्जनो ने शास्त्र-सेवा के पुण्यकार्य मे दिल खोलकर सहयोग दिया है। हम उनको सस्था की तरफ से हार्दिक धन्यवाद देते हैं। साथ ही सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीचन्दजी सुराना ने इस गभीर आगम ग्रन्थ का सुन्दर व शुद्ध मुद्रण आदि कार्य सम्पन्नकर हमे उत्साहित किया है, हम उनके सहयोग को भी सदा स्मरण रखेंगे।

आशा है हमारी सस्था का यह प्रथम पुष्प पाठको के लिए उपयोगी व उपकारी सिद्ध होगा।

मत्री—
हाकमचन्द
आत्म ज्ञान पीठ, मानसामडी

❀

। र न्या ।

भगवद्वाणी का अमृत जन-जन को सुलभ हो सके, इसलिए शास्त्र का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की प्रबल प्रेरणा नवयुग सुधारक भंडारी श्री पदमचन्द जी महाराज की वाणी से मिली। उनके सुयोग्य शिष्य, प्रवचन भूषण श्री अमरमुनिजी के प्रवचनो से उत्साह दुगुना बढा। हमारे पुण्य-शाली गुरुभक्त सज्जनो ने उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग दिया, और यह कार्य सुन्दरतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

यहाँ उन भाग्यशाली दाताओ की शुभ नामावली आदर और आभार पूर्वक प्रकाशित की जाती है—

१ श्री दीवानचन्द विनोदकुमार जैन, गीदडबाहा मण्डी
२ श्री धनपतराय विनोदकुमार जैन, श्री गगानगर
३ श्री अनन्तराम मलेरीराम जी, सफीदो मण्डी
४ श्री मुकेशकुमार, अशोककुमार जैन,
सुपुत्र—श्री कृष्णलाल जी, पदमपुर (राजस्थान)
५ लाला कबूलचन्द जगमन्दर लाल जैन, पदमपुर (राजस्थान)
६ बाबू शहजादाराम जी एडवोकेट, गीदडबाहा मण्डी
७ श्री पृथ्वीराज अभयकुमार जैन, पदमपुर (राजस्थान)
८ श्री जयकुमार सिंह जी जैन, लुधियाना
९ श्रीमती सुभापरानी जैन, धर्मपत्नी डा० केवलकृष्ण जैन, लुधियाना
१० श्री सन्तलाल जी जैन, आर० एन० ओसवाल, लुधियाना
११ श्री सुरेशचन्द जैन, चण्डीगढ
१२ गुप्तदान
१३ श्रीमती प्रभाईदेवी जैन, C/O श्री मानसिंह विमलप्रसाद जैन, दिल्ली
१४ श्री रामस्वरूप जी, सफीदो मण्डी

१५ श्री बाबूराम सीताराम जैन, गीदडबाहा मण्डी
१६ श्री फकीरचन्द जी जैन, कृपा नगर, अम्बाला
१७ श्री नगीनचन्द जैन, श्री गगानगर
१८ श्री मिलखीराम जी जैन, मानसा
१९ श्री आत्माराम जैन एडवोकेट, हनुमानगढ टाऊन
२० लाला पन्नालाल जैन, सितार गज
२१ श्री रमेशचन्द जैन, मौड मण्डी

आभार- ँन

भगवान श्री महावीर के अमूल्य उपदेश आज जिस रूप मे उपलब्ध है, उसे 'आगम' कहा जाता है। आगम कोई एक ग्रन्थ विशेष नही है, किन्तु जिनवाणी के सकलित स्थिर सग्रह को ही 'आगम' सज्ञा दी गई है। उसमे मुख्य रूप से महावीर की वाणी तथा अन्य स्थविर-गणधर आदि के उपदेश सकलित होते है। श्वेताम्बर स्थानक वासी जैन मान्यतानुसार वर्तमान मे बत्तीस आगम प्रमाणस्वरूप माने गये है। उनमे सर्वप्रमुख है ग्यारह अग आगम। अग आगमो मे आचाराग सूत्र प्रथम आगम है। प्रस्तुत सूत्रकृताग सूत्र द्वितीय अग आगम है। आचाराग मे आचारधर्म का अनेक दृष्टियो से वर्णन हुआ है। सूत्रकृताग मे दार्शनिक विवेचन अधिक है इसलिए इसे दर्शनशास्त्र का प्रमुख आगम कहा जाता है।

स्थानकवासी परम्परा मे आगम प्रकाशन का कार्य पिछली एक शताब्दी से हो रहा है। अनेक विद्वान मुनि और आचार्यों ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा के बल पर गभीर आगम वचनो का अनुवाद व विवेचन कर उसे सर्वजन सुबोध भाषा मे रखने का प्रयत्न किया है। आचार्यों की इस पुनीत नाम गणना मे पूज्य आचार्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज, पूज्य आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज तथा जैन धर्म दिवाकर पूज्य आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के शुभ नाम स्वर्णाक्षरो मे लिखने योग्य है।

मेरे परदादागुरु आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज जैन आगमो के महान मर्मज्ञ, सरल व्याख्याकार और सुयोग्य सपादक थे। अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा के बल पर उन्होने अनेकानेक आगमो पर हिन्दी भाषा मे विस्तृत टीकाएँ लिखी और अनेक दुर्लभ ग्रन्थो का सुन्दर सम्पादन किया। उनके असीम प्रयत्नो का ही यह सुफल है कि आज स्थानकवासी जैन श्रमणो मे अनेक श्रमण प्राकृत-सस्कृत के अधिकारी विद्वान तथा आगमो के गभीर ज्ञाता है और सुलेखक, सपादक एव ओजस्वी वक्ता बनकर श्रमण वर्ग की गौरव गरिमा में चार चाँद लगा रहे हैं।

पडितरत्न प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ श्री हेमचन्द्र जी महाराज स्व० आचार्य प्रवर के सुयोग्य शिष्य रत्न है और आप मेरे दादागुरु हैं। आपश्री की प्रेरणा व मार्ग-दर्शन से मैंने दो अक्षरो का बोध प्राप्त किया। आपश्री द्वारा किये गये अनुवाद एव व्याख्या को मैंने अपनी शैली मे ढालने का प्रयत्न किया है।

मेरे जीवन विकास और यत्किंचित साहित्यसेवा का जो कुछ भी श्रेय है, वह मेरे गुरुदेव नवयुग सुधारक, सेवा और सरलता के मूर्तिमत भडारी श्री पदमचन्द्रजी महाराज को है। मैं जो कुछ कर पाया हूँ यह स्व० गुरुदेव का आशीर्वाद और पूज्य गुरुदेव भडारी जी महाराज के मार्गदर्शन तथा सतत सहयोग का ही सुफल है।

परममनीषी राष्ट्रसत कवि श्री अमर मुनि जी महाराज के योग्य मार्गदर्शन और स्नेह-पूरित प्रेरणाओ को भी मै भुला नही ा। कविश्री की बलवती प्रेरणा और समयोपयोगी सुझावो ने मुझे कुछ करने योग्य बनाया है।

मुनिश्री नेमीचन्द्रजी महाराज ने भी मेरे इस भगीरथ कार्य को भाषा-शैली आदि विविध दृष्टियो से सुन्दर और उपयोगी स्वरूप प्रदान किया है। सुचिन्तक विद्वद्रत्न श्री विजय मुनि शास्त्री ने इस सूत्र रत्न पर विशेप प्रस्तावना लिखी है। और जैन समाज के प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने इसे शुद्ध मुद्रण आदि की दृष्टि से निखारा है।

पूज्य गुरुदेवश्री की प्रेरणा से अनेक जिन-प्रवचन-श्रद्धालुओ ने प्रकाशन मे हाथ है।

इस प्रकार मेरा यह एक सपादन-प्रयत्न गुरुजनो के आशीर्वाद, मार्गदर्शन, सहयोगी जनो के सहकार और श्रद्धालु भक्तो के उदार सौजन्य के बल पर पाठको के हाथो मे प्रस्तुत है। यह -विवेचन कैसा बना है, इसका निर्णय जिज्ञासु ही करेंगे, मैं तो जिन प्रवचन की एक तुच्छ सेवा करके अपने को भाग्यशाली र ही व आनन्दित हूँ।

२० अगस्त, १९७९ पर्युपण पर्व
जैन स्थानक,
लुधियाना

—अमर मुनि

सूत्र तांग सू : ए अनुचिन्तन

□ श्री वि मुनि शास्त्री

वैदिक-परम्परा मे जो स्थान वेदो का मान्य है, तथा बौद्ध-परम्परा मे जो स्थान पिटको का माना गया है, जैन-परम्परा मे वही स्थान आगमो का है। जैन-परम्परा, इतिहास और सस्कृति की विशेष निधि आगम-शास्त्र ही हैं। आगमो मे जो सत्य मुखरित हुआ है, वह युग-युगान्तर से चला आया है, इसमे दो मत नही हो सकते। परन्तु इस मान्यता मे जरा भी सार नही है कि उनमे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही हुआ है। भाव-भेद, भाषा-भेद और शैली-भेद आगमो मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। मान्यता-भेद भी कही-कही पर उपलब्ध हो जाते है। इसका मुख्य कारण है—समाज और जीवन का विकास। जैसे-जैसे समाज का विकास होता रहा, वैसे-वैसे आगमो के पृष्ठो पर विचार-भेद उभरते रहे है। आगमो की निर्युक्तियो मे, आगमो के भाष्यो मे, आगमो की चूर्णियो मे और आगमो की टीकाओ मे तो विचार-भेद अत्यन्त स्पष्ट है। मूल आगमो मे भी युगभेद के कारण से विचार-भेद को स्थान मिला है और यह सहज था। अन्यथा, उनके टीकाकारो मे इतने भेद कहाँ से प्रकट हो पाते।

आगमों की रचना का काल

आधुनिक पाश्चात्य विचारको ने इस बात को माना है कि भले ही देवर्द्धिगणी ने पुस्तक लेखन करके आगमो के सरक्षण कार्य को आगे बढाया, किन्तु निश्चय ही वे उनके कर्त्ता नही है। आगम तो प्राचीन ही है। देवर्द्धिगणी ने तो केवल उनका सकलन और सपादन ही किया है। यह सत्य है कि आगमो मे कुछ/प्रक्षिप्त अश हैं, पर उस प्रक्षेप के कारण समग्र आगम का काल देवर्द्धिगणी का काल नही हो सकता। पूरे आगमो का एक काल नही हो सकता। सामान्य रूप मे विद्वानो ने अग आगमो का काल पाटलिपुत्र की वाचना के काल को माना है। पाटलिपुत्र की वाचना इतिहासकारो के अनुसार भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद पचम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के काल में हुई। और उसका काल है ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी का द्वितीय दशक। अतएव आगम का काल लगभग ईसापूर्व छठी शताब्दी से ईसा की पांचवी शती तक माना जा सकता है। लगभग हजार वर्ष अथवा बारह सौ वर्षों

का समय आगम सरचना का काल रहा है। कुछ विद्वान् इस लेखन के काल का और अग आगमो के रचना के काल का समिश्रण कर देते है और इस लेखन को आगमो का रचनाकाल मान लेते हैं। अग आगम भगवान महावीर का उपदेश है, और उसके आधार पर ` गणधरो ने अगो की रचना की है। अत आगमो की सरचना का प्रारम्भ तो भगवान महावीर के काल से माना जाना चाहिए। उसमे जो प्रक्षेप अश हो, उसे अलग करके उसका समय निर्णय अन्य आधारो से किया जा सकता है। अग आगमो मे सर्वाधिक प्राचीन आचाराग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कध माना जाता है। इस सत्य को स्वीकार करने मे किसी भी विद्वान् को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नही हो सकती। सूत्रकृतागसूत्र और भगवती सूत्र के सम्बन्ध मे भी यही समझा जाना चाहिए। स्थानागसूत्र और समवायाग सूत्र मे कुछ स्थल इस प्रकार के हो सकते है, जिनकी नवता एव पुरातनता के सम्बन्ध मे आगमो के विशिष्ट विद्वानो को गम्भीर विचार करके निर्णय करना चाहिए।

अगबाह्य आगम

अग-बाह्य आगमो मे उपाग, मूल, छेद आदि की परिगणना होती है। अग-बाह्य आगम गणधरो की रचना नही है। अत उनका काल निर्धारण जैसे अन्य-आचार्यों के ग्रन्थो का समय निर्धारित किया जाता है, वैसे ही होना चाहिए। अग-बाह्यो मे प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम हैं। अतएव आर्य श्याम का जो समय है, वही उनका रचना समय है। आर्य श्याम को वीर निर्वाण सवत् ३३५ मे युगप्रधान पद मिला और ३७६ तक वे युगप्रधान रहे। अत ा सूत्र की रचना का समय भी यही मानना उचित है। ` ूत्रो मे दशाश्रुत, वृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रो की रचना चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु ने की थी। आचार्य भद्रबाहु का समय ईसापूर्व ३५७ के आसपास निश्चित है। अत उनके द्वारा रचित इन तीनो छेदसूत्रो का समय भी वही होना चाहिए। कुछ विद्वानो का मत है कि द्वितीय आचाराग की चार चूलाएँ और पञ्चम चूला निशीथ भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की सरचना है। मूल-सूत्रो मे दशवैकालिक की रचना आचार्य शयभव ने की है, इसमे किसी भी विद्वान को विप्रतिपति नही रही। परन्तु, इसका अर्थ यह होगा कि दशवैकालिक की रचना द्वितीय आचाराग और निशीथ से पहले की माननी होगी। द्वितीय आचा-राग का विषय और दशवैकालिक का विषय एक जैसा ही है, भेद केवल है तो सक्षेप और विस्तार का, गद्य और पद्य का एव विषय की व्यवस्था का। तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली दोनो की करीव-करीव एक ही है। उत्तराध्ययन सूत्र के सम्बन्ध मे दो मत उपलब्ध होते है—एक का कहना है कि उत्तर सूत्र किसी एक आचार्य की

कृति नही, किन्तु सकलन है। दूसरा मत यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी चतुर्दश-पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। कल्पसूत्र, जिसकी पर्युपणा कल्प के रूप मे वाचना की जाती है, वह भी चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। इस प्रकार अन्य अंगबाह्य आगमो के सम्बन्ध मे भी कुछ तो काल निर्णय हो चुका है और कुछ होता जा रहा है।

अगो का क्रम

एकादश अगो के क्रम मे सर्वप्रथम आचाराग है। आचाराग को क्रम मे सर्व-प्रथम स्थान देना तर्क-सगत भी है एव परम्परा प्राप्त भी है। क्योकि सघ व्यवस्था मे सबमे पहले आचार की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचार-सहिता की मानव-जीवन मे प्राथमिकता रही है। अत आचाराग को सर्वप्रथम स्थान देने मे प्रथम हेतु है उसका विषय, दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अगों के नाम आए है, वहाँ-वहाँ मूल मे अथवा वृत्ति मे आचाराग का नाम ही सबसे पहले आया है। आचाराग के बाद जो सूत्रकृताग आदि नाम आए हैं, उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की इसकी चर्चा के हमारे पास उल्लेखनीय साधन नही है। इतना अवश्य है कि सचेलक एव अचेलक दोनो परम्पराओ मे अगो का एक ही क्रम है। सूत्रकृताग सूत्र मे विचार-पक्ष मुख्य है और आचार-पक्ष गौण, जबकि आचाराग मे आचार की मुख्यता है और विचार की गौणता। जैन-परम्परा प्रारम्भ से ही एकान्त विचार-पक्ष को और एकान्त आचार-पक्ष को अस्वीकार करती रही है। विचार और आचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन-परम्परा का मुख्य ध्येय रहा है। यद्यपि आचाराग मे भी परमत का खण्डन सूक्ष्म रूप मे अथवा बीज रूप मे विद्य-मान है, तथापि आचार की प्रबलता ही उसमे मुख्य है। सूत्रकृताग मे प्राय सर्वत्र परमत का खण्डन और स्वमत का मण्डन स्पष्ट प्रतीत होता है। सूत्रकृताग की तुलना बौद्ध-परम्परा मान्य अभिधम्म पिटक से की जा सकती है, जिसमे बुद्ध ने अपने युग मे प्रचलित ६२ मतो का यथाप्रसग खण्डन करके अपने मत की स्थापना की है। सूत्रकृताग सूत्र मे स्वसमय और पर-समय का वर्णन है। वृत्तिकारो के अनुसार इस मे ३६३ मतो का खण्डन किया गया है। समवायाग सूत्र मे सूत्रकृताग सूत्र का परिचय देते हुए कहा गया—इसमे स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष आदि तत्त्वो के विषय मे कथन किया गया है। १८० क्रियावादी मतो की, ८४ अक्रियावादी मतो की, ६७ अज्ञानवादी मतो की एव ३२ विनयवादी मतो की, इस प्रकार सब मिलाकर ३६३ अन्ययूथिक मतो की परिचर्चा की है। श्रमण सूत्र मे सूत्रकृताग के २३ अध्ययनो का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कध मे १६, द्वितीय श्रुतस्कध मे ७। नन्दीसूत्र मे कहा गया है कि सूत्र

का समय आगम सरचना का काल रहा है। कुछ विद्वान् इस लेखन के काल का और अग आगमो के रचना के काल का समिश्रण कर देते है और इस लेखन को आगमो का रचनाकाल मान लेते है। अग आगम भगवान महावीर का उपदेश है, और उसके आधार पर उनके गणधरो ने अगो की रचना की है। अत आगमो की सरचना का प्रारम्भ तो भगवान महावीर के काल से माना जाना चाहिए। उसमे जो प्रक्षेप अश हो, उसे अलग करके उसका समय निर्णय अन्य आधारो से किया जा सकता है। अग आगमो मे सर्वाधिक प्राचीन आचाराग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कध माना जाता है। इस सत्य को स्वीकार करने मे किसी भी विद्वान् को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नही हो सकती। सूत्रकृतागसूत्र और भगवती सूत्र के सम्बन्ध मे भी यही जाना चाहिए। स्थानागसूत्र और समवायाग सूत्र मे कुछ स्थल इस प्रकार के हो सकते हे, जिनकी नवता एव पुरातनता के सम्बन्ध मे आगमो के विशिष्ट विद्वानो को गम्भीर विचार करके निर्णय करना चाहिए।

अगबाह्य आगम

अग-बाह्य आगमो मे उपाग, मूल, छेद आदि की परिगणना होती है। अग-बाह्य आगम गणधरो की रचना नही है। अत उनका काल निर्धारण जैसे अन्य-आचार्यो के ग्रन्थो का समय निर्धारित किया जाता है, वैसे ही होना चाहिए। अग-बाह्यो मे प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम है। अतएव आर्य श्याम का जो समय है, वही उनका रचना समय है। आर्य श्याम को वीर निर्वाण सवत् ३३५ मे युगप्रधान पद मिला और ३७६ तक वे युगप्रधान रहे। अत प्रज्ञापना सूत्र की रचना का समय भी यही मानना उचित है। छेदसूत्रो मे दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रो की रचना चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु ने की थी। आचार्य ाहु का समय ईसापूर्व ३५७ के आसपास निश्चित है। अत उनके द्वारा रचित इन तीनो छेदसूत्रो का समय भी वही होना चाहिए। कुछ विद्वानो का मत है कि द्वितीय आचाराग की चार चूलाएँ और पञ्चम चूला निशीथ भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की सरचना है। मूल-सूत्रो मे दशवैकालिक की रचना आचार्य शयभव ने की है, इसमे किसी भी विद्वान को विप्रतिपति नही रही। परन्तु, इसका अर्थ यह होगा कि दशवैकालिक की रचना द्वितीय आचाराग और निशीथ से पहले की माननी होगी। द्वितीय आचाराग का विषय और दशवैकालिक का विषय एक जैसा ही है, भेद केवल है तो सक्षेप और विस्तार का, गद्य और पद्य का एव विषय की व्यवस्था का। तुलनात्मक अ करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली दोनो की करीव-करीव एक ही है। उत्तराध्ययन सूत्र के सम्बन्ध मे दो मत उपलब्ध होते हैं—एक का कहना है कि उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक की

कृति नही, किन्तु सकलन है। दूसरा मत यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी चतुर्दश-पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। कल्पसूत्र, जिसकी पर्युषणा कल्प के रूप मे वाचना की जाती है, वह भी चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। इस प्रकार अन्य अंगबाह्य आगमो के सम्बन्ध मे भी कुछ तो काल निर्णय हो चुका है और कुछ होता जा रहा है।

अगो का क्रम

एकादश अगो के क्रम मे सर्वप्रथम आचाराग है। आचाराग को क्रम मे सर्वप्रथम स्थान देना तर्क-सगत भी है एव परम्परा प्राप्त भी है। क्योकि सघ व्यवस्था मे सबसे पहले आचार की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचार-सहिता की मानव-जीवन मे प्राथमिकता रही है। अत आचाराग को सर्वप्रथम स्थान देने मे प्रथम हेतु है उसका विषय, दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अगो के नाम आए हैं, वहाँ-वहाँ मूल मे अथवा वृत्ति मे आचाराग का नाम ही सबसे पहले आया है। आचाराग के बाद जो सूत्रकृताग आदि नाम आए हैं, उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की इसकी चर्चा के हमारे पास उल्लेखनीय साधन नही है। इतना अवश्य है कि सचेलक एव अचेलक दोनो परम्पराओ मे अगो का एक ही क्रम है। सूत्रकृताग सूत्र मे विचार-पक्ष मुख्य है और आचार-पक्ष गौण, जबकि आचाराग मे आचार की मुख्यता है और विचार की गौणता। जैन-परम्परा प्रारम्भ से ही एकान्त विचार-पक्ष को और एकान्त आचार-पक्ष को अस्वीकार करती रही है। विचार और आचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन-परम्परा का मुख्य ध्येय रहा है। यद्यपि आचाराग मे भी परमत का खण्डन सूक्ष्म रूप मे अथवा बीज रूप मे विद्यमान है, तथापि आचार की प्रबलता ही उसमे मुख्य है। सूत्रकृताग मे प्राय सर्वत्र परमत का खण्डन और स्वमत का मण्डन स्पष्ट प्रतीत होता है। सूत्रकृताग की तुलना बौद्ध-परम्परा मान्य अभिधम्म पिटक से की जा सकती है, जिसमे बुद्ध ने अपने युग मे प्रचलित ६२ मतो का यथाप्रसग खण्डन करके अपने मत की स्थापना की है। सूत्रकृताग सूत्र मे स्वसमय और पर-समय का वर्णन है। वृत्तिकारो के अनुसार इस मे ३६३ मतो का खण्डन किया गया है। समवायाग सूत्र मे सूत्रकृताग सूत्र का परिचय देते हुए कहा गया—इसमे स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष आदि तत्त्वो के विषय मे कथन किया गया है। १८० क्रियावादी मतो की, ८४ अक्रियावादी मतो की, ६७ अज्ञानवादी मतो की एव ३२ विनयवादी मतो की, इस प्रकार सब मिलाकर ३६३ अन्ययूथिक मतो की परिचर्चा की है। श्रमण सूत्र मे सूत्रकृताग के २३ अध्ययनो का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कध मे १६, द्वितीय श्रुतस्कध मे ७। नन्दीसूत्र मे कहा गया है कि सूत्र

का समय आगम सरचना का काल रहा हे। कुछ विद्वान् इस लेखन के काल का और अग आगमो के रचना के काल का समिश्रण कर देते हैं और इस लेखन को आगमो का रचनाकाल मान लेते है। अग आगम भगवान महावीर का उपदेश है, और उसके आधार पर उनके गणधरो ने अगो की रचना की है। अत आगमो की सरचना का प्रारम्भ तो भगवान महावीर के से माना जाना चाहिए। उसमे जो प्रक्षेप अश हो, उसे अलग करके उसका समय निर्णय अन्य आधारो से किया जा सकता है। अग आगमो मे सर्वाधिक प्राचीन आचाराग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कध माना जाता है। इस सत्य को स्वीकार करने मे किसी भी विद्वान् को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नही हो सकती। सूत्रकृतागसूत्र और भगवती सूत्र के सम्बन्ध मे भी यही समझा जाना चाहिए। स्थानागसूत्र और समवायाग सूत्र मे कुछ स्थल इस प्रकार के हो सकते है, जिनकी नवता एव पुरातनता के सम्बन्ध मे आगमो के विशिष्ट विद्वानो को गम्भीर विचार करके निर्णय करना चाहिए।

अगबाह्य आगम

अग-बाह्य आगमो मे उपाग, मूल, छेद आदि की परिगणना होती है। अग-बाह्य आगम गणधरो की रचना नही है। अत उनका काल निर्धारण जैसे अन्य-आचार्यो के ग्रन्थो का समय निर्धारित किया जाता है, वैसे ही होना चाहिए। अग-बाह्यो मे प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम हैं। अतएव आर्य श्याम का जो समय है, वही उनका रचना समय है। आर्य श्याम को वीर निर्वाण सवत् ३३५ मे युगप्रधान पद मिला और ३७६ तक वे युगप्रधान रहे। अत सूत्र की रचना का समय भी यही मानना उचित है। छेदसूत्रो मे दशाश्रुत, वृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रो की रचना चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु ने की थी। आचार्य ाहु का समय ईसापूर्व ३५७ के अ निश्चित है। अत उनके द्वारा रचित इन तीनो छेदसूत्रो का समय भी वही'होना चाहिए। कुछ विद्वानो का मत है कि द्वितीय आचाराग की चार चूलाएँ और पञ्चम चूला निशीथ भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की सरचना है। मूल-सूत्रो मे दशवैकालिक की रचना आचार्य शयभव ने की है, इसमे किसी भी विद्वान को विप्रतिपति नही रही। परन्तु, इसका अर्थ यह होगा कि दशवैकालिक की रचना द्वितीय आचाराग और निशीथ से पहले की माननी होगी। द्वितीय आचा-राग का विषय और दशवैकालिक का विषय एक जैसा ही है, भेद केवल है तो सक्षेप और विस्तार का, गद्य और पद्य का एव विषय की व्यवस्था का। तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली दोनो की करीब-करीब एक ही है। उत्तराध्ययन सूत्र के सम्बन्ध मे दो मत उपलब्ध होते हैं—एक का कहना है कि उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक की

कृति नही, किन्तु सकलन है। दूसरा मत्त यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी चतुर्दश-पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। कल्पसूत्र, जिसकी पर्युपणा कल्प के रूप मे वाचना की जाती है, वह भी चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। इस प्रकार अन्य अंगबाह्य आगमो के सम्बन्ध मे भी कुछ तो काल निर्णय हो चुका है और कुछ होता जा रहा है।

अगो का क्रम

एकादश अगो के क्रम मे सर्वप्रथम आचाराग है। आचाराग को क्रम मे सर्व-प्रथम स्थान देना तर्क-सगत भी है एव परम्परा प्राप्त भी है। क्योकि सघ व्यवस्था मे सबमे पहले आचार की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचार-सहिता की मानव-जीवन मे प्राथमिकता रही है। अत आचाराग को सर्वप्रथम स्थान देने मे प्रथम हेतु है उसका विषय, दूसरा हेतु यह है कि जहां-जहां अगों के नाम आए हैं, वहां-वहां मूल मे अथवा वृत्ति मे आचाराग का नाम ही सबसे पहले आया है। आचाराग के बाद जो सूत्रकृताग आदि नाम आए हैं, उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की इसकी चर्चा के हमारे पास उल्लेखनीय साधन नही है। इतना अवश्य है कि सचेलक एव अचेलक दोनो परम्पराओ मे अगो का एक ही क्र म है। सूत्रकृताग सूत्र मे विचार-पक्ष मुख्य है और आचार-पक्ष गौण, जबकि आचाराग मे आचार की मुख्यता है और विचार की गौणता। जैन-परम्परा प्रारम्भ से ही एकान्त विचार-पक्ष को और एकान्त आचार-पक्ष को अस्वीकार करती रही है। विचार और आचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन-परम्परा का मुख्य ध्येय रहा है। यद्यपि आचाराग मे भी परमत का खण्डन सूक्ष्म रूप मे अथवा बीज रूप मे विद्य-मान है, तथापि आचार की प्रबलता ही उसमे मुख्य है। सूत्रकृताग मे प्राय सर्वत्र परमत का खण्डन और स्वमत का मण्डन स्पष्ट प्रतीत होता है। सूत्रकृताग की तुलना बौद्ध-परम्परा मान्य अभिधम्म पिटक से की जा सकती है, जिसमे बुद्ध ने अपने युग मे प्रचलित ६२ मतो का यथाप्रसग खण्डन करके अपने मत की स्थापना की है। सूत्रकृताग सूत्र मे स्वसमय और पर-समय का वर्णन है। वृत्तिकारो के अनुसार इस मे ३६३ मतो का खण्डन किया गया है। समवायाग सूत्र मे सूत्रकृताग सूत्र का परिचय देते हुए कहा गया—इसमे स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष आदि तत्त्वो के विषय मे कथन किया गया है। १८० क्रियावादी मतो की, ८४ अक्रियावादी मतो की, ६७ अज्ञानवादी मतो की एव ३२ विनयवादी मतो की, इस प्रकार सब मिलाकर ३६३ अन्ययूथिक मतो की परिचर्चा की है। श्रमण सूत्र मे सूत्रकृताग के २३ अध्ययनो का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कध मे १६, द्वितीय श्रुतस्कध मे ७। नन्दीसूत्र मे कहा गया है कि सूत्र

का समय आगम सरचना का काल रहा हे। कुछ विद्वान् इस लेखन के काल का और अग आगमो के रचना के काल का समिश्रण कर देते हैं और इस लेखन को आगमो का रचनाकाल मान लेते हैं। अग आगम भगवान महावीर का उपदेश है, और उसके आधार पर उनके गणधरो ने अगो की रचना की है। अत आगमो की सरचना का प्रारम्भ तो भगवान महावीर के काल से माना जाना चाहिए। उसमे जो प्रक्षेप अश हो, उसे अलग करके उसका समय निर्णय अन्य आधारो से किया जा सकता है। अग आगमो मे सर्वाधिक प्राचीन आचाराग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कध माना है। इस सत्य को स्वीकार करने मे किसी भी विद्वान् को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नही हो सकती। सूत्रकृतागसूत्र और भगवती सूत्र के सम्बन्ध मे भी यही समझा जाना चाहिए। स्थानागसूत्र और समवायाग सूत्र मे कुछ स्थल इस प्रकार के हो सकते है, जिनकी नवता एव पुरातनता के सम्बन्ध मे आगमो के विशिष्ट विद्वानो को गम्भीर विचार करके निर्णय करना चाहिए।

अगबाह्य आगम

अग-बाह्य आगमो मे उपाग, मूल, छेद आदि की परिगणना होती है। अग-बाह्य आगम गणधरो की रचना नही है। अत उनका काल निर्धारण जैसे अन्य-आचार्यो के ग्रन्थो का समय निर्धारित किया जाता है, वैसे ही होना चाहिए। अग-बाह्यो मे प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम है। अतएव आर्य श्याम का जो समय है, वही रचना समय है। आर्य श्याम को वीर निर्वाण ३३५ मे युगप्रधान पद मिला और ३७६ तक वे युगप्रधान रहे। अत सूत्र की रचना का समय भी यही मानना उचित है। छेदसूत्रो मे दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रो की रचना चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु ने की थी। आचार्य हु का समय ईसापूर्व ३५७ के अ निश्चित है। अत उनके द्वारा रचित इन तीनो छेदसूत्रो का समय भी वही होना चाहिए। कुछ विद्वानो का मत है कि द्वितीय आचाराग की चार चूलाएँ और पञ्चम चूला निशीथ भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की सरचना है। मूल-सूत्रो मे दशवैकालिक की रचना आचार्य शयभव ने की है, इसमे किसी भी विद्वान को विप्रतिपत्ति नही रही। परन्तु, इसका अर्थ यह होगा कि दशवैकालिक की रचना द्वितीय आचाराग और निशीथ से पहले की माननी होगी। द्वितीय आचा-राग का विषय और दशवैकालिक का विषय एक जैसा ही है, भेद केवल है तो सक्षेप और विस्तार का, गद्य और पद्य का एव विषय की व्यवस्था का। तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली दोनो की करीब-करीब एक ही है। उत्तराध्ययन सूत्र के सम्बन्ध मे दो मत उपलब्ध होते हैं—एक का कहना है कि उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक की

कृति नही, किन्तु सकलन है। दूसरा मत यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी चतुर्दश-पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। कल्पसूत्र, जिसकी पर्युषणा कल्प के रूप मे वाचना की जाती है, वह भी चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। इस प्रकार अन्य अंगबाह्य आगमो के सम्बन्ध मे भी कुछ तो काल निर्णय हो चुका है और कुछ होता जा रहा है।

अगो का क्रम

एकादश अगो के क्रम मे सर्वप्रथम आचाराग है। आचाराग को क्रम मे सर्व-प्रथम स्थान देना तर्क-सगत भी है एव परम्परा प्राप्त भी है। क्योकि सघ व्यवस्था मे सबसे पहले आचार की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचार-सहिता की मानव-जीवन मे प्राथमिकता रही है। अत आचाराग को सर्वप्रथम स्थान देने मे प्रथम हेतु है उसका विषय, दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अगों के नाम आए है, वहाँ-वहाँ मूल मे अथवा वृत्ति मे आचाराग का नाम ही सबसे पहले आया है। आचाराग के बाद जो सूत्रकृताग आदि नाम आए है, उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की इसकी चर्चा के हमारे पास उल्लेखनीय साधन नही है। इतना अवश्य है कि सचेलक एव अचेलक दोनो परम्पराओ मे अगो का एक ही क्रम है। सूत्रकृताग सूत्र मे विचार-पक्ष मुख्य है और आचार-पक्ष गौण, जबकि आचाराग मे आचार की मुख्यता है और विचार की गौणता। जैन-परम्परा प्रारम्भ से ही एकान्त विचार-पक्ष को और एकान्त आचार-पक्ष को अस्वीकार करती रही है। विचार और आचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन-परम्परा का मुख्य ध्येय रहा है। यद्यपि आचाराग मे भी परमत का खण्डन सूक्ष्म रूप मे अथवा बीज रूप मे विद्य-मान है, तथापि आचार की प्रबलता ही उसमे मुख्य है। सूत्रकृताग मे प्राय सर्वत्र परमत का खण्डन और स्वमत का मण्डन स्पष्ट प्रतीत होता है। सूत्रकृताग की तुलना बौद्ध-परम्परा मान्य अभिधम्म पिटक से की जा सकती है, जिसमे बुद्ध ने अपने युग मे प्रचलित ६२ मतो का यथाप्रसग खण्डन करके अपने मत की स्थापना की है। सूत्रकृताग सूत्र मे स्वसमय और पर-समय का वर्णन है। वृत्तिकारो के अनुसार इस मे ३६३ मतो का खण्डन किया गया है। समवायाग सूत्र मे सूत्रकृताग सूत्र का परिचय देते हुए कहा गया—इसमे स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष आदि तत्त्वो के विषय मे कथन किया गया है। १८० क्रियावादी मतो की, ८४ अक्रियावादी मतो की, ६७ अज्ञानवादी मतो की एव ३२ विनयवादी मतो की, इस प्रकार सब मिलाकर ३६३ अन्ययूथिक मतो की परिचर्चा की है। श्रमण सूत्र मे सूत्रकृताग के २३ अध्ययनो का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कध मे १६, द्वितीय श्रुतस्कध मे ७। नन्दीसूत्र मे कहा गया है कि सूत्र

का समय आगम सरचना का काल रहा है। कुछ विद्वान् इस लेखन के काल का और अग आगमो के रचना के काल का समिश्रण कर देते हैं और इस लेखन को आगमो का रचनाकाल मान लेते है। अग आगम भगवान महावीर का उपदेश है, और उसके आधार पर ` गणधरो ने अगो की रचना की है। अत आगमो की सरचना का प्रारम्भ तो भगवान महावीर के काल से माना जाना चाहिए। उसमे जो प्रक्षेप अश हो, उसे अलग करके उसका समय निर्णय अन्य आधारो से किया जा सकता है। अग आगमो मे सर्वाधिक प्राचीन आचाराग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कध माना जाता है। इस सत्य को स्वीकार करने मे किसी भी विद्वान् को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नही हो सकती। सूत्रकृताग सूत्र और भगवती सूत्र के सम्बन्ध मे भी यही समझा जाना चाहिए। स्थानागसूत्र और समवायाग सूत्र मे कुछ स्थल इस प्रकार के हो सकते है, जिनकी नवता एव पुरातनता के सम्बन्ध मे आगमो के विशिष्ट विद्वानो को गम्भीर विचार करके निर्णय करना चाहिए।

अगबाह्य आगम

अग-बाह्य आगमो मे उपाग, मूल, छेद आदि की परिगणना होती है। अग-बाह्य आगम गणधरो की रचना नही है। अत उनका काल निर्धारण जैसे अन्य-आचार्यो के ग्रन्थो का समय निर्धारित किया जाता है, वैसे ही होना चाहिए। अग-बाह्यो मे प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम हैं। अतएव आर्य श्याम का जो समय है, वही उनका रचना समय है। आर्य श्याम को वीर निर्वाण ३३५ मे युगप्रधान पद मिला और ३७६ तक वे युगप्रधान रहे। अत प्रज्ञापना सूत्र की रचना का समय भी यही मानना उचित है। छेदसूत्रो मे दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रो की रचना चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु ने की थी। आचार्य ाहु का समय ईसापूर्व ३५७ के अ निश्चित है। अत उनके द्वारा रचित इन तीनो छेदसूत्रो का समय भी वही होना चाहिए। कुछ विद्वानो का मत है कि द्वितीय आचाराग की चार चूलाएँ और पञ्चम चूला निशीथ भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की सरचना है। मूल-सूत्रो मे दशवैकालिक की रचना आचार्य शयभव ने की है, इसमे किसी भी विद्वान को विप्रतिपत्ति नही रही। परन्तु, इसका अर्थ यह होगा कि दशवैकालिक की रचना द्वितीय आचाराग और निशीथ से पहले की माननी होगी। द्वितीय आचा-राग का विषय और दशवैकालिक का विषय एक जैसा ही है, भेद केवल है तो सक्षेप और विस्तार का, गद्य और पद्य का एव विषय की व्यवस्था का। तुलनात्मक अ करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली दोनो की करीव-करीव एक ही है। उत्तराध्ययन सूत्र के सम्बन्ध मे दो मत उपलब्ध होते हैं—एक का कहना है कि उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक ` की

जिसमे क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मतो की विचारणा की गई है। तेरहवें याथातथ्य अध्ययन मे २३ गाथाए है, जिसमे मानव-मन के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। चौदहवे ग्रन्थ अध्ययन मे २७ गाथाएँ हैं, जिसमे ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवे आदानीय अध्ययन मे २५ गाथाएँ है, जिसमे भगवान महावीर के उपदेश का सार दिया गया है। सोलहवाँ गाथा अध्ययन गद्य मे है, जिसमे भिक्ष अर्थात् श्रमण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से समझाया गया है।

सूत्रकृताग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध के सात अध्ययन है। उनमे प्रथम अध्ययन पुण्डरीक है, जो गद्य मे है। इसमे एक सरोवर के पुण्डरीक कमल की उपमा देकर यह बताया गया है कि विभिन्न मत वाले लोग राज्य के अधिपति राजा को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है, किन्तु स्वय ही कष्टो मे फँस जाते है। राजा वहाँ का वही रह जाता है। दूसरी ओर सद्धर्म का उपदेश देने वाले भिक्षु के पास राजा अपने आप खिचा चला आता है। इस अध्ययन मे विभिन्न मतो एव विभिन्न सम्प्रदायो के भिक्षुओ के आचार का भी वर्णन किया गया हे। द्वितीय अध्ययन क्रिया-स्थान है, जिसमे कर्मबन्ध के त्रयोदश स्थानो का वर्णन किया गया हे। तृतीय अध्ययन आहार-परिज्ञा हे, जिसमे बताया गया है कि आरमार्थी भिक्षु को निर्दोष आहार-पानी की एषणा किस प्रकार करनी चाहिए। चौथा अध्ययन प्रत्याख्यान है, जिसमे त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत एव नियमो का स्वरूप बताया गया है। पाँचवाँ आचार-श्रुत अध्ययन है, जिसमे त्याज्य वस्तुओ की गणना की गई है, तथा लोकमूढ मान्यताओ का खण्डन किया गया है। छठा अध्ययन आर्द्रक है, जिसमे आर्द्रककुमार की धर्मकथा बहुत सुन्दर ढग से कही गई है। यह एक दार्शनिक सवाद है, जो उपनिषदो के सवाद की पद्धति का है। विभिन्न सम्प्रदायो के लोग आर्द्रककुमार से विभिन्न प्रश्न करते है और आर्द्रक उनकी विभिन्न शकाओ का समाधान करते हैं। सातवाँ नालन्दा अध्ययन है, जिसमे भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नालन्दा मे दिया गया उपदेश अकित है।

सूत्रकृताग सूत्र मे जिन मतो का उल्लेख है, उनमे से कुछ का सम्बन्ध आचार से है और कुछ का तत्त्ववाद अर्थात् दर्शन-शास्त्र से है। इन मतो का वर्णन करते हुए उस पद्धति को अपनाया गया है, जिसमे पूर्वपक्ष का परिचय देकर वाद में उसका खण्डन किया जाता है। इस दृष्टि से सूत्रकृताग का अन्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान जैन आगमो मे माना जाता है। बौद्ध-परम्परा के अभिधम्मपिटक की रचना भी इसी शैली पर की गई है। दोनो की तुलनात्मक दृष्टि मननीय है।

पञ्च महाभूतवाद

दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रहा कि यह लोक क्या है?

कृताग मे लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव आदि का निरूपण है तथा क्रिया-वादी आदि ३६३ पाखण्डियो के मतो का खण्डन किया गया है। दिगम्बर-परम्परा के मान्य ग्रन्थ राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृताग मे ज्ञान, विनय, कल्प, अकल्प, व्यवहार-धर्म एव विभिन्न क्रियाओ का निरूपण है।

सूत्रकृतागसूत्र का सं परिचय

जैन-परम्परा द्वारा मान्य अग सूत्रो मे सूत्रकृताग का द्वितीय स्थान है। किन्तु दार्शनिक-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्त्व आचाराग से अधिक है। भगवान महावीर के युग मे प्रचलित मत-मतान्तरो का वर्णन इसमे विस्तृत रूप से हुआ है। सूत्रकृताग का वर्तमान समय मे जो सस्करण उपलब्ध है, उसमे दो श्रुतस्कध हैं—प्रथम श्रुतस्कन्ध और द्वितीय श्रुतस्कन्ध। प्रथम मे सोलह अध्ययन हैं और द्वितीय मे सात अध्ययन। प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम समय अध्ययन के चार उद्देशक हैं—पहले मे २७ गाथाएँ है, दूसरे मे ३२, तीसरे मे १६ तथा चौथे मे १३ हैं। इस मे वीतराग के अहिंसा-सिद्धान्त को बताते हुए अन्य बहुत से मतो का उल्लेख किया गया है। दूसरे वैतालीय अध्ययन मे तीन उद्देशक है। पहले मे २२ गाथाएँ, दूसरे मे ३२ तथा तीसरे मे २२। वैतालीय छन्द मे रचना होने के कारण इसका नाम वैतालीय है। इसमे मुख्य रूप से वैराग्य का उपदेश है। तीसरे उपसर्ग अध्ययन के चार उद्देशक है। पहले मे १७ गाथाएँ है, दूसरे मे २२, तीसरे मे २१ तथा चौथे मे २२। इसमे उपसर्ग अर्थात् सयमी जीवन मे आने वाली विघ्न-बाधाओ का वर्णन है। चौथे स्त्री-परिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले की ३१ गाथाएँ है और दूसरे की २२। इसमे साधको के प्रति स्त्रियो द्वारा उपस्थित किए जाने वाले ब्रह्मचर्य घातक विघ्नो का वर्णन है। उपसर्ग अ मे प्रतिकूल विघ्नो का वर्णन था और इसमे अनुकूल विघ्नो का वर्णन है। पाँचवे निरय-विभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले मे २७ गाथाएँ और दूसरे मे २५। दोनो मे नरक के दु खो का वर्णन है। छठे वीरस्तुति अध्ययन का कोई उद्देशक नही है, इसमे २९ गाथाओ मे भगवान महावीर की स्तुति की गई है। सांतवे कुशील-भाषित अध्ययन मे ३० गाथाएँ हैं, जिसमे कुशील एव चारित्रहीन व्यक्ति की दशा का वर्णन है। आठवे वीर्य अ मे २६ गाथाएँ हैं, इसमे वीर्य अर्थात् शुभ एव अशुभ प्रयत्न का स्वरूप बताया है। नववें धर्म अध्ययन मे ३६ गाथाएँ है, जिसमे धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दशवें समाधि अध्ययन मे २४ गाथाएँ हैं, जिसमे धर्म मे समाधि अर्थात् धर्म मे स्थिरता का कथन किया गया है। ग्यारहवे मार्ग अ मे ३८ गाथाएँ हैं, जिसमे ससार के बन्धनो से छुटकारा प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। बारहवें ण अ मे २२ गाथाएँ है,

जिसमे क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मतो की विचारणा की गई है। तेरहवे याथातथ्य अध्ययन मे २३ गाथाए हे, जिसमे मानव-मन के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। चौदहवे ग्रन्थ अध्ययन मे २७ गाथाए हैं, जिसमे ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवे आदानीय अध्ययन मे २५ गाथाएँ है, जिसमे भगवान महावीर के उपदेश का सार दिया गया है। सोलहवाँ गाथा अध्ययन गद्य मे है, जिसमे भिक्ष अर्थात् श्रमण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से समझाया गया है।

सूत्रकृताग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन है। उनमे प्रथम अध्ययन पुण्डरीक है, जो गद्य मे है। इसमे एक सरोवर के पुण्डरीक कमल की उपमा देकर यह बताया गया है कि विभिन्न मत वाले लोग राज्य के अधिपति राजा को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है, किन्तु स्वय ही कष्टो मे फँस जाते है। राजा वहाँ का वही रह जाता है। दूसरी ओर सद्धर्म का उपदेश देने वाले भिक्षु के पास राजा अपने आप खिचा चला आता है। इस अध्ययन मे विभिन्न मतो एव विभिन्न सम्प्रदायो के भिक्षुओ के आचार का भी वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्ययन क्रिया-स्थान है, जिसमे कर्मबन्ध के त्रयोदश स्थानो का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्ययन आहार-परिज्ञा है, जिसमे बताया गया है कि आत्मार्थी भिक्षु को निर्दोष आहार-पानी की एषणा किस प्रकार करनी चाहिए। चौथा अध्ययन प्रत्याख्यान है, जिसमे त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत एव नियमो का स्वरूप बताया गया है। पाँचवाँ आचार-श्रुत अध्ययन है, जिसमे त्याज्य वस्तुओ की गणना की गई है, तथा लोकमूढ मान्यताओ का खण्डन किया गया है। छठा अध्ययन आर्द्रक है, जिसमे आर्द्रककुमार की धर्मकथा बहुत सुन्दर ढग से कही गई है। यह एक दार्शनिक सवाद है, जो उपनिषदो के सवाद की पद्धति का है। विभिन्न सम्प्रदायो के लोग आर्द्रककुमार से विभिन्न प्रश्न करते है और आर्द्रक उनकी विभिन्न शकाओ का समाधान करते है। सातवाँ नालन्दा अध्ययन है, जिसमे भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नालन्दा मे दिया गया उपदेश अकित है।

सूत्रकृताग सूत्र मे जिन मतो का उल्लेख है, उनमे से कुछ का सम्बन्ध आचार से है और कुछ का तत्त्ववाद अर्थात् दर्शन-शास्त्र से है। इन मतो का वर्णन करते हुए उस पद्धति को अपनाया गया है, जिसमे पूर्वपक्ष का परिचय देकर बाद मे उसका खण्डन किया जाता है। इस दृष्टि से सूत्रकृताग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान जैन आगमो मे माना जाता है। बौद्ध-परम्परा के अभिधम्मपिटक की रचना भी इसी शैली पर की गई है। दोनो की तुलनात्मक दृष्टि मननीय है।

पञ्च महाभूतवाद

दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रहा कि यह लोक क्या है ?

कृताग मे लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव आदि का निरूपण है तथा क्रिया-वादी आदि ३६३ पाखण्डियो के मतो का खण्डन किया गया है। दिगम्बर-परम्परा के मान्य ग्रन्थ राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृताग मे ज्ञान, विनय, कल्प, अकल्प, व्यवहार-धर्म एव विभिन्न क्रियाओ का निरूपण है।

सूत्रकृतागसूत्र का स परिचय

जैन-परम्परा द्वारा मान्य अग सूत्रो मे सूत्रकृताग का द्वितीय स्थान है। किन्तु दार्शनिक-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्त्व आचाराग से अधिक है। भगवान महावीर के युग मे प्रचलित मत-मतान्तरो का वर्णन इसमे विस्तृत रूप से हुआ है। सूत्रकृताग का वर्तमान समय मे जो सस्करण उपलब्ध है, उसमे दो श्रुतस्कध हैं—प्रथम श्रुतस्कन्ध और द्वितीय श्रुतस्कन्ध। प्रथम मे सोलह अ हैं और द्वितीय मे सात अध्ययन। प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम समय अध्ययन के चार उद्देशक हैं—पहले मे २७ गाथाएँ हैं, दूसरे मे ३२, तीसरे मे १६ तथा चौथे मे १३ हैं। इस मे वीतराग के अहिंसा-सिद्धान्त को बताते हुए अन्य बहुत से मतो का उल्लेख किया गया है। दूसरे वैतालीय अध्ययन मे तीन उद्देशक है। पहले मे २२ गाथाएँ, दूसरे मे ३२ तथा तीसरे मे २२। वैतालीय छन्द मे रचना होने के कारण इसका नाम वैतालीय है। इसमे मुख्य रूप से वैराग्य का उपदेश है। तीसरे उपसर्ग अध्ययन के चार उद्देशक हैं। पहले मे १७ गाथाएँ हैं, दूसरे मे २२, तीसरे मे २१ तथा चौथे मे २२। इसमे उपसर्ग अर्थात् सयमी जीवन मे आने वाली विघ्न-बाधाओ का है। चौथे स्त्री-परिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले की ३१ गाथाएँ है और दूसरे की २२। इसमे साधको के प्रति स्त्रियो द्वारा उपस्थित किए जाने वाले ब्रह्मचर्य घातक विघ्नो का वर्णन है। अ मे प्रतिकूल विघ्नो का वर्णन था और इसमे अनुकूल विघ्नो का वर्णन है। पाँचवे निरय-विभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक है। पहले मे २७ गाथाएँ और दूसरे मे २५। दोनो मे नरक के दुखो का वर्णन है। छठे वीरस्तुति अध्ययन का कोई उद्देशक नही है, इसमे २९ गाथाओ मे भगवान महावीर की स्तुति की गई है। कुशील-भाषित अध्ययन मे ३० गाथाएँ हैं, जिसमे कुशील एव चारित्रहीन व्यक्ति की दशा का वर्णन है। आठवें वीर्य अध्ययन मे २६ गाथाएँ हैं, इसमे वीर्य अर्थात् शुभ एव अशुभ प्रयत्न का स्वरूप बताया है। नववें धर्म अध्ययन मे ३६ गाथाएँ हैं, जिसमे धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दशवें समाधि अध्ययन मे २४ गाथाएँ हैं, जिसमे धर्म मे समाधि अर्थात् धर्म मे स्थिरता का कथन किया गया है। ग्यारहवें मार्ग अध्ययन मे ३८ गाथाएँ है, जिसमे ससार के बन्धनो से छुटकारा प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। बारहवें समवसरण अध्ययन मे २२ गाथाएँ हैं,

जिसमे क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मतो की विचारणा की गई है। तेरहवें याथातथ्य अध्ययन मे २३ गाथाए है, जिसमे मानव-मन के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। चौदहवे ग्रन्थ अध्ययन मे २७ गाथाएँ हैं, जिसमे ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग का वणन किया गया है। पन्द्रहवे आदानीय अध्ययन मे २५ गाथाएँ है, जिसमे भगवान महावीर के उपदेश का सार दिया गया है। सोलहवाँ गाथा अध्ययन गद्य मे है, जिसमे भिक्षु अर्थात् श्रमण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से समझाया गया है।

सूत्रकृताग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध के सात अध्ययन है। उनमे प्रथम अध्ययन पुण्डरीक है, जो गद्य मे है। इसमे एक सरोवर के पुण्डरीक कमल की उपमा देकर यह बताया गया है कि विभिन्न मत वाले लोग राज्य के अधिपति राजा को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है, किन्तु स्वय ही कष्टो मे फँस जाते है। राजा वहाँ का वही रह जाता हे। दूसरी ओर सद्धर्म का उपदेश देने वाले भिक्षु के पास राजा अपने आप खिचा चला आता है। इस अध्ययन मे विभिन्न मतो एव विभिन्न सम्प्रदायो के भिक्षुओ के आचार का भी वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्ययन क्रिया-स्थान है, जिसमे कर्मबन्ध के त्रयोदश स्थानो का वर्णन किया गया हे। तृतीय अध्ययन आहार-परिज्ञा है, जिसमे बताया गया है कि आत्मार्थी भिक्षु को निर्दोष आहार-पानी की एषणा किस प्रकार करनी चाहिए। चौथा अध्ययन प्रत्याख्यान है, जिसमे त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत एव नियमो का स्वरूप बताया गया है। पाँचवाँ आचार-श्रुत अध्ययन है, जिसमे त्याज्य वस्तुओ की गणना की गई है, तथा लोकमूढ मान्यताओ का खण्डन किया गया है। छठा अध्ययन आर्द्रक है, जिसमे आर्द्रककुमार की धर्मकथा बहुत सुन्दर ढग से कही गई है। यह एक दार्शनिक सवाद है, जो उपनिषदो के सवाद की पद्धति का है। विभिन्न सम्प्रदायो के लोग आर्द्रककुमार से विभिन्न प्रश्न करते हैं और आर्द्रक उनकी विभिन्न शकाओ का समाधान करते हैं। सातवाँ नालन्दा अध्ययन है, जिसमे भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नालन्दा मे दिया गया उपदेश अकित है।

सूत्रकृताग सूत्र मे जिन मतो का उल्लेख है, उनमे से कुछ का सम्बन्ध आचार से है और कुछ का तत्त्ववाद अर्थात् दर्शन शास्त्र से है। इन मतो का वर्णन करते हुए उस पद्धति को अपनाया गया है, जिसमे पूर्वपक्ष का परिचय देकर बाद मे उसका खण्डन किया जाता है। इस दृष्टि से सूत्रकृताग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान जैन आगमो मे माना जाता है। बौद्ध-परम्परा के अभिधम्मपिटक की रचना भी इसी शैली पर की गई है। दोनो की तुलनात्मक दृष्टि मननीय है।

पञ्च महाभूतवाद

दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रहा कि यह लोक क्या है?

कृताग मे लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव आदि का निरूपण है तथा क्रिया-वादी आदि ३६३ पाखण्डियो के मतो का खण्डन किया गया है। दिगम्बर-परम्परा के मान्य ग्रन्थ राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृताग मे ज्ञान, विनय, कल्प, अकल्प, व्यवहार-धर्म एव विभिन्न क्रियाओ का निरूपण है।

तागसूत्र का सं परिचय

जैन-परम्परा द्वारा मान्य अग सूत्रो मे सूत्रकृताग का द्वितीय स्थान है। किन्तु दार्शनिक-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्त्व आचाराग से अधिक है। भगवान महावीर के युग मे प्रचलित मत-मतान्तरो का वर्णन इसमे विस्तृत रूप से हुआ है। सूत्रकृताग का वर्तमान समय मे जो सस्करण उपलब्ध है, उसमे दो श्रुतस्कध हैं—प्रथम श्रुतस्कन्ध और द्वितीय श्रुतस्कन्ध। प्रथम मे सोलह अध्ययन हैं और द्वितीय मे सात अध्ययन। श्रुतस्कन्ध के प्रथम समय अध्ययन के चार उद्देशक है—पहले मे २७ गाथाएँ हैं, दूसरे मे ३२, तीसरे मे १६ तथा चौथे मे १३ है। इस मे वीतराग के अहिंसा-सिद्धान्त को बताते हुए अन्य बहुत से मतो का उल्लेख किया गया है। दूसरे वैतालीय अध्ययन मे तीन उद्देशक है। पहले मे २२ गाथाएँ, दूसरे मे ३२ तथा तीसरे मे २२। वैतालीय छन्द मे रचना होने के कारण इसका नाम वैतालीय है। इसमे मुख्य रूप से वैराग्य का उपदेश है। तीसरे उपसर्ग अध्ययन के चार उद्देशक हैं। पहले मे १७ गाथाएँ है, दूसरे मे २२, तीसरे मे २१ तथा चौथे मे २२। इसमे उपसर्ग अर्थात् सयमी जीवन मे आने वाली विघ्न-बाधाओ का है। चौथे स्त्री-परिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले की ३१ गाथाएँ है और दूसरे की २२। इसमे साधको के प्रति स्त्रियो द्वारा उपस्थित किए जाने वाले ब्रह्मचर्य घातक विघ्नो का वर्णन है। उपसर्ग अध्ययन मे प्रतिकूल विघ्नो का वर्णन था और इसमे अनुकूल विघ्नो का वर्णन है। पाँचवे निरय-विभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले मे २७ गाथाऐं और दूसरे मे २५। दोनो मे नरक के दु खो का वर्णन है। छठे वीरस्तुति अध्ययन का कोई उद्देशक नही है, इसमे २९ गाथाओ मे भगवान महावीर की स्तुति की गई है। सातवें कुशील-भाषित अध्ययन मे ३० गाथाएँ हैं, जिसमे कुशील एव चारित्रहीन व्यक्ति की दशा का वर्णन है। आठवे वीर्य मे २६ गाथाएँ हैं, इसमे वीर्य अर्थात् शुभ एव अशुभ प्रयत्न का स्वरूप बताया है। नववे धर्म अध्ययन मे ३६ गाथाएँ हैं, जिसमे धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दशवें समाधि अध्ययन मे २४ गाथाएँ हैं, जिसमे धर्म मे समाधि अर्थात् धर्म मे स्थिरता का कथन किया गया है। ग्यारहवें मार्ग अध्ययन मे ३८ गाथाएँ है, जिसमे ससार के बन्धनो से छुटकारा प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। बारहवें ण अध्ययन मे २२ गाथाएँ हैं,

जिसमे क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मतो की विचारणा की गई है। तेरहवे याथातथ्य अध्ययन मे २३ गाथाए है, जिसमे मानव-मन के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। चौदहवे ग्रन्थ अध्ययन मे २७ गाथाएँ हैं, जिसमे ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवे आदानीय अध्ययन मे २५ गाथाएँ है, जिसमे भगवान महावीर के उपदेश का सार दिया गया है। सोलहवाँ गाथा अध्ययन गद्य मे है, जिसमे भिक्षु अर्थात् श्रमण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से समझाया गया है।

सूत्रकृताग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध के सात अध्ययन है। उनमे प्रथम अध्ययन पुण्डरीक है, जो गद्य मे है। इसमे एक सरोवर के पुण्डरीक कमल की उपमा देकर यह बताया गया है कि विभिन्न मत वाले लोग राज्य के अधिपति राजा को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है, किन्तु स्वय ही कष्टो मे फँस जाते है। राजा वहाँ का वही रह जाता है। दूसरी ओर सद्धर्म का उपदेश देने वाले भिक्षु के पास राजा अपने आप खिचा चला आता है। इस अध्ययन मे विभिन्न मतो एव विभिन्न सम्प्रदायो के भिक्षुओ के आचार का भी वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्ययन क्रिया-स्थान है, जिसमे कर्मबन्ध के त्रयोदश स्थानो का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्ययन आहार-परिज्ञा है, जिसमे बताया गया है कि आत्मार्थी भिक्षु को निर्दोष आहार-पानी की एषणा किस प्रकार करनी चाहिए। चौथा अध्ययन प्रत्याख्यान है, जिसमे त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत एव नियमो का स्वरूप बताया गया है। पाँचवाँ आचार-श्रुत अध्ययन है, जिसमे त्याज्य वस्तुओ की गणना की गई है, तथा लोकमूढ मान्यताओ का खण्डन किया गया है। छठा अध्ययन आर्द्रक है, जिसमे आर्द्रककुमार की धर्मकथा बहुत सुन्दर ढग से कही गई है। यह एक दार्शनिक सवाद है, जो उपनिषदो के सवाद की पद्धति का है। विभिन्न सम्प्रदायो के लोग आर्द्रककुमार से विभिन्न प्रश्न करते है और आर्द्रक उनकी विभिन्न शकाओ का समाधान करते है। सातवाँ नालन्दा अध्ययन है, जिसमे भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नालन्दा मे दिया गया उपदेश अकित है।

सूत्रकृताग सूत्र मे जिन मतो का उल्लेख है, उनमे से कुछ का सम्बन्ध आचार से है और कुछ का तत्त्ववाद अर्थात् दर्शन-शास्त्र से है। इन मतो का वर्णन करते हुए उस पद्धति को अपनाया गया है, जिसमे पूर्वपक्ष का परिचय देकर बाद मे उसका खण्डन किया जाता है। इस दृष्टि से सूत्रकृताग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान जैन आगमो मे माना जाता है। बौद्ध-परम्परा के अभिधम्मपिटक की रचना भी इसी शैली पर की गई है। दोनो की तुलनात्मक दृष्टि मननीय है।

पञ्च महाभूतवाद

दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रहा कि यह लोक क्या है ?

इसका निर्माण किसने किया ? और कैसे हुआ ? क्योंकि लोक प्रत्यक्ष है। अत उसकी सृष्टि के सम्बन्ध मे जिज्ञासा का उठना सहज ही था। इसके सम्बन्ध मे सूत्रकृताग मे एक मत का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह लोक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप पाँच भूतो का बना हुआ है। इन्ही के विशिष्ट सयोग से आत्मा का जन्म होता हे और इनके वियोग से विनाश हो जाता है। यह वर्णन प्रथम श्रुतस्कध, प्रथम अध्ययन और प्रथम उद्देशक की ७-८ गाथाओ मे किया गया हे। मूल मे इस वाद का कोई नाम नही बताया गया। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे पञ्चभूतवाद कहा है, किन्तु सूत्रकृताग के टीकाकार आचार्य शीलाक ने इसे चार्वाक मत बताया है। इस मत का उल्लेख दूसरे श्रुतस्कध मे भी है। वहाँ इसे पञ्च महाभूतिक कहा गया है।

तज्जीव-तच्छरीरवाद

इस वाद के अनुसार ससार मे जितने शरीर है, प्रत्येक मे एक आत्मा है। शरीर की सत्ता तक ही जीव की सत्ता है। शरीर का नाश होते ही आत्मा का भी नाश हो जाता है। यहाँ शरीर को ही आत्मा कहा गया है। इसमे बताया गया है कि परलोकगमन करने वाला कोई आत्मा नही है। पुण्य और पाप का भी कोई अस्तित्व नही है। इस लोक के अतिरिक्त कोई दूसरा लोक भी नही है। मूलकार ने इस मत का कोई नाम नही बताया। निर्युक्तिकार तथा टीकाकार ने इस मत को 'तज्जीव-तच्छरीरवाद कहा है। सूत्रकृताग के दूसरे श्रुतस्कध मे इस वाद का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। शरीर से भिन्न आत्मा को मानने वालो का खण्डन करते हुए वादी कहता है – कुछ लोग कहते है कि शरीर है और जीव अलग है। वे जीव का आकार, रूप, गध, रस और स्पर्श आदि कुछ भी नही बता सकते। यदि जीव शरीर से पृथक होता है, तो जिस प्रकार म्यान से तलवार, मूंज से सीक तथा मास से अस्थि अलग करके बताई जा सकती है, उसी प्रकार आत्मा को भी शरीर से अलग करके बताया जाना चाहिए। जिस प्रकार हाथ मे रहा हुआ आँवला प्रतीत होता है तथा दही मे से न, तिल मे से तेल, ईख मे से रस एव अरणि मे से आग निकाली जाती है, इसी प्रकार आत्मा भी शरीर से अलग प्रतीत होता, पर ऐसा होता नही। अत शरीर और जीव को एक मानना चाहिए। तज्जीव-तच्छरीरवादी यह मानता है कि पाँच महाभूतो से चेतन का निर्माण होता है। अत यह वाद भी चार्वाकवाद से मिलता-जुलता ही है। इस प्रकार के वाद का वर्णन प्राचीन उपनिषदो मे भी उपलब्ध होता है।

एकात्मवाद की मान्यता

जिस प्रकार पृथ्वी-पिण्ड एक होने पर भी पर्वत, नगर, ग्राम, नदी एव समुद्र आदि अनेक रूपो मे प्रतीत होता है, इसी प्रकार यह समस्त लोक ज्ञान-पिण्ड

के रूप मे एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। ज्ञान-पिण्ड स्वरूप सर्वत्र एक ही आत्मा है। वही मनुष्य, पशु, पक्षी तथा वृक्ष आदि मे अनेक रूपो मे परिलक्षित होता है। मूलकार ने इसका कोई नामोल्लेख नही किया। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे 'एकात्मवाद' कहा है। टीकाकार आचार्य शीलाक ने इसे 'एकात्म-अद्वैतवाद' कहा है।

नियतिवाद

कुछ लोगो की यह मान्यता थी कि भिन्न-भिन्न जीव जो सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, यथाप्रसग व्यक्तियो का जो उत्थान पतन होता है, यह सब जीव के अपने पुरुषार्थ के कारण नही होता। इन सबका करने वाला जब जीव स्वय नही है, तब दूसरा कौन हो सकता है? इन सबका मूल कारण नियति है। जहाँ पर, जिस प्रकार तथा जैसा होने का समय आता है, वहाँ पर, उस प्रकार और वैसा ही होकर रहता है। उसमे व्यक्ति के पुरुषार्थ, काल, अथवा कर्म आदि कुछ भी परिवर्तन नही कर सकते। जगत् मे सब कुछ नियत है, अनियत कुछ भी नही। सूत्रकृताग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध मे इस वाद के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहा गया है— कुछ श्रमण तथा ब्राह्मण कहते है कि जो लोग क्रियावाद की स्थापना करते है और जो लोग अक्रियावाद की स्थापना करते हैं, वे दोनो ही नियतिवादी है। क्योकि नियतिवाद के अनुसार क्रिया तथा अक्रिया दोनो का कारण नियति है। इस नियतिवाद के सम्बन्ध मे मूलकार, निर्युक्तिकार तथा टीकाकार सभी एकमत है, वे तीनो इसे नियतिवाद कहते है। भगवान् महावीर के युग मे गोशालक का भी यही मत था, जिसका उल्लेख भगवती सूत्र आदि अन्य आगमो मे भी उपलब्ध होता है। निश्चय ही यह नियतिवाद गोशालक से भी पूर्व का रहा होगा। पर गोशालक ने इस सिद्धान्त को अपने मत का आधार बनाया था। सूत्रकृताग सूत्र मे इसी प्रकार के अन्य मत-मतान्तरो का भी उल्लेख है। जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद, वेदवाद, हिंसावाद, हस्तितापसवाद, आदि अनेक मतो का सूत्रकृताग सूत्र मे सक्षेप रूप मे और कही पर विस्तार रूप मे उल्लेख हुआ है। परन्तु निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे विस्तार दिया तथा टीकाकार आचार्य शीलाक ने मत-मतान्तरो की मान्यताओ का नाम लेकर उल्लेख किया है। आचार्य शीलाक का यह प्रयास दार्शनिक क्षेत्र मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

आचाराग और सूत्रकृताग

एकादश अगो मे आचाराग प्रथम अग है, जिसमे आचार का प्रधानता से वर्णन किया गया है। श्रमणाचार का यह मूलभूत आगम है। आचाराग सूत्र दो श्रुतस्कधो मे विभक्त है—प्रथम श्रुतस्कध तथा द्वितीय श्रुतस्कध। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने आचाराग के प्रथम श्रुतस्कध को ब्रह्मचर्य अध्ययन कहा है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ

सयम है। द्वितीय श्रुतस्कध को आचाराग कहा जाता है। यह आचाराग्र पाँच चूलाओ मे विभक्त था। पाँचवी चूला, जिसका नाम आज निशीथ है तथा निर्युक्ति-कार ने जिसे आचार-प्रकल्प कहा है, वह आचाराग से पृथक् हो गया। यह पृथक्-करण कब हुआ, अभी इसकी पूरी खोज नही हो सकी है। आचाराग मे अथ से इति तक आचारधम का विस्तार के साथ वर्णन हुआ हे। जैन-परम्परा का यह मूलभूत आचार-शास्त्र हे। दिगम्बर-परम्परा का आचार्य वट्टकेरकृत मूलाचार आचाराग के आधार पर ही निर्मित हुआ हे, ऐसा प्रतीत होता है। सूत्रकृतागसूत्र, जो एकादश अगो मे द्वितीय अग हैं, उसम विचार की मुख्यता है। भगवान् महावीर-कालीन भारत के जो अन्य विभिन्न दार्शनिक मत थे, उन विचारो का खण्डन करके अपने सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना की है। सूत्रकृताग जैन-परम्परा मे प्राचीन आगमो मे एक महान् आगम है। इसमे नवदीक्षित श्रमणो को सयम मे स्थिर रखने के लिए और उनके विचार-पक्ष को शुद्ध करने के लिए जैनसिद्धान्तो का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक काल के अध्येता को, जिसे अपने देश का प्राचीन बौद्धिक विचार-दर्शन जानने की उत्सुकता हो, जैन तथा अजैन दर्शन को समझने की दृष्टि हो, उसे इसमे बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है। प्रस्तुत आगम मे जीव, अजीव, लोक, अलोक, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का विस्तृत विवेचन हुआ है। सूत्रकृताग के भी दो श्रुतस्कध है। दोनो मे ही दार्शनिक विचार-चर्चा है। प्राचीन ज्ञान के तत्त्वाभ्यासी के लिए सूत्रकृताग मे वर्णित अजैन सिद्धान्त भी रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगे। जिस प्रकार की चर्चा प्राचीन उपनिषदो मे उपलब्ध होती है। उसी प्रकार की विचारणा सूत्रकृताग मे उपलब्ध होती है। बौद्ध-परम्परा के त्रिपिटक-साहित्य मे इसकी तुलना ब्रह्मजालसुत्त से की जा ती है। ब्रह्मजाल सुत्त मे भी बुद्धकालीन अन्य दार्शनिको का पूर्वपक्ष के रूप मे उल्लेख करके अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार की शैली जैन-परम्परा के गणिपिटक मे सूत्रकृताग की रही है। भगवान् महावीर के पूर्व तथा भगवान् महावीरकालीन भारत के सभी दर्शनो का विचार अगर एक ही आगम से जानना हो तो वह सूत्रकृताग से ही हो सकता है। अत जैन-परम्परा मे सूत्रकृताग एक प्रकार से दार्शनिक विचारो का गणिपिटक है।

प्रस्तुत सम्

सूत्रकृताग सूत्र का स्थानकवासी-परम्परा मे सुन्दर प्र ज्योतिर्धर आचाय जवाहरलालजी महाराज के तत्त्वावधान मे चार भागो मे प्रकाशित हो चुका है। यह प्रकाशन पर्याप्त सुन्दर था, व्यवस्थित था। इसका सम्पादन व्यापक दृष्टि-कोण से हुआ था। परन्तु, वह प्राचीन सस्करण अब सर्वसामान्य को उपलब्ध न था। अत मुझे प्रसन्नता है कि सूत्रकृताग जैसे गभीर आगम का प्रकाशन एक

सुयोग्य विद्वान् के द्वारा हो रहा है। प्रस्तुत सस्करण सूत्रकृताग एक विराट्काय सस्करण है। सर्वप्रथम शुद्ध मूलपाठ है, तदनन्तर सस्कृत-छाया, पदान्वयार्थ, मूलार्थ और विस्तृत विवेचन है, जिनसे मूल का स्पष्ट अर्थ बोध हो जाता है। साधारण से साधारण पाठक भी मूल सूत्र के गभीर भावो को आसानी से समझ सकता है। अत प्रस्तुत सस्करण की अपनी एक पृथक् विशिष्टता है, जिसमे व्याख्याकार का गहन एव विस्तृत अध्ययन, दार्शनिक चिन्तन एव प्रगाढ पाण्डित्य सर्वत्र प्रतिबिम्बित हो रहा है।

व्याख्याकार पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज

प्रस्तुत सस्करण के व्याख्याकार मेरे अपने श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय अमरमुनि के अभिन्न स्नेही सुहृद्वर पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज है। सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ का उनका अध्ययन गभीर एव व्यापक है। व्याकरण की मर्मज्ञता तो उनकी सब ओर प्रसिद्ध रही हैं। जैनधर्म दिवाकर आचार्यदेव श्री आत्मारामजी महाराज के श्रीचरणो मे जब से दीक्षा ली, तभी से अध्ययन मे सलग्न हुए और अपने अध्ययन को निरन्तर सूक्ष्म, गभीर एव व्यापक बनाते गए। जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज स्वय भी महान् आगमधर, दार्शनिक एव विचारक थे। अपने युग मे वे आगमो के सर्वमान्य लब्धप्रतिष्ठ अध्येता एव व्याख्याता माने जाते थे। आगमसागर का उन्होने तलस्पर्शी अवगाहन किया था। अनुयोगद्वार, आचाराग, स्थानाग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक तथा नन्दी आदि अनेक गभीर एव गूढ कहे जाने वाले आगमो पर उन्होने हिन्दी टीकाएँ लिखी हैं, जिनका सर्वत्र समादर हुआ है। आचार्यश्री की विवेचन शैली स्पष्ट, अर्थबोधक एव हृदयग्राहिणी है। अत श्री सघ ने उन्हे जैनागम-रत्नाकर के महनीय पद से समलकृत किया था। गुरु-परम्परा से ज्ञान की यह उज्ज्वल ज्योति उनके प्रिय शिष्य मे भी समवतरित हुई। आचार्य श्री के साहित्य-निर्माण मे भी पण्डितप्रवर श्री हेमचन्द्रजी महाराज का प्रारम्भ से ही बहुमूल्य योगदान रहा है। पण्डितजी महाराज की यह बौद्धिक सेवा आचार्यश्री के साहित्य के साथ समाज की चेतना मे चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत सस्करण के प्रेरक एव सम्पादक

प्रस्तुत आगम प्रकाशन के मूल प्रेरक रहे है पण्डित मुनि श्री पदमचन्दजी महाराज, जो भण्डारीजी महाराज के नाम से समाज मे सर्वत्र विश्रुत है। भण्डारीजी मेरे पूज्य गुरुदेव के शिष्यवत श्रद्धासिक्त स्नेही रहे है। उनकी काफी समय से इच्छा थी कि अपने गुरुदेव की यह रचना जनता के समक्ष आए। सूत्रकृताग का लेखन बहुत समय पहले हो चुका था। अपने सौम्य स्वभाव के कारण अथवा ख्याति की आकाक्षा न होने के कारण उन्होने (प० हेमचन्द्रजी महाराज ने) इसके प्रकाशन की दिशा मे कोई सक्रिय प्रयत्न नही किया। फलत यह महती कृति वर्षो तक यो

सयम है। द्वितीय श्रुतस्कध को आचाराग्र कहा जाता है। यह आचाराग्र पाँच चूलाओ मे विभक्त था। पाँचवी चूला, जिसका नाम आज निशीथ है तथा निर्युक्तिकार ने जिसे आचार-प्रकल्प कहा है, वह आचाराग से पृथक् हो गया। यह पृथक्-करण कब हुआ, अभी इसकी पूरी खोज नही हो सकी हे। आचाराग मे अथ से इति तक आचारधर्म का विस्तार के साथ वर्णन हुआ हे। जैन-परम्परा का यह मूलभूत आचार-शास्त्र है। दिगम्बर-परम्परा का आचार्य वट्टकेरकृत मूलाचार आचाराग के आधार पर ही निर्मित हुआ हे, ऐसा प्रतीत होता है। सूत्रकृतागसूत्र, जो एकादश अगो मे द्वितीय अग हैं, उसमे विचार की मुख्यता है। भगवान् महावीर-कालीन भारत के जो अन्य विभिन्न दाशनिक मत थे, उन सबके विचारो का खण्डन करके अपने सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना की है। सूत्रकृताग जैन-परम्परा मे प्राचीन आगमो मे एक महान् आगम है। इसमे नवदीक्षित श्रमणो को सयम मे स्थिर रखने के लिए और उनके विचार-पक्ष को शुद्ध करने के लिए जैनसिद्धान्तो का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक काल के अध्येता को, जिसे अपने देश का प्राचीन बौद्धिक विचार-दर्शन जानने की उत्सुकता हो, जैन तथा अजैन दर्शन को समझने की दृष्टि हो, उसे इसमे बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है। प्रस्तुत आगम मे जीव, अजीव, लोक, अलोक, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का विस्तृत विवेचन हुआ है। सूत्रकृताग के भी दो श्रुतस्कध है। दोनो मे ही दार्शनिक विचार-चर्चा है। प्राचीन ज्ञान के तत्त्वाभ्यासी के लिए सूत्रकृताग मे वर्णित अजैन सिद्धान्त भी रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगे। जिस प्रकार की चर्चा प्राचीन उपनिषदो मे उपलब्ध होती है। उसी प्रकार की विचारणा सूत्रकृताग मे उपलब्ध होती है। बौद्ध-परम्परा के त्रिपिटक-साहित्य मे इसकी तुलना ब्रह्मजालसुत्त से की जा सकती है। ब्रह्मजाल सुत्त मे भी बुद्धकालीन अन्य दार्शनिको का पूर्वपक्ष के रूप मे उल्लेख करके अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार की शैली जैन-परम्परा के गणिपिटक मे सूत्रकृताग की रही है। भगवान् महावीर के पूर्व तथा भगवान् महावीरकालीन भारत के सभी दर्शनो का विचार अगर एक ही आगम से जानना हो तो वह सूत्रकृताग से ही हो सकता है। अत जैन-परम्परा मे सूत्रकृताग एक प्रकार से दार्शनिक विचारो का गणिपिटक है।

प्रस्तुत सम्

सूत्रकृताग सूत्र का स्थानकवासी-परम्परा मे सुन्दर प्र ज्योतिर्धर आचाय जवाहरलालजी महाराज के तत्त्वावधान मे चार भागो मे प्रकाशित हो चुका है। यह प्रकाशन पर्याप्त सुन्दर था, व्यवस्थित था। इसका सम्पादन व्यापक दृष्टि-कोण से हुआ था। परन्तु, वह प्राचीन सस्करण अब सर्वसामान्य को उपलब्ध न था। अत मुझे प्रसन्नता है कि सूत्रकृताग जैसे गभीर आगम का प्रकाशन एक

सुयोग्य विद्वान् के द्वारा हो रहा है। प्रस्तुत सस्करण सूत्रकृताग एक विराट्काय सस्करण है। सर्वप्रथम शुद्ध मूलपाठ है, तदनन्तर सस्कृत-छाया, पदान्वयार्थ, मूलार्थ और विस्तृत विवेचन है, जिनसे मूल का स्पष्ट अर्थ बोध हो जाता है। साधारण से साधारण पाठक भी मूल सूत्र के गभीर भावो को आसानी से समझ सकता है। अत प्रस्तुत सस्करण की अपनी एक पृथक् विशिष्टता है, जिसमे व्याख्याकार का गहन एव विस्तृत अध्ययन, दार्शनिक चिन्तन एव प्रगाढ पाण्डित्य सर्वत्र प्रतिबिम्बित हो रहा है।

व्याख्याकार पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज

प्रस्तुत सस्करण के व्याख्याकार मेरे अपने श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय अमरमुनि के अभिन्न स्नेही सुहृद्वर पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज है। सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ का उनका अध्ययन गभीर एव व्यापक है। व्याकरण की मर्मज्ञता तो उनकी सब ओर प्रसिद्ध रही है। जैनधर्म दिवाकर आचार्यदेव श्री आत्मारामजी महाराज के श्रीचरणो मे जब से दीक्षा ली, तभी से अध्ययन मे सलग्न हुए और अपने अध्ययन को निरन्तर सूक्ष्म, गभीर एव व्यापक बनाते गए। जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज स्वय भी महान् आगमधर, दार्शनिक एव विचारक थे। अपने युग मे वे आगमो के सर्वमान्य लब्धप्रतिष्ठ अध्येता एव व्याख्याता माने जाते थे। आगमसागर का उन्होने तलस्पर्शी अवगाहन किया था। अनुयोगद्वार, आचाराग, स्थानाग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक तथा नन्दी आदि अनेक गभीर एव गूढ कहे जाने वाले आगमो पर उन्होने हिन्दी टीकाएँ लिखी हैं, जिनका सर्वत्र समादर हुआ है। आचार्यश्री की विवेचन शैली स्पष्ट, अर्थबोधक एव हृदयग्राहिणी है। अत श्री सघ ने उन्हे जैनागम-रत्नाकर के महनीय पद से समलकृत किया था। गुरु-परम्परा से ज्ञान की यह उज्ज्वल ज्योति उनके प्रिय शिष्य मे भी समवतरित हुई। आचार्य श्री के साहित्य-निर्माण मे भी पण्डितप्रवर श्री हेमचन्द्रजी महाराज का प्रारम्भ से ही बहुमूल्य योगदान रहा है। पण्डितजी महाराज की यह बौद्धिक सेवा आचार्यश्री के साहित्य के साथ समाज की चेतना मे चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत सस्करण के प्रेरक एव सम्पादक

प्रस्तुत आगम प्रकाशन के मूल प्रेरक रहे है पण्डित मुनि श्री पदमचन्दजी महाराज, जो भण्डारीजी महाराज के नाम से समाज मे सर्वत्र विश्रुत हैं। भण्डारीजी मेरे पूज्य गुरुदेव के शिष्यवत श्रद्धासिक्त स्नेही रहे है। उनकी काफी समय से इच्छा थी कि अपने गुरुदेव की यह रचना जनता के समक्ष आए। सूत्रकृताग का लेखन बहुत समय पहले हो चुका था। अपने सौम्य स्वभाव के कारण अथवा ख्याति की आकाक्षा न होने के कारण उन्होने (प० हेमचन्द्रजी महाराज ने) इसके प्रकाशन की दिशा मे कोई सक्रिय प्रयत्न नही किया। फलत यह महती कृति वर्षो तक यो

सयम है। द्वितीय श्रुतस्कध को आचाराग्र कहा जाता है। यह आचाराग्र पाँच चूलाओ मे विभक्त था। पाँचवी चूला, जिसका नाम आज निशीथ है तथा नियुंक्ति-कार ने जिसे आचार-प्रकल्प कहा है, वह आचाराग से पृथक् हो गया। यह पृथक्-करण कब हुआ, अभी इसकी पूरी खोज नही हो सकी है। आचाराग मे अथ से इति तक आचारधर्म का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। जैन-परम्परा का यह मूलभूत आचार-शास्त्र ह। दिगम्बर-परम्परा का आचार्य वट्टकेरकृत मूलाचार आचाराग के आधार पर ही निर्मित हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। सूत्रकृतागसूत्र, जो एकादश अगो मे द्वितीय अग है, उसमे विचार की मुख्यता है। भगवान् महावीर-कालीन भारत के जो अन्य विभिन्न दार्शनिक मत थे, उन सबके विचारो का खण्डन करके अपने सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना की है। सूत्रकृताग जैन-परम्परा मे प्राचीन आगमो मे एक महान् आगम है। इसमे नवदीक्षित श्रमणो को सयम मे स्थिर रखने के लिए और उनके विचार-पक्ष को शुद्ध करने के लिए जैनसिद्धान्तो का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक काल के अध्येता को, जिसे अपने देश का प्राचीन बौद्धिक विचार-दर्शन जानने की उत्सुकता हो, जैन तथा अजैन दर्शन को समझने की दृष्टि हो, उसे इसमे बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है। प्रस्तुत आगम मे जीव, अजीव, लोक, अलोक, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का विस्तृत विवेचन हुआ है। सूत्रकृताग के भी दो श्रुतस्कध है। दोनो मे ही दार्शनिक विचार-चर्चा है। प्राचीन ज्ञान के तत्त्वाभ्यासी के लिए सूत्रकृताग मे वर्णित अजैन सिद्धान्त भी रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगे। जिस प्रकार की चर्चा प्राचीन उपनिषदो मे उपलब्ध होती है। उसी प्रकार की विचारणा सूत्रकृताग मे उपलब्ध होती है। बौद्ध-परम्परा के त्रिपिटक-साहित्य मे इसकी तुलना ब्रह्मजालसुत्त से की जा ती है। ब्रह्मजाल सुत्त मे भी बुद्धकालीन अन्य दार्शनिको का पूर्वपक्ष के रूप मे उल्लेख करके अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार की शैली जैन-परम्परा के गणिपिटक मे सूत्रकृताग की रही है। भगवान् महावीर के पूर्व तथा भगवान् महावीरकालीन भारत के सभी दर्शनो का विचार अगर एक ही आगम से जानना हो तो वह सूत्रकृताग से ही हो सकता है। अत जैन-परम्परा मे सूत्रकृताग एक प्रकार से दार्शनिक विचारो का गणिपिटक है।

प्रस्तुत सस्क

सूत्रकृताग सूत्र का स्थानकवासी-परम्परा मे सुन्दर प्रकाशन ज्योतिर्धर आचाय जवाहरलालजी महाराज के तत्त्वावधान मे चार भागो मे प्रकाशित हो चुका है। यह प्रकाशन पर्याप्त सुन्दर था, व्यवस्थित था। इसका सम्पादन व्यापक दृष्टि-कोण से हुआ था। परन्तु, वह प्राचीन सस्करण अब सर्वसामान्य को उपलब्ध न था। अत मुझे प्रसन्नता है कि सूत्रकृताग जैसे गभीर आगम का प्रकाशन एक

सुयोग्य विद्वान् के द्वारा हो रहा है। प्रस्तुत सस्करण सूत्रकृताग एक विराट्काय सस्करण है। सर्वप्रथम शुद्ध मूलपाठ है, तदनन्तर सस्कृत-छाया, पदान्वयार्थ, मूलार्थ और विस्तृत विवेचन है, जिनसे मूल का स्पष्ट अर्थ बोध हो जाता है। साधारण से साधारण पाठक भी मूल सूत्र के गभीर भावो को आसानी से समझ सकता है। अत प्रस्तुत सस्करण की अपनी एक पृथक् विशिष्टता है, जिसमे व्याख्याकार का गहन एव विस्तृत अध्ययन, दार्शनिक चिन्तन एव प्रगाढ पाण्डित्य सर्वत्र प्रतिबिम्बित हो रहा है।

व्याख्याकार पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज

प्रस्तुत सस्करण के व्याख्याकार मेरे अपने श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय अमरमुनि के अभिन्न स्नेही सुहृद्वर पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज हैं। सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ का उनका अध्ययन गभीर एव व्यापक है। व्याकरण की मर्मज्ञता तो उनकी सब ओर प्रसिद्ध रही है। जैनधर्म दिवाकर आचार्यदेव श्री आत्मारामजी महाराज के श्रीचरणो मे जब से दीक्षा ली, तभी से अध्ययन मे सलग्न हुए और अपने अध्ययन को निरन्तर सूक्ष्म, गभीर एव व्यापक बनाते गए। जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज स्वय भी महान् आगमधर, दार्शनिक एव विचारक थे। अपने युग मे वे आगमो के सर्वमान्य लब्धप्रतिष्ठ अध्येता एव व्याख्याता माने जाते थे। आगमसागर का उन्होने तलस्पर्शी अवगाहन किया था। अनुयोगद्वार, आचाराग, स्थानाग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक तथा नन्दी आदि अनेक गभीर एव गूढ कहे जाने वाले आगमो पर उन्होने हिन्दी टीकाएँ लिखी हैं, जिनका सर्वत्र समादर हुआ है। आचार्यश्री की विवेचन शैली स्पष्ट, अर्थबोधक एव हृदयग्राहिणी है। अत श्री सघ ने उन्हे जैनागम-रत्नाकर के महनीय पद से समलकृत किया था। गुरु-परम्परा से ज्ञान की यह उज्ज्वल ज्योति उनके प्रिय शिष्य मे भी समवतरित हुई। आचार्य श्री के साहित्य-निर्माण मे भी पण्डितप्रवर श्री हेमचन्द्रजी महाराज का प्रारम्भ से ही बहुमूल्य योगदान रहा है। पण्डितजी महाराज की यह बौद्धिक सेवा आचार्यश्री के साहित्य के साथ समाज की चेतना मे चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत सस्करण के प्रेरक एव सम्पादक

प्रस्तुत आगम प्रकाशन के मूल प्रेरक रहे है पण्डित मुनि श्री पदमचन्दजी महाराज, जो भण्डारीजी महाराज के नाम से समाज मे सर्वत्र विश्रुत हैं। भण्डारीजी मेरे पूज्य गुरुदेव के शिष्यवत श्रद्धासिक्त स्नेही रहे हैं। उनकी काफी समय से इच्छा थी कि अपने गुरुदेव की यह रचना जनता के समक्ष आए। सूत्रकृताग का लेखन बहुत समय पहले हो चुका था। अपने सौम्य स्वभाव के कारण अथवा ख्याति की आकाक्षा न होने के कारण उन्होने (प० हेमचन्द्रजी महाराज ने) इसके प्रकाशन की दिशा मे कोई सक्रिय प्रयत्न नही किया। फलत यह महती कृति वर्षों तक यो

सयम है। द्वितीय श्रुतस्कध को आचाराग्र कहा जाता है। यह आचाराग्र पाँच चूलाओ मे विभक्त था। पाँचवी चूला, जिसका नाम आज निशीथ है तथा निर्युक्ति-कार ने जिसे आचार-प्रकल्प कहा हे, वह आचाराग से पृथक् हो गया। यह पृथक्-करण कब हुआ, अभी इसकी पूरी खोज नही हो सकी है। आचाराग मे अथ से इति तक आचारधर्म का विस्तार के साथ वर्णन हुआ हे। जैन-परम्परा का यह मूलभूत आचार-शास्त्र है। दिगम्बर-परम्परा का आचार्य वट्टकेरकृत मूलाचार आचाराग के आधार पर ही निर्मित हुआ हे, ऐसा प्रतीत होता है। सूत्रकृतागसूत्र, जो एकादश अगो मे द्वितीय अग है, उसमे विचार की मुख्यता है। भगवान् महावीर-कालीन भारत के जो अन्य विभिन्न दार्शनिक मत थे, उन सबके विचारो का खण्डन करके अपने सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना की हे। सूत्रकृताग जैन-परम्परा मे प्राचीन आगमो मे एक महान् आगम है। इसमे नवदीक्षित श्रमणो को सयम मे स्थिर रखने के लिए और उनके विचार-पक्ष को शुद्ध करने के लिए जैनसिद्धान्तो का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक काल के अध्येता को, जिसे अपने देश का प्राचीन बौद्धिक विचार-दर्शन जानने की उत्सुकता हो, जैन तथा अजैन दर्शन को समझने की दृष्टि हो, उसे इसमे बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है। प्रस्तुत आगम मे जीव, अजीव, लोक, अलोक, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का विस्तृत विवेचन हुआ है। सूत्रकृताग के भी दो श्रुतस्कध है। दोनो मे ही दार्शनिक विचार-चर्चा है। प्राचीन ज्ञान के तत्त्वाभ्यासी के लिए सूत्रकृताग मे वर्णित अजैन सिद्धान्त भी रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगे। जिस प्रकार की चर्चा प्राचीन उपनिषदो मे उपलब्ध होती है। उसी प्रकार की विचारणा सूत्रकृताग मे उपलब्ध होती है। बौद्ध-परम्परा के त्रिपिटक-साहित्य मे इसकी तुलना ब्रह्मजालसुत्त से की जा ती है। ब्रह्मजाल सुत्त मे भी बुद्धकालीन अन्य दार्शनिको का पूर्वपक्ष के रूप मे उल्लेख करके अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार की शैली जैन-परम्परा के गणिपिटक मे सूत्रकृताग की रही है। भगवान् महावीर के पूर्व तथा भगवान् महावीरकालीन भारत के सभी दर्शनो का विचार अगर एक ही आगम से जानना हो तो वह सूत्रकृताग से ही हो सकता है। अत जैन-परम्परा मे सूत्रकृताग एक प्रकार से दार्शनिक विचारो का गणिपिटक है।

प्रस्तुत सस्

सूत्रकृताग सूत्र का स्थानकवासी-परम्परा मे सुन्दर प्रकाशन ज्योतिर्धर आचाय जवाहरलालजी महाराज के तत्त्वावधान मे चार भागो मे प्रकाशित हो चुका है। यह प्रकाशन पर्याप्त सुन्दर था, व्यवस्थित था। इसका सम्पादन व्यापक दृष्टि-कोण से हुआ था। परन्तु, वह प्राचीन सस्करण अब सर्वसामान्य को उपलब्ध न था। अत मुझे प्रसन्नता है कि सूत्रकृताग जैसे गभीर आगम का प्रकाशन एक

सुयोग्य विद्वान् के द्वारा हो रहा है। प्रस्तुत सस्करण सूत्रकृताग एक विराट्काय सस्करण है। सर्वप्रथम शुद्ध मूलपाठ है, तदनन्तर सस्कृत-छाया, पदान्वयार्थ, मूलार्थ और विस्तृत विवेचन है, जिनसे मूल का स्पष्ट अर्थ वोध हो जाता है। साधारण से साधारण पाठक भी मूल सूत्र के गभीर भावो को आसानी से समझ सकता है। अत प्रस्तुत सस्करण की अपनी एक पृथक् विशिष्टता है, जिसमे व्याख्याकार का गहन एव विस्तृत अध्ययन, दार्शनिक चिन्तन एव प्रगाढ पाण्डित्य सर्वत्र प्रतिविम्वित हो रहा है।

व्याख्याकार पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज

प्रस्तुत सस्करण के व्याख्याकार मेरे अपने श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय अमरमुनि के अभिन्न स्नेही सुहृद्वर पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज है। सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ का उनका अध्ययन गभीर एव व्यापक है। व्याकरण की मर्मज्ञता तो उनकी सब ओर प्रसिद्ध रही है। जैनधर्म दिवाकर आचार्यदेव श्री आत्मारामजी महाराज के श्रीचरणो मे जब से दीक्षा ली, तभी से अध्ययन मे सलग्न हुए और अपने अध्ययन को निरन्तर सूक्ष्म, गभीर एव व्यापक बनाते गए। जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज स्वय भी महान् आगमधर, दार्शनिक एव विचारक थे। अपने युग मे वे आगमो के सर्वमान्य लब्धप्रतिष्ठ अध्येता एव व्याख्याता माने जाते थे। आगमसागर का उन्होने तलस्पर्शी अवगाहन किया था। अनुयोगद्वार, आचाराग, स्थानाग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक तथा नन्दी आदि अनेक गभीर एव गूढ कहे जाने वाले आगमो पर उन्होने हिन्दी टीकाएँ लिखी हैं, जिनका सर्वत्र समादर हुआ है। आचार्यश्री की विवेचन शैली स्पष्ट, अर्थवोधक एव हृदयग्राहिणी है। अत श्री सघ ने उन्हे जैनागम-रत्नाकर के महनीय पद से समलकृत किया था। गुरु-परम्परा से ज्ञान की यह उज्ज्वल ज्योति उनके प्रिय शिष्य मे भी समवतरित हुई। आचार्य श्री के साहित्य-निर्माण मे भी पण्डितप्रवर श्री हेमचन्द्रजी महाराज का प्रारम्भ से ही वहुमूल्य योगदान रहा है। पण्डितजी महाराज की यह वौद्धिक सेवा आचार्यश्री के साहित्य के साथ समाज की चेतना मे चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत सस्करण के प्रेरक एव सम्पादक

प्रस्तुत आगम प्रकाशन के मूल प्रेरक रहे है - पण्डित मुनि श्री पदमचन्दजी महाराज, जो भण्डारीजी महाराज के नाम से समाज मे सर्वत्र विश्रुत हैं। भण्डारीजी मेरे पूज्य गुरुदेव के शिष्यवत् श्रद्धासिक्त स्नेही रहे हैं। उनकी काफी समय से इच्छा थी कि अपने गुरुदेव की यह रचना जनता के समक्ष आए। सूत्रकृताग का लेखन वहुत समय पहले हो चुका था। अपने सौम्य स्वभाव के कारण अथवा ख्याति की आकाक्षा न होने के कारण उन्होने (प० हेमचन्द्रजी महाराज ने) इसके प्रकाशन की दिशा मे कोई सक्रिय प्रयत्न नही किया। फलत यह महती कृति वर्षो तक यो

ही रखी रही। पण्डितजी के प्रिय शिष्य श्री भण्डारीजी महाराज के अन्तर्मन मे भावना जगी कि यह विराट शास्त्र आधुनिक शैली से पुन सम्पादित होकर जन-चेतना के समक्ष आए। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि भण्डारीजी की उक्त मगल भावना ने आज सुचारु रूप से मूर्त रूप लिया है।

पूर्व प्रकाशित प्रश्नव्याकरणसूत्र के समान सूत्रकृताग के सम्पादन का यह महान् कार्य भी भण्डारीजी के प्रिय शिष्य प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी के द्वारा सम्पन्न हुआ है। श्री अमरमुनिजी प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार प० हेमचन्द्रजी महाराज के प्रशिष्य है। वे एक महान् कर्मठ, योग्य विचारक एव जिनशासनरसिक तरुण मुनि हैं। वर्तमान पजाब जैन श्रमण-सघ मे मुनिजी एक महान् यशस्वी प्रवक्ता हैं। उनकी वाणी से सहज ही वह अमृतकल्प रस धारा बरसती है, जो हजारो-हजार श्रोताओ के अन्तर् मन को गहराई से स्पर्श कर जाती है, आनन्द से सराबोर कर देती है। वस्तुत वे सही अर्थ मे प्रवचनभूषण हैं। सेवा की तो वे जीवित प्रतिमूर्ति ही है। सन् १९६४ के पूज्य गुरुदेव के जयपुर वर्षावास मे उनकी अस्वस्थता के समय उन्होने जो उदात्त सेवा-परिचर्या की है, वह हम सबके स्मृति-कोप की एक अक्षुण्णनिधि है। वस्तुत अमरमुनिजी मे अपने पूर्व गुरुजनो की सस्कारधारा प्रवाहित है, जो उन्हे यशस्वी बनाती रही है और बनाती रहेगी। इन दिनो मे पूज्य गुरुदेव का स्वास्थ्य ठीक नही चल रहा है। अत इस महान् कार्य मे प्रस्तावना के रूप मे मैं अपना योगदान देकर परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। मुझे आशा है कि भविष्य मे भण्डारीजी और अमरमुनिजी आगम प्रकाशन के इस महान् काय की परम्परा को आगे भी चालू रखेंगे। प्रस्तुत सूत्रकृताग सूत्र के व्याख्याकार की व्याख्या भी सुन्दर है, सम्पादक का सम्पादन भी मधुर है और प्रेरक की प्रेरणा भी प्रशसा के योग्य है। प्रस्तुत प्रकाशन से आगमाभ्यासी एव स्वाध्यायप्रेमी भाई-बहन अधिक से अधिक लाभान्वित हो, यही मेरी मगल भावना है। सुरभित सुमन की सुगन्ध सब ओर मुक्तगति से फैलनी ही चाहिए।

वीरायतन, राजगृह
अक्षय तृतीया
२९ अप्रैल ७९

योग के दो ब्द

वर्तमान मे उपलब्ध ११ अगो मे सूत्रकृताग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह द्वितीय अगशास्त्र है। इसके दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे १६ अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे सात।

यो देखा जाय तो सूत्रकृताग दार्शनिक शैली का शास्त्र है, इसलिए प्रारम्भ मे अध्येता को जरा दुरूह एव क्लिष्ट प्रतीत होता है, लेकिन ज्यो-ज्यो इसके अन्दर वह अवगाहन करता जाता है त्यो-त्यो इस शास्त्र समुद्र मे असख्य मुक्ताफल ज्ञान और दर्शन के रूप मे मिलते है।

इस व्याख्या का महत्त्व

यो तो इस शास्त्रराज पर अद्यावधि कई व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इस पर सबसे प्राचीन आचार्य भद्रबाहुस्वामी रचित निर्युक्ति है। इसके पश्चात् श्री शीलाकाचार्य की टीका प्रसिद्ध हैं। इस पर चूर्णि और दीपिका भी मिलती है। इसके अतिरिक्त स्थानकवासी जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के तत्त्वावधान मे शीलाकाचार्य कृत टीका का प अम्बिकादत्तजी ओझा व्याकरणाचार्य द्वारा किया हुआ अनुवाद ४ भागो मे प्रकाशित हुआ है। साथ ही जैनाचार्य प मुनि श्री घासीलाल जी महाराज द्वारा कृत सस्कृत, हिन्दी-गुजराती टीका भी प्रकाशित हुई है। परन्तु इन सब व्याख्याओ के होते हुए भी सूत्रकृताग की यह व्याख्या कुछ विलक्षण है। इसमे प्राजल हिन्दी भाषा मे व्याख्या इतनी सरस व हृदयस्पर्शी है कि मूल पाठ के शब्दो का पुर्जा-पुर्जा खोलकर रख देती है। एक तरह से मूलपाठ का हृदय खोलकर रख देती है। व्याख्या मे किसी प्रकार का साम्प्रदादिक पक्षपात न रखकर समन्वय का दृष्टिकोण रखा गया है। जहाँ कही किसी अन्य दर्शन के मत का निराकरण भी मूलानुसार किया गया है, वहाँ उस दर्शन का पूर्वपक्ष भली-भाँति प्रस्तुत करके फिर उसका उत्तरपक्ष सुचारुरूपेण समझाया गया है। इस सूत्रकृताग-व्याख्या मे मूलपाठ, सस्कृत-छाया, शब्दार्थ, अन्वयार्थ और व्याख्या यो ५ विभाग साथ-साथ दिये गये हैं, जिससे पाठक सुगमता से वस्तुतत्त्व को हृदयगम कर सके।

शास्त्ररसिको से

इसलिए यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि व्याख्यासहित यह शास्त्रराज

आगम-जिज्ञासुओ, आगमवेत्ताओ, शास्त्रज्ञ साधु-साध्वियो, शास्त्रशोधकर्ताओ तथा आगमरसिको के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। इस व्याख्या को देख लेने के पश्चात अन्य टीका और निर्युक्त देखने की पाठक को आवश्यकता नही पडेगी। यो तो यह शास्त्रराज वहुत ही दुरूह है, अगर मनोयोगपूर्वक न पढा जाय तो झटपट समझ मे आने वाला नही है, और न ही इसमे कोई कथा कहानी ह, जिससे उपन्यास-कहानी की त~ह इसे पढने मे शीघ्र दिलचस्पी जगे। परन्तु इतना अवश्य ह कि जो भी मुमुक्षुजन इसे रुचिपूर्वक पढेगा, उसे इसमे से अनेक अनुभवरत्न मिलेंगे, आत्म-साधना की अटपटी घाटियो को पार करने मे इस शास्त्रराज से बहुत ही मार्गदर्शन मिलेगा, और मिलेगा युक्ति, सूक्ति और अनुभूति का प्रकाश, जिससे प्रत्येक साधक अपनी जीवननैया को विषय-कपायो के तूफानो से, एव काम, क्रोध, मोह, राग, द्वेप आदि की चट्टानो से टकराने से बचा सके।

शास्त्र-सम्पादन एव प्रकाशन का श्रेय

इस शास्त्रराज को इतनी सुन्दर व्याख्या के साथ सम्पादन और प्रकाशन कराने का श्रेय है श्रद्धेय जैन विभूषण भडारी श्री पदमचन्द जी महाराज को, जिन्होने व्याख्यासहित इस शास्त्र के सम्पादन की अनवरत प्रेरणा दी और शास्त्र की सुन्दरतम व्याख्या के लिए सतत उत्साहपूर्ण शब्दो मे लिखते रहे। इस प्रकार जैनशासन की महती सेवा करके आप महान पुण्योपार्जन कर रहे हैं। आपकी इस श्रुतसेवा से अनेक शास्त्ररसिक, सिद्धान्तजिज्ञासु साधुसाध्वियो एव अन्य महानुभावो को महान् श्रुतज्ञान का लाभ होगा, इसमे कोई सन्देह नही। आपकी यह श्रुतसेवा चिरस्थायी होगी तथा आपकी कीर्ति को दिग्दिगन्त मे प्रसारित करेगी।

आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि इस शास्त्रराज को प्रत्येक आगमरसिक उत्साह और श्रद्धा के साथ पढेगा।

श्रद्धेय श्री भण्डारीजी महाराज बडे उदार, सरलचेता एव गभीर साधु है। पजाब के लब्धप्रतिष्ठ साधुओ मे से आप एक हैं। आपने इससे पूर्व श्री प्रश्न-व्याकरणसूत्र की व्याख्या प्रकाशित करवाई है, इसके अतिरिक्त 'भ० महावीर सिद्धान्त और उपदेश' का अग्रेजी मे अनुवाद तथा अन्य कतिपय पुस्तको का गुरु-मुखी मे अनुवाद कराकर प्रकाशित करवाया है। सचमुच, आप मे अद्भुत लगन है, उत्साह है, भगवान महावीर के जीवनोपयोगी सिद्धान्तो को जन-जन मे प्रसारित करने का। इस मिशन को लेकर आपने अपने शिष्य प्रसिद्धप्रवक्ता, वाणीभूषण श्री अमरमुनि के साथ पजाव, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि प्रदेशो मे सर्वत्र भ्रमण किया है। वयोवृद्ध होते हुए भी आप मे युवको का-सा उत्साह है।

शास्त्र सम्पादन की कहानी

जब मैं आगरा मे था, तब आपका स्नेहानुरोध भरा समाचार प्राप्त हुआ

कि आपको (मुझे) सूत्रकृताग सूत्र व्याख्यासहित सम्पादन कराना है। मैंने आपके कृपापूर्ण स्नेहानुरोध को मानकर अपने तत्त्वावधान मे सूत्रकृताग का व्याख्यासहित सम्पादन का कार्य हाथ मे लिया जिसका प्रतिफल पाठको के हाथो मे है। इसकी व्याख्या के सम्पादन मे अनेक ग्रन्थो मे सहायता ली गई है। मैं उन सब ग्रन्थकारो के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। साथ ही श्रद्धेय श्री भण्डारीजी महाराज को कोटि-कोटि धन्यवाद देता हूँ, जो सम्पादन कार्य शीघ्र कराने के लिए सतत मेरा उत्साह बढाते रहे। अगर आपके द्वारा इतना उत्साहसवर्द्धन न होता तो मैं इतना शीघ्र इस भगीरथ कार्य को सम्पन्न नही करा सकता था। साथ ही अपने साथी सम्पादक प्रवचन भूषण श्री अमरमुनि जी को भी धन्यवाद देता हूँ जिनकी अविचल निष्ठा और सौजन्यपूर्ण व्यवहार से मैं इस कार्य मे यशस्वी बना हूँ।

सुन्दर मुद्रण के लिए

ज्यो ही इस शास्त्रराज का सम्पादन पूर्ण हुआ, श्रद्धेय श्री भण्डारीजी महाराज ने इसके शीघ्र एव सुन्दरतम मुद्रण का कार्य प्रसिद्ध सिद्धहस्त लेखक श्री श्रीचन्दजी सुराना के हाथो मे सौंपा। उन्होने शुद्ध और सुन्दर रूप मे उत्तरदायित्व-पूर्ण ढग से इसे मुद्रित करवाया है। इसके लिए वे धन्यवादार्ह है। सुन्दर और शुद्ध मुद्रण के लिए सुरानाजी प्रसिद्ध हैं ही।

आशा है, इस शास्त्रराज को पढकर पाठक श्रुतभक्ति का परिचय देंगे और अपने जीवन मे इन मगलमय सिद्धान्तो को स्थान देंगे।

अहिंसा निकेतन, वेलचम्पा (बिहार)
दिनाक—९-७-७९ चातुर्मासिक पर्व

—मुनि नेमिचन्द्र

ंग - ावना

[_] उपाध्याय श्री फूलचन्द्र जी महाराज 'श्रमण'

आगम-शास्त्र श्रमण सस्कृति के मूलाधार होने के कारण हमारे के केन्द्र हैं। पच परमेष्ठी और नवतत्त्वो का बोध, स्व-पर का भान, दु खो के मूल कारणो से निवृत्ति, परम-पद-प्राप्ति के उपायो की खोज हमे आगम-शास्त्र साहित्य मे ही उपलब्ध होती है। साधक के गुण-दोषो का प्रतिबिम्ब ये आगम-शास्त्र ही हैं। आज के युग मे यदि किसी को भगवान के दर्शन करने हो तो इन्ही के माध्यम से हो सकते हैं।

आगम—जो ज्ञान-स्रोत भगवान महावीर से प्रस्फुटित हुआ, वह श्रुतज्ञान गणधरों, आचार्यो, उपाध्यायो एव बहुश्रुत मुनियो के माध्यम से अब तक चला आ रहा है और आगे भी चलता रहेगा। यही श्रुत ज्ञान आगम कहलाता है।

शास्त्र— लोक मे विभिन्न प्रकार के शास्त्र हैं। जैसे —कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, आयुर्वेदिकशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, वास्तुकलाशास्त्र, न्यायशास्त्र, तर्क-शास्त्र, दर्शनशास्त्र, विज्ञानशास्त्र, शब्दशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि। इन सब मे आगम-शास्त्र का स्थान सर्वोपरि है। जीवाजीव का बोध करवाकर आध्यात्मिक आनन्द देने वाला केवल आगम-शास्त्र ही है।

आगम-शास्त्रो मे अगप्रविष्ट श्रुतज्ञान की मुख्यता है। इसका स्थान उसी तरह उच्च है जैसे शरीर मे उत्तम अगो का। अगप्रविष्ट शास्त्रो की गणना कुल १२ है, उनमे 'सूत्रकृताङ्ग' या 'सूयगडग' का क्रम से दूसरा स्थान है।

सूयगडग

धर्म और दर्शनशास्त्रो मे 'सूयगडग' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसके भाषा मे तीन रूप बनते हैं—सूतकृताग, सूत्रकृताङ्ग और सूचाकृताङ्ग। जो तीर्थकरो द्वारा अर्थरूप मे उत्पन्न होकर गणधरो द्वारा ग्रन्थरूप मे रचा गया है उस स्त्र को 'सूतकृत' कहते हैं। सूत्र के अनुसार जिससे तत्त्वार्थ का बोध किया जाता है उस अग शास्त्र को 'सूत्रकृत' कहते है। स्व-समय और पर-समय को सूचित करने वाला अगशास्त्र 'सूचाकृत कहलाता है। ये तीनो अर्थ प्रस्तुत शास्त्र मे घटित होते हैं। इस शास्त्र की भाषा और विषय दोनो जटिल हैं। स्व-समय और पर-समय सिद्धान्त को मूलत अलग-अलग ही सम्यग्ज्ञान है। साधक की मनोवृत्ति जिस ज्ञान से अन्तर्मुखी हो जाय वही स्व-समय है। जिस ज्ञान से

अन्तर्मुखी होकर भी बहिर्मुखी मनोवृत्तियां हो जाएं या सदैव बहिर्मुखी मनोवृत्तियां बनी रहे वह अज्ञान या पर-समय कहलाता है। प्रस्तुत शास्त्र मे स्व-समय को समझाने के लिए पर-समय और पर-समय को समझाने के लिए स्व-समय का निर्देश किया गया है। सत्य को समझने के लिए असत्य को और असत्य को समझने के लिए सत्य को समझना आवश्यक है।

प्राचीन और अर्वाचीन व्याख्याएँ

प्रस्तुत शास्त्र पर सर्वप्रथम भद्रबाहु स्वामी ने प्राकृत भाषा मे निर्युक्ति लिखी। शास्त्र और निर्युक्ति दोनो का आधार लेकर आचार्य शीलाक ने सस्कृत भाषा मे बृहद्वृत्ति लिखी, जिनका कालमान नवाङ्गी टीकाकार अभयदेवसूरि से पहले का माना जाता है। आचार्य अमोलक ऋषि जी म० ने हिन्दी मे सक्षिप्त व्याख्या लिखी। आचार्य जवाहरलाल जी म० की ओर से भी चार भागो मे सूत्र और बृहद्वृत्ति का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया। 'सूत्रकृताग' के हिन्दी व्याख्यासहित जितने भी सस्करण आजतक प्रकाश मे आए है उन सबमे जो पुस्तक आपके हाथो को सुशोभित कर रही है यह अपने आप मे अद्वितीय एव अपूर्व है।

अनुवादक और सम्पादक

अनुवादक दुभापिये का काम करता है और सम्पादक विषय तथा भाषा को परिमार्जित करके सर्वजनग्राह्य साहित्य की रचना करता है। इस शास्त्र के अनुवादक जैनरत्न, पण्डितरत्न, उपप्रवर्तक स्वनामधन्य श्री हेमचन्द्र जी म० है और ये श्रमण सघ के प्रथम पट्टधर महामहिम साहित्यरत्न, जैनागम, रत्नाकर, आचार्यप्रवर पूज्य श्री आत्माराम जी म० के शिष्य हैं। सस्कृत और प्राकृत भाषा के धुरधर विद्वान हैं। इनके सुशिष्य नवयुग सुधारक, जैनविभूषण भण्डारी श्री पद्मचन्द जी है जिन्होने आचार्य श्री आत्माराम जी म० की बहुत वर्षों तक अथक सेवाएँ की, फलस्वरूप आपके मन मे एक तरग उठी, वह थी भगवद्वाणी की सेवा या प्रवचनवत्सलता। उनकी इस भावना को साकार बनाने के लिए प्रकृति देवी ने एक होनहार, प्रभावक, तेजस्वी, मनीषी, प्रवचनभूषण मुनिरत्न श्री अमरमुनि जी को शिष्य रूप मे आपको प्रदान किया। प्रस्तुत शास्त्र का अत्युत्तम सम्पादन करके प्रवचनभूषण श्री अमरमुनि जी ने समाज का जो कल्याण किया है वह समस्त जैन तथा जैनेतर विद्वानो के लिए उपादेय होगा ऐसी हमारी कामना है।

❀

❁ राष्ट्रसत उपाध्याय कवि श्री अमरमुनि

भाशं ।

आगम प्रकाशन की चिरकाल से एक लम्बी शृङ्खला वनती चली आ रही है। विभिन्न स्थानो से विभिन्न रूपो मे आगमो का प्रकाशन हुआ है, और हो रहा है। आये दिन आगम प्रकाशन योजनाओ का कोई-न-कोई नया शखनाद सुनने को मिल जाता है।

मै वहुत वर्षो से चाहता था कि आगम प्रकाशन से पूर्व आगम सपादन के लिए एक सर्वदलीय विद्वत्सम्मेलन हो। उसमे परस्पर खुले मन से नये-पुराने सभी मस्तिष्क चिन्तन मनन करें। अन्त मे सर्वसम्मति से या वहुसम्मति से जो भी सत्यानुलक्षी एकवाक्यता हो, एक निणय हो, तदनुसार आगम-साहित्य का, आगमो की गरिमा के अनुरूप सम्पादन एव प्रकाशन किया जाय। अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स और पूर्वकाल मे नव प्रस्थापित स्था० वर्धमान श्रमण सघ के द्वारा जव-जव मुझे आगम साहित्य के सम्पादन आदि का काम सौंपने हेतु चर्चाएँ चली, तव-तव मैंने स्पष्ट शब्दो मे अपने उपर्युक्त विचार व्यक्तिगत-परामर्शो एव समाचारपत्रो के माध्यम से जनता के सामने रखे हैं। परन्तु हार्दिक खेद है, सामूहिक कर्म की उदार मनोवृत्ति के अभाव मे यह वेल चढाने पर भी मढे न चढ सकी। इतना लम्वा समय हो चुका है, आज भी यही स्थिति है। प्रतीक्षा है, आगम मन्दिर पर कभी-न-कभी सामूहिक चिन्तन-मनन का, यथार्थदर्शी सम्पादन-प्रकाशन का स्वर्णकलश चढेगा और जनमानस मे साम्प्रदायिक दुराग्रहो के कारण फैलती आई पुरानी भ्रान्तियाँ दूर होगी, साथ ही नयी भ्रान्तियो की अमुक सीमा तक यथोचित रोक-थाम होगी।

जव तक उपर्युक्त पवित्र ब्रह्म वेला न आए, तब तक हमारे योग्य स्नेही साथी इस दिशा मे जो भी एकागी प्रयत्न कर रहे हैं, उनका हृदय से स्वागत है। एकान्त नकार से चलो कुछ हो तो रहा है।

एक ऐसे ही धन्यवाद के पात्र हैं प्रस्तुत मे जैनधर्म दिवाकर महान् आचार्यदेव महामहिम पूज्य श्री आत्माराम जी म० के प्रिय शिष्य प० श्री हेमचन्द्रजी। पण्डितजी विद्वान् है, शास्त्राभ्यासी हैं, फिर भी इतने विनम्र एव निरभिमान कि देखे तो आश्चर्य होता है। अपने स्वर्गीय गुरुदेव के समान ही आप भी नियमित स्वाध्याय मे अनुरत रहते है। इधर-उधर के प्रपचो से आपको कुछ लेना-देना नही

है। आप मेरे उन चिर-परिचित स्नेही साथियों मे से एक है, जिन की स्नेहसिक्त आत्मीयता की मधुधारा अनेकानेक विघ्नो, उपद्रवो एव अवरोधो में बाद भी उसी सहज प्रवर्धमान गति से प्रवाहित है। पण्डितजी और पण्डितजी के अनुयायी शिष्य-प्रशिष्य सुविश्रुत नीतिकार भर्तृहरि की उस सज्जन मैत्री के पक्षधर है, जो पूर्वार्ध दिन की छाया की भाँति निरन्तर क्षीण नही होती, अपितु परार्ध दिन की छाया की भाँति सतत प्रवर्धमान होती जाती है।

"दिनस्य पूर्वार्ध-परार्धभिन्ना, छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम्।"

श्री सूत्रकृत् द्वितीय अग आगम का प्रस्तुत सस्करण मेरे आत्मप्रिय पण्डित जी की ही उल्लेखनीय देन है। आपके द्वारा पूर्व सम्पादित प्रश्नव्याकरण अग आगम, जो सन्मति ज्ञानपीठ आगरा से प्रकाशित हुआ है, उसी की उदात्त शैली के अनुरूप प्रस्तुत आगम की भी अपनी शैली है। मूलपाठ और अर्थ आदि मे शुद्धता का काफी ध्यान रखा गया है। अनन्तर विस्तृत व्याख्या मे मूल के गूढ एव गुरुगभीर भावो के उद्घाटन मे अत्यधिक श्रम किया गया है। जहाँ तक साधन उपलब्ध थे, बहुत कुछ अच्छा बन पडा है। अस्वस्थता के कारण मैं अधिक विस्तार मे गहराई से तो प्रस्तुत सस्करण का अवलोकन नही कर सका हू किन्तु विहगम दृष्टि से यत्र-तत्र जो दृष्टिपात किया है, उस पर से मैं यह कह सकता हूँ कि अन्य सस्करणो की अपेक्षा यह सस्करण अधिक सुन्दर है, अधिक हितकर है।

पण्डितजी अनुवादक हैं, व्याख्याकारक है और उनके प्रपौत्र-प्रशिष्य प्रवचनभूषण श्री अमरमुनि जी सम्पादक है। सम्पादक का भी अपना एक सुकर्म होता है, वह पूर्वनिर्मित स्वर्णालकार पर योग्य परिमार्जन है, आकर्षक सस्कार है। श्री अमरमुनि जी का यह सम्पादन-सस्कार काफी मनोमोहक है। पजाब के श्रमण सघ मे मुनिश्री उदीयमान ओजस्वी तरुण प्रवक्ता है। हजारो की सख्या मे जैन-अजैन श्रोता मुनिजी की सुधावर्षिणी मधुरवाणी जब भी सुनते हैं, तो मन्त्र-मुग्ध हो जाते है। प्रसन्नता है, प्रवचन के साथ साहित्य मे भी मुनिजी अपना एक विशिष्ट कीर्तिमान स्थापित कर रहे हैं, जिसकी मुखर साक्षी प्रस्तुत सम्पादन दे रहा है। मैं उनके उस उज्ज्वल एव महनीय भव्य भविष्य की कामना करता हूँ, जो जैन सघ के वर्तमान गौरव को शीघ्र ही चार चाँद लगाए, निर्मल यशोगान से दिग्दिगन्त गुँजाए।

उक्त साहित्य स्वर्णशृखला के निर्माण एव प्रकाशन मे प्रेरणास्रोत हैं मुनि श्री पदमचन्द्रजी, जिन्हे हम सब भडारीजी के अतिप्रिय मधुर नाम से सम्बोधित करते है। भडारीजी सेवाधर्म की जीवन्त मूर्ति है। सर्वतोभावेन सेवा के प्रति वे प्रारम्भ से ही समर्पित रहे हैं। भगवान महावीर के शासन के गौरव की श्रीवृद्धि के

लिए यत्नशील रहते हैं, भण्डारीजी। अनेक सेवा एव शिक्षा सस्थाओ के निर्माण सथा विकास मे भण्डारीजी का योगदान इतिहास की वस्तुवृत्त है। साहित्य प्रकाशन मे भी आपकी सहज अभिरुचि है। अनेक प्रकाशन आपकी प्रेरणा से ही प्रकाश मे आए हैं, मुनिश्री की यह कर्मधारा निरन्तर प्रवहमान रहै, यही महाश्रमण भगवान् महावीर के चरण कमलो मे हार्दिक अभ्यर्थना है।

निर्मल व्याख्या, कुशल सम्पादन और मगल प्रेरणा की उपर्युक्त त्रिवेणी मे स्नात सूत्रकृताग का प्रस्तुत सस्करण आगमाभ्यासी स्वाध्यायप्रेमी ों द्वारा ताई है। पूर्व प्रकाशित प्रश्नव्याकरण सूत्र के समान ही प्रस्तुत आगम भी आशा है, विद्वानो एव सर्व साधारण जनो मे समुचित प्रतिष्ठा पाएगा • मानव जाति के कल्याण-पथ पर दिव्य आलोक विकीर्ण करेगा। अन्तर्मन के कण-कण से शत-शत ाद।

वीर , राजगृह
ज्येष्ठ गगा दशहरा वि० स० २०३६
सन् १९७९ ई०

श्री सूत्रकृतांग : प्रथम श्रुतस्कन्ध

विषया मणि ।

निराकरण, साख्यमत की मिथ्यात्वता, षट्पदार्थवादियो के मत का स्वरूप, छह पदार्थों की नित्यता की सिद्धि, साख्य के एकान्त-नित्यत्व का खण्डन, असत्कार्यवादी बौद्धमत मे आत्मा का स्वरूप, चातुर्धातुकवादी बौद्धमत-निरूपण, अफलवादी बौद्ध आदि के मिथ्या मन्तव्यो का खण्डन, अन्यदर्शन वालो का अपना-अपना मताग्रह, अन्यदर्शनी लोगो की सन्धि के विषय मे अनभिज्ञता, अन्यदर्शनियो को मिलने वाला भयकर फल, सर्वज्ञ महावीर द्वारा भविष्यवाणी ।

नियतिवादियो के मत का निरूपण, नियतिवादियो का मिथ्या प्ररूपण, नियतिवाद की भ्रमपूर्ण मान्यता का निराकरण, नियति-वादियो के मिथ्यात्व का फल, एकान्तवादी अज्ञानियो की दशा का चित्रण, मूर्ख मृग के समान अज्ञानियो की दशा, अहितबुद्धि मृग की-सी दशा, अज्ञानी मृग के समान मिथ्यादृष्टि श्रमणो की मनोदशा, शकनीय-अशकनीय का विपर्यास, समस्त कषाय-नाश ही सर्वथा कर्मक्षय का कारण, मिथ्यादृष्टि अज्ञानवादियो का अनन्त-जन्म-मरण, ज्ञान के प्रदर्शको मे भी जीवो के ज्ञान का अभाव, अज्ञानियो की तोता रटन, अज्ञानवाद अज्ञान-पक्ष से सिद्ध नही हो सकता, अधे के पीछे अधा विनाश का धधा, आजीवक आदि मतो द्वारा निरूपण, अज्ञानवादियो के कुतर्क, धर्माधर्म से अनभिज्ञ अज्ञानवादी स्वमत-प्रशसा, परमत-निन्दा ही एकान्त का मूल, कर्म चिन्ता के प्रति लापरवाह, एकान्त क्रियावादी दर्शन, कर्म चिन्ता से दूर, क्रियावादी कर्म-बन्धन के तीन आदान बौद्धमत मे भाव विशुद्धि से कर्म-बन्धन नही, बौद्ध प्रदत्त दृष्टान्त, मन से द्वेष करने पर भी कर्मबन्ध नही, घोर असत्य, विभिन्न मतवादियो द्वारा नि शक पाप सेवन, विभिन्न दार्शनिको की जन्मान्धता और सछिद्र नौकारोहण, तथाकथित मिथ्यात्वी श्रमणो की दशा ।

दोपदूषित आहार-सेवन द्विपक्ष दोपसेवन, आधाकर्मी आहारसेवी अत्यन्त दुख के भागी, सुखशील आचारहीन श्रमणो की दशा, लोक की रचना के सम्बन्ध मे विविध मत, लोक ईश्वरकृत एव प्रधानादिकृत, जगत की रचना विष्णु और माया से, अण्डे से रचित ब्रम्हाण्ड की कहानी, जगत की रचना के सम्बन्ध मे पूर्वोक्त मतो

चलने का आमन्त्रण, घर चलने का दूसरी तरह से अनुरोध, द्रव्य का लोभ देकर गृहवास का अनुरोध, प्रव्रज्या छोडकर घर की ओर दौड, वन्यवृक्ष को लता और साधक को स्वजन बाँध लेते है, गृहस्थ मे फँस जाने के बाद, गृहस्थ मे फँस जाने के बाद साधक की स्थिति, समुद्रवत् दुस्तर सग मे पडा हुआ साधक, सगो से बचो, असयमी जीवन मे मत पडो, ज्ञानी साधक सग के चक्करो से दूर, राजाओ आदि द्वारा भोगो का आमन्त्रण मिलने पर, किन विपयोपभोगो का प्रलोभन दिया जाता है, अन्य भोग्य सामग्री का आमन्त्रण, साधक को गृहवास मे रहने का आश्वासन, साधक को गृहवास मे फँसाने का दुश्चक्र, सयम से विचलित साधको की दशा, उपसर्ग उपस्थित होने पर विपाद पाने वाले, उपसर्ग-पराजित साधको की दशा।

सग्राम मे कायर पहले छिपने के स्थान ढूंढता है, कायरता का भीरुतापूर्ण चिन्तन, मन्दपराक्रमी साधक की भावी कल्पना, अल्प सत्त्व साधको का ऊटपटाँग चिन्तन, सयम पालन के विषय मे सशयशील साधक, वीर पीछे नही, आगे ही देखते हैं, सयम मे सुदृढ साधक की मन स्थिति, आक्षेपात्मक वचनरूप उपसर्ग, गृहस्थो का-सा व्यवहार है इन साधुओ का !, सुविहित साधुओ पर प्रत्यक्ष आक्षेप, मोक्ष विशारद साधुओ द्वारा अन्यतीर्थिको को उत्तर, अन्यतीर्थियो के आक्षेप का प्रत्याक्षेप, आक्षेप-कर्ताओ को युक्तिसगत उत्तर, प्रेम से सच्ची और साफ-साफ बातें कहे, वास के अग्रभाग की तरह युक्तिरहित पोचा कथन, सर्वज्ञ प्रदत्त धर्म-देशना का विपरीत अर्थ, स्वपक्ष सिद्धि मे परास्त अन्य-तीर्थी पुन उसी धृष्टता पर, विवाद मे हार जाने पर अन्यतीर्थियो द्वारा आक्रोश का आश्रय, दूसरो के साथ विवाद के समय मुनि का धर्म, रुग्ण साधु की सेवा प्रसन्नचित्त मुनि का धर्म, उपसर्गों को सहते हुए मोक्ष पर्यन्त सयम पालन करे।

शीतोदकसेवन से मोक्ष प्राप्ति एक भ्रान्ति, अपरिपक्व साधु भ्रान्ति-उत्पादको के चक्कर मे, सुख से सुख प्राप्ति की मान्यता ˚र्ग के विरुद्ध है, भ्रान्त मान्यता के शिकार लोगो को उप-देश, मिथ्या मान्यता के चक्कर मे पचास्रवसेवन, स्त्रीसेवन मे

दोष ही क्या ? एक मिथ्या मान्यता, बच्चो पर आसक्त पूतना की तरह ये कामासक्त अनार्य !, दुष्कर्मी लोग पछताते है, क्यो व कब ?, समय पर चेतने वाले साधक बाद मे पछताते नही, अविवेकी साधक के लिए स्त्री परीपह दुर्लंघ्य, स्त्रीससर्ग विमुख सर्व उपसर्ग विजेता, सर्व उपसर्ग विजेता साधक ही ससारसागर पारगामी होता है, उपसर्ग विजयी साधु कौन, क्या करे ? सर्वत्र सर्वदा अहिंसा पालन से ही निर्वाण प्राप्ति, उपसर्गों पर विजय, धर्माचरण मोक्ष प्राप्ति तक।

चतुर्थ अध्ययन : स्त्रीपरिज्ञा : ५०२—५७१

चतुर्थ अध्ययन का सक्षिप्त परिचय, निक्षेप की दृष्टि से स्त्री के विभिन्न अर्थ, स्त्री के विपक्षभूत पुरुष के निक्षेपदृष्टि से अर्थ।

प्रथम उद्देशक स्त्रीससर्ग से शीलनाश ५०६—५४६

दीक्षा के समय साधक का सकल्प, अविवेकी स्त्रियो द्वारा साधु को शीलभ्रष्ट करने का प्रयत्न, स्त्रियो द्वारा काम-जाल मे फँसाने के लिए अग प्रदर्शन, एकान्त मे भोग्य पदार्थों की मनुहार कामपाश के बन्धन, स्त्रियो के वशीभूत न होने के नुस्खे, स्त्रियो के मधुर शब्दो को मोहबधन माने, चतुर स्त्रियो के द्वारा साधु को आकर्षित करने के उपाय, सिंह की तरह सवृत पुरुषसिंह को भी वश मे कर लेती है, एक बार मोहपाशबद्ध साधु छूट नही सकता, स्त्री के मोहपाश मे बँधने से पश्चात्ताप, स्त्री-ससर्ग विषलिप्त कण्टकसम त्याज्य, स्त्रीससर्गरूप निन्द्यकर्म मे आसक्त कुशील है, इन स्त्रियो के साथ भी साधु ससर्ग न करे, एकान्त स्थान मे स्त्री-सम्पर्क के कारण शका और प्रतिक्रिया, श्रमण एव स्त्री के प्रति लोगो का क्रोध और शका, स्त्री-परिचयी श्रमण समाधियोग से भ्रष्ट है, मिश्रमार्गी प्रव्रजितो का बकवास, ये शुद्धता की दुहाई देने वाले प्रच्छन्न पापी !, प्रच्छन्न पापी कुशील द्रव्यलिंगी की दुश्चेष्टाएँ, स्त्री-पोषण के अनुभवी बुद्धिशील भी स्त्री वशीभूत हो जाते है, परस्त्रीससर्ग का इहलौकिक भयकर दण्ड, परस्त्रीगामी द्वारा भयकर दण्डसहन, किन्तु पाप से विरत नही, श्रुति, युक्ति और अनुभूति से काम बुरा, किन्तु दुस्त्याज्य, स्त्रियो के मन, वचन, कर्म से विभिन्न रूप, नारी साध्वी बनने के बहाने साधु को ठगने वाली, स्त्री श्राविका के बहाने साधु को फँसाती है, स्त्री के स्पर्श से भी कितना अनर्थ ! स्त्री-मोहित सदनुष्ठान भ्रष्ट

हुआ गर्म सीसा और तांबा, जैसा और जितना दुष्कर्म वैसा और उतना ही दुख, अनार्य पुरुषो का इष्ट स्पर्शादि से रहित होकर नरकनिवास ।

हुआ गर्म सीसा और तांबा, जैसा और जितना दुष्कर्म वैसा और उतना ही दुख, अनार्य पुरुषो का इष्ट स्पर्शादि मे रहित होकर नरकनिवास ।

द्वितीय उद्देशक नरकाधिकार ६०८—६३३

सतत दुख स्वभाव वाले अन्य नरक और पापी नारक, परमाधार्मिको द्वारा नारकी जीवो को यातना, पापकर्मो की याद दिला कर रोषपूर्वक ताडन, नरक की जलती भूमि पर चक्रमण, नोकदार आरे से वेध, परमाधार्मिको द्वारा बलात् चलने को बाध्य, चिरकाल तक सतापनी मे सतप्त नारक, नारक गेद के समान आकार की नरक-कुम्भी मे, नारकी जीवो की वही हाय-हाय, नरक के लोहमुखी पक्षियो द्वारा घोर कष्ट, नरकपालो द्वारा नारकी जीवो पर बरसाया जाता कहर, सदा अग्निमय-प्राणिघातक स्थानो मे दुखी नारकी जीव, प्रज्वलित चिता मे झोक देने पर भी पानी-पानी, एक तो सदा गर्म स्थान फिर डडो मे पिटाई, नारको के समस्त अग भग और गर्म सीसा पीने को बाध्य, पूर्व पापो की याद दिलाकर भारवहन को बाध्य, यातना पर यातना, आकाशस्थ विशाल वैतालिक पर्वत नारको के लिए महाकाल, अब इन आँसुओ का कोई मूल्य नही, नारको की भयकर दुर्दशा, नारको को खा जाने वाले ये खूँख्वार और भूखे गीदड, सदाजला नदी नारको को कष्टदायिनी, अकेले ही दीर्घकाल तक दुखरूप फलभोग । जैसे जिसके कर्म, वैसा ही फलभोग, 'नरक विभक्ति' से साधक शिक्षा या प्रेरणा ले, चातुर्गतिकरूप अनन्त ससार का स्वरूप समझो ।

छठा अध्ययन . वीरस्तुति . ६३४—६७२

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय, वीर और स्तुति शब्द के निक्षेपार्थ, विश्व हितकर अनुपम धर्म का प्ररूपक कौन ? भ० महावीर के ज्ञान, दर्शन, शील के सम्बन्ध मे पुन प्रश्न, ऐसे भगवान् की महत्ता को जानने हेतु उनके धर्म व धैर्य को देखो, जीव के नित्यानित्य स्वरूप और धर्म का कथन, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र की विशेषताएँ, भ० महावीर के विशिष्ट गुण, भ० महावीर धर्मनेता और सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे, अक्षय, अपार और निर्मल प्रज्ञा से सम्पन्न वीर प्रभु, पूर्ण शक्तिमान, सर्वश्रेष्ठ प्राणी मात्र के मोदकारी वीर प्रभु, पर्वतराज सुमेरु के समान गुणो मे सर्वश्रेष्ठ महावीर, समस्त मुनियो मे

श्रेष्ठ महावीर · कैसे ?, भगवान का सर्वश्रेष्ठ ध्यान शुक्लध्यान, वीर प्रभु ने सिद्धिगति कैसी और कैसे प्राप्त की ? ज्ञान और शील मे सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महावीर, मुनियो मे श्रेष्ठ महावीर · क्यो और किस तरह ?, तप साधना के क्षेत्र मे सर्वोपरि मुनिश्रेष्ठ भ० महावीर, निर्वाण मार्ग के उपदेशको मे प्रधान ज्ञातपुत्र महावीर, ऋषियो मे सर्वतोमहान् ऋषिवर वर्द्धमान स्वामी, त्रिलोक मे सर्वोत्तम श्रमण भ० महावीर, ज्ञानियो मे सर्वश्रेष्ठ ज्ञातपुत्र महावीर, अनेक विशिष्ट गुणो के निधि भ० महावीर, अन्तरग दोषो एव पापो से सर्वथा दूर अर्हन् महर्षि, मत-मतान्तरो के बीच भी सत्य और सयम मे स्थिर, कठोर त्यागमार्ग के उत्कृष्ट साधक वीर प्रभु, जिनेन्द्रभाषित धर्म के आराधको की गति ।

सप्तम अध्ययन कुशील-परिभाषा : ६७३—७१३

इस अध्ययन का सक्षिप्त परिचय, शील-अशील और कुशील का निक्षेपदृष्टि से अर्थ, जीवो के प्रकार तथा उनके नाश से अपनी महाहानि, प्राणियो का विनाशकर्ता स्वय विनष्ट होता है, कर्म कदापि और कही भी नही छोडते, अग्निकाय समारम्भी कुशील-धर्मा है, साधक के लिए अग्निकाय समारम्भ का निषेध, अग्निकाय का आरम्भ अनेक जीवो के वध का कारण, वनस्पति के विभिन्न अगो का छेदन उनका विनाश है, बीजो का नाश उनकी सतान वृद्धि का नाश, आत्मनाश, वनस्पतिनाशक अल्पायु या अनियतायु होते हैं, एकान्त दु खी ससार मे बोधिलाभ ही महत्त्वपूर्ण, ये सस्ते मोक्ष के दावेदार, जलस्पर्श एव अग्निहोत्रादि क्रियाओ से मोक्ष कैसे ? अत्यन्त दु खमय परिणाम र प्राणिहिंसा से बचो,

-लोलुपता, शोभा एव शृगार की सयमनाशिनी है, सुशील-साधु-चर्या की ओर इशारा, गार्हस्थ्य छोडकर भी स्वादिष्ट भोजन के चक्कर मे, भोजन के लिए धर्मोपदेश और गुण-कीर्तन क्यो ? पेट के लिए कितनी दीनता ? कितनी चापलूसी ? साधु का वेष परन्तु साधुत्व से रहित थोथा नि सार, सुशील साधक का आचार-विचार, सुशील साधु की सयम साधनाएँ, सुशील साधु चार बातो से सावधान रहे, सुशील साधक द्वारा अतिम मजिल पाने का उपाय ।

अष्टम अध्ययन वीर्य ७१४—७४५

इस अध्ययन का सक्षिप्त परिचय, विभिन्न पहलुओ से वीर्य और उसके प्रकार, वीर्य, वीर और वीरत्व, कर्म और अकर्म वीर्य के दो भेद, प्रमाद कर्म— बालवीर्य एव अप्रमाद अकर्म – पण्डितवीर्य, प्राणिविघातक शास्त्रो एव मत्रो का अध्ययन, सुखेच्छाओ के पीछे दौडने वाले कपटी लोगो के कारनामे, असयमी पुरुष हिंसा करते-कराते है, जीवहिंसा वैर परम्पराजनक एव दुखान्त, स्वय पापकारी, साम्परायिक कर्मवन्ध करते है, सकर्म वीर्य का उपसहार, अकर्मवीर्य का प्रारम्भ, पण्डितवीर्य के धनी की विशेषताएँ, पण्डितवीर्यशाली का पुरुषार्थ और बालवीर्यवान का भी, सभी स्थान और सम्बन्ध अनित्य, ममत्व छोडे समत्व पकडे, सद्धर्म का ज्ञान पाप का प्रत्याख्यान, आयुष्यक्षय से पहले सलेखना ग्रहण करे, कछुए की तरह पापो को समेट ले, मन, वचन, काया की अशुभ से निवृत्ति आवश्यक, कषायो और सुखैषणाओ मे दूर रहे, जितेन्द्रिय पुरुष का धर्म, शान्तिपूर्वक आत्माराधना मे शक्ति लगाये, आत्मरक्षातत्पर साधक त्रैकालिक पाप का अनुमोदन नही करते, मिथ्यादृष्टि का समस्त पराक्रम कर्मवन्धफलजनक, सम्यक् दृष्टि का पराक्रम शुद्ध और कर्मवन्धफल से रहित, महाकुलीन साधु पूजा प्रतिष्ठा के लिए तप न करे, साधु का निवृत्तिमय शान्त पुरुषार्थ, काया की भक्ति से दूर रहकर आत्म-भक्ति मे ओतप्रोत रहे।

नवम अध्ययन धर्म ७४६—७८०

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय, निक्षेपदृष्टि से धर्म के विभिन्न अर्थ, भ० महावीर ने कौन-सा धर्म बताया था ? आरम्भ-परिग्रहरत जीवो का स्वभाव और दुष्परिणाम, स्वकृत कर्मो के दुखद फल का स्वय ही भोक्ता, जिनभाषित धर्म का आचरण क्यो करे ? सासारिक ममत्व छोड कर सयम मे प्रगति करे, षट्जीवनिकाय के आरम्भ-परिग्रह का त्याग करे, विद्वान् साधु इन अनाचरणीय वातो का त्याग करे, धर्म का यह उपदेश भ० महावीर का है, साधु कैसी भाषा बोले, कैसी नही ? दृढधर्मी साधु के लिए कुशील-ससर्ग निषिद्ध है, साधुजीवन की कुछ मर्यादायें, अप्रमादयुक्त साधुचर्या, साधु आपे से बाहर न हो, साधना मे

विवेक ही धर्म का मूल है, गुरु शुश्रूषा करने वाले साधक ही धर्मनिष्ठ होते हैं, बन्धनमुक्त, पुरुषादानीय कौन साधक होता है, निषिद्ध बाते अनाचरणीय है, समस्त विकारो का त्याग कर मोक्ष मे ही लौ लगाए ।

दशम अध्ययन समाधि ७८१—८१३

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय, सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा कथित समाधि धर्म सुनो, प्राणातिपात और अदत्तादान से सर्वथा विरमण मे भावसमाधि श्रुतसमाधि, दर्शनसमाधि और आचारसमाधि के उपाय, जितेन्द्रिय एव बन्धनमुक्त बनकर सभी सतप्त प्राणियो को देखो, प्राणिहिंसा करने-कराने से समाधि का नाश, समाधि, कौन-सी भ्रान्त. कौन-सी अभ्रान्त, समत्व ही समाधि का उत्तम मार्ग, ये समाधिभाव को प्राप्त नही कर सकते । सर्वबन्धनमुक्त मुनि अपने धर्म पर दृढ रहे, समाधिअर्थी साधक के लिए कुछ शिक्षाएँ, समाधि-प्राप्ति का एक उपाय शरीर के प्रति निरपेक्षता, एकत्व भावना ही मोक्षप्रदायक समाधि का द्वार, नि सन्देह वह साधु समाधिप्राप्त है, विषयो मे अनासक्त साधु भावसमाधि कैसे पाए ? समाधिप्राप्त के कुछ लक्षण, मोक्ष के सम्बन्ध मे अस्पष्ट लोग दर्शनसमाधि से दूर, अज्ञानमूलक मतो के एकान्त आश्रय से समाधि नही, इन्हे किसी प्रकार की समाधि प्राप्त नहीं होती, ममत्व का पुतला समाधि नही पा सकता, समाधि-प्रार्थी साधक पाप को पास न फटकने दे, समाधि-धर्मज्ञ हिंसादि पापों से दूर रहे, असत्य एव अन्य पापो से दूर रहना ही सम्पूर्ण समाधि, आचारसमाधि के लिए क्या हेय क्या उपादेय ? आदर्श तप.समाधि के पाँच मूलमत्र ।

एकादश अध्ययन . मार्ग : ८१४—८४८

अ का सक्षिप्त परिचय, निक्षेप की दृष्टि से मार्ग का विवेचन, चौभगी की दृष्टि से भावमार्ग का निरूपण, सम्यक्मार्ग और मिथ्यामार्ग, सत्यमार्ग के एकार्थक शब्द, एक प्रश्न कौन-सा मोक्षमार्ग ? सर्वदुखमोक्षक शुद्ध श्रेष्ठ मार्ग के स्वरूप की जिज्ञासा, कौनसा मोक्ष-मार्ग बताएँ ? उन्हे यह मार्ग बताना । सर्वज्ञ महावीरकथित मार्ग का माहात्म्य, तीनो काल मे ससारसागर से पार करने वाला मार्ग, अहिंसा का आचरण ही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है, मोक्षमार्ग पर चलने के लिए दोपो और विरोधो से निवृत्ति आवश्यक, मोक्षमार्ग का पथिक साधक एपणा समिति मे युक्त हो, ऐसा करने मे ही मोक्षमार्ग

का पालन, शुद्ध आहार मोक्षमार्ग का कारण, साधु जीवहिंसामय कार्य मे अनुमति न दे, हिंसाजनित पुण्यकार्यों मे साधु पुण्य कहे या अपुण्य ? मुनि एकमात्र मोक्ष की साधना मे जुटा रहे, कर्मपीडित जीवो के लिए यही मार्गरूप उत्तम द्वीप, परिपूर्ण अनुपम शुद्ध धर्म का उपादेशक, वे शुद्ध धर्म के तत्त्वज्ञान से काफी दूर हैं, भावमार्ग से दूर क्यो और कैसे ?, मुनि साधुधर्म से मोक्ष तक की दौड लगाए, शान्तिरूप भावमार्ग ही समस्त तीर्थकरो का आधार, भाव मार्ग से विचलित न हो, सवृत और शान्त साधक की अन्तिम साधना।

बारहवाँ अध्ययन . समवसरण ८४९—८८५

समवसरण ,अध्ययन का सक्षिप्त परिचय, निक्षेप की दृष्टि से समवसरण के अर्थ, चार वाद के रूप मे चार समवसरण, अज्ञानवादियो का स्वरूप, सर्वज्ञ सिद्धि के कारण अज्ञानवाद का खण्डन, विनयवादी और अक्रियावादी का मन्तव्य, अक्रियावादियो की रीति-नीति, एकान्तक्रियावादियो के रग ढग, धर्मनायक तीर्थंकर आदि और उनकी शिक्षाएँ, यथार्थ क्रियावाद के प्ररूपक कौन और कैसे ? समवसरण के योग्य क्रियावादी साधु क्या करे ?

तेरहवाँ अध्ययन याथातथ्य · ८८६—९१६

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय, याथातथ्य शब्द का निर्वचन, याथातथ्य के निरूपण का अभिवचन, धर्मोपदेशक से धर्म पाकर उन्हीं की निन्दा करने वाले !, परम्परा से विरुद्ध व्याख्या, प्ररूपणा, श्रेष्ठ गुणो की अपात्रता का कारण, ऐसे मायावी लोग यथार्थ साधुता से दूर, कलहकारी साधक अत्यन्त दुखभागी, साधक के परस्पर विरोधी दो रूप, याथातथ्यचारित्र से सम्पन्न साधक, अभिमानी साधक अपने ही मोक्ष के लिए बाधक, मूढमदान्ध साधक मुनीन्द्र पद मे स्थित नही, कुल, गोत्र, जाति का गर्व न करे, वही सच्चा साधु, ज्ञान और चारित्र के सिवाय कोई भी वस्तु ससार-परिभ्रमण से बचा नही सकती, इतना उच्च त्याग होने पर भी मद त्याग न करने का फल, सुसाधु एपणा-अनैपणा का विचार करके शुद्ध भिक्षा ले, साधु के लिए साधना के कुछ सूत्र, साधु धर्मोपदेश देने से पहले और पीछे क्या सोचे ?, याथातथ्य धर्म का प्राणप्रण से पालन करे।

चौद   ां अध्ययन . ग्रन्थ : ६१७—६५०

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय, ग्रन्थत्यागी शिष्य गुरु के सान्निध्य मे शिक्षा ग्रहण करे, अपरिपक्व साधक के लिए गुरुकुल से बाहर खतरा हे, गुरुकुलनिवास से साधक को लाभ, निर्ग्रन्थ मुनि पचेन्द्रिय विपयक ग्रन्थ को तोडे, भूल बताने वाले का वचन शिरोधार्य करे, धर्मतत्त्व मे कव अनिपुण, कव निपुण, निर्ग्रन्थ साधु समस्त प्राणियो की हिंसा आदि ग्रन्थो से मुक्त रहे, गुरुकुलवासी निर्ग्रन्थ द्वारा ली जाने वाली शिक्षा की विधि, गुरुकु ी साधु द्वारा वाणी प्रयोग कब और कैसा ?

पन्द्र ां अध्ययन : आदान : ६५१—६८०

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय, निक्षेपदृष्टि से आदान शब्द के अर्थ, त्रि र्ती पदार्थों का ज्ञाता,   ीत सर्ववस्तुतत्त्वनिरूपक अन्य दर्शनो मे नही, अर्हद्भापित तत्त्वकथन ही सत्य है, प्राणि मात्र के साथ मैत्री की साधना का क्रम, भावनायोग साधक की गति-मति बन्धनमुक्त मेधावी साधक, कर्मबन्धन से मुक्ति और उसके वाद, पूर्वकृत कर्म एव स्त्रीवश्यता नही, वही पुरुप महावीर है, स्त्री-सेवन से दूर मोक्ष के अत्यन्त निकट, मोक्षाभिमुख साधको की साधना का साराश, मोक्षप्राप्ति योग्य मनुष्य जन्म तथा अभ्युदय कितना दुर्लभ, परिपूर्ण अनुपम शुद्धधर्म के व्याख्याता जन्म-मरण रहित, ऐसे मुक्त महापुरुषो का पुन जन्म कहाँ,   नामक प्रधान स्थान ससार के अन्त का कारण, कर्मो से मुक्त मोक्ष सम्मुख साधक, सयम एव मोक्षमार्ग की साधना का सुपरिणाम ।

सोलहवाँ अध्ययन · गाथा : ६८१—६९६

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय, गाथा अध्ययन क्या और कैसे, माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ स्वरूप और प्रतिप्रश्न, ऐसे साधुओ को 'माहन' क्यो कहा जाए ?, ऐसे साधक को 'श्रमण' कहने मे कोई आपत्ति नही, इतने गुणो से सम्पन्न ही वास्तव मे भिक्षु है, इसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए, आप्तपुरुप के इस कथन की सत्यता मे सदेह नही ?

तांग

मूल-अन्वय-भावार्थ

अमर -बोधिनी व्याख्या सहित

प्रथ   स्कन्ध : उपोद् ात

सूत्रकृतागसूत्र की   भूमि

इस दु खमय ससार मे विविध गतियो, योनियो मे एव विविध कायो को धारण करके अनादि-काल से परिभ्रमण करते हुए जीव को आतमस्वरूप का बोध प्राप्त नही हुआ। अब असीम पुण्यराशि सचित होने के कारण उसे अतिदुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ। पाँचो इन्द्रियाँ स्वस्थ और पूर्ण मिली, स्वस्थ एव सशक्त शरीर मिला। उत्तम आर्यक्षेत्र एव उत्तम कुल मे जन्म हुआ। परिपार्श्विक वातावरण भी अच्छा मिला। दीर्घ आयुष्य की भी समावना प्रतीत हुई। ऐसी उत्तम सामग्री से युक्त व्यक्ति को पूर्वजन्म के सस्कार एव ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमवश ऐसी जिज्ञासा होती है कि जब अर्हन्त भगवान तथा सिद्ध परमात्मा और मेरी आत्मा मे निश्चयनय की दृष्टि से कोई अन्तर नही है, तब अर्हन्त भगवान तो चार घनघाती कर्मो से सर्वथा रहित हो गए तथा सिद्ध परमात्मा तो आठो ही कर्मो से सर्वथा मुक्त, सिद्ध, बुद्ध होकर कृतकृत्य हो गए और मैं अभी आठो ही कर्मो के चक्कर मे पड़ा हूँ। यह ठीक है, कि मुझे शुभ कर्म के बल से मनुष्य जन्म, उत्तम क्षेत्र, श्रेष्ठ कुल, इन्द्रियो की परिपूर्णता, स्वस्थ शरीर, दीर्घायुष्य आदि सयोग मिले, लेकिन मेरी आत्मा तो अभी तक सिद्ध परमात्मा एव अर्हन्त भगवान के क्षेत्र से करोड़ो कोस दूर है, काल से भी हजारो वर्ष दूर है, द्रव्य से भी मेरी पात्रता, योग्यता और उनकी आत्मा की योग्यता एव क्षमता मे लाखों गुना अन्तर है और भाव से भी तो उनकी आत्मा परम क्षायिक भाव मे है, अनन्त चतुष्टय से युक्त है और मेरी आत्मा अभी उपशम तथा क्षयोपशम भाव मे ही चक्कर लगा रही है। मेरी योग्यता और क्षमता क्यो नही बढ पाती ? मैं कौन-सा उपाय करूँ, जिससे यह अन्तर दूर हो ? अपने जीवन मे मैं किस प्रकार की साधना करूँ, जिससे इस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दूरी को समाप्त कर सकूँ ? क्या मेरा जन्म यो ही सासारिक इन्द्रियजनित क्षणिक वैषयिक सुखो मे लिप्त होकर पुन चौरासी लक्ष जीवयोनियो मे भटकने के लिए है या इन सासारिक सुखो से निर्लिप्त होकर अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर के द्वारा वीतराग-भाषित शुद्ध धर्म का पालन करके आत्मा को कर्मचक्र से पृथक् करने के लिए है ?

ये और इस प्रकार की आत्मविकास-विषयक जिज्ञासाएँ उत्पन्न होने पर ा समाधान उन्ही से हो ा है, जो आत्मा के सम्बन्ध मे सर्वतोमुखी-सर्वांगीण अनुभव प्राप्त कर चुके हो, जिनकी आत्मा अत्यन्त अविकसित अवस्था से क्रमश उन्नत अवस्था को आरोहण करती हुई पूर्ण विकसित और पूर्ण स्वतन्त्र अवस्था को प्राप्त कर चुकी हो, जिनके ज्ञान का सूर्य पूर्णरूप से प्रकाशित हो चुका हो, जो निखिल जगत की, विश्व के समस्त प्राणियो की समस्त गतिविधियो को अपने सर्वज्ञान के प्रकाश मे जानते-देखते हो, जिनके राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि समस्त विकार नष्ट हो चुके हो। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ वीतराग आप्तपुरुष के उपदेश के बिना आत्मविकास की जिज्ञासाओ का समाधान पूर्णरूपेण नही हो सकता। लौकिक बातो की जिज्ञासा का समाधान मनुष्य अपने माता-पिता एव गुरुजन आदि विश्वस्त एव लौकिक आप्तपुरुषो से प्राप्त कर लेता है, क्योकि लौकिक बातो के अनुभव मे वे ही उसमे आगे बढे हुए होते हैं, उनको समाज, देश, काल आदि का अनुभव होता है। वैसे ही लोकोत्तर बातो की जि का समाधान लौकिक आप्तपुरुषो से नही हो सकता, क्योकि उन्हे इस विषय का सागोपाग अनुभव नही होता, न उनका ज्ञान सर्वांगपूर्ण या आत्मप्रत्यक्ष होता है। इसलिये लोकोत्तर आप्तपुरुषो से ही आत्मविकास विषयक सागोपाग अनुभव-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। आत्म-विकास के विषय मे सागोपाग अनुभव ज्ञानी आप्तपुरुष अरिहन्तदेव ही हो सकते हैं। क्योकि सिद्ध परमात्मा तो निरजन-निराकार, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एव अशरीरी हो गए, वे प्रत्यक्ष उपदेश दे नही सकते। अरिहन्तदेव सशरीरी वीतराग सर्वज्ञ होने से वे ही प्रत्यक्ष उपदेश दे सकते है।

अत ऐसे जिज्ञासु पुरुष को पूर्वोक्त प्रकार की जिज्ञासाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है, परन्तु वह चाहता है कि मेरे और अर्हन्त प्रभु के बीच के अन्तर को दूर करने हेतु मुझे मेरे परम आप्तपुरुष वीतराग अर्हन्तदेव से उपदेश मिले किन्तु वे उपदेष्टा आप्त-पुरुष अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर तो सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो चुके, वे निर्वाण को प्राप्त हो चुके, उनकी उपस्थिति मे उनके निकटतम अन्तेवासी गणधरो ने उनसे जो उपदेश सुना था, वह आगम के रूप मे उपलब्ध है। किन्तु आगम तो समुद्र के समान बहुत गम्भीर एव वि हैं, उनमे अवगाहन करना हर एक साधक के बस की बात नही है। परम-आप्त वीतराग श्री भगवान् महावीर ने विभिन्न समय मे जो भी उपदेश अपने निकटतम शिष्यो-गणधरो को दिये थे, वे कोई लिखे नही गये थे, क्योकि उस समय तक लिखने की कोई प्रथा नही थी और मुद्रण-यन्त्रो से मुद्रित-प्रकाशित करने की प्रथा तो बहुत बाद मे प्रचलित हुई है। गणधरो के युग मे भगवान् महावीर के उपदेश जो गणधरो ने सुने, उन्हे वे अपने शिष्यो को

सुनाकर कण्ठस्थ करा देते थे। वे शिष्य अपने शिष्यो को कण्ठस्थ कराते थे। इस प्रकार कर्णोपकर्ण परम्परा से भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट ज्ञान चला। किन्तु एक बात निश्चित है कि भगवान् महावीर के उपदेश सूक्ष्मार्थदर्शी गणधरो ने जिस क्रम से उनसे सुने थे, उन्होने उसी क्रम से नही रखे। उन्होने अर्थरूप मे वीतराग प्रभु से उनके उपदेश सुने और अपनी विशिष्ट प्रखर बुद्धि से उन उपदेशो के भावो को व्यवस्थित रूप से वर्गीकरण करके सम्यक् रूप से ग्रथित-सम्पादित किया। आवश्यक नियुंक्ति (गा० १६२) तथा धवला भाग १ मे इस सम्बन्ध मे कहा गया है—

> अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गुम्फन्ति गणहरा निउणा।
> स हियट्ठाए, ततो सुत्त पवत्तेइ ॥

अर्थात्—अर्हन्त देव अर्थरूप मे उपदेश देते हैं, किन्तु उनके उन विशिष्ट उपदेशो को सूक्ष्मार्थदर्शी गणधरदेव शासन (धर्मसघ) के हित के लिये निपुणरूप से सूत्ररूप मे ग्रथित करते है। इस प्रकार सूत्र की परम्परा प्रचलित हुई।

अत जिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ की पूर्वोक्त प्रकार की जिज्ञासाओ के समाधान के लिये समग्र सूत्र के कर्ता—अर्थागम के उपदेष्टा—अर्हन्त भगवान् महावीर के उपदेश के भावो को इन्द्रभूति गौतम एव सुधर्मा स्वामी आदि गणधरो ने तो अक्षुण्ण रखा, ताकि भगवान् महावीर के उपदेशो का सीधा लाभ जिज्ञासुओ को मिल सके, किन्तु उन्होने उन उपदेशो को सूत्र रूप मे ग्रथित-सम्पादित कर दिया। सूत्रकृतागसूत्र भगवान महावीर के उन्ही उपदेशों का साररूप मे—सूत्र रूप मे—ग्रथित सूत्र है। गणधरो ने इस सूत्र को अपने जिज्ञासु शिष्यो— क्षुओ की जिज्ञासाओ के अनुरूप इस खूबी से ग्रथित कर दिया है कि भगवान् महावीर ने उन जिज्ञासाओ या प्रश्नो के समाधान के रूप मे जो उपदेश दिया (कहा) था, और जैसा आचरण किया था, उन ा सार इस सूत्रकृतागमूत्र मे आ गया है। यही कारण है कि इस सूत्र के प्रारम्भ मे आत्म-स्वरूप का बोध प्राप्त करने का उपदेश 'बुज्झिज्जत्ति' पद से सूचित किया है, और फिर जब शिष्य को जिज्ञासा हुई कि भगवान् महावीर ने बन्धन और उसके कारण किन-किन को बताया है तथा उन्हे कैसे जान-परखकर तोडा जाए ? तब उसके समाधान के रूप में इस सूत्र के विभिन्न अध्ययनो मे बन्धनो के कारणो और उनके निवारण के सम्बन्ध मे भगवान् महावीर के उपदेश का सार दे दिया है तथा बन्धनो से सर्वथा मुक्त वीतराग परमात्मा—शुद्ध स्वतन्त्र आत्मा का स्वरूप कैसा होता है ? इसे वीरत्थुई (वीरस्तुति) नाम के अध्ययन द्वारा सागोपाग रूप मे सूचित कर दिया है। सचमुच सूत्रकृतागसूत्र मे अर्थागम रूप से आद्यसूत्रोपदेष्टा भगवान् महावीर के उपदेश सूत्रो के रूप मे आत्मा को विविध भाव बन्धनो

ये और इस प्रकार की आत्मविकास-विषयक जिज्ञासाएँ उत्पन्न होने पर । समाधान उन्ही से हो सकता है, जो आत्मा के सम्बन्ध मे सर्वतोमुखी-सर्वागीण अनुभव प्राप्त कर चुके हो, जिनकी आत्मा अत्यन्त अविकसित अवस्था से अवस्था को आरोहण करती हुई पूर्ण विकसित और पूर्ण स्वतत्र अवस्था को प्राप्त कर चुकी हो, जिनके ज्ञान का सूर्य पूर्णरूप से प्रकाशित हो चुका हो, जो निखिल जगत की, विश्व के समस्त प्राणियो की समस्त गतिविधियो को अपने सर्वज्ञान के प्रकाश मे जानते-देखते हो, जिसके राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि समस्त विकार नष्ट हो चुके हो। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ वीतराग आप्तपुरुष के उपदेश के बिना आत्मविकास की जिज्ञासाओ का समाधान पूर्णरूपेण नही हो सकता। लौकिक बातो की जिज्ञासा का समाधान मनुष्य अपने माता-पिता एव गुरुजन आदि विश्वस्त एव लौकिक आप्तपुरुषो से प्राप्त कर लेता है, क्योकि लौकिक बातो के अनुभव मे वे ही उसमे आगे बढे हुए होते है, उनको समाज, देश, काल आदि का अनुभव होता है। वैसे ही लोकोत्तर बातो की जिज्ञासा का समाधान लौकिक आप्तपुरुषो से नही हो सकता, क्योकि उन्हे इस विषय का सागोपाग अनुभव नही होता, न उनका ज्ञान सर्वांगपूर्ण या आत्मप्रत्यक्ष होता है। इसलिये लोकोत्तर आप्तपुरुषो से ही आत्मविकास विषयक सागोपाग अनुभव-ज्ञान प्राप्त हो । है। आत्म-विकास के विषय मे सागोपाग अनुभव ज्ञानी आप्तपुरुष अरिहन्तदेव ही हो सकते हैं। क्योकि सिद्ध परमात्मा तो निरजन-निराकार, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एव अशरीरी हो गए, वे प्रत्यक्ष उपदेश दे नही सकते। अरिहन्तदेव सशरीरी वीतराग सर्वज्ञ होने से वे ही प्रत्यक्ष उपदेश दे सकते है।

अत ऐसे जिज्ञासु पुरुष को पूर्वोक्त प्रकार की जिज्ञासाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है, परन्तु वह चाहता है कि मेरे और अर्हन्त प्रभु के बीच के अन्तर को दूर करने हेतु मुझे मेरे परम आप्तपुरुष वीतराग अर्हन्तदेव से उपदेश मिले किन्तु वे उपदेष्टा आप्त-पुरुष अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर तो सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो चुके, वे निर्वाण को प्राप्त हो चुके, उनकी उपस्थिति मे उनके निकटतम अन्तेवासी गणधरो ने उनसे जो उपदेश सुना था, वह आगम के रूप मे उपलब्ध है। किन्तु आगम तो समुद्र के समान बहुत गम्भीर एव वि है, उनमे अवगाहन करना हर एक साधक के बस की बात नही है। परम-आप्त वीतराग श्री भगवान् महावीर ने विभिन्न समय मे जो भी उपदेश अपने नि म शिष्यो-गणधरो को दिये थे, वे कोई लिखे नही गये थे, क्योकि उस समय तक लिखने की कोई प्रथा नही थी और मुद्रण-यन्त्रो से मुद्रित-प्रकाशित करने की प्रथा तो बहुत बाद मे प्रचलित हुई है। गणधरो के युग मे भगवान् महावीर के उपदेश जो गणधरो ने सुने, उन्हे वे अपने शिष्यो को

सुनाकर कण्ठस्थ करा देते थे। वे शिष्य अपने शिष्यो को कण्ठस्थ कराते थे। इस प्रकार कर्णोपकर्ण परम्परा से भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट ज्ञान चला। किन्तु एक बात निश्चित है कि भगवान् महावीर के उपदेश सूक्ष्मार्थदर्शी गणधरो ने जिस क्रम से उनसे सुने थे, उन्होने उसी क्रम से नही रखे। उन्होने अर्थरूप मे वीतराग प्रभु से उनके उपदेश सुने और अपनी विशिष्ट प्रखर बुद्धि से उन उपदेशो के भावो को व्यवस्थित रूप से वर्गीकरण करके सम्यक् रूप से ग्रथित-सम्पादित किया। आवश्यक निर्युक्ति (गा० १९२) तथा धवला भाग १ मे इस सम्बन्ध मे कहा गया है—

अत्थ अरहा, सुत्त गुम्फन्ति गणहरा निउणा।
सास हि . ए, ततो सुत्त पवत्तेइ॥

अर्थात्—अर्हन्त देव अर्थरूप मे उपदेश देते हैं, किन्तु उनके उन विशिष्ट उपदेशो को सूक्ष्मार्थदर्शी गणधरदेव शासन (धर्मसघ) के हित के लिये निपुणरूप से सूत्ररूप मे ग्रथित करते है। इस प्रकार सूत्र की परम्परा प्रचलित हुई।

अत जिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ की पूर्वोक्त प्रकार की जिज्ञासाओ के समाधान के लिये समग्र सूत्र के कर्ता—अर्थागम के उपदेष्टा—अर्हन्त भगवान् महावीर के उपदेश के भावो को इन्द्रभूति गौतम एव सुधर्मा स्वामी आदि गणधरो ने तो अक्षुण्ण रखा, ताकि भगवान् महावीर के उपदेशो का सीधा लाभ जिज्ञासुओ को मिल सके, किन्तु उन्होने उन उपदेशो को सूत्र रूप मे ग्रथित-सम्पादित कर दिया। सूत्रकृतागसूत्र भगवान महावीर के उन्ही उपदेशों का साररूप मे—सूत्र रूप मे—ग्रथित सूत्र है। गणधरो ने इस सूत्र को अपने जिज्ञासु शिष्यो— क्षुओ की जिज्ञासाओ के अनुरूप इस खूबी से ग्रथित कर दिया है कि भगवान् महावीर ने उन जिज्ञासाओ या प्रश्नो के समाधान के रूप मे जो उपदेश दिया (कहा) था, और जैसा आचरण किया था, उन ा सार इस सूत्रकृतागसूत्र मे आ गया है। यही कारण है कि इस सूत्र के प्रारम्भ मे आत्म-स्वरूप का बोध प्राप्त करने का उपदेश 'बुज्झिज्जत्ति' पद से सूचित किया है, और फिर जब शिष्य को जिज्ञासा हुई कि भगवान् महावीर ने बन्धन और उसके कारण किन-किन को बताया है तथा उन्हें कैसे जान-परखकर तोडा जाए ? तब उसके समाधान के रूप में इस सूत्र के विभिन्न अध्ययनो मे बन्धनो के कारणो और उनके निवारण के सम्बन्ध मे भगवान् महावीर के उपदेश का सार दे दिया है तथा बन्धनो से सर्वथा मुक्त वीतराग परमात्मा—शुद्ध स्वतन्त्र आत्मा का स्वरूप कैसा होता है ? इसे वीरत्थुई (वीरस्तुति) नाम के अध्ययन द्वारा सागोपाग रूप मे सूचित कर दिया है। सचमुच सूत्रकृतागसूत्र मे अर्थागम रूप से त्रोप-देष्टा भगवान् महावीर के उपदेश सूत्रो के रूप मे आत्मा को विविध भाव बन्धनो

मे जकडने वाले कर्म-बन्धनो का स्वरूप, उनके कारण, उनके निवारण के उपाय तथा घाती कर्म-बन्धन से मुक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप महावीर स्तुति के रूप मे बता दिया है। इस प्रकार सूत्रकृत अर्थात् मूल मे अर्थागम रूप से सूत्र कर्ता—उपदेश सूत्र के कर्त्ता—भगवान् महावीर के अगभूत (वाणी या उपदेश उनका ही अग है इस हेतु से) होने के कारण इसके नाम के साथ अत मे 'अग' शब्द और जोडा गया, जिससे इसका नाम 'सूत्रकृताग' प्रचलित हो गया।

अथवा भगवान् महावीर के अर्थरूप मे दिये गये उपदेश को गणधरो द्वारा सूत्ररूप मे कृत (किया गया) होने से इसका नाम 'सूत्रकृत' पड गया।

यद्यपि भगवान् महावीर द्वारा प्रकाशित ज्ञान को या अर्थागमो को उनके परम मेधावी साक्षात् शिष्य गणधर ग्रहण करके अपनी कुशलबुद्धि से द्वादशागी के रूप मे रचना करते हैं। अत गणधर तो सभी अगो को सूत्र रूप मे ग्रथित करते है, फिर इसी शास्त्र को 'सूत्रकृत' क्यो कहा गया, सभी शास्त्र सूत्रकृत कहे जाने चाहिए ? बात ठीक है, किन्तु इसका नाम सूत्रकृत इसलिये रखा गया कि इस सूत्र की रचना शिष्यो द्वारा प्रस्तुत विशिष्ट जिज्ञासाओ के समाधान-सूत्र के रूप मे ही विशेष रूप से की गयी है। इसमे मुख्यतया एक ही प्रश्न—बन्धन के सम्बन्ध मे सूत्ररूप मे चर्चा है। बन्धन और बधन-मुक्ति से सम्बन्धित विविध प्रश्नो के उत्तर मे भगवान् महावीर के बोधसूत्र बहुत ही सुन्दर ढग से इस एक ही शास्त्र मे प्रस्तुत किये गये हैं, इसलिये इसका 'सूत्रकृताग' नामकरण समुचित ही है। इसे ही सूत्र-कृतागसूत्र की रचना की पृष्ठभूमि समझना चाहिए।

सूत्रकृताग की सा ˚ ा

सूत्रकृताग पर आचार्य श्रीभद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति लिखी है। उन्होने सूत्रकृताग के एकाथक नामो का उल्लेख करते हुए बताया है—

सूयगड अगाण बितिय, तस्सय इमाणि नामाणि।
सूतगड सु सुयगड चेव गोण्णाइ ॥'

—सूत्रकृतागसूत्र बारह अगो मे दूसरा (अ त्र) है। इसके एकार्थक नाम ये है—सूतकृत, सूत्रकृत और सूचाकृत। ये तीन इसके गुणनिष्पन्न नाम हैं।[1]

तीनो का क्रमश व्युत्पत्त्यर्थ इस प्रकार है—'सूतमुत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थ-कृद्भ्यस्तत कृत ग्रन्थरचनया गणधरैरिति' तथा 'सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोध क्रियते

१. गुणानुसारी नाम के द्वारा जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसे गुणनिष्पन्न नाम कहते हैं, जैसे इस शास्त्र का गुणानुसारी नाम सूत्रकृत' है।

अस्मिन्निति सूत्र ।' तथा 'स्वपरसमयार्थसूचन सूचा, साऽस्मि कृतेति सूचाकृम् ।' अर्थात्—जो तीर्थंकरो के द्वारा अर्थरूप मे उत्पन्न होकर गणधरो के द्वारा (ग्रन्थ) सूत्ररूप मे रचा गया है, उसे 'सूतकृत' कहते हैं। सूत्र का अनुसरण करते हुए जिसमे तत्त्वबोध (उपदेश) किया गया है, वह 'सूत्रकृत' कहलाता है। तथा अपने और दूसरो के सिद्धान्तो को सूचित करना 'सूचा' कहलाता है, वह इस शास्त्र मे किया गया है, इसलिये इसका नाम 'सूचाकृत' भी है।

यहाँ एक प्रश्न और समुद्भूत होता है कि 'सूत्रकृतागसूत्र' की सूत्ररूप मे रचना गणधर भगवान् ने की है, परन्तु उन्होने सज्ञासूत्र, सग्रहसूत्र, वृत्तनिबद्धसूत्र और जातिनि सूत्र[1]—इन चार प्रकार के सूत्रो मे से सूत्रकृताग की रचना किस सूत्र के रूप मे की है? वैसे सारे शास्त्र का दोहन करने से प्रतीत होता है कि यह मुख्यतया 'वृत्तनिबद्धसूत्र' है। गौणरूप से सज्ञासूत्र भी है, सग्रहसूत्र भी है और श्रुतस्कध के एक अध्ययन को छोडकर शेष पद्य मे है और दूसरा गद्य-पद्य दोनो मे है। अनुष्टुप, वैतालिक और इन्द्रवज्रा छन्दो का प्रयोग किया गया है। इसलिये यह गद्य-पद्यात्मक होने से जातिनिबद्धसूत्र भी है।

सूत्र शब्द का 'निक्षेप' होने के बाद 'कृत' शब्द का निक्षेप इस प्रकार से समझना चाहिए। नाम, स्थापना और द्रव्य-कृत को छोडकर हम सीधे 'भा ' पर विचार करते है। भा या अर्हन्तदेव के भावो को सूत्ररूप मे ग्रथित करने वाले गणधर हैं।

तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा प्रकाशित ज्ञान को उनके परम मेधावी साक्षात् शिष्य गणधरो ने ग्रहण करके जो द्वादशागीरूप मे सूत्रबद्ध किया, वह अगप्रविष्ट श्रुत होता है तथा कालदोष से बुद्धि बल और आयु की क्षीणता को देखकर सर्वसाधारण के हित के लिये उसी द्वादशागी मे से भिन्न-भिन्न विषयो पर गणधरो के पश्चाद्वर्ती शुद्धबुद्धि आचार्यों ने जो शास्त्र रचे, वे अगबाह्य

---

१ जो सूत्र अपने किये गये सकेत (पारिभाषिक शब्द) के अनुसार रचा गया है, उसे 'सज्ञासूत्र' कहते है। जैसे—'जे छेए' इत्यादि सूत्र 'सज्ञात्मक' हैं, इनमे 'सागारिक' और 'आमगध' शब्द स्वशास्त्र-सकेतित हैं। जो सूत्र बहुत से अर्थो का सग्रह करता है, वह सग्रहसूत्र है। जैसे 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' इस सूत्र मे सत् कहने से सभी द्रव्यो (धर्म-अधर्म आदि) का सग्रह होता है। जो सूत्र अनेक प्रकार के छदो मे रचा गया है, उसे 'वृत्तनि -सूत्र' कहते हैं। जैसे 'बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा' वृत्तनिबद्धसूत्र है। जातिनिबद्ध सूत्र चार प्रकार का है—कथनीय (कथाएँ हो), गद्यसूत्र, पद्यसूत्र और गेयसूत्र।

श्रुत कहलाते है। यहाँ द्वादशागी मे से दूसरे अग के रूप मे सूत्रकृतागसूत्र है, जो द्वितीय अग है, और अगप्रविष्ट-श्रुत के अन्तर्गत है।

सूत्रकृताग की रचना कब, किसके द्वारा, कैसी मन'स्थिति मे ?

कई लोग यह शका करते है कि सूत्र-रूप मे तो अनेक लौकिक शास्त्रो की भी रचना होती है, जैसे वात्स्यायन का 'कामसूत्र', गौतम का 'न्यायसूत्र', कणाद का 'वैशेषिक सूत्र' एव पातजल का 'योगसूत्र' आदि। इसी प्रकार वर्तमान मे भी अर्थ-शास्त्र, समाजशास्त्र, विधिशास्त्र आदि की भी रचना की जाती है। क्या ये सब भी उत्तम कोटि के मोक्षप्रधान शास्त्र या सूत्र कहलाएँगे ?

इसके उत्तर मे हम निर्युक्तिकार का आशय प्रस्तुत करते है। उन्होने बताया कि जिस शास्त्र मे सवर, निर्जरा, वैराग्य, मोक्ष आदि की आचार-विचार-सम्बन्धी बाते हो, उन्हे ही उत्तम कोटि के लोकोत्तर सूत्र या शास्त्र के रूप मे मानना चाहिए। प्रस्तुत सूत्रकृतागसूत्र की रचना शुभ-ध्यान मे स्थित, निस्पृह, त्यागी, षड्जीवनिकाय-रक्षक गणधरो द्वारा की गई है। किस उच्च-भावस्थिति मे गणधरो ने इस शास्त्र की रचना की थी ? इसे बताते हैं—

जिनकी कर्मस्थिति न तो जघन्य थी, न उत्कृष्ट थी, उनका अनुभाव (विपाक) भी मन्द था। वे मन्द-विपाक वाली ज्ञानावरणीय आदि प्रकृति को बाँधते थे, किन्तु वे उस कर्मप्रकृति को निधत्त-निकाचित अवस्था मे नही पहुँचने देते थे एव दीर्घ-स्थिति वाली कर्मप्रकृति को ह्रस्वस्थिति वाली करते थे तथा उत्तर प्रकृतियो को वे बाँधी जाती हुई कर्मस्थिति मे मिलाते थे। उदयप्राप्त कर्मों की वे उदीरणा करते थे। वे अप्रमत्तगु नवर्ती थे। सात और असातावेदनीय व आयु की उदीरणा नही करते थे। मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, औदारिक-शरीर, तथा उसके अगोपाग आदि कर्मों के उदय मे पुरुषवेद तथा क्षायोपशमिक भाव मे वे वर्तमान थे। ऐसे शुभध्यानी गणधरो ने इस सूत्रकृतागसूत्र की रचना की थी। वह भी अपनी इच्छा या स्वच्छन्दमति से नही, किन्तु पहले क्षायिकज्ञान मे वर्तमान तीर्थंकरो ने गणधरो को यह सूत्र भलीभाँति कहा था, फिर ग्रन्थ की रचना करने मे विघ्नोत्पादक कर्मों के क्षयोपशम हो जाने से एकाग्रचित गौतमादि गणधरो ने तीर्थंकरो के मत यानी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त मातृकादि पदो को सुनकर शुभ अ य के साथ इस शास्त्र की रचना की थी।

यद्यपि निर्युक्तिकार ने ग्रन्थकार के रूप मे किसी विशेष व्यक्ति का नाम नही बताया है, वक्ता के रूप मे जिनवर का तथा श्रोता के रूप मे गणधरो का निर्देश किया गया है। निर्युक्तिकार का कथन है कि जिनवर का वचन सुनकर अपने क्षयोपशम द्वारा शुभ अभिप्रायपूर्वक गणधरो ने, जिस सूत्र की रचना 'कृत'

अर्थात् की उसका नाम 'सूत्रकृत' हो गया। यह सूत्र अनेक योगधर साधुओ को स्वाभाविक भाषा अर्थात् प्राकृतभाषा मे प्रभाषित किया गया है। इसलिये इसका नाम 'सूत्रकृत' है। सूत्र रचनाकार गणधर भी साधारण पुरुष न थे, किन्तु अनेक योगो के धारक थे। क्षीराश्रव आदि अनेक लब्धियो की प्राप्ति को योग कहते है। इस प्रकार के अनेक योगो को वे धारण किये हुए थे। गणधरो के समक्ष अर्थरूप से यह शास्त्र (आगम) भगवान् ने प्रकाशित किया था। गणधरो ने भगवान् से उस अर्थ को सुनकर वाक्‌योग के द्वारा जीव के स्वाभाविक गुणानुसार इस शास्त्र की रचना की थी।

इस शास्त्र मे बौद्धमत के उल्लेख के साथ बुद्ध का नाम भी स्पष्ट आता है एव बुद्धोपदिष्ट एक रूपक कथा का भी जिक्र किया गया है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि जब बौद्धपिटको के सकलन के लिए सगीतिकाएँ हुईं, उनकी वाचना निश्चित होकर तथागत बुद्ध के विचार लिपिबद्ध हुए, वह काल इस सूत्र के निर्माण का काल रहा होगा।

गणधरो ने अक्षरगुणमतिसघटना और कर्मपरिशाटना (कर्म-सक्षय) इन दोनो के योग से अथवा वाक्‌योग और मनोयोग से इस सूत्र की रचना की थी, इसलिए इसका नाम 'सूत्रकृत' है ?[1]

सूत्रकृताग की निर

अर्थस्य सू . सूत्रम्—सूत्र की इस व्याख्या के अनुसार जो अर्थ को सूचित करता है, वह सूत्र कहलाता है। सूत्र मे कई (अर्थ) बातें साक्षात् कही हुई होती है, वे मुख्यरूप से गृहीत होती हैं, लेकिन कई बातें (अर्थ) साक्षात् कही हुई नही

---

1 अचेल परम्परा मे इस अग (सूत्रकृताग) के प्राकृत मे तीन नाम मिलते हैं — सुद्‌यड, सूदयड और सूदयद। इनमे प्रयुक्त 'सुद्' अथवा 'सूद' शब्द 'सूत्र' का और 'यड' अथवा 'यद' शब्द कृत का सूचक है। इस अग के प्राकृत नामो का सस्कृत रूपान्तर 'सूत्रकृत' ही प्रसिद्ध है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी से लेकर श्रुतसागर तक के सभी तत्त्वार्थवृत्तिकारो ने 'सूत्रकृत' नाम का ही उल्लेख किया है। सचेलक परम्परा मे भी इसके लिए सूतगड, सूयगड और सुत्तकड ये तीन प्राकृत नाम प्रसिद्ध हैं। इनका सस्कृत रूपान्तर भी हरिभद्र आदि आचार्यों ने 'सूत्रकृत' ही दिया है।

अर्थबोधक सक्षिप्त शब्दरचना को 'सूत्र' कहते है और इस प्रकार की रचना जिसमे 'कृत' अर्थात् की गई है, वह 'सूत्रकृत' है।

होती, वे अर्थापत्ति-न्याय[1] से अध्याहृत (आक्षिप्त) की जाती हैं। जैसे किसी को कहा गया—'दही लाओ'। इस आज्ञा मे दही के वर्तन को लाने की वात भी अर्थापत्ति से जान ली जाती हे। इसी प्रकार मूलसूत्र मे न कही गई बातें अर्थापत्ति से जान ली जाती है। अथवा शास्त्र मे कही सूत्रपाठ मे अर्थ के एक अश का ग्रहण है और कही समस्त अर्थो का ग्रहण है। अत जिन पदो द्वारा उन अर्थो (सिद्धात-सम्मत वातो) का प्रतिपादन किया गया है, वे पद अत्यन्त सिद्ध है, साध्य नही है तथा अनादि हैं। इस समय उत्पन्न करने योग्य नही हे।[2] अतएव यह द्वादशागी (जिसमे सूत्रकृताग भी है) शब्द और अर्थ-रचना द्वारा महाविदेह-क्षेत्र मे नित्य है तथा भरत एव ऐरावत क्षेत्र मे भी इसकी शब्द रचना प्रत्येक तीर्थंकर के समय की जाती है। नही तो, और तरह से वह नित्य ही है।

इस प्रकार सूत्रकृतागसूत्र की रचना किन महापुरुपो द्वारा किन भावो की भूमिका मे हुई है, वह हमने सक्षेप मे निर्युक्तिकार के मतानुसार वता दिया है।

ाग के अध्ययनो और विषयो का पि

निर्युक्तिकार के ही मतानुसार सक्षेप मे सूत्रकृताग के अध्ययनो का परिचय यो है—

> दो चेव सुयक्खधा, अज्झयणाइ च हुति तेवीस।
> तेति ेसणकाला, राओ वुगुणमग॥

इस सूत्रकृतागसूत्र मे दो श्रुतस्कध हैं तेईस अध्ययन है तथा तेतीस उद्‌दे-शनकाल हैं। वे इस प्रकार हैं—प्रथम अध्ययन मे चार उद्देश, दूसरे अध्ययन मे तीन उद्देश और तीसरे अ मे चार उद्देश हैं। चौथे और पाचवे अध्ययन मे दो-दो उद्देश है, शेप ग्यारह अध्ययनो मे एक-एक ही उद्देश है। यह प्रथम श्रुत-स्कध के अध्ययनो और उद्देशो का परिमाण है। दूसरे श्रुतस्कध मे सात अध्ययन और सात ही उद्‌देश हैं। इस प्रकार दोनो श्रुतस्कधो मे कुल मिलाकर २३ अ हैं। यह सूत्र आचारागसूत्र से द्विगुण है। इसके पद ३६००० है।

सूत्रकृतागसूत्र के प्रथम श्रुतस्कध का नाम 'गाथा-षोडशक' है। इसमे गाथा नामक १६ अध्ययन है, इसलिए इसे 'गाथापोडशक' कहते हैं।

१ जिसके बिना जिसकी सिद्धि नही होती, उससे उसका आक्षेप (अध्याहार) करना अर्थापत्ति है।

२ 'इच्चेइय दुवालसग गणिपिडग न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ।'

—नदीसूत्र

युगप्रधान आचार्य आर्यरक्षित ने वर्तमान युग के साधको के उपकार के लिए द्वादशागी को चरणकरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, धर्मकथानुयोग और गणितानुयोग रूप चार अनुयोगो[1] मे विभक्त कर दिया है। आचारागसत्र चरणकरण-प्रधान है, सूत्रकृताग द्रव्यानुयोग एव चरणकरणानुयोग-प्रधान है।

प्रथम श्रुतस्कध के एक अध्ययन को छोडकर शेष सब पद्य मे है और दूसरा श्रुतस्कध गद्य-पद्य दोनो मे है। निर्युक्तिकार ने प्रत्येक अध्ययन मे वर्णित विषयो को निम्नोक्त गाथाओ मे प्रदर्शित किया है—

ससमय-परसमयपरूवणा य णाऊण बुज्झणा चेव।
सबुद्धस्सुवसग्गा, थीदोसविवज्जणा चेव॥
उवसग्गभीरुणो थीवसस्स णरएसु होज्ज उववाओ।
एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाहु॥
परिचत्त-निसील- ील-सुसीलसविग्गसीलव चेव।
णाऊण वीरियदुग पडियवीरिए पयट्टे ई (पयहिज्जा)॥
धम्मो समाहिमग्गो समोसढा चउसु सव्ववादीसु।
सीसगुणदोसकहणा, गथमि सदा गुरुनिवासो॥
आदाणियसकलिया आदाणीयमि आदायचरित्त।
अप्पगथे पिंडियवयणेण होइ ,अहिगारो॥

इसके प्रथम श्रुतस्कध के प्रथम अध्ययन मे स्वसमय-परसमय का निरूपण किया गया है। द्वितीय अध्ययन मे कहा गया है कि स्वसमय (सिद्धात) के गुण और परसमय के दोषो को जानकर मनुष्य को स्वसिद्धात का बोध प्राप्त करना चाहिए। तृतीय अध्ययन मे कहा गया है कि सम्यक्‌बोध को प्राप्त साधक कैसे उपसर्गो को सहन कर लेता है? चतुर्थ अध्ययन मे स्त्री-सम्बन्धी दोषो से दूर रहने का उपदेश है। पचम अध्ययन मे बताया गया है कि जो पुरुष उपसर्गो को सहन नही करता तथा स्त्री के वशीभूत होता है, उसका अवश्य नरकवास होता है। छठे अध्ययन मे शिष्यो को उपदेश देते हुए यह कहा गया है कि अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गो के सहन करने से

---

१ सूत्र पढकर उसका अर्थ बताना अथवा सक्षिप्तसूत्र का विस्तृत अर्थ के साथ सम्बन्ध करना अनुयोग कहलाता है। (१) चरणकरणानुयोग—मूलगुणो-उत्तरगुणो को बताना, (२) द्रव्यानुयोग—जीव अजीव आदि द्रव्यो की व्याख्या जिसमे हो, वह। (३) धर्मकथानुयोग—जिसमे अहिंसा आदि धर्मों की व्याख्या की गई हो अथवा धर्म मे प्रेरित करने वाली कथाएँ हो, वह। (४) गणितानुयोग – जिसमे गणित यानी सख्यात्मक वर्णन हो, वह।

तथा स्त्रीसम्बन्धी दोपो के वर्जित करने से भगवान् महावीर स्वामी ने विजय प्राप्त करने योग्य कर्मो पर अथवा ससार के पराभव पर विजय प्राप्त होना बताया है, वैसे ही सभी साधको को प्रयत्न करना चाहिए। सातवे अध्ययन मे बताया गया है कि शीलवर्जित गृहस्थ और कुशील अन्यतीर्थी अथवा पार्श्वस्थ आदि को छोडने वाले परित्यक्त-नि शील-कुशील अर्थात् सुशील यानी शास्त्रानुसार सयम-पालक सविग्न साधक की जो सेवा करता है, वह साधक शीलवान् होना है। आठवें अध्ययन मे कहा गया है कि बालवीर्य और पण्डितवीर्य, इन दोनो वीर्यो को जानकर पण्डितवीर्य मे प्रयत्न करना चाहिए। नवे अध्ययन मे धर्म का यथावस्थित स्वरूप कहा है। दशम अध्ययन मे समाधि का वर्णन है। एकादश अध्ययन मे सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्ग का वर्णन है। द्वादश अध्ययन मे क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, और विनयवाद इन चार मतो के मानने वाले ३६३ प्रकार के पाषण्डी, अपने-अपने मतो को सिद्ध करते हुए उपस्थित होते हैं। उन पापण्डियो के द्वारा अपने पक्ष के समर्थन के लिए दिये गये साधनो मे दोष बताकर उनका निराकरण किया गया है। तेरहवें अध्ययन मे कपिल, कणाद, अक्षपाद, बुद्ध और जेमिनि आदि सब मतवादियो को कुमार्ग का प्रवर्तक सिद्ध किया गया है। ग्रन्थ नामक चौदहवें अध्ययन मे शिष्य सम्बन्धी गुणो और दोपो को बताकर कहा गया है कि साधक को शिष्य सम्बन्धी गुणो से सम्पन्न होकर सदा गुरुकुल मे निवास करना चाहिए। आदानीय नामक पन्द्रहवें अध्ययन मे जो शब्द अथवा अर्थ ग्रहण किये जाते है, उन्हे 'आदानीय' कहकर वे आदानीय पद अथवा अर्थ पूर्व-वर्णित पदो और अर्थों के साथ प्राय मिलाये गये हैं। मोक्षमार्ग साधक सम्यक् चारित्र का भी इसमे वर्णन है। गाथा नामक सोलहवें अ मे पाठ बहुत कम हैं, उसमे विशेपत १५ अध्ययनो मे जो अर्थ (बातें) कहा गया है, उसी का सक्षेप मे वर्णन है।

इस प्रकार गाथाषोडशक नामक सोलह अध्ययनो मे वर्णित विषयो (अर्थाधिकारो) का सक्षेप मे कथन किया गया।

सूत्रकृतागसूत्र के दोनो श्रुतस्कन्धो मे कुल तेईस (१६+७=२३) अध्ययन हैं। समवायागसूत्र मे सूत्रकृतागसूत्र के २३ अध्ययनो का नाम इस प्रकार है—

स सूयगडज्झयणा , त जहा—समए वेयालिए उवसग्ग परिण्णा त्थीपरिण्णा नरयविभत्ती महावीरथुई कुसीलपरिभासए वीरिए धम्मे समाहिमग्गे समोसरणे आहत्तहिए गथे जमईए गाथा पुंडरीए किरि णा, आहारपरि अपच्चक्खाणकिरिया अणगारसुय अद्दइज्ज नालदइज्ज।

, सूत्रकृतागसूत्र के २३ अध्ययन कहे है, वे इस प्रकार हैं—समय, वैतालीय, उपसर्गपरिज्ञा, स्त्रीपरिज्ञा, नरकविभक्ति, महावीरस्तुति, कुशीलपरिभाषक, वीर्य,

धर्म, समाधिमार्ग, समवसरण, याथातथ्य, ग्रन्थ, यमातीत, गाथा, पुण्डरीक, क्रिया-स्थान, आहारपरिज्ञा, प्रत्याख्यान-क्रिया, अनगारसूत्र, आर्द्रकीय और नालदीय ।[1]

समय अध्ययन मे स्वसमय, परसमय का निरूपण करते हुए पचभूतवादी, अद्वैतवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, पुण्य-पाप-अकर्तावादी, पचभूतात्मषष्ठवादी, क्रिया-फल मे अविश्वासी आदि मतवादियो के सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है तथा नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद और लोकवाद का निरसन किया है। '' तीय अध्ययन मे शरीर की अनित्यता, उपसर्गसहन, कामपरित्याग और अशरणत्व आदि का प्ररूपण है । उपसर्गपरिज्ञा अध्ययन मे श्रमणधर्म के पालन करते समय उपस्थित होने वाले विभिन्न उपसर्गों का सागोपाग विवेचन है । स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन मे बताया है कि साधुओ के सामने कैसे-कैसे स्त्रीजन्य-उपसर्ग आते हैं ? उस समय साधु को कैसे सावधान और अपने ब्रह्मचर्य मे स्थिर रहने की आवश्यकता है ? नरकविभक्ति

---

१ अचेलक (दिगम्बर) परम्परा मे भी सूत्रकृताग के २३ अध्ययन मान्य हैं । इन नामो व श्वेताम्बर परम्परा के टीका ग्रन्थ आवश्यकवृत्ति मे उपलब्ध नामो मे थोडा-सा अन्तर है । प्रति णग्रन्थत्रयी नामक पुस्तक मे तेवीसाएसुद्दयडज्झयणेसु ऐसा पाठ है, इस पाठ की प्रभाचन्द्रीय वृत्ति मे इन २३ अध्ययनो के नाम भी गिनाये हैं । वे इस प्रकार हैं—१ समय २ वैतालीय ३ उपसर्ग, ४ स्त्रीपरिणाम ५ नरक, ६ वीरस्तुति, ७ कुशील परिभाषा ८ वीर्य, ९ धर्म, १० अग्र, ११ मार्ग, १२ समवसरण, १३ त्रिकालग्रन्थहिृद (?), १४ आत्मा, १५ तदित्थगाथा (?) १६ पुण्डरीक, १७ क्रियास्थान, १८ आहारक परिणाम, १९ प्रत्याख्यान, २० अनगारगुणकीर्ति, २१ श्रुत, २२ अर्थ, २३ नालदा ।

- राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृताग मे ज्ञान, विनय, कल्प्य तथा अकल्प्य का विवेचन है । छेदोपस्थापना, व्यवहारधर्म एव क्रियाओ का प्ररूपण है ।
- धवला के अनुसार सूत्रकृताग का विषय निरूपण राजवार्तिक के समान है । इसमे स्वसमय एव परसमय का विशेष उल्लेख है ।
- जयधवला मे कहा गया है कि सूत्रकृताग मे स्वसमय-परसमय, स्त्रीपरिणाम, क्लीवता, अस्पृष्टता—मन की बातो की अस्पृष्टता, कामावेश, विभ्रम, आस्फालनसुख—स्त्रीसग का सुख, पुस्कामिता-पुरुषेच्छा आदि की चर्चा है ।
- अगपण्णत्ति मे बताया है कि सूत्रकृताग मे ज्ञान, विनय, निर्विघ्न, अध्ययन, सर्वसत्क्रिया, प्रज्ञापना, सुकथा, कल्प्य, व्यवहार, धर्मक्रिया, छेदोपस्थापना, यतिसमय, परसमय, एव क्रियाभेद का निरूपण है ।

अध्ययन मे नरक के घोर दुखो का वर्णन है । वीरस्तुति अध्ययन मे भगवान महावीर को हस्तियो मे ऐरावण, मृगो मे मृगेन्द्र, नदियो मे गगा और पक्षियो मे गरुड की उपमा देते हुए लोक मे सर्वोत्तम बताया है । वीर्य अध्ययन मे वीर्यसम्बन्धी विवेचन है । धर्म अध्ययन मे सन्मति महावीर के धर्मों का प्ररूपण है । समाधि अध्ययन मे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप समाधि को उपादेय बताया है । मार्ग अध्ययन मे महावीरोक्त मार्ग को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित करते हुए अहिंसादि धर्मों का निरूपण है । समवसरण अध्ययन मे क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का खण्डन है। याथातथ्य अध्ययन मे उत्तम साधु आदि के लक्षण बताए गए है । ग्रन्थ अध्ययन मे साधुओ के आचार-विचार का वर्णन है । तीय अध्ययन मे स्त्रीसेवन आदि के त्याग का विधान हे । गाथा अध्ययन मे माहण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ की व्याख्या है । द्वितीय श्रुतस्कध मे सात अध्ययन हैं। पुण्डरीक अध्ययन मे इस लोक को पुष्करिणी की उपमा देते हुए तज्जीवतच्छरीरवाद, पचमहाभूतवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद एव नियतिवाद का खण्डन किया है । साधु को अशन, पान, खादिम, स्वादिम, इन चारो प्रकार के आहार के ग्रहण की शुद्ध विधि बताई है । क्रि अध्ययन मे १३ क्रियास्थानो का वर्णन है । इसी के अन्तर्गत भौम, उत्पाद, स्वप्न आदि ो का उल्लेख है। आहारपरिज्ञा अध्ययन मे ति, जलचर और पक्षियो आदि का वर्णन है। प्र नक्रिया अध्ययन मे जीवहिंसा हो जाने पर प्रत्याख्यान की आवश्यकता बताई गई है । र-श्रुत अध्ययन मे साधुओ के आचार का वर्णन है । पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, लोक-अलोक, साधु-असाधु आदि को स्वीकार न करने को, वहाँ अनाचार कहा है । छठे आर्द्रकीय अध्ययन मे गोशालक, शाक्यभिक्षु, ब्राह्मण, एकदण्डी और हस्तितापसो के साथ आर्द्रक मुनि का सवाद है। सातवें नालन्दीय अ मे गौतम गणधर का नालन्दा मे पार्श्वनाथ-शिष्य - पेढालपुत्र के साथ वाद-विवाद हुआ, उसका वर्णन है । अन्त मे पेढालपुत्र ने चातुर्याम धर्म का त्याग कर पचमहाव्रत स्वीकार किए ।

इस प्रकार सूत्रकृतागसूत्र के अध्ययनो का सक्षिप्त परिचय है । सूत्रकृतागसूत्र के अन्तर्गत समायित विषयो की एक सूची भी नन्दीसूत्र मे दी गई है । वह इस प्रकार है—

"से किं त सुयगडे ? सुयगडे ण लोए सुइज्जइ, अलोए , लोयालोए सु इ । जीवा सु ति, अजीवा सुइज्जति, जीवाजीवा ति । ससमए सुइज्जइ, परसमए सुइज्जइ, य-परसमए । असीयस्स किरिया- , ीईए अकिरियावाइएण सत्तट्ठीए अण्णानियवाईण बत्तीसाए वेणइयवाईण, तिण्हतिसट्ठीण पासडियतयाण वूह ि स ठाविज्जइ ।"

'भगवन् ! सूत्रकृत (सूचाकृत) क्या है ? सूत्रकृत मे लोक का स्वरूप सूचित किया गया है, अलोक का स्वरूप सूचित किया गया है, लोकालोक का स्वरूप सूचित किया गया है। इसमे जीव का स्वरूप सूचित किया गया है, अजीव का स्वरूप भी सूचित किया गया है, जीवाजीव का भी। स्वसमय सूचित किया गया है, परसमय भी सूचित किया गया है, स्व-पर-समय भी सूचित किया गया है। सूत्रकृताग मे १८० क्रियावादियो का, ८४ अक्रियावादियो का, ६७ अज्ञानवादियो का एव ३२ विनयवादियो का, यो ३६३ पाषडियो के सिद्धान्त का खण्डन करके स्वसिद्धान्त की स्थापना की गई है।

इस प्रकार सूत्रकृताग सूत्र की रचना बहुत ही महत्वपूर्ण घडियो मे हुई है, गणधरो ने भगवान् महावीर के उपदेश को यथातथ्यरूप मे अर्द्धमागधी (प्राकृत) भाषा मे निबद्ध करके सर्वसाधारण जिज्ञासुओ के सामने प्रस्तुत करके महान उपकार किया है।

सूत्रकृतागसूत्र पर श्री भद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति लिखी है। इस पर चूर्णि भी है। श्री शीलाकाचार्य ने वाहरिगणि की सहायता से इस शास्त्र पर टीका लिखी है, जो आज विशेष प्रचलित है। मुनि हर्षकुल एव साधुरग ने इस पर दीपिकाओ की रचना की है। हर्मन जेकोबी ने 'सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट' के ४५वे भाग मे इसका अँग्रेजी मे अनुवाद किया है। इस प्रकार सूत्रकृतागसूत्र प्राचीन-अर्वाचीन कई आचार्यो एव विशिष्ट श्रुतधर मुनियो के चिन्तन से समृद्ध है। भाषा और विषय निरूपण की शैली को देखते हुए इस सूत्र की गणना भी प्राचीनतम आगमो मे की जाती है।

शास्त्र की उपादेयता के लिये चार अनुबध

अगसूत्रो का प्ररूपण या अर्थ-कथन सीधे श्रमण भगवान महावीर स्वामी द्वारा किया गया है। बाद मे गणधरो ने इन्हे शब्दो मे सकलित-ग्रथित किया है। इसलिये इस शास्त्र की महत्ता और उपयोगिता मे कोई सन्देह नही रह जाता। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने इस सूत्रकृतागसूत्र को 'भगवान्' कहा है। इसका कारण यह है कि सर्वज्ञ श्रमण भगवान् महावीर द्वारा साक्षादुपदिष्ट होने से यह भगवान् का अग है। चूंकि 'ज्ञान' को ही तो भगवान् का अग कहा जा सकता है तथा भगवान् का अगभूत वह सूत्ररूप ज्ञान महान् अर्थ का बोधक होने से भगवान् के तुल्य माना जाय तो कोई अत्युक्ति नही। इसके अतिरिक्त जो शास्त्र अनेक बधनो मे जकडी हुई आत्माओ को देखकर परम करुणा और हितबुद्धि से प्रेरित होकर स्वय सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु के मुखारविन्द से नि सृत बोध-सूत्र के रूप मे प्राप्त है, और बन्धनो के कारण एव निवारणोपाय बताकर मोक्षपथ की ओर प्रत्येक मुमुक्षु एव

अध्ययन मे नरक के घोर दुखो का वर्णन है। वीरस्तुति अध्ययन मे भगवान महावीर को हस्तियो मे ऐरावण, मृगो मे मृगेन्द्र, नदियो मे गगा और पक्षियो मे की उपमा देते हुए लोक मे सर्वोत्तम बताया है। वीर्य अ मे वीर्यसम्बन्धी विवेचन है। धर्म अध्ययन मे सन्मति महावीर के धर्मों का ण है। समाधि अ न मे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप समाधि को उपादेय बताया है। मार्ग अ न मे महावीरोक्त मार्ग को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित करते हुए अहिंसादि धर्मों का निरूपण है। समवसरण अध्ययन मे क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का खण्डन है। या अध्ययन मे उत्तम साधु आदि के लक्षण बताए गए है। ग्रन्थ अध्ययन मे साधुओ के आचार-विचार का वर्णन है। तीय अध्ययन मे स्त्रीसेवन आदि के त्याग का विधान हे। गाथा अध्ययन मे माहण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ की व्याख्या है। द्वितीय श्रुतस्कध मे सात अध्ययन हैं। पुण्डरीक अध्ययन मे इस लोक को पुष्करिणी की उपमा देते हुए तज्जीवतच्छरीरवाद, पचमहाभूतवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद एव नियतिवाद का खण्डन किया है। साधु को अशन, पान, खादिम, स्वादिम, इन चारो प्रकार के आहार के ग्रहण की शुद्ध विधि बताई है। क्रि यान अध्ययन मे १३ क्रियास्थानो का वर्णन है। इसी के अन्तर्गत भौम, उत्पाद, स्वप्न आदि शास्त्रो का उल्लेख है। आहारपरिज्ञा अ मे ति, जलचर और पक्षियो आदि का वर्णन है। प्रत्याख्यानक्रिया अध्ययन मे जीवहिंसा हो जाने पर प्रत्याख्यान की आ ा बताई गई है। र-श्रुत अध्ययन मे साधुओ के आचार का वर्णन है। पुण्य-पाप, वन्ध मोक्ष, लोक-अलोक, साधु-असाधु आदि को स्वीकार न करने को, वहाँ अनाचार कहा है। छठे आर्द्रकीय अध्ययन मे गोशालक, शाक्यभिक्षु, ब्राह्मण, एकदण्डी और हस्तितापसो के साथ आर्द्रक मुनि का सवाद है। सातवें नालन्दीय अध्ययन मे गौतम गणधर का नालन्दा मे पार्श्वनाथ-शिष्य - पेढालपुत्र के साथ वाद-विवाद हुआ, उसका वर्णन है। अन्त मे पेढालपुत्र ने चातुर्याम धर्म का त्याग कर पचमहाव्रत स्वीकार किए।

इस प्रकार सूत्रकृतागसूत्र के अध्ययनो का सक्षिप्त परिचय है। सूत्रकृतागसूत्र के अन्तर्गत समायित विषयो की एक सूची भी नन्दीसूत्र मे दी गई है। वह इस प्रकार है—

"से कि त सुयगडे ? सुयगडे ण लोए सु , अलोए , लोयालोए सु इ। जीवा सु ति, अजीवा सुइज्जति, जीवाजीवा सुइज्जति। ससमए सुइज्जइ, परसमए सु , ससमय-परसमए । सु असीयस्स किरिया-वाइसयस्स, सीईए अकिरियावाइएण सत्तट्ठीए नियवाईण वत्तीसाए वेणइयवाईण, तिण्हतिसट्ठीण पासडियसयाण वूहं कि ससमए ठाविज्जइ।"

'भगवन् ! सूत्रकृत (सूत्राकृत) क्या है ? सूत्रकृत मे लोक का स्वरूप सूचित किया गया है, अलोक का स्वरूप सूचित किया गया है, लोकालोक का स्वरूप सूचित किया गया है। इसमे जीव का स्वरूप सूचित किया गया है, अजीव का स्वरूप भी सूचित किया गया है, जीवाजीव का भी। स्वसमय सूचित किया गया है, परसमय भी सूचित किया गया है, स्व-पर-समय भी सूचित किया गया है। सूत्रकृताग मे १८० क्रियावादियो का, ८४ अक्रियावादियो का, ६७ अज्ञानवादियो का एव ३२ विनयवादियो का, यो ३६३ पाषण्डियो के सिद्धान्त का खण्डन करके स्वसिद्धान्त की स्थापना की गई है।

इस प्रकार सूत्रकृताग सूत्र की रचना बहुत ही महत्वपूर्ण घडियो मे हुई है, गणधरो ने भगवान् महावीर के उपदेश को यथातथ्यरूप मे अर्द्धमागधी (प्राकृत) भाषा मे निबद्ध करके सर्वसाधारण जिज्ञासुओ के सामने प्रस्तुत करके महान उपकार किया है।

सूत्रकृतागसूत्र पर श्री भद्रबाहु स्वामी ने नियुक्ति लिखी है। इस पर चूर्णि भी है। श्री शीलाकाचार्य ने वाहरिगणि की सहायता से इस शास्त्र पर टीका लिखी है, जो आज विशेष प्रचलित है। मुनि हर्षकुल एव साधुरग ने इस पर दीपिकाओ की रचना की है। हर्मन जेकोबी ने 'सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट' के ४५वे भाग मे इसका अँग्रेजी मे अनुवाद किया है। इस प्रकार सूत्रकृतागसूत्र प्राचीन-अर्वाचीन कई आचार्यों एव विशिष्ट श्रुतधर मुनियो के चिन्तन से समृद्ध है। भाषा और विषय निरूपण की शैली को देखते हुए इस सूत्र की गणना भी प्राचीनतम आगमो मे की जाती है।

शास्त्र की उपादेयता के लिये चार अनुबन्ध

अगसूत्रो का प्ररूपण या अर्थ-कथन सीधे श्रमण भगवान महावीर स्वामी द्वारा किया गया है। बाद मे गणधरो ने इन्हे शब्दो मे सकलित-ग्रथित किया है। इसलिये इस शास्त्र की महत्ता और उपयोगिता मे कोई सन्देह नही रह जाता। नियुक्तिकार आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने इस सूत्रकृतागसूत्र को 'भगवान्' कहा है। इसका कारण यह है कि सर्वज्ञ श्रमण भगवान् महावीर द्वारा साक्षादुपदिष्ट होने से यह भगवान् का अग है। चूंकि 'ज्ञान' को ही तो भगवान् का अग कहा जा सकता है तथा भगवान् का अगभूत वह सूत्ररूप ज्ञान महान् अर्थ का बोधक होने से भगवान् के तुल्य माना जाय तो कोई अत्युक्ति नही। इसके अतिरिक्त जो शास्त्र अनेक बन्धनो मे जकडी हुई आत्माओ को देखकर परम करुणा और हितबुद्धि से प्रेरित होकर स्वय सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु के मुखारविन्द से नि सृत बोध-सूत्र के रूप मे प्राप्त है, और बन्धनो के कारण एव निवारणोपाय बताकर मोक्षपथ की ओर प्रत्येक मुमुक्षु एव

जिज्ञासु साधक को ले जाने वाला है, वह नि सन्देह उपादेय है। फिर भी सर्व-साधारण जिज्ञासुओ और साधको तथा पाठको और श्रोताओ के लिये इस शास्त्र की सार्वभौम उपादेयता के लिये प्रत्येक शास्त्र के प्रारम्भ मे चार प्रकार का अनुबन्ध बताना आवश्यक होता है।

किसी भी शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन या -मनन मे प्रवृत्ति तभी होती है, जब उसको उसमे प्ररूपित विषय, उसके प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध का अच्छी तरह ज्ञान हो। अर्थात् शास्त्र मे प्रवृत्ति करने की प्रेरणा देने वाला ज्ञान अनुबध कहलाता है। वह चार प्रकार का है—विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन।

इस शास्त्र मे किन-किन विषयो का वर्णन है, यह पहले बताया जा चुका है। इस सूत्र के पठन-पाठन या श्रवण-मनन के अधिकारी श्रमण-श्रमणी एव श्रद्धालु श्रोता है। जो व्यक्ति अहर्निश सासारिक लुभावनी मोहमाया के भँवरजाल मे ही फँसा रहता है तथा रात-दिन महारभ एव महापरिग्रह[1] मे रचा-पचा रहता है, वह इस शास्त्र के पठन-श्रवण का अधिकारी नही हो सकता। बल्कि यो कहना चाहिए कि ऐसे महारभी, महापरिग्रही एव बन्धनो मे चारो ओर से हुए व्यक्ति को शास्त्र के श्रवण, मनन एव पठन की जिज्ञासा या इच्छा भी नही होती। इस सूत्र के साथ हमारा प्रेर्य-प्रेरकभाव सम्बन्ध है। यह शास्त्र प्रेरक है यानी आत्मा को जकड कर पराधीन बनाने वाले धनो एव उनके कारणो मे दूर रखने और उन बधनो से दूर रहकर मोक्ष मार्ग में होने की प्रेरणा देता है, और जिस व्यक्ति को प्रेरणा दी जाती है, वह जिज्ञासु या मुमुक्षु प्रेर्य है अथवा उपायोपेयभाव सम्बन्ध है। यह शास्त्र बन्धनो से निवृत्ति और मुक्ति मे प्रवृत्ति का उपाय बताता है और जिसे उपाय बताता है या जो उपाय को ग्रहण है, वह उपेय कहलाता है। इस का मुख्य प्रयोजन जीवो को अपनी अज्ञानता के कारण आत्मस्वरूप को भूले हुए जीवो को बोध प्राप्त करने की प्रेरणा देना, बन्धनो और बन्धनो के कारणो का बोध देकर उनसे मुक्त होने के पुरुषार्थ मे करना है। साराश यह है कि ससारी जीव बधनो को हेय समझकर उपादेयरूप सवर, निर्जरा और मोक्ष मे प्रवृत्ति करें, यही इस शास्त्र की रचना का मुख्य प्रयोजन है।

शास्त्र की उपादेयता के पाँच निमित्त

किसी भी शास्त्र या ग्रन्थ की उपादेयता के ५ निमित्त होते है—(१) पूर्वा-

---

१ दो ठाणे अपरियणित्ता आया णो केवलि धम्म लभेज्ज सवणयाए—त जहा—आरभे चेव परिग्गहे चेव। — गसूत्र

पर सम्बन्ध, (२) उसका प्रतिपाद्य विषय, (३) उसकी सुगमता से प्राप्ति, (४) आप्त द्वारा उसकी रचना और (५) इष्ट प्रयोजन ।

(१) जिस शास्त्र मे पूर्वापर सम्बन्ध नही होता, वह उन्मत्त वचन की तरह आदरणीय नही होता । प्रस्तुत शास्त्र सूत्रकृताग मे पूर्वापरसम्बद्ध वचन हैं । प्रथम अध्ययन की पहली गाथा मे जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न है—'किमाह बधण वीरो ?' उसी के सन्दर्भ मे बधनो के कारण और निवारण के उपाय के सम्बन्ध मे अन्त तक विभिन्न पहलुओ से कहा गया है । (२) जिस शास्त्र मे वास्तविक वस्तु का वर्णन न होकर 'आकाश के फूलो का सेहरा बाँधकर वन्ध्यापुत्र विवाह करने जा रहा है' इत्यादि वाक्यो की तरह ऊटपटाग बाते लिखी गई हो, अथवा जिस शास्त्र मे जीवन की वास्तविक समस्या को हल करने वाली बातें न हो, वह शास्त्र भी उपादेय नही होता । जैसे वैदिक ग्रन्थो मे यह विधान 'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेयाताम् ।' "स्त्री और शूद्र को वेद का अध्ययन नही करना चाहिए ।" अगर वेद धर्मशास्त्र है, जीवन को उन्नति-पथ पर ले जाने वाला है, तो स्त्री-शूद्र के लिये उसके अध्ययन का निषेध क्यो ? किन्तु सूत्रकृतागसूत्र मे समस्त प्रतिपाद्य विषय वास्तविक तथ्य से, कर्मबधन से मुक्ति की समस्या से सम्बन्धित है । (३) इसी तरह जिस शास्त्र मे प्रतिपादित विषय या दोषनिवारणोपाय सर्वसुलभ या बोधगम्य न होकर 'तक्षकसर्प के मस्तक मे स्थित मणि का आभूषण बनाकर पहनने से सब प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते हैं' के समान दुर्गम एव दुरूह उपाय बताये गये हो, उन्हे भी सज्जन लोग नही अपनाते । प्रस्तुत शास्त्र मे प्रतिपादित वर्णन अनुभवयुक्त, सुलभ और सर्वजनग्राह्य है । इन्हे पढ-सुन कर प्रत्येक व्यक्ति आसानी से हृदयगम कर सकता है और बधन-निवारण कर सकता है । (४) तथा जो शास्त्र वीतराग, नि स्वार्थ, हितोपदेशक, लोकोत्तर आप्तपुरुषो द्वारा रचित नही होता, वह भी, जैसे कोई रास्ता चलता मनचला किन्ही बालको से यह कहे कि 'दौडो-दौडो, बालको, इस पीपल मे देवता रहते है, वे सोना दे देगे' इत्यादि वाक्यो की तरह विश्वसनीय नही होता । यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि यह शास्त्र अर्थरूप मे अर्हत्कथित तथा सूत्ररूप मे गणधर-रचित है, इसलिये इसमे प्रतिपादित विषय अविश्वसनीय नही है । (५) इसी प्रकार 'पुत्रोत्पत्ति के लिये माता के साथ विवाह करो' या 'सुखवृद्धि के लिये दूसरो को लूटो-खसोटो' इत्यादि वचनो की तरह अनिष्ट प्रयोजन वाले शास्त्र (प्रवचन) सत्पुरुषो द्वारा अग्राह्य होते है । इस शास्त्र मे 'बुज्झिज्जत्ति' इत्यादि पदो द्वारा बधनो एव उनके कारणो को मिटाकर मोक्ष-प्राप्ति-रूप इष्ट प्रयोजन सूचित किया गया है । इसलिए यह शास्त्र पाँचो निमित्तो की दृष्टि से उपादेय है ।

प्रथम अध्ययन

समय : प्रथम अध्ययन—एक विश्लेषण

अब प्रसगवश सूत्रकृताग सूत्र के प्रथम अध्ययन का कुछ विश्लेषण करना आवश्यक है।

नामनिष्पन्न निक्षेप के अनुसार इस अध्ययन का गुणसम्पन्न नाम 'समय' है। 'अमरकोप' के अनुसार समय शब्द शपथ, आचार, काल, सिद्धान्त, सकेत, प्रतिज्ञा आदि अर्थो मे प्रयुक्त होता है।[1] प्रश्न यह है कि यहाँ इस समय अध्ययन मे 'समय' किस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है? जैन आगमकार एक-एक शब्द का नाप-तौल कर प्रयोग करते है, वे निक्षेप के द्वारा एक विशिष्ट शैली से समय का विश्लेपण करके प्रसगवश यहाँ 'सिद्धान्त' मे उसका प्रयोग होना सूचित करते हैं। आगमकारों की विश्लेपण-पद्धति के अनुसार 'समय' का निक्षेप १२ प्रकार का होता है—(१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य, (४) क्षेत्र, (५) काल, (६) कुतीर्थ, (७) सगार, (८) कुल, (९) गण, (१०) सकर, (११) गण्डी और (१२) भाव।

नामसमय—किसी का नाम 'समय' रख दिया, तदनुसार गुण उसमे नही होता वह 'नामसमय' है। स्थापनासमय—'समय' की आकृति, प्रतीक, चित्र या अक्षर के रूप मे स्थापना करना। द्रव्यसमय—द्रव्य के सम्यक अयन यानी परिणाम-विशेष—स्वभाव को द्रव्य-समय कहते हैं। जैसे—जीव द्रव्य का स्वभाव उपयोग है, पुद्गल द्रव्य का स्वभाव मूर्तत्व है। गति, स्थिति और अवकाश देना, क्रमश धर्म, अधर्म और आकाश-द्रव्य का स्वभाव है। कालसमय—जिस द्रव्य के उपयोग के योग्य जो काल है, वह उसका काल-समय है। जैसे वर्षा ऋतु मे नमक, शरद ऋतु मे जल। अथवा कमल के सौ पत्तो के बीधने से व्यक्त होने वाले काल-विशेप को भी काल-समय कहते है। क्षेत्रसमय—क्षेत्र का अर्थ है—आकाश। आकाश के स्वभाव को

---

१ 'समया शपथाचारकालसिद्धान्तसविद' इत्यमर।

क्षेत्रसमय कहते है। आकाश एक परमाणु से भी पूर्ण होता है, दो से भी और सौ लाख से भी पूर्ण होता है। अथवा जिस क्षेत्र या प्रदेश (प्रान्त या राष्ट्र) का जो स्वभाव है, उसे भी क्षेत्र-समय कहते हैं। देवकुरु आदि क्षेत्रो का स्वभाव है कि उनमे रहने वाले प्राणी बडे सुखी, सुन्दर एव निर्वैर होते है अथवा धान्यादि बोने के लिए खेत को शुद्ध करने का जो अवसर होता है, उसे भी क्षेत्रसमय कहते है। कुतीर्थसमय—पाखण्डियो का अपना-अपना आगम विशेष 'कुतीर्थ समय' कहलाता है। अथवा पाखण्डियो के आगमो मे उक्त अनुष्ठान विशेष को भी 'कुतीर्थ समय' कहते हैं। सगारसमय—सगार का अर्थ है—सकेत। सकेत रूप जो समय है, उसे सगारसमय कहते हैं। जैसे सिद्धार्थ सारथि देव ने पूर्व सकेतानुसार हरि के शव को ग्रहण किये हुये बलदेव को प्रतिबोध दिया था। समय कुल के आचार को कहते हैं। जैसे पितृ शुद्धि शक जाति का तथा मथनिका शुद्धि अहीर जाति का कुलाचार है। गणसमय—किसी सघ का आचार 'गणसमय' कहलाता है। जैसे मल्ल लोगो का आचार था कि जो अनाथ मल्ल मर जाता है, उसका दाह सस्कार भी मल्ल लोग ही करते है। सकरसमय—सकर का अर्थ है—विभिन्न जाति वालो का सम्मिलन। उस सकर का, विभिन्न जाति समूह का—एकमत होकर रहना सकरसमय है। जैसे वाममार्गी विभिन्न जातीय होते हुए भी अनाचार करने मे एकमत होते हैं। गडीसमय—विभिन्न सम्प्रदायो की प्रथा को 'गडी समय' कहते हैं, जैसे शाक्य लोग भोजन के समय गडी का ताडन करते हैं। भावसमय—विभिन्न अनुकूल एव प्रतिकूल सिद्धान्तो को भावसमय कहते है।

प्रस्तुत अध्ययन 'समय' मे भावसमय का ही ग्रहण किया गया है, शेष समयो का यहाँ प्रसग नही है, इसलिए यहाँ भावसमय को छोडकर शेष पूर्वोक्त विभिन्न समय केवल ज्ञेय हैं, उपादेय नही है।

प्रथम अध्ययन के उद्देशक और अर्थाधिकार

'समय' नामक प्रथम अध्ययन मे चार उद्देशक है। प्रथम उद्देशक मे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये सर्वलोकव्यापी पचमहाभूत है, यह प्रथम अर्थाधिकार है। चेतन और अचेतन (जड) ये सभी पदार्थ आत्मा के परिणाम हैं, इस प्रकार आत्माद्वैतवाद का प्रतिपादक दूसरा अर्थाधिकार है। 'वही जीव है, वही शरीर है' यानी जीव और शरीर एक है, यह तीसरा अर्थाधिकार है। तथा पुण्य और पाप आदि सभी क्रियाओ को जीव नही करता, इस प्रकार कहने वाले वादी का चौथा अर्थाधिकार है। पाँच महाभूत और छठा आत्मा है, यह पाँचवाँ अर्थाधिकार है। किसी भी क्रिया का फल नही होता, इस मत का जिसमे प्रतिपादन किया गया है, यह छठा अर्थाधिकार है।

दूसरे उद्देशक मे चार अर्थाधिकार है—पहले अधिकार मे नियतिवाद का कथन है, दूसरे अधिकार मे अज्ञानवाद का और तीसरे मे ज्ञानवाद का कथन है। चौथे अधिकार मे वताया गया हे कि शाक्यो (बौद्धो) के आगम मे यह कथन है कि चार प्रकार का कर्म उपचय (बन्धन) को प्राप्त नही होता। जैसे—(१) अविज्ञोपचित कर्म—अविज्ञा—अविद्या=अज्ञान के वश भूल से हुआ कर्म अविज्ञोपचित कर्म कहलाता है। जैसे माता के स्तन आदि से दबकर पुत्र की मृत्यु होने पर भी अज्ञान के कारण माता को कर्म का उपचय नही होता। इसी तरह भूल से जीवहिंसा आदि होने पर कम का उपचय नही होता। (२) परिज्ञोपचित कर्म—केवल मन के द्वारा चिन्तन करना परिज्ञा कहलाता है। किसी प्राणी का घात न हो, केवल मन के द्वारा परिज्ञा (घात का चिन्तन) होने से कर्म का उपचय नही होता। (३) ईर्य्याप्रत्यय कर्म—ईर्य्या (मार्ग मे आवागमन) से जो जीवहिंसा होती है, उससे भी कर्म का उपचय नहीं होता, क्योकि मार्ग मे जाने-आने वाले का अभिप्राय जीवघात का नही होता। (४) स्वप्नान्तिक कर्म—जैसे स्वप्न मे भोजन करने से तृप्ति नही होती, वैसे ही स्वप्न मे किये हुये जीवहिंसा आदि से कर्म का उपचय नही होता।

तृतीय उद्देशक मे आधाकर्मी आहार का विचार किया गया है और उस सदोप आहारकर्ता साधु को दोपयुक्त वताया गया है तथा कृतवादी का मत भी वताया गया है। कोई इस लोक को ईश्वरकृत और कोई प्रधानादिकृत मानते हैं। वे प्रावादुक अपने-अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए किस प्रकार उपस्थित होते है ? यह भी इस उद्देशक का दूसरा अर्थाधिकार है।

चतुर्थ उद्देशक का अर्थाधिकार यह है कि अविरत यानी गृहस्थो मे जो असयम प्रधान अनुष्ठान होते है, प्राय वे ही परतीर्थिको मे होते है। इसलिये परतीर्थिक भी प्राय. अविरत के तुल्य ही होते हैं। अन्त मे अविरति रूप कर्म बन्धन के कारण मे बचने के लिये अहिंसा, समता, कपायविजय आदि स्वसमय का प्रतिपादन करते है।

पूर्वोक्त उपोद्घात के द्वारा सूत्रकृताग-सूत्र की पृष्ठभूमि, सार्थकता, रचना, रचनाकार की भावभूमि, सूत्र की नित्यता, सूत्रकृताग के अध्ययनो और विपयो का परिचय, इसकी उपादेयता के चार अनुबधो और पाँच निमित्तो का तथा प्रथम अध्ययन का विश्लेपण-विवेचन पढने के बाद सहसा जिज्ञासा होती है कि प्रथम अध्ययन मे क्या भाव है ? अत अब प्रथम अध्ययन प्रारम्भ करते है—

प्रथम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

स्व -वक्तव्यताधिकार

मूल पाठ

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बधण वीरो, किं वा जाण तिउट्टइ ? ॥१॥

त छाया

बुध्येत त्रोटयेत् बन्धन परिज्ञाय ।
किमाह बन्धन वीर , कि वा जानस्त्रोटयति ? ॥१॥

अन्वयार्थ

(बुज्झिज्जत्ति) मनुष्यो को बोध प्राप्त करना चाहिए । (बधण परिजाणिया) बन्धन को जानकर, (तिउट्टिज्जा) उसे तोडना चाहिए । (वीरो) वीरप्रभु ने (बधण किमाह) बन्धन का स्वरूप क्या बताया है ? (वा) और (किं जाण) क्या जानता हुआ पुरुष (तिउट्टइ) बन्धन को तोडता है ?

र्थ

मनुष्यो को बोध प्राप्त करना चाहिए, तथा बन्धन का स्वरूप जान कर उसे तोडना चाहिए । वीरप्रभु ने बन्धन का स्वरूप क्या बताया है ? और किसको जानकर जीव बन्धन को तोडता है ।

व्याख्या

सूत्रकृतागसूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक मे सर्वप्रथम बोध प्राप्त करने की बात कही है । सूत्रकृत शब्द का अर्थ गणधर होने से, गणधरो ने भगवान महावीर से इस शास्त्र को ग्रहण किया था । अत गणधर ही वास्तव मे इस सूत्र के उपदेष्टा है । वे अपनी नम्रता प्रदर्शित करने के लिये अपने शिष्यो द्वारा पूछे जाने पर भगवान महावीर के द्वारा प्राप्त उपदेश (बोध) को उनके समक्ष प्रकट करते हैं । वह उपदेश क्या और कौन सा है ? इसके लिये सर्वप्रथम बोध प्राप्त करने का निर्देश करते है ।

बोध ही मनुष्य के लिये सबसे महत्वपूर्ण

इस जीव को मनुष्य जन्म प्राप्त करने से पहले निगोद व एकेन्द्रिय के भव मे कोई बोध प्राप्त नही हो सका, क्योकि एकेन्द्रिय जीवो की चेतना अत्यन्त सुषुप्त

दूसरे उद्देशक मे चार अर्थाधिकार है—पहले अधिकार मे नियतिवाद का कथन है, दूसरे अधिकार मे अज्ञानवाद का और तीसरे मे ज्ञानवाद का कथन है। चौथे अधिकार मे बताया गया है कि शाक्यो (बौद्धो) के आगम मे यह कथन है कि चार प्रकार का कर्म उपचय (बधन) को प्राप्त नही होता। जैसे—(१) अविज्ञोपचित कर्म—अविज्ञा—अविद्या=अज्ञान के वश भूल से हुआ कर्म अविज्ञोपचित कर्म कहलाता है। जैसे माता के स्तन आदि से दबकर पुत्र की मृत्यु होने पर भी अज्ञान के कारण माता को कर्म का उपचय नही होता। इसी तरह भूल से जीव-हिंसा आदि होने पर कर्म का उपचय नही होता। (२) परिज्ञोपचित कर्म—केवल मन के द्वारा चिन्तन करना परिज्ञा कहलाता है। किसी प्राणी का घात न हो, केवल मन के द्वारा परिज्ञा (घात का चिन्तन) होने से कर्म का उपचय नही होता। (३) ईर्य्याप्रत्यय कर्म—ईर्य्या (मार्ग मे आवागमन) से जो जीवहिंसा होती है, उससे भी कर्म का उपचय नही होता, क्योकि मार्ग मे जाने-आने वाले का अभिप्राय जीवघात का नही होता। (४) स्वप्नान्तिक कर्म—जैसे स्वप्न मे भोजन करने से तृप्ति नही होती, वैसे ही स्वप्न मे किये हुये जीवहिंसा आदि से कर्म का उपचय नही होता।

तृतीय उद्देशक मे आधाकर्मी आहार का विचार किया गया है और उस सदोष आहारकर्ता साधु को दोषयुक्त बताया गया है तथा कृतवादी का मत भी बताया गया है। कोई इस लोक को ईश्वरकृत और कोई प्रधानादिकृत मानते है। वे प्रावादुक अपने-अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए किस प्रकार उपस्थित होते हैं ? यह भी इस उद्देशक का दूसरा अर्थाधिकार है।

चतुर्थ उद्देशक का अर्थाधिकार यह है कि अविरत यानी गृहस्थो मे जो असयम प्रधान अनुष्ठान होते है, प्राय वे ही परतीर्थिको मे होते है। इसलिये पर-तीर्थिक भी प्राय. अविरत के तुल्य ही होते हैं। अन्त मे अविरति रूप कर्म बन्धन के कारण से बचने के लिये अहिंसा, समता, कषायविजय आदि स्वसमय का प्रतिपादन करते है।

पूर्वोक्त उपोद्घात के द्वारा सूत्रकृताग-सूत्र की पृष्ठभूमि, सार्थकता, रचना, रचनाकार की भावभूमि, सूत्र की नित्यता, सूत्रकृताग के अध्ययनो और विषयो का परिचय, इसकी उपादेयता के चार अनुबधो और पाँच निमित्तो का तथा प्रथम अध्ययन का विश्लेषण-विवेचन पढने के बाद सहसा जिज्ञासा होती है कि प्रथम अध्ययन मे क्या भाव है ? अत अब प्रथम अध्ययन प्रारम्भ करते है—

प्रथम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

स्वसमय-वक्तव्यताधिकार

मूल पाठ

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बधण वीरो, किं वा जाण तिउट्टइ ? ॥१॥

सं त छाया

बुध्येत त्रोटयेत् बन्धन परिज्ञाय ।
किमाह बन्धन वीर , कि वा जानस्त्रोटयति ? ॥१॥

अन्वयार्थ

(बुज्झिज्जत्ति) मनुष्यो को बोध प्राप्त करना चाहिए । (बधण परिजाणिया) बन्धन को जानकर, (तिउट्टिज्जा) उसे तोडना चाहिए । (वीरो) वीरप्रभु ने (बधण किमाह) बन्धन का स्वरूप क्या वताया है ? (वा) और (किं जाण) क्या जानता हुआ पुरुष (तिउट्टइ) बन्धन को तोडता है ?

भावार्थ

मनुष्यो को वोध प्राप्त करना चाहिए, तथा बन्धन का स्वरूप जान कर उसे तोडना चाहिए । वीरप्रभु ने बन्धन का स्वरूप क्या वताया है ? और किसको जानकर जीव बन्धन को तोडता है ।

व्याख्या

सूत्रकृतागसूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक मे सर्वप्रथम बोध प्राप्त करने की बात कही है । सूत्रकृत शब्द का अर्थ गणधर होने से, गणधरो ने भगवान महावीर से इस शास्त्र को ग्रहण किया था । अत गणधर ही वास्तव मे इस सूत्र के उपदेष्टा हैं । वे अपनी नम्रता प्रदर्शित करने के लिये अपने शिष्यो द्वारा पूछे जाने पर भगवान महावीर के द्वारा प्राप्त उपदेश (वोध) को उनके समक्ष प्रकट करते है । वह उपदेश क्या और कौन सा है ? इसके लिये सर्वप्रथम बोध प्राप्त करने का निर्देश करते हैं ।

बोध ही मनुष्य के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण

इस जीव को मनुष्य जन्म प्राप्त करने से पहले निगोद व एकेन्द्रिय के भव मे कोई वोध प्राप्त नही हो सका, क्योकि एकेन्द्रिय जीवो की चेतना अत्यन्त सुषुप्त

रहती है। कुछ पुण्य राशि बढने पर एकेन्द्रिय से क्रमश द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तक पहुँचा, किन्तु इन भवो मे भी यद्यपि चेतना का विकास तो उत्तरोत्तर बढा, मगर इतना चेतना का विकास होने पर भी अपने स्वरूप का बोध प्राप्त होना दु शक्य था। अत अपने स्वरूप का—आत्मा का – भान होना इन विकलेन्द्रिय जीवयोनियो मे जन्म लेने पर भी असभव था, अत बोध न हो सका। इसके बाद तिर्यंच पचेन्द्रिय मे जन्म ग्रहण किया, लेकिन वहाँ भी असज्ञी जीव को बोध होना दु शक्य था, क्योकि असज्ञी के द्रव्यमन न होने से वह स्पष्ट विचार नही कर सकता। तिर्यंन्च पचेन्द्रिय सज्ञी जीवयोनि मे जन्म लेने पर भी किसी-किमी जीव को, पूर्वजन्मकृत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमवश बोध हो सकता है, जैसे ज्ञातासूत्र मे वर्णित 'नन्दनमणिहार' के जीव को मेढक की योनि मे जन्म लेने पर पूर्व जन्म के स्मरण होने से बोध हो गया था, और उमी बोध के फलस्वरूप उसने स्वय श्रावक व्रत ग्रहण किये तथा भगवान महावीर के दर्शनाथ ॰ ता हुआ जाने लगा। कई हाथियो, बैलो, कुत्तो, घोडो आदि पशुओ को पूर्वजन्म के स्मरणवश कभी-कभी यत्किंचित् बोध हो जाता है, परन्तु वह भी किसी विरले ही तिर्यंन्च जीव को होता है। इसलिये कहना चाहिए कि तिर्यंन्च पचेन्द्रिय मे भी बोध होना अत्यन्त दुर्लभ है। इसके पश्चात असीम पुण्यपुज एकत्रित होने पर मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ, किन्तु मनुष्य जन्म मिलने के बावजूद भी अगर अनार्य क्षेत्र, अनार्यकुल मे किसी हिंमक पापात्मा के यहाँ जन्म हुआ तो वहाँ भी आत्मबोध प्राप्त होना प्राय अत्यन्त दुर्लभ होता है क्योकि वहाँ का वातावरण ही प्राय अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ के प्रति मोह, ममत्व या स्वार्थ का होता है। उन मनुष्यो को यह भान ही नही होता कि मैं कौन हूँ ? मेरी आत्मा इस मनुष्य जन्म मे कैसे आई है ? अब आगे मुझे क्या करना चाहिए ? मेरी आत्मा के विकास के लिये साधक-बाधक कौन-कौन से तत्त्व हैं ? इस प्रकार का बोध भी पूर्वजन्मकृत पुण्य तथा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मिलता है। मनुष्य जन्म मे आर्यक्षेत्र मिला, परन्तु उत्तम कुल नही मिला, उत्तम कुल प्राप्त हुआ, किन्तु पाँचो इन्द्रियाँ या शरीर के अगोपाग पूर्ण और स्वस्थ और सशक्त न मिले तो फिर वही समस्या सामने आकर खडी हो गई। ये सब सयोग तो मिले किन्तु दीर्घ आयुष्य न मिला, बोध (समझ) पाने के योग्य वय होने से पहले ही इस ससार से चल बसे, अथवा जन्म लेते ही रोग लग गया, या बोध प्राप्ति की क्षमता के योग्य होने से एक दो

वर्ष पहले ही असाध्य रोग से ग्रस्त हो गए तो फिर वही बोधदुर्लभता[1] सामने आ गई।

इसीलिये सूत्रकार गणधर भगवान महावीर के उपदेश को भव्यजीव के समक्ष दोहराते हैं 'बुज्झिज्जत्ति' अर्थात मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि पूर्वोक्त कारणो से एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक और मनुष्य जन्म तक कितने-कितने जन्म हो गए होगे, जिनमे बोध की एक बूंद भी नही मिल सकी, और अब मनुष्य जन्म मिला है, उत्तम शरीर मिला है तथा आर्यक्षेत्र, आर्यकुल, स्वस्थ इन्द्रियाँ, तन-मन एव दीर्घ आयुष्य मिला तो इनमे सबसे दुर्लभ, सर्वश्रेष्ठ एव महत्त्वपूर्ण वस्तु बोध है, उसे प्राप्त करने का प्रयास करो। यह इस विधि-पद का रहस्य है।

बोध क्या और किसका ?

अब इसी पद मे गर्भित प्रश्न उठते है—बोध क्या है, जिसे प्राप्त करने के लिये भगवान् महावीर का उपदेश है ? तथा बोध किसका प्राप्त करना चाहिए ? ये दोनो प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और इन्ही दो प्रश्नो रूपी खभो पर उद्देशकरूपी प्रासाद खडा है।

यद्यपि इसी गाथा मे आगे चलकर केवल बन्धन का बोध करने की बात सूचित की है, तथापि भगवान महावीर का आशय सर्वप्रथम तो आत्मबोध करने से है। इतने योग्यतम सुदुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर यदि अब भी आत्मस्वरूप का बोध[2] प्राप्त नही किया तो फिर यह अवसर बार-बार नही मिलेगा। यदि तुम यह सोचते हो कि इस जन्म मे तो विषयभोग का आनन्द लूट लें, अगले जन्म मे

---

१ देखिये भगवान महावीर द्वारा आगमो मे प्ररूपित बोधिदुर्लभता के उद्धरण—'सबोही खलु दुल्लहा'—बोधि (सम्यक्ज्ञान और सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। (सूत्र० २, अ० १, उ० १) 'णो सुलह बोहिं च आहिय' बोधि सुलभ नही बताई है। (सूत्र० २, ११, उ० ३) 'सुदुल्लह लहिउ बोहिलाभ विहरेज्ज' सुदुर्लभ बोधि को प्राप्त करके आत्मकल्याण के मार्ग पर विचरण करो। (आ० १७, १) 'बहु लेव लित्ताण बोही होइ ल्लहा'—भारी कर्मो से लिप्त भोगो मे ग्रस्त जीवो को बोध प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। (उ० ८, १५)

२ सबुज्झह किं न बुज्झह, सबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
—सबोध प्राप्त करो, सम्बोध प्राप्त क्यो नही करते हो ? परलोक मे सम्बोधि अवश्य ही दुर्लभ है।

बोध प्राप्त कर लेगे, अथवा अभी क्या जल्दी है ? अभी तो बचपन है, खेलने-कूदने के दिन है, या अभी तो यौवन है, आमोद प्रमोद मे जीवन मे जीवन बिताने का समय है, बुढापा आएगा तब बोध प्राप्त कर लेंगे, यह सरासर भ्रान्ति है। क्षणिक जीवन का कोई भरोसा नही है और अगले जन्म मे भी सम्बोधि प्राप्त होने की कोई गारन्टी नही है। अत अभी से, इसी जन्म मे सम्बोधि प्राप्त करने का प्रयत्न करो, यह भगवान महावीर के उपदेश का आशय है।

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि एकेन्द्रिय जीवो को तो छोड दे, क्योकि उनमे तो चेतना अत्यन्त सुपुप्त होती है, द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तिर्यन्च तक के जीवो मे तो चेतना उत्तरोत्तर विकसित होती है और प्राय देखा जाता है कि इन त्रस जीवो मे भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सन्तान-पोपण आदि का बोध होता है। एक छोटी से छोटी चीटी को भी यह बाध हो जाता है कि अमुक जगह मेरे लिये आहार पडा है, अमुक दिन वर्षा होने वाली है, मुझे चौमासेभर के लिये आहार सग्रह कर लेना चाहिए, इत्यादि। हाथी, गाय, भैस, घोडे आदि विशालकाय जानवरो मे तो काफी बोध होता है। ये अपने मालिक को और उसके परिवार को, अपने विरोधी एव प्रेमी को और अपने आवास स्थान को जान लेते है। अपनी प्रशसा, निन्दा और भर्त्सना का भी इन्हे बोध हो जाता है। क्या इसी को बोध नही कहा जा सकता ? या बोध से भगवान महावीर का आशय कुछ और है ?

यद्यपि 'बुध्यतेऽनेनेति बोध' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे जाना जाय उसे बोध कहते हैं, परन्तु इस प्रसग मे भगवान महावीर का ऐसे बोध से मतलब नही है। उनका तात्पर्य ऐसे बोध से है, जो आत्मा से सम्बन्धित हो, जैसा कि आचारागसूत्र के प्रथम श्रुतस्कध के प्रथम अध्ययन के प्रारम्भ मे कहा गया है—

"अत्थि मे आया उववाइए ? णत्थि मे आया ।इए ? के वा अहमसि ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?"

अर्थात्—"मेरी आत्मा यहाँ से दूसरे लोक मे जाती है या नही ? मैं कौन हूँ ? भूतकाल मे मैं कौन था ? मैं यहाँ से मृत्यु होने के बाद परलोक मे क्या होऊँगा ?"

इसी आशय की पक्तियाँ अध्यात्मयोगी श्रीमद् राजचन्द्र की मिलती है—

हु कोण छु ? क्याथी थयो ? शु छे म्हारू खरू ?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे ? राखु के ए परिहरू ?

"मैं कौन हूँ ? मै कहाँ से कैसे मनुष्य रूप मे पैदा हुआ ? मेरा असली

बोध प्राप्त कर लेंगे, अथवा अभी क्या जल्दी है ? अभी तो बचपन है, खेलने-कूदने के दिन है, या अभी तो यौवन है, आमोद प्रमोद मे जीवन मे जीवन बिताने का समय है, बुढापा आएगा तब बोध प्राप्त कर लेंगे, यह सरासर भ्रान्ति है। क्षणिक जीवन का कोई भरोसा नही है और अगले जन्म मे भी सम्बोधि प्राप्त होने की कोई गारन्टी नही है। अत अभी से, इसी जन्म मे सम्बोधि प्राप्त करने का प्रयत्न करो, यह भगवान महावीर के उपदेश का आशय है।

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि एकेन्द्रिय जीवो को तो छोड दे, क्योकि उनमे तो चेतना अत्यन्त सुपुप्त होती है, द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तिर्यन्च तक के जीवो मे तो चेतना उत्तरोत्तर विकसित होती है और प्राय देखा जाता है कि इन त्रस जीवो मे भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सन्तान-पोपण आदि का बोध होता है। एक छोटी से छोटी चीटी को भी यह बोध हो जाता है कि अमुक जगह मेरे लिये आहार पडा है, अमुक दिन वर्षा होने वाली है, मुझे चौमासेभर के लिये आहार सग्रह कर लेना चाहिए, इत्यादि। हाथी, गाय, भैस, घोडे आदि विशालकाय जानवरो मे तो काफी बोध होता है। ये अपने मालिक को और उसके परिवार को, अपने विरोधी एव प्रेमी को और अपने आवास स्थान को जान लेते है। अपनी प्रशसा, निन्दा और भर्त्सना का भी इन्हे बोध हो जाता है। क्या इसी को बोध नही कहा जा सकता ? या बोध से भगवान महावीर का आशय कुछ और है ?

यद्यपि 'बुध्यतेऽनेनेति बोध' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे जाना जाय उसे बोध कहते हैं, परन्तु इस प्रसग मे भगवान महावीर का ऐसे बोध से मतलब नही है। उनका तात्पर्य ऐसे बोध से है, जो आत्मा से सम्बन्धित हो, जैसा कि आचारागसूत्र के प्रथम श्रुतस्कध के प्रथम अध्ययन के प्रारम्भ मे कहा गया है—

"अत्थि मे आया उववाइए ? णत्थि मे आया उववाइए ? के वा अहमसि ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?"

अर्थात्—"मेरी आत्मा यहाँ से दूसरे लोक मे जाती है या नही ? मैं कौन हूँ ? भूतकाल मे मैं कौन था ? मैं यहाँ से मृत्यु होने के बाद परलोक मे क्या होऊँगा ?"

इसी आशय की पक्तियाँ अध्यात्मयोगी श्रीमद् राजचन्द्र की मिलती है—

हु कोण छु ? क्याथी थयो ? शु छे म्हारू खरू ?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे ? राखु के ए परिहरू ?

"मैं कौन हूँ ? मै कहाँ से कैसे मनुष्य रूप मे पैदा हुआ ? मेरा असली

स्वरूप क्या है ? मैं अपने असली स्वरूप को छोडकर किसके साथ सम्बन्धित होकर चिपटा हुआ हूँ ? इस सम्बन्ध या बन्धन को रखूँ या इसका त्याग कर दूं ?"[1]

यह है सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त बोध, जिसे शास्त्रकार वोधि कहते हैं। यही बोध दुर्लभ और बहुत मँहगा है। इसी बोध को प्राप्त करने का भगवान महावीर का सकेत है। इसके लिये शास्त्रकारो और जैनाचार्यों ने वोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा (भावना) बताई है, जिसमे यह चिन्तन करना होता है कि अनादिकाल से सासारिक प्रपच जाल मे विविध दुखो के प्रवाह मे बहते हुए और मोह आदि कर्म-बन्धन के तीव्र आघातो को सहते हुए जीव को शुद्ध दृष्टि और शुद्ध ज्ञान (वोधि) का प्राप्त होना दुर्लभ है।

जब मनुष्य इस वात का बोध प्राप्त कर लेगा कि मैं शुद्ध, बुद्ध, निरजन, निराकार, अविनाशी, अनन्त ज्ञान-दर्शन सुख-वीर्य-सम्पन्न आत्मा हूँ। परन्तु शरीर और उनमे भी मनुष्य शरीर के साथ मेरा सम्बन्ध क्यो और कैसे हुआ ? अमुक अमुक शुभाशुभ कर्मबन्धन के फलस्वरूप मुझे मनुष्य जन्म मिला है और मैं मनुष्य शरीर आदि से सम्पृक्त हुआ हूँ। ये बन्धन हेय हैं, ज्ञेय हैं या उपादेय है ? ऐसे और इस प्रकार से आत्म-स्वरूप का सर्वप्रथम वोध प्राप्त करना आवश्यक है।

बन्धन को जानो, समझो और तोडो

आत्मा तो निश्चयनय की दृष्टि से अपने आप मे स्वतन्त्र है, बन्धन-मुक्त है, फिर भी वह बन्धन मे पडा है। इसलिये भगवान महावीर ने वोध प्राप्त करने के उपदेश से लगता ही दूसरा उपदेश दिया—

बधण परिजाणिया, तिउट्टिज्जा।

अर्थात्—पहले बन्धन को जानो, समझो और फिर उसे तोडो।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप बन्धनमय नही है, किन्तु वर्तमान समय मे तुम्हारी यह आत्मा बन्धनवश हो रही है। यह सम्यग्दृष्टि को भान हो जाता है और

---

१ जगद्गुरु आद्य शकराचार्य ने भी आत्मस्वरूप के वोध की ओर इगित किया है—

को अह ? कथमिद जात ? को वै कर्ता अस्य विद्यते ?
उपादान किमस्तीह, विचार सोऽयमीदृश ? ॥

—मैं कौन हूँ ? मेरा यह स्वरूप (मनुष्य जन्म) कैसे हुआ ? इसका कर्ता कौन है ? इसमे मेरा उपादान क्या है ? कौन-सा है ? इस प्रकार का विचार ही वास्तव मे विवेकख्याति है।

वह अपने आपको (अपनी आत्मा को) बन्धन मे जकडी हुई, परतन्त्र देखता है। इसलिये भगवान महावीर ने उस भव्य मुमुक्षु मानव को दूसरा उपदेश दिया कि आत्मा पर जो बन्धन है, वे वास्तविक नही है। तुम चाहो तो उन्हे तोड सकते हो। क्योकि इन बन्धनो मे अपने आपको जकडने वाली तुम्हारी ही आत्मा है। दूसरे किसी ने तुम्हे बन्धनो मे नहीं डाला और तुम चाहो तो इन बन्धनो से मुक्त हो सकते हो। यह मत समझो कि ये बन्धन तुम्हारी आत्मा से अधिक शक्तिशाली हैं, इन्हे तुम तोड नही सकते, इनकी प्रबल शक्ति के आगे तुम्हारी आत्मा निर्बल है। तुम अगर इन बन्धनो को तोडने मे अपनी पूरी शक्ति लगा दोगे तो फिर इन बन्धनो को तुमसे विलग होना ही पडेगा। यही भगवान् महावीर के उपदेश का आशय प्रतीत होता है।

किन्तु साथ ही उन्होने यह भी कहा कि जिस बन्धन को तुम तोडना चाहते हो, उसे पहले भलीभाँति जान लो, समझ लो उस बन्धन को पहचान लो, उसकी शक्ति को भी अच्छी तरह जाँच परख लो, अन्यथा यदि उस बन्धन से भिडने की तुम्हारी पूर्ण तैयारी नही हुई तो तुम उससे हार खा जाओगे, उसके प्रबलतम सुदृढ चक्रव्यूह को देखकर तुम निराश, हताश और पस्तहिम्मत होकर भाग छूटोगे, उसका सामना नही कर सकोगे। किसी भी शत्रु को पराजित करना होता है तो पहले उसके बलाबल का पता लगाया जाता है। वह शत्रु जिससे उसे भिडना है, उसके पास कौन-कौन से शस्त्र है ? कौन-कौन उसके सहायक है ? उसकी कितनी तैयारी है ? उसका साहस एव उत्साह कितना है ? वह शत्रु किस-किस प्रकार से कैसे-कैसे आक्रमण करता है ? बन्धन भी आत्मा का शत्रु है। आत्मा को इसे परास्त करने के लिये पहले इसके बलाबल, दमखम एव साहस का पता लगा लेना चाहिए। यह भी जान लेना चाहिए कि बन्धनरूप शत्रु किस-किस रूप मे, किस किस प्रकार से आत्मा पर आक्रमण करता है ? उक्त बन्धनरिपु के कौन कौन से सहायक हैं ? उस बन्धनरिपु के पास कौन-कौन से शस्त्र हैं ? बन्धन की अपने आप मे कितनी प्रबल तैयारी है ? इन बातो को जाने बिना ही आत्मा बन्धन रूपी शत्रु के साथ [illegible] ा तो सम्भव है, अपनी पूरी तैयारी के बिना परास्त हो जाय या बन्धन के प्रबल शस्त्रो के प्रहार से आहत होकर गिर जाय, या बन्धनरिपु के प्रलोभन मे फँस कर आत्मा स्वय पतित हो जाय, उसी का गुलाम बन जाय। आत्मा के साथ सहायक कम हुए तो सम्भव है, बन्धन के बहुसख्यक सहायको के आगे उसे घुटने टेकने पडें। इसलिये भगवान महावीर का सन्देश है—बन्धन का पहले परिज्ञान कर लो। बन्धन को केवल जान लेना ही पर्याप्त नही है, उसको सब ओर से भली-भाँति जाँच-परख लेना है।

जैन शास्त्रो मे जहाँ भी किसी वस्तु के त्याग (प्रत्याख्यान) करने का प्रश्न आता है, वहाँ कहा गया है पहले 'ज्ञ-परिज्ञा' से उसे भली-भाँति जान लो फिर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसका त्याग करो। यहाँ वन्धन को तोडने से पहले उक्त बन्धन को ज्ञ-परिज्ञा से भली-भाँति जान लेने का उपदेश दिया है। तभी आत्मा अपनी पूर्व तैयारी भली-भाँति करके, अहिंसा-सत्यादि या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित होकर क्षमा-दया सेवा विनय आदि गुण—सहायको से परिवृत होकर तथा दृढ साहस, श्रद्धा, उत्साह और बलवीर्य के साथ बन्धन को तोड सकेगा। इसीलिये यहाँ पहले बन्धन को जान कर उसे तोडने यानी जड से उखाडने की बात कही गई है। अन्यथा बिना ही तैयारी के आत्मा बन्धन के साथ भिडेगा तो उसे उन्मूलन करने की अपेक्षा ऊपर-ऊपर से उसे तोड देगा। आशय यह है कि यदि आत्मा पूर्ण तत्परता के साथ समझ-बूझ कर बन्धन को तोडने के लिये उपक्रम नही करेगा तो वह किसी एक बन्धन को तोड देगा, किन्तु दूसरा बन्धन शनै शनै उसके साथ लगता जायेगा, उसे पता ही नही चलेगा कि वह बन्धन चुपके से कहाँ से घुस आया ? उदाहरणार्थ—एक साधक ने घरबार, कुटुम्ब-परिवार के मोहबन्धन को तो तोड दिया, लेकिन धीरे-धीरे जिस सघ मे उसने दीक्षा ली, वहाँ भक्त-भक्ताओ, शिष्य-शिष्याओ, क्षेत्रो, उपाश्रयो, शास्त्रो, उपकरणो आदि का मोहबन्धन लग गया। वह ममत्व का बन्धन इतना सूक्ष्म रूप से लग गया कि उसे स्वय को भान ही नही रहा, वह तो यही समझता रहा कि यह तो धर्म-प्रभावना हो रही है, धर्म-श्रद्धालुओ का परिवार बढ रहा है। किन्तु सावधान न रहने से वही मोहबन्धन के कारण बन गए। इसीलिये भगवान महावीर ने जिज्ञासु भव्यो को सदेश दिया कि पहले उन बन्धनो को, जिन्हे तुम्हे तोडना है, भलीभाँति जान लो, समझ लो, जाँच-परख लो , फिर उन्हे तोड्ने का उपक्रम करो।

बन्धन को तोडने का रहस्यार्थ यह है कि बन्धन के कारणो को तोडो। जिन कारणो से बन्धन आत्मा के चारो ओर लगे हैं, उनसे विपरीत कारणो से ही उन्हे तोडा जा सकता है। वहाँ कार्य मे कारण का उपचार किया गया है। बन्धन तोडना कार्य है, किन्तु बन्धन के मूल स्रोतो को बन्द करना या मूल कारणो को तोडना कारण है। प्रकारान्तर से भगवान महावीर के इस उपदेश को इन शब्दो मे कह सकते हैं—"बन्धन से मुक्त बनो, आत्मा को स्वतन्त्रता को जिन बन्धनो ने दबा दिया है, उनसे छुटकारा पा लो, जिन बन्धनो ने आत्मा को कैद मे डाल कर परवश बना दिया है, उन बन्धनो को काटकर फेंक दो। बन्धनो की जडें उखाड दो। अन्यथा वे बन्धन तुम्हे बारम्बार हैरान करेंगे, नाना योनियो और गतियो मे परिभ्रमण करायेंगे, अनेक यातनाएँ दिलायेंगे।"

यहाँ जैनदर्शन के एक महत्वपूर्ण सिद्धात का भी प्रतिपादन कर दिया है कि 'ज्ञान-क्रियाभ्या मोक्ष' ज्ञान और क्रिया दोनो से मोक्ष होता है। मुक्ति के लिये अकेले ज्ञान से कार्य नही होता, न अकेली क्रिया से। वेदान्त, साख्य आदि दर्शनो वाले ज्ञान मात्र से मुक्ति वताते ह, मीमासा आदि दर्शनो वाले एकान्त क्रिया से मुक्ति की प्राप्ति वताते हैं। किन्तु जैनदर्शन ज्ञान और क्रिया दोनो से मुक्ति की प्राप्ति मानत। हे।[1] इसीलिये कहा गया—'पहले बन्धन का परिज्ञान करके, तत्पश्चात उसे तोडने की क्रिया करो।' तैरने का केवल पुस्तकीय ज्ञान कर लेने मात्र से तैरना नही आता, उसका सक्रिय अभ्यास करने पर ही सफलता मिलती हे। इसी प्रकार कोरा ज्ञान किसी कार्य को सम्पादन करने मे समर्थ नही होता। गन्तव्य स्थान का ज्ञान तो हो, लेकिन गमनक्रिया न करने वाला पथिक ज्ञानमात्र से गन्तव्य स्थान तक कैसे पहुँच सकता है? शास्त्र मे अकेले ज्ञान को पगु कहा है, और अकेली क्रिया को अन्धी। किसी अन्धे को अथवा किसी लगडे को आम के दो अलग-अलग बागो मे छोड दिया जाय और उन्हे कह दिया जाय कि अपने-अपने बाग की रखवाली करो और मनचाहे फल खाओ, तो अकेला अन्धा बाग मे लगे हुए फलो को न देख पाने के कारण कैसे खा सकेगा? तथैव लगडा बाग मे लगे हुए फलो को देखकर भी पेड पर चढकर या खडा होकर तोड नही सकेगा। अत खा भी कैसे सकेगा? यही हाल कोरी क्रिया या कोरे ज्ञान का है। ज्ञान क्रिया महित होने पर ही अवन्ध्य कहलाता है, अन्यथा अकेला ज्ञान बन्ध्य है।

बन्धन की परिभाषा, कारण और प्रकार

बन्धन को जानकर तोडने की बात, उपर्युक्त पक्ति मे कही हे। अत प्रश्न होता है कि व्यवहार मे किसी प्राणी या वस्तु समूह को रस्सी, डोरी, श्रृखला, तार आदि से बाँध देने को बन्धन कहा है, परन्तु आत्मा तो अमूर्त है, इन स्थूल आँखो से अदृश्य है, अव्यक्त है, फिर उसको रस्सी आदि पदार्थो से कैसे बाँधा जा सकता है? अत यहाँ आत्मा के किस बन्धन की ओर वीतराग प्रभु का सकेत है?

वास्तव मे यहाँ रस्सी, श्रृखला आदि स्थूल पदार्थो का द्रव्यबन्धन आत्मा पर नही है, यहाँ तो आत्मा के भावबन्धन की ओर ही भगवान का सकेत है। भाव-बन्धन का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जिसके द्वारा आत्मा को परतन्त्र बना दिया जाय।[2]

१ दशवैकालिक सूत्र मे भी इसी का समर्थन किया है—'पढम नाण, तओ दया' पहले ज्ञान, फिर दया की क्रिया।

२ बध्यते परतन्त्रीक्रियते आत्मा अनेन तद्बन्धनम्।

बन्धन या बन्ध जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। आत्म-प्रदेशो के साथ कर्म-पुद्गलो का बँध जाना, नीरक्षीरवत् एकरूप हो जाना बन्धन या बन्ध कहलाता है। ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म ही इस प्रकार के बन्धन है। एक आचार्य कहते हैं - 'जब राग द्वेष से युक्त आत्मा अच्छे-बुरे कामो मे लगती है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणीयादि रूप से उसमे प्रवेश करता है, जो जीव के साथ बंध को प्राप्त होता है।'[1]

जो ससारी जीव है, उसके राग-द्वेष रूप परिणाम होते है, उन परिणामो से नये कर्म बन्धित होते हैं। उन कर्मों के बन्ध से विविध गतियो मे जन्म लेना पडता है। अथवा कपाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है वही बन्ध कहलाता है।[2] उस बन्ध की प्रक्रिया चार प्रकार की होती है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। उक्त बन्ध या बन्धन के कारण पाँच हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग।[3]

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के साथ बन्ध ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मबन्धन या मिथ्यात्वादि पाँच अथवा आरम्भ और परिग्रह आदि जो ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण स्वरूप बन्धन है उन्हे भली-भाँति जानकर तप-सयमादि अनुष्ठान रूप विशिष्ट क्रिया से तोडना चाहिए, अर्थात अपनी आत्मा से पृथक् करना चाहिए अथवा बन्धन के कारणो का परित्याग करना चाहिए।

बन्ध का स्वरूप और उसे तोडने के सम्बन्ध मे प्रश्न

भगवान महावीर स्वामी ने परमकरुणा से प्रेरित होकर भव्य आत्माओ को जब आत्म-स्वरूप का बोध प्राप्त करने और उक्त स्वरूप को आच्छादित करने वाले बन्धन को जानकर उसे तोडने का उपदेश दिया। जिसे सुनकर श्री जम्बूस्वामी ने गणधर श्री सुधर्मास्वामी से नम्रतापूर्वक बन्धन के विशिष्ट स्वरुप को जानने की दृष्टि से पूछा—"भगवान महावीर स्वामी ने बन्धन का क्या स्वरूप बताया है ? और आत्मा क्या (या कैसे) जानकर उस बन्धन को तोडता है ?" किमाह बधण वीरो—इस पक्ति मे शिष्य की जिज्ञासा बन्धन के स्वरूप को जानने की इसलिए हुई है कि पूर्वोक्त पक्ति

---

१ परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
त पविसदि कम्मरज, णाणावरणादि भावेहि॥

२ सकपायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध।
—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८ सू० २

३ मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कपाय-योगा बन्धहेतव। —तत्त्वार्थसूत्र ८/१

मे बधन को जानकर तोडने का उपदेश दिया क्योकि वन्धन का स्वरूप जाने बिना उससे निवृत्ति नही हो सकती और निवृत हुए बिना वन्धन के अभावरूप मोक्ष की सभावना भी नही हो सकती। किंवा जाण तिउट्टइ—इससे सम्बन्धित ही दूसरा प्रश्न है—उस वन्धन को कैसे,या किस प्रकार जानकर तोडा जाय ? ये दोनो प्रश्न ही इस सारे उद्देशक से सम्बद्ध हैं। क्योकि कर्मबन्धन के कारणभूत परिग्रह, हिंसा आदि अव्रत, चार्वाक आदि मत प्ररूपण रूप मिथ्यात्व तथा वन्धन तोडने के सम्बन्ध मे प्रमाद, अज्ञानवश नवीन कर्मबन्धन के कारणभूत कपाय और योग के सम्बन्ध मे ही इस अ　　मे विवेचन है।

वीरो—वीर शब्द यह भगवान महावीर के लिये प्रयुक्त हुआ है। जैसे—चतुर्विशतिस्तव पाठ मे 'पास तह् वद्धमाण च' मे पार्श्वनाथ के वदले पार्श्व, शब्द का 'धम्म सतिं च वदामि' मे धर्मनाथ और शान्तिनाथ के वदले धर्म और शान्ति का प्रयोग हुआ है और यही बोध होता है, वैसे ही यहाँ वीर शब्द कहने से महावीर का बोध होता है।

बधण—यहाँ बन्धन शब्द से वन्धन के कारणो को ग्रहण करना चाहिए। क्योकि बन्धन का स्वरूप तो इस गाथा की प्रथम पक्ति मे लगभग वता दिया गया है। यही कारण है कि आगे की गाथाओ मे बन्धन का स्वरूप न वताकर　　कार ने बन्धन के कारणो का स्वरूप तथा उसकी पहिचान वताई है। जैसे 'धम्मो मगल' इस गाथा मे धम को मगल कहा है, किन्तु धर्म अपने आप मे मगल नही, मगल का कारण है, वैसे ही यहाँ अगली गाथाओ मे विवक्षित परिग्रह, हिंसा, मिथ्यादर्शन आदि स्वय बन्धन नही, 　न्धन के कारणभत हैं। कारण मे कार्य का उपचार करके यहाँ बधण (बन्धन) शब्द का प्रयोग किया गया है। चूंकि कारण के बिना कार्य कदापि निष्पन्न नही होता। यदि कारण के बिना ही कार्य हो जाता तो क्षुधानिवृत्ति चाहने वाला भोजन आदि का उपार्जन न करता। इसीलिये यहाँ शास्त्रकार ने इसी लोक-प्रसिद्ध न्यायानुसार कार्य से पहले कारणो का दिग्दर्शन कराया है, ताकि वन्धन के कारणो का स्वरूप भलीभाँति जानकर साधक उनका त्याग कर दे तो कार्यरूप वन्धन को भी रोक सकेगा, उसे भी तोड सकेगा, अथवा आत्मा से उन्हे पृथक् कर सकेगा।

शिष्य की जिज्ञासा के समाधान के लिये गणधर श्री सुधर्मास्वामी वन्धन के कारण अगली गाथाओ मे क्रमश वता रहे हैं—

मूल

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्न वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चइ ॥२॥

संस्कृत छाया

चित्तवन्तमचित्त वा परिगृह्य कृशमपि ।
अन्य वा अनुजानाति, एव दु खान्न मुच्यते ॥२॥

अन्वयार्थ

(चित्तमन्त) चित्‌वान् अर्थात चैतन्ययुक्त सजीव द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणी, (वा) अथवा (अचित्त) चैतन्य रहित—जड सोना-चाँदी आदि (किसामवि) तथा तुच्छ वस्तु भुस्सा, तिनका आदि या स्वल्प भी (परिगिज्झ) परिग्रह रखकर (वा) अथवा (अन्न) दूसरे को परिग्रह रखने की (अणुजाणाइ) अनुज्ञा देता है (एव) इस प्रकार से वह जीव (दुक्खा) दु ख से (ण मुच्चइ) मुक्त नही होता।

भावार्थ

जो व्यक्ति द्विपद,चतुष्पद आदि सचेतन प्राणी को अथवा चैतन्यरहित सोने-चाँदी आदि पदार्थो को, अथवा तृण, भुस्सा आदि तुच्छ पदार्थो को अल्पमात्रा मे भी परिग्रह के रूप मे स्वय (ममत्व करके) रखता है, अथवा दूसरो को परिग्रह रखने की अनुमति देता है, वह दु ख से मुक्त नही होता।

व्याख्या

पूर्वगाथा मे बन्धन के स्वरूप और उससे मुक्त होने के उपाय के सम्बन्ध मे प्रश्न था, उसका समाधान करने के लिये शास्त्रकार कहते हैं 'चित्तमत'।

परिग्रह बधन का प्रधान कारण

पूर्वगाथा की व्याख्या मे बताया गया था कि बन्धन के मुख्य पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इसलिये यहाँ सर्वप्रथम अविरति के पाँच भेदो—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह—मे से सर्वप्रथम परिग्रह के सम्बन्ध मे बताया गया है, जो कि तीव्र कर्मबन्धन का कारण है।

यहाँ सीधे बन्धन को न बताकर बन्धन के कारणो को बताया गया है। बन्धन तो कर्म है, लेकिन वे कर्म किन-किन कारणो से बँधते हैं ? इसे बताने के लिये बन्धन के प्रधान कारणभूत परिग्रह का स्वरूप एव उसका परिणाम इस गाथा मे अभिव्यक्त किया गया है।

ससार के सभी समारभरूप कार्य 'मैं और मेरा' इस प्रकार की स्वार्थ, मोह, आसक्ति, ममत्व एव तृष्णा की बुद्धि से होते है, और यही परिग्रह है। यही समस्त कर्मबन्धनो का प्रधान कारण बनता है। इसीलिये सर्वप्रथम परिग्रह का स्वरूप, परिणाम एव वृत्ति का दिग्दर्शन किया गया है।

परिग्रह का लक्षण और पहिचान

'परिगिज्झ'—इस गाथा मे परिगिज्झ शब्द के द्वारा शास्त्रकार ने यह द्योतित कर दिया है कि किसी भी सजीव या निर्जीव भावात्म किंवा मूर्त पदार्थ को परिग्रह रूप से ग्रहण करने पर ही वह परिग्रह का रूप धारण करता है। परिग्रह का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी इस प्रकार होता है—'परि—समन्तात् द्रव्यभावरूपेण गृह्यते इति परिग्रह' किसी वस्तु को द्रव्य और भाव रूप से सभी ओर से ग्रहण करना, ममत्व बुद्धि से रखना परिग्रह है।

यहाँ शका होती है कि अगर ग्रहण करना ही परिग्रह हो तो साधु अपने सयम पालनार्थ रजोहरण, पात्र, अन्य धर्मोपकरण, आहार, वस्त्र, उपाश्रय, पुस्तक, शास्त्र, शरीर आदि ग्रहण करता है, इसलिये ये सब वस्तुएं अपरिग्रही महाव्रती साधु के लिये भी परिग्रह हो जाएंगी।

इसका समाधान यह है कि यो किसी पदार्थ को स्थूल रूप से ग्रहण करने, न करने से वह परिग्रह या अपरिग्रह नही हो जाता। वह परिग्रह तभी होता है, जब उसे ममत्व, मोह, मूर्च्छा, आसक्तिपूर्वक ग्रहण किया जाता है। इसीलिये दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

ज पि वत्थ वा पाय वा कबल पायपुछण ।
त पि सजमलज्जट्ठा धारति परिहरति य ॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा ॥

अर्थात्—साधु-साध्वी जो कुछ भी वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादपोछन आदि धर्मोपकरण रखते हैं या धारण करते हैं, वह सयम और लज्जा निवारण के लिए ही। इस कारण उक्त धर्मोपकरण समूह को प्राणिमात्र के त्राता ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने परिग्रह नही कहा है। सभी तीर्थंकरो और आचार्यो ने मूर्छा को ही परिग्रह[1] कहा है, यही बात भगवान महावीर ने कही है।

किन्तु जिनके रग-रग मे मूर्छा ममता भरी है, उनके लिये तुच्छ से तुच्छ वस्तु तिनका या तृण भी परिग्रह है और जिनकी बुद्धि मे बाह्य वस्तुएँ तो क्या, अपने शरीर के प्रति भी मूर्छा ममता नही, उनके लिए विशाल सातमजिला भवन भी परिग्रह नही, सोना, मणि, रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुएं भी उनके लिये धूल समान हैं। ये सामने पडे हो और वे सामने से होकर पदार्पण कर रहे हो, फिर भी मन मे

१ मूर्च्छा परिग्रह । —तत्त्वार्थसूत्र

यत्किंचित् भी ममत्वभाव न होने से परिग्रह नही। यही बात एक आचार्य ने कही है—

मूर्च्छाच्छन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रह ।
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रह ॥

अर्थात्—मूर्च्छा से जिनकी बुद्धि ग्रस्त हो चुकी है, उनके लिये सारा जगत ही परिग्रह रूप है। जिनके मन मस्तिष्क मूर्च्छा से रहित है उनके लिये सारा जगत ही अपरिग्रह रूप है। इसीलिये तो इस गाथा के पूर्वार्द्ध मे कहा गया है—'चित्तमत-मचित्त वा परिगिज्झ किसामवि।

इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु चाहे सचेतन हो—यानी दो पैर वाले दास दासी, स्त्री, पुत्र, माता, पिता हो, या चार पैर वाले गाय, भैंस, बैल, घोडा, हाथी, बकरी, कुत्ता आदि कोई भी प्राणी हो, अथवा अचेतन सोना, चांदी, तांबा, पीतल, लोहा, लकडी, महल, बाग, नोहरा, हाट, दुकान या मकान, रुपया, नोट या सिक्का आदि कोई भी अचेतन वस्तु हो, चाहे वह वस्तु छोटी हो या बडी, अल्पमूल्य हो या बहुमूल्य, थोडी मात्रा मे हो या अधिकमात्रा मे, जब मन मे इसके प्रति ममता—मूर्च्छा होगी तो वह चीज परिग्रह हो जाएगी। यो तो ससार का कोई भी पदार्थ अपने आप मे परिग्रह या अपरिग्रह रूप नही होता। परिग्रह या अपरिग्रह तो उक्त पदार्थ के प्रति ममत्व-मूर्च्छा से लिप्तता-अलिप्तता ही है और वही क्रमश बन्ध-मोक्ष का कारण बनता है। महाभारत (४/७२) मे भी स्पष्ट कहा है—

द्वे पदे बन्ध-मोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तु निर्ममेति विमुच्यते ॥

बन्ध और मोक्ष के लिये दार्शनिक जगत मे दो ही शब्द अधिकतर प्रयुक्त होते है—'मम' और 'निर्मम'। जब किसी वस्तु के प्रति मन-मस्तिष्क मे मम (मेरी है) आ जाता है, तब प्राणी कर्मबन्धन से बँध जाता है और जब निर्मम (मेरी नही है, मैं उसका नही हूँ) आ जाता है, तब बन्धन से मुक्त हो जाता है।

कई लोग कहते हैं कि चीटी, कीट, पतग, भ्रमर, कुत्ता, बिल्ली, आदि तिर्यञ्च प्राणी तो सोना, चाँदी, हीरा, मोती आदि वस्तुओ को ग्रहण करते दिखाई नही देते, इनके पास कोई वस्त्र, आभूषण, या भोजन, मकान, दुकान या बाग, आदि नही होता, ये प्राय सग्रह करके भी नही रखते, तब क्या इन्हे अपरिग्रही नही कहा जा सकता ? इसका समाधान पहले ही किया जा चुका है। कोई भी प्राणी तब तक अपरिग्रही नही कहला सकता, जब तक कि परिग्रह का मनोयोगपूर्वक त्याग न करे। चीटी, कौआ, कुत्ता, बिल्ली, घोडा आदि तिर्यञ्चो के नग-धडग घूमते

परिग्रह का लक्षण और पहिचान

'परिगिज्झ'—इस गाथा मे परिगिज्झ शब्द के द्वारा शास्त्रकार ने यह द्योतित कर दिया है कि किसी भी सजीव या निर्जीव भावात्म किंवा मूर्त पदार्थ को परिग्रह रूप से ग्रहण करने पर ही वह परिग्रह का रूप धारण करता है। परिग्रह का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी इस प्रकार होता है—'परि—समन्तात् द्रव्यभावरूपेण ग्रह्यते इति परिग्रह' किसी वस्तु को द्रव्य और भाव रूप से सभी ओर से ग्रहण करना, ममत्व बुद्धि से रखना परिग्रह है।

यहाँ शका होती है कि अगर ग्रहण करना ही परिग्रह हो तो साधु अपने सयम पालनार्थ रजोहरण, पात्र, अन्य धर्मोपकरण, आहार, वस्त्र, उपाश्रय, पुस्तक, शास्त्र, शरीर आदि ग्रहण करता है, इसलिये ये सब वस्तुएं अपरिग्रही महाव्रती साधु के लिये भी परिग्रह हो जाएंगी।

इसका समाधान यह है कि यो किसी पदार्थ को स्थूल रूप से ग्रहण करने, न करने से वह परिग्रह या अपरिग्रह नही हो जाता। वह परिग्रह तभी होता है, जब उसे ममत्व, मोह, मूर्च्छा, आसक्तिपूर्वक ग्रहण किया जाता है। इसीलिये दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

> ज पि वत्थ वा पाय वा कबल पायपुछण।
> त पि सजमलज्जट्ठा धारति परिहरति य॥
> न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
> मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ बुत्त महेसिणा॥

अर्थात्—साधु-साध्वी जो कुछ भी वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादपोछन आदि धर्मोपकरण रखते हैं या धारण करते हैं, वह सयम और लज्जा निवारण के लिए ही। इस कारण उक्त धर्मोपकरण समूह को प्राणिमात्र के त्राता, ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने परिग्रह नही कहा है। सभी तीर्थकरो और आचार्यों ने मूर्छा को ही परिग्रह[1] कहा है, यही बात भगवान महावीर ने कही है।

किन्तु जिनके रग-रग मे मूर्छा ममता भरी है, उनके लिये तुच्छ से तुच्छ वस्तु तिनका या तुष भी परिग्रह है और जिनकी बुद्धि मे बाह्य वस्तुएँ तो क्या, अपने शरीर के प्रति भी मूर्छा ममता नही, उनके लिए विशाल सातमजिला भवन भी परिग्रह नही, सोना, मणि, रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुएं भी उनके लिये धूल समान हैं। ये सामने पडे हो और वे सामने से होकर पदार्पण कर रहे हो, फिर भी मन मे

१ मूर्च्छा परिग्रह। —तत्त्वार्थसूत्र

यत्किंचित् भी ममत्वभाव न होने से परिग्रह नही। यही बात एक आचार्य ने कही है—

(मूर्च्छाच्छन्नधिया सर्व जगदेव परिग्रह ।
मूर्च्छया रहिताना तु जगदेवापरिग्रह ॥

अर्थात्—मूर्च्छा से जिनकी बुद्धि ग्रस्त हो चुकी है, उनके लिये सारा जगत ही परिग्रह रूप है। जिनके मन मस्तिष्क मूर्च्छा से रहित हैं उनके लिये सारा जगत ही अपरिग्रह रूप है)। इसीलिये तो इस गाथा के पूर्वार्द्ध मे कहा गया है—'चित्तमत-मचित्त वा परिगिज्झ किसामवि।

इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु चाहे सचेतन हो—यानी दो पैर वाले दास दासी, स्त्री, पुत्र, माता, पिता हो, या चार पैर वाले गाय, भैस, बैल, घोडा, हाथी, बकरी, कुत्ता आदि कोई भी प्राणी हो, अथवा अचेतन सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, लोहा, लकडी, महल, बाग, नौहरा, हाट, दुकान या मकान, रुपया, नोट या सिक्का आदि कोई भी अचेतन वस्तु हो, चाहे वह वस्तु छोटी हो या बडी, अल्पमूल्य हो या बहुमूल्य, थोडी मात्रा मे हो या अधिक मात्रा मे, जब मन मे इसके प्रति ममता—मूर्च्छा होगी तो वह चीज परिग्रह हो जाएगी। यो तो ससार का कोई भी पदार्थ अपने आप मे परिग्रह या अपरिग्रह रूप नही होता। परिग्रह या अपरिग्रह तो उक्त पदार्थ के प्रति ममत्व-मूर्च्छा से लिप्तता-अलिप्तता ही है और वही क्रमश बन्ध-मोक्ष का कारण बनता है। महाभारत (४/७२) मे भी स्पष्ट कहा है—

द्वे पदे बन्ध-मोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तु निर्ममेति विमुच्यते ॥

(बन्ध और मोक्ष के लिये दार्शनिक जगत मे दो ही शब्द अधिकतर प्रयुक्त होते हैं—'मम' और 'निर्मम'। जब किसी वस्तु के प्रति मन-मस्तिष्क मे मम (मेरी है) आ जाता है, तब प्राणी कर्मबन्धन से बँध जाता है और जब निर्मम (मेरी नही है, मै उसका नही हूँ) आ जाता है, तब बन्धन से मुक्त हो जाता है।)

कई लोग कहते हैं कि चीटी, कीट, पतग, भ्रमर, कुत्ता, बिल्ली, आदि तिर्यन्च प्राणी तो सोना, चाँदी, हीरा, मोती आदि वस्तुओ को ग्रहण करते दिखाई नही देते, इनके पास कोई वस्त्र, आभूषण, या भोजन, मकान, दुकान या बाग, आदि नही होता, ये प्राय सग्रह करके भी नही रखते, तब क्या इन्हे अपरिग्रही नही कहा जा सकता ? इसका समाधान पहले ही किया जा चुका है। कोई भी प्राणी तब तक अपरिग्रही नही कहला सकता, जब तक कि परिग्रह का मनोयोगपूर्वक त्याग न करे। चीटी, कौआ, कुत्ता, बिल्ली, घोडा आदि तिर्यन्चो के नग-धडग घूमते

रहने और पास मे कुछ भी न रखने पर भी उनका ममत्वभाव उन वस्तुओ पर से छूटा नही, न उन्होने उक्त वस्तुओ को परिग्रह समझ कर छोडा है। इसीलिये शास्त्रकार ने कहा है—'किसामवि'—इस शब्द का तात्पर्य यह है कि पदार्थ चाहे मात्रा मे अल्प हो, अथवा तुच्छ हो। तिनके या भुस्से का कोई अधिक मूल्य नही है, जगल मे जो यो ही घास पडी रहती है किन्तु उसी घास-फूस पर ममता हो जाने के कारण या ममत्व न छोडने के कारण वह परिग्रह बन जाती है। अथवा मूर्च्छा की तरह इच्छा को भी परिग्रह कहते है, यह बात 'किसामवि' इस पद के द्वारा द्वारा सूचित की है। इसका एक रूप 'कसमपि' भी होता है, जिसका अर्थ होता है—परिग्रह बुद्धि से किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिये उसके पास जाने का जीव का परिणाम होना[1], यह सब परिग्रह रखना है।

परिग्रह के दो रूप

परिग्रह के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार यह बात स्पष्ट परिलक्षित होती है कि परिग्रह सिर्फ सचित्त-अचित्त पदार्थ ही नही है, पदार्थ सामने विद्यमान न हो या दूर हो, तो भी उस पदार्थ की चाह, तृष्णा या लालसा भी परिग्रह बन जाती है। अथवा क्रोध, मान, माया (कपट), लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, कामवासना, यश-प्रतिष्ठा, विपरीत मान्यता या श्रद्धा आदि की पकड भी आसक्तिपूर्वक होने से वे भी परिग्रह बन जाते हैं। क्योकि परिग्रह का मुख्य सम्बन्ध ममता, मूर्च्छा, इच्छा, तृष्णा, गृद्धि, आसक्ति, लालसा आदि भावो से है, वस्तु के विद्यमान, व्यक्त या अव्यक्त से इतना सम्बन्ध नही। पहले मन मे इच्छा या लालसा जन्म लेती है, उसी को सक्रिय रूप से परिणत करने के लिये जीव वस्तु को ग्रहण करता है। इस दृष्टि से शास्त्रकारो ने परिग्रह के बाह्य और आभ्यन्तर ये दो भेद किये हैं। बाह्य परिग्रह के भी दो भेद हैं, जिनका उल्लेख 'चित्तमचित्त' पदो से शास्त्रकार ने किया है। वे है सचेतन परिग्रह और अचेतन (जड) परिग्रह। सचेतन परिग्रह मे मनुष्य, स्त्री, पशु, पक्षी (द्विपद और चतुष्पद) तथा वृक्ष, पृथ्वी, वनस्पति, फल, धान्य आदि समस्त प्राणधारी सजीव पदार्थो का समावेश हो जाता है। अचेतन (जड) परिग्रह मे वे समस्त पदार्थ आ जाते हैं, जिनमे प्राण (जीव) नही होते हैं, जो निर्जीव हैं—जैसे क्षेत्र, वस्तु रजत, स्वर्ण, माणिक्य, वस्त्र, पात्र, सिक्के, नोट, मकान, दुकान आदि। कुछ आचार्यो ने बाह्य परिग्रह के क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद और कुप्य, ये ९ भेद बताए है। भगवती सूत्र मे गणधर श्री गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर भगवान ने कर्म, शरीर और

१ कसन कस परिग्रह बुद्ध्या जीवस्य गमनपरिणाम इति।

भण्डोपकरण, इन तीनो को परिग्रह बताया है, बशर्ते कि जब तक इनके प्रति ममत्व-भाव का त्याग नही किया जाता और आभ्यन्तर परिग्रह, जिसका सकेत 'किसामवि एवं परिगिज्झ' शब्दो से शास्त्रकार ने किया है, और जिसका सम्बन्ध हृदय और मन से है, वह आभ्यन्तर परिग्रह भी मिथ्यात्व, क्रोध आदि चार कषाय, हास्यादि छह और तीन वेद (नौ नोकषाय) यो कुल मिलाकर १४ होते है। ससार मे जो कुछ भी दिखाई देता है, वह या तो जड है या चेतन है। जड और चेतन मे विश्व के समस्त पदार्थ आ जाते हैं, और उन्ही को लेकर बाह्य परिग्रह और आभ्यन्तर परिग्रह होता है। इसीलिए शास्त्रकार ने 'कि तमचित्त पि' ये दो शब्द सूत्ररूप मे दे दिये, जिनके आश्रय से ममता, मूर्च्छा, आसक्ति, इच्छा, लालसा, तृष्णा आदि जल द्वारा परिग्रहरूपी वृक्ष का सिंचन होता है, परिग्रहतरु वृद्धिगत होता रहता है और उसके विविध कर्मबन्धन रूपी फल लगते है।

परिग्रह रखना, र । तथा अनुमति देना अनर्थ का मूल

कई बार मनुष्य भ्रान्तिवश यह सोच लेता है कि मैं स्वय किसी प्रकार का परिग्रह नही रखूँगा तो बन्धन से बच जाऊँगा, यो सोचकर वह अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री या अन्य सम्बन्धी के पास रख देता है, उनको रखने के लिये दे देता है, तथाकथित परिग्रह उनके नाम से करके उस पर अपना स्वामित्व रखता है, अथवा दूसरे को परियह ग्रहण करा कर या सौप कर उस परिग्रह से अपना भरण-पोषण करता है, अपने अनेकविध भोगोपभोग मे उसका उपयोग करता-कराता है, अथवा रक्षा के लिये अपना परिग्रह किसी दूसरे को सौंप देता है, इस भ्रम से कि मैं परिग्रह से निष्पन्न कर्मबन्धन से छूट जाऊँगा, अथवा अपने से सम्बन्धित प्रियजनो को परिग्रह ग्रहण करने एव सचित करने की अनुमति देता है, प्रेरणा और प्रोत्साहन देता है, ताकि उसे भी सुख-सुविधाएं या जीवनोपयोगी साधन-सामग्री सुखपूर्वक मिलती रहे अथवा उसकी सेवा-भक्ति होती रहे। परन्तु शास्त्रकार ने इन सबको परिग्रह ग्रहण करने की तरह ही परिग्रह का कारण मानकर दु ख का मूल माना है। इसी को अभिव्यक्त करने के लिये शास्त्रकार कहते है—

'अन्न वा अणुजाणाइ'।

वस्तुत परिग्रह स्वय रखना, स्वय ममत्व या स्वामित्व की बुद्धि रखकर दूसरे के यहाँ रखना-रखाना अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुमति, प्रेरणा या प्रोत्साहन अपनी सुखलिप्सा से देना, ये सब परिग्रह ग्रहण की कोटि मे आ जाते हैं।

परिग्रह दु खरूप क्यो और कैसे ?

'एव दुक्खा ण मुच्चइ'—इस पक्ति द्वारा शास्त्रकार स्वय कहते हैं कि इस

प्रकार के (पूर्वोक्त) परिग्रह को स्वय ग्रहण करके, दूसरो से ग्रहण करवा कर या ग्रहण करने वाले को अनुमति, प्रोत्साहन, प्रेरणा या अनुमोदन प्रदान करके जीव दु ख से मुक्त नही होता। क्योकि प्रथम तो अप्राप्त परिग्रह को प्राप्त करने की लालसा होती हे, उसके लिये काफी प्रवन्ध करना पडता है, वह भी क्लेशकारक है, दूसरो का अधिकाधिक परिग्रह देखकर मन मे लालसा जागती हे, स्वय परिग्रह प्राप्त करने की। उसके लिए मन मे विपाद होता है, दूसरो की खुशामद करनी पडती हैं, फिर कई प्रकार की झिडकिया, अपमान, गाली वगैरह सहनी पडती हैं, वह भी दु खकारक है, इसके पश्चात प्राप्त परिग्रह की रक्षा करने मे भी कष्ट होता है। परिग्रह के उपभोग से भी तृप्ति नही होती, अतृप्ति और असतोष का मानसिक दु ख होता रहता है। फिर प्राप्त परिग्रह को कोई नष्ट करता है, चुरा लेता है या अपने कब्जे मे कर लेता है, तो उसके कारण दु ख, क्लेश, अशान्ति आदि होती है इसलिए परिग्रही को दु ख से छुटकारा नही होता।[1] कहा भी है—

ममाहमिति चैष यावदभिमानदाहज्वर कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नय ।
यश सुखपिपासितैरयमसावनर्थोत्तरे परैरपसद कुतोऽपि क पाकृष्यते ॥

—'यह मेरा है' 'मैं इसका स्वामी हूँ', इस प्रकार मेरा और मै इस अभिमान (मान्यता, परिग्रह) का दाहज्वर जव तक रहता है, तब तक तो मृत्यु का मुख उसके समक्ष खुला है। तब तक उसके जीवन मे ममता के ज्वर के कारण शान्ति की आशा नही है। परिग्रह इतना दुखद होते हुए भी यश और सुख के लिप्सु एव परिणाम मे अनर्थ के शिकार बनने वाले मृदु जीव इस नीच परिग्रह को अत्यन्त कष्ट सहकर भी ग्रहण करते है।

परिग्रही व्यक्ति को अपने धन की रक्षा की चिन्ता रात-दिन लगी रहती है, चोर, डाकू, आग, पानी आदि का भय तथा सरकार के कोप आदि आपत्तियाँ भी उस पर आती है। इसी कारण उसे रात को सुख से नीद भी नही आती। वह अपने पुत्र, स्त्री, भाई, स्वजन, दुष्ट, चोर, राजा, मित्र, रिश्तेदार तथा शत्रु आदि से सदा आशकित रहता है। दूसरे के पास अधिक धन देखकर परिग्रही ईर्ष्या से जलता रहता है, वह दूसरो को अपने बराबर न देखने या नीचा गिराने की चिन्ता करता रहता है। अप्राप्त पदार्थ से भी उसे तभी सुख होता है, जव वैसा पदार्थ दूसरो के पास न हो। परिग्रही व्यक्ति के मन मे स्वार्थ भावना के कारण निष्ठुरता आ जाती है, वह अपने दु ख को अधिक महत्व देता है, दूसरो को दुखी देखकर

---

१ अर्थानामर्जने दु ख, अर्जितानां च रक्षणे।
आये दु ख व्यये दु ख धिगर्थं दु खभाजनम् ॥

उनके दुःख की किंचित् भी परवाह नही करता। जहाँ परिग्रह है, वहाँ प्राय द्वेष, द्रोह, अभिमान, ईर्ष्या, स्वार्थ, कपट आदि दुर्गुण भी स्वत आ जाते है। महा-परिग्रही व्यक्ति प्राय धर्माराधन, परमात्म-भक्ति, साधु-सन्तो की सेवा आदि से विमुख ही रहता है। परिग्रह हिंसा आदि अनेक पापो का मूल है।

यद्यपि केवल परिग्रह ही अनर्थ का मूल नही है, हिंसा, असत्य आदि अन्य अनेक पाप भी अनर्थ के मूल है, फिर भी शास्त्रकार ने सर्वप्रथम परिग्रह को ही क्यो ग्रहण किया? इसका समाधान यह है कि परिग्रह ही हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, कषाय आदि का मूल कारण होने से समस्त अनर्थ कारणो मे मुख्य है। हिंसा आदि अन्य अनेक अनर्थ परिग्रहमूलक हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र मे कहा है कि परिग्रह के लिये लोग हिंसा करते है, झूठ बोलते हैं, मिलावट करते है, तौल-नाप मे गडबडी करते है, लूट, चोरी, डकैती करते हैं, पर-स्त्री-हरण या परदारगमन करते हैं, अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, सबके साथ छल-कपट करते है, लडाई करते है, मार डालते है, बडे-बडे युद्ध भूमि और सम्पत्ति के लिए ही होते है। लाखो मनुष्यो को एकमात्र परिग्रह के लिये व्यक्ति मौत के घाट उतार देता है। यहाँ तक कि सभी पाप परिग्रह से उत्पन्न होते है। परिग्रह के लिये व्यक्ति अपने शरीर को स्वजन को भी कष्ट मे डालता है, परिवार, समाज एव राष्ट्र से द्रोह करता है, कलह करता है, दूसरे का अहित करता है, बुरा चाहता है, दूसरे का अपमान करता है। शास्त्रकारो के आशय के अतिरिक्त, अनुभव भी स्पष्ट है कि ससार मे जितने भी पाप हैं वे सब परिग्रह के ही कारण है, परिग्रह के लिये ही किये जाते है। एक अनुभवी ने ठीक ही कहा है—

> द्वेषस्यायतन धृतेरपचय क्षान्ते प्रतीपो विधिर्,
> व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवन ध्यानस्य कष्टो रिपु।
> दुःखस्य प्रभव सुखस्य निधन पापस्य वासो निज,
> प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च॥

—परिग्रह द्वेष का घर है, धैर्य का नाशक है, क्षमा का शत्रु है, चित्त-विक्षेप का साथी है, मद का भवन है, ध्यान का कष्टदायी रिपु है, दुःख का जन्मदाता है, सुख का विनाशक है, पाप का खास निवास स्थान है। परिग्रह दुष्ट ग्रह के समान बुद्धिमान पुरुष को भी क्लेश देता है और उसका नाश कर डालता है।

इन सब दृष्टियो से परिग्रह दुःख का स्रोत है, दुःख (प्रतिकूलन वेदन) की प्राप्ति का कारण है। यह तो हुई प्रत्यक्ष दुःख की बात। परोक्ष रूप से भी परिग्रह (ममत्व) से ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मबन्धन तथा उनका असाता वेदनीय रूप उदय, दुःखरूप है। परिग्रही जीव परिग्रह से कर्मबन्धन के फलस्वरूप नरक,

तिर्यञ्च आदि नाना योनियो मे भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के दुख प्राप्त करता है। इस प्रकार परिग्रह मे जीव प्रत्यक्ष भी इहलोक मे नाना प्रकार के दुख प्राप्त करता है और परोक्ष रूप से परलोक मे भी उसे अनेक प्रकार के दुख भोगने पडते है। इसीलिये शास्त्रकार ने 'एव दुक्खा ण मुच्चइ' कहकर पूर्वगाथा मे प्रस्तुत जिज्ञासा के समाधान के रूप मे इसी पक्ति के अन्तर्गत कर्मबन्धन के कारण-भूत परिग्रह का स्वरूप और परिणाम सूचित कर दिया है।

पहले कहा जा चुका है कि परिग्रह ही समस्त दुखरूप कर्मबन्धन का कारण है और परिग्रह का आरम्भ के साथ गाढ सम्बन्ध है। आरम्भ करने मे हिंसा होती है, तथा परिग्रह भी अनेक प्रकार की हिंसा से बढता है। इसलिये अब तीसरी गाथा मे बन्धन की कारणभूत हिंसा का स्वरूप और परिणाम बताते है।

मूल पाठ

सय तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए।
हणत वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥३॥

सस्कृत छाया

स्वयमतिपातयेत्प्राणान्, अथवाऽन्यैर्घातयेत्।
घ्नन्त वाऽनुजानाति, वैर वर्धयत्यात्मन ॥३॥

अन्वयार्थ

जो व्यक्ति (सय) स्वय (पाणे) एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के प्राणियो की (तिवायए) हिंसा करता है, (अदुवा) अथवा (अन्नेहिं) दूसरो के द्वारा (घायए) वध कराता है, (वा) अथवा (हणत) प्राणियो का घात करते हुए व्यक्ति को (अणुजाणाइ) अनुज्ञा-अनुमोदन देता है, वह (अप्पणो) अपना (वेर) वैर-शत्रुता, ( ) बढाता है।

भावार्थ

जो व्यक्ति स्वय प्राणियो की किसी प्रकार से हिंसा करता है, अथवा दूसरो से हिंसा कराता है, या प्राणियो की हिंसा करते हुए अन्य व्यक्तियो को अनुज्ञा देता है, अनुमोदन करता है, वह उन प्राणियो के साथ और उपलक्षण से अपनी आत्मा के साथ शत्रुता बढाता है।

व्याख्या

हिंसा कारण, स्वरूप और परिणाम

कर्मबन्धन के पाँच कारणो मे से 'अविरति' भी एक कारण है। अविरति के

अन्तर्गत जैसे परिग्रह है, वैसे हिंसा भी है। इसलिये परिग्रह के बाद अब हिंसा को कर्मबन्धन का कारण सूचित करते हुए शास्त्रकार हिंसा का स्वरूप और उसका परिणाम बताते है—'सय तिवायए पाणे वेरं वड्ढइ अप्पणो'।

यद्यपि मूलपाठ मे हिंसा के कारणो का उल्लेख नही किया, किन्तु अन्यान्य आगमो एव धर्मग्रन्थो तथा पूर्व गाथा मे वर्णित परिग्रह के स्वरूप के आधार पर इतना तो स्पष्ट है कि ससार मे जितनी और जिस प्रकार की भी हिंसा होती है, वह अपने शरीर, जीवन, अपनी प्रतिष्ठा, अपनी मानी हुई जमीन, जायदाद, सम्पत्ति, मकान, दुकान आदि वस्तु, अपने माने हुए परिवार, समाज, धर्म, सघ, सस्था, प्रान्त, मत, राष्ट्र, विचार आदि पर ममता-मूर्च्छावश होकर अपनी रक्षा करने, वृद्धि करने के लिये होती है। अपना विरोध करने या उस पर अधिकार जमाने या उसे ग्रहण करने वाले के प्रति मनुष्य हिंसक प्रतिकार वर, विरोध, निन्दा, द्वेष, मारपीट, उपद्रव या वध करता है। स्वय के द्वारा हिंसा सफल न होने पर दूसरो मे पूर्वोक्त प्रकार का ममत्वभाव, स्वार्थभाव से प्रेरित, प्रोत्साहित करके हिंसा करवाता है या हिंसा मे सहयोग देने के लिये तैयार करता है, अथवा दूसरो को उकसा कर हिंसा का समर्थन करता है। इस प्रकार की हिंसापूर्ण उत्तेजना फैला देता है, या हिंसोत्तेजक विचार फैलाता है, जिसमे लोग हिंसा के लिये अभ्यस्त हो जाएँ। फिर वह उन हिंसाकर्ताओ को धन्यवाद देता है, उनके द्वारा की गई हिंसा का जोरदार शब्दो मे समर्थन करता है, उन्हे हिंसा के लिये उपदेश देता है, अनुमति देता है, हिंसा के पथ पर जाने के लिये बाध्य कर देता है। इस प्रकार चाहे व्यक्ति स्वय हिंसा करे, दूसरो से हिंसा कराये या हिंसा करने वालो का अनुमोदन करे, तीनो ही प्रकार की हिंसा किसी न किसी प्रकार के ममत्व (मैं और मेरे के परिग्रह) के कारण मन-वचन-काया से होती है और वह कर्मबन्धन का कारण बनती है।

हिंसा कर्मबन्धन का कारण क्यो बनती है इसका कारण बताते हुए शास्त्रकार कहते है—'वेर वड्ढइ अप्पणो।' चूँकि किसी भी प्रकार से हिंसा करने-कराने वाला व्यक्ति उन प्राणियो के साथ अपना वैर बढा लेता है। वर इसलिये बढाता है कि जिस प्राणी की हिंसा की जाती है, उसके मन मे हिंसा करने वाले के प्रति अत्यन्त रोष, घृणा, द्वेष और प्रतिकार की क्रूर भावना जागती है किन्तु कुछ कर नही सकता, इसलिये हिंसक के प्रति उसके दिल मे वैरभाव बढता जाता है इसी-प्रकार हिंस्य प्राणी के प्रति भी हिंसक के मन मे क्रूरता, द्वेष, घृणा और रोष जागते है, अपने शरीर, परिवार अथवा अपनी मानी हुई किसी भी सजीव-निर्जीव वस्तु, वस्तु के प्रति राग, मोह और ममत्व जागते हैं। ये राग और द्वेष ही कर्म-बन्धन के कारण है। उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया है—'रागो य दोसो वि य बीय'

राग और द्वेप ये दो कर्म के वीज हे, कर्मवन्धन के मूल कारण है। जव हिंसा होती हे तव राग-द्वेप आदि की उत्पत्ति अवश्य होती है। राग-द्वेप आदि का मन मे प्रादुर्भाव होना, वचन से रागादिवश वचन निकलना और काया से रागादि आवेश के वश होकर कुकृत्य होना ही तो हिंसा है। पुरुपार्थ सिद्ध्युपाय मे स्पष्ट कहा है—

अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ॥४४॥

राग-द्वेप आदि की उत्पत्ति न होना ही अहिसा हे और राग-द्वेपादि की उत्पत्ति होना ही हिंसा हे, यही जिनागम का सार ह। इस दृष्टि से हिंसा कर्म-बन्धन का कारण वनती हे। एक वार उन हिंस्य प्राणियो के माथ वैर वॅघ जाने के वाद उसकी परम्परा जन्म-जन्मान्तर तक चलती है, इस वैर परम्परा के कारण कर्मवन्धन मे वृद्धि होती रहती हे। पूर्ववद्ध अशुभ कमो का क्षय नही हो पाता किन्तु नये अशुभ कर्म वॅधते जाते है, क्योकि वैर परम्परा को ममता, क्षमा, दया, पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त तप आदि उपायो से जव तक समाप्त नही किया जाता, तव तक कर्म-वन्धन का सिलमिला जारी रहेगा, वह रुकेगा नही। इसी वात को विशिप्ट सर्वज्ञानी पुरुपो ने अपने ज्ञान के प्रकाश मे जानकर 'वेर वड्ढइ अप्पणो' से व्यजना के द्वारा अभिव्यक्त की हे कि 'भव्य पुरुपो! इस हिंसा से वचो, जो वैर परम्परा को वढाने वाली है और घोर कर्मवन्धन की कारण हे।'

हिंसा क्या और कैसे ?

हिंसा जव कर्म-वन्धन की कारण है, तव प्रश्न होता है कि हिंसा क्या है? स्थूल दृष्टि वाले लोग जान से किसी प्राणी को मार देना ही हिंसा समझते हैं। क्या हिंसा का यही लक्षण है? इसका उत्तर शास्त्रकार इस तीसरी गाथा की पक्ति द्वारा सूचित कर देते है—"सय पाणे तिवायए।" अर्थात् प्राणो का अतिपात करना। जैन शास्त्रो मे हिंसा के वदले अधिकतर 'प्राणातिपात' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका रहस्य यही है कि हिंसा केवल 'किसी प्राणी को जान से मार डालना' ही नही है, अपितु प्राणी के स्वामित्व मे निम्नोक्त १० प्राण है, उनमे से किसी भी प्राण को आघात पहुँचाना, चोट पहुँचाना, अग-भग कर देना, प्राणो को मार-पीट करके घायल कर देना, अपमानित करके प्राणो को ठेस पहुँचाना या गाली एव व्यग वाणो के द्वारा मर्मान्तिक पीडा पहुँचाना, धमकी देकर, भय दिखा कर या आतक जमा कर प्राणी को भयभीत व व्यथित कर देना, विकास, प्रगति, गति या तरक्की को रोक देना, प्राणी का दम घोट देना, श्वास रोक देना, अन्धेरे मे दमघोट कारागार मे बन्द कर देना, हाथ-पैर जकड कर वाँध देना, भूखा-प्यासा रखना, स्वतन्त्रता मे वाधा डालना या नजरवन्द कैद कर देना, परस्पर फूट

डालकर एक दूसरे की चुगली खाकर आपस मे भिड़ा देना, द्वेषवश-रोषवश तरह-तरह की यातनाएँ या शारीरिक सजाएँ देना, धूप मे खड़ा कर देना, अत्यन्त बोझ लाद देना, इधर-उधर तेजी से दौड़ाना, प्राणियो को आपस मे लड़ाकर मारना या तलवार, बन्दूक आदि शस्त्रो के प्रहार से घायल कर देना या मार देना—ये और इस प्रकार की हिंसा की विविध प्रक्रियाएँ हिंसा है। जान से मार डालना हिंसा की अन्तिम क्रिया है।

हाँ तो वे दस प्राण इस प्रकार हैं—

पचेन्द्रियाणि त्रिविध बल च, उच्छ्वास-निश्वासमथान्यदायु ।
प्राणाँ दशैते भगवद्भिरुक्तास्, तेषा वियोजीकरण तु हिंसा ॥

लोक मे प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान के नाम से पचप्राण प्रसिद्ध हैं, वे प्राणवायु है। 'श्वास और उच्छ्वास' नामक दो प्राण ही प्राणवायु के अन्तर्गत आते है, लेकिन जैन शास्त्रो मे 'प्राण' एक पारिभाषिक शब्द है, उसका विशिष्ट अर्थ होता है। उसके निम्नोक्त दस प्रकार है—(१) श्रोत्रेन्द्रिय-बल प्राण, (२) चक्षुरिन्द्रिय-बल प्राण, (३) घ्राणेन्द्रिय-बल प्राण, (४) रसनेन्द्रिय-बल प्राण, (५) स्पर्शनेन्द्रिय-बल प्राण, (६) मनोबल प्राण, (७) वचनबल प्राण, (८) काय-बल प्राण, (९) श्वासोच्छ्वासबल प्राण और (१०) आयुष्यबल प्राण। ये दस द्रव्य प्राण हैं, और चार भावप्राण है—ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख। इन दस द्रव्यप्राणो और चार भावप्राणो मे से किसी भी एक या अनेक का प्राणी की आत्मा या शरीर से वियुक्त (पृथक) करना प्राणातिपात या हिंसा है। निष्कर्ष यह है कि इन दस द्रव्यप्राणो या चार भावप्राणो मे से किसी भी प्राण को चोट पहुँचाना, हानि पहुँचाना, पीड़ा देना, दबाना, सताना, डराना, डुबाना, जलाना, विकास मे रुकावट डालना, आपस मे टकराना, फेकना, पीटना, श्वास रोक देना, जान से मार देना, बेहोश कर देना, दुखित कर देना, हैरान-परेशान करना, भगाना, थकाना, भूखे-प्यासे रखना, जकड़कर बाँध देना, अतिभार लादना आदि सब प्राणघातक[1] क्रियाएँ प्राणातिपात (हिंसा) के अन्तर्गत आ जाती हैं।

इसलिये हिंसा का लक्षण[2] है—एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के प्राणियो

---

१ जैसे कि इरियावहिया (ईर्यापथिक) पाठ मे हिंसा की विविध क्रियाएँ बताई है—
जे मे जीवा विराहिया, एगिन्दिया, बेइन्दिया, तेइन्दिया, चउरिन्दिया, पचेन्दिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, सघाइया, सघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाण सकामिया, जीवियाओ ववरोविया।

२ प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा। —तत्त्वार्थसूत्र

के पूर्वोक्त दस द्रव्यप्राणो मे से किसी प्राण का घात प्रमाद एव कपाय से युक्त मन, वचन और काया (योग) से स्वय करना, दूसरो से कराना और करते हुए को अनुमति या अनुमोदन देना हिंसा है ।[1]

हिंसा . कृत-कारित-अनुमोदित रूपो मे समान

कई धर्मभीरु लोग यह समझते है कि हमने स्वय अपने मन-वचन-तन से हिंसा नही का, दूसरे से करा ली तो इसमे हमे हिंसा का पाप क्यो लगेगा ? अथवा कोई स्वत हिंसा कर रहा है, हमने उसे हिंसा करने को कहा नही, किन्तु हम उसके द्वारा मारे हुए जीव के मासादि पदार्थ का उपयोग कर लेते है, अथवा हम स्वय हिंसा-निष्पन्न मासादि का उपयोग नही करते, सिर्फ उसे बेचते है कोई खाए-पिए इससे हमे क्या ? हम तो निर्लेप है, सिर्फ उस हिंसा निष्पन्न वस्तु को बेचने की दलाली कर लेते है । फिर हमे हिंसा क्यो लगेगी ? अथवा हमने हिंसा की नही, कराई नही, सिर्फ जो हिंसा हो चुकी है, या की जा रही है उसे देखकर आनन्दित हो उठे, मन बहला लिया, पशुओ को आपस मे लडते-मरते देखकर या मनुष्यो को परस्पर मार-पीट करते देखकर विनोद या आमोद-प्रमोद का आनन्द लूट लिया, या थोडा-सा उकसा कर किसी की होती हुई हिंसा को जल्दी समाप्त करा दिया या किसी दुष्ट हत्यारे या पापी के वध का समर्थन कर दिया तो इसमे हमे हिंसा करने का दोष क्यो लगेगा ?

इस पर एक, दूसरे दृष्टिकोण से सोचें—एक व्यक्ति समाज मे प्रतिष्ठित है, धर्मभीरु भी है किन्तु धन के अतिलोभ मे आकर या स्वार्थ के वश, अथवा ममत्व वश अपने पथ में बाधक, विरोधी या धन सम्पन्न व्यक्ति को स्वय तो नही मारता किन्तु किसी डाक्टर को कहकर या किसी गुडे या हत्यारे को चुपचाप कुछ धन का लोभ देकर उसे विष दिला देता है, या शस्त्र से मरवा डालता है, कुए तालाब मे धक्का देकरमरवाता है, या फिर धोखें मे मरवाता है । अथवा स्वय मारता-मरवाता नही, मारने का उपदेश देता है, इस प्रकार का प्रोत्साहन देता हे, ऐसे विचारो का प्रसार करके मारने का अनुमोदन-समर्थन करता है, तो क्या ऐसे व्यक्ति को हिंसा का पाप नही लगेगा ? इसी भ्रान्ति का निराकरण करने के लिये शास्त्रकार मूल पाठ मे स्पष्ट उल्लेख करते हैं—अदुवाऽन्नेहि घायए, हणत वाऽणुजाणाइ ।'

---

१ यत्खलुकषाययोगात् प्राणाना द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करण सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

आशय यह है कि स्वय हिंसा करने की तरह दूसरो स कराने या दूसरे द्वारा की गई हिंसा से निष्पन्न वस्तु का उपयोग करने स व्यक्ति हिंसा के पाप से वच नहीं जाता, बल्कि समाज की आँखो मे धूल झोकने और समाज की दृष्टि मे अपने आपको धर्मात्मा या प्रतिष्ठित बरकरार रखने के लिए वह दूसरो से हिंसा करा कर या करने के लोभ से प्रोत्साहन देकर या प्रेरणा करके वचना के पाप का अधिक भागी होता है तथा जब तक व्यक्ति हिंसा से निष्पन्न वस्तु को उपयोग करने का त्याग नही कर लेता, तब तक वह उसका उपयोग करेगा, तो परोक्ष रूप से उसे हिंसा के अनुमोदन का पाप लगेगा ही। एक आदमी रेशमी वस्त्र पहनता है, वह यह समझता है, मैंने शहतूत के कीडो को मारने का कहा नहीं, मैंने हिंसा कराई नही, मैं तो रेशमी वस्त्र का उपयोग कर लेता हूँ, तो क्या वह हिंसा के पाप से वच सकता है। यो तो बर्मा मे कई दुकानो पर साइन बोर्ड लगा होता है—'यह बकरा तुम्हारे लिये नही काटा गया है' और भोले-भाले लोग उसका मांस खरीद कर खा जाते है और समझते हैं कि हमे हिंसा का पाप नही लगा। क्या आपका दिल उसे हिंसा के पाप से मुक्त कहेगा ? कदापि नही। इसीलिये चाणक्यनीति मे कहा गया है—

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रय-विक्रयी।
सस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातका ॥

—किसी जीव की हिंसा का अनुमोदन करने वाला, दूसरे के कहने से किसी का वध करने वाला, स्वय उस जीव का घात करने वाला, जीवहिंसा से निष्पन्न माम आदि को खरीदने-बेचने वाला, मास आदि चीज को पकाने वाला, परोसने वाला या उपहार देने वाला और हिंसा से निष्पन्न उस मासादि वस्तु को स्वय खाने वाला, उपभोग करने वाला ये सब हिंसक की कोटि मे हैं।

इसलिये साक्षात् या परम्परा से जो मन, वचन या काया से पूर्वोक्त दृष्टि से हिंसा का कर्ता है, वह हिंसक ही है। अथवा जो हिंसा का अनुमोदन, समर्थन या अनुमति देता है, प्रोत्साहन देता है, उसकी प्रशसा करता है, उसे धन्यवाद देता है या हिंसा को प्रोत्साहन देने या उत्तेजन देने वाले विचारो को लेख, पुस्तक, ग्रन्थ आदि मे प्रकाशित करके उसका प्रचार-प्रसार करता है, वह एक प्रकार से हजारो वर्षो तक हिंसा की परम्परा को फैलाता है, इसलिये वह भी हिंसक की कोटि मे है। जैसे यज्ञ मे या देवी-देवो के नाम से पशुवलि देने की प्रथा को प्रचलित करने वाला व्यक्ति हिंसा का समर्थक ही कहा जायेगा।

वेर . इ अप्पणो—इस तरह किसी भी प्रकार से हिंसाकर्ता व्यक्ति इस जन्म मे जिन प्राणियो की हिंसा करता-कराता है, उन प्राणियो के साथ उस हिंसा-

कर्ता का वैर बध जाता है। वे प्राणी जन्मान्तर मे उस हिंसाकर्ता से अपने वर का बदला लेते है, अर्थात् उन भूतपूर्व हिंसको को वे मारते है। उसके पश्चात अगले जन्म मे फिर वे भूतपूर्व हिंसक अपने हिंसको से वैर का प्रतिरोध लेने हेतु उन्हे मारते है। इस प्रकार अरहटघटिका यन्त्र (रेहट) के न्याय से वैर की परम्परा बढती ही चली जाती है जिनके कारण कर्मबन्धनरूप दुखो की परम्परा से वह जीव सहसा मुक्त नही हो पाता।

'वेर वड्ढइ अप्पणो' इस वाक्य का एक दूसरा अर्थ भी ध्वनित होता है। वह यह है कि इस प्रकार हिंसा करने, कराने या अनुमोदन करने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा के साथ भी वैर वढाता रहता है। क्योकि जव वह किसी प्राणी की हिंसा करता है, तो वह अपनी ही भावहिंसा करता है। दूसरे, प्राणी का वध तो कर सके या न भी कर सके, कषायो और राग-द्वेप के वश अपनी आत्मा की तो भावहिंसा कर ही लेता है और अपनी आत्मा का अहित करने या उत्पथ पर ले जाने वाला जीव आत्मा की हिंसा करके अपनी आत्मा का शत्रु वन जाता है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—

> अप्पा विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
> अप्पा मित्तममित्त च दुपट्ठिओ सुपट्ठिओ ॥

—आत्मा ही अपने लिये दुखो और सुखो का कर्ता भोक्ता है। आत्मा ही विपरीत मार्ग पर प्रस्थान करने पर अपना शत्रु बन जाता है और सुमार्ग पर चलने वाला आत्मा ही अपना मित्र वनता है।

इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दूसरे प्राणियो की हिंसा करने-कराने-अनुमोदन करने से आत्मा ही अपने राग-द्वेषादि परिणामो से अपनी भावहिंसा करके भयकर कर्मबन्धन के चक्र मे अपनी आत्मा को डाल देता है, अत ऐसा आत्मा ही अपना शत्रु वन कर वैर परम्परा को [illegible]ा है, जिसके फलस्वरूप हजारो वर्षो तक आत्मा अपना ही शत्रु वना रहता है। वैर [illegible]ा चला जाता है।

असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य आदि भी बन्धन के कारण

इस तीसरी गाथा के मूलपाठ मे 'प्राणातिपात' शब्द उपलक्षण रूप[1] है। मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह आदि भी बन्ध के कारण है क्योकि मृषावाद आदि का सेवन करते समय आत्मा के भावप्राणो की हिंसा अवश्य होती है, इसलिये मृषावाद आदि भी हिंसा के अन्तर्गत समझ लेने चाहिए। दूसरी तरह

---

१ जो दूसरे का भी वोध कराता है, उसे [illegible]ण कहते हैं।

से सोचें तो मृषावाद आदि का सेवन करने मे आत्मा के शुभ तथा शुद्ध परिणामो की हिंसा होती ही है, अत आत्मा के शुद्ध परिणामो की हिंसा होने के कारण मृषावाद आदि का समावेश 'हिंसा' मे ही हो जाता है जैसा कि कहा है—

आत्मपरिणाम हिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसेति।
अनृतवचनानि केवलमुदाहृत शिष्य-बोधाय ॥ ४२ ॥

—पुरु० सि०

अर्थात—आत्मा के परिणामो की हिंसा के कारण होने से असत्य आदि सभी एक तरह से हिंसा ही हैं। हिंसा मे ही इन सबका अन्तर्भाव हो जाता है। मृषावाद आदि पापास्रव तो केवल शिष्यो को सरलता से बोध प्राप्त कराने के लिए बताए हैं।

अत कर्मबन्धन के कारणभूत 'अविरति' के परिग्रह, हिंसा आदि पाँचो प्रकारो का स्वरूप और परिणाम एक तरह से शास्त्रकार ने बता दिये है। इसलिये असत्य, स्तेय (चोरी) और अब्रह्मचर्य (मैथुन) को भी मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप मे, कर्मबन्धन के कारण समझ लेने चाहिए।

अगली गाथा मे फिर बन्धन के कारण का स्वरूप बताते हैं—

मूल

जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे।
ममाइ लुप्पई बाले, अण्णे अण्णेहि मुच्छिए ॥ ४ ॥

संस्कृत

यस्मिन्कुले समुत्पन्नो, यैर्वा संवसेत् नर ।
ममाय लुप्यते बाल , अन्येष्वन्येषु मूर्च्छित ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ

(नरे) मनुष्य (जस्सि कुले) जिस कुल मे, (समुप्पन्ने) उत्पन्न हुआ है। (जेहिं वा) अथवा जिनके साथ, (संवसे) निवास करता है। (बाले) वह बाल—अज्ञजीव (ममाइ) उनमे ममत्व बुद्धि रखता हुआ (लुप्पई) पीडित होता है। (अण्णे अण्णेहिं) वह अज्ञानी दूसरी-दूसरी वस्तुओ मे (मुच्छिए) मूर्च्छित-आसक्त होता रहता है।

भावार्थ

मनुष्य जिस कुल मे उत्पन्न हुआ है, और जिनके साथ निवास करता

है, उनमे ममता रखता हुआ वह पीडित होता है। वह मूढ दूसरे-दूसरे पदार्थो मे आसक्त होता रहता है।

व्याख्या

जन्म, सवास, अतिससर्ग आदि का ममत्व

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य जिस ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, उग्र-कुल, भोगकुल आदि कुल मे जन्म लेता हे, उस कुल के साथ उसकी ममता, मूर्च्छा गाढ से गाढतर होती जाती हे। उपलक्षण से जिस किसी देश, प्रान्त, नगर, राष्ट्र आदि मे या हिन्दू, मुसलमान, जैन, वैष्णव आदि कौम मे मनुष्य उत्पन्न होता है, उसके साथ उसका मोह एव स्नेह होता जाता है। वह उस कुल, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र, प्रान्त, भाषा, कौम आदि को अपना समझता है, और उससे भिन्न कुल आदि को पराया। इससे एक के प्रति जहाँ राग (मोह) बन्धन होता है, वहाँ दूसरो के प्रति द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, वैर-विरोध प्राय हो जाता है। अविवेकी और मोहान्ध व्यक्ति स्वार्थवश अपने माने हुए तथाकथित कुल आदि का ही पक्ष लेता है, उसके लिये मरने-मारने को तैयार हो जाता है, उसकी ही सुख-सुविधाओ एव स्वार्थो का ध्यान रखता है, उसकी ही भौतिक उन्नति के लिये प्रयत्न करता है, फिर भले ही वह कुल आदि विपथगामी हो, भले ही उस कुल आदि का कोई व्यक्ति अपराधी हो, दोषी हो या अनाचारी हो। ऐसे किसी भी कुल (वश, राष्ट्र, जाति, कौम आदि) के व्यक्ति की जरा भी पराजय, अवनति अथवा यातना की बात सुनता है तो वह ममत्ववश दुखी होता रहता है। अगर उस व्यक्ति से अपना कोई स्वार्थ सधता था, वह भग हो जाता है तो वह तिलमिला उठता है अथवा उसकी मृत्यु होने पर वह शोक, विलाप, चिन्ता, रुदन करता है, उसके वियोग मे सिर पटक-पटक कर मर जाता है, छाती-माथा कूटता है, आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार सकीर्ण स्वार्थ और ममत्व मे वह रचा-पचा रहता है।

इसी प्रकार जिन माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र-पुत्री, मामा, चाचा, नाना, बाबा, दादी, श्वसुर, सास, साला आदि के साथ निवास करता है उनके प्रति भी उसका ममत्वभाव हो जाता है। मनुष्य जिनके ससर्ग मे रहता है, उनके प्रति उसका मोह और राग हो जाता है। मोहवश वह यही समझता है 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ।' इस प्रकार के ममत्वभाव के कारण वह उनसे सहायता, सेवा और स्वार्थसिद्धि की अपेक्षा रखता है, अगर वह आशा या अपेक्षा पूर्ण हो जाती है, तब तो मन मे प्रसन्न रहता है, अन्यथा उनके प्रति अप्रसन्न होता है, मन मे दु ख पाता है, कुढता हे। उन्हे भला-बुरा कहता है। वे सम्बन्धीजन भी उससे बहुत बडी आशा

रखते है, परन्तु जब उनकी वह आशा पूर्ण नही होती है तो वे उसस विमुख हो जाते है। इस प्रकार एक दूसरे के प्रति ममत्वभाव बढाते रहते है। इसी ममत्व परम्परा के कारण वह अज्ञानी जीव राग-द्वेषवश कर्मबन्धन के कारण कर्मोपदिष्ट नरक, तिर्यन्च, मनुष्य और देव इन चार गतिरूप ससार मे परिभ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के शारीरिक, मानसिक दुःख पाता है, पीडित होता है। ऐस जीव को शास्त्रकार ने 'बाल' कहा है। बाल का अर्थ है अज्ञ, सत् और असत् के विवेक से रहित।

वह केवल अपने माता-पिता आदि सम्बन्धी एव इष्ट जना पर ही नही, अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित द्विपद, चतुष्पद प्राणी, सोना, चाँदी, मणि, माणिक, सिक्के, घर के सामान, सुख-सामग्री, मकान, खेत, बाग, दुकान, जमीन, सम्पत्ति आदि विभिन्न वस्तुओ पर भी जो उसके सम्पर्क मे आती है, जिनके साथ रात-दिन वास्ता पडता है उनके प्रति भी गाढ आसक्त हो जाता है। उनके टूटने, फूटने, नष्ट होने, चुराये जाने, लूटे जाने छीने जाने या आग-पानी आदि से वियोग हो जाने पर गाढ मूर्च्छा (आसक्ति) के कारण वह रोता-पीटता है, विलाप करता है, खाना-पीना छोड देता है, आँसू बहाता है, शोक करता है, चिन्ता मे निमग्न हो जाता है, और कभी-कभी आत्महत्या भी कर बैठता है अथवा अति शोक से उसकी हृदयगति अवरुद्ध हो जाती है। ये सब ममत्व के खेल हैं। प्राणी उन तुच्छ वस्तुओ के मोह पाश मे बँध कर रात-दिन नये-नये कर्मो के बन्धन करता रहता है। ऐसा व्यक्ति कर्मबन्धन की परम्परा से सहसा मुक्त नही हो पाता। यही शास्त्रकार का आशय है। इसीलिये शास्त्रकार कहते है—'जस्सि कुले मुच्छिए।'

तात्पर्य यह है कि मनुष्य जन्म लेते ही पहले माता-पिता के सम्पर्क मे आता है, उनसे स्नेह (राग) करता है, क्योकि उनके समीप ही अधिक रहता है। फिर भाई-बहन के साथ स्नेह होता है। फिर खेल-कूद मे मित्रो और हमजोलियो के साथ उसका स्नेह हो जाता है। बाल्यावस्था बीत जाने पर युवावस्था मे आने पर पत्नी आदि पर स्नेह करता है। फिर जब पुत्र, पौत्र आदि उत्पन्न हो जाते हैं, उनके प्रति आसक्ति हो जाती है। इसके साथ ही अपने माने हुए कुल, वंश, जाति, देश, सम्प्रदाय, कौम, प्रान्त, राष्ट्र आदि के प्रति भी ममत्व बढता जाता है और उन तमाम पदार्थों के प्रति भी उसकी आसक्ति हो जाती है, जिनके सम्पर्क मे वह आता है, जिनको वह अपने मान लेता है। उन सब सचित्त-अचित्त वस्तुओ के प्रति ममत्वबद्ध होकर कर्मबन्धन के फलस्वरूप यहाँ से मर कर परलोक मे जाता है, वहाँ फिर नये माता-पिता आदि से ममत्व बन्धन स्थापित हो जाता है। इसलिये

है, उनमे ममता रखता हुआ वह पीडित होता है। वह मूढ दूसरे-दूसरे पदार्थो मे आसक्त होता रहता है।

व्याख्या

जन्म, सवास, अतिससर्ग आदि का ममत्व

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य हे कि मनुष्य जिस ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, उग्र-कुल, भोगकुल आदि कुल मे जन्म लेता हे, उस कुल के साथ उमकी ममता, मूर्च्छा गाढ से गाढतर होती जाती हे। उपलक्षण से जिम किसी देश, प्रान्त, नगर, राष्ट्र आदि मे या हिन्दू, मुसलमान, जन, वैष्णव आदि कौम मे मनुष्य उत्पन्न होता है, उसके साथ उसका मोह एव स्नेह होता जाता है। वह उस कुल, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र, प्रान्त, भाषा, कौम आदि को अपना ममझता है, और उससे भिन्न कुल आदि को पराया। इससे एक के प्रति जहाँ राग (मोह) बन्धन होता हे, वहाँ दूसरो के प्रति द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, वैर-विरोध प्राय हो जाता है। अविवेकी और मोहान्ध व्यक्ति स्वार्थवश अपने माने हुए तथाकथित कुल आदि का ही पक्ष लेता है, उसके लिये मरने-मारने को तैयार हो जाता है, उसकी ही सुख-सुविधाओ एव स्वार्थो का ध्यान रखता है, उसकी ही भौतिक उन्नति के लिये प्रयत्न करता है, फिर भले ही वह कुल आदि विपथगामी हो, भले ही उस कुल आदि का कोई व्यक्ति अपराधी हो, दोषी हो या अनाचारी हो। ऐसे किसी भी कुल (वश, राष्ट्र, जाति, कौम आदि) के व्यक्ति की जरा भी पराजय, अवनति अथवा यातना की बात सुनता है तो वह ममत्ववश दुखी होता रहता है। अगर उस व्यक्ति से अपना कोई स्वार्थ सधता था, वह भग हो जाता है तो वह तिलमिला उठता है अथवा उसकी मृत्यु होने पर वह शोक, विलाप, चिन्ता, रुदन करता है, उसके वियोग मे सिर पटक-पटक कर मर जाता है, छाती-माथा कूटता है, आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार सकीर्ण स्वार्थ और ममत्व मे वह रचा-पचा रहता हे।

इसी प्रकार जिन माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र-पुत्री, मामा, चाचा, नाना, बाबा, दादी, श्वसुर, सास, साला आदि के साथ निवास करता है उनके प्रति भी उसका ममत्वभाव हो जाता है। मनुष्य जिनके ससर्ग मे रहता है, उनके प्रति उसका मोह और राग हो जाता है। मोहवश वह यही समझता है 'ये मेरे है, मैं इनका हूँ।' इम प्रकार के ममत्वभाव के कारण वह उनसे सहायता, सेवा और स्वार्थसिद्धि की अपेक्षा रखता है, अगर वह आशा या अपेक्षा पूर्ण हो जाती है, तब तो मन मे प्रसन्न रहता है, अन्यथा उनके प्रति अप्रसन्न होता है, मन मे दुख पाता है, कुढता है। उन्हे भला-बुरा कहता है। वे सम्बन्धीजन भी उससे बहुत बडी आशा

रखते है, परन्तु जब उनकी वह आशा पूर्ण नही होती है तो वे उससे विमुख हो जाते है। इस प्रकार एक दूसरे के प्रति ममत्वभाव बढाते रहते हैं। इसी ममत्व परम्परा के कारण वह अज्ञानी जीव राग-द्वेषवश कर्मबन्धन के कारण कर्मोपदिष्ट नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार गतिरूप ससार मे परिभ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के शारीरिक, मानसिक दुःख पाता है, पीडित होता हैं। ऐसे जीव को शास्त्रकार ने 'वाल' कहा है। वाल का अर्थ है अज्ञ, सत् और असत् के विवेक से रहित।

वह केवल अपने माता-पिता आदि सम्बन्धी एवं इष्ट जनो पर ही नही, अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित द्विपद, चतुष्पद प्राणी, सोना, चाँदी, मणि, माणिक, सिक्के, घर के सामान, सुख-सामग्री, मकान, खेत, बाग, दुकान, जमीन, सम्पत्ति आदि विभिन्न वस्तुओ पर भी जो उसके सम्पर्क मे आती हैं, जिनके साथ रात-दिन वास्ता पडता है उनके प्रति भी गाढ आसक्त हो जाता है। उनके टूटने, फूटने, नष्ट होने, चुराये जाने, लूटे जाने छीने जाने या आग-पानी आदि से वियोग हो जाने पर गाढ मूर्च्छा (आसक्ति) के कारण वह रोता-पीटता है, विलाप करता है, खाना-पीना छोड देता है, आँसू वहाता हैं, शोक करता है, चिन्ता मे निमग्न हो जाता है, और कभी-कभी आत्महत्या भी कर बैठता है अथवा अति शोक से उसकी हृदयगति अवरुद्ध हो जाती है। ये सब ममत्व के खेल है। प्राणी उन तुच्छ वस्तुओ के मोह पाश मे बँध कर रात-दिन नये नये कर्मो के बन्धन करता रहता है। ऐसा व्यक्ति कर्मबन्धन की परम्परा से सहसा मुक्त नही हो पाता। यही शास्त्रकार का आशय है। इसीलिये शास्त्रकार कहते है—'जस्सि कुले मुच्छिए।'

- तात्पर्य यह है कि मनुष्य जन्म लेते ही पहले माता-पिता के सम्पर्क मे आता है, उनसे स्नेह (राग) करता है, क्योकि उनके समीप ही अधिक रहता है। फिर भाई-वहन के साथ स्नेह होता है। फिर खेल-कूद मे मित्रो और हमजोलियो के साथ उसका स्नेह हो जाता हैं। वाल्यावस्था बीत जाने पर युवावस्था मे आने पर, पत्नी आदि पर स्नेह करता है। फिर जब पुत्र, पौत्र आदि उत्पन्न हो जाते है, उनके प्रति आसक्ति हो जाती है। इसके साथ ही अपने माने हुए कुल, वंश, जाति, देश, सम्प्रदाय, कौम, प्रान्त, राष्ट्र आदि के प्रति भी ममत्व बढता जाता है और उन तमाम पदार्थों के प्रति भी उसकी आसक्ति हो जाती है, जिनके सम्पर्क मे वह आता है, जिनको वह अपने मान लेता है। उन सव सचित्त-अचित्त वस्तुओ के प्रति ममत्ववद्ध होकर कर्मबन्धन के फलस्वरूप यहाँ से मर कर परलोक मे जाता है, वहाँ फिर नये माता-पिता आदि से ममत्व बन्धन स्थापित हो जाता है। इसलिये

वह जन्म परम्परा क साथ ममत्व परम्परा का उल्लघन नही कर पाता। इसी कारण कर्मबन्धन की शृखला से मुक्त नही हो पाता। -

पूर्वोक्त गाथाओ मे बन्धन और उसके कारणो का स्वरूप बताया गया, अब 'कि वा तिउट्टइ' इस प्रश्न को ध्यान मे रख कर शास्त्रकार समाधान करते हैं—

मूल पाठ

वित्त' सोयरिया चेव, सव्वमेय न ताणइ।
सखाए जीविय चेव, कम्मुणा उ तिउट्टइ ॥ ५ ॥

सं त छाया

वित्त सोदर्य्याश्चैव सर्वमेतन्न त्राणाय।
सख्याय जीवितञ्चैव कर्मणस्तु त्रुट्यति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ

(वित्त) धन-सम्पत्ति (चेव) और (सोयरिया) सहोदर भाई, बहन, आदि (सव्व एय) ये सब, (न ताणइ) रक्षा नही कर सकते। (सखाए) यह जान कर (जीविय चेव) तथा जीवन को भी स्वल्प जानकर जीव (कम्मुणा उ) कर्म सं (तिउट्टइ) पृथक हो जाता है।

भावार्थ

चल-अचल, सचित्त-अचित्त, धन-सम्पत्ति एव सगे भाई-भगिनी आदि ये सब रक्षा करने मे समर्थ नही है[1] तथा जीवन भी स्वल्प है—यह भलीभाँति जानकर ही जीव कर्म से पृथक हो जाता है।

व्याख्या

बन्धन तोडने का उपाय

इस अध्ययन की प्रथम गाथा मे यह पूछा गया था—'क्या और किस को जानकर व्यक्ति बन्धन को तोड पाता है?' इसके उत्तर मे इस गाथा मे बन्धन तोडने और कर्मबन्धन से पृथक होने का सरल उपाय बताया है—'सखाए जीविय

---

१ 'वित्तेण ताण न लभे पमत्ते इमम्मि लोए अदुवा परत्थ' (प्रमादी मनुष्य सचित अचित या चल-अचल धन से इस लोक में या परलोक मे कोई त्राण-शरण या सुरक्षा नही पा सकता)। —उत्तराध्ययन

चेव कम्मुणा उ तिउट्टइ', तात्पर्य यह है कि बन्धन यहाँ कोई लोह शृंखला, रस्सी आदि का नही है, जिसे तोडने के लिये शरीर की ताकत लगानी पडे, यहाँ 'परिणामे बन्ध' इस अनुभव सूत्र के अनुसार मनुष्य के शुभाशुभ परिणामो—पूर्वोक्त गाथाओ मे वर्णित ममत्व, परिग्रह एव हिंसा के भावो—के अनुसार जो कठोर कर्मबन्धन हुए हैं, वे मन से हुए हैं और उन बन्धनो को तोडना भी मन से है। मन को मोडने और दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। क्योकि 'मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो' इस सूत्र के अनुसार मनुष्यो के बन्धन और मोक्ष (मुक्ति) का कारण उनका मन ही है। जिस मन को पहले धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-कबीलो के प्रति ममत्व तथा उनके लिये अनेक प्रकार की हिंसा मे लगाया था, उसको एकदम वहाँ से मोड कर यह विचार करो कि जिस जीवन के लिये तुम इतना उखाड-पछाड कर रहे हो, वह तो क्षणिक एव नाशवान है तथा जिन चल-अचल एव द्विपद, चतुष्पद आदि सचित्त प्राणिधन एव स्वर्ण, रजत, रत्न, मणि, मणिक, भूमि, खेत, मकान, दुकान आदि अचित्त धन से और भाई, बहन, माता, पिता आदि कुटुम्बीजनो से तुम रक्षा की आशा लगाए बैठे हो, वह भी निरर्थक है। क्योकि समय आने पर एव आयुष्य पूर्ण होने के समय ये सब कोई भी तुम्हे बचा नही सकते। कोई भी तुम्हे प्राणदान नही दे सकते। मृत्यु से रक्षा करने मे ये कोई भी समर्थ नही हैं। चाहे जितना धन किसी को रिश्वत के रूप में दे दो, या डाक्टर, वैद्य, हकीम, यत्रवादी, तत्रवादी, मत्रवादी, देवी-देव आदि को चाहे जितना धन दे दो, फिर भी वे मृत्यु को रोकने मे समर्थ नही है। माता-पिता या भाई-बहन थोडी बहुत सेवा कर सकते है किन्तु कर्मो के फल तो जिसने बाँधे हैं, उसे ही भोगने पडेंगे, दूसरे कोई भी व्यक्ति उसके बदले मे कर्मफल भोग नही सकते। ऐसी निरुपाय स्थिति में उचित यही है कि मन से इन सब के प्रति आशा, तृष्णा, मोह, ममता या मूर्च्छा के रूप में जो ममत्व बाँध रखा है, उसे मन से बिलकुल निकाल दे। ममत्व के मन से निकालते ही कर्मबन्धन स्वय टूट जायेंगे, आत्मा कर्म-बन्धन मे छूट जायगा। 'मनुष्य ने मन से ही कर्म-बन्धन बाँध हैं, इन्हे इसी प्रकार के प्रखर चिन्तन-बल से एक झटके मे तोड फेंके।'

वित्त सोयरिया चेव—'वित्त' शब्द से यहाँ केवल सोना, चाँदी या सिक्के आदि अचित्त (जड) धन ही नही, चेतन धन भी ग्रहण कर लेना चाहिए। 'सोयरिया' शब्द से एक ही उदर से जन्म लेने वाले सहोदर भाई-बहन ही नही, तमाम कुटुम्बीजनो का ग्रहण कर लेना चाहिए। इतना ही नही, शास्त्रकार का आशय 'वित्त' और 'सोयरिया' इन दो पदो मे ससार के समस्त सचित्त-अचित्त परिग्रह मे है, जिनका पहले वे उल्लेख कर चुके है। इसलिये यहाँ ये दोनो शब्द

ससार भर के परिग्रह के प्रतीक है। इसलिये इस गाथा के दूसरे चरण मे कहा है—'सव्वमेय न ताणइ'—अर्थात ये सव रक्षा करने मे समर्थ नही है। आशय यह है कि 'सव्व' शब्द मे यहाँ शास्त्रकार ने पूर्वगाथाओ मे वर्णित सभी ममत्व के कारण-भूत पदार्थो एव सम्वन्धी जनो का स्मरण करा दिया है। 'न ताणइ' (त्राण—रक्षण करने मे समर्थ नही है) कहकर शास्त्रकार ने शास्त्र-पाठक पर छोड दिया है कि वह प्रसगानुसार पूर्वोक्त गाथाओ से इन प्रश्नो का उत्तर ढूंढ ले—ये सव किसकी रक्षा नही कर सकते ? तथा ये सव किससे रक्षा करने में समर्थ नही है ? प्रथम प्रश्न का उत्तर तो इससे पूर्व की गाथा के आशयानुसार यह है कि 'जो यह मान बैठा है कि माता-पिता, भाई-वहन आदि या ये धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि मेरी रक्षा करेंगे, 'मै इनका हूँ' 'ये मेरे है' फिर समय पर ये मुझे किसी न किसी तरह वचा लेगे। मेरे प्राणो की रक्षा करेंगे।' दूसरे प्रश्न का उत्तर 'एव दुक्खा ण मुच्चइ' इस पक्ति में आ जाता है, कि कोई भी धन-सम्पत्ति या कुटुम्वी जन शारीरिक, मानसिक दु खो, रोग, जरा, मृत्यु आदि के भयकर दु खो या जन्म-मरण की परम्परा के घोरतम कष्टो से तुम्हारी रक्षा करने मे समर्थ नही है। मनुष्य अपनी रक्षा स्वय ही कर सकता है, मन को ममत्व से हटा कर समत्व की ओर मोड कर। केवल दृष्टिकोण वदलने की जरूरत है। तभी वह जिन कर्म-बन्धनो मे जकडा हुआ था, उन कर्म-वन्धनो से मुक्त (पृथक) हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि ससार के जितने भी सजीव-निर्जीव पदार्थ है, जिन पर व्यक्ति ने ममत्वभाव स्थापित करके कर्म-वन्धन वाँधे है, वे सव अति कष्टदायी शारीरिक, मानसिक प्राणान्तक पीडा भोगते हुए ममत्वी जीव की रक्षा करने मे समर्थ नही है, तथा प्राणियो का जीवन भी स्वल्प एव नाशवान है यह सम्यक् प्रकार से मन-मस्तिष्क में ठसाकर—ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से सचित्त-अचित्त तमाम प्रकार का परिग्रह, जीवहिंसा और स्वजन वर्ग के प्रति ममत्व आदि वन्धन स्थानो, कर्म-वन्धन के कारणो का हृदय से सर्वथा त्याग कर दे तो मनुष्य कर्म-वन्धनो से मुक्त हो सकता है। अथवा उक्त वातो को भली-भाँति जानकर जीव सयमानुष्ठानरूप क्रिया द्वारा वन्धन से छूट सकता है।

प्रश्न होता है कि जव व्यक्ति उन कुटुम्वी जनो या धन सम्पत्ति के प्रति इतना स्नेह रखता है, उनके लिये स्वय प्राण देने को तैयार रहता है, तव क्या वे उसकी पूर्वोक्त दु खो से रक्षा नही कर सकेंगे ?

शास्त्रकार ने तो इसका उत्तर स्पष्ट इन्कार मे दिया है—सव्वमेय ण ताणइ। अनुभव से भी यह प्रत्यक्ष देखा जाता है—एक व्यक्ति असाध्य रोग से पीडित है, मरण-

शय्या पर पडा हुआ है, सम्पूर्ण परिवार उसकी परिचर्या मे जुटा हुआ है, वैद्यो-हकीमो की कतार लगी हुई है, मन्त्रयन्त्रवादी भी अपना आसन जमाए जप कर रहे है, विपुल धन-सम्पत्ति मे यह व्यक्ति समृद्ध है, नौकर-चाकरो की भी घर मे कमी नही है, किन्तु जब मृत्यु आती है या रोगजनित पीडा होती हे, अथवा अन्य शारीरिक, मानसिक कष्ट होता है, तब वह टुकुर-टुकुर देखता रह जाता हे, कोई उसे पीडा या मौत से बचा नही सकता। इसीलिये तो नीतिकार कहते हैं—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, दारा गृहे बन्धुजना श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, धर्मानुगो गच्छति जीव एक ॥

धन खजाने मे या भूमिगृह मे पडा रहता है, पशु बाडे मे बँध रह जाते हैं, पत्नी घर मे रह जाती है, बन्धुजन उसके शव के साथ श्मशान तक जाते हैं, देह भी चिता तक साथ रहता है, परलोक के पथ मे तो इन सबको छोडकर जीव अकेला ही जाता है, केवल उसका किया हुआ धर्माचरण अवश्य साथ मे जाता है।

जिनके पास बडी भारी सेना थी, हाथी-घोडे थे, भरा-पूरा परिवार था, असख्य नौकर-चाकर थे, धन-दौलत का अम्बार लगा हुआ था, उनके साथ भी मृत्यु के समय कोई नही गया। कितनी असहायता, पराधीनता एव अशरणता है, प्राणी की? इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि कर्मबन्धन से मुक्त होना हो तो इन सबके प्रति ममत्वभाव का एकदम परित्याग कर दो। मन से कतई निकाल दो कि 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ'।[1]

इस अध्ययन का नाम स्वसमय-परसमय-वक्तव्यता है। इसके अनुसार शास्त्रकार ने स्वसिद्धान्त (जैन सिद्धान्त) की दृष्टि से बन्धन और उनके कारणो का स्वरूप एव उनसे विरत होने का उपाय बतला दिया, साथ ही मिथ्यात्व, अवि-रति, प्रमाद, कषाय और योग, बन्धन के इन पाँच मुख्य कारणो मे से अविरतिरूप कारण के सम्बन्ध मे अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया। अब परसमय के वक्तव्य के सन्दर्भ म शास्त्रकार दो बातें मुख्य रूप से सूचित करते हैं—"एक तो, दूसरे मत वादियो या दार्शनिको की बन्धन-विषयक मान्यता तथा आत्मा के स्वरूपबोध के

---

१ न सा मह, नो वि अह पि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज राग—जिस किसी भी स्त्री, पुत्र, माता, पिता तथा सासारिक सुख-सामग्री पर तुम्हारा मोह है, उसके विषय मे यह सोचो कि वह मेरी नही है और न ही मैं उसका हू। आत्मत्राता इस प्रकार मन मे प्रविष्ट राग या मोह को निकाल फेंके।

—दशवैकालिक, अ० २

ससार भर के परिग्रह के प्रतीक है। इसलिये इस गाथा के दूसरे चरण मे कहा है—'सव्वमेय न ताणइ'—अर्थात ये सब रक्षा करने मे समर्थ नही है। आशय यह है कि 'सव्व' शब्द मे यहाँ शास्त्रकार ने पूर्वगाथाओ मे वर्णित सभी ममत्व के कारण-भूत पदार्थो एव सम्बन्धी जनो का स्मरण करा दिया है। 'न ताणइ' (त्राण—रक्षण करने मे समर्थ नही है) कहकर शास्त्रकार ने शास्त्र-पाठक पर छोड दिया है कि वह प्रसगानुसार पूर्वोक्त गाथाओ से इन प्रश्नो का उत्तर ढूढ ले—ये सब किसकी रक्षा नही कर सकते ? तथा ये सब किससे रक्षा करने मे समर्थ नही है ? प्रथम प्रश्न का उत्तर तो इससे पूर्व की गाथा के आशयानुसार यह है कि 'जो यह मान बैठा है कि माता-पिता, भाई-बहन आदि या ये धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि मेरी रक्षा करेंगे, 'मै इनका हूँ' 'ये मेरे है' फिर समय पर ये मुझे किसी न किसी तरह बचा लेगे। मेरे प्राणो की रक्षा करेगे।' दूसरे प्रश्न का उत्तर 'एव दुक्खा ण मुच्चइ' इस पक्ति मे आ जाता है, कि कोई भी धन-सम्पत्ति या कुटुम्बी जन शारीरिक, मानसिक दु खो, रोग, जरा, मृत्यु आदि के भयकर दु खो या जन्म-मरण की परम्परा के घोरतम कष्टो से तुम्हारी रक्षा करने मे समर्थ नही है। मनुष्य अपनी रक्षा स्वय ही कर सकता है, मन को ममत्व से हटा कर समत्व की ओर मोड कर। केवल दृष्टिकोण बदलने की जरूरत है। तभी वह जिन कर्म-बन्धनो मे जकडा हुआ था, उन कर्म-बन्धनो से मुक्त (पृथक) हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि ससार के जितने भी सजीव-निर्जीव पदार्थ है, जिन पर व्यक्ति ने ममत्वभाव स्थापित करके कर्म-बन्धन बाँधे है, वे सब अति कष्टदायी शारीरिक, मानसिक प्राणान्तक पीडा भोगते हुए ममत्वी जीव की रक्षा करने मे समर्थ नही है, तथा प्राणियो का जीवन भी स्वल्प एव नाशवान है यह सम्यक् प्रकार से मन-मस्तिष्क में ठसाकर—ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से सचित्त-अचित्त तमाम प्रकार का परिग्रह, जीवहिंसा और स्वजन वर्ग के प्रति ममत्व आदि बन्धन स्थानो, कर्म-बन्धन के कारणो का हृदय से सर्वथा त्याग कर दे तो मनुष्य कर्म-बन्धनो से मुक्त हो सकता है। अथवा उक्त बातो को भली-भाति जानकर जीव सयमानुष्ठानरूप क्रिया द्वारा बन्धन से छूट सकता है।

प्रश्न होता है कि जब व्यक्ति उन कुटुम्बी जनो या धन सम्पत्ति के प्रति इतना स्नेह रखता है, उनके लिये स्वय प्राण देने को तैयार रहता है, तब क्या वे पूर्वोक्त दु खो मे रक्षा नही कर सकेंगे ?

शास्त्रकार ने तो इसका उत्तर स्पष्ट इन्कार मे दिया है—सव्वमेय ण ताणइ। अनुभव से भी यह प्रत्यक्ष देखा जाता है—एक व्यक्ति असाध्य रोग से पीडित है, मरण-

शय्या पर पड़ा हुआ है, सम्पूर्ण परिवार उसकी परिचर्या में जुटा हुआ है, वैद्यों-हकीमो की कतार लगी हुई है, मन्त्रयन्त्रवादी भी अपना आसन जमाए जप कर रहे है, विपुल धन-सम्पत्ति मे यह व्यक्ति समृद्ध है, नौकर-चाकरो की भी घर मे कमी नही है, किन्तु जब मृत्यु आती है या रोगजनित पीडा होती है, अथवा अन्य शारीरिक, मानसिक कष्ट होता है, तब वह टुकुर-टुकुर देखता रह जाता है, कोई उसे पीडा या मौत से बचा नही सकता। इसीलिये तो नीतिकार कहते है—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, दारा गृहे बन्धुजना श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, धर्मानुगो गच्छति जीव एक ॥

धन खजाने मे या भूमिगृह मे पडा रहता है, पशु बाडे मे बँध रह जाते है, पत्नी घर मे रह जाती है, बन्धुजन उसके शव के साथ श्मशान तक जाते हैं, देह भी चिता तक साथ रहता है, परलोक के पथ मे तो इन सबको छोडकर जीव अकेला ही जाता है, केवल उसका किया हुआ धर्माचरण अवश्य साथ मे जाता है।

जिनके पास बडी भारी सेना थी, हाथी-घोडे थे, भरा-पूरा परिवार था, असख्य नौकर-चाकर थे, धन-दौलत का अम्बार लगा हुआ था, उनके साथ भी मृत्यु के समय कोई नही गया। कितनी असहायता, पराधीनता एव अशरणता है, प्राणी की? इसीलिये शास्त्रकार कहते है कि कर्मबन्धन से मुक्त होना हो तो इन सबके प्रति ममत्वभाव का एकदम परित्याग कर दो। मन से कतई निकाल दो कि 'ये मेरे है, मै इनका हूँ'।[1]

इस अध्ययन का नाम स्वसमय-परसमय-वक्तव्यता है। इसके अनुसार शास्त्रकार ने स्वसिद्धान्त (जैन सिद्धान्त) की दृष्टि से बन्धन और उनके कारणो का स्वरूप एव उनसे विरत होने का उपाय बतला दिया, साथ ही मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, बन्धन के इन पाँच मुख्य कारणो मे से अविरतिरूप कारण के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया। अब परसमय के वक्तव्य के सन्दर्भ में शास्त्रकार दो बातें मुख्य रूप से सूचित करते हैं—"एक तो, दूसरे मत वादियो या दार्शनिको की बन्धन-विषयक मान्यता तथा आत्मा के स्वरूपबोध के

---

१ न सा महं, नो वि अहं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज राग—जिस किसी भी, स्त्री, पुत्र, माता, पिता तथा सासारिक सुख-सामग्री पर तुम्हारा मोह है, उसके विषय मे यह सोचो कि वह मेरी नही है और न ही मैं उसका हूँ। आत्मत्राता इस प्रकार मन में प्रविष्ट राग या मोह को निकाल फेंके।

—दशवैकालिक, अ० २

सम्बन्ध में उनका मन्तव्य क्या है ? दूसरे पूर्वाग्रह या मिथ्याभिनिवेश रूप मिथ्यात्व भी कर्मबन्ध का एक प्रबल कारण है, यह उन-उन मतवादियों में किस-किस रूप में पाया जाता है ?"

प्रकारान्तर से सत्यग्राही स्वसिद्धान्त तत्पर साधको को इस मिथ्यादर्शन से बचने या अपने आप की रक्षा करने की बात भी परोक्ष रूप से सूचित कर दी है। देखिये शास्त्रकार की उनके सम्बन्ध मे निष्पक्ष प्रतिपादनरूप गाथा—

मूल पाठ

एए गंथे विउक्कम्म, एगे समण - माहणा ।
अयाणंता विउस्सित्ता, सत्ता कामेहि माणवा ।।६।।

संस्कृत छाया

एतान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्य, एके श्रमण-ब्राह्मणा ।
अजानन्तो व्युत्सिता , सक्ता कामेषु मानवा ।।६।।

अन्वयार्थ

(एए गंथे) इन पूर्वोक्त ग्रन्थो को (विउक्कम्म) छोडकर (विउस्सित्ता) स्व-कल्पित ग्रन्थो या सिद्धान्तो मे अभिनिवेशपूर्वक विविध प्रकार मे बद्ध (एगे - माहणा) कई बौद्ध आदि श्रमण और बृहस्पति मतानुयायी ब्राह्मण (अयाणंतो माणवा) जो सत्य-सिद्धान्त के परमार्थ-वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ मानव हैं, (कामेहि) इच्छारूप और मदनरूप काम-भोगो मे आसक्त रहते है ।

भावार्थ

इन पूर्वोक्त ग्रन्थो या सिद्धान्तो का परित्याग करके कई शाक्य आदि श्रमण एव बार्हस्पत्य मतानुयायी ब्राह्मण स्वरचित सिद्धान्तो मे अभिनिवेश-पूर्वक बद्ध है। सत्य सिद्धान्तो के रहस्य से अनभिज्ञ वे मानव विविध काम-भोगो मे आसक्त है।

व्याख्या

परसमय मिथ्यात्व के कारण क्यो और कैसे ?

इस गाथा में दूसरे मतानुयायियो के सिद्धान्त शास्त्रकार ने प्रकारान्तर से मिथ्यात्व से ओत-प्रोत बताये हैं। इसे सिद्ध करने के लिये हमें जैन सिद्धान्तो की गहराई में उतरना पड़ेगा। जैन सिद्धान्त के अनुसार मिथ्यात्व का लक्षण है—जो

वस्तु जैसी और वस्तुत जिस स्वरूप मे है उसे वैसी और उस रूप में न मानकर मिथ्याग्रहवश विपरीत रूप में मानना। ऐसा मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) दो प्रकार का होता है—(१) यथार्थ तत्त्वो मे श्रद्धा न होना, (२) अयथार्थ वस्तु पर श्रद्धा करना। पहला मूढदशा मे होता है, दूसरा विचारदशा में। इस दृष्टि से मिथ्यात्व के १० भेदो[1] का उल्लेख भी जैनागम—स्थानाग सूत्र मे किया है—'जीव मे अजीव की मान्यता या श्रद्धा, अजीव मे जीव की श्रद्धा, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना, साधु को असाधु और असाधु को साधु मानना, ससार के मार्ग को मोक्ष-मार्ग और मोक्ष-मार्ग को ससार-मार्ग मानना और आठ कर्मों से मुक्त मे अमुक्त की और अमुक्त में मुक्त की मान्यता रखना।' मिथ्यात्व के विविध कारणो की दृष्टि से भी मिथ्यात्व के ५ एव २५ प्रकार शास्त्रो मे बताये गये है। यो तो पाँच भेदो मे ही २५ भेदो का समावेश हो जाता है। ये पाँच प्रकार ये है, जो मिथ्यात्व के कारणो की उद्घोषणा करते है[2]—(१) आभिग्रहिक, (२) अनाभिग्रहिक, (३) साशयिक, (४) अनाभोगिक एव (५) आभिनिवेशिक। तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही पक्षपातपूर्वक एक सिद्धान्त का आग्रह करना और अन्य पक्ष का खण्डन करना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। गुण-दोष की परीक्षा किये बिना ही सब पक्षो को बराबर समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। देव, गुरु, धर्म या सिद्धान्त के विषय मे सशय-शील बने रहना, कोई निर्णय न करना कि इसका स्वरूप यह है या वह ? इस प्रकार सशय के झूले में झूलते रहना साशयिक मिथ्यात्व है। विचारशून्य एकेन्द्रियादि जीवो की तरह विशेष ज्ञानविकलतापूर्वक जो मिथ्यात्व हो, वह अनाभोगिक मिथ्यात्व है तथा अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी उसकी स्थापना के लिये दुरभिनिवेश (दुराग्रह-हठ) करना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। इसी प्रकार तीन प्रकार के मिथ्यात्व भी है[3]—अक्रिया, अविनय, अज्ञान। ये मिथ्यात्व विपरीत श्रद्धा के अर्थ में नही किन्तु क्रिया, विनय और ज्ञान असम्यक् हो, दोष दूषित हो, उनको पकडे रखने के अर्थ मे ये मिथ्यात्व है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के ६ स्थान भी सन्मतितर्क में बताये गये है—

---

१ दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते त जहा—अधम्मे धम्म सण्णा, धम्मे अधम्म सण्णा अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे उमग्ग सण्णा। अजीवेसु जीव सण्णा, जीवेसु अजीव-सण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। —स्थानाग, सूत्र ७३४

२ धर्मसग्रह अधिकार २, श्लोक २२, कर्मग्रन्थ भा० ४, गा० ५२।

३ तिविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, त जहा—अकिरिया, अविणए, अणाणे। —स्थानाग, स्था० ३

णत्थि, ण णिच्चो, ण कुणइ, कय ण वेएइ, णत्थि णिव्वाण ।
णत्थि पमोक्खोवाओ, छ मिच्छत्तस्स ठाणाइ ॥

अर्थात्—आत्मा नही है, आत्मा नित्य नही है, आत्मा कर्ता नही है, आत्मा किसी भी कम का भोक्ता नही है, मोक्ष नही है मोक्ष का उपाय नही है, इस प्रकार ये ६ मिथ्यात्व के स्थान है ।

मिथ्यात्व के पूर्वोक्त लक्षण, प्रकार, स्थान और कारणो की कसौटी पर जब हम उन-उन पर-सिद्धान्तो को कसते है, जाचते और परखते है तो यह बात हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत हो जाती है कि ये परसमय या परसमय के प्रवर्तक मिथ्यात्व से कितने ग्रस्त हैं ? सर्वप्रथम बौद्धमत को लीजिए । बौद्धमत मे चार[1] आर्य सत्य माने जाते है—दु ख, समुदय, निरोध और मार्ग । तथागत बुद्ध इन चार आर्य सत्यो के आद्य उपदेष्टा हैं । रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान[2] ये पाँच विपाकरूप उपादान-स्कन्ध ही दुख है । जिससे पचस्कन्ध रूप दुख उत्पन्न होता है, उसे समुदय कहते है । ये ही पाँच स्कन्ध तृष्णा के सहकार से जब नवीन स्कन्धा की उत्पत्ति मे हेतु होते हैं, तब समुदय कहलाते है । ससार रूपी चारक (कैदखाने) का अभाव ही यहाँ निरोध है । इस कारण दु ख का निर्गमन या अनुत्पत्ति ही दु ख का निरोध कहलाता है । निरोध में हेतुभूत नैरात्म्यादि भावना रूप मे परिणत चित्त विशेष ही मार्ग कहलाता है ।

सचेतन-अचेतन परमाणुओ के प्रचय को स्कन्ध कहते हैं । इन पाँच स्कन्धो से भिन्न आत्मा नाम का कोई छठा स्कन्ध नही है । अर्थात् नाम-रूपात्मक इन्ही पाँच स्कन्धो मे आत्मा का व्यवहार होता है । ये ही पाँच स्कन्ध एक स्थान से दूसरे स्थान को तथा एक भव से भवान्तर को जाते हैं । अत ससरणधर्मा होने से ससारी है । इन विज्ञानादि पच स्कन्धो से अतिरिक्त सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान आदि का आधारभूत आत्मा नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है ।[3] न तो पच स्कन्धो से भिन्न आत्मा का प्रत्यक्ष से ही अनुभव होता है, और न आत्मा के साथ

१ इमानि वो भिक्खवे अरियसच्चानि तथानि अवितथानि अविसवादकानि
—विसुद्धि १६।२०-२२

२ सखित्तेन पञ्चूपादान क्खधापि दुक्खानि । —विसुद्धि० १६।५७

३ नात्माऽस्ति, स्कन्धमात्र तु क्लेशकर्माभि सस्कृतम् ।
अन्तरा भवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत् ॥
—अभिधम्मत्थ० ३

अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाला कोई लिंग है, जिससे अनुमान के द्वारा आत्मा सिद्ध हो सके। बौद्धमत में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण[1] अविसंवादी हैं, इनसे भिन्न कोई तीसरा प्रमाण नहीं है। ये पाँचो स्कन्ध क्षणिक हैं। ये न तो कूटस्थ नित्य है और न कालान्तर स्थायी है, अर्थात संसार के सभी संस्कार क्षणिक हैं, क्षण-स्थायी हैं। ये तो एक ही क्षण तक ठहरते हैं, और दूसरे क्षण में समूल नष्ट हो जाते हैं। अत कोई आत्मा नाम का स्वतन्त्र तत्त्व नही है, अपितु दीपक की लौ प्रतिक्षण नष्ट होती है, उसके स्थान में उसी के सदृश नूतन लौ उत्पन्न होती है, उसी तरह पूर्वापर ज्ञान प्रवाह रूप सन्तानें होती हैं।

इस प्रकार का प्रतिपादन सौत्रान्तिक बौद्धों द्वारा किया गया है। इस मत की मिथ्यादर्शनता तो इसी से सिद्ध हो जाती है कि यह आत्मा नामक तत्त्व को ही नही मानता है। जब आत्मा ही नही है तो पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, या बन्ध-मोक्ष किसके होंगे?

अब लीजिये सांख्यमत के सिद्धान्तों[2] की चर्चा। सांख्यदर्शन केवल[3] पच्चीस तत्त्वो के ज्ञान मात्र से मुक्ति मानता है, क्रिया को यानी चारित्र को बिलकुल महत्व नही देता। आधिभौतिक आध्यात्मिक एवं आधिदैविक इन तीन दुखो से जब प्राणी प्रबलरूप से सताया जाता है, और वह दुखो के आघात को सहते-सहते घबरा जाता है, तभी उसे दुख विघात के कारणभूत तत्त्वो की जिज्ञासा होती है। तत्त्व पच्चीस हैं। पुरुष (आत्मा) और प्रकृति[4] ये दो मुख्य तत्त्व हैं।[5] प्रकृति से महत् (बुद्धि) तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार और उससे १६ गण (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मलस्थान, मूत्रस्थान, वाणी, हाथ और पैर ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ,

---

१ यथाहि इन्धनमुपादायाग्नि एव स्कन्धानुवादाय आत्मा प्रज्ञप्यते।
—चतु श० वृ० १०।३

२ प्रधान प्रकृति स्यक्तमव्याकृत चेत्यनर्थान्तरम्। —साख्यसूत्र

३ पचविंशति तत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रत।
जटी मुंडी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशय॥ —सा० का० माठरवृत्ति
साख्य के पच्चीस तत्त्वो को जानने वाला चाहे जिस आश्रम मे रहे, वह चाहे शिखा रखे, सिर मुँडाए या जटा धारण करे उसकी मुक्ति निश्चित है।

४ प्रकृति प्रधान सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था। —साख्यतत्त्वकौमुदी, का० ३१

५ प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशक।
तस्मादपि षोडशकात् पचभ्य पचभूतानि॥ —सां० का०

मन तथा रूप रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच तन्मात्राएँ (विपय), ये तव मिलाकर १६ गण) होते है। इन १६ गणो से पाँच महाभूत (रूप से अग्नि, रस से जल, गन्ध से पृथ्वी, शब्द से आकाश तथा स्पर्श मे वायु ये पाँच महाभूत) उत्पन्न होते ह। ये २४ और पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुप (आत्मा) हे, जो निसग है, निष्क्रिय है, अकर्ता है, निर्गुण है, भोक्ता है, तथा नित्य चेतन है।[1] प्रकृति किसी का विकार यानी कार्य नही है। वह सत्त्व, रज, और तम तीनो गुणो की साम्यावस्था है। पुरुप न किसी को उत्पन्न करता है, न किसी से उत्पन्न होता है, इसलिए वह न प्रकृति है, न विकृति है। वह (आत्मा) प्रकृति आदि २४ तत्त्वो से भिन्न है। वह विषय सुख आदि को तथा इनके कारण पुण्य-पाप आदि कर्मो को नही करता, इसलिए वह अकर्ता हे। आत्मा मे करने-धरने की सामर्थ्य नही है। कर्त्री-धर्त्री तो प्रकृति है। क्योकि पुरुष तो सत्त्वादि गुणो से सर्वथा रहित है, सत्त्वादि तो प्रकृति के धर्म है, इसलिये प्रवृत्ति करना प्रकृति का स्वरूप है। पुरुप (आत्मा) भोक्ता अवश्य है। वह विषयो को साक्षात नही भोगता (अनुभव करता), अपितु प्रकृति के विकाररूप[2] बुद्धि दर्पण मे सुख-दुखादि विषय प्रतिबिम्वित होते हैं। बुद्धि दर्पण मे प्रतिबिम्वित सुख-दुखादि की छाया, अत्यन्त निर्मल पुरुप मे पडती है, वही पुरुष का भोग है। ऐसे ही भोग के कारण पुरुष भोक्ता कहलाता है।[3] जिस तरह जवा पुष्प आदि रगीन वस्तु के सन्निधान से स्वच्छ स्फटिक भी लाल आदि रग वाला कहा जाता है, ठीक उसी तरह प्रकृति के ससर्ग के कारण स्वच्छ पुरुप मे भी सुख-दुखादि के भोक्तृत्व का व्यपदेश हो जाता है। बुद्धि रूपी माध्यम (उभयत पारदर्शी दर्पण) मे चैतन्य और विषय का युगपत प्रतिबिम्व पडने से ही पुरुष अपने को 'मैं

---

१ मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्यो प्रकृति विकृतिय सप्त।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष ॥ —सा० का०

२ बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति मन सकल्प्य अहकारस्य अहकारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्ष भूतायाम्। सर्व प्रत्युपभोग यस्मात् पुरुपस्यसाधयति बुद्धि। सैव च विशिनष्टि पुन प्रधान पुरुपान्तर सूक्ष्मम् (३७) बुद्धिर्हि पुरुषस्य सन्निधानात तच्छायापत्त्या तद्रूपेवसर्वविपयोपभोग पुरुषस्य साध्यति।
—सा० का०

३ तस्मिश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टय। इमास्ता प्रतिबिम्बित सरसीव तटद्रुमा यथा सलक्ष्यते रक्त केवल स्फटिको जनै रञ्जकाद्युपधानेन तदवत-परमपुरुप। —योग सा०

ज्ञाता हूँ, भोक्ता हूँ आदि मानने लगता है।[1] प्रकृति और पुरुष का संयोग अंधे और लंगडे के समान है। अंधी प्रकृति के कंधे पर चढा हुआ, लंगडा पुरुष अज्ञानवश प्रकृति-संसर्ग को सुखरूप मानकर संसार-परिभ्रमण करता रहता है। पुरुष का मोक्ष तभी होगा, जब प्रकृति और पुरुष में भेद-ज्ञान होने से प्रकृति का वियोग होगा। सुख-दुख-मोहरूपा प्रकृति से अपने स्वरूप को आत्मा भिन्न नहीं समझता, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। प्रकृति को आत्मा से भिन्न समझने पर ही प्रकृति का व्यापार रुक जाता है और आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, यही मोक्ष है। अत सांख्यमतानुसार पुरुष न तो कारणरूप है, न कार्यरूप, अत उसको न बन्ध होता है, न मोक्ष और न संसार ही। ये सब बन्ध आदि तो प्रकृति को होते हैं।[2] किन्तु प्रकृति में होने वाले ये बन्ध आदि विवेक (भेदज्ञान) न होने के होने के कारण उपचार से भोक्ता पुरुष के कहे जाते हैं।

इस प्रकार विचित्र सांख्यमत, जो आत्मा को बिलकुल निष्क्रिय और अकर्ता मानते हुए भी भोक्ता मानता है, साथ ही भोक्ता आत्मा को न तो वह बन्ध मानता है, न मुक्ति और न संसरण (जन्म-मरण रूप संसार परिभ्रमण ही)। भला यह तो सरासर मिथ्यात्व है कि 'करे कोई, भोगे कोई', 'करे प्रकृति, भोगे आत्मा'। और विषयोपभोग में प्रवृत्त होने पर भी आत्मा के कोई बन्धन नहीं, न उसे मुक्ति की कोई परवाह है। सांख्यमत के अनुयायियो की चर्चा का परिचय माठरवृत्ति में बताया गया है—

हस पिब लल खाद मोद नित्य, भुक्ष्व च भोगान् यथाभिकामम्।
यदि विदित ते कपिलमत, तत्प्राप्स्यसि मोक्ष-सौख्यमचिरेण॥

खूब हँसो, मजे से पीओ, प्यार करो, शरीर को खूब लाड करो, खूब खाओ, मौज करो, प्रतिदिन इच्छानुसार भोगो को भोगो, इस तरह जो तबियत में आवे, बेखटके करो। इतना सब करके भी यदि कपिल (सांख्य) मत को समझ लोगे तो शीघ्र मोक्ष सुख को प्राप्त कर लोगे।

अब आइए वैशेषिक मत की ओर। वैशेषिकदर्शन[3] में ६ पदार्थ माने

---

१ पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृत सर्ग॥ —सा० का० २१

२ तस्मान्न बध्यते नैव मुच्यतेनाऽपि ससरति।
कश्चित् ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रयाप्रकृति॥ —सा० का० ६२

३ धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म-सामान्य-विशेष समवायाना पदार्थाना साधर्म्य-वैधर्म्याभ्या तत्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगम। —वैशेषिक सूत्र १।४।२

गये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इन्हा ६ पदार्थो मे ससार की सभी वस्तुएँ आ गई ह। द्रव्य नौ ह—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। पृथ्वी आदि के गुण या लक्षण न्यायदर्शन की तरह माने गये है। जीवो का जब कर्मफल भोगने का समय आता है, तब महेश्वर को उस भोग के अनुकूल सृष्टि रचने की इच्छा होती है। इस इच्छा के अनुसार जीवो के अदृष्टबल से वायु के परमाणुओ मे हलचल होती है। इनमे सयोग होता है। दो परमाणुओ के मिलने से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुक से त्रसरेणु। इसी क्रम से एक महावायु उत्पन्न होता है, उसी वायु मे परमाणुओ के परस्पर सयोग से जलद्व्यणुक त्रसरेणु आदि क्रम से महाजलनिधि उत्पन्न होता है। जल मे पृथ्वी के परमाणुओ के सयोग से द्व्यणुकादि क्रम से महापृथ्वी,[1] तथा उसी जलनिधि मे तेजस् परमाणुओ के परस्पर सयोग से द्व्यणुकादि क्रम से महातेजोराशि उत्पन्न होती है। इस प्रकार चारो महाभूत उत्पन्न होते है, यही वैशेषिको का परमाणुवाद है। अदृष्ट मे धर्म-अधर्म दोनो का समावेश है। धर्म उसे कहा गया है, जिससे पदार्थो का तत्त्वज्ञान होने से मोक्ष होता है। विशेषत वैशेषिकदर्शन ने बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, धर्म, अधर्म, ममत्व, भावना नामक सस्कार और द्वेष, आत्मा के इन नौ गुणो का अत्यन्त उच्छेद हो जाना मोक्ष माना है। यह विचित्र मान्यता है कि मोक्ष मे आत्मा के गुणो का सर्वथा नाश हो जाता है, एक प्रकार से जडीभूत बन जाता है आत्मा।

इस प्रकार हम देखते है कि वैशेषिकदर्शन मे कोई कर्म-बन्धन की या उससे मुक्त होने की प्रक्रिया नही बताई गई है। केवल परमेश्वर पर सारा भार डाल दिया गया है, जीवो के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल भोग कराने का। विशेषत तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति बता दी है और अहिंसादि का पालन, त्याग आदि की क्रिया कतई नही बताई गयी है। यही मिथ्यात्व का कारण है।

अब लीजिए नैयायिको को। न्यायदर्शन मे १६ तत्त्व माने गये है और उनके तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष प्राप्ति मानी गयी है[2]। इनके मत मे ईश्वर को देव मानते है।

---

१ पृथ्व्यपतेजोवाय्वाकाशकालोदिगात्मामन इति द्रव्याणि।
—वैशेषिक सूत्र १।१।५।४

२ प्रमाण, प्रमेय, सशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रह स्थानाना तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगम।
—न्यायसूत्र १।१।१।१

अर्थात् प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान इन सोलह तत्त्वो के ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

वह जगत की सृष्टि एवं प्रलय करने में समर्थ है। वह व्यापक, नित्य तत्त्व तथा नित्यज्ञानशाली शिव देवता है।

नैयायिको का मिथ्यात्व तो इसी से प्रगट होता है कि वे सिर्फ १६ तत्त्वों के ज्ञानमात्र से मुक्ति-प्राप्ति मानते हैं। कितना सस्ता है, मुक्ति का सौदा? त्याग, व्रत, नियम आदि कुछ करना-धरना नही है। ईश्वर के हाथ में मुक्ति है ही। फिर क्या आवश्यकता है, किसी को सयम-अहिंसादि धर्माचरण द्वारा कर्मबन्धन को काटने की।

अब जरा मीमासकों की ओर भी झांक लीजिए। मीमासको का मत है कि इस जगत् मे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सृष्टिकर्ता, वीतराग आदि विशेषण वाला कोई भी देव नही है, जिसके वचनो को प्रमाण माना जाए। जब बोलने वाला अतीन्द्रियार्थ का प्रतिपादक यथार्थवक्ता कोई देव नही है, तब कोई भी आगम सर्वज्ञप्रणीत कैसे कहा जा सकता है? अत यह अनुमान स्पष्टत किया जा सकता है कि कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नही है क्योकि वह मनुष्य है, जैसे गली मे चक्कर काटने वाला मूर्ख आदमी। सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने की शक्ति किसी सद्‌पलम्भक प्रमाण मे नही है। प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षावलम्बी सर्वज्ञ सिद्ध नही कर सकता। दूसरा कोई सर्वज्ञ दिखाई भी नही देता कि उसके सदृश बताकर उपमान से सर्वज्ञ सिद्ध हो सके।[1] सर्वज्ञ साधक कोई अविनाभावी पदार्थ भी नही दिखाई देता, जिसके बल पर अर्थापत्ति से सर्वज्ञ सिद्ध हो सके। प्रश्न होता है कि जब इन्द्रियो के अगोचर, अतीत-अनागतकालीन पदार्थ, आत्मा, पुण्य, पाप, काल, स्वर्ग-नरक, परमाणु आदि देश, काल, स्वभाव से विप्रकृष्ट[2] अतीन्द्रिय पदार्थो का साक्षात्कार करने वाला कोई सर्वज्ञ नामक पुरुष-विशेष या सर्वज्ञप्रणीत आगम नही है, तब अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान कैसे होगा?

इसके उत्तर मे मीमासको का कहना है कि ऐसी स्थिति मे उत्पाद-विनाश से रहित नित्य, सदा स्थिर व एकरूप रहने वाले, अपौरुषेय (किसी पुरुष द्वारा

---

१ सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभि।
निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना॥

२ न चागमेन सर्वज्ञस्तदीयेऽन्योन्याश्रयात्।
नरान्तर प्रणीतस्य प्रामाण्य गम्यते कथम्?

—मी० श्लोक चोदनासूत्र

रचित नही)[1] वेदो के वाक्यो से ही धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थो का यथावत परिज्ञान हो सकता है। अत सर्वप्रथम शुद्ध वेदपाठ स्वरपूर्वक कर लेना चाहिए, तभी धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। धर्म को जानने का एकमात्र साधन है—चोदना-वेद। मीमासक लोग हवन, यज्ञ, सर्वभूत-अहिंसा, दान आदि क्रियाओ मे प्रवृत्ति कराने वाले वेद-वचन को कहते है। वेदवचन के सिवाय कोई भी वर्तमान मे विद्यमान पदार्थबोधक प्रत्यक्षादि प्रमाण धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थ को नही जान सकता। इसीलिए धर्म का लक्षण किया हे—वेदवचन की प्रेरणारूप ही धर्म हे। मीमासामत मे मुक्ति नही है। स्वर्ग तक की दौड है। कर्मकाण्डो से ही ज्ञान मानते है। वेदवचन से ही सारा ज्ञान हो सकता है।

कैसा विचित्र मत हे। वेद का उच्चारण कण्ठ-तालु आदि के आघात से होता हे। वह किसी न किसी साकार पुरुप द्वारा ही हो सकता हे ? इसीलिए सर्वज्ञ न मानकर वेद को ही सर्वज्ञ का स्थान देना, एक प्रकार का द्राविड प्राणायाम ही हे। और फिर कर्मबन्धन से मुक्त होने का तो मीमासको के पास कोई उपाय ही नही है। उनकी दौड स्वर्ग तक ही है, जो पुण्य से प्राप्त होता है, जहाँ से जन्म-मरण का चक्र मिटता नही हैं। अत मीमासामत के मिथ्यात्व को तो उनके द्वारा मान्य सिद्धान्त ही कह देते है।

अब रहा चार्वाकमत। इसकी नास्तिकता एव मिथ्यात्व तो लोकप्रसिद्ध है। इस मत का विशेष स्वरूप तो शास्त्रकार स्वय आगे बताएगे। यहाँ तो इतना ही कहना है कि चार्वाकमत मे शरीर को ही सब कुछ माना गया है। वही आत्मा है, जो यही समाप्त हो जाता है, परलोक या पुण्य-पाप आदि कुछ नही है। जो कुछ प्रत्यक्ष दीखता है, वही है। यही सारा खेल खत्म हो जाता है। बृहस्पति आचार्य अपनी बहन से भी यही कहते हैं—'हे भद्रे ! जितना यह दिखाई देता है, उतना ही लोक है। जैसे मूढ मनुष्य भूमि पर अकित मनुष्य के पैर को ही झूठमूठ भेडिये का पैर बताते हैं, वैसे ही स्वर्ग-नरक आदि की झूठी कल्पना लोग किया करते है। सुन्दरि ! उत्तमोत्तम भोजन खाओ औरपीओ। जो समय चला गया वह तुम्हारा

१　अतीन्द्रियाणामर्थाना साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते।
　(वेद) वचनेन हि नित्येन य पश्यति स पश्यति ॥　　　　—कुमारिलभट्ट

२　चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म । चोदना इति क्रियाया प्रवर्तक वचनमाह ।
　　　　　　　　　　　　　　　　—मी० सू० शाब्व भा० १।१।२

नही रहा। हे भीरु ! गया समय लौटकर नही आता तथा यह शरीर भी पच महाभूतो का पुज ही है।'

इस प्रकार चार्वाकमत (लोकायतिक) अपने ही मुँह से अपने मिथ्यात्व को प्रमाणित कर रहा है। क्योंकि प्रत्यक्ष के सिवाय और कोई प्रमाण यह नहीं मानता। जब आत्मा नाम का कोई पदार्थ नही मानता, तब पुण्य-पाप, उनके कारण शुभा-शुभ कर्मबन्धन एव उसके फलस्वरूप स्वर्ग-नरक एव सर्वथा कर्मबन्धन से मुक्त होने का उपाय ही सिद्ध नही होता।

पूर्वोक्त मतवादियो के सिद्धान्त मे आत्मा का अस्तित्व प्रथम तो माना नही है, माना भी है तो विपरीत रूप मे माना है। आत्मा केवल तत्त्वज्ञान कर लेने से या क्रियाकाण्ड कर लेने से तथा अहिंसा आदि सयम एव धर्म का आचरण करने से कैसे कर्मबन्धनो से मुक्त हो जायगा। परन्तु ज्ञानावरणीय आदि कर्मबन्धनो को न मानने से कोई भी व्यक्ति कर्मबन्धन के फलस्वरूप दुर्गति आदि से छूट नही सकता तथा उन कर्मो के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति (आरम्भ, परिग्रह आदि), प्रमाद, कषाय, योग आदि बन्धनो से वह तब तक अपनी आत्मा को जकडे रहेगा, जब तक वह स्वच्छन्द-मति-कल्पित सिद्धान्तो का पल्ला (पूर्वाग्रह रूप मिथ्यात्व) नही छोड देगा और अपने मिथ्या सिद्धान्तानुसार स्वच्छन्दतापूर्वक विषयासक्ति, प्रमाद, परिग्रह, हिंसा आदि अविरति को नही छोड देगा। इसीलिए तो शास्त्रकार ने कहा है—'एए गथे विउक्कम्म सत्ता कामेहि माणवा।'

तात्पर्य यह है कि आभिनिवेशिक या आभिग्रहिक मिथ्यात्व या मिथ्याग्रह-वश ये अज्ञ पुरुष जब तक तथाकथित मतवादी श्रमण-ब्राह्मण सर्वज्ञ वीतराग-प्ररूपित सत्य सिद्धान्तो को तिलाजलि देकर अपने माने हुए अपसिद्धान्तो को (जो कि अल्पज्ञो एव रागी-द्वेषी पुरुषो द्वारा कथित है) दृढता से पकडे रहेगे, तब तक अपने कल्पित-मतानुसार चलकर इन्द्रियविषयक क्षणिक कामभोगो मे आसक्त रहेगे और मिथ्यात्व तथा अविरति के कारण कर्म-बन्धन करते रहेगे और उनके फल-स्वरूप अनेक गतियो और योनियो मे जन्म-मरण के एव तज्जनित दुख उठाते रहेगे।

---

१ एतावानेव पुरुषो यावानिन्द्रियगोचर ।
भद्रे ! वृकपद पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुता ॥
पिब खाद च साधु शोभने ! यदतीत वरगात्रि ! तन्न ते ।
नहि भीरु ! गत निवर्तते, समुदयमात्रमिद कलेवरम् ॥

गन्थे विउ —इस वाक्य का एक और भी अर्थ परिलक्षित होता है। वह यह है कि पूर्वोक्त गाथाओ मे जो ग्रन्थ अर्थात कर्मबन्धन मे डालने वाली गाँठें—हिंसा, परिग्रह, ममत्व आदि बताई गई हैं उन कर्मबन्धन के ग्रन्थो को गाँठ न समझ कर वे ठुकरा देते हे, अपनी स्वच्छन्दबुद्धि से कल्पित मतो मे अत्यन्त बँधे रहते है। उन्हे भान ही नही होता या उनके मन मे अज्ञानवश कोई विचार ही नही उठता कि कर्मबन्धन के कारणो को बढावा देने वाले इन मतो को पकडे रहकर तदनुसार विषयासक्ति मे फँसकर मैं अपनी आत्मा को बन्धन से मुक्त करने की अपेक्षा उलटे बन्धनो मे डाल रहा हूँ।

इसीलिए अनन्त करुणा से प्रेरित होकर सर्वज्ञ वीतराग प्रभु कहते है—'अयाणता विउ ा सत्ता कामेहि माणवा' वे दयनीय मानव इन पूर्वोक्त कर्मबन्धन की गाँठो को नही जान-समझ कर इनकी उपेक्षा कर देते है, और अपने मनमाने मत मे बँध कर तदनुसार वैषयिक सुखभोगो मे लीन हो जाते है। इस प्रकार वे बेचारे अपनी आत्मा को मुक्त करने के बजाय और अधिक बन्धनो मे डालते हैं।

अब इस उद्देशक की अगली समस्त गाथाओ मे कर्मबन्धन के प्रबल कारण-भूत मिथ्यात्व से ग्रस्त विभिन्न मतवादियो के सिद्धान्त का वर्णन करते है। ी और आठवी गाथा मे पचमहाभूतवादियो के मत का दिग्दर्शन कराते है—

मूल पाठ

संति पच महब्भूया, इह मेगेसिमाहिया।
पुढवी आउ तेऊ वा वाउ आगासपंचमा ॥७॥

ा

सन्ति पन्च महाभूतानीहैकेषामाख्यातानि।
पृथिव्यापस्तेजो वा वायुराकाशपन्चमानि ॥७॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक मे (पच महब्भूया) पाँच महाभूत (सन्ति) हैं, (एगेसिं) ऐसा किन्ही ने, (आहिया) कहा। (पुढवी) पृथ्वी, (आउ) जल, (तेऊ) तेज, (वाउ) वायु (वा) और (आगास पचमा) पाँचवाँ आकाश।

भावार्थ

पच महाभूतवादियो का कथन है कि इस लोक मे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत है।

मूल पाठ

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेण, विणासो होइ देहिणो ॥८॥

संस्कृत छाया

एतानि पञ्चमहाभूतानि, तेभ्य एक इत्याख्यातवन्त ।
अथ तेषा विनाशेन, विनाशो भवति देहिन ॥८॥

अन्वयार्थ

(एए) ये (पचमहब्भूया) पाच महाभूत है। (तेब्भो) इनसे (एगोत्ति) एक आत्मा उत्पन्न होता है, यह उन्होने (आहिया) कहा है। (अह) इसके पश्चात (तेसिं) उन पच महाभूतो के (विणासेण) विनाश होने से (देहिणो) आत्मा का (विणासो) विनाश (होइ) हो जाता है।

भावार्थ

पूर्वगाथा मे कहे हुए पृथ्वी आदि पाँच महाभूत है। इन पाँच महाभूतो से एक आत्मा उत्पन्न होता है, ऐसा लोकायतिक कहते है। फिर वे मानते है कि इन पाँच महाभूतो के नष्ट होने से आत्मा का भी नाश हो जाता है।

व्याख्या

पचमहाभूतवादी चार्वाकमत का स्वरूप और विश्लेषण

(उपर्युक्त दोनो गाथाओ मे पचमहाभूतवादी चार्वाक का स्वरूप बताया गया है। इसके बताने का शास्त्रकार का प्रयोजन यह है कि जिज्ञासु और मुमुक्षु साधक इस बात को भलीभाँति समझ जाय कि चार्वाकमतवादी किस प्रकार प्रमाणसिद्ध वीतराग प्ररूपित सत्य सिद्धान्त को ठुकरा कर प्रमाणो और तर्कों से मिथ्या सिद्ध होने वाले मत को पूर्वाग्रहवश पकड कर मिथ्यात्व के फन्दे मे फँसे रहते है और मिथ्यात्व के फलस्वरूप नाना कर्मबन्धन करते रहते है, उनसे मुक्त नही हो पाते।)

सति पचमहब्भूया—कुछ लोग यह शका उठाते हैं कि साख्य एव वैशेषिक आदि दर्शनो मे भी पचमहाभूत को माना है। जैसे कि साख्यदर्शन का मत है—(सूक्ष्मसज्ञक) रूपतन्मात्रा से तेज, रसतन्मात्रा से जल, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी और शब्दतन्मात्रा से आकाश—इस प्रकार पाँच तन्मात्राओ से पाँच

गन्थे विउक्कम्म—इस वाक्य का एक और भी अर्थ परिलक्षित होता है। वह यह है कि पूर्वोक्त गाथाओ मे जो ग्रन्थ अर्थात कर्मवन्धन मे डालने वाली गाँठे—हिंसा, परिग्रह, ममत्व आदि बताई गई है उन कर्मवन्धन के ग्रन्थो को गाँठ न समझ कर वे ठुकरा देते है, अपनी स्वच्छन्दबुद्धि से कल्पित मतो मे अत्यन्त बँधे रहते है। उन्हे भान ही नही होता या उनके मन मे अज्ञानवश कोई विचार ही नही उठता कि कर्मवन्धन के कारणो को वढावा देने वाले इन मतो को पकडे रहकर तदनुसार विपयासक्ति मे फँसकर मैं अपनी आत्मा को वन्धन से मुक्त करने की अपेक्षा उलटे बन्धनो मे डाल रहा हूँ।

इसीलिए अनन्त करुणा से प्रेरित होकर सर्वज्ञ वीतराग प्रभु कहते हैं—**'अयाणता विउस्सित्ता कामेहि माणवा'** वे दयनीय मानव इन पूर्वोक्त कर्मबन्धन की गाँठो को नही जान-समझ कर इनकी उपेक्षा कर देते है, और अपने मनमाने मत मे बँध कर तदनुसार वैपयिक सुखभोगो मे लीन हो जाते है। इस प्रकार वे बेचारे अपनी आत्मा को मुक्त करने के बजाय और अधिक बन्धनो मे डालते है।

अब इस उद्देशक की अगली समस्त गाथाओ मे कर्मवन्धन के प्रबल कारण-भूत मिथ्यात्व से ग्रस्त विभिन्न मतवादियो के सिद्धान्त का वर्णन करते हैं। सातवी और आठवी गाथा मे पचमहाभूतवादियो के मत का दिग्दर्शन कराते है—

मूल

सति पच महब्भूया, इह मेगेसिमाहिया।
पुढवी आउ तेऊ वा वाउ आगासपंचमा ॥७॥

छाया

सन्ति पन्च महाभूतानीहैकेषामाख्यातानि।
पृथिव्यापस्तेजो वा वायुराकाशपन्चमानि ॥७॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक मे (पच महब्भूया) पाँच महाभूत (सन्ति) हैं, (एगेसिं) ऐसा किन्ही ने, (आहिया) कहा। (पुढवी) पृथ्वी, (आउ) जल, (तेऊ) तेज, (वाउ) वायु (वा) और (आगास पचमा) पाँचवाँ आकाश।

र्थ

पच महाभूतवादियो का कथन है कि इस लोक मे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत है।

मूल पाठ

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेण, विणासो होइ देहिणो ॥८॥

सस्कृत छाया

एतानि पञ्चमहाभूतानि, तेभ्य एक इत्याख्यातवन्त ।
अथ तेषा विनाशेन, विनाशो भवति देहिन ॥८॥

अन्वयार्थ

(एए) ये (पचमहब्भूया) पाच महाभूत है । (तेब्भो) इनसे (एगोत्ति) एक आत्मा उत्पन्न होता है, यह उन्होने (आहिया) कहा है । (अह) इनके पश्चात (तेसिं) उन पच महाभूतो के (विणासेण) विनाश होने से (देहिणो) आत्मा का (विणासो) विनाश (होइ) हो जाता है ।

भावार्थ

पूर्वगाथा मे कहे हुए पृथ्वी आदि पाँच महाभूत है । इन पाँच महाभूतो से एक आत्मा उत्पन्न होता है, ऐसा लोकायतिक कहते है । फिर वे मानते है कि इन पाँच महाभूतो के नष्ट होने से आत्मा का भी नाश हो जाता है ।

व्याख्या

पचमहाभूतवादी चार्वाकमत का स्वरूप और विश्लेषण

(उपर्युक्त दोनो गाथाओ मे पचमहाभूतवादी चार्वाक का स्वरूप बताया गया है । इसके बताने का शास्त्रकार का प्रयोजन यह है कि जिज्ञासु और मुमुक्षु साधक इस बात को भलीभाँति समझ जाय कि चार्वाकमतवादी किस प्रकार प्रमाणसिद्ध वीतराग प्ररूपित सत्य सिद्धान्त को ठुकरा कर प्रमाणो और तर्कों से मिथ्या सिद्ध होने वाले मत को पूर्वाग्रहवश पकड कर मिथ्यात्व के फन्दे मे फँसे रहते है और मिथ्यात्व के फलस्वरूप नाना कर्मबन्धन करते रहते है, उनसे मुक्त नही हो पाते ।)

सति पचमहब्भूया—कुछ लोग यह शका उठाते है कि साख्य एव वैशेषिक आदि दर्शनो मे भी पचमहाभूत को माना है । जैसे कि साख्यदर्शन का मत है—(सूक्ष्मसज्ञक) रूपतन्मात्रा से तेज, रसतन्मात्रा से जल, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी और शब्दतन्मात्रा से आकाश—इस प्रकार पाँच तन्मात्राओ से पाँच

महाभूतो की उत्पत्ति होती हे।[1] साख्यमत के २५ तत्त्वो मे से बाकी सबका क्रम और स्वरूप हम पहले बता चुके हैं।

वैशेपिकदर्शन भी पाँच महाभूत को मानता है। उसकी मान्यता यह है कि द्रव्य नौ है— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच द्रव्य पचभूत है। पृथ्वी, जल, तेज, और वायु ये ४ द्रव्य (भूत) प्रत्येक नित्य और अनित्य दो प्रकार के है। परमाणु-रूप पृथ्वी जल आदि नित्य है, किन्तु परमाणुओ के सयोग से बने हुए द्व्यणुक आदि स्थूल कार्य द्रव्य पृथ्वी आदि अनित्य है। आकाश द्रव्य किसी कारण से उत्पन्न न होने से नित्य ही है। पृथ्वीत्वरूप[2] धर्म के सम्बन्ध से पृथ्वी होती है। वह परमाणु-रूप नित्य है, और द्व्यणुकादि क्रम से उत्पन्न होने वाली कार्यरूपा पृथ्वी अनित्य है। वह पृथ्वी रूप, रस, गध, स्पर्श, सख्या, परिमाण पृथकत्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग नामक चौदह गुणो से युक्त है तथा जलत्व रूप धर्म के सम्वन्ध से जल होता है। वह भी रूप, रस, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग, विभाग, गुरुत्व स्वाभाविक द्रवत्व, स्नेह और वेग नामक गुणो से युक्त है। जल का रूप शुक्ल है, स्पर्श शीत ही है। तेजस्त्व धर्म सम्बन्ध से तेज होता है। वह रूप, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व नैमित्तिक द्रवत्व, और वेग नामक ११ गुणो से युक्त होता है। उसका रूप शुक्ल, भास्वर (चमकीला) तथा स्पर्श उष्ण ही है। वायुत्वरूप धर्म के सम्बन्ध से वायु होता है। वह अनुष्ण शीत स्पर्ण (न गर्म, न ठण्डा), सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग नामक ९ गुणो से युक्त है। हृदय का कम्पन, शब्द और अनुष्णशीत स्पर्श उसके लिंग (बोधक) है। आकाश एक होने से वह पारिभाषिक सज्ञा है। वह नित्य, अमूर्त, तथा विभु (विश्वव्यापक) है। वह , परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग और शब्द नामक ६ गुणो से युक्त है। शब्द नामक लिंग (बोधक) से ही का बोध होता है।" इसी तरह दूसरे

१ तत्र शब्दतन्मात्रादाकाश, स्पर्शतन्मात्राद्वायु, रूपतन्मात्रात्तेज, रसतन्मात्रा-दाप, गन्धतन्मात्रान् पृथ्वी इत्यादि क्रमेण पूर्व-पूर्वनुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पन्च गुणानि आकाशादि पृथ्वीपयन्तानि महाभूतानीति सृष्टि क्रम ।

—साख्य का० पृ० ३७

२ पृथ्वीत्वाभिसम्वन्धात् पृथ्वी। अप्त्वाभिसम्बन्धादाप, तेजस्त्वाभिसम्वन्धात्तेज वायुत्वाभिसम्वन्धाद्वायु । तत्राकाशस्य गुण शब्द सख्या परिमाणपृथक्त्व सयोग-विभागा । शब्दलिंगविशेपादेकत्व सिद्धम् ।

—प्रशस्तपादभाष्य

मतवादियो ने भी भूतो का अस्तित्व स्वीकार किया है, ऐसी स्थिति मे केवल लोकायतिक (चार्वाक) मत को लेकर ही पच महाभूतो का कथन क्यो किया ?

इसके उत्तर मे नि सदेह कहा जा सकता है कि दूसरे पचमहाभूतवादियो का उल्लेख न करने से शास्त्रकार का आशय यह है कि साख्य आदि दर्शनकार केवल पचमहाभूतो को ही जगत मे सर्वस्व नही मानते, अपितु वे प्रकृति मे महत्तत्व, अहकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्रा, पुरुष आदि तथा दिशा, काल, आत्मा, मन आदि अन्य पदार्थों को भी मानते हैं, जबकि लोकायतिक मतानुयायी पच महाभूतो से भिन्न आत्मा आदि पदार्थों को बिल्कुल नही मानते। इसलिये लोकायतिक (चार्वाक) मत को लेकर ही इस गाथा मे उल्लेख किया गया है। इसी आशय को अभिव्यक्त करने के लिये शास्त्रकार स्वय ८वी गाथा मे कहते है—"एए पचमहब्भूया तेब्भो एगोत्ति आहिया।"

तात्पर्य यह है कि चार्वाक मत का मन्तव्य है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पाच महाभूत है। ये पाँच महाभूत सर्वलोकव्यापी एव सर्वजन-प्रत्यक्ष होने से महान है। इस विश्व मे इनके अस्तित्व से न कोई इन्कार कर सका है, और न ही इनका खण्डन कर सका है। दूसरे मतवादियो द्वारा कल्पित पाँच भूतो से भिन्न आत्मा नाम का परलोक मे जाने वाला, सुख-दुख भोगने वाला कोई दूसरा पदार्थ नही है। पृथ्वी आदि जो पाँच महाभूत है, इनके शरीररूप मे परिणत होने पर इन्ही भूतो से अभिन्न ज्ञानस्वरूप एक आत्मा उत्पन्न होता है।

अपने मत को सत्य प्रमाणित करने के लिये वे इस प्रकार की युक्तियाँ देते है—पृथ्वी आदि से अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई पदार्थ नही हैं, क्योकि उसका बोधक कोई प्रमाण नही मिलता है। प्रमाण भी हम एकमात्र प्रत्यक्ष को ही मानते है। अनुमान आदि प्रमाण को हमारे यहाँ कोई स्थान नही है, क्योकि अनुमान आदि मे पदार्थ का इन्द्रियो के साथ साक्षात सीधा सम्बन्ध नही होता। इसलिये उनका मिथ्या होना सभव है। क्योकि प्राय अनुमान आदि मिथ्या हो जाते हैं और उनमे बाध एव असभव दोष भी हो सकते है। अत अनुमान आदि मे प्रमाण का लक्षण घटित नही होता। प्रमाण का लक्षण घटित न होने से अनुमान आदि मे विश्वास नही किया जा सकता है। कहा भी है—

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता।
अनुमान-प्रधानेन विनिपातो न दुर्लभ ॥

जैसे ऊबड-खाबड मार्ग मे किसी के हाथ के स्पर्श से (गलत अनुमान करके) दौडते हुए अन्ध का गिर जाना कोई दुर्लभ नही हैं, वैसे ही बिना देखे हुए पदार्थ के

महाभूतो की उत्पत्ति होती है।[1] साख्यमत के २५ तत्त्वो मे से बाकी सबका क्रम और स्वरूप हम पहले बता चुके है।

वैशेषिकदर्शन भी पाँच महाभूत को मानता है। उसकी मान्यता यह है कि द्रव्य नौ हे– पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच द्रव्य पचभूत है। पृथ्वी, जल, तेज, और वायु ये ४ द्रव्य (भूत) प्रत्येक नित्य और अनित्य दो प्रकार के है। परमाणु-रूप पृथ्वी जल आदि नित्य हैं, किन्तु परमाणुओ के सयोग से बने हुए द्व्यणुक आदि स्थूल कार्य द्रव्य पृथ्वी आदि अनित्य है। आकाश द्रव्य किसी कारण से उत्पन्न न होने से नित्य ही है। पृथ्वीत्वरूप[2] धर्म के सम्बन्ध से पृथ्वी होती है। वह परमाणु-रूप नित्य हे, और द्व्यणुकादि क्रम से उत्पन्न होने वाली कार्यरूपा पृथ्वी अनित्य है। वह पृथ्वी रूप, रस, गध, स्पर्श, सख्या, परिमाण पृथकत्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग नामक चौदह गुणो से युक्त है तथा जलत्व रूप धर्म के सम्वन्ध से जल होता है। वह भी रूप, रस, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग, विभाग, गुरुत्व स्वाभाविक द्रवत्व, स्नेह और वेग नामक गुणो से युक्त है। जल का रूप शुक्ल है, स्पर्श शीत ही है। तेजरूव धर्म सम्बन्ध से तेज होता है। वह रूप, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व नैमित्तिक द्रवत्व, और वेग नामक ११ गुणो से युक्त होता है। उसका रूप शुक्ल, भास्वर (चमकीला) तथा स्पर्श उष्ण ही है। वायुत्वरूप धर्म के सम्वन्ध से वायु होता है। वह अनुष्ण शीत स्पर्ण (न गर्म, न ठण्डा), सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग नामक ९ गुणो से युक्त है। हृदय का कम्पन, शब्द और अनुष्णशीत स्पर्श उसके लिंग (बोधक) है। आकाश एक होने से वह पारिभासिक सज्ञा है। वह नित्य, अमूर्त, तथा विभु (विश्वव्यापक) है। वह , परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग और शब्द नामक ६ गुणो से युक्त है। शब्द नामक लिंग (बोधक) से ही आकाश का बोध होता है।" इसी तरह दूसरे

---

१ तत्र शब्दतन्मात्रादाकाश, स्पर्शतन्मात्राद्वायु, रूपतन्मात्रात्तेज, रसतन्मात्रा-दाप, गन्धतन्मात्रान् पृथ्वी इत्यादि क्रमेण पूर्व-पूर्वनुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पन्च गुणानि आकाशादि पृथ्वीपयन्तानि महाभूतानीति सृष्टि क्रम ।

—साख्य का० माठर पृ० ३७

२ पृथ्वीत्वाभिसम्वन्धात् पृथ्वी। अप्त्वाभिसम्वन्धादाप, तेजस्त्वाभिसम्वन्धात्तेज वायुत्वाभिसम्वन्धाद्वायु। तत्राकाशस्य गुण शब्द सख्या परिमाणपृथक्त्व सयोग-विभागा। शब्दलिंगविशेषादेकत्व सिद्धम् ।

—प्रशस्तपादभाष्य

मतवादियो ने भी भूतो का अस्तित्व स्वीकार किया है, ऐसी स्थिति में केवल लोकायतिक (चार्वाक) मत को लेकर ही पच महाभूतो का कथन क्यो किया ?

इसके उत्तर मे नि सदेह कहा जा सकता है कि दूसरे पचमहाभूतवादियो का उल्लेख न करने से शास्त्रकार का आशय यह है कि साख्य आदि दर्शनकार केवल पचमहाभूतो को ही जगत मे सर्वस्व नही मानते, अपितु वे प्रकृति मे महत्तत्व, अहकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्रा, पुरुष आदि तथा दिशा, काल, आत्मा, मन आदि अन्य पदार्थों को भी मानते है, जबकि लोकायतिक मतानुयायी पच महाभूतो से भिन्न आत्मा आदि पदार्थों को बिल्कुल नही मानते । इसलिये लोकायतिक (चार्वाक) मत को लेकर ही इस गाथा मे उल्लेख किया गया है । इसी आशय को अभिव्यक्त करने के लिये शास्त्रकार स्वय ८वी गाथा मे कहते है—"एए पचमहब्भूया तेब्भो एगोत्ति आहिया ।"

तात्पर्य यह है कि चार्वाक मत का मन्तव्य है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पाँच महाभूत है । ये पाँच महाभूत सर्वलोकव्यापी एव सर्वजन-प्रत्यक्ष होने से महान है । इस विश्व मे इनके अस्तित्व से न कोई इन्कार कर सका है, और न ही इनका खण्डन कर सका है । दूसरे मतवादियो द्वारा कल्पित पाँच भूतो से भिन्न आत्मा नाम का परलोक मे जाने वाला, सुख-दुख भोगने वाला कोई दूसरा पदार्थ नही है । पृथ्वी आदि जो पाँच महाभूत हैं, इनके शरीररूप मे परिणत होने पर इन्ही भूतो से अभिन्न ज्ञानस्वरूप एक आत्मा उत्पन्न होता है ।

अपने मत को सत्य प्रमाणित करने के लिये वे इस प्रकार की युक्तियाँ देते है—पृथ्वी आदि से अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई पदार्थ नही हैं, क्योकि उसका बोधक कोई प्रमाण नही मिलता है । प्रमाण भी हम एकमात्र प्रत्यक्ष को ही मानते हैं । अनुमान आदि प्रमाण को हमारे यहाँ कोई स्थान नही है, क्योकि अनुमान आदि मे पदार्थ का इन्द्रियो के साथ साक्षात सीधा सम्बन्ध नही होता । इसलिये उनका मिथ्या होना सभव है । क्योकि प्राय अनुमान आदि मिथ्या हो जाते है और उनमे बाध एव असभव दोप भी हो सकते हैं । अत अनुमान आदि मे प्रमाण का लक्षण घटित नही होता । प्रमाण का लक्षण घटित न होने से अनुमान आदि मे विश्वास नहीं किया जा सकता है । कहा भी है—

> हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता ।
> अनुमान-प्रधानेन विनिपातो न दुर्लभ ॥

जैसे ऊबड-खाबड मार्ग मे किसी के हाथ के स्पर्श से (गलत अनुमान करके) दौड़ते हुए अन्ध का गिर जाना कोई दुर्लभ नही है, वैसे ही बिना देखे हुए पदार्थ के

अनुमान से सिद्ध करने वाले पुरुष से भी भूल हो जाना दुर्लभ नही है। जिस प्रकार अनुमान को अविश्वसनीय एव भ्रान्तिजनक बताया गया है वैसे ही आगम आदि को भी उपलक्षण से समझ लेना चाहिए, क्योकि आगम आदि मे भी पदार्थ का इन्द्रिय के साथ सीधा सन्निकर्ष (सम्बन्ध) न होने के कारण उसमे भी भूल हो जाना सभव है। इसलिए हम एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है और प्रत्यक्ष से तो पाँच महाभूतो से भिन्न आत्मा नामक पदार्थ का ग्रहण नहीं होता।

उनसे जब पूछा जाता है कि चैतन्य शक्ति, जो आत्मा की शक्ति है, वह उन पाँच भूतो मे कैसे और कहाँ से आएगी ? इस पर वे कहते हैं—पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश इन पचभूतो के विशिष्ट सयोग से वे भूत शरीराकाररूप मे परिणत हो जाते हैं जैसे—गुड, महुआ आदि मद्य की सामग्री के सयोग से मद शक्ति पैदा हो जाती है, वैसे ही शरीर मे पचभूतो के सयोग से चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है।[1] वह चैतन्य शक्ति पचमहाभूतो से भिन्न नही है क्याकि वह पचमहाभूतो का ही कार्य है जैसे पृथ्वी से उत्पन्न घटादि कार्य पृथ्वी से भिन्न नही है वैसे ही पचमहाभूतो से भिन्न आत्मा नही है क्योकि उन्ही से ही उसी तरह चैतत्य शक्ति प्रकट होती है।

कोई यह कह I है कि चार्वाक[1] पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतो को ही मानते है, उन्ही के सयोग से चैतत्य शक्ति[3] प्रकट होना स्वीकार करते हैं, यहाँ शास्त्रकार ने पाँचवे भूत आकाश का अस्तित्व भी उनके पक्ष मे बताया है, यह पूर्वापर विरोध क्यो ? इसके उतर मे यही कहना है कि शास्त्रकार का कथन यथार्थ है। कई चार्वाक आचार्य आकाश को भी पाँचवाँ भूत मानकर जगत को पचभौतिक कहते हैं। इनके मत मे इन भूतो के विशिष्ट सयोग से ही

१ (क) पृथिव्यादिभूत सहत्या तथा देहादिसम्भव ।
मदशक्ति सुरागेभ्यो यत्तदवच्चिदात्मनि ॥८४॥

— ॰र्शनसमुच्चय

(ख) शरीरेन्द्रियविषयसज्ञके च पृथिव्यादिभूतेभ्यश्चैतन्याभिव्यक्ति पिप्टोदक गुडधातक्यादिभ्यो मदशक्तिवत् ।

— प्रमे ल० पृ० ११५

२ 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरविषयेन्द्रियसज्ञा, तेभ्यश्चैतन्यम् ।

—तत्त्वोप० श० भाष्य

३ चतुर्भ्य खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते, किण्वादिभ्य समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्ति वत् ।

— ॰र्शनसग्रह

महुआ आदि के सडाने पर शराव मे मादक शक्ति उत्पन्न होने की तरह भूतो मे, चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जिस तरह जल मे बुलबुले उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं, उसी तरह जीव भी इन्ही भूतो से उत्पन्न होकर इन्ही मे लीन होते रहते है। चैतन्य विशिष्ट शरीर का नाम ही आत्मा है।

चार्वाक के इस मन्तव्य पर शका होती है—यदि पांच महाभूतो से भिन्न कोई आत्मा नाम का पदार्थ नही है तो 'वह मर गया' यह व्यवहार कैसे सिद्ध होगा, क्योकि मरते समय भी पांचो भूत और तज्जन्य चैतन्य शक्ति तो रहती ही है। इसका समाधान चार्वाक की ओर से यह किया जाता है कि शरीररूप मे परिणत पचमहाभूतो से चैतन्य शक्ति प्रकट होने के पश्चात् उन महाभूतो मे से वायु या तेज किसी एक भूत या दोनो के हट जाने पर देवदत्त नामक देही का नाश हो जाता है और इसी कारण 'वह मर गया', ऐसा व्यवहार हो जायेगा। परन्तु देही का नाश होने पर कोई आत्मा या जीव नामक पदार्थ शरीर से अलग कही चला जाता है, ऐसा नही होता क्योकि आत्मा नामक कोई पदार्थ शरीर से निकल कर कही जाते हुए प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नही होता।

चार्वाक का मत जैनदर्शन की युक्तियो के आगे विलकुल खण्डित हो जाता है। उसका खण्डन न्याय की भाषा मे अनुमान प्रमाण से निम्नोक्त रीति से हो जाता है—"पच महाभूतो के परस्पर सयोग से (शरीररूप मे परिणत होने पर) चैतन्य गुण (तथा तज्जनित बोलना-चलना आदि कियारूप गुण) उत्पन्न नही हो सकता है, क्योकि पच महाभूतो का चैतन्य गुण नही है। अन्य गुण वाले पदार्थों के सयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नही होती। जैसे वालू के ढेर को पीलने से तेल पैदा नही होता, क्योकि बालू मे तेल उत्पन्न करने का स्निग्धता गुण नही है। इसी प्रकार पचभूतो मे चैतन्य उत्पन्न करने का गुण न होने के कारण, उनके सयोग से चैतन्य उत्पन्न नही हो सकता। इसी बात को नियुक्तिकार कहते है—

पचण्ह सजोए अण्णगुणाण ण चेयणाइगुणो।
पचिन्दियठाणाण ण अण्णमुणिय मुणइ अण्णो॥

जिनका गुण चैतन्य से अन्य है, उन पृथ्वी आदि पचभूतो के सयोग से चेतनादि गुण प्रकट नही हो सकते। इसी तरह स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र रूप पाँच इन्द्रियो के जो उपादान कारण है, उनका गुण भी चैतन्य न होने से भूत समुदाय का गुण चैतन्य नही हो सकता। क्योकि अन्य इन्द्रिय के द्वारा जानी हुई वात अन्य इन्द्रिय नही जान पाती।

पचभूतो का गुण चैतन्य से भिन्न यो है—आधार देना और कठोरता पृथ्वी का गुण है, जल का गुण द्रवत्व ह, तेज का गुण पाचन है, वायु का गुण चलन है, और अवगाह देना आकाश का गुण है। अथवा पहले वताए गन्ध, रस आदि क्रमश एक-एक को छोडकर पृथ्वी जल आदि के गुण है। इनमे से किसी भी भूत मे चैतन्य का गुण नही है। ये सव गुण चैतन्य से भिन्न है। इसलिये पृथ्वी आदि ५ भूत चैतन्य से भिन्न गुण वाले है। इस दृष्टि से चार्वाक चाहे जितना पच ले, किन्तु पृथ्वी आदि पच भूतो से चैतन्य गुण की उत्पत्ति सिद्ध नही कर मकता क्योकि इन पच भूतो का गुण चैतन्य से भिन्न है। अत इन भूतो मे से प्रत्येक का जब चैतन्य गुण नही है, तव इनके समूह से चैतन्य गुण की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? जैनदर्शन द्वारा इस सम्बन्धी तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—जब एक एक भूत मे चैतन्य गुण नही हे, तो उनके समुदाय से भी चैतन्य गुण उत्पन्न या अभिव्यक्त नही हो सकता। चैतन्य अगर पृथ्वी आदि का गुण होता तो पृथ्वी आदि से सचेतन रूप मे उपलब्धि होती। किन्तु ऐसी उपलब्धि होती नही है। इसलिये चैतन्य एक-एक भूत या भूत समुदाय का गुण हो नही सकता। स्वतन्त्र भूत समुदाय का गुण चैतन्य नही है, क्योकि पृथ्वी आदि भूतो का गुण चैतन्य से भिन्न है। भिन्न गुण वाले पदार्थों का जो-जो समुदाय है, उस-उस समुदाय मे अपूर्व गुण की उत्पत्ति नही हो सकती। अत शरीर मे जो चैतन्य दिखाई देता है, वह आत्मा का ही गुण हो सकता है, भूतो का नही, क्योकि भूत चैतन्य गुण के आधार नही है। इसलिये चैतन्य भूतो का नही, उनसे भिन्न आत्मा का ही गुण है।

इसे ही सिद्ध करने के लिये दूसरा हेतु लीजिए –

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र-रूप पाँच इन्द्रियो के उपादान कारण क्रमश ये हैं—श्रोत्रेन्द्रिय का उपादान कारण आकाश है क्योकि श्रोत्रेन्द्रिय छिद्र-रूप है, चक्षुरिन्द्रिय का उपादान कारण तेज है, क्योकि चक्षुरिन्द्रिय तेजोरूप है, घ्राणेन्द्रिय का उपादान कारण पृथ्वी है, क्योकि घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी रूप है। रसनेन्द्रिय का जल और स्पर्शेन्द्रिय का वायु उपादान कारण हैं। अत पाँचो इन्द्रियो के जो उपादान कारण (स्थान) है, वे ज्ञान रूप न (स्वय ज्ञान नही कर सकती) होने से भूत समुदाय का गुण चैतन्य नही हो सकता।[1] चार्वाक मत मे शरीर और इन्द्रियो से अतिरिक्त 'आत्मा' नही माना गया है। अत आत्मा को द्रष्टा न मानने के कारण

१ यहाँ अनुमान इस प्रकार हो सकता है—इन्द्रियाँ चैतन्य गुण वाली नही हैं, क्योकि वे अचेतन गुण वाले पदार्थों से बनी है। जो-जो अचेतन गुण वाले पदार्थों से बना होता है, वह सव अचेतन गुण वाला होता है, जैसे—घट-पट आदि।

चार्वाक को चक्षु आदि इन्द्रियो को ही द्रष्टा मानना पडा है । प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करती है।

दूसरी इन्द्रिय के विषय को दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नही करती । इसलिए एक इन्द्रिय द्वारा ज्ञात अर्थ को दूसरी इन्द्रिय नही जान सकती । ऐसी स्थिति मे 'मैंने पाँच ही विषयो को जाना ।' इस प्रकार का सम्मेलनात्मक ज्ञान चार्वाक मत मे हो नही सकता । परन्तु इस प्रकार के सम्मेलनात्मक ज्ञान का अनुभव होता है, इसलिये मानना पड़ेगा कि इन्द्रियो से भिन्न कोई एक द्रष्टा अवश्य होना चाहिए । वह द्रष्टा आत्मा ही हो सकता है, भूत समुदाय नही, क्योंकि चैतन्यगुण द्रष्टा (आत्मा) का ही है, भूत समुदाय का नही । इस सम्बन्ध मे इस प्रकार का अनुमान प्रयोग होता है—भूत समुदाय का गुण चैतन्य नही है, क्योकि भूतो से बनी हुई इन्द्रियां एक-एक विषय की ग्राहक होकर भी सब विषयो के मेलनरूप ज्ञान को उत्पन्न नही कर सकती । यदि दूसरे के द्वारा जाने हुए अर्थ को दूसरा भी जान लेता हो, तब तो देवदत्त द्वारा जाने हुए अर्थ को यज्ञदत्त भी जानने लगेगा परन्तु ऐसा देखा नही जाता है, अनुभव भी इसके विपरीत है, और ऐसा इष्ट भी नही है । शका—यदि इन्द्रियो को ही ज्ञानवान माना जाए तो प्रश्न होता है कि सब इन्द्रिया मिलकर ज्ञान का आधार है या पृथक-पृथक ? यदि कहे कि सब इन्द्रियाँ मिलकर है, तब तो एक इन्द्रिय का नाश होने पर ज्ञानवान का ही नाश हो जाएगा । वहाँ फिर ज्ञान की उत्पत्ति नही होगी । क्योकि ज्ञान के आधार का नाश हो चुका है । यदि कहे कि पृथक-पृथक एक-एक इन्द्रिय ज्ञान का आधार है, तब तो किसी कारणवश नेत्र के नष्ट होने पर पहले देखे हुए रूप का स्मरण होना चाहिए, किन्तु वह नही होता क्योकि अनुभवकर्ता (नेत्र) अब विद्यमान नही है ।

तात्पर्य यह है कि जिस अधिकरण मे जिस विषय का अनुभव उत्पन्न होता है, उसी अधिकरण मे पूर्वोत्पन्न अनुभव से प्राप्त सस्कार के बल से कालान्तर मे स्मरण उत्पन्न होता है । ऐसा नही होता कि अनुभव एक करे और स्मरण करे दूसरा । ऋषभदत्त ने जिसका अनुभव किया है, उसका स्मरण अभिनन्दनप्रसाद को हो जाए, ऐसा देखा नही जाता । यदि दूसरे के द्वारा अवलोकित पदार्थ का स्मरण दूसरे को होने लगे, तब तो सर्वज्ञ के द्वारा देखे गये पदार्थों का स्मरण हम लोगो को हो जाना चाहिए, ताकि हम भी झटपट सर्वज्ञ बन जाएँ । लेकिन ऐसा कदापि होता नही है । दूसरे के देखे हुए पदार्थ को दूसरा स्मरण नही कर पाता—"**नान्यद्दृष्ट स्मरत्यन्यो नैकभूतमक्रमात् ।**" एतएव इन्द्रियाँ चेतनावान नही हैं । इस तर्क से भूत समुदाय मे चैतन्य का अभाव सिद्ध कर दिया है ।

चार्वाक—एक-एक भूत से चैतन्य की उत्पत्ति मानने से यह दोप आता है, किन्तु पाँचो भूतो के मिल जाने से चैतन्य की उत्पत्ति है, यह माना जाय तो हमारे सिद्धान्त मे कोई दोष नही आता। जैसे अलग-अलग जौ का आटा, या गुड पडा हो तो उसमे मादक शक्ति नही पैदा होती किन्तु सभी वस्तुओ के मिल जाने पर मादक शक्ति पैदा होती है।

जैन—यह कथन भी युक्तिसगत नही है। क्योकि हम आपसे पूछते है कि पचमहाभूतो का वह सयोग, जिसके वल पर आप चैतन्य की उत्पत्ति मानते है, भूतो से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न माने तव तो पाँच भूतो से अतिरिक्त सयोग नामक पदार्थ को स्वीकार करना होगा, जो आपके सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

इसके अतिरिक्त हम पूछते है कि पच महाभूतो का सयोग प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है अथवा अनुमान आदि अन्य प्रमाणो से ? प्रत्यक्ष से तो उस अतीन्द्रिय पचभूत सयोग का ग्रहण होना असभव है। अतीन्द्रिय वस्तु कदापि चक्षु के द्वारा गृहीत नही हो सकती। किसी अन्य प्रमाण से उक्त सयोग का ग्रहण होता है, यह कथन भी यथार्थ नही है। क्योकि प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाण या तो अनुमान होगा अथवा आगम होगा। अनुमान से आप पचमहाभूत सयोग का ग्रहण कर नही सकते, क्योकि अनुमान हमने पहले ही भूत चैतन्यवाद का खण्डन कर दिया है। अत उक्त सयोग को ग्रहण करने वाले अनुमान प्रमाण से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि नही हो सकती है। आगम प्रमाण से भी उक्त सयोग का ग्रहण आप कर नही सकते, क्योकि आप तो आगम (आप्त = ईश्वर) को मानते ही नही है, अतएव आगम प्रमाण से भी यह सिद्ध नही हो सकता। और फिर आप एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं। अनुमान और आगम इन प्रमाणो को तो आप मानते ही नही है, तव इन प्रमाणो का प्रयोग करके उक्त सयोग को ग्रहण कैसे कर सकेंगे ?

अगर उस सयोग को भूतो से अभिन्न कहते हैं, तब हम पूछते है कि प्रत्येक भूत चेतन है या अचेतन ? यदि प्रत्येक भूत को चेतन कहे तो एक ही इन्द्रिय की सिद्धि होगी, विभिन्न विषयो को ग्रहण करने वाली पाँच इन्द्रियो की सिद्धि नही हो सकेगी। ऐसी दशा मे पचभूतो के समुदाय रूप शरीर का चैतन्य ५ प्रकार का हो जाएगा। क्योकि शरीर तो पचभूत समुदायरूप है अत पृथ्वी अश विषयक ज्ञान घ्राणजन्य होने से अतिरिक्त होगा, चक्षु आदि से जन्य ज्ञान उससे भी अतिरिक्त होगा। यह महान आश्चर्य की वात है।

यदि प्रत्येक भूत अचेतन है, ऐसा मानें तो पूर्वोक्त दोपापत्ति आयगी। एक-एक भूत मे चैतन्य नही हैं तो उसके समुदाय मे चैतन्य कहाँ से आ जाएगा ? जैसे

रेत के एक-एक-कण म तेल नही है तो उसके ढेर मे तेल कहाँ मे निकलेगा ? जो गुण प्रत्येक मे नही हे, वह उसके समुदाय मे भी उत्पन्न नही हो सकता।

आपने जो यह कहा था कि गुड और आटा और महुआ आदि मद्य के प्रत्येक अग मे न रहने वाली मद शक्ति उसके समुदाय से पैदा हो जाती है, इसी प्रकार पचमहाभूतो मे प्रत्येक मे वह चैतन्य शक्ति नही है, किन्तु महाभूतो के समुदाय से तो चैतन्य शक्ति हो ही जाती हे, यह युक्ति भी यथार्थ नही है, क्योकि दृष्टात और दृष्टान्तिक मे यहाँ समानता नही है। गुड, आटा, महुआ आदि मद्य के प्रत्येक अग मे सूक्ष्म रूप से मादक शक्ति विद्यमान रहती है, वही समुदायावस्था मे स्पष्ट रूप से प्रगट हो जाती है। किन्तु यहाँ तो पृथ्वी-जल आदि प्रत्येक भूत मे चैतन्य शक्ति का सर्वथा अभाव होता है, तब भूतो के समूह मे चैतन्य शक्ति कहाँ मे उत्पन्न हो जायेगी ?

अगर भूतो को ही चेतन माने तो मृत्यु की व्यवस्था नही बन सकती। क्योकि मृतक शरीर मे पाँचो महाभूत विद्यमान रहते है। यदि कहे कि मृतक शरीर में वायु या तेज नही होते है, इसलिए मृत्यु होती हे। जैसा कि शास्त्रकार ने कहा है (अह तेसिं विणासेण विणासो होइ देहिणो) तो यह कथन भी अनुभव विहीन हे, क्योकि मृत शरीर मे सूजन दृष्टिगोचर होती है, इसलिए वायु का उसमे अभाव नही होता और न तेज का अभाव होता है, क्योकि पाचन स्वरूप कोथ (मात्राद) का उत्पन्न होना तेजस्तत्त्व का कार्य है। अत वायु आदि का अभाव होने से मृत्यु हो जाती है, यह कथन यथार्थ नही है।

यदि कहे कि मृत शरीर मे से सूक्ष्म वायु और सूक्ष्म तेज निकल जाते है, इसलिए मृत्यु हो जाती है तो ऐसा मानना भी उचित नही है। ऐसा मानेंगे तो केवल नाम का ही विवाद रहेगा क्योकि दूसरा (सूक्ष्म तेज और सूक्ष्म वायु) नाम देकर आपने भी प्रकारान्तर से जीव का अस्तित्व स्वीकार कर लिया।

एक और युक्ति से भी आपकी बात का खण्डन हो जाता है। आपने कहा कि पचभूतो के समुदाय मात्र से चैतन्यगुण उत्पन्न हो जाता है, पर यह बात भी प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटी पर खरी नही उतरती। एक कारीगर ने मिट्टी की एक पुतली बनाई। उसमे मिट्टी, पानी, हवा, धूप (तेज) अग्नि (पकाते समय) एव आकाश इन पाँचो भूतो को वहाँ एकत्र किया गया। इस प्रकार पृथ्वी आदि पाँचो भूतो को मिलाकर एक स्थान पर रख देने पर भी वहाँ चेतना दिखाई नही देती। मिट्टी की पुतली मे पाँचो भूत मौजूद हैं, फिर भी उसमे चेतना नही आती। वह बोलती-चालती नही, जड ही बनी रहती है।

चार्वाक—एक-एक भूत से चैतन्य की उत्पत्ति मानने से यह दोष आता है, किन्तु पाँचो भूतो के मिल जाने से चैतन्य की उत्पत्ति है, यह माना जाय तो हमारे सिद्धान्त मे कोई दोष नही आता। जैसे अलग-अलग जौ का आटा, या गुड पडा हो तो उसमे मादक शक्ति नही पैदा होती किन्तु सभी वस्तुओ के मिल जाने पर मादक शक्ति पैदा होती हे।

जैन—यह कथन भी युक्तिसगत नही हे। क्योकि हम आपसे पूछते है कि पचमहाभूतो का वह सयोग, जिसके वल पर आप चैतन्य की उत्पत्ति मानते है, भूतो से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न माने तव तो पाँच भूतो से अतिरिक्त सयोग नामक पदार्थ को स्वीकार करना होगा, जो आपके सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

इसके अतिरिक्त हम पूछते है कि पच महाभूतो का सयोग प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है अथवा अनुमान आदि अन्य प्रमाणो से ? प्रत्यक्ष से तो उस अतीन्द्रिय पचभूत सयोग का ग्रहण होना असभव है। अतीन्द्रिय वस्तु कदापि चक्षु के द्वारा गृहीत नही हो सकती। किसी अन्य प्रमाण से उक्त सयोग का ग्रहण होता है, यह कथन भी यथार्थ नही है। क्योकि प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाण या तो अनुमान होगा अथवा आगम होगा। अनुमान से आप पचमहाभूत सयोग का ग्रहण कर नही सकते, क्योकि अनुमान हमने पहले ही भूत चैतन्यवाद का खण्डन कर दिया है। अत उक्त सयोग को ग्रहण करने वाले अनुमान प्रमाण से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि नही हो सकती है। आगम प्रमाण से भी उक्त सयोग का ग्रहण आप कर नही सकते, क्योकि आप तो आगम (आप्त = ईश्वर) को मानते ही नही है, अतएव आगम प्रमाण से भी यह सिद्ध नही हो ा। और फिर आप एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं। अनुमान और आगम इन प्रमाणो को तो आप मानते ही नही है, तब इन प्रमाणो का प्रयोग करके उक्त सयोग को ग्रहण कैसे कर सकेगे ?

अगर उस सयोग को भूतो से अभिन्न कहते हैं, तव हम पूछते है कि प्रत्येक भूत चेतन है या अचेतन ? यदि प्रत्येक भूत को चेतन कहे तो एक ही इन्द्रिय की सिद्धि होगी, विभिन्न विषयो को ग्रहण करने वाली पाँच इन्द्रियो की सिद्धि नही हो सकेगी। ऐसी दशा मे पचभूतो के समुदाय रूप शरीर का चैतन्य ५ प्रकार का हो जाएगा। क्योकि शरीर तो पचभूत समुदायरूप है अत पृथ्वी अश विपयक ज्ञान घ्राणजन्य होने से अतिरिक्त होगा, चक्षु आदि से जन्य ज्ञान उससे भी अतिरिक्त होगा। यह महान आश्चर्य की वात है।

यदि प्रत्येक भूत अचेतन है, ऐसा माने तो पूर्वोक्त दोपापत्ति आयगी। एक-एक भूत मे चैतन्य नही है तो उसके समुदाय मे चैतन्य कहाँ से आ जाएगा ? जैसे

रेत के एक-एक-कण म तेल नही है तो उसके ढेर मे तेल कहाँ से निकलेगा ? जो गुण प्रत्येक मे नही है, वह उसके समुदाय मे भी उत्पन्न नही हो सकता।

आपने जो यह कहा था कि गुड और आटा और महुआ आदि मद्य के प्रत्येक अग मे न रहने वाली मद शक्ति उसके समुदाय से पैदा हो जाती है, इसी प्रकार पचमहाभूतो मे प्रत्येक मे वह चैतन्य शक्ति नही है, किन्तु महाभूतो के समुदाय से तो चैतन्य शक्ति हो ही जाती है, यह युक्ति भी यथार्थ नही है, क्योकि दृष्टात और दृष्टान्तिक मे यहाँ समानता नही है। गुड, आटा, महुआ आदि मद्य के प्रत्येक अग मे सूक्ष्म रूप से मादक शक्ति विद्यमान रहती है, वही समुदायावस्था मे स्पष्ट रूप से प्रगट हो जाती है। किन्तु यहाँ तो पृथ्वी-जल आदि प्रत्येक भूत मे चैतन्य शक्ति का सर्वथा अभाव होता है, तब भूतो के समूह मे चैतन्य शक्ति कहाँ से उत्पन्न हो जायेगी ?

अगर भूतो को ही चेतन माने तो मृत्यु की व्यवस्था नही बन सकती। क्योकि मृतक शरीर मे पाँचो महाभूत विद्यमान रहते है। यदि कहे कि मृतक शरीर म वायु या तेज नही होते है, इसलिए मृत्यु होती है। जैसा कि शास्त्रकार ने कहा है (**अह तेसिं विणासेण विणासो होइ देहिणो**) तो यह कथन भी अनुभव विहीन है, क्योकि मृत शरीर मे सूजन दृष्टिगोचर होती है, इसलिए वायु का उसमे अभाव नही होता और न तेज का अभाव होता है, क्योकि पाचन स्वरूप कोथ (मवाद) का उत्पन्न होना तेजस्तत्त्व का कार्य है। अत वायु आदि का अभाव होने से मृत्यु हो जाती है, यह कथन यथार्थ नही है।

यदि कहे कि मृत शरीर मे से सूक्ष्म वायु और सूक्ष्म तेज निकल जाते है, इसलिए मृत्यु हो जाती है तो ऐसा मानना भी उचित नही है। ऐसा मानेगे तो केवल नाम का ही विवाद रहेगा क्योकि दूसरा (सूक्ष्म तेज और सूक्ष्म वायु) नाम देकर आपने भी प्रकारान्तर से जीव का अस्तित्व स्वीकार कर लिया।

एक और युक्ति से भी आपकी बात का खण्डन हो जाता है। आपने कहा कि पचभूतो के समुदाय मात्र से चैतन्यगुण उत्पन्न हो जाता है, पर यह बात भी प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटी पर खरी नही उतरती। एक कारीगर ने मिट्टी की एक पुतली बनाई। उसमे मिट्टी, पानी, हवा, धूप (तेज) अग्नि (पकाते समय) एव आकाश इन पाँचो भूतो को वहाँ एकत्र किया गया। इस प्रकार पृथ्वी आदि पाँचो भूतो को मिलाकर एक स्थान पर रख देने पर भी वहाँ चेतना दिखाई नही देती। मिट्टी की पुतली मे पाँचो भूत मौजूद है, फिर भी उसमे चेतना नही आती। वह बोलती-चालती नही, जड ही बनी रहती है।

अत पूर्वोक्त रीति से अन्वय-व्यतिरेक से विचार करने पर भूतो का चैतन्य नामक गुण सिद्ध नही होता। फिर भी जीवित शरीरो मे चैतन्य गुण पाया जाता है, अत परिशेष न्याय से वह आत्मा का ही गुण है, भूतो का नही।

आप (लोकायतिक) ने पहले जो अनुमान प्रयोग किया था कि पृथ्वी आदि भूतो से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नही ह क्योंकि उस आत्मा का बोधक कोई प्रमाण नही मिलता, और प्रमाण भी एकमात्र प्रत्यक्ष ही हे, यह कथन भी 'बदतोव्याघात' जैसा हे। एक तरफ आप कहते ह कि प्रत्यक्ष के सिवाय हम किसी प्रमाण को नही मानते और दूसरी तरफ आप स्वय अनुमान प्रमाण का प्रयोग कर रहे है।

प्रमाण का लक्षण है[1]—अर्थ को जो अविसवादी (ठीक-ठीक) रूप मे बताता है किन्तु जो कुछ प्रत्यक्ष किया जाता हे, उस प्रत्यक्ष को प्रमाण रूप सिद्ध करने के लिए, तथा दूसरो को बताने के लिए आपको अनुमान प्रमाण का सहारा लेना पड़ेगा। क्योंकि अपना प्रत्यक्ष तो अपने ही अनुभव मे व अपनी ही बुद्धि मे आता है, दूसरे की बुद्धि मे नही आ सकता। ऐसा कोई साधन भी नही है, जिससे अपना प्रत्यक्ष दूसरे की बुद्धि मे स्थापित किया जा सके। वाणी द्वारा समझाकर अपना प्रत्यक्ष दूसरे को बताया जाता है। उससे श्रोता को ज्ञान भी होता है। परन्तु, वह ज्ञान प्रत्यक्ष नही हे। वह तो शब्द सुनने से उसके अर्थ का ज्ञान है, उसे शब्दबोध कहते है। प्रत्यक्ष ज्ञान[2] वह हे, जो अपनी इन्द्रियो के द्वारा अपने अनुभव मे आता है। वह अनुभव अपनी ही बुद्धि मे स्थिर रहता है, दूसरे की बुद्धि मे स्थापित नही किया जा सकता। इसीलिए प्रत्यक्ष ज्ञान गूगे की तरह मूक होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, इस बात को प्रत्यक्षकर्ता ही जानता है, दूसरा पुरुष नही जानता। दूसरे पुरुष को अपने प्रत्यक्ष की प्रमाणता वाणी द्वारा कह कर समझाई जाती है। वह वाणी अनुमान के अगस्वरूप पचावयवात्मक वाक्य है। जैसे—"मेरा यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि यह अर्थ को यथार्थ रूप मे बताता है जैसा मेरा अनुभव किया हुआ पट-प्रत्यक्ष। मेरे अनुभव किए हुए पटप्रत्यक्ष ने भी सत्य अर्थ को बताया था, इसी तरह यह घटप्रत्यक्ष भी सत्य अर्थ को बताता है। अत सत्य अर्थ को बताने के कारण यह घटप्रत्यक्ष भी प्रमाण है।" इस प्रकार अपने प्रत्यक्ष की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए अनुमान का आश्रय लेना ही पडता है। दूसरी बात—'अनुमान प्रमाण नही है' इसे सिद्ध करने के लिए भी अनुमान का सहारा लेकर अनुमान का खण्डन भी अनु-

---

१ 'अर्थाविसवादक प्रमाणम्'।

२ 'इन्द्रियसन्निकर्षज ज्ञान प्रत्यक्षम्'।

मान के द्वारा ही चार्वाक करता है, यह पागलपन नही तो क्या है ? चार्वाक अनुमान को इस प्रकार के अनुमान प्रयोग द्वारा ही अप्रमाण सिद्ध कर सकता है— "अनुमान प्रमाण नही है, क्योकि वह अर्थ को ठीक-ठीक नही वतलाता है, जैसे कि अनुभव की हुई अनुमान व्यक्ति जो अर्थ को ठीक-ठीक नही वतलाता वह प्रमाण नही है।"

यदि कहे कि दूसरे मतवादी अनुमान को प्रमाण मानते हैं, इसलिए हम भी परमतसिद्ध अनुमान का आश्रय लेकर ही अनुमान की अप्रमाणता सिद्ध करते हैं, तव हमे आप यह वताइये कि परमतसिद्ध प्रमाण आपके मत म प्रमाण है या अप्रमाण ? यदि प्रमाण कहते है तो आप अनुमान को अप्रमाण नही कह सकते, क्योकि अपने ही मुख से आप उसे आप प्रमाण कह रहे है। यदि अनुमान अप्रमाण है, तो आप उस (अनुमान) का सहारा लेकर दूसरे को क्यो समझाते है ? यदि कहे कि दूसरा अनुमान प्रमाण मानता है इसलिए हम अनुमान के द्वारा उसे समझाते है, यह कथन भी युक्तिसगत नही। दूसरा कदाचित बुद्धि की मन्दता के कारण अप्रमाण को प्रमाण लेता होगा, मगर आप तो बुद्धिनिपुण है एव अपने आपको सवज्ञ तुल्य मानते है, आपको तो ऐसा नही मानना चाहिए। कोई अज्ञानी गुड को विप मानता है, तो क्या बुद्धिमान पुरुप भी किसी को मारने के लिए गुड को विप मान कर उसे दे सकता है ? अत प्रत्यक्ष की प्रमाणता और अनुमान की अप्रमाणता सिद्ध करने के लिए इच्छा न होते हुए भी वलात् अनुमान की प्रमाणता चार्वाक के गले आ पडी।

और भी हम पूछते हैं कि चार्वाक को किसी व्यक्ति के विपय मे निर्णय करना हो कि वह व्यक्ति सदिग्ध है या विपर्यस्त ? तव अनुमान से ही निर्णय कर सकेगा। क्योकि प्रत्यक्ष से तो वह जान ही नही सकता। उस व्यक्ति की आकृति,[1] इगित, गति, चाल-ढाल, चेष्टा, वोलचाल (भापण), नेत्र और मुख के विकार आदि के द्वारा ही वह जान सकेगा, जो कि अनुमान का ही एक प्रकार है।

अगर प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानेंगे तो अपका पुत्र घर से भाग कर चला गया है, अब आपको वह प्रत्यक्ष नही दिखाई देगा, तो आपको अनुमान, उपमान, शब्द आदि प्रमाणो का सहारा उसे ढूँढने के लिए लेना पडेगा। अगर प्रत्यक्ष प्रमाण को ही आप पकडे रहेगे तो पुत्र के अभाव (मृत्यु) का आपको निश्चय करना पडेगा,

---

१ आकारैरिंगितैर्गत्वा, चेष्टया मापणेन च।
नेत्र-वक्त्र-विकाराभ्या, लक्ष्यतेऽन्तर्गत मन ॥ —पचतन्त्र

अनुमानादि प्रमाणो के प्रयोग के अभाव मे शायद आप अपने पुत्र के मिलने से वचित रह जायेगे।

इसलिए अनिच्छा से भी आपको अनुमान की प्रमाणता माननी पडेगी।

आप स्वर्ग, नरक, मोक्ष या अदृष्ट आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का निषेध करते है, तो किस प्रमाण के आधार पर करते है ? क्या आप स्वर्ग आदि को जानते हैं ? या नही जानते ? अगर जानते है तो प्रत्यक्ष से जानते हे या अन्य किसी प्रमाण से ? प्रत्यक्ष से तो आप इन्हे जानते नही, क्योकि स्वर्ग आदि अतीन्द्रिय अमूर्त पदार्थ प्रत्यक्ष से तो गृहीत होते नही। अतीन्द्रिय पदार्थ इसी कारण अतीन्द्रिय कहलाते है कि वे प्रत्यक्ष के विपय नही है। अगर वे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते तो अतीन्द्रिय ही न कहलाते। तथैव आप प्रत्यक्ष प्रमाण से स्वर्ग और मोक्ष आदि का निषेध भी नही कर सकते, क्योकि आप पहले यह बताइए कि वह प्रत्यक्ष, स्वर्ग और मोक्ष आदि मे प्रवृत्त होकर उनका निषेध करेगा या उनसे निवृत्त होकर करेगा ? स्वर्ग और मोक्ष मे प्रवृत्त होकर तो प्रत्यक्ष उनका निषेध नही कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष का अभाव-विपयक वस्तु के साथ विरोध होता है। अर्थात जो वस्तु नही हे, उसमे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नही होती हे। आपके मत से स्वर्ग, मोक्ष आदि जव है ही नही, तव उनमे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? अत स्वर्ग, मोक्ष आदि मे जव प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नही है, तव प्रत्यक्ष प्रवृत्त होकर स्वर्ग, मोक्ष आदि का निषेध नही कर सकता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष निवृत्त होकर स्वर्ग, मोक्ष आदि का निषेध करता है, यह बात भी असगत है। क्योकि स्वर्ग, मोक्ष आदि का जव प्रत्यक्ष ही नही है, तव प्रत्यक्ष से उनका निश्चय हो नही सकता।

तात्पर्य यह है कि व्यापक पदार्थ की निवृत्ति होने पर व्याप्य पदार्थ की भी निवृत्ति मानी जाती है, परन्तु सम्मुख उपस्थित पदार्थों को बताने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण, वस्तुओ का प्रकाशक नही होता है, यानी वह समस्त पदार्थों का ज्ञान नही करा सकता। अत प्रत्यक्ष की निवृत्ति होने पर उस पदार्थ की भी निवृत्ति (अभाव) हो जायेगी। ऐसा मान लेने पर तो घर से वाहर निकला हुआ मनुष्य जव घर के आदमियो को प्रत्यक्ष नही देखेगा तो वह उनके अभाव का निश्चय कर लेगा। यह अभीष्ट नही है। क्योकि किसी वस्तु के केवल इन्द्रियो से प्रत्यक्ष न होने मात्र से उस वस्तु का अभाव सिद्ध नही हो ा। प्रत्यक्ष से उसका अभाव तभी सिद्ध हो है, जव वह वस्तु प्रत्यक्ष से जानने योग्य हो, फिर भी न जाना जाता हो, तभी प्रत्यक्ष से उसका अभाव सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि यदि निवर्तमान प्रत्यक्ष वस्तु का अभाव सिद्ध करता है तो घर के अन्दर रखी हुई वस्तु का भी दीवार आदि की ओट के कारण प्रत्यक्ष न होने से अभाव सिद्ध कर देगा।

वास्तव मे समीपता, अतिदूरी आदि बाधकों से रहित प्रत्यक्ष जब किसी वस्तु को नही जानता है, तभी योग्य वस्तु के अभाव का बोध होता है। (१) अत्यन्त दूरी होने से, (२) अत्यन्त समीपता होने से, (३) किसी इन्द्रिय का घात हो जाने से, (४) मन के अव्यवस्थित (अन्यमनस्क) होने से, (५) पदार्थ के सूक्ष्म होने से, (६) दीवार आदि का व्यवधान (ओट) होने से, (७) अभिभव होने (प्रभाव दब जाने) से और (८) सजातीय पदार्थों के सम्मिश्रण होने से प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो पाता।[१]

तात्पर्य यह है कि पदार्थ विद्यमान होते हुए भी पूर्वोक्त कारणो से प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता। अति दूरी के कारण—आकाश मे विद्यमान पक्षी अत्यन्त दूरी के कारण नही दिखाई दे सकता, मगर इतने मात्र से पक्षी का अभाव नही हो जाता। अतिदूरी रूपी बाधक कारण (प्रतिबन्धक) के मौजूद रहते प्रत्यक्ष प्रवृत्त नही हो पाता, किन्तु इतने भर से वह (प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति) वस्तु के अभाव का निर्णायक नही हो सकता। अति सामीप्य के कारण—कभी-कभी अत्यन्त निकट होने से वस्तु विद्यमान होने पर भी प्रत्यक्ष नही दिखाई देती, जैसे नेत्रो मे लगा हुआ अजन दिखाई नही देता, किन्तु न दिखने मात्र से ही उसका अभाव नही हो जाता। इन्द्रिय भग होने से—किसी इन्द्रिय के नष्ट हो जाने या कमजोर हो जाने से भी व्यक्ति प्रत्यक्ष देख-सुन नही सकता। जैसे अधा या बहरा हो जाने से मनुष्य रूप को देख नही सकता या शब्द को सुन नही सकता किन्तु इतने मात्र से रूप अथवा शब्द का अभाव नही होता। मन की अस्थिरता से—जब मन ग्राह्य विषय की ओर नही होता, कही अन्यत्र सलग्न होता है तो प्रचण्ड प्रकाश के होते हुए भी, घडा सामने या पास मे होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नही होता। सूक्ष्मता के कारण—चित्त की एकाग्रता होने पर भी सूक्ष्म पदार्थ दिखाई नही देता। जैसे परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने से दिखाई नही देता। किन्तु इससे परमाणु का अभाव सिद्ध नही हो सकता। व्यवधान के कारण—किसी दीवार, पर्दे या कपडे आदि का व्यवधान (ओट या आड) होने से भी पदार्थ प्रत्यक्ष नही होता। जैसे पर्दे की ओट मे रानी बैठी है, दिखाई नही देती, किन्तु न दिखाई देने से रानी नही है ऐसा नही कहा जा सकता। अभिभव के कारण—अभिभव (दब जाने, हतप्रभ हो जाने) के कारण भी प्रत्यक्ष नही होता। जैसे दिन मे सूर्य की प्रभा से चन्द्रमा, तारे, ग्रह आदि दब जाने के कारण दिखाई नही देते। परन्तु इतने

---

१ "अतिदूरात्, सामीप्यादिन्द्रियघाताऽऽस्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्यात् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्चेति ॥

मात्र से उनका अभाव नही माना जाता। सजातीय पदार्थो के साथ सम्मिश्रण हो जाने से—कभी-कभी समान जातीय वस्तुओं के साथ सजातीय वस्तु के मिल जाने से भी ग्राह्य वस्तु का साक्षात्कार नही हो पाता। जैसे जलाशय मे अपने लोटे का जल डाल देने पर उस जल का पृथक ग्रहण नही होता। कबूतरो के झुण्ड मे मिला हुआ किसी के घर का पालतू कबूतर अलग दृष्टिगोचर नही होता। किन्तु न दिखने मात्र से न तो उक्त जल का अभाव हो सकता है और न ही उस कबूतर का। अनुद्भव के कारण—किसी चीज का प्रादुर्भाव न होने तक वह चीज प्रत्यक्ष नही होती। जैसे—दूध मे दही या बीज मे अकुर अभी दिखता नही हैं, किन्तु न दिखने मात्र से दही या अकुर का अभाव नही माना जाता।

इसी प्रकार स्वर्ग, नरक, मोक्ष, अदृष्ट आदि मे प्रवृत्त न होने वाला प्रत्यक्ष स्वर्गादि के अभाव का बोधक नही हो सकता। जो वस्तु किसी अन्य प्रमाण के द्वारा निश्चित न हो, उससे अगर प्रत्यक्ष विवृत्त हो तो उस वस्तु का अभाव सिद्ध हो सकता है। किन्तु प्रत्यक्ष न होने मात्र से किसी वस्तु का अभाव सिद्ध हो जाए, ऐसा प्रमाण-विशेषज्ञ पुरुष नही मानते।

इसके अतिरिक्त जिन्होने स्वर्ग आदि को नही जाना, उन्हे उनके अभाव का भी ज्ञान नही हो सकता। क्योकि अभाव के ज्ञान मे प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। जिस पुरुष ने घट को नही जाना, वह घटाभाव को भी नही जान पाता। इसी प्रकार स्वर्ग आदि प्रतियोगियो का ज्ञान चार्वाक को न होने से वह स्वर्गादि के अभाव को किसी भी प्रकार से नही जान सकता। अत स्वर्गादि का अभाव सिद्ध करना चार्वाक के वस की बात नही रही। क्योकि स्वर्गादि के अभाव के ज्ञान के लिए पहले उसे स्वर्गादि का ज्ञान, प्रत्यक्ष के सिवाय किसी अन्य प्रमाण से करना ही होगा। इसी प्रकार दूसरो के अभिप्राय को जानने-समझने और दूसरो को अपना अभिप्राय समझाने के लिये भी प्रत्यक्ष के सिवाय किसी अन्य प्रमाण को स्वीकार करना ही पडेगा। अन्यथा चार्वाक ने दूसरो को समझाने के लिये शास्त्रो की रचना क्यो की ?

इस प्रकार प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमान आदि प्रमाणो की सिद्धि हो जाती है। उन प्रमाणो से आत्मा भी पचमहाभूत से भिन्न सिद्ध हो जाती है।

आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, क्योकि उसका जो असाधारण गुण चैतन्य है, वह उपलब्ध होता है। इस प्रकार कार्य की उपलब्धि से कारण की अर्थात देह से भिन्न आत्मा की सिद्धि होती है।

इसी प्रकार अनुमान प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि होती है। जग—आत्मा है, क्योंकि उसका असाधारण गुण पाया जाता है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय। यद्यपि अतिसूक्ष्म होने के कारण आत्मा साक्षात ज्ञात नहीं होती। लेकिन स्पर्शन आदि इन्द्रियों में न होने योग्य रूप विज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति ज्ञात होने से आत्मा का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी आदि में न होने वाले चैतन्य गुण को देखकर आत्मा का अनुमान किया जाता है। चैतन्य एकमात्र आत्मा का ही गुण है। पृथ्वी आदि भूत समुदाय मे चैतन्य गुण का निराकरण करने से यह सिद्ध हो जाता है।

तथा आत्मा अवश्य है, क्योंकि समस्त इन्द्रियो के द्वारा जाने हुए पदार्थों का सम्मेलनात्मक ज्ञान आत्मा के सिवाय किसी को नही हो सकता। 'मैंने पाँचो ही (इन्द्रिय) विषयो को जाना' यह ज्ञान सम्मेलनात्मक ज्ञान है। यह ज्ञान सब विषयो को जानने वाला एक आत्मा माने बिना हो नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को प्रत्यक्ष करती है। आँख रूप ही देखती है, वह स्पर्श आदि का ज्ञान नही कर सकती। स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श का ही ज्ञान करती है, वह रूप आदि को नही जानती। ऐसी दशा मे पूर्वोक्त सम्मेलनात्मक ज्ञान इन्द्रियो को तो होना असभव है। अत इन्द्रियो के द्वारा सब अर्थो को प्रत्यक्ष करने वाला एक आत्मा अवश्य मानना चाहिए। वह आत्मा ही सब विषयो को प्रत्यक्ष करता है। पाँच खिडकियो के समान पाँच इन्द्रियाँ उसके प्रत्यक्ष के साधन है। जैसे खिडकियो के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए अर्थ को देवदत्त कालान्तर मे स्मरण कर लेता है, वैसे ही इन्द्रियो के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने गए अर्थो को आत्मा स्मरण कर लेता है।

एक दूसरी युक्ति से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है—

जो पुरुष किसी पदार्थ को देखता है, वही दूसरे समय मे उस पदार्थ को स्मरण करता है। परन्तु जो देखता नही है, वह स्मरण नही कर सकता है। देवदत्त ने जो देखा है, उसे वही स्मरण कर सकता है। देवदत्त ने नेत्र द्वारा जिस पदार्थ को कभी देखा है, नेत्र नष्ट होने पर भी वह उसे स्मरण करता है, यह अनुभवसिद्ध है। यदि नेत्र द्वारा पदार्थ को देखने वाला नेत्र से भिन्न आत्मा नही है तो नेत्र नष्ट होने पर नेत्र द्वारा देखे हुए पदार्थ को देवदत्त कैसे स्मरण कर सकता है ? इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि नेत्र आदि इन्द्रियो के द्वारा वस्तु का साक्षात्कार करने वाला इन्द्रियो से भिन्न एक आत्मा अवश्य है। जैसे पाँच खिडकियो के द्वारा देवदत्त वस्तु को प्रत्यक्ष करता है, उसी तरह आत्मा पाँच इन्द्रियो द्वारा रूप आदि विषयो को प्रत्यक्ष करता है। इसी प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध होता है।

अर्थापत्ति प्रमाण को सातवाँ प्रमाण माना जाता हे । अर्थापत्ति प्रमाण का लक्षण यह हे कि जिस पदार्थ का अन्य पदार्थ के बिना न होना छह ही प्रमाणो से निश्चित हो, वह पदार्थ अपनी सिद्धि के लिये जो अन्य अदृष्ट की कल्पना करता है, उसे अर्थापत्ति कहते है ।[1] अर्थापत्ति को समझने के लिए उदाहरण लीजिये—पीनोऽयं देवदत्त दिवा न भुक्ते (यह मोटा ताजा देवदत्त दिन मे नही खाता है) । बिना खाए कोई मोटा हो नही सकता, यह सभी प्रमाणो से निश्चित है । परन्तु यहाँ देवदत्त का दिन मे खाने का निषेध किया है, साथ ही उसे मोटा भी कहा है । मगर खाए बगैर वह मोटा नही हो सकता है । इसलिए जाना जाता है कि वह रात मे खाता है । यहाँ देवदत्त के लिये रात मे भोजन करने की बात नही कही गई है, फिर भी अर्थापत्ति प्रमाण से जानी जाती है । इसी तरह दीवार आदि पर लेप्य कर्म वगैरह मे पृथ्वी, जल आदि पच महाभूत समुदाय होते हुए भी सुख, दुख, इच्छा, द्वेष और आदि क्रियाएँ नही होती । इससे निश्चित होता है कि सुख, दुख, इच्छा आदि क्रियाओ का यी कारण पचभूतो से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है । और वह पदार्थ आत्मा है । इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमानादि मूलक अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि लेनी चाहिए ।

आगम प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है—अत्थि मे आया उववाइए[2] (परलोक मे जाने वाला मेरा आत्मा है) 'स ? तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (श्वेतकेतो ! वह आत्मा तुम्ही हो) इत्यादि आगम प्रमाण आत्मा के विषय मे मिलते है ।

आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये दूसरे प्रमाणो को ढूंढने की क्या आवश्यकता है ? सब प्रमाणो मे श्रेष्ठ और प्रधान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है । आत्मा के ज्ञान आदि गुण मानस-प्रत्यक्ष द्वारा प्रत्यक्ष किये जाते हैं । वे ज्ञानादि गुण अपने गुणी आत्मा से अभिन्न है । गुण तथा गुणी एक होने से मानस-प्रत्यक्ष से आत्मा भी प्रत्यक्ष ही है । जैसे रूप आदि गुणो के प्रत्यक्ष होने से पट आदि का प्रत्यक्ष होता है । आशय यह है कि 'मैं सुखी हूँ, मैं दु खी हूँ, इत्यादि अनुभूत वाक्यो मे 'मैं' इस ज्ञान से ग्रहण किया जाने वाला आत्मा मानस प्रत्यक्ष है । क्योकि 'मैं' यह ज्ञान, आत्मा का ही ज्ञानरूप है । तथा मेरा यह शरीर

---

१ प्रमाण षट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवन् ।
अदृष्ट कल्पयेदन्य सार्थापत्तिरुदाहृता ॥

२. आचाराग सूत्र

है, मेरा पुराना कर्म है, इत्यादि व्यवहारो से आत्मा शरीर से पृथक बतलाया जाता है। इस युक्ति से भी आत्मा प्रमाण से सिद्ध है।

तुष्यतुदर्जन न्यायेन चार्वाक द्वारा अपने मतलब के लिये प्रयुक्त अनुमान प्रमाण मे भी जैन नैयायिक दोप बताते है। चार्वाक ने यह कहा कि 'चैतन्य भूतो से भिन्न नही है, क्योकि वह पचभूतो का कार्य है, जैसे घट आदि', यह भी असगत है क्योकि यहाँ 'भूतकार्यत्व' हेतु 'स्वरूपासिद्धि' है। जहाँ हेतु पक्ष मे नही रहता, वहाँ हेतुत्व का अभाव होने से पक्ष मे स्वरूपासिद्धि होती है। जैसे शब्द गुण है, क्योकि वह चाक्षुप है। यहाँ चाक्षुपत्व हेतु शब्द रूप पक्ष मे न रहने के कारण स्वरूपासिद्ध है, वैसे ही यहाँ चैतन्य महाभूतो का कार्य न होने से चैतन्य रूप पक्ष मे भूत कार्यत्व हेतु नही रहता। अत वह भी स्वरूपासिद्ध है, चैतन्य महाभूता का कार्य क्यो नही है, यह हम पहले ही "महाभूतो का कार्य चैतन्य नही है, क्योकि भूतो का गुण चैतन्य नही है।" इस प्रकार के अनुमान द्वारा सिद्ध कर आए है। भूतो का कार्य चैतन्य मानने पर 'मैं पाँच ही विषयो को जानता हूँ' इस प्रकार का सकलनात्मक ज्ञान नही हो सकता, यह दोपापत्ति भी हम पहले प्रस्तुत कर आए है। इसलिए भूतो से भिन्न ज्ञान का आधार आत्मा अवश्य है, यह सिद्ध हुआ।

चार्वाक की ओर से पुन शका प्रस्तुत की जाती है—ज्ञान से भिन्न और ज्ञान का आधारभूत अलग आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है ? क्योकि ज्ञान से ही सम्मेलनात्मक (सकलनात्मक) ज्ञान आदि सभी सिद्ध हो सकते है। अत शरीर की भेद ग्रन्थि की तरह व्यर्थ ही एक आत्मा को अलग से मानने की क्या जरूरत है ? ज्ञान से ही सभी व्यवहार हो सकेंगे। वह इस प्रकार—ज्ञान ही चैतन्य रूप है, उसका शरीर रूप मे परिणत अचेतन भूतो के साथ सम्बन्ध होने पर सुख-दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदि क्रिया उत्पन्न होती हैं तथा उसी को सम्मेलनात्मक ज्ञान होता है और वही ज्ञान दूसरे भव मे भी जाता है। इस प्रकार सब विषयो की व्यवस्था हो जाने पर फिर आत्मा की कल्पना की क्या आवश्यकता है ?

इसका समाधान यह है—ज्ञान का आधारभूत एव ज्ञान से कथचित भिन्न आत्मा माने बिना अनेक विषयो का सकलनात्मक ज्ञान नही हो सकेगा। जैसे—प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण कर सकती है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विपय को ग्रहण नही कर सकती। चक्षु रूप को ही जानती है, रसादि को नही। ऐसी दशा मे सभी विपयो को जानने वाले इन्द्रियो से भिन्न आत्मा का अस्तित्व न होगा तो ज्ञायक का अभाव होने से 'मैंने पाँचो ही विषय जाने' इस प्रकार का सकलनात्मक ज्ञान नही हो सकेगा।

यदि यह कहे कि ज्ञान का अधिकरण (आधार) कोई द्रव्य (आत्मा) नही है, किन्तु आलयविज्ञान नामान्तर वाला ज्ञान ही प्रवृत्तिविज्ञान (अह प्रत्यय का आधार एव सुख-दुखादि का अनुसधानकर्ता आलयविज्ञान कहलाता है और घट आदि को प्रत्यक्ष करने वाला प्रवृत्तिविज्ञान है) का जनक होता है और वही अधिकरण है। उसी से सकलनात्मक ज्ञान आदि भी घटित हो जायेगे। फिर व्यर्थ ही ज्ञान से भिन्न आत्मा को अलग से मानने का प्रयास क्यो करते हो? इस पर जैनदर्शन कहता है यह तो नाम मात्र का ही भेद हुआ। आपने आत्मा को आलय-वि नाम देकर प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया और फिर ज्ञान गुण गुणी आत्मा को छोडकर अन्यत्र नही रह सकता और न निराधार ही ठहर सकता है। इसलिये जब ज्ञान गुण है तो उसका आधारभूत गुणी आत्मा अवश्य होना चाहिए।

अह तेसिं विणासेण विणासो होइ देहिणो - चार्वाक ने यह माना है कि उन पचमहाभूतो का विनाश होने पर देही (आत्मा) का विनाश हो जाता है। यहाँ शका होती है। हमने आत्मा को पचभूतो से भिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य तो विविध युक्तियो और प्रमाणो से सिद्ध कर दिया, लेकिन वह आत्मा नित्य है या अनित्य (विनाशशील)? शरीर से भिन्न होने पर भी क्या शरीर के नाश होते ही आत्मा नष्ट हो जाती है, कायम रहती है या जिस योनि मे उस जीव को जन्म लेना होता है, वहाँ चली जाती है? ये प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जैनदर्शन इन प्रश्नो का उत्तर अनेकान्तवाद दृष्टि से देता है—'आत्मा किसी अपेक्षा से अनित्य है और किसी अपेक्षा से नित्य है। पर्याय की अपेक्षा से वह अनित्य है।[1] जैसे—घट द्रव्य रूप से नित्य है, लेकिन नवीनता, प्राचीनता आदि पर्यायो की दृष्टि से अनित्य है। इसी प्रकार[2] आत्मा भी बाल्यावस्था, युवावस्था एव वृद्धावस्था आदि पर्यायो की अपेक्षा से तथा शरीर आदि अवच्छेदक के भेद से अनित्य है। ससारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबन्धन मे बँधा हुआ है। उसका कर्म के साथ सम्बन्ध होने के कारण आत्मा की सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय आदि अनेक अवस्थाएँ होती है। कर्मों के बन्धन के फलस्वरूप आत्मा कभी मनुष्य पर्याय को छोडकर देव पर्याय मे जाता है, तो कभी नारक और तिर्यच पर्याय मे जाता है। वहाँ शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुख रूप फल भोगता है। अत

---

१. आदीपमाव्योमसमस्वभाव स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विपता प्रलापा ॥— ादमजरी

२ उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्त सत्। —तत्त्वार्थ-सूत्र

पूर्वोक्त पर्यायो की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है। लेकिन द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है। किसी की आत्मा ने मनुष्य शरीर धारण किया, लेकिन फिर जहाँ-जहाँ उसका जीव जिस-जिस योनि मे जो-जो शरीर धारण करेगा, वहाँ-वहाँ सर्वत्र आत्मा जाएगा। विविध शरीरो के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नही होगा। यहा तक कि फिर कभी शरीर धारण नही करना पडेगा, ऐसी मुक्त-सिद्ध-बुद्ध स्थिति आने पर भी उस जीव का शरीर छूट जाएगा, मगर आत्मा मुक्ति मे साथ ही जाएगी। अत आत्मा नि.य है, शाश्वत है। अगर आत्मा को एकान्तरूप से अनित्य मान लिया जाए तो केवलज्ञान, मोक्ष आदि के लिए यम, नियम, प्राणायाम, तप, स्वाध्याय, श्रवण, मनन, धारणा, ध्यान, समाधि, ईश्वरप्रणिधान आदि लोकोत्तर फल के साधनो का तथा श्रम, कृषि, व्यापार, सेवा, दान, परोपकार आदि इहलौकिक फल देने वाले कर्मो का तथा प्रत्यभिज्ञान, स्मरण आदि का सर्वथा लोप हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि सभी बुद्धिमान व्यक्ति आत्मा को अपने शरीर से भिन्न, परलोक मे साथ जाने वाला, कथचित् नित्य जान कर ही पारलौकिक फल के साधन दान, पुण्य, सेवा, परोपकार आदि शुभ कार्यों मे प्रवृत्त होते है। अगर वे प्रज्ञामूर्ति जन आत्मा को एकान्त अनित्य समझते तो जिस शरीर के द्वारा या जिस शरीर मे रहकर दान-धर्म, पुण्य, परोपकार आदि शुभकर्म किये हैं, वह शरीर, वह आत्मा और किये हुए सभी शुभकर्म सबके सब यही मरने के साथ ही नष्ट हो जायेंगे, फिर कालान्तर मे पुण्यादि शुभ कार्यो के फलस्वरूप स्वर्गादि परलोक या भवान्तर मे कुछ नही मिलेगे, यह जान कर कौन पुण्यादि शुभ कर्म करते ? जब आत्मा देहनाश के साथ ही समाप्त हो जाएगा, तब पाप करने वालो को तो पाप करने की खुली छूट मिल जायगी कि शरीर, आत्मा तथा शुभाशुभ कर्म सबके सब यही नष्ट हो जायेंगे, आगे कर्मफल भोगने के लिए कही जाना नही है। ससार मे तब तो अव्यवस्था और अराजकता छा जाएगी। शुभाशुभ कर्मो का फल भोगने की कोई गुजाइश ही नही रहेगी। ऐसा तो होता ही नही कि एक आत्मा (जीव) के बदले दूसरा जीव फल भोग ले। इसलिए आत्मा एकान्त अनित्य नही है।

इसी प्रकार आत्मा एकान्त नित्य भी नही है, क्योकि एकान्त नित्य आत्मा को मानने पर जन्म, मरण, तथा नरक, तिर्यन्च, मनुष्य और देवगति आदि की व्यवस्था ही नही बन सकती।

अतएव आत्मा कथचित् अनित्य है और कथचित् नित्य भी है। एक ही आत्मा मे द्रव्य की अपेक्षा से नित्यता और देव, नारक, तिर्यञ्च आदि पर्याय की अपेक्षा से अनित्यता मानने मे कोई दोष नही आता।

यह तो ठीक, पर वह आत्मा अमूर्त, निरजन, निराकार अपने आप मे होने पर भी जब तक विविध योनियो एव गतियो मे विविध शरीरो के साथ सम्बद्धित रहती है, तब क्या वह शरीर के किसी कोने मे दुबकी रहती है, या सारे शरीर मे व्याप्त होकर रहती है, अथवा सारे ससार मे व्याप्त होकर रहती है ? इस सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न दार्शनिको ने भिन्न-भिन्न अटकले लगाई है, भिन्न-भिन्न रूप से कल्पना की है । कोई दार्शनिक आत्मा को अणु परिमाण ही मानते हैं । वैदिक श्रुति[1] मे बताया हे—यह अणु परिमाण आत्मा चित्त के द्वारा माना जाता है, जिसमे ५ प्रकार के प्राणो का सन्निवेश है । कुछ दार्शनिक आत्मा को समस्त ब्रह्माण्डव्यापी मानते है और कई दार्शनिक मानते है—मध्यम परिमाण वाला आत्मा । जो आत्मा को श्यामाक (धान्य विशेष) के दाने के बराबर या अँगूठे के पर्व के समान या अणु परिमाण मानते हैं, वह भी समीचीन नही है, क्योकि इतना छोटा आत्मा सारे शरीर मे व्याप्त होकर नही रह सकता । तथा सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त ज्ञान गुण की उपलब्धि उसे नही हो सकेगी, न सारे शरीर मे चेतना का लाभ हो सकेगा । अगर आत्मा को व्यापक परिमाण वाला मानते हैं तो सभी जगह उसके गुण पाए जाते, मगर ऐसा प्रतीत नही होता । अतएव आत्मा व्यापक नही है ।[2] जैसे घट के रूप आदि गुण घट से भिन्न प्रदेश मे नही पाये जाते, वे घट मे ही रहते है, वैसे ही आत्मा के ज्ञानादि गुण भी शरीर पर्यन्त ही पाये जाते है, शरीर के सिवाय अन्यत्र नही पाये जाते, इस कारण ज्ञानादि गुणो का अधिकरण (आत्मा) व्यापक नही है, मध्यम परिमाण है—शरीरव्यापी—चर्मपर्यन्त समस्त शरीरव्यापी । कुछ लोग इस पर भी आपत्ति उठाते है कि आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानने से वह घट आदि की तरह अनित्य हो जाएगा । फिर तो शरीर के नाश होने की तरह आत्मा का भी नाश हो जाएगा । ऐसी स्थिति में जन्मान्तर मे कर्मफल का उपभोग आदि की व्यवस्था कैसे सगत होगी ? ऐसा कहना यथार्थ नही है । जैनदर्शन आत्मा को कथचित अनित्य मानता है । इसलिए पर्याय बदलने पर भी आत्मा तो एक रूप ही रहेगा । मगर जब तक कर्म हैं, तब तक शरीर के साथ शरीरव्यापी होकर सम्बद्ध

१ 'ऐपो अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो, यस्मिन् प्राण पचधा सन्निवेश ।

—श्रुति

२ यद्यपि समुद्घात, लब्धि, सिद्धि या योग के द्वारा आत्मा को जगद्व्यापी बनाया जा सकता है, पर उस दशा मे शरीर भी उतना ही व्यापक बन जाएगा, अत आत्मा शरीरव्यापी ही होगी ।

रहेगा। जिस जीव के शरीर का जितना परिमाण होता है, उतना ही परिमाण आत्मा का हो जाता है।

इस प्रकार इन दो गाथाओ द्वारा शास्त्रकार ने चार्वाकमत-प्रतिपादित पाँच भौतिक सिद्धान्त के मत का खण्डन करके स्वसत्य सिद्धान्तसम्मत आत्मा की सिद्धि, उसका स्वरूप तथा उसकी पचभूतो मे भिन्नता प्रतिपादित की है। शास्त्रकार का आशय प्रस्तुत चार्वाकमतीय एकान्त मिथ्याग्रह को मिथ्यात्व बताकर तज्जन्य कर्म-बन्धन से अपनी आत्मा को बचाने हेतु सम्यक्त्व सेवन ध्वनित हुआ है।

अब शास्त्रकार वेदान्त मत प्रतिपादित एकान्त एकात्मवाद के स्वरूप का प्रतिपादन करके उसके मिथ्यात्व को सूचित करते हुए कहते है—

मूल

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणाहि दीसइ ।
एव भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणाहि दीसइ ॥९॥

स छाया

यथा च पृथिवीस्तूप एको नाना हि दृश्यते ।
एव भो ! कृत्स्नो लोक, (विज्ञ) विद्वान् नाना हि दृश्यते ॥९॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (एगे य) एक ही (पुढवीथूभे) पृथ्वी समूह (नाणाहि) नाना रूपो मे (दीसइ) दिखाई देता है, (भो) हे जीवो (एव) इसी प्रकार (विन्नू) विज्ञ आत्मस्वरूप (कसिणे) सम्पूर्ण (लोए) लोक (नाणाहि) नानारूपो मे (दीसइ) दिखाई देता है।

भावार्थ

जैसे एक ही पृथ्वीसमूह सरिता, सागर, ग्राम, घट, पट, पर्वत, नगर आदि अनेक रूपो मे दिखाई देता है, उसी तरह हे भव्य जीवो ! (विज्ञानरूप) आत्ममय यह जड़चेतनरूप समस्त जगत नाना रूपो में दिखाई देता है।

क्य

आत्माद्वैतवाद का स्वरूप और विश्लेषण

प्रस्तुत गाथा मे एकात्मवाद, जिसे कि उत्तरमीमासक (वेदान्ती)[१] मानते है, का स्वरूप बताया गया है। उत्तरमीमासावादी वेदान्ती अद्वैतब्रह्म को मानते है। उनका प्रधान सिद्धान्त है—'सर्व खल्विद ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन' अर्थात इस जगत मे सब कुछ ब्रह्मरूप ही है, उसके सिवाय नाना दिखाई देने वाली चीज कुछ नही है। अर्थात् चेतन, अचेतन (पृथ्वी आदि पचभूत तथा जड पदार्थ) जितने भी पदार्थ है, वे सब एक ब्रह्म (आत्म) रूप है।[२] सभी प्राणियो के शरीर मे जो भूतकाल मे रहा है, भविष्य मे रहेगा, वह एक ही ब्रह्म (आत्मा) भासमान होता है।[३] इसी तरह सभी जड पदार्थ भी ब्रह्मरूप है। इसी बात को शास्त्रकार ने व्यक्त किया है—'एव भो कसिणे लोए विन्नू' अर्थात सारा जड-चेतनात्मक लोक आत्म-स्वरूप-चैतन्यमय है।[3] ब्रह्म (आत्मा) एक ही है, वह अद्वितीय है।[४]

प्रश्न होता है कि जगत मे ब्रह्म के सिवाय और कुछ नही है, तब फिर ये बहुत सी चीजे हमे अपनी खुली आंखो से प्रत्यक्ष दिखाई देती है, ये क्या हैं? आप तो कहते हैं एक ही पदार्थ है, वह है ब्रह्म, फिर ये जो नाना चीजें दिखाई पडती है, ये क्या हैं? इसका समाधान वे यो करते है कि अविद्या के कारण मनुष्य को भ्रान्ति हो जाती है इसी से उसे बहुत सी चीजे मालूम होती हैं। अविद्या व्यक्तिगत अज्ञान है, वह मानव स्वभाव मे ऐसी मिली हुई चीज है कि बडी कठिनता से दूर होती है। अविद्या कोई अलग चीज नही है, वही माया है, मिथ्या है। जो कुछ हम देखते हैं या और किसी तरह का अनुभव करते हैं, वह भी ब्रह्म का अश है, पर वह हमे अविद्या के कारण ठीक-ठीक अनुभव नही होता। जैसे कोई दूर से रेगिस्तान

---

१. उत्तरमीमासा या वेदान्त के सिद्धान्त उपनिषदो मे, कुछ पुराणो मे और साधारण साहित्य मे मिलते हैं। वेद का ज्ञानकाण्ड उपनिषदो मे सगृहीत किया गया है, इसीलिए इसे वेदान्त कहा गया है, इन सिद्धान्तो का क्रम से वर्णन सर्वप्रथम बादरायण ने (ई० पू० ३-४ शताब्दी मे) वेदान्त (ब्रह्म) सूत्र मे किया, जिस पर शकराचार्य का बृहद्‌भाष्य है।

२ 'सर्वमेतदिद ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३।१४।१), 'ब्रह्म खल्विद वाद सर्वम्' (मैत्र्युप० ४।६।३)।

३ पुरुष एवेद सर्व, यच्च भूत, यच्च भाव्यम्।

४ एकमेवाद्वितीय ब्रह्म।

को देखकर पानी समझे या पानी मे परछाई देखकर समझे कि चन्द्रमा, तारे, बादल आदि पानी के भीतर है और पानी के भीतर घूम रहे है, ठीक इसी तरह अविद्या के प्रभाव से मनुष्य साधारण वस्तुओ को ब्रह्म न मानकर मकान, पेड, शरीर या जानवर इत्यादि मानते हैं। ज्यो ही मनुष्य को ज्ञान होगा, विद्या प्राप्त होगी अथवा यो कहिए कि ज्यो ही उसका शुद्ध ब्रह्मरूप प्रकट होगा, त्यो ही उसे सब कुछ ब्रह्मरूप ही मालूम होगा। इस अवस्था को पहुँचते ही मनुष्य के समस्त दुख-दर्द की माया मिट जायेगी, सुख ही सुख हो जायेगा। वह ब्रह्म मे मिल जाएगा, या लय हो जाएगा अर्थात अपने असली स्वरूप को पा जाएगा। यह ब्रह्मलयावस्था है। इस प्रकार की ब्रह्मविद्या जिसने प्राप्त कर ली, उसने मोक्ष प्राप्त कर लिया समझो। जिसने ब्रह्म को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। ब्रह्म को जानने के बाद कुछ भी जानना या पाना शेष नही रहता।

जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म को छोडकर कोई चीज नही। उसे फिर वेद को पढने की भी आवश्यकता नही है। जैसे—पानी से लबालब भरे प्रदेश मे क्षुद्र जलाशय का कोई महत्व नही रहता, वैसे ही ब्रह्मविद्या प्राप्त किए हुए व्यक्ति के लिये वेद का कोई महत्व नही है। जब शिष्य ने गुरु से पूछा—"गुरुदेव ! कहाँ आप और कहाँ मैं ? आपकी परमात्मा मे और मेरी आत्मा मे तो बहुत अन्तर है। क्या सभी ब्रह्म एक से हैं ?" ऋषि ने कहा—"तत्त्वमसि" तुम ही वह ब्रह्म (आत्मा) हो। वास्तव मे दोनो एक हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सत्य है, और दृश्यमान नाना पदार्थात्मक जगत मिथ्या है। जगत मे नानारूप मे दिखाई देने वाली वस्तुएँ ब्रह्म (आत्मा) का ही रूप है। इस बात को आत्माद्वैतवादियो की ओर से स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—"जहा य पुढवीथूभे नाणाहि दीसइ" जैसे पृथ्वी का समूह रूप जो अवयवी है अथवा पृथ्वीरूप जो स्तूप-समुदाय रूप पिण्ड है, वह एक है, फिर भी जल, नदी, समुद्र, पवत, नगर, घट, पट आदि नानारूप होने से विचित्र सा दिखाई देता है, अथवा ऊँचा, नीचा, कोमल, कठोर, लाल, पीला, भूरा, आदि के भेद से नाना प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सबमे पृथ्वीतत्त्व व्याप्त रहता है। उसके स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता। इन सब भेदो के बावजूद भी पृथ्वीतत्त्व मे कोई भेद नही होता। इसी प्रकार हे लोको ! चेतन-अचतन रूप समस्त लोक विज्ञ (विद्वान या ज्ञानमय) एक आत्मा ही है। यद्यपि एक ही ज्ञानपिण्ड आत्मा पृथ्वी, जल आदि भूतो के आकार मे होने से नाना प्रकार का दिखाई देता है, परन्तु इस भेद के कारण उस आत्मा के स्वरूप मे कोई भेद नहीं होता। आशय यह है कि जैसे—घडे आदि सब वस्तुओ मे पृथ्वी एक ही है, उसी

व्याख्या

आत्माद्वैतवाद का स्वरूप और विश्लेषण

प्रस्तुत गाथा मे एकात्मवाद, जिसे कि उत्तरमीमासक (वेदान्ती)[1] मानते है, का स्वरूप बताया गया है। उत्तरमीमासावादी वेदान्ती अद्वैतब्रह्म को मानते है। उनका प्रधान सिद्धान्त है—'सर्व खल्विद ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन' अर्थात इस जगत मे सब कुछ ब्रह्मरूप ही है, उसके सिवाय नाना दिखाई देने वाली चीज कुछ नही है। अर्थात् चेतन, अचेतन (पृथ्वी आदि पचभूत तथा जड पदार्थ) जितने भी पदार्थ है, वे सब एक ब्रह्म (आत्म) रूप है।[2] सभी प्राणियो के शरीर मे जो भूतकाल मे रहा है, भविष्य मे रहेगा, वह एक ही ब्रह्म (आत्मा) भासमान होता है।[3] इसी तरह सभी जड पदार्थ भी ब्रह्मरूप है। इसी बात को शास्त्रकार ने व्यक्त किया है—'एव भो कसिणे लोए विन्नू' अर्थात सारा जड-चेतनात्मक लोक आत्म-स्वरूप-चैतन्यमय है।[3] ब्रह्म (आत्मा) एक ही है, वह अद्वितीय है।[4]

प्रश्न होता है कि जगत मे ब्रह्म के सिवाय और कुछ नही है, तब फिर ये बहुत सी चीजे हमे अपनी खुली आँखो से प्रत्यक्ष दिखाई देती है, ये क्या है ? आप तो कहते है एक ही पदार्थ है, वह है ब्रह्म, फिर ये जो नाना चीजे दिखाई पडती हैं, ये क्या हैं ? इसका समाधान वे यो करते है कि अविद्या के कारण मनुष्य को भ्रान्ति हो जाती है इसी से उसे बहुत सी चीजे मालूम होती है। अविद्या व्यक्तिगत अज्ञान है, वह मानव स्वभाव मे ऐसी मिली हुई चीज है कि बडी कठिनता से दूर होती है। अविद्या कोई अलग चीज नही है, वही माया है, मिथ्या है। जो कुछ हम देखते है या और किसी तरह का अनुभव करते हैं, वह भी ब्रह्म का अश है, पर वह हमे अविद्या के कारण ठीक-ठीक अनुभव नही होता। जैसे कोई दूर से रेगिस्तान

---

१ उत्तरमीमासा या वेदान्त के सिद्धान्त उपनिषदो मे, कुछ पुराणो मे और साधारण साहित्य मे मिलते हैं। वेद का ज्ञानकाण्ड उपनिषदो मे सगृहीत किया गया है, इसीलिए इसे वेदान्त कहा गया है, इन सिद्धान्तो का क्रम से वर्णन सर्वप्रथम बादरायण ने (ई० पू० ३-४ शताब्दी मे) वेदान्त (ब्रह्म) सूत्र मे किया, जिस पर शकराचार्य का बृहद्भाष्य है।

२ 'सर्वमेतदिद ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३।१४।१), 'ब्रह्म खल्विद वाद सर्वम्' (मैत्र्युप० ४।६।३)।

३ पुरुष एवेद सर्व, यच्च भूत, यच्च भाव्यम्।

४ एकमेवाद्वितीय ब्रह्म।

को देखकर पानी समझे या पानी मे परछाई देखकर समझे कि चन्द्रमा, तारे, बादल आदि पानी के भीतर है और पानी के भीतर घूम रहे है, ठीक इसी तरह अविद्या के प्रभाव से मनुष्य साधारण वस्तुओ को ब्रह्म न मानकर मकान, पेड, शरीर या जानवर इत्यादि मानते है। ज्यो ही मनुष्य को ज्ञान होगा, विद्या प्राप्त होगी अथवा यो कहिए कि ज्यो ही उसका शुद्ध ब्रह्मरूप प्रकट होगा, त्यो ही उसे सब कुछ ब्रह्मरूप ही मालूम होगा। इस अवस्था को पहुँचते ही मनुष्य के समस्त दुख-दर्द की माया मिट जायेगी, सुख ही सुख हो जायेगा। वह ब्रह्म मे मिल जाएगा, या लय हो जाएगा अर्थात अपने असली स्वरूप को पा जाएगा। यह ब्रह्मलयावस्था है। इस प्रकार की ब्रह्मविद्या जिसने प्राप्त कर ली, उसने मोक्ष प्राप्त कर लिया समझो। जिसने ब्रह्म को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। ब्रह्म को जानने के बाद कुछ भी जानना या पाना शेष नही रहता।

जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म को छोडकर कोई चीज नही। उसे फिर वेद को पढने की भी आवश्यकता नही है। जैसे—पानी से लबालब भरे प्रदेश मे क्षुद्र जलाशय का कोई महत्व नही रहता, वैसे ही ब्रह्मविद्या प्राप्त किए हुए व्यक्ति के लिये वेद का कोई महत्व नही है। जब शिष्य ने गुरु से पूछा—"गुरुदेव! कहाँ आप और कहाँ मैं? आपकी परमात्मा मे और मेरी आत्मा मे तो बहुत अन्तर है। क्या सभी ब्रह्म एक से हैं?" ऋषि ने कहा—"तत्त्वमसि" तुम ही वह ब्रह्म (आत्मा) हो। वास्तव मे दोनो एक हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सत्य है, और दृश्यमान नाना पदार्थात्मिक जगत मिथ्या है। जगत मे नानारूप मे दिखाई देने वाली वस्तुएँ ब्रह्म (आत्मा) का ही रूप है। इस बात को आत्माद्वैतवादियो की ओर से स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाते है—"जहा य पुढवीथूभे नाणाहि दीसइ" जैसे पृथ्वी का समूह रूप जो अवयवी है अथवा पृथ्वीरूप जो स्तूप-समुदाय रूप पिण्ड है, वह एक है, फिर भी जल, नदी, समुद्र, पर्वत, नगर, घट, पट आदि नानारूप होने से विचित्र सा दिखाई देता है, अथवा ऊँचा, नीचा, कोमल, कठोर, लाल, पीला, भूरा, आदि के भेद से नाना प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सबमे पृथ्वीतत्त्व व्याप्त रहता है। उसके स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता। इन सब भेदो के बावजूद भी पृथ्वीतत्त्व मे कोई भेद नही होता। इसी प्रकार हे लोको! चेतन-अचेतन रूप समस्त लोक विज्ञ (विद्वान या ज्ञानमय) एक आत्मा ही है। यद्यपि एक ही ज्ञानपिण्ड आत्मा पृथ्वी, जल आदि भूतो के आकार मे होने मे नाना प्रकार का दिखाई देता है, परन्तु इस भेद के कारण उस आत्मा के स्वरूप मे कोई भेद नही होता। आशय यह है कि जैसे—घडे आदि सब वस्तुओ मे पृथ्वी एक ही है, उसी

प्रकार आत्मा भी विविध आकृति एव रूप वाले जड-चेतनमय पदार्थो मे व्याप्त है और एक ही है। जैसे कि श्रुति (वेद) मे कहा है—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थित.।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

एक ही आत्मा (ब्रह्म) सभी भूतो मे स्थित है। वह एक होकर भी जल मे प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान नानारूप मे दिखाई देता है।

आशय यह है कि जैसे एक ही चन्द्रमा जल से भरे हुए विभिन्न पात्रो मे अनेक दिखाई देता है, इसी प्रकार एक ही आत्मा उपाधिभेद से अनेक प्रकार का दिखाई देता है।

जैसे एक ही वायु सारे लोक मे व्याप्त (प्रविष्ट) है, मगर उपाधिभेद से -अलग रूप वाला हो गया है, वैसे ही सर्व भूतो मे रहा हुआ एक ही आत्मा उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न रूप हो जाता है।

यही शास्त्रकार का है। यही आत्माद्वैतवादियो की मान्यता है। अगली गाथा मे आत्माद्वैतवाद का खण्डन करते हुए शास्त्रकार इस मत के मानने से होने वाली हानि का दिग्दर्शन कराते हैं—

मूल

एवमेगे त्ति जप्पंति, मदा आरम्भणिस्सिया ।
एगे किच्चा सय पावं, तिव्वं दु नियच्छइ ॥१०॥

I

एवमेक इति जल्पन्ति, मन्दा आरभनिश्रिता ।
एके कृत्वा स्वय पाप, तीव्र दु ख नियच्छन्ति ॥१०॥

र्थ

(एगे) कई आत्माद्वैतवादी (त्ति एव) एक ही आत्मा है, इस (पूर्वोक्त) से (जप्पति) करते हैं, मिथ्या प्रतिपादन करते हैं। (मदा) वे मन्द यानी जडबुद्धि है, विवेकविकल है, (आरभणिस्सिया) प्राणातिपात आदि आरम्भ मे आसक्त ऐसे (एगे) कई व्यक्ति (सय) स्वय (पाव) पाप (कि) करके (तिव्व) तीव्र (दुक्ख) दु ख (नि इ) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ

कई एकात्माद्वैतवादी सारे ब्रह्माण्ड मे एक ही आत्मा है, इस (पूर्वोक्त) प्रकार से मिथ्या प्ररूपण करते हे। वे कई मदबुद्धि अज्ञ, प्राणातिपात आदि आरम्भ मे आसक्त स्वय पाप करके तीव्र दुख प्राप्त करते है।

व्याख्या

आत्माद्वैतवाद का निराकरण

इस गाथा मे पूर्वगाथा मे प्रतिपादित आत्माद्वैतवाद को अयथार्थ बताकर उसका प्ररूपण करने वाले व्यक्तियो को शास्त्रकार ने मदबुद्धि, अज्ञानी, विवेकहीन और मिथ्या प्ररूपण करने वाले बताया है।

प्रश्न होता है कि आत्माद्वैतवाद का प्ररूपण करने वाले मदबुद्धि क्यो हैं ? उन्होने बडी-बडी युक्तियाँ और दृष्टान्त देकर सारे जड-चेतनात्मक ससार को एक ब्रह्मरूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया हे। अत वे जडबुद्धि या विवेकहीन कैसे हो हो सकते है ?

इसके उत्तर मे शास्त्रकार स्वय कहते हैं—"जम्पति आरभ-णिस्सिया" नियच्छइ।" आशय यह है कि युक्ति एव विचार से रहित होने के कारण वे युक्ति-रहित एकात्मवाद को पकड कर जहाँ-तहाँ अपनी डीग हाँकते हैं। वे उस प्रकार का ब्रह्मज्ञान बघारते है, जिसका कोई ओर-छोर नही है, यही उनकी मूर्खता या मूढता है।

एगे—ऐसा युक्तिरहित आत्माद्वैतवाद कई लोग बघारते है, सभी नही। क्योकि वेदान्तदर्शन मे भी आगे चलकर शकराचार्य, आचार्य रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि आचार्यो ने इसमे कुछ 'सशोधन किया है। ब्रह्म को सगुण मानकर भक्तियोग का भी समावेश किया है, तथा ब्रह्म सत्य होते हुए भी प्रेम या करुणामय है। ब्रह्म अन्तर्यामी है, वह सब आत्माओ के भीतर का हाल जानता है। ब्रह्म मे मिल जाने पर बिल्कुल मिथ्या नही है, इस प्रकार विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि कई शाखाएँ वेदान्तदर्शन मे से फूटी है। वे लोग पूर्वोक्त मान्यता से कुछ भिन्न विचार रखते हैं। इसीलिए 'एगे' कहा गया है।

(एकात्मवाद युक्तिरहित इसलिए है कि एक ही आत्मा को मानने पर एक के द्वारा किये गये शुभ या अशुभ कर्मो का फल दूसरे को भोगना चाहिए। एक को कर्मबन्धन होने पर ससार के सभी जीवो के कर्मबन्धन होना चाहिए, ससार से किसी एक व्यक्ति के कर्मबन्धन से मुक्त होने पर ससार के सभी जीवो को मुक्त हो जाना

चाहिए लेकिन ऐसा कदापि होता नही और न ही यह सुसगत है। इस प्रकार विश्व मे सिर्फ एक आत्मा को स्वीकार करने से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नही हो सकती। जो जीव मुक्त है, वह एकात्मवाद की दृष्टि से बन्धन मे पड जाएगा और जो पुरुप बन्धन मे है, वे एकात्मवाद के कारण मुक्त हो जाएँगे। फिर तो एक के अशुभ-कर्म करने पर शुभकर्म करने वाले सभी पुण्यात्माओं को भी तीव्र दुख होना चाहिए, क्योकि सबका आत्मा एक है। परन्तु यह नही देखा जाता। यह प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि जो व्यक्ति अशुभ (पाप) कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है, वही दुखी होता है, उसके बदले दूसरे सब व्यक्ति दुखी नही हो सकते। किन्तु सबका आत्मा एक मानने पर जो पापी नही, उसे भी पापी के बराबर कष्ट भोगना पडेगा। क्योकि सब एक ब्रह्मरूप होने से आत्मा मे कोई भिन्नता तो रही नही है। एक ही आत्मा मानने पर देवदत्त को जो ज्ञान हुआ, वह यज्ञदत्त को भी होना चाहिए। देवदत्त के ज्ञान को यज्ञदत्त को जानना चाहिए लेकिन यह भी होता नही। एक के जन्म लेने, मरने या किसी कार्य मे प्रवृत्त होने पर दूसरे सभी जीवो को जन्म लेना, मर जाना चाहिए या किसी कार्य मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए पर ऐसा कदापि होता नही। इसलिये सब प्राणियो का एक आत्मा है, यह सिद्धान्त यथार्थ नही है। तथा आत्मा को सर्वब्रह्माण्डव्यापक मानना भी ठीक नही है क्योकि शरीररूप मे परिणत पाँचभूतो मे ही चैतन्य पाया जाता है, घट-पटादि पदार्थो मे नही। अन्य आत्मा सर्वव्यापक नही है। इसीलिए कहा है—

नैकात्मवादे -दुखमोक्ष-
व्यवस्थ्या कोऽपि सुखादिमान् ।

एकात्मवाद मे सुख, दुख, मोक्ष आदि व्यवस्थाएँ ा जाएँगी। इसलिये इस मत को मानकर कोई सुखी नही हो ा। अतएव जड-चेतनात्मक मे सिर्फ एक ही आत्मा है, यह कहना युक्ति-सगत नही है। एकात्मवाद का ब्रह्मज्ञान पाकर कई व्यक्ति इतने नि शक हो जाते है, कि उनके एकात्मवाद के साथ अहिंसा, सत्यादि का आचरण या किसी अपने से उत्कृष्ट परमात्मा, , वीतराग, त्यागी, नि स्पृह आदि की उपासना करना तो विलकुल ही वताया नही जाता, क्योकि वेदान्तदर्शन मे तो इसी पर जोर दिया गया है कि सारे ससार मे एकमात्र ब्रह्म-तत्त्व को मान लो, समझ लो, ब्रह्मज्ञान कर लो, ब्रह्म मे लीन हो जाओ, यही मुक्ति है, यही सर्वस्वज्ञान है। इसी से मुक्ति हो जाएगी। इसलिये एकात्मवाद को फिर वह वेखटके हिंसा, असत्य आदि पापो मे प्रवृत्त हो जाता है, क्योकि उसे यह तो भय है नही, कि मैं जो शुभाशुभ कर्म या पाप-पुण्य की प्रवृत्ति करूँगा,

उसका फल तो मुझे मिलेगा नही, क्योकि अगर मुझ फल मिलेगा तो सारे ससार को फल मिलेगा। इसी आशय से शास्त्रकार कहते है—'मन्दा आरभ-णिस्सिया, एगे किच्चा सय पाव।' तात्पर्य यह है—ऐसे कई आत्माद्वैतवादी या उनके चक्कर मे पडे हुए व्यक्ति, ये युक्तिहीन मिथ्या आत्माद्वैतवाद को पकडकर विवेकभ्रष्ट होकर वेखटके हिंसा आदि आरभ करते है, उसी मे रात-दिन रचे-पचे रहते है, उधर लोगो मे भले बनने या धर्मात्मा का स्वाग रचने के लिये वे रटी-रटाई ब्रह्मज्ञान की—आत्मा की बातें करते हैं। यह ब्रह्मज्ञान का तोता-रटन्त उन्हे पापकर्मवन्धन से बचाने मे समर्थ नही होता। इस प्रकार वे अपनी आत्म-वचना करके पापकर्म मे लिप्त होकर उस वन्धन के फलस्वरूप इहलोक मे भी दुख पाते हैं और परलोक मे भी नरक, तिर्यन्च आदि दुर्गतियो मे जाकर नाना प्रकार के दुखो से पीडित होते हैं। इस एक जन्म मे एकान्त आत्माद्वैत के मिथ्यात्व सेवन के कारण वे अगले जन्मो मे भी सहसा सम्यग्ज्ञान या सम्यक्त्व प्राप्त नही कर पाते। नरक-तिर्यन्च गति मे उन वेचारो को सम्यग्वोध कहाँ मिल सकता है ? और अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की रुचि भी कहाँ होती है ? मोह, अज्ञान और मिथ्यात्व का गाढ काला पर्दा उनकी बुद्धि पर पड जाता है और पडा रहता है। यही शास्त्र-कार का आशय है।

अब अगली गाथा मे तज्जीव-तच्छरीरवादियो के मत का स्वरूप बताकर उसका खण्डन करते हुए कहते हैं।

मूल पाठ

पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे य पडिआ ।
संति पिच्चा न ते सति, नत्थि सत्तोववाइया ॥११॥

सं छाया

प्रत्येक कृत्स्ना आत्मन, ये बाला ये च पण्डिता ।
सन्ति प्रेत्य न ते सन्ति, न सति सत्त्वा औपपातिका ॥११॥

अन्वयार्थ

(जे बाला) जो अज्ञानी है, (जे य पडिया) और जो पण्डित हैं, (कसिणे) उन सबकी (आया) आत्माएँ (पत्तेअ) पृथक पृथक (सति) हैं। (ते) किन्तु वे (पि) मरने के पश्चात (न सति) नही रहते हैं (सत्ता) वे प्राणी (उववाइया) परलोकगामी (नत्थि) नही होते।

भावार्थ

जो अज्ञानी है और जो ज्ञानी हैं, उन सबकी आत्माएँ पृथक-पृथक् हैं, एक नही है। किन्तु वे आत्माएँ मरने (शरीर छूटने) के पश्चात् नही रहती, और न परलोक मे जाती है। यानी प्राणी औपपातिक (एक भव से दूसरे भव मे जाने वाले) नही होते।

व्याख्या

आत्मा अनेक, किन्तु शरीर के साथ समाप्त

इस गाथा मे शास्त्रकार यह बताना चाहते है कि कई लोग आत्माएँ तो अनेक मानते हैं, क्योकि ससार मे यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि कई लोग बिलकुल अज्ञानी है, उन्हे अपने स्वरूप तथा जीवन का भान ही नही होता, इसके विपरीत कई लोग एकदम ऊँचे दर्जे के विद्वान है, शास्त्रज्ञ है, विवेकवान है। इस महान अन्तर को देखते हुए यह तो नही कहा जा सकता कि सारे ससार मे आत्मा एक ही है। बल्कि ससार के सब प्राणियो की आत्माएँ अलग-अलग हैं। इसी बात को शास्त्रकार अभिव्यक्त करते हैं—'पत्तेअ कसिणे आया, जे बाला जे य पडिआ।'

तज्जीव-तच्छरीरवाद का स्वरूप

प्रश्न होता है, जैनदर्शन, न्यायदर्शन आदि दर्शनो का तो यही सिद्धान्त है—'आत्मा भिद्यते' प्रत्येक प्राणी की आत्मा भिन्न है। वह अपने आप मे सम्पूर्ण है, पूर्ण शक्तिमान है, तब फिर शास्त्रकार इस मत का खण्डन क्यो करते हैं? इसका समाधान शास्त्रकार स्वय करते हैं—'सति पिच्चा न ते ।' अर्थात् आत्मा पृथक-पृथक मानने पर भी उनका मत है कि जब तक शरीर विद्यमान रहता है, तब तक ही आत्मा भी स्थित रहती है, किन्तु शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है। क्योकि शरीररूप मे परिणत पचमहाभूतो मे चैतन्य प्रकट होता है, अत उनके अलग-अलग होने पर वह चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। शरीर के साथ ही चैतन्य-विनाश का कारण यह है कि शरीर से बाहर निकल कर कही अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नही होता। यही तज्जीव-तच्छरीरवादियो के मत का एक पक्ष है।[1]

---

1 स एव जीवस्तदेव शरीरमिति वदितु शीलमस्येति तज्जीव-तच्छरीरवादी।
अर्थात् वही जीव है, और वही शरीर है, यह जो बतलाता है, उसे तज्जीव-तच्छरीरवादी कहते है। यद्यपि पूर्वोक्त पचमहाभूतवादी भी शरीर को ही आत्मा कहते हैं, तथापि उनके मत मे पचभूत ही शरीर रूप मे परिणत होकर

नत्थि सत्तोववाइया—तज्जीव-तच्छरीरवादियों के सिद्धान्त का एक अंग यह है कि आत्मा कही परलोक मे नही जाती, इसलिए प्राणी एक भव से दूसरे भव मे नही जाता। क्योकि शरीर के उत्पन्न-विनष्ट होने के साथ ही जब आत्मा उत्पन्न-विनष्ट हो जाता है तब फिर कौन परलोक मे या अन्य जन्मान्तर मे आत्मा साथ जायगा? जो वस्तु नष्ट हो चुकी है, । आना-जाना सम्भव ही नही ह। आना-जाना तो उसी मे पाया जाता है जो स्थितिशील हो। जैसा कि उनके आगम (श्रुति) मे कहा है—'**विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सज्ञाऽस्तीति।**' अर्थात, 'विज्ञान का पिण्ड यह आत्मा, इन भूतो से उठकर (उत्पन्न होकर) इनके नाश के पश्चात नष्ट हो जाता है। अत मरण के पश्चात ज्ञान (चैतन्य) नही रहता।' शास्त्रीय भाषा मे एक भव से दूसरे भव मे जाना 'उपपात' कहलाता है और जो एक भव से दूसरे भव मे जाता है, उसे 'औपपातिक' कहते हैं। सत्ता—सत्त्व अर्थात प्राणी, जो आत्मा को धारण करने वाले है उन्हे कहते है।

शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि आत्मा भी जब शरीर के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जाता है, तब आत्मा ही नही, आत्मा को धारण करने वाले प्राणी भी एक जन्म से दूसरे जन्म मे नही जाते।

इस मत के द्वारा मान्य आत्मा का अनेकत्व तो जैनदर्शन को अभीष्ट है, लेकिन शरीर के उत्पन्न-विनष्ट होने के साथ ही आत्मा की उत्पत्ति-विनाश मानना अभीष्ट नही है। जैनदर्शन जीवो के बहुत्व को स्वीकारते हुए भी आत्मा को शरीर से भिन्न एव परलोकगामी मानता है। इतना जैनदर्शन और तज्जीव-तच्छरीरवाद मे अन्तर है।

जब गुणी आत्मा यही नष्ट हो जाता है, परलोक नही जाता है तो उसके गुण धर्म और अधर्म का यही नाश हो जाता है, परलोक मे जाने का तो सवाल ही नही हैं, क्योकि कारण के अभाव मे उक्त कारण के आश्रित कार्य का भी अभाव होता है। घडे के ठीकरो का अभाव (नष्ट) हो जाने पर घट भी किसी प्रकार ठहर नही सकता, तथैव जब (धर्मी) आत्मारूप कारण का ही अस्तित्व नही है, तो

सब क्रियाएँ करते है। परन्तु तज्जीव-तच्छरीरवादी के मत मे ऐसा नही है। वे शरीररूप मे परिणत पचभूतो से चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति मानते हैं। यहीं पचभूतवादियो से तज्जीव-तच्छरीरवादियो का अन्तर है।

भावार्थ

जो अज्ञानी है और जो ज्ञानी है, उन सबकी आत्माएँ पृथक-पृथक् है, एक नही है। किन्तु वे आत्माएँ मरने (शरीर छूटने) के पश्चात् नही रहती, और न परलोक मे जाती है। यानी प्राणी औपपातिक (एक भव से दूसरे भव मे जाने वाले) नही होते।

व्याख्या

आत्मा अनेक, किन्तु शरीर के साथ समाप्त

इस गाथा मे शास्त्रकार यह बताना चाहते है कि कई लोग आत्माएँ तो अनेक मानते हैं, क्योकि ससार मे यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि कई लोग बिलकुल अज्ञानी है, उन्हे अपने स्वरूप तथा जीवन का भान ही नही होता, इसके विपरीत कई लोग एकदम ऊँचे दर्जे के विद्वान हैं, शास्त्रज्ञ है, विवेकवान है। इस महान अन्तर को देखते हुए यह तो नही कहा जा सकता कि सारे ससार मे आत्मा एक ही है। बल्कि ससार के सब प्राणियो की आत्माएँ अलग-अलग है। इसी बात को शास्त्रकार अभिव्यक्त करते है—**'पत्तेअ कसिणे आया, जे बाला जे य पंडिआ।'**

तज्जीव तच्छरीरवाद का स्वरूप

प्रश्न होता है, जैनदर्शन, न्यायदर्शन आदि दर्शनो का तो यही सिद्धान्त है—**'प्रत्यगात्मा भिद्यते'** प्रत्येक प्राणी की आत्मा भिन्न है। वह अपने आप मे सम्पूर्ण है, पूर्ण शक्तिमान है, तब फिर शास्त्रकार इस मत का खण्डन क्यो करते है? इसका समाधान शास्त्रकार स्वय करते हैं—**'सति पिच्चा न ते ।'** अर्थात् आत्मा पृथक-पृथक मानने पर भी उनका मत है कि जब तक शरीर विद्यमान रहता है, तब तक ही आत्मा भी स्थित रहती है, किन्तु शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है। क्योकि शरीररूप मे परिणत पचमहाभूतो मे चैतन्य प्रकट होता है, अत उनके अलग-अलग होने पर वह चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। शरीर के साथ ही चैतन्य-विनाश का कारण यह है कि शरीर से बाहर निकल कर कही अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नही होता। यही तज्जीव-तच्छरीरवादियो के मत का एक पक्ष है।[1]

---

१ **स एव जीवस्तदेव शरीरमिति वदितु शीलमस्येति तज्जीव-तच्छरीरवादी।** अर्थात् वही जीव है, और वही शरीर है, यह जो बतलाता है, उसे तज्जीव-तच्छरीरवादी कहते हैं। यद्यपि पूर्वोक्त पचमहाभूतवादी भी शरीर को ही आत्मा कहते हैं, तथापि उनके मत मे पचभूत ही शरीर रूप मे परिणत होकर

नत्थि सत्तोववाइया—तज्जीव-तच्छरीरवादियो के सिद्धान्त का एक अग यह है कि आत्मा कही परलोक मे नही जाती, इसलिए प्राणी एक भव से दूसरे भव मे नही जाता। क्योकि शरीर के उत्पन्न-विनष्ट होने के साथ ही जब आत्मा उत्पन्न-विनष्ट हो जाता है तब फिर कौन परलोक मे या अन्य जन्मान्तर मे आत्मा साथ जायगा ? जो वस्तु नष्ट हो चुकी है, उसका आना-जाना सम्भव ही नही ह। आना-जाना तो उसी मे पाया जाता है जो स्थितिशील हो। जैसा कि उनके आगम (श्रुति) मे कहा है—'**विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानु ति न प्रेत्य सज्ञाऽस्तीति**।' अर्थात, 'विज्ञान का पिण्ड यह आत्मा, इन भूतो से उठकर (उत्पन्न होकर) इनके नाश के पश्चात नष्ट हो जाता है। अत मरण के पश्चात ज्ञान (चैतन्य) नही रहता।' शास्त्रीय भाषा मे एक भव से दूसरे भव मे जाना 'उपपात' कहलाता है और जो एक भव से दूसरे भव मे जाता है, उसे 'औपपातिक' कहते हैं। सत्ता—सत्त्व अर्थात प्राणी, जो आत्मा को धारण करने वाले है उन्हे कहते है।

शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि आत्मा भी जब शरीर के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जाता है, तब आत्मा ही नही, आत्मा को धारण करने वाले प्राणी भी एक जन्म से दूसरे जन्म मे नही जाते।

इस मत के द्वारा मान्य आत्मा का अनेकत्व तो जैनदर्शन को अभीष्ट है, लेकिन शरीर के उत्पन्न-विनष्ट होने के साथ ही आत्मा की उत्पत्ति-विनाश मानना अभीष्ट नही है। जैनदर्शन जीवो के बहुत्व को स्वीकारते हुए भी आत्मा को शरीर से भिन्न एव परलोकगामी मानता है। इतना जैनदर्शन और तज्जीव-तच्छरीरवाद मे अन्तर है।

जब गुणी आत्मा यही नष्ट हो जाता है, परलोक नही जाता है तो उसके गुण धर्म और अधर्म का यही नाश हो जाता है, परलोक मे जाने का तो सवाल ही नही हैं, क्योकि कारण के अभाव मे उक्त कारण के आश्रित कार्य का भी अभाव होता है। घडे के ठीकरो का अभाव (नष्ट) हो जाने पर घट भी किसी प्रकार ठहर नही सकता, तथैव जब (धर्मी) आत्मारूप कारण का ही अस्तित्व नही है, तो

सब क्रियाएँ करते है। परन्तु तज्जीव-तच्छरीरवादी के मत मे ऐसा नही है। वे शरीररूप मे परिणत पचभूतो से चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति मानते हैं। यही पचभूतवादियो से तज्जीव-तच्छरीरवादियो का अन्तर है।

उसके आश्रित धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) का भी अभाव हो जाता है। इसे ही बतलाने के लिए शास्त्रकार अगली गाथा मे तज्जीव-तच्छरीरवादी की मिथ्या मान्यता का अनिष्ट परिणाम बताते है।

मूल

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इतो वरे।
सरोरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥१२॥

सं छाया

नास्ति पुण्य वा पाप वा, नास्ति लोक इत पर ।
शरीरस्य विनाशेन, विनाशो भवति देहिन ॥१२॥

अन्वयार्थ

(पुण्णे व) पुण्य (वा पावे) अथवा पाप (नत्थि) नही है। (इतो) इस लोक से (वरे) परे, आगे, दूसरा (लोए) लोक (नत्थि) नही है। (सरोरस्स) शरीर के (विणासेण) विनाश से (देहिणो) देही—आत्मा का (विणासो) विनाश (होइ) हो है।

भावार्थ

पुण्य अथवा पाप नही है। इस लोक से भिन्न दूसरा लोक भी नही है। शरीर के विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है।

व्याख्या

-पाप का अभाव एक दृष्टि

इस गाथा मे तज्जीव-तच्छरीरवादियो के मत का अनुसरण करने से क्या अनिष्टापत्ति होती है, यह बताने के लिए शास्त्रकार ने कहा—'नत्थि पुण्णं व पावे वा' पचभूतात्मक शरीर के साथ ही आत्मा के विनष्ट हो जाने से जीव द्वारा किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों के फलस्वरूप जो पुण्य-पाप होते है, वे नही है। सरीरस्स विणासेण—पुण्य और पाप आदि शुभ-अशुभ कर्मो के फल होते है। दान, परोपकार, सेवा आदि शुभ क्रियाओ से पुण्य बन्ध होता है और हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि अशुभ क्रियाओ से पाप-बन्ध होता है। इन दोनो का अस्तित्व तज्जीव-तच्छरीरवादी के मत मे नही है। क्यो नही है ? इसका कारण उन्ही की दृष्टि से शास्त्रकार बताते हैं—'सरीरस्स विणासेण' जो चेष्टा तथा इन्द्रियार्थ का

आधारभूत हो, वह शरीर कहलाता है। अर्थात सुख-दुख आदि भोग के आश्रय पचभूतात्मक शरीर का विनाश होने पर आत्मा का भी विनाश हो जाता है। पुण्य पाप ये दोनो आत्मारूप धर्मी के धर्म है। धर्म तभी तक टिकते है, जब तक धर्मी टिकता है। आत्मारूपी धर्मी के अभाव मे पुण्य-पापरूप धर्म का भी अभाव हो जाता है। आत्मा आधार है, पुण्य-पाप आधेय हैं। आधार (आत्मा) के अभाव मे 'आधेय' (पुण्य-पाप) का भी अभाव हो जाता है। इस विषय को दृष्टात द्वारा स्पष्ट करते हैं—पानी से प्रगट होने वाली तरगें पानी के रहते ही दिखाई देती है। सूर्य की तप्त किरणो आदि से पानी के सूख (नष्ट हो) जाने पर जल का अभाव हो जाने से जल का बुलबुला भी नष्ट हो जाता है। इस तरह जब तक बुलबुलो का उत्पादक जल रहता है, तभी तक तज्जनित बुलबुले रहते है। इसी प्रकार जल के विनष्ट होने पर जल के द्वारा अभिव्यक्त होने वाले कार्य समूह भी नष्ट हो जाते है। निष्कर्ष यह है कि उत्पादक के अभाव मे उत्पाद्य का, एव अभिव्यजक के अभाव मे अभिव्यज का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार अभिव्यजक भूत समुदाय अर्थात शरीर के नष्ट होने पर भूतो के समुदाय से उत्पन्न होने वाला आत्मा भी नष्ट हो जाता है। केले के खम्भे के बाहरी छिलको को उतारे जाने पर अन्त मे छिलके ही छिलके रह जाते हैं, उनसे भिन्न सार रूप पदार्थ केले मे नही रहता। इसी प्रकार शरीर सम्बन्धी पचमहाभूतो के अलग-अलग हो जाने पर उनसे भिन्न साररूप कोई आत्मा नाम का पदार्थ नही रहता, जो पुण्य-पाप आदि कारणो को ग्रहण करके दिखाई देने वाले इस लोक से दूसरे लोक मे जाकर सुख या दुख का उपभोग करे। जब पुण्य-पाप ही नही हैं (यानी धर्मीरूप आत्मा के साथ ही नष्ट हो गये हैं), तब उनके फलस्वरूप मिलने वाले परलोक भी नही है। पुण्य-पाप के कारण ही परलोक होता है, जब पुण्य-पापरूप कारण ही नही हैं, तब उनसे होने वाला परलोक भी नही है, जहाँ जाकर जीव अपने किये कर्म का फल भोग सके। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—'नत्थि लोए इतो वरे'—इस दिखाई देने वाले लोक से भिन्न कोई परलोक नही है। जहाँ तक चक्षु आदि इन्द्रियो का व्यापार होता है, उतना ही लोक है। सुख-दुख आदि के उपभोग का आधार लोक ही प्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियो द्वारा अग्राह्य कोई परलोक नही है, जहाँ जाकर जीव पुण्य-पाप का सुख-दुखरूप फल भोगता हो।

परलोक क्यो नही है ? इस प्रकार पूछे जाने पर उनकी ओर से उत्तर मिलता है—पचभूतात्मक शरीर नष्ट हो जाने पर आत्मा नष्ट हो जाती है, ऐसी दशा मे भूत समुदाय से अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की उपलब्धि नही होती। ऐसा दृष्टि-गोचर नही होता कि आत्मा शरीर से निकल कर परलोक को जा रहा हो। जैसे

बाँबी से बाहर निकलते समय सर्प पास मे खड हुए लोगो को दिखाई देता है, वैसे ही शरीर से बाहर निकलता हुआ जीव मृत शरीर के पास बैठे हुए लोगो को दिखाई नही देता । अत जो दिखता ही नही, उसकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है । यो अगर अनुपलब्ध पदार्थ की भी सत्ता मानने लगेंगे तो खरगोश के सीग और आकाश के फूल की भी सत्ता माननी पडेगी ।

यहाँ शका होती है कि जैसे स्वप्न मे घट, पट आदि बाहरी पदार्थो के मौजूद हुए विना भी उनका ज्ञान हो जाता है, वह बाधित भी नही होता, वैसे ही आत्मा की बाह्य उपलब्धि के बिना ही भूत समुदाय से पृथक आत्मा का अनुभव ज्ञान उत्पन्न होना माना जाय तो क्या आपत्ति है ? इसका समाधान यह है कि स्वप्न मे दृश्यमान घट-पटादि बाह्य पदार्थों का ज्ञान तभी होता है, जब घट, पट आदि पहले कही प्रत्यक्ष देखे गये हो । आत्मा तो पहले कही प्रत्यक्ष देखा गया नही है, इसलिए भूतो से भिन्न उसकी उपलब्धि (अनुभव ज्ञान) होना सम्भव नही है ।

अथवा जैसे अत्यन्त स्वच्छ काँच मे मुख का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, क्योंकि काँच अत्यन्त स्वच्छ होता है । काँच मे बाह्य पदार्थ तो घुसता नही है, वहाँ विधमान न होने पर भी पदार्थ काँच के अन्दर प्रतीत होता है । इसी प्रकार आत्मा भी भूत समुदाय के शरीराकार मे परिणत होने पर भूतो से पृथक न होने पर भी भूतो से पृथकता की बुद्धि उत्पन्न करता है । अर्थात आत्मा भूतो का विशेषण होने से भूतो से अभिन्न होता हुआ भी भूतो से भिन्न प्रतीत होता है । किन्तु आत्मा के भेदरूप से प्रतिभासमान होने की बात सीप मे चाँदी के या रस्सी मे साँप के प्रतिभासमान होने के समान भ्रान्त है । अत रस्सी मे साँप की बुद्धि अवास्तविक है, उसी तरह भूत समुदाय मे चेतना बुद्धि होना भी अवास्तविक है । अत भूत समुदाय रूप शरीर मे भूतो से अतिरिक्त कोई आत्मा नही है, यही तज्जीव-तच्छरीरवादियो के मत का कथन है ।

पुण्य-पाप एवं परलोक न मानने पर

पुण्णे व पावे वा—पुण्य का अर्थ होता है—सुख प्राप्तिरूप शुभ-अच्छा फल देने वाला कर्मपुद्गल, अथवा जीव को अभ्युदय प्राप्त कराने वाला । तथा पाप का अर्थ है—दुख प्राप्ति रूप अशुभ बुरा फल देने वाला कर्मपुद्गल अथवा जीव को अवनति प्राप्त कराने वाला । [1] पुण्य एक प्रकार से शुभ आस्रव है या शुभ बन्ध है जबकि पाप एक प्रकार से अशुभ आस्रव है या अशुभ बन्ध है ।

---

१. शुभ पुण्यस्य, अशुभ पापस्य । —तत्त्वार्थसूत्र ६।३

जब तज्जीव-तच्छरीरवादियो के समक्ष यह शका प्रस्तुत की जाती है कि यदि पांच भूतो से भिन्न आत्मा नाम का कोई पदार्थ नही है और उसके किये हुए पुण्य-पाप नही है तो यह विचित्र जगत क्या दृष्टिगोचर होता है ? इस विश्व मे कोई सुन्दर है, कोई कुरूप है, कोई धनवान है, कोई निर्धन है, कोई मतिमन्द है तो कोई प्रखर प्रज्ञ, कोई स्वस्थ, कोई रोगी, कोई सुखी तो कोई दुखी प्रतीत होता है, ऐसी विचित्रता क्यो दिखाई देती है ? इसे भ्रान्ति तो कह नही सकते और न इसे मिथ्या प्रतीति ही कह सकते है।

इसका समाधान करते हुए वे कहते है—यह सब स्वभाव से होता है। जैसे किसी पत्थर के टुकडे की देवमूर्ति बनाई जाती है और मूर्ति कुकुम, चन्दन, अगर आदि विलेपन से सुशोभित है और धूप आदि की सौरभ से भी सुवासित है। जबकि दूसरे पत्थर के टुकडे पर लोग पैर धोते है, चटनी बाटते है आदि। ऐसा होने मे उन दोनो पत्थर के टुकडो का क्रमश कोई पुण्य पाप नही है, जिसके उदय से उनकी वैसी स्थिति हो। अत यह सिद्ध हुआ कि जगत मे परिदृश्यमान विचित्रता स्वभाव से होती है। कांटो मे तीक्ष्णता, मयूर मे विविध रगो की छटा, और मुर्गे की चोटी का बढिया रग, ये सब भी तो स्वभाव से ही होते है, इन्हे कौन करता है ? वैसे ही जगत मे दृश्यमान विविधता स्वाभाविक है, किसी के द्वारा की हुई नही है।

परन्तु जैनदर्शन तथा अन्य कई भारतीय दर्शन इस समाधान से सन्तुष्ट नही है। पुण्य-पाप या इसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले स्वर्ग-नरक की व्यवस्था को न मानने पर जगत की सारी व्यवस्था बिगड जाती है तथा फिर कोई भी शुभ कार्य करने के लिए प्रोत्साहित नही होगा, प्राय हर व्यक्ति पाप कर्म या बुरे कार्य बेखटके करने के लिए प्रेरित होगा। क्योकि शरीर खत्म होते ही आत्मा और उसके द्वारा कृत शुभाशुभ कर्म यही खत्म हो जायेगे। फिर कौन मोक्ष के लिए साधना करेगा ? ससार मे पशुता या अराजकता का ही ताण्डव नृत्य होगा। आगे शास्त्रकार स्वय इस सम्बन्ध मे प्रकाश डालेंगे, इसलिए इस विषय को यही विराम देते हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि यह तज्जीव-तच्छरीरवादी सिद्धान्त मिथ्यात्व का पोषक होने से अशुभ कर्मबन्धन का कारण है।

अब अकारकवादी साख्यदर्शन का मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार कहते है—

मूल

कुव्व च कारय चेव, सव्व कुव्व न विज्जई।
एव अकारओ अप्पा, एव ते उ पगब्भिया ॥१३॥

बाँबी से बाहर निकलते समय सर्प पास मे खडे हुए लोगो को दिखाई देता है, वैसे ही शरीर से बाहर निकलता हुआ जीव मृत शरीर के पास बैठे हुए लोगो को दिखाई नही देता। अत जो दिखता ही नही, उसकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है। यो अगर अनुपलब्ध पदार्थ की भी सत्ता मानने लगेगे तो खरगोश के सीग और आकाश के फूल की भी सत्ता माननी पडेगी।

यहाँ शका होती है कि जैसे स्वप्न मे घट, पट आदि बाहरी पदार्थों के मौजूद हुए बिना भी उनका ज्ञान हो जाता है, वह बाधित भी नही होता, वैसे ही आत्मा की बाह्य उपलब्धि के बिना ही भूत समुदाय से पृथक आत्मा का अनुभव ज्ञान उत्पन्न होना माना जाय तो क्या आपत्ति है? इसका समाधान यह है कि स्वप्न मे दृश्यमान घट-पटादि बाह्य पदार्थों का ज्ञान तभी होता है, जब घट, पट आदि पहले कही प्रत्यक्ष देखे गये हो। आत्मा तो पहले कही प्रत्यक्ष देखा गया नही है, इसलिए भूतो से भिन्न उसकी उपलब्धि (अनुभव ज्ञान) होना सम्भव नही है।

अथवा जैसे अत्यन्त स्वच्छ कांच मे मुख का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, क्योकि कांच अत्यन्त स्वच्छ होता है। कांच मे बाह्य पदार्थ तो घुसता नही है, वहाँ विद्यमान न होवे पर भी पदार्थ कॉच के अन्दर प्रतीत होता है। इसी प्रकार आत्मा भी भूत समुदाय के शरीराकार मे परिणत होने पर भूतो से पृथक न होने पर भी भूतो से पृथकता की बुद्धि उत्पन्न करता है। अर्थात आत्मा भूतो का विशेषण होने से भूतो से अभिन्न होता हुआ भी भूतो से भिन्न प्रतीत होता है। किन्तु आत्मा के भेदरूप से प्रतिभासमान होने की बात सीप मे चाँदी के या रस्सी मे साँप के प्रतिभासमान होने के समान भ्रान्त है। अत रस्सी मे साँप की बुद्धि अवास्तविक है, उसी तरह भूत समुदाय मे चेतना बुद्धि होना भी अवास्तविक है। अत भूत समुदाय रूप शरीर मे भूतो से अतिरिक्त कोई आत्मा नही है, यही तज्जीव-तच्छरीरवादियो के मत का कथन है।

पुण्य पाप एवं परलोक न मानने पर

पुण्णे व पावे वा—पुण्य का अर्थ होता है—सुख प्राप्तिरूप शुभ-अच्छा फल देने-वाला कर्मपुद्गल, अथवा जीव को अभ्युदय प्राप्त कराने वाला। तथा पाप का अर्थ है—दुख प्राप्ति रूप अशुभ बुरा फल देने वाला कर्मपुद्गल अथवा जीव को अवनति प्राप्त कराने वाला।[1] पुण्य एक प्रकार से शुभ है या शुभ बन्ध है जबकि पाप एक प्रकार से अशुभ आस्रव है या अशुभ बन्ध है।

---

१. शुभ पुण्यस्य, अशुभ पापस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६।३

जब तज्जीव-तच्छरीरवादियो के समक्ष यह शका प्रस्तुत की जाती है कि यदि पाँच भूतो से भिन्न आत्मा नाम का कोई पदार्थ नही है और उसके किये हुए पुण्य-पाप नही है तो यह विचित्र जगत क्यो दृष्टिगोचर होता है ? इस विश्व मे कोई सुन्दर है, कोई कुरूप है, कोई धनवान है, कोई निर्धन है, कोई मतिमन्द है तो कोई प्रखर प्रज्ञ, कोई स्वस्थ, कोई रोगी, कोई सुखी तो कोई दुखी प्रतीत होता है, ऐसी विचित्रता क्यो दिखाई देती है ? इसे भ्रान्ति तो कह नही सकते और न इसे मिथ्या प्रतीति ही कह सकते है।

इसका समाधान करते हुए वे कहते है—यह सब स्वभाव से होता है। जैसे किसी पत्थर के टुकडे की देवमूर्ति बनाई जाती है और मूर्ति कुकुम, चन्दन, अगर आदि विलेपन से सुशोभित है और धूप आदि की सौरभ से भी सुवासित है। जबकि दूसरे पत्थर के टुकडे पर लोग पैर धोते है, चटनी बाटते है आदि। ऐसा होने मे उन दोनो पत्थर के टुकडो का क्रमश कोई पुण्य पाप नही है, जिसके उदय से उनकी वैसी स्थिति हो। अत यह सिद्ध हुआ कि जगत मे परिदृश्यमान विचित्रता स्वभाव से होती है। काँटो मे तीक्ष्णता, मयूर मे विविध रगो की छटा, और मुर्गे की चोटी का बढिया रग, ये सब भी तो स्वभाव से ही होते है, इन्हे कौन करता है ? वैसे ही जगत मे दृश्यमान विचित्रता स्वाभाविक है, किसी के द्वारा की हुई नही है।

परन्तु जैनदर्शन तथा अन्य कई भारतीय दर्शन इस समाधान से सन्तुष्ट नही हैं। पुण्य-पाप या इसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले स्वर्ग-नरक की व्यवस्था को न मानने पर जगत की सारी व्यवस्था बिगड जाती है तथा फिर कोई भी शुभ कार्य करने के लिए प्रोत्साहित नही होगा, प्राय हर व्यक्ति पाप कर्म या बुरे कार्य बेखटके करने के लिए प्रेरित होगा। क्योकि शरीर खत्म होते ही आत्मा और उसके द्वारा कृत शुभाशुभ कर्म यही खत्म हो जायेंगे। फिर कौन मोक्ष के लिए साधना करेगा ? ससार मे पशुता या अराजकता का ही ताण्डव नृत्य होगा। आगे शास्त्रकार स्वय इस सम्बन्ध मे प्रकाश डालेंगे, इसलिए इस विषय को यही विराम देते है। परन्तु इतना निश्चित है कि यह तज्जीव-तच्छरीरवादी सिद्धान्त मिथ्यात्व का पोषक होने से अशुभ कर्मबन्धन का कारण है।

अब अकारकवादी साख्यदर्शन का मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई।
एव अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिया ॥१३॥

स त ा

कुर्वश्च कारयश्चैव, सर्वा कुर्वन् न विद्यते।
एवमकारक आत्मा, एव ते तु प्रगल्भिता ॥१३॥

॰ र्थ

(अप्पा) आत्मा (कुव्व च) स्वय क्रिया करने वाला और (कारय) दूसरे से क्रिया कराने वाला (चेव) तथैव (सव्व) सब क्रियाओ को (कुव्व) करने वाला (न विज्जई) नही है। (एव) इस प्रकार (रओ) आत्मा अकारक है, किसी भी क्रिया का कर्ता नही है। (ते उ) वे अकारकवादी (एव) इस प्रकार (पगब्भिया) कहने की धृष्टता करते हैं।

भावार्थ

आत्मा स्वय कोई क्रिया नही करता, और न ही दूसरे को प्रेरित करके क्रिया करवाता है, तथा समस्त क्रियाएँ आत्मा नही करता है। इस प्रकार आत्मा अकारक अर्थात् किसी भी क्रिया का कर्ता नही है, यो अकारकवादी साख्य आदि मत वाले अपने सिद्धान्त की डीग हाँकते है।

व्याख्या

आत्मा का अकर्तृत्व एक विश्लेषण

इस गाथा मे सा ॰ के द्वारा प्ररूपित आत्मा के अकर्तृत्ववाद का बताया गया है। साख्यदर्शन मे आत्मा को पुरुष कहते हैं। व्याकरण शास्त्र मे कर्ता का लक्षण दिया है—'स्वतन्त्र कर्ता' कर्ता स्वतन्त्र होता है। इसका म है कि कर्ता वह है, जो क्रिया के प्रति स्वतन्त्र हो, क्रिया करता हो, जबकि साख्य-दर्शन मान्य आत्मा अमूर्त, नित्य एव सर्वव्यापी होता है, इसलिए भी वह कर्ता नही हो ा। जो अमूर्त, नित्य एव सर्वव्यापी होता है, वह क्रियाशून्य होता है। वह (पुरुष) प्रकृति आदि २४ तत्त्वो से भिन्न है, ि है, निर्गुण (त्रिगुणरहित) है, भोक्ता है तथा नित्य चैतन्यशाली है।[1] आत्मा ि इसलिए भी है कि वह विषय-सुख आदि को तथा इनके कारण पुण्य आदि कर्मों को नही करता।[2] आत्मा मे एक तिनके को भी मोडने की शक्ति नही है।

किसी अन्य कारण से प्रयुक्त होकर जो सकल कारको का प्रयोजक (प्रेरक) होता है, वह भी कर्ता कहलाता है, इस अर्थ मे भी सा ॰नीय आत्मा कर्ता नही

---

१ 'अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कापिलदर्शने।

है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—'**कुव्व च कारय चेव, सव्व कुव्व न विज्जई**' इस गाथा मे कुव्व पद के द्वारा स्वतन्त्र कर्ता का भी निषेध किया है। चूँकि आत्मा अमूर्त, नित्य और सर्वव्यापी है, इसलिए वह कर्ता नही हो सकता और इसी कारण वह दूसरो मे क्रिया कराने वाला भी नही हो सकता। इस गाथा मे प्रयुक्त पहला च शब्द आत्मा के भूतकालीन एव भविष्यकालीन कर्तृत्व का निषेधक है।

आशय यह है कि आत्मा स्वय किसी कार्य मे प्रवृत्त नही होता और दूसरे को भी किसी क्रिया मे प्रवृत्त नही करता। **कुव्व च कारय चेव**—यहाँ शास्त्रकार ने आत्मा के स्वय कर्तृत्व तथा पर-प्रेरणा द्वारा कर्तृत्व का निषेध कर दिया है, इन दोनो पक्तियो से समस्त क्रियाओ के कर्तृत्व—कारयितृत्व का निषेध कर दिया गया है, फिर पुन '**सव्व कुव्व न विज्जई**' कहने की क्यो आवश्यकता पडी।

इसके समाधान मे यो कहा जा सकता है कि साख्यमत मे आत्मा स्वय किसी क्रिया मे प्रवृत्त नही होता, लेकिन मुद्रा प्रतिबिम्बोदय-न्याय एव जपा-स्फटिक-न्याय से वह स्थितिक्रिया और भोगक्रिया करता है। तात्पर्य यह है कि चैतन्य और कर्तृत्व धर्म भिन्न-भिन्न अधिकरण मे रहते हैं। चैतन्य आत्मा का धर्म है और कर्तृत्व प्रकृति का। शीशे मे मुख का प्रतिबिम्ब पडता है उसी प्रकार प्रकृतिरूपी दर्पण मे पुरुष (आत्मा) का प्रतिबिम्ब पडता है। अतएव जैसे शीशे के हिलने पर उसमे पडा हुआ प्रतिबिम्ब भी हिलता है इसी प्रकार प्रकृति मे रहे हुए विकार पुरुष मे भी प्रतिभासित होते हैं। इस दृष्टि से जीव अकर्ता होकर भी कर्ता हो जाता है, अचेतन भी लिंग चेतना वाला हो जाता है। प्रकृति मे स्थितिक्रिया होने पर पुरुष मे भी स्थितिक्रिया उपलब्ध होती है। अचेतन प्रकृति भी चेतनावती सी हो जाती है और आत्मा ा होने पर भी शरीर के सम्बन्ध के कारण कर्ता-सदृश हो जाता है।[1] वह स्वतन्त्र कर्ता नही है, यह साख्यमत का आशय है।

जैसे किसी दर्पण मे प्रतिबिम्बित मूर्ति अपनी स्थिति के लिए स्वय प्रयत्न नही करती, किन्तु प्रयत्न के बिना ही वह चित्र मे स्थित रहती है। इसी तरह आत्मा अपनी स्थिति के लिए स्वय प्रयत्न किये बिना ही स्थित रहता है। इस 'मुद्रा-प्रतिबिम्बितोदयन्याय' की दृष्टि से आत्मा स्थितिक्रिया का स्वय कर्ता न होने के कारण ा-सा है। इसी प्रकार जैसे स्फटिक मणि के पास लाल रग का जपापुष्प

---

१ तस्मात्तत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिंगम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीन ॥ —सां० का०

रख देने पर वह लाल-सा प्रतीत होता है। वस्तुत स्फटिक लाल है नही, वह तो श्वेत ही है, श्वेत ही रहता है तथापि लाल फूल की छाया पडने से वह रक्त हुआ-सा जान पडता है। इसी तरह साख्यमत मे आत्मा भोगक्रिया रहित है, तथापि बुद्धि के ससर्ग से बुद्धि का भोग आत्मा मे प्रतीत होता है। इसी प्रकार जपा-स्फटिक-न्यायेन आत्मा की भोगक्रिया मानी जाती हे।

इस दृष्टि से आत्मा की स्थितिक्रिया और भोगक्रिया औपचारिक रूप से मानी गई है, वास्तव मे इन दोनो क्रियाओ के लिए आत्मा प्रयत्न नही करता। इसी-लिए शास्त्रकार ने दूसरी बार कहा कि **'सव्व कुव्व न विज्जई'** आत्मा समस्त क्रिया का कर्ता नही है। इसका रहस्य यह है कि एक देश से दूसरे देश मे जाना आदि सभी क्रियाओ को आत्मा नही करता है, क्योकि सर्वव्यापी और अमूर्त होने के कारण आकाश की तरह वह निष्क्रिय है।

साख्यो की धृष्टता क्या और कैसे ?

ते उ पगब्भिया—शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि साख्यमत पूर्वप्ररूपित मतो से भिन्न है, किन्तु वे (साख्य) अत्यन्त धृष्ट होकर ऐसा कहते है कि प्रकृति ही सब कुछ करती है। लेकिन यज्ञ, दान, तप आदि सब कार्य प्रकृति करती है तो उन-उन शुभ कार्यो के करने के पुण्यफल की भोक्त्री भी प्रकृति ही होनी चाहिए थी, किन्तु पुरुष के साथ कर्तृत्व-भोक्तृत्व का समानाधिकारण्य छोडकर प्रकृति को कर्तृत्व और पुरुष को भोक्तृत्व मात्र का वैयधिकारण्य मानते है, यह उनकी धृष्टता है। पुरुष चैतन्यवान् है फिर भी नही जानता, यह कथन उनकी दूसरी धृष्टता है। इस प्रकार उनकी धृष्टता के और भी नमूने उनके दर्शन-ग्रन्थो से लेने चाहिए। जैसे कि साख्यकारिका मे कहा है—

> **तस्मान्न बध्यते अद्धा न मुच्यते, नाऽपि ससरति कश्चित्।**
> **ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति।**
> **रूपै सप्तभिरेवमात्मान बध्नात्यात्मना प्रकृति॥**

पुरुष बद्ध नही होता, और न मुक्त होता है और न एक भव से दूसरे भव मे जाता है। अनेक पुरुष का आश्रय लेने वाली प्रकृति ही एक भव से दूसरे भव मे जाती है, मुक्त होती है और बद्ध होती है। इस प्रकार सात रूपो मे आत्मा को प्रकृति बद्ध करती है। आत्मा नहीं, वही प्रकृति फिर उसे मुक्त करती है।

इतना होने के बावजूद भी 'आत्मा कर्ता नही है' ऐसा कहने वाले साख्य अकारकवादी है। इसलिए धृष्ट है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—**'ते उ पगब्भिया।'**

अब शास्त्रकार तज्जीव-तच्छरीरवादी और अकारकवादी इन दोनो मतो की मिथ्या मान्यता का खण्डन करते हुए कहते है।

मूल

जे ते उ वाइणो एव, लोए तेसि कओ सिया ? ।
तमाओ ते तमं जति, मदा आरभनिस्सिया ॥१४॥

स त छाया

ये ते तु वादिन एव, लोकस्तेषा कुत स्यात् ? ।
तमसस्ते तमो यान्ति, मन्दा आरम्भनि श्रिता ॥१४॥

अन्वयार्थ

(जे ते उ) जो वे, (वाइणो) तज्जीव-तच्छरीरवादी एव अकारकवादी (एव) इस प्रकार कहते हैं, (तेसि) उनके मत मे, (लोए) यह लोक (कओ सिया) कैसे हो सकता है ? (मदा) मूढ (आरभनिस्सिया) आरम मे आसक्त (ते) वे वादी (तमाओ) एक अज्ञान अधकार से निकलकर (तम) दूसरे अन्धकार को (जति) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ

जो लोग आत्मा को अकर्ता एव निष्क्रिय कहते है, उन वादियो के मत मे यह चतुर्गतिक ससार या परलोक कैसे घटित हो सकता है ? वस्तुत वे मूर्ख हैं और आरभ मे आ है। अत वे एक अज्ञानतमिस्रा से निकल कर दूसरे अज्ञानतम को प्राप्त करते है।

व्याख्या

तज्जीव-तच्छरीरवादी मत का निरा

शास्त्रकार ने इससे पूर्व दो गाथाओ मे क्रमश तज्जीव-तच्छरीरवाद एव अकारकवाद का क्रमश स्वरूप बताया है। अब इस गाथा मे क्रमश उन दोनो के मत के दूषण और मिथ्यात्व परिपोषण का निराकरण करते हैं। तज्जीव-तच्छरीर-वादियो का कथन है कि 'शरीर से भिन्न आत्मा नही हैं'। यह वात असगत है, इस वात को सिद्ध करने वाला प्रमाण पाया जाता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है। प्रमाण अनुमान है, वह इस प्रकार है—'यह शरीर किसी कर्ता द्वारा किया हुआ है, क्योकि यह आदिवाला और नियत आकारवाला है। इस जगत मे जो-जो पदार्थ

आदिवाला या नियत आकारवाला होता है, वह किसी कर्ता का किया हुआ होता है। जैसे--घट। जो पदार्थ किसी कर्ता का किया हुआ नही होता है, वह आदि-वाला तथा नियत आकारवाला नही होता। जैसे—आकाश। अत जो पदार्थ आदि-वाला तथा नियत आकारवाला होता है, वह अवश्य किसी न किसी कर्ता का किया होता है, यह व्याप्ति है। जहाँ व्यापक नही होता, वहाँ व्याप्य भी नही होता। किसी कर्ता से किया जाना व्यापकधर्म है और आदिवाला तथा नियत आकारवाला होना व्याप्यधर्म है। ऐसी सयोजना सर्वत्र कर लेनी चाहिए।

आत्मा को शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिए तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद का निराकरण करने हेतु दूसरा अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—इन्द्रियो का कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य है क्योकि इन्द्रियाँ करण (साधन) हैं। इस जगत मे जो-जो करण होता है, उसका कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य होता है, जैसे—दण्ड आदि साधनो का अधिष्ठाता कुमकार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नही होता, वह करण नही हो सकता, जैसे आकाश का कोई अधिष्ठाता नही होता, इसलिये वह करण नही है। इन्द्रियाँ करण हैं, इसलिये उनका अधिष्ठाता आत्मा है, वह आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है।

इसी प्रकार तीसरा अनुमान प्रयोग लीजिए—इन्द्रियो और विषय समूह को ग्रहण करने वाला कोई न कोई अवश्य है, क्योकि इनका ग्राह्य-ग्राहक भाव देखा जाता है। जहाँ-जहाँ ग्राह्य-ग्राहक भाव होता है, वहाँ-वहाँ ही कोई ग्रहण करने वाला पदार्थ होता है। जैसे—सडासी और लोहपिण्ड को ग्रहण करने वाला उनसे भिन्न लुहार होता है। अत इन्द्रियरूप साधनो से जो विपयो को ग्रहण करता है, वह इन्द्रियो और विषयसमूह से भिन्न आत्मा है।

चौथा अनुमान प्रयोग लीजिए—इस शरीर का भोक्ता कोई-न-कोई अवश्य है, क्योकि यह शरीर ओदन आदि के समान भोग्य पदार्थ है। इन्द्रियाँ और मन तो इस शरीर के भोक्ता नही हो सकते, क्योकि वे स्वय शरीर के ही अगभूत हैं। ओदन आदि भोग्य पदार्थों का कोई न कोई भोक्ता अवश्य होता हैं। इसी प्रकार इस शरीर का भी कोई भोक्ता है, वह है आत्मा।

यदि कोई कहे कि पूर्वोक्त अनुमानो मे आपने जो कुमकार आदि का हेतु दिया था, वह हेतु विरुद्ध है, क्योकि कुभकार आदि कर्ता मूर्त, अनित्य और अवयवी है, जबकि आत्मा अमूर्त, नित्य और सहतरूप ही सिद्ध होता है, यह बात युक्तिसगत नही है, क्योकि जैनसिद्धान्त भी आत्मा को कथचित् अमूर्त, अनित्य और अवयवी

आदि धर्मों से युक्त मानता है। ससारी आत्मा, कर्म से परस्पर मिल कर शरीर के साथ सम्बद्ध होने के कारण मूर्त, अनित्य आदि भी माना जाता है।

तज्जीव-तच्छरीरवादी का मत यह भी है कि 'आत्मा (जीव) परलोकगामी (औपपातिक) नही है', यह भी यथार्थ नही है। निम्नोक्त अनुमान प्रयोग से आत्मा का परलोकगमन सिद्ध होता है—तत्काल जन्मे हुए शिशु को माता के स्तन-पान की इच्छा होती है, वह इच्छा पहले ही पहल नही हुई है, किन्तु वह उसके पूर्व की इच्छा से उत्पन्न हुई है, क्योकि वह इच्छा है। जो-जो इच्छा होती है, वह अन्य इच्छापूर्वक ही होती है, जैसे कुमार (५-७ वर्ष के बालक) की इच्छा। इसी प्रकार बालक का विज्ञान, अन्य विज्ञानपूर्वक है, क्योकि वह विज्ञान है। जो-जो विज्ञान है, वह अन्य विज्ञानपूर्वक ही होता है, जैसे कुमार का विज्ञान।

तत्काल जन्मा हुआ बच्चा जब तक 'यह वही स्तन है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहो कर लेता है तब तक रोना बन्द कर वह स्तन मे मुख नही लगाता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बालक मे कुछ न कुछ विज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) अवश्य होता है। वह यत्किंचित विज्ञान अन्य विज्ञानपूर्वक होता है। वह अन्य विज्ञान पूर्वजन्म (दूसरे भव) का ज्ञान ही हो सकता है। अत यह सिद्ध होता है कि परलोक मे जाने वाला पदार्थ (आत्मा) अवश्य है।

आशय यह है कि जिस पदार्थ का जिसने कभी उपभोग नही किया, उसकी इच्छा उसमे नही होती है। उसी दिन का जन्मा हुआ बालक माता के स्तन पीने की इच्छा करता है, परन्तु उसने जन्म लेने से पहले कभी स्तनपान नही किया है। फिर उस बालक को स्तन पीने की इच्छा क्यो हुई ? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस बालक ने पूर्वजन्म मे माता का स्तनपान किया है, इसीलिए उसको स्तनपान की फिर इच्छा हुई है। अत परलोकगामी आत्मा अवश्य है, यह प्रमाणित होता है।

अपनी बात को सिद्ध करने के लिए तज्जीव-तच्छरीरवादियो ने कहा था कि 'विज्ञानघन आत्मा इन भूतो से उत्पन्न होकर इनके नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है इत्यादि', यह भी यथार्थ नही है, क्योकि इस श्रुतिवाक्य का ऊपर जो अर्थ किया गया है, वह ठीक नही है, इसका सम्यक् अर्थ है—विज्ञानपिण्ड आत्मा पूर्वभव के कर्मवश शरीररूप मे परिणत पचमहाभूतो के द्वारा अपने कर्म का फल भोगकर उन भूतो के नष्ट होने पर उस रूप से नष्ट होकर फिर दूसरे पर्याय मे उत्पन्न होता है। जैसे घट के नष्ट हो जाने पर घट-उपाधिवाला (घट-सम्बद्ध) आकाश नष्ट हुआ सा प्रतीत होता है, लेकिन वह सर्वथा नष्ट नही होता, उसका सम्बन्ध पट आदि से हो जाता है। इसी प्रकार एक पर्याय का विनाश होने पर उस पर्याय से

आदिवाला या नियत आकारवाला होता है, वह किसी कर्ता का किया हुआ होता है। जैसे—घट। जो पदार्थ किसी कर्ता का किया हुआ नही होता है, वह आदि-वाला तथा नियत आकारवाला नही होता। जैसे—आकाश। अत जो पदार्थ आदि-वाला तथा नियत आकारवाला होता है, वह अवश्य किसी न किसी कर्ता का किया होता है, यह व्याप्ति है। जहाँ व्यापक नही होता, वहाँ व्याप्य भी नही होता। किसी कर्ता से किया जाना व्यापकधर्म है और आदिवाला तथा नियत आकारवाला होना व्याप्यधर्म है। ऐसी सयोजना सर्वत्र कर लेनी चाहिए।

आत्मा को शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिए तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद का निराकरण करने हेतु दूसरा अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—इन्द्रियो का कोई न कोई अधिष्ठाता है क्योकि इन्द्रियाँ करण (साधन) हैं। इस जगत मे जो-जो करण होता है, उसका कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य होता है, जैसे—दण्ड आदि साधनो का अधिष्ठाता कुभकार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नही होता, वह करण नही हो सकता, जैसे आकाश का कोई अधिष्ठाता नही होता, इसलिये वह करण नही है। इन्द्रियाँ करण है, इसलिये उनका अधिष्ठाता आत्मा हैं, वह आत्मा इन्द्रियो से भिन्न हैं।

इसी प्रकार तीसरा अनुमान प्रयोग लीजिए—इन्द्रियो और विषय समूह को ग्रहण करने वाला कोई न कोई अवश्य है, क्योकि इनका ग्राह्य-ग्राहक भाव देखा जाता है। जहाँ-जहाँ ग्राह्य-ग्राहक भाव होता है, वहाँ-वहाँ अवश्य ही कोई ग्रहण करने वाला पदार्थ होता है। जैसे—सडासी और लोहपिण्ड को ग्रहण करने वाला उनसे भिन्न लुहार होता है। अत इन्द्रियरूप साधनो से जो विषयो को ग्रहण करता है, वह इन्द्रियो और विषयसमूह से भिन्न आत्मा है।

चौथा अनुमान प्रयोग लीजिए—इस शरीर का भोक्ता कोई-न-कोई अवश्य है, क्योकि यह शरीर ओदन आदि के समान भोग्य पदार्थ हैं। इन्द्रियाँ और मन तो इस शरीर के भोक्ता नही हो सकते, क्योकि वे स्वय शरीर के ही अगभूत हैं। ओदन आदि भोग्य पदार्थों का कोई न कोई भोक्ता अवश्य होता है। इसी प्रकार इस शरीर का भी कोई भोक्ता है, वह है आत्मा।

यदि कोई कहे कि पूर्वोक्त अनुमानो मे आपने जो कुभकार आदि का हेतु दिया था, वह हेतु विरुद्ध है, क्योकि कुभकार आदि कर्ता मूर्त, अनित्य और अवयवी है, जबकि आत्मा अमूर्त, नित्य और सहतरूप ही सिद्ध होता है, यह बात युक्तिसगत नही है, क्योकि जैनसिद्धान्त भी आत्मा को कथचित् अमूर्त, अनित्य और अवयवी

आदि धर्मों से युक्त मानता है। ससारी आत्मा, कर्म से परस्पर मिल कर शरीर के साथ सम्बद्ध होने के कारण मूर्त, अनित्य आदि भी माना जाता है।

तज्जीव-तच्छरीरवादी का मत यह भी है कि 'आत्मा (जीव) परलोकगामी (औपपातिक) नही है', यह भी यथार्थ नही है। निम्नोक्त अनुमान प्रयोग से आत्मा का परलोकगमन सिद्ध होता है—तत्काल जन्मे हुए शिशु को माता के स्तन-पान की इच्छा होती है, वह इच्छा पहले ही पहल नही हुई है, किन्तु वह उसके पूर्व की इच्छा से उत्पन्न हुई है, क्योंकि वह इच्छा है। जो-जो इच्छा होती है, वह अन्य इच्छापूर्वक ही होती है, जैसे कुमार (५-७ वर्ष के बालक) की इच्छा। इसी प्रकार बालक का विज्ञान, अन्य विज्ञानपूर्वक है, क्योकि वह विज्ञान है। जो-जो विज्ञान है, वह अन्य विज्ञानपूर्वक ही होता है, जैसे कुमार का विज्ञान।

तत्काल जन्मा हुआ बच्चा जब तक 'यह वही स्तन है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नही कर लेता है तब तक रोना बन्द कर वह स्तन मे मुख नही लगाता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बालक मे कुछ न कुछ विज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) अवश्य होता है। वह यत्किंचित विज्ञान अन्य विज्ञानपूर्वक होता है। वह अन्य विज्ञान पूर्वजन्म (दूसरे भव) का ज्ञान ही हो सकता है। अत यह सिद्ध होता है कि परलोक मे जाने वाला पदार्थ (आत्मा) अवश्य है।

आशय यह है कि जिस पदार्थ का जिसने कभी उपभोग नही किया, उसकी इच्छा उसमे नही होती है। उसी दिन का जन्मा हुआ बालक माता के स्तन पीने की इच्छा करता है, परन्तु उसने जन्म लेने से पहले कभी स्तनपान नही किया है। फिर उस बालक को स्तन पीने की इच्छा क्यो हुई? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस बालक ने पूर्वजन्म मे माता का स्तनपान किया है, इसीलिए उसको स्तनपान की फिर इच्छा हुई है। अत परलोकगामी आत्मा अवश्य है, यह प्रमाणित होता है।

अपनी बात को सिद्ध करने के लिए तज्जीव-तच्छरीरवादियो ने कहा था कि 'विज्ञानघन आत्मा इन भूतो से उत्पन्न होकर इनके नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है इत्यादि', यह भी यथार्थ नही है, क्योकि इस श्रुतिवाक्य का ऊपर जो अर्थ किया गया है, वह ठीक नही है, इसका सम्यक् अर्थ है—विज्ञानपिण्ड आत्मा पूर्वभव के कर्मवश शरीररूप मे परिणत पञ्चमहाभूतो के द्वारा अपने कर्म का फल भोगकर उन भूतो के नष्ट होने पर उस रूप से नष्ट होकर फिर दूसरे पर्याय मे उत्पन्न होता है। जैसे घट के नष्ट हो जाने पर घट-उपाधिवाला (घट-सम्बद्ध) आकाश नष्ट हुआ सा प्रतीत होता है, लेकिन वह सर्वथा नष्ट नही होता, उसका सम्बन्ध पट आदि से हो जाता है। इसी प्रकार एक पर्याय का विनाश होने पर उस पर्याय से

आदिवाला या नियत आकारवाला होता है, वह किसी कर्ता का किया हुआ होता है। जैसे---घट। जो पदार्थ किसी कर्ता का किया हुआ नही होता है, वह आदि-वाला तथा नियत आकारवाला नही होता। जैसे—आकाश। अत जो पदार्थ आदि-वाला तथा नियत आकारवाला होता है, वह अवश्य किसी न किसी कर्ता का किया होता है, यह व्याप्ति है। जहाँ व्यापक नही होता, वहाँ व्याप्य भी नही होता। किसी कर्ता से किया जाना व्यापकधर्म है और आदिवाला तथा नियत आकारवाला होना व्याप्यधर्म है। ऐसी सयोजना सर्वत्र कर लेनी चाहिए।

आत्मा को शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिए तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद का निराकरण करने हेतु दूसरा अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—इन्द्रियो का कोई न कोई अधिष्ठाता है क्योकि इन्द्रियाँ करण (साधन) है। इस जगत मे जो-जो करण होता है, उसका कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य होता है, जैसे—दण्ड आदि साधनो का अधिष्ठाता कुभकार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नही होता, वह करण नही हो सकता, जैसे आकाश का कोई अधिष्ठाता नही होता, इसलिये वह करण नही है। इन्द्रियाँ करण हैं, इसलिये उनका अधिष्ठाता आत्मा है, वह आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है।

इसी प्रकार तीसरा अनुमान प्रयोग लीजिए—इन्द्रियो और विषय समूह को ग्रहण करने वाला कोई न कोई अवश्य है, क्योकि इनका ग्राह्य-ग्राहक भाव देखा जाता है। जहाँ-जहाँ ग्राह्य-ग्राहक भाव होता है, वहाँ-वहाँ अवश्य ही कोई ग्रहण करने वाला पदार्थ होता है। जैसे—सडासी और लोहपिण्ड को ग्रहण करने वाला उनसे भिन्न लुहार होता है। अत इन्द्रियरूप साधनो से जो विषयो को ग्रहण करता है, वह इन्द्रियो और विषयसमूह से भिन्न आत्मा है।

चौथा अनुमान प्रयोग लीजिए—इस शरीर का भोक्ता कोई-न-कोई अवश्य हैं, क्योकि यह शरीर ओदन आदि के समान भोग्य पदार्थ हैं। इन्द्रियाँ और मन तो इस शरीर के भोक्ता नही हो सकते, क्योकि वे स्वय शरीर के ही अगभूत है। ओदन आदि भोग्य पदार्थों का कोई न कोई भोक्ता अवश्य होता हैं। इसी प्रकार इस शरीर का भी कोई भोक्ता है, वह हैं आत्मा।

यदि कोई कहे कि पूर्वोक्त अनुमानो मे आपने जो कुभकार आदि का हेतु दिया था, वह हेतु विरुद्ध है, क्योकि कुभकार आदि कर्ता मूर्त, अनित्य और अवयवी है, जबकि आत्मा अमूर्त, नित्य और सहतरूप ही सिद्ध होता है, यह बात युक्तिसगत नही है, क्योकि जैनसिद्धान्त भी आत्मा को कथचित् अमूर्त, अनित्य और अवयवी

विशिष्ट आत्मा का अभाव सा दिखाई देता है, लेकिन दूसरे पर्याय के रूप मे ी उत्पत्ति होती है। वास्तव मे विशेष पर्याय का ही उत्पाद और विनाश होता है, पर्यायवान जीव (आत्मा) का नही। जीव (आत्मा) तो अव्ययी (शाश्वत) द्रव्य होने से सदैव कायम रहता है।

इससे सलग्न जो तीसरी बात वादी ने कही थी कि 'धर्मीरूप आत्मा न होने से उसके धम पुण्य-पाप भी नही है', यह कथन भी अयुक्त है। क्योकि हमने पूर्वोक्त अनुमानो और श्रुतिरूप प्रमाणो से आत्मा की सिद्धि कर दी है। आत्मा की सिद्धि हो जाने पर उसके धर्म की सिद्धि स्वत ही हो जाती है। धर्मीरूप आत्मा सिद्ध होने पर उसके धर्मरूप पुण्य-पापो की सिद्धि भी समझ लेनी चाहिए। अगर पुण्य-पाप न होते तो जगत की विचित्रता भी न दिखाई देती। क्योकि जगत की इस दृश्यमान विचित्रता का अन्य कोई स्पष्ट कारण नही है। जगत मे प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली विचित्रता का अपलाप नही किया जा सकता। अत जगत की विचित्रता की अन्य-थानुपपत्ति से उस विचित्रता को उत्पन्न करने वाले पुण्य-पाप को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

तज्जीव-तच्छरीरवादी ने जगत की विचित्रता स्वभाव से सिद्ध करने के लिए जो पत्थर के टुकडो का दृष्टान्त दिया है, वह भी युक्तिसगत नही है, क्योकि पत्थर के टुकडो मे एक का देवमूर्ति बनना और दूसरे का पैर धोने की शिला बनना, स्वभाव से नही हुआ है, बल्कि ये दोनो टुकडे जो तथारूप बने है, उनके पीछे उन पत्थरो के उपभोक्ताओ या स्वामियो का कर्म कारण है। उनके स्वामियो के कर्मवश ही वे दोनो शिला के टुकडे वैसे हुए है। इसलिए पुण्य-पाप के अस्तित्व से इन्कार करना प्रत्यक्षानुभूत वस्तु से इन्कार करना है।

आत्मा का अभाव सिद्ध करने के लिए जो केले का स्तभ आदि अनेक दृष्टात दिये गये थे, वे भी केवल वाचालता के नमूने हैं, क्योकि इससे पूर्व युक्ति समूह के द्वारा परलोकगामी, पचभूतो से भिन्न, साररूप आत्मा सिद्ध कर दिया गया है। अत इस सम्बन्ध मे अधिक विस्तार की आवश्यकता नही है।

प्रत्यक्षसिद्ध लोक और विचित्रता की सिद्धि के लिए

लोए तेसि कओ सिया—इस पक्ति का अर्थ एक और भी है, वह इस प्रकार है कि 'उन भूतो से भिन्न आत्मा का अपलाप करने वाले तज्जीव-तच्छरीर वादियो के मत से यह प्रत्यक्षसिद्ध कर्ममय लोक (ससार) कैसे सगत हो सकेगा ?' जहाँ कर्मफलो का अनुभव किया जाय, उसे लोक कहते है। यह चतुर्गतिक ससार ही

वास्तव मे लोक है। इसमे एक भव से दूसरे भव मे जाता जीव प्रतीत होता है।[1] 'कओ सिया' इन दो पदो मे 'कओ' शब्द आक्षेपात्मक है। इसका तात्पर्य यह है कि यह जो लोक मे एक सुखी, एक दुखी, कोई धनी, कोई निर्धन, कोई सम्पन्न, कोई विपन्न, कोई ज्ञानी, कोई अज्ञानी, आदि विचित्रताएँ (विलक्षणताएँ) दृष्टिगोचर होती है, ये किस तरह से घटित होगी ? शरीरादि से भिन्न आत्मा को पुण्य-पापफल का भोक्ता मानते तो जगत की विचित्रता सिद्ध होती, उसके बिना विचित्रता की सिद्धि नही हो सकती। परन्तु वे आत्मा को परलोकगामी और परलोकगमन के साधन—कारण पुण्य-पाप आदि को स्वीकार ही नही करते तो कर्मफलानुभव का हेतु चतुर्गतिरूप ससार (लोक) और उसकी विचित्रता कैसे सिद्ध करेगे ? किसी भी प्रकार से घटित एव सिद्ध नही हो सकती।

इस मान्यता का फल

तमाओ ते तम जंति—इस गाथा की नीचे की पक्ति मे शास्त्रकार ने तज्जीव-तच्छरीरवादियो के उक्त मिथ्यामत को मान कर चलने वालो के जीवन की क्या दशा होती है ? यह बताया है। उनकी बुद्धि पर मिथ्यात्व और अज्ञान का गाढ पर्दा पड जाता है, इसलिए वे बुद्धिमन्दता के कारण सत्य सिद्धान्त के सम्बन्ध मे सोच नही सकते और यदि कोई उन्हे सच्ची बात समझाने का प्रयास करे तो वे उसे अपने पूर्वाग्रहवश ग्रहण नही कर सकते, फलत वे आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि न मानकर नास्तिक बनकर स्वच्छन्दतापूर्वक हिंसा, असत्य आदि विविध पापारम्भो मे रत रहते है। वे मन्दबुद्धि लोग कभी यह भी नही सोचते है कि इन पापकर्मों का फल उन्हे कितना भयकर मिलेगा ?

वे प्राय यह सोच लेते हैं कि जब हम आत्मा, पुण्य-पाप एव उनके कारण होने वाले शुभाशुभ कर्मबन्ध के फलस्वरूप स्वर्ग-नरक (परलोक), मोक्ष आदि नही मानते, तो हमे कैसे कर्मबन्ध हो जायगा और क्यो नरक, तिर्यन्च आदि गति मिलेगी ? परन्तु किसी अनुभवसिद्ध सत्य बात को न मानने से या उसके परिणाम से अनभिज्ञ रहने मात्र से कोई व्यक्ति उसके फल से छूट नही सकता। कोई व्यक्ति विष को मारक न माने या न समझे अथवा विष के प्रभाव से अनभिज्ञ होकर यदि विष खा ले तो क्या विष अपना प्रभाव नही दिखायेगा ? अवश्य दिखायेगा। इसी प्रकार तज्जीव-तच्छरीरवादी नास्तिक यदि अनुभवसिद्ध सत्य सिद्धान्त को न माने, न समझे या ठुकरा दे अथवा अपने माने हुए तथाकथित मिथ्या सिद्धान्तो को पूर्वाग्रहवश पकड कर चले, अथवा सत्य सिद्धान्त से अनभिज्ञ होकर उस मिथ्याश्रद्धान-

---

१ 'लोक्यते अनुभूयते कर्म फलान्यस्मिन्निति लोक चतुर्गतिक ससार।'

जनित मिथ्यात्व विप का सेवन करे तो क्या वह अपना प्रभाव नही दिखाएगा ? अवश्य दिखायेगा। इसे ही शास्त्रकार कहते है—**तमाओ ते तम जति**। तम का अर्थ अन्धकार है। मिथ्यात्व एव अज्ञान एक प्रकार का अन्धकार है। वे मिथ्यात्व अज्ञान आदि अन्धकार मे तो पडे ही है, इस घोर अन्धकार मे उन्हे पता भी नही लगता कि हम क्या कर रहे है ? हमे क्या करना है ? इसलिए उक्त घोर मिथ्यात्व अन्धकार के कारण इस लोक मे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि अशुभ कर्मबन्ध का सचय करते है और यहाँ से मरने के बाद परलोक मे भी उन्हे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का बोध मिलता नही, इसलिए वहाँ भी पुन इसी प्रकार की मिथ्या मान्यताओ के चक्कर मे आकर अथवा तिर्यन्च या नरक गति मे घोर यातनाएँ पाकर वे ज्ञानावरणीय आदि के घोरतम अन्धकार मे पडते है।

अथवा जो अन्धकार के समान है, उसे 'तम' कहते है तथा दुखो के कारण सत्-असत् विवेक-बुद्धि का विनाशक यातना का स्थान भी 'तम' कहलाता है। अत इस पक्ति का अर्थ भी यह होता है कि इहलोक मे वे मूर्ख युक्तिसिद्ध आत्मा को अपने मिथ्या आग्रह के कारण न मानकर तथा पुण्य-पाप का अभाव मानकर परलोक की परवाह न करते हुए विचारशील पुरुषो द्वारा निन्दित प्राणिहिंमारूप आरम्भ मे आसक्त रहते है। इस कारण वे मूढ यहाँ मिथ्यात्व, अविरति आदि के कारण घोर ज्ञानावरणीय कर्म आदि बडे से बडे तम (अन्धकार) का सचय करते है। इस प्रकार के तम से वे यातना के धाम नरकरूपी तम मे जाते है। या इस प्रकार के एक नरकरूप तम से वे उत्तरोत्तर घोर और बडे नरकरूप तम मे जाते है। ऐसे व्यक्तियो को उत्तम लोक की प्राप्ति तो किसी भी प्रकार हो नही ी। उन्हे बारम्बार तिमिर मे पडना है। अथवा उस नरकस्थानरूप तम से निकल कर वे उससे भी बडे दूसरे नरकस्थान मे जाते हैं। सातवी नरकभूमि मे वे क्रमश रौरव, महारौरव, काल, महाकाल और अप्रतिष्ठान नामक नरकावास मे जाते है। यह इस गाथा का भावार्थ है। वे सत्-असत् के विवेक से विकल मूढजन सुख की आशा से ऐसा करते हैं, लेकिन सुख मिलना तो दूर रहा घोरातिघोर कर्मबन्ध के कारण एक नरकस्थान को छोडकर अन्य जन्मो मे उससे भी अधिकाधिक दुखप्रद नरकस्थान को प्राप्त करते है। नरक के घोरतम तमिस्रा के चक्र से दीर्घकाल तक वे बाहर ही नही निकल पाते। वेद मे भी उनके लिए यही बात कही है।[1]

---

१ अविद्यामन्तरे वर्तमाना, स्वय धीरा पण्डित • ाना।
दन्द्रम्यमाना परियन्ति मूढा, अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥ —श्रुति

जो मूढजन अविद्या ( ) मे रत हैं, अपने आपको वे धीर पण्डित मानते है, वे अन्धे के द्वारा ले जाए जाने वाले अधो के समान ठोकरें खाते हैं और विनाश को प्राप्त होते है।

इस प्रकार तज्जीव-तच्छरीरवादियो की दृष्टि मे इस गाथा का अर्थ और व्याख्या की जा चुकी है। अब शास्त्रकार अकारकवादी सांख्यमत का निराकरण और उनकी मिथ्या मान्यता का परिणाम बताने हेतु पुन इसी गाथा को दोहराते है, इसलिए हम यहाँ मूलगाथा न देकर सिर्फ उसका सक्षिप्त अर्थ और तदनुसार व्याख्या दे देते है—

मूलार्थ

जो साख्यमतवादी आत्मा को नित्य, अमूर्त एव सर्वव्यापी होने से अकर्ता (निष्क्रिय) मानते है, उनके मत से यह प्रत्यक्ष दृश्यमान जन्म, जरा, मृत्यु, सुख-दुखरूप तारतम्य से युक्त नरक-तिर्यन्च-मनुष्य-देवरूप चतुर्गतिक लोक कैसे घटित होगा ? इस प्रकार वे बुद्धिमद विवेकमूढ लोग उक्त मिथ्यात्व-अधकारवश नाना प्रकार के आरभो मे रत रहते है और यहाँ से मर कर फिर मिथ्यात्व-अन्धकार को प्राप्त करते है। अथवा एक नरक से दूसरे नरक के घोर अन्धकार मे भटकते रहते है।

व्याख्या

अकारकवादी साख्यमत का निराकरण एव फल

"लोए तेसि"—जो साख्यादि मतवादी आत्मा को (१३ वी गाथा के अनुसार) एकान्त, अमूर्त, कूटस्थनित्य और सर्वव्यापी होने के कारण निष्क्रिय (क्रियारहित-अकर्ता) मानते हैं ? उनके मतानुसार प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला जन्म, जरा, मरण, हर्ष, शोक, रुदन, सुख, दुख आदि रूप तथा नरक तिर्यन्च-मनुष्य-देवगतिरूप यह लोक (ससार नामक प्रपच) कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि आत्मा यदि कूटस्थनित्य[२] माना जाय तो उसका एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे जाना, पुण्य-पाप के फलस्वरूप एक गति और योनि से च्युत (मृत) होकर दूसरी गति और योनि मे उत्पन्न होना, तथा एक ही शरीर मे बालक, युवक, वृद्ध आदि पर्यायो को धारण करना कैसे सम्भव होगा ? अगर आत्मा भी आकाश की तरह एकान्त, सर्वव्यापक, नित्य और अमूर्त है तो उसकी भी गति-आगति हो नही सकती। ऐसी दशा मे जन्म-मरण आदि की व्यवस्था का अभाव हो जायगा। आत्मा को कूटस्थ-

---

१ अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्य सर्वगतोऽक्रिय ।
अकर्ता निर्गुण सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥

२ अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभाव नित्य ।
(जो विनष्ट न हो, उत्पन्न न हो, स्थिर हो, सदा एक स्वभाव वाला हो, वह कूटस्थनित्य कहलाता है।)

नित्य—जैसा का तैसा, अपरिवर्तनशील, सदा एकरूप मे रहने वाला मानने पर जो बालक है, वालक ही रहेगा, जो मूर्ख है, वह मूख ही रहेगा, क्योकि कूटस्थनित्य मे तो न कोई पहले का स्वभाव नष्ट होता है और न उसमे किसी नये स्वभाव की उत्पत्ति होती है, वह तो सदा एक-सा ही रहता हे। मूर्ख हे तो मूर्ख और विद्वान है तो विद्वान ही रहता है। अत जन्म-मृत्यु न मानने पर या परिवर्तनशीलता न मानने पर पुण्य के फलस्वरूप उपभोग साधन, देव, मनुष्य आदि शरीर की प्राप्ति तथा कोई सुखी, कोई दुखी, कोई बद्ध, कोई मुक्त इस प्रकार की व्यवस्था भी न हो सकेगी। मूर्ख को विद्वान और अज्ञानी को ज्ञानी बनने की भी गु जाइश नही रहेगी। ऐसी दशा मे तीनों प्रकार के दुखो का विनाश और मोक्ष प्राप्ति आदि बिना क्रिया के अकेले ज्ञान से कैसे सभव होगी ? तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए कूटस्थनित्य निष्क्रिय आत्मा कैसे पुरुषार्थ कर सकेगा ?

यदि कहे कि हमारे मत से हमे इष्ट है, हम प्रकारान्तर से इन सब कार्यो की सगति प्रकृति द्वारा बिठा लेते है, परन्तु इस बात को कोई भोला-भाला या मूर्ख ही मान ा है, जो थोडा सा भी विचारशील एव हिताहित विवेकी होगा, वह सरल सत्य सहज स्वभाव से बुद्धि मे आने वाले सिद्धान्त को छोडकर टेढी मेढी कल्पना के जाल को नही मान सकेगा।

इस प्रकार अकारकवादी साख्य दृष्ट (प्रत्यक्ष और अनुभव से सिद्ध) एव इष्ट (सर्व आस्तिको के लिए अभीष्ट) मे बाधक अज्ञानान्धकार से पूर्वाग्रह एव मिथ्याग्रह के कारण निकल नही पाते, उसी मे ग्रस्त रहते है। उस अँधेरे से निकलकर (यानी शरीर छोडने पर) वे मिथ्यात्वान्ध अविवेकी महारम्भासक्त पुरुष उससे भी निकृष्ट अन्धतम स्थान (गति) मे जा पहुँचते है। जहाँ पूर्वकृत घोर पापकर्मवश नाना यातना-स्थान पाते है।

साख्यमत की मिथ्यात्वता

निर्युक्तिकार अकारकवादी साख्यमत के मिथ्या सिद्धान्त का खण्डन एक गाथा के द्वारा करते है—

> को वेएई अकय ? कयनासो, पचहा गई नत्थि।
> देवमणुस्सगयागइ, जाईसरणाइयाण च ॥

अर्थात्—(यदि आत्मा कर्म का कर्ता नही है, उसका किया हुआ कोई भी कर्म नही होगा) विना किये कर्म को कौन भोगता है ? इस प्रकार मानने से कृत-कर्म के विनाश का दोप आता है, पाँच प्रकार की गति सभव नही हो सकती,

तथा देव एव मनुष्य पर्याय मे गति-आगति तथा जातिस्मरण आदि भी सभव नही है।

तात्पर्य यह है कि यदि कोई कर्ता नही है तो कर्ता द्वारा किया जाने वाला कर्म भी नही हो सकता और जब आत्मा का किया हुआ कर्म ही नही है तो बिना कर्म किये, वह फल कैसे भोग सकेगा ? यदि आत्मा को इस प्रकार अकर्ता माना जाएगा तो 'मैं जानता हूँ' इत्यादि रूप से ज्ञानक्रिया भी नही हो सकेगी ? कर्म किये बिना ही आत्मा सुख-दुख का उपभोग भी कैसे कर सकेगा ? यदि कर्म किये बिना ही आत्मा द्वारा उसके फल (सुख-दुख) का उपभोग किया जाए तो 'अकृतागम' दोष आएगा और स्वय किये हुए कर्म का फल न भोगने से 'कृतनाश' दोष आएगा। ऐसी स्थिति मे एक प्राणी के द्वारा किये हुए पापकर्म से सभी प्राणी दुखी हो जायेंगे और एक प्राणी के द्वारा किये हुए पुण्यकर्म से सब सुखी हो जायगे। मगर ऐसा कही देखा नही जाता। प्रत्यक्षविरुद्ध होने से ऐसा मानना इष्ट भी नही है। ऐसा तो होना भी असभव है कि देवदत्त कर्म करे और यज्ञदत्त उसका फल भोगे। क्योकि कर्म और फल मे कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। वह समानाधिकारणता के साथ है। अर्थात् जो आत्मा कर्म का अधिकरणरूप होता है वही आत्मा फल का अधिकरणरूप होता है।

आत्मा यदि सर्वव्यापक एव एकान्त कूटस्थनित्य है तो उसकी देव, नरक, मनुष्य, तिर्यंच और मोक्षरूप पाँच प्रकार की गति भी नही हो सकती। ऐसी दशा मे साख्यवादी सन्यासी जो काषायवस्त्र-धारण, शिरोमुडन, दण्डधारण, भिक्षान्न-भोजन और पचरात्र (ग्रन्थ विशेष) के आदेशानुसार यम, नियम आदि का अनुष्ठान करते है, यह सब व्यर्थ होगा। तथा 'पच्चीस तत्त्वो को जानने वाला पुरुष चाहे जिस किसी आश्रम मे रहे और वह जटी हो, मुण्डी हो, अथवा शिखाधारी हो मुक्ति को प्राप्त करता है, यह कथन भी निरर्थक हो जायगा। तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा ही नही है तो ये विधि-निषेध या मोक्ष के प्रतिपादक शास्त्रवचन निरर्थक हो जाते हैं' क्योकि वे समाधान करने मे असमर्थ है। आकाशवत् तथा सर्वव्यापी होने के कारण देवता, मनुष्य आदि गतियो मे आत्मा का आना-जाना भी नही हो सकेगा तथा नित्य होने के कारण विस्मृति न होने से उस आत्मा मे जातिस्मरण (पूर्वजन्मो का स्मरण) आदि क्रिया भी नही हो सकेगी।

साख्यमत मे यह माना गया है कि प्रकृति कर्म करती है, आत्मा नही करता। आत्मा तो आराम करने यानी भोगने वाला है। यह मान्यता भी प्रमाणशून्य है। आत्मा वस्तुत कर्मो का कर्ता है, क्योकि वह उन कर्मो के फलो को भोगता है। जो अपने कर्मो के फल को भोगता है, वह कर्ता भी होता है। जैसे अपनी लगाई हुई

खेती की काट कर भोगने वाला किसान। यदि साख्य पुरुप (आत्मा) को कर्ता नही मानते तो उनका पुरुष वस्तु ही नही बन सकेगा। द्वारा मान्य पुरुष (आत्मा) वस्तु सत् नही है, क्योकि वह कोई कर्म नही करता, जैसे कि आकाश का पुष्प।

आत्मा को भोक्ता मानते है, यह भी घटित नही होता, क्योकि भोग-क्रिया भी आखिर एक क्रिया है और साख्य आत्मा को निष्क्रिय मानते है। भोक्ता का अर्थ होता है—भोगक्रिया को करने वाला। अगर साख्यमान्य पुरुष (आत्मा) भोगक्रिया करके भोक्ता बनता है तब तो अन्य क्रियाओ ने क्या अपराध किया है कि पुरुष उन्हे नही करता ? जिस प्रकार आत्मा भोगक्रिया करता है उसी प्रकार अन्य क्रियाएँ करके उसे सच्चा कर्ता बनना चाहिए। यदि वह निष्क्रिय पुरुष भोगक्रिया नही करता, तब उसे भोक्ता कैसे कहा जा सकता है ? इस अनुमान से भी आत्मा का अभोक्तृत्व सिद्ध होता है, ससारी आत्मा भोक्ता नही हो सकता, क्योकि यह भोगक्रिया नही करता, जैसे कि मुक्त आत्मा। अकर्ता को भोक्ता मानने मे तो 'करे कोई और भोगे कोई' वाली बात हुई। ऐसा मानने से तो 'कृतनाश' और 'अकृता-भ्यागम' नामक भीषण दोष आयेगे। देखिये—प्रकृति ने सब कुछ कार्य किया, पर फल उसे नही मिला, वह भोक्त्री न बन सकी, यह स्पष्टत कृतनाश है और आत्मा ने कुछ भी कार्य नही किया, पर फल उसे मिल रहा है, यह अकृताभ्यागम (अकृत की प्राप्ति) है। अत 'करे कोई और भोगे कोई' इस दूषण से बचने के लिये भोगने वाले आत्मा को ही कर्ता मानना चाहिए। प्रकृति तो अचेतन है, उसे कर्त्री और भोक्त्री मानना उचित नही। यदि वही कर्त्री-भोक्त्री मानी जाएगी तो पुरुष सर्वथा निरर्थक हो जाएगा।

यदि कहे कि दर्पण मे प्रतिबिम्बित मूर्ति बाहर रहकर भी दर्पण मे दिखाई देती है, इसी तरह आत्मा मे न होता हुआ भोग भी आत्मा मे प्रतीत होता है। यह कथन भी युक्तिविरुद्ध है। प्रतिबिम्ब का उदय भी तो एक प्रकार की क्रिया है, जो विकाररहित नित्य आत्मा मे कैसे हो सकती है।

कदाचित साख्यमतवादी यह कहे कि हम तो आत्मा मे भोगक्रिया और प्रतिबिम्बित होने की क्रिया मात्र से उसे निष्क्रिय नही कहते। आत्मा को हम तभी निष्क्रिय कहते हैं जब सभी क्रियाओ से रहित हो जाए। यह कथन भी युक्तिसगत नही है। जैसे—फलो का अभाव वृक्ष के अभाव का साधक नही है। क्योकि ऐसा होता नही कि जब वृक्ष न हो, तभी वृक्ष कहलाए और जब उसके फल न लगे हो, तब वृक्ष न कहलाए। इसी तरह सुप्त आदि अवस्थाओ मे यद्यपि आत्मा कथचित् निष्क्रिय होता है, तथापि इतने मात्र से आत्मा को निष्क्रिय नही कहा जा

खेती की फसल काट कर भोगने वाला किसान। यदि साख्य पुरुष (आत्मा) को कर्ता नही मानते तो उनका पुरुष वस्तु ही नही बन सकेगा। साख्य द्वारा मान्य पुरुष (आत्मा) वस्तु सत् नही है, क्योकि वह कोई कर्म नही करता, जैसे कि आकाश का पुष्प।

साख्य आत्मा को भोक्ता मानते हैं, यह भी घटित नही होता, क्योकि भोग-क्रिया भी आखिर एक क्रिया है और साख्य आत्मा को निष्क्रिय मानते हैं। भोक्ता का अर्थ होता है—भोगक्रिया को करने वाला। अगर साख्यमान्य पुरुष (आत्मा) भोगक्रिया करके भोक्ता बनता है तब तो अन्य क्रियाओ ने क्या अपराध किया है कि पुरुष उन्हे नही करता ? जिस प्रकार आत्मा भोगक्रिया करता है उसी प्रकार अन्य क्रियाएँ करके उसे सच्चा कर्ता बनना चाहिए। यदि वह निष्क्रिय पुरुष भोगक्रिया नही करता, तब उसे भोक्ता कैसे कहा जा सकता है ? इस अनुमान से भी आत्मा का अभोक्तृत्व सिद्ध होता है, ससारी आत्मा भोक्ता नही हो सकता, क्योकि यह भोगक्रिया नही करता, जैसे कि मुक्त आत्मा। अकर्ता को भोक्ता मानने मे तो 'करे कोई और भोगे कोई' वाली बात हुई। ऐसा माननें से तो 'कृतनाश' और 'अकृता-भ्यागम' नामक भीषण दोष आयेंगे। देखिये—प्रकृति ने सब कुछ कार्य किया, पर फल उसे नही मिला, वह भोक्त्री न बन सकी, यह स्पष्टत कृतनाश है और आत्मा ने कुछ भी कार्य नही किया, पर फल उसे मिल रहा है, यह अकृताभ्यागम (अकृत की प्राप्ति) है। अत 'करे कोई और भोगे कोई' इस दूषण से बचने के लिये भोगने वाले आत्मा को ही कर्ता मानना चाहिए। प्रकृति तो अचेतन है, उसे कर्त्री और भोक्त्री मानना उचित नही। यदि वही कर्त्री-भोक्त्री मानी जाएगी तो पुरुष सर्वथा निरर्थक हो जाएगा।

यदि कहे कि दर्पण मे प्रतिबिम्बित मूर्ति बाहर रहकर भी दर्पण मे दिखाई देती है, इसी तरह आत्मा मे न होता हुआ भोग भी आत्मा मे प्रतीत होता है। यह कथन भी युक्तिविरुद्ध है। प्रतिबिम्ब का उदय भी तो एक प्रकार की क्रिया है, जो विकाररहित नित्य आत्मा मे कैसे हो ी है।

कदाचित स तवादी यह कहे कि हम तो आत्मा मे भोगक्रिया और प्रतिबिम्बित होने की क्रिया मात्र से उसे निष्क्रिय नही कहते। आत्मा को हम तभी निष्क्रिय कहते है जब सभी क्रियाओ से रहित हो जाए। यह कथन भी युक्तिसगत नही है। जैसे—फलो का अभाव वृक्ष के अभाव का साधक नही है। क्योकि ऐसा होता नही कि जब वृक्ष ान हो, तभी वृक्ष कहलाए और जब उसके फल न लगे हो, तब वृक्ष न कहलाए। इसी तरह सुप्त आदि अवस्थाओ मे यद्यपि आत्मा कथचित् निष्क्रिय होता है, तथापि इतने मात्र से आत्मा को निष्क्रिय नही कहा जा

सकता, यह कथन भी यथार्थ नही है। क्योकि किसी खास पुरुष की अपेक्षा से तो यह कथन ठीक हो सकता है, किन्तु सर्वसामान्य पुरुषो की अपेक्षा से यह कथन उचित नही है। अत विशिष्ट शक्तिवाले पुरुष की क्रिया की अपेक्षा से यदि आत्मा को क्रियारहित कहे, तव तो कोई क्षति नही किन्तु सर्वसामान्य की अपेक्षा आत्मा को क्रियारहित कहे, तो यह वात असगत है, क्योकि सर्वसामान्य की अपेक्षा से तो आत्मा क्रियावान ही है।

साख्यदर्शन मे तो एकान्तरूप से आत्मा को अमूर्त, अकर्ता या निष्क्रिय माना है, उससे जागतिक व्यवस्था की भयकर क्षति तो होती ही है, साथ ही उसका यह सिद्धान्त युक्तियो की कसौटी पर भी यथार्थ नही टिकता। किन्तु मिथ्याग्रहवश वह अपने ही मिथ्यासिद्धान्त का परला पकडकर बैठ जाता है, सत्य सिद्धान्त को सुनना-समझना भी नही चाहता और एकान्तरूप से प्रतिपादन करता है, यही मिथ्यात्व का लक्षण है। इसी मिथ्यात्व के कारण नाना प्रकार के आरभो मे वे लोग वेखटके लगे रहते हैं और अपनी आत्मा को पचविशतितत्त्व का ज्ञाता होने के झूठा आश्वासन देकर आत्म-वचना करते रहते है। इसलिये वे यहाँ भी पापकर्मोदयवश अज्ञान एव मिथ्यात्व के अन्धकार मे डूबे रहते हैं और परलोक मे भी ऐसे प्राणियो को यथार्थ बोध नही मिलता, इसलिये इससे भी बढकर गाढ अन्धकार मे निमग्न होते है। शास्त्रकार का इस मत के स्वरूप प्रतिपादन एव खण्डन करने के पीछे यही आशय है।

अब पचमहाभूत और छठा आत्मा इन षट्पदार्थवादियो के मत का स्वरूप आगामी गाथा मे बताते हैं—

मूल

संति पच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
आयछट्ठो पुणो आहु, आया लोए य सासए ॥१५॥

स ।

सन्ति पञ्च महाभूतानि, इहैकेषामाख्यातानि।
आत्मषष्ठानि पुनराहुरात्मा, लोकश्च शाश्वत ॥१५॥

अन्वयार्थ

(इह) इस जगत मे (महब्भूया) महाभूत (पच) पाँच (सति) हैं और (आयछट्ठो) आत्मा छठा है। (एगेसि) यह किन्ही वादियो ने (आहिया) प्ररूपण किया—कहा (पुणो) फिर (आहु) उन्होने कहा कि (आया) आत्मा (लोए य) और लोक (सासए) शाश्वत है—नित्य हैं।

भावार्थ

इस जगत मे पाँच महाभूत और छठा आत्मा ये छह पदार्थ है, ऐसा कई मतवादी कहते है, फिर वे कहते है कि आत्मा और लोक नित्य है।

व्याख्या

षट्पदार्थवादियो के मत का स्वरूप

वेदवादी, साख्य और वैशेपिक (शैवाधिकारी) इन तीनो का मत यह है कि इस जगत मे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश तथा छठा आत्मा ये छह पदार्थ है। दूसरे (भूतचैतन्यवादी आदि) वादियो के मत मे जैसे ये अनित्य है, उस प्रकार इनके मत मे नही हैं, इनके मत मे ये नित्य हैं। सर्वथा अनित्य मानने से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध नही हो सकती, इस कारण ये आत्मा को आकाश की तरह सर्वव्यापी तथा अमूर्त होने के कारण नित्य मानते है तथा पृथ्वी आदि पच महाभूत रूप लोक को भी अपने स्वरूप नष्ट न होने के कारण अविनाशी (नित्य) मानते हैं। यही शास्त्रकार का आशय है।

अगली गाथा मे इन्ही षट्पदार्थवादियो द्वारा मान्य पृथ्वी आदि पाँच भूत तथा आत्मा के नित्यत्व को विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं—

मूल

दुहओ वि ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं।
सव्वेऽवि सव्वहा भावा, नियत्तीभावमागया ॥१६॥

सस्कृत छाया

द्विधाऽपि न विनश्यन्ति, न चोत्पद्यतेऽसन्।
सर्वेऽपि सर्वथा भावा, नियतीभावमागता ॥१६॥

अन्वयार्थ

(दुहओ वि) दोनो प्रकार से सहेतुक अथवा अहेतुक, पूर्वोक्त छहो पदार्थ (ण विणसति) नष्ट नही होते है। (अस य) तथा अविद्यमान—असत् पदार्थ (नो उप्पज्जए) उत्पन्न नही होते। (सव्वेऽवि) और सभी (भावा) पदार्थ (सव्वहा) सर्वथा (नियत्तीभाव) नित्यता को (आगया) प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ

पूर्वोक्त पृथ्वी आदि पचभूत एवं छठा आत्मा ये छहो कारणवश या विना कारण दोनो ही प्रकार से नष्ट नही होते। और न ही असत् वस्तु की

कभी उत्पत्ति होती है। अतएव सभी पदार्थ विधि प्रमाणो से सर्वथा नित्य सिद्ध होते है।

व्याख्या

छह पदार्थों की नित्यता की सिद्धि

इस गाथा मे पूर्वोक्त गाथा मे उक्त छह पदार्थों को नित्य सिद्ध करने का उपक्रम किया गया है। पृथ्वी आदि पचमहाभूत और छठा आत्मा ये छहो पदार्थ बिना कारण अथवा कारण से विनष्ट नही होते। क्योंकि ये छहो पदार्थ प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से सिद्ध है। सर्वथा नित्य है। क्योंकि ये सत् है और सत्पदार्थ का कभी विनाश नही होता। साथ ही यह भी वास्तविक तथ्य है कि असत् कभी उत्पन्न नही होता।

दुहओ—इसका आशय है—दोनो तरह से, यानी सहेतुक और निर्हेतुक दोना प्रकार से ये छहो पदार्थ नष्ट नही होते। यह बताने का तात्पर्य यह है कि बौद्धदर्शन मे विनाश निर्हेतुक (अकारण) ही माना गया है। उनका कहना है—

> जातिरेव हि भावाना, विनाशे हेतुरिष्यते।
> यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत् पश्चात्स केन च ?

अर्थात्—पदार्थों की उत्पत्ति (जन्म) ही उनके विनाश का कारण है। जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट न हुआ, वह बाद मे किस कारण से नष्ट होगा? अत नाश का कारण उत्पत्ति है। उत्पत्ति के अनन्तर ही पदार्थ का नाश हो जाता है। यदि उसी समय नाश न माना जाय तो बाद मे विनाश का कोई कारण ही नही रहता। वैशेषिकदर्शन मे घट आदि का विनाश डण्डे, लाठी आदि के प्रहार (कारणो) से माना गया है। इस मत मे नाश सहेतुक बताया गया है। मगर आत्म-षष्ठवादियो का यह प्रबल मत है कि इन दोनो प्रकार के नाशो से आत्मा और लोक का नाश नही होता। अथवा 'दुहओ वि' इस पद का यह अर्थ भी सम्भव है, कि[1] पृथ्वी आदि पचमहाभूत अपने अचेतन स्वभाव से एव आत्मा अपने चेतन स्वभाव से

---

१ गीता मे भी कहा है—

> 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत ।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि ॥

असत् कभी उत्पन्न नही होता और सत् का कभी अभाव (नाश) नही होता। तत्त्वदर्शियो ने सत् और असत् इन दोनो का तत्त्व देख लिया है।

कभी च्युत नष्ट नही होते । यानी ये दोनो कोटि के अचेतन-चेतनात्मक पदार्थ अपने-अपने स्वभाव को नही छोडते । पृथ्वी आदि पचभूत अपने स्वभाव का परित्याग न करने के कारण नित्य ही है । श्रुति मे भी कहा गया है—"कदाचिदनीदृश जगत् ।" अर्थात्—यह जगत कदापि और तरह का नही होता, इसलिए शाश्वत है तथा आत्मा भी किसी का किया हुआ नही है, इसलिए वह भी नित्य ही है। जैसे कि भगवद्गीता मे कहा है—

नैन छिन्दन्ति णि, नैन दहति पावक ।
न चैन क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुत ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
नित्य सर्वगत स्थाणु तोऽय सनातन ॥"

इस आत्मा को शस्त्र काट नही ॅ, अग्नि जला नही सकती, पानी इसे भीगा नही सकता, हवा इसे सुखा नही सकती । अत यह आत्मा अच्छेद्य (छेदन न कर सकने योग्य) अदाह्य (जल न सकने योग्य) विकार पैदा न होने योग्य, नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अविचल और सनातन कहलाता है ।

अब लीजिए साख्यदर्शन के सत्कार्यवाद की युक्तियाँ—पृथ्वी आदि पाँच भूत तथा आत्मा निन्य है, इसलिए यही सिद्धान्त मानना चाहिए कि असत् वस्तु की कभी उत्पत्ति नही होती, सत्य पदार्थ की ही सदा उत्पत्ति होती है । क्योकि जो पदार्थ ् है, उसमे कर्ता-करण आदि कारको का व्यापार नही होता । सत्पदार्थ मे ही ऐसा हो सकता है । इसीलिए साख्यकारिका मे कहा है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्व वाऽभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

अर्थात्—जो वस्तु है ही नही, ् है, वह की (बनाई) नही जा सकती, जैसे गधे के सीग है नही तो कहाँ से बनाये जायेंगे ? यदि असत् पदार्थ भी उत्पन्न या निर्मित होने लगें तो आकाश-पुष्प या खरगोश के सीग भी उत्पन्न होने लगेंगे । दूसरी बात कर्ता किसी वस्तु को बनाने के लिए उसके उपादान को ही ग्रहण करता है । यदि असत् की भी उत्पत्ति होने लगे तो उपादान के ग्रहण की क्या आवश्यकता रहेगी ? फिर तो किसी भी वस्तु से कोई भी वस्तु बनाई जाने लगेगी । अन्यथा तेल निकालने के लिए तिल ग्रहण न करके मिट्टी या बालू से भी तेल निकाला जाने लगेगा । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जिस वस्तु का उपादान विद्यमान हो, उसकी उत्पत्ति हो सकती है, असत् की उत्पत्ति नही हो सकती । यदि असत् पदार्थ की भी उत्पत्ति होती हो तो वृक्ष की लकडी से पुतली ही क्यो बनाई जाती है,

है ? गेहूँ, जौ, चना, घट, पट आदि क्यो नही बना लिये जाते ? अत प्रत्येक कर्म के लिये उपादान को ग्रहण करना पडता है, सबसे सबकी उत्पत्ति नही होती। शक्त से ही शक्य की उत्पत्ति होती है। मनुष्य की शक्ति से जो साध्य होता है, उसी को वह करता है। मनुष्य की शक्ति से जो साध्य नही होता, उसे वह नही करता। यदि असत् की उत्पत्ति हो तो, अशक्य पदार्थ को भी कर्ता क्यो नही कर देता ? अत असत् की उत्पत्ति नही होती, यह सिद्ध है। फिर यह भी है कि कारण मे स्थित (सत्) पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है। जैसे पीपल के बीज से पीपल ही होता है, आम का अकुर नही। अगर कारण मे स्थित न रहने वाला भी कार्य उत्पन्न हो तो पीपल के बीज से आम का अकुर पैदा हो जाना चाहिए। मृत्पिण्ड मे घडा विद्यमान रहता है, क्योकि घडा बनाने के लिए मृत्पिण्ड को ही ग्रहण करना पडता है। यदि असत् की भी उत्पत्ति होती तो वह घट जिस किसी पदार्थ से बना लिया जाता। उसके लिए खास तौर से मृत्पिण्ड ही लेने की क्या आवश्यकता थी ? अत निश्चित है कि कारण मे विद्यमान कार्य ही उत्पन्न होता है।

इसलिए पृथ्वी आदि पच महाभूत और छठा आत्मा ये छहो पदार्थ नित्य हैं। ऐसा नही है कि ये पहले अभाव रूप मे थे, फिर भावरूप मे हो गये हो। साख्यदर्शन के सत्कार्यवाद मे उत्पत्ति और विनाश सिर्फ आविर्भाव-तिरोभाव के अर्थ मे है। इसलिए सब पदार्थों का कभी सर्वथा अभाव नही होता। जगत् मे उत्पत्ति और विनाश का जो व्यवहार होता है, वह भी वस्तु की प्रकटता और अप्रकटता को लेकर होता है।

साख्य के एकान्तनित्यत्व का खण्डन

साख्य, वेदान्त, वैशेषिक आदि का एकान्तभूत नित्यत्व या अनित्यत्व वाद यथार्थ नही है, क्योकि सभी पदार्थो को एकान्तनित्य मानने पर आत्मा मे कर्तृत्व परिणाम नही हो सकेगा। आत्मा मे कर्तृत्व परिणाम न होने पर उसमे कर्मबन्ध कैसे हो सकेगा ? कर्मबन्ध न होने पर सुख-दुखरूप कर्मफलभोग कैसे होगा ? वह कौन करेगा ? क्योकि आत्मा को अकर्ता मानने पर कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव हो जाएगा। ऐसी दशा मे सुख-दुख का अनुभव कौन करेगा ?

अगर असत् की उत्पत्ति कथचित् न मानें तो पूर्वभव का परित्याग करके उत्तरभव की उत्पत्ति रूप जो आत्मा की चार प्रकार की गति और मोक्ष गति रूप पचम गति बताई जाती है, वह कैसे सम्भव होगी ? इस प्रकार आत्मा को अप्रच्युत, अनुत्पन्न एव स्थिर एक स्वभाव का मानने पर उसका मनुष्य-देव आदि गतियो मे गमन-आगमन सभव नही हो सकेगा और स्मृति का अभाव होने से जातिस्मरण आदि भी नही हो सकेगा। अत आत्मा को एकान्तनित्य कहना मिथ्या है।

सत् की ही उत्पत्ति होती है, यह एकान्त कथन भी दोषयुक्त है। यदि वह (कार्य) पहले से ही सर्वथा सत् है तो फिर उत्पत्ति कैसी ? और यदि उत्पत्ति होती है तो सर्वथा सत् कैसे ? इसीलिए कहा गया है—

कर्मगुणव्यपदेशा प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात्।
कार्यमसद् विज्ञेय, क्रियाप्रवृत्तेश्च कर्तृणाम्॥

अर्थात् जब तक घटादि पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती है, तब तक उनके द्वारा जलधारण या जलानयन आदि कार्य नहीं किये जा सकते तथा उनके गुण भी नहीं पाए जाते। अत उनका घट आदि नाम भी तब तक उच्चरित नहीं होता। मृत्पिण्ड से जल नहीं लाया जा ा, न जलधारण किया जा सकता है तथा वह घट के गुणो से भी युक्त नहीं होता, इसलिए मिट्टी के पिण्ड को कोई घडा नहीं कहता। घट बनाने वाले की प्रवृत्ति भी घट न होने पर ही होती है, घट बन जाने पर नहीं होती। अत उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् समझना चाहिए।

अत आत्मा आदि सभी पदार्थों को कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य तथा कथचित् सत्, कथचित् असत् इस प्रकार सदसत्कार्यवाद न मानना ही आत्म-षष्ठवादियो का मिथ्यात्व है। एकान्त आग्रह पकडना ही मिथ्यात्व है। अत बुद्धि-शाली विवेकी व्यक्तियो को प्रत्येक पदार्थ द्रव्यरूप से सत् और पर्यायरूप से असत् इस प्रकार (नित्यानित्यरूप) सदसत्कार्य की उत्पत्ति माननी चाहिए।

सभी पदार्थ क्षण-क्षण मे बदलते रहते है तथापि उनमे भेद प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि पदार्थों का अपचय-उपचय होते हुए भी उनकी आकृति और जाति सदा वही बनी रहती है तथा कारण के साथ कार्य का एकान्त भेद या अभेद दोनो नहीं है, यही मानकर चलना चाहिए।

अब असत्कार्यवादी बौद्धमत का स्वरूप और उसका विश्लेषण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल

पच खंधे वयतेगे, बाला उ खणजोइणो ।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥१७॥

पच स्कन्धान् वदन्त्येके, बालास्तु क्षणयोगिन ।
अन्यमनन्य नैवाहुर्हेतुकञ्चाहेतुकम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(एगे उ बाला) कई अज्ञानी (खणजोइणो) क्षणमात्र रहने वाले (पञ्च खंधे) पाँच स्कन्ध (वयंति) बताते है, कहते है। (अण्णो) पचभूतो से भिन्न, (अणण्णो) तथा अभिन्न (हेउय) कारण से उत्पन्न (च) तथा (अहेउय) विना कारण उत्पन्न आत्मा (णेवाहु) नही है, ऐसा कहते है।

भावार्थ

कई तत्त्वविवेक से अनभिज्ञ वादी क्षणमात्र स्थिर रहने वाले रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार इन पाँच स्कन्धो का प्रतिपादन करते है। पाँच भूतो से भिन्न अथवा अभिन्न कारण से उत्पन्न या विना कारण उत्पन्न आत्मा नही है, ऐसा वे मानते हैं।

व्याख्या

असत्‌वादी बौद्धमत मे आत्मा का स्वरूप

इस गाथा मे शास्त्रकार पच स्कन्ध मात्र को ही आत्मा मानने वाले बौद्ध मत का स्वरूप बताते हुए उनके मत की विवेक-विकलता प्रदर्शित करते हैं। सभी बौद्धमत वाले ऐसा नही मानते, इस दृष्टि से शास्त्रकार ने 'वयतेगे' कहकर कतिपय बौद्धमतवादियो का आत्मा के सम्बन्ध मे मन्तव्य प्रकट किया है। साथ ही उक्त मत की विवेकमूढता सूचित करने के लिए शास्त्रकार ने यह भी कहा है—'बाला उ खणजोइणो' वे सत्-असत् के विवेक से रहित विचारमूढ, बालक की तरह अज्ञ हैं, क्योकि वे उन पच स्कन्धो को क्षणमात्रजीवी कहते हैं। साथ ही उसी को आत्मा मानते हैं, उन पाँच स्कन्धो से भिन्न कोई परलोकगामी आत्मा नही मानते। वे पाँच स्कन्ध इस प्रकार हैं—

रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार, ये पाँच ही स्कन्ध हैं। इनसे भिन्न कोई आत्मा नामक स्कन्ध नही है।[1]

पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार धातु आदि तथा रूप आदि विषय रूपस्कन्ध कहलाते है।[2] सुख-दुःख और असुख-अदुःखरूप (जो न सुख रूप हो, न दुख रूप)

---

१ इहहि पूर्वहेतुजनिता प्रतीत्यसमुत्पन्ना पचोपादान स्कन्धा।

—माध्यमिक०

२. तत्थ य किंचिसितादीहिनघनलक्खणा—तदेत रूपनलक्खणेन एकविधपि भूतोपादानभेदतो दुविध। तत्थ भूतरूप चतुब्विध, उपादानरूप चतुवीसविध।

—विसुद्धि०

वेदना—अनुभव को वेदनास्कन्ध कहते है।[1] यह वेदना (अनुभूति) पूर्वकृत कर्म-विपाक से (कर्मफल के सुखादि रूप से) होती है। जैसे कि एक वार स्वय तथागत भिक्षा के लिये जा रहे थे, तव उनके पैर मे काँटा गड जाने पर उन्हाने कहा था—

इत एकनवतौ कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हत ।
तत्कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव ! ॥

हे भिक्षुओ! आज से ९१वे कल्प मे मेरे द्वारा शक्ति (छुरी) से एक पुरुष का वध हुआ था, उसी कर्म के विपाक से आज मेरे पैर मे काँटा लगा है। रूपविज्ञान, रसविज्ञान आदि विज्ञान को 'विज्ञानस्कन्ध' कहते है। सज्ञा के कारण वस्तु विशेष के वोधक शब्द को 'सज्ञास्कन्ध' कहते हैं।[2] जैसे गौ, अश्व आदि सज्ञाएँ है। ये सज्ञाएँ वस्तु के सामान्य धर्म को निमित्त मानकर व्यवहार मे आती है। पुण्य-पाप आदि धर्म-समुदाय को 'सस्कारस्कन्ध' कहते है। इसी सस्कार के प्रवोध से पहले जाने पर-पदार्थ का स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि होते है। इन रूप आदि पचस्कन्धो से भिन्न सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नही है। न स्कन्धो से भिन्न आत्मा का प्रत्यक्ष से ही अनुभव होता है। उस आत्मा के साथ अविनाभावी (नियत) सम्बन्ध रखने वाला कोई निर्दोष चिन्ह भी गृहीत नही होता, जिससे कि अनुमान द्वारा आत्मा सिद्ध हो सके। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही अविसवादी (सत्य-सत्य बताने वाले) प्रमाण है। इनसे भिन्न कोई तीसरा प्रमाण नही है। अत पचस्कन्धो से भिन्न आत्मा नही है। इस प्रकार वालक के समान पदार्थज्ञानरहित बौद्धगण कहते है। वौद्धमान्य ये पाँचो स्कन्ध क्षणयोगी (क्षणिक) है। एक क्षण तक ही रहते है। दूसरे क्षण मे विनष्ट हो जाते है। परम-सूक्ष्म काल को क्षण कहते है। उस क्षण के साथ सम्बन्ध को 'क्षणयोग' कहते हैं। जो पदार्थ उस क्षण के साथ सम्बन्ध रखता है, उसको 'क्षणयोगी' कहते हैं। क्षण-मात्र स्थायी पदार्थ को क्षणयोगी कहते है। ये पाँचो स्कन्ध क्षणयोगी हैं। ये स्कन्ध न तो कूटस्थनित्य (सदा एक से रहने वाले) हैं, और न ही कालान्तर स्थायी (दो चार क्षण तक ठहरने वाले) है। ये तो सिर्फ एक ही क्षण ठहरते है, दूसरे क्षण मे समूल नष्ट हो जाते है। स्कन्धो के क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—'स्कन्ध क्षणिक हैं, क्योकि सत् है। जो-जो सत् होता है, वह-वह

---

१ य किंचि वेदयितलक्खण सव्व त एकतोकत्वा वेदनाक्खधो वेदितव्वो।
—विसुद्धि०

२ य किंचि सजाननलक्खण सव्व त एकतोकत्वा सञ्ञाक्खधो वेदितव्वो।
—विसुद्धि०

क्षणिक होता है। जैसे मेघ माला आदि। जैसे मेघमालाएँ क्षणिक है, क्योंकि वे सत् है उसी प्रकार सभी सत् पदार्थ क्षणिक है, स्थायी नही।

सत का लक्षण है—अर्थक्रियाकारित्व।[1] स्थायी पदार्थ मे अर्थक्रिया सभव नही है। वस्तु की क्रिया को अर्थक्रिया कहते है। जैसे आग की क्रिया जलाना है, पानी की क्रिया प्यास बुझाना है। जो जलाने या प्यास बुझाने की क्रिया नही करते, वे अग्नि व पानी नही है। आशय यह है कि जो वस्तु की क्रिया करता है, वही वस्तु है। इससे सिद्ध होता है कि क्रिया करना ही वस्तु का लक्षण है। जो क्रिया करता है, वही सत (वस्तु) है, जो क्रिया नही करता, वह सत (वस्तु) नही है। इसलिए स्थायित्व से विरुद्ध क्षणिकत्व ही पदार्थ सत् मे सिद्ध होता है।

अपने कारणो से उत्पन्न हुआ पदार्थ यदि अविनश्वर (स्थायित्व) स्वभावी उत्पन्न हो तो वह न तो क्रमश क्रिया कर सकता है और न एक साथ ही। क्योंकि नित्य अविनश्वर (स्वभाव न बदलने वाले) पदार्थ का स्वभाव बदलेगा नही, और स्वभाव बदले बिना वह भिन्न-भिन्न क्रियाओ को कर नही सकता। अत नित्य पदार्थ द्वारा क्रिया न हो सकने से वह कोई वस्तु ही नही हो सकता।[2] आशय यह है कि नित्य पदार्थ क्रम से या युगपत् (एक साथ) दोनो तरह से अर्थक्रिया करने मे समर्थ नही होता, क्योकि यदि क्रम से कार्य करेगा तो कालान्तर मे होने वाली सभी क्रियाओ को पहली क्रिया के समय मे ही क्यो नही कर लेता? समर्थ कालक्षेप नही करता। यदि कहो कि पदार्थ अर्थक्रिया करने मे समर्थ तो है बशर्ते कि उसे सहकारी कारणो का सयोग मिले तो यह समाधान भी उचित नही है। ऐसा होने पर तो वह परमुखापेक्षी एव असमर्थ हो जायेगा। अत नित्य पदार्थ का क्रम से अर्थ-क्रिया करने पर पक्ष समीचीन नही है।

अगर नित्य पदार्थ एक साथ अर्थक्रिया करने लगेगा, तो एक पदार्थ समस्त देशकालो मे होने वाली समस्त क्रियाओ को एक साथ ही कर लेगा। परन्तु ऐसी प्रतीति कही भी किसी को नही होती। यदि सभी पदार्थों की उत्पत्ति एक साथ मानी जाय तो कार्य और कारण आदि भी एक साथ उत्पन्न होने लगेंगे, तब तो दण्ड और घट आदि मे परस्पर कार्य-कारणभाव ही नही बन सकेगा। यदि स्थिर पदार्थ

---

१ (क) अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्। —प्र० वा०
(ख) अर्थक्रिया सामर्थ्यलक्षणत्वादवस्तुत। —न्यायबिन्दु

२ क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रिया कृता।
न भवन्ति स्थिरा भावा नि सत्वास्ततो मता॥ —तत्त्व स०

सभी अर्थक्रियाओ को एक साथ ही कर डालेगा तो दूसरे-तीसरे आदि क्षणो मे क्या करेगा ? अत एक साथ अर्थक्रिया करने का पक्ष भी समीचीन नही है।

बौद्धो की ओर से यह युक्ति दी जाती है कि पदार्थ को अनित्य माना जाये तो सभी पदार्थो की क्षणिकता विना ही प्रयत्न सिद्ध हो जाती है। कहा भी है—

जातिरेव हि भावाना विनाशे हेतुरिष्यते ।
यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च ॥

अर्थात् पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके विनाश का कारण है, जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट नही होता, वह बाद मे किस कारण से नष्ट होगा ? यानी नष्ट ही नही होगा।

अतएव सिद्ध हुआ कि पदार्थ अपने स्वभाव से अनित्य (क्षणिक) ही उत्पन्न होते हैं, नित्य नही। यही शास्त्रकार का आशय है। 'अण्णो अणण्णो०' गाथा मे उल्लिखित इस पक्ति का आशय यह है कि जैसे पाँच भूत और छठे आत्मा को मानने वाले साख्यमतवादी भूतो से भिन्न आत्मा को मानते है, उस तरह से बौद्ध मत वाले नही मानते, और जैसे चार्वाक पाँच भूतो से अभिन्न आत्मा स्वीकार करते है, उस तरह भी ये बौद्ध नही मानते। यहा भिन्न के लिए 'अन्य' (अण्णो) तथा अभिन्न के लिए अनन्य (अणण्णो) शब्द शास्त्रकार ने प्रयुक्त किए हैं। इसी प्रकार ये बौद्ध आत्मा को शरीर रूप मे परिणत पच भूतो से उत्पन्न, अथवा आदि-अन्त रहित नित्य स्वीकार नही करते है। इसे सूचित करने के लिए शास्त्रकार ने बताया है—'णेवाहु हेउय च अहेउय' अर्थात् बौद्धो ने आत्मा को सहेतुक (कारण से) या अहेतुक (बिना कारण) उत्पन्न नही माना। इस प्रकार सक्षेप मे कुछ बौद्ध दार्शनिको की मान्यता का निरूपण किया है।

अब शास्त्रकार चार धातु मानने वाले बौद्धो के मत का निरूपण करते हुए कहते हैं—

मूल

पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ ।
चत्तारि धाउणो रूव, एवमाहसु रे ॥१८॥

स छाया

पृथिव्यपस्तेजश्च तथा वायुश्चैकत ।
चत्वारि धातोरूपाणि एवमाहुरपरे ॥१८॥

अन्वयार्थ

(पुढवी) पृथ्वी, (आउ) जल, (य) और (तेऊ) तेज (तहा) तथा (वाऊ य) वायु, (रि) ये चारो (धाउणो रूव) धातु के रूप है। (एगओ) ये शरीर रूप मे एक होकर जीव सज्ञा को प्राप्त करते हैं। (एव) इस प्रकार (अवरे) दूसरे बौद्धो ने (आहसु) कहा है।

भावार्थ

पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु के रूप है। ये सव शरीर रूप मे परिणत होकर एकाकार हो जाते है तव इनकी जीव सज्ञा होती है, ऐसा दूसरे बौद्ध कहते हैं।

व्याख्या

चातुर्धातुकवादी बौद्धमत का निरूपण

बौद्धधर्म के कुछ मतवादी चातुर्धातुकवादी हैं। उनका मन्तव्य है कि जगत मे पृथ्वी, जल, तेजऔर वायु ये चार धातु ही सर्वस्व है।[1] ये चारो जगत का धारण-पोषण करते है इसलिए धातु कहलाते है। ये चारो धातु एक साथ मिलकर जगत को उत्पन्न करते है, धारण करते है और पोषण करते हैं। इन्ही से जगत की उत्पत्ति होती है। इनमे पृथ्वी का स्वभाव कठोरता है, जल शीत गुणवाला है, अग्नि उष्ण स्पर्शवाली है और वायु सर्वथा गमन स्वभाव वाला है। इन्ही चारो धातुओ के समुदित होने से घटादि का समूहरूप जगत उत्पन्न हुआ है। यही जव एकाकार होकर शरीररूप मे परिणत होते हैं, तव इनकी जीवसज्ञा होती है। मतलव यह है कि चार धातुओ मे चैतन्य की (जिसे आत्मा या जीव कहते हैं) उत्पत्ति होती है। इन चार धातुओ से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नही हैं। इन्ही के समुदाय को आत्मा नाम दिया जाता है। जैसा कि वे कहते है—'चातुर्धातुकमिद शरीरम्, न तद्व्यतिरिक्त आत्माऽस्तीति' अर्थात यह शरीर चार धातुओ से बना है। इनसे भिन्न कोई आत्मा नही है। यह दूसरे बौद्धो का कथन है।

'जाणगा'—किसी-किसी प्रति मे 'अवरे' के स्थान पर 'जाणगा' पाठ मिलता है। उसका अर्थ होता है—'हम जानकार हैं' अर्थात् हम लोग बडे ज्ञानी है, इस प्रकार की अभिमानरूपी अग्नि से जले हुए वे बौद्ध कहते हैं कि यह शरीर चार धातुओ से वना है तथा शरीर से भिन्न कोई आत्मा नही है।

---

१ जैसा कि विसुद्धिमग्गो मे कहा है—तत्थ भूतरूपं चतुब्बिध—पृथवीधातु, आपोधातु, तेजोधातु, वायोधातूति।

सभी अर्थक्रियाओ को एक साथ ही कर डालेगा तो दूसरे-तीसरे आदि क्षणो मे क्या करेगा ? अत एक साथ अर्थक्रिया करने का पक्ष भी समीचीन नही है ।

बौद्धो की ओर से यह युक्ति दी जाती है कि पदार्थ को अनित्य माना जाये तो सभी पदार्थों की क्षणिकता विना ही प्रयत्न सिद्ध हो जाती है । कहा भी है—

जातिरेव हि भावाना विनाशे हेतुरिष्यते ।
यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च ।।

अर्थात् पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके विनाश का कारण है, जो उत्पन्न होते ही नष्ट नही होता, वह वाद मे किस कारण से नष्ट होगा ? यानी नष्ट ही नही होगा ।

अतएव सिद्ध हुआ कि पदार्थ अपने स्वभाव से अनित्य (क्षणिक) ही उत्पन्न होते है, नित्य नही । यही शास्त्रकार का आशय है । 'अण्णो अणण्णो०' गाथा मे उल्लिखित इस पक्ति का आशय यह है कि जैसे पाँच भूत और छठे आत्मा को मानने वाले साख्यमतवादी भूतो से भिन्न आत्मा को मानते है, उस तरह से बौद्ध मत वाले नही मानते, और जैसे चार्वाक पाँच भूतो से अभिन्न आत्मा स्वीकार करते है, उस तरह भी ये बौद्ध नही मानते । यहा भिन्न के लिए 'अन्य' (अण्णो) तथा अभिन्न के लिए अनन्य (अणण्णो) श०द शास्त्रकार ने प्रयुक्त किए है । इसी प्रकार ये बौद्ध आत्मा को शरीर रूप मे परिणत पच भूतो से उत्पन्न, अथवा आदि-अन्त रहित नित्य स्वीकार नही करते है । इसे सूचित करने के लिए शास्त्रकार ने बताया है—'णेवाहु हेउय च अहेउय' अर्थात् बौद्धो ने आत्मा को सहेतुक (कारण से) या अहेतुक (बिना कारण) उत्पन्न नही माना । इस प्रकार सक्षेप मे कुछ बौद्ध दार्शनिको की ा का निरूपण किया है ।

अब शास्त्रकार चार धातु मानने वाले बौद्धो के मत का निरूपण करते हुए कहते हैं—

मूल

पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ ।
चत्तारि धाउणो रूव, एवमाहसु आवरे ।।१८।।

सं छाया

पृथिव्यपस्तेजश्च तथा वायुश्चैकत ।
चत्वारि धातोरूपाणि एवमाहुरपरे ।।१८।।

अन्वयार्थ

(पुढवी) पृथ्वी, (आउ) जल, (य) और (तेऊ) तेज (तहा) तथा (वाऊ य) वायु, (रि) ये चारो (धाउणो रूव) धातु के रूप है। (एगओ) ये शरीर रूप मे एक होकर जीव सज्ञा को प्राप्त करते है। (एव) इस प्रकार (अवरे) दूसरे बौद्धो ने (आहसु) कहा है।

भावार्थ

पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु के रूप है। ये सब शरीर रूप मे परिणत होकर एकाकार हो जाते है तब इनकी जीव सज्ञा होती है, ऐसा दूसरे बौद्ध कहते हैं।

व्याख्या

चातुर्धातुकवादी बौद्धमत का निरूपण

बौद्धधर्म के कुछ मतवादी चातुर्धातुकवादी है। उनका मन्तव्य है कि जगत मे पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु ही सर्वस्व है।[1] ये चारो जगत का धारण-पोषण करते हैं इसलिए धातु कहलाते हैं। ये चारो धातु एक साथ मिलकर जगत को उत्पन्न करते हैं, धारण करते है और पोषण करते है। इन्ही से जगत की उत्पत्ति होती है। इसमे पृथ्वी का स्वभाव कठोरता है, जल शीत गुणवाला है, अग्नि उष्ण स्पर्शवाली है और वायु सर्वथा गमन स्वभाव वाला है। इन्ही चारो धातुओ के समुदित होने से घटादि का समूहरूप जगत उत्पन्न हुआ है। यही जब एकाकार होकर शरीररूप मे परिणत होते है, तब इनकी जीवसज्ञा होती है। मतलब यह है कि चार धातुओ मे चैतन्य की (जिसे आत्मा या जीव कहते है) उत्पत्ति होती है। इन चार धातुओ से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नही है। इन्ही के समुदाय को आत्मा नाम दिया जाता है। जैसा कि वे कहते है—'चातुर्धातुकमिद शरीरम्, न तद्व्यतिरिक्त आत्माऽस्तीति' अर्थात यह शरीर चार धातुओ से बना है। इनसे भिन्न कोई आत्मा नही है। यह दूसरे बौद्धो का कथन है।

'जाणगा'—किसी-किसी प्रति मे 'अवरे' के स्थान पर 'जाणगा' पाठ मिलता है। उसका अर्थ होता है—'हम जानकार हैं' अर्थात् हम लोग बड़े ज्ञानी है, इस प्रकार की अभिमानरूपी अग्नि से जले हुए वे बौद्ध कहते है कि यह शरीर चार धातुओ से बना है तथा शरीर से भिन्न कोई आत्मा नही है।

---

१ जैसा कि विसुद्धिमग्गो मे कहा हैं—तत्थ भूतरूप चतुब्बिध—पृथवीधातु, आपो-धातु, तेजोधातु, वायोधातूति।

अफलवादी बौद्ध आदि मतो के मिथ्या मन्तव्य का खण्डन

ये सभी बौद्धमतवादी अफलवादी है । क्योकि इनके मतानुसार क्रिया करने के क्षण मे ही कर्ता—आत्मा का समूल विनाश हो जाता है । अत आत्मा का क्रिया-फल के साथ सम्बन्ध नही होता । जब फल के समय तक आत्मा रहता ही नही है, तो ऐहिक और पारलौकिक क्रियाफल को कौन भोगेगा ? क्योकि इनके मत से पदार्थ मात्र क्षणिक है, आत्मा भी क्षणिक है और दान आदि सभी क्रियाएँ क्षणिक है । इस कारण क्रिया करते ही क्षणमात्र मे सबका विनाश हो जाने पर कालान्तर मे होने वाला फल कौन भोगेगा ? कालान्तर स्थायी कोई अतिरिक्त भोक्ता वे मानते ही नही है ।

अथवा साख्य, बौद्ध आदि पूर्वोक्त सभी मतानुयायी अफलवादी है । इनमे से किन्ही के मत मे आत्मा का अस्तित्व माना है, तो भी एकान्त, अविकारी, निष्क्रिय (क्रियारहित) और कूटस्थनित्य माना है । उनके मतानुसार विकारहीन, निष्क्रिय आत्मा मे कर्तृत्व या फल-भोक्तृत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्रिया से रहित एव सदा एक से रहने वाले कूटस्थनित्य आत्मा मे किसी प्रकार की कृति नही होती । कृति के अभाव मे कर्तृत्व ही नही होता और कर्तृत्व के अभाव मे क्रिया का सम्पादन करना असम्भव है । ऐसी स्थिति मे वह सुख-दु ख के साक्षात्कार रूप फलोपभोग को कर ही कैसे सकता है ? जो सर्वथा उदासीन, सर्वप्रपचरहित है, वह कर्ता या भोक्ता नही हो ा है ?

किन्ही के मत मे पचस्कन्धो या पचभूतो से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नही है । उनके मतानुसार आत्मा (उपभोक्ता) ही न होने से दु ख-सुखादि फलो का अनुभव कौन और कैसे कर सकेगा ?

यदि कहे कि सुख-दु ख का अनुभव विज्ञानस्कन्ध करता है तो यह भी युक्ति- नही है, क्योकि विज्ञानस्कन्ध भी क्षणिक है और अति सूक्ष्म होने के कारण उससे सुख-दु ख का अनुभव नही हो सकता ।

किन्ही के मतानुसार आत्मा क्षणिक है, क्योकि सभी पदार्थ क्षणिक है और आत्मा भी उन्ही के अन्तर्गत है । कार्यक्षण के पश्चात दूसरे ही क्षण मे आत्मा का विनाश हो जाता है । ऐसी दशा मे कालान्तर मे होने वाले ल के साथ क्षण-विनष्ट आत्मा का सम्बन्ध किस प्रकार हो ा है ?

इसके अतिरिक्त यदि आत्मा ही नही है, तो बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण आदि की व्यवस्था भी नही बैठ सकेगी । मोक्ष की व्यवस्था के मे शास्त्रो की तथा महाबुद्धिमानो की प्रवृत्ति निरर्थक हो जाएगी ।

इसी प्रकार क्रियावान (आत्मा) को क्षण-विनश्वर मानने से क्रियावान और फलवान के बीच मे काफी फासला (समय का) हो जाएगा। इस कारण जो पदार्थ क्रिया करता है और जो पदार्थ उस क्रिया का फल भोगता है, इन दोनो का परस्पर अत्यन्त भेद होने के कारण कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष भी आते हैं। जिस आत्म-क्षण ने क्रिया की, वह उसी समय नष्ट हो गया, वह कालान्तर मे उत्पन्न होने वाले फल को किसी भी प्रकार भोग नही सकेगा। यह 'कृतनाश' नामक दोष हुआ। जो फल भोगता है, उसने वह क्रिया नही की, इसलिए 'अकृताभ्यागम' दोष हुआ।[1]

यदि कहो कि ज्ञान-सन्तान (ज्ञान की परम्परा) एक है, इसलिए जो ज्ञान सन्तान क्रिया करता है वही उसका फल भोगता है, इसलिए कृतनाश व अकृताभ्यागम नामक दोष नही आते, तो यह कहना भी ठीक नही है क्योकि वह ज्ञानसन्तान भी प्रत्येक ज्ञानो से भिन्न नही है। अत उस ज्ञानसन्तान से भी कुछ फल नही है।

यदि कहो कि पूर्व-पदार्थ उत्तर-पदार्थ मे अपनी वासना को स्थापित करके नष्ट होता है, जैसे कि कहा है—जिस ज्ञानसन्तान मे कर्मवासना स्थित रहती है, उसी मे फल उत्पन्न होता है। जिस कपास मे लाली होती है, उसी मे फल उत्पन्न होता है,[2] तो यहाँ भी यह विकल्प पैदा हो जाएगा कि वह वासना उस क्षणिक पदार्थ से भिन्न या अभिन्न है? यदि भिन्न है तो वह वासना उस क्षणिक पदार्थ को वासित नही कर सकती, यदि वह अभिन्न है तो उस क्षणिक पदार्थ के समान वह भी क्षण-क्षयिणी है।

अत आत्मा न होने पर सुख-दुख का भोग नही हो सकता। परन्तु सुख-दुख के भोग का अनुभव होता है, अत आत्मा अवश्य है, यह सिद्ध होता है।

यदि यह कहे कि क्षणमात्र स्थित होने वाले पहले पदार्थ से उत्तर-पदार्थ की उत्पत्ति होती है। इसलिये क्षणिक पदार्थों मे परस्पर कार्य-कारणभाव हो सकता है तो यह कथन भी युक्तिसगत नही है। क्योकि यहाँ प्रश्न होगा कि पहला क्षणिक पदार्थ स्वय नष्ट होकर उत्तर-पदार्थ को उत्पन्न करता है, अथवा नष्ट न होकर

---

१ क्रिया करने वाला अपनी क्रिया का फल नही भोगता, यह कृतनाश दोष है और जो क्रिया नही करता है, वह उस क्रिया का फल भोगता है, यह अकृताभ्यागम दोष है।

२ यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना।
फल तत्रैव सधत्ते, कार्पासे रक्तता यथा॥

उत्पन्न करता है ? स्वय नष्ट होकर तो उत्तर-पदार्थ को उत्पन्न नही कर सकता, क्योकि जो स्वय नष्ट हो गया है, वह दूसरे को किस तरह उत्पन्न कर है ? यदि कहो कि स्वय नष्ट न होकर पहला पदार्थ उत्तर-पदार्थ को उत्पन्न करता है, तो यह भी ठीक नही है, क्योकि उत्तर-पदार्थ के काल मे पूर्व-पदार्थ का व्यापार विद्यमान होने से तुम्हारा क्षणभगवादरूप सिद्धान्त ही नही रह सकता है।

यदि कहे कि तराजू का एक पलडा, स्वय नीचा होता हुआ, दूसरे पलडे को ऊपर उठाता है, उसी तरह पहला पदार्थ स्वय नष्ट होता हुआ उत्तर-पदार्थ को उत्पन्न करता है तो यह बात भी युक्तिहीन है। क्योकि ऐसा मानने पर आप स्वय दोनो पदार्थों को एक काल मे स्थित रहना स्वीकार करते है,जो क्षणभगवाद सिद्धान्त के प्रतिकूल है। ऐसी दशा मे उत्पत्ति और विनाश एक साथ मानने पर उनके धर्मीरूप पूर्व और उत्तर-पदार्थ की भी एक काल मे स्थिति सिद्ध होगी। अगर उत्पत्ति और विनाश को पदार्थों का धर्म न मानो तो उत्पत्ति और विनाश कोई वस्तु ही सिद्ध न होगे।

पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके नाश का कारण है—यह कथन भी दोष-दुष्ट है। यदि पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके नाश का कारण है तो किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति ही न होनी चाहिए, क्योकि उनके विनाश का कारण (उत्पत्ति) उनके निकट विद्यमान है।

आपने पदार्थ को क्षणिक मान कर उस पदार्थ का सर्वथा अभाव माना है, वह भी ठीक नही है। अभाव शब्द का यहाँ[1] प्रसज्यात्मक नञ् समास मान कर अर्थ करने पर अघट कहने से मुद्गर आदि के प्रहार से घट आदि का विनाश मानना पडेगा। उसी तरह आत्मा का भी अभाव सिद्ध हो जाएगा। इसलिए अभाव का यहाँ पर्य्युदास नञ् समास की दृष्टि से अर्थ करने पर अघट कहने से घट से भिन्न कपाल (ठीकरा) रूप पदार्थ को मुद्गर उत्पन्न करता है और घट परिणामी अनित्य है, इसलिए वह कपाल रूप मे परिणत होता है।

क्षणिकवाद की विस्तृत चर्चा पूर्व गाथा मे की गई है, इसलिए हम पुन पिष्टपेषण न करके सक्षेप मे बताना चाहते हैं कि आत्मा को कूटस्थनित्य मानने पर ये सब दोष आते हैं। क्षणिक होने से अभावरूप आत्मा मानी जाएगी तो सारी

---

१ जैसे कि व्याकरण-शास्त्र मे बताया है—

नञर्थोद्वौ सम ौ पर्य्युदास ‍ को।
पर्य्युदास सदृग्ग्राही, ‍ स्तु निषेधकृत्॥

नञ् समास के दो अर्थ कहे गए हैं— और प्रसज्य। पर्य्युदास सदृश (तद्भिन्न) का ग्राही है, और प्रसज्य निषेध का ग्राहक है।

व्यवस्था स्वर्गादि की या इहलोक की नही बैठेगी, परलोक की भी सारी व्यवस्था चौपट हो जाएगी।

जैनदर्शन के अनुसार प्रसज्य प्रतिषेध मान कर यहाँ प्रध्वसाभाव मानना चाहिए।[1] प्रध्वसाभाव मे कारको का व्यापार होता ही है। क्योंकि वह वस्तुत

---

१ पदार्थों की व्यवस्था के लिये चार प्रकार के अभावो को अवश्य मानना चाहिए—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वसाभाव, (३) अन्योन्याभाव (इतरेतराभाव) और (४) अत्यन्ताभाव।
उत्पत्ति के पूर्व कार्य के अभाव को प्रागभाव कहते है अथवा वर्तमान पर्याय का पूर्वपर्याय मे अभाव भी प्रागभाव कहलाता है। जैसे—दही की पूर्वपर्याय दूध थी, इसलिए दही की पर्याय मे दूध की पर्याय का अभाव प्रागभाव कहलाया। जिसकी उत्पत्ति होने पर कार्य अवश्य नष्ट हो जाय, वह उसका प्रध्वसाभाव है अथवा एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसी द्रव्य की आगामी (भविष्य की) पर्याय मे अभाव प्रध्वसाभाव कहलाता है। जैसे—दही की भविष्य की पर्याय मट्ठा है, दही की पर्याय मे मट्ठे की पर्याय का अभाव है इसलिये मट्ठे की पर्याय का अभाव प्रध्वसाभाव हुआ। तीसरा अन्योन्याभाव (इतरेतराभाव) वह है जहाँ एक पदार्थ के एक स्वरूप की दूसरे स्वरूप से व्यावृत्ति हो, अथवा एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय मे जो अभाव हो, उसे अन्योन्याभाव कहते है। जैसे—दूध की पर्याय मे दही की पर्याय का, या दही की पर्याय मे मट्ठे की पर्याय का अभाव, अथवा स्तम्भ पर्याय मे कुम्भ पर्याय का अभाव अन्योन्याभाव है। तैजस शरीर मे कार्मण का शरीर का अभाव भी अन्योन्याभाव है। चौथा है अत्यन्ताभाव—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से तीनो काल मे तादात्म्य रूप से परिणत न हो, अथवा एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे तीनो काल मे अभाव हो, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे—चेतन और जड मे, कुम्हार और घडे मे, पुस्तक और जीव मे अत्यन्ताभाव है, क्योकि प्रत्येक मे दोनो भिन्न-भिन्न जाति के द्रव्य हैं। चार अभावो मे अत्यन्ताभाव द्रव्यसूचक है, और शेष तीन—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव और अन्योन्याभाव पर्याय-सूचक है। प्रागभाव न मानने से कार्य अनादि (आदिरहित) सिद्ध हो जाएगा। प्रध्वसाभाव न मानने से कार्य अनन्तकाल (अन्तरहित) तक रहेगा। अन्योन्याभाव न मानने से एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का, दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय मे अभाव है, वह नही रहेगा। अत्यन्ताभाव न मानने से प्रत्येक पदार्थ की त्रैकालिक भिन्नता नही रहेगी। जगत् के सभी द्रव्य एकरूप हो जायेंगे।

पदार्थ का पर्याय यानी अवस्था-विशेष है, अभावमात्र नही है। वह था-विशेष भावरूप है क्योंकि वह पूर्व-अवस्था को नष्ट करके उत्पन्न होता है, इसलिए जो कपाल आदि की उत्पत्ति है, वही घट आदि का विनाश है, जो कारणवश, कभी-कभी होता है। इस कारण भी वह सहेतुक है।

पदार्थों की व्यवस्था के लिए चार प्रकार के अभाव को मानना आवश्यक है। इस प्रकार क्षणभगवाद विचारसगत न होने से वस्तु परिणामीनित्य है, यह पक्ष मानना ही ठीक है।

जैन दृष्टि से आत्मा परिणामी, ज्ञान का आधार, दूसरे भवो मे जाने वाला और भूतो से कथचित् भिन्न है तथा शरीर के साथ मिलकर रहने से वह शरीर से कथचित् अभिन्न है। वह आत्मा, नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति मे कारणरूप कर्मो के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपो मे व रहता है। इसलिए वह सहेतुक भी है तथा आत्मा के निज स्वरूप का कभी नाश नही होता, इसलिए वह नित्य और निर्हेतुक भी है।

इस तरह शरीर से भिन्न आत्मा सिद्ध होने पर भी उसे चार धातुओ से बना हुआ शरीर मात्र बताना पागलो की सी बकवास है।

अब शास्त्रकार पूर्वोक्त गाथाओ मे वर्णित चार्वाक से लेकर बौद्धदर्शन पर्यन्त विविध दार्शनिकों का अपने-अपने दर्शन के प्रति जो मताग्रह है तथा उस मताग्रह के फलस्वरूप उनका दर्शन मिथ्याभिवाद पूर्ण मिथ्यात्व से ग्रस्त हो जाता है, इसे बताने के लिए कहते है—

मूल पाठ

अगारमावसंतावि, अरण्णा वावि पव्वया।
इम दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥१९॥

स छाया

आगारमावसन्तोऽपि, आरण्या वाऽपि प्रव्रजिता।
इद दर्शनमापन्ना, सर्वदु विमुच्यन्ते ॥१९॥

र्थ

(अगार) घर मे (आवसतावि) निवास करने वाले भी ( ) वन मे निवास करने वाले तापस ( ) पार्वत=पर्वत की गुफाओ मे रहने वाले (वावि) अथवा प्रव्रजित=प्रव्रज्या धारण किये हुए पुरुष भी (इम दरिसण) हमारे इस (माने

हुए) दर्शन—मत को (आवण्णा) प्राप्त कर (सव्वदुक्खा) समस्त दुखो से (विमुच्चई) मुक्त हो जाते है।

भावार्थ

घर मे निवास करने वाला गृहस्थ तथा वनवासी तापस एव पर्वत की गुफा मे रहने वाले या गिरिजन भी अथवा प्रव्रज्या (दीक्षा) धारण किये हुए ऋषि या परिव्राजक जो भी हमारे इस दर्शन (मत) को प्राप्त या स्वीकार कर लेते है, वे समस्त दु खो से मुक्त हो जाते है।

व्याख्या

अन्य दर्शन वालो का अपना-अपना मताग्रह

'इम दरिसणमावण्णा'—जैसे दुकानदार अपनी दुकान की ओर ग्राहको को आकर्षित करने के लिए ग्राहको से प्राय यह कहा करते है—मेरी दुकान पर जैसा बढिया माल मिलेगा, सस्ता मिलेगा, तुम्हारे मनपसन्द का मिलेगा, वैसा किसी दूसरी दुकान मे नही मिलेगा। दूसरी दुकान पर जाओगे तो वहाँ ठगा जाओगे, वे तुम्हे खराब व घटिया माल दे देगे और कीमत भी ज्यादा ले लेंगे वैसे ही विविध वादो, दर्शनो और मतो वाले अपनी विचारधाराओ को भ्रान्त या मिथ्या होते हुए भी पूर्वाग्रहवश प्राय यह कहा करते है—हमारे माने हुए या प्रवर्तित मत, दर्शन या वाद को स्वीकार कर लोगे तो समस्त दु खो से मुक्त हो जाओगे। ऐसा सरल, सीधा और सच्चा दर्शन या मत ससार मे और कोई नही मिलेगा, दूसरे मतो मे मुक्ति का मार्ग अत्यन्त दुरूह और कठिन बताया गया है, जबकि हमारे मत मे मुक्ति का मार्ग अत्यन्त सरल, सुसाध्य है, एव अधिक कष्टकर भी नही है। केवल अमुक-अमुक तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त करने से ही मुक्ति हो जाती है।[1] सिर्फ ज्ञानाग्नि ही समस्त कर्मों को भस्म कर देती है।[2] हमारे मत को ग्रहण कर लो बस बेडा पार हो जाएगा, सब दु खो से छुटकारा हो जाएगा। बौद्धमत की ओर आकृष्ट करते

---

१ जैसे कि साख्यदर्शन के प्ररूपको ने कहा है—

पचविंशति तत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रत।
जटी मुडी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र सशय।

२ इसी प्रकार गीता मे बताया है—

ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

के लिए किसी बौद्ध ने कहा—कोमल गुदगुदाती शय्या, प्रात काल विस्तर से उठते ही दूध आदि का पान, मध्याह्न मे भोजन और अपरान्ह मे फिर शरबत, आधी रात मे किसमिस और मिश्री, इन समस्त सुखोपभोगो के बाद अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति। ये सब बातें शाक्यपुत्र बुद्ध ने अनुभव की है।[1] वेदान्तदर्शन ने एकमात्र ब्रह्मज्ञान को ही मोक्षप्राप्ति का कारण बताकर ब्रह्म मे लय हो जाने को मुक्ति कहा है।[2] उनकी मुक्ति के लिए कुछ करना-धरना नही है। चार्वाक तो मुक्ति को मानता ही नही है। वह तो यही कहता है—समस्त दु खो से मुक्ति का उपाय यह है कि जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके घी पीओ। शरीर के भस्म हो जाने के बाद फिर किसी लोक मे गमन या पुनरागमन नही होता।[3] इस प्रकार सभी मत, दर्शन या वाद वाले अपने-अपने माने हुए मतादि के ममत्व मे पडकर अपने मतादि की ओर दूसरो को आकर्षित करने के लिये कहा करते हैं—'इस दर्शन को स्वीकार करने पर समस्त दु खो से व्यक्ति मुक्त हो जाता है।' यही शास्त्रकार का आशय है।

अगारमावसता वि—जब उनसे पूछा जाता है कि क्या घर-गृहस्थी मे रहते हुए अपने कुटुम्ब-परिवार (माता-पिता, स्त्री, पुत्र, भाई-बहनो) के बीच रहते हुए उनके मोह-ममत्व मे बँधा हुआ व्यक्ति भी क्या समस्त दुखो से मुक्त हो जाता है ? या मुक्ति प्राप्ति कर लेता है ? इस प्रश्न का कारण यह भी सम्भव है कि पूर्व-काल मे और अब भी कुछ मत इस विचारधारा के रहे हैं कि गृहस्थ को मुक्ति या दु ख-मुक्ति नही हो सकती, क्योकि वह अनेक गार्हस्थ्य प्रपचो मे रचा-पचा रहता है, गृहस्थ का पालन करते हुए वह हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापो से सर्वथा निवृत्त नही हो सकता इसलिए गृहस्थ के लिए स्वर्गादि की प्राप्ति तो बताते थे, किन्तु मुक्ति की प्राप्ति नही। इसी सन्दर्भ मे उक्त प्रश्न पूछे जाने पर तथाकथित दार्शनिक झटपट यह कह दिया करते थे कि हमारे मत को स्वीकार करने पर तुम गृहस्थ मे रहते हुए भी सर्व दुखो से मुक्त हो सकोगे। यह इस पक्ति का तात्पर्य है।

अरण्णा वावि पव्वया—प्राचीन काल मे कुछ विचारक ऐसे भी थे, जो गृहस्‌ को अधिक महत्व देते थे, उनकी दृष्टि मे गृहस्थाश्रम की जिम्मेदारियो

---

१ मृदवी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्त मध्ये, पानक चापरान्हे।
द्राक्षो खण्ड शर्करा चार्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्ट ॥

२ ब्रह्मण्येव लयान्मुक्ति। —वेदान्त

३ यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ?॥

को छोडकर समाज, और परिवार के दायित्वो से भाग कर अलग-थलग एकान्त वन मे या पर्वत की गुफा मे जाकर साधना करने वाले निकृष्ट माने जाते थे। ऐसे तापस या ध्यानी अथवा पर्वतीय जन समाज या राष्ट्र के लिए भी अपने ज्ञान या अनुभवो को प्रदान न करने के कारण निरुपयोगी समझे जाते थे। इस सन्दर्भ मे पूछे जाने पर भी क्या वनवासी तापस, परिव्राजक या पर्वतीय जन भी सर्वदुखो से मुक्त हो सकते हैं ? तब उन मतवादियो का प्राय यही उत्तर होता था कि हमारे दर्शन को अगीकार कर लो, सब दुखो से छुटकारा (मोक्ष) हो जायेगा। यह इस पक्ति का आशय है।

तात्पर्य यह है कि पचभूतात्मवादी, आत्माद्वैतवादी (वेदान्ती), तज्जीव-तच्छरीरवादी, अकारकवादी, आत्मषष्ठवादी, क्षणिकपचस्कन्धवादी, चातुर्धातुकवादी आदि दर्शनकार कहते है कि गृहनिवासी गृहस्थ, वनवासी तापस, पर्वतीय जन, प्रव्रज्या धारण किये हुए सन्यासी आदि हमारे दर्शन मे विश्वास किए हुए नर-नारी समस्त दुखो से मुक्त हो जाते है। पचभूतवादी और तज्जीव-तच्छरीरवादी का यह आशय है कि जो लोग हमारे दर्शन का आश्रय लेते है, वे गृहस्थ रहते हुए शिरो-मुण्डन, दण्डचर्मधारण, जटाधारण, काषायवस्त्र, गुदडीधारण, केशलुचन, नग्न रहना, तप करना आदि दुख रूप शरीर क्लेशो से बच जाते है।[1] जैसा कि वे कहते हैं—

> तपासि यातनाश्चित्रा , सयमो भोगवञ्चनम्।
> अग्निहोत्रादिक कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥

अर्थात् विविध प्रकार के तप तो विचित्र प्रकार से शरीर को यातना देना है, सयम धारण करना भोग से वचित रहना है, तथा अग्निहोत्र आदि कर्म बच्चो के खेल के समान मालूम होते हैं।

मोक्ष को स्वीकार करने वाले साख्यमतवादी आदि ऐसा आश्वासन देते हैं कि अकर्तृत्ववाद, अद्वैतवाद और पचस्कन्धात्मकवाद का प्रतिपादन करने वाले हमारे दर्शन को जो भी गृहस्थ, तापस या वानप्रस्थ सन्यासी या गिरिजन अगीकार कर लेते हैं वे जन्म, मरण, जरा, गर्भ परम्परा तथा अनेकविध शारीरिक एव

---

१ वे शास्त्रविहित कर्मों की इस प्रकार निन्दा भी करते हैं—'त्रयो वेदस्य कर्तारो, भाण्ड-धूर्तनिशाचरा' अर्थात् वेद रचयिता तीन तरह के लोग हैं—भाण्ड, धूर्त और निशाचर (राक्षस)। इस प्रकार वे स्वच्छन्दाचारी इहलौकिक सुखोपभोग करने को ही दुख-मुक्ति का मार्ग बताते हैं।

मानसिक दुखो से मुक्त होकर सब बखेडो से रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—'सव्वदुक्खा विमुच्चई ।'

इस पंक्ति के पीछे शास्त्रकार का यह आशय भी प्रतीत होता है कि वीतराग सर्वज्ञ भगवान महावीर ने जन्म, मरण, जरा, गर्भ परम्परा तथा अनेकविध शारीरिक मानसिक दुखो का कारण कर्मबन्ध को तथा कर्मबन्ध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बताया। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एव तप द्वारा उक्त कर्मबन्धन के कारणो को मिटाकर कर्मबन्धनो से मनुष्य सर्वथा मुक्त हो सकता है, फिर वह चाहे गृहस्थ हो, साधु हो, स्त्री हो, या किसी भी जाति, देश, वेष का साधक हो। इस पर से अन्य दार्शनिको ने अपनी ओर लोगो को खीचने के लिए यही कहना प्रारम्भ किया कि कुछ भी करो, कही भी रहो, हमारे दर्शन (विचारधारा) को स्वीकार करने की देर है, फिर मुक्ति या सब दुखो से मुक्ति तुम्हारे निकट ही है। और कुछ करने-धरने, व्यर्थ ही शरीर को कष्ट मे डालने, इन्द्रियो पर नियन्त्रण करने या मन को मारने की जरूरत नही। दुख-मुक्ति या मुक्ति का नुस्खा बहुत ही आसान है और सस्ता सौदा है।

यही कारण है कि अगली छह गाथाओ मे शास्त्रकार व्यर्थ के गाल बजाने वाले अफलवादियो—इन मतवादियो का बखिया उधेडते हुए कहते है—

मूल

ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एव, न ते ओहतराऽऽहिया ॥२०॥

ते णावि संधि णच्चा ण, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एव, न ते ससारपारगा ॥२१॥

ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एव, न ते गब्भस्स पारगा ॥२२॥

ते णावि सन्धि णच्चा ण, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एव, न ते जम्मस्स पारगा ॥२३॥

ते णावि संधि णच्चा ण, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एव, न ते दुक्खस्स पारगा ॥२४॥

ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारगा ॥२५॥

संस्कृत छाया

ते नाऽपि सन्धि ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जना ।
ये ते तु वादिन एव, न ते ओघन्तरा आख्याता ॥२०॥
ते नाऽपि सन्धि ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जना ।
ये ते तु वादिन एव, न ते ससारपारगा. ॥२१॥
ते नाऽपि सन्धि ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जना ।
ये ते तु वादिन एव, न ते गर्भस्य पारगा ॥२२॥
ते नाऽपि सन्धि ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जना ।
ये ते तु वादिन एव, न ते जन्मन पारगा ॥२३॥
ते नाऽपि सन्धि ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जना ।
ये ते तु वादिन एव, न ते दु खस्य पारगा ॥२४॥
ते नाऽपि सन्धि ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जना ।
ये ते तु वादिन एव, न ते मारस्य पारगा ॥२५॥

अन्वयार्थ

(ते) वे पूर्वोक्त मतवादी—अन्यदर्शनी, (संधि) सन्धि को (णावि) नही (णच्चा) जानकर क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं। (ते जणा) किन्तु वे लोग (धम्मविओ) धर्म के तत्त्वज्ञ (न) नही हैं। (एव) पूर्वोक्त प्रकार के (वाइणो) अफलवाद को मानने और समर्थन करने वाले (जे ते उ) जो अन्यदर्शनी हैं, (ते) उन्हे तीर्थंकर ने (ओहतरा) ससार के प्रवाह को पार करने वाले (न आहिया) नही कहा है ॥२०॥

(ते) वे अन्यदर्शनी मतवादी, (णावि संधि णच्चा) सधि को नही जान कर क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं, (ण ते धम्मविओ जणा) वे धर्म के जानकार नही है। (जे ते उ एव वाइणो) जो इस प्रकार पूर्वोक्त सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते है, (न ते ससारपारगा) वे ससार सागर को पार नही कर सकते ॥२१॥

(ते) वे (संधि) सन्धि को, (ण णच्चा वि) बिना जाने ही क्रिया मे प्रवृत्त होते है। (ते जणा धम्मविओ न) वे लोग धर्म के ज्ञाता नही हैं। (जे ते उ एव वाइणो) जो अन्यदर्शनी ऐसे वादी है (ते गब्भस्स पारगा न) वे गर्भ को पार नही कर सकते ॥२२॥

(ते सधि णावि णच्चा) वे पूर्वोक्त मतवादी सन्धि को न जानकर क्रिया मे प्रवृत्त होते है, (ते जणा धम्मविओ न) वे लोग धर्म के रहस्यज्ञ नही है। (जे ते उ एव वाइणो) जो पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या सिद्धान्त की प्ररूपणा करने वाले अन्यदर्शनी है (ते जम्मस्स पारगा न) वे जन्म को पार नही कर सकते ॥२३॥

(ते सधि णावि णच्चा) वे अन्यतीर्थी सन्धि को जाने बिना ही क्रिया मे प्रवृत्त हो जाते है, (ते जणा धम्मविओ ण) वे लोग धर्मवेत्ता नही हैं। (जे ते उ एव वाइणो) अत जो इस प्रकार के मिथ्या सिद्धान्तो की प्ररूपणा करते हैं, (ते दुक्खस्स पारगा न) वे दुख के पारगामी नही होते ॥२४॥

(ते सधि णावि णच्चा) वे अन्य मतवादी सधि से अनभिज्ञ होकर क्रिया मे जुट जाते हैं, (ते जणा धम्मविओ न) वे लोग धर्म के ज्ञाता नही है। (जे ते उ एव वाइणो) जो पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या मत का प्रतिपादन करते है (ते मारस्स पारगा न) वे मृत्यु को पार नही कर सकते ॥२५॥

भावार्थ

पूर्वोक्त अन्यदर्शनी सधि—ज्ञानावरणीय आदि कर्म विवर को न जानकर ही क्रिया मे प्रवृत्त होते है, ये लोग धर्मज्ञान से रहित है। जो पूर्वोक्त प्रकार से अफलवाद के समर्थक मिथ्यावादी है, उन्हे भगवान महावीर ससार के प्रवाह के पारगामी नही बताते हैं ॥२०॥

वे अन्यदर्शनी सधि को जाने बिना ही क्रिया मे प्रवृत्त होते है। वे लोग धर्म के ज्ञाता नही है। जो पूर्वोक्त मिथ्या सिद्धान्त को मानने वाले मताग्रही है, वे ससार को पार नही कर सकते ॥२१॥

वे अन्यतीर्थी सधि (अवसर या कर्मबन्ध के मेल) को न जान कर ही क्रिया मे प्रवृत्त हो जाते है। वे लोग धर्म के तत्त्वज्ञ नही है। जो पूर्वोक्त मिथ्या मान्यताओ के प्रतिपादक हैं, वे गर्भ मे आगमन को पार नही कर सकते ॥२२॥

वे अन्य मतवादी सधि (ज्ञानावरणीयादि कर्मबन्धन के सयोजन) को जाने बिना ही अधाधुध प्रवृत्ति करते हैं। वे लोग धर्म के रहस्य से अनभिज्ञ है। इस प्रकार से मिथ्या प्ररूपणा करने वाले लोग जन्म (परम्परा) को पार नही कर सकते ॥२३॥

वे अन्य मतावलम्बी लोग सधि (उत्तरोत्तर पदार्थ परिज्ञान) को नही जान कर भी क्रिया मे प्रवृत्त हो जाते है, वे लोग धर्म का सम्यक् निर्णय करने

मे समर्थ नही है। इस प्रकार के मिथ्यामत के शिकार जो अन्यदर्शनी है, वे दुख को पार नही कर सकते ।।२४।।

वे अन्यदर्शनी लोग सन्धि (कर्मबन्धन की रहस्यमय सधि) को जाने बिना ही क्रिया मे प्रवृत्त हो जाते है। वे लोग धर्म के तत्त्वज्ञ नही है। अत जो पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या प्ररूपणा करने वाले है, वे मृत्यु को पार नही कर सकते ।।२५।।

व्याख्या

अन्यदर्शनी लोगो की सधि के विषय मे अनभिज्ञता

'ते णावि सधि णच्चा—इस पक्ति मे 'ते' शब्द उन लोगो के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिनके विषय मे शास्त्रकार पूर्वगाथाओ मे कह आये हैं। वे हैं—पचभूतवादी, आत्माद्वैतवादी, तज्जीव-तच्छरीरवादी, अकारकवादी, आत्मषष्ठवादी, पचस्कधवादी एव चातुर्धातुकवादी बौद्ध आदि-आदि विभिन्न अफलवादी मतो के प्ररूपक। छह गाथाओ मे उन सबकी बन्ध-मोक्ष के विषय मे अनभिज्ञता और अधाधुध क्रिया प्रवृत्ति देखते हुए उनके लिए कहा है कि वे धर्म के ज्ञाता नही हैं तथा वे अपनी मिथ्या विचारधाराओ के मताग्रह के कारण ससार सागर को पार नही कर सकते, न जन्म, मरण, गर्भ, दुख आदि को नष्ट कर सकते हैं। वे ऐसे क्यो हैं? इसका रहस्य हम क्रमश खोल रहे है। इस पक्ति का अर्थ यह है कि वे सधि को जाने बिना ही अधाधुध प्रवृत्ति करते रहते है। इस पक्ति मे 'सधि' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अर्थ-गभीर है। सधि शब्द का यो तो अर्थ होता है—जोड, या मेल। अथवा सधि शब्द का अर्थ संस्कृत व्याकरण के अनुसार सम्यक् प्रकार से धारण करना भी होता है[1]। अथवा सधि का अर्थ छिद्र भी होता है। यहाँ सन्धि विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त है। वह यह है कि शास्त्रकार ने इस अध्ययन की प्रथम गाथा मे बताया है—**किमाह बधण वीरो**। वीर भगवान ने कर्मबन्धन किसे कहा है? जीव उस कर्मबन्धन से मुक्त कैसे हो सकता है? उसी सन्दर्भ मे शास्त्रकार ने यहाँ सन्धि शब्द का प्रयोग किया है। उससे यह द्योतित किया है कि अन्यदर्शनी, ये पूर्वोक्त मतवादी (अफलवादी) कर्मबन्धन और मुक्ति का मेल क्या है? कर्मबन्धन का आत्मा के साथ कहाँ-कहाँ जोड है, मेल है? इस बात को नही जानकर ही वे दुःख-मुक्ति के लिए दौडधूप करते हैं। अथवा कर्मबन्धन के कारणो अथवा आत्मा के साथ कर्मबन्धन की सन्धि कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे, किन कारणो से हो जाती है?

---

१ सम्यग्धीयते इति सन्धि ।

इस बात को वे (अन्यदर्शनी) नही जानते, किन्तु वे कर्मबन्धन से मुक्ति या दु.ख से मुक्ति के लिए अधी दौड लगाते है। आशय यह है कि आत्मा के कर्मबन्धन से रहित होने की सन्धि (रहस्य) को अन्यदर्शनी लोग जाने बिना ही दु ख से मुक्त होने की अधाधुध प्रवृत्ति करते है।

पूर्वगाथाओ मे पचभूतवादी से लेकर पचस्कन्धवादी या चातुर्धातुकवादी बौद्ध तक का स्वरूप बताकर विविध प्रमाणो से उनके मत को मिथ्या सिद्ध किया जा चुका है।

पचभूतवादियो के मत मे कर्मबन्धन तथा उससे मुक्ति के विषय मे घोर अन्धेर है ही। वे पचभूतो से अतिरिक्त किसी आत्मा या कर्मबन्धन, कर्ममुक्ति आदि को मानते ही नही तथा दु ख-मुक्ति के विषय मे उनका जो भोगविलासवादी रुख है वह कितना छिछला है, यह हम पहले बता चुके हैं। यही हाल वेदान्तियो (आत्माद्वैतवादियो) का है। वे भी सारी दुनियाँ की एक सिर्फ एक आत्मा मानकर कर्मबन्ध और उससे मुक्ति को घपले मे डाल देते हैं। वे भी व्यक्तिश आत्मा के कर्मबन्ध और उससे मुक्ति का उपाय नही बता सकते। इसके बाद है—तज्जीव-तच्छरीरवादी। वह भी पचभूतवादियो का भाई है। उनकी दु ख-मुक्ति भी पचभूतवादियो की सी विचित्र ढग की है। इसलिए वे भी आत्मा के साथ कर्मबन्ध की सन्धि और उससे मुक्ति के रहस्य से बिलकुल अनभिज्ञ है। साख्यो का तो आत्मा ही सर्वथा निष्क्रिय, भोगी और अकर्ता है। वह न तो कर्मबन्धन और आत्मा के मेल को भलीभाँति जानता है, और न ही उससे मुक्त होने की बात समझता है। उसका आत्मा तो मूर्ति की तरह निष्क्रिय है। इसलिए वे भी इस सन्धि को जाने-समझे बिना यो ही लकीर के फकीर बने चले जा रहे हैं। आत्मषष्ठवादी आत्मा को तो मानते है, मगर उनका आत्मा सर्वथा कूटस्थनित्य होने के कारण न बन्ध कर सकता है, (हालांकि बन्ध तो होता है) और न मोक्ष के लिए उपाय कर है। इसलिए वे आत्मषष्ठवादी 'वैशेषिक या वेदवादी' तो आत्मा के साथ कर्म की सन्धि या बन्धन के रहस्य से बिलकुल अपरिचित हैं। आत्मा को पचस्कन्धमय मानने वाले अफलवादी हैं, उनके मत से जीव को कृतनाश और अकृताभ्यागम नाम के दोष लगते हैं। चातुर्धातुकवादी बौद्धा का आत्मा ही क्षणस्थायी है, तब वह क्या तो बन्धन को जानेगा और कब उस बन्ध से मुक्ति होगा ? इस प्रकार यह सभी मतवादी आत्मा और कर्म की सन्धि (बन्धन) और उसके जैनदर्शन-मान्य मिथ्यात्वादि पाँच कारणो से बिलकुल अनभिज्ञ होकर बन्धन या दु ख से मुक्ति के नाम से तथाकथित उपाय करते रहते हैं। किन्तु वह तो अन्धे कुएँ मे कूदने के समान प्रवृत्ति है। क्योकि जिस आत्मा को बन्धन से या दु ख से मुक्त कराना चाहते हैं, उस बन्धन या आत्मा के

विषय मे तो दिमाग मे अन्धेरा है। 'प्रथम ज्ञान और फिर क्रिया' वाला सिद्धान्त वे भूल जाते है। यही इस प्रथम पक्ति का आशय है।

न ते धम्मविओ —इस पक्ति मे उन्ही पूर्वोक्त मतवादियो के विषय मे कहा गया है कि वे सन्धि से अनभिज्ञ मतवादी लोग धर्म के तत्त्ववेत्ता नही है। कैसे नही है? इसे बताने के लिए पिछली युक्तियो पर हमे ध्यान देना होगा। जब कर्म-बन्धन और उसके कारणो की सन्धि (रहस्य) को नही जानेंगे-मानेंगे तो आत्मा के धर्म को वे कैसे जानेंगे? शुभाशुभ कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले पुण्य-पाप और उनके परिणामवश प्राप्त होने वाले स्वर्ग-नरक आदि तथा शुद्ध परिणामो एव कर्म-क्षय से प्राप्त होने वाली पचम गति मोक्ष की कोई व्यवस्था नही हो सकेगी। आत्मा का धर्म क्या है? इस बात को भी वे नही जानते। इसीलिए शास्त्रकार ने उनके लिए सूचित किया है—**न ते धम्मविओ जणा।**

जे ते उ वाइणो एव—अब तीसरी पक्ति मे शास्त्रकार यह सूचित करते है कि जिन मिथ्यासिद्धान्तवादियो का हमने पूर्वगाथाओ मे जिक्र किया है, वे अपने सिद्धान्तो के थोथेपन या अयथार्थत्व को जानकर भी, युक्तियो एव प्रमाणा से खण्डित होने पर भी मिथ्याग्रह या पूर्वाग्रहवश स्वय पकडे रखते है, और जगह-जगह अपने मिथ्यामत की डीग हाकते फिरते है। 'एक तो करेला, फिर नीम पर चढा' वाली कहावत के अनुसार अपने मिथ्यात्व एव उसके अभिमान से ग्रस्त होकर अपने मत की झूठी शेखी बघारने वाले वे लोग एक तो मिथ्यात्व और दूसरे उस मिथ्यात्व के जोर-शोर से प्रचार के कारण तथा भोले-भाले हजारो-लाखो लोगो को अपने मिथ्या-मत मे फँसाने के कारण घोर अशुभ (पाप) कर्मबन्ध से छूट नही सकते। उक्त अशुभ (पाप) कर्मबन्ध के फलस्वरूप वे नरक-तिर्यञ्च आदि विविध गतियो एव योनियो मे भटकते हुए नाना प्रकार के दुख भोगते रहते है। बुद्धि मे मिथ्यात्वरूपी अन्धकार होने के कारण उन नरक-तिर्यञ्च योनियो मे भी उन तथाकथित वादियो को सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन प्राय नही मिलता।

यदि कहे कि वे जो अपने जीवन मे अज्ञानवश अनेक तप, जप, क्रियाकाण्ड या कष्टसहन आदि क्रियाएँ करते हैं, क्या उसके फलस्वरूप वे दु ख से मुक्त नही हो सकेंगे? जैन दृष्टि कहती है—वे उक्त क्रियाकाण्डो या तप-जप आदि के फलस्वरूप मन्द कषाय के कारण कदाचित देव योनि प्राप्त कर लें, परन्तु वहाँ भी उन्हें सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन उपलब्ध न होने से वे अज्ञान, मोह, काम, लोभवश अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक दु ख-सुख प्राप्त करते रहते हैं। वहाँ उन्हे इतनी सुख

इस बात को वे (अन्यदर्शनी) नही जानते, किन्तु वे कर्मबन्धन से मुक्ति या दुःख से मुक्ति के लिए अंधी दौड लगाते है। आशय यह है कि आत्मा के कर्मबन्धन से रहित होने की सन्धि (रहस्य) को अन्यदर्शनी लोग जाने बिना ही दु ख से मुक्त होने की अधाधुध प्रवृत्ति करते है।

पूर्वगाथाओ मे पचभूतवादी से लेकर पचस्कन्धवादी या चातुर्धातुकवादी बौद्ध तक का स्वरूप बताकर विविध प्रमाणो से उनके मत को मिथ्या सिद्ध किया जा चुका है।

पचभूतवादियो के मत मे कर्मबन्धन तथा उससे मुक्ति के विषय मे घोर अन्धेर है ही। वे पचभूतो से अतिरिक्त किसी आत्मा या कर्मबन्धन, कर्ममुक्ति आदि को मानते ही नही तथा दु ख-मुक्ति के विषय मे उनका जो भोगविलासवादी रुख है वह कितना छिछला है, यह हम पहले बता चुके है। यही हाल वेदान्तियो (आत्माद्वैतवादियो) का है। वे भी सारी दुनियाँ की एक सिर्फ एक आत्मा मानकर कर्मबन्ध और उससे मुक्ति को घपले मे डाल देते है। वे भी व्यक्तिश आत्मा के कर्मबन्ध और उससे मुक्ति का उपाय नही बता सकते। इसके बाद है—तज्जीव-तच्छरीरवादी। वह भी पचभूतवादियो का भाई है। उनकी दु ख-मुक्ति भी पचभूतवादियो की सी विचित्र ढग की है। इसलिए वे भी आत्मा के साथ कर्मबन्ध की सन्धि और उससे मुक्ति के रहस्य से बिलकुल अनभिज्ञ है। साख्यो का तो आत्मा ही सर्वथा निष्क्रिय, भोगी और अकर्ता है। वह न तो कर्मबन्धन और आत्मा के मेल को भलीभाँति जानता है, और न ही उससे मुक्त होने की बात । है। उसका आत्मा तो मूर्ति की तरह निष्क्रिय है। इसलिए वे भी इस सन्धि को जाने-समझे बिना यो ही लकीर के फकीर बने चले जा रहे हैं। आत्मषष्ठवादी आत्मा को तो मानते है, मगर उनका आत्मा सर्वथा कूटस्थनित्य होने के कारण न बन्ध कर सकता है, (हालाँकि बन्ध तो होता है) और न मोक्ष के लिए उपाय कर सकता है। इसलिए वे आत्मषष्ठवादी 'वैशेषिक या वेदवादी' तो आत्मा के साथ कर्म की सन्धि या बन्धन के रहस्य से बिलकुल अपरिचित है। आत्मा को पचस्कन्धमय मानने वाले अफलवादी हैं, उनके मत से जीव को कृतनाश और अकृताभ्यागम नाम के दोष लगते हैं। चातुर्धातुकवादी बौद्धा का आत्मा ही क्षणस्थायी है, तब वह क्या तो बन्धन को जानेगा और कब उस बन्ध से मुक्ति होगा ? इस प्रकार यह सभी मतवादी आत्मा और कर्म की सन्धि (बन्धन) और उसके जैनदर्शन-मान्य मिथ्यात्वादि पाँच कारणो से बिलकुल अनभिज्ञ होकर बन्धन या दु ख से मुक्ति के नाम से तथाकथित उपाय करते रहते हैं। किन्तु वह तो अन्धे कुएँ मे कूदने के समान प्रवृत्ति है। क्योकि जिस आत्मा को बन्धन से या दु ख से मुक्त कराना चाहते है, उस बन्धन या आत्मा के

विषय मे तो दिमाग मे अन्धेरा है। 'प्रथम ज्ञान और फिर क्रिया' वाला सिद्धान्त वे भूल जाते है। यही इस प्रथम पक्ति का आशय है।

न ते धम्मविओ —इस पक्ति मे उन्ही पूर्वोक्त मतवादियो के विषय मे कहा गया है कि वे सन्धि से अनभिज्ञ मतवादी लोग धर्म के तत्त्ववेत्ता नही है। कैसे नही है ? इसे बताने के लिए पिछली युक्तियो पर हमे ध्यान देना होगा। जब कर्म-बन्धन और उसके कारणो की सन्धि (रहस्य) को नही जानेंगे-मानेंगे तो आत्मा के धर्म को वे कैसे जानेंगे ? शुभाशुभ कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले पुण्य-पाप और उनके परिणामवश प्राप्त होने वाले स्वर्ग-नरक आदि तथा शुद्ध परिणामो एव कर्म-क्षय से प्राप्त होने वाली पचम गति मोक्ष की कोई व्यवस्था नही हो सकेगी। आत्मा का धर्म क्या है ? इस बात को भी वे नही जानते। इसीलिए शास्त्रकार ने उनके लिए सूचित किया है—न ते धम्मविओ जणा।

जे ते उ वाइणो एव—अब तीसरी पक्ति मे शास्त्रकार यह सूचित करते है कि जिन मिथ्यासिद्धान्तवादियो का हमने पूर्वगाथाओ मे जिक्र किया है, वे अपने सिद्धान्तो के थोथेपन या अयथार्थत्व को जानकर भी, युक्तियो एव प्रमाणो से खण्डित होने पर भी मिथ्याग्रह या पूर्वाग्रहवश स्वय पकडे रखते है, और जगह-जगह अपने मिथ्यामत की डीग हाकते फिरते हैं। 'एक तो करेला, फिर नीम पर चढा' वाली कहावत के अनुसार अपने मिथ्यात्व एव उसके अभिमान से ग्रस्त होकर अपने मत की झूठी शेखी बघारने वाले वे लोग एक तो मिथ्यात्व और दूसरे उस मिथ्यात्व के जोर-शोर से प्रचार के कारण तथा भोले-भाले हजारो-लाखो लोगो को अपने मिथ्या-मत मे फँसाने के कारण घोर अशुभ (पाप) कर्मबन्ध से छूट नही सकते। उक्त अशुभ (पाप) कर्मबन्ध के फलस्वरूप वे नरक-तिर्यञ्च आदि विविध गतियो एव योनियो मे भटकते हुए नाना प्रकार के दुख भोगते रहते हैं। बुद्धि मे मिथ्यात्वरूपी अन्धकार होने के कारण उन नरक-तिर्यच योनियो मे भी उन तथाकथित वादियो को सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन प्राय नही मिलता।

यदि कहे कि वे जो अपने जीवन मे अज्ञानवश अनेक तप, जप, क्रियाकाण्ड या कष्टसहन आदि क्रियाएँ करते है, क्या उसके फलस्वरूप वे दु ख से मुक्त नही हो सकेंगे ? जैन दृष्टि कहती है—वे उक्त क्रियाकाण्डो या तप-जप आदि के फलस्वरूप मन्द कषाय के कारण कदाचित देव योनि प्राप्त कर लें, परन्तु वहाँ भी उन्हें सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन उपलब्ध न होने से वे अज्ञान, मोह, काम, लोभवश अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक दु ख-सुख प्राप्त करते रहते हैं। वहाँ उन्हे इतनी सुख

सामग्री मिलने पर भी सुख कहाँ ? इसीलिए शास्त्रकार ने छह गाथाओ मे अलग-अलग प्रकार का कर्मफल उक्त विभिन्न मतवादियो को प्राप्त होने का तथा घोर कर्मबन्धनो से उनकी आत्मशक्ति विकसित न होकर कुण्ठित हो जाने का वर्णन किया है। इसीलिए जैसे—आत्मा की कर्मबन्धनो से मुक्ति के समय होने वाले कर्म-बन्धनो के प्रवाह (ससार प्रवाह) को, ससार को, माता के गर्भ मे बार-बार आगमन को, बार-बार जन्म लेने के दुख को, शारीरिक-मानसिक दुखो को तथा मृत्यु को वह पार नही कर सकता। शास्त्रकार ने इन छह गाथाओ मे से प्रत्येक की तीन पक्तियो मे, एक सरीखी बात सूचित की है, अन्तिम चौथी पक्ति मे 'ओहतराऽऽहिया', ससारपारगा, गब्भस्स पारगा, जम्मस्स पारगा, दुक्खस्स पारगा तथा मारस्स पारगा, कहकर कर्मबन्धन से मुक्त साधक जैसे कर्मबन्धन प्रवाह, ससार, गर्भ, जन्म, मरण, शारीरिक-मानसिक दुख आदि रूप समस्त दुखो को समाप्त कर देता है, वैसे ये पूर्वोक्त मतवादी समाप्त नही कर पाते। क्योकि जब तक कर्म-बन्धन के स्वरूप, कारण, और उनसे छुटकारे के उपाय—मुक्ति-मार्ग का सम्यक् परिज्ञान न हो, मिथ्याग्रहवश मिथ्यात्व मे पिण्ड न छूटे, तब तक कर्मबन्धन के फल-स्वरूप प्राप्त होने वाली इन सब चीजो—ससार, जन्म-मरण, गर्भ, दुख आदि को कोई कैसे समाप्त कर सकेगा ? यहाँ 'पारगा' शब्द (पार तीर समाप्तौ) पार और तीर इन दोनो समाप्त्यर्थक धातुओ से बना है। जिसका अर्थ होता है—समाप्त करने वाले, किनारे तक पहुँचने वाले या किनाराकशी करने वाले। जब तक जीवन मे मिथ्यात्व रहेगा, तब तक चाहे पर्वत पर चला जाय, घोर जंगल मे जाकर ध्यान लगा ले, अनेक कठोर तप करने लगे या कष्टकर विविध क्रियाकाण्ड भी कर ले, वह व्यक्ति जन्म-मरण, ससार, गर्भ, दुख आदि को समाप्त नही कर सकता। इसीलिए उक्त मतवादियो मे मुक्ति, सम्पूर्ण कर्मबन्धनो से मुक्ति, दुखो से सर्वदा तथा सर्वथा मुक्ति की असमर्थता इन छह गाथाओ द्वारा सूचित कर दी है।

अब अगली गाथा मे उन मतवादियो को मिथ्यात्व के कारण होने वाले घोर कर्मबन्धनो का फल क्या और किस प्रकार का मिलता है, इसे बताते है—

मूल

नाणाविहाइ दुक्खाइ, अणुहोंति पुणो-पुणो ।
ससारचक्कवालम्मि, मच्चुवाहिजराकुले ॥२६॥

(त्ति बेमि)

संस्कृत छाया

नानाविधानि दु खान्यनुभवन्ति पुन पुन ।
ससारचक्रवाले मृत्युव्याधिजराकुले ॥२६॥
(इति ब्रवीमि)

अन्वयार्थ

(मच्चुवाहिजराकुलें) मृत्यु, व्याधि और बुढापे से व्याप्त (ससारचक्कवालमि) संसार रूपी (जन्म-मरण के) चक्र मे (पुणो पुणो) वे अन्यदर्शनी मिथ्यात्वग्रस्त बार-बार (नाणाविहाइ) अनेक प्रकार के (दुक्खाइ) दु खो का (अणुहोंति) अनुभव करते हैं।

भावार्थ

वे मिथ्यात्वग्रस्त अन्यदर्शनी मृत्यु, रोग एव वृद्धावस्था से परिपूर्ण इस संसार (जन्म-मरण) के चक्र मे बार-बार अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक दु खो को भोगते है।

व्याख्या

अन्यदर्शनियो को मिलनेवाला भयकर फल

'नाणाविहाइ दुक्खाइ अणुहोंति' पूर्वोक्त छह गाथाओ मे तो उन अन्यदर्शनियों की आत्म-शक्ति की कुण्ठता के कारण गर्भ-जन्म-मृत्यु-ससार-दु ख आदि को काटने की असमर्थता बताई थी, अब इस गाथा मे यह बतलाते हैं कि उन अन्य मतवादियो को इस मृत्यु-व्याधि-जरा से पूर्ण ससारचक्र मे थोडा-सा इन्द्रियजनित क्षणिक वैषयिक सुख तो शायद इस एक मानव जन्म में मिल जाता होगा, लेकिन इसके बाद उक्त घोर मिथ्यात्वग्रस्तता के कारण पुन -पुन भिन्न-भिन्न योनियो मे जन्म लेने के कारण एक ही नही, अनेक एक से एक बढकर भयकर दुखो का सामना करना पडता है। उन गतियों तथा योनियो मे वह सुख की सांस ले नही सकता।

इसका कारण यह है कि एक व्यक्ति तो अज्ञान के कारण स्वय मिथ्यात्व से ग्रस्त रहता है, वह इतना तीव्र कर्मबन्ध नही करता, किन्तु जो मिथ्यात्व के खोटे सिक्के को ससार के बाजार मे खरे सिक्के के रूप मे चलाता है, उसका जनता के सास्कृतिक एव धार्मिक जीवन मे प्रचार-प्रसार करता है, हजारो-लाखो को मुक्ति-दु खमुक्ति का प्रलोभन देकर जान-बूझकर उस असत्य विप का पान कराता है, भला वह इतने घोर दण्ड के बिना कैसे छुटकारा पा सकता है ? इसलिए शास्त्रकार

किसी की लल्लोचप्पो किये बिना खरी-खरी सुना देते है कि ऐसे मिथ्यात्वग्रस्त मतवादी नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देवरूप चारो गतियो से युक्त जन्म-मृत्यु-जरा व्याधि से व्याप्त ससार मे विविध दुखो का अनुभव करते है ।

चारो गतियो मे असातावेदनीय के उदय से कैसे-कैसे दुखो का बार-बार अनुभव करना पडता है, इसे सक्षेप मे बताते है । वे नरक मे आरे से चीरे जाते हैं, कुभीपाक मे पकाये जाते है, गर्म लोहे से चिपटाये जाते हैं, शाल्मली वृक्ष से आलिगन कराये जाते है । तिर्यच गति मे जन्म लेकर शीत, उष्ण, भूख-प्यास, दहन, अकन, ताडन, अतिभारवहन आदि नाना कष्टो को उन्हे सहना पडता है । मनुष्य जन्म मे इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, शोक, रुदन, आदि दुख भोगने पडते हैं और देव गति मे भी जन्म लेकर अभियोगीपन, ईर्ष्या, किल्विषीपन, पतन (च्यवन) आदि नाना प्रकार के दुख भोगने पडते है । क्या सुख है इस ससार मे ? क्षणिक विषय सुख के बाद फिर वही हाय हाय! ऐसे घोर दुखो को भोगते समय कहाँ निश्चिन्तता, और जिज्ञासा भी कैसे पैदा हो सकती है ? तब उस दुखग्रस्त जीव को सम्यग्ज्ञान की जिज्ञासा भी कैसे पैदा हो सकती है ? अत वे मिथ्यात्व से ग्रस्त होकर जाते है, लेकिन विविध गतियो एव योनियो मे भटकने के बाद भी उस जीव के मन-मस्तिष्क को बार-बार मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व का गाढ अधेरा आ घेरता है । इसीलिए शास्त्रकार कहते है—' विहाइ दु अणुहोति' आशय यह है कि वे मिथ्या सिद्धान्त प्ररूपक विविध वादी जन्म-मृत्युरूप ससार मे पूर्वोक्त दु ख बार-बार भोगते है ।

अब इस उद्देशक की अन्तिम गाथा में प्रथम गाथा मे कही हुई बात का उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल

उच्चावयाणि गच्छंता, गब्भमेस्सति णतसो ।
नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे ॥२७॥

छाया

उच्चावचानि गच्छन्तो, गर्भमेष्यन्त्यनन्तश ।
ज्ञातपुत्रो महावीर, एवमाह जिनोत्तम ॥२७॥

अन्वयार्थ

(नायपुत्ते) ज्ञातपुत्र (जिणोत्तमे) वीतरागी=जिनो मे उत्तम (महावीरे) तीर्थंकर महावीर ने (एवमाह) इस प्रकार कहा है कि पूर्वोक्त अ दी अन्य-

दर्शनी (उच्चावयाणि) ऊँच-नीच गतियो मे (गच्छता) गमन करते हुए (णतसो) अनन्त बार (गब्भमेस्सति) माता के गर्भ मे आएँगे या गर्भ को पायेंगे।

भावार्थ

वीतरागियो मे श्रेष्ठ ज्ञातपुत्र तीर्थंकर महावीर ने इस प्रकार कहा है कि पूर्वोक्त अफलवादी विविध उच्च-नीच गतियो मे गमन-भ्रमण करते हुए अनन्त बार माता के गर्भ मे आएँगे।

व्याख्या

सर्वज्ञ ज्ञातपुत्र महावीर द्वारा भविष्यवाणी

इस गाथा मे 'नायपुत्ते महावीरे एवमाह' कहकर सूत्रकार गणधर ने यह नम्रता प्रगट की है कि मैं अपने मुख से इस प्रकार की बात नही कह रहा हूँ। यह बात तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा प्रकट की गई है। गणधर श्री सुधर्मास्वामी अपने सुशिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—मैं यह बात अपनी ओर से नही कहता, अपितु तीर्थंकर की आज्ञा से उनके उपदेशो के आधार पर या तीर्थंकर से साक्षात् जैसा और जितना सुना है वही मैं तुमसे कह रहा हूँ, अपनी बुद्धि से कल्पित करके नही कह रहा हूँ। इस प्रकार आद्योपान्त इस अध्ययन मे वर्णित बातें और इस गाथा मे उक्त बातें भगवान महावीर द्वारा साक्षात् प्रकाशित किये जाने से ये तीन बातें ध्वनित होती हैं—एक तो गणधर श्री सुधर्मास्वामी द्वारा सर्वज्ञ आप्तपुरुष एव उनकी वाणी के प्रति विनय व्यक्त किया गया है, दूसरे, सर्वज्ञ आप्तपुरुष तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित होने से इस वाणी पर प्रामाणिकता की मुहर-छाप लग गई और तीसरे, इससे जनता के हृदय मे इन शास्त्रोक्त बातो पर भली-भाँति विश्वास जम जाता है कि यह अल्पज्ञ द्वारा कही हुई सदिग्ध बात नही है, अपितु सर्वज्ञ द्वारा कथित या उपदिष्ट है। ऐसा न किया जाता तो कोई भी व्यक्ति शास्त्र पाठक से पूछ सकता था कि जिन अन्य दार्शनिको के लिये आपने जो दु ख-मुक्ति की असमर्थता बताई तथा बार-बार विभिन्न योनियो मे जन्म-मरण, गर्भ आदि दुखो का अनुभव करने या नरकादि मे जाने अथवा अनन्त बार गर्भ मे आने की जो बातें कही गई, वे तुम्हारी कही हुई हैं या सर्वज्ञ आप्तपुरुष की ? यदि तुम्हारे द्वारा कही गई है, तब तो इसमे किसी को भी शका करने या आक्षेप लगाने की गु जाइश बनी रहेगी। अल्पज्ञ कथित बात मे लोगो को सन्देह भी हो सकता है, लेकिन यह अध्ययन मूल मे सर्वज्ञोक्त होने पर किसी को भी किसी बात मे सन्देह करने का अवसर नही रहता। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—'नायपुत्ते महावीरे एवमाह जिणोत्तमे।'

किसी की लल्लोचप्पो किये बिना खरी-खरी सुना देते है कि ऐसे मिथ्यात्वग्रस्त मतवादी नरक-तिर्यच-मनुष्य-देवरूप चारो गतियो से युक्त जन्म-मृत्यु-जरा व्याधि से व्याप्त ससार मे विविध दुखो का अनुभव करते है ।

चारो गतियो मे असातावेदनीय के उदय से कैसे-कैसे दुखो का बार-बार अनुभव करना पडता है, इसे सक्षेप मे बताते हैं । वे नरक मे आरे से चीरे जाते है, कुभीपाक मे पकाये जाते है, गर्म लोहे से चिपटाये जाते हैं, शाल्मली वृक्ष से आलिगन कराये जाते हैं । तिर्यच गति मे जन्म लेकर शीत, उष्ण, भूख-प्यास, दहन, अकन, ताडन, अतिभारवहन आदि नाना कष्टो को उन्हे सहना पडता है । मनुष्य जन्म मे इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, शोक, रुदन, आदि दुख भोगने पडते है और देव गति मे भी जन्म लेकर अभियोगीपन, ईर्ष्या, किल्विषीपन, पतन (च्यवन) आदि नाना प्रकार के दुख भोगने पडते है । क्या सुख है इस ससार मे ? क्षणिक विषय सुख के बाद फिर वही हाय हाय! ऐसे घोर दुखो को भोगते समय कहाँ निश्चिन्तता, और जिज्ञासा भी कैसे पैदा हो सकती है ? तब उस दुखग्रस्त जीव को सम्यग्ज्ञान की जिज्ञासा भी कैसे पैदा हो सकती है ? अत वे मिथ्यात्व से ग्रस्त होकर जाते है, लेकिन विविध गतियो एव योनियो मे भटकने के बाद भी उस जीव के मन-मस्तिष्क को बार-बार मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व का गाढ अधेरा आ घेरता है । इसीलिए शास्त्रकार कहते है—'नाणाविहाइ दु अणुहोंति' आशय यह है कि वे मिथ्या सिद्धान्त प्ररूपक विविध वादी जन्म-मृत्युरूप ससार मे पूर्वोक्त दु ख बार-बार भोगते है ।

अब इस उद्देशक की अन्तिम गाथा मे प्रथम गाथा मे कही हुई बात का उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते है—

मूल

उच्चावयाणि गच्छंता, गब्भमेस्सति णतसो ।
नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे ॥२७॥

त छाया

उच्चावचानि गच्छन्तो, गर्भमेष्यन्त्य ।
ज्ञातपुत्रो महावीर, एवमाह जिनोत्तम ॥२७॥

अन्वयार्थ

(नायपुत्ते) ज्ञातपुत्र (जिणोत्तमे) वीतरागी=जिनो मे उत्तम (महावीरे) तीर्थंकर महावीर ने (एवमाह) इस प्रकार कहा है कि पूर्वोक्त अ दी अन्य-

दर्शनी (उच्चावयाणि) ऊँच-नीच गतियो मे (गच्छता) गमन करते हुए (णतसो) अनन्त वार (गब्भमेस्सति) माता के गर्भ मे आएँगे या गर्भ को पायेंगे।

भावार्थ

वीतरागियो मे श्रेष्ठ ज्ञातपुत्र तीर्थंकर महावीर ने इस प्रकार कहा है कि पूर्वोक्त अफलवादी विविध उच्च-नीच गतियो मे गमन-भ्रमण करते हुए अनन्त वार माता के गर्भ मे आएँगे।

व्याख्या

सर्वज्ञ ज्ञातपुत्र महावीर द्वारा भविष्यवाणी

इस गाथा मे 'नायपुत्ते महावीरे एवमाह' कहकर सूत्रकार गणधर ने यह नम्रता प्रगट की है कि मैं अपने मुख से इस प्रकार की बात नही कह रहा हूँ। यह बात तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा प्रकट की गई है। गणधर श्री सुधर्मास्वामी अपने सुशिष्य जम्बूस्वामी से कहते है—मैं यह वात अपनी ओर से नही कहता, अपितु तीर्थंकर की आज्ञा से उनके उपदेशो के आधार पर या तीर्थंकर से साक्षात् जैसा और जितना सुना है वही मैं तुमसे कह रहा हूँ, अपनी वुद्धि से कल्पित करके नही कह रहा हूँ। इस प्रकार आद्योपान्त इस अध्ययन मे वर्णित वातें और इस गाथा मे उक्त वातें भगवान महावीर द्वारा साक्षात् प्रकाशित किये जाने से ये तीन बातें ध्वनित होती है—एक तो गणधर श्री सुधर्मास्वामी द्वारा सर्वज्ञ आप्तपुरुष एव उनकी वाणी के प्रति विनय व्यक्त किया गया है, दूसरे, सर्वज्ञ आप्तपुरुष तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित होने से इस वाणी पर प्रामाणिकता की मुहर-छाप लग गई और तीसरे, इससे जनता के हृदय मे इन शास्त्रोक्त बातो पर भली-भाँति विश्वास जम जाता है कि यह अल्पज्ञ द्वारा कही हुई सदिग्ध बात नही है, अपितु सर्वज्ञ द्वारा कथित या उपदिष्ट है। ऐसा न किया जाता तो कोई भी व्यक्ति शास्त्र पाठक से पूछ सकता था कि जिन अन्य दार्शनिको के लिये आपने जो दु ख-मुक्ति की असमर्थता बताई तथा बार-बार विभिन्न योनियो मे जन्म-मरण, गर्भ आदि दुखो का अनुभव करने या नरकादि मे जाने अथवा अनन्त बार गर्भ मे आने की जो बातें कही गई, वे तुम्हारी कही हुई है या सर्वज्ञ आप्तपुरुष की ? यदि तुम्हारे द्वारा कही गई है, तब तो इसमे किसी को भी शका करने या आक्षेप लगाने की गु जाइश बनी रहेगी। अल्पज्ञ कथित बात मे लोगो को सन्देह भी हो सकता है, लेकिन यह अध्ययन मूल मे सर्वज्ञोक्त होने पर किसी को भी किसी बात मे सन्देह करने का अवसर नही रहता। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—'नायपुत्ते महावीरे एवमाह जिणोत्तमे।'

वियाणि · णतसो—इस पंक्ति मे बताया गया है कि पूर्वोक्त मत-वादियो को कोई एक ही जन्म ले कर नही रहना होगा, बल्कि अनेक उच्च-नीच (स्थानो) गतियो एव योनियो मे बार-बार परिभ्रमण करते हुए वे एक-दो बार नही, अनन्त बार माता के गर्भ को प्राप्त करेंगे ।

जो व्यक्ति राग-द्वेष-रहित है, विश्वहितैषी है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, नि.स्पृह है, त्यागी है, उसकी वाणी से किसी के प्रति किसी प्रकार से द्वेष-रोष या घृणा-वैर से सम्पृक्त कोई भी वचन नही निकलता । वे क्यो किसी के प्रति द्वे या वैरवश वचन निकालेगे ? उन्होने अपने ज्ञान मे जैसा भी उन पूर्वोक्त वादियो का अन्धकारमय भविष्य देखा, वैसा ही उन्होने प्रकट कर दिया । उन्होंने किसी का व्यक्तिगत नाम लेकर ये बातें नही कही, बल्कि अमुक-अमुक गलत सिद्धान्त प्ररूपणा करने वालो के लिये समुच्चय रूप मे कही है । इसीलिए शास्त्रकार तीर्थंकर की ओर से इस उद्देशक का उपसहार करते हुए कहते हैं—

त्ति बेमि ।

इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

पढमज्झयणे पढमो उद्देशो त्तो ॥

इस प्रकार सूत्रकृताग सूत्र के प्रथम अध्ययन का प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण हुआ । सूत्रकृताग के अध्ययन के प्रथम उद्देशक की 'अमरसुखबोधिनी' व्याख्या भी सम्पूर्ण हुई ।

❀

प्रथम अध्ययन : द्वितीय उद्देशक

परस -वक्तव्यताधिकार

प्रथम उद्देशक मे स्वसमय और परसमय का निरूपण किया गया। इसी प्रकार दूसरे उद्देशक मे भी स्वसमय-परसमय का वर्णन किया जा रहा है। वैसे तो पहला अध्ययन ही स्वसमय-परसमय-वक्तव्यता का है। पहले उद्देशक मे भूतवादी आदि का मत बताया गया है, और दूसरे उद्देशक मे अदृष्ट नियतिवादी आदि मिथ्यादृष्टिसम्पन्न दार्शनिको का मत बताया गया है। प्रथम उद्देशक मे 'बुज्झिज्जत्ति' आदि बोध-सूत्रो के द्वारा कहा गया है कि जीव को पहले बोध प्राप्त करना चाहिये। आत्मस्वरूप का बोध होते ही बन्धन का स्वरूप जानकर उसे तोडना चाहिये।

अत आत्म-स्वरूप के बोध के साथ-साथ 'वन्धन' के सम्वन्ध मे किस दार्शनिक ने क्या कहा है ? किसने बन्धन को माना है, किसने नही ? इन सब बातो का बोध करना आवश्यक है। इसलिए शास्त्रकार अब नियतिवादी आदि ने क्या कुछ कहा है, वह क्रमश बताते है—

मूल पाठ

आघाय पुण एगेसि, उववण्णा पुढो जिया।
वेदयंति सुह दुक्खं, अदुवा लुप्पति ठाणउ ॥१॥

सं छाया

आख्यात पुनरेकेषामुपपन्ना. पृथग्जीवा ।
वेदयन्ति सुख दु खमथवा लुप्यन्ते स्थानत ॥१॥

र्थ

(पुण) फिर (एगेसि) किन्ही मतवादियो का (आघाय) कहना है कि (ति) जीव (पुढो) पृथक् पृथक् है, (उव) यह युक्ति से सिद्ध है। (सुह दुक्ख) वे जीव पृथक्-पृथक् ही (अपना-अपना) सुख-दु ख (वेदयन्ति) भोगते हैं, (अदुवा) अथवा (ठाणउ) अपने स्थान से अन्यत्र (लुप्पति) जाते हैं।

र्थ

फिर किन्ही मतवादियो ने यह भी मन्तव्य प्रतिपादित किया है कि ससार मे सभी जीव (आत्मा) पृथक्-पृथक् है, यह युक्ति से सिद्ध होता है, तथा वे जीव अपने-अपने अलग-अलग सुख-दु ख का अनुभव करते है; अथवा एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे जाते है।

व्याख्या

नियतिवादियो के मत का निरूपण

इस गाथा मे नियतिवादी दार्शनिको के मत का स्वरूप बताया जा रहा है। पहले उद्देशक मे पचभूतात्मवाद, तज्जीव-तच्छरीरवाद, पचस्कन्धवाद, आत्माद्वैत-वाद, अकारकवाद, चातुर्धातुकवाद आदि बताये गये हैं। इन वादो से विलक्षण एव विपरीत दूसरे उद्देशक मे युक्तिसगत यथार्थ वस्तुस्वरूप नियतिवाद के द्वारा या गया है।

नियतिवाद का आत्मा के सम्बन्ध मे क्या मन्तव्य है ? इसे प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार ने कहा 'जिया पुढो उववण्णा' अर्थात् इस ससार मे सभी जीव अपना-अपना अलग अस्तित्व रखते हैं, यह बात प्रत्यक्ष, अनुमान एव युक्तियो से सिद्ध होती है। इस कथन से पचभूतात्मवाद या तज्जीव-तच्छरीरवाद का खण्डन हो जाता है। नियतिवादियो के द्वारा प्रत्येक आत्मा के पृथक अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए ' न्ति सुह दुक्ख, अदुवा लुप्पति ठाणउ' कहा गया है। आशय यह है कि जब तक पृथक-पृथक आत्मा नही मानी जायगी, तब तक जीव अपने द्वारा कृत कर्मबन्ध के प प्राप्त होने वाला सुख-दु ख भी नही भोग सकेगा। और फिर शुभा-शुभ कर्मफल के रूप मे सुख या दु ख भोगने के लिए एक शरीर, एक गति या एक योनि को छोडकर दूसरे शरीर, दूसरी गति और दूसरी योनि मे जाना नही हो सकेगा, क्योकि जीवो की पृथक-पृथक सत्ता नही मानी जायेगी तो उन सुख-दु खो को भोगने के लिए कौन कहाँ जायेगा ? यह भी सिद्ध नही हो सकेगा। यह कथन भी अनुभव और युक्तियो से सिद्ध है। जीवगण अपने-अपने कर्मो के अनुसार स्वर्ग-

नरक आदि पदो या शरीरो मे जन्म धारण करते हैं, इस कथन से आत्माद्वैतवादी के मत का खण्डन हो जाता है। युक्ति से पृथक-पृथक जीव इसलिए भी सिद्ध है कि ससार के जीवो मे कोई अधिक सुखी है, कोई कम सुखी है, कोई अधिक दु खी है, कोई कम दु खी। वे अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दु ख भोगते देखे जाते है। इस कथन से पञ्चस्कन्ध या चतुर्धातु से भिन्न आत्मा को न मानने वाले बौद्धो के मत का खण्डन समझ लेना चाहिए। वे जीव प्रत्येक शरीर मे अलग-अलग निवास करते हुए सुख-दु ख भोगते है। प्रत्येक प्राणी के अनुभव से सिद्ध सुख-दु खरूप फलभोग को हम झुठला नही सकते। इस उक्ति से आत्मा को कर्ता न मानने वाले मत-वादियो के मत का खण्डन समझ लेना चाहिए, क्योकि पुण्य-पाप का कर्ता तथा विकारयुक्त आत्मा न होने पर सुख-दु खरूप फलभोग नही हो सकता। अथवा वे प्राणी सुख-दु ख को भोगते हैं और अपना आयुष्य पूर्ण होते ही वर्तमान शरीर से अलग हो जाते हैं अर्थात् एक भव, एक शरीर को छोडकर दूसरे भव, या शरीर को चले जाते है, इस अनुभव को भी हम मिथ्या नही कह सकते। इस प्रकार जीवो के एक भव से दूसरे भव मे जाने का भी निषेध नही किया जा सकता। यही शास्त्र-कार का आशय है।

प्रश्न होता है कि नियतिवाद का आत्मा के सम्बन्ध मे शास्त्रकार द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण यथार्थ है और जैनदर्शन भी तो अनेक आत्मा, आत्मा का पृथक अस्तित्व, आत्मा का सुख-दु खरूप फलभोग तथा उसे भोगने के लिए परलोकगमन आदि बातें इसी रूप मे मानता है, फिर नियतिवाद का खण्डन करने के लिए शास्त्र-कार ने इस गाथा मे उपक्रम क्यो किया? इसके समाधान मे यह कहा जा सकता है कि नियतिवाद जहाँ तक अनुकूल है, वहाँ तक तो उसका वैसा सत्यस्वरूप बताना ही चाहिए, किन्तु एकान्त नियतिवाद के जो दोष हैं, उनका खण्डन शास्त्रकार ने अगली दो गाथाओ मे किया है। जैनदर्शन की दृष्टि आलोचक या दोष-दृष्टि नही है, वह वस्तुस्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन करता है। विविध प्रमाणो और नयो की दृष्टि से किसी भी वाद, मत या तत्त्व को तौल कर ही वह अपना निर्णय देता है। यही कारण है कि इस गाथा मे नियतिवाद का जो सत्याश है, उसका कथन किया और अगली दो गाथाओ मे उसके असत्याश का वर्णन कर रहे हैं—

मूल

न त सयं ं दुक्ख, कओ अन्नकड च ण ?।
सुह वा जइ वा दुक्खं, सेहिय वा असेहिय ॥२॥

सयं कड न अण्णेहिं, वेदयन्ति पुढो जिया ।
सगइअ तं तहा तेसिं, इहमेगेसि आहियं ॥३॥

स छाया

न तत् स्वयकृत दु ख, कुतोऽन्यकृतञ्च ? ।
सुख वा यदि वा दु ख, सैद्धिकवाऽसैद्धिकम् ॥२॥
स्वय कृत नाऽन्यैर्वेदयन्ति पृथग्जीवा ।
सागतिक तत्तथा तेषामिहैकेषामाख्यातम् ॥३॥

अन्वयार्थ

(त) वह (दुक्ख) दु ख (सय कड) स्वय किया हुआ (न) नही है। (अन्न कड) दूसरे का किया हुआ (कओ) कहाँ से हो ा है ? (सेहिय) सिद्धि से उत्पन्न (वा असेहिय) अथवा सिद्धि के बिना उत्पन्न (सुह वा) सुख अथवा (दुक्ख) दु ख, जिसे (जिया) जीव (पुढो) पृथक-पृथक (वेदयति) भोगते है (सय) स्वय अथवा (अन्नेहिं) दूसरो के द्वारा (कड न) किया हुआ नही है। (त) वह (तेसिं) उनका (तहा) वैसा (सगइअ) नियतिकृत है, (इह) इस जगत मे ऐसा (एगेसिं) किन्ही मतवादियो का (आहिय) कथन है।

ार्थ

वह दु ख स्वय के द्वारा किया हुआ जब नही है, तो दूसरे के द्वारा किया हुआ कैसे हो सकता है ? विभिन्न प्राणी जो सुख या दु ख अलग-अलग भोगते हैं, वे सुख-दु ख चाहे सिद्धि मे उत्पन्न हुए हो या सिद्धि के बिना उत्पन्न हुए हो, वे उसके अपने किए हुए नही है, और न ही दूसरो के द्वारा किये हुए है। उनका वह सुख या दु ख नियतिकृत ही होता है, ऐसा किन्ही (नियतिवादियो) का कथन है।

व्याख्या

नियतिवादियों का मिथ्या-

इससे पहले की गाथा मे नियतिवाद का आत्मा के विषय मे जो कथन था, वह किसी अपेक्षा से युक्तिसगत था, परन्तु अब इन दो गाथाओ मे जो प्ररूपण है, वह उनके एकान्त मिथ्याग्रह को सूचित करता है। नियतिवादियो का कहना यह है कि इस ससार मे समस्त प्राणियो के द्वारा जो सुख-दु ख, जन्म-मरण, एक भव से

दूसरे भव मे गमनागमन आदि का जो कुछ अनुभव किया जाता है, वह उनके अपने पुरुषार्थ से निष्पादित नही है—स्वकृत नही है। यहाँ गाथा मे कारण मे कार्य का उपचार करके 'दु ख' शब्द से दु ख का कारण ही कहा गया है। दु ख शब्द उपलक्षण है, इसलिए इससे सुख आदि अन्य बातो का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। कहने का आशय यह है कि यह जो जीवो को सुख-दु ख का अनुभव होता है, वह उनके उद्योगरूप कारण से उत्पन्न किया हुआ नही है। यदि अपने-अपने उद्योग के प्रभाव से सुख-दु ख आदि मिले, तब तो सेवक, किसान और वणिक् आदि का उद्योग एक सरीखा होने पर उनके फल मे विभिन्नता या फल की अप्राप्ति नही होनी चाहिए, किन्तु इसके विपरीत यह देखा जाता है कि किसी को विशिष्ट फल की प्राप्ति नही होती और किसी वणिक् को बहुत उत्तम फल मिलता है, किसान को पुरुषार्थ के अनुरूप फल नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि अपने पुरुषार्थ से व्यक्ति को सुख-दु ख रूप फल नही मिलता।

इसी प्रकार काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म आदि के प्रभाव से जीवो को सुख-दु खरूप फल नही मिलते, अर्थात् काल आदि अन्य कारको द्वारा कृत भी जीवो के सुख-दु ख आदि नही हो सकते।

शका—पुरुषार्थ यदि कार्य के प्रति कारण नही है तो न सही, काल तो सर्व का कर्ता है। काल ही सारे विश्व की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय का कारण है। महाभारत मे कहा गया है—'काल ही समस्त भूतो को परिपक्व बनाता है, काल ही प्रजा का सहार करता है, काल ही सोते हुए जगत् के जीवो मे स्वय जागता रहता है, काल के सामर्थ्य का उल्लघन नही किया जा सकता।'[1] काल ही समस्त कार्यो का जनक है। यही जगत् का आधार है।[2] कालवादियो के मत से यह आत्मा स्वरूप से विद्यमान है, नित्य है। सारा जगत् कालकृत है। काल के बिना चम्पा, अशोक, आम आदि वनस्पतियो मे फूल तथा फलो का लगना, कुहरे से जगत् को धूमिल करने वाला हिमपात, नक्षत्रो का सचार, गर्भाधान, वर्षा आदि ऋतुओ का समय पर आगमन, बाल, यौवन एव वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ, ये सब काल के प्रतिनियत विभाग से ही सम्बन्ध रखते हैं। मूंग की दाल का परिपाक भी कालक्रम से होता है। काल आने पर ही देवताओ का च्यवन होता है, काल आने पर ही असुर व सर्प नष्ट

---

१ काल पचति भूतानि, काल सहरते प्रजा।
काल सुप्तेषु जागर्ति, कालोहि दुरतिक्रम ॥ —हारीत स०

२ जन्माना जनक कालो, जगतामाश्रयो मत ।

होते है, राजा एव सभी जीव काल आने पर समाप्त हो जाते हैं।[1] जो कुछ भी कर्म वर्तमान मे हम देख रहे है, उन सबका प्रवर्तक काल है। काल ही उनका प्रतिपालक है, वही सहर्ता है। जो भी अतीत, अनागत या वर्तमान भाव प्रवृत्त हो रहे हैं, वे सब काल द्वारा निर्मित है। सुख-दु ख, भाव-अभाव आदि सब काल मूलक है।[2] देवर्षि, सिद्ध और किन्नर सभी काल के वश मे है। काल ही भगवान है, देव है, साक्षात् परमेश्वर है।[3] इसलिए काल ही सब कार्यों का कर्ता है।

समाधान—यह कथन युक्तिसगत नही है। काल सर्वव्यापक और एक है, यदि यही कर्ता होता तो कार्यो मे भेद न दिखाई देता। विविध कारणो के भेद से कार्यों मे भद होता है, लेकिन जहाँ एक ही कारण हो, वहां कार्यो मे भद नही हो सकता। यदि काल ही एक मात्र सर्व कार्यों का कारण होता तो ग्रीष्म और शरद् आदि काल भेद से अथवा तन्तु-कपाल आदि के भेद से कार्यों मे जो भेद दृष्टिगोचर होता है, वह नही होना चाहिए। अत यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण काल को कार्यों का कारण नही माना जा ा।

इसी प्रकार ईश्वर भी सुख-दु ख आदि कर्ता नही हो सकता। क्योकि यह प्रश्न उठेगा कि वह ईश्वर मूर्त है अमूर्त ? मूर्त मानना तो उचित नही, क्योकि ईश्वर यदि मूर्त होगा तो हम लोगो के समान ही देहादिमान् होने से सबका कर्ता नही हो सकेगा। क्योकि देहधारी पुरुष देह मे सीमित होने से मूर्त होकर सभी कार्य नही कर सकेगा। ईश्वर को आकाश की तरह माना जाय तो वह सदा-सर्वदा क्रिया-रहित ही रहेगा। जो निष्क्रिय होता है, वह किसी कार्य का कर्ता नही होता। फिर यह शका भी होगी कि ईश्वर रागादिमान् है या वीतराग ? यदि रागादियुक्त ईश्वर है तो वह हम लोगो के समान होने से जगत्कर्ता नही हो सकता। यदि वह वीतराग है तो किसी को सुरूप किसी को कुरूप, धनाढ्य-निर्धन, विद्वान-मूर्ख आदि विचित्र जगत् को नही रच सकता। ईश्वर को कर्ता मानने पर उसमे निर्दयता, पक्षपात, अन्याय आदि अनेक दोषापत्तियाँ आ जाएँगी। फिर वह ईश्वर स्वार्थ से प्रेरित होकर जगत् को बनाता है, या करुणा से प्रेरित होकर ? प्रथम विकल्प मे

---

१ काले देवा विनश्यन्ति, काले चासुरपन्नगा।
नरेन्द्रा सर्वजीवाश्च, काले सर्वे विनश्यति ॥ —हारीत स०

२ अतीतानागता ये भावा, ये च वर्तन्ते साम्प्रतम्।
तान्कालनिर्मितान् बुद्ध्वा, न सज्ञा हातुमर्हति ॥ —महाभारत

३. कालस्य वशगा सर्वे, देवर्षि सिद्ध किन्नरा।
कालोहि भगवान्देव, स साक्षात्परमेश्वर ॥ —हारीत स०

'आत्म काम०' इत्यादि श्रुति से विरोध आएगा। अर्थात् जो आत्मकाम यानी कृत कृत्य हो चुका है, उसे कुछ भी तो करना शेष नही रहा है, कृतकृत्य को जगत् रचना करके कुछ भी पाना नही है। अत ईश्वर स्वार्थ प्रेरित होकर जगत् की रचना करता है, यह कथन मिथ्या है। करुणा से प्रेरित होकर वह जगत की रचना करता है, यह भी मिथ्या दृष्टि है। क्योकि जीव आखिर दुखी कब होते है? सृष्टि रचना के पश्चात् ही तो वे दुखी हो सकते है। सृष्टि के अभाव मे दुख के कारण शरीर आदि जीवो के होते ही नही, तब तज्जन्य दुख कैसे होगा? अत ईश्वर को सृष्टि-कर्ता मानने मे अन्योन्याश्रय दोष आता है। पहले सृष्टि रचना हो, तब प्राणियो को दुखी देखकर ईश्वर को करुणा पैदा हो, और जब करुणा पैदा हो तब जाकर ईश्वर सृष्टि रचे। इसीलिए तो गीता मे कहा है—ईश्वर मे कर्तृत्व नही है, वह कर्म और कर्मफल के सयोग नही कराता, यह सब स्वभाव से ही होता है।[1] ईश्वर किसी के पुण्य या पाप को ग्रहण नही करता। जीवो का ज्ञान अज्ञान से आवृत हो जाता है, इसी कारण वे मूढ हो जाते हैं।[2] अत ये सब सुख-दुख आदि ईश्वरकृत नही है।

शका—स्वभाव को सुख-दुख का कर्ता मानने मे क्या दोष है? क्योकि स्वभाववादियो का कथन है—सारी सृष्टि और उसके कार्यो का कारण स्वभाव है। ससार मे सभी शुभ-अशुभ सुख-दुख आदि स्वभाव से होते है। सभी कार्य स्वभाव से होते हैं, अत प्रयत्न निष्फल है। इन्द्रियो का अपने-अपने विषयो मे नियतरूप से सचार स्वभाव से होता है। किसी जीव को बुढापा या पीडा का सयोग भी स्वभाव से होता है, उसमे प्रयत्न क्या करेगा?[3] सभी पदार्थ अपने-अपने परिणमनस्वभाव के कारण ही उत्पन्न होते हैं। वस्तुओ का स्वभाव स्वत, परिणति करने का है। उदाहरणार्थ—मिट्टी से घडा ही बनता है, कपडा नही।[4] सूत से कपडा ही बनता है, घडा नही। यह प्रतिनियत कार्यकारणभाव स्वभाव के बिना नही बन सकता। इसलिये सारा जगत् अपने स्वभाव से ही निष्पन्न है। कहा भी है—

---

१ न कर्तृत्व न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु।
न कर्मफल सयोग, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ —गीता

२ नादत्ते कस्यचित् पाप, न चैव सुकृत विभु।
अज्ञानेनावृत ज्ञान, तेन मुह्यन्ति जन्तव॥ —गीता

३ यदिन्द्रियाणा नियत प्रचार प्रियाप्रियत्व विषयेषु चैव।
सुयुज्यते यज्जरयार्तिभिश्च कस्तत्र यत्नो ननु स स्वभाव॥ —बुद्ध च०

४ तुल्ये तत्र मृद कुम्भो, न पटादिकम्। —शास्त्रवा०

क कण्टकाना प्रकरोति तैक्ष्ण्य, विचित्रभाव मृगपक्षिणा च ।
स्वभावत सर्वमिद प्रवृत्त, न कामचारोऽस्ति कुत प्रयत्न ? ॥

अर्थात्—यह सारा ससार स्वभाव से ही अपनी सारी प्रवृत्ति कर रहा है। इसमे किसी की इच्छा या प्रयत्न का कोई हस्तक्षेप नही है। बताओ कांटो मे तीक्ष्णता-नुकीलापन किसने पैदा किया ? हरिण और पक्षियो के विचित्र स्वभाव किसने किये ? पक्षियो के अनेक रग के पख, उनकी मधुर कूजन, हरिणो की सुन्दर आँखे, उनका छलागे भर कर कूदना-फाँदना, ये सब स्वभाव से ही तो है। इसी प्रकार स्वभाव से ही सारे प्राणी प्रवृत्ति करते है। स्वभाव से ही किसी कार्य से निवृत्त होते हैं। इसलिये सच्चा द्रष्टा एव विचारक वही है जो 'मैं करता हूँ', इस प्रकार के अहकर्तृत्व से विरत होता है।[1] हरिणियो की आँखो मे कौन अजन आँजता है ? मोर को सुन्दर एव रग-बिरगे परो से कौन सुशोभित करता है ? कमलो मे पत्तो का एक जगह सचय कौन करता है ? या कुलीन व्यक्तियो मे कौन विनयभाव धारण कराता है ? यह सब स्वभाव से ही होता है।[2] अन्य कार्यों की बात तो जाने दो, समय, पतीली, ईंधन, आग आदि सभी सामग्री होते हुए भी कोरडू मूग नही पकता। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिसमे पकने का स्वभाव होता है, वही पक सकता है, अन्य नही। इस तरह स्वभाव के साथ अन्वयव्यतिरेक होने से समस्त कार्य स्वभावकृत ही समझना चाहिये।

समाधान—स्वभाववादियो की ये सब युक्तियाँ सत्यसगत नही हैं। क्योकि स्वभाव सुख-दु ख का कर्ता नही हो सकता। हम पूछते है कि वह स्वभाव पुरुष से भिन्न है अभिन्न ? यदि स्वभाव पुरुष से भिन्न है, तो वह पुरुष के सुख-दु खो को नही उत्पन्न कर सकता, क्योकि वह पुरुष से भिन्न है। यदि स्वभाव पुरुष से भिन्न नही है तो वह पुरुष ही है और पुरुष सुख-दु ख का कर्ता नही है, यह नियतिवादियो द्वारा पहले कहा जा चुका है। कर्म भी सुख-दु ख का कर्ता नही हो सकता, क्योकि यहाँ भी प्रश्न होगा—वह कर्म पुरुष से भिन्न है अथवा अभिन्न ? यदि कर्म पुरुष से अभिन्न है, तब तो वह पुरुष मात्र ही है। इस पक्ष मे पुरुष सुख-दु ख का कर्ता नही है, यह पूर्वोक्त दोष आता है। यदि कर्म पुरुष से भिन्न है, तो वह सचेतन है

१ स्वभावत प्रवृत्ताना, निवृत्ताना ।
नाऽह कर्तेति भूताना, य पश्यति स पश्यति ॥

२ केनाञ्जितानि नयनानि मृगागनानाम्, कोऽलकरोति रुचिरागरुहान् मयूरान् ।
कश्चोत्पलेषु दलसन्निचय करोति, को वा ददाति विनय कुलजेषु पुस्सु ।
—नन्दीमलय०

या अचेतन ? यदि सचेतन है तो एक शरीर मे दो चेतन मानने पडेंगे। यदि कर्म अचेतन है तो वह पाषाण खण्ड के समान स्वय परतन्त्र है, फिर वह सुख-दु ख का कर्ता कैसे हो सकता है ?

इसलिये पुरुष, काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म ये सब सुख-दु ख के कर्ता नही हैं, यह सिद्ध हुआ।

'सेहिय असेहिय वा'—ये दोनो विशेषण सुख के हैं—एक सुख तो सैद्धिक है, दूसरा है—असैद्धिक। जो सुख सिद्ध यानी मुक्ति मे उत्पन्न होता है, उसे सैद्धिक सुख कहते है। इसके विपरीत जो सुख असिद्धि यानी ससार का है, ससार मे जो सातावेदनीय के उदय से सुख उत्पन्न होता है, उसे असैद्धिक सुख कहते है। अन्यथा सुख और दु ख दोनो ही सैद्धिक और असैद्धिक रूप से दोनो तरह के होते है। पुष्प माला, चन्दन, सुन्दर अगना आदि उपभोगरूप सिद्धि से उत्पन्न सुख सैद्धिक है, तथा चाबुक से मारना, और गर्म लोहे से दागना आदि सिद्धि से उत्पन्न दु ख सैद्धिक है। एव जिसका बाह्य कारण ज्ञात नही है, ऐसा अनिर्वचनीय आनन्दरूप सुख मनुष्य के हृदय मे अचानक उत्पन्न होता है, वह असैद्धिक सुख है, तथा ज्वर, सिर दर्द और शूल आदि दु ख, जो अपने अग से उत्पन्न होते हैं वे असैद्धिक दु ख है। ये दोनो प्रकार के सुख और दु ख पुरुष के अपने उद्योग से उत्पन्न नही होते हैं। तथा ये काल आदि किसी अन्य पदार्थ के द्वारा उत्पन्न नही किये जा सकते है। इन दोनो प्रकार के सुख-दु खो को प्राणी पृथक-पृथक भोगते हैं।

सगइअ त—ये सुख-दु ख प्राणियो को क्यो और किस कारण से होते है ? यही बताने के लिये नियतिवादी अपना अभिप्राय व्यक्त करता है—'सगइअ त' अर्थात् वह उनका सागतिक है। सम्यक् अर्थात् अपने परिणाम से जो गति है, उसे सगति कहते हैं। जिस जीव को, जिस समय, जहाँ, जिस सुख-दु ख को अनुभव करना होता है, वह सगति कहलाती है। वही नियति है। उस नियति से सुख-दु ख उत्पन्न होता है, उसे सागतिक कहते हैं। जैसे कि शास्त्रवार्तासमुच्चय मे कहा है—

नियतेनैवरूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते, तत् पानुबधत ॥
यद्यदेव यतो यावत् ततस्तथा।
नियत जायते न्यायात् क एन बाधयितु क्षम ?

चूँकि ससार के सभी पदार्थ अपने-अपने नियतस्वरूपेण उत्पन्न होते हैं। अत यह ज्ञात हो जाता है कि ये सब नियति से उत्पन्न हुए है। यह समस्त चराचर जगत् नियतितत्त्व से गुँथा हुआ है, उससे तादात्म्य होकर वे नियतिमय हो रहे हैं। जिसे

जिससे, जिस समय, जिस रूप मे होना है, वह उससे उसी समय, उसी रूप में उत्पन्न होता है। इस तरह अबाधित प्रमाण से प्रसिद्ध इस नियति के स्वरूप को कौन रोक सकता है? यह सर्वत्र निर्बाध है।

नियतिवादी कहते है कि नियति एक स्वतन्त्र तत्त्व है। इस नियति से ही सभी पदार्थ नियतरूप मे उत्पन्न होते है, अनियत रूप मे नही। यदि नियति तत्त्व न हो तो ससार से कार्यकारण भाव की तथा पदार्थों के अपने निश्चित स्वरूप की व्यवस्था ही उठ जाएगी। इस प्रतीतिसिद्ध वस्तु का एक जगह लोप किया जाता है तो ससार से प्रमाण मार्ग ही उठ जाएगा। जैसा कि वे कहते हैं—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थ,
सोऽवश्य भवति नृणा शुभोऽशुभोवा।
भूताना महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्य भवति, न भाविनोऽस्ति नाश ॥

अर्थात्—नियति (होनहार) के बल से शुभ-अशुभ जो कुछ भी मिलने वाला होता है, वह मनुष्य को अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु जो होनहार नही है, वह महान् प्रयत्न करने पर भी नही मिलता, अथवा नही होता और जो होने वाला है, उसका नाश नही होता।

इस प्रकार इन दो गाथाओ मे नियतिवाद का पूर्वपक्ष प्रबलरूप से प्रस्तुत किया गया है, अब अगली गाथा मे नियतिवाद का निराकरण करते हुए उसके दुष्परिणामो को अभिव्यक्त किया गया है—

मूल

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो।
निययानिययं संतं, अयाणंता अबुद्धिया ॥४॥

संस्कृत

एवमेतानि जल्पन्तो, बाला पण्डितमानिन।
नियतानियत सन्त, अजानन्तोऽबुद्धिका ॥४॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (एयाणि) इन बातो को (जपता) कहते हुए नियतिवादी (बाला) वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ है (पडिअमाणिणो) तथापि अपने को पण्डित-मानते

हैं। (निययानियय सत) सुख-दु ख आदि नियत और अनियत दोनो ही प्रकार के हैं, परन्तु इसे (अयाणता) नही जानते हुए वे नियतिवादी (अबुद्धिया) बुद्धिहीन हैं।

भावार्थ

पूर्वोक्त प्रकार से नियतिवाद का प्रतिपादन करते हुए नियतिवादी वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ है, तथापि स्वय को पण्डित मानते है। सुख-दु ख आदि नियत और अनियत दोनो ही प्रकार के है, लेकिन इस बात को नही समझते हुए वे नियतिवादी बुद्धिहीन है।

व्याख्या

नियतिवाद की भ्रमपूर्ण मान्यता का निराकरण

इससे पूर्व दो गाथाओ मे नियतिवाद के सिद्धान्त का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, उसे बताने के लिये 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है।

आशय यह है कि पूर्वोक्त दो गाथाओ मे नियतिवाद के जिन युक्तिहीन सिद्धान्तो का निरूपण किया गया है, उसे भलीभाँति समझे विना तथा उसमे आने वाले पूर्वापर विरोध का विचार किये विना ही अज्ञ होते हुए भी अपने आप को विशेष ज्ञानी मानते हैं। 'बाला' शब्द इसलिए प्रयुक्त किया गया है कि वे बच्चो की तरह की बचकानी बाते करते हैं और अपने हठ पर अडे रहते है। दूसरा कोई उन्हे उनकी भूल बताए तो भी वे मानने के लिए तैयार नही होते, क्योकि वे अह-कारवश अपने आपको विद्वान माने हुए है। नीतिकार भर्तृहरि की यह उक्ति उन पर सोलहों आने ठीक उतरती है—

> अज्ञ सुखमाराध्य सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञ ।
> ज्ञानलवदुर्विदग्ध ब्रह्माऽपि त नर न रञ्जयेत् ॥

जो विलकुल नासमझ और भोला है उसे आसानी से समझाया जा सकता है, जो विशेषज्ञ है उसे तो और भी सुगमता से समझाया जा सकता है, लेकिन जो अधकचरा पण्डित है, थोडा-सा ज्ञान पाकर अपने को बडा भारी विद्वान समझता है, उसे ब्रह्माजी भी समझा नही सकते, न मना सकते हैं।

प्रश्न होता है, शास्त्रकार ने नियतिवादियो को पण्डितमानी क्यो कहा? इसके उत्तर मे यह पक्ति प्रस्तुत है—निययानियय सन्त अयाणता अबुद्धिया।

तात्पर्य यह है कि नियतिवादी सुख-दु ख आदि को एकान्तरूप से नियतिकृत मानते है, उसी को मिथ्याग्रहवश पकडे हुए है, वे मदबुद्धि नियतिवादी इस बात को नही जानते, न ही जानने की कोशिश करते है कि ससार मे सभी सुख-दु ख नियति-

कृत नही होते। कुछ सुख-दु ख आदि नियतिकृत अवश्य होते है, व उन-उन सुख दु खो के कारणरूप कर्म का किसी अवसर विशेप मे अवश्य उदय होता है, तव प्राप्त होते है। किन्तु कई सुख-दु ख अनियत (नियतिकृत नही) होते है, वे पुरुष के उद्योग, काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म आदि के द्वारा किये हुए होते है। अत सुख-दु ख का कारण अकेली नियति नही हे, किन्तु काल, स्वभाव, नियति, कर्म, ईश्वर आदि सब मिलकर ही कारण होते है।

ऐसी स्थिति मे अकेली नियति को कारण मानना अज्ञान है, और मिथ्याग्रह रखना मिथ्यात्व है। आचार्य सिद्धसेन ने सन्मतितर्क मे कहा है—

कालो सहाव-नियई

काल, स्वभाव, नियति, अदृष्ट (कर्म) और पुरुषार्थ रूप पच कारण समवाय के विषय मे जो एकान्तवाद है, वह मिथ्या है। यही बात परस्पर सापेक्ष मानने से सम्यक्त्व है। ऐसी स्थिति मे जो सुख-दु ख आदि को एकान्तरूप से नियतिकृत मानते हैं, वे निर्बुद्धिजन वास्तविक कारणो को नही ते है। इसीलिए आर्हद्-दर्शनी लोग सुख-दु ख आदि को कथचित् उद्योगसाध्य भी मानते है। कारण यह है कि क्रिया से फल की उत्पत्ति होती है, और वह क्रिया उद्योग के अधीन है। इसीलिए तो नीतिकार कहते हैं—

> न दैवमिति सचिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मन ।
> मेन कस्तैल तिलेभ्य प्राप्तुमर्हति ? ॥

जो भाग्य मे लिखा है, वही होगा, ऐसा सोचकर व्यक्ति को अपना पुरुषार्थ नही छोडना चाहिए। विना पुरुषार्थ के तिलो से कौन तेल प्राप्त कर । है ?

नियतिवादियो ने पहले जो तर्क उठाया था कि उद्योग समान होने पर भी फल मे विचित्रता क्यो दिखाई देती है ? वह तुम्हारे पक्ष मे दोष है, किन्तु वास्तव मे यह दोष नही है, क्योकि उद्योग की विचित्रता भी फल की विचित्रता का कारण होती है। एक सरीखा उद्योग करने पर भी किसी को फल नही मिलता, वह उसके अदृष्ट (कर्म) का फल है। जैनदर्शन मे उस अदृष्ट (कर्म) को भी सुख-दु ख आदि का कारण माना जाता है। इसी तरह काल भी सुख-दु ख आदि का कर्ता है, क्योकि वकुल, चम्पक, अशोक, नाग और आम आदि वृक्षो मे विशिष्ट काल आने पर ही फल-फूल की उत्पत्ति होती है, सर्वदा नही होती। नियतिवादियो ने जो आक्षेप किया है कि काल तो एकरूप है, उससे विचित्र जगत् की या सुख-दु खादि फल की उत्पत्ति नही हो है, यह भी हमारे लिए दोपरूप नही है, क्योकि फल की उत्पत्ति मे अकेले काल को ही हमने कारण नही माना है। स्वभाव भी कथचित्

कर्ता है। इसी तरह हम लोग कर्म को भी कर्ता मानते है। कर्म की विचित्रता के कारण फल की भी विचित्रता होती है। इसलिए हमारे मत मे कोई दोप नही है। ईश्वर (कर्मबद्ध ईश्वर—आत्मा) भी जगत् का या सुख-दु ख का कर्ता है क्योकि आत्मा ही विभिन्न योनियो मे उत्पन्न होता हुआ, सर्वव्यापक होने के कारण ईश्वर है। वही ईश्वर सुख-दु ख आदि का कर्ता है, यह सर्वमतवादिया को अभीप्ट है। फिर सुख-दु ख का कर्ता ईश्वर है, इस मान्यता को दूषित करने के लिए नियति-वादियो ने 'आत्मा मूर्त है, या अमूर्त ?' इत्यादि जो शका उठाई है, वह दूषण भी आत्मा (कर्मबद्ध आत्मा) को ईश्वर मानने पर समाप्त हो जाता है। तथैव स्वभाव भी कथचित् कर्ता है। क्योकि आत्मा का उपयोग रूप तथा असख्य प्रदेशी होना तथा पुद्गलो का मूर्त होना एव धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय का क्रमश गति-स्थिति मे सहायक होना तथा अमूर्त होना, यह सब स्वभावकृत ही तो है। 'स्वभाव आत्मा से भिन्न है या अभिन्न ?' इत्यादि तर्क प्रस्तुत करके नियतिवादी ने जो स्वभावकर्तृत्व मे दोष लगाया है, वस्तुत वह भी दोप नही है। कारण यह है कि स्वभाव आत्मा से भिन्न नही है तथा आत्मा कर्ता भी है, यह हमने स्वीकार किया है। अत आत्मा का कर्तृत्व स्वभावकृत है। इसी प्रकार कर्म भी कर्ता है, क्योकि वह जीव प्रदेश के साथ परस्पर मिल कर रहता हुआ कथचित् जीव से अभिन्न है और उसी कर्म के वश जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति मे भ्रमण करता हुआ सुख-दु ख को भोगता है।

इस प्रकार नियति और इससे भिन्न काल, स्वभाव, ईश्वर, कर्म आदि (अनि-यति) इन दोनो सुख-दु खादि कर्तृत्व युक्ति से सिद्ध होते हुए भी अपने हठाग्रह या पूर्वाग्रहवश सिर्फ नियति को एकान्त रूप से कर्ता मानकर नियतिवादी अपनी बुद्धि का दिवालियापन सूचित करते हैं। इस प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रस्त नियतिवादियो को क्या दुष्परिणाम भोगना पडता है ? इसे शास्त्रकार अगली गाथा मे कहते हैं—

मूल

एवमेगे उ पासत्था, भुज्जो विप्पगब्भिया ।
एव उवट्ठिआ सता, ण ते दुक्खविमोक्खया ॥५॥

स छाया

एवमेके तु पार्श्वस्थास्ते, भूयो विप्रगल्भिता ।
एवमुपस्थिता सन्तो, न ते दु खविमोक्षका ॥५॥

कृत नही होते। कुछ सुख-दुःख आदि नियतिकृत अवश्य होते है, व उन-उन सुख दुःखो के कारणरूप कर्म का किसी अवसर विशेष मे अवश्य उदय होता है, तब प्राप्त होते हैं। किन्तु कई सुख-दुःख अनियत (नियतिकृत नही) होते हैं, वे पुरुष के उद्योग, काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म आदि के द्वारा किये हुए होते हैं। अत सुख-दुःख का कारण अकेली नियति नही है, किन्तु काल, स्वभाव, नियति, कर्म, ईश्वर आदि सब मिलकर ही कारण होते है।

ऐसी स्थिति मे अकेली नियति को कारण मानना अज्ञान है, और उसका मिथ्याग्रह रखना मिथ्यात्व है। आचार्य सिद्धसेन ने सन्मतितर्क मे कहा है—

कालो सहाव-नियई

काल, स्वभाव, नियति, अदृष्ट (कर्म) और पुरुषार्थ रूप पच कारण समवाय के विषय मे जो एकान्तवाद है, वह मिथ्या है। यही बात परस्पर सापेक्ष मानने से सम्यक्त्व है। ऐसी स्थिति मे जो सुख-दुःख आदि को एकान्तरूप से नियतिकृत मानते हैं, वे निर्बुद्धिजन वास्तविक कारणो को नही समझते हैं। इसीलिए आर्हद्-दर्शनी लोग सुख-दुःख आदि को कथचित् उद्योगसाध्य भी मानते हैं। कारण यह है कि क्रिया से फल की उत्पत्ति होती है, और वह क्रिया उद्योग के अधीन है। इसी-लिए तो नीतिकार कहते हैं—

न दैवमिति सचिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मन ।
मेन क ॰ तिलेभ्य प्राप्तुमर्हति ? ॥

जो भाग्य मे लिखा है, वही होगा, ऐसा सोचकर व्यक्ति को अपना पुरुषार्थ नही छोडना चाहिए। बिना पुरुषार्थ के तिलो से कौन तेल प्राप्त कर सकता है ?

नियतिवादियो ने पहले जो तर्क उठाया था कि उद्योग समान होने पर भी फल मे विचित्रता क्यो दिखाई देती है ? वह तुम्हारे पक्ष मे दोष है, किन्तु वास्तव मे यह दोप नही है, क्योकि उद्योग की विचित्रता भी फल की विचित्रता का कारण होती है। एक सरीखा उद्योग करने पर भी किसी को फल नही मिलता, वह उसके अदृष्ट (कर्म) का फल है। जैनदर्शन मे उस अदृष्ट (कर्म) को भी सुख-दुःख आदि का कारण माना जाता है। इसी तरह काल भी सुख-दुःख आदि का कर्ता है, क्योकि वकुल, चम्पक, अशोक, नाग और आम आदि वृक्षो मे विशिष्ट काल आने पर ही फल-फूल की उत्पत्ति होती है, सर्वदा नही होती। नियतिवादियो ने जो आक्षेप किया है कि काल तो एकरूप है, उससे विचित्र जगत् की या सुख-दुःखादि फल की उत्पत्ति नही हो सकती है, यह भी हमारे लिए दोपरूप नही है, क्योकि फल की उत्पत्ति मे अकेले काल को ही हमने कारण नही माना है। स्वभाव भी कथचित्

कर्ता है। इसी तरह हम लोग कर्म को भी कर्ता मानते है। कर्म की विचित्रता के कारण फल की भी विचित्रता होती है। इसलिए हमारे मत मे कोई दोष नही है। ईश्वर (कर्मबद्ध ईश्वर—आत्मा) भी जगत् का या सुख-दु ख का कर्ता है क्योकि आत्मा ही विभिन्न योनियो मे उत्पन्न होता हुआ, सर्वव्यापक होने के कारण ईश्वर है। वही ईश्वर सुख-दु ख आदि का कर्ता है, यह सर्वमतवादियो को अभीष्ट है। फिर सुख-दु ख का कर्ता ईश्वर है, इस मान्यता को दूषित करने के लिए नियतिवादियो ने 'आत्मा मूर्त है, या अमूर्त ?' इत्यादि जो शका उठाई है, वह दूषण भी आत्मा (कर्मबद्ध आत्मा) को ईश्वर मानने पर समाप्त हो जाता है। तथैव स्वभाव भी कथचित् कर्ता है। क्योकि आत्मा का उपयोग रूप तथा असख्य प्रदेशी होना तथा पुद्गलो का मूर्त होना एव धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय का क्रमश गति-स्थिति मे सहायक होना तथा अमूर्त होना, यह सब स्वभावकृत ही तो है। 'स्वभाव आत्मा से भिन्न है या अभिन्न ?' इत्यादि तर्क प्रस्तुत करके नियतिवादी ने जो स्वभावकर्तृत्व मे दोष लगाया है, वस्तुत वह भी दोष नही है। कारण यह है कि स्वभाव आत्मा से भिन्न नही है तथा आत्मा कर्ता भी है, यह हमने स्वीकार किया है। अत आत्मा का कर्तृत्व स्वभावकृत है। इसी प्रकार कर्म भी कर्ता है, क्योकि वह जीव प्रदेश के साथ परस्पर मिल कर रहता हुआ कथचित् जीव से अभिन्न है और उसी कर्म के वश जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति मे भ्रमण करता हुआ सुख-दु ख को भोगता है।

इस प्रकार नियति और इससे भिन्न काल, स्वभाव, ईश्वर, कर्म आदि (अनियति) इन दोनो सुख-दु खादि कर्तृत्व युक्ति से सिद्ध होते हुए भी अपने हठाग्रह या पूर्वाग्रहवश सिर्फ नियति को एकान्त रूप से कर्ता मानकर नियतिवादी अपनी बुद्धि का दिवालियापन सूचित करते हैं। इस प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रस्त नियतिवादियो को क्या दुष्परिणाम भोगना पड़ता है ? इसे शास्त्रकार अगली गाथा मे कहते हैं—

मूल

एवमेगे उ पासत्था, भुज्जो विप्पगब्भिया ।
एव उवट्ठिआ सता, ण ते दुक्खविमोक्खया ॥५॥

स छाया

एवमेके तु पार्श्वस्थास्ते, भूयो विप्रगल्भिता ।
एवमुपस्थिता सन्तो, न ते दु खविमोक्षका ॥५॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (एगे उ) कोई (पासत्था[1]) पाशस्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं, (त) वे (भुज्जो) बार-बार (विप्पगब्भिया) नियति को कर्ता कहने की धृष्टता करते है। (एव) इस प्रकार (उवट्ठिया सता) अपने सिद्धान्तानुसार पारलौकिक क्रिया में उपस्थित होकर भी (ते) वे (दुक्खविमोक्खया) दु ख से मुक्त (न) नही हैं।

भावार्थ

नियति को ही एक मात्र सुख दु ख का कर्ता मानने वाले नियतिवादी पाश मे पूर्वोक्त प्रकार से जकडे हुए एकमात्र नियति के ही कर्ता होने की डीग हॉकते हैं। वे अपने सिद्धान्तानुसार परलोक की क्रिया करते हुए भी दु खो से मुक्त नही हो पाते।

व्याख्या

नियतिवादियो के मिथ्यात्व का फल

'एव'—पूर्वोक्त प्रकार से एकान्त नियति की प्ररूपणा करने वाले नियतिवादियो के लिए 'एव' शब्द प्रयुक्त किया गया है। अर्थात् जो नियतिवादी अवश्यभावी (नियति) को ही बिना कारण कर्ता मानते हैं और अपनी इस एकान्त मिथ्या प्ररूपणा की सत्यता की बार-बार दुहाई देते फिरते हैं। वे अपने इस मिथ्यात्व के फलस्वरूप पाश (बन्धन) मे जकडे हुए की तरह कर्मपाश (कर्मबन्धन) मे जकडे हुए रहते हैं। अथवा पुरुष, काल, ईश्वर, स्वभाव आदि कारण चतुष्टय को छोडकर जो एक मात्र नियति को ही मानने के कारण एक पार्श्व मे—एक किनारे स्थित (खडे) हो गए है, यानी पार्श्वस्थ हो गये है।

एव उवट्ठिया सता—इस पक्ति का आशय यह है कि एक तरफ तो वे पूर्वोक्त प्रकार से अकेली नियति का पल्ला पकडे हुए है, किन्तु दूसरी ओर नियतिवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध अपना परलोक सुधारने के लिए अपने मत द्वारा मान्य विविध क्रियाएँ भी करते है और जनता को इस प्रकार से वैराग्य का ढौल दिखाकर झासे मे डालते है। यही कारण है कि वे इस आत्मवचना के रूप मिथ्यात्व के कारण अनेक अशुभ कर्मबन्धन मे जकड जाने के कारण अपनी आत्मा को जन्म जरा-मरण आदि के दु खो से मुक्त नही कर पाते। यह इस गाथा का आशय है।

१ 'पासत्था' शब्द के सस्कृत मे दो रूप होते है—पाशस्था और पार्श्वस्था। यहाँ 'पाशस्था' शब्द ही अधिक सगत लगता है। पाश इव पाश [illegible]न्धन, तत्र स्थिता पाशस्था।

अब अज्ञानियों के मत का स्वरूप अगली दो गाथाओं द्वारा शास्त्रकार बताते है—

मूल पाठ

जविणो मिगा जहा सता, परिताणेण वज्जिआ ।
असकियाइ सकति, सकियाइ असकिणो ॥६॥
परियाणिआणि सकता, पासिताणि असंकिणो ।
अण्णाणभयसविग्गा, सपलिति तहिं तहिं ॥७॥

सस्कृत छाया

जविनो मृगा यथा सन्त परित्राणेन वर्जिता ।
अशकितानि शकन्ते, शकितान्यशकिन ॥६॥
परित्राणितानि शकमाना, पाशितान्यशकिन ।
अज्ञानभयसविग्ना, सम्पर्य्यन्ते तत्र तत्र ॥७॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (परिताणेण) रक्षक से (वज्जिआ) रहित (जविणो) चचल या तेज तर्रार (मिगा) मृग (असकियाइ) शका के अयोग्य स्थानो मे (सकति) शका करते हैं (सकियाइ) और शका करने के योग्य स्थान मे (असकिणो) शका नही करते हैं। (परियाणिआणि) सुरक्षित स्थानो को (सकता) शकास्पद मानते हुए और (पासिताणि) पाश-बन्धनयुक्त स्थानो को (असकिणो) शकारहित मानते हुए (अण्णाणभयसविग्गा) अज्ञान और भय से उद्विग्न वे मृग (तहिं तहिं) उन-उन पाशयुक्त (खतरनाक) स्थलो मे ही (सपलिति) जा पहुँचते हैं।

भावार्थ

जैसे रक्षक से रहित अत्यन्त शीघ्र भागने वाले हिरण, शका के अयोग्य स्थानो मे शका करने लगते है और जहाँ शका करने योग्य स्थान है, वहाँ शका नही करते है। ऐसे प्राणी सुरक्षित (खतरे से रहित) स्थानो को शकास्पद स्थान मानते है, और जो पाश (बन्धन) से युक्त स्थान है, उन्हे शकारहित मानते हुए, अज्ञान और भय से डरे हुए वे मृग उन-उन पाश-बन्धनयुक्त स्थानो मे ही अपना डेरा जमा लेते है।

व्याख्या

एकान्तवादी अज्ञानियो की दशा का नि

यहाँ शास्त्रकार अज्ञानीजनो और एकान्तवादियो को मृग की उपमा देते हुए कहते है कि जिस प्रकार तेज भागने वाले मृग (उपलक्षण से सारे जगली जानवर) परित्राण (चारो ओर से रक्षा करने वाले) से रहित होते है। जगल मे स्वच्छन्द विचरण करने वाले पशुओ का कोई रक्षक (रखवाला) नही होता। अथवा परितान का अर्थ बधन भी होता है, उस परितान से त्रस्त पशु भय से चचल नेत्र होकर घबरा से जाते है। उस समय वे सम्यक् विवेक से रहित होकर कूटपाश आदि से रहित तथा शका के अयोग्य स्थानो मे ही बहम करने लग जाते हैं। उस सुरक्षित स्थान को वे खतरे की नजरो से देखते है, अनर्थ मानते हैं, तथा जो शका करने योग्य पाश बन्धन आदि हैं, उनमे कतई शका नही करते। अन्ततोगत्वा वे पशु व्याकुल होकर इधर से उधर भागते हुए उन्ही पाश आदि बन्धनो मे फँस जाते हैं।

उनके अति मोह को पुन प्रकट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—अत्यन्त मूढतावश विपरीत ज्ञान के धनी वे बेचारे रक्षायुक्त (सुरक्षित) स्थानो मे शका करते है। अर्थात् जो रक्षा करने वाला है, उसमे खतरे की आशका करते है और जहाँ अनर्थजनक पाशयुक्त स्थान है, वहाँ शका न करके और भय से तडफते हुए हृदय से आखिरकार वे बेचारे उन्ही बन्धनो मे जा पडते है। क्योकि वे शकनीय-अशकनीय या सुरक्षित-असुरक्षित (अनर्थयुक्त) स्थान का विवेक नही कर सकते। अत अन्त मे प्रलोभन वाले भयजनक स्थानो मे आँख मूँद कर जा पहुँचते है।

इस प्रकार का रूपक देकर शास्त्रकार नियतिवाद, कालवाद, पुरुपार्थवाद, , ईश्वरवाद आदि एकान्तमताग्रही अज्ञानवादियो की भी वैसी ही विचित्र दशा बताते है। क्योकि वे भी अनेकान्तवाद जैसे अनन्त से दूर भागते हैं और अपने मतरूपी वन मे स्वच्छन्द, किन्तु असुरक्षित एव अनन्त रक्षक से रहित होकर भटकते है। वह रक्षायुक्त अनेकान्तवाद से रहित है तथा अनेकान्तवाद, सब दोपो से रहित एव ईश्वर आदि को भी कारण मानने से अशकनीय हैं तथापि वे उसमे शकित रहते हैं और नियतिवाद, अज्ञानवाद आदि एकान्तवाद जो शका के योग्य है, उन्हे वे नि शक होकर अपनाते है। इस प्रकार परि अनेकान्त मे शका करते हुए और युक्ति विरुद्ध तथा अनर्थपूर्ण एकान्तवाद को -नीय समझते हुए वे अज्ञानग्रस्त मूढ एकान्तवादी उन कर्मबन्धनो के स्थानो मे ही जा पहुँचते हैं।

पुन मूर्ख मृग की उपमा देकर शास्त्रकार अज्ञानवादियो की दशा का चित्र खीचते है—

मूल पाठ

अह तं पवेज्ज बज्झं, अहे बज्झस्स वा वए ।
मुच्चेज्ज पयपासाओ, त तु मदे ण पेहए ॥८॥

स त छाया

अथ त प्लवेत बन्धमधो बन्धस्य वा व्रजेत् ।
मुञ्चेत्पदपाशात्तत्तु मन्दो न पश्यति ॥८॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् वह मृग (त बज्झ) उस बन्धन को (पवेज्ज) उल्लघन कर जाय (वा) अथवा (बज्झस्स) बन्धन के (अहे) नीचे होकर (वए) निकल जाय तो (पयपासाओ) पैर के पाश-बन्धन से (मुच्चेज्ज) छूट सकता है, (तु) परन्तु (त) उस बन्धन को (मदे) वह मूर्ख मृग (ण पेहए) नही देखता है ।

भावार्थ

वह मृग यदि कूद कर उस बन्धन को लाँघ कर चला जाए, अथवा उस बन्धन के नीचे से निकल जाए, तो वह झटपट पैरो मे पडे हुए बन्धन से मुक्त हो सकता है, मगर वह मूढ मृग इसे देखता ही नही है ।

व्याख्या

मूर्ख मृग के समान अज्ञानवादियो की

शास्त्रकार उसी दृष्टान्त के द्वारा फिर अज्ञानवादियो की मूर्खता का नग्न चित्र खीच रहे हैं । जैसे मूर्ख मृग छलाग मार कर उस कूटपाशादि बन्धन (जाल) को पार कर जाय, अथवा उस चर्ममय बन्धन के नीचे से होकर निकल जाय तो वह पदपाशरूप उस पैर के बन्धन मे फँसने से बच सकता है, मगर वह मूर्ख मृग आँखें होते हुए भी उस जाल या बन्धन को देखता ही नही, हृदय की आँखो से इस बन्धन के दूरगामी दुष्परिणाम पर विचार नही करता । इसी प्रकार अज्ञानवादी, मृग (पशुबुद्धि वाले) के समान अपने सामने मोह एव अज्ञान के द्वारा बिछाये हुए कपटजाल—एकान्तवादीमत के मिथ्याग्रह स्वरूप प्राप्त बन्धन को यदि अनेकान्तवाद की युक्ति से लाँघ जाए, अथवा दूर से ही देख कर उससे साफ बच जाये तो वह उस कर्मबन्ध के पाश (जाल) से जनित जन्म-जरा-मरण आदि दु खो से छूट सकता

है, पर वह तनिक आँख उठाकर दिव्य नेत्रों से इस बन्धन को देखे तब न ? वह तो इस बन्धन को गले का हार समझे बैठा है। अपने मतमोह एव मिथ्यात्व को वह बन्धन न समझ कर सम्मानजनक आभूषण समझे बैठा है। आशय यह है कि वह अज्ञानी जीव उक्त प्रकार से अनर्थ को दूर करने का उपाय होते हुए भी उसे देखता नही। अगली गाथा मे उस मृग की दुर्दशा का पुन॰ वर्णन करते है—

मूल

अहिअप्पाऽहियपण्णाणे, विसमंतेणुवागते।
स बद्धे पयपासेण, तत्थ घायं नियच्छई ॥९॥

स त छाया

अहिताऽत्माऽहितप्रज्ञान विषमान्तेनोपागत ।
स बद्ध पदपाशेन तत्र घात नियच्छति ॥९॥

अन्वयार्थ

(अहिअप्पा) अहितात्मा (अहियपण्णाणे) अहित प्रज्ञा वाला, (विसमतेणुवागते) कूटपाशादि से युक्त विषम प्रदेश मे पहुँचकर (स) वह मृग (तत्थ) वहाँ (पयपासेण) पदबन्धन के द्वारा (बद्धे) बद्ध होकर (घाय) वध को (नियच्छई) प्राप्त होता है।

भावार्थ

अपना ही अहित करने वाला, अहितबुद्धि से युक्त वह मृग अज्ञानवश बन्धनयुक्त विपम प्रदेशो मे जाकर पदबधन से बँध जाता है और वही उसका काम तमाम हो जाता है।

व्याख्या

अहितबुद्धि मृग की सी दशा

पूर्वोक्त भयकर बन्धन को बन्धन न कर वह भोला-भाला मृग कितनी और कैसी सक्टापन्न स्थिति मे पहुँच जाता है, इसे शास्त्रकार पुन सूचित करते हैं कि वह अज्ञानी बे-समझ मृग अपने हिताहित को नही समझता। उसकी बुद्धि सम्यक् रूप से अपने हित मे काम नही करती, अत वह प्रलोभन या भुलावे मे पड कर ऐसे विपम प्रदेश मे पहुँच जाता है, जहाँ उसे बधन मे डालने के लिये जाल बिछा होता है, वह लोभ मे आकर वहाँ फँस जाता है, अथवा वहाँ वह अपने आपको

उस कूटपाश आदि के बन्धन से युक्त विषम प्रदेश मे अपने को ऐसे गिरा देता है अथवा स्वय ही निढाल होकर गिर पड़ता है कि वही उसके पैर मे बन्धन डाल दिये जाते है जिससे वह न आगे खिसक सकता है, न पीछे और वही सड-सड कर समाप्त हो जाता है। पाश से बिल्कुल निकल नही सकता तब सिवाय नाश (मृत्यु) के और कोई चारा नही रहता है। यह इस गाथा का तात्पर्य है।

पूर्वोक्त चार गाथाओ मे निरूपित मृग के दृष्टान्त को शास्त्रकार दार्ष्टान्तिक रूप मे घटाते है—

मूल पाठ

एवं तु समणा एगे, मिच्छादिट्ठी अणारिआ।
असंकियाइ संकति, संकियाई असंकिणो ॥१०॥

संस्कृत छाया

एव तु श्रमणा एके, मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्या।
अशकितानि शकन्ते, शकितान्यशकिन ॥१०॥

अन्वयार्थ

(एव तु) इसी प्रकार (एगे) कई (मिच्छादिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (अणारिआ) अनार्य (समणा) श्रमण (असकियाइ) शकारहित अनुष्ठानो मे (सकंति) शका करते है तथा (सकियाइ) शका के योग्य अनुष्ठानो मे (असकिणो) शका नही करते है।

भावार्थ

इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण शका के अयोग्य अनुष्ठानो मे शका करते हैं और शकायोग्य अनुष्ठानो मे शका नही करते है।

व्याख्या

अज्ञानी मृग के समान मिथ्यादृष्टि श्रमणो की मनोदशा

इससे पूर्व चार गाथाओ मे जिस प्रकार अज्ञानी मृग की मनोदशा का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार इस गाथा मे मिथ्यादृष्टि अनार्यश्रमणो की मनोदशा का चित्रण किया गया है। जैसे—अज्ञानी मृग बन्धन को न जान कर भुलावे मे पड कर अनेक अनर्थों को प्राप्त करते है, इसी तरह पाषण्डविशेष को स्वीकार करने वाले कई श्रमण अनेक अनर्थो को प्राप्त करते हैं। यहाँ एगे कह कर कुछ एक श्रमणो के विषय मे उल्लेख किया गया है। साथ ही उन श्रमणो के दो विशेषण यहाँ दिये हैं जिनसे उन्हे पहिचाना जा सकता है। वे श्रमण कैसे है? इसके लिए

कहते है—'मिच्छादिट्ठी अणारिया'। अर्थात् उनकी दृष्टि विपरीत है, तथा वर्जनीय हेय धर्मो से जो दूर नही है। जो समस्त वर्जनीय हेय धर्मो से दूर है, उसे आर्य्य कहते हैं, जो इससे भिन्न है, वे अनार्य्य हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि अनार्य्य होते हैं, जो त्याज्य एव निन्द्य कार्यो मे प्रवृत्त रहते हैं, और मिथ्याज्ञान मे आवृत रहते हैं और साधु के वेश मे असद् अनुष्ठान करते हैं। ऐसे लोग अज्ञानवादी या नियतिवादी मिथ्यावादी होते हैं, जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व अन्धकार से आच्छादित रहती है, वे ऐसे सुन्दर धर्म के आचरण एव अनुष्ठान मे शका करते रहते हैं, जहाँ शका नही करनी चाहिए और जहाँ शका करने योग्य पाश (बन्धन) से युक्त एकान्त पक्ष है, उसको स्वीकार करने मे जरा भी शका नही करते। वहाँ नि शक होकर बेधडक प्रवृत्ति करते है। अर्थात अज्ञानान्धकार मे डूबे हुए वे शास्त्र मे अविहित कार्यो को बेखटके करते रहते है और जो शास्त्रविहित सत्कार्य हैं उनमे शका करते है। ऐसा मिथ्यात्व के चढे हुए चश्मे के कारण होता है। इस प्रकार उनकी बाल-चेष्टाएँ उन भोले-भाले नासमझ मृगो की-सी होती है, जिनका नतीजा उन्हे स्वय को भोगना पडता है। जिसका दुष्परिणाम उनकी आत्मा के लिए अहितकर, भयकर और अनर्थकर होता है। परन्तु मिथ्यात्व का भूत जो उनके सिर पर सवार है, वह जो भी नाच नचाये वह थोडा ही है।

ऐसे मिथ्यात्वभूतग्रस्त अज्ञानवादी कहाँ शका करते है और कहाँ शका नही करते ? यह अगली गाथा मे कहते हैं—

मूल

धम्मपण्णवणा जा सा, तं तु ंति मूढगा।
आरंभाइं न सकति, अवियत्ता अकोविया ॥११॥

छाया

धर्मप्रज्ञापना या सा, ता तु मूढका ।
आरम्भान्न शङ्कन्ते, अव्यक्ता अकोविदा ॥११॥

अन्वयार्थ

(जा सा) जो वह (धम्म) धर्म —धर्म की प्ररूपणा है, (त तु) उसमे तो (मूढगा) वे मूढ (सकति) शका करते है, जब कि (आरभाइ) आरम्भो—आरम्भयुक्त कार्यो मे (न सकति) शका नही करते। (अवियत्ता) वे विवेकरहित हैं, (अकोविया) सत्शास्त्र के ज्ञान से रहित हैं।

भावार्थ

वे विचारमूढ, अविवेकी एव शास्त्रज्ञानवर्जित अन्यदर्शनी मिथ्या-दृष्टि यह जो क्षमा आदि दश धर्मों की प्ररूपणा है, उसमे तो अधर्म की शका करते है, और जिन अनुष्ठानो मे षट्काय (जीवो) के उपमर्दन रूप आरम्भ होता है, उसमे शका नही करते।

व्याख्या

शकनीय-अशकनीय का विपर्यास

जिनकी बुद्धि पर मिथ्यात्व का पर्दा पडा हुआ है, वे शकनीय और अशक-नीय के विवेक से रहित, विचारमूढ एव शास्त्रज्ञान से रहित अज्ञानवादी आदि अन्यतीर्थी लोग जहाँ शका नही करनी चाहिये, ऐसी धर्मप्ररूपणा-धर्माचरण की प्रेरणा जिन वीतराग प्ररूपित शास्त्रो या सिद्धान्तो मे है, उन पर शका करते हैं कि यह तो असद्धर्म की प्ररूपणा है, इस अहिंसा से तो देश का बेडा गर्क हो जाएगा, किन्तु जिन तथाकथित शास्त्रो मे यज्ञीय पशु हिंसा की घोर प्ररूपणा है, कामना-नामना-पूर्ण कर्मकाण्डो का विधान है, हिंसाजनक कार्यों से युक्त हैं, ऐसे पापोपदानभूत आरभो के विषय मे बिलकुल शका नही करते, उन्हे नि शक होकर करते हैं। यही महान आश्चर्य है कि वे मिथ्यात्वपिशाचग्रस्त लोग शकनीय-अशकनीय का विवेक नही कर सकते। इसके दो कारण यहाँ बताए हैं—'अवियत्ता अकोविया' अर्थात् वे स्वभावत सद्विवेक से रहित हैं तथा सत्-शास्त्र के ज्ञान से शून्य हैं।

ऐसे अज्ञानी मिथ्यात्वी लोग किस बात की अज्ञता के कारण सम्यक्ज्ञान या सत्शास्त्र का विवेक प्राप्त नही कर सकते? यह अगली गाथा मे शास्त्रकार कहते हैं —

मूल

सव्वप्पग विउक्कस्सं, सव्व णूम विहूणिया।
अप्पत्तिअ अकम्मसे, एयमट्ठ मिगे चुए ॥१२॥

सर्वात्मक व्युत्कर्ष, सर्वं माया विधूय।
अप्रत्ययमकर्मांश एतमर्थं मृगस्त्यजेत् ॥१२॥

अन्वयार्थ

(सव्वप्पग) सर्वात्मक सबके अन्त करण मे व्याप्त—लोभ, (सव्व णूम) समस्त

माया, (विउक्कस्स) विविध प्रकार के उत्कर्ष—मान, (अप्पत्तिअ) और क्रोध को (विहूणिया) त्याग कर ही (अकम्मसे) जीव कर्मांशरहित—सर्वथा कर्मरहित होता है, (एयमट्ठ) किन्तु इस सर्वज्ञभाषित अर्थ—सदुपदेश को (मिगे) मृग के समान अज्ञानी जीव (चुए) ठुकरा देता है, त्याग देता है।

र्थ

सबके अन्त करण मे व्याप्त लोभ, समस्त माया, विविध प्रकार के उत्कर्षरूप मान और क्रोध का सर्वथा त्याग करने पर ही जीव सर्वथा कर्म-बन्धन से रहित होता है, इस वीतराग प्ररूपित सत्य सिद्धान्त को मृग की तरह अज्ञानी जीव ठुकरा देता है, छोड देता है।

व्याख्या

समस्त कषायनाश ही सर्वथा कर्मक्षय का कारण

इस गाथा मे शास्त्रकार ने कर्मबन्ध के एक विशिष्ट कारण कषाय को सूचित करके कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिये कषायो से सर्वथा मुक्ति आवश्यक बताई है।[1] इसका कारण यह है कि विविध धर्म-सम्प्रदाय, दर्शन एव मत वाले लोगो मे उस युग मे कुछ तो सिर्फ ज्ञान प्राप्त कर लेने से मुक्ति मानते थे, कुछ केवल क्रियाकाण्ड या साम्प्रदायिक या स्वमतकल्पित कुछ क्रियाएँ, यज्ञ-हवन आदि अनुष्ठान या अज्ञानपूर्वक कष्ट-सहन या तप करने से मुक्ति मानते थे।

वे यह मानते थे कि हम जटाएँ बढा ले, कुछ तप-जप कर ले, कुछ अपने मत के द्वारा माने हुए कियाकाण्डो को कर ले, या तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लें। इतने से ही हमारी मुक्ति हो जाएगी, परन्तु भगवान महावीर ने तथा जैनाचार्यो ने कहा कि जब तक क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायो से छुटकारा नही पा लोगे, तब तक कर्मबन्धनो से मुक्ति असम्भव है। परन्तु भ० महावीर की यह सीधी, सरल, सच्ची बात मतान्ध लोग भला कब मान सकते थे? वे जोश-खरोश मे आकर कहते थे, हम इतना तप-जप करते है, इतना यज्ञ करते है, इतने शास्त्र हमे कण्ठस्थ हैं,

---

१ कहा भी है—नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्त्ववादे न च तर्कवादे।
न पक्षपाताश्रयणेन मुक्ति, कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव ॥
न दिगम्बरत्व स्वीकार करने से मुक्ति होती है, न श्वेताम्बरत्व स्वीकार करने से और न तत्त्वो के विषय मे वाद-विवाद कर लेने से, न कोई तर्क-वितर्क करने से ही मुक्ति होती है। किसी एक पक्ष का आश्रय लेने से भी मुक्ति नही होती। कषायो से मुक्ति होना ही मे मुक्ति है।

हम इतने क्रियाकाण्ड करते हैं, क्रोध, अभिमान, लोभ या माया का सद्भाव हुआ तो क्या हुआ ? तत्त्वज्ञान से या क्रियाकाण्ड कर लेने से सब कषाय मिट जाएँगे। इसीलिये शास्त्रकार ने कर्मबन्धन को काटकर सर्वथा कर्मरहित-मुक्त बनने की बात का नुस्खा बता दिया—सव्वप्पग विहूणिआ अप्पत्तिअ अ से।"

आशय यह है कि सर्वात्मक लोभ, अनेक प्रकार का अभिमान, समस्त माया और क्रोध को छोडने पर ही आत्मा सर्वथा कर्मों से मुक्त होता है। चाहे जैसा वेष पहनो, चाहे जो धर्माचरण करो, परन्तु इन क्रोधादि चार कपायो को मिटाये बिना कर्मबन्धनो से साधक मुक्त नही हो सकता।

परन्तु यह बात उन मिथ्यात्वग्रस्त विवेक-विकल दिग्गज दार्शनिको या मतवादियो को कहाँ सुहाती है, वे बेचारे मिथ्याज्ञान एव मिथ्यामोह से आवृत रहते हैं, इसलिये इस बात को ठुकरा कर अपनी पकडी हुई बात या मान्यता पर ही चलते हैं।

अ से—जिसका कर्म अशमात्र भी नही रह गया है, उसे अकर्मांश कहते हैं। अकर्मांश होता है विशिष्ट सम्यग्ज्ञान से, अज्ञान से नही। किन्तु जिनमे अज्ञान है, वे क्या करते हैं ? इसे बताने के लिये शास्त्रकार कहते हैं—एयमट्ठ मिगे चए अर्थात् वे मृगवत् अज्ञानी कर्म (बन्धन) से मुक्त होने तथा कषायचतुष्टयरूप उसके कारण पर विचार करने की बात को ठुकरा देते हैं। किसी-किसी प्रति मे 'चए' के बदले 'चुए' पाठ है, वहाँ इस प्रकार अर्थ करना चाहिये कि इस अर्थ (सच्चे ज्ञान) से अज्ञानी जीव भ्रष्ट हो जाते है।

'सव्वप्पग विउक्कस्स सव्व णूम अप्पत्तिअ' चार कषायो के ये चार नाम शास्त्रकार ने अपनी विशिष्ट रचना-पद्धति से दिये हैं, वैसे इनके क्रमश प्रचलित नाम है—क्रोध, मान, माया और लोभ। परन्तु यहाँ लोभ के बदले 'सव्वप्पग' नाम दिया है। इसका अर्थ होता है—जिसका आत्मा सर्वत्र होता है, वह सर्वात्मक है—लोभ। मान के बदले 'विउक्कस्स' शब्द दिया है, जिसका अर्थ होता है—विविध उत्कर्ष = गर्व = व्युत्कर्ष अर्थात् मान। माया के बदले 'णूम' शब्द दिया है और क्रोध के बदले यहाँ 'अप्पत्तिअ' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ होता है—जिसका कोई प्रत्यय (प्रतीति) भरोसा न हो कि कब आ धमकेगा, वह क्रोध है, बिना बुलाया मेहमान।

कषायो से मुक्ति मोहनीयक्षय से—शास्त्रकार द्वारा प्रदर्शित लोभ, मान, माया और क्रोध इन चार कपायो से सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का ग्रहण हो जाता है। जैन सिद्धान्तानुसार ये चारो कषाय मोहनीय कर्म से ही प्रादुर्भूत होते हैं। अत लोभादि कपायो के त्याग से समस्त मोहनीय कर्म का त्याग समझ लेना चाहिये। तभी जीव

अकर्माश होता है। कहा भी है—"तह कम्माणि हम्मति मोहणिज्जे खयगए।" मोहनीय कर्म के क्षय होने र सभी कर्मो का क्षय प्राय होने लगता है।

कर्मवन्धन और कर्ममुक्ति के ज्ञान मे अनभिज्ञ मिथ्यात्वग्रस्त लोगो की अन्त मे क्या दशा होती है ? इसे अगली गाथा मे शास्त्रकार वताते हैं—

मूल पाठ

जे एय नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसति णन्तसो ॥१३॥

संस्कृत छाया

ये एतन्नाभिजानन्ति, मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्या ।
मृगा वा पाशवद्धास्ते, घातमेष्यन्त्यनन्तश ॥१३॥

अन्वयार्थ

(जे) जो (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (अणारिया) अनार्यपुरुष (एय) इस अर्थ (वात) को (न) नही (अभिजाणति) जानते है। (मिगा वा) मृग की तरह (पासबद्धा) पाश (बन्धन) मे बद्ध (ते) वे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी (णतसो) अनन्त वार (घाय) घात को (एसति) प्राप्त करेंगे।

भावार्थ

जो मिथ्यादृष्टि अनार्य पुरुष इस अर्थ (पूर्वोक्त सिद्धान्त) को नही जानते, वे पाश (वन्धन) मे बंधे हुए मृगो की तरह अनन्त वार विनाश को प्राप्त करेंगे।

व्याख्या

मिथ्यादृष्टि अज्ञानवादियो का अनन्त जन्म-मरण

इस गाथा मे पुन मिथ्यादृष्टि एव शास्त्रविहित अनुष्ठान मे अत्यन्त दूर रहने वाले अज्ञानवादियो को अपने उक्त अकृत्य का कितना दुष्परिणाम भोगना पडता है ? इसे वताते हैं— जे एय नाभिजाणति अभिप्राय यह है जैसे वन्धन मे पडे हुए मृग अनेक प्रकार के ताडन, मारण आदि दुःख पाते हैं, वैसे ही अज्ञान एव मिथ्यात्व के कारण होने वाले घोर कर्मवन्धन मे बद्ध अज्ञानी जीव भी मिथ्यात्वरूपी ग्रह से ग्रस्त होकर अपने अज्ञान मत पक्ष को ऐसी दृढता से पकड लेते है कि सम्यग्ज्ञान एव

शास्त्रविहित सम्यक् अनुष्ठान को नही जान पाते । ऐसे व्यक्तियो की एक मनुष्यजन्म की जरा सी भूल के कारण मिथ्यात्व और अज्ञान के कारण हुए कर्मबन्धन मे जकडे जाने से वे उन पाशबद्ध मृगो की तरह अनन्तकाल तक विनाश को प्राप्त करते है । अर्थात् अनन्तकाल तक उन्हे बार-बार जन्म-मरण करना पडता है, ससार के चक्र मे परिभ्रमण करना पडता है। उन जन्म-मरणो के दौरान जिन-जिन गतियो या योनियो मे वे जाते हैं, वहाँ उन्हे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नही मिलता । इसीलिये शास्त्रकार कहते है—'घायमेसन्ति णतसो' । वे अनन्तकाल तक विनाश (द्रव्यविनाश —शरीर का नाश और भावविनाश—आत्मगुणो का नाश, सम्यक्त्व का नाश) प्राप्त करते है । अथवा इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वे अनन्तकाल तक विनाश को ढूंढते है । आशय यह है कि एक बार गाढ मिथ्यात्व को प्राप्त होने के बाद अनन्तकाल तक वे सम्यक्त्व को नही पाकर मिथ्यात्व एव अज्ञान के वशीभूत होकर अपनी जिंदगी के लिये आत्महत्या या आत्मगुणघात (विनाश) ढूंढते रहते है । वे मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकार से आवृत होकर अनन्तकाल तक घात (अपने आत्मगुणो की हत्या) करते रहते हैं ।[1] यही शास्त्रकार का आशय प्रतीत होता है ।

अब अज्ञानवादियो के मत का निराकरण करने के लिये उनकी मान्यता के मिथ्यात्व एव अज्ञान का पर्दाफाश करते है—

मूल

माहणा समणा एगे, सव्वे नाणं सय वए ।
सव्वलोगेऽवि जे पाणा, न ते जाणति किंचण ॥१४॥

संस्कृत छाया

ब्राह्मणा श्रमणा एके, सर्वे ज्ञान स्वक वदन्ति ।
सर्वलोकेऽपि ये प्राणा , न ते जानन्ति किंचन ॥१४॥

अन्वयार्थ

(एगे) कई (माहणा) ब्राह्मण एव (समणा) श्रमण (सव्वे) सभी (सय) अपना-अपना (नाण) ज्ञान (वए) बघारते हैं, बताते है । (सव्वलोगे) किन्तु समस्त

---

१ उपनिषद् मे भी कहते हैं -

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता ।
तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति येके चात्महनो जना ॥ —ईशोपनिषद्

लोक मे (जे) जो (पाणा) प्राणी है, (वि) उन्हे भी (ते) वे (किंचण) कुछ (न जाणति) नही जानते।

भावार्थ

इस जगत् मे कई ब्राह्मण और श्रमण ऐसे भी है कि वे सभी अपना-अपना ज्ञान बघारते रहते है, अपने ज्ञान का वे प्रदर्शन करते रहते हैं। किन्तु समस्त लोक मे जितने प्राणी है, उन्हे भी वे कुछ नही जानते।

•

ज्ञान के प्रदर्शको मे जीवो के ज्ञान का अभाव—'थोथा चना बाजे घना' इस लोकोक्ति के अनुसार अज्ञानवादियो के पास सम्यग्ज्ञान तो होता नही, इधर-उधर का रटारटाया मतासक्तिपूर्ण थोडा-बहुत ज्ञान होता है, उसे ही वे बढा-चढाकर लच्छेदार भाषा मे भोले-भाले लोगो के सामने बघारते रहते है। यह अज्ञान का सम्यक्ज्ञान के नाम पर सम्यक्ज्ञान का मुलम्मा चढाकर किया जाता है, इसे ही शास्त्रकार कहते हैं—**सव्वे नाण सय वए।**

माहणा समणा एगे—इस पक्ति का अभिप्राय यह है कि सभी ब्राह्मण-श्रमण तो नही, किन्तु कई ब्राह्मण-श्रमण ऐसे हैं, जो अपने-अपने माने हुए शास्त्रो मे हेयोपादेय के बोधक ज्ञान का निरूपण करते हैं, कहते हैं—इस प्रकार से इस अनुष्ठान के करने से स्वर्ग आदि की प्राप्ति होगी, इसके करने से मोक्ष मिलेगा। परन्तु उनका वह ज्ञान जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाय[1], इस व्युत्पत्त्यर्थ के अनुसार ज्ञान भले ही हो, सम्यक्ज्ञान नही है, अपितु उनका ज्ञान परस्पर विरोधी होने के कारण सम्यक्ज्ञान—सच्चा ज्ञान नही, मिथ्याज्ञान है। इस ज्ञान बघारने की अपेक्षा अज्ञान ही अच्छा। वे परस्पर विरोधी और एकान्त प्ररूपणा करते है, अत परस्पर विरोधी प्ररूपणा करने से प्रतीत होता है, कि उन्हे वास्तविक ज्ञान नही है, प्रत्युत वे सब अज्ञानान्धकार मे भटक रहे है।

'सव्वलोगेऽवि न ते जाणति किंचण'—एक तरफ वे कहते हैं—**'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'** (समस्त प्राणियो की हिंसा मत करो) और दूसरी ओर वे ही कहने लगते है - **'याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति'**, या **'यज्ञार्थं पशव सृष्टा'** (यज्ञ मे पशुवध से होने वाली हिंसा हिंसा नही है। ईश्वर ने यज्ञ के लिये पशु बनाये है।) इस प्रकार परस्पर विरोधी वचन कहने वाले क्या सम्यग्ज्ञानसम्पन्न कहे जा सकते

---

१. ज्ञायत परिच्छिद्यते पदार्थोऽनेनेति ज्ञानम्।

है ? वे स्वय अपने अन्तर् मे विवेक का गज डालकर देखें कि क्या यज्ञ के समय पशु-बलि से होने वाली हिंसा अहिंसा हो जाएगी ? क्या यज्ञ मे मरने वाले प्राणी प्राणी नही हैं ? क्या वे उस समय जीव न रहकर अजीव हो जाएँगे ? यदि उन तथाकथित ज्ञानवादियो को प्राणियो के स्वरूप का ज्ञान होता तो क्या वे उनकी (यज्ञार्थ होने वाली) हिंसा को अहिंसा कह सकते थे ? यह स्पष्टत प्राणियो के सम्बन्ध मे उनकी अज्ञानता सूचित करता है। यह इस पक्ति का आशय है।

अब दो गाथाओ द्वारा दृष्टान्त देकर शास्त्रकार समझाते हैं कि किस प्रकार से वे सम्यक्ज्ञानवर्जित तथाकथित ब्राह्मण-श्रमण अज्ञान से आवृत है—

मूल

मिलक्खू अमिलक्खूस्स, जहा वुत्ताणुभासए ।
ण हेउ से विजाणाइ, भासिअं तऽणुभासए ॥१५॥
एवमन्नाणिया नाणं, वयंतावि सय सयं ।
निच्छयत्थ न याणंति, मिलक्खु व्व अबोहिया ॥१६॥

सस्कृत छाया

म्लेच्छोऽम्लेच्छस्य, यथोक्तानुभाषक ।
न हेतु स विजानाति, भाषितत्वनुभाषते ॥१५॥
एवमज्ञानिका ज्ञान, वदन्तोऽपि स्वक स्वकम् ।
निश्चयार्थं न जानन्ति, म्लेच्छा इवाबोधिका ॥१६॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (मिलक्खू) म्लेच्छ पुरुष (अमिलक्खूस्स) अम्लेच्छ यानी आर्य-पुरुष के (वुत्ताणुभासए) कथन का अनुवाद करता है। (से) वह (हेउ) कारण को (ण विजाणाइ) नही जानता है, (तु) किन्तु (भासिय) उनके भाषण का (अणुभासए) अनुवादमात्र करता है ॥१५॥

(एव) इसी तरह (अन्नाणिया) सम्यग्ज्ञानहीन ब्राह्मण (परिव्राजक) और श्रमण (शाक्यादि श्रमणवेषधारी) (सय सय) अपने-अपने माने हुए (नाण) ज्ञान को (वयताvि) कहते हुए भी (निच्छयत्थ) निश्चित अर्थ (सर्वज्ञोक्त सुसिद्धान्त) को (न याणति) नही जानते है। (मिलक्खु व्व) वे पूर्वोक्त म्लेच्छ की तरह (अबोहिया) बोधरहित है ॥१६॥

भावार्थ

जैसे म्लेच्छपुरुष अम्लेच्छ आर्यपुरुप के कथन का अनुवाद करता है, किन्तु वह उस भाषण का अभिप्राय (हेतु) नही जानता, वह तो केवल उस भाषण का अनुवादमात्र करता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान से विहीन ब्राह्मण और श्रमण अपने-अपने ज्ञान को कहते हुए भी उसके निश्चितार्थ को नही जानते। वे तो पूर्वोक्त म्लेच्छो की तरह सम्यक्वोध से रहित है।

व्याख्या

अज्ञानियो की तोतारटन

इन दो गाथाओ मे अज्ञानियो की म्लेच्छ के साथ उपमा देते हुए कहा गया है कि वे पण्डितम्मन्य अज्ञानवादी जो कुछ ज्ञान बघारते है, वह उसी तरह का तोता-रटन है। जैसे आर्यो की भाषा से अनभिज्ञ म्लेच्छ आर्यपुरुप के कथन को मात्र दोहरा देता है। वह उस भाषा मे कही हुई बात का रहस्य या कारण नही बता सकता। जैसे तोते को 'राम-राम' या 'नमस्ते' कहना सिखा दिया जाता है और वह इन वाक्यो को बार-बार दोहराता रहता है, परन्तु वह उक्त शब्दो का अर्थ बिलकुल नही जानता, वह मालिक के सिखलाये हुए शब्दो को रटकर उन्हे दोहराता रहता है। जैसे आर्यो की भाषा से अनभिज्ञ कोई म्लेच्छपुरुप म्लेच्छ भाषा को न जानने वाले आर्यपुरुष के शब्दो को केवल दोहरा देता है, या अर्थज्ञानशून्य उसकी भाषा का अनुवाद मात्र कर देता है परन्तु उसने किस विवक्षा से यह बात कही है, उसका अभिप्राय वह भली-भाँति नही जानता।

यही बात सम्यग्ज्ञान से शून्य अज्ञानसम्पन्न तथाकथित ब्राह्मण-श्रमणो पर भी लागू होती है कि वे अपने-अपने मत की पोथियो मे लिखे ज्ञान को लोगो के सामने बार-बार दोहराते रहते है, साथ ही उस ज्ञान के प्रमाणभूत होने की दुहाई भी देते रहते है, लेकिन परस्पर विरुद्ध और विसगत बाते कहने के कारण साफ प्रतीत होता है कि वे केवल तथाकथित शास्त्रो या अपने माने हुए शास्त्रो के वचनो को दोहरा रहे है, उनका जो निश्चित-सिद्धान्तसम्मत अर्थ है, उसे वे नही जानते। वे उसी म्लेच्छ या तोते की तरह अबोध और अनुवादकमात्र हैं। इसीलिये शास्त्रकार ने दृष्टान्त का उपसहार करते हुए कहा है—निच्छयत्थ न याणति मिलक्खु व्व।

अब अगली गाथा मे अज्ञानवादियो का मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए उनकी अज्ञानता सिद्ध करते हैं—

मूल पाठ

अन्नाणियाण वीमंसा, अण्णाणे ण विनियच्छइ ।
अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं ॥१७॥

संस्कृत छाया

अज्ञानिकानां विमर्शः अज्ञाने न विनियच्छति ।
आत्मनश्च परं नालं, कुतोऽन्याननुशासितुम् ? ॥१७॥

अन्वयार्थ

(अन्नाणियाण) अज्ञानियो का (वीमसा) पर्यालोचनात्मक विचार (अण्णाणे) अज्ञानपक्ष मे (ण विनियच्छइ) युक्तिसगत नही हो सकता। (अप्पणो) वे अज्ञानवादी अपने को भी (परं) अज्ञानवाद की (अणुसासिउं) शिक्षा देने मे (नालं) समर्थ नही हैं, (अन्नाणुसासिउं कुतो) दूसरो को अनुशासित करने मे कैसे समर्थ हो सकते है ?

भावार्थ

अज्ञानवादियो द्वारा अज्ञान ही श्रेष्ठ है, इसकी मीमासा (सर्वतोमुखी विचार) अज्ञानपक्ष मे सगत नही हो सकती। जब अज्ञानवादी अपने आपको अनुशासित करने (शिक्षा देने) मे समर्थ नही है, तब फिर वे दूसरो को अनुशासित करने (शिक्षा देने) मे कैसे समर्थ हो सकते हे ?

व्याख्या

अज्ञानवाद अज्ञानपक्ष से सिद्ध नहीं हो सकता

इस गाथा मे शास्त्रकार ने तर्को द्वारा अज्ञानवाद को असिद्धकर बताया है। पहला तर्क यह है कि अज्ञानवादी[1] जो अज्ञान को ही दुनिया मे सर्वश्रेष्ठ वस्तु सिद्ध

---

१ अज्ञान का अर्थ है—कुत्सितज्ञान। वह अज्ञान जिसका हो, वह अज्ञानिक है अथवा अज्ञानपूर्वक जिनका आचार-व्यवहार है, वे अज्ञानिक कहलाते है। हिता-हित-परीक्षा से जो रहित है, वे भी अज्ञानिक है।

(क) कुत्सित ज्ञानमज्ञान, तद् येषामस्ति तेऽज्ञानिका । ते च वादिनश्चेत्यज्ञानिक-वादिन ।
—भग०

(ख) वे अज्ञानवादी शाकल्य, सात्यमुद्रि, मौद, पिप्पलाद, वादरायण, जैमिनि, वसु आदि प्रमुख हैं। जैसा कि राजवार्तिक मे कहा है—"शाकल्य-वाल्कल-कुथुमि-सात्य-मुद्रि-नारायण-कण्ठमाध्यदिन-मौद-पिप्पलाद-बादरायणाम्बष्ठिकृदौदरिकायनवसु-जैमिनि इत्यादीनामज्ञानकुदृष्टीना सप्तषष्ठि ।"

करने का प्रयास करते हैं, परन्तु उसकी सारी विचार-चर्चा ज्ञान (अनुमान आदि प्रमाणो) द्वारा करते है, यह बेतुकी और 'वदतोव्याघात' जैसी बात है। अज्ञान-वादियो का मन्तव्य यह है कि बिना विचारे अज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्मबन्ध विफल हो जाता है, वह दारुण दुःख नही देता। ज्ञान कल्याणकारी नही होता। ज्ञान ही तमाम वितण्डावादो की सृष्टि करता है। ज्ञान से ही तो एक वादी दूसरे के विरुद्ध तत्त्व प्ररूपण करके विवाद का अखाडा बनाते है। वाद-विवाद से चित्त मे कलुषितता आदि दोष पैदा होते हैं, जिनसे दीर्घकाल तक ससार मे परिभ्रमण होता है। जब इस मूलक ज्ञान को छोडकर अज्ञान का सहारा लेते है तो, 'यह मेरा सिद्धान्त है, मैं तुम्हारे मत का खण्डन करूंगा', इत्यादि ज्ञानमूलक अहकार कभी उत्पन्न नही हो सकता। अहकार न होने से एक दूसरे के प्रति कालुष्य नही होगा। चित्त मे कालुष्य न होने से कर्मबन्ध की सम्भावना भी नही रहेगी। इसी तरह, जो कार्य विचारकर जानबू किये जाते हैं, उनसे दारुण-फलदायक कर्मबन्ध होता है, और उस कर्मबन्ध का कठोर फल अवश्य भोगना पडता है। तीव्र अध्यवसाय से अर्थात् बुद्धिपूर्वक होने वाले कपायादेश से जो कर्मबन्ध होता है, उसका फल भी अबाधित होता है। अत. जो कर्म मन के अभिप्राय के बिना केवल वचन और शरीर की प्रवृत्ति मात्र से उपार्जित किये जाते है, उनमे चित्त का तीव्र अभिनिवेश—अत्यन्त कषायवृत्ति न होने से उनका फल भी नही भुगतना पडता। वे कर्म फल दिये बिना भी झड सकते हैं। यदि उन्होने फल भी दिया तो इतना दारुण-फल नही होता। दीवार पर लगी हुई धूल के झाडने के समान थोडी सी शुभ-अध्यव- हवा के झोके से अपने आप वह कर्मरज झड जाती है। मन मे राग-द्वेषादिरूप अभिनिवेश उत्पन्न न होने देने का सबसे आसान उपाय है—ज्ञानपूर्वक व्यापार को छोडकर मे ही सन्तोष करना। क्योकि जब तक ज्ञान रहेगा, तब तक वह कुछ न कुछ रागद्वेषादिरूप उत्पात करता ही रहेगा। वह शान्त नही बैठा रहेगा। अत मोक्षसाधक मुमुक्षु के लिए ही साध्य तथा श्रेयस्कर हो ा है, ज्ञान नही।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान तो तब उपादेय हो सकता है, जब ज्ञान के स्वरूप का ठीक-ठीक निश्चय हो जाय। इस ससार मे अनेको मत-मतान्तर हैं, सभी मत वाले अपने-अपने तत्त्वज्ञान के सच्चे होने का दावा करते है। अत इस आपाधापी मे 'कौनसा मत सच्चा है? या किसका ज्ञान यथार्थ है?' यह निर्णय करना कठिन ही नही, असम्भव है। सभी दर्शन वाले अपनी-अपनी डेढ चावल की खिचडी अलग-अलग पका रहे है। सभी अपने-अपने सिद्धान्तो के लिए सत्यता की

दुहाई दे रहे है। ऐसी स्थिति मे यह विवेक करना कठिन हो रहा है कि यह सच्चा है या वह ? सभी अपने-अपने मत के प्रवर्तको को सर्वज्ञ और दूसरे मत के प्रवर्तको को असर्वज्ञ कहते हैं, अपने शास्त्र और उनमे प्ररूपित ज्ञान को सभी अपने सर्वज्ञ द्वारा भाषित एव पूर्ण सत्य कहते हैं। पर इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि सर्वज्ञ कौन है ? किस मत का प्रवर्तक सर्वज्ञ है ? यदि निर्णय भी कर लिया जाय कि अमुक मत का प्रवर्तक सर्वज्ञ है, तब भी वे शास्त्र या वे सिद्धान्त-वचन उस सर्वज्ञ के द्वारा भाषित या उपदिष्ट हैं या नही ? यह जाँचना-परखना भी टेढी खीर है। क्योकि किसी भी सर्वज्ञ को हमने या हमारे पूर्वजो ने कभी शास्त्रोपदेश करते भी तो नही देखा। तब बिना प्रमाण के तथाकथित मत के प्रवर्तक को सर्वज्ञ तथा उसके द्वारा प्रकाशित शास्त्रज्ञान को सर्वज्ञोपदिष्ट कैसे माना जाये ? थोडी देर के लिए आपकी (जैनो की) बात मानकर हम यह स्वीकार भी कर ले कि आचाराग आदि शास्त्रो मे उक्त वचन सर्वज्ञ महावीर के है, तब भी शास्त्र मे उक्त वचनो (शब्दो) का यही अर्थ है, दूसरा नही, इस प्रकार का निश्चय कौन और कैसे करेगा ? क्योकि आपके सर्वज्ञ उन शब्दो का निश्चित अर्थ तो कर ही नही गये है। यही कारण है कि एक ही शास्त्र पर कई शब्दो के विभिन्न टीकाकारो एव व्याख्याकारो ने परस्पर विरुद्ध अनेक अर्थ किये हैं। वहाँ बुद्धि चकरा जाती है। कौन-सा अर्थ सही होगा, कौन-सा गलत, इसका निर्णय करना भी कठिन हो जाता है। अत इन सब झझटो से दूर रहने के लिए अज्ञान को ही अपनाना श्रेयस्कर है। ज्ञान ही सारे अनर्थों का मूल है। इसी से अहकारपूर्वक रागद्वेष होने से अनन्त ससार की वृद्धि होती है, फिर कौन-सा ज्ञान सम्यक् है, इसका निश्चय करना भी अत्यन्त कठिन है। इस अनर्थमूलक ज्ञान से कल्याण नही हो सकता। अत अज्ञान ही श्रेय-साधक है।

अज्ञानवादियो की पूर्वोक्त विचारधारा का निराकरण करने हेतु शास्त्रकार कहते हैं—'अन्नाणियाण वीमसा णे ण विनियच्छइ।' इसका आशय है कि अज्ञानवादियो द्वारा अज्ञान ही श्रेष्ठ है। वही श्रेयस्कर है, ज्ञान अनर्थों का मूल है, इत्यादि बातें सिद्ध करने के लिए उन्होने जो अनुमानादि (तर्क, युक्ति, हेतु आदि) ज्ञान का सहारा लिया है, वह 'वदतोव्याघात' जैसा है। अपनी ही बात अपने व्यवहार से वे खण्डित कर रहे हैं। अज्ञान को श्रेयस्कर सिद्ध करने के लिये ज्ञान का आश्रय वे क्यो लेते हैं ? 'ज्यो-ज्यो ज्ञान बढता है, त्यो-त्यो दोष बढता है,' यह ज्ञान सत्य है या असत्य ? तथा 'अज्ञान ही श्रेयस्कर है,' इत्यादि मीमासा या विचार-चर्चा करना भी अज्ञानवादियो को उचित नही है, क्योकि इस प्रकार का पर्यालोचनात्मक विचार भी तो ज्ञानरूप है। जब वे स्वय जानबूझकर अज्ञानी बनकर

रहने मे सुख-शाति समझते है तो बुद्धि पर ताला लगा कर चुपचाप बैठना चाहिए, न उन्हे किसी को अपनी बात समझानी चाहिए और न ही उपदेश देना चाहिए, अपने मत का भी प्रचार उन्हे नही करना चाहिए। परन्तु वे स्वय कहाँ चुपचाप बैठते है, अपने मत का प्रचार करने के लिए बुद्धि का प्रयोग करते है। जब वे स्वय को अपने अज्ञानवाद के सिद्धान्त पर स्थिर एव अनुशासित नही रख सकते, यानी अपने आपको अज्ञानवाद की शिक्षा देने मे समर्थ नही है, तब दूसरो (शिष्यो) को अज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुशासन (शिक्षा) मे कैसे चलाएँगे ? दूसरी बात, जब वे स्वय अज्ञानी है, तब शिष्य बनकर जो शिक्षा के लिए उनके पास आते हे उन्हे वे अज्ञानवाद की शिक्षा भी कैसे दे सकेगे ? क्योकि अज्ञानवाद की शिक्षा तो ज्ञान के द्वारा ही दी जाएगी, ज्ञान को तिलाजलि देकर कोई भी अज्ञानवादी कैसे शिक्षा दे सकेगा ? अत सबसे बडी चुप (मौन) की साधना मे ही अज्ञानवाद है ? क्योकि 'मौन विभूषणमज्ञताया' अज्ञता (अज्ञान) का आभूषण मौन है। यही बात शास्त्रकार इस गाथा की निचली पक्ति मे कहते हैं—'अप्पणो य पर नाल, कुतो अन्नाणुसासिउ'। इससे अज्ञानवादियो का यह कथन भी खण्डित हो जाता है कि दूसरे की चित्तवृत्ति नही जानी जाती, इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है, क्योकि 'अज्ञान ही श्रेयस्कर है,' इस प्रकार का उपदेश दूसरो को देने के लिए प्रवृत्त होकर उन्होने स्वय दूसरे की चित्तवृत्ति का ज्ञान होना स्वीकार कर लिया है। यदि दूसरे की चित्तवृत्ति नही जानी जाती है तो अज्ञानवादी गुरुओ की चित्तवृत्ति को उनके शिष्य कैसे जानेगे, उन पर कैसे विश्वास कर लेगे, कि हमारे गुरु ज्ञानवान् हैं। उनका बताया हुआ ज्ञान सच्चाज्ञान है। वे अगर अपने गुरुओ की चित्तवृत्ति को नही जानेगे या विश्वास नही करेंगे तो अज्ञानवाद का उपदेश कैसे ग्रहण करेगे ? जब दूसरे की चित्तवृत्ति को जान नही सकते तो फिर उन्हे अज्ञानवाद की शिक्षा ही क्यो देते है ? अन्यमतवादियो ने स्पष्ट स्वीकार कर लिया है कि दूसरे की चित्तवृत्ति जानी जा सकती है, देखिये उनका वह श्लोक—

> **आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।**
> **नेत्र-वक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गत मन ॥**

अर्थात्—मनुष्य की आकृति (चेहरे) से, इगित से, गति (चाल-ढाल) से, चेष्टा से, भाषण (बोलचाल) से, आखो और मुँह के विकारो से उसका अन्तर्मन जान लिया जाता है।

जब अज्ञानवादी स्वत- प्रेक्षित अज्ञानी है, तो वे बिना ज्ञान के यह आक्षेप कैसे कर सकते है कि 'समस्त उपदेश आदि म्लेच्छो द्वारा किये हुए आर्यभाषा के

अनुवाद के समान निराधार हैं।' क्योकि ज्ञान के विना वे कथन भी कैसे कर सकते है ?

अज्ञानवादी स्वय को तथा दूसरो को अज्ञानवाद के अनुशासन मे रखने मे किस प्रकार असमर्थ है, यह दो दृष्टान्तो द्वारा बताने के लिए सूत्रकार कहते है—

मूल पाठ

वणे मूढे जहा जन्तू, मूढणेयाणुगामिए।
दोवि एए अकोविया, तिव्व सोय नियच्छइ ॥१८॥

अधो अध पह णितो, दूरमद्धाणुगच्छइ।
आवज्जे उप्पहं जन्तू, अदुवा पथाणुगामिए ॥१९॥

सस्कृत छाया

वने मूढो यथा जन्तुर्मूढनेत्रनुगामिक ।
द्वावप्येतावकोविदौ तीव्र शोक नियच्छत ॥१८॥

अन्धोऽन्ध पन्थान नयन्, दूरमध्वानमनुगच्छति।
आपद्यत उत्पथ जन्तुरथवापन्थानमनुगामिक ॥१९॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (वणे) वन मे, (मूढे) दिशामूढ (जन्तू) प्राणी (मूढणेयाणुगामिए) दिशामूढ नेता के पीछे चलता है तो, (दोवि एए) वे दोनो ही (अकोविया) मार्ग नही जानने वाले है, इसलिए (तिव्व) तीव्र (सोय) शोक—दु ख (नियच्छइ) अवश्य ही प्राप्त करते हैं ॥१८॥

(अध) अन्धे मनुष्य को (पह) मार्ग मे (णितो) ले जाता हुआ (अधो) अन्धा पुरुप (दूर) जहां जाना है, वहाँ से दूर तक (अद्धाणुगच्छइ) मार्ग मे चला जाता है। (जन्तू) तथा वह प्राणी (उप्पह) उत्पथ उजड मार्ग (आवज्जे) पकड लेता है या पहुँच जाता है। (अदुवा) अथवा (पथाणुगामिए) अन्य मार्ग पर चढ जाता है या उसके पीछे-पीछे चला जाता है ॥१९॥

भावार्थ

जैसे घोर जगल मे दिशामूढ बनकर मार्ग भूला हुआ प्राणी यदि किसी दिशामूढ नेता के पीछे चलता है तो वे दोनो ही मार्ग न जानने के कारण मार्गभ्रष्ट प्राणी अवश्य तीव्र दु ख एव शोक को प्राप्त करते है।

जैसे स्वय अन्धा व्यक्ति मार्ग मे दूसरे अन्धे को ले जाता हुआ जहाँ जाना है, वहाँ से दूर, बहुत दूर देश मे चला जाता है। अथवा वह (काँटे, , जगली हिंसक जन्तुओ से भरे) उजड रास्ते पर चढ जाता है, अथवा ठीक मार्ग को छोडकर दूसरे रास्ते पर चला जाता है।

व्याख्या

अन्धे के पीछे अन्धा . विनाश का धन्धा

अज्ञानवादियो की अनिष्ट दशा को समझाने के लिए शास्त्रकार दो दृष्टान्तो द्वारा वस्तुतत्त्व अभिव्यक्त करते है—

(१) एक घोर जगल है। उसमे हिंसक जगली जन्तुओ का भय है। एक पथिक घूमता-घामता रास्ता भूल गया, उसे यह पता ही नही चल रहा था कि मैं किस दिशा मे जा रहा हूँ ? वह दिग्मूढ एव व्याकुल होकर इधर-उधर देख रहा था कि इतने मे एक दूसरा पथिक आता हुआ दिखाई दिया, वह भी पथभ्रष्ट और दिशामूढ था, परन्तु वाचाल होने के कारण उक्त व्याकुल पथिक से कहा—'मेरे पीछे चले आओ, मैं तुम्हे सही-सलामत गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दूंगा, मैंने सब रास्ता देखा है।' वह दिशामूढ भयभ्रान्त बेचारा पथिक इस नये वाचाल पथिक के चक्कर मे आकर उसके पीछे-पीछे चलने लगा। नतीजा यह हुआ कि उस मार्गभ्रष्ट एव मार्ग से अनभिज्ञ पथिक के पीछे चलने से वह भोला पथिक दु खी हुआ। साथ मे जो मार्गदर्शक नेता बना था, वह भी मार्ग का जानकार न होने से अत्यन्त दु खी हुआ। दोनो एक-दूसरे को कोसने लगे। आवाज सुनकर एक भयानक जगली जानवर आ गया। उसने दोनो पर झपटकर वही दोनो का काम तमाम कर डाला।

यह एक रूपक है। यही हाल से अनभिज्ञ अज्ञानवादी गुरु का है, उसके पीछे-पीछे यदि कोई दिशामूढ भयभ्रान्त पथिक उसके बहकावे मे आकर चल देता है तो आखिर दोनो इस घोर ससाररूपी जगल मे भटकते रहते है और कही न कही भयकर दु ख एव मरण की चपेट मे आ जाते है।

(२) इसी प्रकार एक दूसरा दृष्टान्त देकर इस बात को समझाया गया है—एक अन्धा था, वह कही चला जा रहा था। मार्ग मे उसे एक दूसरा अन्धा मिला। वह वाचाल था। पहले वाले अन्धे से उसने पूछा 'कहाँ जा रहे हो ?' उसने किसी नगर का नाम लिया, तो दूसरा वाचाल अन्धा तपाक से बोला—'अरे, पहले तुमने क्यो नही कहा ? तुम तो उलटे चल रहे हो। मेरे साथ चले आओ। मैं तुम्हे ठीक मार्ग से सही-सलामत वही पहुँचा दूंगा।' पहला अन्धा भुलावे मे

आकर दूसरे अन्धे के नेतृत्व मे चल पडा। दूसरा अन्धा स्वय मार्ग नहीं देख सकता था, अत अपने पीछे चलने वाले अन्धे को जिस मार्ग से जाना था, उसे छोडकर वह असली मार्ग से बहुत दूर पहुँच गया। वहाँ से फिर भटककर वह कँटीले-ककरीले उजड मार्ग पर चढ गया। आगे चलकर दोनो अन्धे दूसरे ही मार्ग पर चल पडे और ऐसे भटक गये कि उन्हे असली रास्ता नही मिला।

यही हाल अज्ञानवादियो को नेता मानकर उनके पीछे चलने वाले मार्ग से अनभिज्ञ अन्धतुल्य नासमझ शिष्य का होता है। अज्ञानवादी स्वय सम्यक्मार्ग से अनभिज्ञ है, तब अपने पीछे चलने वालो को वे कैसे मार्ग बता सकेंगे ? सचमुच अपने पीछे चलने वालो को भी वे बहुत दूर क्रियाकाण्डो के गहन वन मे या तापस तक के उजड मार्ग मे ले जाकर छोडेंगे। यही शास्त्रकार का आशय है।

अब उन्ही अज्ञानवादियो की उन्मार्गगामिता का परिचय दे रहे है—

मूल

एवमेगे नियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं।
अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥२०॥

स त छाया

एवमेके नियागार्थिनो धर्माराधका वयम्।
अथवाऽधर्ममापद्येरन् न ते सर्वर्जुकं व्रजेयु ॥२०॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (एगे) कई (नियायट्ठी) मोक्षार्थी कहते हैं (वय) हम (धम्ममाराहगा) धर्म के आराधक हैं। (अदुवा) परन्तु वे (अधम्ममावज्जे) अधर्म को प्राप्त करते है (सव्वज्जुय) सब प्रकार से सरल मार्ग को (ण ते वए) वे प्राप्त नही करते है।

भावार्थ

इस प्रकार कई मोक्षार्थी (तथाकथित) कहते हैं कि हम धर्म के आराधक है। परन्तु धर्म की आराधना तो दूर रही, वे प्राय अधर्म को ही (धर्म के नाम से) स्वीकार कर लेते हैं। वे सब प्रकार से सरल सयम के मार्ग को प्राप्त नही कर पाते।

जैसे स्वय अन्धा व्यक्ति मार्ग मे दूसरे अन्धे को ले जाता हुआ जहाँ जाना है, वहाँ से दूर, बहुत दूर देश मे चला जाता है। अथवा वह (काँटे, , जगली हिसक जन्तुओ से भरे) उजड रास्ते पर चढ जाता है, अथवा ठीक मार्ग को छोडकर दूसरे रास्ते पर चला जाता है।

व्याख्या

अन्धे के पीछे अन्धा विनाश का धन्धा

अज्ञानवादियो की अनिष्ट दशा को समझाने के लिए शास्त्रकार दो दृष्टान्तो द्वारा वस्तुतत्त्व अभिव्यक्त करते हैं—

(१) एक घोर जगल है। उसमे हिंसक जगली जन्तुओ का भय है। एक पथिक घूमता-घामता रास्ता भूल गया, उसे यह पता ही नही चल रहा था कि मैं किस दिशा मे जा रहा हूँ ? वह दिग्मूढ एव व्याकुल होकर इधर-उधर देख रहा था कि इतने मे एक दूसरा पथिक आता हुआ दिखाई दिया, वह भी पथभ्रष्ट और दिशामूढ था, परन्तु वाचाल होने के कारण उक्त व्याकुल पथिक से कहा—'मेरे पीछे चले आओ, मैं तुम्हे सही-सलामत गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दूंगा, मैंने सब रास्ता देखा है।' वह दिशामूढ भयभ्रान्त बेचारा पथिक इस नये वाचाल पथिक के चक्कर मे आकर उसके पीछे-पीछे चलने लगा। नतीजा यह हुआ कि उस मार्गभ्रष्ट एव मार्ग से अनभिज्ञ पथिक के पीछे चलने से वह भोला पथिक दु खी हुआ। साथ मे जो मार्गदर्शक नेता बना था, वह भी मार्ग का जानकार न होने से अत्यन्त दु खी हुआ। दोनो एक-दूसरे को कोसने लगे। आवाज सुनकर एक भयानक जगली जानवर आ गया। उसने दोनो पर झपटकर वही दोनो का काम तमाम कर
।

यह एक रूपक है। यही हाल सत्पथ से अनभिज्ञ ादी गुरु का है, उसके पीछे-पीछे यदि कोई दिशामूढ भयभ्रान्त पथिक उसके बहकावे मे आकर चल देता है तो आखिर दोनो इस घोर ससाररूपी जगल मे भटकते रहते हैं और कही न कही भयकर दु ख एव मरण की चपेट मे आ जाते है।

(२) इसी प्रकार एक दूसरा दृष्टान्त देकर इस बात को समझाया गया है—एक अन्धा था, वह कही चला जा रहा था। मार्ग मे उसे एक दूसरा अन्धा मिला। वह वाचाल था। पहले वाले अन्धे से उसने पूछा 'कहाँ जा रहे हो ?' उसने किसी नगर का नाम लिया, तो दूसरा वाचाल अन्धा तपाक से बोला—'अरे, पहले तुमने क्यो नही कहा ? तुम तो उलटे चल रहे हो। मेरे साथ चले आओ। मैं तुम्हे ठीक मार्ग से सही-सलामत वही पहुँचा दूंगा।' पहला अन्धा भुलावे मे

आकर दूसरे अन्धे के नेतृत्व मे चल पडा। दूसरा अन्धा स्वय मार्ग नहीं देख सकता था, अत अपने पीछे चलने वाले अन्धे को जिस मार्ग से जाना था, उसे छोडकर वह असली मार्ग से बहुत दूर पहुँच गया। वहाँ से फिर भटककर वह कँटीले-ककरीले उजड मार्ग पर चढ गया। आगे चलकर दोनो अन्धे दूसरे ही मार्ग पर चल पडे और ऐसे भटक गये कि उन्हे असली रास्ता नही मिला।

यही हाल अज्ञानवादियो को नेता मानकर उनके पीछे चलने वाले मार्ग से अनभिज्ञ अन्धतुल्य नासमझ शिष्य का होता है। अज्ञानवादी स्वय सम्यक्मार्ग से अनभिज्ञ है, तब अपने पीछे चलने वालो को वे कैसे मार्ग बता सकेंगे? सचमुच अपने पीछे चलने वालो को भी वे बहुत दूर क्रियाकाण्डो के गहन वन मे या तापस तक के उजड मार्ग मे ले जाकर छोडेंगे। यही शास्त्रकार का आशय है।

अब उन्ही अज्ञानवादियो की उन्मार्गगामिता का परिचय दे रहे है—

मूल

एवमेगे नियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं।
अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥२०॥

संस्कृत छाया

एवमेके नियागार्थिनो धर्माराधका वयम्।
अथवाऽधर्ममापद्येरन् न ते सर्वर्जुकं व्रजेयु ॥२०॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (एगे) कई (नियायट्ठी) मोक्षार्थी कहते हैं (वय) हम (धम्ममाराहगा) धर्म के आराधक हैं। (अदुवा) परन्तु वे (अधम्ममावज्जे) अधर्म को प्राप्त करते हैं (सव्वज्जुय) सब प्रकार से सरल मार्ग को (ण ते वए) वे प्राप्त नही करते हैं।

भावार्थ

इस प्रकार कई मोक्षार्थी (तथाकथित) कहते हैं कि हम धर्म के आराधक है। परन्तु धर्म की आराधना तो दूर रही, वे प्राय अधर्म को ही (धर्म के नाम से) स्वीकार कर लेते है। वे सब प्रकार से सरल संयम के मार्ग को प्राप्त नही कर पाते।

जैसे स्वय अन्धा व्यक्ति मार्ग मे दूसरे अन्धे को ले जाता हुआ जहाँ जाना है, वहाँ से दूर, बहुत दूर देश मे चला जाता है। अथवा वह (काँटे, , जगली हिंसक जन्तुओ से भरे) उजड रास्ते पर चढ जाता है, अथवा ठीक मार्ग को छोडकर दूसरे रास्ते पर चला जाता है।

व्याख्या

अन्धे के पीछे अन्धा . विनाश का धन्धा

अज्ञानवादियो की अनिष्ट दशा को समझाने के लिए शास्त्रकार दो दृष्टान्तो द्वारा वस्तुतत्त्व अभिव्यक्त करते है—

(१) एक घोर जगल है। उसमे हिंसक जगली जन्तुओ का भय है। एक पथिक घूमता-घामता रास्ता भूल गया, उसे यह पता ही नही चल रहा था कि मैं किस दिशा मे जा रहा हूँ ? वह दिग्मूढ एव व्याकुल होकर इधर-उधर देख रहा था कि इतने मे एक दूसरा पथिक आता हुआ दिखाई दिया, वह भी पथभ्रष्ट और दिशामूढ था, परन्तु वाचाल होने के कारण उक्त व्याकुल पथिक से कहा—'मेरे पीछे चले आओ, मैं तुम्हे सही-सलामत गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दूंगा, मैंने सब रास्ता देखा है।' वह दिशामूढ भयभ्रान्त बेचारा पथिक इस नये वाचाल पथिक के चक्कर मे आकर उसके पीछे-पीछे चलने लगा। नतीजा यह हुआ कि उस मार्गभ्रष्ट एव मार्ग से अनभिज्ञ पथिक के पीछे चलने से वह भोला पथिक दु खी हुआ। साथ मे जो मार्गदर्शक नेता बना था, वह भी मार्ग का जानकार न होने से अत्यन्त दु खी हुआ। दोनो एक-दूसरे को कोसने लगे। आवाज सुनकर एक भयानक जगली जानवर आ गया। उसने दोनो पर झपटकर वही दोनो का काम तमाम कर डाला।

यह एक रूपक है। यही हाल सत्पथ से अनभिज्ञ अज्ञानवादी गुरु का है, उसके पीछे-पीछे यदि कोई दिग्मूढ भयभ्रान्त पथिक उसके बहकावे मे आकर चल देता है तो आखिर दोनो इस घोर ससाररूपी जगल मे भटकते रहते हैं और कही न कही भयकर दु ख एव मरण की चपेट मे आ जाते हैं।

(२) इसी प्रकार एक दूसरा दृष्टान्त देकर इस बात को समझाया गया है—एक अन्धा था, वह कही चला जा रहा था। मार्ग मे उसे एक दूसरा अन्धा मिला। वह वाचाल था। पहले वाले अन्धे से उसने पूछा 'कहाँ जा रहे हो ?' उसने किसी नगर का नाम लिया, तो दूसरा वाचाल अन्धा तपाक से बोला—'अरे, पहले तुमने क्यो नही कहा ? तुम तो उलटे चल रहे हो। मेरे साथ चले आओ। मैं तुम्हे ठीक मार्ग से सही-सलामत वही पहुँचा दूंगा।' पहला अन्धा भुलावे मे

आकर दूसरे अन्धे के नेतृत्व मे चल पडा। दूसरा अन्धा स्वय मार्ग नही देख सकता था, अत अपने पीछे चलने वाले अन्धे को जिस मार्ग से जाना था, उसे छोडकर वह असली मार्ग से बहुत दूर पहुँच गया। वहाँ से फिर भटककर वह कँटीले-ककरीले उजड मार्ग पर चढ गया। आगे चलकर दोनो अन्धे दूसरे ही मार्ग पर चल पडे और ऐसे भटक गये कि उन्हे असली रास्ता नही मिला।

यही हाल अज्ञानवादियो को नेता मानकर उनके पीछे चलने वाले मार्ग से अनभिज्ञ अन्धतुल्य नासमझ शिष्य का होता है। अज्ञानवादी स्वय सम्यक्मार्ग से अनभिज्ञ है तब अपने पीछे चलने वालो को वे कैसे मार्ग वता सकेंगे? सचमुच अपने पीछे चलने वालो को भी वे वहुत दूर क्रियाकाण्डो के गहन वन मे या तापस तक के उजड मार्ग मे ले जाकर छोडेंगे। यही शास्त्रकार का आशय है।

अब उन्ही अज्ञानवादियो की उन्मार्गगामिता का परिचय दे रहे है—

मूल

एवमेगे नियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं।
अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥२०॥

स त छाया

एवमेके नियागार्थिनो धर्माराधका वयम्।
अथवाऽधर्ममापद्येरन् न ते सर्वर्जुकं व्रजेयु ॥२०॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (एगे) कई (नियायट्ठी) मोक्षार्थी कहते है (वय) हम (धम्ममाराहगा) धर्म के आराधक हैं। (अदुवा) परन्तु वे (अधम्ममावज्जे) अधर्म को प्राप्त करते हैं (सव्वज्जुय) सब प्रकार से सरल मार्ग को (ण ते वए) वे प्राप्त नही करते हैं।

भावार्थ

इस प्रकार कई मोक्षार्थी (तथाकथित) कहते है कि हम धर्म के आराधक हैं। परन्तु धर्म की आराधना तो दूर रही, वे प्राय अधर्म को ही (धर्म के नाम से) स्वीकार कर लेते है। वे सब प्रकार से सरल संयम के मार्ग को प्राप्त नही कर पाते।

जैसे स्वय अन्धा व्यक्ति मार्ग मे दूसरे अन्धे को ले जाता हुआ जहाँ जाना है, वहाँ से दूर, बहुत दूर देश मे चला जाता है। अथवा वह (काँटे, ककड, जगली हिंसक जन्तुओ से भरे) उजड रास्ते पर चढ जाता है, अथवा ठीक मार्ग को छोडकर दूसरे रास्ते पर चला जाता है।

व्याख्या

अन्धे के पीछे अन्धा : विनाश का धन्धा

अज्ञानवादियो की अनिष्ट दशा को समझाने के लिए शास्त्रकार दो दृष्टान्तो द्वारा वस्तुतत्त्व अभिव्यक्त करते हैं—

(१) एक घोर जगल है। उसमे हिंसक जगली जन्तुओ का भय है। एक पथिक घूमता-घामता रास्ता भूल गया, उसे यह पता ही नही चल रहा था कि मैं किस दिशा मे जा रहा हूँ ? वह दिग्मूढ एव व्याकुल होकर इधर-उधर देख रहा था कि इतने मे एक दूसरा पथिक आता हुआ दिखाई दिया, वह भी पथभ्रष्ट और दिशामूढ था, परन्तु वाचाल होने के कारण उक्त व्याकुल पथिक से कहा—'मेरे पीछे चले आओ, मैं तुम्हे सही-सलामत गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दूंगा, मैंने सब रास्ता देखा है।' वह दिशामूढ भयभ्रान्त बेचारा पथिक इस नये वाचाल पथिक के चक्कर मे आकर उसके पीछे-पीछे चलने लगा। नतीजा यह हुआ कि उस मार्गभ्रष्ट एव मार्ग से अनभिज्ञ पथिक के पीछे चलने से वह भोला पथिक दु खी हुआ। साथ मे जो मार्गदर्शक नेता बना था, वह भी मार्ग का जानकार न होने से अत्यन्त दु खी हुआ। दोनो एक-दूसरे को कोसने लगे। आवाज सुनकर एक भयानक जगली जानवर आ गया। उसने दोनो पर झपटकर वही दोनो का काम तमाम कर डाला।

यह एक रूपक है। यही हाल सत्पथ से अनभिज्ञ अज्ञानवादी गुरु का है, उसके पीछे-पीछे यदि कोई दिशामूढ भयभ्रान्त पथिक उसके बहकावे मे आकर चल देता है तो आखिर दोनो इस घोर ससाररूपी जगल मे भटकते रहते हैं और कही न कही भयकर दु ख एव मरण की चपेट मे आ जाते हैं।

(२) इसी प्रकार एक दूसरा दृष्टान्त देकर इस बात को समझाया गया है—एक अन्धा था, वह कही चला जा रहा था। मार्ग मे उसे एक दूसरा अन्धा मिला। वह वाचाल था। पहले वाले अन्धे से उसने पूछा 'कहाँ जा रहे हो ?' उसने किसी नगर का नाम लिया, तो दूसरा वाचाल अन्धा तपाक से बोला—'अरे, पहले तुमने क्यो नही कहा ? तुम तो उलटे चल रहे हो। मेरे साथ चले आओ। मैं तुम्हे ठीक मार्ग से सही-सलामत वही पहुँचा दूंगा।' पहला अन्धा भुलावे मे

आकर दूसरे अन्धे के नेतृत्व मे चल पडा। दूसरा अन्धा स्वय मार्ग नही देख सकता था, अत अपने पीछे चलने वाले अन्धे को जिस मार्ग से जाना था, उसे छोडकर वह असली मार्ग से बहुत दूर पहुँच गया। वहाँ से फिर भटककर वह कँटीले-ककरीले उजड मार्ग पर चढ गया। आगे चलकर दोनो अन्धे दूसरे ही मार्ग पर चल पडे और ऐसे भटक गये कि उन्हे असली रास्ता नही मिला।

यही हाल अज्ञानवादियो को नेता मानकर उनके पीछे चलने वाले मार्ग से अनभिज्ञ अन्धतुल्य नासमझ शिष्य का होता है। अज्ञानवादी स्वय सम्यक्‌मार्ग से अनभिज्ञ है, तब अपने पीछे चलने वालो को वे कैसे मार्ग वता सकेंगे? सचमुच अपने पीछे चलने वालो को भी वे वहुत दूर क्रियाकाण्डो के गहन वन मे या तापस तक के उजड मार्ग मे ले जाकर छोडेंगे। यही शास्त्रकार का आशय है।

अब उन्ही अज्ञानवादियो की उन्मार्गगामिता का परिचय दे रहे है—

मूल

एवमेगे नियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं।
अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥२०॥

स त छाया

एवमेके नियागार्थिनो धर्माराधका वयम्।
अथवाऽधर्ममापद्येरन् न ते सर्वजुकं व्रजेयु ॥२०॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (एगे) कई (नियायट्ठी) मोक्षार्थी कहते है (वय) हम (धम्ममाराहगा) धर्म के आराधक हैं। (अदुवा) परन्तु वे (अधम्ममावज्जे) अधर्म को प्राप्त करते हैं (सव्वज्जुय) सब प्रकार से सरल मार्ग को (ण ते वए) वे प्राप्त नही करते हैं।

ार्थ

इस प्रकार कई मोक्षार्थी (तथाकथित) कहते है कि हम धर्म के आराधक हैं। परन्तु धर्म की आराधना तो दूर रही, वे प्राय अधर्म को ही (धर्म के नाम से) स्वीकार कर लेते हैं। वे सब प्रकार से सरल सयम के मार्ग को प्राप्त नही कर पाते।

जैसे स्वय अन्धा व्यक्ति मार्ग मे दूसरे अन्धे को ले जाता हुआ जहाँ जाना है, वहाँ से दूर, बहुत दूर देश मे चला जाता है। अथवा वह (काँटे, , जगली हिंसक जन्तुओ से भरे) उजड रास्ते पर चढ जाता है, अथवा ठीक मार्ग को छोडकर दूसरे रास्ते पर चला जाता है।

व्याख्या

अन्धे के पीछे अन्धा · विनाश का धन्धा

अज्ञानवादियो की अनिष्ट दशा को समझाने के लिए शास्त्रकार दो दृष्टान्तो द्वारा वस्तुतत्त्व अभिव्यक्त करते है—

(१) एक घोर जगल है। उसमे हिंसक जगली जन्तुओ का भय है। एक पथिक घूमता-घामता रास्ता भूल गया, उसे यह पता ही नही चल रहा था कि मैं किस दिशा मे जा रहा हूँ ? वह दिग्मूढ एव व्याकुल होकर इधर-उधर देख रहा था कि इतने मे एक दूसरा पथिक आता हुआ दिखाई दिया, वह भी पथभ्रष्ट और दिशामूढ था, परन्तु वाचाल होने के कारण उक्त व्याकुल पथिक से कहा—'मेरे पीछे चले आओ, मैं तुम्हे सही-सलामत गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दूंगा, मैंने सब रास्ता देखा है।' वह दिशामूढ भयभ्रान्त बेचारा पथिक इस नये वाचाल पथिक के चक्कर मे आकर उसके पीछे-पीछे चलने लगा। नतीजा यह हुआ कि उस मार्गभ्रष्ट एव मार्ग से अनभिज्ञ पथिक के पीछे चलने से वह भोला पथिक दुःखी हुआ। साथ मे जो मार्गदर्शक नेता बना था, वह भी मार्ग का जानकार न होने से अत्यन्त दुःखी हुआ। दोनो एक-दूसरे को कोसने लगे। आवाज सुनकर एक भयानक जगली जानवर आ गया। उसने दोनो पर झपटकर वही दोनो का काम तमाम कर ।

यह एक रूपक है। यही हाल सत्पथ से अनभिज्ञ अज्ञानवादी गुरु का है, उसके पीछे-पीछे यदि कोई दिशामूढ भयभ्रान्त पथिक उसके बहकावे मे आकर चल देता है तो आखिर दोनो इस घोर ससाररूपी जगल मे भटकते रहते है और कही न कही भयकर दुःख एव मरण की चपेट मे आ जाते हैं।

(२) इसी प्रकार एक दूसरा दृष्टान्त देकर इस बात को समझाया गया है—एक अन्धा था, वह कही चला जा रहा था। मार्ग मे उसे एक दूसरा अन्धा मिला। वह वाचाल था। पहले वाले अन्धे से उसने पूछा 'कहाँ जा रहे हो ?' उसने किसी नगर का नाम लिया, तो दूसरा वाचाल अन्धा तपाक से बोला—'अरे, पहले तुमने क्यो नही कहा ? तुम तो उलटे चल रहे हो। मेरे साथ चले आओ। मैं तुम्हे ठीक मार्ग से सही-सलामत वही पहुँचा दूंगा।' पहला अन्धा भुलावे मे

आकर दूसरे अन्धे के नेतृत्व मे चल पडा। दूसरा अन्धा स्वय मार्ग नहीं देख सकता था, अत अपने पीछे चलने वाले अन्धे को जिस मार्ग से जाना था, उसे छोडकर वह असली मार्ग से बहुत दूर पहुँच गया। वहाँ से फिर भटककर वह कँटीले-ककरीले उजड मार्ग पर चढ गया। आगे चलकर दोनो अन्धे दूसरे ही मार्ग पर चल पड़े और ऐसे भटक गये कि उन्हे असली रास्ता नही मिला।

यही हाल अज्ञानवादियो को नेता मानकर उनके पीछे चलने वाले मार्ग से अनभिज्ञ अन्धतुल्य नासमझ शिष्य का होता है। अज्ञानवादी स्वय सम्यक्मार्ग से अनभिज्ञ है, तब अपने पीछे चलने वालो को वे कैसे मार्ग बता सकेंगे? सचमुच अपने पीछे चलने वालो को भी वे बहुत दूर क्रियाकाण्डो के गहन वन मे या तापस तक के उजड मार्ग मे ले जाकर छोडेंगे। यही शास्त्रकार का आशय है।

अब उन्ही अज्ञानवादियो की उन्मार्गगामिता का परिचय दे रहे है—

मूल

एवमेगे नियायट्ठी, धम्ममाराहगा वय।
अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥२०॥

सं त छाया

एवमेके नियागार्थिनो धर्माराधका वयम्।
अथवाऽधर्ममापद्येरन् न ते सर्वर्जुक व्रजेयु ॥२०॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (एगे) कई (नियायट्ठी) मोक्षार्थी कहते हैं (वय) हम (धम्ममाराहगा) धर्म के आराधक हैं। (अदुवा) परन्तु वे (अधम्ममावज्जे) अधर्म को प्राप्त करते है (सव्वज्जुय) सब प्रकार से सरल मार्ग को (ण ते वए) वे प्राप्त नही करते है।

र्थ

इस प्रकार कई मोक्षार्थी (तथाकथित), कहते हैं कि हम धर्म के आराधक है। परन्तु धर्म की आराधना तो दूर रही, वे प्राय अधर्म को ही (धर्म के नाम से) स्वीकार कर लेते हैं। वे सब प्रकार से सरल संयम के मार्ग को प्राप्त नही कर पाते।

व्याख्या

आजीवक आदि मतो का निरूपण

एवं'—इस गाथा मे 'एवं' पूर्वोक्त गाथाओ मे वर्णित भावो को प्रदर्शित करने के लिए है। पूर्वोक्त प्रकार से जो भावमूढ, भावान्ध, अज्ञानी आजीवक आदि हैं, वे नियाय यानी मोक्ष अथवा सद्धर्म को प्राप्त करने के इच्छुक हैं।

'धम्ममाराहगा वय'—वे तथाकथित मोक्षार्थी यह मान कर प्रव्रज्या धारण करते है कि हम उत्तमधर्म के आराधक है। शास्त्रकार के इस कथन के पीछे आशय यह है कि वे लोग परिव्राजक या श्रमण का वेष धारण करने के साथ ही मन मे यों समझ लेते है, कि हम श्रमण या सन्यासी हो गए है और उच्चधर्म का हम ही पालन करते है। उन्हे यह पता नही होता कि श्रमण, सन्यासी या परिव्राजक को अपने विचार और आचार कितने उच्च रखने चाहिये? उसका जीवन क्षमा आदि दस उत्तमधर्मो से सुशोभित होना चाहिए? इसीलिए तो श्रमण भगवान महावीर ने केवल वेष से किसी को श्रमण, माहण (ब्राह्मण), तापस, आदि नही माना, अपितु तदनुरूप उच्च आचार-विचार अनिवार्य बताये हैं—

> [1] ण वि मुण्डिएण समणो, ण ओंकारेण बम्भणो।
> ण मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण ण तावसो॥
> समयाए समणो होई, बभचेरेण बम्भणो।
> नाणेण य मुणी होई, तवेण होइ तावसो॥

मुडन कर लेने से कोई श्रमण नही हो जाता, ओंकार का नाम रटने से कोई ब्राह्मण नही हो जाता, न अरण्य मे निवास करने से कोई मुनि हो जाता है और न ही कुश—काषायवस्त्र आदि धारण करने से कोई तापस हो सकता है। समताभाव रखने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य-पालन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान प्राप्त करके अपने और जगत् के स्वरूप पर मनन करने से मुनि होता है और अहकार से रहित होकर तप करने से तापस होता है। परन्तु पूर्वोक्त आजीवक आदि मत के श्रमण या अन्य परिव्राजक इन बातो को मानते नही, न जानने का उपक्रम करते है। वे ऐसे किसी भी मत मे दीक्षित होकर—प्रव्रज्या धारण करके भी पृथ्वी, जल और वनस्पतिकाय का उपमर्दन (हिंसा) करके पचन-पाचन आदि क्रिया मे प्रवृत्त होकर स्वय ऐसे कार्य करते-कराते रहते हैं, दूसरो को भी उपदेश देते रहते है। इस प्रकार वे श्रमण या परिव्राजक इष्ट-मोक्ष की प्राप्ति से भ्रष्ट हो जाते है। मोक्ष की प्राप्ति

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २५, गा० ३१, ३२

तो दूर रही, वे प्रव्रजित होकर जब इस प्रकार आरम्भ-समारम्भ के सावद्य अनुष्ठान मे पड जाते है, तब अधर्म-पाप को ही बटोरते रहते है। यही बात इस गाथा की दूसरी पक्ति मे बताई गई है।

अदुवा अहम्ममावज्जे—इसके साथ ही शास्त्रकार ने उनके लिए एक और अनर्थ की सम्भावना प्रकट की है—'ण ते सव्वज्जुय वए' इसके दो अर्थ होते है, एक अर्थ तो यह है कि इस प्रकार के असत्कर्म का अनुष्ठान करने वाले, अज्ञान को कल्याण का कारण बताने वाले आजीवक (गोशालक मतानुयायी) आदि श्रमण तथा ब्राह्मण व परिव्राजक आदि जो सद्धर्म या मोक्ष की प्राप्ति के लिए सबसे सरल सयम मार्ग है, उसे प्राप्त नही करते। अथवा दूसरा अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि अज्ञानान्ध तथा ज्ञान को मिथ्या बताने वाले वे अन्यदर्शनी अज्ञानवादी तथा-कथित श्रमण-परिव्राजक आदि मोक्ष-प्राप्ति के लिये सबसे सरल मार्ग— जो सत्य है, उसे व बोलते तक नही हैं। क्योकि अज्ञान को एकमात्र श्रेयस्कर मान कर भी वे स्वय ज्ञान बघारते हैं, ज्ञान के द्वारा ही दूसरे मत-मतान्तर का खण्डन करते है, यह सबसे बडा सत्य का अपलाप है।

अब अज्ञानवादियो द्वारा मान्य विविध कुतर्कों का निदर्शन कराते हुए शास्त्रकार कहते है—

मूल पाठ

एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पज्जुवासिया।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजूहिं दुम्मई ॥२१॥

संस्कृत छाया

एवमेके वितर्कैभिर्नान्यं पर्युपासते ।
आत्मनश्च वितर्कैभिरयमृजुर्हि दुर्मतय ॥२१॥

अन्वयार्थ

(एव) इस (अज्ञानवादियो के पूर्वोक्त) प्रकार के (वियक्काहिं) विविध वितर्कों-कुतर्कों के कारण (एगे) कई (दुम्मई) दुर्बुद्धि, विपरीत बुद्धि वाले, अज्ञान-वादी व्यक्ति (अन्न) दूसरे ज्ञानवादी उदार विचारको की (नो पज्जुवासिया) सेवा-पर्युपासना नही करते। (अप्पणो य) और अपने (वितक्काहिं) वितर्कों के कारण (अयमजूहिं) यह अज्ञानवाद ही यथार्थ है, ऐसा कहते है।

भावार्थ

इस प्रकार के कई विपरीत बुद्धि वाले नवादी अपने पक्ष के समर्थन मे पूर्वोक्त प्रकार के मिथ्या कुतर्क प्रस्तुत करके अपने मत से भिन्न जो ज्ञानवादी वगैरह है, उनकी सेवा-उपासना नही करते। वे अपने उक्त कुतर्कों के कारण अज्ञानवाद ही श्रेयस्कर और सरल मार्ग है, ऐसा मानते है।

व्याख्या

अज्ञानवादियो के र्क

एवमेगे वियक्काहिं—शास्त्रकार ने इस गाथा मे अज्ञानवादियो के उन वितर्कों या कुतर्कों का स्मरण दिलाया है जो उनके मन-मस्तिष्क मे ऐसा तूफान मचाये हुए हैं कि वे इन वितर्कों के कारण अपने आप को बहुत बड़े पण्डित, विद्वान, विचारक मानते हैं, अपने मत से भिन्न ज्ञानवादियो के चरणो मे बैठकर किसी बात का समाधान नही करते, न सरलतापूर्वक वे सत्य को स्वीकार करते हैं।

अज्ञानवादियो के कुतर्क कौन से है? पिछली गाथाओ मे हम सक्षेप मे अज्ञानवाद का परिचय दे आएँ हैं। उन कुतर्कों के अतिरिक्त अज्ञानवादियो के और भी विकल्प है।

पूर्वोक्त अज्ञानवादी जिन विकल्पो को कुतर्क के रूप मे प्रस्तुत करते हैं, उनके हिसाब से कुल मिलाकर इनके ६७ विकल्प (भेद) हो जाते हैं। उन भेदो (विकल्पो) को इस तरीके से जानना चाहिए।

इनका सबसे पहला वितर्क यह हैं—कौन जानता हैं कि जीव सत् है? क्योकि जीव की सत्ता सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण भी नही है, अत उसकी सत्ता को कोई सिद्ध नही कर । अथवा जीव की सत्ता का ज्ञान भी हो जाये तो उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता। क्योकि जीव चाहे नित्य, सर्वगत, अमूर्त और ज्ञानादि गुणयुक्त हो या इससे विपरीत हो, इससे किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नही होती। इसलिए ही श्रेयस्कर है।

इसी प्रकार कौन जानता है कि जीव ् है? और इसको जानने से भी कोई प्रयोजन नही है। इसी सदसत्, अवक्तव्य, सद्अवक्तव्य, असद्अवक्तव्य, सद्असद्अवक्तव्य यो एक-एक वितर्क पर जीव के विषय मे एक-एक विकल्प होने से सात हुए। तत्त्व नौ है,—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, , सवर, निर्जरा बन्ध और मोक्ष। इन नौ तत्त्वो पर सात-सात विकल्प होते है। अत ९×७=

६३ भेद हो गये तथा इनमे ४ विकल्प और जोडे जाते हैं। ये विकल्प भावोत्पत्ति की दृष्टि से होते हैं—(१) भाव की उत्पत्ति सत् होती है, यह कौन जानता है ? अथवा इसे जानने से क्या लाभ है ? (२) भाव की उत्पत्ति असत् होती है, यह कौन जानता है ? अथवा उसके जानने से भी क्या प्रयोजन है ? (३) भाव की उत्पत्ति सत्-असत् होती है, यह कौन जानता है ? अथवा जानने से प्रयोजन भी क्या है ? (४) भाव की उत्पत्ति अवक्तव्य होती है, यह कौन जानता है ? और इसे जानने से भी क्या मतलब है ? इस प्रकार पूर्वोक्त सात विकल्पो मे से चार विकल्प तो भावोत्पत्ति के विषय मे कहे गये हैं शेष तीन विकल्प भावोत्पत्ति के नही होते। किसी पदार्थ की उत्पत्ति होने के पश्चात् उस पदार्थ के अवयव की अपेक्षा से होते हैं। इसलिए भावोत्पत्ति के विषय मे वे सम्भव नही है। इस हिसाब से पहले के नौ तत्त्वो पर सत्-असत् आदि सात विकल्प होते हैं जो ६३ हुए और ४ विकल्प भावोत्पत्ति के (जो अभी कहे है) मिलाकर कुल ६७ वितर्क (विकल्प) अज्ञानवादियो के हुए। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—'अप्पणो य वियक्काहिं जूहिं दुम्मई'। अर्थात् वे दुर्बुद्धि अपने ही प्रयुक्त वितर्कों (विकल्पो) के भँवरजाल मे ऐसे फँसे रहते हैं कि उन्हे अज्ञानवाद के अतिरिक्त कोई सरल तथा श्रेयस्कर मार्ग जँचता ही नही। वे अपने इन वितर्कों के अहकार मे गस्त होकर अपने को पण्डित, तत्त्वज्ञानी और न जाने क्या-क्या समझते हैं। वे मानते है कि हम ही तत्त्वज्ञानी हैं, हमसे बढकर कोई भी नही है। यह समझकर वे अपने मे भिन्न दूसरे ज्ञानवादी आदि की उपासना नही करते। साथ ही वे अपने वितर्कजाल के कारण यह मानते हैं कि 'हमारा अज्ञानमार्ग ही कल्याणमार्ग है। वही निर्दोष है और दूसरे मतवादी उसका खण्डन नही कर सकते, तथा अज्ञानमार्ग ही सत्य और उत्तम गुणयुक्त तथा यथावस्थित अर्थ को प्रगट करता है।

प्रश्न होता है—वे अज्ञानवादी ऐसा क्यो कहते हैं ? शास्त्रकार एक शब्द मे उसका उत्तर सूचित करते है, दुम्मई अर्थात् वे दुर्मति या विपरीत बुद्धि से युक्त हैं।

मूल पाठ

एव तक्काइ साहिता धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्ख ते नाइतुट्टन्ति, सउणी पंजर जहा ॥२२॥

स छाया

एव तर्कं साधयन्त, धर्माधर्मयोरकोविदा ।
दु ख ते नातित्रोटयन्ति, शकुनि पजर यथा ॥२२॥

अन्वयार्थ

(एव) पूर्वोक्त प्रकार से (तक्काइ) तर्कों के द्वारा (साहिता) अपने मत को मोक्षदायक सिद्ध करते हुए (धम्माधम्मे अकोविया) धर्म तथा अधर्म को न जानने वाले (त) वे अज्ञानवादी (दुक्ख) जन्ममरणादि दु ख को (नाइतुट्टति) अत्यन्त रूप से तोड नही पाते, (जहा) जैसे (सउणी) पक्षी (पजर) पिंजरे को नही तोड पाता।

भावार्थ

पूर्वोक्त प्रकार से अपने मत को मोक्षदायक सिद्ध करते हुए धर्म तथा अधर्म से अनभिज्ञ वे अज्ञानवादी जन्ममरणादि दु ख के कारणभूत कर्मबन्धन को नही तोड पाते, जैसे कि पक्षी पिंजरे को नही तोड पाता।

•

धर्माधर्म से अनभिज्ञ अज्ञानवादी

पूर्वोक्त अज्ञानवाद के विविध कुतर्कों के द्वारा अज्ञानवादी अपने मत को मो सिद्ध करने के लिए एडी से लेकर चोटी तक का जोर लगा देते हैं। वे अपने को अज्ञानवादी कहते है, किन्तु वे मृषावादी भी हैं, क्योकि ज्ञान का विरोध या खण्डन करके भी उसी ज्ञान को प्रतिदिन अपनाते है, अनुमान आदि का प्रयोग भी उसी ज्ञान के माध्यम से करते है।

प्रश्न होता है कि वे अज्ञानवादी जब इतने पैने तर्क-तीर चला कर दूसरो को कायल कर देते हैं तब धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि को वे ठुकरा क्यो देते हैं ? इसका उत्तर शास्त्रकार यो देते हैं—

धम्माधम्मे अकोविया—धर्म और अधर्म के मामले मे वे अत्यन्त अज्ञानी है या अनिपुण है। वे न तो क्षमा आदि दशविध उत्तमधर्म को जानते-मानते है और न ही जीवहिंसा से उत्पन्न पाप को जानते-मानते है। एक प्रकार से जडता के प्रतिनिधि वे अज्ञानवादी मिथ्यात्व, अविरति आदि कर्मबन्धनो के कारणो से उत्पन्न घोर कर्मबन्धन को नही तोड सकते। जिस तरह पक्षी अपने चिरपरिचित पिंजरे को तोड नही सकता, उसी तरह अज्ञानवादी भी ससाररूपी पिंजरे से अपने को मुक्त नही कर सकता। इसी बात को शास्त्रकार कहते है—"दुक्ख ते नाइतुट्टति।" यहाँ 'दु ख' शब्द दु ख के कारणभूत 'कर्मबन्धन' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। नाइतुट्टति का अर्थ होता है—अत्यन्त रूप से नही तोड पाता। इसका है, कदाचित् अकामनिर्जरावश थोडे बहुत कर्मबन्धनो को वे ादी दूर कर दें, किन्तु कर्मबन्धनो से सर्वथा मुक्त होने मे वे समर्थ नही होते।

अब पूर्वगाथाओ मे जिन-जिन एकान्तवादियो के मतो का निरूपण किया था, उनके मतो मे शास्त्रकार मिथ्यात्व, मिथ्याग्रह आदि दूपण वताते है—

मूल

सय सयं पससता गरहता पर वय ।
जे उ तत्थ विउस्सति, संसार ते विउस्सिया ॥२३॥

स छाया

स्वक स्वक प्रशसन्तो गर्हयन्त पर वच ।
ये तु तत्र विद्वस्यन्ते ससार ते व्युच्छ्रिता ॥२३॥

अन्वयार्थ

(सय सय) अपने-अपने मत की (पससता) प्रशसा करते हुए (पर वय) और दूसरे के वचन की (गरहता) निन्दा करते हुए (जे उ) जो मतवादीजन (तत्थ) उस विषय मे (विउस्सति) अपनी विद्वत्ता प्रगट करते हैं, (ते) वे (ससार) जन्म-मरण-रूप ससार मे (विउस्सिया) अत्यन्त दृढरूप से बँधे हुए हैं।

भावार्थ

अपने-अपने मत की प्रशसा और दूसरो के वचन की निन्दा करते हुए जो मतवादीजन उस विषय मे अपना पाडित्य दिखाते है, वे वास्तव मे (एकान्तवाद के मताग्रहरूप मिथ्यात्व के कारण) जन्म-मरणरूप ससार-बन्धन मे दृढता से जकडे हुए है।

व्याख्या

स्वमत-प्रशसा एव परमत-निन्दा ही एकान्तवाद का

इस गाथा मे शास्त्रकार ने विभिन्न एकान्तवादी दार्शनिको की मिथ्यात्वी मनोवृत्ति का परिचय दिया है। अज्ञान, मिथ्यात्व एव मतमोहान्ध वे मतवादी अपने माने हुए मत की वढ-चढ कर तारीफ करते हैं। वे दूसरो के सामने यह रट लगाते फिरते हैं कि 'हमारे मत मे यह विशेषता है, यह सुगमता है, इतनी छूट है, ऐसा व्यवहार है, इतने इतने उच्च साधक हैं या हुए हैं, मुक्ति के लिए इस मत की समानता और कोई मत नही कर सकता।' वे लोग स्वमत-मण्डन करके ही रह जाएँ, तव भी गनीमत है, उनके मन-मस्तिष्क की खुजली इतने से शान्त नही होती, वे सदैव ही दूसरो के मत का, उनके ग्रन्थो के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए वखिया

उधेडते रहते है, उनकी निन्दा और भर्त्सना किया करते है, उन-उन परमतो के वचनो को उद्धृत करके वे उनकी मजाक उडाया करते है। इस प्रकार उनके मन मस्तिष्क की खुजली तव तक शान्त नही होती, जब तक वे निन्दापुराण न पढ लें। इसीलिए शास्त्रकार ने ऐसे अज्ञानवादी लोगो की इस प्रकार की स्वमत-मोहचेष्टाओ को ही मिथ्यात्वरूपी विषवृक्ष का मूल कहा है, जो एकान्तवाद का जल सीचने से मजबूत होता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—'सय सय पससता ।'

यह है कि उन मतवादियो का मतमोहरूप मिथ्यात्व उन्हे चैन से बैठने नही देता। वह युग शास्त्रार्थ का युग था। मतमोह की मदिरा पीकर विभिन्न मतो के पण्डित लोग साँडो की तरह परस्पर लडते थे, वाक्युद्ध करते थे। शास्त्रार्थ का अखाडा जमता था। मतमल्ल अपने-अपने दाँव-पेच लगाते थे। साख्य दर्शन के पण्डित 'समस्त वस्तुएँ आविर्भूत-तिरोभूत होती रहती है, किसी भी वस्तु का सर्वथा नाश नही होता,' इस प्रकार एकान्त मताग्रह से ग्रस्त होकर 'सभी पदार्थ क्षणिक है और निरन्वय विनाशी है,' इस प्रकार के क्षणिकवादी बौद्धो पर आक्षेप करते थे, उनके मत मे दोष वताते थे और क्षणिकवादी बौद्ध पण्डित भी 'नित्य पदार्थ न तो क्रमश अर्थक्रिया कर सकता है और न ही युगपत् करता है,' इत्यादि दोष देकर साख्यवादियो की भर्त्सना करते थे। इसी तरह दूसरे दार्शनिक भी परस्पर एक-दूसरे के वचनो की निन्दा और स्वप्रशसा करते थे।

'जे उ तत्थ विउस्सति ' इस पक्ति मे शास्त्रकार ने उन सबको एकान्त मताग्रहवादी बताकर उनके इस व्यवहार को विजिगीषुवृत्ति वताया है, न कि जिज्ञासुवृत्ति। यानी वे केवल अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन करने के लिये ऐसा करते थे, एक-दूसरे का मत जिज्ञासाबुद्धि से ने के लिये नही। वे मताग्रही बनकर अपने-अपने सिद्धान्त के पक्ष मे विशिष्ट युक्तियाँ प्रस्तुत करते थे। जैसा कि समदर्शी आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

'आग्रही वत निनीषति युक्ति यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

जो दुराग्रही है, साम्प्रदायिक आग्रह से जिसकी बुद्धि विकृत हो रही है उसकी बुद्धि ने जिस पदार्थ को जिस रूप से ग्रहण कर रखा है वही वह युक्तियो की यद्वा-तद्वा खीचतान करता है। उसका मूलमत्र होता है—'जो मेरा है या मैंने जाना-माना है, वही अन्तिम सत्य है।' इसलिए वह सत्य का पुजारी नही होता, वह अपने मतीय अहकार का पुजारी होता है। इसलिए वह युक्तियो की खीचतान करके जैसे-तैसे अपने मत को सच्चा सिद्ध करने का अनुचित प्रयत्न करता है। लेकिन जिसकी

बुद्धि मत-पक्षपात से रहित है, जो मध्यस्थभाव से अपनी बुद्धि का सन्तुलन रख कर उपयोग करता है, उस समझदार की बुद्धि तो जिस पदार्थ को युक्तियाँ जिस रूप से सिद्ध करती है, उसको उसी रूप से मानने के लिये सदा प्रस्तुत रहती है। उसका सिद्धान्त होता है—जो सत्य सिद्ध हो, वह मेरा है। युक्तिसिद्ध वस्तु को पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त होकर स्वीकार करने मे कोई हिचक नही होनी चाहिये।

किन्तु थोथा पाण्डित्य प्रदर्शित करने वाले मताग्रही इस बात को कब मानने को तैयार होगे ? वे तो अपनी मानी हुई घिसी-पिटी पुरानी युक्ति-विरुद्ध लकीर पर ही चलने का आग्रह रखते है। यही उनके एकान्तवादरूप मिथ्यात्व का नमूना है। जिसके फलस्वरूप वे तीव्ररागद्वेषवश घोर कर्मबन्धन करके जन्म-मरण-रूप ससार मे ही चक्कर काटते रहते है। इसी बात को शास्त्रकार ने सूचित किया है—'ससार ते विउस्सिया।'

अगली गाथा मे परसमय-वक्तव्य के सन्दर्भ मे शास्त्रकार क्रियावादियो के मत का निदर्शन करते हैं—

मूल

अहावर पुरक्खाय किरियावाइदरिसण ।
कम्मचितापणट्ठाण, ससारस्स पवड्ढण ॥२४॥

संस्कृत छाया

अथाऽपर पुराऽऽख्यात, क्रियावादिदर्शनम् ।
कर्मचिन्ताप्रनष्टाना, ससारस्य प्रवर्धनम् ॥२४॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् (अवर) दूसरा (पुरक्खाय) पूर्वोक्त—पहले कहे हुए (किरियावाइदरिसण) एकान्तक्रियावादियो का दर्शन है। (कम्मचितापणट्ठाण) कर्म (कर्मबन्ध) की चिन्ता से रहित, उन एकान्त क्रियावादियो का दर्शन (ससारस्स) जन्म-मरण-रूप ससार की (पवड्ढण) वृद्धि करने वाला है।

भावार्थ

अब दूसरा दर्शन पहले बताये हुए एकान्तक्रियावादियो का है। कर्म (कर्मबन्धन) की चिन्ता से रहित उन क्रियावादियो का दर्शन ससार की वृद्धि ही करने वाला है।

व्याख्या

कर्मचिन्ता के प्रति लापरवाह • एकान्त-क्रियावादी-दर्शन

किरियावाइदरिसण—अज्ञानवादियो के मतनिरूपण के पश्चात् अब शास्त्रकार उन एकान्त-क्रियावादियो के दर्शन की चर्चा छेड रहे है, जिसका जिक्र निर्युक्तिकार ने इस उद्देशक के अर्थाधिकार मे किया था। इसलिये इस नये विषय को प्रारम्भ करने हेतु शास्त्रकार ने 'अहा ' शब्द प्रयोग किया है, इसका अर्थ होता है— ादिया के मत का निरूपण करने के बाद अब दूसरा पूर्वकथित क्रियावादी-दर्शन है। चैत्य-कर्म आदि क्रिया को ही जो लोग प्रधानरूप से मोक्ष का अग बतलाते हैं, उनके दर्शन (विचारधारा) को क्रियावादी-दर्शन कहते हैं।

कम्मचिन्तापणट्ठाण—क्रियावादीदशन का क्या है? क्या लक्षण है? इसे शास्त्रकार अपनी भाषा मे बताते हैं कि वे एकान्त-क्रियावादी कर्मो की चिन्ता से प्रनष्ट यानी दूर रहते हैं। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म कैसे, किन-किन कारणो से किस-किस तीव्र-मन्द आदि रूप मे आत्मा के बँध जाते है, वे सुख-दु ख आदि के जनक हैं या नही? उनसे छूटने का उपाय क्या है? आदि कर्म-सम्बन्धी विचार करना कर्मचिन्ता कहलाती है। एकान्त-क्रियावादी इसप्रकार की कर्मचिन्ता से रहित—लापरवाह होते है। ऐसे एकान्त-क्रियावादी बौद्ध दार्शनिक हैं, जो आदि से उपचित (किये हुए) चार प्रकार के कर्मो को बन्धनरूप नही मानते। इस प्रकार कर्मबन्धन का विचार करने की वे अपेक्षा नही करते। इसीलिये उन्हे 'कर्मचिन्ता-प्रनष्ट' कहा है।

'सस प '—'चार प्रकार का कर्म बन नही होता' उक्त क्रियावादियो का यह मत ससार को बढाने वाला ही होता है, घटाने वाला नही, क्योकि वे एकान्तरूप से इस बात को मानते हैं, मताग्रह रखते हैं, दूसरे की सच्ची युक्तियो को ठुकरा देते हैं, इस प्रकार मिथ्यात्व से ग्रस्त होने या (कर्मचिन्तन के विषय मे उपेक्षाभाव) से युक्त होने के कारण वे घोर कर्मबन्धन के फलस्वरूप अपने की वृद्धि करते है। 'ससारस्स पवड्ढण' के बदले कहीं-कही 'दुक्खखध- ' पाठ मिलता है। उसका अर्थ होता है, उन क्रियावादियो का यह दर्शन दु खस्कन्ध यानी असातोदयरूप दु खपरम्परा को बढाने है।

वे क्रियावादी कर्म-चिन्ता से किसप्रकार रहित हैं? इसे शास्त्रकार अगली मे हैं—

मूल

जाण काएणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति ।
पुट्ठो संवेयइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं ॥२५॥

संस्कृत छाया

जानन् कायेनानाकुट्टी अबुधो यं च हिनस्ति ।
स्पृष्टः संवेदयति परमव्यक्तं खलु सावद्यम् ॥२५॥

अन्वयार्थ

(जं) जो पुरुष (जाण) जानता हुआ मन से (हिंसति) हिंसा करता है, (काएणऽणाउट्टी) किन्तु शरीर से हिंसा नही करता, (च) और (अबुहो) नही समझता । (जं हिंसति) जो पुरुष शरीर से हिंसा करता है, (परं पुट्ठो संवेयइ) वह केवल उसका फल स्पर्शमात्र से भोगता है । (खु) वस्तुत (सावज्जं) वह सावद्यकर्म (अवियत्तं) अव्यक्त है स्पष्ट नही है ।

भावार्थ

जो व्यक्ति रोष-द्वेष आदि के आवेशवश केवल मन से ही हिंसा करता है, मगर शरीर से नही करता तथा अनजान मे शरीर से हिंसा करता है, वह उस कर्म के फल को स्पर्शमात्र से भोगता है—यानी कर्मबन्ध के फल का अनुभव करता है, क्योकि उसका वह सावद्य (पाप) कर्म अव्यक्त—अप्रकट होता है । अर्थात् उक्त दोनो प्रकार के दोषयुक्त व्यापार स्पष्ट नही होते ।

व्याख्या

कर्मचिंता से दूर—क्रियावादी

'जाण काएणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति' इस गाथा मे शास्त्रकार ने क्रियावादियो की कर्मचिन्ता के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की है । शास्त्रकार ने यहाँ दो प्रकार से हिंसा की क्रिया से कर्मबन्ध न होने की क्रियावादियो की मान्यता स्पष्ट की है । एक तो यह कि एक व्यक्ति केवल मन से ही जान-बूझकर किसी प्राणी की हिंसा करता है, बाहर मे वह हिंसा प्रकट नही है, क्योकि शरीर से किसी प्रकार की हिंसक क्रिया करता दिखाई नही देता । शरीर से वह अनाकुट्टी है । इसका मतलब है कि शरीर से वह जीवहिंसा नही करता है । कुट्ट धातु का अर्थ छेदन है, जो पुरुष रोष-द्वेषादिवश छेदन-भेदन करता (कूटता-पीटता) है, उसे आकुट्टी कहते हैं और जो

इस प्रकार का आकुट्टी नही है, वह अनाकुट्टी कहलाता है। आशय यह है कि जो क्रोधादि-कारणवश केवल मन के व्यापार से प्राणी की हिंसा करता है, परन्तु शरीर से रोष-द्वेषादिवश प्राणियो के अगो का छेदन भेदन-रूप व्यापार नही करता। ऐसे व्यक्ति को सावद्य-पापकर्म का उपचय—बन्ध नही होता। दूसरे, एक व्यक्ति अनजाने ही, अकस्मात् केवल शरीर के व्यापार से हो प्राणिहिंसा की क्रिया कर बैठता है। उससे यह हिंसा-क्रिया अज्ञात अवस्था मे बिना जाने-बूझे ही हो जाती है। उसके मन का कोई व्यापार नही होता। अत ऐसे व्यक्ति को भी सावद्य-कर्मबन्ध (कर्मोपचय) नही होता।

निर्युक्तिकार ने पहले यह बताया था—'चतुर्विध कर्म उपचय (बन्ध) को प्राप्त नही होता, यह भिक्षुओ (बौद्ध दार्शनिको) का कथन है। इन चारो मे से शास्त्रकार ने परिज्ञोपचित और अविज्ञोपचित इन दोनो प्रकारा का तो मूलपाठ मे उल्लेख कर दिया है। शेष ईर्य्यापथिक और स्वप्नान्तिक ये दो प्रकार नही बताये, किन्तु मूलपाठ मे 'च' शब्द है, उससे उन दोनो का अध्याहार (ग्रहण) हो जाता है। ईर्य्या कहते हैं—गमन को। तत्सम्बन्धी मार्ग को ईर्य्यापथ कहते है। उस ईर्य्यापथ के कारण जो कर्म होता है, उसे ईर्य्यापथिक कहते है। आशय यह है कि मार्ग मे चलते समय जो बिना जाने, उपयोग के बिना मनोव्यापार के अभाव मे प्राणियो का घात हो जाता है, उससे कर्म का उपचय नही होता। इसी प्रकार स्वप्नान्तिक कर्म भी बन्धन का कारण नही होता, जैसे स्वप्न मे किये हुए भोजन से किसी की तृप्ति नही होती उसी तरह स्वप्न मे किये हुए जीव-घात से भी कर्मबन्ध नही होता। 'स्वप्नान्तक कर्म जिसमे विद्यमान हो, उसे 'स्वप्नान्तिक' कहते हैं। स्वप्न मे काया के व्यापार का सर्वथा अभाव होता है, इसलिए स्वप्न मे किया हुआ किसी प्राणी का छेदन-भेदन आदि कर्मबन्धन का कारण नही होता।

प्रश्न होता है कि यदि इन चारो प्रकारो से कर्मबन्धन नही होता तो बौद्धो के मतानुसार किस प्रकार से कर्मबन्धन होता है? इसका उत्तर वे यो देते है कि प्रथम तो हनन किया जाने वाला प्राणी सामने हो, फिर हनन करने वाले को यह ज्ञान (भान) हो कि यह प्राणी है। उसके पश्चात् हनन करने वाले की ऐसी बुद्धि (वृत्ति) हो कि 'मैं इसे मारू या मारता हूं।' इन सबके रहते हुए यदि शरीर से वह उस प्राणी को मारने की चेष्टा करता है और उस चेष्टा के अनुसार यदि वह प्राणी मार दिया जाता है या उस प्राणी के प्राणो का वियोग कर दिया जाता है, तब हिंसा होती है, और तभी कर्म का भी उपचय होता है।

यहाँ पाँच कारण हिंसा के बताये गये हैं। इनमे से किसी एक के भी न होने पर न हिंसा होती है, न कर्म का उपचय होता है, जैसा कि वे कहते है—

प्राणी प्राणिज्ञान घातकचित्त च तद्गता चेष्टा ।
प्राणैश्च विप्रयोग पञ्चभिरापाद्यते हिंसा ॥

अर्थात् प्राणी, प्राणी का ज्ञान, घातक की चिन्ता, घातक की क्रिया और प्राणवियोग, इन पाँचो बातो से हिंसा लगती है। यहाँ जो हिंसा के निमित्त पांच पद कहे गये हैं, उनके कुल मिलाकर ३२ भग होते है। उनमे से हिंसक तो प्रथम भग वाला पुरुष ही होता है, शेष ३१ भग हिंसक नही होते।

पुट्ठो सवेयई पर अवियत्त खु सावज्ज—इस पक्ति का आशय यह है कि उक्त क्रियावादी बौद्धो से यह पूछे जाने पर कि क्या परिज्ञोपचित आदि से कर्म का बन्धन सर्वथा ही नही होता ? उसके उत्तर मे उनकी मान्यता-सम्बन्धी जो उत्तर आया, वह इस पक्ति मे उट्टकित किया गया है। उत्तर यह है कि कर्मबन्धन तो होता है, परन्तु अत्यन्त अल्प। इसी बात को घोषित करने के लिए यहाँ 'पुट्ठो' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि केवल मनोव्यापाररूप परिज्ञोपचित्त कर्म से, केवल शरीर से अनजाने मे होने पाले अविज्ञोपचित कर्म से, एव मार्ग मे चलते-फिरते समय होने वाले ईर्य्यापथिक कर्म से तथा स्वप्न मे होने वाले स्वप्नान्तिक कर्म से—यानी इन चारो प्रकार के कर्मों से पुरुप का जरा सा स्पर्श होता है (पुरुप इन चतुर्विधकर्म से स्पृष्ट होता है, बद्ध नही। अत ऐसे कर्मों के विपाक (फल) का भी स्पर्शमात्र ही वेदन (अनुभव) करता है। मतलब यह है कि इन कर्मो का हलका-सा स्पर्श होने के कारण इनका फल भी जरा-सा ही भोगना पडता है, अधिक नही। जैसे—मुट्ठी भर कर रेत दीवार पर मारी जाय तो वह दीवार को जरा-सा छूकर ही बिखर जाती है, चिपकती नही, वैसे ही पूर्वोक्त कर्म-चतुष्टय जरा-से छूकर ही झड जाते है, वे उक्त पुरुष से चिपकते नही हैं। इसीलिए बौद्धो का कहना है कि ये चतुर्विधकर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए हम इसे कर्मो के उपचय का अभाव कहते हैं, अत्यन्ताभाव नही। चूंकि वे चतुर्विध-कर्म अव्यक्त है, अप्रकट हैं, इसीलिये उनका विपाक भी स्पष्टत अनुभूति मे नही आता। अत परिज्ञोपचित आदि कर्म अव्यक्तरूप से सावद्य (सदोष) हैं।

अब अगली दो गाथाओ मे बौद्धमतानुसार पाप-कर्मबन्ध के कारण क्या-क्या है, यह बताते हैं—

मूल

सतिमे तउआयाणा जेहिं कीरइ पावग।
अभिकम्माय पेसाय मणसा अणुजाणिया ॥२६॥

एते उ तउ आयाणा जेहिं कीरइ पावगं ।
एवं भावविसोहीए निव्वाणमभिगच्छइ ॥२७॥

स त छाया

सन्तीमानि त्रीण्यादानानि यै क्रियते पापकम् ।
अि म्य च प्रे ष्य च मनसाऽनुज्ञाय ॥२६॥
एतानि तु त्रीण्यादानानि यै क्रियते पापकम् ।
एव भावविशुद्धया तु निर्वाणमभिगच्छति ॥२७॥

अन्वयार्थ

(इमे) ये (आगे कहे जाने वाले) (तउ) तीन (आयाणा) कर्मों के आदान-ग्रहण (बध) के कारण (सति) है, (जेहिं) जिनसे (पावग) पाप-कर्म (कीरइ) किया जाता है। (अभिकम्माय) किस प्राणी को मारने के लिए अभिक्रम (आक्रमण के लिये उद्यत) करके, (पेसाय) तथा किसी प्राणी को मारने के लिये नौकर आदि किसी को प्रेषित—भेजकर (मणसा अणुजाणिया) एव मन से अनुज्ञा देकर।

(एते उ) ये पूर्वोक्त (तउ) तीन (आयाणा) कर्मबन्धन के कारण है, (जेहिं) जिनसे (पावग) पापकर्म (कीरइ) किया जाता है। (एव) इस प्रकार (भावविसोहीए) भावो की विशुद्धि से (निव्वाण) निर्वाण—मोक्ष को (अभिगच्छइ) जीव प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ

ये तीन कर्म-बन्ध के कारण है, जिनसे पाप-कर्म किया जाता है। (१) किसी प्राणी को मारने के लिये स्वय उस पर आक्रमण करना या प्रहार के लिये होना, (२) नौकर आदि को भेजकर प्राणी का घात कराना, तथा (३) प्राणी का घात करने के लिये मन से अनुज्ञा-अनुमोदन करना—ये पूर्वोक्त तीन कर्म-बन्ध के कारण हैं, जिनसे पापकर्म किया जाता है। जहाँ ये तीन नही है, तथा जहाँ भाव की विशुद्धियाँ है, वहाँ कर्मबन्ध नही होता है, प्रत्युत निर्वाण की प्राप्ति होती है।

• ।

बौद्धमत मे कर्मबन्ध के तीन

सति मे तउ आयाणा—इन दोनो गाथाओ मे शास्त्रकार ने बौद्धमतानुसार कर्मबन्ध के तीन प्रकार बताये है। चूंकि पूर्वगाथा मे बौद्धमतानुसार चतुर्विधकर्म

उपचय (बन्ध) कारण नही होता, यह बताया गया है, तब सहज ही प्रश्न होता है, कि कर्मबन्ध किस प्रकार होता है ? कर्मों का आदान (ग्रहण) किस माध्यम से होता है ? इसके उत्तर मे ये दोनो गाथायें प्रस्तुत की गई हैं। इनका आशय स्पष्ट है। जिनके द्वारा कर्मों का आदान, ग्रहण या बन्ध किया जाता है, उसे आदान कहते है। जिन आदानो के माध्यम से पापकर्म किये जाते हैं, वे आदान तीन प्रकार के है— वध्यप्राणी को मारने की इच्छा से स्वय उस प्राणी को मारना, उस पर प्रहार करना यह प्रथम कर्मादान है, (२) प्राणी को मारने हेतु किसी नौकर आदि को भेजकर या किसी को प्रेरित करके उस प्राणी का घात कराना, यह द्वितीय कर्मादान है, और (३) प्राणी का घात करते हुए पुरुष को मन से अनुज्ञा देना, अनुमोदन-समर्थन करना, यह तीसरा कर्मादान है।[1] परिज्ञोपचित कर्म मे और इस तीसरे आदान मे यह अन्तर है कि परिज्ञोपचित कर्म मे केवल मन से चिन्तनमात्र होता है, जबकि इस तीसरे आदान मे दूसरे के द्वारा मारे जाते हुए प्राणी के घात का मन से अनुमोदन किया जाता है।

२७वी गाथा मे उसी बात को दोहराया गया है। उसका अभिप्राय यह है प्राणिघात के विषय मे स्वय करना, कराना और अनुमोदन करना ये तीन कर्मबन्ध के आदान (द्वार) है।

एव भावविसोहीए निव्वाणमभिगच्छइ—पूर्वोक्त पक्ति मे 'उ' (तु) शब्द निश्चयार्थक है। अर्थात् पूर्वोक्त तीन ही प्रत्येक तथा तीनो मिलकर कर्मबन्ध के कारण हैं, क्योकि इन तीनो मे अध्यवसाय दुष्ट रहता है। इसलिए इनके द्वारा पापकर्म का उपचय होता है। इससे फलितार्थ यह निकलता है कि जहाँ प्राणिघात के प्रति दुष्ट अध्यवसायपूर्वक करना, कराना और अनुमोदन ये तीन नही है, तथा जहाँ राग-द्वेषरहित बुद्धि से प्रवृत्ति होती है, ऐसी स्थिति मे जहाँ केवल मन से या शरीर से अथवा मानसिक अभिप्राय-रहित दोनो से प्राणातिपात हो जाता है, वहाँ भावविशुद्धि होने के कारण कर्म का उपचय नही होता और कर्म का उपचय न होने के कारण जीव समस्त द्वन्द्वो से रहित निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यह इस गाथा के उत्तरार्ध का आशय है।

भावविशुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति करने से कर्मबन्ध नही होता, इसे बौद्धमतानुसार एक दृष्टान्त द्वारा शास्त्रकार समझाते हैं—

---

१ जैनशास्त्रो मे कृत, कारित और अनुमोदित—ये तीन करण हिंसा आदि के बताये गये है, वैसे ही बौद्धमत मे हिंसा आदि के ये तीन आदान बताये हैं।

मूल पाठ

पुत्तं पिया समारब्भ, आहारेज्ज असजए ।
भुजमाणो य मेहावी, कम्मुणा नोवलिप्पइ ॥२८॥

स छाया

पुत्र पिता समारभ्याहारयेदसयत ।
भुञ्जानश्च मेधावी कर्मणा नोपलिप्यते ॥२८॥

अन्वयार्थ

(असजए) सयमविहीन (पिया) पिता (पुत्त) अपने पुत्र को (समारब्भ) मारकर-(आहारेज्ज) खा ले तो (भुजमाणो) खाता हुआ भी वह पिता (मेहावी) तथा मेघावी साधु भी (कम्मुणा) कर्म से (नोवलिप्पइ) उपलिप्त नहीं होता।

भावार्थ

जिस तरह दुष्काल आदि विपत्ति के समय कोई असयमी पिता अपने पुत्र को मारकर उसका मास खाता है, तो वह पुत्र का मास खाकर भी कर्म से लिप्त नही होता, इसी तरह रागद्वेषरहित मेधावी साधु भी मास खाता हुआ कर्म से लिप्त नही होता।

व्याख्या

भ द्धि से कर्मबन्ध नहीं बौद्ध- दृष्टान्त

इस गाथा मे भावशुद्धिपूर्वक हिंसा आदि प्रवृत्ति से कर्मबन्ध का अभाव सिद्ध करने के लिए शास्त्रकार ने बौद्धो द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त दिया है। दृष्टान्त का आशय स्पष्ट है। जैसे कोई रागद्वेष-रहित असयमी गृहस्थ किसी बडी विपत्ति के समय अपने उद्धारार्थ उदरपूर्ति हेतु अपने पुत्र को मार कर उसका भक्षण कर लेता है, तो भी वह कर्मबन्ध से लिप्त नही होता, क्याकि पुत्र पर उसका कोई द्वेष नही है।[1] इसी तरह रागद्वेषरहित बुद्धिमान शुद्धाशय साधु भी किसी घोर सकट-

---

१ सयुत्तनिकाय मे इस प्रकार की एक गाथा मिलती है कि शरीर-शक्ति बढाने के उद्देश्य से एक पिता अपने पुत्र का वध करके उसका मास भक्षण कर लेता है। फिर भी बौद्धधर्म की दृष्टि से वह पिता वधक (हिंसक) नही होता। यह आपपातिक नियम है।

काल मे मास खा लेता है तो वह भी कर्मबन्ध से लिप्त नही होता। यहाँ 'य' (च) शब्द 'अपि' समुच्चय अर्थ मे है। गाथा का निष्कर्ष यह है कि चाहे गृहस्थ हो या साधु, जिसका आशय शुद्ध हे, अन्त करण राग-द्वेषरहित है, वह इस प्रकार का प्राणिघात होने पर भी पाप-कर्म से नही लिपटता, क्योकि पापकर्म तमी चिपकता है, जब भावो मे अशुद्धि हो, दुष्ट अध्यवसाय हो।

अब अगली गाथा मे शास्त्रकार इस गलत मान्यता का निराकरण करते हैं—

मूल पाठ

मणसा जे पउस्संति, चित्त' तेसि ण विज्जइ।
अणवज्ज मतह तेसि, ण ते संवुडचारिणो ॥२९॥

स छाया

मनसा ये प्रद्विपन्ति, चित्त तेषा न विद्यते।
अनवद्यमतथ्य तेषा, न ते सवृतचारिण ॥२९॥

अन्वयार्थ

(जे) जो लोग (मनसा) मन से (पउस्सति) किसी प्राणी पर द्वेष करते है, (तेसिं) उनका (चित्त) चित्त (ण विज्जइ) विशुद्धियुक्त नही है। (तेसि) तथा उनके (अणवज्ज मतह) पापकर्म का उपचय नही होता, यह कथन भी मिथ्या है। (तेण चारिणो) तथा वे सवर (पापो के स्रोत का निरोध) के साथ चलने वाली नही है।

भावार्थ

जो मन से प्राणियो पर द्वेष करते हैं, उनका चित्त निर्मल नही होता। तथा मन से द्वेष करने पर भी पापकर्म का उपचय नही होता, यह कथन भी असत्य है। ऐसे लोग पापो के निरोधरूप सवर को लेकर प्रवृत्ति करने वाले नही है।

व्याख्या

मन से द्वेष करने पर भी पापबन्ध नहीं घोर असत्य

पूर्वोक्त गाथाओं मे बौद्धो द्वारा मान्य, भावविशुद्धि होने पर हिंसा आदि से पापकर्मबन्ध नही होता, अब बौद्धो के इस मत को दूषित सिद्ध करते हैं। आशय यह है कि जो पुरुष किसी भी निमित्त से किसी प्राणी पर मन से द्वेष करता है, उसका

मन उस समय द्वेष मे या हिंसा मे नही जाता या विशुद्ध है, ऐसा कहकर उस पुरुष मे पाप-कर्म के बन्ध का अभाव मानना, सरासर असत्य है। भला कौन ऐसा प्राणी होगा, जिसके मन मे हिंसा करने से पहले हिंसा करने के परिणाम न होते हो ? वे चाहे तीव्र राग के हो या तीव्र द्वेष के हो अथवा मन्द राग-द्वेष से पूर्ण हो, हिंसा के समय होते ही हैं। वे कभी विशुद्ध नही कहे जा सकते। क्योकि दूसरे के द्वारा मारे हुए पशु का मास खाने मे भी हिंसा की परोक्ष अनुमति तो रहती ही है। अत बौद्धो का यह कथन मिथ्या है कि 'केवल मन के द्वारा द्वेष करने पर भी कर्म का उपचय नही होता।' उनका आचरण एव चर्या सयम से युक्त नही है, क्योकि उनका मन अशुद्ध है। वस्तुत कर्म के उपचय करने मे मन[1] ही तो प्रधान कारण है। इसे प्राय सभी भारतीय दर्शन मानते हैं। यही कारण है कि बौद्धो ने भी माना है कि मनोव्यापाररहित केवल शरीर के व्यापार से कर्म का उपचय नही होता। प्रधान कारण भी वही होता है, जो जिसके होने पर हो, और न होने पर न हो। मन भी कर्मोपचय का प्रधान कारण इसलिये है कि मन के व्यापार होने पर कर्म का उपचय होता है और मनोव्यापार न होने पर नही होता।

कोई यह प्रश्न प्रस्तुत कर है कि बौद्धो ने तो शरीर-चेष्टा से रहित मनोव्यापार को कर्मोपचय का कारण न होना भी तो बताया है, फिर कर्मोपचय का प्रधान कारण उनकी दृष्टि मे मन कहाँ हुआ ? इसके समाधानार्थ हम उन्ही के मान्य वचन प्रस्तुत करते हैं। जैसे कि उन्होने माना है कि चित्तविशुद्धि से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह कहकर चित्त को ही मोक्ष का प्रधान कारण बताया है तथा और भी कहा है—

'चित्तमेव हि ससारो रागादिक्लेशवासितम् ।
तंदविनिर्मुक्त भवान्त इति कथ्यते ? ॥

अर्थात् रागद्वेषादि क्लेशो से वासित चित्त ही ससार है और वही चित्त-रागादि क्लेशो से मुक्त होने पर ससार का अन्त-मोक्ष कहलाता है।

अन्य दार्शनिको ने भी मन को शुभाशुभ परिणामवशात् मोक्ष और नरक माना है—

'मतिविभव ! नमस्ते ८ त्वेऽपि पुसाम् ।
परिणमसि शुभाशो कल्मषा मेव ॥
नरक प्रस्थिता. कष्टमेके ।
उपचितसुभ ८ सूर्यसमें विनोऽन्ये ॥

१ मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो ।

अर्थात्—हे मति के धनी मन ! तुम्हे नमस्कार है। यद्यपि ससार मे तुम्हारे लिये सभी पुरुष समान हैं, तथापि तुम किसी पुरुष मे शुभ अशो मे और किसी मे अशुभ अशो मे परिणत होते हो। यही कारण है कि कई लोग परिणामो के अशुभाश के कारण नरकमार्गगामी बनकर कष्ट उठाते है तो कई शुभाश की शक्ति पाकर सूर्यभेदी मोक्षगामी बन जाते है।

इस प्रकार बौद्धो के मन्तव्यानुसार क्लिष्ट मनोव्यापार पाप-कर्मबन्धन का कारण सिद्ध होता है।

ईर्यापथ मे भी उपयोग रखकर नही चलना ही तो चित्त की क्लिष्टता है। अत उससे भी कर्मबन्ध होता ही है। हाँ, यदि कोई साधक उपयोग रखकर गमन करता है, उनके मन मे किसी भी जीव को मारने की भावना नही है, प्रमादरहित-सावधानी से चर्या करता है तो वहाँ उसे पापकर्म का बन्ध नही होता है। यह तो जैन सिद्धान्त मे भी कहा है—

उच्चालयम्मि पाए इरियासमियस्स सकमट्ठाए ।
वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज त जोगमासज्ज ॥
णय तस्स तन्निमित्तो बन्धो सुहुमोऽवि देसिओ समए ।
ज्जो उपयोगेण, सव्वभावेण सो जम्हा ॥

अर्थात्—ईर्यासमिति से युक्त साधक भूमि पर कदम रखने के लिए जब अपना पैर उठाता है, तब उसके पैर के नीचे आकर यदि कोई सूक्ष्मजीव मर जाये तो उसे उस निमित्त से जरा भी पाप-कर्मबन्ध नही होता, यह (जैन) सिद्धान्त मे कहा है। क्योकि वह पुरुष सब तरह से जीवरक्षा मे उपयोग रखने के कारण पाप रहित (अनवद्य) है।

चित्त क्लिष्ट होता है, तभी स्वप्न मे किसी को मारने का उपक्रम होता है। इसलिए स्वप्नान्तिक मे भी चित्त अशुद्ध होने के कारण कुछ न कुछ कर्मबन्ध होता ही है। आपने भी तो स्वप्नान्तिक मे 'अव्यक्त तत्सावद्यम्' कहकर अव्यक्त पाप का होना स्वीकार किया है। अत जब आपने यह मान लिया कि क्लिष्ट मनोव्यापार होने पर कर्मबन्ध होता है,तब 'प्राणी, प्राणिज्ञान आदि पाँच बातो से ही हिंसा होती हैं' यह कथन असगत सिद्ध हो जाता है। आपने जो दृष्टान्त देकर बताया कि राग-द्वेष से रहित पिता विपत्ति के समय पुत्र को मार कर खा जाये, तब भी कर्मबन्धन नही करता, यह कथन भी विचारशून्य है। क्योकि राग-द्वेष के बिना मारने का परिणाम हो ही कैसे सकता है? जब तक किसी के चित्त मे 'मैं मारता हूँ' ऐसा परिणाम नही होता, तब तक कोई मारता नही है। और 'मैं मारता हूँ'

इस प्रकार का चित्त का परिणाम असक्लिष्ट नही होता, यह कौन मान सकता है ? चित्त की क्लिष्टता से कर्मबन्ध होता है, इसमे आप और हम दोनो एकमत हैं। अत पुत्रघाती पिता को पापरहित बताना असगत है। बौद्धो ने कही यह भी कहा था—'जैसे दूसरे के हाथ से अगारा पकडने पर हाथ नही जलता, वैसे ही दूसरे के द्वारा मारे हुए जीव के मास खाने मे पाप नही होता,' यह भी उन्मत्त-प्रलाप के समान है, क्योकि दूसरे के द्वारा मारे हुए प्राणी का मास खाने मे भी अनुमति अवश्य होती है। अनुमति होने पर कर्मबन्ध अवश्य होता है। आपने भी कर्म के तीन आदानो मे एक आदान अनुज्ञा (अनुमति) को माना ही है। अन्य मत वालो ने भी कहा है—

अनुमन्ता विशसिता सहर्ता क्रयविक्रयी ।
सस्कर्ता चोपभोक्ता च घात ष्टघातका ॥

मांस खाने का अनुमोदन करने वाला, पशुवध करके उसके अगो को काट कर अलग-अलग करने वाला, पशु को मारने के लिए कत्लखाने मे ले जाने वाला तथा पशु को मारने के लिए उसे खरीदने या बेचने वाला, अथवा माम खरीदने-बेचने वाला, पशु का मास पकाने वाला, खानेवाला और मारने वाला—ये आठो ही घातक (हिंसक) है। ये आठो ही पशुघात के पाप के भागी है। बौद्धो ने भी तो जीवहिंसा करने, कराने और अनुमति देने मे पाप होना बताया है। यह तो हमारे ही मत का आपने समर्थन किया है। तब आपका यह कथन कि 'चार प्रकार के कर्म उपचय (बन्ध) को प्राप्त नही होते,' बिलकुल असगत है। इसीलिए तो आप पर यह आक्षेप है कि आप कर्म की चिन्ता से रहित हैं। शास्त्रकार ने ठीक ही कहा है—**ण ते सवुडचारिणो** ।' अर्थात् वे लोग सवृत होकर फूंक-फूंककर नही चलते, सयम के विचार से प्रवृत्त नही होते।

अब अगली गाथा मे पूर्वोक्त विविध दार्शनिकों की मिथ्यात्वयुक्त दृष्टि और उसके कारण किये जाने वाले ' का निरूपण करते हैं—

मूल

इच्चेयाहि य दिट्ठीहि, सातागारवणिस्सिया ।
संरणं ति मन्नमाणा, सेवती पावग जणा ॥३०॥

सं .

इत्येताभिश्च दृष्टिभि सातगौरवनिश्रिता ।
शरणमिति मन्यमाना सेवन्ते पापक जना ॥३०॥'

अन्वयार्थ

(इच्चेयाहि) इन पूर्वोक्त (दिट्ठीहिं) दृष्टियो को लेकर (सातागारवणिस्सिया) सुखोपभोग तथा मान-बडाई मे आसक्त विभिन्न दर्शन वाले (जणा) लोग (सरणंति) अपने-अपने दर्शन को अपना-अपना शरण (आधारभूत) (मन्नमाणा) मानते हुए बेखटके (पावग) पाप का (सेवति) सेवन करते है।

भावार्थ

अब तक बताई हुई इन भिन्न-भिन्न दृष्टियो (विचारधाराओ) को लेकर इन्द्रिय-सुखो के उपभोग में तथा बडप्पन मे आसक्त विभिन्न दर्शनो वाले लोग अपने-अपने दर्शन को अपना शरण (रक्षक) मानकर बेखटके पाप-कर्म का सेवन करते है।

व्याख्या

विभिन्न मतवादियो द्वारा नि'शक पाप-सेवन

'इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं' इस गाथा मे शास्त्रकार ने, विभिन्न दार्शनिक और मतवादियो की दृष्टियाँ अस्पष्ट और विपरीत होने के कारण वे किस प्रकार अपने जीवन मे स्वच्छन्द हो जाते है, यह बताया गया है। आशय यह है कि जब किसी व्यक्ति की दृष्टि (विचारधारा) सबल, सम्यक् एव अभ्रान्त नही होती है, तब उसका आचरण भी विपरीत दिशा मे होगा, यह एक सुनिश्चित तथ्य है। इससे तो अब इन्कार नही किया जा सकता कि पूर्वगाथाओ मे बताये हुए विभिन्न मतवादियो की दृष्टियाँ कितनी एकान्त एव भ्रान्त है ? अत वे लोग अपने-अपने दर्शन एव मत के अनुसार प्राय नि शक होकर ऐश-आराम, आमोद-प्रमोद एव सम्मान-प्रतिष्ठा के चक्कर मे पड जाते हैं, और यह सोचकर बेखटके पाप-कर्म करते रहते हैं कि क्या चिन्ता है हमे ! हमने तो अपने दर्शन एव मत का पल्ला पकड लिया है, वही हमे ससार-सागर से पार करने के लिए उत्तम नौका है। उसी की छत्रछाया मे हमे मुक्ति प्राप्त हो जाएगी। अभी तो बेधडक हिंसा आदि कर ले। एक दिन हमारा मत हमे अवश्य ही नरक से बचा लेगा। इस प्रकार की भ्रान्ति के शिकार होकर वे दर्शनिक बेखटके पापाचरण करते हैं।

अब शास्त्रकार विभिन्न दार्शनिको की अन्धता एव छिद्रयुक्त नौका मे बैठकर ससार-सागर को पार करने की चेष्टा को बताते हुए कहते है—

इस प्रकार का चित्त का परिणाम असक्लिष्ट नही होता, यह कौन मान सकता है ? चित्त की क्लिष्टता से कर्मबन्ध होता है, इसमे आप और हम दोनो एकमत हैं। अत पुत्रघाती पिता को पापरहित बताना असगत है। बौद्धो ने कही यह भी कहा था—'जैसे दूसरे के हाथ से अगारा पकडने पर हाथ नही जलता, वैसे ही दूसरे के द्वारा मारे हुए जीव के मास खाने मे पाप नही होता,' यह भी उन्मत्त-प्रलाप के समान है, क्योकि दूसरे के द्वारा मारे हुए प्राणी का मास खाने मे भी अनुमति अवश्य होती है। अनुमति होने पर कर्मबन्ध अवश्य होता है। आपने भी कर्म के तीन आदानो मे एक आदान अनुज्ञा (अनुमति) को माना ही है। अन्य मत वालो ने भी कहा है—

अनुमन्ता विशसिता सहर्ता क्रयविक्रयी ।
सस्कर्ता चोपभोक्ता च घात ाष्टघातका ॥

माँस खाने का अनुमोदन करने वाला, पशुवध करके उसके अगो को काट कर अलग-अलग करने वाला, पशु को मारने के लिए कत्लखाने मे ले जाने वाला तथा पशु को मारने के लिए उसे खरीदने या बेचने वाला, अथवा माम खरीदने-बेचने वाला, पशु का मास पकाने , खानेवाला और मारने वाला—ये आठो ही घातक (हिंसक) हैं। ये आठो ही पशुघात के पाप के भागी है। बौद्धो ने भी तो जीवहिंसा करने, कराने और अनुमति देने मे पाप होना बताया है। यह तो हमारे ही मत का आपने समर्थन किया है। तब आपका यह कथन कि 'चार प्रकार के कर्म उपचय (बन्ध) को प्राप्त नही होते,' बिलकुल असगत है। इसीलिए तो आप पर यह आक्षेप है कि आप कर्म की चिन्ता से रहित हैं। शास्त्रकार ने ठीक ही कहा है—**ण ते सवुडचारिणो**।' अर्थात् वे लोग सवृत होकर फूंक-फूंककर नही चलते, सयम के विचार से प्रवृत्त नही होते।

अब अगली गाथा मे पूर्वोक्त विविध दार्शनिको की मिथ्यात्वयुक्त दृष्टि और उसके कारण किये जाने वाले अकार्य का निरूपण करते है—

मूल

इच्चेयाहिं य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया ।
सरणं ति मन्नमाणा, सेवती पावग जणा ॥३०॥

सं .

इत्येताभिश्च दृष्टिभि सातगौरवनिश्रिता ।
शरणमिति मन्यमाना सेवन्ते पापक जना ॥३०॥'

अन्वयार्थ

(इच्चेयाहि) इन पूर्वोक्त (दिट्ठीहि) दृष्टियो को लेकर (सातागारवणिस्सिया) सुखोपभोग तथा मान-बडाई मे आसक्त विभिन्न दर्शन वाले (जणा) लोग (सरणति) अपने-अपने दर्शन को अपना-अपना शरण (आधारभूत) (मन्नमाणा) मानते हुए बेखटके (पावग) पाप का (सेवति) सेवन करते हैं।

भावार्थ

अब तक बताई हुई इन भिन्न-भिन्न दृष्टियो (विचारधाराओ) को लेकर इन्द्रिय-सुखो के उपभोग मे तथा बडप्पन मे आसक्त विभिन्न दर्शनो वाले लोग अपने-अपने दर्शन को अपना शरण (रक्षक) मानकर बेखटके पाप-कर्म का सेवन करते हैं।

व्याख्या

विभिन्न मतवादियो द्वारा नि:शक पाप-सेवन

'इच्चेयाहि य दिट्ठीहि' इस गाथा मे शास्त्रकार ने, विभिन्न दार्शनिक और मतवादियो की दृष्टियाँ अस्पष्ट और विपरीत होने के कारण वे किस प्रकार अपने जीवन मे स्वच्छन्द हो जाते है, यह बताया गया है। आशय यह है कि जब किसी व्यक्ति की दृष्टि (विचारधारा) सबल, सम्यक् एव अभ्रान्त नही होती है, तब उसका आचरण भी विपरीत दिशा मे होगा, यह एक सुनिश्चित तथ्य है। इससे तो अब इन्कार नही किया जा सकता कि पूर्वगाथाओ मे बताये हुए विभिन्न मतवादियो की दृष्टियाँ कितनी एकान्त एव भ्रान्त हैं ? अत वे लोग अपने-अपने दर्शन एंव मत के अनुसार प्राय निशक होकर ऐश-आराम, आमोद-प्रमोद एव सम्मान-प्रतिष्ठा के चक्कर मे पड जाते है, और यह सोचकर बेखटके पाप-कर्म करते रहते है कि क्या चिन्ता है हमे ! हमने तो अपने दर्शन एव मत का पल्ला पकड लिया है, वही हमे ससार-सागर से पार करने के लिए उत्तम नौका है। उसी की छत्रछाया मे हमे मुक्ति प्राप्त हो जाएगी। अभी तो बेधडक हिसा आदि कर ले। एक दिन हमारा मत हमे अवश्य ही नरक से बचा लेगा। इस प्रकार की भ्रान्ति के शिकार होकर वे दर्शनिक बेखटके पापाचरण करते है।

अब शास्त्रकार विभिन्न दार्शनिको की अन्धता एव छिद्रयुक्त नौका मे बैठकर ससार-सागर को पार करने की चेष्टा को बताते हुए कहते है—

मूल

जहा अस्साविणिं णावं, जाइअन्धो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागतु, अतरा य विसीयई ॥३१॥

सस्कृत ।

यथा आस्राविणी नाव, जात्यन्धो दुरुह्य ।
इच्छति पारमागन्तुमन्तरा च विपीदति ॥३१॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (जाइअधो) जन्मान्ध पुरुप (ाविणि नाव) ऐसी नौका जिसमे जल प्रवेश कर जाता है—छिद्रो वाली नाव (दुरूहिया) चढकर (पारमागतु) उस पार जाने की (इच्छइ) इच्छा करता हे, परन्तु (अतरा य) मध्य मे ही (विसीयई) डूबकर दुख पाता है ।

भावार्थ

जैसे जल प्रविप्ट हो जाने वाली छिद्रयुक्त नौका पर चढकर जन्मान्ध व्यक्ति पार जाना चाहता है, लेकिन वह बीच मे ही जल मे डूब कर मर जाता है ।

व्याख्या

विभिन्न दार्शनिको की जन्मान्धता एव सछिद्र नौकारोहण से तुलना

'जहा विणि णाव'—इस गाथा मे दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है और विभिन्न मतवादियो की अकार्य चेष्टाओ का दिग्दर्शन कराया गया है । आशय यह है कि कोई व्यक्ति जन्म से अन्धा हो तो उसे यह पता ही नही होता कि कौनसी नौका छिद्रवाली है और कौनसी नही ? वह नौका के खेवैया के वाग्जाल मे आकर छिद्रवाली नौका मे चढ बैठा । वेचारा अगाधजल वाली नदी के उस पार जाना चाहता था, मगर अपसोस ! अध-बीच मे ही नाव मे इतना पानी भर आया कि मल्लाह सहित वह अन्धा भी डूबने लगा । जब मल्लाह ने उसे सावधान किया कि नौका मे पानी भर आया है, सावधान हो जाओ, तब उसे बडा दु ख हुआ । वह मल्लाह को कोसने लगा । पर अब क्या हो सकता था, उसे जल-समाधि लेनी ही पडी ।

ठीक यही दशा उन विभिन्न मतवादियो की है, जो वेचारे पहले से ही मिथ्यात्व एव मतमोह मे अन्धे हैं फिर उनको कर्णधार भी ऐसे मिल गये जिन्होने अपने वाग्जाल मे फँसा कर उन्हे अपने मत, दर्शनरूपी फूटी नौका मे बिठा लिया ।

अब क्या था ! वे तो ससार-समुद्र से पार होने की आशा से मतरूपी नौका मे बैठे लेकिन वह नौका इतनी पोच निकली कि अध-बीच मे ही अनेक अशुभ आस्रवो (पापो) के जल से भर गई। इस प्रकार उन्हे वह मतरूपी नौका ले डूबी। वे इस जीवन से भी नष्ट हुए और अगले जीवन से भी। इस जीवन मे भी मत के चक्कर मे पडकर भी धर्माचरण न कर सके, यह जीवन तो बिगडा ही अगला जीवन भी बिगड गया। पर अब पछताने से क्या होता। अब तो जिन्दगी का अन्त निकट आ लगा। अब भी चेतने का अवसर तो था लेकिन मताग्रह एव मिथ्यात्व का अन्धापन कुछ भी करने और सोचने ही कहाँ देता है ?

अब इस द्वितीय उद्देशक का उपसहार करते हुए कहते है—

मूल पाठ

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
ससारपारकंखी ते, ससार अणुपरियट्टंति ॥३२॥

स छाया

एव तु श्रमणा एके, मिथ्यादृष्टयोऽनार्या ।
ससारपारकाक्षिणस्ते, ससारमनुपर्यटन्ति ॥३२॥

अन्वयार्थ

(एव तु) इस प्रकार (एगे) कई (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (अणारिया समणा) अनार्यश्रमण (ससारपारकखी) ससार-सागर से पार जाना चाहते है, लेकिन (ते) वे (ससार) ससार मे ही (अणुपरियट्टति) बार-बार पर्यटन करते रहते है।

भावार्थ

इस प्रकार कई मिथ्यादृष्टि अनार्य तथाकथित श्रमण ससार-सागर पार करना चाहते हैं लेकिन वे ससार मे ही भ्रमण करते रहते हैं।

व्याख्या

तथाकथित मिथ्यात्वी श्रमणों की दशा

जैसे जन्मान्ध पुरुष सच्छिद्र नौका पर चढकर नदी पार नही कर सकता, वैसे ही विपरीत दृष्टि वाले मिथ्यान्धान्ध मतमोहान्ध कई मासाहार, मद्यपान आदि विविध हेय कर्मो (पापो) मे स्वय लिप्त अथवा उन पापो के समर्थक अनार्य श्रमण परिव्राजक आदि अपने-अपने दर्शन रूपी नौका के सहारे ससार-सागर को पार करना चाहते है, परन्तु मिथ्यात्व की रतौंधी के कारण वे ससार-सागर को पार नही

कर पाते और अध-बीच मे ही ससार-सागर मे डूब कर बार-बार जन्म-मरण रूप चतुर्गतिक ससार मे ही भटकते रहते है। इस ससार मे बार-बार जन्म-मरण और दुर्गति आदि दुखो को भोगते हुए घोर मिथ्यात्व के कारण अनन्तकाल तक इसी मे दौड-धूप करते रहते है। परन्तु मोक्ष को प्राप्त नही कर पाते, न ही मोक्ष के द्वार-रूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर पाते है। यह इस गाथा का आशय है।

गणधर सुधर्मास्वामी इस द्वितीय उद्देशक का उपसहार करते हुए कहते हैं—

त्ति बेमि

इस प्रकार मैं कहता हूँ।

पढमज्झयणे बीओ उद्देसो सम्मत्तो।

इस प्रकार सूत्रकृताग सूत्र के प्रथम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक 'अमरसुख-बोधिनी' व्याख्या सहित पूर्ण हुआ।

❀

प्रथम अध्ययन : तृतीय उद्देशक

पर समयवक्तव्यता : आचारदोष

यहाँ से प्रथम अध्ययन का तीसरा उद्देशक प्रारम्भ हो रहा है। पहले के दो उद्देशको मे भी है तो स्वसमय-परसमयवक्तव्यता का अधिकार, किन्तु इन पूर्वोक्त दो उद्देशको मे मिथ्यादृष्टि परमतवादियो की विचारधारा बताकर उनके वैचारिक दोषो का दिग्दर्शन कराया गया है। अब इस उद्देशक मे उनकी आचार-प्रणाली बता कर उनमे निहित आचार सम्बन्धी दोषो का दिग्दर्शन किया गया है।

इस उद्देशक का पूर्व दो उद्देशको के साथ सम्बन्ध यह है कि प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ मे 'बन्धनो को जानकर (बुज्झिज्ज तिउट्टिज्जा) तोडने' की बात कही गई है। वे कर्मबन्धन के कारण मुख्यत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है। पूर्वोक्त दो उद्देशको मे मुख्यरूप से अन्यदर्शना एव मतो को मिथ्यात्व दोप दूषित बताकर उसके फलस्वरूप होने वाले कर्मबन्धनो को जानने की अव्यक्त रूप से प्रेरणा दी गई है, अब इस तृतीय उद्देशक मे आचार-दोप के कारण अविरति और प्रमाद से होने वाले कर्मबन्धन को जानने की अव्यक्त प्रेरणा दी गई है। साथ ही शुद्ध आचार, जो बन्धन तोडने का उपाय है, उसका भी बोध प्राप्त करना चाहिए, यह सकेत भी है।

अत शास्त्रकार सर्वप्रथम कर्मबन्धन के कारणभूत एव श्रमणो, बौद्धभिक्षुओ एव निर्ग्रन्थो के लिए असेव्य आधाकर्मी आहार-सेवन मे दोष और उसका परिणाम बताते है—

मूल पाठ

ज किंचि उ पूइकड, सड्ढीमागंतुमीहिय।
सहस्सतरिय भुञ्जे, दुपक्ख चेव सेवइ ॥१॥

सस्कृत छाया

यत्किञ्चित्पूतिकृत श्रद्धावताऽऽगन्तुकेभ्य ईहित ।
सहस्रान्तरित भुञ्जीत द्विपक्षञ्चैव सेवते ॥१॥

अन्वयार्थ

(ज किंचि उ) जो आहार थोडा-सा भी (पूइकड) आधाकर्म आदि आहार-दोप दूषित या मिश्रित—अपवित्र है, (सड्ढी) श्रद्धालु गृहस्थ ने (आगतुमीहिय) आगन्तुक (आने वाले) मुनियो, बौद्धभिक्षुओ या श्रमणो के लिए तैयार किया है। (सहस्सतरिय) उस दोषयुक्त आहार को जो साधक हजार घर का अन्तर देकर भी (भुजे) खाता है, (दुपक्ख चेव सेवइ) वह गृहस्थ और साधु दोनो के पक्षो का (दोप) सेवन करता है।

भावार्थ

जो आहार आधाकर्मी आदि दोपयुक्त आहार के कण से (जरा-से दाने से) भी अपवित्र है और श्रद्धालु गृहस्थ द्वारा अत्यन्त श्रद्धावश आने वाले मुनियो के लिए बनाया गया है, उस आहार को जो साधक एक घर से दूसरे, दूसरे से तीसरे, यो हजार घर का अन्तर देकर भी खाता है, वह साधु और गृहस्थ दोनो पक्षो का (दोष) सेवन करता है।

व्याख्या

दोषदूषित आहारसेवन - द्विपक्ष दोषसेवन

इस गाथा मे शास्त्रकार ने उस आचार की ओर सकेत किया है, जिसकी मर्यादा भग करने से साधक को उभयपक्षीय दोप से लिप्त होकर उक्त प्रमाद के फलस्वरूप घोर कर्मबन्ध का भागी होना पडता है। साधको की आहार-विहार सम्बन्धी सभी मर्यादाएँ अहिंसा पर आधारित हैं। साधु के स्वय आहार पकाने, दूसरो से पकवाने और आहार पकाने का अनुमोदन (समर्थन) करने का त्याग होता है, क्योकि इसमे अहिंसा सम्बन्धी मर्यादा भग होती है। आहार पकाने मे सचित्त जल, वनस्पति, अग्नि, वायु और पृथ्वीकाय इन एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा के अतिरिक्त अग्नि मे त्रसजीवो की भी प्राय हिंसा हो जाती है। इसीलिए आधाकर्म आदि आहार सम्बन्धी दोपो की गवेपणा करने का साधु के लिए विधान है कि वह जिस आहार को ले रहा है, वह किसी भी प्रकार के दोप से दूपित—अपवित्र तो नही है? यहाँ शास्त्रकार ने 'पूइकड' विशेपण आहार के लिए लगाया है। उसका आशय है—दोप से दूपित किया हुआ आहार। क्योकि दोपयुक्त (आधाकर्मी) आहार सेवन करने का परिणाम आगम मे घोर कर्मबन्ध बताया है—'आहाकम्म ण भुजमाणे समणे निग्गथे किं बधइ, किं पकरेइ, किं चिणाइ, किं उपचिणाइ? गोयमा! आहाकम्म ण भुजमाणे

आउवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबधणबद्धाओ धणियबधणबद्धाओ पकरेइ० जाव

अणुपरियट्टइ ।[1] अर्थात्—"भगवन् ! जो श्रमण निर्ग्रन्थ आधाकर्म आहार का सेवन करता है, वह कितनी कर्मप्रकृतियो को बांधता है, कितने कर्मों का चय, उपचय करता है ? गौतम ! आधाकर्मी आहारकर्ता आयुष्य को छोडकर सात कर्मप्रकृतियाँ जो शिथिल बँधी हुई थी, उन्हे सघन (घने) कर्मों के वन्धन से वद्ध कर लेता है, कर्मों का चय उपचय करता है, दीर्घकाल तक ससार मे परिभ्रमण करता है ।"

प्रश्न होता है, आहार आधाकर्मी (दोप-दपित) कव होता हे ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते—'सड्ढीमागतुगीहिय' जब कोई श्रद्धावान् भक्त किसी स्वार्थ, लोभ या अपनी प्रतिष्ठा के लिए अथवा भक्त कहलाने या पुण्यवृद्धि के हेतु किन्ही खास आगन्तुक साधुओ के निमित्त से आहार तैयार करता है, तब साधु को समझ लेना चाहिए कि यह आहार आधाकर्म दोप से अपवित्र है । किन्तु जो साधु पूर्वोक्त आगमसूचित घोर कर्मबन्धन रूप परिणाम को न जानकर अथवा स्वाद-लोलुपतावश या श्रद्धालु भक्त की अन्धभक्ति के प्रवाह मे वहकर जानबूझकर उस आहार को ग्रहण कर लेता है, इतना ही नही, उसका उपभोग भी कर लेता है तो वह साधक आधाकर्मी दोष का सेवन करता है ।

यहाँ यह शका होती है कि मान लो, साधु आहार के उक्त आधाकर्म दोष को छिपाने और अपने गुरु या बडे साधुओ की दृष्टि से बचाने के लिए उक्त दोषयुक्त आहार लेकर कई घरो से थोडा-थोडा आहार लेकर उसके साथ मिला देता है ताकि किसी को पता न लगे या शका न हो कि यह आधाकर्मी आहार है । इस प्रकार उस आहार को लेकर वह अपने उपाश्रय मे आकर सेवन करता है, क्या तब भी वह आहार (अनेक घरा मे घूमकर उसके साथ दूसरा आहार मिलाने पर भी) दोषयुक्त रह जाता है ? शास्त्रकार कहते हैं—'सहस्सतरिय भुजे दुपक्ख चेव सेवइ' अर्थात् वह आहार चाहे हजार घर का व्यवधान देकर भी सेवन किया जाय, तब भी उक्त दोप से मुक्त नही होता, प्रत्युत स्वपक्ष मे तो उस आधाकर्मी सेवन का दोष लगता ही है, गृहस्थपक्ष के दोष का भागी भी वह होता है । क्योकि यदि वह साधक गृहस्थ के यहा उस आहार की गवेषणा करता, और आधाकर्मी जानकर उसे ग्रहण न करता तो गृहस्थ भविष्य मे उस दोष से सावधान हो (बच) जाता । किन्तु उस सदोष आहार को ग्रहण कर लेने से गृहस्थ भविष्य मे वार-वार उक्त दोप साधु के लिए लगाएगा । अत भविष्य मे दोप-परम्परावर्द्धक होने से वह साधक गृहस्थपक्ष के दोष का भी समर्थक हो जाता है । यह इस गाथा का रहस्य है ।

दुपक्ख चेव सेवइ—यहाँ 'दुपक्ख' (द्विपक्ष) के तीन अर्थ होते है—पहला

---

१ भगवती सूत्र, श० ७, उ० ६, सू० ७८

अर्थ तो ऊपर दिया जा चुका है कि वह आधाकर्मी आहार का उपभोक्ता साधु, साधु और गृहस्थ दोनो पक्षो का (दोप) सेवन करता है ।

दूसरा अर्थ यह है कि वह ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी दोनो क्रियापक्षो का सेवन करता है । आहार लाते समय ऐर्यापथिकी क्रिया तो लगती है, किन्तु उस दोपयुक्त आहार का सेवन करने मे माया और लोभ दोनो कपायो के कारण साम्परायिकी क्रियापक्ष का भी सेवन कर लेता है ।

तीसरा अर्थ यह है कि ऐसा दोपयुक्त आहार सेवन करने से पहले बाँधी हुई कर्मप्रकृतियो को निद्धत्त, निकाचित आदि गाढरूप स्थिति मे पहुँचा देता है और फिर नवीन कर्मप्रकृतियाँ बाँध लेता है । यो वह दोहरा पाप-सेवन करता है ।

इससे एक बात और फलित होती है कि श्रद्धालु गृहस्थ द्वारा निर्मित सदोप आहार का एक कण भी जव हजारो घरो के अन्तर से खाने वाला साधक दोहरे दोप का भागी बन जाता है, तव जो शाक्यभिक्षु, सन्यासी आदि सारा आहार स्वय तैयार करके खाते है, उनकी तो बात ही क्या है ? वे तो कभी भी इस दोहरे दोप मे छुटकारा नही पा सकते ।

आहार के दोषो को न जानकर जो सुखशील साधक दोषयुक्त आहार का सेवन करते है, उसका कटुफल दृष्टान्त द्वारा दो गाथाओ से शास्त्रकार ते है—

मूल पाठ

तमेव अवियाणता, विसमंसि अकोविया ।
मच्छावेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे ॥२॥
उदगस्स पभावेण, सुक्क सिग्घं तमिंति उ ।
ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहि ते दुही ॥३॥

सस्कृत छाया

तमेवाविजानन्तो विपमेऽकोविदा ।
मत्स्या वैशालिकाश्चैवोदकस्याभ्यागमे ॥२॥
उदकस्य प्रभावेण शुष्क स्निग्ध तमेत्यतु ।
ढकैश्च कंकैश्चामिपार्थिभिस्ते दु खिन ॥३॥

अन्वयार्थ

(तमेव) उस आधाकर्म आदि आहार के दोपो को **(अवियाणता)** नही जानते हुए **(विसमसि)** तथा अष्टविधकर्म के ज्ञान मे अथवा विपम ससार के ज्ञान मे

(अकोविया ते) अनिपुण वे अन्यतीर्थी परमतवादी आधाकर्मी आहार-सेवी साधक (दुही) उसी प्रकार दु खी होते है, (वेसालिया मच्छा चेव) जैसे—वैशाली जाति के मत्स्य (उदगस्सऽभियागमे) जल की बाढ आने पर होते है। (उदगस्स) जल के (पभावेण) प्रभाव से (सुक्क सिग्घ) सूखे तथा गीले स्थान को (तमिति उ) प्राप्त करके जैसे वैशालिक मत्स्य (आमिसत्थेहि) मासार्थी (ढकेहि ककेहि) ढक और कक पक्षियो द्वारा (दुहो) दु खी होते है, सताये जाते है। (उसी तरह आधाकर्मी आहार-सेवनकर्ता साधक दु खी होते हैं।)

भावार्थ

आधाकर्म आदि आहार के दोपो को नही जानने वाले और चतुर्गतिक ससार अथवा अष्टविधकर्म के ज्ञान मे अकुशल आधाकर्मभोजी साधक उसी प्रकार दु खी होते हैं, जिस प्रकार जल की वाढ आने पर जल के प्रभाव से सूखे और गीले स्थान मे पहुँची हुई विशालजातीय मछलियाँ मासार्थी ढक एव कक पक्षियो द्वारा दु खी की जाती है—सताई जाती हे।

व्याख्या

आधाकर्म आहारभोजी अत्यन्त दु ख के भागी

इन दोनो गाथाओ मे कर्मवन्धन के कारणो और विपम चतुर्गतिक ससार-भ्रमण के कारणो को समझने मे अकुशल लोग किस प्रकार अन्त मे दु खी होते है? यह बात दृष्टान्त देकर समझाई गई है।

तमेव अवियाणता—इस पक्ति का आशय यह है कि जो साधक अपने मत या धर्म सम्प्रदाय के ग्रन्थो या गुरुओ से आधाकर्म आदि आहार के उपभोगजनित दोपो के प्रति बिलकुल अनभिज्ञ एव लापरवाह होकर चलते हैं, वे वेखटके ऐसे दोपयुक्त आहार का बराबर सेवन करते है। वे इस कटु एव अप्ट प्रकार के कर्म-बन्धन के रहस्यो—कारण निवारणो को या ससार परिभ्रमण के मूल कारणो को समझने मे या उन पर ऊहापोह करने मे अकुशल हैं। वे यह नही समझते कि कैसे ये विविध कर्मवन्धन हो जाते हैं? कैसे इन कर्मवन्धनो से मुक्ति हो सकती है? अथवा इस ससार-सागर को कैसे पार किया जा सकता है? इन सब रहस्यो को जानने मे वे विलकुल मूढ अकुशल और वेखवर है। ऐसे साधक इसी ससार-सागर मे कर्मवन्धनो मे जकड कर दु खी होते रहते हैं।

इसी वात को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे विशाल समुद्र मे होने वाले वैशालिक मत्स्य अथवा विशालकाय मच्छ या विशाल जाति मे उत्पन्न महामत्स्य समुद्र मे तूफान आने पर, तूफानी हवाओ से टकराती हुई ऊँची ऊँची उछलती हुई

लहरो के थपेडे खाकर किनारे पर चले जाते है। उस प्रबल तरग के हटते ही जल से गीले स्थान के सूख जाने पर वे भीमकाय मत्स्य समुद्रतट पर ही पडे-पडे तडपने लगते हैं, उधर मासलोलुप ढक-कक आदि पक्षी तथा मनुष्यो के द्वारा वे मत्स्य जिंदे ही नोच-नोच कर फाड दिये या काट दिये जाते है। रक्षक के अभाव मे वे मछलियाँ वही तडप-तडप कर मर जाती हैं। यही हाल उन कर्मभोजी साधको का होता है, वे भी घोर कर्मबन्धन के फलस्वरूप नरक या तिर्यञ्चगति मे जाते है, वहाँ परमाधार्मिक नारकीय असुरो द्वारा तरह-तरह से सताए जाते है तथा वहाँ से तिर्यंच गति मे आने पर भी अनेक मासार्थी जीवो द्वारा उनकी बोटी-बोटी उधेड दी जाती है।

इसी बात को विशेषरूप से द्योतित करने के लिए शास्त्रकार अगली गाथा मे कहते है—

मूल

एव तु समणा एगे वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव, घातमेस्सति णतसो ॥४॥

स छाया

एव तु श्रमणा एके, वर्तमानसुखैषिण ।
मत्स्या वैशालिकाश्चैव, घातमेष्यन्त्यनन्तश ॥४॥

अन्वयार्थ

(एव तु) इस प्रकार (वट्टमाण सुहेसिणो) वर्तमान सुख के अभिलाषी (एगे समणा) कई श्रमण (वेसालिया मच्छा चेव) वैशालिक मत्स्य की तरह (णतसो) अनन्तबार (घातमेस्सति) घात को प्राप्त होगे।

भावार्थ

इसी तरह (पूर्वोक्त प्रकार के) केवल वर्तमानकालिक सुख मे ही रचे-पचे रहने वाले कई तथाकथित आचारभ्रष्ट श्रमण वैशालिक मत्स्य के समान अनन्तबार मरकर ससारचक्र मे परिभ्रमण करते रहते हैं।

व्याख्या

सुखशील आचारहीन श्रमणो की दुर्दशा

इस गाथा मे 'एगे समणा' कहकर शास्त्रकार ने उन तथाकथित बौद्ध, आजीवक, पाशुपत आदि पर-तीर्थिक श्रमणो या स्वतीर्थिक भी वैसे सुखशील उन श्रमणा

को चेतावना दे दी है, जो आहार लेने की विधि मे दोपो का भडार अपने जीवन मे भरते रहते हैं। दूसरी ओर वे 'श्राम्यति तपस्यतीति श्रमण' इस व्युत्पत्ति के अनुसार घोर तपश्चर्या भी करते है, किन्तु आचार-पालन मे प्रमाद-सेवन करके विविध दुष्ट कर्मो को बाँध लेते है। वे ऐसा क्यो करते है? इसका समाधान 'वट्टमाणसुहेसिणो' पदो द्वारा देते है। इसका आशय यह है कि जो साधक साधुजीवन अगीकार करने के बाद थोडा-सा कष्ट आने पर सहन नही कर सकते, वे सुख-सुविधाये ढूढते रहते है, प्रमादी बन जाते हैं। आहार-विहार की निर्दोप विधियो को जानबूझकर ठुकराते रहते है, आहार के उन दोषो का बार-बार सेवन करते है। वे केवल वर्तमान क्षणिक वैषयिक सुख को ही देखते हैं, किन्तु भविष्य के महान् दु ख को नही देख पात। उनकी दशा भी पूर्वगाथा मे उक्त वैशालिक मत्स्यो की-सी होती है। वे बेचारे आधाकर्मी आदि दोपयुक्त आहार का उपभोग करके उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले कटु दु खो को भोगते है। जैसे—अरहट यन्त्र बार-बार कुए मे डूबता-तैरता रहता है वैसे वे ही ससार-सागर मे बार-बार डूबते-उतराते रहते है। इस प्रकार वे अर्धविदग्ध ससार-सागर को अनन्त जन्मो तक पार नही कर सकते। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

अब अगली गाथाओ मे जगत्कर्ता के बारे मे विभिन्न मतो का निदर्शन शास्त्रकार करते हैं—

मूल

इणमन्नं तु अन्नाणं इहमेगेसिमाहिय ।
देवउत्ते अय लोए, बभउत्तेति आवरे ॥५॥

सस्कृत छाया

इदमन्यत्त्वज्ञानमिहैकेषामाख्यातम् ।
देवोप्तोऽय लोक, ब्रह्मोप्त इत्यपरे ॥५॥

अन्वयार्थ

(इण) यह (अन्न तु) दूसरा (अन्नाण) अज्ञान है। (इह) इस लोक मे (एगेसि) किन्ही ने (आहिय) कहा है कि (अय) यह (लोए) लोक (देवउत्ते) किसी देव के द्वारा उत्पन्न किया हुआ है। (आवरे) और दूसरे कहते है कि यह लोक (बभउत्तेति) ब्रह्मा का बनाया हुआ है।

भावार्थ

पूर्वोक्त अज्ञान के सिवाय दूसरा एक अज्ञान इस लोक मे यह भी है कि कई लोग कहते है—यह लोक किसी देव के द्वारा बनाया हुआ है, और दूसरे कहते है – ब्रह्मा ने इस लोक को बनाया है ।

व्याख्या

लोक की रचना के सम्बन्ध मे विभिन्न मत

इस गाथा मे इस लोक की रचना किसने की ? इस पर उस युग मे प्रचलित विभिन्न मत शास्त्रकार दे रहे है । लोक-रचना के विपय मे उन विभिन्न मतवादियो की अज्ञानयुक्त मान्यता के प्रति अपना आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते है—**'इणमन्न तु अन्नाण'** अर्थात् ससार के अन्यान्य अज्ञान तो विचार-आचार सम्बन्धी विभिन्न बातो के सम्बन्ध मे प्रचलित है ही, कुछ अज्ञानो के नमूने हम पहले बता चुके है, किन्तु आश्चय है कि यह अज्ञान उन अज्ञानो से अलग किस्म का हे, यह वडा दिलचस्प और आश्चय म डालने वाला हे । किस विपय मे और कौन सा अज्ञान है ? इस जिज्ञासा के उठने से पहले ही शास्त्रकार समाधान कर देते है—

'इहमेगेसिमाहिय देवउत्ते०'—आशय यह है कि यह अज्ञान इस लोक की रचना के वारे मे है, और इस सम्वन्ध मे विभिन्न मतवादियो के पृथक-पृथक मत है, जवकि वे मतवादी अपने-अपने इष्ट या आराध्य को प्राय सर्वज्ञ मानते है । यही आश्चर्य है । कुछ लोगो का कहना है कि यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला ससार किसी न किसी देव के द्वारा वनाया गया है, क्योकि मनुष्य मे तो इतनी शक्ति नही कि इतने विशाल दिग्दिगन्त व्यापक ब्रह्माण्ड की रचना कर सके । मनुष्य ज्यादा से ज्यादा बनाएगा तो नगर, गाँव, कस्बा, महानगर, प्रान्त या राष्ट्र की रचना कर देगा, किन्तु इतने राष्ट्रो तथा सृष्टि के विभिन्न अद्भुत पदार्थो की रचना करना मनुष्य के बूते से वाहर हे । देव चाहे जो कर सकते है, वे अपना रूप चाहे जैसा वना सकते है । इसलिए 'मियाजी की दौड मस्जिद तक' इस कहावत के अनुसार उस युग के लोगो ने देवताओ को शक्तिशाली और कई करिश्मे दिखाकर विस्मय मे डालने वाला समझा और जव दूसरे वादियो ने उन तथाकथित ज्ञान के ठेकेदारो से पूछा कि वताओ, 'यह लोक किसने वनाया ?' तो उन्होने तपाक से कह दिया—"कोई ईश्वर तो दिखाई नही देता, और मनुष्य मे इतनी शक्ति नही कि वह इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना कर सके, इसलिए हम तो देवो की शक्ति को प्रत्यक्ष देखते हैं, और उन देवो मे से किसी जवरदस्त शक्तिशाली देव ने इसी तरह

लोक को उत्पन्न किया है, जैसे कोई किसान खेत मे बीज बोकर धान्य को उत्पन्न करता है।[1]

'देवउत्ते०'—मूल पाठ मे 'देवउत्ते' शब्द है, सस्कृत मे उसके तीन रूप हो जाते है—देव+उप्त=देवोप्त, देवगुप्त और देवपुत्र। पहले का अर्थ होता है—देव के द्वारा बीज की तरह बोया हुआ। आशय यह है कि इस सृष्टि को उत्पन्न करने के लिए किसी देव ने अपना बीज (वीर्य) किसी स्त्री मे बोया अर्थात डाला। और उससे मनुष्य एव दूसरे प्राणी हुए, उन्होने प्रकृति की सब वस्तुएँ बनाई। दूसरा रूप है—देवगुप्त। उसका अर्थ है—किसी देव के द्वारा गुप्त = रक्षित। कोई देवता इस लोक का रक्षक है, जब-जब ससार पर कोई सकट या धर्मात्माजनो पर विपत्ति आती है, धर्म की ग्लानि (हानि) और अधर्म (पाप) की वृद्धि होती है, तब-तब वह देव अवतार लेता है, जगत् की रक्षा करता है। भगवद्गीता मे कहा गया है कि, जब-जब धर्म की हानि और अधर्म का उत्थान होने लगता है, तब-तब मैं (अवतार) अपने आपको सर्जन (उत्पन्न) करता हूँ। सज्जनो की रक्षा और दुर्जनो के विनाश के लिए, और शुद्धधर्म की सस्थापना के लिए में युग-युग मे जन्म लेता हूँ।[2] तीसरा रूप, जो देवपुत्र है, उसका अर्थ है—'यह लोक किसी तथाकथित देव का पुत्र है। सारा ससार किसी देव की सतान है, जिसने ससार को पैदा किया है।'

'बभउत्तेति आवरे'—इस लोक की रचना के सम्बन्ध मे किन्ही विशेष तथाकथित बुद्धिमानो ने कहा—'यह लोक प्रजापति ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न किया हुआ है।' उनका कहना है कि मनुष्य की यह ताकत नही कि वह इतनी बडी व्यापक सृष्टि की रचना कर सके और देव, वे मनुष्य से भौतिक शक्ति मे कुछ अधिक जरूर हैं, लेकिन वे भी इस विशाल ब्रह्माण्ड को रचने मे कहाँ समर्थ हो सकते हैं? उनमे

---

१ उस वैदिक युग मे जबकि ज्ञान-विज्ञान का इतना विकास नही हुआ था, मनुष्य अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल, आकाश, विद्युत्, दिशा आदि प्राकृतिक वस्तुओ का उपासक था, प्रकृति को ही वह देव मानता था। इसलिए देवकृत लोक की कल्पना प्रचलित हुई। जैसे कि उपनिषद् मे कहा है—'एकोऽह बहुस्याम्।'

२ यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मान सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे॥

—श्रीमद्भगवद्गीता

इतना ज्ञान—पूर्णज्ञान कहाँ कि वे सारे ससार को देख सकें या यथायोग्य पदार्थों की रचना कर सकें। इसलिए ब्रह्मा ही इस विशाल ब्रह्माण्ड के रचयिता हो सकते हैं। वे अपनी सन्तान की तरह सृष्टि को उत्पन्न करते हैं। इसीलिए उन्हे जगत्-पितामह या प्रजापति कहा है। सृष्टि के पूर्व मे—जगत् को आदि मे—वही एक थे—उन्होने प्रजापतियो को बनाया और प्रजापतियो ने क्रमश इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया। जैसे कि उपनिषद् मे कहा है—

'हिरण्यगर्भ समवर्तताऽग्रे, स एक्षत, तत्तेजोऽसृजत'

अर्थात्—'सृष्टि से पहले हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) अकेला ही था। उसने देखा, और फिर उसने तेज की सृष्टि की।'

ऐसे ही एक वैदिक पुराण मे कहा है—

तत स्वयम्भूर्भगवान सिसृक्षुर्विविधा प्रजा।
अप एव ससर्जादौ, तासु बीजमवासृजत्॥

उसके बाद विविध प्रजाओ की सृष्टि (सर्जन) करने के इच्छुक भगवान् स्वयम्भू—ब्रह्मा ने सबसे आदि (प्रारम्भ) मे पानी बनाया, उसमे बीज उत्पन्न किया।

ब्रह्माजी ने यह जगत् किस विधि और क्रम से बनाया, इस सम्बन्ध मे दूसरे पौराणिको का विचित्र मत इस प्रकार है-

आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रसुप्तमिव सर्वत॥१॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते नष्टस्थावरजगमे।
नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टे राक्षसोरगे॥२॥
केवल गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र शयानस्तप्यते तप॥३॥
तत्र तस्य शयानस्य नाभे पद्म विनिर्गतम्।
तरुणार्कबिम्बनिभ, हृद्य काञ्चनकर्णिकम्॥४॥
तस्मिन् पद्मे भगवान् दण्डयज्ञोपवीतसयुक्त।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातर सृष्टा॥५॥
अदिति सुरसन्धाना, दितिरसुराणा मनुर्मनुष्याणाम्।
विनता विहगमाना माता विश्वप्रकाराणाम्॥६॥
कद्रू सरीसृपाना, सुलसा माता च नागजातीनाम्।
सुरभिश्चतुष्पदानामिला पुन सर्वबीजानाम्॥७॥

अर्थात्—पहले यह जगत् घोर अन्धकारमय था, बिलकुल अज्ञात, अविलक्षण, अतर्क्य तथा अविज्ञेय। मानो वह सर्वथा सोया हुआ था। वह केवल एक समुद्र

के रूप मे था। उसमे स्थावर, जगम, देव, मानव, दानव, उरग, भुजग आदि कोई भी न था। ये सब के सब प्राणी नष्ट हो गये थे। पृथ्वी आदि महाभूत तथा पर्वत, वृक्ष आदि से वह ससार रहित था। वह केवल गह्वर (एक बड़े गड्ढे) के रूप मे था। वहाँ मन से भी अचिन्त्य विभु विष्णु सोये हुए तपस्या कर रहे थे। वहाँ सोये हुए विष्णु की नाभि से एक कमल निकला, जो तरुण सूर्यबिम्ब के समान तेजस्वी, मनोहर और सोने की कर्णिका वाला था। उस कमल मे से दण्ड और यज्ञोपवीत से युक्त भगवान ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिन्होने ८ जगदम्बाएँ (जगत् की माताएँ) बनाई—दिति, अदिति, मनु, विनता, कद्रू, सुलसा, सुरभि और इला। दिति ने दैत्यो को, अदिति ने देवगणो को, मनु ने मनुष्यो को, विनता ने सभी प्रकार के पक्षियो को, कद्रू ने सभी प्रकार के सरीसृपो (सांपो) को, सुलसा ने नाग जातियो को, सुरभि ने चौपायो को और इला ने समस्त बीजो को उत्पन्न किया।

इसी बात को शास्त्रकार ने सक्षेप मे बता दिया—बभउत्तें ति आवरे। इसका आशय भी ऊपर स्पष्ट कर दिया है। 'बभउत्ते' शब्द के भी 'देवउत्ते' की तरह सस्कृत मे जो तीन रूप होते हैं, उनकी व्याख्या भी पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। विशेष बात यही है कि देव की जगह यहाँ ब्रह्मा शब्द है और शेष सब अर्थ पूर्ववत है।

अब अगली गाथा मे शास्त्रकार जगत् को ईश्वरकृत एव प्रकृतिकृत मानने वालो का मत अभिव्यक्त करते हैं—

मूल

ईसरेण कडे लोए पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए ॥६॥

सस्कृत छाया

ईश्वरेण कृतो लोक, प्रधानादिना तथाऽपरे ।
जीवाजीवसमायुक्त सुखदु खसमन्वित ॥६॥

अन्वयार्थ

(जीवाजीवसमाउत्ते) जीव और अजीव से सकुल, (सुहदुक्खसमन्निए) सुख और दु ख से समन्वित—युक्त (लोए) यह लोक (ईसरेण) ईश्वर के द्वारा (कडे) कृत—रचित है, ऐसा कई कहते है। (तहावरे) तथा दूसरे कहते है कि यह लोक (पहाणाइ) प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा कृत है।

अर्थ

जीव और अजीव से व्याप्त, सुख और दु ख से समन्वित (सम्मिश्रित) यह लोक ईश्वर द्वारा रचित है, ऐसा कई (ईश्वरकर्तृत्ववादी) लोग कहते हैं तथा दूसरे (साख्यमतवादी आदि) कुछ लोग कहते है कि यह लोक प्रकृति आदि के द्वारा कृत है।

व्याख्या

लोक ईश्वरकृत एव प्रधानादिकृत

'ईसरेण कडे लोए'—इस गाथा मे लोक (जगत्) की रचना के सम्बन्ध मे जो विभिन्न विरोधी विचारधाराएँ, जो विश्व के अधिकाश धर्मो व सम ` मे एकान्तरूप से प्रचलित है, प्रस्तुत की है। पूर्वगाथा मे लोकरचना के सम्बन्ध मे दो मत प्रस्तुत किये थे—देवकृत और ब्रह्मारचित। मानवजाति का ज्यो-ज्यो विकास होता गया तथा विविध दार्शनिको ने ज्यो-ज्यो इस विषय पर चिन्तन किया—उनके सामने लोक की उत्पत्ति या रचना के सम्बन्ध मे मुख्य दो विकल्प आए—एक विकल्प तो यह था कि जगत् ईश्वर के द्वारा रचित है, दूसरा विकल्प यह था कि ईश्वर नाम का कोई पुरुष इस जगत् का रचयिता नही हो सकता, क्योंकि पुरुष (आत्मा) कर्तृत्व से रहित, निर्गुण, साक्षी व निर्लेप है। प्रकृति ही जगत् की विधात्री-कर्त्री-धर्त्री हो सकती है। यहाँ मूलपाठ मे **'पहाणाइ'** शब्द है, उसका अर्थ है—प्रधान आदि। प्रधान प्रकृति को कहते है। आदि शब्द से प्रकृति के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति भी जगत् की कर्त्री है, ऐसे विभिन्न मतो को ग्रहण कर लेना चाहिए।

सर्वप्रथम ईश्वरकर्तृत्ववादियो की ओर से जो युक्तियाँ एव प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं, उन्हे दे रहे है। मुख्यतया ईश्वरकर्तृत्ववादी तीन है—वेदान्ती नैयायिक और वैशेषिक। वेदान्ती ईश्वर को ही जगत् का उपादान कारण एव निमित्त कारण मानते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत श्रुतियो के प्रमाण ये हैं—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसविशन्ति। 'एतदात्म्यमिद सर्वम्' 'सच्चत्यच्चाभवत्' सदिति पृथिवीजलतेजासि प्रत्यक्षरूपाणि, त्यदिति वाय्वाकाशौ अप्रत्यक्षरूपौ।"

जिस (ब्रह्म=ईश्वर) मे ये प्राणी उत्पन्न होते है, जिससे ये भूत (प्राणी) उत्पन्न होकर जीवित रहते है, जिसके कारण प्रयत्न (हलन-चलन आदि प्रवृत्ति)

करते है, जिसमे विलीन हो जाते है, उन सबका तादात्म्य (उपादान) कारण ईश्वर (ब्रह्म) ही है। यह सारा जगत् ब्रह्ममय है। यहाँ जो कुछ भी है, वह सब वही ब्रह्म (ईश्वर) है। जो भी सत या त्यत् उत्पन्न होते हैं, वे सब ब्रह्मकृत है। सत् है - पृथ्वी, जल और तेज, जो प्रत्यक्षरूप है, और त्यत है—वायु और आकाश, जो परोक्षरूप है। तथा—'तदैक्षत, तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' [उसने (ब्रह्मा ने) देखा और जगत् का सर्जन करके उसी मे अनुप्रविष्ट—लीन हो गया] 'एकोऽहं, बहुस्याम' प्रजामेय' (मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, सृष्टि को पैदा करूँ) इत्यादि श्रुतियो के प्रमाण से भी यह बात सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त बादरायण व्यासरचित ब्रह्मसूत्र के 'जन्माद्यस्य यत' (सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इसी से होते है, इसीलिए यही जगत् का उपादानकारण है, और निमित्तकारण भी।

उनकी ओर से निम्नलिखित अनुमानप्रमाण का प्रयोग भी किया जाता है—'ईश्वर जगत् का कर्ता है, क्योंकि वह चेतन है। जो चेतन होता है, वह कर्ता होता है, जैसे कुम्हार।' इस तर्क से भी वेदान्ती ईश्वर को जगत् की उत्पत्ति मे कर्तारूप कारण मानते है।

दूसरे कर्तृत्ववादी हैं—नैयायिक। नैयायिक मत आक्षपाद (अक्षपादऋषिकृत) मत कहलाता है। उस मत मे महेश्वर (शिव) ही आराध्यदेव है। महेश्वर ही चराचर सृष्टि का निर्माण तथा उसका संहार करते हैं। महेश्वर की शक्ति का माहात्म्य अचिन्त्य है। उसी अचिन्त्य शक्ति से वे जगत का निर्माण और संहार करते है। नैयायिक जगत् को महेश्वरकृत सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग इस प्रकार करते है—पृथ्वी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, शरीर, भुवन, इन्द्रिय, आदि सभी किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा किए गये हैं, क्योंकि ये कार्य हैं। जो-जो कार्य होते हैं, वे किसी न किसी बुद्धिमान के द्वारा ही किये जाते है, जैसे कि घडा। चूँकि यह जगत भी कार्य है, अत यह भी किसी बुद्धिमान द्वारा निर्मित होना चाहिए। जो इस जगत् का रचयिता बुद्धिमान है, वही तो ईश्वर है। जो बुद्धिमान के द्वारा उत्पन्न नही किए गए, वे कार्य भी नही हैं, जैसे कि आकाश। यह व्यतिरेक दृष्टान्त है।

फिर वे ईश्वरकर्तृत्वसिद्धि के लिए भी तीन हेतु प्रस्तुत करते है—पहला यह है कि पृथ्वी, समुद्र, पर्वत आदि की रचना भिन्न-भिन्न प्रकार की देखी जाती है। इससे प्रतीत होता है कि किसी बुद्धिमानकर्ता ने सोच-समझ कर भिन्न-भिन्न आकारो मे इन्हे बनाया है। जैसे घट, देवकुल और कूप आदि भिन्न-भिन्न आकार वाले पदार्थ सीकि न किसी बुद्धिमान कर्ता द्वारा बनाये जाते हैं वैसे ही जगत् का कर्ता कोई

असाधारण पुरुप-विशेप सिद्ध होता है। वह पुरुप-विशेप हम लोगो के समान साधारण पुरुप नही हो सकता, क्योकि सारे विश्व के पदार्थो का निर्माण वही कर है, जिसे उन सबके जनक-कारणो का सर्वतोमुखी ज्ञान हो। सर्वज्ञता के विना विश्व के जनक-कारणो का ज्ञान होना असम्भव है। और विना जाने कोई उनका यथायोग्य सयोग या प्रयोग भी नही कर सकता। जैमे कुम्हार को घडा बनाने मे मिटटी, पानी, चक्र आदि जनक-कारणो का ज्ञान है, तभी वह उन सबका यथायोग्य उपयोग कर लेता है वैसे ही विश्व के कार्यो के लिए उन सबके जनक-कारणो का ज्ञान होना आवश्यक है। और विश्व-रचना जैसे विशाल कार्य के जनक-कारणो का ज्ञान किसी साधारण पुरुप को हो नही सकता। अत इस विश्व की रचना करने वाला सासारिक जीवो से विलक्षण कोई पुरुप-विशेप अवश्य नानना चाहिए। वह पुरुप ईश्वर ही है।

दूसरा हेतु यह है कि पृथ्वी-समुद्र आदि कार्य है, इसलिए इनका कोई न कोई कर्ता अवश्य है। क्योकि कर्ता के विना कार्य नही हो सकता। जैसे घट आदि कार्य कुम्हार आदि के विना नही होते। इसी तरह यह पृथ्वी, समुद्र आदि कार्य भी किसी कर्ता के विना नही हो सकते। अत इनका कोई न कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए। और वह कर्ता कोई साधारण पुरुप नही हो सकता। अत असाधारण पुरुप ईश्वर ही है, जो विश्व-रचना सदृश असाधारण कार्य करता है।

तीसरा हेतु यह है – जैसे वसूला अपने आप कोई काय नही करता, किन्तु कारीगर जव चाहता है, तभी उसके द्वारा काम लेता है। इसी तरह पृथ्वी, समुद्र, पर्वत आदि अपने आप कोई कार्य नही करते, विन्तु मनुष्य आदि प्राणी जव चाहते है, नव इनसे काम लेते है। अत जैसे वसूला पराधीन प्रकृति वाला होने के कारण किसी कर्त्ता द्वारा किया हुआ है इसी तरह पराधीन प्रवृत्ति वाले होने के कारण पृथ्वी आदि भी किसी के द्वारा किये हुए है। जिसने इन्हे किया है, वह ईश्वर है।

वह ईश्वर आकाश के समान समस्त जगदव्यापी है। यदि ईश्वर को किसी नियत स्थान मे रहन वाला मान लिया जाए तो यह विभिन्न देशवर्ती पदार्थो का निश्चित रूप मे यथावत् निर्माण नही कर सकेगा। जैसे—एकदेशवर्ती कुम्हार अति दूर देश मे घडे को उत्पन्न नही कर मकता। अत समस्त जगत मे पदार्थो की प्रतिनियत रूप मे उत्पत्ति ही ईश्वर को व्यापक सिद्ध कर देती है।

इसी प्रकार वह जगत्कर्ता ईश्वर नित्य है। क्योकि यदि उमे अनित्य माना जाएगा तो ईश्वर अपनी उत्पत्ति मे भी अन्य कारणो की अपेक्षा रखगा, इमलिए वह कृतक हो जाएगा। कृतक वह होता है, जो अपनी उत्पत्ति मे पर के व्यापार की

अपेक्षा रखता है। यदि ईश्वर स्वय कृतक होकर भी जगत्कर्ता होगा तो उस ईश्वर को बनाने वाला अन्य कर्ता मानना पड़ेगा, वह भी अनित्य होगा तो उसे बनाने वाला भी अन्य कर्ता मानना होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। अत ईश्वर को नित्य ही मानना चाहिए।

नित्य मानकर भी उसे एक (अद्वितीय) मानना चाहिए। क्योंकि अनेक ईश्वर माने जाएँगे तो 'मुडे-मुडे मतिर्भिन्ना' की कहावत के अनुसार एक ही वस्तु को बनाने मे सब अपनी-अपनी इच्छानुसार अलग-अलग डिजाइन एव आकार-प्रकार का बनायेंगे, इसलिए किसी भी वस्तु मे एकरूपता और सदृशता नही रहेगी। बहुनायकत्व होने पर अव्यवस्था और विसवादिता पैदा होगी। अत एक ही ईश्वर मानना उचित है।

उक्त जगत्कर्ता ईश्वर को सर्वज्ञ भी मानना चाहिए। अल्पज्ञ होगा तो उसे उत्पन्न किये जाने वाले कार्यों की रचना का सम्यक् परिज्ञान नही होने से पदार्थों का यथावत् निर्माण करना उसके लिए अत्यन्त कठिन होगा। सर्वज्ञ होने पर ही वह अल्पज्ञ प्राणियो को उनके अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों को भली भाँति जान कर यथायोग्य नरक-स्वर्ग आदि मे भेज सकेगा। ससारी प्राणियो को अपने कर्मों के फल का ज्ञान नही होता, वे अच्छे-बुरे कर्म करने मे स्वतन्त्र है, पर फल भोगने का उन्हे ज्ञान नही होता। परमेश्वर सर्वज्ञ होता है, वह उन्हे उनके-उनके कर्मानुसार फल भोगने के लिए विविध गतियो या योनियो मे भेजता है। कहा भी है—

> अज्ञोजन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदु.खयो ।
> ईश्वरप्रेरितोगच्छेत् स्वर्गंवाश्वभ्रमेव वा ॥

अर्थात्—यह अल्पज्ञ प्राणी अपने किये हुए कर्मों के सुख-दु खफल को जानने मे असमर्थ है, अत उन फलो को भोगने के लिए ईश्वर के द्वारा प्रेरित (भेजा गया) ही वह स्वर्ग या नरक मे जाता है।

फिर वह ईश्वर सर्वशक्तिमान भी होना चाहिए अन्यथा प्राणी उसके काबू मे नही आएँगे, वे ईश्वर पर ही हावी हो जाएँगे। यह है नैयायिको द्वारा मान्य ईश्वर द्वारा जगत्कर्तृत्ववाद का स्वरूप। नैयायिको का ईश्वर जगत् का उपादानकारण या समवायीकारण नही है। क्योंकि उपादानकारण तो कार्यरूप होना है, यदि ईश्वर को जगत् के जड-चेतन पदार्थो का उपादानकारण माना जाता तो वह जड को बनाकर जडमय बन जाता, चेतनावान नही रहता। यदि उसे जगत् का समवायीकारण माना जाता तो जैसे समवायीकारण अपने समानजातीय दूसरे गुणो को कार्यरूप मे उत्पन्न करता है वैसे ही इस नियम के अनुसार ईश्वर मे विद्यमान सर्वज्ञता का गुण उसके

द्वारा निर्मित जगत् मे भी होता, पर जगत् मे सर्वज्ञत्व गुण नही दिखता। अत ईश्वर जगत् का समवायीकारण भी नही है। वह कुम्हार की तरह जगत् का निमित्तकारण है। निमित्तकारण ७ प्रकार का होता है—कर्ता कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण। इसमे से ईश्वर जगत् का कर्तारूप कारण है। वैशेषिको की मान्यता भी ईश्वरकर्तृत्ववाद के सम्बन्ध मे लगभग ऐसी ही है।

'पहाणाइ तहावरे' शास्त्रकार ने लोक के कर्तृत्व के विषय मे अब साख्यमतवादियो का विचार प्रस्तुत किया है कि वे मानते है कि जगत् ईश्वर का किया हुआ नही है। उनका तर्क यह है कि यह शब्दादि प्रपचमय जगत् सुख-दु ख, मोह आदि से युक्त है अतएव इस प्रपच का कारण (ईश्वर) भी सुख, दु ख और मोह आदि से युक्त होना चाहिए। चूँकि ईश्वर पुरुष (आत्मा) है, वह सुख-दु ख आदि प्रपचो से दूर, निर्गुण, निष्क्रिय, साक्षी, निर्लेप और अकर्ता है। अत वह जगत् का कर्ता नही हो सकता। सुख-दु ख आदि सब प्रपच प्रकृति के कार्य है। अत वही जगत् का उपादानकारण है। सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहते है। वह प्रकृति पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए क्रिया मे प्रवृत्त होती है। यहाँ आदि शब्द से यह ध्वनित होता है कि जगत् की उपादानकारण प्रकृति (प्रधान) है, उस प्रकृति से महान् (बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है और बुद्धि से अहकार तथा अहकार से सोलह गण (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन और पाँच तन्मात्राएँ ये १६ तत्त्व) उत्पन्न होते हैं, सोलह गणो मे से पाँच तन्मात्राओ से पच महाभूत उत्पन्न होते है। इस क्रम से यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है। मूल मे प्रकृति के द्वारा महदादि क्रम से स्पष्टत सृष्टि होती है।

हमने साख्यदर्शन के २५ तत्त्वो का पिछले पृष्ठो मे स्वरूप बताया है। वही यहाँ समझ लेना चाहिए।

अथवा 'आदि' शब्द मे काल, स्वभाव, नियति आदि के द्वारा यह जगत् कृत है। इन सबके स्वरूप का वर्णन भी पीछे हम कर आये है। एकान्तकालवादी काल को ही जीव-अजीवमय या सुख दु ख से युक्त जगत् का कारण मानते है। एकान्तस्वभाववादी कहते हैं जगत् किसी कर्ता द्वारा किया हुआ नही है, अपितु स्वभावकृत है। एकान्तनियतिवादी कहते है—जैसे मोर के पख नियतिवश रग-विरगे व विचित्र होते हैं, वैसे ही यह समस्त विश्व नियति मे उत्पन्न हुआ है, नियति-कृत है। इस प्रकार विभिन्न एकान्तमतवादी जगत् की उत्पत्ति अपने-अपने मतानु-सार बनाते हैं।

'जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए'—ये दोनो लोक के विशेषण हैं।

कोई यह न समझ ले कि केवल पहाड, समुद्र, रेगिस्तान आदि जड पदार्थरूप ही लोक है, किन्तु जड-चेतनात्मक जीव और अजीव दोनो प्रकार के पदार्थों से यह विश्व (लोक) भरा हुआ है । धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गलरूप अजीव द्रव्यो से तथा जीव द्रव्यो (एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक) से यह जगत् परिपूर्ण है। इतना ही नही, सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो मे भी युक्त हे । कोई सुखी है, कोई दु खी है, कोई धनी है, कोई निर्धन है, इत्यादि अनेक विपमताओ से युक्त जगत् भी ईश्वर या अन्य किसी शक्ति द्वारा रचित है।[1]

अब लोक की रचना के सम्बन्ध मे विष्णुकर्तृत्ववाद तथा मारकर्तृत्ववाद का दिग्दर्शन अगली गाथा मे कराते हैं—

मूल पाठ

सयभुणा कडे लोए, इति वुत्त महेसिणा ।
मारेण सथुया माया, तेण लोए असासए ॥७॥

I

स्वयम्भुवा कृतो लोक इत्युक्त महर्पिणा ।
मारेण सस्तुता माया, तेन लोकोऽशाश्वत ॥७॥

अन्वयार्थ

(सयभुणा) स्वयम्भू=विप्णु ने (लोए) यह सुख-दु ख समन्वित जीवाजीव-युक्त लोक (कडे) वनाया है, (इति, ऐसा (महेसिणा) हमारे महर्पि ने (वुत्त) कहा है । (मारेण) यमराज ने (माया) यह माया (सथुया) रची है, (तेण) इसी कारण (लोए) यह लोक (असासए) अशाश्वत=अनित्य है ।

भावार्थ

कई अन्यतीर्थीजन कहते हैं कि स्वयम्भू (विष्णु) ने लोक बनाया है, ऐसा हमारे महर्षि ने कहा है। तथा यमराज ने माया रची है, इसी कारण यह लोक अनित्य—परिवर्तनशील है, नाशवान है, अथवा परमार्थत सत्य नही है।

---

१ आजकल ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने वाले वैदिकधर्मसम्प्रदायो के अतिरिक्त इस्लामधर्म, ईसाईधर्म आदि भी है। परन्तु वे भी इस बात को युक्तिहीन श्रद्धापूर्वक मानते है, उनके पास कोई विशेष तर्क या युक्तियाँ नही हैं।

व्याख्या

जगत् की रचना विष्णु और माया से

सयभुणा कडे लोए—इस गाथा मे विष्णुकर्तृत्ववाद एव मायाकर्तृत्ववाद का स्वरूप बताया है। कई मतवादियो—खासकर वैष्णवो का कहना है कि यह जगत् विष्णु द्वारा रचित है। उन्ही की लीला है। स्वयम्भू शब्द ब्रह्मा के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है, और विष्णु के अर्थ मे भी। ब्रह्मा ने यह जगत् बनाया है, इस सम्बन्ध मे हम पाँचवी गाथा मे विवेचन कर चुके है। यहाँ प्रसगवश विष्णु अर्थ मे स्वयम्भू शब्द है। उनका मत इस प्रकार है—जो अपने आप होता है, उसे स्वयम्भू कहते है, ऐसा स्वयम्भू विष्णु है।[1] वह पहले एकाकी ही थे, अकेले ही रमण करते थे। उन्होने दूसरे की इच्छा की। उनकी इस चिन्ता के पश्चात् ही दूसरी शक्ति उत्पन्न हुई और उस शक्ति के होने के बाद ही इस जगत् की सृष्टि हुई।

कई दार्शनिक इस जगत् को विष्णुमय मानते है। ससार मे विष्णु सर्वत्र व्यापक है। इस सम्बन्ध मे वे प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

"जले विष्णु स्थले विष्णुर्विष्णु पर्वतमस्तके
ज्वालामालाकुले विष्णु, सर्व विष्णुमय जगत् ॥१॥
पृथिव्यामप्यह पार्थ! वायवग्नौ जलेऽस्म्यहम्।
सर्वभूतगतश्चाह, तस्मात्सर्वगतोऽस्म्यहम्[2] ॥२॥

अर्थात—'जल मे विष्णु है, स्थल मे विष्णु है, पर्वत के मस्तक पर विष्णु है, अग्नि की ज्वालाओ से व्याप्त स्थल मे विष्णु है। सारा जगत् विष्णुमय है। 'हे अर्जुन! मैं पृथ्वी मे भी हूँ, वायु, अग्नि और जल मे भी मैं हूँ, और समस्त प्राणियो मे मैं हूं। इसलिए मैं सारे ससार मे व्याप्त हूं।'

विष्णु जगत् की रचना कैसे और कब से करते है? इस सम्बन्ध मे मार्कण्ड ऋषि की एक कथा मिलती है—

सो किल जलय समत्थेणुदएणेगण्णवम्मि लोगम्मि।
वीतो परपरेण घोलतो ज्झम्मि ॥१॥
सो किल पेच्छइ सो तसथावरपणट्ठ सुरनरतिरि ोणीय।
एकण्णव जगमिण महभूयविवज्जिय गुहिर ॥२॥

---

१ 'एकोऽह . ाम' 'तस्मादेकाकी न रमते'। ये श्रुतिवचन प्रमाण है।
२ कही कही यह पाठ भी है—"वनस्पति ाह सर्वभूतगतोऽप्यहम्।"

एवविहे जगम्मि पेच्छइ नग्गोहपायव सहसा ।
मदरगिरिव्व तुग, महासमुद्द च विच्छिन्न ॥३॥

खघमि तस्स सयण, अच्छइ तहि बालओमणभिरामो ।
सविद्धो सुद्धहियओ मिउकोमलकु च्चियकेसो ॥४॥

हत्थो पसारिओ से महरिसिणो एह अत्थ भणिओ य ।
खघ इम विलग्गसु, मा मरिहिसि उदयवुड्ढीए ॥५॥

तेण य घेत्तु हत्थे उ मीलिओ से रिसी तओ तस्स ।
पेच्छइ उदरंमि जय ससेलवणकाणण सव्व ॥६॥

अर्थात्—सारा ससार जल के वढ जाने के कारण एक जलमय महसमुद्र हो गया। उस अथाह जलप्रवाह मे लहरो की परम्परा के साथ बहते हुए मार्कण्ड ऋषि ने इस जगत् को त्रस, स्थावर, देव, मानव और तिर्यञ्चयोनि के जीवो को नष्ट हो जाने से महाभूतो से रहित गह्वर रूप एक महासमुद्र के रूप मे देखा। साथ ही ऐसे प्रलयमय जगत् मे सहसा उन्हे एक विशाल वटवृक्ष नजर आया, जो मदराचल के समान ऊँचा और महासागर के समान विस्तीर्ण था। फिर उन्होंने उसके स्कन्ध पर एक मनोहर नयनाभिराम बालक को सोये हुए देखा, जिसका हृदय शुद्ध था, जो सवेदनशील (भावुक) था। उसके बाल अत्यन्त कोमल, चिकने और घुघराले थे। उसने महर्षि की ओर हाथ फैलाया और कहा—"यहाँ आ जाओ। इस स्कन्ध को पकड लो। इससे तुम जल के बढ जाने पर भी मरोगे नही।" इसके वाद उसने (विष्णु ने) महर्षि का हाथ पकड कर अपने साथ मिला लिया। उस समय मार्कण्ड ऋषि ने उस वालक विष्णु के उदर मे पर्वतो, वनो और काननो सहित सारे जगत् को देखा। तत्पश्चात् सृष्टि रचना के समय विष्णु ने सबकी रचना की। यह है, विष्णु द्वारा जगत् की रचना की रामकहानी।

'मारेण सथुया माया'—इस प्रकार वे विष्णु को जगत्कर्त्ता स्वीकार कहते हैं। लेकिन फिर वे कहते है कि जव विष्णु लोक को उत्पन्न करके उसके भार से भयभीत[1] हुआ, तव उसने जगत् का सहार करने वाले मार=यमराज=मृत्यु की रचना की। यमराज ने माया बनाई। वास्तव मे वह माया विष्णु की ही थी,[2] उस माया से जगत् को सम्मोहित करके यमराज जीवो को यथासमय मारने का काम करता है। यमराज की माया से इस प्रकार विनाश के कारण ही यह लोक नित्य

---

१ 'द्वितीयाद् वै भय भवति'—उपनिषद्
२ 'विष्णोर्माया भगवती, यया सम्मोहित जगत्'

नही है, नाशवान है ।[1] इसलिए शास्त्रकार कहते है कि 'मारेण सथुया माया' अर्थात् यमराज ने माया रची और उसी माया के द्वारा यमराज सृष्टि की रचना करता है । यही शास्त्रकार का आशय है ।

अब अगली गाथा मे जगत् को अण्डे से उत्पन्न कहने वालो की मिथ्या-वादिता प्रकट करते है —

मूल पाठ

माहणा समणा एगे आह अडकडे जगे ।
असो तत्तमकासी य, अयाणता मुस वदे ॥८॥

सस्कृत छाया

ब्राह्मणा श्रमणा एके, आह आहुरण्डकृत जगत् ।
असौ तत्त्वमकार्षीच्च, अजानन्तो मृषा वदन्ति ॥८॥

अन्वयार्थ

(एगे) कई (माहणा समणा) तथाकथित माहन (ब्राह्मण) और श्रमण (जगे) जगत् को (अडकडे) अण्डे के द्वारा कृत=उत्पन्न (आह) कहते है । तथा वे कहते है कि (य) और (असो) उस ब्रह्मा ने (तत्त) पदार्थ समूह को (अकासी) , (अयाणता) वस्तुतत्त्व को न जानने वाले वे (मुस) ऐसे असत्य (वदे) कहते हैं ।

भावार्थ

कई माहन (ब्राह्मण) और श्रमण यो कहते है कि यह जगत् अण्डे के द्वारा बनाया हुआ है । तथा वे कहते है कि ब्रह्मा ने तत्त्वसमूह की रचना की । वास्तव मे वस्तुतत्त्व को न जानकर वे लोग झूठमूठ ही ऐसी गप्पे हाँकते है ।

१ जैसा कि श्रुति मे कहा है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्र उभे भवत ओदनम् ।
मृत्युर्यस्योपसेचन, क इत्थ न वेद यत्र स ॥

अर्थात्—ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि जिसके भात (भोजन) ह, और मृत्यु जिसके लिए शाकभाजी के समान है, ऐसे स्वयम्भू (विष्णु) को कौन यही जानता, जहाँ वह है ?

व्याख्या

अण्डे से रचित ब्रह्माण्ड की कहानी

'अडकडे लोए'—इस गाथा मे शास्त्रकार ने उस युग की एक विचित्र मान्यता जगत् की रचना के सम्बन्ध प्रस्तुत की है। वह इस प्रकार है—

यह सम्पूर्ण चराचर लोक अण्डे से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्माण्ड पुराण मे कहा है कि "पहले जगत् पचमहाभूतो (पृथ्वी आदि) से रहित था। वह एक गहन महासमुद्र रूप था। उसमे केवल जल ही जल था। उसमे से एक विशाल अण्डा प्रादुर्भूत हुआ। चिरकाल तक वह अण्डा लहरो मे इधर-उधर वहता रहा। फिर वह फूटा। फूटने पर उसके दो टुकडे हो गये। एक टुकडे से भूमि और दूसरे से आकाश बना। बाद मे उसमे से सुर (देव), असुर (दानव), मानव और चौपाये, पशु-पक्षी आदि सम्पूर्ण जगत् पैदा हुआ है। इसी तरह जल, तेज, वायु, समुद्र, नदी और पर्वत आदि सभी की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार अण्डे मे बना हुआ ही यह सारा ब्रह्माण्ड लोक) है।

'माहणा समणा एगे आह'—इस प्रकार की प्ररूपणा कई माहन (ब्राह्मणो) तथा त्रिदण्डी आदि श्रमण एव कुछ पौराणिक लोग करते है, सब नही। यह बताने के लिए इन शब्दो का प्रयोग शास्त्रकार ने किया है।

'असो तत्तमकासी च'—फिर उन्होने यह कहा कि—

आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेय, प्रसुप्तमिव सर्वत ॥

सृष्टि के पहले यह जगत् अन्धकाररूप, अज्ञात, अविलक्षण, तर्क का अविषय तथा अज्ञेय था, मानो चारो तरफ से सोया हुआ-सा था। इत्यादि क्रम से ब्रह्मा ने अण्डा आदि क्रम से सम्पूर्ण जगत् को वनाया। इस क्रम का वर्णन पाँचवी गाथा मे 'बभउत्ते ति' के प्रसग मे हम कर चुके हैं।

'अयाणता मुस वदे'—पूर्वोक्त दोनो मत (अण्डे से जगत् की उत्पत्ति तथा ब्रह्मा से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति) कितने हास्यास्पद है। कितनी युक्तिहीन अनर्गल कल्पना है ? यह शास्त्रकार स्वय अगली गाथा मे वतायेगे। लोक की उत्पत्ति के विपय मे ऐसी ऊटपटाग कल्पना, वे ही लोग कर सकते है, जो वस्तु-स्वरूप से अनभिज्ञ एव तत्त्वज्ञान से शून्य हो। इसलिए ऐसी ऊटपटाग कल्पना करके वे झूठमूठ ही अण्डे मे या ब्रह्मा से जगत् का निर्माण वताते हैं। वस्तुतत्त्व तो कुछ और ही है, परन्तु वे इसे जाने विना ही या तत्त्वज्ञानियो से जिज्ञासापूर्वक समझे बिना

ही लोगो की जिज्ञासा को किसी तरह शान्त करने के लिए इस प्रकार की मिथ्या-प्ररूपणा करके गुमराह करते हे। वे एकान्तमताग्रही होकर ही इस प्रकार की झूठी बाते बनाते है।

अब जगत् की रचना के विषय मे पूर्वगाथाओ मे उल्लिखित विभिन्न मतो का निराकरण करते हुए शास्त्रकार कहते है—

मूल पाठ

सएहि परियाएहि लोय बूया कडेति य ।
तत्त ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइवि ॥६॥

स छाया

स्वकै पर्यायैर्लोकमब्रुवन् कृतमिति च ।
तत्त्व ते न विजानन्ति, न विनाशी कदाचिदपि ॥६॥

अन्वयार्थ

(सएहि) अपने अपने (परियाएहि) अभिप्रायो के अनुसार (लोय) लोक को (कडेति य) कृत=रचित (बूया) जो बताते हैं, (ते) वे (तत्त) वस्तुतत्त्व को (ण) नही (विजाणंति) जानते। क्योकि यह लोक (जगत्) (कयाइवि) कभी भी (विणासी) विनाशी (ण) नही है।

भावार्थ

पूर्वोक्त देवोप्त, ब्रह्मोप्त, ईश्वरकृत, प्रकृतिकृत, अण्डकृत, ब्रह्माकृत, स्वयम्भूकृत, मारकृत, इत्यादि विभिन्न मतवादी अपने-अपने माने हुए अभिप्रायो के अनुसार लोक (जगत्) को रचित (कृत) बताते है। परन्तु वे सब वस्तुस्वरूप को नही जानते। क्योकि यह जगत् कदापि विनाशवान नही है, अपितु शाश्वत है।

व्याख्या

॰की रचना के सम्बन्ध मे पूर्वोक्त मतो का खण्डन

'सएहि परियाएहि लोय'— शास्त्रकार के द्वारा प्रयुक्त यह पंक्ति सूचित करती है कि पूर्वोक्त अन्यदर्शनियो को अपनी-अपनी परम्परा से जो कुछ विचारधारा मिल गई हैं, उसकी सत्यासत्यता पर वे कोई विचार करना नही चाहते। इतना ही नही, वे एकान्तमताग्रह के चक्कर मे पडकर जो बात जिस रूप मे उन्होंने पकड ली

सो पकड ली उस पर तटस्थ दृष्टि से विचार नही करते, न करना चाहते हैं। वस, वे अपनी-अपनी युक्तियो के वल से कहते हैं—हमारे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही सत्य है, दूसरा मत सत्य नही है। वास्तव मे पूर्वोक्त अन्यदर्शनी अपनी-अपनी स्वच्छन्द कल्पना से अपनी-अपनी युक्तियो द्वारा अपनी-अपनी वाते सिद्ध करते है। हम यहाँ उनसे चुनौती देकर पूछते हैं कि क्या वास्तव मे जगत् वैसा ही या उनके द्वारा ही रचित है, जैसा वे मानते है? आइए, हम उनमे से प्रत्येक मत की कुछ समीक्षा कर लें—

देवोप्तवादियो का मिथ्यात्व—देवोप्तवादी इस लोक को देवकृत बताते है, यह सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। क्योकि यह लोक देवकृत है, इस विषय मे कोई भी प्रबल प्रमाण नही दिया गया है। जो बात प्रमाणविरुद्ध केवल कल्पना के सहारे कही जाती है, विद्वानो के मन को समाहित या सन्तुष्ट नही कर सकती। हम पूछते है कि जिस देव ने इस लोक को बनाया है, वह देव स्वय उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है अथवा उत्पन्न हुए विना ही बनाता है? वह उत्पन्न हुए विना तो इस लोक को बना नही सकता, क्योकि जो उत्पन्न ही नही हुआ, वह गधे के सींग की तरह स्वय विद्यमान नही है, तब दूसरो को कैसे उत्पन्न कर सकता है? अगर वह देव उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है, तो क्या वह अपने आप ही उत्पन्न होता है, अथवा किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न किया जाता है? यदि कहो कि वह अपने आप ही उत्पन्न होता है तो इस लोक को ही अपने आप ही उत्पन्न क्यो नही मान लेते? यदि कहते हो कि वह देव किसी दूसरे देव से उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है, तो वह दूसरा देवता भी किसी तीसरे देवता द्वारा उत्पन्न होगा और वह तीसरा देवता भी किसी चौथे देवता से उत्पन्न होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष आएगा। देवकृत लोक वाली बात किसी भी प्रकार से सिद्ध नही हो सकेगी। यदि कहो कि वह देव अनादि होने के कारण उत्पन्न नही होता तो इसी तरह इस लोक को ही अनादि क्यो नही मान लेते? तथा जिस देव ने इस जगत् को बनाया है, वह नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो अर्थक्रिया के साथ विरोध होने के कारण वह न तो एकसाथ क्रियाओ का कर्ता हो सकता है और न ही क्रमश कर्ता हो सकता है। क्योकि जो पदार्थ नित्य है, उसका स्वभाव नही वदलता है, और स्वभाव वदले विना पदार्थ से क्रियाएँ नही हो सकती हैं। अत सदा एक से स्वभाव वाला देव न तो एकसाथ क्रियाओ को कर सकता है, और न ही क्रमश कर सकता है। यदि वह देव अनित्य है तो उत्पत्ति के पश्चात स्वय विनाशी होने के कारण वह अपनी रक्षा भी स्वय करने मे समर्थ नही है तो फिर वह किसी दूसरे

ही लोगो की जिज्ञासा को किसी तरह शान्त करने के लिए इस प्रकार की मिथ्या-प्ररूपणा करके गुमराह करते है। वे एकान्तमताग्रही होकर ही इस प्रकार की झूठी बाते बनाते है।

अब जगत् की रचना के विपय मे पूर्वगाथाओ मे उल्लिखित विभिन्न मतो का निराकरण करते हुए शास्त्रकार कहते है—

मूल पाठ

सएहि परियाएहि लोय बूया कडेति य ।
तत्त ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइवि ॥९॥

सं छाया

स्वकै पर्यायैर्लोकमब्रुवन् कृतमिति च ।
तत्त्व ते न विजानन्ति, न विनाशी कदाचिदपि ॥९॥

अन्वयार्थ

(सएहि) अपने अपने (परियाएहि) अभिप्रायो के अनुसार (लोय) लोक को (कडेति य) कृत=रचित (बूया) जो बताते हैं, (ते) वे (तत्त) वस्तुतत्त्व को (ण) नही (विजाणंति) जानते। क्योकि यह लोक (जगत्) (कयाइवि) कभी भी (विणासी) विनाशी (ण) नही है।

भावार्थ

पूर्वोक्त देवोप्त, ब्रह्मोप्त, ईश्वरकृत, प्रकृतिकृत, अण्डकृत, ब्रह्माकृत, स्वयम्भूकृत, मारकृत, इत्यादि विभिन्न मतवादो अपने-अपने माने हुए अभिप्रायो के अनुसार लोक (जगत्) को रचित (कृत) बताते है। परन्तु वे सब वस्तुस्वरूप को नही जानते। क्योकि यह जगत् कदापि विनाशवान नही है, अपितु शाश्वत है।

व्याख्या

..की रचना के सम्बन्ध मे पूर्वोक्त मतो का खण्डन

'सएहि परियाएहि लोय'— शास्त्रकार के द्वारा प्रयुक्त यह पंक्ति सूचित करती है कि पूर्वोक्त अन्यदर्शनियो को अपनी-अपनी परम्परा से जो कुछ विचारधारा मिल गई है, उसकी सत्यासत्यता पर वे कोई विचार करना नही चाहते। इतना ही नही, वे एकान्तमताग्रह के चक्कर मे पडकर जो बात जिस रूप मे उन्होने पकड ली

सो पकड ली उस पर तटस्थ दृष्टि स विचार नही करते, न करना चाहते हैं। वस, वे अपनी-अपनी युक्तियो के वल से कहते है—हमारे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही सत्य है, दूसरा मत सत्य नही है। वास्तव मे पूर्वोक्त अन्यदर्शनी अपनी-अपनी स्वच्छन्द कल्पना से अपनी-अपनी युक्तियो द्वारा अपनी-अपनी वाते सिद्ध करते है। हम यहाँ उनसे चुनौती देकर पूछते है कि क्या वास्तव मे जगत् वैसा ही या उनके द्वारा ही रचित है, जैसा वे मानते है? आइए, हम उनमे से प्रत्येक मत की कुछ समीक्षा कर लें—

देवोप्तवादियो का मिथ्यात्व—देवोप्तवादी इस लोक को देवकृत वताते हैं, यह सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। क्योकि यह लोक देवकृत है, इस विषय मे कोई भी प्रबल प्रमाण नही दिया गया है। जो बात प्रमाणविरुद्ध केवल कल्पना के सहारे कही जाती है, विद्वानो के मन को समाहित या सन्तुष्ट नही कर सकती। हम पूछते है कि जिस देव ने इस लोक को बनाया है, वह देव स्वय उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है अथवा उत्पन्न हुए बिना ही बनाता है? वह उत्पन्न हुए बिना तो इस लोक को बना नही सकता, क्योकि जो उत्पन्न ही नही हुआ, वह गधे के सीग की तरह स्वय विद्यमान नही है, तब दूसरो को कैसे उत्पन्न कर सकता है? अगर वह देव उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है, तो क्या वह अपने आप ही उत्पन्न होता है, अथवा किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न किया जाता है? यदि कहो कि वह अपने आप ही उत्पन्न होता है तो इस लोक को ही अपने आप ही उत्पन्न क्यो नही मान लेते? यदि कहते हो कि वह देव किसी दूसरे देव से उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है, तो वह दूसरा देवता भी किसी तीसरे देवता द्वारा उत्पन्न होगा और वह तीसरा देवता भी किसी चौथे देवता से उत्पन्न होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष आएगा। देवकृत लोक वाली वात किसी भी प्रकार से सिद्ध नही हो सकेगी। यदि कहो कि वह देव अनादि होने के कारण उत्पन्न नही होता तो इसी तरह इस लोक को ही अनादि क्यो नही मान लेते? तथा जिस देव ने इस जगत् को बनाया है, वह नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो अर्थक्रिया के साथ विरोध होने के कारण वह न तो एकसाथ क्रियाओ का कर्ता हो सकता है और न ही क्रमश कर्ता हो सकता है। क्योकि जो पदार्थ नित्य है, उसका स्वभाव नही वदलता है, और स्वभाव वदले विना पदार्थ से क्रियाएँ नही हो सकती है। अत सदा एक से स्वभाव वाला देव न तो एकसाथ क्रियाओ को कर सकता है, और न ही क्रमश कर सकता है। यदि वह देव अनित्य है तो उत्पत्ति के पश्चात स्वय विनाशी होने के कारण वह अपनी रक्षा भी स्वय करने मे समर्थ नही है तो फिर वह किसी दूसरे

की उत्पत्ति के लिए व्यापार चिन्ता क्या कर सकता है ? फिर यह भी प्रश्न होता है कि जो देव इस लोक को बनाता है, वह मूर्त है या अमूर्त ? यदि अमूर्त है, तब तो आकाश की तरह वह अकर्ता ही रहेगा, यदि वह मूत है, तो कार्य की उत्पत्ति के लिए साधारण पुरुप के समान उसे भी उपकरणो की अपेक्षा रहेगी। ऐसी दशा मे वह समस्त जगत् का कर्ता नही हो सकेगा, यह स्पष्ट है। यह लोक देव के द्वारा गुप्त (देवरक्षित) है या देवपुत्र है, यह मत तो अपने आप ही खण्डित हो जाता है, क्योकि जब देवकृत जगत् ही सिद्ध नही हुआ, तब देवगुप्त या देवपुत्र सिद्ध होना तो दूर की बात है।

इसी प्रकार जगत् को ब्रह्मा द्वारा रचित बताना भी इन्ही पूर्वोक्त दोपो और आपत्तियो से परिपूर्ण है।

ईश्वरकृतवादियो का कथन युक्तिविरुद्ध

ईश्वरकारणवादियो ने जो युक्तियाँ ईश्वर को जगत्कर्ता होने के लिए दी है, वे भी निम्नलिखित युक्तियो से असिद्ध हो जाती हैं। उन्होने जो अनुमान प्रयोग किया है, वह भी गलत है। घट-पट, मठ आदि को देखकर यही अनुमान किया जा सकता है कि ये सब किमी कर्ता द्वारा निर्मित है। क्योकि ये कार्य है, परन्तु यह अनुमान नही किया जा सकता कि ये घटपटादि अमुक व्यक्ति के द्वारा निर्मित हैं। क्योकि जो कार्य है वे सव कर्ता द्वारा किये हुए हैं, इस प्रकार कार्य की व्याप्ति कारण मे गृहीत होती है, किन्तु जो-जो कार्य होता है, वह अमुक व्यक्ति के द्वारा निर्मित होता हे, इस प्रकार कार्य की व्याप्ति विशिष्ट कारण मे गृहीत नही होती। घट को देखकर यही कहा जा सकता है कि इसे कुम्हार ने बनाया हैं, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इसे अमुक-अमुक नाम के कुम्हार ने बनाया हैं। इसी तरह जगत् को देखकर यह कहा जा ा है कि यह जगत् कारण से उत्पन्न हुआ है, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि यह जगत् अमुक विशिष्ट कारण से हुआ है, क्योकि कार्य की व्याप्ति विशिष्ट कारण मे नही होती है।

दूसरी बात यह है कि जो व्यक्ति यह ा है, जिसने प्रत्यक्ष देखा है कि अमुक कार्य अमुक व्यक्ति ही करता हैं, दूसरा नही कर सकता है, वह व्यक्ति उस कार्य को देखकर, उसके कर्ता उस विशिष्ट व्यक्ति का अनुमान कर सकता है, परन्तु जो वस्तु अत्यन्त अदृष्ट है, उसमे यह प्रतीति कदापि नही हो सकती। अर्थात् जिसकी रचना करता हुआ कोई व्यक्ति कभी किसी से देखा ही नही गया है, उस वस्तु को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता का अनुमान कैसे किया जा सकता है। यदि यह कहें कि घट को देखकर उसके कर्ता—कुम्हार का अनुमान किया जाता है और

वह कुम्हार एक विशिष्ट जाति का पदार्थ है, इसी तरह जगत् को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता—ईश्वर का भी अनुमान किया जा सकता है। यह भी युक्तिविरुद्ध है, क्योकि घट एक विशेप प्रकार का कार्य है, और उसका कर्ता कुम्हार उसे करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिए घट को देखकर कुम्हार का अनुमान किया जा सकता है, परन्तु जगत् को देखकर ईश्वर का अनुमान नही किया जा सकता। क्योकि घट को वनाता हुआ कुम्हार जैसे प्रत्यक्ष देखा जाता है, उस तरह नदी, समुद्र, पर्वत आदि को वनाता हुआ कोई बुद्धिमान कर्ता (ईश्वर) कभी प्रत्यक्ष देखा नही जाता। अत जगत् को देखकर विशिष्ट बुद्धिमान कर्ता का अनुमान नही किया जा सकता।

उनका दूसरा तर्क यह था कि 'अनित्य पृथ्वी, पर्वत आदि घटपटादि की तरह कार्य होने से किसी न किसी बुद्धिमान (ईश्वर) के द्वारा वनाए हुए है'। यह कथन भी भ्रमपूर्ण है। ऐसा कोई नियम नही होता कि हर चीज को वनाने वाला कोई न कोई बुद्धिमान कर्ता ही हो। आकाश मे वादल बुद्धिमान कर्ता के विना भी वनते और विखरते हुए दिखाई देते हैं। विजली चमकती और नष्ट होती है, जमीन पर पानी बरसने पर घास आदि बुद्धिमान के उगाए बिना ही उगती है, वर्षा ऋतु मे पानी वरसता है, शरद ऋतु मे ठण्ड और ग्रीष्म ऋतु मे गरमी आदि बिना ही किसी बुद्धिमान के पडती है। उनके पीछे कोई भी उन पदार्थो के कार्यो को करता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई नही देता। पदार्थो की उत्पत्ति और नाश तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं, लेकिन उनका कर्ता-हर्ता तो कोई दिखाई नही देता।

यह तर्क भी निराधार है कि विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होने से घटादि पदार्थ जैसे बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित हैं, वैसे ही विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होने से पर्वतादि पदाथ भी बुद्धिमान कर्ता (ईश्वर) द्वारा निर्मित हैं, क्योकि विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होने मात्र से सभी पदार्थ बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित हो, यह प्रतीति नही होती है। यदि ऐसा माना जाएगा तो वल्मीक (दीमक द्वारा निर्मित मिट्टी का ढेर) भी मिट्टी की विशिष्ट अवयवरचना से युक्त होने से घट के समान कुम्हार के द्वारा बनाया हुआ सिद्ध हो जाएगा। इसी तरह अवयवरचना-मात्र देखकर यह नही कहा जा सकता कि जो-जो अवयवरचनायुक्त है, वह सव बुद्धिमान कर्ता द्वारा किया हुआ है। किन्तु जिस अवयवरचना का बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित होना जाना-देखा जा चुका है, उसी अवयवरचना को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता का अनुमान किया जा सकता है, केवल अवयवरचना को देखकर नही। तथा अवयवरचना को देखकर ईश्वर का अनुमान भी नही किया जा सकता, क्योकि घटादि पदार्थों की अवयवरचना का विशिष्ट कर्ता कुम्हार ही देखा

की उत्पत्ति के लिए व्यापार चिन्ता क्या कर सकता है ? फिर यह भी प्रश्न होता है कि जो देव इस लोक को बनाता है, वह मूर्त है या अमूर्त ? यदि अमूर्त है, तब तो आकाश की तरह वह अकर्ता ही रहेगा, यदि वह मूर्त है, तो कार्य की उत्पत्ति के लिए साधारण पुरुष के समान उसे भी उपकरणो की अपेक्षा रहेगी। ऐसी दशा मे वह समस्त जगत् का कर्ता नही हो सकेगा, यह स्पष्ट है। यह लोक देव के द्वारा गुप्त (देवरक्षित) है या देवपुत्र है, यह मत तो अपने आप ही खण्डित हो जाता है, क्योकि जब देवकृत जगत् ही सिद्ध नही हुआ, तब देवगुप्त या देवपुत्र सिद्ध होना तो दूर की बात है।

इसी प्रकार जगत् को ब्रह्मा द्वारा रचित बताना भी इन्ही पूर्वोक्त दोषो और आपत्तियो से परिपूर्ण है।

ईश्वरकृतवादियो का कथन युक्तिविरुद्ध

ईश्वरकारणवादियो ने जो युक्तियाँ ईश्वर को जगत्कर्ता होने के लिए दी हैं, वे भी निम्नलिखित युक्तियो से असिद्ध हो जाती हैं। उन्होने जो अनुमान प्रयोग किया है, वह भी गलत है। घट-पट, मठ आदि को देखकर यही अनुमान किया जा सकता है कि ये सब किसी कर्ता द्वारा निर्मित है। क्योकि ये कार्य हैं, परन्तु यह अनुमान नही किया जा सकता कि ये घटपटादि अमुक व्यक्ति के द्वारा निर्मित हैं। क्योकि जो कार्य हैं वे सब कर्ता द्वारा किये हुए हैं, इस प्रकार कार्य की व्याप्ति कारण मे गृहीत होती है, किन्तु जो-जो कार्य होता है, वह अमुक व्यक्ति के द्वारा निर्मित होता है, इस प्रकार कार्य की व्याप्ति विशिष्ट कारण मे गृहीत नही होती। घट को देखकर यही कहा जा सकता है कि इसे कुम्हार ने बनाया है, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इसे अमुक-अमुक नाम के कुम्हार ने बनाया है। इसी तरह जगत् को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह जगत् कारण से उत्पन्न हुआ है, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि यह जगत् अमुक विशिष्ट कारण से उत्पन्न हुआ है, क्योकि कार्य की व्याप्ति विशिष्ट कारण मे नही होती है।

दूसरी बात यह है कि जो व्यक्ति यह जानता है, जिसने प्रत्यक्ष देखा है कि अमुक कार्य अमुक व्यक्ति ही करता है, दूसरा नही कर सकता है, वह व्यक्ति उस कार्य को देखकर, उसके कर्ता उस विशिष्ट व्यक्ति का अनुमान कर सकता है, परन्तु जो वस्तु अत्यन्त अदृष्ट है, उसमे यह प्रतीति कदापि नही हो सकती। अर्थात् जिसकी रचना करता हुआ कोई व्यक्ति कभी किसी से देखा ही नही गया है, उस वस्तु को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता का अनुमान कैसे किया जा सकता है। यदि यह कहें कि घट को देखकर उसके कर्ता—कुम्हार का अनुमान किया जाता है और

वह कुम्हार एक विशिष्ट जाति का पदार्थ है, इसी तरह जगत् को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता—ईश्वर का भी अनुमान किया जा सकता है। यह भी युक्तिविरुद्ध है, क्योकि घट एक विशेष प्रकार का कार्य है, और उसका कर्ता कुम्हार उसे करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिए घट को देखकर कुम्हार का अनुमान किया जा सकता है, परन्तु जगत् को देखकर ईश्वर का अनुमान नही किया जा सकता। क्योकि घट को बनाता हुआ कुम्हार जैसे प्रत्यक्ष देखा जाता है, उस तरह नदी, समुद्र, पर्वत आदि को बनाता हुआ कोई बुद्धिमान कर्ता (ईश्वर) कभी प्रत्यक्ष देखा नही जाता। अत जगत् को देखकर विशिष्ट बुद्धिमान कर्ता का अनुमान नही किया जा सकता।

उनका दूसरा तर्क यह था कि 'अनित्य पृथ्वी, पर्वत आदि घटपटादि की तरह कार्य होने से किसी न किसी बुद्धिमान (ईश्वर) के द्वारा बनाए हुए हैं'। यह कथन भी भ्रमपूर्ण है। ऐसा कोई नियम नही होता कि हर चीज को बनाने वाला कोई न कोई बुद्धिमान कर्ता ही हो। आकाश मे बादल बुद्धिमान कर्ता के बिना भी बनते और बिखरते हुए दिखाई देते है। बिजली चमकती और नष्ट होती है, जमीन पर पानी बरसने पर घास आदि बुद्धिमान के उगाए बिना ही उगती है, वर्षा ऋतु मे पानी बरसता है, शरद ऋतु मे ठण्ड और ग्रीष्म ऋतु मे गरमी आदि बिना ही किसी बुद्धिमान के पडती है। उनके पीछे कोई भी उन पदार्थो के कार्यो को करता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई नही देता। पदार्थों की उत्पत्ति और नाश तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं, लेकिन उनका कर्ता-हर्ता तो कोई दिखाई नही देता।

यह तर्क भी निराधार है कि विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होने से घटादि पदार्थ जैसे बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित हैं, वैसे ही विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होने से पर्वतादि पदार्थ भी बुद्धिमान कर्ता (ईश्वर) द्वारा निर्मित है, क्योकि विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होने मात्र से सभी पदार्थ बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित हो, यह प्रतीति नही होती है। यदि ऐसा माना जाएगा तो वल्मीक (दीमक द्वारा निर्मित मिट्टी का ढेर) भी मिट्टी की विशिष्ट अवयवरचना से युक्त होने से घट के समान कुम्हार के द्वारा बनाया हुआ सिद्ध हो जाएगा। इसी तरह अवयवरचना-मात्र देखकर यह नही कहा जा सकता कि जो-जो अवयवरचनायुक्त हैं, वह सब बुद्धिमान कर्ता द्वारा किया हुआ है। किन्तु जिस अवयवरचना का बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित होना जाना-देखा जा चुका है, उसी अवयवरचना को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता का अनुमान किया जा ता है, केवल अवयवरचना को देखकर नही। तथा अवयवरचना को देखकर ईश्वर का अनुमान भी नही किया जा सकता, क्योकि घटादि पदार्थो की अवयवरचना का विशिष्ट कर्ता कुम्हार ही देखा

जाता है, ईश्वर नही। यदि घटादि का कर्ता भी ईश्वर है तो फिर कुम्हार की क्या आवश्यकता है?

यदि कहे कि ईश्वर सर्वव्यापक होने से निमित्तरूप मे घटादि रचना मे अपना व्यापार करता है, तो इस प्रकार दृष्ट की हानि और अदृष्ट की कल्पना का प्रसग आएगा, क्योकि घट का कर्ता कुम्हार प्रत्यक्ष उपलब्ध (दृष्ट) होता है, उसे न मानना दृष्ट की हानि है। और घट बनाता हुआ ईश्वर कभी नहीं देखा जाता, उसे घट का निमित्त मानना अदृष्ट की कल्पना है। कहा भी है—

> शस्त्रौषधादिसम्बन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे।
> असम्बद्धस्य किं स्थाणो कारणत्व न कल्प्यते?

अर्थात्—चैत्र नामक पुरुष के घाव भरने मे शस्त्रक्रिया (नश्तर लगाने) एव औषध के लेप ही कारण थे, दूसरे पदार्थ कारण नही थे, परन्तु उस घाव के साथ जिसका कोई वास्ता नही है, ऐसे ठूठ को घाव भर जाने का कारण क्यो नही मान लेते? अत जिस वस्तु का जो कारण प्रत्यक्ष देखा जाता है, उसे कारण न मानकर जो उसका कारण नही देखा जाता, उसे उसका कारण मानना सर्वथा अन्याय है।

इसके अतिरिक्त देवालय, भवन आदि का जो कर्ता है, वह सावयव, अव्यापक परतन्त्र और अनित्य देखा जाता है, इस दृष्टान्तानुसार तो ईश्वर यदि जगत् के पदार्थो का कर्ता माना जायेगा तो वह भी सावयव, अव्यापक, परतन्त्र और अनित्य ही सिद्ध होगा। इसके विपरीत निरवयव, व्यापक और नित्य ईश्वर की सिद्धि के लिए कोई दृष्टान्त नही मिलता, इसलिए व्याप्ति की सिद्धि न होने से निरवयव, व्यापक और नित्य ईश्वर का अनुमान नही हो सकता।

जिस प्रकार कार्यत्व हेतु ईश्वर की सिद्धि नही कर सकता, वैसे ही पूर्वोक्त अन्य हेतु भी ईश्वर के कर्तृत्व सिद्धि के लिए समर्थ नही है।

यदि प्रतिवादी यो कहें कि ईश्वर अमूर्त और अदृश्य है, इसलिए कैसे दिखाई दे सकते हैं? वह हमारी स्थूल आँखो से दृष्टिगोचर नही होता, तब हम पूछते हैं कि वह ईश्वर शरीरधारी है या शरीररहित? यदि शरीररहित है, तब तो वह सृष्टि के पदार्थो को कैसे बनाएगा? बिना शरीर या हाथ-पैर आदि अवयव के तो वह कोई भी कार्य नही कर सकेगा? यदि कहे कि वह शरीरधारी है तो उसका शरीर नित्य है या अनित्य? उसे नित्य तो नही कह सकते, क्योकि वह अवयवसहित है। जो पदार्थ अवयवयुक्त (खण्ड के रूप मे) होते है, वे सब घट-पटादि की तरह अनित्य होते हैं। ईश्वर का शरीर भी सावयव मानने पर वह

अनित्य ही सिद्ध होगा। यदि ईश्वर का शरीर अनित्य है तो प्रश्न होता है कि वह किसके द्वारा बनाया हुआ है? यदि कहे कि ईश्वर ने अपने शरीर को स्वय ही बनाया है, तब तो उसके पहले भी ईश्वर के शरीर को मानना पडेगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर आगे-आगे के शरीर को पैदा करने के लिए उसके पूर्व-पूर्व के शरीर मानने पडेंगे। इसी तरह लगातार शरीर मानते जाने पर अनवस्था दोष उपस्थित होगा। ऐसी दशा मे कार्य की सिद्धि नही होगी।

'ईश्वर जीवो को अपने-अपने शुभाशुभ कर्मानुसार फल भुगताता है, वही अज्ञ जीव को फल भोगने के लिए स्वर्ग या नरक भेजता है, यह कथन भी असत्य सिद्ध होता है, क्योकि पहले आप यह बताये कि ईश्वर जब सृष्टिरचना करता है, तब जीव कर्मरहित होते हैं या कर्मसहित? यदि कहे कि वे कर्मसहित थे तो उन कर्मों को किसने बनाया? यदि कहे कि कर्म तो उन-उन आत्माओ ने स्वय ही बनाएँ हैं तो आपका कार्यरूप हेतु दूषित हो जाता है। आपका मानना है कि जितने भी कार्य होते हैं, वे सब ईश्वर के किये हुए होते है। यदि कहे कि वे सभी कर्म भी ईश्वर ने ही बनाए है, तब तो ईश्वर की दयालुता पर बहुत बडा आक्षेप यह आता है कि ईश्वर ने उन शुद्ध और सुखी आत्माओ को व्यर्थ ही कर्मो से लिपटा-कर अशुद्ध और दु खी क्यो बना दिया? क्या यही उसकी दयालुता है?

यदि कहे कि ईश्वर ने सृष्टि की आदि मे सुमार्ग पर गमन और कुमार्ग से बचने का उपदेश देकर जीवो को कर्म करने की स्वतन्त्रता दी, परन्तु वह ईश्वर सर्वज्ञ और दयालु परमपिता होते हुए भी अपने पुत्र-जीव को कुमार्ग पर जाते हुए रोकता क्यो नही? परमदयालु ईश्वर पिता सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होते हुए भी अपने पुत्रो को अन्यायपथ पर जाते पर देखकर भी आँखे कैसे मूँद सकता है? अत नैयायिको का यह कथन भी सत्य से कोसो दूर है।

अत निरजन, निराकार, निर्लेप, निर्विकार ईश्वर को कर्मफल भुगवाने के पचडे मे या जगत् की रचना करने के पचडे मे डालने से उस पर पक्षपात, दयाहीनता, अन्याय, अविवेक आदि अनेक आक्षेप आते हैं।

इन सब युक्तियो से ईश्वरकर्तृत्ववाद की असत्यता सिद्ध हो जाती है।

प्रधानकृत लोक असत्य मान्यता

पहले साख्यदर्शन का पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया था कि यह लोक प्रधानादि-कृत है, इत्यादि कथन भी सर्वथा असगत है। क्योकि प्रश्न होता है वह प्रधान (प्रकृति) मूर्त है या अमूर्त है? यदि वह अमूर्त है तो उसमे मूर्तिमान समुद्र पर्वत आदि उत्पन्न नही हो सकते। क्योकि अमूर्त आकाश से किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नही देखी जाती। इसलिए मूर्त और अमूर्त का परस्पर कार्यकारण-

भाव विरुद्ध है। यदि वह प्रधान मूर्त है तो वह स्वय किससे उत्पन्न हुआ ? उसे स्वय उत्पन्न तो आप कह नही सकते, क्योकि ऐसा कहोगे तो फिर इस लोक को भी स्वय उत्पन्न क्यो नही मान लेते ? यदि कहो कि वह प्रधान दूसरे से उत्पन्न है, तब तो दूसरे को उत्पन्न करने के लिए तीसरे की और तीसरे के लिए चौथे की आवश्यकता होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष आ पडेगा। अत जैसे उत्पन्न हुए बिना ही प्रधान को अनादिभाव से स्थित मानते हो तो, इसी तरह लोक को ही अनादिभाव से स्थित क्यो नही मान लेते ? साख्यदर्शन का मानना है कि प्रधान अविकृत है, सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था ही प्रधान है, किन्तु उस अविकृत प्रधान से महत् (बुद्धि) आदि तत्त्वो की उत्पत्ति मानना तो विकृति है। इसलिए विकृत प्रधान से महद् आदि तत्त्वो की उत्पत्ति मानना, साख्यमत के लिए जैसे अभीष्ट एव सगत नही है, वैसे ही अविकृत प्रधान से विकृत लोक की उत्पत्ति मानना भी अभीष्ट नही हो सकता।

प्रकृति अचेतन है, वह चतन पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने मे कैसे समर्थ हो सकती है, कैसे प्रवृत्त हो सकती है, जिससे आत्मा का भोग सिद्ध होकर सृष्टिरचना हो सके।

यदि कहे कि अचेतन होने पर भी प्रकृति का यह स्वभाव है, कि वह पुरुष (आत्मा) का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होती है, तब तो प्रकृति से स्वभाव ही बलवान ठहरा, जो प्रकृति को भी अपने नियन्त्रण मे रखता है।

अगर ऐसा है तो आप स्वभाव को ही जगत् का कारण क्यो नही मान लेते, अदृष्ट प्रकृति आदि की हवाई कल्पना करने का क्या प्रयोजन है ?

अत इन युक्तियो से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रधान जगत् का कर्ता नही हो सकता।

स्वभाव, नियति आदि कथञ्चित् जगत् के कारण

साख्यदर्शन वाले यह आक्षेप करते हैं कि स्वभाववादी भी तो स्वभाव को जगत् का कारण मानते है ? जैनदर्शन कहता है कि एकान्तरूप से स्वभाव को जगत् का कारण मानना हमे इष्ट नही है, किन्तु कथञ्चित् स्वभाव को जगत् का कारण मानने मे हमे कोई आपत्ति नही। यदि स्वभाव का यह अर्थ किया जाय कि स्वय अपनी भाव=उत्पत्ति, तो इस दृष्टि से स्वभाव को जगत् का कारण मानने मे जैनदर्शन को कोई आपत्ति नही। तथा नियतिवादियो ने जो एकान्तरूप से जगत् को नियतिकृत माना है, वह हमे अभीष्ट नही है, किन्तु कथञ्चित् नियति को जगत् का कारण

मानने मे कोई दोष नही है। अथवा गहराई से सोचे तो नियति भी स्वभाव मे अतिरिक्त नही, क्योकि जो पदार्थ जैसा है, उसका वैसा होना, नियति है।

स्वयम्भूरचित लोक असत्य मान्यता—पहले जो यह कहा गया था—'यह लोक स्वयम्भू द्वारा रचित हैं', यह कथन भी युक्तिसगत नही है। प्रश्न यह है कि 'स्वयम्भू' शब्द का अर्थ क्या है? जिस समय वह स्वयम्भू होता है, उस समय वह दूसरे किसी कारण की अपेक्षा किये बिना क्या स्वतन्त्र रूप से होता है, इसलिए वह स्वयम्भू कहलाता है अथवा वह अनादि है, इसलिए स्वयम्भू कहलाता है? यदि वह अपने आप होने के कारण स्वयम्भू कहलाता है, तो इसी तरह इस लोक को भी अपने आप होना क्यो नही मान लेते? उस स्वयम्भू की क्या आवश्यकता है? यदि वह स्वयम्भू अनादि होने के कारण स्वयम्भू कहलाता है, तो वह जगत् का कर्ता नही हो सकता, क्योकि जो अनादि होता है, वह नित्य होता है और नित्य पदार्थ सदा एकरूप होता है। इसलिये वह नित्य स्वयम्भू जगत् का कर्ता नही हो सकता।

यदि स्वयम्भू वीतराग है, तो वह इस विचित्र जगत् का कर्ता नही हो सकता और यदि वह सराग है तो हम लोगो के समान होने से वह विश्व का कर्ता नही हो सकता। फिर वह स्वयम्भू यदि अमूर्त है तो वह मूर्त जगत् का कर्ता नही हो सकता, यदि वह मूर्त है तो उसके उत्पत्तिकर्ताओ की परम्परा माननी पडेगी, अत अनवस्था दोप आ पडेगा।

मार द्वारा जगत्कर्तृत्व का खण्डन—यह जो कहा गया था कि 'स्वयम्भू ने मार (यमराज) को उत्पन्न किया, जो माया के द्वारा लोक का सहार करता है,' यह भी उन्मत्त पलाप के समान असगत कथन है। जब स्वयम्भू ही जगत् का कर्ता सिद्ध नही हो सका तो यमराज और माया तो उसकी सन्तानें हैं, उनका अस्तित्व ही कहाँ से हो जायेगा?

अण्डे से जगत की उत्पत्ति भी असत्य प्रलाप—जो यह मानते है कि 'अण्डे मे जगत् की उत्पत्ति हुई है,' वह भी असगत है। जब जगत् पचमहाभूतो से बिलकुल रहित था, उसमे कोई भी चीज नही थी, तब अण्डा कहाँ से आया? और पानी भी कहाँ से आया? फिर जिस जल मे उस स्वयम्भू ने अण्डा उत्पन्न किया वह जल जैसे अण्डे के बिना ही उत्पन्न हो गया था, उसी तरह यह लोक भी अण्डे के बिना उत्पन्न हुआ मान लें तो क्या हर्ज है? यदि यह कहे कि अण्डा और पानी पहले से ही थे और उनके सिवाय वहाँ और कोई चीज नही थी, तो भूमि और आकाश ये दो महाभूत कहाँ से टपक पडे? और आपके मतानुसार बाद मे पच-महाभूतो के अभाव मे देव, दानव, मानव और पशु-पक्षी आदि कहाँ से पैदा हो गए?

तथा वह ब्रह्मा जब तक अण्डा बनाता है, तब तक वह इस लोक को ही क्यो नही बना देता ? अत युक्तिविरुद्ध अण्डे की टेढी-मेढी कष्टदायी कल्पना से क्या मतलव ? इसलिए ये सब ऊटपटाँग कल्पनाएँ प्रमाणबाधित होने से असत्य हैं।

ब्रह्मा द्वारा सृष्टिरचना की मान्यता भी गलत—यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मा अण्डे के विना ही सृष्टि उत्पन्न करता है। जैसे कि उन्होने कहा है—

> **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत, बाहू राजन्य कृत ।**
> **उरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शूद्रोऽजायत ॥**

अर्थात्—ब्रह्माजी के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पैरो से शूद्र उत्पन्न हुए।

यह कथन भी अनुभवविरुद्ध होने से मिथ्या है। क्योकि आज तक मुख से किसी की उत्पत्ति नही देखी गई। यदि ऐसा होने लगेगा तो ब्राह्मणादि वर्णो का परस्पर भेद नही रहेगा, क्योकि वे सभी (वर्ण के) लोग एक ही ब्रह्मा से उत्पन्न होगे। तथा ब्राह्मणो मे भी कठ, तैत्तिरीयक और कलाप आदि भेद भी नही रहेगा, क्योकि सभी एक ही ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होगे। फिर तो ब्राह्मणो मे उपनयन, विवाह आदि सस्कार नही हो सकगे। ऐसी दशा मे बहन के साथ ही विवाह होने लगेंगे। इस प्रकार के अनेक दोष होने के कारण ब्रह्मा के मुख आदि से सृष्टि की उत्पत्ति मानना ठीक नही है।

विष्णु द्वारा सृष्टिरचना का मत भी युक्तिहीन—विष्णु द्वारा सृष्टिरचना का मत भी युक्तिसगत नही है। विष्णुकृत जगत् मानने वाला से पूछा जाय कि सृष्टि रचने मे पहले जब कुछ भी नही था, तो विष्णु कहाँ रहे ? यदि कहे कि जल था, तो प्रश्न होता है, जल को किसने बनाया ? यदि कहे कि उसे किसी ने नही बनाया, वह तो स्वयमेव अनादिकाल से निर्मित है, तब पृथ्वी आदि पदार्थो को अनादिकाल से स्वयनिर्मित क्यो नही मान लिया जाए ? विष्णु ने तपस्या की इससे मालूम होता है, विष्णु कर्मविशिष्ट और शक्तिविहीन थे, इसलिए करने एव शक्ति सम्पादन करने के लिए उन्होने तप किया। ऐसी दशा मे विष्णु भी हमारे ही जैसे कर्मविशिष्ट, अल्पज्ञ और असमर्थ सिद्ध होगे।

यह एक अनुभवयुक्त तथ्य है कि कोई भी वस्तु केवल इच्छा करने मात्र से या ज्ञानमात्र से उत्पन्न नही हो जाती। उसके लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता भी होती है। थोडी देर के लिए हम यो मान भी लें कि विष्णु मे सृष्टिरचना के लिए इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न तीनो थे, तो भी उपादानकारण के विना कार्य कदापि नही

हो सकता। प्रत्येक वस्तु का उपादानकारण पहले सिद्ध होना चाहिए। लेकिन वह सिद्ध नही होता।

जब विष्णु ने ब्रह्मा को पैदा किया और ब्रह्मा ने आठ जगन्माताएँ बनाई तथा उन माताओं ने देव, दानव आदि को जन्म दिया, तब विष्णु, ब्रह्मा आदि ने क्या उनके शरीर और आत्मा दोनो को पैदा किया था या केवल शरीर को ही ? यदि आत्मा को पैदा किया तो उसका उपादानकारण कौन था ? यदि कहे कि उनकी आत्माएँ तो पहले से ही थी तो भी प्रश्न होता है, उन आत्माओ को किसने बनाया ? इत्यादि रूप मे उत्तरोत्तर इसी प्रकार प्रश्नो को झडी एक के बाद एक लगी रहेगी, जिससे अनवस्था दोप उपस्थित होगा। यदि कहे कि ब्रह्मा, विष्णु आदि ने तो उनके शरीर को ही बनाया, उनकी आत्माएँ तो अनादिकाल से थी, तब हम पूछते हैं कि उन आत्माओ के साथ कर्म लगे हुए थे या नही ? यदि कहे कि कर्म लगे हुए नही थे, वे तो बिलकुल शुद्ध, कर्मरहित थी, तब तो उनके साथ कर्म लगा कर, उन्हे अशुद्ध करके ससार मे विविधयोनियो मे जन्म देने वाले विष्णु, ब्रह्मा आदि दयालु कैसे हो सकते है ? दूसरो को कर्मबन्धन के घोर सकट मे डालने वाले दयालु, पूज्य और महान् कैसे हो सकते है ?

इस सम्बन्ध मे दूसरा प्रश्न यह होता है कि विष्णु ने सृष्टिरचना किस प्रयोजन से की ? स्वभाववश की या क्रीडा (लीला) वश की या इच्छावश की या दयालुता से प्रेरित होकर की ? यदि स्वभाववश सृष्टि रचना मानें तो यथार्थ नही है, क्योकि स्वभाव से जो कार्य होता है, वह सदा होता है, एक सरीखा होता है। जैसे अग्नि स्वभाव से ही दाह उत्पन्न करती है। जब तक अग्नि रहेगी, तब तक दाह उत्पन्न करती रहेगी, वैसे ही विष्णु यदि स्वभाववश सृष्टि रचता है, तब तो वह सतत ब्रह्मा आदि की एक-सी उत्पत्ति करता रहेगा। परन्तु आप ऐसा नही मानते, विष्णु तो ब्रह्मा को पैदा करके शान्त हो गए। अत स्वभाव से सृष्टिरचना मानना यथार्थ नही। यदि विष्णु क्रीडा (लीला) वश सृष्टि रचना करते हैं, ब्रह्मा आदि को बनाते हैं, तो विष्णु जो आनन्दमय परमात्मा माने जाते हैं, उन्हे क्रीडा करने की क्या आवश्यकता है ? क्रीडा तो क्षुद्रप्राणी किया करते हैं। यदि वह इच्छावश जगत् की रचना करते है, तो इच्छा तो कर्मविशिष्ट अल्पज्ञ जीव मे होती है, क्योकि इच्छा कर्म का कार्य है। कर्मोदय के बिना इच्छा नही होती। विष्णु की इच्छा मान भी लें तो भी उनकी यह इच्छा नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो उसका कार्य भी नित्य निरन्तर होता रहेगा, कभी उस कार्य मे विराम नही होगा। अगर अनित्य है, तो उसका कौन सा कारण है ? कर्म कारण है या अन्य कोई कारण है ? कर्म के सिवाय अन्य कोई कारण नही हो सकता। क्योकि अन्य कोई वस्तु विष्णु के सिवा सृष्टि

की आदि मे थी नही। कर्म को कारण मानने पर विष्णु कर्मविशिष्ट सिद्ध होगा। इस प्रकार के पूर्वोक्त दूषण उपस्थित होगे। यदि दयालुता से प्रेरित होकर विष्णु सृष्टि बनाते है, तब तो यह कथन भी उपहास का विषय होगा। सृष्टि से पहले जब कोई प्राणी था ही नही, तब दया किस पर की गई? मान लो, विष्णु दयालु हैं, इसलिए उन्होने प्राणियो को पैदा किया, तब तो उन्हे दया करके सभी प्राणियो को सुखी, परस्पर सहयोगी और साधनसम्पन्न बनाना चाहिए था? उन्होने दु खी, कर्म-बन्धनग्रस्त तथा देव और दानव, नकुल और सर्प, गरुड और नाग आदि परस्पर शत्रु-जीवो को क्यो बनाया? इसलिए विष्णुकृत लोक की कल्पना सत्य से कोसो दूर है।

तत्त ते ण विजाणंति—प्रश्न होता है, पूर्वोक्त मतवादी इस प्रकार की परस्पर विरोधी बाते जगत् की रचना के सम्बन्ध मे क्यो करते है? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं—'**तत्त ते ण विजाणंति**।' तात्पर्य यह है कि वे मतवादी लोग लोक के वास्तविक स्वरूप को जानते ही नही। '**बाबावाक्य प्रमाणम्**' के अनुसार परम्परा से उनके पूर्वजो ने जो कुछ कह दिया, उसी को वे आँखे मूँदकर प्रमाण मानकर चलते हैं, उससे जरा-सी भी इधर-उधर की बात न सुनना चाहते हैं और न ग्रहण करना चाहते है। जो अपनी मानी हुई मतपरम्परा से मिल गया उसी को सत्य मान लिया। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि वे पूर्वोक्त मतवादी जो भी मन मे आया या मतपरम्परा से मिला उसी की मिथ्याप्ररूपणा करते रहते है। लोकरचना के सम्बन्ध मे भी वे असत्यप्ररूपणा करते हैं।

'**णऽि णासी कयाइ वि**'– पूर्वोक्त मतवादी लोक को किसी न किसी का कार्य मानते है, इस कारण वे लोक को अनित्य, विनाशी एव वत मानते है। किन्तु लोक विनाशी या अशाश्वत नही है। वस्तुत देखा जाय तो यह लोक द्रव्यार्थिक-नय की दृष्टि से नित्य, शाश्वत और अविनाशी है। प्रवाहरूप मे यह लोक अनादि-अनन्त है। कदाचित् छठे आरे के अन्त मे अधिकाश वस्तुएँ नष्ट हो जाएँगी, तो भी जड और चेतन से युक्त वस्तुएँ पूर्णरूप से नष्ट नही होगी। जैसे अन्यमतवादी प्रलयकाल मानकर उस काल मे जगत् का सर्वथा विनाश मानते है, वैसा जैनदर्शन नही ा। यह पर्यायरूप से यानी जगत् की प्रत्येक वस्तु के पर्यायो (रूपो) मे परि-वर्तन या क्षय मानने से क्षणक्षयी या अनित्य है। उत्पाद व्यय-ध्रौव्य (उत्पत्ति, स्थिति, ध्वस) तीनो से युक्त होने के कारण यह लोक षट् द्रव्यस्वरूप है। वे ६ द्रव्य ये है— धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल। दूसरे शब्दो मे कहें तो यह लोक षड्द्रव्यमय है। अनादिकालिक

जीव और कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न अनेक भवप्रपच से यह युक्त है। इस लोक मे ससारी और सिद्ध दोनों प्रकार के जीवो का स्थान है। आठ कर्मों से रहित सिद्ध (मुक्त) जीवो का लोक इसी लोक के अन्त मे है। यह लोक ऊपर और नीचे चौदह रज्जु प्रमाण वाला है। इसकी आकृति रगशाला मे कमर पर दोनो हाथ रखकर नाचने के लिए खड़े सिर-रहित हुए पुरुष की-सी है। यह लोक नीचे मुख (औंधा मुँह) करके रखे हुए सकोरे के आकार के समान आकार वाले नीचे के सात लोको से युक्त है तथा थाली के समान आकार वाले असख्यात द्वीप और समुद्र के आधारभूत मध्यलोक से युक्त है। इसी प्रकार सीधा और उलटा मुँह किये दो सकोरो के समान यह ऊर्ध्वलोक से युक्त है।

इस प्रकार के लोक के स्वरूप से अनभिज्ञ एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि अन्यमतवादी लोग असत्य भाषण करते हैं।

अब अगली गाथा मे शास्त्रकार अन्यतीर्थिक लोगो के अज्ञान को सिद्ध करके उसके फल का दिग्दर्शन कराते है —

मूल पाठ

अमणुन्नसमुप्पाय, दुक्खमेव विजाणिया ।
समुप्पायमजाणता, कह नायन्ति सवर ? ॥१०॥

सस्कृत छाया

अमनोज्ञसमुत्पाद, दु खमेव विजानीयात् ।
समुत्पादमजानन्त , कथ ज्ञास्यन्ति सवरम् ? ॥१०॥

अन्वयार्थ

(दुक्ख) दु ख (अमणुन्नसमुप्पायमेव) अशुभ अनुष्ठान से ही उत्पन्न होता है, (विजाणिया) यह जानना चाहिए। (समुप्पाय) दु ख की उत्पत्ति का कारण (अजाणता) न जानने वाले लोग (सवर) दु ख को रोकने का उपाय (कह) कैसे (नायति) जान सकते है।

भावार्थ

दु ख अशुभ अनुष्ठान (प्रवृत्ति) से ही उत्पन्न होता है, यह जानना चाहिए। जो लोग दु ख की उत्पत्ति का कारण नही जानते है, वे दु ख के निरोध का उपाय कैसे जान सकते है ?

व्याख्या

दु खोत्पत्ति से अनभिज्ञ दु खनिरोध से अज्ञात

अमणुन्नसमुप्पाय दुक्खमेव—इस गाथा मे शास्त्रकार उन विविध मतवादियो की अज्ञानता पर तरस खाते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम तो सभी दर्शनवालो को यह जानना चाहिए कि जब वे वैषयिक सुख प्राप्त कर लेते है, तब तो वे लोक-रचना के लिए अपने-अपने माने हुए इष्टदेवो (ईश्वर, विष्णु आदि) की कृपा मान लेते हैं जब कि उनके शुभ अनुष्ठानो के फलस्वरूप ही उन्हे वह सुख प्राप्त होता है, किन्तु जब मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद आदि अशुभ अनुष्ठानो के कारण घोर पापकर्मबन्धन के फलस्वरूप दु ख आ पडते है, तब वे अपने-अपने माने हुए तथा-कथित सृष्टिकर्ता (ईश्वर, विष्णु आदि) को कोसते है, उन्हे उपालम्भ देते है, या काल, नियति, स्वभाव, कर्म तथा किसी निमित्त पर दोपारोपण करके दु ख पाते रहते है, मन मे कुढते रहते हैं, परन्तु वे दु ख के मूल कारणो को नही जान पाते, मतमोह या कुविचारो के पूर्वाग्रह के कारण दु ख के स्वरूप को जान व समझ नही पाते। उनकी बुद्धि पर मोह, अज्ञान और मिथ्यात्व का घना काला पर्दा पड जाता है, जिससे वे दु ख के स्वरूप, दु ख की उत्पत्ति, निरोध और क्षय के कारणो को नही समझ पाते। इसीलिए कहा है—'**दुक्खमेव विजाणिया**।' आशय यह है कि पूर्वोक्त मतवादी लोगो मे से दु ख आ पडने पर कोई यो कहने लगता है—ईश्वर ने दु ख दिया है और कोई विष्णु, ब्रह्मा या महादेव को इस दु खोत्पत्ति का कारण मानने लगता है। इस उलटी मान्यता के कारण वह और अधिक दु ख पाता है, दु ख के कारणो को पैदा करने लगता है। परन्तु अपनी आत्मा मे झाँक कर अपने उपादान को नही देखता कि इस दु ख का मूल कर्ता मैं ही हूँ। मेरे ही द्वारा किसी समय किये हुए अशुभ अनुष्ठान (मन-वचन-काया मे कृत दुष्कृत—पापाचरण) से ही ये दु ख उत्पन्न होते हैं। जो व्यक्ति अशुभ—बुरे आचरण, अधर्मानुष्ठान करता है, उसे उसके कारण पापकर्म का बन्धन होता है और पापकर्मों का फल दु ख के रूप मे मनुष्य को भोगना पडता है। सम्यग्दृष्टि, ज्ञानवान पुरुष दु ख के इस मूलभूत कारण को भली-भाँति जानता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि, स्वत्वमोह, मताग्रह आदि के कारण दु ख के कारणो को सम्यक्रूपेण नही जानता।

अमणुन्नसमुप्पाय—यह दु ख का विशेषण है। दु ख अमनोज्ञसमुत्पादरूप ही है। यहाँ इन दोनो शब्दो को एक करके दु ख के लक्षण के रूप मे बहुव्रीहि समास करके प्रस्तुत किया है। अमनोज्ञसमुत्पाद का अर्थ इस प्रकार है—मनोज्ञ का अर्थ है—मन के अनुकूल, मन को प्रिय। मन के अनुकूल का तात्पर्यार्थ है शुभ अनुष्ठान

तथा समुत्पाद का अर्थ है—प्रादुर्भाव—उत्पत्ति। जो मनोज्ञ—शुभ अनुष्ठान नही हैं—वे अमनोज्ञ कहलाते है। अमनोज्ञ का अर्थ हुआ अशोभन अनुष्ठान—बुरा आचरण, खराब प्रवृत्ति। वह जिसकी उत्पत्ति मे कारण है, वही दु ख हैं।

समुप्पाय अजाणता—पूर्वोक्त दु ख की उत्पत्ति के कारण जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि को बताया हे, वे उसे नही जानते।

'कह नायति सवर'—सवर का आचरण करने की बात तो दूर, वह दु ख के निरोध (सवर) रूप विचार को भी नही पकड पाता। जो व्यक्ति दु ख की उत्पत्ति के कारण को नही जानता, तब उस दु ख के निरोधरूप उपाय को वह कैसे जान सकता है? यहाँ प्रश्न के रूप मे शास्त्रकार न्याय करने की बात विचारक सम्यग्दृष्टि भव्यजीवो पर छोड देते हैं।

आशय यह हे कि अपने किये हुए अशुभ अनुष्ठान—दुष्कर्म से ही दु ख की उत्पत्ति होती है, किसी दूसरे से नही। इस स्वकर्मकृत दु ख-सुख-उत्पत्ति-व्यवस्था को पूर्वोक्त वादी नही जानते हुए ईश्वर आदि अन्य पदार्थ के द्वारा दु ख की उत्पत्ति मानते है। इस प्रकार दु ख की उत्पत्ति को मानने वाले अन्यमतवादी दु खनाश के कारण (उपाय) को कैसे जान सकते है? कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। दु ख के कारण ईश्वर आदि नही, स्वयकृत अशुभ कर्म है। उनके नाश या निरोध से ही दु खोत्पत्तिरूप कार्य का नाश या निरोध हो सकता है। इस प्रकार दु ख के कारण को न जानकर वे दु खनाश के लिए कैसे प्रयत्न कर सकेगे। यदि ऊटपटाँग प्रयत्न करे तो भी दु ख का नाश नही कर सकेंगे, प्रत्युत जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि और इष्टवियोग-अनिष्टसयोगरूप अनेक दु खो मे पीडित होते हुए वे अनन्तकाल तक अरहट की तरह ससारचक्र मे परिभ्रमण करते रहेंगे।

अब कर्मबन्धनो से सर्वथा मुक्त आत्मा को पुन राग-द्वेष के कारण कर्म-बन्धन मे बद्ध मानने वाले त्रैराशिक कृतवादियो के मत का निरूपण करते है—

मूल

सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसिमाहिय ।
पुणो किड्डापदोसेण सो तत्थ अवरज्झई ॥११॥

स छाया

शुद्धोऽपापक आत्मा, इहैकेषामाख्यातम्।
पुन क्रीडाप्रद्वेषेण स तत्राऽपराध्यति ॥११॥

अन्वयार्थ

(इह) इस जगत् मे (एगेसि) कितने ही दार्शनिको का (आहिय) कथन—मत है कि ( ) कर्ममलरहित विशुद्ध (अपावए) पाप से—रागद्वेप से रहित (आया) आत्मा (पुणो) पुन (किड्डापवोसेण) रागद्वेष के कारण (तत्थ) वही (अवरज्झई) बँध जाता है।

भावार्थ

इस जगत् मे कुछ (त्रैराशिक, आर्यसमाज, वैष्णव, बौद्ध आदि) मतवादियो का कथन है कि कर्मकलक से रहित निष्पाप शुद्ध आत्मा भी क्रीडा (लीला) या रागद्वेष के कारण पुन कर्मबन्धन से बँध जाता है—कर्मरज से श्लिष्ट हो जाता है।

व्याख्या

निष्पाप-शुद्ध मुक्त-आत्मा पुन कर्म के कटघरे मे

'सुद्धे अपावए आया'—इस गाथा मे शास्त्रकार आत्मा की एक विचित्र अवस्था को मानने वाले त्रैराशिक, वैष्णव बौद्ध, आर्यसमाज आदि मतवादियो के मत का निरूपण करते हुए कहते हैं कि कुछ मतवादियो का यह कहना है कि आत्मा की तीन अवस्थाएँ है। पहली अवस्था है—रागद्वेप से लिप्त, कर्मवन्धनयुक्त, पाप-सहित अशुद्ध आत्मा। किन्तु उस अवस्था से छूटने के लिए कुछ विशिष्ट आत्माएँ कमवन्धनो के कारणो को दूर करने हेतु अहर्निश सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप मे पुरुषार्थ करती है, और उन आत्माओ को दूसरी निष्पाप अवस्था प्राप्त हो जाती है। वे मनुष्य-जन्म मे रहते हुए शुद्ध, निष्पाप होकर कर्मों से सर्वथा रहित होकर मोक्ष मे पहुँच जाते है। इसके बाद आत्मा की एक तीसरी अवस्था और आती है, जव वह शुद्ध निप्पाप आत्मा पुन क्रीडा और राग-द्वेष के कारण कर्मरज से लिप्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मा की ये तीन अवस्थाएँ होती है, इसलिए उन्हें त्रैराशिक के नाम से पुकारा जाता है। इस शास्त्र के वृत्तिकार श्री शीलाकाचार्य उन्हे गोशालक मतानुयायी कहते है।

पुणो किड्डापवोसेण सो तत्थ अवरज्झई—प्रश्न होता है कि जो आत्मा एक वार शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, कर्मकलकरहित, निष्पाप हो गया है, वह पुन रागद्वेप मे क्यो फँसता है? क्या कारण है पुन कर्मरज से श्लिष्ट होने का? इसमे तो प्राय सभी भारतीय दर्शन एकमत है कि जो आत्मा शुद्ध होकर मोक्ष मे चला गया है, वह पुन लौटकर नही आता। जैनदर्शन मे तो स्पष्ट वताया गया है कि जिसका

बीज जलकर नष्ट हो गया है, ऐसा धान्य पुन अकुरित नही होता, उसी प्रकार जिसके कर्मबीज जलकर नष्ट हो गये है, वे कर्मबीज पुन उस आत्मा मे अकुरित नही होते। इसीलिए शक्रस्तव पाठ मे सिद्ध भगवान का स्वरूप बताते हुए कहा है—

'सिवमयलमरुयमणतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेय ठाण सपत्ताण।'

अर्थात्—शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्यावाध, अपुनरावृत्ति, सिद्धिगति नामक स्थान को सम्प्राप्त।

यहा अपुनरावृत्ति शब्द विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। उसका भावार्थ यह है कि सिद्धगति (मोक्ष) मे जाने के बाद जहाँ से पुन लौटकर आना नही होता। वैदिकधर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ भगवद्गीता मे भी कहा है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम।

—जहाँ पर जाकर जीव पुन लौटते नही है, वही मेरा (परमात्मा का) परम धाम (सिद्धिगति नामक स्थान) है।

क्योकि जितनी भी धर्म-साधनाएँ की जाती है, वे सब इसी उद्देश्य से की जाती हैं कि साधक को मुक्ति—कर्मों से, जन्ममरण से रागद्वेप से, मुक्ति - मिले। यदि रागद्वेप, कर्ममल एव पाप से सर्वथा मुक्त एव शुद्ध होने के बाद भी पुन उन्ही मे आत्मा लिप्त हो जाय तब तो सारा काता-पीजा कपास हो जाएगा, इतने जन्मो मे किया कराया सब गुडगोबर हो जाएगा। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो अपार पुरुपार्थ करने के बाद शुद्धता और अकर्मता को प्राप्त होने पर पुन उसी अशुद्धता और कर्म के दलदल मे फँसना चाहेगा? किन्तु त्रैराशिक या बौद्ध यह कहते है कि वे शुद्ध निष्पाप आत्मा स्वय तो रागद्वेष मे लिपटना नही चाहते, परन्तु जब वे देखते है कि हमारे (माने हुए) शासन की पूजा बढ रही हैं और पर-शासन का अनादर (अवहेलना) हो रहा है, तब उन्हे प्रमोद (हर्प—क्रीडा) उत्पन्न होता है, तथा अपने शासन का अनादर या लाघव देखकर द्वेष होता है। इस कारण, वह मोक्ष मे स्थित आत्मा पुन रागद्वेप से लिप्त हो जाता है, कर्मरज से श्लिष्ट हो जाता है। अर्थात् रागद्वेप से लिप्त आत्मा शनै शनै ठीक उसी तरह कर्मरज से मलिन हो जाता है, जिस तरह बार-बार उपभोग करने से स्वच्छ निर्मल वस्त्र मलिन हो जाता है। इस प्रकार से मलिन हुआ आत्मा कर्म के गुरुत्व (भार) से पुन ससार मे लौट आता है।[1]

---

१ आर्यसमाज की मान्यता भी इसी से कुछ मिलती-जुलती है। उसका भी यही कहना है कि ईश्वर मोक्ष मे जाकर कुछ दिन घूमघाम कर फिर ससार मे लोकोपकारार्थ आ जाता है।

इसी प्रकार की कुछ-कुछ मान्यता बौद्धधर्म के एक सम्प्रदाय की तथा कुछ अन्य सम्प्रदायो की है। उनका कथन है कि सुगत (बुद्ध) आदि देव मोक्षावस्था को प्राप्त करके भी अपने शासन (सघ) का लोप या तिरस्कार देखकर उसके उद्धारार्थ फिर से ससार मे अवतार लेते हैं। जैसा कि उन्होने कहा है—

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तार॰ परम पदम्।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भव तीर्थनिकारत ॥

—धर्मतीर्थ के प्रवर्तक ज्ञानी तीर्थकर (अवतार) परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करके भी अपने तीर्थ (सघ) की अवनति या तिरस्कार देखकर पुन ससार मे लौट आते है।

उनके ससार मे वापस लौटकर आने के मूलपाठ मे दो कारण बताये गये है—'**किड्डापदोसेण**', अर्थात क्रीडा और प्रद्वेष ये दो ही कारण मुक्त एव शुद्ध आत्मा के पुन ससार मे लौटने के हैं। क्रीडा का अर्थ यहाँ प्रमोद या हर्ष किया गया है, जो राग का सूचक है और प्रद्वेष का अर्थ द्वेष किया गया है।

परन्तु क्रीडा का एक और अर्थ प्रचलित है—लीला। अवतारवादी लोगो का यह मत है कि जब-जब ससार मे धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होने लगती है, तब-तब भगवान अवतार लेते है, अपनी लीला दिखाने के लिए। उस समय सज्जनो की रक्षा और दुर्जनो के नाश के लिए वे ऐसी लीला भी करते है। ऐसी लीला मे, जबकि वे दुष्टो का सहार करते हैं और जो उनका भक्त होता है, उसकी रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते है, तो उनमे किंचित् राग-द्वेष भी सम्भव है। जो हो, अवतारवाद मे भगवान् भक्तो के उद्धार और दुष्टो के सहार के लिए ससार मे जन्म (अवतार) लेते हैं।

इसी मुक्त के पुनरागमनवाद के सम्बन्ध मे अगली गाथा मे शास्त्रकार पुन कहते है—

मूल

इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होइ अपावए।
वियडम्बु जहा भुज्जो, नीरय सरय तहा ॥१२॥

सस्कृत

इह सवृतो मुनिर्जात पश्चाद्भवत्यपापक ।
विकटाम्बु यथा भूयो नीरजस्क सरजस्क तथा ॥१२॥

अन्वयार्थ

(इह) इस मनुष्यभव मे जो जीव (सवुडे) सयम-नियमादि मे रत (मुणी जाए) मुनि हो जाता है, (पच्छा अपावए होइ) वह पीछे पापरहित हो जाता है। (जहा) जैसे (नीरय) रज —मिट्टी से रहित निर्मल (वियडबु) जल (भुज्जो) फिर (सरय) रज— मिट्टी से युक्त गँदला—मैला हो जाता है, (तहा) वैसे ही वह निर्मल आत्मा पुन मलिन हो जाता है ?

भावार्थ

जो जीव इस मनुष्यजन्म मे सयम-नियमादि मे तत्पर रहता हुआ मुनि बन जाता है, वह बाद मे निष्पाप हो जाता है, किन्तु जैसे वह निर्मल जल पुन मलिन हो जाता है वैसे ही वह निर्मल निष्पाप आत्मा भी पुन मलिन हो जाता है।

व्याख्या

मुनि की निर्मल निष्पाप आत्मा पुन. मलिन

पूर्वोक्त गाथा में वर्णित पुनरागमनवाद का सिद्धान्त इस गाथा मे पुन स्पष्ट करते हैं—'इह सवुडे मुणी ' आशय यह है कि जैसे मटमैले पानी को फिटकरी आदि से स्वच्छ करके निर्मल बना लिया जाता है, वह शुद्ध पानी आँधी, अन्धड आदि के द्वारा उडाई हुई रेत के सयोग से फिर मैला हो जाता है। वैसे ही कोई जीव मनुष्यजन्म को पाकर अपनी राग-द्वेप-कपाय आदि से या कर्मों से मलिन बनी हुई अपनी आत्मा को मुनिदीक्षा धारण करके शुद्ध चारित्र आराधना मे अहर्निश रत रहकर निष्पाप, निर्मल एव विशुद्ध बना लेता है, और बाद मे एक दिन समस्त कर्मों से रहित हो जाता है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है, इसके पश्चात् वह विशुद्ध आत्मा अपने तीर्थ (सघ) की बढी हुई प्रतिष्ठा या उन्नति को देखकर रागवश अत्यन्त प्रसन्न होता है, और सघ की बदनामी या अप्रतिष्ठा अथवा अवनति देख-कर रोपद्वेष से भडक उठता है। इस प्रकार राग-द्वेष के उदय से वह विशुद्धात्मा पुन कर्मरज से, मलिन हो जाता है। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'इह सवुडे मुणी जाए'। निष्कर्ष यह है कि अनन्तकाल के पश्चात् शुद्धाचारसम्पन्न बनकर मोक्षप्राप्त आत्मा कर्म-रहित हो जाता है, वही राग-द्वेप के कारण पुन कर्मयुक्त एव मलिन हो जाता है।

यह है त्रैराशिक मतवाद पुनरागमनवाद या अवतारवाद, जिसको लेकर वे (अन्यतीर्थी) मुक्त होकर फिर दूसरे को मुक्ति दिलाने के लिए शूरवीर बनते हैं, स्वय राग-द्वेप युक्त ससार मे पडकर। कितनी अटपटी मान्यता है यह ?

अब उन्ही मतवादियो की इस मान्यता को दोपयुक्त सिद्ध करके शास्त्रकार सम्यग्दृष्टि एव चारित्रवान पुरुपो को उनसे बचने की प्रेरणा देते है—

मूल

एताणुवीति मेहावी बभचेरे ण ते वसे ।
पुढो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सय सय ॥१३॥

त छाया

एताननुचिन्त्य मेधावी ब्रह्मचर्ये न ते वसेयु ।
पृथक् प्रावादुका सर्वे, आख्यातार स्वक स्वकम् ॥१३॥

अन्वयार्थ

(मेहावी) बुद्धिमान साधक (एताणुवीति) इन पूर्वोक्त वादियो के सम्बन्ध मे वस्तुस्वरूप के अनुसार विचार करके मन मे यह तय करे कि (ते) वे अन्यतीर्थिक (बभचेरे) आत्मा की चर्या मे—आत्मभावो के विचरण मे (ण) नही (वसे) स्थित है। (सव्वे पावाउया) वे सभी पक्के बातूनी—प्रावादुक हैं (पुढो) वे अलग-अलग (सय सय) अपने-अपने सिद्धान्त को (अक्खायारो) बढा-चढाकर बताते हैं।

भावार्थ

बुद्धिशाली साधक इन पूर्वोक्त अन्यतीर्थिकवादियो के सम्बन्ध मे वस्तुस्वरूप के अनुकूल विचार करके मन मे यह निश्चित कर ले कि वे पूर्वोक्त अन्यतीर्थिक मतवादी आत्मा की चर्या—सेवा या आत्मभावो के विचरण मे स्थित नही है। वे सभी पक्के एव ऊँचे दर्जे के बातूनी या बकवास करने वाले (प्रावादुक) है। ये अलग-अलग अपने-अपने सिद्धान्त को -चढाकर कहते है।

व्याख्या

ी-अपनी ी, अपना-अपना राग

इस गाथा मे पूर्वोक्त मतवादियो का वखिया उधेडते हुए दो बातें शास्त्रकार ने सूचित की है—(१) आत्मविचरण से रहित अन्यतीर्थिको से सावधान रहने की और (२) सभी मतवादियो की अपनी-अपनी और अपना-अपना राग अलापने की। परन्तु इन सब का मुक्तजीवो के विषय मे मे पुनरागमन का जो सिद्धान्त है, वह युक्तिसगत नही हैं, क्योकि मुक्ति मे गये हुए जीव का पुन रागद्वेपयुक्त या कर्मरज से लिप्त होना कैसे सिद्ध हो सकता है? जिसके कर्मरज सर्वथा झड गये या

कर्मबीज बिलकुल जल चुके, वह कर्मरहित निर्मल आत्मा पुन कर्मयुक्त हो ही नही सकता। जैसे कि तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य मे कहा है—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त प्रादुर्भवति नाकुर ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाकुर ॥[1]

"जिस तरह बीज के जल जाने पर उससे अकुर का उत्पन्न होना अत्यन्त असम्भव है, उसी तरह कर्मरूपी बीज के भस्म हो जाने पर ससाररूप अकुर का फूटना—ससार मे पुन जन्म लेना अत्यन्त असम्भव है।"

वास्तव मे विचार किया जाय तो ऐसे पुन अवतार लेने (ससार मे आगमन करने) वाले तथाकथित ज्ञानियो को मोक्षगामी ही नही कहना चाहिए, क्योकि उन्होने कर्ममल का समूल नाश नही किया, अन्यथा, पुन अवतार लेना उपर्युक्त युक्ति के अनुसार असम्भव था। श्री सिद्धसेन दिवाकर ने ससार मे पुन अवतार लेने वाले तथाकथित तीर्थंकरो की प्रबल मोहवृत्ति को प्रकट करते हुए कहा है—

दग्धेन्धन पुनरुपैति भव प्रमथ्य,
निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम् ।
मुक्त स्वय कृतभवश्च (कृततनुश्च) परार्थशूरस्,
त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम ॥[2]

हे वीतराग प्रभो! आपके शासन (सघ) को ठुकराने वाले व्यक्तियो पर मोह का प्रबल साम्राज्य छाया हुआ है। वे कहते हैं कि जिन आत्माओ ने कर्मरूपी ईंधन को जलाकर ससार का नाश कर दिया है, वे भी मोक्ष को छोडकर फिर से ससार मे अवतार (जन्म) लेते हैं। मुक्त होकर भी नि शक शरीर धारण करते हैं। वे इतनी सीधी सी बात को नही समझते कि जैसे जो काष्ठ जल जाता है, वह फिर नही जलता है, वैसे ही ससार को मथन करके जो जीव मुक्त हो गया है, वह फिर ससार मे कैसे आ सकता है? परन्तु अन्यतीर्थी लोग मुक्त होकर स्वय ससार मे आना मानते हैं, और दूसरो को मुक्ति दिलाने मे शूरवीर बनते है। तात्पर्य यह है कि वे अपनी आत्मा का सुधार यानी उसे पूर्णकर्ममुक्त करने मे असफल रहे हैं, पर वे परोपकार के लिए ससार मे अवतार लेने की शूरता दिखाते है। यही तो उन पर मोहनीयकर्म की प्रबल छाप है, कि वे अपना कल्याण तो कर ही नही पाये, लेकिन रट लगाये हुए हे—परार्थ की।

---

१ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य, अ० १०, सू० ७
२ सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका

इससे ध्वनित होता है कि ऐसे लोग जो अपने शुद्ध कर्ममुक्त निष्पाप आत्मा को केवल मामूली से कारण – शासनमोह को लेकर पुन इस ससार मे लौट आने के विचार के है, वे अपने ही हाथो अपने पैरो पर कुल्हाडी मारते हैं। ऐसे लोग आत्मा के प्रति द्रोही हैं, वे ब्रह्म—शुद्ध-आत्मा मे या परमात्मभाव मे स्थित नही है, आत्मज्ञानी या आत्मसुधारक होने का कोरा दिखावा करते हे। इसीलिए शास्त्रकार ने ऐसे अपनी झौपडी जलाकर दूसरे की आग बुझाने वाले परार्थशूर आत्मपतनकर्ता व्यक्तियो के लिए कहा है—'बभचेरे ण ते वसे।' अर्थात् ब्रह्म यानी आत्मा की चर्या—सेवा या परमात्मविचार मे स्थित—टिके हुए नही है। ब्रह्मचर्य का अर्थ यदि यहाँ स्पर्शेन्द्रियसयम या कुशीलसेवन का त्याग करेंगे तो वह असगत होगा, क्योकि तब इसका अर्थ होगा—ऐसे पुरुष ब्रह्मचारी नही हैं, अर्थात् व्यभिचारी है, शास्त्रकार के मुख से ऐसा कथन उन पर मिथ्या आक्षेप होगा, मिथ्यादोषारोपण होगा। इसलिए उपर्युक्त अर्थ ही यहाँ सगत होगा। द्रव्यब्रह्मचर्य मे स्थिर होते हुए भी वे तथाकथित ज्ञानी पुरुष भावब्रह्मचर्य—आत्मा-परमात्मा मे विचरण चर्या) से या निवास से वे कोसो दूर हैं। यही अर्थ प्रसगवश युक्तिसगत होगा। फिर उन तथाकथित मुक्त आत्माओ के पुन ससार मे आने के जो कारण बताये गये है, वे भी नि सार है।[1] जब सारे ससार को मैत्रीभाव –आत्मौपम्यभाव से मुक्त शुद्ध आत्मा (जीव) देखने लग जाता है, तब वहाँ अपनापन या परायापन कहाँ रह जाता है? राग-द्वेष या 'यह मैं हूँ यह मेरा है,' इस प्रकार की परिग्रहवृत्ति (ममता) उसमे कैसे रह सकती है? क्योकि उनकी परिग्रहवृत्ति (ममता) तो सर्वथा नष्ट हो चुकी है। इसके अतिरिक्त जो समस्त कर्मकलक को नष्ट कर चुके है, तथा समस्त पदार्थो का यथार्थ स्वरूप जानते है, जो कृतकृत्य हो चुके है, स्तुति और निन्दा मे जो सम है, ऐसे निष्पाप शुद्ध आत्मा मे रागद्वेप होना कदापि सम्भव नही है। और रागद्वेष न होने से उनको कर्मबन्धन कैसे हो सकता है? और कर्मबन्धन न होने से वे मुक्त-जीव फिर ससार मे आ ही कैसे सकते है?

'अपने तीर्थ (सघ) की पूजा और तिरस्कार देखने से मुक्त जीव को कर्मबन्धन होता है,' यह कथन ही असगत है। मान लो, उन मुक्त जीवो के भूतपूर्व सघ की उन्नति अथवा अवनति हो रही हो तो वे तथाकथित मुक्तजीव कैसे रोक सकेंगे? कोई दूसरा किसी के कर्मों का क्षय या उपचय कैसे कर सकेगा? जब तक उन-उन जीवो (सघ के सदस्यो) मे स्वय कर्मक्षय करने, कर्मरोध करने की रुचि एव

१ गीता मे भी कहा है—'तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी, सन्तुष्टो येन केन चित् ॥'

तडफन नही होगी, तब तक कर्मक्षय न होने से शुद्धि नही हो सकेगी, शुद्धि के विना मोक्ष नही हो सकता। अत यह मत ही युक्तिसगत नही है।

पुढो पावाउया सव्वे अक्खायारो सय सय—यहा एक शका होती है कि जब वे अन्यतीर्थी कार्यकारणभाव से अनभिज्ञ है तब वे चुप क्यो नही बैठते ? इसके उत्तर मे स्वय शास्त्रकार इस पक्ति को प्रस्तुत करते है—'पुढो पावाउया सव्वे ' वे सब मतवादी इस प्रकार की ऊटपटांग बकवास करने वाले है, प्रावादुक (अधिक बोलने वाले = वाचाल) है। तथा वे अपने-अपने सिद्धान्तो की सत्यता की डींग हाँकते है, अपने-अपने सिद्धान्त का अतिशयोक्तिपूर्ण बखान करते हैं। इससे यह भी प्रतीत होता है कि वे शुभ अनुष्ठान मे रत नही रहते।

अब आगामी गाथा मे शास्त्रकार उन मतवादियो की एक अपने-अपन मत के अनुसार अनुष्ठान करने से मोक्षप्राप्ति की मान्यता का दिग्दर्शन कराते हैं—

मूल पाठ

सए सए उवट्ठाणे सिद्धिमेव न अन्नहा ।
अहो इहेव वसवत्ती सव्वकामसमप्पिए ॥१४॥

सस्कृत छाया

स्वके स्वके उपस्थाने सिद्धिमेव नान्यथा ।
अथ इहैव वशवर्ती सर्वकामसमर्पित ॥१४॥

अन्वयार्थ

(सए सए) अपने-अपने (उवट्ठाण एव) अनुष्ठान मे ही (सिद्धि) सिद्धि= मुक्ति होती है, (न अन्नहा) अन्यथा नही होती। (अहो) मोक्षप्राप्ति से पूर्व (इहेव) इसी लोक—जन्म मे ही (वसवत्ती) जितन्द्रिय हो, अथवा हमारे मत के अधीन हो, वह (सव्वकामसमप्पिए) सर्वकामनाओ से सम्पन्न – परिपूर्ण होता है।

भावार्थ

विभिन्न मतवादियो का कथन है कि अपने-अपने मत मे प्ररूपित अनुष्ठानो से ही मनुष्य सिद्धि—मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, इसके सिवाय अन्य किसी प्रकार से नही। मोक्षप्राप्ति से पूर्व मनुष्य को जितेन्द्रिय या दीक्षागुरु के अनुशासन मे रहना चाहिए, ऐसे व्यक्ति की सभी कामनाएँ पूर्ण होती है।

व्याख्या

अपने-अपने अनुष्ठान से ही मुक्ति एक विश्लेषण

इस गाथा मे शास्त्रकार ने अनेक मतवादियों की मनोवृत्ति का परिचय दिया है, जो अपने-अपने मत का एकान्त आग्रह रखते है और आम जनता को आकर्षित करने के लिए प्राय यही कहा करते हैं—'हमारे मत की शरण मे आने से, हमारे मत के अनुयायी बनने से या हमारे मत मे प्रतिपादित अनुष्ठान करने से, अथवा हमारे मत के गुरुओ की चरण-सेवा से अथवा हमारे मत की दीक्षा ग्रहण करने से मनुष्य सिद्धि—मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्य प्रकार से नही। आशय को व्यक्त करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'सए सए उवट्ठाणे सिद्धिमेव न अन्नहा।' तात्पर्य यह है कि कृतवादी शैव[1] कहते हैं—हमारे मत मे दीक्षा ग्रहण करने और गुरु-चरणो की सेवा करने से ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है। साख्यमतवादी[2] एकदण्डी लोग पच्चीस तत्त्वो के ज्ञान से मुक्ति बताते हैं। आत्मा के बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और सस्कार, इन नौ गुणो का अत्यन्त उच्छेद करके आत्मा का अपने शुद्ध रूप मे लीन हो जाना मोक्ष है, यह वैशेषिक मानते है।[3] वेदान्तदर्शनी कहते है—'ध्यान, अध्ययन और समाधिमार्ग के अनुष्ठान से ही सिद्धि होती है।' बौद्धमतवादी कहते हे—'सब कुछ क्षणिक है, सभी कुछ हेय है, सभी कुछ दु खमय है, सब कुछ शून्य है, ऐसी भावना करने वालो को मोक्ष—निर्वाण प्राप्त होता है।' योगमतवादी कहते है—'हमारे शास्त्रानुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अनुष्ठान—आचरण करने से मुक्ति प्राप्त होती हे।' इसी तरह दूसरे दार्शनिक भी अपने-अपने दर्शन से मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं। तथा वे कहते है—समस्तद्वन्द्वनिवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति से पूर्व हमारे दर्शन के अनुसार अनुष्ठान करने से इसी जन्म मे ऐश्वर्यसूचक अष्टसिद्धियाँ[4] प्राप्त हो जाती हैं। वे अष्टसिद्धियाँ इस प्रकार है—अणिमा, महिमा,

---

१ 'दीक्षात एव मोक्ष'

२ 'पचविंशति तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रत।
जटी मुडी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र सशय॥'

३ 'नवानामात्मगुणानामुच्छेद मोक्ष' —प्रशस्तपादभाष्य

४ योगाभ्यास के प्रभाव से योगियो को आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती है। वे इस प्रकार है—
अणिमा, महिमा चैव गरिमा, लघिमा तथा।
प्राप्ति प्राकाम्यमीशित्व वशित्व चाष्टसिद्धय॥

गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। इसी बात को शास्त्रकार बताते हैं—'अहो इहेव वसवत्ती सव्वकामसमप्पिए' आशय यह है कि मोक्ष मे पूर्व इसी जन्म या लोक मे जो पुरुप अपने वश मे रहता है या जो इन्द्रियो के वश मे नही है, जो सासारिक स्वभाव से अभिभूत नही होता है, वह सर्वकामनाओ की सिद्धि से सम्पन्न हो जाता है; अर्थात् सभी कामनाएँ उसके चरणो मे समर्पित हो जाती हैं।

इस प्रकार अन्यदर्शनी लोग अष्टसिद्धियो जैसी भौतिक विभूतियो का प्रलोभन देकर लोगो को अपने मत की ओर आकृष्ट करते है। वास्तव मे वे स्वय ऐसी भौतिक सिद्धियो के चक्कर मे उलझकर आडम्बरप्रिय बन जाते हैं। इससे मुक्ति तो दूरातिदूर हो जाती है, केवल ससार के जन्ममरण के चक्र मे ही वे पड़े रहते है। अपनी इसी प्रकार की सिद्धि के बल पर वे दूसरो को कैसे अपने वाग्जाल मे फँसाते है, इस बात को शास्त्रकार अगली गाथा मे बताते हैं—

मूल

सिद्धा य ते अरोगा य, इहमेगेसिमाहियं।
सिद्धिमेव पुरोकाउ, सासए गढिया नरा ॥१५॥

सस्कृत छाया

सिद्धाश्च तेऽरोगाश्च, इहैकेषामाख्यातम्।
सिद्धिमेव पुरस्कृत्य, स्वाऽऽशये ग्रथिता नरा ॥१५॥

अन्वयार्थ

(इह) इस ससार मे (एगेसि) कुछ मतवादियो का (आहिय) कथन है कि (सिद्धा) जो हमारे मतानुसार अनुष्ठान से सिद्ध हुए है, रससिद्ध बन गये हैं, या अष्टसिद्धिप्राप्त हो चुके है, (ते) वे (अरोगा य) नीरोग—स्वस्थ हो जाते हैं। परन्तु (नरा) इस प्रकार कहने वाले वे लोग (सिद्धिमेव) स्वमत से प्राप्त ऐसी सिद्धि को ही (पुरोकाउ) आगे रखकर (सासए) अपने-अपने आशय (मत—अभिप्राय या दर्शन) मे (गढिया) ग्रस्त—आसक्त हैं।

भावार्थ

इस लोक मे कई मतवादियो (रससिद्धिवादियो या अष्टसिद्धिवादियो) का कथन है कि हमारे मतोक्त अनुष्ठान से जिन्होने सिद्धि (रसायनसिद्धि या अष्टसिद्धि) प्राप्त कर ली है, वे सिद्ध और नीरोग (शरीर और मन से

स्वस्थ) होते है। परन्तु इस प्रकार के मताग्रही वे लोग ऐसी सिद्धि का ही मुख्यरूप से प्रतिपादन करके अपने-अपने आशय (मत) मे आसक्त है।

व्याख्या

स्वमतानुसारी सिद्धि मे आसक्त सिद्धिवादी

'इहमेगेसिमाहिय'—पूर्वगाथा मे जिस भौतिक सिद्धि के प्ररूपको का मत दिया गया है, उसी प्रसग को लेकर शास्त्रकार इस गाथा मे उन सिद्धिवादियो की प्ररूपणा की पद्धति बना रहे है। इसलिए उन्होने कहा **'इहमेगेसिमाहिय'**—इस ससार मे कुछ लोग इस प्रकार की प्ररूपणा करते हे। 'कुछ लोगो से' शास्त्रकार का सकेत उन लोगो से है, जो या तो पूर्वोक्त भौतिक अष्टसिद्धियो को प्राप्त कर लेने मात्र से सिद्धि मानते है या रसायनशास्त्र मे पारगत होने से रससिद्धि (पारद या स्वर्ण की सिद्धि) प्राप्त हो जाती है, ऐसा मानते हैं। इसीलिए कहा है– **'सिद्धा य ते अरोगा य'** तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त सिद्धिवादी अन्यदर्शनी कहते हे कि हमारे दर्शन मे बतायी हुई विधि के अनुसार अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति को इसी जन्म मे ऐश्वर्यसूचक अष्टविध सिद्धि प्राप्त होती है और इसी जन्म के बाद सम्पूर्ण द्वन्द्वनिवृत्तिरूप मुक्ति प्राप्त होती है।

उनके कथन का आशय यह प्रतीत होता है कि हमारे मतानुसार अनुष्ठान करके व्यक्ति इस जन्म मे अष्टविध सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसके साथ ही रसायनसिद्धि भी पा लेता हे, जिसके फलस्वरूप उसका शरीर यहाँ पूर्ण आरोग्य-सम्पन्न रहता हे। **'अरोगा'** और **'सिद्धा'** के बाद **'य'** शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है, उसका अभिप्राय यह हे कि पूर्वोक्त लौकिक सिद्धिप्राप्त व्यक्ति ही पारलौकिक सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करते है और पूर्वोक्त लौकिक आरोग्य-प्राप्त व्यक्ति ही यहाँ से विशिष्ट समाधियोगपूर्वक शरीर छोडकर पारलौकिक आरोग्य प्राप्त करते है। यानी शारीरिक-मानसिक समस्त दु खो, रोगो और द्वन्द्वो से रहित पूर्ण नीरोग हो जाते है। उन्हे फिर किसी प्रकार के दु ख का स्पर्श नही होता। इस प्रकार वे शैव आदि दार्शनिक अपनी सिद्धि का बखान करते है।

'सिद्धिमेव पुरोकाउ'—वे तथाकथित सिद्धिवादी इतना ही करके नही रह जाते। वे लोग अपने कार्य-कारणभाव से रहित कपोलकल्पित मान्यता को भोले लोगो के दिमाग मे भरने के लिए अपने पूर्वोक्त युक्तिविरुद्ध मत मे आसक्त होकर तथाकथित सिद्धि को ही आगे रखकर उसे ही सिद्ध करने के लिए नाना प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत करते है। चाहे उनकी युक्तियाँ विविध प्रमाणो से खण्डित हो जाती हो, फिर भी वे अपनी युक्तियो मे खीचतान करके इहलौकिक और पारलौकिक

सिद्धि का कार्य-कारणभाव सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। मतमोह कितना प्रबल होता है यह इस बात से प्रमाणित होता है। क्योकि अष्टसिद्धियाँ तो पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त होती है, उनका अष्टकर्मो के सर्वथा क्षय से प्राप्त होने वाली सिद्धि (मुक्ति) से कोई सम्बन्ध नही है। वह अष्टविधसिद्धि मुक्तिरूपसिद्धि का कारण नही बन सकती। और न ही भौतिक आरोग्य प्राप्त करने से लोकोत्तर नीरोगता—समस्त दु ख-द्वन्द्वो से रहित होने की स्थिति प्राप्त होती है। बल्कि भौतिक अष्टसिद्धियो से या रसायनसिद्धि से कई बार मनुष्य ऋद्धि, रस और साता के गर्व मे या लाभमद मे आसक्त होकर नये अशुभकर्मो का बन्ध कर लेता है, साथ ही अपनी अज्ञानदशा को छिपाने के लिए वह माया और मान कषाय का सेवन करता है, एव मत के मिथ्याआग्रहरूप मिथ्यात्व से ग्रस्त हो जाता है, इन कषाय और मिथ्यात्व के फलस्वरूप घोर अशुभकर्मबन्ध कर लेता है।

इसी बात को इस तृतीय उद्देशक का उपसहार करते हुए शास्त्रकार अगली गाथा मे कहते हैं—

मूल पाठ

असवुडा अणादीय भमिहिंति पुणो पुणो।
कप्पकालमुवज्जति ठाणा आसुरकिब्बिसिया ॥१६॥

सस्कृत छाया

असवृता अनादिक भ्रमिष्यन्ति पुन पुन।
कल्पकालमुत्पद्यन्ते स्थाना आसुरकिल्विषिका ॥१६॥

अन्वयार्थ

(असवुडा) इन्द्रियसयम से रहित असयमी वे अन्यदर्शनी (अणादीय) अनादि—आदिरहित ससार मे (पुणो पुणो) बार-बार (भमिहिंति) भ्रमण करेंगे। तथा (कप्पकाल) कल्पकालपर्यन्त चिरकाल तक, (ठाणा आसुरकिब्बिसिया) असुर (भुवनपति देव के) स्थानो मे किल्विषी देवरूप मे (उवज्जति) वे उत्पन्न होते है।

भावार्थ

मन और इन्द्रियो पर सयम मे रहित वे पूर्वोक्त मतवादी लोग इस अनादि ससार मे बार-बार भ्रमण करते रहेगे। तथा बालतप के प्रभाव से वे दीर्घकाल तक असुर (भुवनपति देवो के) स्थानो मे किल्विषी (नीच-जातीय) देव के रूप मे पैदा होते है।

व्याख्या

ह्री सिद्धिवादियो का भविष्य अन्धकारपूर्ण

पूर्वोक्त गाथाओ मे जिन सिद्धिवादी शैवो आदि मताग्रहियो का निरूपण किया है, उनका भविष्य उनकी उक्त करणी के फलस्वरूप कितना अन्धकारमय हो जाता है इस बात को सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् महावीर अपने ज्ञान मे देखकर इस गाथा मे बताते है—'असबुडा अणादीय भमिर्हिति पुणो पुणो'। इसका आशय यह है कि पूर्वोक्त सिद्धिवादी दार्शनिक सिर्फ अष्टसिद्धियो से मुक्तिरूप सिद्धि मानते हैं, उनके मतानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि वे इन भौतिक उपलब्धियो (सिद्धियो) के चक्कर मे पडकर अपने को पूर्ण मान बैठते है। इससे आगे की आध्यात्मिक उन्नति को पूर्णविराम लग जाता है। वे फिर इन्द्रियो और मन पर सयम करने या कषायो पर विजय पाने की आवश्यकता महसूस नही करते। अपने मन और इन्द्रिया को खुली छोडकर वे कुछ हठयोग की क्रियाएँ कर लेते है, अज्ञानपूर्वक कुछ कठोर तप भी कर लेते हैं।

पहले तो इन्द्रियो और मन की तथा कषायो की प्रवृत्तियो को उन्मुक्तरूप से करने से उन्हे शरीर छोडने के बाद मुक्ति तो मिलती नही, उलटे कषाय और प्रमाद के फलस्वरूप तथा अपने मतीय मिथ्याग्रहरूप मिथ्यात्व के फलस्वरूप घोर कर्मबन्ध होने से बार-बार मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गतियो मे जन्म-मरण करते हुए भटकना पडता है। क्योकि कोरे ज्ञान बघारने से या ऊटपटाँग क्रियाएँ कर लेने से या अपने मिथ्यामत का धुँआधार प्रचार करने मात्र से समस्त दु खनिवृत्तिरूप मुक्ति प्राप्त नही होती। वे मताग्रही लोग प्राय यही समझते है कि हमे तो इस लोक मे भी लाभ है, और परलोक मे भी। हमारे तो दोनो हाथो मे लड्डू है। यहाँ हमे किसी प्रकार का इन्द्रियो या मन पर सयम नही करना पडता, सभी प्रकार के विषयोपभोग की खुली छूट मिली हुई है और परलोक मे हमे मुक्ति (सिद्धि) प्राप्त होने की गारटी मिल ही चुकी है। किन्तु यह बात निश्चित है कि जब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र (इन्द्रियमन सयम, कषायविजय, हिंसादित्याग आदि) की साधना नही की जाएगी, तब तक सिद्धि (मुक्ति) कोसो दूर रहेगी। बल्कि वे अज्ञान, मिथ्यात्व, प्रमाद, विषय-कषाय तथा अविरति के चक्र मे फँसे होने पर भी अपने को ज्ञानी, क्रियाकाण्डी, तपोधनी एव मुक्तिदाता मानकर भोले जीवो को वाग्जाल मे फँसाने के कारण अनादिससाररूप घोर अटवी मे लगातार परिभ्रमण करते रहेगे, उन्हे चिरकाल तक मुक्ति का द्वार या तट नही मिलेगा। वे अष्ट प्रकार की इहलौकिक सिद्धियो का भोली-भाली जनता को जो सब्जबाग दिखाते हैं, वह तो

गूढमाया के कारण कुगति का कारण बनता है। हाँ, बीच-बीच मे वे जो कुछ हठयौगिक क्रियाएँ करते है, या अज्ञानपूर्वक कष्ट सहते हैं अथवा तप करते है, उसके फलस्वरूप उन्हे स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है, पर वहां भी उन्हे असुरकुमारो मे और वह भी अत्यन्त निम्नकोटि के किल्वषीदेवो मे स्थान मिलता है। किल्विषीदेव अत्यन्त अल्पऋद्धि, अल्पशक्ति और अल्पआयु वाले अधम प्रेत्यभूत (दास या नौकर के समान) देव होते हैं, वे प्रधान देव नही होते। इसी बात को द्योतित करने के लिए शास्त्रकार कहते है—'कप्पकालमुवज्जंति ठाणा आसुरकिब्बिसिया।'

(त्ति बेमि) इति ब्रवीमि, शब्द का विवेचन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। इति शब्द तृतीय उद्देशक की समाप्ति के लिए है।

इस प्रकार सूत्रकृताग सूत्र के प्रथम अध्ययन का तृतीय उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्यासहित पूर्ण हुआ।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

❀

प्रथम अध्ययन · चतुर्थ उद्दे

(स्व-पर-समयवक्तव्यता)

तृतीय उद्देशक में अन्यतीर्थियो द्वारा प्ररूपित मिथ्याग्रहरूप विचारधारा एव आचारपद्धति का विभिन्न पहलुओ से विवेचन किया गया है। इस चतुर्थ उद्देशक मे भी तथाकथित अन्यतीर्थियो की आचार-विचार-धारा का विवेचन करते हुए निर्ग्रन्थ श्रमण के कर्तव्यो का सक्षेप मे निर्देश किया गया है। साथ ही प्रथम अध्ययन के प्रारम्भ मे बोध प्राप्त करने और बधन तोडने का तथा बधन के स्वरूप जानने का जो महत्वपूर्ण मार्गनिर्देश किया गया है, उसी के सन्दर्भ मे इस चतुर्थ उद्देशक मे भी विभिन्न अन्यमतवादियो की विचारधारा की भली-भाँति जानकारी तथा उनमे जो कर्मबन्धनहेतुभूत विचार या आचार है, उन्हे छोडने और कर्मबन्धन को काटने मे कारणभूत जो विचार-आचारधारा है, उसे स्वीकार करने का कर्तव्यबोध कूट-कूट कर भरा है। अत अध्ययन के नाम के अनुरूप इस उद्देशक मे भी स्व-पर-समय का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम अन्यतीर्थिक तथाकथित सन्यासियो का गृहस्थ के सावद्य कर्मो के उपदेशरूप शिथिलाचारधारा का विवेचन करते हुए शास्त्रकार कहते है—

मूल पाठ

एए जिया भो न सरणं, बाला पडियमाणिणो।
हिच्चा ण पुव्वसंजोग, सिया किच्चोवएसगा ॥१॥

सस्कृत छाया

एते जिता भो ! न शरण बाला पण्डितमानिनो ।
हित्वा तु पूर्वसयोग, सिता कृत्योपदेशका ॥१॥

अन्वयार्थ

(भो) हे शिष्यो ! (एते) ये पूर्वोक्त अन्यतीर्थी (जिया) काम-क्रोध आदि से जीते जा चुके (पराजित) है अत (न सरग) शरण लेने योग्य नही है, अथवा

स्वशिष्यो की आत्मरक्षा करने मे समर्थ नही है। (बाला) क्योंकि ये स्वय अज्ञानी हैं—मुक्ति के वास्तविक पथ से अनभिज्ञ है, (पडियमाणिणो) तत्त्वज्ञान से रहित होने पर भी अपने आपको पण्डित—तत्त्वज्ञ मानते है। (पुव्वसजोग हिच्चा) ये लोग अपने बन्धुबान्धव, धनसम्पत्ति, गृहस्थ के आरम्भसमारम्भयुक्त कार्यो का पूर्वसम्बन्ध (पूर्वपरिग्रह) छोडकर भी (सिया) अन्य आरम्भ-परिग्रह मे आसक्त है, अथवा पुन प्रबल मोहपाश मे बँध गये है। (किच्चोवएसगा) क्योकि ये लोग गृहस्थ के सावद्य-कृत्यो का उपदेश देते है।

भावार्थ

ये अन्यदर्शनी लोग काम-क्रोध आदि से बुरी तरह पराजित है, अत शिष्यो ! ये लोग शरण के योग्य नही है, क्योकि ये न तो अपनी आत्मरक्षा कर सकते है, और न दूसरो की रक्षा करने मे समर्थ है। ये लोग स्वय अज्ञानी है, तत्त्वज्ञानशून्य होने पर भी अपने आपको ये पण्डित मानते है। ये अपने बन्धुबान्धव, धनसम्पत्ति या गृहस्थयोग्य आरम्भ परिग्रह से सम्बन्ध त्याग करके भी गृहस्थ के आरम्भ-परिग्रहयुक्त सावद्यकृत्यो का उपदेश देते है।

व्याख्या

पूर्वसयोगत्यागी भी सावद्योपदेशक होने से अशरण्य हैं

इस गाथा मे शास्त्रकार उन गृहत्यागियो को आडे हाथो ले रहे है, जो घरबार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, आरम्भ-समारम्भ आदि पूर्व-गृहसम्बद्ध सयोगो को सर्वथा छोडछाडकर सन्यासी-त्यागी बन गये, फिर भी पुन उन्ही गृहस्थ के आरम्भ-परिग्रहसम्बद्ध सावद्यकृत्यो का उपदेश देते है। अर्थात् वे अन्यतीर्थी धनधान्य, बन्धुबान्धव, आरम्भपरिग्रह आदि पूर्वसम्बन्धो को छोडकर अपने आपको नि सग और प्रव्रजित कहते हुए मोक्ष के लिए उद्यत हुए हैं, लेकिन जिन सावद्यकृत्यो को उन्होने त्याज्य समझकर छोडा था, उन्ही का उपदेश अपने भक्तो को देने लगे। इसे पकाओ, इसे पीसो, कूटो, इसे तलो, भूनो, अथवा इस जमीन को ले लो, इस प्रकार व्यापार करके रुपये कमा लो, अपना यह विशाल मकान बनवा लो, इत्यादि रूप से उन गृहस्थो को समारम्भ, आरम्भ तथा परिग्रह-रूप सावद्य प्रवृत्तियो का उपदेश देते हैं। उनका यह कार्य 'आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास' के समान है। अत वे प्रव्रज्याधारी होते हुए भी गृहस्थो से भिन्न नही, अपितु उनके समान ही समस्त सावद्यव्यापारो के प्रवर्त्तक, अनुमोदक एव

प्रथम अ॰   न · चतुर्थ उद्दे

(स्व-पर-सम   व्यता)

तृतीय उद्दशक मे अन्यतीर्थियो द्वारा प्ररूपित मिथ्याग्रहरूप विचारधारा एव आचारपद्धति का विभिन्न पहलुओ से विवेचन किया गया है। इस चतुर्थ उद्देशक मे भी तथाकथित अन्यतीर्थियो की आचार-विचार-धारा का विवेचन करते हुए निर्ग्रन्थ श्रमण के कर्तव्यो का सक्षेप मे निर्देश किया गया है। साथ ही प्रथम अध्ययन के प्रारम्भ मे बोध प्राप्त करने और बधन तोडने का तथा बधन के स्वरूप जानने का जो महत्वपूर्ण मार्गनिर्देश किया गया है, उसी के सन्दर्भ मे इस चतुर्थ उद्देशक मे भी विभिन्न अन्यमतवादियो की विचारधारा की भली-भाँति जानकारी तथा उनमे जो कर्मबन्धनहेतुभूत विचार या आचार है, उन्हे छोडने और कर्मबन्धन को काटने मे कारणभूत जो विचार-आचारधारा है, उसे स्वीकार करने का कर्तव्यबोध कूट-कूट कर भरा है। अत अध्ययन के नाम के अनुरूप इस उद्देशक मे भी स्व-पर-समय का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम अन्यतीर्थिक तथाकथित सन्यासियो का गृहस्थ के सावद्य कर्मो के उपदेशरूप शिथिलाचारधारा का विवेचन करते हुए शास्त्रकार कहते है—

मूल पाठ

एए जिया भो न सरणं, बाला पडियमाणिणो।
हिच्चा ण पुव्वसंजोग, सिया किच्चोवएसगा ॥१॥

स . छाया

एते जिता भो! न शरण वाला पण्डितमानिनो।
हित्वा तु पूर्वसयोग, सिता कृत्योपदेशका ॥१॥

अन्वयार्थ

(भो) हे शिष्यो! (एते) ये पूर्वोक्त अन्यतीर्थी (जिया) काम-क्रोध आदि से जीते जा चुके (पराजित) है अत (न सरण) शरण लेने योग्य नही है, अथवा

स्वशिष्यो की आत्मरक्षा करने मे समर्थ नही है। (बाला) क्योकि ये स्वय अज्ञानी हैं—मुक्ति के वास्तविक पथ से अनभिज्ञ है, (पडियमाणिणो) तत्त्वज्ञान मे रहित होने पर भी अपने आपको पण्डित—तत्त्वज्ञ मानते है। (पुव्वसजोग हिच्चा) ये लोग अपने बन्धुबान्धव, धनसम्पत्ति, गृहस्थ के आरम्भसमारम्भयुक्त कार्यो का पूर्वसम्बन्ध (पूर्वपरिग्रह) छोडकर भी (सिया) अन्य आरम्भ-परिग्रह मे आसक्त है, अथवा पुन प्रबल मोहपाश मे बँध गये है। (किच्चोवएसगा) क्योकि ये लोग गृहस्थ के सावद्य-कृत्यो का उपदेश देते है।

भावार्थ

ये अन्यदर्शनी लोग काम-क्रोध आदि से बुरी तरह पराजित है, अत शिष्यो ! ये लोग शरण के योग्य नही है, क्योकि ये न तो अपनी आत्मरक्षा कर सकते है, और न दूसरो की रक्षा करने मे समर्थ है। ये लोग स्वय अज्ञानी है, तत्त्वज्ञानशून्य होने पर भी अपने आपको ये पण्डित मानते है। ये अपने बन्धुबान्धव, धनसम्पत्ति या गृहस्थयोग्य आरम्भ परिग्रह से सम्बन्ध त्याग करके भी गृहस्थ के आरम्भ-परिग्रहयुक्त सावद्यकृत्यो का उपदेश देते है।

व्याख्या

पूर्वसयोगत्यागी भी सावद्योपदेशक होने से अशरण्य हैं

इस गाथा मे शास्त्रकार उन गृहत्यागियो को आडे हाथो ले रहे है, जो घरबार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, आरम्भ-समारम्भ आदि पूर्व-गृहसम्बद्ध सयोगो को सर्वथा छोडछाडकर सन्यासी-त्यागी बन गये, फिर भी पुन उन्ही गृहस्थ के आरम्भ-परिग्रहसम्बद्ध सावद्यकृत्यो का उपदेश देते है। अर्थात् वे अन्यतीर्थी धनधान्य, बन्धुबान्धव, आरम्भपरिग्रह आदि पूर्वसम्बन्धो को छोडकर अपने आपको नि सग और प्रव्रजित कहते हुए मोक्ष के लिए उद्यत हुए हैं, लेकिन जिन सावद्यकृत्यो को उन्होने त्याज्य समझकर छोडा था, उन्ही का उपदेश अपने भक्तो को देने लगे। इसे पकाओ, इसे पीसो, कूटो, इसे तलो, भूनो, अथवा इस जमीन को ले लो, इस प्रकार व्यापार करके रुपये कमा लो, अपना यह विशाल मकान बनवा लो, इत्यादि रूप से उन गृहस्था को समारम्भ, आरम्भ तथा परिग्रह-रूप सावद्य प्रवृत्तियो का उपदेश देते है। उनका यह कार्य 'आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास' के समान है। अत वे प्रव्रज्याधारी होते हुए भी गृहस्थो से भिन्न नही, अपितु उनके समान ही समस्त सावद्यव्यापारो के प्रवर्त्तक, अनुमोदक एव

प्रेरक है। मनुस्मृति के अनुसार ऐसे परिव्राजक गृहस्थ के पचशूना[1] (हिंसोत्पादक स्थान) के व्यापार से युक्त है। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—हिच्चा ण पुव्वसजोग, सिया किच्चोवएसगा।

'किच्चोवएसगा' शब्द कृत्य और उपदेशक दो शब्दो से बना है। कृत्य का अर्थ है—कार्य—सावद्य अनुष्ठान। यह सावद्य अनुष्ठान प्रधानतया गृहस्थ करते हैं, इसलिए कृत्य का उपलक्षण से गृहस्थ अर्थ भी होता है। गृहस्थो के सावद्य कृत्यो के उपदेशक 'किच्चोवएसगा' कहलाते है। 'सिया' का अर्थ सित या श्रित होता है, अर्थात् आरम्भ-परिग्रह मे आसक्त, अथवा प्रबल मोहपाश मे बद्ध—यह अर्थ भी होता है।

प्रश्न होता है, ऐसा वे क्यो करते है ? किन कुसस्कारो से प्रेरित होकर वे ऐसा करते हैं ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं—'एए जिया पडियमाणिणो।' आशय यह है कि उन अन्यतीर्थिक लोगो ने गृहत्याग करके प्रव्रज्या तो ले ली, किन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान आदि विकारो को जीत नही सके। उनके कुसस्कार प्रबलरूप से उनमे विद्यमान है, उन्होने वेष बदला है, जीवन अभी तक नही । बाना तो बदल लिया, लेकिन अपनी बान (आदत) नही बदली।

दूसरा कारण यह है कि वे स्वय अभी बाल हैं। जैसे सत्-असत् का विवेक न होने के कारण जो मन मे आये सो कह देते है, वैसे ही ये अन्यतीर्थिक तथाकथित परिव्राजक भी यथार्थ मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ है, इन्हे बालकवत् कहने-करने का भान नही है। साथ ही वे तत्त्वज्ञान से रहित होते हुए भी अपने आपको तत्त्वज्ञ एव पण्डित मानते है। प्राय कई अन्यतीर्थी गृहत्यागी का वेष पहनते ही अपने आपको धुरधर विद्वान्, उपदेशक और मोक्षपथिक मान बैठते है। परन्तु वैसी योग्यता के अभाव मे वे अपना बहुत अधिक मूल्याकन कर लेते है। इसीलिए किसी-किसी प्रति मे 'जत्थ बालेऽवसीयइ' पाठ भी मिलता है। उसका भावार्थ यह है कि जिस अज्ञान मे पडकर अज्ञजीव दु खित होते है, उसी अज्ञान मे ये अन्यतीर्थी वेषधारक पडे है। 'भो न सरण'—सुधर्मास्वामी अपने शिष्यो को भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित बो को दोहराते है—'भो' हे शिष्यो ! 'न सरण' ऐसे

१ पंचशूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्कर ।
कुण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यन्ते यास्तु वाहयन् ॥
—गृहस्थ के घर मे पाँच कसाईखाने (हिसा के उत्पत्तिस्थान) होते हैं जिन्हे निभाता हुआ वह हिंसा मे प्रवृत्त होता है। वे पाँच है—चूल्हा, चक्की, झाडू, ऊखली और पानी का स्थान।

अन्यतीर्थी तथाकथित वेषधारक शरण्य—शरण के योग्य नही है, अथवा ये स्वय अपना त्राण नही कर सकते हैं, इसलिए दूसरो को आत्मा की रक्षा भी करने मे समर्थ नही हैं।

साराश यह है कि परिव्राजक जीवन अगीकार करके पुन गृहस्थ के सावद्य-कार्यो की प्रेरणा करने वाले वे लोग मोहबन्धन से बद्ध होने के कारण शीघ्र बन्धन-मुक्त नही हो पाते।

ऐसे तथाकथित परिव्राजक के साथ सुविहित साधु को कैसा व्यवहार रखना चाहिए इस सम्बन्ध मे अगली गाथा शास्त्रकार प्रस्तुत करते है—

मूल

त च भिक्खू परिन्नाय, विय तेसु ण मुच्छए।
अणुक्कसे अप्पलीणे मज्झेण मुणि जावए ॥२॥

सस्कृत छाया

तच्च भिक्षुः परिज्ञाय, विद्वास्तेषु न मूर्च्छेत्।
अनुत्कर्षोऽप्रलीनो, मध्येन मुनिर्यापयेत् ॥२॥

अन्वयार्थ

(विय भिक्खू) विद्वान् निर्ग्रन्थभिक्षु (त च) उन अन्यतीर्थिको को (परिन्नाय) भलीभाँति जानकर (तेसु ण मुच्छए) उनमे मूर्च्छा (आसक्ति—ममता) न करे। (मुणि) अपितु वस्तुस्वभाव का मनन करने वाला मुनि (अणुक्कसे) किसी प्रकार का मद न करता हुआ, (अप्पलीणे) उन वैचारिक एव आचारिक दृष्टि से शिथिल, प्रमत्त तथाकथित साधुओ के साथ अतिसम्पर्क न रखते हुए (मज्झेण) मध्यस्थभाव से (जावए) अपने सयम का निर्वाह करे।

भावार्थ

विद्वान् भिक्षु पूर्वोक्त प्रकार के विचार-आचार मे शिथिल, अन्य-तीर्थिको को जानकर उनके प्रति मूर्च्छित—आसक्त न हो। तथा किसी प्रकार का मद न करता हुआ, उनके साथ ससर्गरहित होकर मध्यस्थवृत्ति से रहकर सयमी जीवन यापन करे।

व्याख्या

ऐसे वेषधारी से अनासक्त असंग होकर रहे

इस गाथा मे सुविहित निर्ग्रन्थभिक्षु के लिए भगवान् महावीर का उपदेश—निर्देश है कि साधु ऐसे ढोंगी एव वेषधारी प्रव्रजित के साथ अवसर आने पर मध्यस्थ रहे, न तो सर्वथा रूक्ष या उपेक्षक रहे और न ही उसके साथ तादात्म्यभाव रखे, न मूर्च्छा-ममता रखे। बल्कि अनासक्त-सा, ससर्गरहित होकर रहे, अपने सयमी जीवन को निभाए।

परन्तु इस बोध के साथ ही शास्त्रकार ने दो खतरो से सावधान रहने का निर्देश ऐसे सयमी सुसाधु को किया है—'अणुक्कसे परिन्नाय'—अर्थात् वह भिक्षु पहले उन तथाकथित अन्यतीर्थिको को देखते ही न भडक उठे, उनका नाम सुनते ही रोष से वह आगबबूला न हो जाय, उनका साक्षात्कार होते ही वह पूर्वाग्रहवश उनके प्रति सहसा गलत धारणा न बना ले, उनके प्रति अन्यतीर्थी होने के कारण ही सहसा दोषारोपण न करे, उनके विचार-आचार को जाने बिना उन पर एकदम बरस न पडे। ऐसे किसी भी अन्यतीर्थिक साधु से वास्ता पडने पर सर्वप्रथम उनसे मिले, उनके विचार-आचार के भलीभाँति जाने, उन्हे देखे परखे, तभी उनके साथ व्यवहार करने का निर्णय करे। इसीलिए यहाँ शास्त्रकार ने 'परिन्नाय' शब्द दिया है, जिसका अर्थ होता है ज्ञ-परिज्ञा से सर्वप्रथम उन्हे भलीभाँति जान ले—परख ले। अकसर ऐसा होता है कि अन्यतीर्थी लोगो मे भी अम्बड परिव्राजक जैसे भव्य महान् एव सरलात्मा मिल जाते हैं, जो विद्वान्, विचारक, अनाग्रही, तटस्थ एव सम्यग्दर्शन के अभिमुख होते है। इसीलिए तो अतीर्थसिद्धा और अन्यलिंगसिद्धा कहकर वीतरागप्रभु ने अन्यतीर्थ (धर्मसघ एव अन्य साधुवेष) मे भी मुक्त होने का विधान किया है। अत पहले उन्हे भलीभाँति देखने-परखने के बाद ही उनके साथ व्यवहार का निर्णय करे।

दूसरा विशेषण है—'अणुक्कसे'। इसका अर्थ है मान लो, किसी साधु का अपना आचार-विचार उच्च है, वह वास्तव मे इन्द्रिय, मन पर सयम एव कषाय-विजय की साधना मे जी-जान से जुटा हुआ है, उच्च जाति-कुल का है, और वह किसी साधु मे कुछ शिथिल आचार देखता है, तो वह अपने उच्च आचार-विचार की, उच्च क्रियाकाण्ड की डीग न हाँके, मिथ्याभिमान से अपने आपको ऊँचा या बडा कहने का प्रयत्न न करे, न ही दूसरो की निन्दा, बदनामी या नीचा दिखाने की वृत्ति से प्रेरित होकर कोई व्यवहार करे। दूसरो की निन्दा या बदनामी पर अपने आचार-विचार का सिंहासन ऊँचा जमाने का प्रयत्न न करे। न अन्य आचारवान

को हीन कुल-जाति का होने से तिरस्कृत करे। अगर कोई व्यक्ति सरलतापूर्वक अपने आचारशैथिल्य का कारण बताकर स्वीकार करता है तो सिर्फ अन्यतीर्थी होने के कारण उसे बदनाम करके, अपनी बडाई करके उच्च आचारी होने की प्रगल्भता न करे। इसीलिए कहा है कि ऐसे समय मे अनुत्कर्ष से मुक्त रहे। जाति, कुल, आचार, शास्त्रज्ञान आदि के मद से दूर रहे। यानी किसी अन्यतीर्थी के साथ उक्त साधु का व्यवहार बहुत ही नम्रता, कोमलता, सरलता और क्षमा का होना चाहिए तभी तो वह उसे सत्पथ पर ला सकता है। यदि आचारशैथिल्य देखते ही भडक उठेगा, उसे बदनाम करने लगेगा, उससे रूखा व्यवहार करके उपेक्षापूर्वक दुरदुराने लगेगा, तो वह उसे सुधार तो सकेगा ही नही, उलटे दोनो ओर से तीव्रकषायवश कर्मबन्धन होगा। इसीलिए भगवान् महावीर ने नवीन कर्मबन्धन न हो, पुराने बद्धकर्म टूटे, इसी उद्देश्य से अन्यतीर्थिक साधुओ के साथ व्यवहार के लिए यह बोध-सूत्र दे दिया है।

साथ ही अन्यतीर्थिक साधु को भलीभाँति जान-परख लेने के बाद यदि ऐसा प्रतीत होता है कि वह गन्दे विचार का है, मिथ्यामूढमान्यताओ से युक्त है, उसके मन मे द्वेष और रोष है, तथा उसका आचार भी अत्यन्त निकृष्ट है, इतना ही नही, उसमे किसी प्रकार की सरलता नही है, मिथ्याभिमान का पुतला है, तो उसके विषय मे निम्नोक्त सावधानी बरतने की शास्त्रकार ने हिदायत दी हैं—(१) विय तेसु ण मुच्छए, (२) अप्पलीणे, (३) मज्झेण मुणि जावए। आशय यह है कि ऐसे विचार-आचार से हीन तथाकथित परिव्राजको के प्रति किसी प्रकार की ममता या आसक्ति न रखे, उनके साथ ससर्ग, अतिपरिचय, या अतिसम्पर्क न रखे, तथा मध्यस्थभाव से वस्तुस्वरूप का विचार करके व्यवहार करे।

आशय यह है कि तीन लोक के तत्त्व को जानने वाला मुनि आठ प्रकार के मदस्थानो मे से किसी भी प्रकार का मद न करता हुआ तथाकथित परतीर्थी पाशस्थ आदि के साथ ससर्गरहित होकर व्यवहार करे। परतीर्थी आदि के साथ यदि कदाचित वास्ता पड जाय तो साधु अहकाररहित होकर, भाव से उनके साथ ससर्ग न रखता हुआ, आत्मप्रशसा एव उनकी निन्दा न करता हुआ रागद्वेषरहित होकर सयमी जीवन यापन करे।

अब शास्त्रकार अगली गाथा मे आरम्भ-परिग्रहवादी अन्यतीर्थिको के मत का परिचय देते हुए निर्ग्रन्थभिक्षु को आरम्भ-परिग्रहरहित महान् आत्माओ की शरण ग्रहण करने का कर्तव्यनिर्देश करते है—

मूल पाठ

सपरिग्गहा य सारभा, इहमेगेसिमाहिय ।
अपरिग्गहा अणारभा, भिक्खू ताण परिव्वए ।।३।।

स छाया

सपरिग्रहाश्च सारम्भा, इहैकेषामाख्यातम् ।
अपरिग्रहान् अनारम्भान् भिक्षुस्त्राण परिव्रजेत् ।।३।।

अन्वयार्थ

(सपरिग्गहा) परिग्रहधारी (य) और (सारभा) आरम्भ करने वाले जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं, यह (इह) मोक्ष के सम्बन्ध मे (एगेसि) कतिपय मतवादी (आहिय) कहते है। (भिक्खू) परन्तु भावभिक्षु निर्ग्रन्थमुनि (अपरिग्गहा अणारभा) निष्परिग्रही और अनारम्भी पुरुषो के (ताण) शरण मे (परिव्वए) जाए।

भावार्थ

इस जगत् मे आरम्भ-परिग्रहमतवादी कई अन्यतीर्थी कहते है कि परिग्रह रखने वाले जीव मोक्ष प्राप्त करते है। किन्तु निर्ग्रन्थ भावभिक्षु निष्परिग्रही एव अनारम्भी महात्माओ की शरण मे जाए।

व्याख्या

आरम्भ-परिग्रहवादियो का मोक्ष

इस गाथा मे एक ऐसे विचित्र मत का रहस्योद्घाटन कर रहे हैं, जिसका यह मन्तव्य है कि आरम्भ करने वाले और परिग्रह रखने वाले पुरुष ही मोक्ष प्राप्त करते है। इसके लिए दो शब्द शास्त्रकार ने प्रयुक्त किये है—सपरिग्गहा य सारभा। जो धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद (दास-दासी या चौपाये जानवर), मकान, जमीन-जायदाद, शरीर के सुखसाधन एव भोज्यसामग्री, एव स्त्री-पुत्र आदि रखते हैं, वे 'सपरिग्रह' कहलाते हैं। धन-धान्य आदि न होने पर भी जो शरीर और भडोपकरण आदि मे ममता-मूर्च्छा रखते है, वे प्रव्रज्याधारी भी परिग्रही है। जो षट्कायिक जीवो का सहार करने वाला व्यापार (कार्य) करते हैं, वे 'सारम्भ' कहलाते है। जो जीवो का विनाशजनक व्यापार (प्रवृत्ति) न करते हुए भी औद्देशिक आहार खाते है, वे प्रव्रजित भी सारम्भ कहलाते है। शास्त्रकार का सकेत मोक्ष के सम्बन्ध मे ऐसी विचारधारा वालो के प्रति है, जो यह मानते है कि आरम्भ-परिग्रह मे ग्रस्त प्रव्रजित भी मोक्ष प्राप्त कर सकते है।

प्राचीनकाल मे भारतवर्ष मे कुछ ऐसे सम्प्रदाय थे, जो पत्नीपुत्रसहित ऋषि-मुनि वन जाते थे, वे या तो जगलो मे रहते या फिर बस्ती मे रहते थे। जैनो के दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायो मे निर्ग्रन्थ श्रमण दीक्षा से भ्रष्ट होकर यति और भट्टारक बने जो आरम्भ-परिग्रह मे लिप्त रहने लगे। इसी प्रकार सन्यासियो एव परिव्राजको मे से भ्रष्ट होकर कुछ लोग 'महन्त' बन बैठे, जो बडी बडी जमीदारी तथा धन-सम्पत्ति के मालिक बन गये। यहाँ तक कि गुप्तरूप से स्त्री भी रखने लगे। उनके इतने ठाठबाट के साथ नौकर-चाकर तो जुट जाने स्वाभाविक ही थे। यति लोग भी राज्याश्रित होकर पालकी, छत्र, चँवर आदि ऐश्वर्यसामग्री का उपभोग करने लगे। भिक्षाचरी नाममात्र को रह गयी, बहुधा वे पचन-पाचन, आयुर्वेदिक दवाओ तथा रसायनो के निर्माण मे तथा विविध यत्र-मत्रो के प्रयोग मे सलग्न रहने लगे। कुछ लोग जैनो मे चैत्यवासी या वैदिको मे मन्दिरवासी या पुजारी बन गये। वे चैत्य या मन्दिर मे पूजापाठ आदि के नाम पर जो भेट, चढावा या धन आता, उसका स्वय उपभोग करने लगे।

ये जितने भी सन्यास, साधुत्व या मुनित्व के विकृत रूप हुए, वे सब विविध प्रकार के आरम्भ-समारम्भ के कार्यो मे खुलेआम जुट पडे, परिग्रह के नाना रूपो मे आसक्त हो गये। और इस प्रकार के आरम्भ-परिग्रह मे लिप्त साधुनामधारी प्रव्रजित लोग अपनी उक्त चारित्रिक दुर्बलता को छिपाने के लिए कहने लगे—'आरम्भ-परिग्रह से युक्त पुरुष भी मोक्षमार्ग का आराधन कर सकते हैं। यह आरम्भ और परिग्रह हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नही करते। अमुक आश्रम, मन्दिर, चैत्य, मठ, सस्थान, उपाश्रय या सस्था की जमीन-जायदाद, धन-सम्पत्ति है। आश्रम, भोजनसत्र आदि को सुचारु रूप से चलाने के लिए समय-समय पर समारोह, अतिथि-सत्कार, प्रसादवितरण आदि करना पडता है, जिसमे आरम्भ-समारम्भ होता है, पर वह होता है, अमुक आश्रम आदि सार्वजनिक सस्थान के लिए।' परन्तु इतना सब होते हुए भी उसके पीछे एकत्रित होने वाली चल-अचल सारी सम्पत्ति का स्वामित्व उन्ही तथाकथित प्रव्रजित ऋषि, मुनि, यति, योगी, भट्टारक, महन्त या पुजारी, भक्त आदि का रहता है। उन्ही के आदेश-निर्देश से सारे आरम्भ-समारम्भ होते है, इसलिए ऐसे व्यक्ति आरम्भ-परिग्रह से निर्लिप्त नही कहे जा सकते। ऐसे मुस्टडे साधुनामधारी लोग यह सोचते हैं और कहते रहते है, केवल गुरुमत्र लेने की आवश्यकता है, न सिर मुँडाना है, न जटा बढाना है, न कान फडाना है, गुरुकृपा से परमअक्षर की प्राप्ति अथवा दीक्षाप्राप्ति हो जाय तो बस बेडा पार हो जाता है, मोक्ष मिल जाता है। कितना सस्ता है, यह मोक्ष का

सौदा ! कुछ त्याग करना धरना नही है, न कोई आरम्भ-समारम्भ या परिग्रह छोडना है, केवल गुरु से मत्र, वेष या अक्षर ले लो, सन्यास या साधुत्व का वेष ले लो, गुरुकृपा से दीक्षा ग्रहण कर लो, वस फिर मोक्ष रिजर्व (सुरक्षित) ह। खूब अच्छा खाओ, पीओ, मौज करो।

कुछ प्रव्रजित लोग अपने मत-पथ मे आम जनता को आकर्पित करने के लिए वडे-वडे भोजो, भोजनसत्रा या धर्मार्थ भोजनशालाओ का आयोजन करते हैं, उन भोजनसत्रो मे सारे दिन और रात प्राय भट्टियाँ चलती रहती है, भोजन वनाने वगैरह का बहुत अधिक आरम्भ होता रहता है, इस प्रकार लोगो को मुफ्त मे खिला-पिलाकर अनेक लोगो को अपने मत के अनुयायी बना लेते हैं। इस प्रकार के अनाप-सनाप आरम्भ-समारम्भजनक कार्यो मे प्रत्यक्ष हाथ उन्ही तथाकथित प्रव्रजितो का होता है। इतने बडे-वडे भोजनसत्रो को चलाने के लिए वे अपने भक्तो से भेंट के रूप मे बडी-वडी रकमे प्राप्त करते हैं। उस विशालमात्रा मे सचित अर्थराशि से उन महन्तो, सन्तो, भक्तो आदि के बडे-बडे रगमहल बनते हैं, प्रचुर भोग-विलास एव ठाठबाट की सामग्री जुटाई जाती है, उत्तम भोजन और बहुमूल्य वस्त्रो का उपभोग किया जाता है। इस प्रकार आरम्भ के साथ-साथ परिग्रह तो आ ही जाता हैं। सास्कृतिक समारोह भी उसी धन से किये जाते है, जिनमे बडे-बडे आडम्बर रचे जाते है। भोले लोग प्रसादवितरण, आडम्बर एव भव्य समारोह की चकाचौध मे पडकर ऐसे सपरिग्रह-सारम्भ प्रव्रजित को गुरु बनाकर उनकी शरण मे सर्वस्व समर्पण कर देते हैं।

स्त्री भी उस युग मे परिग्रह मानी जाती थी इसलिए जहाँ ऐसा भोगी-विलासी वातावरण होता है, वहाँ ऐसी भोली-भाली नारियाँ उन आडम्बरियो एव चमत्कार-प्रदर्शको को गुरु बनाकर उन्हे सर्वस्व समर्पण कर देती है, सिर्फ मोक्ष के नाम पर। निगुरे को मोक्ष नही होता, इसलिए वे गुरुमत्र लेकर मोक्ष की आशा मे अपनी अस्मत भी लुटा देती है। कोई-कोई तो ऐसे महन्तो की गुप्तरूप से उपपत्नी भी वन जाती है। इस प्रकार की आरम्भ-परिग्रहवादियो की मोक्ष-कल्पना कितनी सुविधाजनक, सुलभ एव सस्ती है !

अनारम्भी-अपरिग्रही की ही शरण लो

उपर्युक्त पक्ति के द्वारा आरम्भ-परिग्रहवादियो के मोक्ष का वोध देकर शास्त्रकार ने सभी ` को इस मिथ्यामत से परिचित कर दिया है। उन्होने डके की चोट ससार के सभी साधको की आँखें खोल दी कि आरम्भ-परिग्रहासक्त साधक भी

मोक्ष प्राप्त कर लेता है, इस प्रलोभनकारी सुविधावादी मोक्ष की कल्पना करने वालो से बचो, ऐसे आरम्भपरिग्रहरत प्रव्रजित मुमुक्षु साधक के लिए शरणरूप नही हैं। इसी गाथा की निचली पंक्ति के द्वारा शास्त्रकार ने परोक्षरूप से सूचित भी कर दिया है कि ऐसे आरम्भ-परिग्रह मे ग्रस्त प्रव्रजित महानुभाव शरण के योग्य नही है, उनकी शरण मे जाने से मुमुक्षु पुरुप की आत्मरक्षा नही हो सकती।

प्रश्न होता है कि उपरोक्त प्रव्रजित त्राण नही कर सकते तो त्राण पाने के लिए किसकी शरण लेनी चाहिए ? किसकी शरण मे प्रव्रजित होना चाहिए ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—'अपरिग्गहा अणारंभा, भिक्खू ताणं परिव्वए।' इसका आशय यह है कि जो मुमुक्षु एव भिक्षाजीवी साधक है, उसे उन्ही की शरण मे जाना या प्रव्रजित होना चाहिए, जो आरम्भ और परिग्रह से दूर हो। अर्थात् प्रव्रजित महापुरुप धर्मोपकरण के सिवाय अपने शरीर के भोग के लिए जरा भी परिग्रह नही रखते, तथा जो सावद्य आरम्भ नही करते, उन्ही की छत्रछाया मे जाना या प्रव्रजित होना चाहिए। वे कर्मलघु पुरुष ही ससार-सागर से भव्यजीवो को पार उतारने मे नौका के समान समर्थ हैं, आरम्भपरिग्रहासक्त वेपधारी प्रव्रजित ससार-सागर से रक्षा करने या पार उतारने मे समर्थ नही है। अत औद्देशिक आदि आहार को वर्जित करके शुद्धभिक्षापरायण भावभिक्षु सर्वतोभावेन उन्ही की शरण ग्रहण करे।

भिक्षाजीवी सुसाधु आरम्भ-परिग्रह से कैसे निर्लिप्त रह सकता है ? इसके विषय मे अगली गाथा मे शास्त्रकार कहते है—

मूल पाठ

कडेसु घासमेसेज्जा विऊ दत्तेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्पमुक्को य, ओमाणं परिवज्जए ॥४॥

संस्कृत छाया

कृतेषु ग्रासमेषयेत् विद्वान् दत्तैषणां चरेत् ।
अगृद्ध विप्रमुक्तश्च अप (व) मान परिवर्जयेत् ॥४॥

अन्वयार्थ

(विऊ) विद्वान् सम्यग्ज्ञानवान भिक्षु (कडेसु) गृहस्थ द्वारा अपने लिए किये हुए चतुर्विध आहारो मे से (घास) ग्रास—कुछ ग्रास आहार की (एसेज्जा) गवेषणा करे या एषणापूर्वक ग्रहण करे। तथा वह (दत्तेसण) दिये हुए आहार को विधिपूर्वक

सौदा ! कुछ त्याग करना धरना नही है, न कोई आरम्भ-समारम्भ या परिग्रह छोडना है, केवल गुरु से मत्र, वेष या अक्षर ले लो, सन्यास या साधुत्व का वेप ले लो, गुरुकृपा से दीक्षा ग्रहण कर लो, वस फिर मोक्ष रिजर्व (सुरक्षित) है। खूब अच्छा खाओ, पीओ, मौज करो।

कुछ प्रव्रजित लोग अपने मत-पथ मे आम जनता को आकर्पित करने के लिए वडे-वडे भोजो, भोजनसत्रा या धर्मार्थ भोजनशालाओ का आयोजन करते है, उन भोजनसत्रो मे सारे दिन और रात प्राय भट्टियाँ चलती रहती हैं, भोजन वनाने वगैरह का बहुत अधिक आरम्भ होता रहता है, इस प्रकार लोगो को मुफ्त मे खिला-पिलाकर अनेक लोगो को अपने मत के अनुयायी बना लेते है। इस प्रकार के अनाप-सनाप आरम्भ-समारम्भजनक कार्यों मे प्रत्यक्ष हाथ उन्ही तथाकथित प्रव्रजितो का होता है। इतने बडे-बडे भोजनसत्रो को चलाने के लिए वे अपने भक्तो से भेट के रूप मे बडी-बडी रकमे प्राप्त करते हैं। उस विशालमात्रा मे सचित अर्थराशि से उन महन्तो, सन्तो, भक्तो आदि के बडे-बडे रगमहल वनते है, प्रचुर भोग-विलास एव ठाठबाट की सामग्री जुटाई जाती है, उत्तम भोजन और बहुमूल्य वस्त्रो का उपभोग किया जाता है। इस प्रकार आरम्भ के साथ-साथ परिग्रह तो आ ही जाता है। सास्कृतिक समारोह भी उसी धन से किये जाते है, जिनमे बडे-बडे आडम्बर रचे जाते है। भोले लोग प्रसादवितरण, आडम्बर एव भव्य समारोह की चकाचौध मे पडकर ऐसे सपरिग्रह-सारम्भ प्रव्रजित को गुरु बनाकर उनकी शरण मे सर्वस्व समर्पण कर देते हैं।

स्त्री भी उस युग मे परिग्रह मानी जाती थी इसलिए जहाँ ऐसा भोगी-विलासी वातावरण होता है, वहाँ ऐसी भोली-भाली नारियाँ उन आडम्बरियो एव चमत्कार-प्रदर्शको को गुरु बनाकर उन्हे सर्वस्व समर्पण कर देती है, सिर्फ मोक्ष के नाम पर। निगुरे को मोक्ष नही होता, इसलिए वे गुरुमत्र लेकर मोक्ष की आशा मे अपनी अस्मत भी लुटा देती है। कोई-कोई तो ऐसे महन्तो की गुप्तरूप से उपपत्नी भी वन जाती है। इस प्रकार की आरम्भ-परिग्रहवादियो की मोक्ष-कल्पना कितनी सुविधाजनक, सुलभ एव सस्ती है!

अनारम्भी-अपरिग्रही की ही शरण लो

उपर्युक्त पक्ति के द्वारा आरम्भ-परिग्रहवादियो के मोक्ष का वोध देकर शास्त्रकार ने सभी साधको को इस मिथ्यामत से परिचित कर दिया है। उन्होने डके की चोट ससार के सभी साधको की आँखें खोल दी कि आरम्भ-परिग्रहासक्त साधक भी

लेने की इच्छा (चरे) करे। फिर वह (अगिद्धो) गृद्धि—आसक्ति से रहित (विप्पमुक्को) तथा रागद्वेष (मनोज्ञ भोज्य वस्तु पर राग, अमनोज्ञ पर द्वेष व घृणा) से रहित होकर उस आहार का सेवन (उपभोग) करे। (य) और (ओमाण परिवज्जए) किसी ने नही दिया, या खराब आहार दिया, या कम दिया या साधु को झिडक दिया, उस समय दूसरे का अपमान करना छोड दे। अथवा दूसरे द्वारा किये गये अपने अपमान को मन से छोड दे—निकाल दे।

भावार्थ

विद्वान् सम्यग्ज्ञानी साधु दूसरो (गृहस्थो) द्वारा अपने लिए बनाये हुए आहारो की गवेषणा करे तथा दिये हुए आहार को ही ग्रहण करने की इच्छा करे। भिक्षाप्राप्त आहार मे भी गृद्धि (मूर्च्छा) भाव न रखे। किसी के कुछ कह देने पर भी मुनि उसका अपमान न करे, अथवा किसी के द्वारा किये हुए अपमान को मन से निकाल दे।

व्याख्या

भिक्षाजीवी साधु को आहार के सम्बन्ध मे कर्तव्यबोध

पूर्वगाथा मे शास्त्रकार ने सुविहित भिक्षु को आरम्भ और परिग्रह से मुक्त महापुरुषो की शरण ग्रहण करने का निर्देश किया था परन्तु बाह्यरूप से आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर देने पर भी मुनिजीवन मे आरम्भ-परिग्रह कुछ नये रूप मे आ जाते हैं, उनसे बचने के लिए साधु को इस गाथा मे कर्तव्यबोध दिया गया है।

साधुजीवन मे मुख्यतया तीन आवश्यकताएँ होती हैं—भोजन, वस्त्र और आवास। इन तीनो मे मुख्य समस्या भोजन की है। क्योकि अहिंसा महाव्रत का पूर्ण पालक साधु अगर स्वय भोजन पकाता या दूसरो से पकवाता है, अथवा जो आहार पकाता है, उसे प्रोत्साहन या अनुमोदन देता है तो इस कार्य से हिंसा होती है, हिंसाजनक कार्य का ही आरम्भ कहा जाता है। अत साधु को आहार सम्बन्धी उक्त आरम्भ-दोष से बचना आवश्यक है। तब फिर आहार कैसे, कहाँ से प्राप्त करे, जिसमे उसे आरम्भजन्य हिंसादोष न लगे? इसका समाधान शास्त्रकार प्रथम पंक्ति द्वारा देते है—'कडेसु घासमेसेज्जा।' दशवैकालिक सूत्र मे सयमी साधु के लिए भिक्षाचरी करके आहार लाने का विधान है, आहार कैसा है? किसके लिए और क्यो बना है? इसकी पूरी जाँच (गवेषणा) करने का विधान है। यहाँ भी गवेषणा करने के लिए 'एसेज्जा' शब्द प्रयुक्त किया गया है। अर्थात् सर्वप्रथम साधु को जो भोज्य-वस्तु लेनी है, उन ग्रास (आहार) की गवेषणा (जाँच) करनी चाहिए कि यह

है कि गृहस्थ ने आरम्भ एव परिग्रह के द्वारा अपने लिए जो विविध आहार बनाया है—वह कृत (अन्य के द्वारा बनाया हुआ) आहार कहलाता है। साधु उसी कृत आहार मे से कुछ आहार लेने की एपणा करे। यहाँ पर कृत आहार को ग्रहण करने का विधान करके शास्त्रकार ने १६ प्रकार के उद्गम[1] (आहार को बनाने मे लगने वाले) दोषो का परिहार सूचित कर दिया है।

1 भिक्षाचारी के समय गृहस्थ से आहार बनाते समय लगने वाले १६ उद्गमदोष ये है—

आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओअर कीय पामिच्चे ॥१॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥२॥

(१) आधाकर्म—साधु को देने के लिए खासतौर से बनाया हुआ आहार, जिस साधु को देने के लिए वह आहार बनाया गया है, यदि वह साधु उस आहार को ले तो आधाकर्मदोप होता है और दूसरा साधु उस आहार को ले तो (२) औद्देशिकदोष हो जाता है। (३) पूइकम्मे—पवित्र आहार मे यदि आधाकर्मी आहार का एक कण भी मिल जाता है, और हजार घर का अन्तर देकर भी उस आहार को लिया जाए तो वहाँ पूतिकर्मदोप होता है। (४) मीसजाए—जो आहार अपने तथा साधु के लिए शामिल करके बनाया गया हो, वह मिश्रजातदोप कहलाता हे। (५) ठवणा—जो आहार साधु को देने के लिए खासतौर से रख दिया जाय, दूसरो को उसमे से जरा भी न दिया जाए, उसे स्थापनादोप कहते है। (६) पाहुडिया—मेहमानो को आगे-पीछे करके साधु के निमित्त से विशेषरूप से बनाया जाय, वहाँ प्राभृत्तिका दोप लगता है। (७) पाओअर—अन्धकारपूर्ण स्थान मे प्रकाश करके साधु को आहार देना प्रादुष्करणदोप कहलाता है। (८) कीय—साधु के लिए आहार, वस्त्र आदि मोल लेकर साधु को देना क्रीतदोप है। (९) पामिच्चे—साधु के लिए आहार आदि उधार लाकर देना प्रामित्य दोप कहलाता है। (१०) परियट्टिए —साधु को देने के लिए अपनी वस्तु दूसरे को देकर उसके बदले मे दूसरे की वस्तु लेकर साधु को देना परिवर्तितदोप कहलाता है। (११) अभिहडे—साधु के सामने ले जाकर या उनके स्थान पर या कही भी आहार देना अभिहृत-दोप कहलाता है। (१२) उब्भिन्ने—बर्तन के मुँह पर लगे हुए लेप को हटाकर उसमे से साधु को आहार देना, उद्भिन्नदोप कहलाता है। (१३) मालोहडे —

'विऊ दत्तेसण चरे' का मतलब है—विद्वान् एवं संयमपालन करने में निपुण विवेकी मुनि दत्त यानी दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा बदले की भावना के बिना केवल कल्याणबुद्धि से जो आहार दिया जाय, उसी को गवेषणापूर्वक ग्रहण करे। इस उपदेश के द्वारा यहाँ १६ प्रकार के उत्पाददोषों का परिहार करने की बात सूचित की गयी है।

पीढा, निसैनी, सीढी या स्टूल आदि लगाकर ऊपर, नीचे या तिरछी रखी हुई वस्तु को निकालकर साधु को देना, मालापहृतदोष कहलाता है। (१४) अच्छिज्जे—किसी दुर्बल से बलात् छीनकर या दबाव डालकर जबरन साधु को आहार दिलाना या देना आच्छेद्यदोष कहलाता है। (१५) अणिसिट्ठे—दो या अधिक मनुष्यों के साझे की वस्तु उन साझेदार की अनुमति के बिना साधु को दे देना अनिसृष्टदोष कहलाता है। (१६) अज्झोवरए—साधुओं को गाँव में पधारे हुए जानकर आधन में अधिक चावल आदि डाल देना अध्यवपूरकदोष कहलाता है। ये १६ दोष प्रायः गृहस्थ दाता के निमित्त से लगते हैं।

१ सोलह प्रकार के उत्पाददोष होते हैं, जो साधु की असावधानी से, साधु के स्वयं के निमित्त से लगते हैं। वे इस प्रकार हैं—

> धाई दुई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छाय।
> कोहे माणे माया लोभे ये हवंति दस एए ॥१॥
> पुव्विपच्छासंत्थव, विज्जा मंते य चुण्णजोगे य।
> उप्पायणाइदोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥२॥

(१) धाई—धात्री, धाय का काम करके आहार लेना धात्रीदोष है। (२) दुई—गृहस्थों का सन्देश पहुँचाना आदि दूती या दूत का कार्य करके आहार लेना दूती या दौत्यदोष है। (३) निमित्ते—भूत, भविष्य, वर्तमान का लाभालाभ एवं जीवन-मरण आदि का हाल बताकर आहार लेना निमित्तदोष कहलाता है। (४) आजीव—अपनी जाति, कुल आदि प्रकट करके या किसी प्रकार की आजीविका (हुनर) सिखाकर आहार लेना आजीवदोष है। (५) वणीमगे—भिखारी या कंगाल के समान दीनता बताकर आहार लेना वनीपकदोष कहलाता है। (६) तिगिच्छा—रोगी की चिकित्सा करके आहार लेना चिकित्सादोष कहलाता है। (७) कोहे—क्रोध करके आहार आदि लेना क्रोधदोष कहलाता है। (८) माण—अभिमान के साथ आहार लेना मानदोष है। (९) माया—कपटपूर्वक या वेष बदलकर आहार लेना मायादोष है। (१०) लोभे—लोभ करके या लोभ दिखाकर अधिक या सरस आहार लेना

इसी उपदेश के अनुसार १० प्रकार के ग्रहणैपणा के दोपा[1] का त्याग भी यहाँ समझ लेना चाहिए। ये दस दोप गृहस्थ दाता और साधु दोनो को लगते है।

लोभदोप है। (११) पुव्विपच्छासत्थव—आहार लेने से पहले या पीछे दाता की प्रशसा या स्तुति (विरदावली) करके आहार लेना पूर्व-पश्चात्सस्तवदोप है। (१२) विज्जा—जिसकी अधिष्ठात्री देवी हो उस मत्र का नाम विद्या है, अथवा जो साधनो से सिद्ध की गई हो, उसे विद्या कहते हैं, उस विद्या के प्रयोग से आहार आदि लेना विद्यादोप है। (१३) मते – जिसका अधिष्ठाता देव हो, अथवा जो साधनरहित अक्षरविन्यासमात्र हो, उसे मत्र कहते है, उस मत्र के प्रयोग से आहार आदि लेना मत्रदोप है। (१४) चुण्ण—एक वस्तु मे दूसरी वस्तु मिलाने से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती है, उसे चूर्ण कहते है, जैसे अदृष्ट-अजन आदि चूर्ण प्रसिद्ध हैं। उन चूर्णो के प्रयोग से आहार आदि लेना चूर्ण-दोप कहलाता है। (१५) जोगे—पैरो के ऊपर लेप करने से जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसे बताकर आहार आदि लेना योगदोष है। (१६) मूलकम्मे—गर्भ-पात आदि के लिए जडी-बूटी, कद-मूल आदि बताकर आहार आदि लेना मूलकर्मदोष कहलाता है। ये १६ उत्पाददोग कहलाते है, जो रसलोलुप साधु-साध्वी को लगते है।

१ ग्रहणैपणा (या एषणा) दोष दस प्रकार के है। वे साधु और श्रावक दोनो को लगते हैं।

> **सकिय-मक्खिय निक्खित्त-पिहिय-साहरिय-दायगुम्मीसे ।**
> **अपरिणय लित्त-छड्डिय, एसणदोसा दस हवति ॥**

(१) सकिय—आहार के विपय मे साधु या गृहस्थ किसी को शका हो तो भी उस आहार को ले लेना, शकितदोष है। (२) मक्खिय– जिसके हाथ की रेखाएँ या केश सचित्त जल से भीगे हैं, उस दाता के हाथ से आहार ले लेना म्रक्षितदोप है। (३) निक्खित्त—सूझती वस्तु किसी असूझती वस्तु पर पडी हो, फिर भी उसे ले लेना, निक्षिप्तदोप है। (४) पिहिय– सचित्त वस्तु से ढकी हुई अचित्त वस्तु को ले लेना, पिहितदोप कहलाता है। (५) साहरिय—जिस वर्तन मे असूझती वस्तु रखी हो, उसी वर्तन मे से उस असूझती वस्तु को निकालकर दूसरे वर्तन मे रखकर उस असूझती वस्तु वाले वर्तन से आहार ले लेना सहृतदोप कहलाता है। (६) दायग—अन्धे, लूले, लगडे एव अपाहिज व्यक्ति कांपते हुए हाथ-पैरो से चीज को नीचे गिराते हुए अजयणा (अयत्ना)

अब अगली गाथा मे शास्त्रकार लोकवाद के मिथ्या विचार श्रवण करने का निषेध करते हुए कहते है—

मूल पाठ

लोयवाय णिसामिज्जा, इहमेगेसिमाहिय ।
विवरीयपन्नसभूय, अन्नउत्त तयाणुय ।।५।।

स त छाया

लोकवाद निशामयेत्, इहैकेषामाख्यातम् ।
विपरीतप्रज्ञासम्भूतमन्योक्त तदनुगम् ।।५।।

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक मे (एगेसिं) किन्ही लोगो का (आहिय) कथन है कि (लोयवाय) पौराणिको की बहुचर्चित अतिप्रचलित पुराणकथा या पौराणिक-सिद्धान्त *या लौकिक लोगो द्वारा कही हुई बाते* (णिसामिज्जा) सुनना चाहिए। किन्तु (विवरीयपन्नसभूय) वस्तुत पौराणिको का सिद्धान्त विपरीतबुद्धि से रचित है तथा (अन्नउत्त तयाणुय) अन्य अविवेकियो ने जो कहा है, उसी का अनुगामी, यह लोकवाद है।

भावार्थ

इस जगत् मे कुछ लोगो का कहना है कि लोकवाद—पौराणिक कथा या सिद्धान्त को सुनना चाहिए, किन्तु यह लोकवाद परमार्थ से विपरीत बुद्धि द्वारा रचित है। दूसरे अविवेकियो ने जो अर्थ बतलाया है, उसी का अनुसरण करने वाला यह लोकवाद है।

व ा

लोकवाद कितना हेय, ज्ञेय व कितना उपादेय ?

शास्त्रकार ने इस गाथा मे बहुचर्चित लोकवाद की मीमासा की है। लोक-वाद क्या है ? उसका आविर्भाव कैसे सयोगो मे हुआ है ? क्या वह हेय है, ज्ञेय है अथवा ेय है ?

वस्तुत लोकवाद उस युग मे प्रचलित पौराणिक मान्यताएँ है, जिनमे लोक-परलोक के सम्बन्ध मे, तथा मृत्यु के बाद के रहस्य के सम्बन्ध मे तथा ब्राह्मण, कुत्ता, गाय आदि प्राणियो के सम्बन्ध मे आश्चर्यजनक, विसगत एव ऊटपटाग

मान्यताएँ भरी पडी है। इसलिए शास्त्रकार अपनी ओर से इस चर्चा को प्रस्तुत करके विज्ञपुरुषो का समाधान नीचे की पंक्ति से करते हैं।

वे कहते हैं—लोयवाय णिसामिज्जा, इहमेगेसिमाहिय। अर्थात् कुछ लोगो का हमसे अनुरोध है कि आप इस प्रसिद्ध लोकवाद को भी सुन ले। लेकिन शास्त्रकार कहते हैं कि हमने लोकवाद का सुन और देख रखा है। यह लोकवाद तो यथार्थ वस्तुस्वरूप न बताकर विपरीत वस्तुस्वरूप बताने वाले अविवेकी मतवादियो का-सा बे-सिर-पैर का विधान है। अत लोकवाद उन्ही अविवेकियो का पिछलग्गू है। निष्कर्ष यह है कि जिस विचारधारा का कोई सिरा नही है, उस लोकवाद जैसी विचारधारा को जानना-सुनना ही बेकार है। इसीलिए शास्त्रकार लोकवाद के श्रवण-मनन के प्रति उपेक्षा के विषय मे कहते है – विवरीयपन्नसभूय। यह लोकवाद परमार्थ से, यथार्थ वस्तुस्वरूप से विपरीतबुद्धि के द्वारा रचित है।

अगली गाथा मे शास्त्रकार लोकवाद को विपरीतबुद्धि से रचित होना प्रमाणित करते है—

मूल पाठ

अणंते निइए लोए, सासए ण विणस्सइ।
अतव णिइए लोए, इति धीरोऽतिपासय ॥६॥

सस्कृत छाया

अनन्तो नित्यो लोक, शाश्वतो न विनश्यति।
अन्तवान्नित्यो लोक इति धीरोऽतिपश्यति ॥६॥

अन्वयार्थ

(लोए) यह लोक (पृथ्वी आदि लोक), (अणते) अनन्त अर्थात् सीमारहित—असीम, (निइए) नित्य और (सासए) शाश्वत है। (ण विणस्सइ) यह नष्ट नही होता है। यह किसी का कथन है। तथा (लोए) यह लोक (अतव) अन्तवान्—ससीम, (णिइए) और नित्य है, (इति) ऐसा (धीरो) व्यास आदि धीरपुरुष (अतिपासइ) विशेष देखते हैं अर्थात् कहते हैं।

भावार्थ

यह लोक अनन्त (असीम), नित्य और शाश्वत है, इसका कभी विनाश नही होता है, ऐसा कुछ मतवादी कहते है। तथा यह लोक अन्तवान्

(ससीम—परिमित), और नित्य है, यह व्यास आदि धीरपुरुषो का अति-दर्शन है, विशेप कथन है।

व्याख्या

लोकवाद की विचित्र मान्यताएँ

पूर्वगाथा मे लोकवाद को सुनने के अनुरोध पर शास्त्रकार ने लोकवाद को विपरीतमतिरचित वताकर अविवेकी मतो का ही साथी बताया था। इस गाथा मे लोकवाद की मान्यताओ के कुछ नमूने शास्त्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं। 'अणते निइए लोए'— किन्ही का यह मत है कि लोक अनन्त है। अनन्त का मतलव है—जिसका अन्त नही होता। आशय यह है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, तथा एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक जितने भी प्राणी हैं—उन सवको मिलाकर लोक कहते हैं। इस प्रकार के लोक का कभी निरन्वय नाश नही होता। अर्थात् इस जन्म मे जो जैसा है, वह परलोक मे भी, यहाँ तक कि सदा काल के लिए वैसा ही उत्पन्न होता है। पुरुप पुरुप ही होता है, स्त्री स्त्री ही होती हैं। अन्वय—वश (नस्ल) के रूप मे कभी उसका नाश नही होता। अथवा यह लोक अनन्त है अर्थात् इसकी कालकृत कोई भी अवधि नही है, यह तीनो कालो मे विद्यमान रहता है। तथा यह लोक नित्य है, अर्थात् उत्पत्ति-विनाशरहित, सदैव स्थिर एव एकसरीखे स्वभाव वाला है। एव यह लोक शाश्वत है, अर्थात् बार-वार उत्पन्न नही होता, सदैव वर्तमान रहता हे। यद्यपि द्व्यणुक आदि कार्यद्रव्यो (अवयवियो) की उत्पत्ति की दृष्टि से यह शाश्वत नही है, तथापि कारणद्रव्य परमाणुरूप से इसकी उत्पत्ति कदापि नही होती इसलिए यह शाश्वत है। क्योकि उनके मतानुसार काल, दिशा, आकाश, आत्मा और परमाणु नित्य है।

'अतव णिइए लोए'— किन्ही पौराणिको के मतानुसार यह लोक अन्तवान् हे। जिसका अन्त यानी सीमा हो, उसे अन्तवान कहते हैं। यानी लोक ससीम है, परिमित—सीमित है। पौराणिको वताया है कि 'यह पृथ्वी सप्तद्वीप-पर्यन्त है। लोक तीन हे। चार लोकसनिवेश है,'[1] इत्यादि रूप मे लोकसीमा दृष्टिगोचर होती हैं। तथा इस प्रकार के परिमाण वाला लोक नित्य है, क्योकि प्रवाहरूप से यह आज भी दिखाई देता है।

इति धीरोऽतिपासइ—इसका आशय यह है कि लोकवाद इस प्रकार के परस्पर विरोधी और विवादास्पद मन्तव्य व्यास आदि के समान धीरपुरुप का

---

१ 'सप्तद्वीपा वसुन्धरा ' इत्यादि सिद्धान्त पुराण मे वताया है।

अतिदर्शन है। मूल मे यहाँ 'अतिपासइ' शब्द है, उसका सीधा अर्थ 'अतिदर्शन करता है,' होता है। अतिदर्शन का तात्पर्य है—दर्शन का—वस्तुस्वरूप को देखने का अतिक्रमण। वस्तुस्वरूप का यथार्थ दर्शन उसी को हो सकता है, जिसका दर्शन (दृष्टि) सम्यक् हो।

इसके अतिरिक्त लोकवादी मन्तव्य के कुछ नमूने और भी है। जैसे वे प्ररूपणा करते है—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च' (जो पुत्रहीन है, उसकी गति नही होती, स्वर्ग तो उसे मिलता ही नही) 'ब्राह्मणो हि देवता' (ब्राह्मण ही देव है) 'श्वानो यक्षा' (कुत्ते यक्ष है) 'गोभि हंतस्य गोघ्नस्य वा न सन्ति लोका' (गाय के द्वारा मारे हुए पुरुष को या गोहत्या करने वाले को लोक नही मिलते)।[1] ये और इस प्रकार के एकान्तिक एव युक्तिरहित लोकवाद के मन्तव्य है। व्यास आदि ने पुराणो मे इस प्रकार के लोकवाद का निरूपण किया है।

अगली गाथा मे शास्त्रकार पुन पौराणिको के लोकवाद के सन्दर्भ मे ईश्वर के सर्वज्ञत्व के सम्बन्ध मे मन्तव्य प्रस्तुत करते है—

मूल पाठ

अपरिमाण वियाणाइ, इहमेगेसिमाहियं।
सव्वत्थ सपरिमाण, इति धीरोऽतिपासई ॥७॥

सस्कृत छाया

अपरिमाण विजानाति, इहैकेषामाख्यातम्।
सर्वत्र सपरिमाणमिति, धीरोऽतिपश्यति ॥७॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक मे (एगेसि) किन्ही का (आहिय) यह कथन है कि पौराणिको आदि का अवतार (भगवान् या तीर्थंकर) (अपरिमाण) सीमातीत पदार्थ को (वियाणाइ) जानता है। किन्तु (सव्वत्थ) सर्वदेश-काल के विषय मे (सपरिमाण) परिमाणसहित जानता है, (इति) इस प्रकार (धीरो) धीरपुरुष (अतिपासइ) अतिदर्शन करता है।

---

१ ब्राह्मण देवता हैं, कुत्ते यक्ष है, इत्यादि बाते आलकारिक हैं। इनको आलकारिक रूप मे न मानकर ज्यो का त्यो मानने का यहाँ खण्डन है। परन्तु आलकारिक रूप मे मानने का कोई विरोध नही है।
—सम्पादक

भावार्थ

इस लोक मे किन्ही (पौराणिको आदि) का यह मन्तव्य है कि ईश्वर या अवतार (तीर्थंकर या भगवान्) अतीन्द्रिय पदार्थो का द्रष्टा होने से सीमातीत (अनन्त) पदार्थो को जानता अवश्य है, किन्तु सर्वक्षेत्र-काल मे सब पदार्थो का ज्ञाता सर्वज्ञ नही है। वह परिमित पदार्थो का ज्ञाता पुरुष है। ऐसा धीरपुरुष का अतिदर्शन है।

व्याख्या

तीर्थंकर, ईश्वर या अवतार कितना ज्ञाता, कितना नहीं ?

इस गाथा मे लोकवाद के सन्दर्भ मे ईश्वर की सर्वज्ञता से सम्बन्धित चर्चा प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'अपरिमाण विय.णाइ ।'** यहाँ सर्वज्ञता के सम्बन्ध मे पौराणिक आदि लोकवादियो की दो मान्यताएँ प्रस्तुत की है—एक मान्यता तो यह है कि ईश्वर या अवतार अनन्त अपरिमित पदार्थो को जानता है, क्योकि वह अतीन्द्रिय पदार्थो का ज्ञाता हे। उनकी कोई सख्या नियत नही है।

दूसरी मान्यता यह है कि हमारा ईश्वर या अवतारी पुरुष अपरिमित पदार्थो का ज्ञाता अवश्य हे, लेकिन वह सर्वज्ञ नही है, यानी सर्वक्षेत्रकाल के सब पदार्थो का ज्ञाता नही हे। सीमित (सपरिमाण) क्षेत्र-काल मे ही पदार्थों को जानता-देखता है। अथवा अतीन्द्रिय द्रष्टा तथाकथित तीर्थंकर अपरिमित ज्ञानी होकर भी जो अतीन्द्रिय पदार्थ उपयोगी हो, किसी प्रयोजन मे आते हो, उन्ही को जानता है। जैसा कि आजीवक अपने तीर्थकरो के सम्बन्ध मे कहते है—

> **सर्व पश्यतु वा मा वा, इष्टमर्थं तु पश्यतु ।**
> **कीटसख्यापरिज्ञान तस्य न क्वोपयुज्यते ॥**

तीर्थंकर सभी पदार्थो को देखे या न देखे, जो अभीष्ट या मोक्षोपयोगी पदार्थ हैं, उन्हे देख ले, इतना ही काफी है। कीडो की सख्या क। ज्ञान भला हमारे किस काम का ? कीडो की जानने से भला मतलब भी क्या है ?

> **तस्मादनुष्ठानगत ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।**
> **प्रमाण दूरदर्शी चेदेते गृद्धानुपास्महे ॥**

अतएव हमे उस (तीर्थंकर) के अनुष्ठान सम्बन्धी या कर्तव्य-अकर्तव्य सम्बन्धी ज्ञान का ही विचार करना चाहिए। अगर दूरदर्शी को ही प्रमाण मानेंगे तो फिर हम गीधो की उपासना करने वाले माने जायेंगे। क्योकि गीध मे

बहुत दूर-दूर तक के पदार्थों को देख लेता है। यह सर्वज्ञ को प्रमाणभूत न मानने वाले अन्यतीर्थियों का मत है। इसी आशय को व्यक्त करने हेतु शास्त्रकार कहते हैं—'सव्वत्थ सपरिमाण'। अथवा दूसरों का यह कहना है कि समस्त देश-कालों में स्थित पदार्थसमूह परिमाणयुक्त है, परिमित है, अत इस प्रकार अन्य-पौराणिकों का ईश्वर जानता-देखता है।

अथवा इस गाथा के पूर्वार्द्ध में पौराणिक मत की मान्यता प्रदर्शित की है, क्योंकि उनके मत में ईश्वर का ज्ञान सभी सत् पदार्थों को जानने वाला माना गया है। जैसे कि श्रुति में कहा है—'य सर्वज्ञ स सर्ववित्' (जो सर्वज्ञ है, वह सब जानता है) तथा उत्तरार्द्ध में आजीवक मत में मान्य तीर्थंकर ज्ञान की सीमा बताई गई है।

अथवा सम्पूर्ण गाथा में पौराणिक मत का ही प्ररूपण है। वह इस प्रकार है—स्वयम्भू ब्रह्माजी का एक दिन चार हजार युगों का होता है और रात्रि भी इतनी ही होती है। कहा भी है—

'चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।'

ब्रह्माजी दिन के समय जब सब पदार्थों की सृष्टि करते हैं, तब उन्हें सभी पदार्थों का अपरिमित ज्ञान होता है, किन्तु रात में जब वह सोते हैं, तो उन्हें परिमित ज्ञान भी नहीं होता। इस प्रकार परिमित अज्ञान होने के कारण उनमें ज्ञान और अज्ञान दोनों की सम्भावना परिलक्षित होती है। अथवा वे कहते हैं—ब्रह्मा एक हजार दिव्यवर्ष तक सोये रहते हैं, उस समय वह कुछ नहीं देखते, और जब उतने ही काल तक वे जागते हैं, उस समय वह देखते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'धीरोऽतिपासई' यानी धीर ब्रह्मा का यह लोकवादसूचित अतिदर्शन है। इस प्रकार बहुत से लोकवाद प्रचलित है।

अब अगली गाथा में पूर्वगाथाओं में उक्त लोकवाद की लोक की अनन्त, नित्य आदि मान्यता का खण्डन करते हैं—

मूल

जे केइ तसा पाणा चिट्ठंति अदु थावरा।
परियाए अत्थि से अंजू, जेण ते तसथावरा ॥८॥

संस्कृत छाया

ये केचित् त्रसा प्राणास्तिष्ठन्त्यथवा स्थावरा।
पर्यायोऽस्ति तेषामञ्जू येन ते त्रसस्थावरा ॥८॥

अन्वयार्थ

(जे केइ) जो कोई (तसा) त्रस (अदु) अथवा (थावरा) स्थावर (पाणा) प्राणी (चिट्ठंति) इस विश्व मे स्थित है, (से) उनका (अजू) अवश्य (परियाए) पर्याय (अत्थि) होता है। (जेण) जिससे (ते) वे (तस थावरा) त्रस से स्थावर और स्थावर से त्रस होते हैं।

भावार्थ

इस लोक मे जितने भी त्रस अथवा स्थावर प्राणी है, वे अवश्य एक दूसरे पर्याय मे परिणत होते है। कारण यह है कि त्रस स्थावरपर्याय को एव स्थावर त्रसपर्याय को प्राप्त करता है।

लोकवाद का खण्डन त्रसस्थावर पर्याय परिवर्तन

पूर्वगाथा मे यह बताया गया था कि लोकवाद यह मानता है कि त्रस, त्रस ही रहता है, स्थावर, स्थावर ही। पुरुष मरकर पुरुष ही बनता है, स्त्री मरकर भी स्त्री ही होती है। इस गाथा मे उक्त मान्यता का निराकरण किया है—'जे केइ तसा पाणा' आशय यह है—त्रस उसे कहते है, जो त्रास (भय) पाते है। द्वीन्द्रिय आदि प्राणी त्रस हैं। एव जो जीव स्थितिशील हैं या जिनमे स्थावरनामकर्म का उदय है, तथा सुषुप्त चेतना है, वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि स्थावर कहलाते है। अत यह मान्यता कि जो जीव त्रस हैं, वे त्रस ही रहते है, स्थावर नही होते, या जो जीव स्थावर है, वे स्थावर ही रहते है, त्रस नही होते यह लोकवाद सत्य नही है।

यदि यह लोकवाद सत्य हो कि जो मनुष्य आदि इस जन्म मे जैसा है, दूसरे जन्म मे भी वह वैसा ही होता है, तब तो दान, अध्ययन, जप, तप, यम, नियम आदि समस्त अनुष्ठान निरर्थक हो जाएँगे। क्योकि जब यह मान्यता स्थिर हो जाएगी कि आज जो व्यक्ति सामान्य गृहस्थ है, वह यदि अगले जन्म मे गृहस्थ ही रहेगा या देवगति को प्राप्त नही होगा, तब वह यम-नियादि की साधना क्यो करेगा? लोकवाद के समर्थको ने भी जीवो का एक पर्याय से दूसरी पर्याय मे जाना स्वीकार किया है। जैसा कि वे कहते है—

'स वै एष शृगालो जायते य सपुरीषो दह्यते।'

अर्थात्—'वह पुरुष शृगाल होता है, जो विष्ठा के सहित जलाया जाता है।' तथा और भी प्रमाण लीजिए—

इसके पश्चात् लोकवादियो का यह कथन भी सर्वथा असगत है, कि 'सात द्वीपो से युक्त होने के कारण यह लोक अन्तवान—परिमित ही हैं।' क्योकि इस बात को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है। विचारशील प्राज्ञ पुरुष प्रमाण-विरुद्ध बात को नही मान सकते।

लोकवादियो का यह मन्तव्य भी हास्यास्पद है कि पुत्रहीन पुरुष की कोई गति (लोक) नही। यह छोटे बच्चे के कथन के समान युक्तिरहित है। क्योकि हम पूछते है—विशिष्ट लोक या गति की प्राप्ति क्या पुत्र की सत्तामात्र से होती है या पुत्र के द्वारा किये हुए विशिष्ट अनुष्ठान से होती है? यदि पुत्र के अस्तित्व मात्र से विशिष्ट लोक की प्राप्ति हो, तब तो समस्त लोक, कुत्तो और सूअरो से परिपूर्ण हो जाएँगे, क्योकि इनके बहुत पुत्र होते हैं। यदि पुत्र द्वारा किये हुए शुभ अनुष्ठान से विशिष्ट लोक की प्राप्ति मानते हो तो यह कथन भी यथार्थ नही है। क्योकि जिस पुरुप के दो पुत्र हैं, उनमे से एक ने शुभ अनुष्ठान किया है, दूसरे ने अशुभ अनुष्ठान किया है तो बताइए वह पिता एक पुत्र के शुभ अनुष्ठान के प्रभाव से उत्तम लोक मे जाएगा अथवा अथवा दूसरे पुत्र द्वारा किये गए अशुभ अनुष्ठान के कारण अशुभ लोक मे जाएगा? तथा उस पिता न जो कर्म किये है, वे तो निष्फल ही होगे न? अत पुत्ररहित के लिए कोई लोक (गति) नही है, यह कथन अविवेकपूर्ण है।

कुत्ते यक्ष हैं, ब्राह्मण देव है आदि कथन भी युक्तिशून्य होने से उपादेय नही हो सकता।

लोकवादियो का यह कथन भी यथार्थ नही है कि 'हमारे तथाकथित तीर्थंकर अपरिमित पदार्थों को तो जानते है, लेकिन सर्वज्ञ नही।' क्योकि जो पुरुप अपरिमित पदार्थदर्शी होकर भी सर्वज्ञ नही है, वह हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) पदार्थो का उपदेश देने मे समर्थ नही हो सकता। क्योकि उसे हेय-उपादेय समस्त पदार्थों का ज्ञान नही है। सर्वज्ञ हुए बिना वह अतीन्द्रिय पदार्थो का उपदेश भी नही दे सकेगा। अत यह मान्यता निराधार है।

कीटो आदि की सख्या का ज्ञान भी उसके लिए उपयोगी ही है। अन्यथा, बुद्धिमान पुरुप ऐसी शका करेंगे कि उसे कीडो के विपय का ज्ञान नही है, उसी प्रकार अन्य वस्तुओ का भी ज्ञान नही होगा। ऐसी आशका के कारण वे नि शक होकर उनके द्वारा उपदिष्ट हेय-उपादेय मे निवृत्त-प्रवृत्त नही हो सकेंगे। अत अपरिमितपदार्थदर्शी या अतीन्द्रियपदार्थद्रष्टा को सर्वज्ञ मानना अत्यावश्यक है।

अथ च लोकवादियो ने जो यह कहा था कि ब्रह्मा सोते समय कुछ नही जानता है, जागते समय सब कुछ जानता है, सो यह बात भी कोई अपूर्व नही है, क्योकि सभी प्राणी सोते समय कुछ नही जानते और जागते समय जानते है । यह कथन भी प्रमाणशून्य होने के कारण उपेक्षणीय है कि ब्रह्मा के सोने पर जगत् का प्रलय और जागने पर उदय (सृष्टि का सजन) है। वास्तव मे इस जगत् मे दिखाई देने वाले सभी इस पृथ्वी आदि स्वरूप वाले जगत् का एकान्तरूप मे न तो उत्पाद होता है और न विनाश। द्रव्य रूप से जगत् सदैव बना रहता है। कहा भी है—'न कदाचिदनीदृश जगत्' यह जगत् कभी ऐसा नही था, ऐसी बात नही है। अर्थात् जगत् सदा ऐसा ही बना रहता है।

इस प्रकार 'यह जगत (लोक) अनन्त है' इत्यादि लोकवाद को छोडकर शास्त्रकार पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को गाथा के उत्तरार्ध मे प्रस्तुत करते है—'परियाए अत्थि से ' अर्थात् इस ससार मे जो त्रस एव स्थावर प्राणी है, वे अपने-अपने कर्म का फल भोगने के लिए अवश्य ही एक दूसरे पर्याय (गति एव योनि) मे जाते है। यह बात निश्चित और आवश्यक है। त्रसप्राणी अपने कर्म का फल भोगने के लिए स्थावरपर्याय मे जाते हैं और स्थावरप्राणी त्रसपर्याय मे जाते है। परन्तु त्रस दूसरे जन्म मे भी त्रस ही होते है और स्थावर, स्थावर ही होते है, अर्थात् जो इस जन्म मे जैसा है, वह दूसरे जन्म मे भी वैसा ही होता है, ऐसा नियम नही है। त्रसजीव कर्मोदयवश स्थावर हो सकते है, स्थावरजीव भी शुभ कर्मोदय से त्रस हो सकते हैं।

इसलिए लोकवाद की अधिकाश मान्यताएँ एकान्त तथा युक्तिविरुद्ध होने से जानने, सुनने और अपनाने योग्य नही हैं।

अब आगे की गाथाओ मे शास्त्रकार अविरतिरूप कर्मबन्ध के कारण से बचने लिए अहिंसा, समता, कषायविजय, आदि स्वसमय का प्रतिपादन करते है—

मूल पाठ

उराल जगतो जोग, विवज्जास पलिंति य ।
सव्वे अक्कतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया ॥९॥

एव खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचन ।
अहिंसासमय चेव, एतावंत वियाणिया ॥१०॥

वुसिए य विगयगेही आयाण सं (सम्म) रक्खए ।
चरिआसणसेज्जासु, भत्तपाणे य अंतसो ॥११॥

एतेहि तिहि ठाणेहि, सजए सतत मुणी ।
उक्कसं जलणं णूम, मज्झत्थ च विगिचए ॥१२॥

समिए य सया साहू, पंचसंवरसवुडे ।
सिएहि असिए भिक्खू, अमोक्खाय परिव्वएज्जासि ॥१३॥

त्ति बेमि

सस्कृत छाया

उदार जगतो योग विपर्यास पर्यन्ते ।
सर्वे आक्रान्तदु खाश्च, अत सर्वेऽहिंसिता ॥९॥

एव खलु ज्ञानिन सार यन्न हिनस्ति कञ्चन ।
अहिंसासमताञ्चैव, एतावद् विजानीयात् ॥१०॥

व्युषितश्च विगतगृद्धिरादान सम्यग्रक्षेत् ।
चर्य्यासनशय्यासु भक्तपाने चान्तश ॥११॥

एतेषु त्रिषु स्थानेषु सयत सतत मुनि ।
उत्कर्ष ज्वलन माया मध्यस्थ च विवेचयेत् ॥१२॥

समितस्तु सदा साधु पञ्चसवरसवृत ।
सितेष्वसितो भिक्षुरामोक्षाय परिव्रजेत ॥१३॥

इति ब्रवीमि

अन्वयार्थ

(जगओ) औदारिक त्रस-स्थावर जीवरूप जगत् का (जोग) बाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि सयोग—अवस्थाविशेष (उराल) स्थूल (उदार) हे। (य) और वह (विवज्जास) विपर्यय को (पलिति) प्राप्त होता है। (य) और (सव्वे) सभी प्राणी (तदुक्खा) दु ख से आक्रान्त-पीडित है। (अओ) अत (सव्वे) सभी प्राणी (अहिंसिया) हिंसा करने योग्य नही हैं ॥९॥

(नाणिणो) विवेकी पुरुप के लिए (एय खु) यही (सार) सार—न्यायसगत है (ज) कि (किचण) स्थावर-जगम किमी जीव को (न हिंसइ) न मारे। (अहिंसा-

समय) अहिंसा के कारण सब जीवो पर समता रखना, (च) और उपलक्षण से सत्यादि, (एतावत एव) इतना ही (वियाणिया) जानना चाहिए ॥१०॥

(वुसिए) दस प्रकार की साधुसमाचारी मे स्थित (य) और (विगयगेही) आहार आदि मे गृद्धिरहित (आयाण) मोक्ष प्राप्त करने के साधन—आदानभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्र की (सम्मरक्खए या ए) सम्यक् प्रकार से रक्षा करे। (चरिआसणसेज्जासु) चर्या—चलने फिरने, आसन - बैठने, और शय्या सोने के विषय मे (अतसो य) और अन्तत (भत्तपाणे) आहार-पानी के विषय मे सदा उपयोग रखे ॥११॥

(एतेहिं) इन (तिहिं ठाणेहिं) तीन स्थानो के, (सयय) सतत—निरन्तर (सजए) सयम मे रत (मुणी) मुनि (उक्कस) उत्कर्ष—मान-अभिमान, (जलण) ज्वलन—क्रोध, (णूम) माया—कपट, (च) और (मज्झत्थ) लोभ का (विगिचए) परित्याग करे ॥१२॥

(भिक्खू) भिक्षाशील (साहू) साधु (सया) सदा (समिए उ) समिति से युक्त और (पचसवरसवुडे) पाँच सवर से आत्मा को आस्रव से रोकता (सुरक्षित रखता) हुआ (सिएहिं) गृहपाश—गृहस्थ के बन्धन मे बद्ध गृहस्थो मे (असिए) न बधता—मूर्च्छा न रखता हुआ (आमोक्खाय) मोक्ष की प्राप्तिपर्यन्त (परिव्वएज्जासि) सयम का अनुष्ठान करे। (त्ति बेमि) सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते है—इस प्रकार मैं कहता हूँ ॥१३॥

भावार्थ

औदारिक त्रसस्थावररूप जगत् के बाल्य, यौवन एव वृद्धत्व आदि सयोग (अवस्थाविशेष) स्थूल हैं, वे विपर्य्यय (दूसरे पर्याय) को भी प्राप्त होते हैं। सभी प्राणी दु खाक्रान्त है, या सभी प्राणियो को दु ख अप्रिय है, इसलिए सभी प्राणियो की हिंसा नही करनी चाहिए।

विवेकी पुरुष के लिए यही न्यायसगत सारभूत बात है कि त्रस-स्थावर किसी भी जीव की हिंसा न करे। और अहिंसा के कारण सब प्राणियो के प्रति समता रखना, इतना ही उसे जानना चाहिए।

दस प्रकार की साधुसमाचारी मे स्थित आहार आदि मे गृद्धि (आसक्ति) रहित साधु मोक्ष के आदानभूत (कारणभूत) ज्ञान-दर्शन-चारित्र की भलीभाँति रक्षा करे। तथा चलने-फिरने, उठने-बैठने, सोने तथा अन्ततोगत्वा आहार-पानी आदि के विषय मे सदैव उपयोग रखे।

वुसिए य विगयगेही आयाण स (सम्म) रक्खए ।
चरिआसणसेज्जासु, भत्तपाणे य अतसो ॥११॥

एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, सजए सतत मुणी ।
उक्कसं जलणं णूम, मज्झत्थ च विगिचए ॥१२॥

समिए य सया साहू, पंचसंवरसवुडे ।
सिएहिं असिए भिक्खू, अमोक्खाय परिव्वएज्जासि ॥१३॥

त्ति बेमि

सं . छाया

उदार जगतो योग विपर्यास पर्यन्ते ।
सर्वे आक्रान्तदु खाश्च, अत सर्वेऽहिंसिता ॥९॥

एव खलु ज्ञानिन सार यन्न हिनस्ति कञ्चन ।
अहिंसासमताञ्चेव, एतावद् विजानीयात् ॥१०॥

व्युषितश्च विगतगृद्धिरादान सम्यग्रक्षेत् ।
चर्य्यासनशय्यासु भक्तपाने चान्तश ॥११॥

एतेषु त्रिषु स्थानेषु सयत सतत मुनि ।
उत्कर्ष ज्वलन माया मध्यस्थ च विवेचयेत् ॥१२॥

समितस्तु सदा साधु पञ्चसवरसवृत ।
सितेष्वसितो भिक्षुरामोक्षाय परिव्रजेत ॥१३॥

इति ब्रवीमि

अन्वयार्थ

(जगओ) औदारिक त्रस-स्थावर जीवरूप जगत् का (जोग) बाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि सयोग—अवस्थाविशेष (उराल) स्थूल (उदार) है। (य) और वह (विवज्जास) विपर्यय को (पलिंति) प्राप्त होता है। (य) और (सव्वे) सभी प्राणी (अक्कतदुक्खा) दु ख से आक्रान्त-पीडित है। (अओ) अत (सव्वे) सभी प्राणी (अहिंसिया) हिंसा करने योग्य नही हैं ॥९॥

(नाणिणो) विवेकी पुरुष के लिए (एय खु) यही (सार) सार—न्यायसगत है (ज) कि (किचण) स्थावर-जगम किसी जीव को (न हिंसइ) न मारे। (अहिंसा-

समय) अहिंसा के कारण सब जीवो पर समता रखना, (च) और उपलक्षण मे सत्यादि, (एतावत एव) इतना ही (वियाणिया) जानना चाहिए ॥१०॥

(वुसिए) दस प्रकार की साधुसमाचारी मे स्थित (य) और (विगयगेही) आहार आदि मे गृद्धिरहित (आयाण) मोक्ष प्राप्त करने के साधन—आदानभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्र की (सम्मरक्खए या ए) सम्यक् प्रकार से रक्षा करे। (चरिआसणसेज्जासु) चर्या—चलने फिरने, आसन - बैठने, और शय्या - सोने के विषय मे (अतसो य) और अन्तत (भत्तपाणे) आहार-पानी के विषय मे सदा उपयोग रखे ॥११॥

(एतेहिं) इन (तिहिं ठाणेहिं) तीन स्थानो के, (सयय) सतत—निरन्तर (सजए) सयम मे रत (मुणी) मुनि (उक्कस) उत्कर्ष—मान-अभिमान, (जलण) ज्वलन—क्रोध, (णूम) माया—कपट, (च) और (मज्झत्थ) लोभ का (विगिचए) परित्याग करे ॥१२॥

(भिक्खू) भिक्षाशील (साहू) साधु (सया) सदा (समिए उ) समिति से युक्त और (पचसवरसवुडे) पाँच सवर से आत्मा को आस्रव से रोकता (सुरक्षित रखता) हुआ (सिएहिं) गृहपाश—गृहस्थ के वन्धन मे बद्ध गृहस्थो मे (असिए) न वधता—मूर्च्छा न रखता हुआ (आमोक्खाय) मोक्ष की प्राप्तिपर्यन्त (परिव्वएज्जासि) सयम का अनुष्ठान करे। (त्ति बेमि) सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं—इस प्रकार मैं कहता हूँ ॥१३॥

भावार्थ

औदारिक त्रसस्थावररूप जगत् के बाल्य, यौवन एव वृद्धत्व आदि सयोग (अवस्थाविशेष) स्थूल है, वे विपर्यय (दूसरे पर्याय) को भी प्राप्त होते है। सभी प्राणी दु खाक्रान्त है, या सभी प्राणियो को दु ख अप्रिय है, इसलिए सभी प्राणियो की हिंसा नही करनी चाहिए।

विवेकी पुरुष के लिए यही न्यायसगत सारभूत बात है कि त्रस-स्थावर किसी भी जीव की हिसा न करे। और अहिंसा के कारण सब प्राणियो के प्रति समता रखना, इतना ही उसे जानना चाहिए।

दस प्रकार की साधुसमाचारी मे स्थित आहार आदि मे गृद्धि (आसक्ति) रहित साधु मोक्ष के आदानभूत (कारणभूत) ज्ञान-दर्शन-चारित्र की भलीभाँति रक्षा करे। तथा चलने-फिरने, उठने-बैठने, सोने तथा अन्ततोगत्वा आहार-पानी आदि के विषय मे सदैव उपयोग रखे।

इन तीन (पूर्वोक्त ईर्यासमिति, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति तथा एषणासमिति—इन तीन) स्थानो मे निरन्तर सयम रखता हुआ मुनि मान, क्रोध, माया और लोभ का त्याग करे।

भिक्षणशील साधु सदा पाँच समितियो से युक्त और पाँच सवरो से आत्मा को सुरक्षित करके, गृहपाश मे बद्ध गृहस्थो मे मूर्च्छा न रखता हुआ मोक्षप्राप्ति-पर्यन्त सयम का पालन करे।

इस प्रकार श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते है—'यह मैं कहता हूँ।'

व्याख्या

सभी प्राणी अहिंस्य हैं क्यो और कैसे ?

शास्त्रकार ने ६वी गाथा से १३वी गाथा तक स्वसिद्धान्त (स्वसमय) के अनुसार कर्मबन्धन के निरोध (सवर) रूप अहिंसा आदि आचारधारा (विरति, अप्रमाद, कषाय-विजय, सम्यक्चारित्र) का सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया है। नौवी गाथा मे इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि समस्त प्राणियो के प्रति अहिंसा का पालन क्यो करना चाहिए ? न करे तो क्या आपत्ति है ? पूर्वगाथाओ मे लोकवाद तथा साख्य, वेदान्त आदि मतवादो की झाँकी दी गयी है कि वे आत्मा को एकान्त, कूटस्थनित्य मानते हैं, लोक को भी इसी प्रकार कूटस्थनित्य मानते हैं, कई यह भी मानते है कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही होता है, दूसरी पर्याय मे नही जाता। इन सब के विपरीत जैनदर्शन की मान्यतानुसार पर्यायदृष्टि से जीव विभिन्न पर्यायो को धारण करता है, इसलिए नाशवान् है। द्रव्यदृष्टि से वह नित्य है, अविनाशी है। यहाँ यह बताया गया है कि ससारी प्राणी विभिन्न पर्यायो को धारण रहते है। इसे स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार दृष्टान्त देते है—औदारिक शरीर वाले सभी जीवो का योग यानी अवस्थाविशेष उदार अर्थात् स्थूल है। औदारिक शरीर वाले प्राणी गर्भ, कलल और अर्बुदरूप पूर्वअवस्था को छोडकर उससे विपरीत बाल्य, यौवन एव वृद्धत्व आदि स्थूल अवस्थाओ को प्राप्त करते है। आशय यह है कि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदि प्राणियो की कालकृत बाल्य, कौमार्य एव वृद्धत्व आदि पर्याये प्रत्यक्ष ही भिन्न-भिन्न देखी जाती है। ये सब अवस्थाएँ दु ख से दु खतर तथा दु खतम है, जिन्हे ससारी जीव प्राप्त करते रहते है। अतएव वे दु ख से आक्रान्त हैं। परन्तु जो जैसा पहले होता है, वह सदा वैसा ही रहे, ऐसा नही देखा जाता। इसी प्रकार स्थावर-जगम सभी प्राणी भिन्न-भिन्न अवस्थाओ को प्राप्त करते हुए पाये जाते है। अत ससारी प्राणिमात्र मरणधर्मा है, वे मरकर विभिन्न योनियो मे, विविध पर्यायो को

प्राप्त करते है। मृत्यु, या किसी भी प्राणी पर प्रहार करना, भय, त्रास आदि देना—हिंसा है। सभी प्राणी मृत्यु, प्रहार, भय, त्रास आदि से डरते है, वे इन्हे चाहते नही हैं। जब मारने-पीटने वाला हिंसक स्वय अपने लिए प्रहार या सहार नही चाहता, तब दूसरे क्यो चाहेगे ? इस 'अप्पसम मन्निज छप्पिकाए' (अपनी आत्मा के समान छहो कायो के जीवो को समझे) के अनुसार यह निर्णय करे कि जब मे अपने आपको हिंसा के योग्य (हिंस्य) नही समझता तो इसी प्रकार समस्त जीवो को हिंस्य न समझे, अर्थात् अहिंस्य समझें। इसी बात को शास्त्रकार कहते है—'सव्वे अक्कंत-दुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया।' 'अक्कतदुक्खा' के दो रूप होते है—'आक्रान्तदु खा' और 'अकान्तदु खा'। आक्रान्तदु खा का अर्थ होता है—दु खो से आक्रान्त—व्याप्त, एव अकान्तदु खा का अर्थ है—जिन्हे दु ख अप्रिय है, व 'अहिंसिया' का अर्थ है—'अहिंस्या' हिंसा न करने योग्य अथवा हिंसा न करनी चाहिए। इस गाथा मे शास्त्र-कार ने प्राणिहिंसा न करने का कारण[1] बताया है, तथा प्राणियो को मारने से हिंसा होती हैं, क्योकि प्राणी जैसे जन्म लेते है, वैसे मरते भी ह, वे सर्वथा एकान्त-नित्य नही हैं।

ज्ञानी पुरुष के लिए न्याय्य अहिंसाचरण

दसवी गाथा मे भी अहिंसा पर जोर दिया गया है। साथ ही प्राणियो की हिंसा क्यो नही करनी चाहिए ? इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार करते हैं—'एव खु नाणिणो सार, जन्न हिंसइ किंचन'[2] अर्थात् विशिष्ट विवेकी यानी ज्ञानी पुरुष के इतने विपुल ज्ञान का सार या निचोड क्या है ? किसलिए उसने इतना ज्ञान प्राप्त किया ? आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त कराने और बन्धन को भली-भाँति समझ कर तोडने के लिए। आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त तभी हो सकती है, जब हिंसा आदि से विरत हो। यही कारण है कि 'ज्ञानस्य सार विरति' कहा है। यहाँ भी ज्ञानी के ज्ञान का सार किसी भी प्राणी की हिंसा न करना है, उपलक्षण से यहाँ झूठ न

---

१ दशवैकालिकसूत्र एव आचाराग मे भी इसी बात का समर्थन किया है—

(क) सव्वेजीवा वि इच्छति जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हापाणिवह घोर निग्गथा वज्जयति ण ॥ —दशवैकालिक

(ख) सव्वेसि जीविय पिय —आ ग

२ देखिये इसी से मिलती-जुलती एक आचार्य की गाथा—
किं तीए पढियाए पयकोडीए पलालभूयाए।
जत्थेत्तिय न नाय, परस्सपीडा न कायव्वा ॥

इन तीन (पूर्वोक्त ईर्यासमिति, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति तथा एपणासमिति—इन तीन) स्थानो मे निरन्तर सयम रखता हुआ मुनि मान, क्रोध, माया और लोभ का त्याग करे।

भिक्षणशील साधु सदा पाँच समितियो से युक्त और पाँच सवरो से आत्मा को सुरक्षित करके, गृहपाश मे बद्ध गृहस्थो मे मूर्च्छा न रखता हुआ मोक्षप्राप्ति-पर्यन्त सयम का पालन करे।

इस प्रकार श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते है—'यह मैं कहता हूँ।'

व्याख्या

सभी प्राणी अहिंस्य हैं क्यो और कैसे ?

शास्त्रकार ने ६वी गाथा से १३वी गाथा तक स्वसिद्धान्त (स्वसमय) के अनुसार कर्मबन्धन के निरोध (सवर) रूप अहिंसा आदि आचारधारा (विरति, अप्रमाद, कपाय-विजय, सम्यक्चारित्र) का सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया है। नौवी गाथा मे इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि समस्त प्राणियो के प्रति अहिंसा का पालन क्यो करना चाहिए ? न करे तो क्या आपत्ति है ? पूर्वगाथाओ मे लोकवाद तथा साख्य, वेदान्त आदि मतवादो की झांकी दी गयी है कि वे आत्मा को एकान्त, कूटस्थनित्य मानते है, लोक को भी इसी प्रकार कूटस्थनित्य मानते हैं, कई यह भी मानने है कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही होता है, दूसरी पर्याय मे नही जाता। इन सब के विपरीत जैनदर्शन की मान्यतानुसार पर्यायदृष्टि से जीव विभिन्न पर्यायो को धारण करता है, इसलिए नाशवान् है। द्रव्यदृष्टि से वह नित्य है, अविनाशी है। यहाँ यह बताया गया है कि ससारी प्राणी विभिन्न पर्यायो को धारण रहते है। इसे स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार दृष्टान्त देते हैं—औदारिक शरीर वाले सभी जीवो का योग यानी अवस्थाविशेप उदार अर्थात् स्थूल है। औदारिक शरीर वाले प्राणी गर्भ, कलल और अर्बुदरूप पूर्वअवस्था को छोडकर उससे विपरीत बाल्य, यौवन एव वृद्धत्व आदि स्थूल अवस्थाओ को प्राप्त करते है। आशय यह है कि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदि प्राणियो की कालकृत बाल्य, कौमार्य एव वृद्धत्व आदि पर्याये प्रत्यक्ष ही भिन्न-भिन्न देखी जाती है। ये सब अवस्थाएँ दुःख से दुःखतर तथा दुःखतम है, जिन्हे ससारी जीव प्राप्त करते रहते है। अतएव वे दुःख से आक्रान्त हैं। परन्तु जो जैसा पहले होता है, वह सदा वैसा ही रहे, ऐसा नही देखा जाता। इसी प्रकार स्थावर-जगम सभी प्राणी भिन्न-भिन्न अवस्थाओ को प्राप्त करते हुए पाये जाते है। अत ससारी प्राणिमात्र मरणधर्मा है, वे मरकर विभिन्न योनियो मे, विविध पर्यायो को

प्राप्त करते है। मृत्यु, या किसी भी प्राणी पर प्रहार करना, भय, त्रास आदि देना—हिंसा है। सभी प्राणी मृत्यु, प्रहार, भय, त्रास आदि से डरते हैं, वे इन्हे चाहते नही हैं। जब मारने-पीटने वाला हिंसक स्वय अपने लिए प्रहार या सहार नहीं चाहता, तब दूसरे क्यो चाहेगे ? इस 'अप्पसम मन्निज छप्पिकाए' (अपनी आत्मा के समान छहो कायो के जीवो को समझे) के अनुसार यह निर्णय करे कि जब मैं अपने आपको हिंसा के योग्य (हिंस्य) नही समझता तो इसी प्रकार समस्त जीवों को हिंस्य न समझे, अर्थात् अहिंस्य समझे। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'सव्वे अक्कत-दुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया।' 'अक्कतदुक्खा' के दो रूप होते है—'आक्रान्तदु खा' और ' न्तदु खा.'। आक्रान्तदु खा का अर्थ होता है—दु खो से आक्रान्त—व्याप्त, एव अकान्तदु खा का अर्थ है—जिन्हे दु ख अप्रिय है, व 'अहिंसिया' का अर्थ है—'अहिंस्या' हिंसा न करने योग्य अथवा हिंसा न करनी चाहिए। इस गाथा मे शास्त्र-कार ने प्राणिहिंसा न करने का कारण[1] बताया है, तथा प्राणियो को मारने से हिंसा होती है, क्योकि प्राणी जैसे जन्म लेते है, वैसे मरते भी हैं, वे सर्वथा एकान्त-नित्य नही है।

ज्ञानी पुरुष के लिए न्याय्य अहिंसाचरण

दसवी गाथा मे भी अहिंसा पर जोर दिया गया है। साथ ही प्राणियो की हिंसा क्यो नही करनी चाहिए ? इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार करते हैं—'एव खु नाणिणो सार, जन्न हिंसइ किचन'[2] अर्थात् विशिष्ट विवेकी यानी ज्ञानी पुरुष के इतने विपुल ज्ञान का सार या निचोड क्या है ? किसलिए उसने इतना ज्ञान प्राप्त किया ? आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त कराने और बन्धन को भली-भाँति समझ कर तोडने के लिए। आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त तभी हो सकती है, जब हिंसा आदि से विरत हो। यही कारण है कि 'ज्ञानस्य सार विरति' कहा है। यहा भी ज्ञानी के ज्ञान का सार किसी भी प्राणी की हिंसा न करना है, उपलक्षण से यहाँ झूठ न

---

१ दशवैकालिकसूत्र एव आचाराग मे भी इसी बात का समर्थन किया है—

(क) सव्वेजीवा वि इच्छति जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हापाणिवह घोर निग्गथा वज्जयति ण॥ —दशवैकालिक

(ख) सव्वेसिं जीविय पिय —आचाराग

२ देखिये इसी से मिलती-जुलती एक आचार्य की गाथा—

किं तीए पढियाए पयकोडीए पलालभूयाए।
जत्थेत्तिय न नाय, परस्सपीडा न कायव्वा॥

बोलना, न दी हुई किसी चीज को न लेना, मैथुन सेवन न करना, परिग्रहवृत्ति न रखना, रात्रि-भोजन न करना, इत्यादि का भी ग्रहण हो जाता है। अगर ज्ञानी पुरुष इतना भी न कर सका तो उसका ज्ञान निरर्थक ही नही, भारभूत एव परिग्रहरूप हो जाएगा। कहा भी है—

> कि तया पठितया पदकोट्या पलालभूतया।
> येनैतन्नज्ञात परस्य पीडा न कर्तव्या॥

अर्थात्—भूसे के ढेर के समान उन करोडो पदो के पढने से क्या लाभ, जिनसे इतना भी ज्ञान न हुआ कि दूसरो को पीडा नही देनी चाहिए।

साराश यह है कि ज्ञानी के लिए न्यायसगत यही है कि वह कर्मबन्धन के कारणभूत हिंसा आदि अविरति मे न पडे, कर्मास्रवो मे भी न पडे।

यहाँ प्रश्न होता है कि ज्ञानी साधक अहिंसा का आचरण क्यो करे? इसके उत्तर मे शास्त्रकार ने कहा—'अहिंसासमय चेव एतावत वियाणिया।' आशय यह है साधु ने दीक्षा लेते समय 'करेमि भते सामाइय' के पाठ से 'समता' की प्रतिज्ञा ली। यह अहिंसा भी एक प्रकार की समता है, अथवा समता का कारण है। जब साधक प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझता है, दूसरो की पीडा, दु ख, भय, त्रास आदि को अपनी पीडा, दु ख, भय और त्रास समझे, अथवा अपने प्राणो के समान ही दूसरे के प्राणो को समझे। जैसे मेरे देह आदि के विनाश, प्रहार आदि से मुझे दु ख का अनुभव होता है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियो को भी होता है। कहा भी है—

> प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
> आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन!।
> सुख वा यदि वा दु ख स योगी परमोमत॥

अर्थात्—जैसे हमे अपने प्राण प्रिय है, वैसे ही अन्य जीवो को भी अपने-अपने प्राण प्रिय है।

हे अर्जुन! जो पुरुष सर्वत्र आत्मौपम्यभाव से दूसरे के सुख या दु ख को अपने सुख-दु ख के समान समझता है, वही उत्कृष्ट योगी माना गया है।

इस प्रकार की समता का जीवन मे आ जाना ही अहिंसा है। भगवान् महावीर ने 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा' कहकर दूसरो के दु ख-सुख को अपनी आत्मा की तराजू पर तौलने का निर्देश दिया है। साथ ही उन्होने यह भी कहा है कि जिस प्राणी को तुम मारना, पीटना, सताना, डराना, अपना गुलाम बनाकर रखना चाहते हो, सोच लो, वह तुम्ही हो—यानी उसके स्थान पर मानो तुम ही हो—

तो तुम से हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि का व्यवहार हो ही कैसे सकेगा ?[1] वह यो सोचेगा कि अगर मुझे कोई मारे, पीटे, सताए, मेरे साथ झूठ बोले, मेरी चोरी करे, या मेरा सामान अपने कब्जे मे कर ले, मेरी बहन-बेटी की इज्जत लूटने लगे तो मुझे कैसा लगेगा ? क्या मुझे उससे दु ख न होगा ? अवश्य होगा । इसी प्रकार जब मैं दूसरे के साथ ऐसा ही हिंसा आदि का व्यवहार करूंगा तो उसे भी तो दु ख होगा । बस इसी समता-सूत्र से वह अहिंसा आदि का आचरण करे । अहिंसा इसी प्रकार की समता है, इतना-सा वह हृदयगम कर ले, दिल-दिमाग मे बिठा ले । यही इस गाथा का आशय है ।

कर्मबन्धनो से आत्म-रक्षा के लिए चारित्र-शुद्धि

ग्यारहवी गाथा मे शास्त्रकार चारित्र-शुद्धि के लिए कर्तव्यबोध दे रहे हैं । वास्तव मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र ये रत्नत्रय ही मिलकर मोक्षमार्ग है—कर्मबन्धनो से मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय है । ज्ञान-दर्शन की शुद्धि के लिए तो पिछली अनेक गाथाओ मे बहुत सुन्दर ढग से बताया है, अब यहाँ कुछ गाथाओ मे चारित्र शुद्धि पर खासतौर से जोर दिया है । क्योकि हिंसा आदि अविरति, प्रमाद, कषाय और मन-वचन-काया योग का दुरुपयोग ये सब चारित्र-दोष के कारणभूत है, दूसरे शब्दो मे कहे तो ये कर्मबन्धन के मुख्य कारण भी है । अत कर्मबन्धन के निरोध, आशिक क्षय या सर्वांशत क्षय के लिए [2]पाँच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति, दशधर्म, दश समाचारी, द्वादश अनुप्रेक्षा, तपस्या आदि चारित्र का पालन आवश्यक है । अत शास्त्रकार ने इस बात को यहाँ बताया है—'वुसिए य विगयगेही आयाणं सम्म रक्खए' ... अत्तसो ।' इस गाथा मे चारित्रपालन के सम्बन्ध मे ७ बाते सूचित की है—

(१) दस प्रकार की समाचारी मे स्थित रहे ।
(२) आहारादि मे गृद्धि न रखे ।
(३) रत्नत्रयरूप चारित्र का सम्यक् पालन करे ।
(४) ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणासमिति एव एषणासमिति का पालन करे ।

---

१ तुम सि नाम त चेव, ज चेव हतव्व ति मन्नसि
तुम सि नाम त चेव, ज चेव परिघेत्तव्व ति मन्नसि
तुम सि नाम त चेव, ज चेव अज्जावेयव्व ति मन्नसि
तुम सि नाम त चेव, ज चेव उद्दवेयव्व ति मन्नसि ॥

—आचाराग सूत्र

२ स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रै । तपसा निर्जरा च ।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० ९, २-३

दस प्रकार की समाचारी[1] चारित्र-शुद्धि के लिए आवश्यक मानी गई है। वह इस प्रकार है—(१) आवस्सिया—कही उपाश्रय आदि से बाहर जाना हो आवस्सही आवस्सही कहना आवश्यकी है। (२) निसीहिया—स्थान पर वापस आकर प्रवेश करते समय निस्सिही-निस्सिही कहना नैपधिकी है। (३) आपुच्छणा अपना कार्य करते समय बडो से पूछना आपृच्छनी है। (४) पडिपुच्छणा—दूसरो का कार्य करने के लिए पूछना प्रतिपृच्छना हे। (५) छदणा दूसरे को द्रव्य जाति के लिए आमन्त्रित करना छन्दना ह। (६) इच्छाकार— अपने और दूसरे के कार्य की इच्छा वताना या दूसरो को कर्तव्य-निर्देश करने से पहले उसे कहना आपकी इच्छा हो तो अमुक कार्य करिये, अथवा दूसरो की इच्छानुसार चलना इच्छाकार है। (७) मिच्छाकार - जो पाप-दोप लगा हो, भूल या त्रुटि हो गई हो, तो गुरु के समक्ष उसकी आलोचना करके प्रायश्चित्त लेना या 'मिच्छामि दु ' कहकर पश्चात्तापपूर्वक उस दोप आदि को मिथ्या (शुद्धि) करना—मिथ्याकार है। (८) तहक्कार—गुरु वचनो को तहत्ति— आप कहते है, वैसा ही है, यो सम्मानपूर्वक स्वीकार करना तथाकार हे। (९) अब्भुट्ठाण—गुरुजनो का वहुमान करने मे तत्पर—उद्यत रहना या वडो के आने पर खडा हाना अभ्युत्थानी समाचारी है। (१०) उवसपया— ज्ञान आदि के लिए गुरु के समीप विनीत भाव से रहना उपसम्पदा समाचारी है। यह दशविध समाचारी ससार-सागर से तारने वाली है। यह चारित्र से ही सम्बन्धित है, साधक को अनुशासन मे रखने वाली है। आहार आदि मे गृद्धि—आसक्ति भी परिग्रह (ममत्व) के अन्तर्गत है, और साधु को परिग्रह से बचना आवश्यक है। इसलिए यहाँ विगयगेही शब्द प्रयुक्त किया है।

उसके वाद है 'आयाण सम्मरक्खए'। उसका आशय यह है कि पूर्वोक्त दोनो गुणो से युक्त मुनि जिसके जरिये मोक्ष आदान—स्वीकार या प्राप्त किया जाता है उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष-मार्ग की सम्यक् प्रकार से रक्षा करे। रत्नत्रय की जिस किसी भी तरह से वृद्धि हो, वैसा करे। इसके वाद साधु को गमनादि-क्रिया मे लगने वाली हिंसा के परिहार के लिए तीन समितियो के पालन का सकेत

---

१ पढमा आवस्सिया नाम, विइया च निसीहिया।
आपुच्छणा य तइया, चउत्थो पडिपुच्छणा ॥२॥
पचमा छदणा नाम, इच्छाकारो य छट्ठओ।
सत्तमो मिच्छाकारो य, तहक्कारो य अट्ठमो ॥३॥
अब्भुट्ठाण नवम दसमा उवसपया।
एसा दसगा साहूण, सामायारी पवेइया ॥४॥ —उत्तरा० अ० २६

किया है। जैसे यतनापूर्वक चर्या—चलने-फिरने के लिए ईर्यासमिति का पालन करे। यानी साढे तीन हाथ परिमित भूमि (आगे की) देखकर गमन करे।

यतनापूर्वक प्रमार्जित भूमि पर आसन (बैठने) के लिए भी ईर्यासमिति का निर्देश है तथा शय्या (बिछौने) पट्टे आदि को भलीभांति देखकर प्रमार्जित करके उस पर स्थिति के लिए आदाननिक्षेपणासमिति बता दी है तथा आहार-पानी के विषय मे सम्यक् उपयोग रखे, निर्दोष आहार का ग्रहण एव सेवन करे, इसके लिए एषणासमिति का विधान है। उपलक्षण से यहाँ भाषासमिति और परिष्ठापना-समिति के पालन का भी सकेत समझ लेना चाहिए। यहाँ प्रकारान्तर से प्रमादत्याग का भी सकेत है। इस प्रकार यह गाथा चारित्र-शुद्धि मे सम्बन्धित है।

समितियुक्त मुनि के लिए कषाय का परित्याग आवश्यक

१२वी गाथा मे शास्त्रकार ने कषाय-त्याग का निर्देश किया है। क्योकि कर्मबन्धन के कारणो मे से एक कारण कषाय भी है। साधक मे कषाय रहेगा और बढता रहेगा तो बाहर से क्रिया-काण्ड करता या समितियुक्त प्रतीत होता हुआ भी साधु कषायग्रस्त होने के कारण अन्दर से खोखला होगा। इसलिए इस गाथा मे चारो कषायो का परित्याग करने का निर्देश किया गया। मान, क्रोध, माया और लोभ के लिए यहाँ क्रमश 'उक्कस', 'जलण', 'णूम' और 'मज्झत्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु इन चारो कषायो को भलीभाँति वही मुनि छोड सकता है, जो पूर्वोक्त तीन (ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणासमिति एव एषणासमिति) स्थानो मे सदा सयम रखता हो, सयत रहता हो। वही बात यहाँ कही है—**एतेहि तिहि ठाणेहिं सजए सतत मुणी**। यह कहकर शास्त्रकार ने साधु को प्रमाद से दूर रहने की बात सूचित कर दी है, क्योकि प्रमाद भी कर्मबन्धन का कारण है। एषणासमिति के साथ भाषासमिति और परिष्ठापना समिति का विधान भी तीसरे स्थान मे आ जाता है। क्योकि भिक्षा आदि के लिए गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर साधु का भाषण-सभाषण करना भी सम्भव है, इसलिए यहाँ भाषा समिति का भी समावेश समझ लेना चाहिए। तथा साधु आहार करेगा तो उच्चार और प्रस्रवण भी अवश्यभावी है। इसलिए उच्चार-प्रस्रवण के यतनापूर्वक विसर्जन के लिए उच्चारप्रस्रवणादि परिष्ठापनासमिति भी यहाँ आ जाती है। इन पाँचो समितियो का पालन कौन कर सकता है? इसके उत्तर मे यहाँ 'मुणी' शब्द प्रयुक्त है। तीनो लोको के स्वरूप को जानने तथा मनन करने वाला मुनि है। ऐसा मुनि जिससे आत्मा अभिमानयुक्त हो, उस मान को छोड दे, जो आत्मा को जलाता है, उस ज्वलन—क्रोध का भी त्याग करे। जिसका मध्य (हृदय) न जाना जा सके, उसे णूम—माया कहते है और ससारपयन्त जो प्राणियो के मध्य (मन मे) रहता है,

वह मध्यस्थ—लोभ है, इन दोनो को भी मुनि छोड दे। क्रोध के पहले मान शब्द का प्रयोग मान होने पर क्रोध की अवश्यम्भाविता को सूचित करने के लिए किया गया है।

साधक मोक्षप्राप्ति तक सयम मे डटा रहे

प्रथम अध्ययन चतुर्थ उद्देशक की इस अन्तिम (१३वी) गाथा मे शास्त्रकार साधु को कर्तव्यबोध देते है कि सयमी-जीवन मे कई उतार-चढाव आते हैं, पाँच महाव्रतो का कठोर पालन करना पडता है। पाच समितियो के पालन मे सदा सचेष्ट (मन वचन-काया से सदा गुप्त) रहना पडता है, तथा प्रतिक्षण अप्रमत्त एव सावधान रहना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त स्थविरकल्पी साधु आहार-पानी, निवास, प्रवचन आदि के सिलसिले मे बार-बार गृहस्थवर्ग से सम्पर्क आता है, उससे वास्ता रखे बिना कोई चारा नही, किन्तु गृहस्थपाश मे बँधे हुए गृहस्थो मे साधु आसक्ति न करे, उनसे किसी प्रकार की अपेक्षा न रखे, उनकी ललोचप्पो, चाटुकारी या झूठी प्रशसा न करे, उनसे निर्लिप्त रहने का प्रयत्न करे, अन्यथा उसका सयम खतरे मे पड सकता है। गृहस्थो के अतिससर्ग से आचार-शैथिल्य आने की सम्भावना है, प्रमाद एव कपाय से जीवन दूषित होना सम्भव है। अत जिस प्रकार कमल कीचड मे रहता हुआ भी उससे लिप्त नही होता, वैसे ही भिक्षण-शील, पचसमितियुक्त, पचमहाव्रतो से युक्त, पचसवरो से सवृत, तीन गुप्तियो से गुप्त साधु गृहस्थो मे निवास करता हुआ भी उनके कर्म (व्यवसाय आदि) से लिप्त न हो।

साथ ही शास्त्रकार अन्तिम चेतावनी देते हुए कहते हैं—हे भावभिक्षो! कर्मबन्धनो का क्षय करके उनसे मुक्त होने के लिए सतत सयम के अनुष्ठान मे रत रहो, अथवा मोक्ष होने तक सयम मे डटे रहो, उसे किसी भी परिस्थिति या सकटापन्न स्थिति मे छोडने का विचार मत करो। अन्यथा कर्मबन्धन काटने के लिए किया गया अब तक का पुरुषार्थ निष्फल हो जाएगा। सारा ही काता-पीजा कपास हो जाएगा।

इति (त्ति) शब्द अध्याय की परिसमाप्ति का द्योतक है। ब्रवोमि (बेमि) का अर्थ है—मैं कहता हू। यह गणधर सुधर्मास्वामी कहते है कि श्री तीर्थंकर भगवान् ने मुझसे जैसा कहा है, वैसा ही मैं कहता हूँ।

इस प्रकार सूत्रकृतागसूत्र के प्रथम अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक अमरसुखबोधिनी हित समाप्त हुआ। सूत्रकृतागसूत्र का प्रथम अ　　　भी सम्पूर्ण हुआ।

❀

ि ीय अध्ययन : वैतालीय

प्रथम उद्देशक अनित्यता-सम्बोध

यहाँ से दूसरे अध्ययन का प्रारम्भ होता है। प्रथम समय अध्ययन मे स्वसमय-परसमयवक्तव्य के सन्दर्भ से कर्मबन्धन से मुक्त होने तथा कर्मबन्धन मे फँसने से बचने का उपाय वतलाया गया था। इस दूसरे वैतालीय नामक अध्ययन मे भी कर्म-विदारण का उपाय बताया गया है। कर्म का नाश कैसे हो सकता है? कर्मों का बन्धन भी किन-किन परिस्थितियो मे, कैसे-कैसे हो जाता है? इन सब बातो पर अत्यन्त प्रकाश डाला गया है और कर्मबन्धन से सावधान रहने का उपदेश भी दिया है।

वेयालीय नाम क्यो ?

इस अध्ययन का नाम प्राकृत मे वेयालीय है। सस्कृत मे उसके दो रूप होते हैं—वैतालीय और वैदारिक। वैतालीय नाम रखने का कारण यह है कि यह अध्ययन वैतालीय[1] नामक छन्द मे है। उसी छन्द मे इस अध्ययन की रचना की गयी है, इसलिए इस अध्ययन का नाम भी वैतालीय रख दिया गया। वैतालीय छन्द का लक्षण इस प्रकार है—जिस वृत्त के प्रत्येक पाद के अन्त मे रगण, लघु और गुरु हो तथा प्रथम और तृतीय पाद मे छह-छह मात्राएँ हो तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद मे आठ-आठ मात्राएँ हो। समसख्या वाला लघु परवर्ण से गुरु न किया जाता हो तथा द्वितीय तथा चतुर्थ चरण मे लगातार छह लघु न हो, उसे वैतालीय छन्द कहते हैं।

---

१ वैतालीय छन्द का लक्षण यह है—

"वैतालीय लंगनैर्घना षड्युक्पादेऽष्टौ समे च ल।
न समोऽत्र परेण युज्यते नेत षट् च निरन्तरा युजो ॥"

—सूत्रकृ वृत्ति

वैतालीय नाम रखने के पीछे यह आशय भी प्रतीत होता है कि मोहरूपी वैताल (पिशाच) किस-किस प्रकार से साधक को पराजित कर देता है ? उससे कहा कहाँ, कैसे-कैसे बचना चाहिए ? इस प्रकार मोहरूप वैताल के अधिकार को लेकर जिसमे वर्णन हो, वह वैतालीय या वैतालिक अध्ययन अन्वर्थक है।

इस अध्ययन का दूसरा रूप 'वैदारिक' होता है। 'वि' उपसर्गपूर्वक 'दृ— विदारणे' धातु से क्रियावाचक विदारण करने के अर्थ मे विदार शब्द बनता है। विदारण से सम्बन्धित विषय जिसमे हो, उसे वैदारिक कहते हैं। जहाँ क्रिया होती है, वहाँ कर्ता, कर्म और करण—ये तीन अवश्य होते हैं। अत निर्युक्तिकार कहते हैं कि यहाँ (कर्म) विदारण करने वाला, विदारण का साधन और विदारण करने योग्य पदार्थ तीनो विद्यमान हैं। जैसे—काष्ठ को विदारण करने वाला व्यक्ति, काष्ठ-विदारण का साधन कुठार, तथा विदारण करने योग्य काष्ठ होता है, वैसे ही इस अध्ययन मे कर्मों को विदारण करने वाले साधक का वर्णन है, कर्म-विदारण का साधन पचसवर एव निर्जरा है, तथैव विदारण करने योग्य कर्मो का भी वर्णन है। इस दृष्टि से इस अध्ययन का नाम वैदारिक रखना उचित ही है। निर्युक्तिकार, चूर्णिकार एव वृत्तिकार तीनो इस अध्ययन का अर्थ वैदारिक तथा वैतालीय के रूप मे करते हैं। अथवा विदार का अर्थ है—विनाश। यहाँ राग-द्वेषरूप सस्कारो का विनाश विवक्षित है। जिस अध्ययन मे राग-द्वेष के विदार का वर्णन हो, उसका नाम भी वैदारिक है।

द्वितीय अध्ययन की पृष्ठभूमि

इस अध्ययन की पृष्ठभूमि यह है कि आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को जब अष्टापद-पर्वत पर केवलज्ञान केवलदर्शन उत्पन्न हो गया था, उन्ही दिनो भरत-चक्रवर्ती ने अपने सभी भाइयो को अपने अधीन करना चाहा। इस पर विक्षुब्ध होकर भरत के द्वारा सताये गये वे ९८ भाई अपने पूज्यपिता आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की सेवा मे पहुँचे और उनसे पूछा—"भगवन् ! भरत हम लोगो से अपनी आज्ञा पालन कराना चाहता है, हमारा स्वाभिमान उसकी गुलामी (अधीनता) स्वीकार करने की आज्ञा नही देता। अत हमे बोध दीजिए कि हमे क्या करना चाहिए ?" भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को ससार के पदार्थों की अनित्यता, विषयभोगो के कटुफल तथा ससार की असारता का उपदेश दिया तथा मोक्ष के राज्य को प्राप्त करने की प्रेरणा दी।[1] उस वैराग्यप्रद उपदेश को सुनकर

---

1 काम तु सासणमिण कहिय अट्ठावयम्मि उसभेण।
अट्ठाणउतिसुयाण सोऊण ते वि पव्वइया॥" —सूत्र० निर्युक्ति

उनके ९८ पुत्रो ने ससार को असार और विपयो को अनित्य जानकर तथा आयु को पर्वतीय नदी के समान चचल एव यौवन को अस्थिर मानकर पिताजी (ऋपभदेव भगवान्) की आज्ञा का पालन ही श्रेयस्कर समझा और उनके पास प्रव्रज्या धारण कर ली।

भगवान् ऋपभदेव का वह उपदेश क्या था? उन्होंने किस प्रकार का बोध अपने ९८ पुत्रो को दिया था? वह उपदेश राग-द्वेप विदारण मे कितना उपयोगी था? यही इस अध्ययन मे विविध पहलुओ मे बताया गया है।

उद्देशको का परिचय

इस अध्ययन मे तीन उद्देशक हे। प्रथम उद्देशक मे २२, दूसरे उद्देशक मे ३२ और तृतीय उद्देशक मे २२ गाथाएँ है। इस प्रकार वैतालीय अध्ययन मे कुल मिलाकर ७६ गाथाएँ है। निम्नोक्त दो गाथाओ द्वारा निर्युक्तिकार तीनो उद्देशको मे क्या-क्या विपय है? इसका निरूपण करते है—

पढमे सबोहो अनिच्चया य, बीयमि माणवज्जणया।
अहिगारो पुण भणिओ, तहा तहा बहुविहो तत्थ॥
उद्देसमि य तइए अन्नाणचियस्स अवचओ भणियो।
वज्जेयव्वो य सया सुहप्पमाओ जइजणेण॥

प्रथम उद्देशक मे हित की प्राप्ति और अहित के त्याग का बोध एव अनित्यता का उपदेश है। दूसरे उद्देशक मे अभिमानत्याग का वर्णन है तथा अनेक प्रकार के शब्दादि विषयो की अनित्यता का प्रतिपादन किया है। तीसरे उद्देशक मे बताया गया है कि अज्ञान के द्वारा बढे हुए कर्मो का नाश करना आवश्यक है। इसके लिए साधुवर्ग को सुखशीलता एव प्रमाद का सदा त्याग करना चाहिए।

प्रथम अध्ययन के अन्तिम उद्देशक की अन्तिम गाथा मे बताया गया था कि 'आमो परिव्वए' अर्थात् मोक्षप्राप्तिपर्यन्त प्रव्रज्या का पालन करना चाहिए। इस कथन का अनुसरण करते हुए भगवान् आदिनाथ ने भरत के द्वारा पीडित अपने सासारिक पुत्रो को जो उपदेश दिया था, उसे ही शास्त्रकार प्रथम गाथा से प्रारम्भ करते हैं—

मूल

संबुज्झह किं न बुज्झह? सबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमति राइओ, नो सुलभ पुणरावि जीविय॥१॥

वैतालीय नाम रखने के पीछे यह आशय भी प्रतीत होता है कि मोहरूपी वैताल (पिशाच) किस-किस प्रकार से साधक को पराजित कर देता हे ? उससे कहाँ कहाँ, कैसे कैसे वचना चाहिए ? इस प्रकार मोहरूप वैताल के अधिकार को लेकर जिसमे वर्णन हो, वह वैतालीय या वैतालिक अध्ययन अन्वर्थक है।

इस अध्ययन का दूसरा रूप 'वैदारिक' होता है। 'वि' उपसर्गपूर्वक 'दृ— विदारणे' धातु से क्रियावाचक विदारण करने के अर्थ मे विदार शब्द बनता है। विदारण से सम्बन्धित विषय जिसमे हो, उसे वैदारिक कहते हैं। जहाँ क्रिया होती है, वहाँ कर्ता, कर्म और करण—ये तीन अवश्य होते हैं। अत निर्युक्तिकार कहते हैं कि यहाँ (कर्म) विदारण करने वाला, विदारण का साधन और विदारण करने योग्य पदार्थ तीनो विद्यमान है। जैसे—काष्ठ को विदारण करने वाला व्यक्ति, काष्ठ-विदारण का साधन कुठार, तथा विदारण करने योग्य काष्ठ होता है, वैसे ही इस अध्ययन मे कर्मो को विदारण करने वाले साधक का वर्णन है, कर्म-विदारण का साधन पचसवर एव निर्जरा है, तथैव विदारण करने योग्य कर्मो का भी वर्णन है। इस दृष्टि से इस अध्ययन का नाम वैदारिक रखना उचित ही है। निर्युक्तिकार, चूर्णिकार एव वृत्तिकार तीनो इस अध्ययन का अर्थ वैदारिक तथा वैतालीय के रूप मे करते है। अथवा विदार का अर्थ है—विनाश। यहाँ राग-द्वेपरूप सस्कारो का विनाश विवक्षित है। जिस अध्ययन मे राग-द्वेप के विदार का वर्णन हो, उसका नाम भी वैदारिक है।

द्वितीय अध्ययन की पृष्ठभूमि

इस अध्ययन की पृष्ठभूमि यह है कि आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को जब अष्टापद-पर्वत पर केवलज्ञान केवलदर्शन उत्पन्न हो गया था, उन्ही दिनो भरत-चक्रवर्ती ने अपने सभी भाइयो को अपने अधीन करना चाहा। इस पर विक्षुब्ध होकर भरत के द्वारा सताये गये वे ९८ भाई अपने पूज्यपिता आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की सेवा मे पहुँचे और उनसे पूछा—"भगवन्! भरत हम लोगो से अपनी आज्ञा पालन कराना चाहता है, हमारा स्वाभिमान उसकी गुलामी (अधीनता) स्वीकार करने की आज्ञा नही देता। अत हमे बोध दीजिए कि हमे क्या करना चाहिए ?" भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को ससार के पदार्थो की अनित्यता, विषयभोगो के कटुफल तथा ससार की असारता का उपदेश दिया तथा मोक्ष के शाश्वत राज्य को प्राप्त करने की प्रेरणा दी।[1] उस वैराग्यप्रद उपदेश को सुनकर

१ काम तु सासणमिण कहिय अट्ठावयम्मि उसभेण।
अट्ठाणउतिसुयाण सोऊण ते वि पव्वइया॥" —सूत्र० निर्युक्ति

उनके ६८ पुत्रो ने ससार को असार और विपयो को अनित्य जानकर तथा आयु को पर्वतीय नदी के समान चचल एव यौवन को अस्थिर मानकर पिताजी (ऋपभदेव भगवान्) की आज्ञा का पालन ही श्रेयस्कर समझा और उनके पास प्रव्रज्या धारण कर ली।

भगवान् ऋपभदेव का वह उपदेश क्या था? उन्होंने किस प्रकार का बोध अपने ६८ पुत्रो को दिया था? वह उपदेश राग द्वेप-विदारण मे कितना उपयोगी था? यही इस अध्ययन मे विविध पहलुओ मे बताया गया है।

उद्देशको का परिचय

इस अध्ययन मे तीन उद्देशक है। प्रथम उद्देशक मे २२, दूसरे उद्देशक मे ३२ और तृतीय उद्देशक मे २२ गाथाएँ है। इस प्रकार वैतालीय अध्ययन मे कुल मिलाकर ७६ गाथाएँ हैं। निम्नोक्त दो गाथाओ द्वारा निर्युक्तिकार तीनो उद्देशको मे क्या-क्या विपय है? इसका निरूपण करते है—

पढमे सबोहो अनिच्चया य, बीयमि माणवज्जणया।
अहिगारो पुण भणिओ, तहा तहा बहुविहो तत्थ॥
उद्देसमि य तइए अन्नाणचियस्स अवचओ भणियो।
वज्जेयव्वो य सया सुहप्पमाओ जइजणेण॥

प्रथम उद्देशक मे हित की प्राप्ति और अहित के त्याग का बोध एव अनित्यता का उपदेश है। दूसरे उद्देशक मे अभिमानत्याग का वर्णन है तथा अनेक प्रकार के शब्दादि विपयो की अनित्यता का प्रतिपादन किया है। तीसरे उद्देशक मे बताया गया है कि अज्ञान के द्वारा बढे हुए कर्मों का नाश करना आवश्यक है। इसके लिए साधुवर्ग को सुखशीलता एव प्रमाद का सदा त्याग करना चाहिए।

प्रथम अध्ययन के अन्तिम उद्देशक की अन्तिम गाथा मे बताया गया था कि 'आमो परिव्वए' अर्थात् मोक्षप्राप्तिपर्यन्त प्रव्रज्या का पालन करना चाहिए। इस कथन का अनुसरण करते हुए भगवान् आदिनाथ ने भरत के द्वारा पीडित अपने सासारिक पुत्रो को जो उपदेश दिया था, उसे ही शास्त्रकार प्रथम गाथा से प्रारम्भ करते है—

मूल

संबुज्झह किं न बुज्झह? सबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमति राइओ, नो सुलभ पुणरावि जीविय॥१॥

स त छाया

सबुध्यध्व कि न बुध्यध्व ? सम्बोधि खलु प्रेत्य दुर्लभा ।
नो हूपनमन्ति रात्रय, नो सुलभ पुनरपि जीवितम् ॥१॥

अन्वयार्थ

(सबुज्झह) हे भव्यो ! तुम बोध प्राप्त करो, (किं न बुज्झह) बोध क्यो नही प्राप्त करते ? (पेच्च) मरने के पश्चात् परलोक मे (सबोही) बोध प्राप्त करना (दुल्लहा खलु) अवश्य ही दुर्लभ है । (राइओ) बीती हुई रात्रियाँ (णो हु उवणमति) लौट कर नही आती है । (जीविय) और सयमी जीवन (पुणरावि) फिर तो (नो सुलभ) सुलभ नही है ।

भावार्थ

हे भव्यो ! तुम बोध प्राप्त करो । तुम बोध क्यो नही प्राप्त करते ? जो राते बीत चुकी हैं वे वापस लौटकर नही आती और यह सयमी जीवन भी फिर सुलभ नही है ।

•

दुर्लभ बोधि प्राप्त करने का उपदेश

इस गाथा मे आदितीर्थंकर भगवान् श्री ऋषभदेव भरत चक्रवर्ती के द्वारा तिरस्कृत होकर विरक्त अपने सासारिक पुत्रो को लक्ष्य करके उपदेश देते है अथवा सुर-असुर, मनुष्य, नाग और तिर्यचो के प्रति भगवान् कहते है—'भव्यो ! तुम बोध प्राप्त करो ।' वास्तव मे बोधि प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है । यह हम पहले अध्ययन मे स्पष्ट कर आए हैं । वास्तव मे अनेक जन्मो के पश्चात् भी मनुष्य को बोध प्राप्त होना दुष्कर होता है । अत आठ प्रकार के कर्मो को विदारण करने वाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप उत्तमधर्म का बोध प्राप्त करना चाहिए । बोध प्राप्त करने का यही उत्तम है, इस जन्म के बाद फिर अगले जन्म मे बोध-प्राप्ति की नही रखनी चाहिए । मानलो, अनेक जन्मो के बाद मनुष्य-जन्म मिल भी गया, तो भी आर्यदेश, कर्मभूमि, उत्तम कुल, पाँचो इन्द्रियाँ, स्वस्थ शरीर, दीर्घायु, श्रेष्ठ धर्म आदि का प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है । इस प्रकार का उत्तम वातावरण मिले बिना धर्म का बोध करना कितना दुष्कर है ? यह समझा जा सकता है । इसीलिए भगवान् ने कहा—इस उत्तम अवसर को चूक गए और सम्बोधि प्राप्त नही की, तो फिर आगे सम्बोधि प्राप्त होना बहुत मुश्किल है । क्यो कठिन है ? इसके समाधान के लिए कहते हैं—'नो हूवणमति राइओ !' रात्रियाँ, जो बीत

चुकी है, वे वापस लौट कर नही आती। यह तो प्रकृति का स्वाभविक नियम है। रात्रि शब्द से यहाँ उपलक्षण से दिन, पहर, घण्टा, घडी आदि समय के सभी विभाग समझ लेने चाहिए। इसका रहस्य यही है कि मनुष्य को यही सोचकर चलना चाहिए कि मैं अभी जो कुछ धर्माचरण कर लूँगा, वही क्षण मेरा है। इस प्रकार रात और दिन तो अपनी गति से चले जा रहे है। मनुष्य को चाहिए कि उत्तम जीवन सम्बन्धी सामग्री प्राप्त करके वह इसे प्रमाद, कषाय, विषय-सेवन आदि तुच्छ बातो मे न खोए। वह जितना भी हो सके सद्धर्म का बोध प्राप्त करके आत्मस्वरूप का उत्तम ज्ञान पाकर अपने जीवन को आत्म-साधना या धर्माराधना मे लगाए।

'मनुष्य जन्म तो बहुत सस्ता है, यह जिंदगी तो फिर मिल जाएगी', ऐसा सोचना भी मूर्खता है। क्योकि यह मालूम नही है कि वह मरकर किस गति या योनि मे जाएगा ? इसलिए एक बार बाजी हाथ मे से चली गई तो फिर हाथ आनी कठिन है। यही बात शास्त्रकार कहते है—'नो सुलभ पुणरावि जीविय' जिसने इस जन्म मे धर्माचरण नही किया, उस व्यक्ति को परलोक मे भी ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपी धर्म का मिलना दुष्कर है। जो व्यक्ति एक बार भी विषयासक्ति मे पडकर धर्माचरण से भ्रष्ट हो जाता है, वह फिर अनन्तकाल तक इस ससार मे परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए शास्त्रकार पुकार-पुकार कर कहते हैं—'उट्ठिए नो पमायए'। उठो, प्रमाद मत करो। जो जवानी चली गई है, क्या वह लौटकर वापस आ सकती है ? इसलिए किसी सुविज्ञ ने कहा है—

> भवकोटिभिरसुलभ मानुष्य प्राप्य क प्रमादो मे ?
> नहि गतमायुर्भूय प्रत्येत्यपि देवराजस्य ?॥

अर्थात्—करोडो जन्मो के बाद भी दुर्लभ मानव-जन्म को पाकर मैं क्यो प्रमाद कर रहा हूँ ? बीती हुई आयु कदापि लौटकर नही आती, चाहे वह इन्द्र की ही आयु क्यो न हो।

और फिर मनुष्य जीवन मिल भी जाए तो भी सयमप्रधान जीवन प्राप्त होना सुलभ नही है।

द्रव्यनिद्रा से जागना द्रव्यसम्बोध है, वह इतना दुर्लभ नही है, किन्तु भाव-निद्रा (ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शून्यता) से जागना अत्यन्त दुर्लभ है। यहाँ शास्त्रकार का आशय द्रव्यसबोध से नही है, भावसबोध से है, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप-सयम का स्वीकार करने पर प्राप्त होता है। यहाँ इस भावबोध की दुर्लभता बताकर इस बोध को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है—"सबुज्झह सबोही दुल्लहा।" यहाँ द्रव्य और भाव के भेद से सोने और जागने की चौभगी समझ लेनी

चाहिए। जैसे एक साधक द्रव्य से सोता है, भाव से जागता है, यह प्रथम भग है, दूसरा साधक द्रव्य से जागता है, भाव से सोता है, तीसरा साधक द्रव्य और भाव दोनो से सोता हे, और चौथा साधक द्रव्य और भाव दोनो से जागता है। इसमे चतुर्थ भगवाला साधक सर्वोत्तम है जो शरीर से भी जागता है, और ज्ञान-दर्शन-चारित्र से भी। दूसरे नम्बर मे पहले भगवाला साधक ठीक है, जो शरीर से सोता है, किन्तु ज्ञानादित्रय से जागता है। दूसरा और तीसरा साधक ठीक नही है।

अगली गाथा मे फिर भगवान् ऋपभदेव अपने पुत्रो को पुन उपदेश देते हुए जीवन की अस्थिरता का प्रतिपादन करते है—

मूल

डहरा बुड्ढा य पासह गब्भत्था वि चयति माणवा।
सेणे जह वट्टय हरे, एव आउक्खयमि तुट्टई ॥२॥

सस्कृत छाया

दहरा वृद्धाश्च पश्यत गर्भस्था अपि त्यजन्ति मानवा ।
श्येनो यथा वर्तिका, हरेदेवमायु क्षये त्रुट्यति ॥२॥

अन्वयार्थ

(डहरा) छोटे बच्चे (बुड्ढा) बूढे (य) और (गब्भत्था वि) गर्भस्थ शिशु भी (माणवा) मानव (चयति) अपने जीवन को छोड देते हे। (पासह) यह देखो, (जह) जैसे (सेणे) श्येन —बाज (वट्टय) बटेर पक्षी को (हरे) हर लेता (मार डालता) है। (एव) इसी तरह (आउक्खयमि) आयुक्षय होने पर (तुट्टई) जीवो का जीवन भी नष्ट हो जाता है।

भावार्थ

भगवान् ऋषभदेव स्वामी अपने पुत्रो से कहते हैं—पुत्रो ! शिशु, वृद्ध एव गर्भस्थ मनुष्य भी अपने जीवन को छोड देते हैं, यह देखो ! जैसे बाज (श्येन पक्षी) वर्तक (बटेर) पर झपटकर उसे मार डालता है, वैसे ही मृत्यु आयुक्षय होते ही प्राणियो के प्राणो को खत्म कर देता है।

मृत्यु किसी को नहीं छोडती

समारी जीवो की (देवता, नारक एव तीर्थंकर आदि चरम-शरीरी जीवो के सिवाय) आयुष्य सोपक्रम होने के कब टूट जाएगी और जीवन का

घट कब फूट जाएगा, यह निश्चित नही है। इस बात को भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रो के समक्ष दृष्टान्त सहित प्रस्तुत करते है—'डहरा वुड्ढा य ।' आशय यह है कि मृत्यु किसी भी प्राणी को नही छोडती। चाहे वह बालक और विशेषत राजा का पुत्र ही क्यो न हो, बूढे को तो मृत्यु छोड ही नही सकती। चाहे वह कितनी ही जडी-बूटियाँ, रसायन या भस्म खा ले, चाहे वह तलघर मे, पर्वत की गुफा मे या पाताल मे कही भी जाकर छिप जाय, चाहे वह वृद्ध कायाकल्प ही क्यो न कर ले। मृत्यु उसे भी नही छोडती। मृत्यु पर उत्तम पुरुषो के सिवाय किसी ने विजय प्राप्त नही की। वह तो गर्भस्थ शिशु को भी आयुक्षय हो जाए तो ले जाती है। अथवा शास्त्रकार का भगवान ऋषभदेव के कथन को उट्टंकित करने का आशय यह भी हो सकता है कि साधारण मनुष्यो की आयु क्षणभगुर है। आयुष्य की डोरी कब टूट जाएगी, यह उसे पता नही होता। अत बालक, वृद्ध, युवक या गर्भस्थ सभी मानव एक न एक दिन इस शरीर को (उपलक्षण से शरीर से सम्बद्ध पुत्र, कलत्र, धन, धरा, धाम आदि सबको) छोडकर चल देते है। जैसे बटेर पक्षी पर बाज हमला करके उसके जीवन को नष्ट कर देता है, वैसे ही मृत्यु आयुक्षय होते ही मनुष्य पर टूट पडती है और उसके जीवन को नष्ट कर देती है। इसे ही शास्त्रकार भगवान ऋषभदेव के शब्दो मे कहते है—'सेणे जह आउक्खयमि तुट्टई।'

पुत्र के द्वारा पिण्डदान या तर्पण करने पर माता-पिता को सुगति प्राप्त हो जाती है, इस भ्रमपूर्ण मान्यता का खण्डन करते हुए शास्त्रकार अगली गाथा मे भगवान् ऋषभदेव के शब्दो मे कहते हैं—

मूल पाठ

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ, नो सुलहा सुगई अ पेच्चओ ।
एयाइ भयाइ पेहिया, आरभा विरमेज्ज सुव्वए ॥३॥

सस्कृत छाया

मातृभि पितृभिर्लुप्यते, नो सुलभा सुगतिश्च प्रेत्य।
एतानि भयानि प्रेक्ष्य, आरम्भाद् विरमेत सुव्रत ॥३॥

अन्वयार्थ

(मायाहिं पियाहिं) कोई व्यक्ति माता-पिता आदि के मोह मे पडकर उन्ही के कारण से (लुप्पइ) मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं, ससार-भ्रमण करते हैं। (पेच्चओ) उनके मरने पर (परलोक मे) (सुगई) सुगति—मनुष्यगति या देवगति, (नो सुलहा) सुलभ नही होती, आसानी से प्राप्त नही होती। (सुव्वए) सुव्रत पुरुष (एयाई

भयाइ) इन खतरो—भयस्थानो को (पेहिया) देखकर—जानकर, (आरभा) पहले से ही, आरम्भ से (विरमेज्ज) विरत-निवृत्त हो जाय ।

भावार्थ

कोई माता-पिता आदि स्वजनो के मोह मे पडकर धर्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाते है । माता-पिता आदि उन मोहासक्त लोगो को ससार परिभ्रमण कराते है । ऐसे लोगो को मरने पर परलोक मे सुगमता से सद्गति प्राप्त नही होती । सुव्रती पुरुष को इन भयस्थलो (खतरो) पर विचार करके पहले से ही आरम्भ से निवृत्त हो जाना चाहिए ।

व्याख्या

माता-पिता आदि का मोह ससार-भ्रमण का कारण

पूर्वगाथा मे मृत्यु की अनिवार्यता बताई गई थी, मृत्यु की अनिवार्यता बताने का रहस्य यह है कि मनुष्य धर्माचरण करे, ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मो की आराधना करे, ताकि उसे जन्म-मृत्यु का कोई खतरा न रहे । इस पर कोई माता-पिता आदि अपनी मृत्यु को रोकने अथवा मृत्यु हो जाय तो भी दुर्गति से अपने आपको बचाने के लिए अपने पुत्र, भतीजे, भानज आदि को अपने प्रति मोहासक्त करने का प्रयत्न करते है, वह इसलिए कि पुत्र आदि उनकी मृत्यु को रोकने का भरसक प्रयत्न करे, अथवा मृत्यु को न रोक सके तो मरने के बाद उन्हे पिण्डदान दें, उनकी श्राद्धक्रिया करे, पितरो को तर्पण करे, ताकि उन पितरो (माता-पिता आदि) को सद्गति प्राप्त हो जाय ।

जैसा कि उनके धर्मग्रन्थो मे उल्लेख है—

> अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च, नैव च ।
> तस्मात् पुत्रमुख , ॥

अर्थात्—जो पुत्रवान नही है, उसकी सुगति नही हो सकती, क्योंकि पुत्र के विना माता-पिता आदि को कौन पिण्डदान देगा, कौन तर्पण करेगा ? अत पुत्रहीन को स्वर्ग नही मिल सकता, कदापि नही मिल सकता । इसलिए पुत्र का मुख देखकर मनुष्य आनन्द से मृत्यु प्राप्त करे । कितना अज्ञान और भ्रम है, इस मान्यता के पीछे ? अगली गाथा मे शास्त्रकार स्वय बताएँगे कि सुगति-दुर्गति का दाता पुत्र या और कोई नही हो , मनुष्य के अपने किये हुए शुभाशुभ कर्म ही सुगति-दुर्गति के दाता हैं । 'सयमेव कडेहिं गाहन्ति' इस अगली गाथा के चरण मे उक्त न्याय से

मनुष्य सुगति या दुर्गति अपने ही कृतकर्मों से प्राप्त करता है। तव पुत्र अथवा पुत्र-तुल्य कोई भी व्यक्ति अपने माता-पिता अथवा माता-पितातुल्य चाचा, मामा, दादा, दादी आदि को न तो तार सकता है, और न पितृतर्पण आदि क्रियाओ मे उनकी दुर्गति को बचा सकता है। अगर सुगति प्राप्त करने का उपाय इतना सस्ता हो तो प्रत्येक व्यक्ति चाहे जितने मनमाने पापकर्म करके परलोक जाते समय अपने पुत्र को कहकर पिण्डदान आदि क्रिया कराकर सुगति प्राप्त कर सकता है। फिर तो किसी को दुर्गति होगी ही नही। अत यह मान्यता भ्रमपूर्ण है।

फिर भी बहुत-से लोग अज्ञानवश अपने पुत्र या पुत्रतुल्य स्वजन पर स्वय भी आसक्त होकर मोह-ममता मे लीन रहते हैं और पुत्र या पुत्रतुल्य स्वजन को मोह-ममता की घुट्टी पिलाकर बार-बार मोह मे प्रेरित करते है और मरने के वाद पिण्डदान या तर्पण के लिए उसे वचनबद्ध कर देते हैं। इस प्रकार माता पिता आदि के अज्ञान और मोह के कारण पुत्र आदि भी माता-पिता आदि के प्रति मोहान्ध होकर नाना प्रकार के महारम्भ, आस्रवसेवन आदि करके धर्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाते है। धर्माचरण के प्रति न तो माता पिता आदि उद्यम करते है, और न पुत्रादि ही धर्माचरण मे पुरुषार्थ करते है। फलत ऐसे मोहान्ध एव पुत्रासक्त माता-पिता आदि के निमित्त से धर्मभ्रष्ट होकर ससार मे भटकते है।

इस गाथा के **'मायाहि पियाहि लुप्पई'** इस चरण मे तृतीया का वहुवचनान्त प्रयोग है। माता-पिता के लिए तो एकवचन का प्रयोग ही पर्याप्त होता, किन्तु वहुवचन का प्रयोग किया गया है, इसके पीछे रहस्य यही प्रतीत होता है कि माता या पिता सिर्फ जन्म देने वाले ही नही कहलाते, पितामह, मातामह, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, मामा-मामी आदि भी माता-पिता के तुल्य माने जाते है। अथवा **'मायाहि पियाहि'** यह वहुवचनान्त प्रयोग अनेक जन्मो के सम्बन्ध का सूचक है। अथवा यह वहुवचनान्त प्रयोग माता-पिता के सिवाय अन्य सभी पारिवारिकजनो का भी उपलक्षण से सूचक है। मनुष्य इन सभी के अथवा इनमे से एक-एक के प्रति परस्पर गाढ मोहान्धता के कारण अनुचित आरम्भ-समारम्भादि या हिंसादिजन्य कार्य करता है, धर्म का आचरण नही करता। वह सोचता है कि इन्हे छोडकर मैं अकेला कैसे रहूँगा? अथवा माता-पिता आदि पारिवारिकजनो के मोह मे पडकर उन्हे प्रसन्न रखने के लिए हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापकर्म करके धनोपार्जन करता है। इस प्रकार उनके मोहपाश मे बँधकर धर्माचरण न करके व्यर्थ ही कर्म-वन्धन के कारण उन्ही के साथ-साथ स्वय भी धर्मच्युत होकर ससार मे भटकता रहता है। वार-वार जन्म-मरण के चक्र मे फँसता रहता है। **'मायाहि पियाहि'** मे

भयाइ) इन खतरो—भयस्थानो को (पेहिया) देखकर—जानकर, (आरभा) पहले से ही, आरम्भ से (विरमेज्ज) विरत-निवृत्त हो जाय ।

भावार्थ

कोई माता-पिता आदि स्वजनो के मोह मे पडकर धर्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाते है । माता-पिता आदि उन मोहासक्त लोगो को ससार परिभ्रमण कराते है । ऐसे लोगो को मरने पर परलोक मे सुगमता से सद्‌गति प्राप्त नही होती । सुव्रती पुरुष को इन भयस्थलो (खतरो) पर विचार करके पहले से ही आरम्भ से निवृत्त हो जाना चाहिए ।

व्य

माता-पिता आदि का मोह ससार-भ्रमण का कारण

पूर्वगाथा मे मृत्यु की अनिवार्यता बताई गई थी, मृत्यु की अनिवार्यता बताने का रहस्य यह है कि मनुष्य धर्माचरण करे, ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की आराधना करे, ताकि उसे जन्म-मृत्यु का कोई खतरा न रहे । इस पर कोई माता-पिता आदि अपनी मृत्यु को रोकने अथवा मृत्यु हो जाय तो भी दुर्गति से अपने आपको बचाने के लिए अपने पुत्र, भतीजे, भानज आदि को अपने प्रति मोहासक्त करने का प्रयत्न करते है, वह इसलिए कि पुत्र आदि उनकी मृत्यु को रोकने का भरसक प्रयत्न करे, अथवा मृत्यु को न रोक सके तो मरने के बाद उन्हे पिण्डदान दे, उनकी श्राद्धक्रिया करे, पितरो को तर्पण करे, ताकि उन पितरो (माता-पिता आदि) को सद्‌गति प्राप्त हो जाय ।

जैसा कि उनके धर्मग्रन्थो मे उल्लेख है—

> अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च, नैव च ।
> तस्मात् पुत्र , ॥

अर्थात्—जो पुत्रवान नही है, उसकी सुगति नही हो सकती, क्योंकि पुत्र के बिना माता-पिता आदि को कौन पिण्डदान देगा, कौन तर्पण करेगा ? अत पुत्रहीन को स्वर्ग नही मिल सकता, कदापि नही मिल सकता । इसलिए पुत्र का मुख देखकर मनुष्य आनन्द से मृत्यु प्राप्त करे । कितना अज्ञान और भ्रम है, इस मान्यता के पीछे ? अगली गाथा मे शास्त्रकार स्वय बताएँगे कि सुगति-दुर्गति का दाता पुत्र या और कोई नही हो , मनुष्य के अपने किये हुए शुभाशुभ कर्म ही सुगति-दुर्गति के दाता हैं । 'सयमेव कडेहि गाहन्ति' इस अगली गाथा के चरण मे उक्त न्याय से

मनुष्य सुगति या दुर्गति अपने ही कृतकर्मों से प्राप्त करता है। तब पुत्र अथवा पुत्र-तुल्य कोई भी व्यक्ति अपने माता-पिता अथवा माता-पितातुल्य चाचा, मामा, दादा, दादी आदि को न तो तार सकता है, और न पितृतर्पण आदि क्रियाओ से उनकी दुर्गति को बचा सकता है। अगर सुगति प्राप्त करने का उपाय इतना सस्ता हो तो प्रत्येक व्यक्ति चाहे जितने मनमाने पापकर्म करके परलोक जाते समय अपने पुत्र को कहकर पिण्डदान आदि क्रिया कराकर सुगति प्राप्त कर सकता है। फिर तो किसी को दुर्गति होगी ही नही। अत यह मान्यता भ्रमपूर्ण है।

फिर भी बहुत-से लोग अज्ञानवश अपने पुत्र या पुत्रतुल्य स्वजन पर स्वय भी आसक्त होकर मोह-ममता मे लीन रहते हैं और पुत्र या पुत्रतुल्य स्वजन को मोह-ममता की घुट्टी पिलाकर बार-बार मोह मे प्रेरित करते है और मरने के बाद पिण्डदान या तर्पण के लिए उसे वचनबद्ध कर देते है। इस प्रकार माता पिता आदि के अज्ञान और मोह के कारण पुत्र आदि भी माता-पिता आदि के प्रति मोहान्ध होकर नाना प्रकार के महारम्भ, आस्रवसेवन आदि करके धर्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। धर्माचरण के प्रति न तो माता-पिता आदि उद्यम करते हैं, और न पुत्रादि ही धर्माचरण मे पुरुषार्थ करते है। फलत ऐसे मोहान्ध एव पुत्रासक्त माता-पिता आदि के निमित्त से धर्मभ्रष्ट होकर ससार मे भटकते है।

इस गाथा के 'मायाहि पियाहि लुप्पई' इस चरण मे तृतीया का बहुवचनान्त प्रयोग है। माता-पिता के लिए तो एकवचन का प्रयोग ही पर्याप्त होता, किन्तु बहुवचन का प्रयोग किया गया है, इसके पीछे रहस्य यही प्रतीत होता है कि माता या पिता सिर्फ जन्म देने वाले ही नही कहलाते, पितामह, मातामह, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, मामा-मामी आदि भी माता-पिता के तुल्य माने जाते हैं। अथवा 'मायाहि पियाहि' यह बहुवचनान्त प्रयोग अनेक जन्मो के सम्बन्ध का सूचक है। अथवा यह बहुवचनान्त प्रयोग माता-पिता के सिवाय अन्य सभी पारिवारिकजनो का भी उपलक्षण से सूचक है। मनुष्य इन सभी के अथवा इनमे से एक-एक के प्रति परस्पर गाढ मोहान्धता के कारण अनुचित आरम्भ-समारम्भादि या हिंसादिजन्य कार्य करता है, धर्म का आचरण नही करता। वह सोचता है कि इन्हे छोडकर मैं अकेला कैसे रहूँगा ? अथवा माता-पिता आदि पारिवारिकजनो के मोह मे पडकर उन्हे प्रसन्न रखने के लिए हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापकर्म करके धनोपार्जन करता है। इस प्रकार उनके मोहपाश मे बँधकर धर्माचरण न करके व्यर्थ ही कर्म-बन्धन के कारण उन्ही के साथ-साथ स्वय भी धर्मच्युत होकर ससार मे भटकता रहता है। बार-बार जन्म-मरण के चक्र मे फँसता रहता है। 'मायाहि पियाहि' मे

तृतीयान्त प्रयोग यह सूचित करता है कि पुत्रादि स्वजनो को माता-पिता आदि के द्वारा मोहपाश मे बाँधकर धर्मपथ से भटकाकर पापकर्म के पथ पर चढाकर ससार मे भटकाया जाता है, गुमराह किया जाता है।

मोहान्ध को सुगति सुलभ कहाँ ?

इस प्रकार का मोहान्ध मनुष्य हिताहित के विवेक से शून्य होता है, वह अपने माता-पितादि स्वजनो के पोषण के लिए नीच से नीच कृत्य करता रहता है। इस लोक मे ऐसा व्यक्ति बदनाम होता है, परलोक मे भी उसे सुगति (मनुष्यगति या देवगति) प्राप्त नही होती। मो　पचमगति तो ऐसे मोहमोहित व्यक्ति को मिल ही कैसे सकती है ? या तो नरकगति मे उसका डेरा होता है या फिर वह तिर्यचगति मे अत्यन्त अधम निगोद की योनि मे जन्म लेता है। दोनो स्थानो मे उसे सम्बोधि प्राप्त होनी अतीव दुर्लभ होती है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—
'नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।'

महापुरुष द्वारा चेतावनी

इसीलिए ऋषभदेव भगवान् जैसे महापुरुष अपने पुत्रो के बहाने जगत् के भव्य प्राणियो को चेतावनी दे रहे है कि इस महान् खतरे को देखो, सुगति और मुक्ति के अत्यन्त विघ्नकारक इस स्वजनमोह और उससे जनित पापाचरण से प्राप्त होने वाली दुर्गति की भयकर सजा से बचो। पानी आने से पहले पाल बाँधने की तरह मृत्यु के आगमन एव दुर्गतिगमन से पूर्व ही सँभलकर सुव्रत (व्रतधारी) बनकर सावद्य (पापयुक्त) कर्मानुष्ठानरूप आरम्भ से विरत हो जाना चाहिए। इसीलिए शास्त्रकार भगवान् ऋषभदेव के शब्दो मे कहते हैं—**'एयाइ भयाइ पेहिया　सुव्वए।'** आशय यह है कि माता-पिता आदि स्वजनो के मोह से विवेकविकल होकर उनके निमित्त से नाना प　' करने से जो खतरे पैदा होते है, उनसे बचे और सुव्रती बनकर उक्त निरर्थक पापकर्म से दूर रहे। यहाँ माता-पिता आदि के प्रति कर्त्तव्य-पालन का निषेध नही किया है, किन्तु उनके प्रति मोहान्ध होकर अन्धविश्वास, हिंसाजनक कुप्रथा एव कुरूढि मे पडकर भयकर पापकर्म से बचने की प्रेरणा दी गयी है।

माता-पिता के प्रति मोहवश किये हुए पापकर्मो का फल न तो माता-पिता आदि स्वजन ही भोगेंगे, और पुत्रादि के प्रति मोहवश किये हुए दुष्कर्मो का फल न पुत्रादि ही भोगेंगे, स्वकृत कर्मो का फल अनिवृत्त पुरुष को ही भोगना पडेगा। इसी बात को अभिव्यक्त करने के लिए भगवान् ऋषभदेव के शब्दो मे शास्त्रकार अगली गाथा मे कहते है—

मूल

जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहंति, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय ॥४॥

सस्कृत ।

यदिद जगति पृथज्जगा, कर्मभिर्लुप्यन्ते प्राणिन ।
स्वयमेव कृतैर्गाहन्ते, नो तस्य मुच्येदस्पृष्ट ॥४॥

अन्वयार्थ

(जमिण) चूंकि अनिवृत्त पुरुषो की यह दशा होती है—(जगती) इस ससार मे (पाणिणो) जीव (पुढो जगा) अलग-अलग अपने-अपने (कम्मेहिं) कृतकर्मो से (लुप्पति) दु ख पाते है। तथा (सयमेव कडेहिं) अपने किये हुए कर्मों के कारण ही (गाहति) नरक आदि यातनास्थानो मे जाते हैं। (तस्स अपुट्ठय) अपने कर्मों का फल-स्पर्श (परिणाम-भोग) किये विना (नो मुच्चेज्ज) वे मुक्त नही हो सकते—छुटकारा नही पा सकते।

भावार्थ

जो जीव मोहान्ध होकर सावद्य कर्मानुष्ठान नही छोडते, उनकी यह दशा होती है कि ससार मे अलग-अलग रहे हुए प्राणी अपने-अपने किये हुए कर्मों के कारण स्वयमेव दु ख पाते है और अपने किये हुए कर्मो के फल-स्वरूप नरक-तिर्यञ्च आदि यातनास्थानो (दुर्गतियो) मे जाते हैं। तथा अपने कर्मो का फल स्वय भोगे विना वे उनसे मुक्त नही हो सकते।

व्याख्या

अपने-अपने कर्म अपने-अपने फल

जो मनुष्य मोहान्ध होकर स्वजनो को प्रसन्न करने के लिए अधाधुन्ध पाप-कर्म करता रहता है, यह सोचकर कि 'मैं अपने स्वजनो के लिए, उनकी प्रेरणा से ये पापकर्म कर रहा हूँ, इनका फल मुझे नही, उनको भोगना पडेगा,' वह अत्यन्त भ्रम मे है। ससार मे कर्मो का न्याय यह है कि जो कर्म करता है, (चाहे वह अपने लिए करे या दूसरो के लिए) उसका फल उसको खुद को ही भोगना पडता है। पिता करेगा तो पिता को, पुत्र करेगा तो पुत्र को। एक के बदले दूसरा न तो कर्मफल भोग सकता है और न ही दूसरे को सुगति मे पहुँचा सकता है। यहाँ तो 'अपनी करनी,

पार उतरनी' है। इसी सिद्धान्त को शास्त्रकार करते हैं—"जमिण पाणिणो।"

आशय यह है कि जो पापकर्मों मे निवृत्त नही होते, वे अपने-अपने किये हुए कर्मो के फल पृथक्-पृथक् पाकर दु खी होते हैं। वे स्वयकृत कर्मों के कारण ही नरक, तिर्यंच आदि दुर्गतियो मे अवगाहन (प्रवेश) करते है, ईश्वर आदि किसी अन्य के कारण से नही। इस कर्मसिद्धान्त के द्वारा शास्त्रकार ने अपने कर्मो के साथ अपने दु खो का कार्य-कारणभाव बताया है। आचार्य अमितगति ने भी कहा है—

स्व कर्म यदात्मना पुरा, फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट, स्वयकृत कर्म निरर्थक तदा ॥

—जो कर्म आत्मा ने स्वय किये हैं, उनका शुभाशुभ फल वह स्वय पाता है। जीव यदि दूसरे के द्वारा दिया हुआ फल पाता है, तो स्पष्ट है कि उसके स्वय-कृत कर्म निरर्थक हो जाएँगे।[1] अत स्वयकृत कर्मो का फल स्वय भोगना म्भावी है। कृतकर्मो से मुक्ति पाने के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की उत्कृष्ट आराधना एव समभाव की साधना करना आवश्यक है।

मनुष्य भ्रान्तिवश यह सोचा करता है कि जिस प्राणी को जो गति, योनि या स्थान मिल गया है, वह वही रहेगा, मरकर भी पुन-पुन वही जन्म लेगा, परन्तु यह सिद्धान्त असत्य है, भ्रान्त है। इसे ही बताने के लिए अगली गाथा मे कहते है—

मूल पाठ

देवा गधव्वरक्‍ ा, असुरा भूमिचरा सरीसिवा।
राया नरसेट्ठिमाहणा, ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया ॥५॥

छाया

देवा गन्धर्वरा , असुरा भूमिचरा सरीसृपा ।
राजानो नरश्रेष्ठिब्राह्मणा स्थानानि तेऽपि त्यजन्ति दु खिता ॥५॥

अन्वयार्थ

(देवा) देवता, (गधव्वरक्खसा) गन्धर्व, , (असुरा) असुर, (भूमिचरा) भूमि पर चलने वाले, (सरीसिवा) सरककर चलने वाले तिर्यंच, (राया) राजा,

---

१ जैनागमो मे कहा है—'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।'
अन्य धर्मो के ग्रन्थो मे भी कहा है—'नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।'

(नरसेट्ठिमाहणा) मनुष्य, नगर के सेठ, ब्राह्मण, (ते वि) वे सभी (दुहि   ा) दु खित होकर (ठाणा) अपने-अपने स्थानो को (चयंति) छोड देते है।

भावार्थ

देवता, गन्धर्व, राक्षस, असुर, भूमिचर, रेंगकर चलने वाले तिर्यञ्च, चक्रवर्ती या राजा, मनुष्य, नगर के श्रेष्ठ पुरुष और ब्राह्मण ये सभी दु खी होकर अपने-अपने स्थानो को छोडते है। अर्थात् वे अपने स्थान का त्याग करते समय अवश्य दु खी होते है, परन्तु स्थान का त्याग तो उन्हे अवश (बरबस) करना पडता है।

व्याख्या

सभी स्थान अनित्य हैं

मनुष्य जिस स्थिति मे, जिस योनि मे, जिस पद पर होता है, वह प्राय अपने आपको वहाँ स्थायी समझ लेता है। वह सोचता है कि यह स्थिति सदैव बनी रहेगी, मैं सदा इसी पद पर रहूँगा, इसी गति मे ही, इसी योनि मे ही मेरा निवास रहेगा और कदाचित् यह शरीर छूट भी गया तो पुन इसी गति और इसी योनि मे मेरा जन्म होगा। यह कितनी बडी भ्रान्ति है मानव-मस्तिष्क की ? अगर मनुष्य एक ही स्थिति मे सदैव बना रहता है तो उसे साधना करने की क्या आवश्यकता रहती ? यह गलत सिद्धान्त है। इसे ही बताने के लिए शास्त्रकार तमाम स्थानो की अनित्यता बताते हैं—'ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया।' इसका आशय यह है कि क्या देव, क्या दानव और क्या मानव, क्या पशु-पक्षी और क्या जलचर आदि प्राणी सभी को मृत्यु एक दिन अपना ग्रास बनाती है। जब मृत्यु आती है, तब मोहग्रस्त अज्ञानी जीव, जो उस स्थान को स्थायी समझे बैठा था, एकदम चौंकता है, सारी मोहमाया उसे आकर घेर लेती है, उसकी आँखो के आगे अँधेरा छा जाता है, उसे अपना यह स्थान छोडते हुए—विशेषत अपने शरीर, अपने परिजन एव धन, धरा, धाम को छोडते हुए अत्यन्त दु ख होता है, किन्तु बरबस भारी मन से दु खित होते हुए उसे अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित ममत्वबद्ध समस्त जड-चेतन पदार्थों को छोडना पडता है। यहाँ शास्त्रकार का यह तात्पर्य ध्वनित होता है कि सुज्ञ मानव को अपने इस स्थान, शरीर, धन, धाम तथा परिवार आदि सबको अनित्य एव एक दिन त्याज्य समझकर मन से इनके प्रति पहले से ही ममता-आसक्ति छोड देनी चाहिए, ताकि उन्हे छोडते समय किसी प्रकार का दु ख न हो।

शास्त्रकार ने इस गाथा मे कुछ स्थानो का नामोल्लेख कर दिया है, किन्तु उपलक्षण से देवगति के सभी प्रकार के देव, तिर्यञ्चगति के सभी प्रकार के तिर्यञ्च,

नरकगति के सभी नारक एव मनुष्यगति के सभी स्थिति एव पद वाले मानवो का यही हाल लेना चाहिए। सभी प्राणियो की स्थिति अस्थायी है। मृत्यु किसी के लिए भी रियायत नही करती।

अगली गाथा मे फिर शास्त्रकार कामासक्त एव परिवारासक्त जीवो की अन्तिम दशा का वर्णन करते है—

मूल

कामेहि ण संथवेहि गिद्धा कम्मसहा कालेण जंतवो।
ताले जह बधणच्चुए एव आउक्खयमि तुट्टती ॥६॥

त छाया

कामेषु खलु सस्तवेषु गृद्धा कर्मसहा· कालेन जन्तव ।
ताल यथा बन्धनाच्च्युतमेवमायु क्षये त्रुट्यति ॥६॥

अन्वयार्थ

(कामेहि) विषय-भोगो की तृष्णा मे (ण) एव (सथवेहि) माता-पिता, स्त्री, पुत्र आदि परिचितो मे (गिद्धा) आसक्त रहने वाले (जतवो) प्राणी (कालेण) अवसर आने पर अर्थात् कर्मविपाक के समय (कम्मसहा) अपने कर्मो का फल भोगते हुए (जह) जैसे (बधणच्चुए) बन्धन से छूटा (टूटा) हुआ, (ताले) तालफल गिर जाता है, (एव) इसी तरह (आउ मि) आयु समाप्त होने पर (तुट्टती) मर जाते हैं।

भावार्थ

विषय-भोगो की तृष्णा मे, तथा माता-पिता, स्त्री, पुत्र आदि परिचितजनो मे आसक्त रहने वाले प्राणी कर्मफल के उदय के समय (अवसर आने पर) अपने कर्मो का फल भोगते हुए आयु के टूटने पर ऐसे गिरते हैं (मर जाते है), जैसे वन्धन से छूटा हुआ तालफल नीचे गिर जाता है।

काम-भोगों एव परिचितों मे आसक्त जीवो की दशा

मनुष्य पाँचो इन्द्रियो के विषयो के सम्पर्क मे ज्यो-ज्यो आता है, त्यो-त्यो उसकी आसक्ति बढती जाती है, इसी प्रकार माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र आदि परिचितजनो का भी ज्यो-ज्यो अधिकाधिक सम्पर्क जाता है, त्यो-त्यो

मोह-ममता और आसक्ति परस्पर वृद्धिगत होती जाती है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य जितना कामभोगो के सेवन मे सुख मानता है, उतना ही उन परिचितजनो मे मोहित होकर उनके लिए अनेक प्रकार के पापकर्मो का उपार्जन करने मे सुख मानता है। और अपने पूर्व शुभकर्मो के उदय से कामभोगो का सेवन करके तृप्ति की आकाक्षा करते है, लेकिन वह तृप्ति क्षणिक होती है, बल्कि वे अतृप्त ही रह जाते है। जैसे प्यासा मानव मृगतृष्णा की ओर दौडकर पहुँचने पर भी अपनी पिपासा शान्त नही कर सकता, दिवस के अवसान के समय पूर्व दिशा की ओर अपनी छाया को पकडने के लिए दौडने वाले की छाया हाथ नही आती, वैसे ही कामभोगो के सेवन से काम की शान्ति नही होती। प्रत्युत जैसे अग्नि मे घी की आहुति डालने से अग्नि शान्त होने की बजाय अधिक भडकती है, वैसे ही कामभोगो की वासना अधिकाधिक भडकती है। कामभोगो के आसक्तिपूर्वक सेवन से कितने कर्मबन्ध होते है, इसी प्रकार परिचित परिजनो के प्रति गाढासक्ति से कितने कर्मबन्ध होते हैं, उन अशुभ कर्मो के फलोदय के समय कितनी वेदना होगी ? इसे वह आसक्त मनुष्य सोचता ही नही है, परन्तु जब आयु क्षय हो जाती है और तालवृक्ष के फल के टूटकर गिरने की तरह मनुष्य निढाल होकर भूमि पर गिर जाता है उस समय न तो ये कामभोग बचा सकते हैं और न ही परिचित परिजन उसकी रक्षा कर सकते हैं। यही इस गाथा का आशय है।

अब अगली गाथा मे कर्मो से पीडित दाम्भिक लोगो की दशा के विषय मे शास्त्रकार कहते हैं—

मूल

जे यावि बहुस्सए सिया धम्मियमाहणभिक्खुए सिया।
अभिणूमकडेहिं मुच्छिए तिव्व ते कम्मेहिं किच्चती ॥७॥

छाया

ये चाऽपि बहुश्रुता स्यु, धार्मिकब्राह्मणभिक्षुका स्यु।
अभिच्छादककृतैर्मूर्च्छितास्तीव्र ते कर्मभि कृत्यते ॥७॥

अन्वयार्थ

(जे यावि) जो कोई भी (ब ए) बहुश्रुत—अनेक शास्त्रो को सुने हुए, शास्त्रपारगत (सिया) हो, तथा (धम्मियमाहणभिक्खुए) धार्मिक, ब्राह्मण-माहन एव भिक्षुक—भिक्षाजीवी (सिया) हो, (अभिणूमकडेहिं) किन्तु यदि वे मायाकृत—

दाम्भिक अनुष्ठानो मे (मुच्छिए) रत या आसक्त है तो (ते) वे (कम्मेहि) कर्मों के द्वारा (तिव्व) अत्यन्त तीव्रता से (कि ी) पीडित किये जाते है।

भावार्थ

मायामय (दम्भयुक्त) अनुष्ठानो—कृत्यो मे आसक्त पुरुष चाहे बहुश्रुत (अनेक शास्त्रपारगामी) हो, चाहे वे धर्माचरणशील हो, ब्राह्मण या माहन हो, भिक्षाजीवी हो, कर्मों द्वारा अत्यन्त पीडित किये जाते है।

व्याख्या

दाम्भिक साधको की दशा

इस गाथा मे मायाचारी साधको की दशा का वर्णन किया गया है। कई साधक अपने को अनेक शास्त्रो मे पारगत मानते हैं, अनेक धार्मिक क्रियाकाण्डो मे रत होने के कारण स्वय को धार्मिक समझते हैं, फूंक-फूंककर कदम रखने के कारण अपने को माहन—ब्राह्मण मानते है या भिक्षाजीवी होने के कारण अपने को पवित्र भिक्षु समझते ह, परन्तु यदि उनके इन विभिन्न अनुष्ठानो के साथ मायाचार हैं, कपटपूर्वक उत्कृष्ट क्रिया का दिखावा है, लोकवचना है, जनता को अपनी ओर आकृष्ट करके सम्मान, प्रतिष्ठा, यश या धन बटोरने की चालबाजी है, वस्त्र, पात्र, या सरस स्वादिष्ट आहार पाने की लालसा का मायाजाल है, जनता को अपने वश मे करके अपना कोई तुच्छ स्वार्थ सिद्ध करने का षड्यत्र है, अथवा किसी उच्च पद, सत्ता या वैभव पाने या किसी लौकिक कामना को सिद्ध करने का चक्कर है तो श्रुतपारगामिता, धा।मकता, बाह्मणता या भिक्षाजीविता उक्त दम्भयुक्त आचार से अत्य त दूषित होकर कर्मक्षय करने के बदले घोर कर्मबन्धन की कारण बन जाएगी, और उक्त प्रकारो मे से किसी भी प्रकार का साधक अपने मायाचार या दाम्भिक अनुष्ठान मे दिनानुदिन अत्यधिक आसक्त एव मूर्च्छित होकर अनेक प्रकार के कर्मबन्धन करके जब फल भोगने का समय आएगा, तब उन असातावेदनीय कर्मो से अत्यन्त पीडित—व्यथित होगा, अथवा कदाचित् उसके किसी धर्माचरण, तपश्चरण या अहिंसादि के आचरण के कारण उसे स्वर्गादि या इहलौकिक विषयसुख मिल जाएँ, तो भी वह उस सातावेदनीय कर्म के फलभोग के समय अत्यन्त गृद्ध होकर धर्माचरण से बिलकुल विमुख हो जाएगा। उसके लिए वे ही सातावेदनीय कर्म भविष्य की पीडा के कारण बन जाएँगे। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

आगामी गाथा मे पुन अन्यतैर्थिक साधको की दशा का वर्णन करते हुए शास्त्रकार भगवान् ऋषभदेव के शब्दो मे कहते हैं—

मूल पाठ

अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिन्ने इह भासई धुव ।
णाहिसि आर कओ परं वेहासे कम्मेहिं किच्चती ॥८॥

स छाया

अथ पश्य विवेकमुत्थितोऽवितीर्ण इह भाषते ध्रुवम् ।
ज्ञास्यस्यार कुत पर विहायसि कर्मभि कृत्यते ॥८॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् (पास) देखो कि (विवेग) कोई अन्यतीर्थी परिग्रह को त्यागकर अथवा ससार की अनित्यतता का विवेक (ज्ञान) करके (उट्ठिए) प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, या सयम-पालन करने के लिए उत्थित—उद्यत होते हैं, (अवितिन्ने) किन्तु वे ससारसागर को पार नही कर सकते, तथा वे (इह) इस ससार मे (ध्रुव) मोक्ष का (भासई) केवल भाषण करते है। हे शिष्य ! तुम भी उनके मार्ग (पन्थ) मे जाकर (आर) इस लोक को तथा (पर) परलोक को (कओ) कैसे (णाहिसि) जान सकोगे ? वे अन्यतीर्थी (वेहासे) मध्य मे—अधविच मे ही (कम्मेहिं) कर्मो के द्वारा (किच्चती) पीडित किये जाते है।

भावार्थ

हे शिष्य ! (अथ)[1] इसके पश्चात् यह देखो कि (जिन अन्यतीर्थी साधको ने) परिग्रह का त्याग करके या ससार को अनित्य जानकर प्रव्रज्या—दीक्षा अगीकार की है, वे भलीभाँति सयम का अनुष्ठान न करने के कारण ससार-सागर को पार नही कर सकते हैं। वे मोक्ष का सिर्फ भाषण करते हैं, उसकी प्राप्ति का उपाय उन्हे ज्ञात नही है। हे शिष्य ! तुम उनका आश्रय लेकर इहलोक तथा परलोक को कैसे जान सकोगे ? वे अन्यतीर्थी लोग उभयभ्रष्ट होकर अधबिच मे ही रहकर कर्मो के द्वारा पीडित किये जाते हैं।

व्याख्या

मोक्षमार्गी या ससारमार्गी ?

जैनधर्म मानता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो मिलकर मोक्षमार्ग हैं। इससे भिन्न और कोई मोक्ष का मार्ग नही है, न होगा, क्योकि

---

१ यहाँ 'अथ' दूसरे प्रसग के प्रारम्भ, अथवा अनेको को आदेश देने के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

शास्त्र भूत-भविष्य-वर्तमान—त्रिकालसत्य को बतलाता है। किन्तु अन्यतीर्थी रत्नत्रय से भिन्न पदार्थ को मोक्ष का मार्ग बताकर सस्ते सुलभ आसान तथाकथित मोक्षपथ (जो कि एक तरह से ससारपथ ही है) का सब्जबाग लोगो को बताते हैं। उनके जाल से बचने के लिए भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रो से कहते है—शिष्यो! देखो, अब उन लोगो के मायाजाल से भी तुम्हे बचना है, जो स्थूलदृष्टि से देखने वालो को वे ससार की अनित्यता जानकर विरक्त-से होकर बाहर से परिग्रह का त्यागकर प्रव्रज्या ग्रहण करके मोक्ष के लिए अभ्युद्यत हुए जान पडते है परन्तु ससार-सागर को पार करना चाहते हुए भी मोक्षमार्ग का न होने के कारण उसे पार नही कर सकते। वे लोग यहाँ के लोगो के सामने मोक्ष की या उसके उपाय की कुछ छुटपुट कोरी बाते ही करते है। केवल तत्त्वज्ञान बघारने से उनका कल्याण कैसे हो ा है। यह आध्यात्मिक जगत् की जानी-मानी बात है कि जो केवल बन्ध-मोक्ष की लम्बी-चौडी बातें ही करते है, बन्ध का त्यागकर मोक्ष के लिए अनुष्ठान नही करते या मोक्षमार्ग का सम्यग्ज्ञान न होने के कारण पशोपेश मे पडे रहते हैं। उन्हे न लोक का ज्ञान है और न मोक्ष का। ऐसी दशा मे शिष्यो! यदि तुम लोग ऐसे अनाडी की शरण मे जाकर उनके पथ को अपना लोगे तो कैसे इहलोक और परलोक को जान सकोगे? इहलोक-परलोक से अनभिज्ञ होकर तुम लोक से परे जो मोक्ष है, उसे भी कैसे जान सकोगे? अथवा गृहस्थधर्म (इहलौकिक) और प्रव्रज्या-धर्म (पारलौकिक) को कैसे जान सकोगे? अथवा आर यानी ससार को और पार यानी मोक्ष को तुम कैसे जान—समझ सकोगे? अत जो पुरुष इन ससार-मोक्ष दोनो की विकता से अनभिज्ञ ो के चक्कर मे पड जाता है, वह 'इतो तो ' होकर ागर के मझधार मे ही डूबता-उतराता हुआ कर्मो के द्वारा पीडित किया जाता है।

तपस्या से तप्त और अकिंचन अन्यतैर्थिक साधको को मोक्ष क्यो नही प्राप्त होगा? इसके समाधानार्थ शास्त्रकार आगामी गाथा प्रस्तुत करते है—

मूल

जइ वि य णगिणे किसे चरे, जइवि य भुजिय मासमतसो।
जे इह मायाइ मिज्जइ, आगंता गब्भाय णंतसो ॥९॥

यद्यपि च नग्न कृशश्चरेत्, यद्यपि च भुजीत मासमन्तश।
य इह मायादिना मीयते, आगन्ता गर्भायानन्तश ॥९॥

अन्वयार्थ

(जे) जो साधक (इह) इस लोक मे (मायाइ मिज्जइ) माया आदि से अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय से युक्त मिथ्यादृष्टि है, वह (जइवि) कदाचित् (चाहे) (णगिणे किसे) नगा—निर्वस्त्र एव तपस्या से कृश होकर (चरे) विचरण करे, (जइवि य) अथवा चाहे वह (मासमतसो) एक मास के पश्चात् (एक महीने के अन्त मे) (भुजिय) भोजन करे, परन्तु (णतसो) वह अनन्तकाल तक (गब्भाय) गर्भवास को (आगता) प्राप्त करता है।

भावार्थ

जो पुरुष माया आदि कषायो से युक्त है, वह भले ही नग्न निर्वस्त्र एव घोरतप से कृश होकर विचरण करे, अथवा एक-एक महीने की तपस्या के अन्त मे पारणा (भोजन) करे, परन्तु वह अनन्तकाल तक गर्भवास मे आता रहता है, अर्थात् उसका ससार घटता नही।

व्याख्या

कृश और नग्न फिर भी ससार-सलग्न

यद्यपि कई साधक बाह्यपरिग्रह—घरबार, धन-धाम, वस्त्रादि सब छोडकर बिलकुल नग्न निर्वस्त्र अकिंचन होकर घूमते हैं, कई तापस अतीव घोर तपस्या करके शरीर को सुखा डालते हैं, कई तो इतने उग्रतपस्वी होते हैं, एक-एक महीने की तपस्या करने के बाद भोजन करते हैं, यानी महीने तक निराहार रहते हैं। इतनी कठोर साधना करने पर भी उन साधको को मोक्ष क्यो नही होता? इसी बात को शास्त्रकार इस गाथा के पूर्वार्द्ध मे कहकर उत्तरार्द्ध मे उसका समाधान करते हैं—'जे इह मायाइ मिज्जइ आगता गब्भाय णतसो।'—इसका आशय यह है कि इतनी कठोर साधना करने पर भी जो व्यक्ति आभ्यन्तर परिग्रह एव माया आदि अनन्तानुबन्धी कषायो को नही छोडता, उसे मोक्ष नही हो सकता, बल्कि वह माया आदि कषायो से लिपटा रहता है, इसलिए अनन्तकाल तक गर्भवास मे आता रहता है।

यहाँ 'माया' शब्द से उपलक्षण से समस्त कषायो और आभ्यन्तर परिग्रहो का ग्रहण कर लेना चाहिए। तपस्या से शरीर शुष्क कर लेने या स्थूल-परिग्रह का त्याग करके नग्न हो जाने मात्र से राग-द्वेष-मोह आदि नही छूट जाते, उनके छूटे बिना कर्मो से छुटकारा नही हो सकता और कर्मों से मुक्त हुए बिना किसी की मुक्ति कदापि नही हो सकती। नग्न होकर भी जो साधक राग-द्वेष-मोह-कषाय

आदि को छोडता नही। वह इस भ्रम मे रहता है कि इतना कठोर तप और क्रिया-काण्ड करने पर तो मुक्ति अवश्य हो जाएगी, परन्तु अज्ञान, मोह और माया आदि के मिल जाने से वे भी अग्निशर्मा की तरह अनन्तकाल तक ससार परिभ्रमण के कारण बन जाते है। मुक्ति की शर्त है—कषायो, रागद्वेषो एव तज्जनित कर्मों से मुक्ति। गर्भवास मे अनन्त वार आने का अर्थ ही है—अनन्तकाल तक जन्म-मरण-रूप ससार मे चक्कर काटना।

अगली गाथा मे पापकर्मो से विरत होने का उपदेश देते हैं—

मूल

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियतं मणुयाण जीविय।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जति नरा असंवुडा ॥१०॥

संस्कृत छाया

पुरुष! उपरम पापकर्मणा, पर्यन्त मनुजाना जीवितम्।
सन्ना इह काममूर्च्छिता, मोह यान्ति नरा असवृता ॥१०॥

अन्वयार्थ

(पुरिस) हे पुरुष! (ओरम पावकम्मुणा) पापकर्म से उपरत—निवृत्त हो जा। (मणुयाण) मनुष्यो का (जीवियं) जीवन (पलियत) देरसवेर से अन्त होने वाला—नाशवान है। (इह) इस ससार मे या इस जन्म मे ( ) जो आसक्त है तथा (काममुच्छिया) काम-भोगो मे मूर्च्छित - गृद्ध है, (असवुडा) तथा जो हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापो से निवृत्त नही हैं, (नरा) वे मनुष्य (मोह) मोह को (जति) प्राप्त करते है।

र्थ

हे पुरुष! तू पापकर्मों से लिप्त है, अत उससे निवृत्त हो जा। मनुष्यो का जीवन वान है। इस ससार मे या इस जन्म मे जो मनुष्य आसक्त है तथा काम-भोगो मे मूर्च्छित है एव हिंसा आदि पापो से विरत नही है, वे मोह के घेरे मे बन्द हो जाते है।

व्याख्या

पापकर्मो से निवृत्ति का उपदेश

पूर्वगाथा मे बताया गया था कि मिथ्यादृष्टियो की बतायी हुई या मे भी अज्ञान एव कषायनिवृत्ति न होने के कारण पापकर्मो से निवृत्ति नही

हो सकती, अत अब इस गाथा मे पापकर्मो से निवृत्ति का उपदेश दिया गया है कि हे पुरुष ! हे विवेकवान् आत्मा ! तू अब तक पापकर्मो मे लिपटा रहा, क्योकि तूने मनुष्यजीवन को शाश्वत समझा, जो कि क्षणभगुर है, कब नष्ट हो जाएगा, इसका कोई निश्चय नही है। मनुष्यजीवन की स्थिति अधिक से अधिक तीन पल्योपम पर्यन्त है, 'पलियत' शब्द के द्वारा शास्त्रकार ने यह सूचित कर दिया है। अथवा पुरुषो का सयमी जीवन पल्योपम के मध्य मे ही होता है। वह भी ऊन-पूर्वकोटि-पर्यन्त ही होता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्यो का जीवन नाशवान है, इसको अल्पजीवी जानकर, जब तक समाप्त नही होता है, तब तक मायादि कषायो से रहित होकर शुद्ध धर्मानुष्ठान करके जीवन को सफल बनाना चाहिए। परन्तु जो व्यक्ति इस मानवभव को पाकर अथवा इस ससार मे आकर विषयभोगो की कीचड मे फँस जाते हैं, तथा इच्छाकाम (कामनाओ) एव मदनकाम की आसक्ति के जाल मे फँस जाते हैं, वे मोहमोहित होकर अपने हिताहित का भान नही कर सकते। अथवा 'मोह जति' का अर्थ यह भी हो सकता है, वे पुरुष मोहनीयकर्म का सचय करते है। जो पुरुष हिंसा आदि से विरत नही होते और इन्द्रियविषयो मे गाढासक्त होने है, वे मोहनीयकर्म का सचय करते हैं। मोहनीयकर्म के सचित होने का परिणाम यह होता है कि वे हिताहित के बोध मे विकल रहते है। सम्यग्ज्ञान के अभाव मे सम्यक्चारित्र का पालन करना तो कोसो दूर है। अत मोह-कर्म की प्रबलता से बचने के लिए पापकर्मो से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए, यही इस गाथा मे उक्त उपदेश का आशय है।

पहले तो मनुष्यजन्म ही दुर्लभ है, उसके बाद श्रावक कुल मे जन्म होना और भी कठिन है, इसलिए जब तुम्हे मानवजन्म, उत्तम कुल एव धर्म का सयोग मिला है तो क्या करना चाहिए ? इसे ही अगली गाथा मे बताते हैं—

मूल

जयय विहराहि जोगव, अणुपाणा पथा दुरुत्तरा।
अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेंहि सम्मं पवेइय ॥११॥

।

यतमानो विहर योगवान्, अनुप्राणा पन्थानो दुरुत्तरा।
अनुशासनमेव प्रक्रामेत् वीरै सम्यक् प्रवेदितम् ॥११॥

अन्वयार्थ

हे पुरुष ! (जयय) तू यत्न ( ) करता हुआ, (जोगव) योगवान्—पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त होकर (विहराहि) विचरण कर। (अणुपाणा) सूक्ष्म प्राणियो से युक्त, (पथा) मार्ग (दुरुत्तरा) उपयोग बिना दुस्तर होते है। (अणुसासणमेव) शासन—जिन-प्रवचन के अनुरूप शास्त्रोक्त रीति से ही (पक्कमे) सयममाग मे कदम बढाना चाहिए। (वीरेहिं) समस्त रागद्वेषविजेता वीर अरिहन्तो ने, (सम्म) सम्यक् प्रकार से (पवेइय) यही बताया है।

र्थ

हे पुरुष ! तू यत्न करता हुआ, पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त होकर विचरण कर, क्योकि सूक्ष्मप्राणियो से परिपूर्ण मार्ग को उपयोग और यतना के बिना पार करना दुष्कर है। अत शास्त्र मे या जिनशासन मे सयमपालन की जो रीति बतायी है, उसके अनुसार सयमपथ पर चलना चाहिए। सभी तीर्थकरो ने इसी का ही सम्यक् प्रकार से उपदेश दिया है।

व्याख्या

उपयोगपूर्वक सयमपथ पर चलो

जो साधक अहिंसा, सत्य आदि व्रतो का सम्यक् पालन करना चाहता है, अपने जीवन का निर्वाह करते हुए सयम पालन करने की जिसमे उत्कण्ठा है, वह जब भी चलेगा, बोलेगा, बैठेगा, सोयेगा, खाये-पीयेगा या कोई भी प्रवृत्ति करेगा तो किसी न किसी जीव को क्षति पहुँचने की सम्भावना है, इसलिए जिससे जीवहिंसा, असत्य आदि दोप भी न हो और जीवननिर्वाह भी हो जाए, इसके लिए शास्त्रकार इस गाथा मे तीर्थकरो के द्वारा भाषित मार्ग का उपदेश देते हैं—'जयय विहराहि • दुरुत्तरा।' इसका तात्पर्य यह है कि यतनापूर्वक सभी कार्यो मे प्रवृत्त होना चाहिए। पाँच समिति और तीन गुप्तियो के पालन से आ जाती है।[1] यतना धर्म की जननी हे। इसीलिए पाँच समिति और तीन गुप्ति को अष्टप्रवचनमाता कहते हैं। शास्त्रो (जिनप्रवचन) मे यत्र-तत्र सयमपालन की जो विधि बतायी है, उसके अनुसार चलना चाहिए। क्यो चलना चाहिए ? इस शका के समाधानार्थ कहा है—'वीरेहिं सम्म पवेइय।' तीर्थकर नरवीरो ने इसी का जोरदार उपदेश दिया है।

१ "जय चरे जय चिट्ठे जयमासे जय सए।
जय भुजतो भासतो पावकम्म न वधइ॥" —दशवैका० अ० ४

पूर्वगाथा मे वीरो का उल्लेख किया गया है, अत इस गाथा मे 'वीर कौन हो सकता है ?' इस सम्बन्ध मे बताते हैं—

मूल

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकायरियाइपीसणा ।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाऽभिनिव्वुडा ॥१२॥

संस्कृत छाया

विरता वीरा समुत्थिता, क्रोधकातरिकादिपीषणा ।
प्राणिनो न घ्नन्ति सर्वश पापाद् विरता अभिनिर्वृत्ता ॥१२॥

अन्वयार्थ

(विरया) जो हिंसा आदि पापो से विरत है, (वीरा) जो कर्मों को विदारण करने मे वीर हैं, और (समुट्ठिया) आरम्भ-समारम्भ का त्याग करके मोक्षपथ पर चलने के लिए समुत्थित हैं—उत्साहपूर्वक सन्नद्ध है, (कोहकायरियाइपीसणा) क्रोध और माया आदि को दूर करने वाले है, तथा जो (सव्वसो) मन-वचन-काया से सर्वथा (पाणे) द्वीन्द्रिय आदि किसी भी प्राणी को (ण हणंति) नही मारते, तथा (पावाओ विरया) पापकर्म से (विरया) निवृत्त हैं (अभिनिव्वुडा) वे पुरुष मुक्त जीवो के समान प्रशान्त हैं।

भावार्थ

जो हिंसा आदि पापो से दूर है, क्रोध, माया आदि कषायो को विदारण करने के कारण वीर है, तथा समस्त आरम्भो को छोडकर मोक्षमार्ग मे डटे हुए हैं—सयम के लिए सन्नद्ध है। जो द्वीन्द्रिय आदि जीवो को मन-वचन-काया से सर्वथा नही मारते, ऐसे समस्त पापकर्मो से रहित पुरुष मुक्त जीवो के समान ही परिशान्त होते हैं, वे ही वीरपुरुष है।

व्याख्या

वीर कौन ?

इस गाथा मे वीरपुरुष का लक्षण दिया है। आध्यात्मिक जगत् मे वीरपुरुष वे नही माने जाते, जो युद्ध मे लाखो आदमियो का सहार कर देते हैं, जिनकी एक भ्रकुटि से हजारो आदमी थर्राने लगते हैं, जो अपने मौज-शौक के लिए लाखो निर्दोष प्राणियो को मार डालते हैं, अथवा जो आमोद-प्रमोद के लिए पचेन्द्रिय वन्य जीवो

का शिकार करते है, किन्तु यहाँ वीर वे ही माने जाते है जो हिंसा आदि पापो से विरत है, कर्मों को विदारण करने के कारण वे साहसी वीर हैं, क्रोध-माया आदि कपायो से दूर रहते हे, आरम्भो को ` र सयमी नरवीर का वाना पहने हुए है, जो मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी का वध नही करते, पापो से निवृत्त है। और ऐसे वीर ही वीतरागी नरवीरो के समान प्रशान्त हैं, अर्थात् विषय-कषायो से निवृत्त होने के कारण प्रशान्तात्मा है। वे ही मुक्ति के समान शान्ति स्वरूप है।

वीर पुरुष परीपहो को कैसे सहन करे ? इसके लिए आगामी गाथा मे उपदेश देते हैं—

मूल

णवि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पति लोयसि (मि) पाणिणो।
एव सहिएहि पासए, अणिहे से पुट्ठे अहियासए ॥१३॥

स त छाया

नाऽपि तैरहमेव लुप्ये, लुप्यन्ते लोके प्राणिन ।
एव सहितौ (सहित) पश्येत्, अनिह स स्पृष्टोऽधिसहेत ॥१३॥

अन्वयार्थ

(सहिएहि) ज्ञान वगैरह श्री से सम्पन्न पुरुप (एव) इस प्रकार (पासए) विचार करे, देखे, कि (अहमेव) केवल मैं ही (ता) उन शीत, उष्ण आदि के द्वारा—उनके दु ख विशेप से, (णवि) नही (लुप्पए) पीडित किया जाता, (लोयसि) इस लोक मे (पाणिणो) अन्य प्राणी भी (लुप्पति) इनसे पीडित होते है या किये जाते है। अत (पुट्ठे) परीषहो का स्पर्श पाया हुआ (से) वह सयमसाधक मुनि (अणिहे) क्रोधादि, राग-द्वेप-मोह से रहित होकर (अहियासए) उन्हे सहन करे।

र्थ

ज्ञानादि सम्पन्न पुरुप यह सोचे कि सिर्फ मैं अकेला ही सर्दी, गर्मी आदि के कष्टो से पीडित नही किया जाता, अपितु ससार मे जो अन्य प्राणी है, वे भी इनसे पीडित किये जाते है। अत शीतोष्ण आदि परीपह आ पडने पर राग-द्वेप-कषाय से रहित होकर समभावपूर्वक सहन करे।

परीपह आने पर वीरपुरुप का वि •

इस गा था का आशय स्पष्ट है। साधारण व्यक्ति परीपह (शीत, उष्ण

आदि कष्ट आ पडने पर घवराकर हाय-तोवा मचाने लगता है, किन्तु सयमवीर पुरुप सर्दी-गर्मी आदि परीषह आने पर यह सोचे कि केवल मै ही इनमे पीडित नही किया जाता, किन्तु ससार के सभी प्राणियो को ये पीडित करते है। अत परीपहो का आक्रमण होने पर वह घवराए नही, वल्कि दृढतापूर्वक राग-द्वेप कपायादि मे रहित होकर समभावपूर्वक उन्हे सहन करे।

सम्यग्ज्ञानादि से सम्पन्न पुरुप यह सोचे कि अविवेकी प्राणी कष्ट आने पर हाय-तोवा मचाते हुए लाचारी से उसे सहन करते है, जिससे वे कष्ट सहकर भी निर्जरारूप फल को प्राप्त नही कर सकते, मैं समभावपूर्वक कष्ट सहूँगा तो निर्जरा रूप फल प्राप्त कर सकूँगा। किसी सुज्ञ पुरुप ने ठीक ही कहा है—

(क्षान्त न क्षमया गृहोचितसुख, त्यक्त न सन्तोषत,
सोढा दु सहशीलतापपवनक्लेशा न तप्त तप ।
ध्यात वित्तमहर्निश नियमितप्राणैर्न तत्त्व पर,
तत्तत्कर्मकृत सुखार्थिभिरहो तैस्तै. फलैर्वञ्चिता. ॥

(क्षमा तो की, लेकिन क्षमाधर्म समझकर नही की, घर मे होने वाले सुख का त्याग तो किया, लेकिन सतोप से प्रेरित होकर नही, दु सह सर्दी, गर्मी, हवा आदि के कप्ट तो सहे, किन्तु तपश्चरण नही किया, दिन-रात विना श्वास रोके धन का ध्यान तो किया, मगर निर्द्वन्द्व होकर परमात्मतत्त्व-आत्मतत्त्व का चिन्तन नही किया। अहो ! इन अज्ञानी सुखाभिलापियो ने सुख-प्राप्ति के लिए तपस्वी मुनियो की तरह वे सभी कर्म किये, लेकिन उनके फलो से वे वचित ही रहे। क्योकि सयमी विचारशील पुरुष जो कष्ट सहते है, वे उनके गुणवृद्धि के कारण होते है, जवकि सुखार्थी जो कप्ट सहते हैं वे उलटे कर्मवन्ध के कारण हो जाते है।) किसी नीतिकार ने ठीक ही कहा है—

कार्श्यंक्षुत्प्रभव कदन्नमशन शीतोष्णयो पात्रता
प च शिरोरुहेषु शयन मह्यास्तले केवले ।
एतान्येव गृहेवहन्त्यवनति तान्युन्नति सयमे
दोषाश्चाऽपि गुणा भवन्ति हि नृणा योग्येपदेयोजिता ॥

भूखे रहने से शरीर मे आई दुर्वलता, खराव अन्न का आहार, शीत और उष्ण के दु ख का सहना, तेल न मिलने से वालो का रूखापन, विस्तर के बिना केवल जमीन पर सो जाना इत्यादि बातें जो गृहस्थ के लिए अवनति के चिह्न मानी जाती हैं, वे ही स्वभाव से सहने वाले, तितिक्षु सयमी मुनि के लिए उन्नतिकारक समझी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि योग्य पद (स्थान) पर स्थापित किये (जोडे) दोप भी गुण हो जाते हैं।

अत ज्ञानादिगुणसम्पन्न और आत्मकल्याण मे तत्पर सयमी विचारशील साधु पूर्वोक्त दृष्टि से सोचकर क्रोधादि पर विजय प्राप्त करे और धीरतापूर्वक शीतोष्णादि परीषह सहन करे। यही इस गाथा का निष्कर्ष है।

आगामी गाथा मे शास्त्रकार परीषहविजय का उपदेश देते है—

मूल पाठ

धूणिया कुलिय व लेवव, किसए देहमणसणाईहि ।
अविहिंसामेव पव्वए अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥१४॥

सस्कृत ।

धूत्वा कुड्य च लेपवत्, कर्शयेद्देहमनशनादिभि ।
अविहिंसामेव प्रव्रजेदनुधर्मो मुनिना प्रवेदित ॥१४॥

अन्वयार्थ

(लेवव) जैसे लीपी हुई (लेपवाली) (कुलिय) भीत—दीवार (धूणिया) लेप गिराकर क्षीण—पतली कर दी जाती है, वैसे ही (अणसणाईहि) परीषह या उपसग आने पर अनशन आदि तपश्चर्या के द्वारा (देह) शरीर को (किसए) कृश कर देना—सुखा देना चाहिए। (अविहिंसामेव) तथा अहिंसाधर्म का ही (पव्वए) पालन करना चाहिए। (अणुधम्मो) यही मोक्षानुकूल या समयानुकूल (युगानुकूल) धर्म (मुणिणा) मुनीन्द्र सर्वज्ञ प्रभु ने (पवेदितो) कहा है।

भावार्थ

जैसे लीपी हुई दीवार पर चढे हुए लेप को गिराकर वह पतली और क्षीण कर दी जाती है, वैसे ही वर्षों से आहारादि से पुष्ट शरीर को परीषह या उपसर्ग का र आने पर अनशन आदि तपश्चर्या के द्वारा कृश-दुर्बल कर देना चाहिए, क्योकि ऐसे समय मे साधक को अहिसाधर्म का ही पालन करना चाहिए। यही समयानुकूल या मोक्षानुकूल धर्म मुनीन्द्र सर्वज्ञ प्रभु ने फरमाया है।

व्याख्या

परीषह एव उपसर्ग के समय मुनि का धर्म

साधक जब साधना करता है, तो शरीर बीच मे आकर कई बार अपनी अनुकूल या प्रतिकूल माँग उपस्थित करता है। मुनि तो अपनी मर्यादा मे रहते हुए सयम करते हुए भिक्षाचरी मे जो कुछ मिल जाता है, उसी से ही शरीर का

पोषण करता है, अपना धर्म-पालन भी शरीर से करता है। किन्तु कई बार दुष्काल, रोग, कम आहारलाभ, आदि परीषहो के या देव, मनुष्य या तिर्यञ्च के द्वारा कृत उपसर्गो—कष्टो के प्रसग आ जाते है। उस समय आहार-पानी मिलना तो दूर रहा, शरीर पर भी आफत आ जाती है। ऐसे समय मे अहिंसाधर्म का उत्कृष्ट आराधक मुनि क्या करे ? क्या वह अपने शरीर को छोड दे या प्रतिकूल व्यक्तियो (जीवो) का सामना करे, या प्राकृतिक प्रकोपो के समय श्रमणधर्म को छोडकर आधाकर्मादि हिंसाजन्य आहारादि लेकर अपने शरीर को पोषण दे। इसी के उत्तर मे यह गाथा प्रस्तुत की गयी है—''**धूणिया कुलिय किसए देहमणसणाइहि।**'

शास्त्रकार का आशय यह है कि ऐसे किसी भी परीषह या उपसग के समय साधु घबराए नही। वह यह सोचे कि मैं इतने समय से शरीर को तो आहारादि से पोषण देता ही आ रहा हूँ। कभी यह दुष्काल या अन्य आहारादि का सकट उपस्थित हो जाए तो वह शरीर पर से ममत्व हटाकर उसे अनशन आदि (उपवास आदि) तप से ऐसे ही दुर्बल (पतला) कर दे, जैसे गोबर, मिट्टी आदि मे लीपी हुई दीवार पर चढे हुए लेप को हटाकर वह पतली कर दी जाती है। तात्पर्य यह है कि शरीर के बढे हुए रुधिर, मास को तपस्या के द्वारा सुखा डालना चाहिए और सर्दी, गर्मी आदि परीषहो को सहना चाहिए। मास और रुधिर की शरीर मे कमी करने के इस उपाय को सहिष्णुभाव से अजमाने पर शरीर के पोषण के लिए आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार (जिसमे प्राय हिंसा की सम्भावना है) लेने की आवश्यकता नही रहेगी।

जहाँ तक शरीर को छोडने का सवाल है, जैनशास्त्रो की यह आज्ञा नही है कि सशक्त और धर्मपालन के लिए सक्षम चलते-फिरते शरीर को यो ही आवेश मे आकर त्याग दे। इसीलिए यहाँ भी शरीर को कृश करने का विधान किया है। आचारागसूत्र मे भी इसी तरह का एक विधान मिलता है—'**कसेहि अप्पाण, जरेहि अप्पाण**' (अपने शरीर को कृश कर डालो, कसो,-जीर्ण कर डालो)। मतलब यह है कि साधु अगर ऐसे विकट प्रसगो पर आहार-पानी का गुलाम बन जाएगा तो उसके जीवन मे आर्तध्यान की भी सम्भावना है और आर्तध्यान भावहिंसा है। इसी प्रकार जो प्रतिकूल देव, मनुष्य या तिर्यंच हमला करें या अन्य किसी प्रकार की क्षति पहुँचाएँ तो भी समभाव से सहन करे, उनके प्रति किसी प्रकार का द्वेष-रोष न करे, प्राकृतिक प्रकोपो के समय भी अहिंसाधर्म पर डटा रहे। इसी बात को शास्त्रकार द्योतित करते हैं—'**अविहिंसामेव पव्वए।**' अर्थात् ऐसे विकट प्रसगो पर अहिंसाधर्म का ही पालन करे, '**पव्वए**' का अर्थ प्रकर्ष रूप से गति करे—अर्थात् डटा रहे' भी होता है। अहिंसा के बदले यहाँ '**अविहिंसा**' प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ इस

प्रकार है—विविध प्रकार की या विशिष्ट हिंसा को 'विहिंसा' कहते है। उस विहिंसा को न करना 'अविहिंसा' है। साधु को विकट से विकट प्रसग मे भी अविहिंसाधर्म पर डटे रहना चाहिए। अन्त मे साधक को परमहितैषी वीतराग प्रभु के इस आदेश को शिरोधार्य करने हेतु शास्त्रकार कहते हैं कि मुमुक्षु साधको के लिए परीपह-उपसर्ग के समय अहिंसाधर्म पर डटे रहने का आदेश हम अपनी ओर से नही कहते, यह मुनीन्द्र सर्वज्ञ प्रभु ने फरमाया है कि यही अनुधर्म समयानुकूल व मोक्षानुकूल है।

अगली गाथा मे अहिंसाधर्म के परिपालन के फल के सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते है—

मूल

सउणी जह पंसुगुडिया, विहुणिय धसयई सिय रयं।
एवं दविओवहाणव कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ॥१५॥

.त छाया

शकुनिका यथा पासुगुण्ठिता विधूय ध्वसयति सित रज ।
एव द्रव्य उपधानवान् कर्म क्षपयति तपस्वी-माहन ॥१५॥

र्थ

(जह) जैसे (पसुगुडिया) धूल से भरी हुई (सउणी) पक्षिणी (विहुणिय) अपने अगो या पखो को फडफडाकर (सिय रय) शरीर मे लगी हुई रज को (धसयई) झाड देती है, (एव) इसी तरह (दवि) भव्य, (ओवहाणव) उपधान आदि तप करने वाला (तवस्सि) तपस्वी (माहणे) माहन—अहिंसाव्रती पुरुप (कम्म) कर्म को (खवइ) नाश करता है।

भावार्थ

जैसे पक्षिणी अपने शरीर पर लगी हुई धूल को अग या पख फडफडा कर देती है, वैसे ही अनशन आदि तप करने वाला अहिंसाप्रधान भव्यपुरुप (तपस्या एव अहिंसाधर्म के पालन से) कर्म को झाड (नष्ट कर) देता है।

व्याख्या

अहिंसाधर्म के परि का फल

अहिंसाधर्म के परिपालन के लिए साधक को अहिंसा भगवती के दो पांखो—सयम और तप की आराधना करनी पडती है। जब अहिंसा-साधक सयम और

तपरूपी पाँखे फडफडाएगा तो उसके आत्मा पर लगी हुई कर्मरूपी धूल उसी तरह झड जाएगी, जिस तरह पक्षिणी अपने अग पर लगी हुई धूल को पाँखे फडफडाकर झाड देती है।

अहिंसाधर्मी साधक माहन कहलाता है, अर्थात् 'मा + हन—किसी जीव को मत मारो' इस प्रकार की जिसकी उद्घोषणा एव प्रवृत्ति है, उसे 'माहन' कहते है। यहाँ तप के पर्यायवाची उपधान शब्द का प्रयोग किया गया है। उप—मोक्ष के समीप, धान—स्थापित करना, उपधान। दवि शब्द का सस्कृतरूप होता है—द्रव्य, जिसका अर्थ टीकाकार (शीलाकाचार्य) ने भव्य किया है अर्थात् मोक्षगमन के योग्य।

निष्कर्ष यह है कि मोक्षगमन के योग्य उपधान आदि तप करने वाला तपस्वी अहिंसाप्रधान साधु अपने ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को नष्ट कर देता है।

आगामी गाथाओ मे अनुकूल उपसर्गो से साधक को सावधान रहने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

मूल पाठ

उट्ठियमणगारमेसण, समणं ठाणठिअ तवस्सिण।
डहरा बुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य त लभेज्ज णो।।१६।।

सस्कृत छाया

उत्थितमनगारमेषणा श्रमण स्थानस्थित तपस्विनम्।
दहरा वृद्धाश्च प्रार्थयेयुरपि शुष्येयुर्न च त लभेरन्।।१६।।

अन्वयार्थ

(अणगार) गृहरहित मुनि (एसण) एषणा के पालन के लिए (उट्ठिय) उत्थित—तत्पर, (ठाणठिय) अपने सयमस्थान मे स्थित (तवस्सिण समण) तपस्वी श्रमण को (डहरा) उसके लडके-बच्चे, (बुड्ढा य) उसके बूढे माता-पिता आदि (पत्थए) प्रव्रज्या छोड देने के लिए चाहे प्रार्थना करें, (अवि सुस्से य) और चाहे प्रार्थना करते-करते उनका गला सूख जाय, वे थक जायँ, (त) परन्तु वे उस श्रमण को (णो लभेज्ज) पा नही सकते, मना नही सकते, अथवा अपने अधीन नही कर सकते।

भावार्थ

घर-बार छोडकर अनगार बने हुए तथा एषणा-पालन मे तत्पर सयमधारी तपस्वी श्रमण के पास आकर यदि उसके बेटे-पोते या माँ-बाप

आदि वृद्ध दीक्षा छोडकर घर चलने की चाहे जितनी प्रार्थना करे, चाहे प्रार्थना करते-करते उनका गला सूख जाय, वे भले ही थक जायँ, परन्तु वस्तुतत्त्व के ज्ञाता साधु को वे मनाकर अपने अधीन नही कर सकते।

व्याख्या

अनुकूल उपसर्ग मुनि को

जिसके अगार अर्थात् घर-बार नही है, अर्थात् गृह त्याग करके जो प्रव्रजित हो चुका है, वह अनगार कहलाता है। ऐसे अनगार तथा सयमपालनार्थ जो एषणा-समिति के पालन मे उद्यत है जिसने विशिष्ट तपश्चर्या द्वारा अपने शरीर को तपा डाला है, ऐसे परिपक्व श्रमण के जीवन मे भी कई बार अनुकूल उपसर्ग आते हैं, उन अनुकूल उपसर्गो मे उसे गाफिल नही रहना है। जरा-सा भी असावधान रहा तो उसके सयमधन का लोग अपहरण कर लेंगे, उसका वर्षो का तपा-तपाया जीवन शीघ्र ही मिट्टी मे मिला देंगे, उसकी वर्षो की साधना उसके तथाकथित कुटुम्बीजन हितैषी बनकर नष्टभ्रष्ट कर देंगे। कौन-से अनुकूल उपसर्ग और कौन-से उसके कुटुम्बीजन, कैसे उसकी साधना को मटियामेट कर सकते है? इसे बताने एव तपस्वी श्रमण को पूर्ण सावधान एव सयम मे दृढ करने के लिए कहते हैं—'डहरा बुड्ढा य पत्थए ' आशय यह है कि ऐसे परिपक्व श्रमण के सामने अनुकूल उपसर्ग का एक नमूना देखिये। उसके गृहस्थपक्ष के बेटे-पोते आदि या बडे-बूढे माता-पिता, मामा, नाना आदि उसके पास आकर विनती करे—"आपने बहुत वर्षो तक सयम-पालन कर लिया, अब तो आप यह सब छोडछाड कर घर चलिए और हमारा पालन कीजिए। आपके सिवाय हमारा कोई आधार नही है। एकमात्र आप ही हमारे पालक है। हम आपके बिना निराधार दीन-दु खी हो रहे है। अत अब देर मत करिए, झटपट घर चलिए और हमे सँभालिए।"—इस प्रकार वे बार-बार रो-रोकर, दीनता और करुणा का नाटक करके मुनि को कायल करने और अपने धर्म से विचलित करने की कोशिश करें। उस समय मुनि उसे अनुकूल परीपह जानकर सावधान हो जाए। अगर साधु सावधान और मन का मजबूत होगा तो चाहे प्रार्थना करते-करते उनका गला सूख जाय, अथवा वे थक जायँ, परन्तु परिपक्व साधक अपने लक्ष्य से एक इच भी इधर-उधर नही होगा, वह उन्हे यथायोग्य उत्तर देकर विदा कर देगा, लेकिन उनके वाग्जाल मे बिलकुल न फँसेगा। वे सयम मे दृढ उस साधु को चाहे जितना प्रयत्न, अनुनय-विनय करके भी पा नही सकते, मना नही सकते।

यहाँ मूलपाठ मे 'अवि सुस्से' शब्द है, उसका सस्कृत मे 'अपि श्रोष्ये' रूप भी बनता है। जिसका अर्थ होता है, वह साधु उनकी बात सुनेगा भी, किन्तु उनके

वाग्जाल मे नही फँसेगा। निष्कर्ष यह है कि साधु को ये और इस प्रकार के अन्य अनुकूल उपसर्गो के आने पर सावधानी और दृढता रखनी चाहिए।

मूल

जइ कालुणियाणि कासिया, जइ रोयति य पुत्तकारणा।
दविय भिक्खू समुट्ठियं, णो लभति ण सठवित्तए ॥१७॥

सं छाया

यदि कारुणिकानि कुर्युः, यदि रुदन्ति च पुत्रकारणात्।
द्रव्य भिक्षु समुत्थित न लभन्ते न सस्थापयितुम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(जइ) यदि वे (कालुणियाणि कासिया) करुणापूर्ण वचन बोलें या करुणाजनक कार्य करे (य) और (जइ) यदि वे (पुत्तकारणा) अपने पुत्र के लिए (रोयति) रुदन करें, तो भी (दविय) भव्य मुक्तिगमन के योग्य, (समुट्ठिय) मोक्ष साधना मे समुद्यत (भिक्खू) साधु को (णो लभति) प्रव्रज्या से भ्रष्ट नही कर सकते, तथा (ण सठवित्तए) न वे उसे गृहस्थलिंग मे स्थापित कर सकते है।

भावार्थ

साधु के माता-पिता आदि स्वजन उसके निकट आकर यदि करुण वचन बोलें, कातरतापूर्वक दीन-हीन स्वर मे कहे, या करुणाजनक कार्य करे, तथा यदि वे अपने पुत्र के लिए रोये-विलाप करे, तो भी साधुधर्म का पालन करने मे तत्पर, मुक्तिगमन के योग्य उस परिपक्व साधु को वे साधुजीवन से भ्रष्ट नही कर सकते और न ही वे उसे पुन गृहस्थवेष मे स्थापित कर सकते है।

व्याख्या

परिपक्व एव सावधान साधु की पहिचान

साधु की परिपक्वता, दृढता एव सावधानी का पता उस समय लगता है, जब उसके सामने अनुकूल परीषह आते हैं। उसके भूतपूर्व गृहस्थपक्ष के माता, दादी, नानी, मौसी या पिता, बाबा, नाना आदि आकर उसके सामने रोने-धोने लग जाएँ, उसके सामने करुणापूर्ण वचन बोलने लगे अथवा कोई करुणाजनक ऐसा कार्य कर बैठें, जिससे साधु झटपट पिघल जाए और अपने साधुजीवन से भ्रष्ट होकर पुन गृहस्थजीवन मे चला जाए। किन्तु परिपक्व एव सावधान साधु ऐसे करुणाजनक प्रसगो मे मन को कठोर बनाकर दृढता से प्रतिकार करता है। अगर उस मुनि की

आदि वृद्ध दीक्षा छोडकर घर चलने की चाहे जितनी प्रार्थना करें, चाहे प्रार्थना करते-करते उनका गला सूख जाय, वे भले ही थक जायँ, परन्तु वस्तुतत्त्व के ज्ञाता साधु को वे मनाकर अपने अधीन नही कर सकते।

• ।

अनुकूल उपसर्ग मुनि को

जिसके अगार अर्थात् घर-बार नही है, अर्थात् गृह त्याग करके जो प्रव्रजित हो चुका है, वह अनगार कहलाता है। ऐसे अनगार तथा सयमपालनार्थ जो एषणा-समिति के पालन मे उद्यत है जिसने विशिष्ट तपश्चर्या द्वारा अपने शरीर को तपा डाला है, ऐसे परिपक्व श्रमण के जीवन मे भी कई बार अनुकूल उपसर्ग आते हैं, उन अनुकूल उपसर्गो मे उसे गाफिल नही रहना है। जरा-सा भी असावधान रहा तो उसके सयमधन का लोग अपहरण कर लेंगे, उसका वर्षों का तपा-तपाया जीवन शीघ्र ही मिट्टी मे मिला देंगे, उसकी वर्षों की साधना उसके तथाकथित कुटुम्बीजन हितैषी बनकर नष्टभ्रष्ट कर देंगे। कौन-से अनुकूल उपसर्ग और कौन-से उसके कुटुम्बीजन, कैसे उसकी साधना को मटियामेट कर सकते है? इसे बताने एव तपस्वी श्रमण को पूर्ण सावधान एव सयम मे दृढ करने के लिए कहते हैं—'डहरा वुड्ढा य पत्थए ' आशय यह है कि ऐसे परिपक्व श्रमण के सामने अनुकूल उपसर्ग का एक नमूना देखिये। उसके गृहस्‍ के बेटे-पोते आदि या बडे-बूढे माता-पिता, मामा, नाना आदि उसके पास आकर विनती करे—"आपने बहुत वर्षों तक सयम-पालन कर लिया, अब तो आप यह सब छोडछाड कर घर चलिए और हमारा पालन कीजिए। आपके सिवाय हमारा कोई आधार नही है। ए आप ही हमारे पालक है। हम आपके बिना निराधार दीन-दुखी हो रहे है। अत अब देर मत करिए, घर चलिए और हमें सँभालिए।"—इस प्रकार वे बार-बार रो-रोकर, दीनता और करुणा का नाटक करके मुनि को कायल करने और अपने धर्म से विचलित करने की कोशिश करें। उस समय मुनि उसे अनुकूल परीषह जानकर सावधान हो जाए। अगर साधु सावधान और मन का मजबूत होगा तो चाहे प्रार्थना करते-करते उनका गला सूख जाय, अथवा वे थक जायँ, परन्तु परिपक्व साधक अपने लक्ष्य से एक इंच भी इधर-उधर नही होगा, वह उन्हे यथायोग्य उत्तर देकर विदा कर देगा, लेकिन उनके वाग्जाल मे बिलकुल न फँसेगा। वे सयम मे दृढ उस साधु को चाहे जितना प्रयत्न, अनुनय-विनय करके भी पा नही सकते, मना नही सकते।

यहाँ मूलपाठ मे 'अवि सुस्से' शब्द है, उसका सस्कृत मे 'अपि श्रोष्ये' रूप भी बनता है। जिसका अर्थ होता है, वह साधु उनकी बात सुनेगा भी, किन्तु उनके

वाग्जाल मे नही फँसेगा। निष्कर्ष यह है कि साधु को ये और इस प्रकार के अन्य अनुकूल उपसर्गो के आने पर सावधानी और दृढता रखनी चाहिए।

मूल

जइ कालुणियाणि कासिया, जइ रोयंति य पुत्तकारणा।
दविय भिक्खू समुट्ठियं, णो लभंति ण संठवित्तए ॥१७॥

सं छाया

यदि कारुणिकानि कुर्य्युः, यदि रुदन्ति च पुत्रकारणात्।
द्रव्य भिक्षु समुत्थित न लभन्ते न संस्थापयितुम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(जइ) यदि वे (कालुणियाणि कासिया) करुणापूर्ण वचन बोलें या करुणाजनक कार्य करे (य) और (जइ) यदि वे (पुत्तकारणा) अपने पुत्र के लिए (रोयंति) रुदन करें, तो भी (दविय) भव्य मुक्तिगमन के योग्य, (समुट्ठियं) मोक्ष साधना मे समुद्यत (भिक्खू) साधु को (णो लभंति) प्रव्रज्या से भ्रष्ट नही कर सकते, तथा (ण संठवित्तए) न वे उसे गृहस्थलिंग मे स्थापित कर सकते हैं।

भावार्थ

साधु के माता-पिता आदि स्वजन उसके निकट आकर यदि करुण वचन बोलें, कातरतापूर्वक दीन-हीन स्वर मे कहे, या करुणाजनक कार्य करे, तथा यदि वे अपने पुत्र के लिए रोये-विलाप करे, तो भी साधुधर्म का पालन करने मे तत्पर, मुक्तिगमन के योग्य उस परिपक्व साधु को वे साधुजीवन से भ्रष्ट नही कर सकते और न ही वे उसे पुन गृहस्थवेष मे स्थापित कर सकते है।

व्याख्या

परिपक्व एव सावधान साधु की पहिचान

साधु की परिपक्वता, दृढता एव सावधानी का पता उस समय लगता है, जब उसके सामने अनुकूल परीषह आते हैं। उसके भूतपूर्व गृहस्थपक्ष के माता, दादी, नानी, मौसी या पिता, बाबा, नाना आदि आकर उसके सामने रोने-धोने लग जाएँ, उसके सामने करुणापूर्ण वचन बोलने लगें अथवा कोई करुणाजनक ऐसा कार्य कर बैठें, जिससे साधु झटपट पिघल जाए और अपने साधुजीवन से भ्रष्ट होकर पुन गृहस्थजीवन मे चला जाए। किन्तु परिपक्व एव सावधान साधु ऐसे करुणाजनक प्रसगो मे मन को कठोर बनाकर दृढता से प्रतिकार करता है। अगर उस मुनि की

गृहस्थपक्षीय पत्नी आकर कहे—"हे कन्त ! हे नाथ ! हे स्वामिन् ! हे अतिप्रिय ! प्राणवल्लभ, आप तो इतने निष्ठुर हो गए कि घर भी नही चलते। आपके बिना मुझे सारा घर सूना-सूना लगता है। बच्चे आपके बिना रो रहे है, उन्हे कुछ भी अच्छा नही लगता। मुझ पर नही तो, उन बच्चो पर दया करके ही घर चलो। आपके घर आ जाने से घर मे चहल-पहल हो जायगी। मेरा भी जीवन आनन्द से बीतेगा। अपने बूढे माता-पिता की ओर देखो। वे आपके बिना बेचैन है। आपके घर आने से उनका भी मन हरा-भरा रहेगा।" अथवा उक्त साधु के स्वजन आकर रोते-विलाप करते कहे—"एक बार तो घर चलो। कुलदीपक पुत्र के बिना सारा कुल, घर या वश सूना है। और कुछ नही तो कम से कम अपनी वशबुद्धि के लिए एक पुत्र उत्पन्न करके फिर तुम पुन सयम पालन करना। हम फिर तुम्हे रोकेगे नही। सिर्फ एक पुत्र की हमारी प्रार्थना स्वीकार कर लो।"

ऐसे अनुकूल उपसर्ग के समय ही सयमी साधु की दृढता और परिपक्वता की परीक्षा होती है। जो परिपक्व एव सुदृढ श्रमण होता है, उसके सामने उसके गृहस्थ-पक्ष के घरवाले आकर चाहे जितने रोयें-धोयें, चाहे जितना करुण विलाप करे, चाहे जितना अनुनय-विनय करके उसे अपने घर ले जाने की कोशिश करे, यहाँ तक कि वे उसके सामने यह कहे कि तुम घर नही चलते हो तो हम तुम्हारे सामने यही प्राण-त्याग कर देगे, यह नरहत्या का पाप तुम्हे लगेगा। चलो, उठो, जिद मत करो, हमारी बात मान जाओ, हम तुम्हारे लिए सब तरह की सुख-सामग्री जुटा देंगे। तुम्हारी सेवा मे कोई कसर नही छोडेगे। परन्तु वह जरा भी विचलित नही होता, न पिघलता है और न उसके झासे मे आकर अपना बाना छोडकर घर चलने को तैयार होता है। ऐसे परिपक्व साधु के सामने चाहे जितने अनुकूल उपसर्ग देने वाले आ जाएँ, वे उसे अपनी साधना से एक इच भी इधर उधर नही कर सकते, न ही उससे वेष-परिवर्तन करा सकते है।

मूल

जइ वि य कामेहि लाविया, जइ णेज्जाहि ण बधिउ घरं ।
जइ जीविय नावकखए णो लब्भति ण सठवित्तए ॥१८॥

छाया

यद्यपि च कामैर्लावयेयु , यदि नयेयुर्बध्वा गृहम् ।
यदि जीवित नावकाङ्क्षेत् , नो लप्स्यन्ति न सस्थापयितुम् ॥१८॥

अन्वयार्थ

(जइ वि य) चाहे साधु के पारिवारिकजन (कामेहि लाविया) उसे कामभोगो

का प्रलोभन दे, (जइ) यदि वे (बधिउ) उसे बांधकर (घर) घर पर (णेज्जाहि ण) क्यो न ले जाएँ, (जइ) यदि वह साधु (जीविय नावकखए) वैसा असयमी जीवन नही चाहता है तो, (णो लब्भति) वे उसे अपने वश मे नही कर सकते, (ण सठवित्तए) न उसे पुन गृहवास या गृहस्थभाव मे रख सकते है।

र्थ

साधु के परिवार के लोग उसके पास आकर उसे विषयभोगो का तरह-तरह से प्रलोभन दे, अथवा वे उसे जबरन बाँधकर घर ले जाएँ, परन्तु वह साधु असयमी-जीवन नही चाहता है तो कोई भी शक्ति उसे वश मे नही कर सकती, और न ही उसे गृहस्थभाव या गृहवास मे पुन स्थापित कर सकती है।

व्याख्या

भय और प्रलोभन मे भी अविचल साधक

सयमपालन मे तत्पर साधु के स्वजन उसे मनोज्ञ प्रिय शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से परिपूर्ण काम-भोगो का प्रलोभन दें। वे उससे कहे "चलो, अब हम तुम्हे बढिया-बढिया गाने सुनाएँगे, नृत्य, गीत आदि राग-रग से तुम्हे तृप्त कर देंगे, सुन्दर-सुन्दर रूपवती नारियाँ तुम्हारी सेवा मे तत्पर रहेगी, उत्तमोत्तम सरस स्वादिष्ट पदार्थ तुम्हे खाने को देंगे, मनचाहे सुगन्धित पदार्थों से तुम्हारे मन को तृप्त कर देंगे और सुकोमल स्पर्श से तुम्हारा हृदय प्रसन्न कर देंगे। इतना सब कुछ प्रलोभन देने पर भी यदि वह साधु घर चलने को तैयार न हो तो शायद उसके स्वजन सम्बन्धी उसे मारे-पीटें और जबर्दस्ती रस्सी से बाँधकर घर ले जाएँ। परन्तु यदि उस साधु को अपना सयमी जीवन प्रिय है, वह असयमी जीवन को नरक के समान मानकर बिलकुल नही चाहता है और ऐसे अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग के समय भी अपने साधुत्व मे दृढ रहता है। ऐसी दशा मे घर वाले चाहे लाख कोशिश कर लें, वे उसे अपने वश मे नही कर सकते, और न ही उसे घर मे या गृहस्थभाव मे रखने मे समर्थ हो सकते हैं। परमानन्ददायक, चन्द्रसम निर्मल, सुधातुल्य सुस्वादु क्षीरसागर के जल के समान सयम जल को पीकर भला कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो खारे और गदे कामभोगरूपी वैषम्य जल को पीना चाहेगा ?

मूल

सेहंति य ममाइणो मायपिया य सुया य भारिया।
पोसाहि ण पासओ, तुम लोग पर पि जहासि पोस णो॥१ ॥

सस्कृत छाया

शिक्षयन्ति च ममत्ववन्त , माता पिता च सुताश्च भार्या ।
पोपय न दर्शकस्त्व, लोक पर च जहासि पोषय न ॥१९॥

अन्वयार्थ

(ममाइणो) 'यह साधु मेरा है,' ऐसा जानकर साधु से स्नेह करने वाले उसके (मायपिया य सुया य भारिया) माता, पिता, पुत्र और पत्नी (सेहति य) साधु को शिक्षा भी देते हैं कि (तुम) तुम (पासओ) हमारी परिस्थिति को देख रहे हो, प्रत्य र्गी हो, अथवा तुम दूरदर्शी हो, सूक्ष्मदर्शी हो (पोसाहि ण) हमारा भरण-पोषण करो । ऐसा न करके (तुम) तुम (लोग पर पि) इस लोक और परलोक को भी (जहासि) बिगाड रहे हो या कर्त्तव्य छोड रहे हो, अत (णो पोस) हमारा पालन-पोषण करो ।

र्थ

साधु को ममत्ववश अपना जानकर उसके माता, पिता, पुत्र और स्त्री आदि स्वजन (कभी-कभी) ऐसी शिक्षा भी देने लगते है कि तुम हमारी परिस्थिति को देख रहे हो, या जानते हो, प्रत्यक्षदर्शी हो, अथवा तुम दूरदर्शी या सूक्ष्मदर्शी हो, अब हमारा भरण-पोषण करो । अन्यथा तुम इस लोक और परलोक दोनो के कर्त्तव्य को छोडते हो, दोनो को बिगाड रहे हो । अत सौ बात की एक बात है, जिस किसी तरह से भी हमारा पालन-पोषण करो ।

व्याख्या

और भी अनुकूल र्ग

जब ममत्वग्रस्त स्वजनो के पूर्वोक्त दांव नही चलते और वे साधु को पुन गृहवास मे लाने असमर्थ हो जाते है, तब एक नया दांव और चलाते हैं । वे मोह-ममता से लबालब भरे स्वजन (माता-पिता, पुत्र-स्त्री आदि) साधु को नवदीक्षित (अपरिपक्व) जानकर उसे सयमी जीवन से भ्रष्ट करने हेतु बहुत ही मधुर शब्दो मे स्नेहपूर्वक कहते हैं—"देखो, हम तुम्हारे बिना अत्यन्त दु खी हैं । तुम्ही हमारे एकमात्र आधार हो । तुम्हारे सिवाय हमारा कोई पालन-पोपण करने वाला नही है । तुम हमारी परिस्थिति को जानते हो, तुमने हमारी स्थिति देखी है, तुम हमारी स्थिति के प्रत्यक्षदर्शी हो । अथवा तुम स्वय दूरदर्शी या सूक्ष्मदर्शी हो । अत घर चलकर हमारा भरण-पोपण करो । अन्यथा, प्रव्रज्या लेकर तुमने इस लोक को तो बिगाड ही लिया, अब हमे छोडकर परलोक को भी बिगाड रहे हो । हमारा पालन-

पोषण करना तुम्हारा धर्म है। अपने दु खी परिवार के पालन से पुण्यलाभ होता है। इसी दृष्टि से किसी ने कहा है—

या गति क्लेशदग्धाना गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
बिभ्रता पुत्रदारास्तु ता गति व्रज, पुत्रक !

"हे पुत्र ! स्त्री, पुत्र आदि का पालन करने मे क्लेश सहने वाले गृहस्थो का जो मार्ग है, उसी से तुम चलो।"

निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की युक्तियो, सूक्तियो और तर्कों से युक्त उलटी-सीधी शिक्षा की बाते कहकर मोह-ममता मे लिपटे हुए स्वजन अपने गृहस्थ-पक्षीय सम्बन्ध के कारण आकृष्ट करके अपने पालन-पोषण की बात को बार-बार दोहराते हैं। परन्तु साधक को अपने सयममार्ग पर दृढ रहना चाहिए।

किन्तु जो अपरिपक्व एव सयम मे शिथिल साधु होता है, वह सयम से कैसे लुढक जाता है, इसे आगामी गाथा मे देखिए—

मूल पाठ

अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया मोह जति नरा असंवुडा।
विसमं विसमेहिं गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिया ॥२०॥

संस्कृत छाया

अन्येऽन्यैर्मूच्छिता, मोह यान्ति नरा असवृता ।
विपम विषमैर्ग्राहिता, ते पापै पुन प्रगल्भिता ॥२०॥

अन्वयार्थ

(ब़ा) सर्वविरतिरूप सयमभाव से रहित (अन्ने नरा) दूसरे—अपरिपक्व मनुष्य—साधक (अन्नेहिं मुच्छिया) माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि अन्यान्य पदार्थों मे मूर्च्छित—आसक्त होकर (मोह जति) मोहमूढ हो जाते हैं। (विसमेहिं वि गाहिया) सयमहीन पुरुषो द्वारा असयम ग्रहण कराये हुए वे पुरुष (पुणो पावेहिं पगब्भिया) फिर पापकर्म करने मे धृष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ

कोई सयमहीन साधक स्वजन-सम्बन्धी जनो के उपदेश से माता-पिता आदि अन्यान्य पदार्थो मे आसक्त होकर मोहमूढ बन जाते है। असयमी पुरुषो द्वारा असयम ग्रहण कराये हुए वे भ्रष्ट साधक फिर धृष्ट होकर बेखटके पापकर्म करने मे जुट जाते है।

व्याख्या

कायर असयमियो का पतन

साधुजीवन मे आने वाले उपसर्गों और परीषहो से घबराकर असयम की ओर झुक जाने वाले कायर साधक सुख-सुविधाएँ ढूंढते रहते है, जब माता-पिता आदि स्वजनवर्ग उसके समक्ष जरा सी भी गृहवास मे चलने और विषयभोगो के सेवन करने की प्रार्थना करते हैं, तव वे आगे-पीछे का विचार किये बिना फौरन लुढक जाते है, अपने जीवन मे अपनाये हुए सर्वविरति-सयम से पतित हो जाते है और माता-पिता आदि द्वारा किये गये उक्त अनुकूल उपसर्ग के सामने घुटने टेक देते है। उसके बाद वे अल्पपराक्रमी, साधुता मे अपरिपक्व, असयमरुचि व्यक्ति गृहवास मे जाकर अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि मे अत्यन्त मोहित एव आसक्त हो जाते है। अथवा वे फिर धर्मानुष्ठान करने मे मूढ (विवेकि) हो जाते हैं। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**"अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया मोह जति नरा असवुडा।"**

अन्य शब्द का बहुवचनान्तरूप 'अन्ने' शब्द सयमी जीवन से विहीन होने वाले साधको के लिए प्रयुक्त किया गया है। साधक के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त ससार के सभी पदार्थ—यहाँ तक कि मोह-माया, लोभ, काम, आदि भावात्मक एव माता-पिता आदि स्वजन तथा शरीर, धन, धाम आदि द्रव्यात्मक सभी पदार्थ—अन्य है। उन अन्य पदार्थों—यानी सयमी जीवन से असम्बद्ध पदार्थों को जो अपने मान लेता है वह भी अन्य है। वास्तव मे साधक के लिए सम न आदि आत्मगुण ही अपने हैं, उनसे भिन्न सभी दुर्गुण या सभी पदार्थ अन्य हैं। अन्यो को अपने मानने वाले भूतपूर्व सयमी—वर्तमान मे सयमी जीवन से च्युत लोग अन्यो यानी पूर्वोक्त प्रकार के असयमी गृहस्थो मे मूर्च्छित—आसक्त होकर मोहवश विवेक-भ्रष्ट हो जाते हैं।

विसम विसमेहिं गाहिया—यहा विषम शब्द असयम का वाचक है, क्योंकि साधक के लिए सयम सम है, असयम विषम है। उस विषम—असयम को अपनाने वाले भी 'विषम' कहलाते है। अत विषमो—असयमीजनो द्वारा विषम—असयम ग्रहण कराये हुए वे सयमभ्रष्ट पुरुष अठारह ही प्रकार के पापकर्म करने मे धृष्ट हो जाते हैं। यानी वे फिर वे-लगाम (निरकुश) होकर बेखटके पापकर्म करते रहते हैं।

शास्त्रकार का आशय सर्वविरति-सयममार्ग के पथिका को अनुकूल उपसर्ग आने पर फिसल जाने वाले सयमभ्रष्टो की वास्तविक दशा बताकर सावधान करना है।

इसी गाथा के सन्दर्भ मे शास्त्रकार पापकर्मों से विरत होने का उपदेश अगली गाथा मे देते है—

मूल

तम्हा दवि इक्ख पंडिए पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे ।[1]
पणए वीरे महावीहिं, सिद्धिपह णेआउयं धुव ॥२१॥

सस्कृत छाया

तस्माद् द्रव्य ईक्षस्व पण्डित , पापाद् विरतोऽभिनिर्वृंत ।
प्रणता वीरा महावीथी, सिद्धिपथ नेतार ध्रुवम् ॥२१॥

अन्वयार्थ

(तम्हा) इसलिए (दवि) भव्य—मोक्षगमन के योग्य अथवा राग-द्वेपरहित होकर (इक्ख) विचार करो—अन्तर्निरीक्षण करो। (पंडिए) हे पुरुप ! सद्-असद्-विवेक से युक्त तथा (पावाओ विरते) पापकर्म से निवृत्त होकर (अभिनिव्वुडे) शान्त हो जाओ। (वीरे) वीर—कर्मों को विदारण करने मे समर्थ पुरुष (महावीहिं) मोक्ष की महान् पगडडी—महामार्ग को (पणए) प्राप्त करते है, जो (सिद्धिपह) ज्ञानादि से युक्त सिद्धि का पथ, (णेआउय) मोक्ष की ओर ले जाने वाला और (धुव) निश्चल अथवा निश्चित है।

भावार्थ

माता-पिता आदि के मोह मे फँसकर सयमपथ से भ्रष्ट जीव पाप करने मे धृष्ट हो जाते हैं, इसलिए हे पुरुष ! तुम मुक्तिगमन के योग्य अथवा रागद्वेषरहित होकर विचार करो। हे पुरुष ! सत् असत् के विवेक से युक्त, पापो से विरत और शान्त हो जाओ। कर्मों को विदारण (नष्ट) करने मे समर्थ पुरुष मुक्ति के उस महामार्ग को प्राप्त करते है, अथवा उस महापथ पर चलते है, जो मोक्ष के पास ले जाने वाला सिद्धिमार्ग और ध्रुव है।

व्याख्या

वीर ही मोक्ष के महापथ को पाते हैं !

पूर्वगाथा मे बताया गया था कि जो साधक माता-पिता आदि कुटुम्बीजनो के स्नेहबन्धन मे पडकर सयमभ्रष्ट हो जाते है, और फिर वे बेधडक होकर पापकर्म

---

१ किसी-किसी प्रति मे 'विरतेऽभिनिव्वुडे' के बदले 'विरए अभिनिव्वुडे' पाठ है।

करते हैं, ऐसी स्थिति मे मोक्ष का महापथिक साधु क्या सोचे, क्या करे ? इसे शास्त्रकार उपदेश की भाषा मे कहते हैं—हे साधक पुरुप ! मुक्तिगमन के योग्य भव्य पुरुष ! राग और द्वेष से परे होकर जरा ठण्डे दिल-दिमाग से उन पापकर्मो के परिणामो पर विचार करो। वास्तव मे जब मनुष्य पक्षपात, मोह, राग और द्वेष, अपने-पराये के विचार को छोडकर तटस्थ एव निष्पक्ष होकर विचार करता है, तभी उसे तथ्य-सत्य के दर्शन होते है। इसीलिए इस सूत्र के प्रारम्भ मे कहा है—'तम्हा दवि इक्ख पडिए ।' पापकर्म के परिणामो और अपने जीवन के कार्यो पर पर्यालोचन करो, तभी तुम्हे असलियत का पता लगेगा।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार के पर्यालोचन के बाद वह सयमी साधक क्या करे ? इसी के समाधानार्थ इस गाथा के दूसरे चरण मे कहा है—"पावाओ विरए अभिनिव्वुडे।" पापकर्मों की इन सब प्रक्रियाओ तथा उनके परिणामो पर विचार करके शीघ्र ही साधक को पापकर्मों से विरत हो जाना चाहिए, आरम्भ-समारम्भ के या हिंसा आदि के जो भी स्थान या कार्य हो, उनसे अपना हाथ खीच लेना चाहिए और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेप, अहकार आदि से तथा इनके उत्पन्न करने वाले कार्यो से भी निवृत्त होकर शान्ति से आत्मा की उपासना, परमात्मा के स्मरण एव आत्मस्वभाव मे रमण करना चाहिए। इस प्रकार शान्त होकर वीतरागता की उपासना मे लगने से क्या होगा ? इसके उत्तर मे कहते हैं—"पणया वीरे महावीहिं धुव।" इस प्रकार कर्मविदारण मे समर्थ वीर पुरुषो ने ही मोक्ष के इस महामार्ग को प्राप्त किया है। 'पणया' का अर्थ जैसे 'प्राप्त किया है' होता है, वैसे 'पणया' का अर्थ 'प्रणत—झुके हुए' है। यानी ऐसे वीर (कर्मवीर) पुरुप ही मोक्षमहामार्ग की ओर झुके हुए हैं। 'महावीहिं' शब्द के यहाँ तीन विशेपण दिये है—'सिद्धिपह णेयाउय धुव।' यही सिद्धि का पथ है, यही न्याययुक्त है अथवा मोक्ष की ओर ले जाने वाला है, यही निश्चल है।

आशय यह है कि शास्त्रकार ने यहाँ स्पष्ट बता दिया है कि "परीपहो एव उपसर्गो के समय इस प्रकार का कदम उठाना वीरो, धीरो तथा परीपह-उपसर्ग के सहने मे मेरुसम स्थिर पुरुषो या कर्मरूपी सिंह को विदारण करने मे समर्थो का है, सासारिक सुखो की आशा करने वाले कायरो का नही है। इसलिए तुम भी परिवार का मोह छोडकर परीपहो एव उपसर्गो के सहने मे धीर-वीर बनकर सयमपथ पर विचरण करो।"

पुन उसी उपदेश को दोहराकर इस उद्देशक का उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

वेयालियमग्गमागओ मणवयसा कायेण संवुडो ।
चिच्चा वित्तं च णायओ आरंभं च सुसंवुडे चरे ॥२२॥
—त्ति बेमि

संस्कृत छाया

वैदारकमार्गमागतः मनसा वचसा कायेन संवृतः ।
त्यक्त्वा वित्तं च ज्ञातिश्च आरम्भञ्च सुसंवृतश्चरेत् ॥२२॥
—इति ब्रवीमि

अन्वयार्थ

(वेयालियमग्गं) कर्मों को विदारण करने में समर्थ मार्ग में (आगओ) आया हुआ साधक (मणवयसाकायेण संवुडो) मन, वचन एवं काया से संवृत गुप्त होकर (वित्तं) धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, (णायओ) कुटुम्ब-कबीले या ज्ञातिवर्ग (आरंभं च) और आरम्भ-सावद्य अनुष्ठान को (चिच्चा) छोड़कर (सुसंवुडे चरे) उत्तम इन्द्रियसंयमी होकर विचरण करना चाहिए।

भावार्थ

"हे साधको ! कर्मबन्धनों को विदारण—नष्ट करने में समर्थ वीरों के मार्ग में आ गये हो, इसलिए अब मन, वचन और काया तीनों से गुप्त होकर यानी तीनों को संवृत करके तथा धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, कुटुम्ब-कबीला या जाति के स्वजनों को एवं पापकर्मजनक आरम्भकार्यों को तथा उनके प्रति आसक्ति को सर्वथा छोड़कर इन्द्रियों से संवृत—संयमी होकर विचरण करो। ऐसा मैं कहता हूँ।

व्याख्या

वैदारक पथ पर आने वालों से !

पूर्वोक्त गाथाओं में कर्मबन्धन के कारणों तथा अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों तथा परीषहों के विभिन्न प्रसंगों में सावधान रहने का जो उपदेश भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों के बहाने समस्त साधकों को दिया था, उसी उपदेश का सार इस गाथा में दोहराकर इस उद्देशक का उपसंहार करते हैं। इस उद्देशक का नाम 'वेयालिय' है, जिसका एक रूप होता है, वैदारक। वैदारक मार्ग उसे कहते हैं, जो कर्मशत्रुओं को विदारण करने में समर्थ मार्ग हो। भगवान् ऋषभदेव के शब्दों में उपदेश का सार यह है कि "साधको ! अब तुम कर्मबन्धन का मार्ग छोड़कर

करते है, ऐसी स्थिति मे मोक्ष का महापथिक साधु क्या सोचे, क्या करे ? इसे शास्त्रकार उपदेश की भाषा मे कहते है—हे साधक पुरुष ! मुक्तिगमन के योग्य भव्य पुरुष ! राग और द्वेष से परे होकर जरा ठण्डे दिल-दिमाग से उन पापकर्मो के परिणामो पर विचार करो। वास्तव मे जब मनुष्य पक्षपात, मोह, राग और द्वेष, अपने-पराये के विचार को छोडकर तटस्थ एव निष्पक्ष होकर विचार करता है, तभी उसे तथ्य-सत्य के दर्शन होते है। इसीलिए इस सूत्र के प्रारम्भ मे कहा है—'तम्हा दवि इक्ख पडिए ।' पापकर्म के परिणामो और अपने जीवन के कार्यो पर पर्यालोचन करो, तभी तुम्हे असलियत का पता लगेगा।

प्रश्न होता हे कि इस प्रकार के पर्यालोचन के वाद वह सयमी साधक क्या करे ? इसी के समाधानार्थ इस गाथा के दूसरे चरण मे कहा है—"पावाओ विरए अभिनिव्वुडे ।" पापकर्मो की इन सब प्रक्रियाओ तथा उनके परिणामो पर विचार करके शीघ्र ही साधक को पापकर्मो से विरत हो जाना चाहिए, आरम्भ-समारम्भ के या हिंसा आदि के जो भी स्थान या कार्य हो, उनसे अपना हाथ खीच लेना चाहिए और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेप, अहकार आदि से तथा इनके उत्पन्न करने वाले कार्यो से भी निवृत्त होकर शान्ति से आत्मा की उपासना, परमात्मा के स्मरण एव आत्मस्वभाव मे रमण करना चाहिए। इस प्रकार शान्त होकर वीतरागता की उपासना मे लगने से क्या होगा ? इसके उत्तर मे कहते हैं—"पणया वीरे महावीहि धुव ।" इस प्रकार कर्मविदारण मे समर्थ वीर पुरुषो ने ही मोक्ष के इस महामार्ग को प्राप्त किया है। 'पणया' का अर्थ जैसे 'प्राप्त किया है' होता है, वैसे 'पणया' का अर्थ 'प्रणत—झुके हुए' है। यानी ऐसे वीर (धर्मवीर) पुरुप ही मोक्षमहामार्ग की ओर झुके हुए है। 'महावीहि' शब्द के यहाँ तीन विशेषण दिये है—'सिद्धिपह णेयाउय धुव ।' यही सिद्धि का पथ है, यही न्याययुक्त है अथवा मोक्ष की ओर ले जाने वाला है, यही निश्चल है।

आशय यह है कि शास्त्रकार ने यहाँ स्पष्ट वता दिया है कि "परीषहो एव उपसर्गो के समय इस प्रकार का कदम उठाना वीरो, धीरो तथा परीषह-उपसर्ग के सहने मे मेरुसम स्थिर पुरुषो या कर्मरूपी सिंह को विदारण करने मे समर्थो का है, सासारिक सुखो की आशा करने वाले कायरो का नही है। इसलिए तुम भी परिवार का मोह छोडकर परीषहो एव उपसर्गो के सहने मे धीर-वीर वनकर सयमपथ पर विचरण करो।"

पुन उसी उपदेश को दोहराकर इस उद्देशक का उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

वेयालियमग्गमागओ मणवयसा कायेण सवुडो ।
चिच्चा वित्त च णायओ आरंभं च सुसवुडे चरे ॥२२॥
—त्ति बेमि

स . छाया

वैदारकमार्गमागत मनसा वचसा कायेन सवृत ।
त्यक्त्वा वित्त च ज्ञातिश्च आरम्भञ्च सुसवृतश्चरेत् ॥२२॥
—इति ोमि

अन्वयार्थ

(वेयालियमग्ग) कर्मों को विदारण करने मे समर्थ मार्ग मे (आगओ) आया हुआ साधक (मणवयसाकायेण सवुडो) मन, वचन एव काया से सवृत गुप्त होकर (वित्त) धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, (णायओ) कुटुम्व-कवीले या ज्ञातिवर्ग (आरभ च) और आरम्भ-सावद्य अनुष्ठान को (चिच्चा) छोडकर सुसवुडे चरे) उत्तम इन्द्रियसयमी होकर विचरण करना चाहिए ।

भावार्थ

"हे साधको ! कर्मबन्धनो को विदारण—नप्ट करने मे समर्थ वीरो के मार्ग मे आ गये हो, इसलिए अब मन, वचन और काया तीनो से गुप्त होकर यानी तीनो को सवृत करके तथा धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, कुटुम्ब-क़बीला या जाति के स्वजनो को एव पापकर्मजनक आरम्भकार्यों को तथा उनके प्रति आसक्ति को सर्वथा छोडकर इन्द्रियो से सवृत—सयमी होकर विचरण करो । ऐसा मैं कहता हूँ ।

व्याख्या

वैदारक पथ पर आने वालो से !

पूर्वोक्त गाथाओ मे कर्मबन्धन के कारणो तथा अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों तथा परीपहो के विभिन्न प्रसगो मे सावधान रहने का जो उपदेश भगवान् ऋपभदेव ने अपने पुत्रो के वहाने समस्त साधको को दिया था, उसी उपदेश का सार इस गाथा मे दोहराकर इस उद्देशक का उपसहार करते हैं । इस उद्देशक का नाम 'वेयालिय' है, जिसका एक रूप होता है, वैदारक । वैदारक मार्ग उसे कहते हैं, जो कर्मशत्रुओ को विदारण करने मे समर्थ मार्ग हो । भगवान् ऋषभदेव के शब्दो मे उपदेश का सार यह है कि "साधको ! अव तुम कर्मबन्धन का मार्ग छोडकर

करते है, ऐसी स्थिति मे मोक्ष का महापथिक साधु क्या सोचे, क्या करे ? इसे शास्त्रकार उपदेश की भाषा मे कहते हैं—हे साधक पुरुष ! मुक्तिगमन के योग्य भव्य पुरुष ! राग और द्वेष से परे होकर जरा ठण्डे दिल-दिमाग से उन पापकर्मो के परिणामो पर विचार करो। वास्तव मे जव मनुष्य पक्षपात, मोह, राग और द्वेष, अपने-पराये के विचार को छोडकर तटस्थ एव निष्पक्ष होकर विचार करता है, तभी उसे तथ्य-सत्य के दर्शन होते हैं। इसीलिए इस सूत्र के प्रारम्भ मे कहा है—'तम्हा दवि इक्ख पडिए।' पापकर्म के परिणामो और अपने जीवन के कार्यो पर पर्यालोचन करो, तभी तुम्हे असलियत का पता लगेगा।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार के पर्यालोचन के बाद वह सयमी साधक क्या करे ? इसी के समाधानार्थ इस गाथा के दूसरे चरण मे कहा है—"पावाओ विरए अभिनिव्वुडे।" पापकर्मो की इन सव प्रक्रियाओ तथा उनके परिणामो पर विचार करके शीघ्र ही साधक को पापकर्मो से विरत हो जाना चाहिए, आरम्भ-समारम्भ के या हिंसा आदि के जो भी स्थान या कार्य हो, उनसे अपना हाथ खीच लेना चाहिए और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेप, अहकार आदि से तथा इनके उत्पन्न करने वाले कार्यो से भी निवृत्त होकर शान्ति से आत्मा की उपासना, परमात्मा के स्मरण एव आत्मस्वभाव मे रमण करना चाहिए। इस प्रकार शान्त होकर वीतरागता की उपासना मे लगने से क्या होगा ? इसके उत्तर मे कहते हैं—"पणया वीरे महावीहिं धुव।" इस प्रकार कर्मविदारण मे समर्थ वीर पुरुषो ने ही मोक्ष के इस महामार्ग को प्राप्त किया है। 'पणया' का अर्थ जैसे 'प्राप्त किया है' होता है, वैसे 'पणया' का अर्थ 'प्रणत—झुके हुए' है। यानी ऐसे वीर (धर्मवीर) पुरुष ही मोक्षमहामार्ग की ओर झुके हुए हैं। 'महावीहिं' शब्द के यहाँ तीन विशेपण दिये है—'सिद्धिपह णेयाउय धुव।' यही सिद्धि का पथ है, यही न्याययुक्त है अथवा मोक्ष की ओर ले जाने वाला है, यही निश्चल है।

आशय यह है कि शास्त्रकार ने यहाँ स्पष्ट वता दिया है कि "परीपहो एव उपसर्गो के समय इस प्रकार का कदम उठाना वीरो, धीरो तथा परीपह-उपसर्ग के सहने मे मेरुसम स्थिर पुरुषो या कर्मरूपी सिंह को विदारण करने मे समर्थो का है, सासारिक सुखो की आशा करने वाले कायरो का नही है। इसलिए तुम भी परिवार का मोह छोडकर परीपहो एव उपसर्गो के सहने मे धीर-वीर वनकर सयमपथ पर विचरण करो।"

पुन उसी उपदेश को दोहराकर इस उद्देशक का उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

वेयालियमग्गमागओ मणवयसा कायेण सवुडो ।
चिच्चा वित्त च णायओ आरंभं च सुसवुडे चरे ॥२२॥

—त्ति बेमि

सस्कृत छाया

वैदारकमार्गमागत मनसा वचसा कायेन सवृत ।
त्यक्त्वा वित्त च ज्ञातिश्च आरम्भञ्च सुसवृतश्चरेत् ॥२२॥

—इति ्रीमि

अन्वयार्थ

(वेयालियमग्ग) कर्मों को विदारण करने मे समर्थ मार्ग मे (आगओ) आया हुआ साधक (मणवयसाकायेण सवुडो) मन, वचन एव काया से सवृत गुप्त होकर (वित्त) धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, (णायओ) कुटुम्ब-कबीले या ज्ञातिवर्ग (आरभ च) और आरम्भ-सावद्य अनुष्ठान को (चिच्चा) छोडकर सुसवुडे चरे) उत्तम इन्द्रियसयमी होकर विचरण करना चाहिए ।

भावार्थ

"हे साधको ! कर्मबन्धनो को विदारण—नष्ट करने मे समर्थ वीरो के मार्ग मे आ गये हो, इसलिए अब मन, वचन और काया तीनो से गुप्त होकर यानी तीनो को सवृत करके तथा धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, कुटुम्ब-कबीला या जाति के स्वजनो को एव पापकर्मजनक आरम्भकार्यों को तथा उनके प्रति आसक्ति को सर्वथा छोडकर इन्द्रियो से सवृत—सयमी होकर विचरण करो । ऐसा मैं कहता हूँ ।

व्याख्या

वैदारक पथ पर आने वालो से !

पूर्वोक्त गाथाओ मे कर्मबन्धन के कारणो तथा अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों तथा परीपहो के विभिन्न प्रसगो मे सावधान रहने का जो उपदेश भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो के बहाने समस्त साधको को दिया था, उसी उपदेश का सार इस गाथा मे दोहराकर इस उद्देशक का उपसहार करते हैं । इस उद्देशक का नाम 'वेयालिय' है, जिसका एक रूप होता है, वैदारक । वैदारक मार्ग उसे कहते हैं, जो कर्मशत्रुओं को विदारण करने मे समर्थ मार्ग हो । भगवान् ऋषभदेव के शब्दो मे उपदेश का सार यह है कि "साधको ! अब तुम कर्मबन्धन का मार्ग छोड़—

करते है, ऐसी स्थिति मे मोक्ष का महापथिक साधु क्या सोचे, क्या करे ? इसे शास्त्रकार उपदेश की भाषा मे कहते हैं—हे साधक पुरुष ! मुक्तिगमन के योग्य भव्य पुरुष ! राग और द्वेष से परे होकर जरा ठण्डे दिल-दिमाग से उन पापकर्मो के परिणामो पर विचार करो। वास्तव मे जब मनुष्य पक्षपात, मोह, राग और द्वेष, अपने-पराये के विचार को छोडकर तटस्थ एव निष्पक्ष होकर विचार करता है, तभी उसे तथ्य-सत्य के दर्शन होते है। इसीलिए इस सूत्र के प्रारम्भ मे कहा है—'**तम्हा दवि इक्ख पडिए**।' पापकर्म के परिणामो और अपने जीवन के कार्यो पर पर्यालोचन करो, तभी तुम्हे असलियत का पता लगेगा।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार के पर्यालोचन के बाद वह सयमी साधक क्या करे ? इसी के समाधानार्थ इस गाथा के दूसरे चरण मे कहा है—"**पावाओ विरए अभिनिव्वुडे**।" पापकर्मो की इन सब प्रक्रियाओ तथा उनके परिणामो पर विचार करके शीघ्र ही साधक को पापकर्मो से विरत हो जाना चाहिए, आरम्भ-समारम्भ के या हिंसा आदि के जो भी स्थान या कार्य हो, उनसे अपना हाथ खीच लेना चाहिए और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहकार आदि से तथा इनके उत्पन्न करने वाले कार्यो से भी निवृत्त होकर शान्ति से आत्मा की उपासना, परमात्मा के स्मरण एव आत्मस्वभाव मे रमण करना चाहिए। इस प्रकार शान्त होकर वीतरागता की उपासना मे लगने से क्या होगा ? इसके उत्तर मे कहते हैं—"**पणया वीरे महावीहिं धुव**।" इस प्रकार कर्मविदारण मे समर्थ वीर पुरुषो ने ही मोक्ष के इस महामार्ग को प्राप्त किया है। '**पणया**' का अर्थ जैसे 'प्राप्त किया है' होता है, वैसे '**पणया**' का अर्थ 'प्रणत—झुके हुए' है। यानी ऐसे वीर (धर्मवीर) पुरुष ही मोक्षमहामाग की ओर झुके हुए है। '**महावीहिं**' शब्द के यहाँ तीन विशेषण दिये है—'**सिद्धिपह णेयाउय धुव**।' यही सिद्धि का पथ है, यही न्याययुक्त है अथवा मोक्ष की ओर ले जाने वाला है, यही निश्चल है।

आशय यह है कि शास्त्रकार ने यहाँ स्पष्ट बता दिया है कि "परीषहो एव उपसर्गो के समय इस प्रकार का कदम उठाना वीरो, धीरो तथा परीषह-उपसर्ग के सहने मे मेरुसम स्थिर पुरुषो या कर्मरूपी सिंह को विदारण करने मे समर्थो का है, सासारिक सुखो की आशा करने वाले कायरो का नही है। इसलिए तुम भी परिवार का मोह छोडकर परीषहो एव उपसर्गो के सहने मे धीर-वीर बनकर सयमपथ पर विचरण करो।"

पुन उसी उपदेश को दोहराकर इस उद्देशक का उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

द्वितीय अ॰ न द्वितीय उद्दे

अभिमानादि-त्याग का उपदेश

द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक को समाप्त करके अव द्वितीय उद्देशक प्रारम्भ किया जा रहा है। प्रथम उद्देशक मे आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को परीषह, उपसर्ग आदि पर विजय प्राप्त करने का जो बोध दिया था, उसका वर्णन है, अब दूसरे उद्देशक मे उसी सन्दर्भ मे जाति आदि के मद एव मान के त्याग का उपदेश है।

द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा मे कहा गया था कि वैदारकपथ पर चलने वाला सयमी पुरुष धन, स्वजन एव आरम्भ का त्याग करे अत उसी सन्दर्भ मे अब इस द्वितीय उद्देशक मे साधना के आन्तरिक शत्रु अभिमान के त्याग का निरूपण किया गया है। अत शास्त्रकार इस सम्बन्ध मे द्वितीय उद्देशक की प्रथम गाथा का आरम्भ करते है—

मूल

तयसं व जहाइ से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जई।
गोयन्नतरेण माहणे, अह सेयकरी अन्नेसी इखिणी ॥१॥

स छाया

त्वचमिव जहाति स रज, इति सख्याय मुनिर्न माद्यति।
गोत्रान्यतरेण माहनोऽथाश्रेयस्कर्य्यन्येषामीक्षिणी ॥१॥

अन्वयार्थ

(तयस व) जैसे साँप अपनी त्वचा (केंचुली) को (जहाइ) छोड देता है, वैसे ही (से) वह साधु भी (रय) आठ प्रकार के कर्मरूपी रज-मल को छोड देता है। (इति सखाय) यह जानकर (माहणे मुणी) अहिंसाप्रधान (माहन) मुनि (गोयन्नतरेण) गोत्र तथा दूसरे मद के कारणो से (ण मज्जई) मद नही करता है। (अन्नेसी) दूसरो की (इ खिणी) निन्दा (असेयकरी) कल्याण का नाश करने वाली है। अत साधु दूसरे किसी की निन्दा नही करता।

वीरतापूर्वक कर्मविदारण करने मे समर्थ (वैदारक) मार्ग पर चल पड़े हो। अब तुम्हे सर्वप्रथम अपने पास मन, वचन, काया, ये तीन जो उत्तम साधन है—सयमपालन करने के, उन पर नियत्रण रखना है। अर्थात् मन को सावद्य—पापयुक्त विचारो से रोकना है, और निरवद्य, मोक्ष एव सयम के विचारो मे, आत्मभावो मे लगाना है, वचन को पापजनक वचनो को प्रगट करने से रोकना है और धर्मयुक्त सवरनिर्जरा-जनक वचनो को अभिव्यक्त करने मे लगाना है, अथवा मौन रखना है, एव काया को भी पापकारी सावद्य आरम्भ-समारम्भ आदि कार्यो या प्रवृत्तियो मे जाने से रोकना है, तथा धर्मानुष्ठान मे लगाना है। इसके साथ ही धनसम्पत्ति, स्वजनवर्ग एव आरम्भज सावद्य कार्यो के प्रति साधक का भूतपूर्व जीवन मे जो लगाव ससर्ग या मोह रहा है, उसे अब सर्वथा छोड देना है, उसे बिलकुल भूल जाना है और मनोविजयी, जितेन्द्रिय एव जागरूक सयमी रहकर इस वैदारकमार्ग पर विचरण करना है।" यही इस गाथा का आशय है।

'त्ति बेमि' (इति ब्रवीमि) का अर्थ पूर्ववत् है। श्री गणधर सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं—"ऐसा मैं कहता हूँ।"

इस प्रकार वैतालीय नामक द्वितीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक अमरसुख-बोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ द्वितीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

❀

ाि ीय अ॰ न . ाि ीय उद्देशक

अभिमानादि-त्याग का उपदेश

द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक को समाप्त करके अव द्वितीय उद्देशक प्रारम्भ किया जा रहा है। प्रथम उद्देशक मे आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को परीषह, उपसर्ग आदि पर विजय प्राप्त करने का जो बोध दिया था, उसका वर्णन है, अब दूसरे उद्देशक मे उसी सन्दर्भ मे जाति आदि के मद एव मान के त्याग का उपदेश है।

द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक की अतिम गाथा मे कहा गया था कि वैदारकपथ पर चलने वाला सयमी पुरुष धन, स्वजन एव आरम्भ का त्याग करे अत उसी सन्दर्भ मे अव इस द्वितीय उद्देशक मे साधना के आन्तरिक शत्रु अभिमान के त्याग का निरूपण किया गया है। अत शास्त्रकार इस सम्बन्ध मे द्वितीय उद्देशक की प्रथम गाथा का आरम्भ करते है—

मूल

तयसं व जहाइ से रयं. इति संखाय मुणी ण मज्जई।
गोयन्नतरेण माहणे, अह सेयकरी अन्नेसी इखिणी ॥१॥

स   छाया

त्वचमिव जहाति स रज, इति सख्याय मुनिर्न माद्यति।
गोत्रान्यतरेण माहनोऽथाश्रेयस्कर्य्यन्येषामीक्षिणी ॥१॥

अन्वयार्थ

(तयस व) जैसे साँप अपनी त्वचा (केंचुली) को (जहाइ) छोड देता है, वैसे ही (से) वह साधु भी (रय) आठ प्रकार के कर्मरूपी रज-मल को छोड देता है। (इति सखाय) यह जानकर (माहणे मुणी) अहिंसाप्रधान (माहन) मुनि (गोयन्नतरेण) गोत्र तथा दूसरे मद के कारणो से (ण मज्जई) मद नही करता है। (अन्नेसी) दूसरो की (इ खिणी) निन्दा (असेयकरी) कल्याण का नाश करने वाली है। अत साधु दूसरे किसी की निन्दा नही करता।

भावार्थ

जैसे सर्प अपनी केंचुली को एकदम छोड देता है, वैसे ही श्रेयस्कामी साधु आवरण की तरह लगे हुए अष्टकर्मरूपी मल का त्याग कर देता है। ऐसा जानकर अहिंसाव्रती (माहन) सयमी मुनि कर्मबन्ध के कारण गोत्र, जाति आदि अष्टविध मद नही करते। तथा वे दूसरो की निन्दा भी नही करते है, क्योकि दूसरो की निन्दा कल्याण का नाश करती है।

व्याख्या

कर्मादानरूप मद एव निन्दा का त्याग आवश्यक

इस शास्त्र का प्रारम्भ से ही कमबन्धनो के कारणो को जानकर उनका त्याग करने की शिक्षा देना उद्देश्य रहा है। प्रथम अध्ययन मे भी कर्मबन्धन के कारण जानकर उनका निवारण करने का स्वर प्राय प्रत्येक गाथा मे मुखरित रहा है और इस दूसरे अध्ययन मे भी यही स्वर मुख्य रहा है। दूसरे अध्ययन के द्वितीय उद्देशक मे भी मद एव निन्दा को भी कमबन्धन के विशिष्ट कारण बताकर उनका त्याग करने की प्रेरणा दी है। उसके लिए गाथा के प्रारम्भ मे उपमा देकर समझाया है कि जैसे साँप अपनी केंचुली को एकदम छोड देता है, फिर उसकी ओर झाँकता भी नही, वैसे ही मोक्षाभिलाषी सयमी साधक अष्टविध कर्मों (कर्मबन्धनो) का सहसा त्याग कर दे, पुन उनकी ओर झाँके भी नही। किन्तु मुनि वन जाने, घर-बार छोड देने और धनसम्पत्ति आदि का त्याग कर देने के बाद भी पूर्वसस्कारवश वह अपने द्वारा त्यक्त जाति, कुल, गोत्र, वश, धन वैभव, रूप, शरीरबल आदि अनित्य और कर्मबन्ध के कारणभूत पदार्थो का अनित्य और कर्मबन्ध के कारणभूत पदार्थो का मद करता रहता है। साथ ही मुनि बन जाने पर शास्त्रज्ञान पाण्डित्य, लाभ, तपस्या, अथवा उच्चपद, लब्धि या बौद्धिक ऋद्धि आदि का अहकाररूपी सर्प उसके दिलदिमाग मे फुफकारता रहता है। इन मदो के आवेश मे आकर वह अपने से किसी प्रकार की शक्ति मे न्यून या दुर्बल व्यक्ति को अथवा दूसरो को नीचा दिखाकर अपना उच्चत्व स्थापित करने की धुन मे दूसरो की निन्दा, बदनामी करता रहता है। दूसरो को नीचा दिखाने या लोगो की दृष्टि मे उन्हे गिराने की वृत्ति, या दूसरो से ईर्ष्या करने, दूसरो की तरक्की या यशकीर्ति फैलती देखकर मन ही मन कुढना, जलना, दूसरो पर मिथ्यादोषारोपण करना, दूसरो की चुगली करना आदि सब निन्दा के अन्तर्गत है। किसी भी प्रकार की निन्दा पाप उत्पन्न करती है। किसी भी प्रकार की निन्दा करना भयकर कर्मबन्धन का कारण है। साधक को आत्मकल्याण के बाधक निन्दा की वृत्ति से सदैव दूर रहना चाहिए। निन्दा भी अभिमानजनित होने के कारण मान कषाय के अन्तर्गत है। कषाय का

अभाव ही कर्म के अभाव का कारण है। इसलिए क्या मद और क्या निन्दा इन सभी कषायोत्तेजक एव तत्पश्चात् कर्मबन्धक वृत्तियो से साधक को बचना चाहिए। इसी सम्बन्ध मे निर्युक्तिकार दो गाथाओ द्वारा कहते है—

तवसजमणाणेसुवि जइ माणो वज्जिओ महेसीहिं।
अत्तसमुक्करिसत्थ किं पुण हीला उ अन्नेसि ? ॥४३॥
जइ ताव निज्जरमओ पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहिं।
अविसेसमयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेण ॥४४॥

अर्थात्—अपने उत्कर्ष को बढानेवाले तप, सयम और ज्ञान के मान का भी जब महर्षियो ने त्याग कर दिया है, तब दूसरो की निन्दा छोडने की बात ही क्या है ? उसको तो वे त्याग ही देते हैं। मोक्षप्राप्ति का एकमात्र साधन निर्जरा है, उसका मद भी अरिहन्तो ने वर्जित किया है, फिर शेष जाति आदि मदो की तो बात ही क्या है ? उनको तो प्रयत्नपूर्वक छोड ही देना चाहिए।

अत ज्ञपरिज्ञा से मद एव निन्दा का स्वरूप जानकर, प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग ही साधु के लिए श्रेयस्कर है।

इसी बात को दूसरे शब्दो मे फिर अगली गाथा मे दोहराते है—

मूल पाठ

जो परिभवई परं जण संसारे परिवत्तई मह।
अदु इखिणिया उ पाविया, इति सखाय मुणी ण मज्जई ॥२॥

सस्कृत छाया

य परिभवति पर जन, ससारे परिवर्तते महत् ।
अथ ईक्षणिका तु पापिका, इति सख्याय मुनिर्न माद्यति ॥२॥

अन्वयार्थ

(जो) जो पुरुष (पर जण) दूसरे व्यक्ति का (परिभवई) तिरस्कार करता है, (ससारे) वह ससार मे (मह) चिरकाल तक (परिवत्तई) परिभ्रमण करता है। (अदु इखिणिया उ) अथवा या क्योकि परनिन्दा (पाविया) पापोत्पादक है, (इति) यह (सखाय) जानकर (मुणी) मुनिवर (ण मज्जई) मद नही करता।

भावार्थ

जो साधक दूसरे व्यक्ति का तिरस्कार करता है, प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से निन्दा करता है, वह दीर्घकाल तक जन्ममरण के चक्ररूप ससार मे

भावार्थ

जैसे सर्प अपनी केंचुली को एकदम छोड देता है, वैसे ही श्रेयस्कामी साधु आवरण की तरह लगे हुए अष्टकर्मरूपी मल का त्याग कर देता है। ऐसा जानकर अहिंसाव्रती (माहन) सयमी मुनि कर्मबन्ध के कारण गोत्र, जाति आदि अष्टविध मद नही करते। तथा वे दूसरो की निन्दा भी नही करते है, क्योकि दूसरो की निन्दा कल्याण का नाश करती है।

व्याख्या

कर्मादानरूप मद एव निन्दा का त्याग आवश्यक

इस शास्त्र का प्रारम्भ से ही कमबन्धनो के कारणो को जानकर उनका त्याग करने की शिक्षा देना उद्देश्य रहा है। प्रथम अध्ययन मे भी कर्मबन्धन के कारण जानकर उनका निवारण करने का स्वर प्राय प्रत्येक गाथा मे मुखरित रहा है और इस दूसरे अध्ययन मे भी यही स्वर मुख्य रहा है। दूसरे अध्ययन के द्वितीय उद्देशक मे भी मद एव निन्दा को भी कमबन्धन के विशिष्ट कारण बताकर उनका त्याग करने की प्रेरणा दी है। उसके लिए गाथा के प्रारम्भ मे उपमा देकर समझाया है कि जैसे साँप अपनी केंचुली को एकदम छोड देता है, फिर उसकी ओर झाँकता भी नही, वैसे ही मोक्षाभिलाषी सयमी साधक अष्टविध कर्मो (कर्मबन्धनो) का सहसा त्याग कर दे, पुन उनकी ओर झाँके भी नही। किन्तु मुनि वन जाने, घर-वार छोड देने और धनसम्पत्ति आदि का त्याग कर देने के बाद भी पूर्वसस्कारवश वह अपने द्वारा त्यक्त जाति, कुल, गोत्र, वश, धन-वैभव, रूप, शरीरबल आदि अनित्य और कर्मबन्ध के कारणभूत पदार्थो का अनित्य और कर्मबन्ध के कारणभूत पदार्थो का मद करता रहता है। साथ ही मुनि बन जाने पर शास्त्रज्ञान पाण्डित्य, लाभ, तपस्या, अथवा उच्चपद, लब्धि या बौद्धिक ऋद्धि आदि का अहकाररूपी सर्प उसके दिलदिमाग मे फुफकारता रहता है। इन मदो के आवेश मे आकर वह अपने से किसी प्रकार की शक्ति मे न्यून या दुर्बल व्यक्ति को अथवा दूसरो को नीचा दिखाकर अपना उच्चत्व स्थापित करने की धुन मे दूसरो की निन्दा, बदनामी करता रहता है। दूसरो को नीचा दिखाने या लोगो की दृष्टि मे उन्हे गिराने की वृत्ति, या दूसरो से ईर्ष्या करने, दूसरो की तरक्की या यशकीर्ति फैलती देखकर मन ही मन कुढना, जलना, दूसरो पर मिथ्यादोषारोपण करना, दूसरो की चुगली करना आदि सब निन्दा के अन्तर्गत है। किसी भी प्रकार की निन्दा पाप उत्पन्न करती है। किसी भी प्रकार की निन्दा करना भयकर कर्मबन्धन का कारण है। साधक को आत्मकल्याण के बाधक निन्दा की वृत्ति से सदैव दूर रहना चाहिए। निन्दा भी अभिमानजनित होने के कारण मान कषाय के अन्तर्गत है। कषाय का

अभाव ही कर्म के अभाव का कारण है। इसलिए क्या मद और क्या निन्दा इन सभी कषायोत्तेजक एव तत्पश्चात् कर्मबन्धक वृत्तियो से साधक को बचना चाहिए। इसी सम्बन्ध मे निर्युक्तिकार दो गाथाओ द्वारा कहते है—

तवसजमणाणेसुवि जइ माणो वज्जिओ महेसीहि ।
अत्तसमुक्करिसत्थ किं पुण हीला उ अन्नेसि ? ॥४३॥
जइ ताव निज्जरमओ पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहि ।
अविसेसमयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेण ॥४४॥

अर्थात्—अपने उत्कर्ष को बढानेवाले तप, सयम और ज्ञान के मान को भी जब महर्षियो ने त्याग कर दिया है, तब दूसरो को निन्दा छोडने की बात ही क्या है ? उसको तो वे त्याग ही देते है। मोक्षप्राप्ति का एकमात्र साधन निर्जरा है, उसका मद भी अरिहन्तो ने वर्जित किया है, फिर शेष जाति आदि मदो की तो बात ही क्या है ? उनको तो प्रयत्नपूर्वक छोड ही देना चाहिए।

अत ज्ञपरिज्ञा से मद एव निन्दा का स्वरूप जानकर, प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग ही साधु के लिए श्रेयस्कर है।

इसी बात को दूसरे शब्दो में फिर अगली गाथा मे दोहराते हैं—

मूल पाठ

जो परिभवई परं जण संसारे परिवत्तई मह ।
अदु इखिणिया उ पाविया, इति सखाय मुणी ण मज्जई ॥२॥

सस्कृत छाया

य परिभवति पर जन, ससारे परिवर्तते महत् ।
अथ ईक्षणिका तु पापिका, इति सख्याय मुनिर्न माद्यति ॥२॥

अन्वयार्थ

(जो) जो पुरुष (पर जण) दूसरे व्यक्ति का (परिभवई) तिरस्कार करता है, (ससारे) वह ससार मे (मह) चिरकाल तक (परिवत्तई) परिभ्रमण करता है। (अदु इखिणिया उ) अथवा या क्योकि परनिन्दा (पाविया) पापोत्पादक है, (इति) यह (सखाय) जानकर (मुणी) मुनिवर (ण मज्जई) मद नही करता।

भावार्थ

जो साधक दूसरे व्यक्ति का तिरस्कार करता है, प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से निन्दा करता है, वह दीर्घकाल तक जन्ममरण के चक्ररूप ससार मे

परिभ्रमण करता रहता है। अथवा या क्योकि परनिन्दा पापो की जननी है यह जानकर मुनिवर किसी प्रकार का अहकार (मद) नही करता।

व्याख्या

परतिरस्कार-परनिन्दा दोषो की जननी

पूर्वगाथा मे परनिन्दा और मान से वचने का उपदेश दिया गया था। इस गाथा मे भी यह उपदेश है। परन्तु इसमे इन दोनो से होने वाले अनन्तर कटु परिणाम और परम्परागत अनिष्टफल बताकर इन दोनो से मुनि को वचने का उपदेश दिया है। **'जो परिभवई ससारे परिवत्तई महं'** इसके द्वारा शास्त्रकार ने परपरिभव एव परनिन्दा का परम्परागत फल दीर्घकाल तक ससार मे परिभ्रमण करना बताया है तथा **'अदु इखिणी उ पाविया'** कहकर परनिन्दा का अनन्तर फल उसे अनेक पापो की जननी बताया है। अथवा इन दोनो प्रकार के कटुफलो का शास्त्रकार ने काय-कारणभाव सम्बन्ध बताया है। 'अदु' और 'उ' शब्द कारणवाचक हैं। अनेक पापो का उपार्जन कारण है और उससे दीर्घकाल तक ससार परिभ्रमण कार्य है। सचमुच परनिन्दा या दूसरे की वदनामी, तिरस्कार, अपमान, लाछित करना, चुगली आदि सव 'परपरिवाद' नामक पापस्थान के अन्तर्गत है। साधु वनकर यदि कोई साधक दूसरे की निन्दा करता है या दूसरे से असूया-ईर्ष्या करता है तो समझना चाहिए उसके मन मे किसी न किसी प्रकार का जाति आदि का अहकाररूपी सर्प फन फैलाये बैठा है। इस प्रकार निन्दा या तिरस्कार करना भी अपने आप मे असत्य का पाप है, फिर निन्दक के मन मे मानकपाय, अपने आपको अधिक गुणी समझने का मोह (राग) और दूसरो को अपमानित-तिरस्कृत करने का द्वेषरूप दोष उत्पन्न होता है। फिर ऐसा साधक अपने आपको उच्च और उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए दूसरो को वदनाम करता फिरता है, स्वय मे गुण न होते हुए भी गुण का प्रदर्शन करता है, दूसरे से जलकर उसको जनता की दृष्टि मे गिराने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार अपना स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन-मनन, आत्मचिन्तन, परमात्मस्मरण वगैरह आत्मकल्याण की चर्या का अधिकाश समय वह परनिन्दा आदि मे ही बिताकर तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा का उल्लघनकर्त्ता होने से अदत्तादानरूप पाप का भागी तथा आज्ञाविराधक वनता है। कपटक्रिया करने से दाम्भिक और मायी मिथ्यादृष्टि वनता है। इस प्रकार रातदिन दूसरो की निन्दा करने की नये-नये दोषो को—छिद्रो को देखने की फिराक मे लगा रहता है, यह रौद्रध्यानरूप महाभयकर पाप है। यो परपरिवाद या परपराभव नामक पाप के साथ-साथ साधक के जीवन मे असत्य, दम्भ, माया (कपट), मान, ईर्ष्या, द्वेष, असूया, रौद्रध्यान, भगवदाज्ञाविराधना, परदोषदृष्टि, सयम का नाश आदि अनेको पाप जुड जाते हैं।

और इन्ही पापकर्मो के बोझ से भारी बनकर वह साधक फिर मोक्ष की ओर गति-प्रगति करने के बजाय दीर्घकाल तक ससार की ओर ही गति करता है, इसलिए परपरिभव एव परनिन्दा को अनन्तकाल जन्म-मरणरूप चक्र मे भ्रमण कराने वाली तथा अनेक पापो की जननी बताया है। पाप मनुष्य को अपने स्थान से अधम स्थान मे गिरा देता है। परनिन्दा भी अनेक पापो की कारण है। यहाँ 'अदु' शब्द अथवा और 'उ' शब्द 'ही' अर्थ मे है। अर्थात् परनिन्दा अवश्य ही पापो की कारण है। इस सम्बन्ध मे अन्य ग्रन्थो मे भी कहा है—'परपरिवादात् खरो भवति, **श्वा वै भवति निन्दक ।'** अर्थात् 'दूसरो का तिरस्कार करने से मनुष्य गधा बनता है और निन्दा करने वाला कुत्ता बनता है।' वृत्तिकार बताते है कि परनिन्दारूप पाप के फलस्वरूप परभव मे सूअर की योनि मे जन्म मिलना है, परभव मे पुरोहित कुत्ते की योनि मे जन्म लेता है। अत मुनि चाहे कितना ही बडा शास्त्रज्ञ हो, आचारवान हो, क्रियाकाण्डी हो, विशिष्ट कुलोत्पन्न हो या तपस्वी आदि हो, फिर भी उसे दूसरे किसी भी व्यक्ति का अपमान, तिरस्कार नही करना चाहिए, और न ही किसी की निन्दा, चुगली, ईर्ष्या, असूया आदि मे पडना चाहिए। साधक को दूसरे की पचायत मे पडने से हानि ही है, लाभ कुछ भी नही है। यही इस गाथा का आशय है।

जैसे मद (उत्कर्ष) के त्याग का उपदेश दिया है, वैसे अपकर्ष (हीनभावना) का भी त्याग करे, इस बात को आगामी गाथा मे व्यक्त करते है—

मूल पाठ

जे यावि अणायगे सिया, जे विय पेसगपेसए सिया ।
जे मोणपय उवट्ठिए, णो लज्जे समय सया चरे ॥३॥

सस्कृत छाया

यश्चाऽप्यनायक स्याद्, योऽपि च प्रेष्यप्रेष्य स्यात् ।
यो मौनपदमुपस्थितो, नो लज्जेत समता सदा चरेत् ॥३॥

अन्वयार्थ

(जे यावि) जो कोई (अणायग) नायक से रहित है—अर्थात् जिस पर कोई नेता या नायक नही है, स्वय सर्वेसर्वा अधिनायक है, या चक्रवर्ती आदि है तथा (जे विय) जो (पेसगपेसए) दास का भी दास है, किन्तु अब यदि (जे) वह (मोणपय) मुनिपद—सयम मार्ग मे (उवट्ठिए) दीक्षित है, या उपस्थित है तो उसे (णो लज्जे) किसी प्रकार से लज्जित नही होना चाहिए, किन्तु (सया) उसे सदा (समय) समता—समभाव का आचरण करना चाहिए।

परिभ्रमण करता रहता है। अथवा या क्योकि परनिन्दा पापो की जननी है यह जानकर मुनिवर किसी प्रकार का अहकार (मद) नही करता।

व्याख्या

परतिरस्कार-परनिन्दा दोषो की जननी

पूर्वगाथा मे परनिन्दा और मान से बचने का उपदेश दिया गया था। इस गाथा मे भी यह उपदेश है। परन्तु इसमे इन दोनो से होने वाले अनन्तर कटु परिणाम और परम्परागत अनिष्टफल बताकर इन दोनो से मुनि को बचने का उपदेश दिया है। **'जो परिभवई ससारे परिवत्तई मह'** इसके द्वारा शास्त्रकार ने परपरिभव एव परनिन्दा का परम्परागत फल दीर्घकाल तक ससार मे परिभ्रमण करना बताया है तथा **'अदु इखिणी उ पाविया'** कहकर परनिन्दा का अनन्तर फल उसे अनेक पापो की जननी बताया है। अथवा इन दोनो प्रकार के कटुफलो का शास्त्रकार ने कार्य-कारणभाव सम्बन्ध बताया है। 'अदु' और 'उ' शब्द कारणवाचक है। अनेक पापो का उपार्जन कारण है और उससे दीर्घकाल तक ससार परिभ्रमण कार्य है। सचमुच परनिन्दा या दूसरे की बदनामी, तिरस्कार, अपमान, लाछित करना, चुगली आदि सब 'परपरिवाद' नामक पापस्थान के अन्तर्गत है। साधु बनकर यदि कोई साधक दूसरे की निन्दा करता है या दूसरे से असूया-ईर्ष्या करता है तो समझना चाहिए उसके मन मे किसी न किसी प्रकार का जाति आदि का अहकाररूपी सर्प फन फैलाये बैठा है। इस प्रकार निन्दा या तिरस्कार करना भी अपने आप मे असत्य का पाप है, फिर निन्दक के मन मे मानकषाय, अपने आपको अधिक गुणी समझने का मोह (राग) और दूसरो को अपमानित-तिरस्कृत करने का द्वेषरूप दोष उत्पन्न होता है। फिर ऐसा साधक अपने आपको उच्च और उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए दूसरो को बदनाम करता फिरता है, स्वय मे गुण न होते हुए भी गुण का प्रदर्शन करता है, दूसरे से जलकर उसको जनता की दृष्टि मे गिराने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार अपना स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन-मनन, आत्मचिन्तन, परमात्मस्मरण वगैरह आत्मकल्याण की चर्या का अधिकाश समय वह परनिन्दा आदि मे ही बिताकर तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा का उल्लघनकर्त्ता होने से अदत्तादानरूप पाप का भागी तथा आज्ञाविराधक बनता है। कपटक्रिया करने से दाम्भिक और मायी मिथ्यादृष्टि बनता है। इस प्रकार रातदिन दूसरो की निन्दा करने की नये-नये दोषो को—छिद्रो को देखने की फिराक मे लगा रहता है, यह रौद्रध्यानरूप महाभयकर पाप है। यो परपरिवाद या परपराभव नामक पाप के साथ-साथ साधक के जीवन मे असत्य, दम्भ, माया (कपट), मान, ईर्ष्या, द्वेष, असूया, रौद्रध्यान, भगवदाज्ञाविराधना, परदोषदृष्टि, सयम का नाश आदि अनेको पाप जुड जाते है।

हीनजातीय मुनियो का सम्मान एव विनय करने से कतराए नही, इसी प्रकार अपने आपको हीन या तुच्छ मानकर मन ही मन कुढता न रहे, शर्मिन्दा न हो, क्योकि मुनिपद प्राप्त कर लेने के बाद गतपूर्व सभी गोत्र, जाति, कुल आदि खत्म हो जाते हैं। मुनिपद विश्ववन्द्य पद है। इन्द्र भी मुनि के चरणो मे वन्दन करता है। मानलो, भूतपूर्व हीनजातीय मुनि की कोई निन्दा, आलोचना या तिरस्कार करता है तो भी उसे अपने मन मे कुढना न चाहिए, और न ही लज्जित होना चाहिए। उसे यही सोचना चाहिए कि दूसरा कोई कुछ भी कहे, म मानव-जीवन के सर्वोच्च पद पर हूँ, मैं हीन, नीच या तुच्छ नही हूँ। परन्तु अपना यह उत्कर्ष दूसरो के सामने प्रकट करने या निन्दा या अपमान करने वालो से चिढकर उनको नीचा दिखाने, वदला लेने या अभिमान प्रदर्शित करने की जरूरत नही है। ऐसा करने से तो कर्मबन्ध अधिक होगा। इसीलिए शास्त्रकार समभाव मे विचरण करने का निर्देश करते है। निष्कर्ष यह है कि साधु को ऐसे समय मे न मान करना चाहिए और न अपमान करना चाहिए, सम रहना चाहिए। यही शास्त्रकार का आशय है।

समभाव से युक्त साधक क्या करे ? इसके सम्बन्ध मे अगली गाथा मे कहते है—

मूल पाठ

समे अन्नयरंमि सजमे, ससुद्धे समणे परिव्वए।
जे आवकहासमाहिए दविए कालमकासी पडिए ॥४॥

सस्कृत छाया

समोऽन्यतरस्मिन् सयमे सशुद्ध श्रमण परिव्रजेत्।
यावत्कथा समाहितो द्रव्य कालमकार्षीत् पण्डित ॥४॥

अन्वयार्थ

(ससुद्धे) सम्यक्प्रकार से शुद्ध (समणे) तपस्वी साधु (जे आवकहा) जीवनपर्यन्त (अन्नयरंमि) किसी भी (सजमे) सयमस्थान मे स्थित होकर (समे) समभाव के साथ (परिव्वए) प्रव्रज्या का पालन करे, (दविए) वह द्रव्यभूत (पडिए) सद्-असद् के विवेकवाला पुरुष (समाहिए) शुभ अध्यवसाय रखता हुआ (कालमकासी) मरणपर्यन्त सयम का पालन करे।

भावार्थ

सम्यक् प्रकार से शुद्ध तपस्वी साधु जीवनपर्यन्त किसी भी एक सयम-स्थान मे स्थित होकर समभावपूर्वक प्रव्रज्या का पालन करे। वह भव्य

भावार्थ

जिस पर कोई भी अधिनायक नही था, अर्थात् जो एक दिन स्वय-प्रभु चक्रवर्ती आदि था, अथवा जो एक दिन दासो का भी दास था, किन्तु अगर उसने मुनिपद ग्रहण कर लिया और वह दीक्षित होकर सयम-मार्ग मे उद्यत है तो उसे लज्जित—हीनभावना से ग्रस्त नही होना चाहिए, अपितु समभाव मे विचरण करना चाहिए।

अथवा इस गाथा का यह अर्थ भी सम्भव है—जो एक दिन अधिनायक चक्रवर्ती आदि था, या दासो का भी दास था, किन्तु यदि वह वर्तमान मे मुनिपद मे स्थित है तो दूसरे मुनि को उन दोनो को समानभाव से वन्दन करने से लज्जित नही होना चाहिए। उसे सदा समत्व की पगडडी पर चलना चाहिए।

व्याख्या

उत्कर्ष और अपकर्ष मे सम रहे

जैसे उत्कर्ष के कारण मनुष्य मे अभिमान जागृत होता है, वैसे ही अपकर्ष के कारण उसमे हीनभावना, अपने आप को नीचा-तुच्छ मानने की वृत्ति और तज्जनित लज्जा उत्पन्न होती है। समत्व-साधक के लिए ये दोनो मनोवृत्तियाँ है। साधु बनने से पहले कोई अगर अधिनायक या स्वयम्प्रभु चक्रवर्ती आदि था, और दीक्षित होने के बाद अपने यहाँ जो राज्य कर्मचारी का नौकर था, उसे पूर्वदीक्षित देखकर उसे वन्दन करने मे अपकर्ष या हीनभावना महसूस करता है, लज्जा का अनुभव करता है तो यह ठीक नही। इसी प्रकार कोई व्यक्ति दीक्षित होने से पूर्व किसी के नौकर के यहाँ नौकर था, लेकिन अब अपने समकक्ष उस पूर्व-दीक्षित नौकर (जो मुनिपद पर है) को वन्दना करने मे कतराता है, हीनता का अनुभव करता है, अथवा कोई चक्रवर्ती आदि अधिनायक था, किन्तु अब साधु बन जाने के बाद अपने से पूर्वदीक्षित साधुओ को जाति आदि के मद के कारण उनका सम्मान या विनय करने मे लज्जा महसूस करता है या दासो का दास था, किन्तु मुनि बन जाने पर भी पूर्वकालिक हीनता की मनोवृत्ति लिए बैठा रहता है। 'मैं तो तुच्छ हूँ, नीच जातीय हूँ, हीन हूँ' ऐसा सोचता रहता है, यह भी उचित नही। शास्त्रकार कहते हैं—'जे मोणपद उवट्ठिए, णो लज्जे, समय सया चरे।' जो मुनिपद पाकर सयम पालन मे उद्यत है, वह अपने आपको न उच्च माने और न ही नीच माने।[1] स्वय को उच्च या उत्कृष्ट मानकर वह अपने से पूर्वदीक्षित भूतपूर्व

---

१ आचाराग सूत्र मे साधु के लिए बताया है—'नो हीणे नो अइरित्ते' (वह न हीन है, न अतिरिक्त—उत्कृष्ट है)।

हीनजातीय मुनियो का सम्मान एव विनय करने से कतराए नही, इसी प्रकार अपने आपको हीन या तुच्छ मानकर मन ही मन कुढता न रहे, शर्मिन्दा न हो, क्योकि मुनिपद प्राप्त कर लेने के बाद भतपूर्व सभी गोत्र, जाति, कुल आदि खत्म हो जाते हैं। मुनिपद विश्ववन्द्य पद है। इन्द्र भी मुनि के चरणो मे वन्दन करता है। मानलो, भूतपूर्व हीनजातीय मुनि की कोई निन्दा, आलोचना या तिरस्कार करता है तो भी उसे अपने मन मे कुढना न चाहिए, और न ही लज्जित होना चाहिए। उसे यही सोचना चाहिए कि दूसरा कोई कुछ भी कहे, मैं मानव-जीवन के सर्वोच्च पद पर हूँ, मैं हीन, नीच या तुच्छ नही हूँ। परन्तु अपना यह उत्कर्ष दूसरो के सामने प्रकट करने या निन्दा या अपमान करने वालो से चिढकर उनको नीचा दिखाने, बदला लेने या अभिमान प्रदर्शित करने की जरूरत नही है। ऐसा करने से तो कर्मबन्ध अधिक होगा। इसीलिए शास्त्रकार समभाव मे विचरण करने का निर्देश करते हैं। निष्कर्ष यह है कि साधु को ऐसे समय मे न मान करना चाहिए और न अपमान करना चाहिए, सम रहना चाहिए। यही शास्त्रकार का आशय है।

समभाव से युक्त साधक क्या करे? इसके सम्बन्ध मे अगली गाथा मे कहते है—

मूल पाठ

समे अन्नयरंमि सजमे, ससुद्धे समणे परिव्वए।
जे आवकहासमाहिए दविए कालमकासी पडिए ॥४॥

सस्कृत छाया

समोऽन्यतरस्मिन् सयमे सशुद्ध श्रमण परिव्रजेत्।
यावत्कथा समाहितो द्रव्य कालमकार्षीत् पण्डित ॥४॥

अन्वयार्थ

(ससुद्धे) सम्यक्प्रकार से शुद्ध (समणे) तपस्वी साधु (जे आवकहा) जीवनपर्यन्त (अन्नयरंमि) किसी भी (सजमे) सयमस्थान मे स्थित होकर (समे) समभाव के साथ (परिव्वए) प्रव्रज्या का पालन करे, (दविए) वह द्रव्यभूत (पडिए) सद्-असद् के विवेकवाला पुरुष (समाहिए) शुभ अध्यवसाय रखता हुआ (कालमकासी) मरणपर्यन्त सयम का पालन करे।

भावार्थ

सम्यक् प्रकार से शुद्ध तपस्वी साधु जीवनपर्यन्त किसी भी एक सयम-स्थान मे स्थित होकर समभावपूर्वक प्रव्रज्या का पालन करे। वह भव्य

भावार्थ

जिस पर कोई भी अधिनायक नही था, अर्थात् जो एक दिन स्वय-प्रभु चक्रवर्ती आदि था, अथवा जो एक दिन दासो का भी दास था, किन्तु अगर उसने मुनिपद ग्रहण कर लिया और वह दीक्षित होकर सयम-मार्ग मे उद्यत है तो उसे लज्जित—हीनभावना से ग्रस्त नही होना चाहिए, अपितु समभाव मे विचरण करना चाहिए।

अथवा इस गाथा का यह अर्थ भी सम्भव है—जो एक दिन अधिनायक चक्रवर्ती आदि था, या दासो का भी दास था, किन्तु यदि वह वर्तमान मे मुनिपद मे स्थित है तो दूसरे मुनि को उन दोनो को समानभाव से वन्दन करने से लज्जित नही होना चाहिए। उसे सदा समत्व की पगडडी पर चलना चाहिए।

व्याख्या

उत्कर्ष और अपकर्ष मे सम रहे

जैसे उत्कर्ष के कारण मनुष्य मे अभिमान जागृत होता है, वैसे ही अपकर्ष के कारण उसमे हीनभावना, अपने आप को नीचा-तुच्छ मानने की वृत्ति और तज्जनित लज्जा उत्पन्न होती है। समत्व-साधक के लिए ये दोनो मनोवृत्तियाँ है। साधु बनने से पहले कोई अगर अधिनायक या स्वयम्प्रभु चक्रवर्ती आदि था, और दीक्षित होने के बाद अपने यहाँ जो राज्य कर्मचारी का नौकर था, उसे पूर्वदीक्षित देखकर उसे वन्दन करने मे अपकर्ष या हीनभावना महसूस करता है, लज्जा का अनुभव करता है तो यह ठीक नही। इसी प्रकार कोई व्यक्ति दीक्षित होने से पूर्व किसी के नौकर के यहाँ नौकर था, लेकिन अब अपने समकक्ष उस पूर्व-दीक्षित नौकर (जो मुनिपद पर है) को वन्दना करने मे कतराता है, हीनता का अनुभव करता है, अथवा कोई चक्रवर्ती आदि अधिनायक था, किन्तु अब साधु बन जाने के बाद अपने से पूर्वदीक्षित साधुओ को जाति आदि के मद के कारण उनका सम्मान या विनय करने मे लज्जा महसूस करता है या दासो का दास था, किन्तु मुनि बन जाने पर भी पूर्वकालिक हीनता की मनोवृत्ति लिए बैठा रहता है। 'मैं तो तुच्छ हूँ, नीच जातीय हूँ, हीन हूँ' ऐसा सोचता रहता है, यह भी उचित नही। शास्त्रकार कहते है—'जे मोणपद उवट्ठिए, णो लज्जे, समय सया चरे।' जो मुनिपद पाकर सयम पालन मे उद्यत है, वह अपने आपको न उच्च माने और न ही नीच माने।[1] स्वय को उच्च या उत्कृष्ट मानकर वह अपने से पूर्वदीक्षित भूतपूर्व

---

१ आचारांग सूत्र मे साधु के लिए बताया है—'नो हीणे नो अइरित्ते' (वह न हीन है, न अतिरिक्त—उत्कृष्ट है)।

हीनजातीय मुनियो का मम्मान एव विनय करने से कतराए नही, इसी प्रकार अपने आपको हीन या तुच्छ मानकर मन ही मन कुढता न रहे, शर्मिन्दा न हो, क्योकि मुनिपद प्राप्त कर लेने के बाद भतपूर्व सभी गोत्र, जाति, कुल आदि खत्म हो जाते है। मुनिपद विश्ववन्द्य पद है। इन्द्र भी मुनि के चरणो मे वन्दन करता है। मानलो, भूतपूर्व हीनजातीय मुनि की कोई निन्दा, आलोचना या तिरस्कार करता है तो भी उसे अपने मन मे कुढना न चाहिए, और न ही लज्जित होना चाहिए। उसे यही सोचना चाहिए कि दूसरा कोई कुछ भी कहे, मैं मानव-जीवन के सर्वोच्च पद पर हूँ, मैं हीन, नीच या तुच्छ नही हूँ। परन्तु अपना यह उत्कर्ष दूसरो के सामने प्रकट करने या निन्दा या अपमान करने वालो से चिढकर उनको नीचा दिखाने, वदला लेने या अभिमान प्रदर्शित करने की जरूरत नही है। ऐसा करने से तो कर्मबन्ध अधिक होगा। इसीलिए शास्त्रकार समभाव मे विचरण करने का निर्देश करते है। निष्कर्ष यह है कि साधु को ऐसे समय मे न मान करना चाहिए और न अपमान करना चाहिए, सम रहना चाहिए। यही शास्त्रकार का आशय है।

समभाव से युक्त साधक क्या करे? इसके सम्बन्ध मे अगली गाथा मे कहते है—

मूल पाठ

समे अन्नयरंमि सजमे, ससुद्धे समणे परिव्वए।
जे आवकहासमाहिए दविए कालमकासी पडिए ॥४॥

सस्कृत छाया

समोऽन्यतरस्मिन् सयमे सशुद्ध श्रमण परिव्रजेत्।
यावत्कथा समाहितो द्रव्य कालमकार्षीत् पण्डित ॥४॥

अन्वयार्थ

(ससुद्धे) सम्यक्प्रकार से शुद्ध (समणे) तपस्वी साधु (जे आवकहा) जीवनपर्यन्त (अन्नयरंमि) किसी भी (सजमे) सयमस्थान मे स्थित होकर (समे) समभाव के साथ (परिव्वए) प्रव्रज्या का पालन करे, (दविए) वह द्रव्यभूत (पडिए) सद्-असद् के विवेकवाला पुरुष (समाहिए) शुभ अध्यवसाय रखता हुआ (कालमकासी) मरणपर्यन्त सयम का पालन करे।

भावार्थ

सम्यक् प्रकार से शुद्ध तपस्वी साधु जीवनपर्यन्त किसी भी एक सयम-स्थान मे स्थित होकर समभावपूर्वक प्रव्रज्या का पालन करे। वह भव्य

(मुक्ति गमन के योग्य) सद्-असद्-विवेककुशल, शुभ अध्यवसाय से युक्त होकर मृत्युपर्यन्त सयम मे तत्पर रहे।

व्याख्या

समता का आराधक क्या करे ?

पूर्वगाथाओ मे मद और निन्दा का त्याग करने का उपदेश दिया गया है, परन्तु वह उपदेश तभी टिक सकता है, जब जीवन मे समभाव हो। इसलिए इस गाथा मे समभाव का उपदेश दिया है। सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय एव यथाख्यातचारित्र ये पाँच प्रकार के सयम हैं। इन पाँचो मे से किसी एक सयमस्थान मे स्थित होकर द्रव्य और भाव दोनो से शुद्ध (यानी व्यवहार एव निश्चय दोनो से शुद्ध) श्रमण आजीवन समभाव मे गति-प्रगति करे। जब वह समभाव मे सुदृढ रहेगा तो स्वाभाविक रूप से ही मद और निन्दा दोना ही पाप छूट जाएँगे।

जे आवकहा—समभाव का पालन कितने समय तक करे, इसके समाधानार्थ यहाँ 'यावत्कथा' (जे आवकहा) शब्द का प्रयोग किया गया है। यावत्कथा का मतलब जीवनपर्यन्त है, अर्थात् जहाँ तक देवदत्त यज्ञदत्त इस प्रकार के नाम की कथा चर्चा लोगो मे है। जब शरीर या जीवन छूट जाएगा, तब अमुक नाम की चर्चा (कथा) भी समाप्त हो जाएगी। अत यावज्जीवन समभाव मे स्थित रहना है। समभाव का आचरण किस प्रकार ठीक हो सकता है ? इसके लिए यहाँ साधु के विशेषण प्रयुक्त किए गये हैं—(१) समाहित होकर (२) भव्य बनकर (३) पडित—सद् असद् विवेकशील होकर। प्रथम तो जीवनपर्यन्त वह समाधिभाव मे रहे। समाधिभावयानी आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे सम्यक् प्रकार से स्थापित करे। तत्पश्चात मोक्षगमन के योग्य दृढ स्थिति मन की रखे तथा सत्-असत् हेय-उपादेय, हिताहित का सम्यक्रूप से विवेक हो। ये तीनो गुण शुभ अध्यवसायशील साधु मे मृत्युपर्यन्त रहे, तभी वह समभाव मे लीन रह सकता है। 'दविए' के दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—रागद्वेषरहित और मोक्षगमन के योग्य—भव्य। यही इस गाथा का निष्कर्ष है।

अब आगामी गाथा मे साधु पर उपसर्ग आ जाने पर वह क्या करे ? इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते है—

मूल

दूर अणुपस्सिया मुणी, तीत धम्ममणागय तहा ।
पुट्ठे फरुसेहि माहणे, अवि हण्णू समयमि रीयइ ॥५॥

सस्कृत छाया

दूरमनुदृश्य मुनिरतीत धर्ममनागत तथा ।
स्पृष्ट परुषैर्माहन अपि हन्यमान ममये रीयते ।।५।।

अन्वयार्थ

(मुणी) तीनो काल की गतिविधि पर मनन करने या शास्त्रादि द्वारा जानने वाला मुनि, (दूर) मोक्ष को तथा (तीत) अतीत—भूत तहा) तथा (अणागय) भविष्यकालीन (धम्म) प्राणियो के धर्म—स्वभाव को (अणुपस्सिया) जान-देखकर (फरुसेहिं) कठोर वचनो अथवा लाठी आदि के प्रहारो का (पुट्ठे) स्पर्श होने पर अथवा (अविहण्णू) हनन किये जाने पर भी (समयम्मि) अपने सिद्धान्त अथवा सयम पर (रीयइ) डटा रहे या गति करे।

भावार्थ

त्रिकालदर्शी अथवा त्रिलोक मननशील अहिसा मे दृढ साधु दूर यानी मोक्ष को या दूर-दूर तक दीर्घदृष्टि से भूत और भविष्य का जीवो के स्वभाव का अवलोकन करके कठोर वचन या लाठी आदि के द्वारा स्पर्श किये जाते हुए प्रहार को अथवा जान से मार डालने तक को भी समभाव से सहे, अपने समत्व सिद्धान्त पर डटा रहे, सयम-मार्ग मे स्थिर रहे।

व्याख्या

समभावपूर्वक सयम मे स्थिर रहने का उपाय

जो मुनि समभाव एव सयम मे स्थित रहना चाहता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर होनी चाहिए। अगर उसकी प्रज्ञा जरा-जरा से उपसर्ग या परीषह को देखकर विचलित हो जाएगी, सुख-दु ख, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, आदि द्वन्द्वो का वास्ता पडते ही डगमगा जाएगी, कठोर वचन या प्रशसात्मक वचन, प्रहार या उपहार के प्रसगो मे हर्ष-शोक या राग-द्वेष की ओर झुककर अस्थिर हो जायगी, तो वह समभाव व सयम मे मजबूती से अपने कदम स्थिर नही रख सकेगा, इन्द्रियो और मन पर सयम नही रख सकेगा, इस प्रकार कर्मक्षय निर्जरा) के अवसरो को खो कर वह उन्हे कर्मबन्धन (आस्रव और वन्ध) मे वदल देगा। कितनी बडी हानि है यह मोक्षमार्गी साधक के लिए ? इसीलिए शास्त्रकार इस गाथा मे समभाव मे स्थिर रहने का उपाय बताते हुए उपदेश देते है—'दूर अणुपस्सिया मुणी तहा।' यहाँ 'दूर' शब्द के दो अर्थ सम्भव है—एक तो मोक्ष, क्योकि मोक्ष दूरवर्ती है, इसलिए इसे 'दूर' कहा गया है, इसी प्रकार दूसरा अर्थ है—सुदूर अतीत और सुदूर भविष्य क्योकि अतीतकाल और भविष्यकाल भी बहुत दूर हैं। यहाँ 'मुणी'

(मुक्ति गमन के योग्य) सद्-असद्-विवेककुशल, शुभ अध्यवसाय से युक्त होकर मृत्युपर्यन्त सयम मे तत्पर रहे ।

व्याख्या

समता का आराधक क्या करे ?

पूर्वगाथाओ मे मद और निन्दा का त्याग करने का उपदेश दिया गया है, परन्तु वह उपदेश तभी टिक सकता है, जब जीवन मे समभाव हो। इसलिए इस गाथा मे समभाव का उपदेश दिया है। सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय एव यथाख्यातचारित्र ये पाँच प्रकार के सयम हैं। इन पाँचो मे से किसी एक सयमस्थान मे स्थित होकर द्रव्य और भाव दोनो से शुद्ध (यानी व्यवहार एव निश्चय दोनो से शुद्ध) श्रमण आजीवन समभाव मे गति-प्रगति करे। जब वह समभाव मे सुदृढ रहेगा तो स्वाभाविक रूप से ही मद और निन्दा दोना ही पाप छूट जाएँगे।

जे आवकहा—समभाव का पालन कितने समय तक करे, इसके समाधानार्थ यहाँ 'यावत्कथा' (जे आवकहा) शब्द का प्रयोग किया गया है। यावत्कथा का मतलब जीवनपर्यन्त हे, अर्थात् जहाँ तक देवदत्त यज्ञदत्त इस प्रकार के नाम की कथा चर्चा लोगो मे है। जब शरीर या जीवन छूट जाएगा, तब अमुक नाम की चर्चा (कथा) भी समाप्त हो जाएगी। अत यावज्जीवन समभाव मे स्थित रहना है। समभाव का आचरण किस प्रकार ठीक हो सकता है ? इसके लिए यहाँ साधु के विशेषण प्रयुक्त किए गये है—(१) समाहित होकर (२) भव्य बनकर (३) पडित—सद् असद् विवेकशील होकर। प्रथम तो जीवनपर्यन्त वह समाधिभाव मे रहे। समाधिभावयानी आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे सम्यक् प्रकार से स्थापित करे। तत्पश्चात मोक्षगमन के योग्य दृढ स्थिति मन की रखे तथा सत्-असत् हेय-उपादेय, हिताहित का सम्यक्रूप से विवेक हो। ये तीनो गुण शुभ अध्यवसायशील साधु मे मृत्युपर्यंत रहे, तभी वह समभाव मे लीन रह सकता है। 'दविए' के दो अर्थ वृत्तिकार ने किये है—रागद्वेषरहित और मोक्षगमन के योग्य—भव्य। यही इस गाथा का निष्कर्ष है।

अब आगामी गाथा में साधु पर उपसर्ग आ जाने पर वह क्या करे ? इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते है—

मूल

दूर अणुपस्सिया मुणी, तीत धम्ममणागय तहा ।
पुट्ठे परुसेहि माहणे, अवि हण्णू समयंमि रीयइ ॥५॥

सस्कृत छाया

दूरमनुदृश्य मुनिरतीत धर्ममनागत तथा ।
स्पृष्ट परुषैर्माहन अपि हन्यमान समये रीयते ।।५।।

अन्वयार्थ

(मुणी) तीनो काल की गतिविधि पर मनन करने या शास्त्रादि द्वारा जानने वाला मुनि, (दूर) मोक्ष को तथा (तीत) अतीत—भूत तहा) तथा (अणागय) भविष्यकालीन (धम्म) प्राणियो के धर्म—स्वभाव को (अणुपस्सिया) जान-देखकर (परुसेहि) कठोर वचनो अथवा लाठी आदि के प्रहारो का (पुट्ठे) स्पर्श होने पर अथवा (अविहण्णू) हनन किये जाने पर भी (समयम्मि) अपने सिद्धान्त अथवा सयम पर (रीयइ) डटा रहे या गति करे।

भावार्थ

त्रिकालदर्शी अथवा त्रिलोक मननशील अहिसा मे दृढ साधु दूर यानी मोक्ष को या दूर-दूर तक दीर्घदृष्टि से भूत और भविष्य का जीवो के स्वभाव का अवलोकन करके कठोर वचन या लाठी आदि के द्वारा स्पर्श किये जाते हुए प्रहार को अथवा जान से मार डालने तक को भी समभाव से सहे, अपने समत्व सिद्धान्त पर डटा रहे, सयम-मार्ग मे स्थिर रहे।

व्याख्या

समभावपूर्वक सयम मे स्थिर रहने का उपाय

जो मुनि समभाव एव सयम मे स्थित रहना चाहता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर होनी चाहिए। अगर उसकी प्रज्ञा जरा-जरा से उपसर्ग या परीपह को देखकर विचलित हो जाएगी, सुख-दु ख, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, आदि द्वन्द्वो का वास्ता पडते ही डगमगा जाएगी, कठोर वचन या प्रशसात्मक वचन, प्रहार या उपहार के प्रसगो मे हर्ष शोक या राग-द्वेष की ओर झुककर अस्थिर हो जायगी, तो वह समभाव व सयम मे मजबूती से अपने कदम स्थिर नही रख सकेगा, इन्द्रियो और मन पर सयम नही रख सकेगा, इस प्रकार कर्मक्षय निर्जरा) के अवसरो को खो कर वह उन्हे कर्मबन्धन (आस्रव और बन्ध) मे बदल देगा। कितनी बडी हानि है यह मोक्षमार्गी साधक के लिए ? इसीलिए शास्त्रकार इस गाथा मे समभाव मे स्थिर रहने का उपाय बताते हुए उपदेश देते है—'दूर अणुपस्सिया मुणी तहा।' यहाँ 'दूर' शब्द के दो अर्थ सम्भव है—एक तो मोक्ष, क्योकि मोक्ष दूरवर्ती है, इसलिए इसे 'दूर' कहा गया है, इसी प्रकार दूसरा अर्थ है—सुदूर अतीत और सुदूर भविष्य क्योकि अतीतकाल और भविष्यकाल भी बहुत दूर हैं। यहाँ 'मुणी'

शब्द भी बहुत गम्भीर अर्थ को सूचित करता है। 'मन्ता शास्त्रार्थतत्त्वावगन्ता मुनि' 'मन्यते यो जगत् सर्वं', 'मनुते यो उभे लोके' ये तीन व्युत्पत्तियाँ मुनि की होती है। मुनि का अर्थ है—शास्त्र मे उल्लिखित तत्त्वो पर मनन-चिन्तन करने वाला, जो जगत् की समस्त गतिविधियो पर मनन करता है, जानता है, अथवा दोनो लोको (इहलोक और परलोक) को जानता है, अथवा जो शास्त्ररूपी नेत्रो द्वारा तीनो काल की बाते जानता है। दूरदर्शी बनकर अतीतकाल मे परीषहो और उपसर्गो के समय सुदृढ और सहिष्णु और क्षमाशील बनकर समभाव मे स्थिर रहने वाले मुनि पुगवो (अर्जुनमुनि, गजसुकुमार मुनि आदि) के जीवन पर दृष्टिपात करके तथा भविष्य मे मुझे भी ऐसे कठोर प्रसगो पर क्षमाभाव रखने का प्रयत्न करना चाहिए तथा वर्तमान मे अपनी दुर्बलताओ को झाडकर समभाव मे स्थिर रहना है, मुमुक्षु बनना है। इस प्रकार त्रिकालदर्शी मुनि जगत् के प्राणियो के भूतकालीन एव भविष्यकालीन स्वभाव का मन ही मन विश्लेषण करे। अर्थात 'प्राणी ऊँची-नीची गतियो मे क्यो जाते हैं ? कर्मबन्धनो के कारण ही कर्मबन्धन क्यो होते है ? उन्हे ये जीव क्यो नही रोक पाते ? मैं तो मुनि हूँ, मैंने शास्त्रो से समस्त तत्त्वो को छान डाला है, मुझे कर्मबन्धन और उनके कारणो से दूर रहना चाहिए।' ये और इस प्रकार के दीर्घदर्शी विचारो के प्रकाश मे मुनि कठोर परीषहो, प्रहारो या उपसर्गो के स्पर्श के अथवा मारे-पीटे जाने के समय अपने समय (समत्व या सामायिक) मे अथवा सिद्धान्त पर स्थिर रहे, सयम-पथ पर ही चले। यहाँ 'समयम्मि रीयइ' के बदले 'समयाऽहियासए' पाठान्तर भी मिलता है, जो अधिक उपयुक्त जचता है। उसका अर्थ है—समभावपूर्वक पूर्वोक्त आपत्तियो को सहन करे।

यही समभाव मे स्थिर रहने का ठोस उपाय शास्त्रकार ने भगवान ऋषभदेव के शब्दो मे बताया है।

अगली गाथा मे पुन इसी से सम्बन्धित उपदेश है—

मूल

पण्णासमत्ते सया जए समताधम्ममुदाहरे मुणी ।
सुहुमे उ सया अलूसए, णो कुज्झे णो माणी माहणे ॥६॥

[मू]ल छाया

प्रज्ञासमाप्त सदा जयेत् समताधर्ममुदाहरेन्मुनि ।
सूक्ष्मे तु सदाऽलूषक नो क्रुध्येन्नो मानी माहन ॥६॥

अन्वयार्थ

(प[ण्णासमत्]ते) प्रज्ञा मे परिपूर्ण अथवा स्थितप्रज्ञ (मुणी) मुनि (सया) सदा (जए) कषायो को जीते। और (समयाधम्म उदाहरे) समतारूप धर्म का उपदेश दे,

अथवा समताधर्म को अपने जीवन से प्रगट करे। (सुहुमे उ) सयम की सूक्ष्मता—गहराई के सम्बन्ध मे (सया) सदैव (अलूसए) अविराधक होकर रहे। (णो कुज्झे) तथा क्रोध न करे, (णो माणी माहणे) एव अहिंसाधर्मी (माहन) मुनि मानी न बने।

भावार्थ

स्थितप्रज्ञ या प्रज्ञा से परिपूर्ण साधक सदा कषायो पर विजय प्राप्त करे, और समताधर्म का आदर्श स्थापित करे, समताधर्म का ही उपदेश दे। सूक्ष्म से सूक्ष्म सयम के प्रति सदा अविराधक होकर रहे। अहिंसाधर्मी मुनि किसी पर कोप न करे और न ही अहकार करे।

व्याख्या

स्थितप्रज्ञ समताधर्मी मुनि का धर्म

(शास्त्रो का अध्ययन-मनन एन अनुशीलन-परिशीलन करने तथा साधु-जीवन के आचार-विचार के परिपालन एव रत्नत्रय के अभ्यास से जिसकी प्रज्ञा उन्नत, स्थिर एव परिपूर्ण हो गई है, उस स्थितप्रज्ञ समताधर्मी मुनि को कषायो एव इन्द्रिय-विषयो के प्रसग उपस्थित होने पर क्या करना चाहिए ? यही इस गाथा मे शास्त्र-कार ने बताया है—'पण्णासमत्ते सया जए समताधम्ममुदाहरे मुणी।' आशय यह है कि शास्त्रो के अभ्यास से परिपक्वमति एव नौ तत्त्वो के ज्ञाता समताधर्मी मुनि कषायो के विषय मे भगवद्वाणी के प्रकाश मे चिन्तन करे—

> कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
> चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचति मूलाई पुणब्भवस्स॥

अर्थात्—क्रोध और मान पर यदि अकुश न रखा जाय तथा माया और लोभ बढते जाएँ तो ये चारो कषाय अपने आप मे परिपूर्ण होकर पुनर्भव (बार-बार जन्ममरण) के मूल को सींचते हैं।

इस प्रकार कषायो को ससार के बीज समझकर इन पर सदा विजय प्राप्त करनी चाहिए। हमेशा जागरूक रहना चाहिए कि कहीं कषाय आकर मेरे जीवन पर हावी न हो जाए। और केवल कषाय ही नहीं, विषयो—पाँचो इन्द्रियो और मन के विषयो से भी सदा सावधान रहना चाहिए। वे भी साधक पर कहीं हावी न हो जाएँ, साधक को पछाड न दें। मनोज्ञ विषयो पर राग, आसक्ति या मोह तथा अमनोज्ञ विषयों पर द्वेष, घृणा या अरुचि न करे। अर्थात उन पर विजय पाने की कोशिश करे। कैसे विजय पाए ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार स्वय कहते हैं—समताधर्म का उदाहरण (नमूना) प्रस्तुत करे।) यद्यपि वृत्तिकार 'समताधम्म-

शब्द भी बहुत गम्भीर अर्थ को सूचित करता है । 'मन्ता शास्त्रार्थतत्त्वावगन्ता मुनि' 'मन्यते यो जगत सर्व', 'मनुते यो उभे लोके' ये तीन व्युत्पत्तियाँ मुनि की होती है। मुनि का अर्थ है—शास्त्र मे उल्लिखित तत्त्वो पर मनन-चिन्तन करने वाला, जो जगत् की समस्त गतिविधियो पर मनन करता है, जानता है, अथवा दोनो लोको (इहलोक और परलोक) को जानता है, अथवा जो शास्त्ररूपी नेत्रो द्वारा तीनो काल की वाते जानता है। दूरदर्शी बनकर अतीतकाल मे परीषहो और उपसर्गो के समय सुदृढ और सहिष्णु और क्षमाशील बनकर समभाव मे स्थिर रहने वाले मुनि पुगवो (अर्जुनमुनि, गजसुकुमार मुनि आदि) के जीवन पर दृष्टिपात करके तथा भविष्य मे मुझे भी ऐसे कठोर प्रसगो पर क्षमाभाव रखने का प्रयत्न करना चाहिए तथा वर्तमान मे अपनी दुर्बलताओ को झाडकर समभाव मे स्थिर रहना है, ममुक्षु बनना है। इस प्रकार त्रिकालदर्शी मुनि जगत् के प्राणियो के भूतकालीन एव भविष्यकालीन स्वभाव का मन ही मन विश्लेपण करे। अर्थात 'प्राणी ऊँची-नीची गतियो मे क्यो जाते है ? कर्मबन्धनो के कारण ही कर्मबन्धन क्यो होते है ? उन्हे ये जीव क्यो नही रोक पाते ? मैं तो मुनि हूँ, मैंने शास्त्रो से समस्त तत्त्वो को छान डाला है, मुझे कर्मबन्धन और उनके कारणो से दूर रहना चाहिए।' ये और इस प्रकार के दीर्घदर्शी विचारो के प्रकाश मे मुनि कठोर परीषहो, प्रहारो या उपसर्गो के स्पर्श के अथवा मारे-पीटे जाने के समय अपने समय (ममत्व या सामायिक) मे अथवा सिद्धान्त पर स्थिर रहे, सयम-पथ पर ही चले। यहाँ 'समयम्मि रीयइ' के बदले 'समयाऽहियासए' पाठान्तर भी मिलता है, जो अधिक उपयुक्त जचता है। उसका अर्थ है—समभावपूर्वक पूर्वोक्त आपत्तियो को सहन करे।

यही समभाव मे स्थिर रहने का ठोस उपाय शास्त्रकार ने भगवान ऋषभदेव के शब्दो मे बताया है।

अगली गाथा मे पुन इसी से सम्बन्धित उपदेश है—

मूल

पण्णासमत्ते सया जए समताधम्ममुदाहरे मुणी ।
सुहुमे उ सया अलूसए, णो कुज्झे णो माणी माहणे ।।६।।

सस्कृत छाया

प्रज्ञासमाप्त सदा जयेत् ममताधर्ममुदाहरेन्मुनि ।
सूक्ष्मे तु सदाऽलूषक नो क्रुध्येन्नो मानी माहन ।।६।।

अन्वयार्थ

(प त्ते) प्रज्ञा मे परिपूर्ण अथवा स्थितप्रज्ञ (मुणी) मुनि (सया) सदा (जए) कषायो को जीते। और (समयाधम्म उदाहरे) समतारूप धर्म का उपदेश दे,

अथवा समताधर्म को अपने जीवन से प्रगट करे। (सुहुमे उ) सयम की सूक्ष्मता—गहराई के सम्बन्ध मे (सया) सदैव (अलूसए) अविराधक होकर रहे। (णो कुज्झे) तथा क्रोध न करे, (णो माणी माहणे) एव अहिमाधर्मी (माहन) मुनि मानी न बने।

र्थ

स्थितप्रज्ञ या प्रज्ञा से परिपूर्ण साधक सदा कषायो पर विजय प्राप्त करे, और समताधर्म का आदर्श स्थापित करे, समताधर्म का ही उपदेश दे। सूक्ष्म से सूक्ष्म सयम के प्रति मदा अविराधक होकर रहे। अहिमाधर्मी मुनि किमी पर कोप न करे और न ही अहकार करे।

व्याख्या

स्थितप्रज्ञ समताधर्मी मुनि का धर्म

(शास्त्रो का अध्ययन-मनन एन अनुशीलन-परिशीलन करने तथा साधु-जीवन के आचार-विचार के परिपालन एव रत्नत्रय के अभ्यास से जिसकी प्रज्ञा उन्नत, स्थिर एव परिपूर्ण हो गई है, उस स्थितप्रज्ञ समताधर्मी मुनि को कपायो एव इन्द्रिय-विपयो के प्रसग उपस्थित होने पर क्या करना चाहिए ? यही इस गाथा मे शास्त्रकार ने बताया है—'पण्णासमत्ते सया जए समताधम्ममुदाहरे मुणी।' आशय यह है कि शास्त्रो के अभ्यास से परिपक्वमति एव नौ तत्त्वो के ज्ञाता समताधर्मी मुनि कपायो के विपय मे भगवद्वाणी के प्रकाश मे चिन्तन करे—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचति मूलाई पुणब्भवस्स॥

अर्थात्- क्रोध और मान पर यदि अकुश न रखा जाय तथा माया और लोभ बढते जाएँ तो ये चारो कपाय अपने आप मे परिपूर्ण होकर पुनर्भव (बार-बार जन्ममरण) के मूल को सीचते है।

इप प्रकार कपायो को ससार के बीज समझकर इन पर सदा विजय प्राप्त करनी चाहिए। हमेशा जागरूक रहना चाहिए कि कही कपाय आकर मेरे जीवन पर हावी न हो जाए। और केवल कपाय ही नही, विपयो—पाँचो इन्द्रियो और मन के विपयो से भी सदा सावधान रहना चाहिए। वे भी साधक पर कही हावी न हो जाएँ, साधक को पछाड न दे। मनोज्ञ विपयो पर राग, आसक्ति या मोह तथा अमनोज्ञ विपयो पर द्वेप, घृणा या अरुचि न करे। अर्थात उन पर विजय पाने की कोशिश करे। कैसे विजय पाए ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार स्वय कहते है—समताधर्म का उदाहरण (नमूना) प्रस्तुत करे।) यद्यपि वृत्तिकार 'समताधम्म-

मुदाहरे' का अर्थ 'समतारूपी धर्म का उपदेश करे', करते है, परन्तु इसकी अपेक्षा 'समताधर्म का उदाहरण (नमूना) प्रस्तुत करे,' यह अर्थ अधिक सगत लगता है। उपदेश तो तभी दिया जा सकता हे, जब व्यक्ति स्वय उसका आचरण कर ले। इसलिए उपदेश की अपेक्षा पहले स्वय मुनि समताधर्म का आदर्श प्र तुत करे, यही अभीष्ट है। उसके पश्चात समता का वातावरण तैयार करने के लिए भले ही वह उपदेश दे। उसके पश्चात स्वय इन्द्रियो और मन पर कडा पहरा रखे। जरा-सी भी इन्द्रिय-मन सयम की विराधना न हो, इसकी सावधानी रखे। कोई कुछ भी प्रतिकूल कहे अथवा अनुकूल (प्रशसात्मक) कहे दोनो ही अवस्थाओं मे सम रहे। न तो प्रतिकूल कहने वालो या करने वालो पर क्रोध करे और न अनुकूल कहने या अपनी प्रशसा करने वालो की बात सुनकर मन मे फूले, गर्व न करे। मुनियो के अहिंसाधर्म का यही तकाजा है। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

अब अगली गाथा मे शास्त्रकार साधक को विश्ववन्द्य साधुधर्म मे सावधान रहने का उपदेश देते है—

मूल पाठ

बहुजणणमणमि सवुडो सव्वट्ठेहि णरे अणिस्सिए।
हद इव सया अणाविले धम्म पादुरकासी कासव ॥७॥

सस्कृत

वहुजन-नमने सवृत सर्वार्थैर्नरोऽनिश्रित ।
ह्रद इव सदाऽनाविलो, धर्म प्रादुरकार्षीत् काश्यपम् ॥७॥

अन्वयार्थ

(बहुजणणमणम्मि) अनेक लोगो के द्वारा नमस्करणीय-वन्दनीय, यानी धर्म मे (सवुडो) ओतप्रोत या सावधान रहने (णरे) मनुष्य—साधक (सव्वट्ठेहिं अणिस्सिए) समस्त पदार्थो या इन्द्रियविषयो मे अनिश्रित — अनासक्त अथवा बेलाग रहकर (हद इव सया अणाविले) सरोवर की तरह सदा स्वच्छ, निर्मल एव प्रशान्त रहता हुआ (कासव धम्म) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के धर्म को (पादुरकासी) प्रकट करे।

र्थ

वहुत से लोगो के द्वारा नमस्कार करने योग्य धर्म मे सदा सावधान रहने वाला साधक (मानव) ससार के समस्त पदार्थो से अनासक्त रहकर सरोवर की तरह स्वच्छ एव प्रशान्त रहता हुआ काश्यपगोत्री भगवान् महावीर के धर्म को प्रकट करे।

व्याख्या

बहुजन प्रशसनीय धर्म का आचरण कैसे करे ?

धर्म मानवमात्र के द्वारा वन्दनीय एव श्लाघ्य है, क्योकि वह प्राणिमात्र के लिए उपकारक है। धर्म अपने पालन एव रक्षण करने वाले का पालन एव रक्षण करता है। धर्म के पालन से मानव-जीवन सुखी, शान्त और आनन्दमय रहता है। जैनशास्त्रो मे बताया है कि धर्म उत्कृष्ट मगल है।[1] धर्म इस लोक और परलोक मे हित, सुख, नि श्रेयस के लिए और समर्थ बनाने के लिए है।[2] जिस धर्म का पालन यहाँ किया जाता है, वह परलोक मे भी साथ जाता है। इतने महान् उपकारी धर्म को भला कौन प्रशसनीय, वन्दनीय, नमस्करणीय, मगलमय और श्लाघ्य नही कहेगा ? अत उक्त नमस्करणीय धर्म का पालन करने के लिए साधक को सदा सवृत रहना चाहिए। सवृत के यहाँ तीन अर्थ हो सकते है। एक अर्थ है—सावधान रहना। दूसरा अर्थ है अपनी आत्मा को बाह्य विषयो, कषायो से गुप्त-सुरक्षित रखना। तीसरा अर्थ है—अपने जीवन मे आते हुए कर्मो (आस्रवो) का सवरण - निरोध करके रहना, रोक कर रहना। यहाँ अभिप्रेत अर्थ यह हो सकता है कि साधक नमस्करणीय धर्म मे आत्मा को सुरक्षित, निरुद्ध करके रखे।

दूसरा उपाय धर्म मे ओतप्रोत या तल्लीन रहने का यह बताया है कि **'सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए'** अर्थात्—साधनाशील मानव ससार के समस्त मनोज्ञ-अमनोज्ञ पदार्थो का विषयो मे अनिश्रित रहे, उनके मोह-ममत्व से दूर रहे। वास्तव मे शुद्ध साधु-धर्म का आचरण तभी हो सकता है कि धर्माचरण मे उपयोगी उपकरणो या शरीर सघ गुरु आदि के प्रति भी मोहासक्ति से रहित होकर विचरण करे तथा अन्य सासारिक या वैषयिक पदार्थो के प्रति तो बिलकुल लगाव न रखे। अपनी निश्राय मे उन पदार्थो को बिलकुल न रखे।

धर्म मे लीन और सुदृढ रहने का तीसरा उपाय शास्त्रकार ने बताया है—**'हद इव सया अणाविले'** अर्थात् ह्रद—तालाब की तरह सदा स्वच्छ, निर्मल रहे। तालाब इसलिए स्वच्छ जल से परिपूर्ण रहता है कि उसमे अनेक जलचरो का सचार होता रहता है। इसी प्रकार साधु भी सघरूपी तालाब मे अनेक प्राणियो के सम्पर्क मे आने पर या सघ मे अनेक साधुओ के सचार के कारण स्वच्छ सघ सरोवर मे निर्मल रहे। क्योकि जब जीवन मे हिंसा, असत्य आदि अधर्मो से गदगी प्रविष्ट होगी, साधु-जीवन स्वच्छ नही रह सकेगा। साधु-जीवन स्वच्छ नही रहेगा

---

१ 'धम्मो मगलमुक्किट्ठ'- दशवैकालिक सूत्र।

२ इहलोग-परलोग हियाए, निस्सेस्साए, सुहाए, खम्माए, अणुगामियत्ताए भवई।

तो धर्म मे लीनता नही होगी। क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म जीवन मे आ नही सकेगे। यह तीसरा उपाय वताया है।

धम्म पादुरकासी कासव—धर्म मे लीनता के ये तीन उपाय वताने के वाद शास्त्रकार का उपदेश है कि इन तीनो उपायो के द्वारा शुद्ध धर्म मे लीनता करके अपने जीवन से काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित दशविध श्रमण-धर्म को प्रकट करे। साधक के जीवन मे जव धर्म रम जाता है, तभी वह अपने जीवन से धर्म को अभिव्यक्त कर सकता है, उस साधक का धर्ममय जीवन ही स्वय वोलता हुआ होगा। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने कहा था—'**न धर्मो धार्मिकै विना**' धार्मिक वने विना धर्म का प्रकटीकरण या धर्म-प्रचार-प्रसार नही हो सकता। इस गाथा मे वर्तमान मे भूतकाल के **अकासी** शब्द का प्रयोग छन्दोभग न हो, इसलिए किया गया है।

यही इस गाथा का आशय है।

पूर्वगाथा के अन्तिम चरण मे अपने जीवन से धर्म को प्रगट करने की वात कही थी, किन्तु साधक किस धर्म को प्रगट करता है ? इसके लिए अगली गाथा मे शास्त्रकार कहते है—

मूल पाठ

बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेय समय समीहिया ।
जो मोणपद उवट्ठिए विरति तत्थ अकासी पडिए ॥८॥

संस्कृत छाया

बहव प्राणा पृथक् श्रिता, प्रत्येक समता समीक्ष्य ।
यो मौनपदमुपस्थितो विरति तत्राकार्षीत् पण्डित ॥८॥

अन्वयार्थ

(बहवे) बहुत-से (पाणा) प्राणी (पुढो) पृथक्-पृथक् (सिया) इस जगत् मे निवास करते है, (पत्तेय) प्रत्येक प्राणी को (समय) समभाव से (समीहिया) देखकर (मोणपद) सयम मे—मुनिपद मे (उवट्ठिए) उपस्थित (जो) जो (पडिए) पण्डित है वह (तत्थ) उन प्राणियो के घात से (विरति) विरति (अकासी) करे।

र्थ

इस जगत् मे बहुत-से प्राणी पृथक्-पृथक् निवास करते हैं। उन सव प्राणियो मे से प्रत्येक प्राणी को समभाव से देखने वाला मुनिपद मे उपस्थित सद्-असद् विवेकी साधक उन प्राणियो के घात से विरत रहे।

व्याख्या

प्रथम धर्म प्राणिघात से विरति

साधुजीवन मे प्रथम धर्म, जो प्रकट करना है, वह है प्राणिघात से विरति। जिसके लिए इस गाथा मे सकेत किया गया है। प्राणिघात से विरति होने से पूर्व शास्त्रकार प्राणियो का स्वरूप बताते है— 'बहवे पाणा पुढो सिया।' यहाँ प्राणो के साथ अभेद आरोप करके प्राणियो को प्राण कहा है। क्योकि प्राणी दशविध प्राणो को धारण करता है। इस जगत् मे अनेक प्राणी है। उनमे से कोई त्रस है तो कोई स्थावर है। त्रस प्राणियो मे भी कोई द्वीन्द्रिय है तो कोई त्रीन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय है तो कोई पञ्चेन्द्रिय। फिर पचेन्द्रिय मे भी कोई सज्ञी है, कोई असज्ञी है, कोई पर्याप्तक है तो कोई अपर्याप्तक, कोई गर्भज है तो कोई सम्मूर्च्छिम, कोई मनुष्य है तो कोई देव, कोई तिर्यञ्च है तो कोई नारक। तिर्यञ्चो मे भी कोई जलचर है, कोई खेचर, कोई स्थलचर है, कोई उरपरिसर्प है तो कोई भुजपरिसर्प।

स्थावर मे सभी प्राणी एकेन्द्रिय होते हैं, उनमे भी कोई पृथ्वीकायिक है तो कोई जलकायिक कोई तेजस्कायिक है, तो कोई वायुकायिक और कोई वनस्पतिकायिक है। उनमे भी कोई सूक्ष्म है, कोई बादर है। यो ४ गति और ८४ लाख जीवयोनियो के अनन्त-अनन्त प्राणी इस जगत् मे निवास करते है। पृथक्-पृथक् आत्मा एव प्राणो वाले इन सभी प्राणियो को सुख और जीवन समानरूप से प्रिय है, दु ख और मरण अप्रिय है।

यहाँ तक प्राणियो का स्वरूप और स्वभाव बताने के बाद शास्त्रकार उनके प्रति मुनिधर्म बताते हुए कहते है—**'जो मोणपद उवट्ठिए पत्तेय समय समीहिया विरति तत्थ अकासी पडिए।'** आशय यह है कि जो साधनाशील व्यक्ति मुनिधर्म-पालन के लिए उद्यत हुआ है, उस सद्असद् विवेकशाली पण्डित साधक को उन प्राणियो को समभाव से यानी आत्मौपम्य भाव से देखना चाहिए। अर्थात्— **'जह मम न पिय दुक्ख एमेव सव्वजीवाण'**—जैसे मुझे दु ख (हिंसा आदि का) प्रिय नही है, वैसे सभी जीवो को प्रिय नही है। मुझे सुख प्रिय है, वैसे सभी प्राणियो को भी प्रिय है। इस प्रकार समत्ववृत्ति से आत्मवत्भाव से सभी प्राणियो को देखना-समझना चाहिए। यहाँ **'समय'** शब्द का **'समता'** रूप भी होता है और **'स्वमय'** रूप भी होता है, जिसका अर्थ—'आत्ममय'—अपने तुल्य होता है।

हाँ तो, साधक इस प्रकार अपनी आत्मा के तुल्य षट्कायिक जीवो को देखकर उन प्राणियो की हिंसा से दूर रहे। न उन्हे मारे-पीटे, सताए, न उन पर बोझ डाले, न उन्हे कुचले, न कैद करे या बन्धन मे डाले, न डराए-धमकाए, न उन पर उच्चाटन-मारण का प्रयोग करे और न ही जीवन से रहित करे।

तो धर्म मे लीनता नही होगी। क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म जीवन मे आ नही सकेगे। यह तीसरा उपाय बताया है।

धम्म पाउरकासी कासव—धर्म मे लीनता के ये तीन उपाय बताने के बाद शास्त्रकार का उपदेश है कि इन तीनो उपायो के द्वारा शुद्ध धर्म मे लीनता करके अपने जीवन से काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित दशविध श्रमण-धर्म को प्रकट करे। साधक के जीवन मे जब धर्म रम जाता है, तभी वह अपने जीवन से धर्म को अभिव्यक्त कर सकता है, उस साधक का धर्ममय जीवन ही स्वय बोलता हुआ होगा। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने कहा था—'**न धर्मो धार्मिकं बिना**' धार्मिक बने बिना धर्म का प्रकटीकरण या धर्म-प्रचार-प्रसार नही हो सकता। इस गाथा मे वतमान मे भूतकाल के अकासी शब्द का प्रयोग छन्दोभग न हो, इसलिए किया गया है।

यही इस गाथा का आशय है।

पूर्वगाथा के अन्तिम चरण मे अपने जीवन से धर्म को प्रगट करने की बात कही थी, किन्तु साधक किस धर्म को प्रगट करता है? इसके लिए अगली गाथा मे शास्त्रकार कहते है—

मूल पाठ

बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेय समय समीहिया।
जो मोणपद उवट्ठिए विरतिं तत्थ अकासी पडिए ॥८॥

संस्कृत छाया

बहव प्राणा पृथक् श्रिता, प्रत्येक समता समीक्ष्य।
यो मौनपदमुपस्थितो विरति तत्राकार्षीत् पण्डित ॥८॥

अन्वयार्थ

(बहवे) बहुत-से (पाणा) प्राणी (पुढो) पृथक्-पृथक् (सिया) इस जगत् मे निवास करते है, (पत्तेय) प्रत्येक प्राणी को (समय) समभाव से (समीहिया) देखकर (मोणपद) सयम मे—मुनिपद मे (उवट्ठिए) उपस्थित (जो) जो (पडिए) पण्डित है वह (तत्थ) उन प्राणियो के घात से (विरतिं) विरति (अकासी) करे।

भावार्थ

इस जगत् मे बहुत-से प्राणी पृथक्-पृथक् निवास करते हैं। उन सब प्राणियो मे से प्रत्येक प्राणी को समभाव से देखने वाला मुनिपद मे उपस्थित सद्-असद् विवेकी साधक उन प्राणियो के घात से विरत रहे।

व्याख्या

प्रथम धर्म प्राणघात से विरति

सा्धुजीवन मे प्रथम धर्म, जो प्रकट करना है, वह है प्राणिघात से विरति। जिसके लिए इस गाथा मे सकेत किया गया है। प्राणिघात से विरति होने से पूर्व शास्त्रकार प्राणियो का स्वरूप बताते है—'बहवे पाणा पुढो सिया।' यहाँ प्राणो के साथ अभेद आरोप करके प्राणियो को प्राण कहा है। क्योकि प्राणी दशविध प्राणो को धारण करता है। इस जगत् मे अनेक प्राणी है। उनमे से कोई त्रस है तो कोई स्थावर है। त्रस प्राणियो मे भी कोई द्वीन्द्रिय है तो कोई त्रीन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय है तो कोई पञ्चेन्द्रिय। फिर पचेन्द्रिय मे भी कोई सज्ञी है, कोई असज्ञी है, कोई पर्याप्तक है तो कोई अपर्याप्तक, कोई गर्भज है तो कोई सम्मूर्च्छिम, कोई मनुष्य है तो कोई देव, कोई तिर्यञ्च है तो कोई नारक। तिर्यञ्चो मे भी कोई जलचर है, कोई खेचर, कोई स्थलचर है, कोई उरपरिसर्प है तो कोई भुजपरिसर्प।

स्थावर मे सभी प्राणी एकेन्द्रिय होते हैं, उनमे भी कोई पृथ्वीकायिक है तो कोई जलकायिक कोई तेजस्कायिक है, तो कोई वायुकायिक और कोई वनस्पति-कायिक है। उनमे भी कोई सूक्ष्म है, कोई बादर है। यो ४ गति और ८४ लाख जीवयोनियो के अनन्त-अनन्त प्राणी इस जगत् मे निवास करते है। पृथक्-पृथक् आत्मा एव प्राणो वाले इन सभी प्राणियो को सुख और जीवन समानरूप से प्रिय है, दुःख और मरण अप्रिय है।

यहाँ तक प्राणियो का स्वरूप और स्वभाव बताने के बाद शास्त्रकार उनके प्रति मुनिधर्म बताते हुए कहते हैं—'जो मोणपद उवट्ठिए पत्तेय समय समीहिया विरतिं तत्थ अकासी पडिए।' आशय यह है कि जो साधनाशील व्यक्ति मुनिधर्म-पालन के लिए उद्यत हुआ है, उस सद्‌असद् विवेकशाली पण्डित साधक को उन प्राणियो को समभाव से यानी आत्मौपम्य भाव से देखना चाहिए। अर्थात्—'जह मम न पिय दुक्ख एमेव सव्वजीवाण'—जैसे मुझे दुःख (हिंसा आदि का) प्रिय नही है, वैसे सभी जीवो को प्रिय नही है। मुझे सुख प्रिय है, वैसे सभी प्राणियो को भी प्रिय है। इस प्रकार समत्ववृत्ति से आत्मवत्‌भाव से सभी प्राणियो को देखना-समझना चाहिए। यहाँ 'समय' शब्द का 'समता' रूप भी होता है और 'स्वमय' रूप भी होता है, जिसका अर्थ—'आत्ममय'—अपने तुल्य होता है।

हाँ तो, साधक इस प्रकार अपनी आत्मा के तुल्य षट्कायिक जीवो को देख-कर उन प्राणियो की हिंसा से दूर रहे। न उन्हे मारे-पीटे, सताए, न उन पर बोझ डाले, न उन्हे कुचले, न कैद करे या बन्धन मे डाले, न डराए-धमकाए, न उन पर उच्चाटन-मारण का प्रयोग करे और न ही जीवन से रहित करे।

यही मुनिपद मे स्थित साधक का प्रथम धर्म है, जो शास्त्रकार ने इस गाथा मे सूचित किया है।

मूल पाठ

धम्मस्स य पारए मुणी आरभस्स य अंतए ठिए ।
सोयति य णं ममाइणो, णो लब्भंति णिय परिग्गह ।।६।।

सस्कृत छाया

धर्मस्य च पारगो मुनि , आरम्भस्य चान्तके स्थित ।
शोचन्ति च ममतावन्त नो लभन्ते निज परिग्रहम् ।।६।।

अन्वयार्थ

(धम्मस्स) श्रुत-चारित्ररूप धर्म का (मे) (पारगो) पारगत (य) और (आरभस्स) आरम्भ के (अन्तए) अन्त मे - परे (ठिए, स्थित पुरुष ही वास्तव मे (मुणी) मुनि है। (ममाइणो) जो पदार्थों पर ममता रखते है, वे (सोयति) शोक-चिन्ता करते है, फिर भी (णिय परिग्गह) अपने मनमाने परिग्रहरूप पदार्थ को (णो लब्भति) प्राप्त नही करते ।

र्थ

जो व्यक्ति श्रु त-चारित्ररूप धर्म (धर्मसिद्धान्त) मे पारगत है, और आरम्भ (हिंसाजनक प्रवृत्ति) से दूर रहता है, वही वास्तव मे मुनि है। किन्तु पदार्थो पर ममता रखने वाले व्यक्ति उनको पाने को तथा प्राप्त के वियोग की चिन्ता करते रहते है, फिर भी वे अपने मनोवाञ्छित पदार्थों (परिग्रह) को प्राप्त नही कर पाते।

व्याख्या

से परे धर्मपारगत मुनि परिग्रह से दूर

पूर्वगाथा मे मुनि को सर्वप्रथम हिंसा से विरतिरूप धर्म का उपदेश दिया गया है, अव इस गाथा मे मुनि के दूसरे धर्म—परिग्रह से विरति—का उपदेश दिया गया है। सर्वप्रथम शास्त्रकार मुनि का लक्षण देते है। मुनि वह नही है, जो मनमाना निरकुश चलता हो, वेश पहन लिया, किन्तु जिसे श्रुत-चारित्र रूप मुनिधर्म का ज्ञान ही न हो, आरम्भ मे पडा हो। किन्तु मुनि वही जाएगा—जो श्रुत-चारित्र रूप मुनिधर्म के सिद्धान्त और व्यवहार का पूर्ण ज्ञाता हो, पारगामी हो। जिसका धर्म सम्बन्धी अध्ययन-मनन और आचरण-ज्ञान तलस्पर्शी हो, साथ ही जो हिंसा-

जनक आरम्भ के कार्यों से सदा दूर रहता हो। इसी बात को शास्त्रकार कहते है—'धम्मस्स य पारए मुणी, आरभस्स य अतए ठिए।' आरम्भ का अर्थ सावद्य अनुष्ठान (कार्य) भी है। इस दृष्टि से अर्थ होता है—आरम्भ के अन्त मे अर्थात् जो अभाव मे स्थित रहता है, वह मुनि है।

जो साधक मुनिधर्म के सिद्धान्तो से अनभिज्ञ है, और आरम्भ-परिग्रह मे आसक्त रहता है, धर्माचरण करने मे अत्यन्त मन्द रहने वाला है, इष्टपदार्थो अथवा व्यक्तियो के वियोग मे झूरता रहता है, रुदन और शोक करता है, इसके सिवाय साधनाकाल मे भी जो तथाकथित साधक, 'यह मेरा है,' 'मै इस पदार्थ का मालिक हूँ' इस प्रकार का ममत्व रखता है, वह मृत्युकाल निकट आने पर उन सजीव-निर्जीव पदार्थो से वियोग की सम्भावना को सोच-सोचकर विलाप करता है, शोकमग्न हो जाता है। परन्तु इस प्रकार की हायतोबा के बावजूद भी वह उस ममत्व स्थापित पदार्थ को प्राप्त नही कर पाता।

अथवा 'सोयति य ण ममाइणो णो लब्भन्ति णिय परिग्गह' इस पक्ति का यह अर्थ भी सम्भव है, जो मुनि धर्म मे पारगत और आरम्भ से परे है, उसके प्रति ममत्व और आसक्ति से युक्त स्वजन उसके पास आकर शोक, विलाप और रुदन करते है, उसे ले जाने के लिए भरसक प्रयत्न करते है, वे उस मुनि को परिग्रह (ममत्ववश होने के कारण) समझने के बावजूद भी वे उसे प्राप्त नही कर पाते। अर्थात वह मुनि धर्म मे इतना सुदृढ और धर्मसिद्धान्त मे पारगत है तथा समस्त आरम्भ से दूर है कि स्वजनो का उसके प्रति ममत्व और ममत्व के कारण उसे अपने वश मे करके ले जाने का उनका मनोरथ किसी भी प्रकार से सफल नही होता।

इहलोग दुहावहं विऊ परलोगे य दुहं दुहावह।
विद्धसणधम्ममेव त इति विज्ज कोऽगारमावसे ॥१०॥

इहलोकदु खावह विद्या, परलोके च दुख दु खावहम्।
विध्वसनधर्ममेव तद् इति विद्वान् कोऽगारमावसेत् ? ॥१०॥

अन्वयार्थ

(इहलोगदुहावह) सासारिक पदार्थ और स्वजनवर्ग के प्रति परिग्रह (ममत्व) इस लोक मे दु ख देने वाला है, (परलोगे य) और परलोक मे भी (दुह दुहावह) दु ख देने वाला है। (विऊ) यह जानो। (त) वह—परिग्रहजन्य पदार्थसमूह

(विद्ध सणधम्ममेव) नश्वर स्वभाव है, (इति विज्ज) ऐसा जानने वाला (को) कौन साधक पुरुप (अगार) गृहवास मे (आवसे) निवास कर सकता ह ।

भावार्थ

ममत्व किये हुए सासारिक सजीव निर्जीव पदार्थ एव स्वजनवर्गरूप परिग्रह इम लोक मे दु खप्रद हैं और परलोक मे भी अत्यन्त दु खदायक है, यह समझ लो । वह परिग्रहजन्य पदार्थसमूह नश्वरस्वभाव है, ऐसा जानने वाला कौन विज्ञपुरुष परिग्रह के भण्डार गृहवास मे निवास कर सकता है ?

व्याख्या

उभयलोक दु खप्रद परिग्रह मे अनासक्ति ही हितावह

पूर्वगाथा मे ममत्वत्याग का उपदेश दिया गया है । इस गाथा मे ममत्वयुक्त सासारिक पदार्थ और स्वजनवर्ग आदि को इहलोक-परलोक मे दु खावह बताकर उनसे दूर, निर्लिप्त एव अनासक्त रहने का उपदेश दिया गया है । सासारिक पदार्थ धन, स्वर्ण, चाँदी आदि पदार्थ इस लोक मे क्यो दु खप्रद है, उनसे तो अनेक प्रकार की सुख-सुविधाएँ जुटाई जा सकती है ? इसके उत्तर मे नीतिकार कहते ह—

अर्थानामर्जने दु खमर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुख व्यये दु ख धिगर्था दु खभाजनम् ॥

अर्थात्—धन या सासारिक पदार्थों को प्राप्त करने मे दु ख होता ह, फिर प्राप्त किये हुए धन और पदार्थो की रक्षा करने मे दु ख होता है । धन की आय होने पर भी अनेक चिन्ताएँ और भय लग जाने के कारण दु ख होता है, तथा उपार्जित धन या पदार्थों के व्यय—खर्च हो जाने या नष्ट हो जाने पर दु ख होता ह । धिक्कार है ऐसे सासारिक पदार्थो को, जो कष्ट के भाजन हैं ।

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभि श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले ` सर्वत्र वित्तवान् ॥

राजत सलिलादग्नेश्चौरत स्वजनादपि ।
नित्य ध भीतिर्दृश्यते भुवि सर्वदा ॥

अर्थात्—जैसे आकाश मे पक्षिगण, पृथ्वी पर सिंह आदि हिंस्र प्राणी, और पानी मे मगरमच्छ आदि मास देखते ही उस पर टूट पडते ह और खा जाते हैं, वैसे ही धनवान् को भी लोग सब जगह निगल जाना चाहते है । इस भूखण्ड पर धनवानो को शासनकर्त्ता से, जल मे, अग्नि मे, चोर से, और स्वजनो से नित्य भय बना रहता है । इस प्रकार धन, स्वर्ण, रजत, रत्न आदि सासारिक पदार्थों का परिग्रह इस लोक मे पद-पद पर दु खदायक है । परिग्रही मनुष्य को सुख से नींद भी नही

आती। जिन पदार्थों को लेकर मनुष्य अपने मन मे सुख की कल्पना करता है, वे ही पदार्थ उसके लिए अत्यन्त दु खदायी एव शोक-चिन्ता के आगार वन जाते है।

इसी प्रकार माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र आदि जितने भी स्वजन-सम्बन्धी हैं, उनके प्रति ममत्व भी भयकर दु खदायक वनता है। मनुष्य अपने स्वजन से आशा लगाए रहता है कि रोग, कष्ट, आफत, निर्धनता के समय ये मेरी सहायता करेंगे, मेरी सेवा करेंगे, मुझे मौत से बचा लेंगे, आफत से उबार लेंगे, मेरे धन-माल की रक्षा करेंगे, परन्तु स्वजनवर्ग भी समय आने पर आँखें फेर लेते हैं वे तर्ज वदल देते हैं। जब तक धन रहेगा, तब तक स्वजन मीठे-मीठे बोलेंगे, परन्तु जहा धन खत्म हो गया, स्वार्थ की पूर्ति की कोई आशा न रही, वहाँ स्वजनवर्ग तुरन्त छोडकर चले जाएँगे। इसलिए स्वजनवर्ग के प्रति ममत्व—परिग्रह भी इस लोक मे दु खदायक होता है।

इहलोक मे ममत्व किये हुए सासारिक पदार्थ, धन तथा स्वजन आदि का मोह परलोक मे भी दु खकारक होता है। क्योंकि इन पर किये हुए ममत्व से हुए कर्म-वन्धन के फलस्वरूप परलोक मे नाना प्रकार के दु ख भोगने पडते है। उन दु खो को भोगते समय फिर नवीन कर्मबन्धन करना पडता है, पुन दु ख पाना पडता है। इस प्रकार दु ख की परम्परा वढती ही जाती है। उसका अन्त दीर्घकाल तक नही आता। अत शास्त्रकार इस गाथा के चतुर्थ पाद मे कहते है—'इति विज्ज कोऽगारमावसे ?' इस प्रकार के क्षणभगुर उभयलोक-दु खावह परिग्रह के भण्डार गृहवास को दु खावह समझकर कौन जान-बूझकर उसमे फँसेगा ? यह गृहवास नही, गृहपाश है। कहा भी है—

> दारा परिभवकारा बन्धुजनो बन्धन विष विषया।
> कोऽय जनस्य मोहो ? ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥

अर्थात्—दारा (स्त्री) अपमान करने वाली है, बन्धुजन बन्धनरूप है, विषय विषरूप है, तथापि मनुष्य का यह क्या मोह है कि जो शत्रु तुल्य है, उनसे वह मित्रवत् आचरण की आशा रखता हे ?

इस वात को समझने वाला साधक ममत्व को छोडकर सासारिक पदार्थों और स्वजनो के प्रति ममत्व के पाश मे क्यो बँधेगा ?[1]

---

[1] इस गाथा के वदले नागार्जुनीय वाचना मे दूसरी गाथा मिलती है—

> सोऊण तय उवट्ठिय केइ गिही विग्घेण उट्ठिया।
> धम्ममि अणुत्तरे मुणी, त पि जिणिज्ज इमेण पडिए ॥

अर्थात्—"कोई गृहस्थ मुनि को वहाँ आये हुए जानकर यदि विघ्न करने के लिए जाएँ, तो अनुत्तरधर्म मे स्थित मुनि उनको इस रीति से जीत ले।"

अगली गाथा मे शास्त्रकार सासारिक स्वजनो के परिचय तथा वन्दन-पूजन से होने वाले गर्व के त्याग का उपदेश दे रहे है—

मूल

महव परिगोवं जाणिया जावि य वदणपूयणा इह ।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विउमता पयहिज्ज सथव ।।११।।

सस्कृत छाया

महान्त परिगोप ज्ञात्वा याऽपि च वन्दन-पूजनेह ।
सूक्ष्मे शल्ये दुरुद्धरे, विद्वान् परिजह्यात् सस्तवम् ।।११।।

अन्वयार्थ

(महव) सासारिक परिजनो का परिचय—अतिससर्ग महान् (परिगोव) पक—कीचड (जाणिया) जानकर (जावि य) तथा जो (इह) इस लोक मे (वन्दन-पूयणा) वन्दन और पूजन है, उसे भी कर्म के उपशम का फल जानकर (विउमता) विद्वान पुरुप गर्व न करे, क्योकि गर्व (सुहुमे) सूक्ष्म (सल्ले) शूल अथवा कांटा है। (दुरुद्धरे) उसके चुभने के बाद निकलना कठिन है। (सथव) अत परिचय का (पयहिज्ज) परित्याग कर दे।

भावार्थ

सासारिक जनो का साथ—परिचय महान् कीचड है, यह जानकर मुनि उनके साथ परिचय न करे, तथा वन्दन-पूजन भी कर्म के उपशम का फल है, यह जानकर वन्दन-पूजन पाकर गर्व न लाए, क्योकि गर्व सूक्ष्म शल्य है। उसका उद्धार करना (निकालना) कठिन होता है।

व्याख्या

परिजन ससर्ग एव गर्व मुनि के लिए त्याज्य

इस गाथा मे साधक की मे विघ्नरूप दो बातो की ओर सकेत किया गया है—(१) सासारिक जनो का अतिपरिचय तथा (२) वन्दन-पूजन का गर्व।

साधु के लिए सासारिक लोगो का परिचय पकरूप इसलिए बताया गया है कि जैसे कीचड मे फँस जाने पर मनुष्य या हाथी आदि किसी भी प्राणी का निकलना मुश्किल होता है, वैसे ही जो साधक गृहस्थो के अतिपरिचय मे आते हैं, वे 'ससगजा दोषगुणा भवन्ति' इस न्याय के अनुसार वे गुण के बदले दोषो को ही अधिक बटोरते हैं। की कोठरी मे चाहे जितनी सावधानी रखी जाय, फिर भी कालिमा से बचना कठिन है, वैसे ही इस ससर्गरूपी कीचड मे पडने पर उससे बच निकलना कठिन है। इसीलिए -परिचय को कीचड कहा गया है—

'महव परिगोव जाणिया ।' वृत्तिकार ने परिगोव शब्द का अर्थ 'पक' किया है। पक दो प्रकार का होता हे द्रव्यपक और भावपक । द्रव्यपक लग जाने पर तो उसे पानी आदि से धोया भी जा सकता है, परन्तु भावपक —सासारिक प्राणियो के साथ अतिससर्ग, परिचय या आसक्ति के लग जाने पर उसे तप, सयम आदि जल से धोने पर ही उसका रग छूट ा है। अतिससर्ग मुनि के ज्ञान-ध्यान, स्वाध्याय एव भजन मे भग डालने वाला है। एक बार जिस साधक को अतिससर्ग का चस्का लग जाता है, फिर वह उस कीचड मे फँस ही जाता है। और गृहस्थ लोग उसको अनेक प्रकार से प्रलुब्ध करके उसका पतन कर देते है अथवा वह स्वय युवतियो के मोह- जाल मे फँसकर अपना पतन कर लेता है। इसीलिए दीर्घदर्शी महापुरुषो ने कहा—'विउमता पयहिज्ज सथव' विद्वान् साधु को दीर्घदृष्टि से गृहस्थससग से होने वाली हानियो पर विचार कर उसका परित्याग कर देना चाहिए।

साधना मे दूसरा विघ्न है—गर्व। जब किसी साधक की प्रशसा होने लगती है, वाहवाही के कहकहे उसके मन को गुदगुदाने लगते है, राजा, मत्री आदि बडे-बडे लोग उसे वन्दना करते है, वस्त्र-पात्र, आहार आदि से उसका सत्कार करते है, लोगो मे उसकी प्रतिष्ठा होने लगती है, तो वह गर्व से फूल जाता है। अपने आपको वह बहुत महान् समझने लगता है। यह साधना के मार्ग मे बहुत बडा विघ्न है। उसकी साधना, ज्ञान की वृद्धि वही रुक जाती है। फिर वह हर प्रसग पर सत्कार-सम्मान पाने को लालायित रहता है। इसलिए शास्त्रकार कहते है—'सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे।' वन्दनादि से होने वाला गर्व इतना सूक्ष्म शल्य या तीक्ष्ण काँटा है, कि चुभ जाने पर निकलना कठिन है।[1] यही इस गाथा का आशय है।)

मूल

एगे चरे ठाणमासणे सयणे एगे समाहिए सिया।
भिक्खू उवहाणवीरिए, वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो ॥१२॥

---

१ इस गाथा के बदले नागार्जुनीय वाचना के अनुसार यहा निम्न गाथा मिलती है—

पलिमथ मह वियाणिया, जाऽविय वदण-पूयणा इह।
सुहुम सल्ल दुरुद्धर, त पि जिणे एएण पडिए ॥

अर्थात्—स्वाध्याय, ध्यान मे तत्पर, एकान्त नि स्पृह विवेकी पुरुष दूसरे लोगो द्वारा किये जाते हुए वन्दन-पूजन आदि सत्कार को सदनुष्ठान एव सद्गति मे महान् विघ्न जानकर उसे छोड दे। जब वन्दनादि भी विघ्नरूप है तो शब्दादि विषयासक्ति का तो कहना ही क्या ? अत बुद्धिमान् पुरुष आगे कहे जाने वाले उपाय से उस दुरुद्धर सूक्ष्म शल्य को निकाल दे।

स . छ

एकश्चरेत् स्थानमासने, शयन एक समाहित स्यात् ।
भिक्षुरुपधानवीर्य , वाग्गुप्तोऽध्यात्मसवृत ॥१२॥

अन्वयार्थ

(वइगुत्ते) वचन से गुप्त, (अज्झत्तसवुडो) मन से भी सवृत – गुप्त, (उवहाणवीरिए) तपश्चर्या मे शक्ति लगाने वाला साधु स्थान, आसन और शयन मे एकाकी करता हुआ, धर्मध्यान से युक्त होकर अकेला विचरण करे ।

भावार्थ

वचन से गुप्त और मन से सवृत (रक्षित), तपश्चर्या मे पराक्रम प्रकट करने वाला भिक्षाजीवी साधु द्रव्य से अकेला (सहायरहित) और भाव से रागद्वेषरहित एकमात्र आत्मा या आत्मभाव को साथ लेकर एकाकी विचरण करे । तथा कायोत्सर्गादि स्थान, समाधियुक्त आसन तथा विविक्त स्थान मे शयन अकेला ही करे एव धर्मध्यान से युक्त (समाहित) होकर रहे ।

।

योग्य मुनि को एकाकी चर्या से लाभ

इस गाथा मे साधुजीवन की मस्ती और सच्चे आनन्द से लाभ उठाने का सर्वोत्तम उपाय और उसके लिए योग्यता प्राप्त करने की प्रेरणा दी गयी है । पिछली गाथा मे गृहस्थो के ससर्ग से एव उनके द्वारा प्राप्त मान-सम्मान से उत्पन्न गर्व से दूर रहने का उपदेश दिया गया था । ससर्ग और गर्व इन दो साधनाविघ्नो को साधु तभी मिटा सकता है, जब इन विघ्नो के कारणो से दूर रहे । साधना मे इन विघ्नो का सबसे बडा कारण है समूह मे रहना, समूह के साथ विचरण करना, सामूहिक रूप से आसन, शयन एव स्थान का उपयोग करना । क्योकि जब साधक समूह के साथ रहेगा तो उनकी नीति-रीति के अनुसार उसे चलना पडेगा, उसमे गृहस्थो का सम्पर्क भी अधिक होगा और साधु को वे सम्मान, प्रतिष्ठा तथा सत्कार भी देगे, उत्तम मे उत्तम सुख-सुविधाएँ और साधन (जो कि मुनि के लिए कल्पनीय होगे) देगे । उस अवसर पर उक्त मुनि का मन ससर्गजनित दोषो एव सत्कार-सम्मानजनित गर्वादि अनिष्टो से दूर रहना अत्यन्त कठिन है । इसी दृष्टि से उक्त दोनो दोषो से दूर रहने हेतु इस गाथा मे एकाकी विचरण, आसन, स्थान एव शयन का निर्देश किया है—'एगे चरे ठाणमासणे सयणे एगे समाहिए ।' अर्थात् भिक्षाजीवी साधु इन दोनो दोषो से बचने के लिए द्रव्य से एकाकी, दूसरे साधु-श्रावको से

सहायता लेने मे निरपेक्ष, तथा भाव से रागद्वेषादि दोषो से रहित एकमात्र आत्म-भावो या आत्मगुणो मे एकाकी स्थित रहकर विचरण करे। अपना स्थान भी स्त्री-पुरुषो की जमघट से दूर ऐसा चुने, जो एकान्त, विजन, विविक्त और शान्त हो। 'अरतिर्जनससदि' (जनसमूह मे उसे अरति—अरुचि होनी चाहिए) इस सूत्र को लेकर चले। क्योकि अधिकाश साधक सम्मान एव प्रतिष्ठा के भूखे होते हैं, उन्हे भीड-भडक्के मे आनन्द आता है, जनता का जमघट अधिक हो, वही वे अपना आसन जमाते है, वही डेरा डालते है। परन्तु शास्त्रकार इन सब जनससर्गों मे होने वाले दोषो से (पूर्वगाथा मे) सावधान करके उनसे बचने हेतु एकाकी स्थान मे निवास की सलाह देते हैं। जनाकीर्ण स्थान मे रहने से और भी अनेक दोषो के उत्पन्न होने की सम्भावना है। मानलो, साधु एकान्त स्थान मे भी रहा, फिर भी अपना आसन और शयन गृहस्थो के बीच रखेगा, तो उसे अपने कायोत्सर्ग, धर्मध्यान, स्वाध्याय एव साधना मे अनेको विक्षेप पडेंगे, उसे उनके झमेले से अवकाश ही नही मिल पाएगा, उक्त साधु को सासारिक लोग अपने लौकिक स्वार्थ के लिए घेरे रहेगे। इसी प्रकार अनेक साधुओ के साथ निवास, शयन और आसन रखेगा, तो भी उसकी साधना मे कई विघ्न होने की सम्भावना रहेगी। वह निश्चिन्त नही रह सकेगा। जब उन साथी साधुओ से वह सहयोग लेगा तो बदले मे उसे अनेक प्रतिकर्तव्यो का निर्वाह भी करना होगा, उनके सुख-दुःख की चिन्ता भी करनी होगी। फिर भिन्न-भिन्न रुचि वाले साधुओ मे विभिन्न महत्त्वाकाक्षाएँ होती हैं, वे उक्त साधु को भी उधर ही झुकाना चाहेगे, इस प्रकार जिन ससर्गज दोषो से वह बचना चाहता है, बच नही सकेगा। इसलिए साधु को एकाकी विचरण, एकान्त एकाकी स्थान, आसन एव शयन की शास्त्रकार ने सलाह दी। और साथ ही यह भी कहा कि 'एगे समाहिए सिया' वह विचरण, स्थान, शयनासनादि मे एकाकी होकर समाधिस्थ हो, समाधि मे रहे। समाधि और असमाधि के अनेक कारण दशाश्रुतस्कन्ध मे बताए है। सक्षेप मे असमाधि के शास्त्रोक्त २० स्थानो से बिलकुल दूर रहे, तथा श्रुत-विनय-आचार और तप, इन चार प्रकार की समाधि मे स्थित रहे। एकाकी विचरण का उद्देश्य स्वच्छन्द और स्वैराचारी होना नही है। यदि एकलविहारी होकर वह अपने आचरण से शिथिल हो गया, एक सघ या स्थान को छोडकर अपना नया चौका जमा लिया, वहाँ जनता की भीड लगाने लगा तो बिल्ली को निकालकर ऊँट को घुसाने के समान होगा, ससर्गज दोषो से एक जगह बचकर दूसरी जगह उनसे भी बढकर स्वेच्छाचार एव मायाचार तथा नवीन ससर्गजनित दोषो मे वह गाढ़तर पड जाएगा। इसलिए शास्त्रकार का आशय यह है कि एकाकी विचरण, शयन, आसन एव स्थान का सेवन करने वाला साधु धर्मध्यान मे लीन रहे तथा समाधिस्थ रहे, असमाधि के कारणो से सर्वथा दूर रहे। न नया चौका जमाए, न

सं .

एकश्चरेत् स्थानमासने, शयन एक समाहित स्यात् ।
भिक्षुरुपधानवीर्यं , वाग्गुप्तोऽध्यात्मसवृत ॥१२॥

अन्वयार्थ

(वइगुत्ते) वचन से गुप्त, (अज्झत्तसवुडो) मन से भी सवृत—गुप्त, (उवहाणवीरिए) तपश्चर्या मे शक्ति लगाने वाला साधु स्थान, आसन और शयन मे एकाकी करता हुआ, धर्मध्यान से युक्त होकर अकेला विचरण करे ।

भावार्थ

वचन से गुप्त और मन से सवृत (रक्षित), तपश्चर्या मे पराक्रम प्रकट करने वाला भिक्षाजीवी साधु द्रव्य से अकेला (सहायरहित) और भाव से रागद्वेपरहित एकमात्र आत्मा या आत्मभाव को साथ लेकर एकाकी विचरण करे । तथा कायोत्सर्गादि स्थान, समाधियुक्त आसन तथा विविक्त स्थान मे शयन अकेला ही करे एव धर्मध्यान से युक्त (समाहित) होकर रहे ।

योग्य मुनि को एकाकी चर्या से लाभ

इस गाथा मे साधुजीवन की मस्ती और सच्चे आनन्द से लाभ उठाने का सर्वोत्तम उपाय और उसके लिए योग्यता प्राप्त करने की प्रेरणा दी गयी है । पिछली गाथा मे गृहस्थो के ससर्ग मे एव उनके द्वारा प्राप्त मान-सम्मान से उत्पन्न गर्व से दूर रहने का उपदेश दिया गया था । ससर्ग और गर्व इन दो साधनाविघ्नो को साधु तभी मिटा सकता है, जब इन विघ्नो के कारणो से दूर रहे । साधना से इन विघ्नो का सबसे बडा कारण है समूह मे रहना, समूह के साथ विचरण करना, सामूहिक रूप से आसन, शयन एव स्थान का उपयोग करना । क्योकि जब साधक समूह के साथ रहेगा तो उनकी नीति-रीति के अनुसार उसे चलना पडेगा, उसमे गृहस्थों का सम्पर्क भी अधिक होगा और साधु को वे सम्मान, प्रतिष्ठा तथा सत्कार भी देगे, उत्तम से उत्तम सुख-सुविधाएँ और साधन (जो कि मुनि के लिए कल्पनीय होंगे) देगे । उस अवसर पर उक्त मुनि का मन ससर्गजनित दोपो एव सत्कार-सम्मानजनित गर्वादि अनिष्टो से दूर रहना अत्यन्त कठिन है । इसी दृष्टि से उक्त दोनो दोपो से दूर रहने हेतु इस गाथा मे एकाकी विचरण, आसन, स्थान एव शयन का निर्देश किया है—'एगे चरे ठाणमासणे सयणे एगे समाहिए ।' अर्थात् निरासीन साधु इन दोनो दोपो से बचने के लिए द्रव्य से एकाकी, दूसरे साधु-श्रावको से

सहायता लेने मे निरपेक्ष, तथा भाव से रागद्वेषादि दोषो से रहित एकमात्र आत्म-भावो या आत्मगुणो मे एकाकी स्थित रहकर विचरण करे। अपना स्थान भी स्त्री-पुरुषो की जमघट मे दूर ऐसा चुने, जो एकान्त, विजन, विविक्त और शान्त हो। 'अरतिर्जनससदि' (जनसमूह मे उसे अरति—अरुचि होनी चाहिए) इस सूत्र को लेकर चले। क्योकि अधिकाश साधक सम्मान एव प्रतिष्ठा के भूखे होते है, उन्हे भीड-भडक्के मे आनन्द आता है, जनता का जमघट अधिक हो, वही वे अपना आसन जमाते हैं, वही डेरा डालते है। परन्तु शास्त्रकार इन सब जनससर्गों मे होने वाले दोषो से (पूर्वगाथा मे) सावधान करके उनसे बचने हेतु एकाकी स्थान मे निवास की सलाह देते है। जनाकीर्ण स्थान मे रहने से और भी अनेक दोषो के उत्पन्न होने की सम्भावना है। मानलो साधु एकान्त स्थान मे भी रहा, फिर भी अपना आसन और शयन गृहस्थो के बीच रखेगा, तो उसे अपने कायोत्सर्ग, धर्मध्यान, स्वाध्याय एव साधना मे अनेको विक्षेप पड़ेंगे, उसे उनके झमेले से अवकाश ही नही मिल पाएगा, उक्त साधु को सासारिक लोग अपने लौकिक स्वार्थ के लिए घेरे रहेगे। इसी प्रकार अनेक साधुओ के साथ निवास, शयन और आसन रखेगा, तो भी उसकी साधना मे कई विघ्न होने की सम्भावना रहेगी। वह निश्चिन्त नही रह सकेगा। जब उन साथी साधुओ से वह सहयोग लेगा तो बदले मे उसे अनेक प्रतिकर्त्तव्यो का निर्वाह भी करना होगा, उनके सुख-दु ख की चिन्ता भी करनी होगी। फिर भिन्न-भिन्न रुचि वाले साधुओ मे विभिन्न महत्त्वाकाक्षाऐं होती है, वे उक्त साधु को भी उधर ही झुकाना चाहेगे, इस प्रकार जिन ससर्गज दोषो से वह बचना चाहता है, बच नही सकेगा। इसलिए साधु को एकाकी विचरण, एकान्त एकाकी स्थान, आसन एव शयन की शास्त्रकार ने सलाह दी। और साथ ही यह भी कहा कि 'एगे समाहिए सिया' वह विचरण, स्थान, शयनासनादि मे एकाकी होकर समाधिस्थ हो, समाधि मे रहे। समाधि और असमाधि के अनेक कारण दशाश्रुतस्कन्ध मे बताए हैं। सक्षेप मे असमाधि के शास्त्रोक्त २० स्थानो से बिलकुल दूर रहे, तथा श्रुत-विनय-आचार और तप, इन चार प्रकार की समाधि मे स्थित रहे। एकाकी विचरण का उद्देश्य स्वच्छन्द और स्वैराचारी होना नही है। यदि एकलविहारी होकर वह अपने आचरण से शिथिल हो गया, एक सघ या स्थान को छोडकर अपना नया चौका जमा लिया, वहाँ जनता की भीड लगाने लगा तो बिल्ली को निकालकर ऊँट को घुसाने के समान होगा, ससर्गज दोषो से एक जगह बचकर दूसरी जगह उनमे भी बढकर स्वेच्छाचार एव मायाचार तथा नवीन ससर्गजनित दोषो मे वह साधक पड जाएगा। इसलिए शास्त्रकार का आशय यह है कि एकाकी विचरण, शयन, आसन एव स्थान का सेवन करने वाला साधु धर्मध्यान मे लीन रहे तथा समाधिस्थ रहे, असमाधि के कारणो से सर्वथा दूर रहे। न नया चौका जमाए, न

लोकसम्पर्क करे और न ही राग-द्वेषादि दोषो को उत्पन्न करने वाले अनुष्ठान करे। साथ ही एकाकी विचरण आदि के साथ शास्त्रकार ने कई शर्ते भी रखी हैं— 'भिक्खू उवहाणवीरिए वइगुत्ते अज्झत्तसवुडो।' वह एकाकी विचरण आदि का प्रयोग करने वाला साधु अपनी भिक्षाचर्या न छोडे, भिक्षा अवश्य करे, किन्तु दूसरो से सेवा या सहायता न ले। उपधानवीर्य हो—यानी तपश्चर्या मे अपनी भरसक शक्ति लगाए। वह आहारपानी का गुलाम या शरीर या इन्द्रियो का गुलाम न रहे, यथालाभ सन्तोष की वृत्ति रखे, अधिकाश समय तपश्चर्या मे व्यतीत करे। तथा वचनगुप्ति से रहे अर्थात सम्भव हो तो मौन रखे। अधिक भाषण-सम्भाषण करने से फिर वही ससर्गजनित दोष आ धमकेंगे। भिक्षा आदि के समय बोलने की आवश्यकता हो तो बहुत नपा-तुला सयमयुक्त भाषा मे बोले। तथा चौथी शर्त है— वह अध्यात्मसवृत हो। अर्थात् अपनी आत्मा मे ही लीन रहे, आत्मबहिर्भूत विषयो, कषायो, मोहमाया, रागद्वेष आदि विकारो से दूर रहकर आत्मस्वभाव मे या आत्मगुणो मे अपने को ओतप्रोत कर दे, अथवा अध्यात्मसवृत का अर्थ यह भी है कि मन को बहिर्मुखी होने से रोककर आस्रवो से रोककर सवर मे लगाए, मन को गुप्त रखे। एकाकी चर्या के साथ इतनी कडी शर्ते पालन करने की हिदायत शास्त्रकार ने दी है, उसे अवश्य ध्यान मे रखे।[1]

मूल

णो पीहे ण याव पगुणे, दार सुन्नघरस्स सजए।
पुट्ठे ण उदाहरे वय, ण समुच्छे, णो सथरे तण ॥१३॥

स त छाया

नो पिदध्यान्न यावत् प्रगुणयेद् द्वार शून्यगृहस्य सयत।
पृष्टो नोदाहरेद् वाच, न सम्मूर्च्छेन् (समुच्छिन्द्यात्) नो सस्तरेत्तृणम् ॥१३॥

अन्वयार्थ

(सजए) साधु (सुन्नघरस्स) सूने घर का (दार) द्वार (णो पीहे) बन्द न करे, (ण याव पगुणे) और न ही बार बार हिलाए या खोले। (पुट्ठे) किसी के द्वारा कुछ पूछे जाने पर (ण उदाहरे) बोले नही। (ण समुच्छे) अपने शरीर, इन्द्रिय, या मकान आदि मे मूर्च्छित न हो, अथवा बहुत दिनो से सूना पडे होने से उसमे अनेक जीवो की उत्पत्ति होने से विराधना की सम्भावना के कारण उसका कूडा-कर्कट झाड-बुहार कर निकाले नही, प्रमार्जन न करे। (णो सथरे तण) उस मकान मे तृण आदि का सस्तारक (बिछौना) भी न बिछाए।

---

१ बारहवी और तेरहवी गाथा जिनकल्पित आचार से सम्बन्धित प्रतीत होती है। सूत्रकृतांग के वृत्तिकार श्रीशीलाकाचार्य का भी यही अभिमत है। —सम्पादक

भावार्थ

अहिंसामहाव्रती साधु शून्यगृह का द्वार न तो बन्द करे और न ही खोले। किसी के पूछने पर कुछ भी न बोले, तथा उस सूने घर का कूडा-कर्कट भी न निकाले और न तृण भी बिछाए।

व्याख्या

शून्यगृह मे निवास की साधुमर्यादा

पूर्वोक्त गाथा मे एकाकी विचरण तथा एकाकी स्थान, शयन एव आसन की समाधिवान् साधक लिए प्रेरणा थी, किन्तु इन सबके साथ जो कडी शर्ते रखी गयी थी, उनके सहित इस उपदेश के अनुसार आचरण करने पर एकान्त स्थान मे एकाकी निवास, आसन, शयन आदि की क्या मर्यादा होगी ? इसी के सम्बन्ध मे शास्त्रकार इस गाथा मे कहते हैं—'णो पीहे णो सथरे तण।'

आशय यह है कि कदाचित् साधु एकान्त एकाकी स्थान, आसन या शयन आदि की दृष्टि से किसी सूने (जिस मकान मे कोई भी व्यक्ति न रहता हो, कोई पशु आदि वहाँ न रहते हो, ऐसे जनशून्य) मकान मे उसके मालिक या अधिकारी अथवा शक्रेन्द्र की अनुमति (आज्ञा) लेकर रहना चाहे, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि की दृष्टि से आसन या शयन जमाना चाहे तो वह निम्नोक्त मर्यादाओ का अहिंसा की दृष्टि से पालन करे। कदाचित् सर्दी या वर्षा के कारण उसे उक्त सूने मकान का दरवाजा (खिडकी या कपाट) बन्द करने की इच्छा हो तो उसे रोके, यानी दरवाजा बन्द न करे, अगर दरवाजा बन्द हो और गर्मी आदि के कारण साधु उसे खोलना चाहे तो न खोले, न उसे हिलाए या बार-बार धक्का दे। द्वार खोलने और बन्द करने का निषेध इसलिए किया गया है कि वर्षों या काफी अर्से से जो मकान सूना पडा रहता है, उसमे जाले जम जाते है, मकडी आदि कई जीव आकर वहाँ बसेरा कर लेते हैं, चिडिया, कबूतर आदि अपना घोसला बना लेते हैं, अन्य कई कीडे, सर्प, बिच्छू आदि जन्तु भी वहाँ अपना डेरा जमा लेते है। ऐसी स्थिति मे साधु यदि उस जीवो से आकीर्ण मकान के द्वार को बन्द करने खोलने या हिलाने जाएगा, तो वहाँ बैठे हुए बहुत-से जीवो की विराधना (हिंसा) होने की सम्भावना है। कदाचित् किसी जहरीले जीव को आघात पहुँचे तो वह उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उस साधु पर आक्रमण कर बैठे या उसे काट खाए तो अपने जीवन की तथा सयमी जीवन की विराधना होनी सम्भव है। इस दृष्टि से साधु उक्त परीषह (सर्दी-गर्मी-वर्षा आदि) को सहन कर ले किन्तु अहिंसाधर्म के पालन की दृष्टि से द्वार न बन्द करे, न खोले। सूने घर मे साधु को कायोत्सर्ग मे खडे या बैठे देखकर बहुत-से लोग सन्देहवश उसे चोर, डाकू, लुटेरा, गुण्डा या व्यभिचारी समझ

वैठते है और उससे ऊटपटाँग प्रश्न पूछने लगते है, उस समय साधु क्या कहे, क्या न कहे ? इम सम्बन्ध मे तो शास्त्रकार ने तो स्पष्ट कहा हे—'पुट्ठे ण उदाहरे वय।' अर्थात् किमी के द्वारा कुछ पूछे जाने पर वोले नही। किन्तु विलकुल न वोलने पर कदाचित् लोग कुपित होकर उसे मारें, पीटें, सताएँ, उस समय समभाव से सहन करने की शक्ति न हो तो क्या करे ? इसी वात को दृष्टिगत रखकर वृत्तिकार जिनकल्पिक माधु के लिए तो विलकुल न बोलने को उचित कहते है, किन्तु स्थविरकल्पिक माधु के लिए वे कहते है—'तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद् धर्मादिक मार्ग वा पृष्ट सन् सावद्या वाच नोदाहरेन्न ब्रयात्'—अर्थात् वहाँ या अन्यत्र स्थित माधु से यदि कोई व्यक्ति धर्म आदि के विपय मे पूछे या परिचय अथवा मार्ग पूछे तो सावद्य (पापयुक्त) वचन न वोले। 'आभिग्रहिको जिनकल्पिकादिर्नि मपि न ब्रूयात्।'—किन्तु अभिग्रहधारी या जिनकल्पिक आदि साधु हो तो वह निरवद्य वचन भी न वोले, अर्थात् विलकुल न वोले।

उस सूने मकान मे कूडा कर्कट या मलवा पडा हो, घास का ढेर पडा हो या और कई चीजे अस्त-व्यस्त पडी हो तो क्या साधु को उम मकान की सफाई करनी चाहिए ? क्या रजोहरण से उसका प्रमार्जन करना चाहिए या अस्त-व्यस्त पडी हुई चीजो को उठाकर एक जगह तरतीव से जमा देना चाहिए या क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं—'ण समुच्छे, णो सथरे तण।' अर्थात्—साधु उस सूने मकान को न तो (रजोहरण आदि से) झाडे-बुहारे और न किन्ही अस्त-व्यस्त पडी चीजो को उठाकर एकत्रित करे, न ही वहाँ तृण आदि का सथारा (विछौना) विछाए। इस निपेध का कारण यह है कि साधु यदि वहाँ सफाई करने लगेगा तो वर्षों से वसेरा किये हुए जीवो का सफाया होने की सम्भावना हैं, अस्त-व्यस्त पडी हुई चीजो मे या घास आदि मे भी बहुत-से जीव-जन्तुओ के होने की सम्भावना है, इसलिए अहिंमाधर्मी साधु न सफाई करे, न घास का सस्तारक विछाए। घास के सस्तारक विछाने का निषेध किया गया है, तो क्या कवल या अन्य आसन वहाँ विछा लेने मे क्या आपत्ति है ? जिनकल्पिक साधु निर्वस्त्र रहते है, इसलिए वे काष्ठपट्ट या घास आदि के सिवाय और किसी चीज का सस्तारक नही कर सकते। शास्त्रकार यहाँ जिनकल्पिक दृष्टि से ही तृणसस्तारक विछाने का निषेध करते है। इसलिए इस गाथा का यदि स्थविरकल्पिकपरक अर्थ करते है तो यही हो मकता ह कि घास ही क्या, किसी भी चीज का विछौना (शयनासन) साधु वहाँ नही करे। वृत्तिकार कहते है—'कोई आभिग्रहिक साधु अपने शयन के निमित्त तृणशय्या भी न विछाए, फिर कम्वल आदि की शय्या की तो वात ही क्या है ?'[1]

---

१ 'नाऽपि शयनार्थी कश्चिदाभिग्रहिक तृणादिक सस्तरेत्, तृणैरपि सस्तारक न कुर्यात् किं पुन कम्वलादिना ?' —शीलाकाचार्यकृत वृत्ति

मूल पाठ

जत्थऽत्थमिए अणाउले समविसमाइ मुणीऽहियासए ।
चरगा अदुवावि भेरवा, अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया ॥१४॥

संस्कृत छाया

यत्राऽस्तमित अनाकुल समविपमाणि मुनिरधिसहेत ।
चरका अथवाऽपि भैरवा , अथवा तत्र सरीसृपा स्यु ॥१४॥

अन्वयार्थ

(मुणी) धर्माचरणपरायण साधु (जत्थ) जहाँ (अत्थमिए) सूर्य अस्त हो, वही (अणाउले) अनाकुल— क्षोमरहित होकर रह जाए । तथा (समविसमाइ) अनुकूल या प्रतिकूल आसन, शयन, स्थान आदि का परीपह (अहियासए) सहन करे । (चरगा) यदि वहाँ मच्छर, डास आदि हो, (अदुवावि भेरवा) अथवा भयकर उपद्रवी प्राणी हो तो भी (अदुवा) अथवा (तत्थ) वहाँ (सरीसिवा सिया) साँप आदि जन्तु हो तो भी वह वही रहे ।

भावार्थ

मुनिधर्मपालक साधु जहाँ सूर्य अस्त हो जाय, वही व्याकुल हुए बिना रह जाए । वहाँ जो भी अनुकूल या प्रतिकूल स्थान, शयन, आसन आदि का परीपह उपस्थित हो, उसे समभावपूर्वक सहन करे । यदि वहाँ उडने वाले मच्छर आदि जन्तु हो या भयकर उपद्रवी प्राणी हो, अथवा वहाँ साँप आदि विषैले जीव हो तो भी (एक रातभर के लिए तो) वही रहे ।

व्याख्या

जहाँ सूर्य अस्त, वहीं साधु का निवास

साधु विहरणशील होता है । वह बिना किसी शरीरादि कारण के एक जगह जमकर नही रह सकता । विहार करते-करते रास्ते मे जहाँ भी सूर्य अस्त हो जाय, वही ठहर जाना चाहिए । प्रश्न हो सकता है, ऐसा नियम क्यो ? सूर्यास्त हो जाने के बाद भी जहाँ तक कोई बस्ती या गाँव न आ जाए, वहाँ तक चले तो क्या आपत्ति है ? जैनागम इसका यह समाधान देते है कि अगर साधु रात्रि को चलेगा तो अँधेरे मे साँप, बिच्छू या जगली जानवर नही दिखाई देंगे, अन्य छोटे-छोटे कीडे आदि दृष्टिगोचर नही होगे, ऐसी स्थिति मे वे जीव उसके पैरो के नीचे कुचले जाने सम्भव है, उनका स्पर्श होते ही साप आदि उसे काट भी सकते है, सिंह, चीते, व्याघ्र, भेडिये आदि हिंस्र जीव उस पर आक्रमण भी कर सकते है, चोर आदि भी

उन पर हमला कर सकते है। अथवा चोर, डाकू आदि होने के मन्देह मे कोई राजकर्मचारी उसे गिरफ्तार करके हैरान भी कर सकते हैं। इस प्रकार रात के अँधेरे मे चलते रहने से अन्य जीवो की विराधना के साथ-साथ आत्मविराधना भी हो सकती है। इसी अहिंसादृष्टि के कारण रात्रिविहार साधु के लिए निषिद्ध किया गया है।

दूसरा प्रश्न होता है—सूर्य अस्त होते होते साधु ऐसी जगह पहुँच गया, जो बडी ऊबड-खाबड है, भयावना जगल चारो ओर है, अथवा वहाँ मच्छरो आदि का है या वहाँ अच्छी तरह देखभाल करने भी रात्रि मे चीटे या अन्य जन्तु निकल आएँ, ऐसी स्थिति मे साधु क्या करे ? कहाँ जाए ? या साधु को जगल मे देखकर सरकारी आदमी तग करें, अथवा कोई जगली जानवर आकर उपद्रव करे, या कोई उस स्थान का निवासी व्यन्तरदेव आकर साधु को हैरान करे, तो वह रात्रि मे अन्यत्र जाए या नही ? शास्त्रकार इमका मुनिधर्ममर्यादा की दृष्टि से समाधान करते हुए कहते हैं—"जत्थ अत्थमिए अणाउले तत्थ सरीसिवा सिया।" आशय यह है कि चाहे यहाँ स्थान ऊबड-खाबड हो, अनुकूल या प्रतिकूल सर्दी, गर्मी, वर्षा, आँधी तथा अन्य परीषह उपस्थित हो, वहाँ मच्छर आदि भी बहुत हो, अथवा विकराल हिंस्र जन्तुओ का उपद्रव हो, या साँप, बिच्छू आदि जहरीले जन्तु भी निकल आएँ, सूर्य अस्त होने के बाद किसी भी हालत मे साधु अन्यत्र न जाए, उन जीवो पर राग-द्वेष किये बिना समभावपूर्वक सहन करे। समभावपूर्वक परीषह सहन करने से कर्मों की निर्जरा ही होगी। यदि मन मे विषमता या व्याकुलता लाकर हायतोबा मचाई या कष्ट सहने मे कायर बनकर उन जीवो के प्रति द्वेष किया या रात मे वहाँ से अन्यत्र चले गये तो कर्मबन्धन होगा, हिंसा का दोष भी होगा तथा कर्मनिर्जरा के अवसर से वह वचित हो जाएगा। हाँ, वह दिन रहते किसी अन्य स्थान का चुनाव कर सकता है, किन्तु रात हो जाने के बाद तो वही रहकर अनाकुलतापूर्वक रात बितानी चाहिए।

मूल पाठ

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽहियासिया।
लोमादीय ण हारिसे, सुन्नागारगओ महामुणी ॥१५॥

सस्कृत ।

तैरश्चान् मानुषाश्च दिव्यगान् उपसर्गान् त्रिविधानधिसहेत।
रोमादिकमपि न हर्षयेत्, शून्यागारगतो महामुनि ॥१५॥

अन्वयार्थ

(सुन्नागारगओ) शून्यगृह मे स्थित (पहुँचा हुआ), (महामुणी) महामुनि (तिरिया) तिर्यञ्च सम्बन्धी, (मणुया) मनुष्य-सम्बन्धी, (दिव्वगा य) और देवकृत (तिविहा उवसग्गा) इन तीनो प्रकार के उपसर्गों को (अहियासिया) सहन करे। (लोमादीय ण हारिसे) भय से रोमाच (लोमहर्षण) आदि भी न करे।

भावार्थ

किसी शून्यगृह मे कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि करने के लिए पहुँचा हुआ धीर महामुनि,[1] वहाँ तिर्यचकृत, मनुष्यकृत या देवकृत कोई भी प्रतिकूल या अनुकूल उपसर्ग आएँ उन्हे समभाव से सहन करे, यहाँ तक कि उन उपसर्गो के समय शरीर के रोम आदि मे भी कम्पन न होने दे।

व्य

शून्यागारस्थ मुनि त्रिविध उपसर्ग सहन करे

एकान्त एकाकी शयन, आसन, स्थान आदि की दृष्टि से स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सग आदि के निमित्त यदि साधु किसी सूने घर मे पहुँच जाता है, वहाँ रात्रि मे उस पर किसी तिर्यंच (शेर, चीते, भालू, भेडिये आदि, या सर्पादि) का उपसर्ग (उपद्रव) हो, किसी खूँख्वार, चोर, भील, लुटेरे, व्यभिचारी आदि मनुष्य का अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग हो, अथवा कोई व्यन्तर आदि देव-देवी उपसर्ग करे तो महामुनि को क्या करना चाहिए ? क्या उन प्राणियो पर रोप, द्वेष, प्रहार, उच्चाटन आदि क्रिया करनी चाहिए या जोर-जोर से चिल्लाकर या लोगो को आवाज देकर उनसे सहायता के लिए कहना चाहिए ? शास्त्रकार कहते है—'तिरिया ... अहियासिया, लोमादीय ण हारिसे।' आशय यह है—उपसर्ग चाहे तिर्यञ्च, मनुष्य या देव द्वारा कृत हो, उन पर किसी प्रकार का रोष, द्वेप, प्रहार, उच्चाटनादि किये बिना समभावपूर्वक सहना चाहिए। दूसरा को सहायता के लिए बुलाना तो दूर रहा, शरीर के किसी रोम मे भी भय का सचार नही होना चाहिए, न कोई अगविकार होना चाहिए।

मूल पाठ

णो अभिकखेज्ज जीविय नोऽवि य पूयणपत्थए सिया।
अब्भत्थमुविंति भेरवा सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥१६॥

---

१ 'महामुणी' से यहाँ जिनकल्पिक मुनि अर्थ सूचित होता है जो वज्रऋषभ-नाराच सहनन से युक्त होते है।

उन पर हमला कर सकते है। अथवा चोर, डाकू आदि होने के मन्देह मे कोई राजकर्मचारी उसे गिरफ्तार करके हैरान भी कर सकते है। इस प्रकार रात के अँधेरे मे चलते रहने से अन्य जीवो की विराधना के साथ-माथ आत्मविराधना भी हो मकती हे। इसी अहिंमादृष्टि के कारण रात्रिविहार साधु के लिए निपिद्ध किया गया है।

दूसरा प्रश्न होता है—मूर्य अस्त होते होते साधु ऐमी जगह पहुँच गया, जो वडी ऊवड-खावड है, भयानना जगल चारो ओर है, अथवा वहाँ मच्छरो आदि का उपद्रव ह या वहाँ अच्छी तरह देखभाल करने भी रात्रि मे चीटे या अन्य जन्तु निकल आएँ, ऐसी स्थिति मे साधु क्या करे ? कहाँ जाए ? या साधु को जगल मे देखकर सरकारी आदमी तग करें, अथवा कोई जगली जानवर आकर उपद्रव करे, या कोई उस स्थान का निवासी व्यन्तरदेव आकर साधु को हैरान करे, तो वह रात्रि मे अन्यत्र जाए या नही ? शास्त्रकार इमका मुनिधर्ममर्यादा की दृष्टि से समाधान करते हुए कहते हैं—"जत्थ अत्थमिए अणाउले तत्थ सरीसिवा सिया।" आशय यह है कि चाहे वहाँ स्थान ऊवड-खावड हो, अनुकूल या प्रतिकूल सर्दी, गर्मी, वर्षा, आँधी तथा अन्य परीपह उपस्थित हो, वहाँ मच्छर आदि भी वहुत हो, अथवा विकराल हिंस्र जन्तुओ का उपद्रव हो, या साँप, बिच्छू आदि जहरीले जन्तु भी निकल आएँ, सूर्य अस्त होने के वाद किमी भी हालत मे माधु अन्यत्र न जाए, उन जीवो पर राग-द्वेप किये विना समभावपूर्वक सहन करे। समभावपूर्वक परीपह सहन करने से कर्मों की निर्जरा ही होगी। यदि मन मे विपमता या व्याकुलता लाकर हायतोवा मचाई या कष्ट सहने मे कायर वनकर उन जीवो के प्रति द्वेप किया या रात मे वहां से अन्यत्र चले गये तो कर्मवन्धन होगा, हिंसा का दोप भी होगा तथा कर्मनिर्जरा के अवमर से वह वचित हो जाएगा। हाँ, वह दिन रहते किसी अन्य स्थान का चुनाव कर सकता है, किन्तु रात हो जाने के वाद तो वही रहकर अनाकुलतापूर्वक रात वितानी चाहिए।

मूल पाठ

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽहियासिया।
लोमादीय ण हारिसे, सुन्नागारगओ महामुणी ॥१५॥

संस्कृत

तैरश्चान् मानुषाश्च दिव्यगान् उपसर्गान् त्रिविधानधिसहेत।
रोमादिकमपि न हर्षयेत्, शून्यागारगतो महामुनि ॥१५॥

अन्वयार्थ

(सुन्नागारगओ) शून्यगृह मे स्थित (पहुँचा हुआ), (महामुणी) महामुनि (तिरिया) तिर्यञ्च सम्बन्धी, (मणुया) मनुष्य-सम्बन्धी, (दिव्वगा य) और देवकृत (तिविहा उवसग्गा) इन तीनो प्रकार के उपसर्गो को (अहियासिया) सहन करे। (लोमादीय ण हारिसे) भय से रोमाच (लोमहर्षण) आदि भी न करे।

भावार्थ

किसी शून्यगृह मे कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि करने के लिए पहुँचा हुआ धीर महामुनि,[1] वहाँ तिर्यंचकृत, मनुष्यकृत या देवकृत कोई भी प्रतिकूल या अनुकूल उपसर्ग आएँ उन्हे समभाव से सहन करे, यहाँ तक कि उन उपसर्गो के समय शरीर के रोम आदि मे भी कम्पन न होने दे।

व्य

शून्याग मुनि त्रिविध उपसर्ग सहन करे

एकान्त एकाकी शयन, आसन, स्थान आदि की दृष्टि से स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सग आदि के निमित्त यदि साधु किसी सूने घर मे पहुँच जाता है, वहाँ रात्रि मे उस पर किसी तिर्यंच (शेर, चीते, भालू, भेडिये आदि, या सर्पादि) का उपसर्ग (उपद्रव) हो, किसी खूँखार, चोर, भील, लुटेरे, व्यभिचारी आदि मनुष्य का अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग हो, अथवा कोई व्यन्तर आदि देव-देवी उपसर्ग करे तो महामुनि को क्या करना चाहिए ? क्या उन प्राणियो पर रोप, द्वेप, प्रहार, उच्चाटन आदि क्रिया करनी चाहिए या जोर-जोर से चिल्लाकर या लोगो को आवाज देकर उनसे सहायता के लिए कहना चाहिए ? शास्त्रकार कहते है— 'तिरिया अहियासिया, लोमादीय ण हारिसे।' आशय यह है—उपसर्ग चाहे तिर्यञ्च, मनुष्य या देव द्वारा कृत हो, उन पर किसी प्रकार का रोप, द्वेप, प्रहार, उच्चाटनादि किये बिना समभावपूर्वक सहना चाहिए। दूसरो को सहायता के लिए बुलाना तो दूर रहा, शरीर के किसी रोम मे भी भय का सचार नही होना चाहिए, न कोई अगविकार होना चाहिए।

मूल पाठ

णो अभिकखेज्ज जीविय नोऽवि य पूयणपत्थए सिया।
अब्भत्थमुविंति भेरवा सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥१६॥

---

१ 'महामुणी' से यहाँ जिनकल्पिक मुनि अर्थ सूचित होता है जो वज्रऋपभ-नाराच सहनन से युक्त होते है।

संस्कृत छाया

नाभिकाक्षेत जीवित, नाऽपि च पूजनप्रार्थक स्यात् ।
अभ्यस्ता उपयन्ति भैरवा शून्यागारगतस्य भिक्षो ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**जीविय**) जीवन की (**णो अभिकखेज्ज**) आकाक्षा न करे, (**नोऽवि य**) और न ही (**पूयणपत्थए**) पूजा-सत्कार का प्रार्थी—अभिलापी (**सिया**) बने । (**सुन्नागारगयस्स**) शून्यगृह मे गये (रहे) हुए (**भिक्खुणो**) साधु को (**भेरवा**) भयकर प्राणियो के उपसर्ग—उपद्रव (**अब्भत्थ**) अभ्यस्त—परिचित (**उविति**) हो जाते है ।

भावार्थ

पूर्वोक्त उपसर्गो से पीडित होने पर साधु (जिनकल्पिक महामुनि) जीवन की आकाक्षा न करे और न ही पूजा-सत्कार (मान-वडाई) का अभिलाषी (प्रार्थी) हो । इस प्रकार पूजा-प्रतिष्ठा और जीविताकाक्षा से निरपेक्ष होकर शून्यगृह मे जो साधु रहता है, उसे भयानक प्राणियो के द्वारा कृत उपसर्गो को सहने का अभ्यास हो जाता है ।

व्याख्या

जीवन और पूजा-प्रतिष्ठा की आकाक्षा से दूर ही अभ्यस्त

पूर्वगाथा मे शून्यगृह मे उपस्थित जिनकल्पिक महामुनि द्वारा त्रिविध उपसर्गो को रोमहर्षण आदि विकारो से रहित होकर समभाव से सहन करने का निर्देश है । इस गाथा मे उसी के सन्दर्भ मे कहा गया है कि ऐसे त्रिविध भयकर उपसर्गों को सहने मे अभ्यस्त कैसे और कौन हो सकता है ? इसके लिए दो कडी शर्तें रखी गयी हैं—पहली शर्त यह है कि वह जीवन की विल्कुल परवाह न करे, और दूसरी शर्त है—पूजा-प्रतिष्ठा—मान-सम्मान की कामना न करे । इन दोनो कठोर शर्तो का पूर्णत पालन करना सामान्य साधु के वश की वात नही है । वह तो उपसर्गों के कल्पित भय से ही घवराकर विचलित हो सकता है । इसलिए इन गाथाओ मे जो बाते कही गयी है, वे जिनकल्पी मुनि से सम्वन्धित है । अत जिनकल्पिक मुनि जब इन दोनो कठोर शर्तों मे उत्तीर्ण हो जाएगा, तब यदि वह शून्यगृह, उपलक्षण से श्मशान आदि भयानक स्थानो मे कायोत्सर्ग आदि के निमित्त जाकर निवास करेगा तो वह बिलकुल घबराएगा नही, वह उन भयानक उपसर्गो से अभ्यस्त हो जाएगा । इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**अब्भत्थमुविति भेरवा सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ।**' आशय यह है कि पूर्वोक्त दो कडी शर्तो का पालन करने वाला महामुनि जब वार-वार शून्यगृह, श्मशान आदि एकान्त स्थलो मे जाकर

कायोत्सर्ग के निमित्त रहेगा, तब उसे उपसर्गकर्त्ता भूत, पिशाच आदि भयंकर देव, विकराल सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि तिर्यंच या भयंकर क्रूर मनुष्य भी परम आत्मीय मित्रवत् प्रतीत होने लगेंगे तथा शीत-उष्ण आदि उपद्रव भी सुखपूर्वक सह्य हो जाएँगे। इसमें अभ्यास और विशिष्ट वैराग्यमय चिन्तन इन दो का ही प्रभाव है।

मूल पाठ

उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासण।
सामाइयमाहु तस्स ज, जो अप्पाण भए ण दसए ॥१७॥

संस्कृत छाया

उपनीततरस्य त्रायिण, भजमानस्य विविक्तमासनम्।
सामायिकमाहुस्तस्य यद् य आत्मान भये न दर्शयेत् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(उवणीयतरस्स) जिसने अपने आत्मा को ज्ञान आदि के समीप पहुँचा दिया है, (ताइणो) तथा जो स्व-पर का उपकार करता है अथवा षड्जीवनिकाय की रक्षा करता है, (विविक्कमासण) स्त्री-पशु-नपुसक से रहित एकान्त शान्त स्थान का जो (भयमाणस्स) सेवन करता है, (तस्स) उस मुनि का (ज सामाइयमाहु) सर्वज्ञो ने जो सामायिकचारित्र कहा है, वह इसलिए कि (जो अप्पाण) वह अपने (आत्मा) मे (भए ण दसए) भय प्रदर्शित नही करता चाहिए।

भावार्थ

जिसने अपनी आत्मा को ज्ञान आदि मे अतिशयरूप से स्थापित किया है, तथा जो स्वपर का उपकारी या प्राणिमात्र का रक्षक है, और जो स्त्री-पशु-नपुसक से रहित स्थान का सेवन करता है, ऐसे मुनि का सर्वज्ञो ने जो सामायिक चारित्र कहा है, वह इसलिए कि मुनि उपसर्गों के समय अपनी आत्मा को भय मे स्थापित न करे।

व्याख्या

विविक्तासनी निर्भय ही सामायिकचारित्री है

जो मुनि जनससर्ग से दूर रहकर अपनी साधना करना चाहता है, उसे अपना निवासस्थान एकान्त और स्त्री-पशु-नपुसक से वर्जित शान्त चुनना पडता है। परन्तु ऐसे स्थान मे अनेक प्रकार के भयस्थल (खतरे) होते है, उन खतरो का ...ी साधक मुकाबला कर सकता है, जो अपनी आत्मा मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र को ...रूप से रमा लेता है, तथा जो प्राणिमात्र का रक्षक एव उपकारी है।

सस्कृत छाया

नाभिकाक्षेत जीवित, नाऽपि च पूजनप्रार्थक स्यात् ।
अभ्यस्ता उपयन्ति भैरवा शून्यागारगतस्य भिक्षो ॥१६॥

अन्वयार्थ

(जीविय) जीवन की (णो अभिकखेज्ज) आकाक्षा न करे, (नोऽवि य) और न ही (पूयणपत्थए) पूजा-सत्कार का प्रार्थी—अभिलाषी (सिया) बने । (सुन्नागारगयस्स) शून्यगृह मे गये (रहे) हुए (भिक्खुणो) साधु को (भेरवा) भयकर प्राणियो के उपसर्ग—उपद्रव (अब्भत्थ) अभ्यस्त—परिचित (उविति) हो जाते है ।

भावार्थ

पूर्वोक्त उपसर्गो से पीडित होने पर साधु (जिनकल्पिक महामुनि) जीवन की आकाक्षा न करे और न ही पूजा-सत्कार (मान-वडाई) का अभिलाषी (प्रार्थी) हो। इस प्रकार पूजा-प्रतिष्ठा और जीविताकाक्षा से निरपेक्ष होकर शून्यगृह मे जो साधु रहता है, उसे भयानक प्राणियो के द्वारा कृत उपसर्गो को सहने का अभ्यास हो जाता है ।

व्याख्या

जीवन और पूजा-प्रतिष्ठा की आकाक्षा से दूर ही अभ्यस्त

पूर्वगाथा मे शून्यगृह मे उपस्थित जिनकल्पिक महामुनि द्वारा त्रिविध उपसर्गो को रोमहर्षण आदि विकारो से रहित होकर समभाव से सहन करने का निर्देश है । इस गाथा मे उसी के सन्दर्भ मे कहा गया है कि ऐसे त्रिविध भयकर उपसर्गो को सहने मे अभ्यस्त कैसे और कौन हो सकता है ? इसके लिए दो कडी शर्तें रखी गयी है—पहली शर्त यह है कि वह जीवन की बिलकुल परवाह न करे, और दूसरी शर्त है—पूजा-प्रतिष्ठा—मान-सम्मान की कामना न करे । इन दोनो कठोर शर्तो का पूर्णत पालन करना सामान्य साधु के वश की वात नही हैं । वह तो उपसर्गों के कल्पित भय से ही घवराकर विचलित हो सकता हैं । इसलिए इन गाथाओ मे जो वाते कही गयी है, वे जिनकल्पी मुनि से सम्वन्धित है । अत जिनकल्पिक मुनि जव इन दोनो कठोर शर्तो मे उत्तीर्ण हो जाएगा, तव यदि वह शून्यगृह, उपलक्षण से श्मशान आदि भयानक स्थानो मे कायोत्सर्ग आदि के निमित्त जाकर निवास करेगा तो वह बिलकुल घबराएगा नही, वह उन भयानक उपसर्गो से अभ्यस्त हो जाएगा । इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**अब्भत्थमुविति भेरवा सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ।**' आशय यह है कि पूर्वोक्त दो कडी शर्तो का पालन करने वाला महामुनि जव बार-बार शून्यगृह, श्मशान आदि एकान्त स्थलो मे जाकर

कायोत्सर्ग के निमित्त रहेगा, तब उसे उपसर्गकर्त्ता भूत, पिशाच आदि भयानक देव, विकराल सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि तिर्यंच या भयकर क्रूर मनुष्य भी परम आत्मीय मित्रवत् प्रतीत होने लगेंगे तथा शीत-उष्ण आदि उपद्रव भी सुखपूर्वक सह्य हो जाएँगे। इसमे अभ्यास और विशिष्ट वैराग्यमय चिन्तन इन दो का ही प्रभाव है।

मूल पाठ

उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासण ।
सामाइयमाहु तस्स ज, जो अप्पाण भए ण दसए ॥१७॥

स छाया

उपनीततरस्य त्रायिण , भजमानस्य विविक्तमासनम् ।
सामायिकमाहुस्तस्य यद् य आत्मान भये न दर्शयेत् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(उवणीयतरस्स) जिसने अपने आत्मा को ज्ञान आदि के समीप पहुचा दिया है, (ताइणो) तथा जो स्व-पर का उपकार करता है अथवा षड्जीवनिकाय की रक्षा करता है, (विविक्कमासण) स्त्री-पशु-नपु सक से रहित एकान्त शान्त स्थान का जो (भयमाणस्स) सेवन करता है, (तस्स) उस मुनि का (ज सामाइयमाहु) सर्वज्ञो ने जो सामायिकचारित्र कहा है, वह इसलिए कि (जो अप्पाण) वह अपने (आत्मा) मे (भए ण दसए) भय प्रदर्शित नही करना चाहिए।

भावार्थ

जिसने अपनी आत्मा को ज्ञान आदि मे अतिशयरूप से स्थापित किया है, तथा जो स्वपर का उपकारी या प्राणिमात्र का रक्षक है, और जो स्त्री-पशु-नपुसक से रहित स्थान का सेवन करता है, ऐसे मुनि का सर्वज्ञो ने जो सामायिक चारित्र कहा है, वह इसलिए कि मुनि उपसर्गो के समय अपनी आत्मा को भय मे स्थापित न करे।

व्याख्या

विविक्तासनी निर्भय ही सामायिकचारित्री है

जो मुनि जनससर्ग से दूर रहकर अपनी साधना करना चाहता है, उसे अपना निवासस्थान एकान्त और स्त्री-पशु-नपु सक से वर्जित शान्त चुनना पडता है। परन्तु ऐसे स्थान मे अनेक प्रकार के भयस्थल (खतरे) होते है, उन खतरो का वही साधक मुकाबला कर सकता है, जो अपनी आत्मा मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र को अतिशयरूप से रमा लेता है, तथा जो प्राणिमात्र का रक्षक एव उपकारी है।

रत्नत्रय के प्रकाश मे वह उन भयो को भय ही नही मानेगा। जब आत्मा रत्नत्रय के प्रकाश से दूर रहती है, तब वहाँ भय, क्रोध, काम आदि के कीटाणु आकर अड्डा जमा लेते है, परन्तु जब आत्मा रत्नत्रय के प्रकाश को अपने अत्यन्त निकट रखती है तो भय आदि के कीटाणु आ नही सकते, ऐसे निर्भीक और विविक्तशयनासन के सेवन करने वाले मुनि के चारित्र को ही सर्वज्ञो ने सामायिक कहा है। शास्त्रकार इसी बात को द्योतित करते है—'**उवणीयतरस्स अप्पाण भए ण दसए।**'

उवणीयतरस्स—उपनीततर का अर्थ है—जिसने आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र (रत्नत्रय) के अत्यन्त निकट पहुँचा दिया है। क्योकि जिसकी आत्मा ज्ञानादि रत्नत्रय के प्रकाश के अतिनिकट होती ह, वही उपसर्गो एव परीषहो के समय निर्भय एव निश्चल रह सकता है, वही जनशून्य स्थानो मे रहने से नही कतराता।

अप्पाण भए ण दसए—इसका रहस्यार्थ यह है कि जो ज्ञानादि रत्नत्रय के प्रकाश को आत्मा से निकटतम कर लेता हे, वह अपनी आत्मा को भय नही दिखाता। जिसकी आत्मा मे रत्नत्रय का प्रकाश नही होता या दूर होता है, वह अपनी आत्मा (दिल-दिमाग) को भय का प्रदर्शन करके—अनेक भयो के विकल्पो से भरकर भय दिखाता रहता है।

मूल पाठ

उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो।
ससग्गि असाहु राईहि, असमाही उ तहागयस्स वि ॥१८॥

स. छाया

उष्णोदकतप्तभोजिनो धर्मस्थितस्य मुनेर्ह्रीमतः।
संसर्गोऽसाधू राजभिरसमाधिस्तु तथागतस्याऽपि ॥१८॥

अन्वयार्थ

(उसिणोदगतत्तभोइणो) बिना ठण्डा किये गर्म जल पीने वाले (धम्मट्ठियस्स) श्रुत और चारित्रधर्म मे स्थित, (हीमतो) असयम मे प्रवृत्ति से लज्जित होने वाले, (मुणिस्स) मुनि को (राईहि) राजा आदि से (ससग्गि) ससर्ग करना (असाहु) बुरा है। (तहागयस्स वि) वह शास्त्रोक्त आचार पालने वाले मुनि का भी (असमाही उ) समाधिभग करता है।

अर्थ

उष्ण किये हुए जल को गर्म ही पीने वाले, श्रुत-चारित्रधर्म मे

स्थित असयम से लज्जित होने वाले मुनि को राजा आदि के साथ ससर्ग करना बुरा है, क्योकि यह शास्त्रोक्त आचार पालन करने वाले मुनि के लिए असमाधि का कारण है।

व्याख्या

राजादि से ससर्ग असमाधिकारक

इस गाथा मे आचारवान साधु के लिए राजा आदि सत्ताधारियो के साथ ससर्ग असमाधि का कारण बताया है। वह इसलिए कि राजा आदि सत्ताधीशो के सम्पर्क मे अधिक आने से दोनो प्रकार से साधु के सयमी जीवन का नाश है। राजा आदि अगर तुष्ट (प्रसन्न) हो तो साधु के लिए आरम्भ-समारम्भ आदि करते है, और अगर वे रुष्ट हो जायें तो साधु को अपने राज्य से निष्कासित कर देते है, उसके वस्त्रपात्रादि सयमपालन मे सहायक उपकरण छीन लेते हैं, यहाँ तक कि प्राणहरण तक कर लेते है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार राजा आदि सत्ताधीशो से ससग को असमाधि का कारण बताते हैं—'ससग्गि असमाही उ तहागयस्स वि।' इस गाथा के प्रारम्भ मे साधु के जो तीन विशेपण दिये है, वे साध्वाचारपालन की दृष्टि से है। पहला विशेपण है—'उण्णोदकतप्तभोजी' अर्थात् गर्म किये हुए (तीन उबाल आए हुए) पानी को बिना ठण्डा किये हुए गर्म का गर्म ही पीने वाला। दूसरा विशेषण है—'धम्मट्ठियस्स' श्रुत-चारित्र-धर्म मे स्थित और तीसरा विशेपण है—'हीमतो'—असयम कार्य करने से लज्जित होने वाला। ये तीनो विशेपण साधुजीवन के आचार के सूचक है। जो साधु इतना आचारवान है, वह राजा आदि से ससर्ग करके अपने आचार से भ्रष्ट क्यो होना चाहेगा? असयम और असमाधिदोप मे जानबूझकर क्यो पडेगा?

मूल

अहिगरणकडस्स भिक्खुणो वयमाणस्स पसज्झ दारुण ।
अट्ठे परिहायती बहु अहिगरण न करेज्ज पडिए ॥१६॥

संस्कृत छाया

अधिकरणकरस्य भिक्षो वदत प्रसह्य दारुणम् ।
अर्थ परिहीयते बहु अधिकरण न कुर्यात् पण्डित ॥१६॥

अन्वयार्थ

(अहिगरणकडस्स भिक्खुणो) जो साधु कलह करता है (पसज्झ) और जोर-शोर से या बुरी तरह से (दारुण) भयकर कठोर वाक्य (वयमाणस्स) बोलता है,

उसका (अट्ठे) मयम अथवा मोक्ष (बहु) अन्यन्त (परिहायती) नप्ट हो जाता ह। इसलिए (पडिए) सद् असद् विवेकशील साधु (अहिगरण) अधिकरण—कलह (न करेज्ज) न करे।

र्थ

जो साधु कलहकारी है, जोर-शोर से या बुरी तरह से भयकर कठोर वचन वोलता है, उपकी मोक्ष-पाधना या सयम अत्यन्त नप्ट हो जाता है। इसलिए सयमशील साधु को कलह नही करनी चाहिए।

व्याख्या

कलहकारी साधु सयम का नाशक

इस गाथा मे सयमी साधु के लिए कलह बहुत बडे अनर्थ को पैदा करने वाला वताया ह। अधिकरण का अर्थ है—बात को वढा-चढाकर अधिकाधिक तूल देना—वतगड वनाना और विवाद खडा करके कलह करना। जिसका अधिकरण करने का स्वभाव ह, उसे 'अधिकरणकर' कहते हे। वास्तव मे जो साधु रातदिन कलह करता हे अथवा ऐसी कठोर तानेभरी भाषा बोलता है, जिसमे कलह पैदा हो, वह शुभध्यान की अपेक्षा रातदिन रौद्रध्यान मे डूवा रहता ह, उसकी प्रकृति छिद्रान्वेषी वन जानी है। वह जिसके साथ कलह करता है, उसकी निन्दा, चुगली, बदनामी तथा उमसे ईर्ष्या, द्वेष, रोप करने लगना है। इस प्रकार कलह के स्वभाव के कारण उक्त माधु मे अनेक दोष-पाप घुस जाते हैं, उसका मोक्ष अथवा मोक्ष का कारण सयम खत्म हो जाता है। जो साधु कलह करता है वह दूसरो के चित्त को व्यथित करने वाली तानेभरी तीखी वाणी बोलता है। उसकी वाणी अन्य लोगो के मर्म को छेद देती हे। ऐमा साधु बहुत समय तक किये कठिन तप के द्वारा उपार्जित पुण्य को क्षय कर डालता हे। कहा भी है—

> ज अज्जिय समीखल्लएहिं तवनियमबभमाइएहिं।
> मा हु तय कलहता ˍ अहसणपत्तेहिं॥

अर्थात्—चिरकाल तक कठोर तप, नियम एव ब्रह्मचर्य आदि से जो पुण्य अर्जन किया है, उसे कलह करके नप्ट मत करो, ऐमा पण्डितजन उपदेश देते ह। अत सद्-असद् विवेकशील विद्वान् साधु जरा-सा भी कलह न करे। श्रमणधर्म का सार उपशम है। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

मूल

> सीओदगपडिदुगुछिणो, अपडिण्णस्स लवावसप्पिणो।
> सामाइयमाहु तस्स ज, जो गिहिमत्तेऽसण न भुजती॥२०॥

ृत छाया

शीतोदकप्रतिजुगुप्सकस्य अप्रतिज्ञस्य लवावसर्पिण ।
सामायिकमाहुस्तस्य यत्, यो गृह्यमत्रेऽशन न भुक्ते ॥२०॥

अन्वयार्थ

(सीओदगपडिदुगुंछिणो) जो साधु ठण्डे (कच्चे) पानी से नफरत करता तथा (अपडिण्णस्स) किसी पकार की प्रतिज्ञा—मन मे किसी प्रकार की सांसारिक कामना का दु सकल्प—निदान नही करता, एव (लवावसप्पिणो) लेशमात्र भी कर्म (कर्म-बन्धन) से जो दूर—परे रहता है, (जो गिहिमत्तेऽसण न भुजती) तथा जो साधु गृहस्थ के पात्र (वर्तन) मे भोजन नही करता, (तस्स, उस साधु के (सामाइयमाहु ज) समभाव को सवज्ञो ने सामायिकचारित्र कहा है ।

भावार्थ

जो साधु ठण्डे कच्चे जल से बिलकुल नफरत करता हे, जो किसी प्रकार का विपयभोगप्राप्तिजनक निदान नही करता तथा लेशभर कर्म-बन्धन से भी दूर भागता है एव जो साधु गृहस्थ के वर्तन मे भोजन नही करता, उसी साधु के समभाव को सर्वज्ञो ने सामायिकचारित्र कहा है ।

व्याख्या

सामायिकचारित्री साधुजीवन की आचारमर्यादा मे दृढ

जो साधु अप्रासुक जल के सेवन से घृणा करता है, प्रतिज्ञा यानी निदान नही करता, लेशमात्र भी कर्मबन्धन के कारण से दूर भागता है तथा जो मुनि गृहस्थ के काँसे, ताँबे, चाँदी, सोने या पीतल आदि के वर्तनो मे भोजन नही करता, ऐसे ही आचारवान् साधु के समभाव को सर्वज्ञो ने सामायिकचारित्र कहा है। यही इस गाथा का आशय है ।

मूल

ण य संखयमाहु जीवियं तहवि य बालजणो पगब्भइ ।
बाले पार्वोहि मिज्जती इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥२१॥

संस्कृत छाया

न च सस्कार्यमाहुर्जीवित तथाऽपि च बालजन प्रगल्भते ।
बाल पापैर्मीयते इति सख्याय मुनिर्न माद्यति ॥२१॥

अन्वयार्थ

(जीविय) प्राणियो का जीवन (ण य सखयमाहु) जीवनरहस्यज्ञो ने सस्कार

करने (जोडने) योग्य नही कहा है, (तह वि) तथापि (बालजणो) मूर्खजन (पगब्भइ) पाप करने मे धृष्टता करता है। (बाले) वह अज्ञजन (पावेहिं) पापीजनो मे (मिज्जती) माना जाता है, (इति सखाय) यह जानकर (मुणी) तत्त्वचिन्तक मुनि (ण मज्जती) मद नही करता है।

भावार्थ

प्राणियो का टूटा हुआ जीवन फिर जोडा नही (सस्कृत नही किया) जा सकता है, यह जीवनरहस्यज्ञ सर्वज्ञो ने कहा है। तथापि मूढजीव पाप करने मे धृष्टता करता है। वह अज्ञपुरुष माना जाता है, यह समझकर तत्त्ववेत्ता मुनिवर मद नही करता है।

• ।

टूटता जीवन गर्व किस पर ?

शास्त्रकार ने इस गाथा मे मूर्ख लोगो की मूर्खता की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहा है कि प्राणियो का टूटा हुआ जीवन टूटे हुए डोरे की तरह फिर जोडा नही जा सकता है। जीवन की इतनी क्षणभगुरता होते हुए भी मूढ मानव ढीठ होकर बेखटके पाप करता रहता है। वह पापकर्म करते हुए जरा भी लज्जित नही होता। अज्ञजीव उन कुकृत्यो से उत्पन्न पापो के गज से माप लिया जाता है कि वह पापी है। अथवा धान्य आदि के द्वारा जैसे कोठा भर दिया जाता है, वैसे ही पापो के द्वारा उसके जीवन का घडा भर दिया जाता है। यह जानकर पदार्थो के वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता मुनि किसी प्रकार का मद नही करता। यदि वह यह समझे कि मै ही धर्मात्मा हूँ, अमुक मनुष्य तो पापी है, मैं ही उच्चक्रियापात्र हू, अन्य सब शिथिलाचारी हैं, मैं ही शास्त्रज्ञ हूँ, ये सब मूढ है—इस प्रकार का गर्व करना पाप है। अल्पतम असस्कृत जिन्दगी मे मानव किस बूते पर अभिमान कर सकता है ? इसलिए मुफ्त मे मद के पाप का बोझ क्यो बढाए ?

मूल

छदेण पले इमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलिति माहणे, सीउण्ह वयसाऽहियासए ॥२२॥

स .

छन्दसा प्रलीयन्ते इमा प्रजा, बहुमाया मोहेन प्रावृता ।
विकटेन प्रलीयते माहन, शीतोष्ण वचसाऽधिसहेत ॥२२॥

• र्थ

(बहुमाया) अत्यन्त माया (कपट) करने वाली (मोहेन पाउडा) मोह से

आच्छादित —ढकी या घिरी हुई (इमा पया) ये सासारिक प्रजाएँ—(प्राणीगण) (छदेण) अपने स्वच्छन्दाचार के कारण (पले) नरक आदि गतियो मे जाती है, या लीन होती है। (माहणे) अहिंसामहाव्रती मुनि (विउडेण) कपटरहित अनुष्ठान—प्रवृत्ति के द्वारा (पलिति) मोक्ष या सयम मे लीन होता है, और वह (वयसा) मन-वचन-काया मे (सीउण्ह) शीत और उष्ण को (अहियासए) सहन करता है।

भावार्थ

अत्यन्त माया करने वाली मोह के आवरण से आच्छादित ये सासारिक प्रजाएँ (जीव) अपने स्वेच्छाचार के कारण नरक आदि गतियो मे जाती है, जाकर लीन होती है, किन्तु अहिंसक साधु कपटरहित आचरण के कारण मोक्ष या सयम मे लीन होता है, और मन-वचन-काया से शीत एव उष्ण को सहन करता है।

व्याख्या

मायाचार और स्वेच्छाचार से साधु दूर रहे

इस गाथा मे शास्त्रकार साधु को मायाचार और स्वच्छन्दाचार से दूर रहने का उपदेश देते हुए सर्वप्रथम इनके दुष्परिणामो का निरूपण करते है—'छदेण पले पाउइमा।' इसका आशय यह है कि इस जगत् मे विभिन्न देश-काल मे पैदा होने वाले प्रजाजन अपने मनमाने विचार और आचार के कारण तथा गूढ मायाचार के कारण, अपनी मान्यता एव स्वच्छन्द प्रवृत्ति के प्रति आसक्त होकर उन गाढ पापकर्मबन्धन के कारण नरक आदि गतियो मे जाते हैं।

वास्तव मे दुर्गति का कारण उनका स्वच्छन्द विचार और आचार ही है। वे मोहावृतबुद्धि वाले लोग 'अग्निष्टोमीय पशुमालभेत' इत्यादि श्रुतिवाक्य को प्रमाण रूप मे प्रस्तुत करके बकरे आदि पशु का वध करना यज्ञ—अभीष्ट कल्याण का साधक मानते है। कई लोग धर्म के नाम पर या देवी-देवो के नाम से पशुओ को होमते है। वे लोग इस प्रकार का कार्य धृष्टतापूर्वक बेहिचक करते है। कई लोग अपनी मनमानी मान्यता से प्रेरित होकर अपनी तथाकथित (सस्था) सघ की रक्षा के नाम पर दासी-दास, धन-धान्य आदि का परिग्रह करते हैं। कोई-कोई भोले-भाले लोगो को अपनी ओर आकर्षित करने और क्रियाकाण्डो का सब्जबाग दिखाकर उन्हे ठगने के लिए शरीर पर बार-बार पानी छींटना, कानो को स्पर्श करना आदि वचना—मायाप्रधान प्रवृत्ति करते है। जैसा कि वे कहते हैं—

कुक्कुटसाध्यो लोको नाकु त प्रवर्त्तते किंचित्।
तस्माल्लोकस्यार्थे पितरमपि स कुक्कुट कुर्यात् ॥

अर्थात्—यह लोक (ससार) कपट से सिद्ध (वश) होता है। विना कपट के ससार मे कुछ प्रवृत्ति नही हो सकती। इसलिए लोकव्यवहार के लिए पिता से भी कपट करना चाहिए।

इस प्रकार स्वच्छन्दाचार और कपटाचार उसके कर्त्ता को नरक-तिर्यंच आदि दुर्गतियो मे ले डूबते है। कपट और स्वच्छन्दता के फलस्वरूप वे बार-बार कुगतियो मे चक्कर लगाते रहते है।

मायाचार और स्वच्छन्दाचार के दुष्परिणामो को बताकर शास्त्रकार कहते है—**'वियडेण पलिंति वयसाऽहियासए।'** आशय यह है कि महान् मुनि इन दुष्परिणामो को जानकर माया एव स्वच्छन्द से रहित शास्त्रोक्त शुद्ध आचार-विचार के द्वारा मोक्ष या सयम मे लीन होते हैं। ऐसे शुभभावो से युक्त मुनि ही समस्त ठण्डे, गर्म या अनुकूल-प्रतिकूल परीषहो को मन-वचन-काया से समभावपूर्वक सहते हैं।

मूल

कुजए अपराजिए जहा, अ `ेहिं कुसलेहिं दीवय।
कडमेव गहाय णो कलिं, नो तीय नो चेव दावर ॥२३॥

छाया

कुजयोऽपराजितो यथाऽक्षैं कुशलो हि दीव्यन्।
कृतमेव गृहीत्वा नो कलिं नो त्रेत नो चैव द्वापरम् ॥२३॥

अन्वयार्थ

(अपराजिए) कभी पराजित न होने वाला (कुसलेहिं) कुशल (कुजए) जुआरी (जहा) जैसे (अक्खेहिं दीवय) पासो से जुआ खेलता हुआ (कडमेव गहाय) कृत नामक चतुर्थ स्थान को ही ग्रहण करता है, (णो कलिं) कलि को ग्रहण नही करता, (नो तीय नो चेव दावर) और न तृतीय स्थान को ग्रहण करता है, न द्वितीय स्थान को।

भावार्थ

किसी से पराजित न होने वाला, जुआ खेलने मे निपुण जुआरी जैसे जुआ खेलता हुआ सर्वश्रेष्ठ कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है, कलि, द्वापर और त्रेता नामक स्थानो को ग्रहण नही करता।

व्याख्या

कुशल द्यूतकार द्वारा कृत नामक स्थान-ग्रहण

इस गाथा मे चतुर जुआरी से मोक्षमार्गकुशलसाधक की उपमा देकर

शास्त्रकार समझाते है—'कुजए अपराजिए नो चेव दावर।' जुआरी को यहाँ 'कुजय' कहा गया है। क्योकि जुआरी की महान् विजय होने पर भी वह विजय निन्दित होती है, इसलिए उसे 'कुजय' कहते है। जुआ खेलने मे निपुण होने के कारण जो जुआरी दूसरे जुआरी से जीता नही जाता, उसे अपराजित कहा जाता है। यहाँ जुआरी की उपमा देकर यह कहा गया है कि कुशल अपराजय जुआरी पासा या कौडी फकता है तो कृत नामक चतुर्थ स्थान को स्वीकार करता है, क्योकि उससे विजय पाता है, बाकी के कलि, त्रेता, द्वापर नामक प्रथम, तृतीय, द्वितीय स्थानो को वह ग्रहण नही करता। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि—ये वैदिक सम्प्रदाय-प्रसिद्ध चार युग माने जाते है। कृतयुग को सतयुग कहते है, वही सर्वश्रेष्ठ युग माना जाता है। ये चारो युग जैसे अमुक-अमुक अवधि के बाद आते है, वैसे ही ये चारो प्रतिदिन क्रमश आते हैं और अमुक-अमुक घडी तक रहते है। जुआरी कृतयुग की श्रेष्ठ घडी को स्वीकार करके उस घडी मे जुए का दाँव खेलकर विजय पा लेता है। इन चारो का नामोल्लेख करने के पीछे शास्त्रकार का यही आशय प्रतीत होता है। उपमा एकदेशीय होती है, उसे सर्वांश मे ग्रहण नही किया जाता। यही कारण है कि कुशल द्यूतकार लोकनिन्दित होते हुए भी उसकी कुशल साधक के साथ एकदेशीय उपमा केवल उसकी निपुणता और चतुरता की दृष्टि से दी गयी है।

अब अगली गाथा मे इस उपमा को उपमेय के साथ घटाते है—

मूल पाठ

एव लोगम्मि ताइणा बुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।
त गिण्ह हियंति उत्तमं कडमिव सेसऽवहाय पडिए ॥२४॥

संस्कृत छाया

एव लोके त्रायिणोक्तो यो धर्मोऽनुत्तर ।
त गृहाण हितमित्युत्तम कृतमिव शेषमपहाय पण्डित ॥२४॥

अन्वयार्थ

(एव) इसी तरह (लोगम्मि) इस लोक मे (ताइणा) जगत के त्राता—रक्षक सर्वज्ञ के द्वारा (बुइए) कथित (जे) जो (अणुत्तरे धम्मे) सर्वोत्तम धर्म है, (त) उसे (गिण्ह) ग्रहण करना चाहिए। (हियति उत्तम) वही हितकर तथा उत्तम है। (सेसऽवहाय) चतुर जुआरी जैसे समस्त स्थानो को छोडकर (कडमिव) कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है।

भावार्थ

इस लोक मे जगत् के त्राता सर्वज्ञ प्रभु ने जो क्षमा आदि सर्वोत्तम

दशविध श्रमणधर्म अथवा श्रुत-चारित्ररूप धर्म बताया है उसको ही एकान्त हितकारी तथा उत्तम समझकर इसी प्रकार स्वीकार करो, जिस प्रकार कुशल द्यूतकार शेष (तीन) स्थानो को छोडकर सर्वोत्तम कृत नामक चतुर्थ स्थान को स्वीकार करता है।

व्याख्या

चतुर द्यूतकार की तरह सर्वोत्तम धर्म ग्रहण करो

इस गाथा मे पूर्वगाथा मे दिये गये उपमान के साथ उपमा (दृष्टान्त) को दार्ष्टान्तिक द्वारा घटाया गया है – जैसे चतुर जुआरी विजयप्राप्ति का साधन होने के कारण सर्वोत्तम स्थान चौक (कृत) को ही ग्रहण करके खेलता है, इसी तरह मनुष्यलोक मे सर्वप्राणिरक्षक सर्वज्ञ द्वारा भाषित क्षमा आदि दशविध अथवा श्रुत-चारित्ररूप सर्वोत्तम धर्म को ही एकान्त हित कर उसे स्वीकार करो।

निगमन के लिए पुन उसी दृष्टान्त को बताते है—जैसे चतुर जुआरी जुआ खेलते समय एक आदि स्थानो को छोडकर कृतयुग नामक चतुर्थ स्थान को ही ग्रहण करता है, वैसे ही जिनप्रवचनकुशल साधु भी गृहस्थ, कुप्रावचनिक और पार्श्वस्थ आदि के धर्मो को छोडकर सर्वज्ञकथित सर्वोत्तम, सर्वमहान्, सर्वहितकर धर्म को ही स्वीकार करे।

मूल

उत्तरा मणुयाण आहिया, गामधम्मा (म्म) इह मे अणुस्सुय।
जसी विरता समुट्ठिया कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२५॥

स . छाया

उत्तरा मनुजानामाख्याता ग्रामधर्मा इह मयाऽनुश्रुतम्।
येभ्यो विरता समुत्थिता काश्यपस्यानुधर्मचारिण ॥२५॥

अन्वयार्थ

(मे) मैंने (अणुस्सुय) परम्परा से यह सुना है कि (गामधम्मा) पाँचो इन्द्रियो के शब्द आदि विषय अथवा मैथुनसेवन (मणुयाण) मनुष्यो के लिए ( ) दुर्जेय (आहिया) कहे गये है। (जसी) जिनसे (विरता) निवृत्त तथा (समुट्ठिया) सयम मे स्थित पुरुष ही (कासवस्स) काश्यपगोत्री भगवान् ऋषभदेव अथवा भगवान महावीरस्वामी के (अणुधम्मचारिणो) धर्मानुयायी साधक है।

र्थ

श्रीसुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग के प्रति कहते है कि शब्द आदि विषय अथवा मैथुनसेवन मनुष्यो के लिए दुर्जेय कहे हैं, ऐसा

मैने परम्परा से सुना है। उन शब्दादि विपयो या मैथुन के सब अगो मे निवृत्त होकर जो सयम के अनुष्ठान मे प्रवृत्त है, वे ही काश्यपगोत्रीय भगवान् ऋषभदेव अथवा भगवान् महावीर स्वामी के धर्मानुयायी साधक हे।

व्याख्या

दुर्जेय कामनिवृत्त साधक ही अर्हद्धर्मानुयायी

इस गाथा मे श्रीसुधर्मास्वामी (गणधर) जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्यो को अपने पूर्वज भगवान् महावीर से परम्परागत सुनी हुई अनुभव की बात कहते है—"इस ससार मे पचेन्द्रियविपय अथवा काम (मैथुन) दुर्जेय है, ऐसा मैने परम्परा से सुना है।" गाथा मे आए 'उत्तरा' शब्द का अर्थ यो तो प्रधान होता है, किन्तु लक्षणा से उसका अर्थ दुर्जेय किया गया है, क्योकि काम सयमी पुरुषो को छोडकर ससार के प्राय सभी प्राणियो पर हावी हो जाता है। काम मे पाँचो इन्द्रियो के विपयो और मैथुनागो, सभी का समावेश हो जाता है। जिसके लिए शास्त्रकार ने यहाँ 'गामधम्मा' शब्द का प्रयोग किया है। यो ग्राम का अर्थ इन्द्रियसमूह और धर्म का अर्थ विपय (स्वभाव) होता है। और इन्द्रियविपय ही काम हैं, इस कारण यही अर्थ सर्वसगत है कि 'काम दुर्जेय है।'

'इह मे अणुस्सुय'—यह सब जो पहले कहा है और आगे कहा जाने वाला है वह सब आदितीर्थंकर श्रीऋषभदेवजी ने अपने पुत्रो से कहा था। इसके पश्चात् श्रीसुधर्मास्वामी आदि गणधरो से भगवान् महावीरस्वामी ने कहा था, इसलिए गणधर सुधर्मास्वामी जो अपने शिष्यो से कह रहे हैं कि 'इह मे अणुस्सुय' ऐसा मैंने कर्णोपकर्ण से सुना है, यह कथन वास्तव मे युक्तियुक्त है।

जसी विरता अणुधम्मचारिणो—इस पक्ति से श्रीसुधर्मास्वामी का तात्पर्य स्पष्ट परिलक्षित होता है कि यद्यपि काम दुर्जेय है, परन्तु किन आत्माओ के लिए ? जो अपने आत्मधर्म को नही जानते समझते, अथवा जिन्होने भगवान् महावीर के उत्तमधर्म को नही समझा, उन्ही दुर्बल आत्माओ के लिए काम दुर्जेय है। परन्तु जिन्होने भगवान् ऋषभदेव या भगवान् महावीर के धर्म को भलीभाँति समझ लिया है, जो सयमपालन के लिए समुद्यत है, अपनी आत्मशक्तियो को सर्वोपरि मानकर जो काम-भोगो से सर्वथा विरत हो चुके हैं, उनके (कामविजेता मुनि स्थूलभद्र आदि के) लिए काम-विजय दुष्कर नही है। इसीलिए यहाँ स्पष्ट कहा है—जो इन काम-भोगो से सर्वथा विरत होकर सयमपालन के लिए उद्यत हैं, वे ही काश्यपगोत्रीय भगवान् ऋषभदेव या भगवान् महावीर के धर्मानुयायी साधक है अर्थात् वे ही अर्हद्धर्म का अनुष्ठान करने वाले साधक हैं। तात्पर्य यह है कि जो दुर्जेय समझे जाने वाले ग्रामधर्मो (कामो) से विरत है, वे ही अर्हद्धर्म को ग्रहण कर सकते हैं।

मूल

जे एय चरंति आहिय नाएणं महया महेसिणा ।
ते उट्ठिया ते समुट्ठिया, अन्नोन्नं सारति धम्मओ ।।२६।।

सं छाया

य एन चरन्त्याख्यात, ज्ञातेन महता महर्षिणा ।
ते उत्थितास्ते समुत्थिता, अन्योऽन्य सारयन्ति धर्मत ।।२६।।

अन्वयार्थ

(महया महेसिणा) महान् महर्षि (नाएण) ज्ञातपुत्र के द्वारा (आहिय) कहे हुए (एय) इस धर्म का (जे) जो भाग्यशाली नर-नारी (चरति) आचरण करते है, (ते) वे ही (उट्ठिया) उत्थित— हैं, (ते) और वे ही (समुट्ठिया) सम्यक् प्रकार से उत्थित—समुद्यत है, तथा (धम्मओ) धर्म से डिगते हुए (अन्नोन्न) एक-दूसरे को वे ही (सारति) सँभालते है—पुन धर्म मे प्रवृत्त व स्थिर करते है ।

र्थ

अनुकूल-प्रतिकूल परीषह सहन करने से महान् महर्षि ज्ञातपुत्र के द्वारा प्ररूपित इस अनुत्तरधर्म का जो साधक आचरण करते हैं, वे ही मोक्षमार्ग मे उत्थित हैं, वे ही सम्यक् प्रकार से समुत्थित है तथा वे ही धर्म से विचलित या भ्रष्ट होते हुए एक-दूसरे को धर्म मे स्थिर या प्रवृत्त करते हैं।

व्याख्या

उत्थित-समुत्थित साधक कौन और कैसे ?

इस गाथा मे मोक्षमार्ग के लिए उत्थित-समुत्थित साधक की पहचान दी गयी है। पूर्वगाथा मे बताया गया था कि 'जो साधक ग्रामधर्म (काम) से विरति-रूप धर्म का आचरण करते है, वे ही अर्हत्-प्रतिपादित धर्म के अनुयायी है।' उसी गाथा के सन्दर्भ मे यहाँ उत्थित-समुत्थित साधक की पहिचान बतायी गयी है कि जो साधक ग्रामधर्म विरतिरूप अर्हद्भाषित धर्म का आचरण करते है, वास्तव मे वे ही मोक्षपथ के लिए उत्थित-समुत्थित हैं। जो स्वय सयममार्ग मे सावधान होकर उद्यत-समुद्यत है, वे ही धर्मपथ या सयमपथ से विचलित होते हुए एक-दूसरे को परस्पर धर्म मे प्रेरित कर सकते है और करते है। उत्थित-समुत्थित शब्द का विशेष स्पष्टीकरण शीलाकाचार्य कृत वृत्ति मे इस प्रकार है—जो ज्ञातपुत्र तीर्थकर भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित ग्रामधर्मत्यागरूप धर्म का आचरण करते हैं वे ही उत्थित है—अर्थात् सयम मे तथा कुतीर्थिक धर्म का त्यागकर सम्यक्धर्म मे प्रवृत्त हैं, तथा वे ही समुत्थित है –अर्थात् निह्नव आदि को छोडकर कुमार्ग-उपदेश से

भलीभाँति निवृत्त है। परन्तु यथोक्त धर्म का अनुष्ठान करने वाले वे ही उन लोगों को सम्यक् धर्म मे प्रवृत्त करते है, जो कुप्रावचनिकों एव जामालि आदि भावकों की कुमार्गदेशना से हटे नही है। अथवा धर्म से विचलित या भ्रष्ट होने लगे को फिर वे धर्म मे प्रवृत्त करते है। या यथोक्त धर्म का अनुष्ठान करने वाले ही परस्पर एक दूसरे को धर्म मे प्रेरित करते ह।

महया महेसिणा ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के ये दो विशेपण अन्वयार्थ-सूचक हैं। भगवान् महान इसलिए है कि वे केवलज्ञान से सम्पन्न हैं, जिस केवलज्ञान का विपय महातिमहान है। वे महर्पि इसलिए है कि अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करते हैं।

मूल पाठ

मा पेह पुरा पणामए, अभिकखे उवधि धुणित्तए।
जे दूमण तेहि णो णया, ते जाणति समाहिमाहिय ॥२७॥

सस्कृत छाया

मा प्रेक्षस्व पुरा प्रणामकान्, अभिकाक्षेद् उपधि धूनयितुम्।
ये दुर्मनसस्तेषु नो नतास्ते जानन्ति समाधिमाहितम् ॥२७॥

अन्वयार्थ

(पुरा) पहले भोगे हुए (पणामए) शब्दादि विपयो को (मा पेह) हृदय मे स्मरण—अन्तर्निरीक्षण मत करो। (उवधि) माया को अथवा ज्ञानावरणीय आदि उपधिरूप अष्टकर्मो को (धुणित्तए) दूर करने की (अभिकखे) इच्छा करो। (दूमण) मन को दूपित बनाने वाले जो शब्दादि विपय है, (तेहि) उनमे (जे) जो (णो णया) झुका हुआ—आसक्त नही है, (ते) वे पुरुप (आहिय) अपनी आत्मा मे निहित—स्थित (समाहिं) समाधि—रागद्वेष से निवृत्ति या धर्मध्यान को (जाणति) जानते है।

भावार्थ

पहले भोगे हुए शब्दादि विषयो का हृदय मे निरीक्षण—स्मरण मत करो। माया को अथवा ज्ञानावरणीय आदि उपधिरूप अष्टकर्मो को नष्ट करने की इच्छा करो। मन को दूषित करने वाले शब्दादि विषयो मे जो रत नही हं। वे पुरुष अपनी आत्मा मे निहित समाधि - रागद्वेषनिवृत्ति या धर्मध्यान को जानते है।

व्याख्या

समाधि के मूलमत्र

साधुजीवन मे केवल बाह्य आचार-पालन से काम नही चलता। साधु की आत्मसमाधि भग करने वाले विपय, कपाय और तज्जनित कर्मोपाधि आदि से दूर

रहना आवश्यक है। इन्ही से दूर रहने की प्रेरणा प्रस्तुत गाथा मे दी गयी है। आत्मा को समाधिभाव मे रखने के लिए साधक सर्वप्रथम पूर्वभुक्त शब्दादि विषयो का स्मरण न करे, माया या अष्टविधकर्मोपाधि से मुक्त होने का मनोरथ करे।

पणामए—जो प्राणियो को कुमार्ग की ओर झुका देते है, वे प्रणामक—शब्दादि विषय है। समाधि के आकांक्षी आत्मार्थी साधक को न तो पूर्वभुक्त विषयो का स्मरण करना चाहिए और न भविष्य मे उनकी प्राप्ति की चाह रखनी चाहिए। मन को उसे ज्ञानादि रत्नत्रय की आराधना एव चिन्तन मे सलग्न रखना चाहिए। अन्यथा खाली मन विषय-कषायो मे घुडदौड लगाकर समाधि भग कर देगा। इसलिए अष्टविधकर्मोपाधि से दूर रहने का चिन्तन व मनोरथ करना समाधि के लिए आवश्यक बताया है।

उवधि—उपधि का अर्थ माया है। अथवा अष्टविध कर्म हैं, जो आत्मा के लिए उपधिरूप हैं।

मूल

णो काहिए होज्ज सजए, पासणिए ण य सपसारए।
णच्चा धम्म अणुत्तर, कयकिरिए ण यावि मामए ॥२८॥

सस्कृत छाया

नो काथिको भवेत् सयत नो प्राश्निको न च सप्रसारक ।
ज्ञात्वाधर्ममनुत्तर कृतक्रियो न चाऽपि मामक ॥२८॥

अन्वयार्थ

(सजए) सयमी पुरुष (णो काहिए) विरुद्ध कथा न करे, (णो पासणिए) प्रश्नो का फल बताने वाला न हो, (ण य सपसारए) और न वृष्टि और धनोपार्जन के उपायो को बताने वाला हो। किन्तु (अणुत्तर) सर्वोत्तम (धम्म) धर्म को (णच्चा) जानकर (कयकिरिए) सयमरूप धार्मिक क्रिया का अनुष्ठान करे (ण यावि मामए) किसी वस्तु पर ममता न करे।

र्थ

सयमी पुरुष विरुद्ध कथाकार न बने, न प्राश्निक—प्रश्नफल वक्ता न बने, और न हो सम्प्रसारक—यानी वर्षा, वित्तोपार्जन आदि के उपायो का निर्देशक बने, किन्तु श्रुत-चारित्ररूप या क्षमादि दशविध अनुत्तर धर्म को जानकर सयमरूप क्रिया का अनुष्ठान करे। किसी भी वस्तु पर ममता न करे।

व्याख्या

सयमी पुरुष की जीवननीति

इस गाथा मे शास्त्रकार ने वाचिक एव मानसिक सयम के लिए कुछ

निषेधात्मक सूत्र देकर सयमी पुरुष की जीवननीति स्पष्ट कर दी है। वाचिक सयम के लिए तीन सूत्र दिये है—

१—सयमनिष्ठ मुनि विरुद्ध कथाकार न बने।

२—सयमी साधु प्राश्निक न बने।

३—सयमप्रिय श्रमण सम्प्रसारक न बने।

मानसिक सयम के लिए एक सूत्र दिया है—

१—सयमी भिक्षु मामक—ममत्ववान न बने।

प्रश्न होता है—सयमनिष्ठ जीवननीति के लिए ये चार निषेधात्मक सूत्र क्यो दिये गये ? इसका उत्तर हमे आगमो की गहराई मे जाकर खोजना होगा। आगमो मे साधु के लिए चार विकथाओ का निषेध है। वे विकथाएँ है—(१) स्त्री-विकथा, (२) भोजनविकथा, (३) राजविकथा, (४) देशविकथा।

विकथा का अर्थ होता है—विरुद्धकथा, ऐसी कथा, जिससे कामोत्तेजना भड़के, भोजनलालसा बढे, जिससे युद्ध, हत्या, दगा, लड़ाई या वैमनस्य बढे तथा देश-विदेश के गलत आचार-विचारो के सस्कारो का जनमानस मे बीजारोपण हो। ये चारो विकथाएँ सयमविरुद्ध कथाएँ हैं, जो वाचिक सयम के लिए वर्जित की गई है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति द्वारा इस प्रकार के लौकिक-सासारिक वासना सम्बन्धी प्रश्न—जैसे कि मेरे देश मे क्या होगा ? मेरे कितनी सन्तान होगी ? अमुक वस्तु का भाव तेज होगा या मन्दा ? इत्यादि प्रश्नो का फल ज्योतिषी के समान न बताए। क्योकि अगर इस प्रकार से प्रश्नो का फल बताने लगेगा तो साधक की आत्मसाधना खटाई मे पड जाएगी। फिर बताने मे कभी बताये गए से उलटा फल निकला तो प्रश्नकर्ता की श्रद्धा समाप्त हो जाएगी, उसकी दृष्टि मे साधु का वचन असत्य ठहरेगा। स्वय के सत्यमहाव्रत पर भी आँच आएगी। इन सब कारणो को लेकर वाणीसयम की दृष्टि से यह सूत्र दिया कि सयमी साधु प्राश्निक न बने। इसी प्रकार सयमी साधु वर्षा तथा धनप्राप्ति के उपाय भी न बताए, न औषध, मन्त्र-तन्त्रादि बताए। क्योकि ऐसा करने से आरम्भ-समारम्भ की वृद्धि होगी, तज्जनित हिंसा का भागी उपाय बताने वाला साधु भी बनेगा। साथ ही यदि साधु के द्वारा बताया हुआ कोई उपाय यथेष्ट फल न दे सका, तो उसके प्रति अविश्वास हो जाएगा। साधु के सत्यमहाव्रत पर भी आँच आएगी। इस प्रकार की दूकानदारी लगाने से साधु दुनियादार बन जाएगा, साधनाशील नही रह पाएगा। तथा मानसिक सयम के लिए शास्त्रकार ने बताया कि वह किसी भी वस्तु (चाहे वह धर्मोपकरण ही क्यो न हो) पर ममत्व—यह मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार का मेरापन न रखे। क्योकि ममत्व होने मे उसके वियोग मे आर्तध्यान होगा, उसके न मिलने पर दुःख होगा, उसकी रक्षा की चिन्ता बढेगी, उसके खत्म होने या चुराये

जाने पर अत्यन्त पीडा होगी। साधुत्व की साधना समाप्त हो जाएगी। इसलिए ममत्वधारी न बने, यह सूत्र मानसिक सयम के लिए दिया।

इस प्रकार का चतु सूत्रात्मक सयमरूप अनुत्तरधर्म जानकर उसे क्रियान्वित करने का अहर्निश प्रयत्न करे। यह इस गाथा का आशय है।

मूल

छन्न च पसस णो करे, न य उक्कोसपगास माहणे।
तेसिं सुविवेगमाहिए, पणया जेहिं सुजोसिय धुय ॥२९॥

सस्कृत छाया

छन्न च प्रशस्य च न कुर्यान्न चोत्कर्षप्रकाश माहन ।
तेषा सुविवेक आहित, प्रणता यै सजुष्ट धुतम् ॥२९॥

अन्वयार्थ

(माहणे) अहिंसाधर्मी साधु (छन्न) माया, (पसस) लोभ, (उक्कोस) मान, (पगास च) और क्रोध (णो करे) न करे। (जेहिं) जिन्होंने (धुय) आठ प्रकार के कर्मो के नाशक सयम को (सुजोसिय) अच्छी तरह सेवन किया है, (तेसि) उन्ही का (सुविवेग आहिए) उत्तम विवेक प्रसिद्ध हुआ है। (पणया) और वे ही धर्म मे रत है, अथवा धर्म के प्रति प्रणत—धर्मनिष्ठ हैं।

भावार्थ

अहिंसाप्रधान साधक, क्रोध, मान, माया और लोभ न करे। जिन्होने आठ प्रकार के कर्मो के नाश करने वाले सयम का अच्छी तरह सेवन किया है, उन्ही का उत्तम विवेक जगत् मे प्रसिद्ध हुआ है और वे ही धर्मनिष्ठ पुरुष हैं।

व्याख्या

य-विजयी ही धर्मनिष्ठ विवेकी सयमी

इस गाथा मे सुसयमी, सुविवेकी और धर्मनिष्ठ साधु की पहिचान के लिए कषायविजय आवश्यक बताया है।

'छन्न पसस णो करे न य उक्कोसपगास माहणं'—यहाँ 'छन्न' का अर्थ अपने अभिप्राय को छिपाना है, इसलिए माया है, पसस—प्रशस्य का अर्थ है—जिसे सभी लोग विना किसी आपत्ति के आदर दे। इसलिए प्रशस्य यहाँ लोभ अर्थ मे है। उत्कर्ष मान का नाम है, क्योकि तुच्छ प्रकृति वाले पुरुष को यह जाति आदि मद-स्थानो के द्वारा मत्त बना देता है। प्रकाश नाम क्रोध का है, क्योकि जब क्रोध आता है, तब वह मुख, दृष्टि, भ्रू-भग आदि विकारो से प्रगट हो जाता है।

जिन्होने कपायो का त्याग कर दिया है, वे ही साधक ससार मे सुसयमी, सुविवेकी और धर्मरत कहलाए है, वे ही साधनाजगत् मे चमके है।

धुय— यहाँ धुतशब्द सयम का वाचक है। अष्टविध कर्मों को जिससे दूर किया जाय वह सयम ही धुत है।

मूल पाठ

अणिहे सहिए सुसवुडे धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
विहरेज्ज समाहिइदिए अत्तहिय खु दुहेण लब्भइ ॥३०॥

सस्कृत छाया

अनीह (अस्निह) सहित सुसवृत धर्मार्थी उपधानवीर्य ।
विहरेत् समाहितेन्द्रिय आत्महित दु खेन लभ्यते ॥३०॥

अन्वयार्थ

(अणिहे) साधुपुरुष किसी वस्तु की स्पृहा या किसी वस्तु मे स्नेह न करे। (सहिए) ज्ञान-दर्शन-चारित्रवृद्धि वाले हितावह कार्य करे, (सुसवुडे) इन्द्रिय और मन से गुप्त रहे। (धम्मट्ठी) धर्मार्थी बने। (उवहाणवीरिए) तप मे पराक्रम प्रकट करे। (समाहिइदिए) इन्द्रियो को समाधि मे अपने अधीन रखे। (अत्तहिय) अपना आत्मकल्याण (दुहेण खु) अवश्य दु ख से (लब्भइ) प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ

साधु पुरुष किसी भी वस्तु की स्पृहा न करे, अथवा ममता न रखे। तथा वही कार्य करे, जिसमे अपना हित हो, इन्द्रियो तथा मन से गुप्त रह कर वह धर्मार्थी बने। तप मे अपना पराक्रम प्रकट करता हुआ जितेन्द्रिय होकर, सयम का अनुष्ठान करे, क्योकि अपना कल्याण दु ख से प्राप्त होता है।

व्याख्या

आत्मकल्याण के कुछ सूत्र

इस गाथा मे साधुत्व की साधना द्वारा आत्मकल्याण के निम्नोक्त सूत्र शास्त्रकार ने दिये हैं—

(१) अस्निह	(४) धर्मार्थी
(२) सहित	(५) उपधानवीर्य
(३) सु-सवृत	(६) समाहितेन्द्रिय।

'अणिहे' शब्द प्राकृत का है, उसके सस्कृत मे अस्निह, अनिह, अनीह, ये तीन रूप होते है। दो का अर्थ हम ऊपर दे चुके हैं। तीसरे का अर्थ इस प्रकार है— जो परीषह और उपसर्गो से पराजित नही किया जा सकता, उसे अनिह कहते है।

यहाँ 'अणहे' पाठान्तर भी मिलता है, जिसका अर्थ है—जो अघ अथवा पाप से—पापकर्म से रहित हो।

सहिए - सहित के भी तीन अर्थ होते है—(१) साधु अपने हित के साथ रहे, (२) ज्ञानादि से युक्त रहे, (३) सत्कर्म के अनुष्ठान मे प्रवृत्त होकर अपना हित सम्पादन करे।

सुसवुडे—साधु इन्द्रियो और मन से विषयतृष्णारहित होकर रहे। अपनी आत्मा की विषयतृष्णा से रक्षा करे, बचाए।

धम्मट्ठी—श्रुत-चारित्ररूप धर्म को ही साधु अपना प्रयोजन जाने, क्योकि सज्जन पुरुष धर्मपालन की ही इच्छा रखते हैं।

उवहाणवीरिए—जो आत्मा को मोक्ष के उप—समीप रखता है, वह उपधान—तप कहलाता है। साधु विविध बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण मे अपनी शक्ति लगाए।

समाहिइंदिए—साधु अपनी इन्द्रियो को समाहित—सयमित रखे। अगर साधु सासारिक वस्तुओ पर मोह, ममता या आसक्ति रखता है, सासारिक वस्तुओ की स्पृहा (तमन्ना) रखता है तो वह अपनी आत्मा को परिग्रह से भारी कर देगा, वह आत्मकल्याण के बदले पतन को न्यौता दे देगा। साधु यदि अपने हित (आत्महित) को न देखकर लोकेषणा के प्रवाह मे बह जाएगा तो आत्महित किनारे लग जाएगा, उसकी की-करायी तपसयम की साधना व्यर्थ हो जाएगी। इसी प्रकार यदि साधक इन्द्रियां व मन को विषयतृष्णा से रहित नही करेगा, तो वह अपनी आत्मा को विषयासक्ति से रचा नही सकेगा। ऐसा होने पर उसकी रातदिन विषयो की ओर दौड होगी, आत्मकल्याण दूर अतिदूर हो जाएगा। अगर साधक धर्म (सवरनिजरा-रूप) से वास्ता न रखकर पुण्य के लुभावने कार्यो मे फँस जाएगा या पाप व अधम को धर्म का मुलम्मा चढाकर अपनाएगा, तो भी आत्मकल्याण स्थगित हो जाएगा। इसी प्रकार यदि आत्मार्थी साधक अपनी शक्तियो को बाह्य-आभ्यन्तर तपश्चर्या मे न लगाकर निन्दा, चुगली, विवाद, कलह, प्रमाद, कषाय आदि व्यर्थ के दुर्गुणो मे लगा देगा तो आत्मकल्याण का अवसर चूक जाएगा, पापकर्मो के चक्कर मे फँस जाएगा। इसी प्रकार वह जितेन्द्रिय होकर १७ प्रकार के सयम का अनुष्ठान न करके अहर्निश हिंसा आदि असयम के कृत्यो मे प्रवृत्त होगा तो आत्मकल्याण के बदले आत्मपतन की ओर अग्रसर होगा। इन सब कारणकलापो को देखते हुए नि सन्देह यह कहा जा सकता है कि शास्त्रकार ने आत्मकल्याण के ये जो ६ सूत्र बताए है, वे वास्तव मे उपादेय हैं, आचरणीय हैं। अगर शास्त्रकार की बात पर ध्यान न देकर साधक मनमाना चलेगा तो आत्मकल्याण की बात हवा मे रह जाएगी। एक बार आत्म-कल्याण का अवसर साधक चूक गया तो फिर उसे ऐसा अवसर मिलना अत्यन्त कठिन है। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—'अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ।' आशय यह

है कि अगर साधक इस समय लापरवाह बनकर आत्मकल्याण की षट्सूत्री पर ध्यान न देकर इस अवसर को चूक जाता है तो फिर उसे अवसर मिलना दुर्लभ है। प्रथम तो मनुष्यजन्म ही मिलना अत्यन्त दुष्कर है। यदि मनुष्यजन्म मिल भी गया तो आर्यदेश, उत्तमकुल, स्वस्थ शरीर, पाँचो इन्द्रियाँ दीर्घ आयुष्य, शरीर म ब्रल, उत्साह, फिर उत्तमधर्म का पाना तो अत्यन्त दुलभ है। उत्तमधर्म के मिलने पर भी मनुष्यत्व, शास्त्रश्रवण, श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) और फिर सयम मे पराक्रम (धर्माचरण) करना अत्यन्त दुर्लभ है। इसीलिए शास्त्रकार ने आत्मकल्याण को दुर्लभ बताया है। क्योकि उपर्युक्त सभी सयोग मिलने पर ही आत्मकल्याण की प्राप्ति हो सकती है, अगर इनमे से एक भी सयोग न मिला तो फिर आत्मकल्याण का पाना दुष्कर हो जाएगा।

मूल

णहि णूण पुरा अणुस्सुय, अदुवा त तह णो समुट्ठियं।
मुणिणा सामाइ आहिय, नाएण जगसव्वदंसिणा ॥३१॥

संस्कृत छाया

नहि नून पुराऽनुश्रुतमथवा तत्तथा नो समनुष्ठितम्।
मुनिना सामायिकाद्याख्यात ज्ञातेन जगत्सर्वदर्शिना ॥३१॥

अन्वयार्थ

(जगसव्वदंसिणा) समस्त जगत् को देखने वाले (मुणिणा) मुनिपुगव (नाएण) ज्ञातपुत्र भगवान् वर्द्धमान प्रभु ने (सामाइ आहिय) सामायिक आदि का प्रतिपादन किया है। (णूण) निश्चय ही जीव ने (पुरा) पहले (णहि अणुस्सुय) नही सुना है, (अदुवा) अथवा (त) उसे (तह) जैसा कहा है, वैसा (णो समुट्ठिय) अनुष्ठान नही किया है।

भावार्थ

समस्त जगत् को जानने वाले ज्ञातपुत्र श्रमणशिरोमणि श्री वर्द्धमान प्रभु ने सामायिक आदि का कथन किया है, वास्तव मे जीव ने उसे सुना ही नही है, यदि सुना भी है तो उन्होने जैसा कहा है, वैसा यथार्थ रूप से आचरण नही किया है।

व्याख्या

सामायिक आदि का कितना श्रवण, कितना आचरण ?

पूर्वगाथा मे आत्मकल्याण की षट्सूत्री बताकर अन्त मे आत्मकल्याण की दुर्लभता बतायी है। अब इस गाथा मे उसी के सन्दर्भ मे आत्मकल्याण के दुलभ होने का कारण बताते है—'णहि णूण पुरा ... तह णो समुट्ठिय।' आशय यह है

कि आत्मकल्याण तभी सम्भव है, जब आत्मकल्याण की बात पहले सुनी जाए, उस पर श्रद्धा की जाए और फिर उसका आचरण किया जाए। यद्यपि समस्त जगत् के तत्त्वो को हस्तामलकवत् देखने वाले सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर प्रभु ने जगत् के जीवो पर परम अनुग्रह और दया करके सामायिक आदि द्वादश अगशास्त्रो का अर्थरूप से भलीभाँति निरूपण कर दिया था, किन्तु साधक उसे रुचिपूवक सुने तब न ? पहले तो सर्वज्ञवक्ता पर श्रद्धा ही नही होती, क्योंकि वे जिस मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते है, वह मन्दमति, आडम्बरप्रिय एव सरल और इन्द्रियविषयपोषक रास्ता ढूंढने वालो को अत्यन्त कठिन लगता है, इसलिए उस मार्ग को पहले तो कई साधक रुचि-पूर्वक श्रद्धासहित सुनते नही, अगर कदाचित् सुन भी ले तो कडवी दवा की तरह उस पर रुचि एव श्रद्धा नही होती, जिसके कारण वे सुनकर भी तदनुसार आचरण नही कर पाते। यही कारण है कि शास्त्रकार ने श्रवण के पश्चात् भी आचरण के बिना आत्मकल्याण प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ बताया है।

मूल पाठ

एव मत्ता महतरं धम्ममिण सहिया बहूजणा ।
गुरुणो छदाणुवत्तगा विरया तिन्नामहोघमाहियं ॥३२॥
त्ति बेमि ॥

सस्कृत छाया

एव मत्वा महदन्तर धर्ममेन सहिता बहवो जना ।
गुरोश्छन्दानुवर्त्तका विरतास्तीर्णा महौघमाख्यातम् ॥३२॥
इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (मत्ता) मानकर (महतर) सबसे महान् (धम्ममिण) इस आर्हद्धर्म को स्वीकार करके (सहिया) ज्ञानादिरत्नत्रय से सम्पन्न (गुरुणो छदाणुवत्तगा) गुरु के अभिप्राय—अनुमति के अनुसार चलने (व्यवहार करने) वाले (विरया) पाप से रहित (बहूजणा) अनेक जनो ने (महोघ) इस ससारसागर को (तिन्ना) पार किया है, (आहिय) यह भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है। (त्ति बेमि) ऐसा मैं तुमसे कहता हूँ।

भावार्थ

प्राणियो को कल्याण की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, यह जानकर तथा यह आर्हद्धर्म सब धर्मो मे श्रेष्ठ है, यह समझकर ज्ञानादिसम्पन्न, गुरु के के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से चलने वाले पाप से निवृत्त बहुत-से लोगो ने इस

ससारसागर को पार किया है, ऐसा सर्वज्ञतीर्थङ्कर ने कहा है, यह मै तुमसे कहता हूँ।

व्याख्या

ससारसागर से कौन और कैसे पार हुए ?

पूर्वगाथा मे प्ररूपित आत्मकल्याण के लिए आचरण की अनिवार्यता के सन्दर्भ मे इस गाथा मे बताया गया है कि किस धर्म का कैसे-कैसे आचरण किया जाय, जिससे साधक ससारसागर को पार कर सके ?—'एव मत्ता आहिय।'

आशय यह है कि पूर्वगाथाओ द्वारा आत्मकल्याण को सुदुर्लभ मानकर इस आर्हत्प्ररूपित सर्वश्रेष्ठ धर्म को स्वीकार करके ज्ञानादि से युक्त लघुकर्मी बहुत-से व्यक्ति आचार्य आदि द्वारा या तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुष्ठान करके पापकर्म से निवृत्त हो गये और उन्होने अपार ससारसागर को पार कर लिया, यह मैंने तुम लोगो से कहा है। तीर्थंकरो ने दूसरो से कहा है।

'इति' शब्द समाप्ति अर्थ मे है, 'ब्रवीमि' शब्द पूर्ववत् है।

इस प्रकार सूत्रकृताङ्गसूत्र के द्वितीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित पूर्ण हुआ।

॥ द्वितीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

❀

उपसर्ग-सहन

द्वितीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक पूर्ण हो गया। अब तृतीय उद्देशक का प्रारम्भ करते है। द्वितीय उद्देशक के अन्त मे कहा था कि पापो मे विरत पुरुष ससारसागर को पार करते हैं। किन्तु पापो का अन्त तभी हो सकता है, जब साधक उपसर्गों एव परीषहो की कसौटी मे उत्तीर्ण हो जाय। अन्यथा उपसर्गों और परीषहो की सेना जब साधक पर आक्रमण करेगी, तब वह रोष, द्वेष, अभिमान, मद, काम, क्रोध, लोभ आदि के वश होकर पापो का अन्त करने के बदले पापो की आय पहले से अधिक बढा लेगा। इसलिए तीसरे उद्देशक का अर्थाधिकार बताते हुए निर्युक्तिकार ने यही कहा है कि परीषहो और उपसर्गों को सहने से अज्ञानजनित कर्मो का अपचय होता है, इसलिए साधक को इन दोनो को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। यही तीसरे उद्देशक मे बताया गया है। जिसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

सवुडकम्मस्स भिक्खुणो ज दुक्ख पुट्ठ अबोहिए।
त सजमओऽवचिज्जई, मरण हिच्चा वयति पडिया ॥१॥

सवृतकर्मण भिक्षो यद्दु ख स्पृष्टमबोधिना ।
तत्सयमतोऽवचीयते, मरण हित्वा व्रजन्ति पण्डिता ॥१॥

अन्वयार्थ

(सवुडकामस्स) अष्टविधकर्मो का आगमन जिसने रोक दिया है, (भिक्खुणो) ऐसे भिक्षाशील साधु को (अबोहिए) अज्ञानवश (ज दुक्ख) दु ख का उत्पादक कठिन कर्म (पुट्ठ) बँध गया है, (त) वह दु खोत्पादक कर्म (सजमओ) सत्रह प्रकार के सयम-पालन से (अवचिज्जई) क्षीण हो जाता है। (पडिया) और वे पण्डित साधक (मरण) मरण का त्याग करके (वयति) मोक्ष को प्राप्त करते है।

भावार्थ

जिस भिक्षु ने आठ प्रकार के कर्मो का आगमन (आस्रव) रोक दिया है, उसको जो अज्ञानवश दु खोत्पादक कर्मबन्ध हुआ है, वह सयम के अनुष्ठान से क्षीण हो जाता है। वे सद्-असद्विवेकी साधक सदा के लिए मरण का त्याग करके मोक्ष को प्राप्त करते है।

व्याख्या

अज्ञानजनित कर्मोपचय सयम से

इस गाथा मे कर्मो के आगमन को रोकने का उपाय सयमानुष्ठान बताकर साधक को उसके दूरगामी सुपरिणाम से आश्वस्त किया है। जिस भिक्षु ने आठ प्रकार के कर्मो के आगमन (आस्रव) के कारणभूत मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को रोक दिया है, उस साधु को अज्ञानवश जो दु ख—असाता-वेदनीय अथवा दु ख के कारणभूत आठ प्रकार के कर्म स्पृष्ट, बद्ध और निधत्तरूप से उपस्थित (सचित) हुए हैं, वे तीर्थकरोक्त १७ प्रकार के सयम के अनुष्ठान से प्रति-क्षण नष्ट होते रहते है। आशय यह है कि जिस तालाब मे पानी के आने का मार्ग बन्द है, उसमे पहले का रहा हुआ पानी जैसे सूर्य की किरणो के सम्पर्क से या जनता द्वारा व्यय करने से प्रतिदिन घटता-घटता एक दिन सूखकर समाप्त हो जाता है, वैसे ही जिस साधक ने आस्रव-द्वार को बन्द कर दिया है तथा इन्द्रिय, योग और कषाय को रोकने मे सदा सावधान रहता है, उस सवृतात्मा पुरुष के अनेक जन्मो के सचित अज्ञानजनित कर्म सयम के अनुष्ठान से क्षीण हो जाते हैं। वे सद्-असद्विवेकी (पण्डित) साधक कर्मक्षय होने से मरणस्वभाव को तथा उपलक्षण से जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि को सर्वथा यही छोडकर (जन्म-मरण का चक्र यही समाप्त कर) मोक्षधाम मे जा पहुँचते हैं, जहाँ से वापिस लौटना नही होता है। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

मूल

जे विन्नवणाहिऽज्झोसिया, सतिन्नेहि समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढति पासहा अदक्खु कामाइ रोगव ॥२॥

स ं स्कृत छाया

ये विज्ञापनाभिरजुष्टा सतीर्णै सम व्याख्याता।
तस्माद् ऊर्ध्व पश्यत, अद्राक्षु कामान् रोगवत् ॥२॥

अन्वयार्थ

(जे) जो साधक (विन्नवणाहि) कामवान्छा निवेदन करने वाली कामिनियो से (अजोसिया) सेवित नही है, वे (सतिन्नेहि) ससार-सागर को उत्तीर्ण—कर्ममुक्त

ि ीय अध्ययन : तृतीय उद्दे

उपसर्ग-सहन

द्वितीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक पूर्ण हो गया। अव तृतीय उद्देशक का प्रारम्भ करते है। द्वितीय उद्देशक के अन्त मे कहा था कि पापो से विरत पुरुष ससारसागर को पार करते है। किन्तु पापो का अन्त तभी हो सकता है, जव साधक उपसर्गो एव परीपहो की कसौटी मे उत्तीर्ण हो जाय। अन्यथा उपसर्गो और परीपहो की सेना जब साधक पर आक्रमण करेगी, तब वह रोप, द्वेष, अभिमान, मद, काम, क्रोध, लोभ आदि के वश होकर पापो का अन्त करने के बदले पापो की आय पहले से अधिक बढा लेगा। इसलिए तीसरे उद्देशक का अर्थाधिकार बताते हुए निर्युक्तिकार ने यही कहा हे कि परीषहो और उपसर्गो को सहने से अज्ञानजनित कर्मो का अपचय होता है, इसलिए साधक को इन दोनो को समभावपूर्वक महन करना चाहिए। यही तीसरे उद्देशक मे बताया गया है। जिसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल

सवुडकम्मस्स भिक्खुणो ज दुक्ख पुट्ठ अबोहिए।
त सजमओऽवचिज्जई, मरण हिच्चा वयंति पडिया ॥१॥

सस्कृत छाया

सवृतकर्मण भिक्षो यद्दु ख स्पृष्टमबोधिना ।
तत्सयमतोऽवचीयते, मरण हित्वा व्रजन्ति पण्डिता ॥१॥

अन्वयार्थ

(सवुडकामस्स) अष्टविधकर्मो का आगमन जिसने रोक दिया हे, (भिक्खुणो) ऐसे भिक्षाशील साधु को (अबोहिए) अज्ञानवश (ज दुक्ख) दु ख का उत्पादक कठिन कर्म (पुट्ठ) वँध गया है, (त) वह दु खोत्पादक कर्म (सजमओ) सत्रह प्रकार के सयम-पालन से (अवचिज्जई) क्षीण हो जाता है। (पडिया) और वे पण्डित साधक (मरण) मरण का त्याग करके (वयति) मोक्ष को प्राप्त करते है।

भावार्थ

जिस भिक्षु ने आठ प्रकार के कर्मों का आगमन (आस्रव) रोक दिया है, उसको जो अज्ञानवश दु खोत्पादक कर्मबन्ध हुआ है, वह सयम के अनुष्ठान से क्षीण हो जाता है। वे सद्-असद्विवेकी साधक सदा के लिए मरण का त्याग करके मोक्ष को प्राप्त करते है।

व्याख्या

अज्ञानजनित कर्मापचय सयम से

इस गाथा मे कर्मों के आगमन को रोकने का उपाय सयमानुष्ठान बताकर साधक को उसके दूरगामी सुपरिणाम से आश्वस्त किया है। जिस भिक्षु ने आठ प्रकार के कर्मों के आगमन (आस्रव) के कारणभूत मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को रोक दिया है, उस साधु को अज्ञानवश जो दु ख—असातावेदनीय अथवा दु ख के कारणभूत आठ प्रकार के कर्म स्पृष्ट, बद्ध और निधत्तरूप से उपस्थित (सचित) हुए हैं, वे तीर्थंकरोक्त १७ प्रकार के सयम के अनुष्ठान से प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। आशय यह है कि जिस तालाब मे पानी के आने का मार्ग बन्द है, उसमे पहले का रहा हुआ पानी जैसे सूर्य की किरणो के सम्पर्क से या जनता द्वारा व्यय करने से प्रतिदिन घटता-घटता एक दिन सूखकर समाप्त हो जाता है, वैसे ही जिस साधक ने आस्रव-द्वार को बन्द कर दिया है तथा इन्द्रिय, योग और कषाय को रोकने मे सदा सावधान रहता है, उस सवृतात्मा पुरुष के अनेक जन्मो के सचित अज्ञानजनित कर्म सयम के अनुष्ठान से क्षीण हो जाते है। वे सद्-असद्विवेकी (पण्डित) साधक कर्मक्षय होने से मरणस्वभाव को तथा उपलक्षण से जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि को सर्वथा यही छोडकर (जन्म-मरण का चक्र यही समाप्त कर) मोक्षधाम मे जा पहुँचते हैं, जहाँ से वापिस लौटना नही होता है। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

मूल पाठ

जे विन्नवणाहिऽज्जोसिया, संतिन्नेहि समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढंति पासहा अदक्खु कामाइ रोगव ॥२॥

सस्कृत छाया

ये विज्ञापनाभिरजुष्टा सतीर्णैं सम व्याख्याता।
तस्माद् ऊर्ध्व पश्यत, अद्राक्षु कामान् रोगवत् ॥२॥

अन्वयार्थ

(जे, जो साधक (विन्नवणाहि) कामवाञ्छा निवेदन करने वाली कामिनियो से (अजोसिया) सेवित नही है, वे (सतिन्नेहि) ससार-सागर को उत्तीर्ण—कर्ममुक्त

पुरुपो के (सम) समान (वियाहिया) कहे गये है। (तम्हा) इसलिए (उड्ढति) इस कामिनीपरित्याग के बाद ही (पासहा) मोक्षप्राप्ति होती हे, यह देखो! (कामाइ) कामभोगो को जिन महासत्त्व साधको ने (रोगव) आत्मा के लिए रोग के समान (अदक्खु) देखा ह, वे मुक्त के तुल्य है—जीवनमुक्त हे।

र्थ

जो साधक कामिनियो से ससक्त—सेवित नही है, वे ससारपारगत मुक्तपुरुष के सदृश कहे गये है। सचमुच कामिनीपरित्याग के बाद ही मुक्ति होती है, यह देखो! जिन महासत्त्व साधको ने कामिनीससर्ग या कामभोगो को रोग के समान जान—देख लिया है, वे मुक्तपुरुषो के तुल्य—जीवनमुक्त-से है।

व्याख्या

कामिनीससर्गत्याग ही सदृश बनाता है

साधक को मुक्ति प्राप्त करने मे सबसे बडा रोडा है—कामिनी-ससर्ग अथवा कामवासना का ससर्ग। यह जब तक नही छूटता है, तब तक बाहर से चाहे कितने ही उच्च क्रियाकाण्ड कर ले, साधुवेप पहन ले, घोर तप कर ले, उसकी मुक्ति नही हो सकती। अत शास्त्रकार इसी बात को कहते है—'जे विन्नवणाहिऽजोसिया सतिन्नेहि सम वियाहिया।' यहाँ विन्नवणा (विज्ञापना) शब्द कामिनी का द्योतक हे। कामीपुरुप जिसके प्रति अपनी काम-कामना प्रगट करता है, अथवा जो काम-सेवन के लिए अपना अभिप्राय प्रकट करती है, कामसेवन के लिए प्रार्थना—विज्ञ-पन—निवेदन करती है, इसलिए शास्त्रकार कामिनी को विन्नवणा (विज्ञापना) कहते है। जो महासत्त्व साधक विज्ञापनाओ—कामिनियो से ससक्त—सेवित नही है, जो कामिनियो के कामजाल मे सर्वथा मुक्त है अथवा कामिनियो द्वारा होने वाले सयम-जीवन के नाश से जो बिलकुल अससक्त है—बेलाग है, वे ससार सागर को समुत्तीर्ण करने वाले मुक्तपुरुष के सदृश कहे गये है। यद्यपि ससार-सागर को अभी पार नही किये हुए हैं, तथापि वे निष्किचन और कचन-कामिनी से ससर्ग से दूर तथा शब्दादि विपयो मे अनासक्त होने के कारण ससारसागर के किनारे पर ही स्थित हैं। एक वैदिक विचारक ने कहा है—

> वेधा द्वेधा भ्रम चक्रे, कान्तासु कनकेषु च।
> तासु तेष्वनासक्त साक्षात् भर्गो नराकृति ॥

अर्थात्—विधाता (कर्मरूपी विधाता) ने दो भ्रम (ससारभ्रमण के कारण) पैदा किये है—एक तो कामिनियो मे और दूसरा कनक मे। उन कामिनियो और उन धन-साधनो मे जो आसक्त नही है, समझ लो, वह मनुष्य के आकार मे वह साक्षात् परमात्मा है।

जिसने कामिनीससर्गरूप महासागर को पार कर लिया, समझ लो, उसने ससारसागर को ही लगभग पार कर लिया। इसीलिए शास्त्रकार कहते ह —'तम्हा उड्ढति पासहा कामाइ रोगव।' अर्थात् स्त्रीससर्ग त्याग के बाद ही मोक्ष (मुक्ति का सामीप्य) होता है, यह विचार करके देख लो। जिन महात्माओ ने कचन-कामिनी के कामो (इच्छाकाम—मदनकाम) को [1]रोगसदृश जान—देख लिया है, वे भी मुक्तपुरुष के सदृश जीवनमुक्त से ही कहे गये है। कहा भी ह –

पुप्फफलाण च रस सुराइ-मसस्स महिलियाण च।
जाणता जे विरया ते दुक्करकारए वन्दे ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति फलो एव फलो का रस (तन्निष्पन्न), मदिरादि, मास एव महिलाओ (के ससर्ग) को अनर्थ का कारण जानकर इनसे सर्वथा विरत हो गये है, उन दुष्कर कार्य करने वाले महान् पुरुषो को मैं वन्दन करता हूँ।

यहाँ 'तम्हा उड्ढति पासहा' के बदले 'उड्ढ तिरिय अहे तहा' पाठान्तर भी मिलता है, जिसका अर्थ है—सौधर्म आदि ऊर्ध्व (देव) लोक मे, तिर्यक्लोक मे एव भवनपति आदि अधोलोक मे जो कामभोग विद्यमान है, उन्हे जो महाभाग रोग के सदृश जानते है, वे ससारसमुद्रोत्तीर्ण पुरुषो के समान कहे गये है।

मूल

अग्गं वणिएहि आहियं, धारती राईणिया इह।
एवं परमा महव्वया अक्खाया उ सराइभोयणा ॥३॥

सस्कृत छाया

अग्र वणिग्भिराहृत धारयन्ति राजान इह।
एव परमानि महाव्रतानि आख्यातानि सरात्रिभोजनानि ॥३॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक मे (वणिएहि) व्यापारियो के द्वारा (आहिय) सुदूर देशो से लाये हुए (अग्ग) उत्तमोत्तम माल पदार्थसमूह को (राईणिया) राजा, महाराजा, आदि सत्ताधीश या धनाढ्य (धारती) ले लेते है, ग्रहण कर लेते है—खरीद लेते है (एव) इसी प्रकार (अक्खाया) आचार्य द्वारा प्रतिपादित (सराइभोयणा) रात्रि-भोजनविरमणव्रत के सहित (परमा महव्वया) उत्कृष्ट महाव्रतो को साधुपुरुष धारण कर लेते है।

---

1 एक विचारक ने कहा है—

काम कुलकलकाय कुलजाताऽपि कामिनी।
शृङ्खला स्वर्णजाताऽपि बन्धनाय न सशय ॥

अर्थ

इस लोक मे जैसे व्यापारियो द्वारा सुदूर परदेशो से लाये हुए उत्तमोत्तम वस्त्र-रत्न आदि कीमती माल को बडे-बडे सत्ताधीश या धनाढ्य धारण (खरीद) कर (ले) लेते है, वैसे ही आचार्यो द्वारा प्रतिपादित रात्रि-भोजनत्यागव्रत के सहित उत्कृष्ट पाँच महाव्रतो को उच्चसाधक धारण करते है।

व्याख्या

रात्रिभोजनविरतिसहित महाव्रतो का धारण क्यो और कैसे ?

पूर्वगाथा मे कामिनी-ससर्ग-त्याग को मोक्ष का प्रधान कारण बताया है, अब उसी के सन्दर्भ मे शास्त्रकार का आशय केवल ब्रह्मचर्य-महाव्रत ही नही, अन्य अहिंसा आदि महाव्रतो एव रात्रिभोजनत्यागव्रत को भी साधक के लिए आवश्यक बताना है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार वणिको का दृष्टान्त देकर पचमहाव्रत-धारण का महत्त्व समझाते है—'अग्ग वणिएहि अ ा उ सराइभोयणा।' आशय यह है कि जैसे बनियो द्वारा सुदूर देशो से लाये हुए प्रधान रत्न, वस्त्र, आभूषण, पात्र आदि को राजा-महाराजा आदि सत्ताधीश या ऐश्वर्यसम्पन्न धनाधीश लोग धारण करते है। इसी तरह आचार्यो द्वारा प्रतिपादित रात्रिभोजनत्यागव्रत के सहित रत्नतुल्य उक्त भौतिक रत्नो से भी बढकर महाव्रतरत्नो को योग्य साधक धारण करते है।

निष्कर्ष यह है कि जैसे प्रधान रत्नो के भाजन राजा आदि है, वैसे ही महाव्रतरूपी रत्नो के भाजन (पात्र) महापराक्रमी श्रमण ही है, दूसरे नही।

मूल

जे इह सायाणुगा नरा, अज्झोववन्ना कामेहि मुच्छिया।
किवणेण सम पगब्भिया, न वि जाणति समाहिमाहित ॥४॥

छाया

ये इह सातानुगा नरा, अध्युपपन्ना कामेषु मूर्च्छिता ।
कृपणेन सम प्रगल्भिता, नाऽपि जानन्ति समाधिमाख्यातम् ॥४॥

अर्थ

(इह) इस लोक मे (जे नरा) जो मनुष्य (सायाणुगा) सुखो के पीछे हाथ धोकर पडे हुए है, (अज्झोववन्ना) ऋद्धि (वैभव) रस (स्वाद) और साता (सुख-सुविधा) के गौरव मे—अहकार मे डूबे हुए है, (कामेहि मुच्छिया) इच्छाकाम एव मदनकाम-भोगो मे मूर्च्छित है, वे (किवणेण सम) इन्द्रिय-लम्पट लोगो के समान

(पगब्भिया) धृष्टतापूर्वक वेहिचक कामसेवन करते है। (आहिय समाहिं) ऐसे लोग बताए हुए समाधि के स्वरूप को (न वि जाणंति) भी नही जानते।

भावार्थ

इस ससार मे जो मनुष्य (साधक बनकर भी) सुख के पीछे वेतहाशा दौडते है तथा अहर्निश ऋद्धि (वैभव), रस (स्वाद) और साता (सुख-सुविधा) के वडप्पन के अहकार मे डूवे हुए है तथा पचेन्द्रिय विषय-जनित कामभोगो मे आसक्त हैं, वे इन्द्रियलोलुप लोगो के समान वेधडक धृष्ट होकर कामसेवन करते है। ऐसे लोग कहने-सुनने पर भी समाधि या धर्म-ध्यान को नही समझते या जानना नही चाहते।

व्याख्या

सुख-भोगो के पीछे जीवनसमाधि को न समझने वाले !

पिछली गाथा मे रात्रिभोजनत्याग के सहित पचमहाव्रतो को धारण करने की प्रेरणा दी गई है, परन्तु पचमहाव्रतो का पालन कौन साधक कर सकता है ? इसे बताने के लिए शास्त्रकार इस गाथा मे महाव्रतो के अयोग्य साधको का वर्णन करते हैं—जे इह सायाणुगा समाहिमाहित—आशय यह है कि जो तुच्छ प्रकृति के मनुष्य इस ससार मे (साधुवेश धारण करके) परीषहो और उपसर्गो (कष्टो एव दु खो) या इहलौकिक-पारलौकिक विपदाओ से डरकर रातदिन सुखसुविधाओ (साता) के पीछे दौड लगाते फिरते है, वैषयिक सुखो की तलाश मे भागदौड करते रहते है, समृद्धि (वैभव), रस (स्वाद) और साता (सुखसुविधाओ) के वडप्पन (गौरव) के अहकार मे डूवे रहते है। वे कभी अपने भविष्य के विषय मे सोचते ही नही, न उन्हे जीवननिर्माण की कोई चिन्ता है, दिनरात इच्छामदनरूप कामभोगो की तृष्णा मे मूर्च्छित रहते है। वे इन्द्रिय लम्पटो के समान धृष्टतापूर्वक नि सकोच कामसेवन मे रत रहते हैं। ऐश-आराम, आमोद-प्रमोद, सुख-सुविधाओ एव रागरग मे मशगूल रहने वाले व्यक्ति महाव्रतो की साधना क्या खाक करेंगे ? वे यही समझते है कि जरा-सी ईर्यासमिति आदि का पालन नही किया तो कौन-सा पहाड टूट पडेगा ? मूलव्रत तो सुरक्षित है, इन वाह्य क्रियाओ को नही किया तो कौन-सा मेरा सयम नष्ट हो जाएगा ? इस प्रकार प्रमादवश या सुखसुविधा मे ग्रस्त होकर श्वेत वस्त्र या मणिमय भूमि की तरह समस्त सयम को मलिन और सच्छिद्र कर डालते हैं। ऐसे गर्वस्फीत एव वाह्य सुखो के पीछे पागल बने हुए साधक किसी हितैषी के कहने-सुनने पर भी आत्मसमाधि या धर्मध्यान की वात को सुनना समझना नही चाहते।

मूल पाठ

वाहेण जहावविच्छए, अबले होइ गव पचोइए ।
से अतसो अप्पथामए, नाइवहइ अबले विसीयति ॥५॥

सस्कृत छाया

वाहेन यथावविक्षतोऽवलो भवति गौ प्रचोदित ।
सोऽन्तशोऽल्पस्थामा नातिवहत्यवलो विषीदति ॥५॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (वाहेण) गाडीवान के द्वारा (वविच्छए) चाबुक मारकर (पचोइए) प्रेरित किया हुआ (गव) बैल (अबले) दुर्बल (होइ) हो जाता है, फिर वह चलता नही है। (से) वह (अप्पथामए) अल्प सामर्थ्य वाला (अबले) दुर्बल बैल (अतसो) अन्त मे (नाइवहइ) भार वहन नही करता है, अपितु (विसीयति) थक जाता है और कीचड आदि मे फँसकर क्लेश पाता है।

भावार्थ

जैसे गाडीवान के द्वारा चाबुक मार-मार कर चलाया (प्रेरित किया) हुआ बैल दुर्बल हो जाता है, फिर वह कठिन मार्ग को पार नही कर सकता। अन्त मे वह अल्पसामर्थ्यवाला दुर्बल बैल भार ढो नही सकता, अपितु विपममार्ग मे कही कीचड आदि मे फँसकर क्लेश पाता है।

मूल

एव कामेसर्ण विऊ अज्जसुए पयहेज्ज सथव ।
कामी कामे ण कामए लद्धे वावि अलद्धे कण्हुई ॥६॥

सस्कृत छाया

एव कामेषणाया विद्वान् अद्यश्व प्रजह्यात् सस्तवम् ।
कामी कामान्न कामयेत् लब्धान् वाऽप्यलब्धान् कुतश्चित् ॥६॥

अन्वयार्थ

(एव) इसी प्रकार (कामेसण विऊ) काम के अन्वेषण मे निपुण पुरुप (अज्जसुए) आज या कल मे वह (सथव) काम-भोग की एषणा को (पयहेज्ज) छोड देगा, ऐसा सिर्फ विचार किया करता है, छोड नही सकता, अत (कामी) कामी पुरुप (कामे) काम-भोगो की (ण कामए) कामना ही न करे और (लद्धे वावि) प्राप्त हुए काम-भोगो को भी (अलद्धे कण्हुई) अप्राप्त के समान जाने, यही अभीष्ट है।

र्थ

इसी प्रकार काम-भोगो के अन्वेषण मे निपुण पुरुष आज या कल मे

काम-भोगो को छोड देगा, ऐसा विचारमात्र करता है, मगर छोट नही सकता है। अत कामी को कामभोगो की कामना ही न करनी चाहिए, और प्राप्त हुए काम-भोगो को भी अप्राप्त की तरह जानकर उनसे नि स्पृह हो जाना चाहिए।

व्याख्या

भार ढोने मे असमर्थ मरियल बैल विषममार्ग पर नही चल सकता

जो बैल गाडी को ठीक-ठीक वहन नही करता, उसे गाडीवान चाबुक मार-कर चलने के लिए मजबूर करता है, परन्तु दुर्बल होने के कारण वह बैल विषमपथ पर चल नही पाता। वह मरणान्त कष्ट पाकर भी दुर्बल होने के कारण भार को ढो नही सकता, किन्तु वही कीचड आदि विषम स्थानो मे कष्ट भोगता है। यह पाँचवी गाथा का आशय है।

दुर्बल बैल जैसे विषममार्ग को नही छोड सकता अर्थात् उसे पार नही कर सकता है वैसे ही कामी पुरुष भी शब्दादि काम-भोगो को नही छोड सकता। इस प्रकार पूर्वगाथा मे दृष्टान्त बताकर अब इस गाथा मे दार्ष्टान्त बताया गया है कि शब्दादि विषयो के अन्वेषण करने मे निपुण पुरुष शब्दादि विषयपक मे फँसने पर तथा विषयासक्तिजनित रोग, दु ख या इहलौकिक-पारलौकिक कष्ट को देखकर आज छोड देंगे, कल छोड देंगे, इस प्रकार का बार-बार विचार करते है, लेकिन उक्त दुर्बल बैल की तरह वे शब्दादि कामो को नही छोड सकते।

कामी के लिए शास्त्रकार का उचित मार्गदर्शन

इस गाथा (न० ६) मे शास्त्रकार कामी पुरुष को कामत्याग के लिए दो ठोस उपाय बताते हैं—(१) काम-भोगो की कामना ही न करे और (२) प्राप्त काम-भोगो को भी अप्राप्त की तरह जानकर उनसे नि स्पृह हो जाए—'कामी **कामे ण कामए लद्धे वावि अलद्धे कण्हुई**।' वास्तव मे ये दोनो उपाय ठोस है। अगर कोई साधक अपने पूर्वजीवन (गृहस्थ-जीवन) मे कदाचित् कामी रहा हो, तो उसे काम-भोगो के दुष्परिणामो पर विचार करके वज्रस्वामी या जम्बूस्वामी आदि की तरह कामभोगो की इच्छा ही न करनी चाहिए अथवा स्थूलभद्र या क्षुल्लककुमार की तरह किसी भी निमित्त से प्रतिबोध पाए हुए पुरुष को प्राप्त विषयो को भी अप्राप्त की तरह ही जानकर तथा महासत्त्व बनकर उनसे नि स्पृह हो जाना चाहिए।

मूल पाठ

मा पच्छा असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पग ।
अहिय व असाहु सोयती, से थणति परिदेवती बहु ॥७॥

स त छाया

मा पश्चादसाधुता भवेदत्येह्यनुशाध्यात्मानम् ।
अधिकञ्चासाधु शोचते स स्तनति परिदेवते बहु ॥७॥

अन्वयार्थ

(पच्छा) पीछे (मा असाधुता भवे) दुर्गतिगमन न हो, इसलिए (अच्चेही) विषय-सेवन से (अप्पग) अपनी आत्मा को पृथक् करो और उसे (अणुसास) शिक्षा दो (च) और (असाहु) असाधु-असयमी पुरुष (अहिय) अधिक (सोयती) शोक करता है। (से थणति) वह चिल्लाता है, (बहु परिदेवती) वह बहुत रोता है।

भावार्थ

मृत्यु के पश्चात् दुर्गति प्राप्त न हो, इसलिए विषय-सेवन से अपनी आत्मा को हटा (बचा) लेना चाहिए और उसे अपने आपको शिक्षा देनी चाहिए कि असाधु-असयमी पुरुष बहुत शोक करता है, चिल्लाता है, रोता है।

व्याख्या

साधु काम का त्याग क्यो और कैसे करे ?

इस गाथा मे पूर्वगाथा के सन्दर्भ मे कामपरित्याग क्यो और कैसे करना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे बताया गया है कि काम मे आसक्त होने के कारण मृत्यु-काल मे अथवा दूसरे जन्म मे दुर्गति न हो, इसलिए पहले से ही साधक को सावधान होकर विषय-सेवन से अपना हाथ खीच लेना चाहिए, उसका चिन्तन भी न करना चाहिए, न पूर्वभुक्त विषय का स्मरण करना चाहिए तथा अपनी आत्मा को इस प्रकार की शिक्षा (उपदेश) देनी चाहिए —"हे जीव ! हिंसा, असत्य, चोरी अब्रह्मचर्य आदि असत्कर्म करने वाला असाधु पुरुष दुर्गति मे जाकर परमाधार्मिको के द्वारा बहुत यातना पाता है, तब बहुत शोक करता है, चिल्लाता है, तथा तिर्यंच होकर क्षुधा से व्याकुल वह जीव बहुत चिल्लाता है, वह रोता हुआ मन ही मन कहता है—'हाय ! मैंने बहुत पाप किया, उसका फल भोगना पड रहा है। मैं अब मर रहा हूँ, लेकिन इस समय मेरा कोई रक्षक नही, मुझ पापी को इस समय कौन शरण दे सकता है।' इस प्रकार असत्कर्म करने वाले व्यक्ति बहुत दु ख पाते है, इसलिए विषयससर्ग नही करना चाहिए।" इस प्रकार से आत्मा को शिक्षा दे।

मूल

इह जीवियमेव पासहा, तरुणए वाससयस्स तुट्टई।
इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥८॥

स छाया

इहजीवितमेव पश्यत तरुणके (एव) वर्षशतस्य त्रुट्यति ।
इत्वरवास च बुध्यध्व गृद्धनरा कामेषु मूर्च्छिता ॥८॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक मे (जीवियमेव) जीवन को ही (पासह) देखो । (वाससयस्स) सौ वर्ष की आयु वाले पुरुष का जीवन भी (तरुणए एव) युवावस्था मे ही (तुट्टई) नष्ट हो जाता है। (इत्तरवासे य बुज्झह) इस जीवन को थोडे दिन के निवास-तुल्य समझो। (गि रा) क्षुद्र या अविवेकी मनुष्य (कामेसु) कामभोगो मे (मुच्छिया) मोहित-मूर्च्छित हो जाते हैं।

भावार्थ

हे मनुष्यो ! इस मनुष्यलोक मे पहले तो अपने ही जीवन को देखो। कई मनुष्य शतायु होकर भी युवावस्था मे ही मरण-शरण हो जाते है। अत इस जीवन को थोडे काल के निवास के समान समझो। क्षुद्र या अविवेकी मनुष्य ही विषय भोगो मे आसक्त होते है।

व्याख्या

क्षणभगुर जीवन मे विषयासक्ति कैसी ?

इस गाथा मे शास्त्रकार जीवन की अनित्यता बताकर साधक को यह सोचने के लिए विवश कर देते है कि जब जीवन इतना क्षणभगुर है, अनित्य है, ऐसी स्थिति मे क्या कोई दूरदर्शी साधक विपयासक्त होकर अपने आप को नरकादि दुर्गतियो मे डालना चाहेगा ? कदापि नही। इस ससार मे और वस्तुओ की बात तो जाने दे, जिस जीवन को तुम समस्त सुखो का स्थान मानते हो, उसको ही देखो, वह भी अनित्यता से युक्त है और प्रतिक्षण होने वाले आयुनाशरूपी मरण—आवीचिमरण की दृष्टि से प्रतिक्षणविनाशी है। आयु दो प्रकार की होती है—सोपक्रमी और निरुपक्रमी। निरुपक्रमी आयुष्य बीच मे टूटता नही, पूरा भोगने के बाद ही छूटता है, ऐसा आयुष्य नारको, देवता तथा तीर्थंकर आदि उत्तम पुरुषो का होता है। सोपक्रमी आयुष्य किसी न किसी निमित्त (लाठी, डण्डा, बन्दूक, तलवार, ऊपर से गिरने या चोट लगने आदि निमित्त) से या किसी अध्यवसान (अत्यन्त हर्ष, विषाद के कारण अति चिन्ता करना अध्यवसाय कहलाता है, इसके होने पर आयु नष्ट हो जाती है क्योकि अतिचिन्ता से हृदयगति रुक जाती है। अथवा राग-द्वेपमय के कारण अतिचिन्ता उत्पन्न होती है, उससे भी आयु नष्ट हो जाती है।) मे सोपक्रमी आयु होने के कारण कोई शतायु पुरुप भी अकाल मे ही काल-कवलित हो जाता है। अथवा आयुष्य क्षीण हो जाए तो भी युवावस्था

संस्कृत छाया

मा पश्चादसाधुता भवेदत्येह्यनुशाध्यात्मानम् ।
अधिकञ्चासाधु शोचते स स्तनति परिदेवते बहु ॥७॥

अन्वयार्थ

(पच्छा) पीछे (मा असाधुता भवे) दुर्गतिगमन न हो, इसलिए (अच्चेही) विषय-सेवन से (अप्पग) अपनी आत्मा को पृथक् करो और उसे (अणुसास) शिक्षा दो (च) और (असाहु) असाधु-असयमी पुरुष (अहिय) अधिक (सोयती) शोक करता है। (से थणति) वह चिल्लाता है, (बहु परिदेवती) वह बहुत रोता है।

भावार्थ

मृत्यु के पश्चात् दुर्गति प्राप्त न हो, इसलिए विषय-सेवन से अपनी आत्मा को हटा (बचा) लेना चाहिए और उसे अपने आपको शिक्षा देनी चाहिए कि असाधु-असयमी पुरुष बहुत शोक करता है, चिल्लाता है, रोता है।

व्याख्या

साधु काम का त्याग क्यो और कैसे करे ?

इस गाथा मे पूर्वगाथा के सन्दर्भ मे कामपरित्याग क्यो और कैसे करना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे बताया गया है कि काम मे आसक्त होने के कारण मृत्यु-काल मे अथवा दूसरे जन्म मे दुर्गति न हो, इसलिए पहले से ही साधक को सावधान होकर विषय-सेवन से अपना हाथ खीच लेना चाहिए, उसका चिन्तन भी न करना चाहिए, न पूर्वभुक्त विषय का स्मरण करना चाहिए तथा अपनी आत्मा को इस प्रकार की शिक्षा (उपदेश) देनी चाहिए —"हे जीव ! हिंसा, असत्य, चोरी अब्रह्मचर्य आदि असत्कर्म करने वाला असाधु पुरुष दुर्गति मे जाकर परमाधार्मिको के द्वारा बहुत यातना पाता है, तब बहुत शोक करता है, चिल्लाता है, तथा तिर्यंच होकर क्षुधा से व्याकुल वह जीव बहुत चिल्लाता है, वह रोता हुआ मन ही मन कहता है—'हाय ! मैंने बहुत पाप किया, उसका फल भोगना पड रहा है। मैं अब मर रहा हूँ, लेकिन इस समय मेरा कोई रक्षक नही, मुझ पापी को इस समय कौन शरण दे सकता है।' इस प्रकार असत्कर्म करने वाले व्यक्ति बहुत दु ख पाते हैं, इसलिए विषयसमर्ग नही करना चाहिए।" इस प्रकार से आत्मा को शिक्षा दे।

मूल

इह जीवियमेव पासहा, तरुणए वाससयस्स तुट्टई ।
इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥८॥

संस्कृत छाया

इहजीवितमेव पश्यत तरुणके (एव) वर्षशतस्य त्रुट्यति ।
इत्वरवास च बुध्यध्व गृद्धनरा कामेषु मूर्च्छिता ॥८॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक मे (जीवियमेव) जीवन को ही (पासह) देखो । (वाससयस्स) सौ वर्ष की आयु वाले पुरुष का जीवन भी (तरुणए एव) युवावस्था मे ही (तुट्टई) नष्ट हो जाता है । (इत्तरवासे य बुज्झह) इस जीवन को थोडे दिन के निवास-तुल्य समझो । (गिद्धनरा) क्षुद्र या अविवेकी मनुष्य (कामेसु) कामभोगो मे (मुच्छिया) मोहित-मूर्च्छित हो जाते हैं ।

भावार्थ

हे मनुष्यो ! इस मनुष्यलोक मे पहले तो अपने ही जीवन को देखो । कई मनुष्य शतायु होकर भी युवावस्था मे ही मरण-शरण हो जाते है । अत इस जीवन को थोडे काल के निवास के समान समझो । क्षुद्र या अविवेकी मनुष्य ही विषय भोगो मे आसक्त होते है ।

व्याख्या

क्षणभगुर जीवन मे विषयासक्ति कैसी ?

इस गाथा मे शास्त्रकार जीवन की अनित्यता बताकर साधक को यह सोचने के लिए विवश कर देते हैं कि जब जीवन इतना क्षणभगुर है, अनित्य है, ऐसी स्थिति मे क्या कोई दूरदर्शी साधक विषयासक्त होकर अपने आप को नरकादि दुर्गतियो मे डालना चाहेगा ? कदापि नही । इस ससार मे और वस्तुओ की बात तो जाने दें, जिस जीवन को तुम समस्त सुखो का स्थान मानते हो, उसको ही देखो, वह भी अनित्यता से युक्त है और प्रतिक्षण होने वाले आयुनाशरूपी मरण—आवीचिमरण की दृष्टि से प्रतिक्षणविनाशी है । आयु दो प्रकार की होती है—सोपक्रमी और निरुपक्रमी । निरुपक्रमी आयुष्य बीच मे टूटता नही, पूरा भोगने के बाद ही छूटता है, ऐसा आयुष्य नारकी, देवता तथा तीर्थंकर आदि उत्तम पुरुषो का होता है । सोपक्रमी आयुष्य किसी न किसी निमित्त (लाठी, डण्डा, बन्दूक, तलवार, ऊपर से गिरने या चोट लगने आदि निमित्त) से या किसी अध्यवसान (अत्यन्त हर्ष, विषाद के कारण अति चिन्ता करना अध्यवसाय कहलाता है, इसके होने पर आयु नष्ट हो जाती है क्योकि अतिचिन्ता से हृदयगति रुक जाती है । अथवा राग-द्वेषमय के कारण अतिचिन्ता उत्पन्न होती है, उससे भी आयु नष्ट हो जाती है ।) मे सोपक्रमी आयु होने के कारण कोई शतायु पुरुष भी अकाल मे ही काल-कवलित हो जाता है । अथवा आयुष्य क्षीण हो जाए तो भी युवावस्था

जवानी मे ही मर जाता है। अथवा इस पचमकाल मे भरतक्षेत्र मे सौ वर्ष की बहुत बडी आयु मानी जाती है, वह भी सौ वर्ष के अन्त मे समाप्त हो ही जाती है। तथा वह आयु सागरोपमकाल की अपेक्षा कुछ एक निमिप के समान ही है। इसलिए उसे भी थोडे दिन के निवास के समान ही समझे। आयु की ऐसी अनित्यता जानकर क्षुद्र प्रकृति के जीव ही शब्दादि विषयो मे आसक्त हो सकते हैं, बुद्धिमान साधक नही। जो तुच्छ प्रकृति के अविवेकी जीव शब्दादि विषयो मे फँस जाते है, वे मृत्यु के बाद दुर्गति मे जाकर अनेक यातनाएँ सहते है।

मूल पाठ

जे इह आरभनिस्सिया अत्तदडा एगतलूसगा।
गता ते पावलोगयं, चिरराय आसुरिय दिस ॥८॥

स ा

ये इह आरम्भनिश्रिता आत्मदण्डा एकान्तलूषका ।
गन्तारस्ते पापलोकक चिररात्रमासुरी दिशम् ॥६॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक मे (जे) जो मनुष्य (साधक) (आरम्भनिस्सिया) आरम्भ मे ससक्त रचे-पचे रहते है। जो (अत्तदण्डा) अपनी आत्मा को दण्ड देते हैं, (एगतलूसगा) एकान्तरूप से प्राणियो की हिंसा करते हैं, (ते) वे (चिरराय) दीर्घकाल तक (पावलोगय) नरक आदि पापलोको मे (गता) जाते है। तथा वे (आसुरिय) असुरसम्बन्धी (दिस) दिशा को भी जाते हैं।

भावार्थ

जो साधक इस लोक मे आरम्भ मे आसक्त, अपनी आत्मा को दण्ड देने वाले तथा एकान्तरूप से जीवहिंसक है, वे चिरकाल तक के लिए नरकादि पापलोको मे जाते है। यदि बालतप आदि से वे देवता बने भी तो अधम असुरसज्ञक देव बनकर आसुरीयोनि मे जाते है।

व्याख्या

आरम्भ साधको के कुकृत्यो का दुष्परिणाम

इस गाथा मे आरम्भ मे ससक्त रहने वाले साधको के दुष्कर्मों का दुष्परिणाम बताकर सुविहित साधको को सावधान रहने के लिए सूचित किया गया है— 'जे इह आरम्भनिस्सिया आसुरिय दिसं।'

आशय यह है कि महामोह के प्रभाव से जिनका चित्त आकुल है वे लोग इस मनुष्य लोक मे साधकजीवन स्वीकार करने के बाद भी सावद्यानुष्ठानरूप हिंसाजनक कुकृत्यो मे अहर्निश रचे-पचे रहते है, इस प्रकार वे अपनी आत्मा को ही दण्ड

देते हैं, स्वपरघातक है। वे एकान्तरूप से प्राणियों के हिंसक हैं अथवा संयम के विध्वंसक है। वे मरकर अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप पापियों के लोक—नरक तिर्यंच आदि स्थानो मे जाते है और वहाँ चिरकाल तक निवास करते है। यदि बालतप आदि के प्रभाव से वे देवलोक मे भी चले जाएँ तो भी वहाँ असुरसम्बन्धी दिशा को ही प्राप्त करते हैं, अर्थात् वे दासरूप अधम किल्विषी देव होते है।

इस गाथा द्वारा शास्त्रकार ने सुविहित साधकों को आरम्भ मे बचने तथा अपनी आत्मा को उसके भारी दण्ड से बचाने के लिए सूचित कर दिया है।

मूल पाठ

ण य संखयमाहु जीवितं तहवि य बालजणो पगब्भई।
पच्चुप्पन्नेन कारियं, को दट्ठु परलोयमागते ॥१०॥

संस्कृत छाया

न च संस्कार्यमाहुर्जीवितं, तथाऽपि च बालजनः प्रगल्भते।
प्रत्युत्पन्नेन कार्य्यं को दृष्ट्वा परलोकमागतः ॥१०॥

अन्वयार्थ

(जीवितं) यह जीवन (ण य संखयमाहु) संस्कार करने योग्य नही है, टूटे हुए धागे के समान पुन जोड़े नही जा सकने योग्य है, ऐसा सर्वज्ञो ने कहा है। (तहवि य) तथापि (बालजणो) अज्ञानी पामरजन (पगब्भई) इस पर अत्यन्त इतराते है, और पाप करने मे धृष्टता करते है। वे कहते है कि (पच्चुप्पन्नेन कारियं) हमे तो वर्तमान सुख से प्रयोजन है। (को) कौन (परलोयं दट्ठु) परलोक देखकर (आगते) आया है।

भावार्थ

सर्वज्ञपुरुषो ने कहा है कि यह जीवन संस्कार-योग्य—टूटे हुए धागे के समान फिर से जुड़ने योग्य नही है, तथापि मूर्ख पामरजन वेहिचक पाप-कर्म करने की धृष्टता करते है। वे कहते हैं कि हमे तो वर्तमानकालीन सुख से प्रयोजन है, परलोक को देखकर कौन आया है?

व्याख्या

असंस्कृत जीवन होने पर भी पाप करने की धृष्टता

इस गाथा मे जीवन का धागा टूटने के बाद जुड नही सकता, यह बताकर शास्त्रकार ने उन पामर स्वपरहित से अज्ञजनो की करतूत पर व्यग्य करते हुए सुविहित साधकों को इसमे बोधपाठ लेने को सूचित किया है—ण य संखयमाहु जीवितं ... परलोयमागते।

आशय यह है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी महापुरुषो ने कहा है कि टूटी हुई आयु टूटी हुई डोरी के समान जोडी नही जा सकती है। कहा भी है—

दडकलिय करिता वच्चति हु राइओ य दिवसा य ।
आउ सवेल्लता गता य ण पुणो निवत्तति ॥

जैसे रेतघडी मे से रेत क्षण-क्षण मे कम होती जाती है, वैसे ही दिन और रात की आयु की घडी - अवधि मे से क्षीण होती हुई व्यतीत हो रही है। जो दिन-रात्रि व्यतीत हो जाती है, वे फिर लौटकर नही आती। आयु का एक क्षण भी अरबो स्वणमुद्राओ से भी खरीदा नही जा सकता। यदि वह निरर्थक चला गया तो उससे वढकर और क्या हानि हो सकती है? तेजी से बहता हुआ पानी क्या कभी लौटकर आता है? इसी प्रकार आयु के क्षण कभी लौटकर नही आते। जीवन की अनित्यता अनिश्चितता इतनी युक्तितर्कसगत और प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होते हुए भी पामर अज्ञ जीव अपने हिताहित का विचार न करके धृष्टतापूर्वक बेखटके पाप-कर्म—सावद्यानुष्ठान मे प्रवृत्ति करते रहते है। वे पाप करते हुए जरा भी नही हिचकते। कदाचित् कोई हितैषी पुरुष उन पापकर्ताओ को पापकर्म करते देखकर पाप न करने के लिए उपदेश देता है तो वे मिथ्यापाण्डित्य के गर्व से सना उत्तर देते है कि "हमे तो वर्तमानकाल से मतलब है, क्योकि वर्तमानकाल मे होने वाले पदार्थ ही वस्तुत सत् है, अतीत और अनागत पदार्थ नही। वे तो विनष्ट और अनुत्पन्न होने के कारण अविद्यमान् हैं। बुद्धिमान पुरुष तो वर्तमानकालीन पदार्थो को ही स्वीकार करते है। परलोक की और भूतकाल की कल्पनाएँ मिथ्या है, मन-गढत हैं। भला कौन परलोक देखकर यहाँ कहने को आया है, जिस पर विश्वास किया जाए कि परलोक है, भूतकाल है? कोई भी तो नही आया। इसलिए हम तो वर्तमान मे इस लोक मे जितना सुखभोग कर सकते है, करते है।"

मूल पाठ

अदक्खुव दक्खुवाहिय, (त) सद्दहसु अद॰ ॰दसणा ।
हदि हु सुनिरुद्धदसणे मोहणिज्जेण, कडेण कम्मुणा ॥११॥

पस्कृत छाया

अपश्यवत् पश्यव्याहृत श्रद्धत्स्व अपश्यदर्शन ।
गृहाण सुनिरुद्धदर्शन मोहनीयेन कृतेन कर्मणा ॥११॥

अन्वयार्थ

(अदक्खुव) हे अन्धे के समान पुरुष! (दक्खुवाहिय) सर्वज्ञ द्वारा कथित सिद्धान्त या आगम पर (सद्दहसु) श्रद्धा करो—विश्वास रखो। (अदक्खुदसणा) हे

असर्वज्ञ दर्शन वालो ! (मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा) स्वयकृत मोहनीयकर्म से (सुनि सणे) जिसकी ज्ञानदृष्टि बन्द हो गयी है, वह सर्वज्ञोक्त आगम को नही मानता, (हवि हु) यह जानो।

भावार्थ

हे अन्धतुल्य पुरुष ! तुम सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त या आगम पर श्रद्धाशील बनो। हे असर्वज्ञोक्त दर्शन को मानने वालो ! यह समझ लो कि स्वकृत मोहकर्म के कारण जिसकी ज्ञानदृष्टि बिलकुल बन्द हो गयी है, वही सर्वज्ञ-प्ररूपित आगम पर श्रद्धा नही करता।

व्याख्या

अन्धतुल्य नास्तिको के मन्तव्य का न

इस गाथा मे पूर्वगाथा मे उक्त ऐहिक सुख की तृष्णा मे डूबे हुए तथा परलोक को मिथ्या कहने वाले नास्तिको की मान्यता का खण्डन करते हुए तीखी वाणी मे व्यग करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'अदक्खुव कडेण कम्मुणा।' 'अदक्खुव' का अर्थ इस प्रकार है—जो देखता है वह 'पश्य' है। जो नही देखता, वह अन्धा कहलाता है, सस्कृत मे उसे 'अपश्य' कहते हैं। जो व्यक्ति कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विचार से शून्य है, वे अन्धपुरुष के सदृश है। उसी का सम्बोधन का रूप प्रयुक्त करके कहा गया है—"हे अन्धतुल्य पुरुष ! एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के कारण कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक से रहित पुरुष ! तुम सर्वज्ञपुरुष के वचनो (प्रवचनो) पर श्रद्धा रखो।" सर्वज्ञकथित आगमो पर श्रद्धा न करने का कारण बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'हवि हु सुनिरुद्धदसणे कम्मुणा' अर्थात् यह निश्चित समझो कि सर्वज्ञोक्त दर्शन पर श्रद्धा न करने का कारण यह है कि स्वयकृत मोहनीयकर्म के फलस्वरूप तुम्हारी ज्ञानदृष्टि लुप्त या बन्द हो गयी है। जिस पुरुष का दर्शन यानी सम्यग्ज्ञान अत्यन्त रुक गया है, उसे निरुद्धदर्शन (सुनिरुद्धदसणे) कहते हैं।

उसका ज्ञान किससे रुक गया इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—'मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा।' जीवो को मोहित करने वाले मिथ्यादर्शन अथवा ज्ञानावरणीय आदि स्वकृत कर्मो के कारण उसका ज्ञान रुक गया है, अत वह प्राणी सर्वज्ञोक्तमार्ग मे श्रद्धा नही करता है। मोहनीयकर्म के कारण ही उन्हे सर्वज्ञोक्त आगमो पर विश्वास नही होता। और इसी कारण वे लोग एकमात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते है। इससे समस्त व्यवहार का लोप हो जाता है। व्यवहार लोप हो जाने से उनका अस्तित्व ही खत्म हो जाएगा। क्योकि एकमात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने पर कौन किसका पिता है ? कौन किसका पुत्र है ? इत्यादि व्यवहार भी नही हो सकेगा।

इतना होने पर भी यदि तुम सर्वज्ञोक्त आगम को स्वीकार नही करोगे तो अन्धपुरुष के समान कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक से रहित हो जाओगे ।

अथवा इस गाथा का अर्थ यह भी सम्भव है —हे अन्यदर्शन वाले पुरुष ! चाहे तुम अदक्ष (अनिपुण) हो या दक्ष (निपुण) हो, जैसे भी हो, तुम्हे अचक्षु-दर्शन—केवलज्ञानी सर्वज्ञपुरुष द्वारा जो हित की प्राप्ति होती है, उसमे श्रद्धा करनी चाहिए।

तात्पर्यार्थ यह है कि अपने आग्रह को छोडकर सर्वज्ञोक्त मार्ग पर श्रद्धा करो, इसी मे तुम्हारा कल्याण निहित है ।

मूल पाठ

दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विदेज्ज सिलोगपूयण ।
एव सहितेऽहिपासए, आयतुले पाणेहि सजए ॥१२॥

स छाया

दु खी मोह पुन पुनर्निर्विन्देत श्लोकपूजनम् ।
एव सहितोऽधिपश्येद् आत्मतुल्यान् प्राणान् सयत ॥१२॥

अन्वयार्थ

(दुक्खी) दु खी जीव (पुणो पुणो) बार-बार (मोहे) मोह—विवेकमूढता को प्राप्त करता है । (सिलोगपूयण) अत साधक अपनी स्तुति और पूजा को (निव्विदेज्ज) त्याग दे । (एव) इस प्रकार (सहिते) ज्ञानादिसम्पन्न (सजए) सयमी साधु (पाणेहि) प्राणियो को (आयतुल) आत्मतुल्य—अपने समान (अहिपासए) देखे ।

र्थ

दु खी जीव बार-बार मोह (विवेक) मूढ होते हैं । अत साधक स्तुति से विरक्त रहे । इस प्रकार ज्ञानादि से सम्पन्न साधु समस्त प्राणियो को आत्मतुल्य (अपने समान) देखें।

सब प्राणियो को ० वत् समझे

इस गाथा मे मोहमोहित जीवो की दशा बतलाकर ज्ञानादिसम्पन्न सुविहित साधक को स्वत्वमोह छोडकर सभी जीवो को आत्मवत् देखने का उपदेश दिया गया है ।

दुक्खी मोहे पुणो पुणो—उदयावस्था को प्राप्त असातावेदनीय को दु ख कहते है अथवा असातावेदनीय के कारण का नाम दु ख है । जो प्राणी को बुरा (प्रतिकूल) लगता है, सुहाता नही, उसे भी दु ख कहते है । जिसको दु ख हो रहा

हो, उस प्राणी को दु खी कहते हे। दु खी प्राणी दु ख मे भान भूल जाता हे। क्या करना और क्या न करना, इस बात का उसे विवेक नही रहता। वह किंकर्तव्य-विमूढ होकर मनमानी करता रहता है। जो हितैषी उसे दु ख (आर्तध्यान) के समय उपदेश देता है, उसके उपदेश को भी वह मूढ ठुकरा देता हे। सर्वज्ञ के उपदेश पर भी उसे विश्वास नही होता। और वह दु ख के आवेश मे लगातार ऊटपटाँग कुकृत्य करके बार-बार मोहकर्मबन्धन कर लेता है। दूसरी बात यह ह कि जो मानसिक दु खी होता है, वह अपने को दूसरो की तुलना मे नीची कोटि का मानकर जरा-जरा-सी बात मे अपना अपमान समझ लेता हे। वह अपने आपको उच्च स्थिति मे एव प्रतिष्ठित कहलाने के लिए पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के कई हथकडे अपनाता ह। जरा-सी प्रतिष्ठा प्राप्त होते ही, समाज या राष्ट्र मे एक दफा जरा-सा नाम चमकते ही वह दूसरो को अपने से तुच्छ, हीन, नीच समझने लगता है। इस प्रकार उच्च-नीच, छोटे-बडे, अच्छे-बुरे आदि विषमता की भावना का शिकार होकर वह विवेक-मूढ पुन -पुन मोहकर्मवश दुष्कर्म करता है, जिसके कारण दु खी होता रहता ह।

इसी दृष्टि से शास्त्रकार इस गाथा के द्वितीय चरण मे सुविहित साधुओ के लिए प्रेरणा देते है—**'निव्विदेज्ज सिलोगपूयण।'** अपनी स्तुति-पूजा से दूर रहो। जहाँ एक बार भी पूजा, प्रतिष्ठा और यशकीर्ति की चाट लग गयी कि विवेकमूढ होकर तुम भी पुन जरा-जरा-सी बात मे अपमान, तिरस्कार समझकर मानसिक दु खी बन जाओगे। इसलिए विवेकी बनकर सबके प्रति आत्मवत् भावना रखो। अपने लिए उच्चता की भावना होगी, तो दूसरो को नीच और तुच्छ समझने की गलत वृत्ति पैदा होगी। इसीलिए नीचे की पंक्ति मे कहा—**'एव सहिते आयतुले पाणेहिं सजए।'** ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पन्न (भरा-पूरा) साधु सबको आत्मतुल्य समझता है, वह किसी की निन्दा, अपकीर्ति, अपमान या बेइज्जती नही करता, और न ही अपने लिए पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा करता है। स्वपर-कल्याण मे प्रवृत्त साधु सुख चाहने वाले दूसरे प्राणियो को अपने ही समान सुख को प्रिय तथा दु ख को अप्रिय मानने वाले समझे।

मूल पाठ

अगारं पि य आवसे नरे, अणुपुव्व पाणेहिं सजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे स लोगय ॥१३॥

सस्कृत छाया

अगारमप्यावसन्नर आनुपूर्व्या प्राणेषु सयत।
समता सर्वत्र सुव्रतो देवाना गच्छेत् स लोकम् ॥१३॥

अन्वयार्थ

(अगार पि य) घर (गृहस्थ) मे भी (आवसे) निवास करता हुआ (नरे) मनुष्य (अणुपुव्व) क्रमश (पाणेहिं सजए) प्राणियो पर सयम दयाभाव रखकर तथा (सव्वत्थ) सब प्राणियो पर (समता) समभाव रखता हुआ (स) वह (सुव्वते) व्रती श्रावक (देवाण) देवो के (लोग) लोक को (गच्छे) जाता है।

भावार्थ

जो पुरुष गृह (घर) मे निवास करता हुआ भी क्रमश श्रावकधर्म को प्राप्त करके प्राणियो की हिंसा से निवृत्त हो जाता है तथा सर्वत्र समता र ा है, वह सुव्रती गृहस्थ भी देवो के लोक मे चला जाता है।

व्याख्या

व्रतधारी गृहस्थ भी सुगति प्राप्त करता है

इस गाथा मे सुव्रती गृहस्थ को भी देवलोक मे सुगति बताकर प्रकारान्तर से महाव्रती साधु को अहिंसा और समता के उच्च आचरण की प्रेरणा दी गयी है— 'अगार पि य आवसे देवाण गच्छे स लोगय।' आशय यह है कि गृहस्थ मे रहता हुआ भी जो मनुष्य क्रमश श्रावकधर्म को अगीकार करके यथाशक्ति मर्यादानुसार प्राणिहिंसा पर सयम रखता है, तथा आर्हतप्रवचनोक्त समस्त एकेन्द्रियादि प्राणियो के प्रति समभाव रखकर अन्य प्राणियो को भी आत्मवत् मानता है, वह सुव्रती श्रावक गृहस्थ होकर भी इन्द्रादि देवो के लोक मे जाता है, तो फिर पचमहाव्रतधारी उत्कृष्ट सयमी महासत्त्व साधुओ की तो बात ही क्या ?

मूल पाठ

सोच्चा भगवाणुसासणं सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कम।
सव्वत्थ विणीयमच्छरे उछ भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥१४॥

संस्कृत ा

श्रुत्वा भगवदनुशासन सत्ये तत्र कुर्यादुपक्रमम्।
सर्वत्र विनीतमत्सर उञ्छ भिक्षुर्विशुद्धमाहरेत् ॥१४॥

अन्वयार्थ

(णुसासण) भगवान् के अनुशासन—आगम को (सोच्चा) सुनकर (तत्थ सच्चे) उस प्रवचन (आगम) मे कहे गए सत्य सिद्धान्त—सयम मे अथवा उक्त आगमोक्त तथ्य-सत्य मे (उवक्कम करेज्ज) उद्योग—पराक्रम करे। (सव्वत्थ) सर्वत्र (विणीयमच्छरे) मत्सररहित होकर (भिक्खु) भिक्षाजीवी साधु (विसुद्ध) शुद्ध (उछ) भिक्षा (आहरे) लाए।

र्थ

भगवान् के द्वारा प्ररूपित अनुशासन—आगम को सुनकर उसमे कहे गए सत्य—सयम मे पुरुपार्थ करना चाहिए। भिक्षाजीवी साधु को सर्वत्र मत्स रहित रहना चाहिए और शुद्ध भिक्षा लानी चाहिए।

व्याख्या

भगवदनुशासन और भिक्षु का कर्त्तव्य

इस गाथा मे तीन बाते साधुजीवन की चर्या से सम्बन्धित बताई है—(क) सर्वज्ञोक्त अनुशासन का श्रवण (२) तदनुसार सत्य मे पुरुपार्थ और (३) सम-भावपूर्वक विशुद्ध भिक्षाचर्या।

सचमुच साधु को अपनी दिनचर्या उज्ज्वल रखने के लिए उक्त तीनो बातो पर ध्यान देना आवश्यक है।

ज्ञान, वैराग्य, धर्म, यश, श्री, समग्र ऐश्वर्य एव मोक्ष इन विभूतियो से सम्पन्न वीतराग भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहलाते है। उनके द्वारा उक्त अनुशासन यानी उनकी आज्ञा को अपने गुरु या आचार्य से श्रवण करना भिक्षु की दिनचर्या का प्रधान अग होना चाहिए। तत्पश्चात् उक्त अनुशासन के अनुसार जो सत्य—सिद्धान्त है, उसमे तथा सयम प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। वह पुरुषार्थ सभी पदार्थो के प्रति मत्सररहित एव क्षेत्र, गृह, उपधि तथा शरीर आदि के प्रति ममता-तृष्णारहित, रागद्वेषरहित होकर करे। भिक्षाचर्या भी ४२ दोषो से रहित करनी चाहिए।

मूल

सव्व नच्चा अहिट्ठए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
गुत्ते जुत्ते सया जए, आयपरे परमायतट्ठिते ॥१५॥

छाया

सर्व ज्ञात्वाऽधितिष्ठेत् धर्मार्थ्युपधानवीर्य ।
गुप्तो युक्त सदा यतेतात्मपरयो' परमायतस्थित ॥१५॥

अन्वयार्थ

(सव्व) समस्त पदार्थो को (नच्चा) जानकर साधु (अहिट्ठए) सर्वज्ञोक्त सवर का अधिष्ठान—आधार ले। (धम्मट्ठी) धर्म का प्रयोजन रखे। (उवहाण-वीरिए) तप मे अपनी शक्ति लगाए, (गुत्ते जुत्ते) मन-वचन-काया की गुप्ति—रक्षा से युक्त होकर रहे (सया) सदा (आयपरे) स्वपर-कल्याण के विषय मे अथवा आत्मपरक होकर (जए) प्रयत्न करे। (परमायतट्ठिए) और परमायत—मोक्ष के लक्ष्य मे स्थित हो।

भावार्थ

साधु आगमो से, ग्रन्थो से तथा अन्य अनुभवो से समस्त पदार्थों को जान कर आश्रय—आधार सर्वज्ञोक्त सवर का ही ले। वह धर्म को अपना प्रयोजन समझे और बाह्य-आभ्यन्तर तप मे ही अपनी समस्त शक्तियाँ लगाए तथा मन-वचन-काया की गुप्ति—रक्षा से युक्त होकर स्वपर-कल्याण के विषय मे अथवा आत्मपरायण होकर यत्न करे, और परमायत—परमधाम—मोक्ष के लक्ष्य मे स्थित रहे।

व्याख्या

साधु की मोक्षयात्रा के पाथेय

इस गाथा मे पुनरावृत्ति करके भी शास्त्रकार ने साधक की मोक्षयात्रा के कुछ पाथेयो का सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया है—(१) जाने सब कुछ, किन्तु आधार सर्वज्ञोक्त सवर का ले, (२) धर्म से ही अपना प्रयोजन रखे, (३) तपश्चर्या मे ही अपनी शक्तियाँ लगाए, (४) तीन गुप्तियो से युक्त होकर रहे, (५) स्वपरकल्याण मे अथवा आत्मपरक यत्न करे (६) मोक्ष के लक्ष्य मे डटा रहे। कितने सुन्दर और हितकर पाथेय बताए है मोक्षयात्री के लिए! इन्हे पाथेय के रूप मे लेकर साधु अपनी मोक्षयात्रा करे तो सचमुच एक दिन मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इन छहो पर कुछ विचार कर ले—साधक बहुत-से पदार्थों को जानता है, उनमे से कुछ हेय होते है, कुछ उपादेय और कुछ ज्ञेय। इन सबका विश्लेषण करके छाँटने मे छद्मस्थतावश कदाचित् साधु गडबडा जाय, इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—सर्वज्ञोक्त सवररूप अधिष्ठान—आधार से उनका मिलान करके चले। दूसरे नम्बर मे वह धर्म को ही एक मात्र परम पदार्थ (मोक्ष प्राप्ति का उपादेय पदार्थ) समझे, शेष सबको अनर्थ समझे। तीसरे नम्बर मे बाह्य-आभ्यन्तर द्वादश प्रकार के तप मे ही अपनी शक्तियो लगाए, व्यर्थ के कार्यो मे नही। चौथे नम्बर मे त्रिगुप्तियो से युक्त रहे, ताकि आत्मा पापकर्मो से बच सके। पाँचवे नम्बर मे स्वपर-कल्याण मे या आत्मपरक होकर यत्न करे, अन्य अकल्याण या अहितकर प्रपच मे न लगे। तथा मोक्ष के सिवाय और कोई लक्ष्य न रखे। वही परम+आयतन=श्रेष्ठधाम है—आत्मा का।

मूल

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
एते मम तेसु वी अहं नो ताणं सरणं न विज्जई ॥१६॥

संस्कृत छाया

वित्त पशवश्च ज्ञातयस्तद् बाल शरणमिति मन्यते।
एते मम तेष्वप्यहं नो त्राण शरण न विद्यते ॥१६॥

अन्वयार्थ

(बाले) अज्ञानी जीव (वित्त) धन (य) और (पसवो) पशुगण (नाइयो) तथा ज्ञाति (त) इन्हे (सरणति) अपना शरण (मन्नइ) मानता है। (एते) ये (मम) मेरे है, (तेसु वी अह) और मैं इनका हूँ। (नो ताण) वस्तुत ये सब त्राण-रक्षक और (सरण) शरण (न विज्जई) नही है।

भावार्थ

अज्ञानी जीव धन, पशु और ज्ञातिजनो को अपना शरणभूत समझता है। ये मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ, ऐसा समझता है। किन्तु वास्तव मे ये उसके लिए न त्राणरूप है और न शरणरूप है।

व्याख्या

धन आदि पदार्थ शरणभूत नहीं

इस गाथा मे अज्ञानी जोव की सासारिक पदार्थो के प्रति ममत्ववृत्ति का वर्णन करके शास्त्रकार ने सुविहित साधक के लिए ममत्वत्याग ध्वनित कर दिया है।

वित्त पसवो य सरण ति मन्नइ—धन, धान्य, सोना, चाँदी, रत्न आदि को वित्त कहते हैं। हाथी, घोडा, गाय, भैंस आदि को पशु कहते है। माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, बहन आदि स्वजन वर्ग को ज्ञातिजन कहते हैं। अज्ञानी जीव मोह-विकल होकर धन आदि सजीव-निर्जीव पदार्थों को अपने शरणभूत मानता है। वह समझता है कि ये धन, पशु और ज्ञातिजन मेरे परिभोग मे सहायक, उपयोगी, रक्षण-दाता, और शरणदाता होगे मैं इनके उपार्जन और पालन द्वारा सब उपद्रवो को नष्ट कर दूंगा। यही शास्त्रकार कहते है—'एते मम तेसु वी अह।'

इसका निराकरण करते हुए यथार्थ वस्तुस्वरूप बताते है—'नो ताण सरण न विज्जई।' आशय यह है कि ये सभी पदार्थ न तो उसकी रक्षा कर सकते हैं और न शरण दे सकते है। क्योंकि जिस शरीर के लिए धनोपार्जन की इच्छा की जाती है, वह शरीर ही विनाशी है। विद्वानो ने कहा है—

> रिद्धी सहावतरला रोगजराभगुर हयसरीर ।
> दोण्हपि गमणसीलाण किच्चिर होज्ज सम्बन्धो ?

अर्थात्—ऋद्धि स्वभाव से ही चचल है, यह निकृष्ट शरीर रोग और बुढापे से नश्वर है। इन दोनो गमनशील—नाशवान पदार्थो का सम्बन्ध कब तक रह सकता है ?

> मातापितृ सहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
> प्रतिजन्मनि वर्त्तन्ते, कस्य मातापिताऽपि वा ॥

अर्थात्—माता-पिता हजारो हुए और पुत्र-कलत्र (स्त्री) भी सैकडो हुए। ये तो प्रत्येक जन्म मे होते है। वस्तुत कौन माता है, कौन पिता है।

इसी दृष्टि से शास्त्रकार कहते है—नरक मे गिरते हुए प्राणी की ये पिता आदि किसी प्रकार भी रक्षा नही कर सकते। जो पुरुष राग आदि से युक्त है, उसके लिए कहा भी शरण नही है।

मूल

अब्भागमितमि वा दुहे, अहवा उक्कमिते भवंतिए।
एगस्स गई य आगई, विदुमता सरणं ण मन्नई ॥१७॥

सस्कृत छाया

अभ्यागते वा दु खेऽथवोत्क्रान्ते भवान्तिके।
एकस्य गतिश्चागति विद्वान् शरण न मन्यते ॥१७॥

अन्वयार्थ

(अब्भागमितमि दुहे) दु ख आने पर (अहवा) अथवा (उक्कमिते) उपक्रम के कारणो से आयु नष्ट होने पर (भवतिए) अथवा देहान्त (मृत्यु) होने पर (एगस्स) अकेले का ही (गई य आगई) जाना या आना होता है। (विदुमता) अत विद्वान् पुरुप (सरण) धन आदि को अपना शरण (ण मन्नई) नही मानता है।

भावार्थ

जब प्राणी के ऊपर किसी प्रकार का दु ख आ पडता है, तब वह उसे अकेला ही भोगता है तथा उपक्रम के कारणो से आयु नष्ट होने पर या मृत्यु उपस्थित होने पर वह अकेला ही परलोक मे जाता है तथा वहाँ से मरकर पुन आता है। इसलिए विद्वान् पुरुष किसी को अपना शरण नही मानते।

व्याख्या

दु खभोग तथा परलोक-गमनागमन अकेले का ही।

पूर्वगाथा मे शास्त्रकार ने स्पष्टत यह सिद्ध कर दिया कि कोई भी पदार्थ किसी की रक्षा नही कर सकता एव शरण नही दे सकता। इस गाथा मे उसी के सन्दर्भ मे यह बताया है कि कोई किसी का शरणदाता इसलिए नही है कि जीव अकेला (स्वय) ही कर्म करता है, स्वय ही उसका फल भोगता है, परलोक मे भी अकेला ही जाता है, वहाँ से आयु पूर्ण कर पुन अकेला ही आता है। तव कौन किसी को शरण दे सकता है? इसी बात को शास्त्रकार कहते है—'अब्भागमिमसि सरण ण मन्नई।'

अर्थात्—माता-पिता हजारो हुए और पुत्र-कलत्र (स्त्री) भी सैंकडो हुए। ये तो प्रत्येक जन्म मे होते है। वस्तुत कौन माता है, कौन पिता है।

इसी दृष्टि से शास्त्रकार कहते है—नरक मे गिरते हुए प्राणी की ये पिता आदि किसी प्रकार भी रक्षा नही कर सकते। जो पुरुष राग आदि से युक्त है, उसके लिए कहीं भी शरण नही है।

मूल पाठ

अब्भागमितमि वा दुहे, अहवा उवक्कमिते भवंतिए।
एगस्स गई य आगई, विदुमता सरणं ण मन्नई ॥१७॥

संस्कृत छाया

अभ्यागते वा दु खेऽथवोत्क्रान्ते भवान्तिके।
एकस्य गतिश्चागति विद्वान् शरण न मन्यते ॥१७॥

अन्वयार्थ

(अब्भागमितमि दुहे) दु ख आने पर (अहवा) अथवा (उवक्कमिते) उपक्रम के कारणा से आयु नष्ट होने पर (भवतिए) अथवा देहान्त (मृत्यु) होने पर (एगस्स) अकेले का ही (गई य आगई) जाना या आना होता है। (विदुमता) अत विद्वान् पुरुष (सरण) धन आदि को अपना शरण (ण मन्नई) नही मानता है।

भावार्थ

जब प्राणी के ऊपर किसी प्रकार का दु ख आ पडता है, तब वह उसे अकेला ही भोगता है तथा उपक्रम के कारणो से आयु नष्ट होने पर या मृत्यु उपस्थित होने पर वह अकेला ही परलोक मे जाता है तथा वहाँ से मरकर पुन आता है। इसलिए विद्वान् पुरुष किसी को अपना शरण नही मानते।

व्याख्या

दु खभोग तथा परलोक-गमनागमन अकेले का ही!

पूर्वगाथा मे शास्त्रकार ने स्पष्टत यह सिद्ध कर दिया कि कोई भी पदार्थ किसी की रक्षा नही कर सकता एव शरण नही दे सकता। इस गाथा मे उसी के सन्दर्भ मे यह बताया है कि कोई किसी का शरणदाता इसलिए नही है कि जीव अकेला (स्वय) ही कर्म करता है, स्वय ही उसका फल भोगता है, परलोक मे भी अकेला ही जाता है, वहाँ से आयु पूर्ण कर पुन अकेला ही आता है। तब कौन किसी को शरण दे सकता है? इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'अब्भागमिमसि सरण ण मन्नई।'

आशय यह है कि पूर्वजन्म मे उपार्जित असातावेदनीयकर्म के उदय से जीव पर दुःख (रोग, बुढापे आदि का) आ पडता है, तो वह उसे अकेला ही भोगता है। इसीलिए किसी विचारक ने कहा है —

सयणस्स वि मज्झगओ रोगाभिहतो किलिस्सइ इहेगो ।
सयणो विय से रोग न विरचइ नेव नासेइ ॥

अर्थात्—अपने स्वजनवर्ग के बीच मे रहा हुआ भी व्यक्ति जब रोग से पीडित होता है, तब अकेला ही दुःख भोगता है। स्वजनवर्ग उसके रोग को न तो घटा सकते है और न ही नष्ट कर सकते है। अथवा उपक्रम के कारणो से जब प्राणी की आयु नष्ट हो जाती है, अथवा आयु की अवधि पूर्ण होने पर जब मृत्यु-काल उपस्थित होता है, तब क्या कोई स्वजन उसकी मृत्यु को रोक सकता है या मृत्यु होने पर उसके साथ परलोक मे जा सकता है या वहाँ से इस लोक मे पुन आ सकता है ? कदापि नही। प्राणी अकेला ही परलोक मे जाता है और वहाँ से इस लोक मे भी अकेला ही आता है। उस समय उसका कोई भी साथी नही होता। इसलिए विवेकी पुरुष, जो ससार के वस्तु स्वरूप को जानता है, वह धन आदि को अपना रक्षक या शरणरूप नही मानता। कहा भी है —

एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते ।
तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मन कार्यम् ॥

अर्थात्—इस जगत् मे जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है। तथा इस ससार चक्र मे वह अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है। इसलिए मरणपर्यन्त जीव को अकेले ही अपना हित सम्पादन करना चाहिए।

मूल पाठ

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।
हिंडति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिऽभिद्दुता ॥१८॥

सस्कृत छाया

सर्वे स्वकर्मकल्पिता अव्यक्तेन दुःखेन प्राणिन ।
हिंडन्ति भयाकुला शठा, जाति-जरा-मरणैरभिद्रुता ॥१८॥

अन्वयार्थ

(सव्वे पाणिणो) समस्त प्राणिगण (सयकम्मकप्पिया) अपने-अपने कर्मो के कारण नाना अवस्थाओ से युक्त हैं और (अवियत्तेण दुहेण) सब अव्यक्त-अलक्षित दुःखो से दुःखी है। (जाइ-जरा-मरणेहि) जन्म जरा और मृत्यु से (अभिद्दुता) पीडित और (भयाउला) भय से आकुल (सढा) शठ—दुष्ट जीव (हिंडति) बार-बार ससार चक्र मे परिभ्रमण करते रहते है।

भावार्थ

सब प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न अवस्थाओ से युक्त है। तथा सभी किसी न किसी अव्यक्त दु ख से दु खित है। वे अनेक दोषो से दूषित (शठ, प्राणी जन्म-जरा-मरण से पीडित एव भयाकुल होकर बार-बार ससार चक्र मे परिभ्रमण करते रहते है।

व्याख्या

जीव का सूत्र ग्रथित ससारभ्रमण

इस गाथा मे पूर्वोक्त बात को सिद्ध करने के लिए शास्त्रकार कर्मसिद्धान्त प्रस्तुत करते है—'सव्वे सयकम्म अभिद्दुता।' आशय यह है कि इस ससाररूपी गर्त मे पडे हुए समस्त प्राणिगण ससार मे पर्यटन करते हुए स्वकृत ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के प्रभाव से सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, सम्मूर्छिम, गर्भज तथा एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक नाना अवस्थाओ को प्राप्त करते हैं। इन विभिन्न अवस्थाओ मे ये प्राणी शिरोवेदना आदि अनेक शारीरिक तथा अपमान, आपत्ति आदि मानसिक अलक्षित दु खो से दु खी होते है। यहाँ अव्यक्त दु ख उपलक्षण है, असाता-वेदनीयस्वरूप स्पष्ट प्रतीत होने वाले दु खो से भी दु खी होते हैं। वे अरहटयन्त्र की तरह बार-बार उन्ही योनियो मे आते-जाते रहते है। यहाँ 'शठ' इसलिए कहा है कि वे शठ (दुष्ट) की तरह अनेक दुष्टकर्म करते है। किन्तु फल भोगते समय अत्यन्त भयाकुल होते है। बार-बार जन्म-जरा-मृत्यु से पीडित रहते है। इस प्रकार बार-बार ससारचक्र मे परिभ्रमण करते रहते है।

मूल

इणमेव खण विजाणिया, णो सुलभ बोहिं च आहियं।
एवं सहिएऽहिपासए आह जिणो इणमेव सेसगा ॥१६॥

सस्कृत छाया

इममेव क्षण विज्ञाय, नो सुलभ बोधि च आख्याताम्।
एव सहितोऽधिपश्येद् आह जिन इदमेव शेषका ॥१६॥

र्थ

(इणमेव) यही (खण) क्षण—अवसर है, (बोहिं च) बोधि—ज्ञान भी (णो सुलभ) सुलभ नही है, (आहिय) ऐसा कहा है, (विजाणिया) इस बात को जानकर (सहिए) ज्ञानादि सम्पन्न अथवा अपने हित को समझने वाला मुनि (एव) इस प्रकार (अहिपासए) विचार करे (जिणो) तीर्थकर ऋषभदेव ने कहा है, (सेसगा) और शेष तीर्थकरो ने भी (इणमेव) यही कहा है।

भावार्थ

ज्ञानादि सम्पन्न अथवा स्वहितचिन्तक मुनि यह सोचे कि मोक्ष-साधन का यही उत्तम अवसर है। और सर्वज्ञो ने कहा है कि बोध प्राप्त करना सुलभ नही है। इस बात को विशेपरूप से साधक जान-समझ ले। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को यह उपदेश दिया था और शेप तीर्थकरो ने भी यही कहा है।

व्याख्या

मोक्ष-साधना एव बोधप्राप्ति का दुर्लभ अवसर मत खोओ

इस गाथा मे मोक्ष साधना बोधि प्राप्ति के दुर्लभ अवसर की चर्चा करके शास्त्रकार ने अव्यक्त रूप से साधक को अवसर न खोने का सकेत कर दिया है—**'इणमेव खण विजाणिया इणमेव सेसगा।'**

इणमेव खण—यह क्षण (इद क्षण) मे 'इण' शब्द प्रत्यक्ष और समीप का वाचक है। क्षण शब्द यहाँ अवसर अर्थ मे है। इसलिए साधक द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव को मोक्ष साधना का यही और यही, इसी क्षेत्र और काल को उचित व श्रेष्ठ अवसर समझे। इन चारो मे जगम होना, पचेन्द्रिय होना और उत्तम कुलोत्पत्ति तथा मनुष्यता प्राप्त होना यह द्रव्य-अवसर है, साढे पच्चीस जनपद रूप आर्यदेश प्राप्त होना, क्षेत्र-अवसर है। एव अवसर्पिणी कालचक्र का चौथा, पाँचवाँ आरा आदि धर्मप्राप्ति के योग्य काल-अवसर है तथा उसमे श्रद्धान तथा चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विरति स्वीकार करने मे उत्साहरूपभाव अनुकूलता भाव-अवसर है। शास्त्रकथन से ऐसे अवसर को तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति को दुर्लभ जानकर तदनुरूप (यानी प्राप्त श्रेष्ठ अवसर तथा बोधि के अनुरूप) उचित कार्य सम्पादन करना चाहिए। अगर ऐसा अवसर प्राप्त होने पर भी साधक धर्माचरण नही करेगा तो बोधि प्राप्त करना सुलभ नही होगा। कहा भी है—

> **लद्धेल्लिय च बोहिं अकरेंतो अणागय च पत्थेंतो।**
> **अन्न दाइ बोहिं लब्भिसि कयरेण मोल्लेण ?**

अर्थात्—जो पुरुप प्राप्त बोधि का सदुपयोग नही करता, अर्थात् उसके अनुसार अनुष्ठान नही करता और भविष्यत्कालीन बोधि की अभिलाषा रखता है, अर्थात् यह चाहता है कि भविष्य मे मुझे पुन बोधि प्राप्त हो, वह दूसरो को बोधि देकर क्या मूल्य चुकाकर पुन बोधिलाभ करेगा ?

अत ज्ञानादिसम्पन्न साधक को दीर्घदृष्टि से यह सोचना चाहिए कि एक बार बोधिलाभ का अवसर खो दिया तो फिर उत्कृष्ट अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक फिर बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त करना दुष्कर होगा। अत मुनि सदैव बोधि-दुर्लभता का ध्यान रखे।

यह उपदेश रागद्वेपविजेता भगवान् ऋषभदेव ने अप्टापदपर्वत पर अपने पुत्रो को दिया था, अन्य जिनेश्वरो ने भी यही वात कही है।

मूल पाठ

अभविंसु पुरावि भिक्खवो, आएसावि भवति सुव्वया ।
एयाइ गुणाइ आहु ते कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२०॥

संस्कृत

अभवन् पुराऽपि भिक्षव ! आगामिनश्च भवन्ति सुव्रता ।
एतान् गुणान् आहुस्ते काश्यपस्याऽनुधर्मचारिण ॥२०॥

अन्वयार्थ

(भिक्खवो) हे साधुओ ! (पुरावि) पूर्वकाल मे भी (अभविंसु) जो सर्वज्ञ हो चुके हैं, और (आएसावि) भविष्य मे भी (भवति) जो होगे, (ते सुव्वया) उन सुव्रत पुरुषो ने (एयाइ गुणाइ) इन्ही गुणो को मोक्ष का साधन (आहु) कहा है, (कासवस्स अणुधम्मचारिणो) काश्यपगोत्रीय भगवान् ऋषभदेव एव भगवान् महावीर स्वामी के धर्मानुयायी साधको ने भी यही कहा है।

भावार्थ

भिक्षुओ ! पूर्वकाल मे जो सर्वज्ञ हो चुके है और भविष्य मे जो होगे, उन सभी सुव्रत पुरुषो ने इन्ही गुणो को मोक्ष का साधन बताया है, तथा भगवान् ऋषभदेव एव भगवान् महावीर के धर्मानुगामी साधको ने भी इन्ही गुणो को मोक्ष के साधक कहा है।

व्याख्या

मोक्षसाधक गुणो के सम्बन्ध मे सभी तीर्थंकर एकमत

इस गाथा मे पूर्वोक्त सभी गाथाओ मे निरूपित मोक्षसाधक गुणो के सम्बन्ध मे भूत, भविष्य के समस्त तीर्थंकरो तथा वर्तमानकालीन आदितीर्थंकर तथा चरम-तीर्थंकर के समस्त धर्मानुयायी साधको का एकमत बताया है। शास्त्रकार भिक्षुओ को सम्बोधन करते हुए कहते है कि हे भिक्षुओ ! ये जो पूर्वोक्त गाथाओ मे मोक्ष-साधक गुणो का कथन किया है, वे सब मेरे द्वारा ही कथित नही हैं, पूर्वकाल मे जितने भी सर्वज्ञ हो चुके है या भविष्य मे होगे, उन सबका इन मोक्षसाधक गुणो के सम्बन्ध मे एकमत है। यहाँ 'सुव्वया' शब्द से यह भी ध्वनित कर दिया है कि उन पुरुषो को जो सर्वज्ञता प्राप्त हुई थी, तथा होगी, वह उत्तम व्रतो के पालन से हुई थी तथा होगी। पूर्वोक्त गुण ही मोक्षसाधक है, इस विषय मे सर्वज्ञो का कोई मतभेद नही है। वे सव काश्यपगोत्रीय आदितीर्थंकर एव अन्तिम तीर्थंकर द्वारा आचरित

धर्म का ही आचरण करने वाले थे, उन्होने भी इन्ही गुणो को मोक्षसाधक बताया है। मोक्षसाधन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, अन्य नही।

मूल

तिविहेणवि पाण मा हणे, आयहिते अणियाणसवुडे।
एवं सिद्धा अणतसो, सपइ जे य अणागयावरे ॥२१॥

सस्कृत छाया

त्रिविधेनाऽपि प्राणान् माहन्यादात्महितोऽनिदानसवृत·।
एव सिद्धा अनन्तश सम्प्रति ये चाऽनागता अपरे ॥२१॥

अन्वयार्थ

(तिविहेणवि) मन, वचन और काया, इन तीनो से (पाण मा हणे) प्राणियो का हनन नही करना चाहिए। तथा (आयहिते) अपने हित मे प्रवृत्त एव (अणियाणसवुडे) स्वर्गादि सुखो के निदान (भोगेच्छा) से रहित गुप्त रहना चाहिए। (एव) इस प्रकार (अणतसो) अनन्तजीव (सिद्धा) सिद्ध—मुक्त हुए है तथा (सपइ जे य अवरे अणागया) वर्तमानकाल मे और भविष्य मे भी दूसरे अनन्त जीव सिद्ध-बुद्ध मुक्त होगे।

भावार्थ

साधक को मन-वचन-काया, इन तीनो योगो से प्राणियो का प्राण-हनन नही करना चाहिए। तथा अपने हित मे सलग्न रहकर, स्वर्गादि सुख-भोगो के निदान से रहित होकर सयम पालन करना चाहिए। इस प्रकार की साधना से ही अतीत मे अनत जीवो ने मोक्ष प्राप्त किया है, वर्तमान काल मे भी मोक्ष प्राप्त करते है तथा भविष्य मे करेंगे।

व्याख्या

त्रैकालिक मुक्त साधको का मोक्षप्राप्ति मे एकमत

पूर्वगाथाओ मे प्रतिपादित मोक्षसाधक गुणो का निरूपण करके शास्त्रकार ने तीनो काल मे मुक्तात्माओ का इस सम्बन्ध मे एकमत बताया है। 'तिविहेणवि जे य अणागयावरे।' अर्थात् मन-वचन काया इन तीन योगो से तथा कृत-कारित-अनुमोदित, इन तीन करणो से प्राणियो के दशविध प्राणो मे से किसी भी प्राण का हनन नही करना चाहिए, यह प्रथम महाव्रत का स्वरूप है। उपलक्षण से यहाँ शेप सभी महाव्रतो का पालन समझ लेना चाहिए। आत्महित मे सलग्न तथा मन-वचन-काया की तीन गुप्तियो से गुप्त-सवरयुक्त रहता है एव स्वर्गादि सुखभोग के निदान से दूर रहता है, वह साधक अवश्य ही मुक्ति-सिद्धि प्राप्त करता है। पूर्वोक्त मार्ग का अनुष्ठान करके भूतकाल मे अनन्त जीव सिद्ध हुए है, भविष्य मे भी पूर्वोक्त

मार्ग का अनुष्ठान करके ही अनन्त जीव सर्व कर्मक्षय करके सिद्ध होगे तथा वर्तमान काल मे भी सिद्धि प्राप्त करने योग्य क्षेत्र से पूर्वोक्त उपाय से अनन्त जीव सिद्ध होते है। इसके अतिरिक्त सिद्धि-मुक्ति का और कोई उपाय नही है।

मूल पाठ

एव से उदाहु अणुत्तरणाणी, अणुत्तरदसी, अणुत्तरणाणदसणधरे।
अरहा नायपुत्ते भगव वेसालिए वियाहिए ॥२२॥

त्ति बेमि ॥

सस्कृत छाया

एव स उदाहृतवाननुत्तरज्ञान्यनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधर ।
अर्हन् ज्ञातपुत्रो भगवान् वैशालिको व्याख्यातवान् ॥२२॥

इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (से) उन भगवान् ऋषभदेव स्वामी ने (उदाहु) कहा था, जिसे (अणुत्तरणाणी) उत्तम ज्ञानी, (अणुत्तरदसी) श्रेष्ठ दर्शन वाले, (अणुत्तरणाण-दसणधरे) सर्वोत्तम ज्ञान-दर्शन के धारक (अरहा) इन्द्रादि देवो द्वारा पूजनीय (नायपुत्ते) ज्ञातपुत्र (भगव) ऐश्वर्यादिगुणयुक्त भगवान् वर्धमान स्वामी ने (वेसालिए) विशालानगरी मे (आहिए) कहा था, (त्ति बेमि) सो मै तुमसे कहता हूँ।

भावार्थ

इस प्रकार उन भगवान् ऋषभदेव स्वामी ने अष्टापद पर्वत पर अपने पुत्रो से कहा था, जिसे अनुत्तरज्ञानी, उत्तमदर्शन वाले, सर्वोत्तम ज्ञान-दर्शन के धारक, इन्द्रादि देवो द्वारा पूज्य अर्हन् ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी ने वैशाली नगरी मे कहा था, सो मै (सुधर्मास्वामी) तुमसे (जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से) कहता हूँ।

व्याख्या

यह उपदेश किसने, कहाँ और किससे कहा ?

इस गाथा मे इस द्वितीय अध्ययन का उपसहार करते हुए शास्त्रकार यह बताते हैं कि यह उपदेश किस-किस ने, कहाँ-कहाँ, किस-किस से कहा था ? 'एव से वेसालिए वियाहिए।' आशय यह है कि इस अध्ययन के पूर्वोक्त तीन उद्देशको मे जो उपदेश दिया गया है, वह भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को लक्ष्य करके अष्टापद पर दिया था। उसे भगवान् महावीर स्वामी ने हमे (गणधरो को) विशालानगरी मे फरमाया था, उसी को मैं (सुधर्मास्वामी) तुमसे (जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से) कहता हूँ।

जिससे उत्तम कोई ज्ञान तथा दर्शन नही है, उसे क्रमश अनुत्तरज्ञान एव अनुत्तरदर्शन कहते है। भगवान् को यहाँ अनुत्तरज्ञानी एव अनुत्तरदर्शी कहा गया है। अर्थात् भगवान् अपने से कथचित् भिन्न ज्ञान-दर्शन के आधार थे। अरहा का अर्थ है—पूज्य। भगवान् इन्द्र आदि देवो द्वारा ही नही, समस्त मनुष्य एव तिर्यंचो द्वारा पूजनीय थे। 'वेसालिए' के दो अर्थ निकलते है—(१) विशालानगरी मे कहा गया प्रवचन, (२) विशाला कुल मे उत्पन्न वैशालिक। अथवा वैशालिक शब्द से यहाँ भगवान ऋषभदेव तथा भगवान महावीर दोनो अर्थ निकाले जाते है। जैसे कि कहा है—

विशाला जननी यस्य, विशाल कुलमेव वा।
विशाल वचन चास्य तेन वैशालिको जिन ॥

अर्थात्—जिनकी माता विशाला थी, कुल भी विशाल था, जिनका प्रवचन भी विशाल था, इस कारण जिनेश्वरदेव को वैशालिक कहते है।

इस प्रकार सूत्रकृतागसूत्र के द्वितीय अध्ययन का तृतीय उद्देशक अमरसुख-बोधिनी व्याख्यासहित समाप्त हुआ।

॥ सूत्र ागसूत्र का द्वितीय अध्ययन ाप्त ॥

❀

मार्ग का अनुष्ठान करके ही अनन्त जीव सर्व कर्मक्षय करके सिद्ध होगे तथा वर्तमान काल मे भी सिद्धि प्राप्त करने योग्य क्षेत्र से पूर्वोक्त उपाय से अनन्त जीव सिद्ध होते है। इसके अतिरिक्त सिद्धि-मुक्ति का और कोई उपाय नही है।

मूल पाठ

एव से उदाहु अणुत्तरणाणी, अणुत्तरदसी, अणुत्तरणाणदसणधरे।
अरहा नायपुत्ते भगव वेसालिए वियाहिए ॥२२॥
त्ति बेमि ॥

सस्कृत छाया

एव स उदाहृतवाननुत्तरज्ञान्यनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधर।
अर्हन् ज्ञातपुत्रो भगवान् वैशालिको व्याख्यातवान् ॥२२॥
इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (से) उन भगवान् ऋषभदेव स्वामी ने (उदाहु) कहा था, जिसे (अणुत्तरणाणी) उत्तम ज्ञानी, (अणुत्तरदसी) श्रेष्ठ दर्शन वाले, (अणुत्तरणाण-दसणधरे) सर्वोत्तम ज्ञान-दर्शन के धारक (अरहा) इन्द्रादि देवो द्वारा पूजनीय (नायपुत्ते) ज्ञातपुत्र (भगव) ऐश्वर्यादिगुणयुक्त भगवान् वर्धमान स्वामी ने (वेसालिए) विशालानगरी मे (आहिए) कहा था, (त्ति बेमि) सो मै तुमसे कहता हूँ।

भावार्थ

इस प्रकार उन भगवान् ऋषभदेव स्वामी ने अष्टापद पर्वत पर अपने पुत्रो से कहा था, जिसे अनुत्तरज्ञानी, उत्तमदर्शन वाने, सर्वोत्तम ज्ञान-दर्शन के धारक, इन्द्रादि देवो द्वारा पूज्य अर्हन् ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी ने वैशाली नगरी मे कहा था, सो मैं (सुधर्मास्वामी) तुमसे (जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से) कहता हूँ।

व्याख्या

यह उपदेश किसने, कहाँ और किससे कहा ?

इस गाथा मे इस द्वितीय अध्ययन का उपसहार करते हुए शास्त्रकार यह बताते हैं कि यह उपदेश किस-किस ने, कहाँ-कहाँ, किस-किस से कहा था ? 'एव से वेसालिए वियाहिए।' आशय यह है कि इस अध्ययन के पूर्वोक्त तीन उद्देशको मे जो उपदेश दिया गया है, वह भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को लक्ष्य करके अष्टापद पर दिया था। उसे भगवान् महावीर स्वामी ने हमे (गणधरो को) विशालानगरी मे फरमाया था, उसी को मैं (सुधर्मास्वामी) तुमसे (जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से) कहता हूँ।

जिससे उत्तम कोई ज्ञान तथा दर्शन नही है, उसे क्रमश अनुत्तरज्ञान एव अनुत्तरदर्शन कहते है। भगवान् को यहाँ अनुत्तरज्ञानी एव अनुत्तरदर्शी कहा गया है। अर्थात् भगवान् अपने से कथचित् भिन्न ज्ञान-दर्शन के आधार थे। अरहा का अर्थ है—पूज्य। भगवान् इन्द्र आदि देवो द्वारा ही नही, समस्त मनुष्य एव तिर्यंचो द्वारा पूजनीय थे। 'वेसालिए' के दो अर्थ निकलते है—(१) विशालानगरी मे कहा गया प्रवचन, (२) विशाला कुल मे उत्पन्न वैशालिक। अथवा वैशालिक शब्द से यहाँ भगवान ऋषभदेव तथा भगवान महावीर दोनो अर्थ निकाले जाते है। जैसे कि कहा है—

विशाला जननी यस्य, विशाल कुलमेव वा।
विशाल वचन चास्य तेन वैशालिको जिन ॥

अर्थात्—जिनकी माता विशाला थी, कुल भी विशाल था, जिनका प्रवचन भी विशाल था, इस कारण जिनेश्वरदेव को वैशालिक कहते है।

इस प्रकार सूत्रकृतागसूत्र के द्वितीय अध्ययन का तृतीय उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्यासहित समाप्त हुआ।

॥ सूत्र सूत्र का द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

❀

तृतीय अध्ययन : प्रथम उद्दे

उपसर्गपरि

इससे पूर्व पहले और दूसरे अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। पहले अध्ययन मे स्व-समय-परसमयवक्तव्यता के सन्दर्भ मे यह बताया गया था कि कर्म-बन्धन और उनके कारणा को स्वसिद्धान्त की दृष्टि से ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से तोडे। तदनन्तर द्वितीय अध्ययन मे उसी के सन्दर्भ मे कर्म-विदारण (कर्मबन्धनो को तोडने) के लिए साधना के विभिन्न पहलुओ को लेकर उपदेश (भगवान ऋषभदेव की भाषा मे) दिया गया था। अब तृतीय अध्ययन मे यह बताया गया है कि कर्म-विदारण करते समय प्रसगवश 'सम्बुद्धस्सुवसग्गा०' इस पूर्व गाथानुसार सम्बुद्ध (सम्यक् उत्थान से उत्थित) साधक के सामने कई अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग आने सम्भव है। अत 'बोधसम्पन्न एव सयमपरायण मुनि उपसर्ग आने पर समभावपूर्वक सहन करे,' यह बताया है।

इस अध्ययन का सक्षिप्त परिचय

'उपसर्गपरिज्ञा' नामक इस अध्ययन मे श्रमणधर्म का पालन करते समय आने वाले कई अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों का निरूपण है। यहाँ अर्थाधिकार दो प्रकार का है—अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार। अध्ययन अर्थाधिकार तो 'सम्बुद्धस्सुवसग्गा०' इत्यादि गाथा के द्वारा निर्युक्तिकार ने पहले ही बता दिया है। उद्देशार्थाधिकार इस प्रकार हैं—इस अध्ययन मे चार उद्देशक है। इस सम्बन्ध मे निर्युक्ति की गाथाएँ इस प्रकार है—

> पढमम्मि य पडिलोमा हुती, अणुलोमगा य वितोयम्मि।
> तइए अज्झत्तविसीअण च परवादिवयण च ॥४९॥
> हेउसरिसेहिं अहेउएहिं समयपडिएहिं णिउणेहिं।
> सीलखलितपण्णवणा, कया चउत्थम्मि उद्देसे ॥५०॥

अर्थात्—प्रथम उद्देशक मे प्रतिलोम—प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन है, द्वितीय उद्देशक मे अनुलोम—स्वजनकृत अनुकूल उपसर्गों का निरूपण है, तदनन्तर तृतीय उद्देशक मे आत्मा मे विषाद पैदा करने वाले अन्यतीर्थिको के तीक्ष्णवचनरूप उपसर्गों का विवेचन है। इसके पश्चात् चतुर्थ उद्देशक मे अन्यतीर्थिको के हेतुसदृश प्रतीत

होने वाले हेत्वाभासो से वस्तुस्वरूप को विपरीतरूप मे ग्रहण करने से जिनका चित्त मोहित एव शीलभ्रष्ट हो जाता है, उन्हे स्वसिद्धान्तप्रसिद्ध युक्तिसगत हेतुओ द्वारा यथार्थ बोध देकर उक्त उपसर्ग मे स्थिर रहने का उपदेश दिया गया है।

उपसर्ग स्वरूप, अर्थ, प्रकार और विश्लेषण

उपसर्ग का स्वरूप बताते हुए निर्युक्तिकार कहते है—

'आगतुगो य पीलागरो य जो सो उवसग्गो।'

जो किसी देवता, मनुष्य या तिर्यञ्च आदि दूसरे पदार्थों से आता है तथा जो देह को अथवा सयम को पीडित करता है, वह उपसर्ग कहलाता है। उपताप, शरीरपीडोत्पादक, इत्यादि शब्द उपसर्ग के पर्यायवाची हैं। उपसर्ग या तो देवकृत होते है, या मनुष्यकृत होते है, अथवा तिर्यचकृत होते है अथवा आत्मसवेदनरूप होते है।

उपसर्ग को विभिन्न दृष्टियो से समझने के लिए उसके अर्थ निरूपक ६ निक्षेप किये जाते है—नाम-उपसर्ग, स्थापना-उपसर्ग, द्रव्य-उपसर्ग, क्षेत्र-उपसर्ग, काल-उपसर्ग और भाव-उपसर्ग। किसी का गुणशून्य उपसर्ग नाम रख देना नाम-उपसर्ग है। उपसर्ग सहन करने वाले की या उपसर्ग को सहन करते समय की अवस्था (पोज) चित्रित करना या उसका कोई प्रतीक रखना स्थापना-उपसर्ग है। द्रव्य-उपसर्ग उपसर्ग करने वाले या यो कहे कि उपसर्ग करने के साधनो के रूप मे दो प्रकार का होता है—सचेतन द्रव्य का और अचेतन द्रव्य का। चेतन प्राणी तिर्यञ्च और मनुष्य अपने अगो का घात करके जो उपसर्ग (देहपीडा) उत्पन्न करते हैं, वह सचित्त-द्रव्य-कृत उपसर्ग है तथा काष्ठ आदि अचित्त द्रव्यो के द्वारा किया हुआ अपने अगो का घात आदि अचित्तद्रव्यकृत उपसर्ग है। जिस क्षेत्र मे क्रूर जीव तथा चोर आदि के द्वारा शरीर पीडा आदि होती है या कोई वस्तु किसी क्षेत्र मे दु ख उत्पन्न करती है, उसे क्षेत्रोपसर्ग कहते हैं। ऐसे क्षेत्र लाढ आदि अनार्य देश है। क्षेत्रोपसर्ग 'बह्वोघभयरूप' भी होता है। इसके अनुसार जिस क्षेत्र मे समूह रूप से बहुत-से भयस्थान या खतरे होते है, वह क्षेत्रोपसर्ग 'बह्वोघभय' होता है। जिस काल मे एकान्तरूप से दु ख ही होता है, वह दु षम आदि काल कालोपसर्ग है। ग्रीष्म, शीत आदि भी अपने-अपने समय मे दु ख उत्पन्न करते है, उसे भी कालोपसर्ग कहा जा सकता है। ज्ञानावरणीय, असातावेदनीय आदि कर्मो का उदय होना, भावोपसर्ग है।

नाम-स्थापना को छोडकर पूर्वोक्त सभी उपसर्ग औघिक और औपक्रमिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं। अशुभ कर्मप्रकृति से उत्पन्न भाव-उपसर्ग को औघिक उपसर्ग कहते है तथा डडा, चाबुक, शस्त्र आदि के द्वारा दु ख की उत्पत्ति करने वाला उपसर्ग औपक्रमिक उपसर्ग कहलाता है।

तृतीय अध्ययन : प्रथम उद्दे ाक

उपसर्गपरि

इससे पूर्व पहले और दूसरे अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। पहले अध्ययन मे स्व-समय-परसमयवक्तव्यता के सन्दर्भ मे यह बताया गया था कि कर्म-बन्धन और उनके कारणा को स्वसिद्धान्त की दृष्टि से ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से तोडें। तदनन्तर द्वितीय अध्ययन मे उसी के सन्दर्भ मे कर्म-विदारण (कर्मबन्धनो को तोडने) के लिए साधना के विभिन्न पहलुओ को लेकर उपदेश (भगवान ऋषभदेव की भाषा मे) दिया गया था। अब तृतीय अध्ययन मे यह बताया गया है कि कर्म-विदारण करते समय प्रसगवश 'सम्बुद्धस्सुवसग्गा०' इस पूर्व गाथानुसार सम्बुद्ध (सम्यक् उत्थान से उत्थित) साधक के सामने कई अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग आने सम्भव है। अत 'बोधसम्पन्न एव सयमपरायण मुनि उपसर्ग आने पर समभावपूर्वक सहन करे,' यह बताया है।

इस अध्ययन का सक्षिप्त परिचय

'उपसर्गपरिज्ञा' नामक इस अध्ययन मे श्रमणधर्म का पालन करते समय आने वाले कई अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों का निरूपण है। यहाँ अर्थाधिकार दो प्रकार का है—अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार। अध्ययन अर्थाधिकार तो 'सम्बुद्धस्सुवसग्गा०' इत्यादि गाथा के द्वारा निर्युक्तिकार ने पहले ही बता दिया है। उद्देशार्थाधिकार इस प्रकार है—इस अध्ययन मे चार उद्देशक है। इस सम्बन्ध मे निर्युक्ति की गाथाएँ इस प्रकार है—

> पढमम्मि य पडिलोमा हुती, ्लोमगा य वितीयम्मि।
> तइए अज्झत्तविसीअण च परवादिवयण च ॥४९॥
> हेउसरिसेहिं अहेउएहिं समयपडिएहिं णिउणेहिं।
> सीलखलितपण्णवण., कया चउत्थम्मि उद्देसे ॥५०॥

अर्थात्—प्रथम उद्देशक मे प्रतिलोम—प्रतिकूल उपसर्गो का वर्णन है, द्वितीय उद्देशक मे अनुलोम—स्वजनकृत अनुकूल उपसर्गों का निरूपण है, तदनन्तर तृतीय उद्देशक मे आत्मा मे विषाद पैदा करने वाले अन्यतीर्थिको के तीक्ष्णवचनरूप उपसर्गो का विवेचन है। इसके पश्चात् चतुर्थ उद्देशक मे अन्यतीर्थिको के हेतुसदृश प्रतीत

होने वाले हेत्वाभासो से वस्तुस्वरूप को विपरीतरूप मे ग्रहण करने से जिनका चित्त मोहित एव शीलभ्रष्ट हो जाता है, उन्हे स्वसिद्धान्तप्रसिद्ध युक्तिसगत हेतुओं द्वारा यथार्थ बोध देकर उक्त उपसर्ग मे स्थिर रहने का उपदेश दिया गया है।

उपसर्ग स्वरूप, अर्थ, प्रकार और विश्लेषण

उपसर्ग का स्वरूप बताते हुए निर्युक्तिकार कहते है—

'आगतुगो य पीलागरो य जो सो उवसग्गो।'

जो किसी देवता, मनुष्य या तिर्यञ्च आदि दूसरे पदार्थो से आता है तथा जो देह को अथवा सयम को पीडित करता है, वह उपसर्ग कहलाता है। उपताप, शरीरपीडोत्पादक, इत्यादि शब्द उपसर्ग के पर्यायवाची है। उपसर्ग या तो देवकृत होते हैं, या मनुष्यकृत होते है, अथवा तिर्यचकृत होते है अथवा आत्मसवेदनरूप होते है।

उपसर्ग को विभिन्न दृष्टियो से समझने के लिए उसके अर्थ निरूपक ६ निक्षेप किये जाते है—नाम-उपसर्ग, स्थापना-उपसर्ग, द्रव्य-उपसर्ग, क्षेत्र-उपसर्ग, काल-उपसर्ग और भाव-उपसर्ग। किसी का गुणशून्य उपसर्ग नाम रख देना नाम-उपसर्ग है। उपसर्ग सहन करने वाले की या उपसग को सहन करते समय की अवस्था (पोज) चित्रित करना या उमका कोई प्रतीक रखना स्थापना-उपसर्ग है। द्रव्य-उपसर्ग उपसर्ग करने वाले या यो कहे कि उपसर्ग करने के साधनो के रूप मे दो प्रकार का होता है—सचेतन द्रव्य का और अचेतन द्रव्य का। चेतन प्राणी तिर्यञ्च और मनुष्य अपने अगो का घात करके जो उपसर्ग (देहपीडा) उत्पन्न करते है, वह सचित्त-द्रव्यकृत उपसर्ग है तथा काष्ठ आदि अचित्त द्रव्यो के द्वारा किया हुआ अपने अगो का घात आदि अचित्तद्रव्यकृत उपसर्ग है। जिस क्षेत्र मे क्रूर जीव तथा चोर आदि के द्वारा शरीर पीडा आदि होती है या कोई वस्तु किसी क्षेत्र मे दुःख उत्पन्न करती है, उसे क्षेत्रोपसर्ग कहते हैं। ऐसे क्षेत्र लाढ आदि अनार्य देश है। क्षेत्रोपसर्ग 'बह्वोघभयरूप' भी होता है। इसके अनुसार जिस क्षेत्र मे समूह रूप से बहुत-से भयस्थान या खतरे होते है, वह क्षेत्रोपसर्ग 'बह्वोघभय' होता है। जिस काल मे एकान्तरूप से दुःख ही होता है, वह दुःषम आदि काल कालोपसर्ग है। ग्रीष्म, शीत आदि भी अपने-अपने समय मे दुःख उत्पन्न करते है, उसे भी कालोपसर्ग कहा जा सकता है। ज्ञानावरणीय, असातावेदनीय आदि कर्मो का उदय होना, भावोपसर्ग है।

नाम-स्थापना को छोडकर पूर्वोक्त सभी उपसर्ग औघिक और औपक्रमिक के भेद से दो प्रकार के होते है। अशुभ कर्मप्रकृति से उत्पन्न भाव-उपसर्ग को औघिक उपसर्ग कहते है तथा डडा, चाबुक, शस्त्र आदि के द्वारा दुःख की उत्पत्ति करने वाला उपसर्ग औपक्रमिक उपसर्ग कहलाता है।

प्रथम उद्देशक प्रति् ूल उपसर्गाधिकार

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रथम उद्देशक मे प्रतिकूल उपसर्ग का अर्थाधिकार है। अत इस उद्देशक की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

सूर मण्णइ अप्पाण, जाव जेय न पस्सती।
जुज्झत दढधम्माण, सिसुपालो व महारह ॥ ॥

सस्कृत छाया

शूर मन्यत आत्मान यावज्जेतार न पश्यति।
युध्यन्त दृढधर्माण, शिशुपाल इव महारथम् ॥१॥

अन्वयार्थ

(जाव) जब तक (जेय) विजेता पुरुष को (न पस्सती) नही देखता है, तब तक कायर (अप्पाण) अपने आपको (सूर) शूरवीर (मण्णइ) मानता है। (जुज्झत) युद्ध करते हुए (महारह) महारथी (दढधम्माण) दृढधर्मा—अपने प्रण पर दृढ कृष्ण को देखकर (सिसुपालो व) जैसे शिशुपाल क्षोभ को प्राप्त हुआ था।

भावार्थ

कायर पुरुष तब तक ही अपने आपको सग्रामवीर मानता है, जब तक अपने सामने विजयी वीर को नही देख लेता। जैसे शिशुपाल स्वय को शूरवीर मान रहा था, लेकिन जब उसने युद्ध करते हुए महारथी एव दृढधर्मा कृष्ण को देखा तो उसके छक्के छूट गये थे।

व्याख्या

कायर तभी तक अपने को शूरवीर मानता है

इस गाथा मे अपनी शेखी बघारने और झूठी डीग हाँकने वाले अल्पसत्त्व साधक को सयमपालन के समय उपस्थित होने वाले अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गो को सहने मे अपनी शक्ति को तौलने और अगर मनोबल कम हो, तो उसे अच्छी तरह भरने की दृष्टि से दृष्टान्त देकर प्रेरित किया गया है। क्योकि दृष्टान्त के माध्यम से सर्वसाधारण व्यक्ति शीघ्र वस्तुतत्त्व को समझ सकता है। इसी हेतु से कहा है—'सूर मण्णइ महारह।' तात्पर्य यह है कि रणक्षेत्र मे कायर पुरुष तभी तक बिना बरसने वाले बादलो की तरह गर्जता है, और अपनी बडी लम्बी-चौडी डीगे हाँकता है—"मेरे बाप-दादा ऐसे थे, मैं ऐसा हूँ, मैंने अमुक को हरा दिया, अमुक को छठी का दूध याद दिला दिया, शत्रु की सेना मे मेरे सरीखा कोई बहादुर नही है। मैं अकेला ही सपूर्ण शत्रु-समूह को चारो खाने चित्त कर दूंगा," जब तक कि शस्त्र ऊँचा उठाये हुए युद्ध के लिए सामने उपस्थित विजेता प्रतियोद्धा को नही देख लेता। कहा भी है—

तावद्गज प्रस्र् तदानगण्ड करोत्यकालाम्बुदगर्जितानि ।
यावन्न सिहस्य गुहास्थलीषु लागूलविस्फोटरव श्रृणोति ।।

अर्थात्—मदोन्मत्त हाथी तभी तक बेमौसम के बादलो के समान घोर गर्जना करता है जब तक गुफा मे स्थित केसरीसिंह की दहाड और पूंछ की फटकार नही सुन लेता ।

इस सम्बन्ध मे शिशुपाल और श्रीकृष्ण का दृष्टान्त देखकर शास्त्रकार वस्तु-तत्त्व को समझाते है—

वसुदेव की बहन के गर्भ से दमघोप राजा का पुत्र शिशुपाल उत्पन्न हुआ । उसके चार भुजाएँ थी । इस कारण उसकी माता ने उसकी चार भुजाएँ एव उसके अद्भुत पराक्रम तथा कलहकारी स्वभाव को देखकर उसके जीवन का भविष्य जानने के लिए ज्योतिपी को बुलाया । ज्योतिपी ने उसकी जन्मपत्री पर से ग्रहगोचर देख-कर प्रसन्नहृदया माद्री से भविष्यफल बताते हुए कहा—"तुम्हारा पुत्र अत्यन्त बलवान् और युद्ध मे अजेय होगा, परन्तु जिसे देखकर तुम्हारे पुत्र की स्वाभाविकरूप से दो ही भुजाएँ रह जायँ, समझ लेना नि सन्देह उसी पुरुप से इसे भय होगा ।' इसके पश्चात् भयभीत माद्री (कृष्ण की फूफी) ने अपने पुत्र को कृष्ण को दिखाया । ज्यो ही कृष्ण ने माद्रीसुत शिशुपाल को देखा, त्यो ही उसकी स्वाभाविक दो ही भुजाए रह गयी । यह जानकर माद्री (कृष्ण की फूफी) ने अपने पुत्र को श्रीकृष्ण के चरणो मे झुकाकर प्रार्थना की—"श्रीकृष्ण ! यह लडका यदि अपमान कर दे तो नादान समझकर क्षमा कर देना ।" श्रीकृष्ण ने भी उसके सौ अपराध क्षमा करने की प्रतिज्ञा की । इसके पश्चात् शिशुपाल जब जवान हुआ तो यौवनमद से मत्त होकर श्रीकृष्ण को गाली देने लगा । यद्यपि श्रीकृष्ण दण्ड देने मे समर्थ थे, तथापि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसके अपराधो को सहन करते रहे । जब शिशुपाल के सौ अपराध पूर्ण हो गये, तब श्रीकृष्ण ने उसे बहुत समझाया, परन्तु वह नही माना ।

एक बार किसी बात को लेकर शिशुपाल ने श्रीकृष्ण के साथ युद्ध छेड दिया । जब तक श्रीकृष्ण स्वय युद्ध के मैदान मे नही आये थे, तब तक वह अपने और प्रतिपक्षी सैन्य के लोगो के सामने बढचढकर अपनी शेखी बघारने लगा । किन्तु ज्यो ही शस्त्रास्त्र का प्रहार करते हुए युद्ध मे दृढ स्वभाव वाले श्रीकृष्ण को सामने उप-स्थित देखा, त्यो ही उसके हौसले पस्त हो गये । वह घबराकर पानी-पानी हो गया । किन्तु अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए वह श्रीकृष्ण पर प्रहार करने लगा । अन्तत उसके सौ अपराध पूरे हुए देख श्रीकृष्ण ने चक्र के द्वारा उसका सिर काट दिया ।

अब इसी बात को शास्त्रकार दैनन्दिन अनुभवसिद्ध उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

मूल

पयाता सूरा रणसोसे, संगामम्मि उवट्ठिते ।
माया पुत्त न जाणाइ, जेएण परिविच्छए ॥२॥

संस्कृत छाया

प्रयाता शूरा रणशीर्षे सग्रामे उपस्थिते ।
माता पुत्र न जानाति, जेत्रा परिविक्षित ॥२॥

अन्वयार्थ

(सगामम्मि) युद्ध (उवट्ठिते) छिडने पर (रणसीसे) युद्ध के अग्रभाग मे (पयाता) गये हुए (सूरा) वीराभिमानी पुरुष (माया) माता (पुत्त) अपने पुत्र को (न जाणाइ) गोद से गिरता हुआ नही जानती है। तब ऐसे व्यग्रताजनक युद्ध मे वे (जेएण) विजेता पुरुष के द्वारा (परिविच्छए) क्षत-विक्षत होकर दीन हो जाते है।

भावार्थ

युद्ध छिडने पर वीराभिमानी कायर पुरुष भी युद्ध के मोर्चे पर चले जाते है, किन्तु दिल दहलाने वाला युद्ध जब प्रारम्भ होता है, जिस युद्ध मे घबराहट के कारण माँ अपने गोद से गिरते हुए बच्चे को नहीं जानती, ऐसे कलेजा कँपाने वाले भयकर युद्ध मे, जब वे विजेता पुरुष के द्वारा बुरी तरह क्षतविक्षत (घायल) कर दिये जाते है, तब दीन हो जाते हैं।

व्याख्या

वीराभिमानी युद्ध के मोर्चे पर तो चला जाता है, पर

इस गाथा मे पूर्ववत् वही बात दुहराकर दूसरे पहलू से उठायी गयी है—'**पयाता सूरा जेएण परिविच्छए।**' आशय यह है कि पूर्वगाथा मे उक्त वीराभिमानी के तो प्रतिसुभट को देखते ही छक्के छूट जाते हैं, परन्तु वह युद्ध के मोर्चे पर डट जाता है, रण मे दो हाथ भी बताता है, किन्तु जब घायल हो जाता है तब दीन हो जाता है। अर्थात् सग्राम छिडने पर वीरत्वाभिमानी पुरुष अपनी प्रशसापूर्वक गर्जते हुए तेजी से चल कर युद्ध के मोर्चे (अग्रभाग) पर तो चले जाते है, किन्तु जब उनके साहस को चुनौती वाला युद्ध प्रारम्भ होता है और शत्रुदल के वीर पुरुष शस्त्र-अस्त्र की वर्षा करने लगते है, तब वे भय के मारे घबरा उठते हैं। वह युद्ध कैसा भीषण होता है, इसे सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। उस युद्ध की भयकरता से घबराहट मे आयी हुई माता को अपनी गोद से गिरते हुए प्यारे पुत्र का भी ध्यान नही रहता। इस प्रकार शत्रुदल के सुभटो द्वारा चलाये हुए अस्त्र-शस्त्रादि से वे घायल एव दीन होकर गिर जाते है, उन अल्पसत्त्व पुरुषो का साहस टूट जाता है।

अगली गाथा मे इन्ही दृष्टान्तो पर दार्ष्टान्तिक घटाते हैं—

मूल पाठ

एवं सेहेवि अप्पुट्ठे, भिक्खायरिया अकोविए ।
सूर मण्णति अप्पाणं, जाव लूह न सेवए ॥३॥

सस्कृत छाया

एव शैक्षोऽप्यस्पृष्टो, भिक्षाचर्याऽकोविद॰ ।
शूर मन्यत आत्मान, यावद् रूक्ष न सेवते ॥३॥

अन्वयार्थ

(एव) इसी तरह (भिक्खायरिया अकोविए) भिक्षाचरी मे अनिपुण तथा (अप्पुटठे) परीपहो व उपसर्गो का स्पर्श नही पाया हुआ (सेहेवि) नवदीक्षित साधु भी (अप्पाण) अपने आपको तब तक (सूर) शूर (मण्णति) मानता है, (जाव) जब तक वह (लूह) कर्म चिपकने के कारण अभावरूप सयम का (न सेवए) सेवन नही करता है ।

भावार्थ

जैसे कायर पुरुष जब तक शत्रुदल के वीरो से घायल नही किया जाता, तब तक अपने को वीर मानता है, वैसे ही भिक्षाचरी मे अनिपुण तथा परीषहो एव उपसर्गो का स्पर्श नही पाया हुआ (इनसे अछूता) नवदीक्षित साधक भी तभी तक अपने को वीर मानता है, जब तक वह सयम का सेवन —आचरण नही करता ।

व्याख्या

नवदीक्षित साधु भी तभी तक अपने को वीर मानता है

इस गाथा मे पूर्व गाथाद्वय मे प्रस्तुत किये हुए दृष्टान्तो को नवदीक्षित एव उपसर्गो का सामना करने मे अनभ्यस्त साधक पर घटाते है—'एव सेहेवि लूह न सेवए ।"

'एव' शब्द यहाँ पूर्वोक्त दृष्टान्तो को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है । जैसे स्वय को शूर मानने वाला वह पुरुप बडे जोर-शोर से सिंहनाद करता हुआ सग्राम के मोर्चे पर चला जाता है, वहाँ वह युद्ध करते हुए वज्रसकल्प प्रतियोद्धा या किसी वीरपुरुप को देखकर जैसे हतोत्साह या घायल होकर दीन हो जाता है, इसी तरह परीपहो एव उपसर्गो से अपरिचित—अछूता तथा भिक्षाचरी एव अन्य साध्वाचार मे नवदीक्षित होने के कारण अनिपुण साधक गर्जता है--"अरे ! सयम-पालन करना क्या दुष्कर है ? वह तो मेरे लिए बाँये हाथ का खेल है ।" वह शिशुपाल की तरह तभी तक स्वय को उपसर्गो का सामना करने मे वीर मानता है,

जब तक विजयी पुरुष की तरह वह सयम का सेवन नही करता है। यहाँ सयम को रूक्ष इसलिए कहा गया है कि उसके होने पर कर्म नही चिपकते है।

निष्कर्ष यह है कि रूक्ष सयम को प्राप्त करके भी उपसर्गों का सामना करने मे अनभ्यस्त नौसिखिये साधक अपराक्रमी ही सिद्ध होते है, वे हतोत्साह होकर मैदान छोडकर भाग खडे होते है।

उपसर्ग सहने मे अनभ्यस्त साधक कैसे घबरा जाता है, इसे ही अगली गाथा मे बताते हैं—

मूल

जया हेमतमासमि सीत फुसइ सव्वगं ।
तत्थ मंदा विसीयति रज्जहीणा व खत्तिया ॥४॥

सस्कृत छाया

यदा हेमतमासे शीत स्पृशति सर्वागम् ।
तत्र मन्दा विषीदन्ति राज्यहीना इव क्षत्रिया ॥४॥

अन्वयार्थ

(जया) जब (हेमतमासमि) हेमन्तऋतु मे (सीत) भयकर शीत—ठण्ड (सव्वग) समस्त अगो को (फुसइ) स्पर्श करती है, (तत्थ) तब (मदा) मन्द—विवेकमूढ या अल्पपराक्रमी साधक (रज्जहीणा) राज्यभ्रष्ट (खत्तिया व) क्षत्रिय की तरह (विसीयति) विषाद (खेद) पाते हैं।

भावार्थ

जब हेमतऋतु के महीनो मे कडकडाती ठण्ड सारे अगो को स्पर्श करती, कपा देती है, तब मन्द—अल्पसत्त्व साधक राज्यभ्रष्ट क्षत्रिय की तरह विषाद का अनुभव करते है।

व्याख्या

भयकर शीतस्पर्श से मन्द साधक को विषाद

इस गाथा मे शीत-उपसर्ग का सामना करने मे कायर साधक की मनोदशा का वर्णन करते हुए कहा है—'जया हेमतमासमि ... खत्तिया।' आशय यह है कि कायर साधक हेमन्तऋतु मे—पौष, माघ आदि महीनो मे जब कि बर्फीली ठण्डी हवाएँ कलेजे को चीरने लगती हैं, तब उस असह्य शीत के स्पर्श से कई मन्द—अल्पपराक्रमी गुरुकर्मी साधक इस प्रकार का विषाद अनुभव करते हैं, जैसे राज्य से च्युत क्षत्रिय-शासक विषाद अनुभव करते हैं। जैसे राज्यभ्रष्ट शासक मन मे खेद करता है कि लडाई भी लडी, इतने आदमी भी मारे गये और राज्य भी खोया, वैसे ही उपसर्ग सहने मे कायर साधक भी कडाके की ठण्ड का उपसर्ग आने पर इस प्रकार सोचकर

मूल पाठ

एवं सेहेवि अप्पुट्ठे, भिक्खायरिया अकोविए ।
सूर मण्णति अप्पाणं, जाव लूह न सेवए ॥३॥

सस छाया

एव शैक्षोऽप्यस्पृष्टो, भिक्षाचर्याऽकोविद· ।
शूर मन्यत आत्मान, यावद् रूक्ष न सेवते ॥३॥

अन्वयार्थ

(एव) इसी तरह (भिक्खायरिया अकोविए) भिक्षाचरी मे अनिपुण तथा (अप्पुट्ठे) परीषहो व उपसर्गो का स्पर्श नही पाया हुआ (सेहेवि) नवदीक्षित साधु भी (अप्पाण) अपने आपको तब तक (सूर) शूर (मण्णति) मानता है, (जाव) जब तक वह (लूह) कर्म चिपकने के कारण रूप सयम का (न सेवए) सेवन नही करता है ।

भावार्थ

जैसे कायर पुरुष जब तक शत्रुदल के वीरो से घायल नही किया जाता, तब तक अपने को वीर मानता है, वैसे ही भिक्षाचरी मे अनिपुण तथा परीषहो एव उपसर्गो का स्पर्श नही पाया हुआ (इनसे अछूता) नवदीक्षित साधक भी तभी तक अपने को वीर मानता है, जब तक वह सयम का सेवन —आचरण नही करता ।

व्याख्या

नवदीक्षित साधु भी तभी तक अपने को वीर मानता है

इस गाथा मे पूर्व गाथाद्वय मे प्रस्तुत किये हुए दृष्टान्तो को नवदीक्षित एव उपसर्गो का सामना करने मे अनभ्यस्त साधक पर घटाते हैं—'एव सेहेवि लूह न सेवए ।''

'एव' शब्द यहाँ पूर्वोक्त दृष्टान्तो को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है । जैसे स्वय को शूर मानने वाला वह पुरुष बडे जोर-शोर से सिंहनाद करता हुआ सग्राम के मोर्चे पर चला जाता है, वहाँ वह युद्ध करते हुए वज्रसकल्प प्रतियोद्धा या किसी वीरपुरुष को देखकर जैसे हतोत्साह या घायल होकर दीन हो जाता है, इसी तरह परीषहो एव उपसर्गों से अपरिचित—अछूता तथा भिक्षाचरी एव अन्य साध्वाचार मे नवदीक्षित होने के कारण अनिपुण साधक गर्जता है--"अरे ! सयम-पालन करना क्या दुष्कर है ? वह तो मेरे लिए बाँये हाथ का खेल है ।" वह शिशुपाल की तरह तभी तक स्वय को उपसर्गो का सामना करने मे वीर मानता है,

जब तक विजयी पुरुष की तरह वह संयम का सेवन नहीं करता है। यहाँ संयम को रूक्ष इसलिए कहा गया है कि उसके होने पर कर्म नहीं चिपकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि रूक्ष संयम को प्राप्त करके भी उपसर्गों का सामना करने मे अनभ्यस्त नौसिखिये साधक अपराक्रमी ही सिद्ध होते है, वे हतोत्साह होकर मैदान छोडकर भाग खडे होते हैं।

उपसर्ग सहने मे अनभ्यस्त साधक कैसे घबरा जाता है, इसे ही अगली गाथा मे बताते हैं—

मूल

जया हेमतमासम्मि सीत फुसइ सव्वगं ।
तत्थ मंदा विसीयंति रज्जहीणा व खत्तिया ।।४।।

संस्कृत छाया

यदा हेमतमासे शीत स्पृशति सर्वांगम् ।
तत्र मन्दा विषीदन्ति राज्यहीना इव क्षत्रिया ।।४।।

अन्वयार्थ

(जया) जब (हेमतमासम्मि) हेमन्तऋतु मे (सीत) भयंकर शीत—ठण्ड (सव्वग) समस्त अगो को (फुसइ) स्पर्श करती है, (तत्थ) तब (मदा) मन्द—विवेकमूढ या अल्पपराक्रमी साधक (रज्जहीणा) राज्यभ्रष्ट (खत्तिया व) क्षत्रिय की तरह (विसीयंति) विषाद (खेद) पाते है।

भावार्थ

जब हेमतऋतु के महीनो मे कडकडाती ठण्ड सारे अगा को स्पर्श करती, कपा देती है, तब मन्द—अल्पसत्त्व साधक राज्यभ्रष्ट क्षत्रिय की तरह विषाद का अनुभव करते है।

व्याख्या

भयकर शीतस्पर्श से मन्द साधक को विषाद

इस गाथा मे शीत-उपसर्ग का सामना करने मे कायर साधक की मनोदशा का वर्णन करते हुए कहा है—'जया हेमतमासम्मि खत्तिया।' आशय यह है कि कायर साधक हेमन्तऋतु मे—पौष, माघ आदि महीनो मे जब कि बर्फीली ठण्डी हवाएँ कलेजे को चीरने लगती हैं, तब उस असह्य शीत के स्पर्श से कई मन्द—अल्पपराक्रमी गुरुकर्मी साधक इस प्रकार का विषाद अनुभव करते हैं, जैसे राज्य से च्युत क्षत्रिय-शासक विषाद अनुभव करते है। जैसे राज्यभ्रष्ट शासक मन मे खेद करता है कि लडाई भी लडी, इतने आदमी भी मारे गये और राज्य भी खोया, वैसे ही उपसर्ग सहने मे कायर साधक भी कडाके की ठण्ड का उपसर्ग आने पर इस प्रकार सोचकर

खिन्न होता है कि "मैने घरवार भी छोडा, सुख-सुविधाएँ भी छोडी, परिवार वालो को भी रुष्ट किया, फिर भी ऐसी असह्य सर्दी का सामना करना पड रहा है।"

अब उष्ण परीषह के विषय मे कहते है—

मूल पाठ

पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए ।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥५॥

सस्कृत छाया

स्पृष्टो ग्रीष्माभितापेन विमना सुपिपासित ।
तत्र मन्दा विषीदन्ति मत्स्या अल्पोदके यथा ॥५॥

अन्वयार्थ

(**गिम्हाहितावेण**) ग्रीष्मऋतु के अभिताप—गर्मी से (**पुट्ठे**) स्पर्श पाया हुआ साधक (**विमणे**) उदास और (**सुपिवासिए**) प्यास से व्याकुल एव दीन हो जाता है। (**तत्थ**) उस समय (**मदा**) मन्द—अल्पशक्तिमान साधक (**विसीयंति**) इस प्रकार विषाद पाते है, (**जहा**) जैसे (**अप्पोदए**) थोडे-से पानी मे (**मच्छा**) मछलियाँ तडपती हैं।

भावार्थ

ज्येष्ठ-आषाढ महीनो मे जब भयकर गर्मी का परीषह नवदीक्षित साधक को स्पर्श करता है, तब गर्मी से पीडित और प्यास से व्याकुल साधक उदास हो जाता है। उस समय अल्पपराक्रमी विवेकमूढ साधक इस प्रकार तडपते है, जैसे थोडे से पानी मे मछलियाँ तडपती है।

व्याख्या

ग्रीष्मताप से पीडित साधक की मनोदशा

इस गाथा मे ग्रीष्म के ताप से उपसर्गो एव परीषहो को सहने मे कायर, अनभ्यस्त नवदीक्षित साधक की मनोदशा का चित्रण किया है कि जब ज्येष्ठ एव आषाढ मास मे भयकर गर्मी पडती है, लू चलती है, सनसनाती हुई गर्म हवाएँ शरीर को स्पर्श करती है, उस समय कच्चा नौसिखिया अल्पपराक्रमी साधक उदास, खिन्न एव प्यास से व्याकुल हो जाता है। विवेकमूढ अल्पसत्त्व नवदीक्षित साधक एकदम तडप उठते है। उनको किस प्रकार का विषाद होता है, इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—'**मच्छा अप्पोदए जहा।**' जब किसी जलाशय मे पानी सूखने लगता है, तब अत्यन्त अल्प पानी मे मछलियाँ गर्मी से तप्त होकर तडप उठती है, वहाँ से हटने मे असमर्थ होकर वे वही मरणशील हो जाती हैं। इसी प्रकार परीषह का सामना करने मे शक्तिहीन, अल्पसत्त्व नवदीक्षित साधक चारित्र ग्रहण करके भी पसीने से

लथपथ, मैल से क्लिन्न, बाहर की गर्मी और लू से तप्त होने के कारण शीतल जल, चन्दन आदि शीतल पदार्थों को याद करके तडपते रहते हैं।

अब याञ्चापरीषह के विषय मे कहते है—

मूल पाठ

सया दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहसु पुढोजणा ॥६॥

संस्कृत छाया

सदा दत्तैषणा दु ख, याचना दुष्प्रणोद्या।
कर्मार्त्ता दुर्भगाश्चैवेत्याहु पृथक्जना ॥६॥

अन्वयार्थ

(**दत्तेसणा**) दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तु की ही गवेषणा करना (**सया**) हमेशा साधु के लिए (**दुक्खा**) दु खदायिनी होती है। क्योंकि (**जायणा**) भिक्षा मॉगने की पीडा (**दुप्पणोल्लिया**) असह्य होती है। (**पुढोजणा**) प्राकृत--अज्ञ लोग (**इच्चाहसु**) यह कहते है कि (**कम्मत्ता**) ये लोग पूर्वकृत कर्मों के फल भोग से पीडित है, (**दुब्भगा चेव**) और ये लोग अभागे है।

भावार्थ

साधु को सदा दूसरे के द्वारा दी गयी वस्तु की ही गवेषणा—याचना करनी पडती है, यह याचना का दुसह्य दु ख सदैव जिन्दगीभर साधु को बना रहता है। उस पर भी साधारण गँवार लोग साधु को देखकर कहते है—ये लोग अपने पहले किये हुए कर्मों का फल भोग रहे है, तथा ये भाग्यहीन हैं, तब तो मन को असह्य वेदना होती है।

व्याख्या

याचना का परीषह अत्यन्त दु सह

इस गाथा मे भिक्षाजीवी साधु के लिए याचना का परीषह तथा साथ ही प्रतिकूल व्यंगबाणो का उपसर्ग कितना दु सह एव मर्मस्पर्शी होता है, यह बताया गया है—'**सया दत्तेषणा पुढोजणा।**' साधु को दाँत साफ करने की छोटी-सी कूँची (दतौन) भी दूसरे के द्वारा दी हुई ही ग्राह्य होती है, तब भिक्षाचर्या के लिए घर-घर घूमना और कल्पनीय वस्तु की गवेषणा करके निर्दोष आहारादि की याचना बहुत ही असह्य होती है। क्षुधा आदि की वेदना से पीडित भिक्षु जब किसी के द्वार पर निर्दोष आहारादि की याचना करने जाता है तो अल्पपराक्रमी तथा मिथ्याभिमानी होने के कारण उसके मुख से किसी से कुछ माँगा नही जाता। उस समय भिक्षु की मन स्थिति का वर्णन विद्वानो ने इस प्रकार किया है—

खिज्जइ मुखलावण्ण, वाया घोलेइ कठमज्झमि ।
कहकहकहेइ हियय, देहित्ति पर भणतस्स ।।

गतिभ्रशो मुखे दैन्य, गात्रस्वेदो विवर्णता ।
मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके ।।

अर्थात्—भिक्षाजीवी साधु जब किसी के द्वार पर याचना करने जाता है, तब उसका गौरव समाप्त हो जाता है। इसलिए मुँह की कान्ति फीकी पड जाती है। वाणी कण्ठ के बीच मे ही डोलती रहती है, सहसा यह नही कहा जाता कि 'अमुक वस्तु मुझे दो'। उसका हृदय धक-धक करने लगता हे। फिर मांगने के लिए जाते समय ही उसके पैर लडखडाने लगते है, उसका मुख दीन हो जाता है, शरीर मे पसीना छूटने लगता है, चेहरा फीका पड जाता हे, इस प्रकार मरने के समय जो चिह्न दिखाई देते है, वे सब याचक पुरुष मे परिलक्षित होते हे।

कवि रहीम ने एक दोहे मे कह दिया है—

रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ मांगन जाहि।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं।।

इस प्रकार दु सह याचना-परीपह को सहकर निरभिमानी महासत्त्व साधक ही ज्ञानादि की वृद्धि के लिए महापुरुषो द्वारा आचरित मार्ग के अनुगामी बनते हैं।

अब शास्त्रकार गाथा के उत्तरार्द्ध मे आक्रोश परीपह अथवा एक प्रकार का मनुष्यकृत उपसर्ग के समय कच्चे साधक की मनोदशा बताते हैं। साधारण गवार आदमी भिक्षा के लिए जाते हुए साधु को देखकर ताना मारते हुए कहते हैं—"अरे! ये मैले-कुचैले कपडो वाले, दुर्गन्धपूर्ण शरीर, मुडे हुए मस्तक वाले, भूखे-प्यासे बेचारे भिखमगे साधु अपने पूर्वकृत कर्मो से पीडित है। ये अपने किये हुए पापकर्मो का फल भोग रहे है। अथवा ये लोग निकम्मे हैं, आलसी है। इनसे काम-धाम होता नही है, इसलिए साधु बन गये हैं। ये लोग अभागे और भिखारी है। घर मे इन्हे कोई पूछता नही था, ये आश्रयहीन तथा सभी पदार्थो से तग थे, इसलिए साधु का वेष पहन लिया है।" अनाडी लोगो की इन अटसट बातो को सुनकर नौसिखिये कच्चे साधक का तो दिमाग चकरा जाता है। वह मन मे दीन-हीन, विषण्ण हो जाता है। परन्तु परिपक्व साधक इन अपमानो को समभावपूर्वक सहते है।

मूल पाठ

एते सद्दे अचायता, गामेसु नयरेसु वा।
तत्थ मदा विसीयति, सगाममिव भीरुया ।।७।।

संस्कृत छाया

एतान् शब्दान् अशक्नुवन्तो ग्रामेषु नगरेषु वा ।
तत्र मन्दा. विषीदन्ति, संग्रामे इव भीरुका ॥७॥

अन्वयार्थ

(गामेसु) गावो मे (नयरेसु वा) अथवा नगरो मे (एते सद्दे) इन आक्रोश-कारी शब्दो को (अचायता) सहन न कर सकते हुए (मदा) अल्पसत्त्व कच्चे साधक, (तत्थ) उन तीखे व्यग्यबाणो को न महने के कारण (विसीयति) इस प्रकार विषाद पाते है, (सगाममिव) जैसे सग्राम मे (भीरुया) डरपोक लोग विषाद पाते हैं ।

भावार्थ

गाँव-गाँव मे या नगर-नगर मे जहाँ भी अल्पसत्त्व साधक इन आक्रोशजनक शब्दो को सुनकर सहन नही कर सकने के कारण इस तरह विषाद पाते हैं, जिस तरह युद्ध मे कायर पुरुष विषाद पाता है ।

व्याख्या

ये आक्रोश परीषह एव उपसर्ग सहने मे कायर साधक ।

जो नाजुक एव तुच्छ प्रकृति के कच्चे साधक होते है, वे नगरो और गाँवो मे गँवार लोगो के ताने और आक्रोशभरे शब्दो को सुनकर झुँझला उठते है, वे उनके निन्दा और आक्षेप से युक्त व्यग्यबाणो को सुनकर उन्हे सहने मे असमर्थ होकर या तो खिन्न होकर बैठ जात है, या फिर वे गुस्से से आगबबूला होकर उन लोगो से वादविवाद करने लग जाते हैं,, कभी-कभी गाली-गलौज पर भी उतर आते है । इस प्रकार उन अपरिपक्व एव कायर साधको की स्थिति ऐसी हास्यास्पद एव विकट हो जाती है, जैसी कायर और भगोडे सैनिको की युद्धक्षेत्र मे पहुँचकर सग्राम मे जब तलवारे चमकती है, भाले, बाण आदि शस्त्रास्त्र उछलने लगते है तथा जुझारू बाजे बजने लगते है, तब होती है । इसी प्रकार नवदीक्षित साधक भी कलेजे मे तीर-से चुभने वाले आक्रोशजनक शब्दो को सुनकर अपयश स्वीकार करके भी अपने सयम-क्षेत्र से भाग खडे होते हैं ।

अब सूत्रकार वध परीषह अथवा उपसर्ग के बारे मे कहते है—

मूल पाठ

अप्पेगे खुधिय भिक्खुं, सुणी डसति लूसए ।
तत्थ मदा विसीयति, तेउपुट्ठा व पाणिणो ॥८॥

संस्कृत छाया

अप्येक क्षुधित भिक्षु, शुनी दशति लूषक ।
तत्र मन्दा विषीदन्ति, तेज स्पृष्टा इव प्राणिन ॥८॥

अन्वयार्थ

(**अप्पेगे**, यदि कोई (**सुणी**) कुत्ती आदि (**लूसए**) क्रूर प्राणी, (**खुधिय भिक्खु**) भूखे साधु को भिक्षा के लिए जाते समय (**डसति**) काटने लगता है, (**तत्थ**) उस मौके पर (**मदा**) विवेकमूढ अल्पपराक्रमी साधक (**विसीयति**) इस प्रकार झल्ला उठते है, जैसे (**तेउपुट्ठा**) अग्नि का स्पर्श होते ही (**पाणिणो**) प्राणी झल्ला जाते है।

भावार्थ

भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए भूखे साधु को यदि कोई कुत्ती आदि क्रूर प्राणी काट खाता है तो उस मौके पर जो कच्चे अल्पपराक्रमी साधक होते है, वे एकदम घबरा जाते है, जैसे आग का स्पर्श होते ही प्राणी घबरा उठते है।

व्याख्या

क्रूर प्राणियो द्वारा उपसर्ग आने पर

इस गाथा मे भिक्षार्थ जाते हुए साधक पर क्रूर प्राणियो द्वारा हमला करने पर उसकी मनोव्यथा कितनी असह्य हो उठती है ? इसका चित्रण करते है 'अप्पेगे खुधिय तेउपुट्ठा व पाणिणो।' आशय यह है—एक तो बेचारा साधु भूखा होता है, फिर भिक्षा के लिए घूमते-घूमते कही कुत्ते आदि उसके अजीब वेप को देखकर भौंकने लगते है, उस पर हमला करके काट भी खाते है, दाँतो से उसके अग को क्षत-विक्षत कर डालते है। ऐसे समय मे जो साधक अभी नये-नये साधु सस्था मे भर्ती हुए हैं, वे अल्पसत्त्व साधक एकदम झल्ला उठते हैं या अपने अगो को सिकोडते हुए आर्त होकर उसी तरह विषाद करते है, जिस तरह आग से जलते हुए प्राणी आर्तनाद करते हैं। कई दफा ऐसे क्रूर प्राणियो के आक्रमण से पीडित होकर वे सयम को भी छोड बैठते है, क्योकि ऐसे ग्रामकण्टको का सहना अत्यन्त दुष्कर होता है।

मूल पाठ

अप्पेगे पडिभासति पडिपथियमागता ।
पडियारगया एते, जे एते एव जीविणो ॥९॥

सस्कृत छाया

अप्येके प्रतिभाषन्ते प्रातिपथिकतामागता ।
प्रतिकारगता एते, य एते एवजीविन ॥९॥

अन्वयार्थ

(**पडिपथियमागया**) साधुओ के साथ शत्रुता या द्वेषभाव पर उतरे हुए (**अप्पेगे**) कई लोग (**पडिभासति**) इस प्रकार प्रतिकूल बोलते है कि (**जे एते**) जो ये

भिक्षु लोग (एवजीविणो) इस प्रकार भिक्षुवृत्ति से जी रहे हैं, (एते) ये लोग (पडियारगता) अपने पूर्वकृत पापकर्मों का बदला चुका रहे हैं।

भावार्थ

साधुजनो के प्रति द्रोह करने पर उतरे हुए कुछ लोग उन्हे देखकर इस प्रकार विपरीत वोलने लगते है कि ये घर-घर घूमकर भिक्षा मांगकर जीवन निर्वाह करते है, यह इसलिए कि ये लोग अपने पूर्वकृत पापकर्मो का फल भोग रहे है।

व्याख्या

साधु-विद्वेषीजनो द्वारा वाक्प्रहार के समय

इस गाथा मे फिर विद्वेषी लोगो द्वारा कृत उपसर्गो के समय कच्चे साधक की मन स्थिति का वर्णन करते है 'अप्पेगे एव जीविणो।' आशय यह है कि गाँव मे कई लोग साधुओ के प्रति द्वेषवश विद्रोह पर उतर आते हैं और उन्हे छेडने के लिहाज से यो कहने लगते है—"अजी, देखो, इन भिखमगो को, ये भिक्षा के लिए घर घर क्यो घूमते है, और क्यो गृहस्थ द्वारा दिया हुआ रूखा-सूखा आहार लेते हैं। ये मुडित मस्तक साधु भोगो से वञ्चित रहकर क्यो दु खमय जीवनयापन करते हैं? हमे पता हैं, ये लोग अपने पूर्वजन्मो मे या पहले किये हुए पापकर्मों का फल भोगकर वदला चुका रहे है।" इस प्रकार उक्त अनार्यो तथा विद्वेषी लोगो के आक्षेपात्मक कटुवचन या वाक्प्रहार साधुओ के प्रति सम्भव है। 'अपि' शब्द यहाँ सम्भावना अर्थ मे है।

मूल पाठ

अप्पेगे वइ जुजति, नगिणा पिंडोलगाऽहमा।
मुडा कडूविणट्ठगा उज्जल्ला असमाहिया ॥१०॥

सस्कृत छाया

अप्येके वचो युजन्ति नग्ना पिण्डोलगा अधमा।
मुण्डा कण्डूविनष्टागा उज्जल्ला असमाहिता ॥१०॥

अन्वयार्थ

(अप्पेगे) कोई-कोई (वइ जुजति) ऐसा वचन प्रयोग करते है कि ये लोग (नगिणा) नगे हैं, (पिंडोलगा) परपिण्ड पर पलने वाले—टुकडैल है, (अहमा) तथा अधम हैं, (मुडा) ये मुण्डित हैं, (कडूविणट्ठगा) खुजली से इनके अग गल गए है, (उज्जल्ला) सूखे पसीने से युक्त और (असमाहिया) असुहावने—वीभत्स है।

भावार्थ

कोई-कोई पुरुष जिनकल्पी आदि साधुओ को देखकर कहते है—'ये

नगे है, दूसरो के पिण्ड पर पलते है—टुकडैल है, अधम है, सिर मुडे हुए है, खुजली से इनके अग क्षतविक्षत है, सूखा पसीना शरीर पर जम जाने के कारण बदबू से भरे, वीभत्स-भद्दे है।

व्याख्या

अनार्यो द्वारा प्रयुक्त ये कठोर वाक्य

कई अनाडी और साधुजनो की चर्या से अनभिज्ञ लोग कहते है—ये जिन-कल्पी आदि लोग नगे हैं, पराये अन्न पर जीते है पेटू है वडे नीच है, सिर-मुडे हैं, खुजली से इनके अग-अग गल गए है, स्नान न करने के कारण सूखे पसीने के कारण शरीर पर मैल जमा है, ये गदे और घिनौने है। प्राणियो को असमाधि पैदा करने वाले है।

जो लोग साधु के लिए ऐसी वाते करते हैं, उनको इसका क्या फल प्राप्त होता है ? इसे शास्त्रकार अगली गाथा मे कहते है—

मूल पाठ

एव विप्पडिवन्नेगे, अप्पणा उ अजाणया ।
तमाओ ते तम जति, मदा मोहेण पाउडा ॥११॥

सस्कृत छाया

एव विप्रतिपन्ना एक आत्मनात्वज्ञका ।
तमसस्ते तमो यान्ति, मन्दा मोहेन प्रावृता ॥११॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (विप्पडिवन्ना) साधु और सन्मार्ग के द्रोही, (एगे) कोई (अप्पणा उ अजाणया) स्वय अज्ञ जीव (मोहेण पाउडा) मोह से घिरे हुए हैं, (मदा) विवेकमूढ है, (ते) वे (तमाओ) अज्ञानान्धकार से निकलकर (तम) फिर अज्ञान-तिमिर मे ही (जति) जाते है।

भावार्थ

इस प्रकार साधुजन और धर्ममार्ग से द्रोह करने वाले स्वय अज्ञानी जीव मोह से घिरे हुए विवेकमूढ हैं। वे एक अज्ञानान्धकार से निकलकर दूसरे अज्ञानतिमिर मे जाकर गिरते है।

व्याख्या

साधुविद्रोहीजनो के कुकृत्यो के फल

जो पापात्मा तथा साधुसन्त एव सन्मार्ग के विरोधी लोग जो द्रोह करते है, वे स्वय साधुजीवन एव धर्मपथ से विलकुल अज्ञ हैं। वे स्वय तो विवेकमूढ एव मोह से घिरे हुए होते है, दूसरे ज्ञानी पुरुषो के कथन को भी नही मानते है। ऐसे मूढ

लोग अज्ञानरूप अन्धकार से निकलकर उसमे भी गाढ अज्ञानान्धकार मे चले जाते हैं। तात्पर्य यह है कि ऐसे लोग ज्ञानावरणीय कर्म से ढके हुए मिथ्यादर्शनरूपी मोह से आच्छादित हो जाते है, इस कारण वे अन्ध (विवेकान्ध) होकर साधु और सद्धर्म से द्वेष करने के कारण कुमार्ग का सेवन करके और अधिक मोहावृत होकर अधमाधम गति मे जाते हैं। विद्वानो ने कहा है—

एक हि चक्षुरमल सहजो विवेक तद्वद्भिरेव सह सवसतिर्द्वितीयम् ।
एतदद्वय भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्ध तस्यापमार्गचलने खलु कोऽपराध ? ॥

अर्थात्—एक पवित्र आँख तो सहजविवेक है, और दूसरी आख है, विवेकवानो के साथ निवास। मगर जिसके पास ये दोनो नेत्र नही हैं, वह वस्तुत अन्धा है, अगर वह बेचारा कुमार्ग पर चलता है तो उसका क्या दोष है ?

यही बात उन साधु एव सन्मार्ग के द्रोही अज्ञो के सम्बन्ध मे कही जा सकती है।

मूल पाठ

पुट्ठो य दसमसएहिं, तणफासमचाइया ।
न मे दिट्ठे परे लोए, जइ पर मरण सिया ॥१२॥

संस्कृत छाया

स्पृष्टश्च दश-मशकैस्तृणस्पर्शमशक्नुवन् ।
न मया दृष्ट परो लोक, यदि पर मरण स्यात् ॥१२॥

अन्वयार्थ

(दसमसएहि) डास और मच्छरो द्वारा (पुट्ठो) स्पर्श पाकर या काटे जाने पर तथा (य तणफासमचाइया) तृणस्पर्श को भी नही सह सकता हुआ साधु (यह भी सोच सकता है कि) (मे) मैंने (परे लोए) परलोक को तो (न दिट्ठे) नही देखा, (पर जइ) परन्तु यदि कदाचित् (मरण) इस कष्ट से मृत्यु (सिया) तो सम्भव ही है।

भावार्थ

डास और मच्छरो का तीखा स्पर्श पाकर तथा तृण की शय्या का खुर्दरा स्पर्श पाकर उसे सहन न करता हुआ नवीन साधु यह भी सोचता है कि मैंने परलोक को तो प्रत्यक्ष नही देखा है, परन्तु इस कष्ट से मरण तो साक्षात् दीखता है।

व्याख्या

दशमशक आदि परीषहो के समय कायर साधक का चिन्तन

साधक-जीवन मे साधु अनेक देशो मे विचरण करता है। सिन्धु, ताम्रलिप्ति,

कोकण आदि देशो मे वहुत मच्छरो एव डासो से वास्ता पडता है। वे साधु के शरीर पर हमला करते हे, साथ ही घास की शय्या पर नवदीक्षित साधु सोता है तो उसका खुर्दरा स्पर्श चुभता है। उस तीक्ष्ण स्पर्श एव मच्छरो के उपद्रव के कारण नया-नया साधु झुँझला उठता है। वह प्राय ऐसा सोचता हे कि "आखिरकार यह सब कष्ट मैं क्यो सहन कर रहा हूँ ? व्यर्थ ही अपने आपको क्यो कष्ट मे डाला जाय ? यह कष्ट-सहन भी तभी सार्थक है, जव परलोक हो। परलोक तो मेने देखा ही नही और न कोई अभी तक परलोक से लौटकर मुझे वहाँ की बाते वताने ही आया है ? प्रत्यक्ष से जव परलोक को नही देखा, तो परलोक का अनुमान भी नही हो सकता। इसलिए मेरे इस व्यर्थ कष्टसहन का नतीजा सिर्फ मेरी मृत्यु के सिवाय और कोई नही हो सकता।" इस प्रकार सोचकर अल्पसत्त्व कायर साधक परीपहसहन का मार्ग छोडकर सुकुमार एव असयमी वन जाता हे।

मूल पाठ

संतत्ता केसलोएण, बभचेरपराइया ।
तत्थ मदा विसीयति मच्छा विद्धा[1] व केयणे ॥१३॥

सस्कृत छाया

सतप्ता केशलुञ्चनेन ब्रह्मचर्य-पराजिता ।
तत्र मन्दा विपीदन्ति मत्स्या विद्धा इव केतने ॥१३॥

अन्वयार्थ

(केसलोएण) केशलुञ्चन से (सतत्ता) पीडित (बभचेरपराइया) ब्रह्मचर्य-पालन मे हार खाये हुए (मदा) अल्पपराक्रमी मूढ साधक (केयणे) जाल में (विद्धा) फँसी हुई (मच्छा) मछलियो की तरह (तत्थ विसीयति) मुनिधर्म मे क्लेश का अनुभव करते है।

भावार्थ

केशलोच से पीडित और ब्रह्मचर्यपालन मे असमर्थ अल्पसत्त्व साधक प्रव्रज्या लेकर इस प्रकार क्लेश पाते हे, जैसे जाल मे फँसी हुई मछलियाँ तडपती है।

व्याख्या

कितना दुष्कर है केशलोच और ब्रह्मचर्य-पालन !

नवदीक्षित साधक के सामने सर्वप्रथम दीक्षा के वाद सबसे कठोर परीक्षा का समय आता है तो केशलोच का ! केशो को जव जड से उखाडा जाता है, तो कई

---

१ यहाँ 'विद्धा' के वदले 'विट्ठा' पाठ भी मिलता है।

नही करेगा। परन्तु निःस्पृही त्यागी साधु को वही लोग पीडित करेंगे जिनके आचार आत्मा के लिए अहितकर—यानी दण्ड के योग्य होते है, जिनकी मनोवृत्ति मिथ्या भावनाओ मे डूबी हुई है, जो जरा-जरा-सी बात मे रुष्ट-तुष्ट या राग-द्वेषयुक्त हो जाते है, ऐसे ही प्रकार के कई अनार्य लोग साधु को उपसर्ग-पीडा देते है।

'**आयदडसमायारे**'—जिससे आत्मा दण्ड का भागी बनता है, अर्थात् स्व-कल्याण से भ्रष्ट हो जाता है, ऐसे आचार को आत्मदण्ड तथा उसका अनुष्ठान करने वालो को 'आत्मदण्डसमाचारा' कहते हैं।

'**मिच्छासठियभावणा**'—उलटे रूप मे जिमने अपनी चित्तवृत्ति जमा दी है, अर्थात् जो अपने असत् आग्रह मे है, ऐसे मिथ्यादृष्टि पुरुप '**मिथ्या सस्थितभावना**' कहलाते है।

'**हरिसप्पओसमावन्ने**'—जो हर्ष और द्वेप अर्थात् राग-द्वेप से भरे है, जिनकी रग-रग मे राग-द्वेप समाया हुआ है, वे हर्षप्रद्वेपसमापन्न होते है।

'**लूसंति**'—ऐसे अनार्य लोग अपने मनोविनोद या द्वेष के कारण या क्रूर-कर्मा होने से लाठी आदि के प्रहार से या गालीगलौज करके सदाचारी साधु को तग किया करते हैं।

मूल पाठ

अप्पेगे पलियतेंसि चारो चोरोत्ति सुव्वय।
बधंति भिक्खुय बाला कसायवयणेहि य॥१५॥

सस्कृत छाया

अप्येके पर्यन्ते चारश्चौर इति सुव्रतम्।
बध्नन्ति भिक्षुक बाला कषायवचनैश्च॥१५॥

अन्वयार्थ

(**अप्पेगे**) कई (**बाला**) अज्ञानी अनार्यजन, (**पलियतेसि**) अनार्यदेश की सर-हद (सीमा) पर विचरते हुए (**सुव्वय**) सुव्रती साधु को (**चारो चोरोत्ति**) यह खुफिया है, यह चोर है, इस प्रकार के सन्देह मे पकडकर (**बधति**) रस्सी आदि से बांध देते है (**कषायवयणेहि य**) और कटुवचन कहकर उसे पीडित करते है।

भावार्थ

कई अनार्य लोग अनार्यदेश के परिपार्श्व मे विचरते हुए सुव्रती साधु को देखकर रोष-द्वेषवश उसे चार (गुप्तचर) या चोर समझकर पकडकर रस्सी से बाँध देते हैं, उसे कठोर वचन कहकर हैरान करते है।

व्याख्या

चोर या खुफिया समझकर साध को बांध देना

ऐसे अनार्य लोग है, जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व से ग्रस्त है, और जो राग-द्वेप से भरे है, वे अनार्यदेश की सीमा पर या आस पास विचरण करते हुए सुव्रती साधु को देखकर 'यह जासूस है, खुफिया या चोर है', इस सदेह मे गिरफ्तार करके रस्सी से बाँध देते है। वे सावु को पीटते है, क्रोधवश गालियाँ भी देते है, कडवे वचन भी कहते हैं। सद्-असद्विवेक से रहित वे मूढ उसे धमकाते हैं। परन्तु सुव्रती साधु यही सोचे कि यह मेरी परीक्षा का समय है। इस समय मुझे जरा सा भी घबराना नही चाहिए। समभावपूर्वक परीक्षा देकर उसम उत्तीर्ण होना चाहिए।

मूल पाठ

तत्थ दडेण सवीते मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
नातीण सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥१६॥

सस्कृत छाया

तत्र दण्डेन सवीतो, मुष्टिनाऽथवा फलेन वा ।
ज्ञातीना स्मरति बाल , स्त्रीवत् क्रुद्धगामिनी ॥१६॥

अन्वयार्थ

(तत्थ) उस अनार्यदेश की सरहद पर विचरणशील साधु को **(दडेण)** डडो से **(मुट्ठिणा)** मुक्को से **(अदु)** अथवा **(फलेन)** बिजौरा आदि कठोर फल से या तलवार या भाले आदि के अग्रभागसे **(सवीते)** प्रहार किया जाता—पीटा जाता हुआ **(बाले)** वह वालसाधु **(कुद्धगामिणी इत्थी वा)** क्रोधित होकर घर से निकल भागने वाली स्त्री की तरह **(नातीण)** अपने ज्ञातिजनो स्वजनो को **(सरती)** याद करता है।

भावार्थ

जब अनार्यदेश की सीमा पर विचरता हुआ साधु अनार्यपुरुषो द्वारा लाठी, डडे, मुक्के या लोहफलक के द्वारा पीटा जाता है, तब वह अपने बन्धु-बान्धवो को उसी तरह स्मरण करता है, जैसे क्रोधित होकर घर से भागी हुई स्त्री अपने ज्ञातिजनो को स्मरण करती है।

व्याख्या

शस्त्रास्त्रो से प्रहार ज्ञातिजनो की याद

अनार्यदेश की सीमा पर विचरण करते हुए साधु को चोर, गुप्तचर आदि के सन्देह मे पकडकर डडो, मुक्को या लोह-फलको या बीजोरा आदि फलो से मारने-पीटने लगते है, तब वह कच्चा बालसाधक अपने सम्बन्धियों को याद करके मन मे

झूरता है—"हाय ! अगर मेरा कोई सम्बन्धी यहाँ मौजूद होता तो क्या मेरी ऐसी दुर्दशा होती ?"

शास्त्रकार इस सम्बन्ध मे दृष्टान्त देते है—'इत्थी वा कुद्धगामिणी।' आशय यह है कि जैसे कोई स्त्री घर से रूठकर निकल भागती है, किन्तु मास की तरह कामी लोगो के लिए लोभ का पात्र होने मे वह चोर-जार आदि के द्वारा पीछा करके बलात् पकड ली जाती है, उस समय वह पश्चात्ताप करती हुई अपने स्वजनो को याद करती हे, उसी तरह अज्ञानीजनो के द्वारा किये गए प्रहार से घबराकर सयम से भाग छूटने वाला कच्चा साधक भी अपने स्वजना को याद करता हे।

मूल पाठ

एते भो कसिणा फासा फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसविता, कीवाऽवसा गया गिह ॥१७॥
त्ति बेमि ॥

सस्कृत छाया

एते भो ! कृत्स्ना स्पर्शा परुषा दुरधिसह्या ।
हस्तिन इव शरसवीता क्लीवा अवशा गता गृहम् ॥१७॥
इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(भो) हे शिष्यो ! (एते) ये पूर्वोक्त (कसिणा) सब के सब (फासा) परीषहो व उपसर्गो के स्पर्श (फरुसा) अवश्य ही कठोर है, (दुरहियासया) दु सह हैं। किन्तु (सरसविता) बाणो से पीडित—घायल (हत्थी वा) हाथियो की तरह (अवसा) विवश—लाचार होकर (गिह गया) वे ही घर को चले जाते हे, (कीवा) जो नामर्द—नपु सक है। (त्ति बेमि) यह मैं कहता हूँ।

भावार्थ

हे शिष्यो ! पूर्वगाथाओ मे कहे हुए सबके सब उपसर्गो या परीषहो के स्पर्श अवश्य ही कठोर एव दु सह है, लेकिन जैसे बाण से पीडित हाथी युद्ध के मैदान को छोडकर भाग जाते है, वैसे ही इन स्पर्शो से पीडित होकर कायर और नामर्द साधक ही सयम का मैदान छोडकर पुन घर को लौट जाते है। यह मैं कहता हूँ।

व्याख्या

सयमक्षेत्र छोडकर नामर्द वापस घर को लौट जाते हैं

वास्तव मे सयमक्षेत्र मे साधक की कडी परीक्षा होती है। सयम के मैदान

मे पूर्व गाथाओ मे शुरू से लेकर आखिर तक कहे गए सभी उपसर्ग और परीषह (दशमशक आदि) कठोर एव असह्य हैं। ये सभी स्पर्शेन्द्रिय से अनुभव किये जाते है, इसलिए 'फासा' (स्पर्श) कहलाते है। ये सबके सब उपसर्ग व परीषह पीडाकारी है और प्राय अनार्यपुरुषो या क्रूर तिर्यचो द्वारा ये उपसर्ग उत्पन्न किये जाते है। ये कलेजा कँपा देने वाले पीडाकारी उपसर्ग अल्पपराक्रमी नपु सक लोगो द्वारा दु सह्य होते हैं।

कई तुच्छप्रकृति के अल्पसत्त्व साधक अपने मुँह से शेखी बघारते हुए पहले तो आवेश मे आकर दीक्षा ले लेते है, किन्तु बाद मे उपसर्गो व परीषहो की मार मे पीडित होकर वे पुन उसी तरह सयम के मैदान को छोडकर अपने गृहवास मे प्रवृत्त हो जाते हैं, जिस तरह युद्धभूमि मे बाणो के प्रहार से पीडित हाथी मैदान छोडकर भाग खडे होते हैं। वस्तुत वे साधक अपरिपक्व और गुरुकर्मी है। कही-कही 'तिव्वसड्ढे' पाठ है, जिसका अर्थ होता है—तीव्र उपसर्गो से पीडित तथा असत् अनुष्ठान करने वाले कच्चे साधक शठो ने सयम छोडकर घर की ओर प्रस्थान कर दिया था। 'यह मैं कहता हूँ' इसका निरूपण पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार तृतीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

।। सूत्रकृताग सूत्र के तृतीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

❀

तृतीय अध्ययन : द्वितीय उद्देशक

अनुकूल-उपसर्गाधिकार

प्रथम उद्देशक मे प्रतिकूल उपसर्गो, विशेपत परीषहो से सम्बद्ध उपसर्गो के सम्बन्ध मे वर्णन किया गया था, अव इस द्वितीय उद्देशक मे अनुकूल उपसर्गो के सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते हैं, जिसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा ।
तत्थ एगे विसीयंति, ण चयति जवित्तए ॥१॥

सस्कृत छाया

अथेगे सूक्ष्मा सगा , भिक्षूणा ये दुरुत्तरा ।
तत्रैके विषीदन्ति, न शक्नुवन्ति यापयितुम् ॥१॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् (इमे) ये (सुहुमा) सूक्ष्म, स्थूल रूप से नही प्रतीत होने वाले (सगा) बान्धव आदि के साथ सम्वन्धरूप उपसर्ग होते है, (जे) जो (भिक्खूण) साधुओ के लिए (दुरुत्तरा) दुस्तर है—दुरतिक्रमणीय है। (तत्थ) उन सम्वन्धरूप उपसर्गो के आने पर (एगे) कुछ कच्चे साधक (विसीयति) विगड जाते हैं, सयम को विषाक्त कर देते है, (जवित्तए) वे सयमी जीवन का निर्वाह करने मे (ण चयति) समर्थ नही होते।

भावार्थ

प्रतिकूल उपसर्गो का वर्णन किये जाने के वाद अब अनुकूल उपसर्गो का वर्णन करते है। ये अनुकूल उपसर्ग बडे सूक्ष्म होते है। साधक इन उपसर्गो को वडी मुश्किल से पार कर पाते है। कई कच्चे साधक तो ऐसे ससर्गरूप उपसर्गो के आने पर झटपट फिसल जाते है, सयम से भ्रष्ट हो जाते है। वे सयमी जीवन का निर्वाह करने मे असमर्थ हो जाते हैं।

व्याख्या

अनुकूल उपसर्ग बडे सूक्ष्म, अत्यन्त दुष्कर

अव शास्त्रकार इस गाथा से शुरू करके ऐसे अनुकूल उपसर्गो का वर्णन कर

रहे है, जो इतने बारीक है कि स्थूलदृष्टि से देखने वाला उन्हे उपसर्ग कहने को तैयार नही होगा, बल्कि यह कहेगा कि इन उपसर्गो मे सहन क्या करना है ? ये उपसर्ग तो बडे मजे से सहे जा सकते है, इनमे मन, वचन, काया को कोई जोर नही पडता। परन्तु शास्त्रकार साधक को सावधान करने हेतु कहते हैं—साधको ! सावधान रहो। ये उपसर्ग इतने सूक्ष्म है कि तुम्हे पता ही नही लगने पायेगा और ये चुपचाप तुम्हारी जीवनचर्या मे घुस जायेंगे। अगर एक बार ये घुस गये तो फिर इनको निकालना बडा मुश्किल हो जाएगा। ये बडे मीठे बनकर आते है। इनके शस्त्र बडे तेज है। प्रतिकूल उपसर्गो मे तो साधक सावधान रह सकता है, पर अनुकूल उपसर्ग को पार करना आसान समझकर वह गाफिल रहता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—'अहिमे सुहुमा सगा, भिक्खुण जे दुरुत्तरा।' आशय यह है कि बन्धु-बान्धवो का मधुर-मधुर स्नेहस्निग्ध ससर्ग इतना सूक्ष्म होता है कि वह शरीर पर हमला नही करता, किन्तु साधक के मन पर कातिलाना हमला करता है। उसके चित्त को विकृत कर देता है। इसीलिए इस ससर्गरूप अनुकूल उपसर्ग को सूक्ष्म यानी आन्तरिक बताया है। प्रतिकूल उपसर्ग तो प्रकटरूप से बाह्यशरीर को विकृत करते है। किन्तु यह (अनुकूल) उपसर्ग बाह्यशरीर को विकृत नही करता। यहाँ 'सगा' शब्द माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि सम्बन्धियो के ससर्ग—सम्बन्ध का बोधक है। यह अनुकूल सूक्ष्म उपसर्ग अत्यन्त दुरुत्तर—दुस्तर इसलिए बताया गया है कि जीवन को सकट मे डालने वाले प्रतिकूल उपसर्गो के आने पर तो साधक सावधान होकर मध्यस्थ-वृत्ति धारण कर सकते है, जबकि अनुकूल उपसर्ग आने पर मध्यस्थवृत्ति धारण करना अति कठिन होता है। अनुकूल उपसर्ग बडे-बडे साधको को छल-बल से धर्म-भ्रष्ट कर देते हैं। जब अनुकूल उपसर्ग आता है, तब सुकुमार एव सुखसुविधापरायण कच्चे साधक बहुत जल्दी अपने सयम से फिसल जाते हैं, धर्माराधना से विचलित हो जाते हैं, सयमपालन मे शिथिल हो जाते हैं अथवा सयम मे सर्वथा भ्रष्ट हो जाते हैं। वे सयम के साथ अपनी जीवनयात्रा करने मे समर्थ नही होते। वे सदनुष्ठान के प्रति विषण्ण हो जाते है, सयमपालन उन्हे दुखदायी लगने लगता है। इसीलिए इन उपसर्गो को जीतना बडा कठिन बताया है। इन्हे जीतने मे बडे-बडे साधको का भी धैर्य छूट जाता है।

मूल पाठ

अप्पेगे नायओ दिस्स, रोयति परिवारिया ।
पोस णे ताय ! पुट्ठोऽसि, कस्स ताय ! जहासि णे ॥२॥

सस्कृत छाया

अप्येके ज्ञातयो दृष्ट्वा रुदन्ति परिवार्य च ।
पोषय नस्तात ! पोषितोऽसि, कस्य तात ! जहासि न ॥२॥

अन्वयार्थ

(अप्पेगे) कई-कई (नायओ) ज्ञातिजन (दिस्स) साधु को देखकर (परिवारिया) उसे घेरकर (रोयति) रोते है—विलाप करते है। वे कहते है—(ताय) तात ! (णे पोस) आप हमारा पालन-पोपण करे। (पुट्ठोऽसि) हमने आपका पालन-पोपण किया है। (ताय) हे तात ! (णे) अब हमको (कस्स) आप क्यो (किसलिए) (जहासि) छोडते हैं ?

भावार्थ

साधु के पारिवारिकजन उसे देखकर रोते है, आँसू वहाते हैं, और कहते है—तात ! अब आप हमारा पालन-पोषण करे, हमने बचपन से आपका पालन-पोषण किया है, अब आप हमे किसलिए छोड रहे है ?

व्याख्या

पारिवारिकजनो का अपने भरण-पोषण के लिए अनुरोध

इस गाथा मे स्वजन सम्बन्धी उपसर्ग कैसे कैसे होते हे ? किस रूप मे आते है ? इसे बताने के लिए कहा है—"**अप्पेगे नायओ जहासि णे।**" आशय यह है कि कुछ ज्ञातिजन —माता-पिता आदि स्वजनवर्ग साधु को साधुधर्म मे दीक्षित होते हुए या दीक्षित हुए देखकर उसे घेरकर जोर-जोर से रोने लगते है। स्वजनो का रुदन कच्चे साधक के मन को पिघला देता हे। उन स्वजनो की आँखो मे आँसू देखकर उसके मन मे आता हें—चलो, इनकी भी बात सुन ले। इस प्रकार जव वह साधु उनकी मोहगर्भित पुकार सुनने के लिए उत्सुक होता है तो वे आँखो से अश्रु बहाते हुए कहते है वेटा ! हमने वचपन से तुम्हारा इसलिए पालन-पोपण किया था कि वडे होकर तुम हमारी वृद्धावस्था मे सेवा करोगे, हमारा भरण-पोषण करोगे, मगर तुम तो हमे अधबिच मे ही छिटकाकर जा रहे हो। चलो, पुत्र ! हमारा भरण-पोपण करो। अव हमे छोडकर क्यो जा रहे हो ? तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई हमारा रक्षक-पोपक नही हे। इस प्रकार का पारिवारिकजनो का मोहगर्भित अनुरोध सुनकर वहुत-से साधको का दिल वापस घर लौटने को मचल उठता है।

मूल पाठ

पिया ते थेरओ ताय ! ससा ते खुड्डिया इमा ।
भायरो ते सगा (सवा) ताय ! सोयरा किं जहासि णे ॥३॥

संस्कृत छाया

पिता ते स्थविरस्तात ! स्वसा ते क्षुल्लिकेयम् ।
भ्रातरस्ते स्वकास्तात ! सोदरा कि जहासि न ।।३।।

अन्वयार्थ

(ताय) हे पुत्र ! (ते पिया) तुम्हारे पिता (थेरओ) अत्यन्त बूढे हैं (इमा) और यह (ते ससा) तुम्हारी बहन (खुड्डिया) अभी छोटी है। (ताय) हे पुत्र ! (ते सगा) ये तुम्हारे अपने (सोयरा भायरो) सहोदर भाई है। (णे किं जहासि) फिर तू हमे क्यो छोड रहा है ?

भावार्थ

पारिवारिकजन साधु से कहते है—"हे पुत्र ! तुम्हारे पिता अत्यन्त वृद्ध हैं और यह तुम्हारी बहन अभी बच्ची है, तथा ये तुम्हारे अपने सहोदर भाई है। फिर तू हमे क्यो छोड रहा है ?

व्याख्या

स्वजनो के द्वारा मोह मे फँसाने का एक और प्रकार

साधु के पारिवारिकजन उससे कहते हे—"हे तात ! हे पुत्र ! देखो तो सही, ये तुम्हारे पिता सौ वर्ष को पार कर चुके है, अत्यन्त बूढे है, इनको तुम्हारी सवा की आवश्यकता है। यह देखो, तुम्हारी बहन अभी छोटी-सी बच्ची है। ये तुम्हारे अपने सहोदर भाई है, इनकी ओर भी देखो। हम तुमसे इतना अनुरोध करते है, फिर हमे छोडकर क्यो जा रहे हो ?"

मूल पाठ

मायर पियरं पोस, एव लोगो भविस्सति ।
एव खु लोइय ताय ! जे पालति य मायर ।।४।।

संस्कृत छाया

मातर पितर पोषय, एव लोको भविष्यति ।
एव खलु लौकिक तात ! ये पालयन्ति च मातरम् ।।४।।

अन्वयार्थ

(ताय) हे पुत्र ! (मायर पियर) अपने माता-पिता का (पोस) पालन करो। (एव) माता-पिता के भरण-पोषण करने से ही (लोगो) इहलोक-परलोक (भविस्सति) सुधरेगा—बनेगा। (ताय) हे तात ! (एव खु) यह निश्चय ही (लोइय) लोकाचार है कि (जे पालति य मायर) ये पुत्र अपनी माता का पोषण करते है।

भावार्थ

हे पुत्र ! अपने माता-पिता का भरण-पोषण करो। माता-पिता के भरण-पोषण से ही तुम्हारा यह लोक और परलोक सुधरेगा—बनेगा। यही लौकिक आचार है। इसीलिए ये (पुत्र) अपनी माता का पालन करते हैं।

व्याख्या

लौकिक राग मे फँसाने का स्वजनो का तरीका

मोही पारिवारिकजनो द्वारा साधक को मोह मे फँसाने का एक और तरीका और है वह यह है कि वृद्धजन उससे कहते है—"बेटा ! माँ-बाप का भरण-पोषण करो। इसी से ही यह लोक और आगामी लोक बनेगा—सुधरेगा। और यह भी तो लोक मे प्रसिद्ध मार्ग है कि जो पुत्र होते है, वे अपनी जन्मदात्री माँ का तो पालन करते ही है, उसके साथ-साथ सभी गुरुजनो का भी पालन करते है। माता-पिता के उपकारो से वे तभी उऋण हो सकते है। लौकिक आचारशास्त्र मे यह बात स्पष्ट कही है।

मूल पाठ

उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते तात ! खुड्डया।
भारिया ते णवा तात ! मा सा अन्न जण गमे ॥५॥

संस्कृत छाया

उत्तरा मधुरालापा पुत्रास्ते तात ! क्षुद्रका ।
भार्या ते नवा तात ! मा साऽन्य जन गच्छेत् ॥५॥

अन्वयार्थ

(तात) हे तात ! (ते उत्तरा पुत्ता) तुम्हारे उत्तरोत्तर—एक के बाद एक जन्मे हुए पुत्र (महुरुल्लावा) अभी तुतलाती हुई मीठी बोली मे बोलते है, (खुड्‌-या) वे अभी बहुत छोटे है। (तात) हे तात ! (ते भारिया णवा) तुम्हारी पत्नी अभी नवयौवना है, (सा) वह (अन्न जण) दूसरे पुरुष के पास (मा गमे) न चली जाए।

भावार्थ

एक-एक करके आगे-पीछे जन्मे हुए ये तुम्हारे बच्चे अभी तो दुध-मुँहे और मधुरभाषी है। हे तात ! तुम्हारी पत्नी भी अभी नवयुवती है, वह किसी दूसरे के पास न चली जाए।

व्याख्या

साधक को फुसलाने का तरीका

वे कहते हैं—"पुत्र ! तुम्हारे बहुत सुन्दर सलोने (उत्तम) और मधुरभाषी (पुत्र) बच्चे हैं अथवा एक के बाद एक उत्तरोत्तर पैदा हुए तुम्हारे पुत्र मीठी-मीठी

भावार्थ

हे पुत्र ! अपने माता-पिता का भरण-पोषण करो। माता-पिता के भरण-पोषण से ही तुम्हारा यह लोक और परलोक सुधरेगा—बनेगा। यही लौकिक आचार है। इसीलिए ये (पुत्र) अपनी माता का पालन करते हैं।

व्याख्या

लौकिक राग मे फँसाने का स्वजनो का तरीका

मोही पारिवारिकजनो द्वारा साधक को मोह मे फँसाने का एक और तरीका और है वह यह है कि वृद्धजन उससे कहते है—"बेटा ! माँ-बाप का भरण-पोषण करो। इसी से ही यह लोक और आगामी लोक बनेगा—सुधरेगा। और यह भी तो लोक मे प्रसिद्ध मार्ग है कि जो पुत्र होते है, वे अपनी जन्मदात्री माँ का तो पालन करते ही है, उसके साथ-साथ सभी गुरुजनो का भी पालन करते हैं। माता-पिता के उपकारो से वे तभी उऋण हो सकते है। लौकिक आचारशास्त्र मे यह बात स्पष्ट कही है।

मूल पाठ

उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते तात ! खुड्डया।
भारिया ते णवा तात ! मा सा अन्न जण गमे ॥५॥

सस्कृत छाया

उत्तरा मधुरालापा पुत्रास्ते तात ! क्षुद्रका।
भार्या ते नवा तात ! मा साऽन्य जन गच्छेत् ॥५॥

अन्वयार्थ

(तात) हे तात ! (ते उत्तरा पुत्ता) तुम्हारे उत्तरोत्तर—एक के बाद एक जन्मे हुए पुत्र (महुरुल्लावा) अभी तुतलाती हुई मीठी बोली मे बोलते है, (खुड्-या) वे अभी बहुत छोटे है। (तात) हे तात ! (ते भारिया णवा) तुम्हारी पत्नी अभी नवयौवना है, (सा) वह (अन्न जण) दूसरे पुरुष के पास (मा गमे) न चली जाए।

भावार्थ

एक-एक करके आगे-पीछे जन्मे हुए ये तुम्हारे बच्चे अभी तो दुध-मुँहे और मधुरभाषी हैं। हे तात ! तुम्हारी पत्नी भी अभी नवयुवती है, वह किसी दूसरे के पास न चली जाए।

व्याख्या

साधक को फुसलाने का तरीका

वे कहते है—"पुत्र ! तुम्हारे बहुत सुन्दर सलोने (उत्तम) और मधुरभाषी (पुत्र) बच्चे हैं अथवा एक के बाद एक उत्तरोत्तर पैदा हुए तुम्हारे पुत्र मीठी-मीठी

तुतलाती बोली मे वोलते हैं, अभी तो वे दुधमुंहे बच्चे है। हे तात ! तुम्हारी गृहिणी भी अभी नवयुवती है। वह तुम्हारे द्वारा छोडी हुई कही दूसरे पुरुष के पास चली गयी तो वह उन्मार्गगामिनी, स्वच्छन्दाचारिणी हो जाएगी, यह महान् लोकापवाद होगा। इन सब बातो पर विचार करके, अपने स्त्री-पुत्रो की ओर देखकर तुम घर चलो तो अच्छा रहेगा।

मूल पाठ

एहि ताय ! घरं जामो, मा य कम्मे सहा वयं।
बितियपि ताय ! पासामो, जामु ताव सयं गिहं ॥६॥

संस्कृत छाया

एहि तात ! गृहं यामो, मा त्वं कर्मसहा वयम्।
द्वितीयमपि तात ! पश्यामो, यामस्तावत् स्वकं गृहम् ॥६॥

अन्वयार्थ

(ताय) हे तात ! **(एहि)** आओ, **(घरं जामो)** घर चले। **(मा य)** अब से तुम कोई काम मत करना **(कम्मे सहा वयं)** हम लोग तुम्हारा सब काम करेंगे। **(ताय)** हे तात ! **(बितियपि)** अब दूसरी बार **(पासामो)** तुम्हारा काम हम देखेंगे। **(ताव सयं गिहं जामु)** अतः चलो, हम लोग अपने घर चले।

भावार्थ

हे तात ! आओ, घर को चले। अब से तुम कोई भी काम मत करना। हम लोग तुम्हारा सब काम कर दिया करेंगे। इसलिए झटपट चलो, हम लोग अपने घर चले।

व्याख्या

कामचोर साधक को घर चलने का आमंत्रण

पारिवारिक जन अब एक और पासा फेंकते है। वे साधक की किसी कमजोरी को लक्ष्य करके कहते है—"तात ! हम जानते है, तुम घर के काम-धन्धो से कतराते हो। घर के कामो से घबराकर ही तुमने घर छोडा है। तो कोई बात नही, चलो, अपने घर चले। तुम अब से कोई काम मत करना। अगर कोई काम होगा तो तुम्हारे बदले हम सब काम करेंगे। एक बार घर चलकर देखो तो सही कि किस प्रकार हम तुम्हारी सहायता करते हैं। अतः हमारा कहना मानकर घर चलो, उठो, अब हम लोग अपने घर चलें।"

मूल पाठ

गंतुं ताय ! पुणो गच्छे, ण तेणासमणो सिया।
अकामगं परिक्कम्मं, को ते वारेउमरिहति ॥७॥

संस्कृत छाया

गत्वा तात ! पुनरागच्छे, न तेनाश्रमण स्या· ।
अकामक पराक्रमन्त, कस्त्वा वारयितुमर्हति ? ॥७॥

अन्वयार्थ

(ताय) हे तात ! (गतु) एक वार घर जाकर (पुणो गच्छे) फिर आ जाना। (तेण) इससे (ण असमणो सिया) तुम अश्रमण नही हो जाओगे । (अकामग) घर के कामकाज मे इच्छारहित होकर (परिक्कम्म) अपनी इच्छानुसार कार्य करते हुए (ते) तुमको (को वारेउमरिहति) कौन रोक सकता है ?

भावार्थ

हे तात ! तुम एक वार घर चलकर फिर आ जाना । ऐसा करने से तुम अश्रमण नही हो जाओगे । घर के काम मे इच्छारहित रहकर अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने से तुम्हे कौन रोक सकता है ?

व्याख्या

घर चलने का दूसरी तरह से अनुरोध

"हे प्रिय पुत्र ! तुम एक वार घर चलकर अपने स्वजनवर्ग से मिलकर, उन्हे देखकर फिर लौट आना । एक वार घर चलने मात्र से तुम असाधु नही हो जाओगे । केवल घर जाने से क्या कोई असाधु हो जाता है ? अगर घर मे रहना रुचिकर न हो तो पुन यही आ जाना । यदि तुम्हारी इच्छा गृहकार्य करने की न हो तो तुम्हे अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने से कौन रोक सकता है ? तुम्हारी इच्छा वृद्धावस्था मे कामेच्छा से निवृत्त होने पर सयमानुष्ठान करने की हो तो तुम्हे कौन मना करता है ? सयमानुष्ठान के योग्य अवसर आने पर तुम्हे कोई रोक-टोक नहीं करेगा । लोकव्यवहार मे भी कहा जाता है—'**वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनाम्**'—वृद्धावस्था मे ही मुनिवृत्ति अगीकार करना चाहिए । अत हमारा साग्रह अनुरोध है कि एक वार तुम घर चलो ।"

मूल पाठ

जं किंचि अणगं तात ! तपि सव्व समीकतं ।
हिरण्ण ववहाराइ, तपि दाहामु ते वयं ॥८॥

संस्कृत छाया

यत्किंचिद् ऋण तात ! तत् सर्वं समीकृतम् ।
हिरण्य व्यवहारादि, तदपि दास्यामस्ते वय ॥८॥

अन्वयार्थ

(तात) हे तात ! (ज किंचि अणग) जो कुछ ऋण था, (तपि सव्व) वह

भी सब (समीक्त) हमने बाँट-बाँटकर बराबर कर दिया है—उतार दिया है। (ववहाराइ) व्यवहार के योग्य (हिरण्ण) जो सोना-चांदी आदि है, (त पि) वह भी (ते) तुम्हे (वय) हम लोग (दाहामु) देगे।

भावार्थ

हे तात ! तुम पर जो ऋण था, वह भी हम लोगो ने बराबर बाँटकर उतार दिया है। तथा तुम्हारे व्यवहार के लिए जितने भी हिरण्य (सोना-चाँदी) आदि द्रव्य की आवश्यकता होगी, वह भी हम लोग तुम्हे देगे।

व्याख्या

द्रव्य का लोभ देकर गृहवास का अनुरोध

इस गाथा मे साधक को उसके स्वजन द्रव्यलोभ देकर गृहवास का अनुरोध करते हैं—बेटा ! तुम पर जो कर्ज था, वह भी हम लोगो ने अपने-अपने हिस्से मे बराबर बँटवारा करके चुका दिया हैं, अथवा तुम पर जो भारी ऋण था, जिसके चुकाने के भय से तुमने घरबार छोडा था, हम लोगो ने सुगमता से चुकाने की व्यवस्था कर दी। ऋण के भय से यहाँ आए हो तो उस भय को दूर कर दो। इसके अतिरिक्त तुम्हे अगर यह चिन्ता हो कि मेरा व्यापार, घरखर्च आदि व्यवहार कैसे चलेगा ? तो यह चिन्ता करने की भी जरूरत नही है। व्यापार आदि व्यवहार के लिए जो हिरण्य (सोना, चाँदी) आदि द्रव्य घर मे है, वह हम तुम्हे देंगे। अतएव तुम अवश्य घर चलो। जिस निर्धनता के डर से तुमने घर छोडा था, वह डर अब दूर हो गया है। अब घर पर रहने मे तुम्हारे लिए कोई विघ्नबाधा नही है।

मूल पाठ

इच्चेव ण सुसेहंति कालुणीयसमुट्ठिया ।
विबद्धो नाइसगेहिं ततोऽगार पहावइ ॥ ॥

सस्कृत छाया

इत्येव सुशिक्षयन्ति कारुण्यसमुपस्थिता ।
विबद्धो ज्ञातिसगैस्ततोऽगार प्रधावति ॥६॥

अन्वयार्थ

(कालुणीयसमुट्ठिया) करुणा से युक्त बन्धु-बान्धव, (इच्चेव) इसी प्रकार (ण सुसेहंति) साधु को शिक्षा देते हैं। (नाइसगेहिं) ज्ञातिजनो के सगो—ससर्गो से (विबद्धो) विशेषरूप से जकडा हुआ—स्नेह बधन मे बधा हुआ साधक (ततो) उस निमित्त से (अगार) घर की ओर (पहावइ) दौड पडता है।

भावार्थ

करुणा से परिपूर्ण बन्धु-बान्धव साधु को पूर्वोक्त प्रकार से शिक्षा देते

है—समझाते है। तत्पश्चात् अपने उन ज्ञातिजनो-कुटुम्बीजनो की आसक्तियो के बन्धनो से विशेषरूप से बँधा हुआ गुरुकर्मी साधक उस निमित्त को लेकर प्रव्रज्या छोडकर घर की ओर शीघ्र जाने लगता है।

व्याख्या

प्रव्रज्या छोडकर घर की ओर दौड

इस गाथा मे अपरिपक्व एव गुरुकर्मी साधक की स्वजनो के प्रति मोहबन्धनो के कारण होने वाली मनोदशा का क्रम बताया गया है—'इच्चेव ण पहावइ।'

आशय यह है कि पूर्वगाथाओ मे बताया गया है कि स्वजनो द्वारा किस-किस तरीके से साधक को अपनी ओर खीचा जाता है। इस गाथा मे उन सबका परिणाम अथवा कच्चे साधक पर होने वाला प्रभाव बताते हुए कहा है कि स्वजनो के पूर्वोक्त करुणोत्पादक वचनो को सुन सुनकर साधु का हृदय करुणा से विह्वल हो जाता है, पूर्व सस्कारवश वह भी उन स्वजनो के मोहबन्धन मे बँधकर सयमपालन से फिसल जाता है। साधक के हृदय मे स्वजन लोग एक ही बात को विभिन्न पहलुओ से समझाकर ठसा देते है। अत वह प्रव्रज्या को छोडकर पुन गृहपाश मे बँध जाता है।

मूल पाठ

जहा रुक्ख वणे जाय, मालुया पडिबधइ ।
एवं ण पडिबधति, णातओ असमाहिणा ॥१०॥

सस्कृत छाया

यथा वृक्ष वने जात, मालुका प्रतिबध्नाति ।
एव प्रतिबध्नन्ति, ज्ञातयोऽसमाधिना ॥१०॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे **(वणे जाय)** वन मे उत्पन्न **(रुक्ख)** वृक्ष को **(मालुआ)** लता **(पडिबधइ)** बाँध लेती है, **(एवं)** इसी तरह **(णातओ)** ज्ञाति वाले स्वजन **(असमाहिणा)** साधक के चित्त की समाधि भग करके—असमाधि उत्पन्न करके **(पडिबधति)** बाँध लेते हैं।

भावार्थ

जैसे जगल मे पैदा हुए वृक्ष को बेल लिपटकर बाँध लेती है, वैसे ही ज्ञातिजन—कौटुम्बिक लोग साधक के चित्त मे असमाधि पैदा करके उसे बाँध लेते है।

व्याख्या

वन्यवृक्ष को लता और साधक को स्वजन बाँध लेते हैं

जैसे जगल मे पैदा हुए पेड के चारो ओर लिपटकर बेल उसे बाँध लेती है,

वैसे ही साधक के माता, पिता, भाई-भाभी, पत्नी पुत्र आदि करुणाजनक एव मोहोत्पादक वचनो से उसके चित्त मे सयम एव साधुधर्म के प्रति असमाधि—अरुचि—उदविग्नता पैदा कर देते है और उसी असमाधि के द्वारा उसे बाँध लेते है। वास्तव मे देखा जाय तो स्वजन सम्बन्धी उक्त साधु के मित्र नही, अमित्र है। जैसे कि एक अनुभवी ने कहा है—

अमित्तो मित्तवेसेण कठे घेत्तूण रोयइ ।
मा मित्ता! सोग्गइ जाहि, दोवि गच्छामु दुग्गइ ॥

अर्थात्—वस्तुत परिवारवर्ग मित्र नही, अमित्र है। वह मित्र की तरह कण्ठ मे लिपट कर रोता है। मानो वह कहता है कि मित्र! तुम सद्गति मे मत जाओ, हम दोनो ही साथ-साथ दुर्गति मे चले।

मूल पाठ

विबद्धो नातिसर्गेहि, हत्थीवावी नवग्गहे ।
पिट्ठतो परिसप्पति, सुयगोव्व अदूरए ॥११॥

सस्कृत छाया

विबद्धो ज्ञातिसगैर्हस्ती वाऽपि नवग्रहे ।
पृष्ठत परिसर्पन्ति सूतगौरिवादूरगा ॥११॥

अन्वयार्थ

(**नाइसगेंहि**) माता-माता आदि स्वजनवर्ग के सम्बन्ध द्वारा (**विबद्धो**) बँधे हुए (**पिट्ठतो**) पीछे-पीछे (**परिसप्पति**) स्वजनवर्ग चलते है और (**नवग्गहे हत्थीव**) नवीन ग्रहण किये हुए हाथी के समान उसके अनुकूल आचरण करते है। तथा (**सुयगोव्वअदूरए**) नई व्याई हुई गाय जैसे अपने बछडे के पास ही रहती है, उसी तरह परिवारवर्ग उसके पास ही रहते हैं।

भावार्थ

जो पुरुष माता-पिता आदि स्वजनवर्ग के मोह मे पडकर प्रव्रज्या छोडकर फिर घर मे चला जाता है, उसके पारिवारिक जन नये पकडे हुए हाथी के समान बहुत ही खातिरदारी करते है और उसके पीछे-पीछे फिरते है। तथा जैसे नई व्याई हुई गाय अपने बछडे के पास ही पास रहती है, वैसे परिवारवाले भी उसके पास ही रहते हैं। उसे जरा-सा भी इधर-उधर अकेला नही छोडते।

व्याख्या

गृहस्थ मे फँस जाने के बाद साधक की स्थिति

जब साधक सयम को तिलाजलि देकर माता-पिता आदि स्वजनो के पूर्वोक्त

विविध अनुरोधो से उनके मोह सम्बन्ध मे बँध जाता हे, तव पहले उसका मन पुन गृहवास मे लगाने के लिए उसके मनोनुकूल आचरण करते हैं, उसे सन्तुष्ट करते है। जैसे नये-नये पकडे हुए हाथी को सन्तुष्ट करने के लिए लोग ईख का टुकडा आदि मधुर आहार देकर उसकी सेवा करते हैं।

इस सम्बन्ध मे दूसरा दृष्टान्त देकर शास्त्रकार समझाते हैं—जैसे नई ब्याई हुई (प्रसूता) गाय अपने बछडे के पास ही पास रहती हे, उसके पीछे-पीछे भागती रहती हे, इसी प्रकार प्रव्रज्या छोडकर आए हुए नये गृहस्थ को परिवार वाले नया जन्मा हुआ मानकर उसके अनुकूल व्यवहार करते हे, उसके पीछे-पीछे फिरते है। वह जिस मार्ग से जाता हे, उसी से वे भी जाते हैं। मतलब यह हे कि परिवार के लोग उसको अकेला नही छोडते, ताकि उसके परिणाम वदल न जाएँ।

मूल पाठ

एते सगा मणुस्साण पायाला इव अतारिमा ।
कीवा जत्थ य किस्सति, नाइसगेहिं मुच्छिया ॥१२॥

सस्कृत छाया

एते सगा मनुष्याणा पाताला इवाऽतार्या ।
क्लीवा यत्र क्लिश्यन्ति, ज्ञातिसगैर्मूर्च्छिता ॥१२॥

अन्वयार्थ

(एते) ये (सगा) माता-पिता आदि स्वजनो के सग (मणुस्साण) मनुष्यो के लिए (पायाला इव अतारिमा) समुद्र के समान दुस्तर हैं। (जत्थ) जिसमे (नाइ-सगेहिं) ज्ञातिजनो के ससर्ग मे (मुच्छिया) आसक्त होकर (कीवा) अल्पसत्त्वसाधक (किस्सति) क्लेश पाते हैं।

भावार्थ

ये माता-पिता आदि स्वजनो के प्रति आसक्ति समुद्र के समान मनुष्य के द्वारा दुस्तर होती है। इस सग मे पडकर अल्पपराक्रमी सुख-सुविधा-परायण व्यक्ति क्लेश पाते हैं।

व्याख्या

समुद्रवत दुस्तर सग मे पडा हुआ साधक

एते सगा मणुस्साण—'**सज्यन्ते इति सगा**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो जीव को बाँध लेता है, फँसा लेता है, उसे सग कहते हैं। माता-पिता आदि स्वजनवर्ग के सम्वन्ध—ससर्ग को सग कहते हैं। यह सग कर्मवन्ध के जाल मे फँसाता है। इसी-लिए इसे अतल समुद्र के समान मनुष्यो द्वारा दुस्तर कहा है। इस प्रकार के सग मे एक वार फँस जाने के वाद फिर साधक का उसके चगुल से छूटना अत्यन्त दुष्कर होता

है। फिर नो माता-पिता आदि स्वजनो के सग मे ग्रस्त असमर्थ व्यक्ति गृहस्थ-जीवन मे फँसकर फिर उसी क्लेश परम्परा मे पडा रहता है। उसे अपनी आत्मा के कल्याण की वात ही नही सूझती।

मूल पाठ

त च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे सगा महासवा।
जीविय नावकखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तर ॥१३॥

सस्कृत छाया

त च भिक्षु परिज्ञाय, सर्वे सगा महाश्रवाः।
जीवित नावकाक्षेत, श्रुत्वा धर्ममनुत्तरम् ॥१३॥

अन्वयार्थ

(भिक्खू) साधु (त च) उस ज्ञाति सम्बन्ध को (परिन्नाय) भली-भाँति जान कर छोड देते है। क्योकि (सव्वे सगा) सभी सग (महासवा) कर्म के महान् आस्रव-द्वार हैं। (अणुत्तरधम्म) सर्वोत्तम धर्म को (सोच्चा) सुनकर साधु (जीविय) असयमी जीवन की (नावकखिज्जा) इच्छा न करे।

भावार्थ

साधु उक्त ज्ञातिजनो के सग (सम्बन्ध) को ससार का कारण जान कर छोड दे। क्योकि सभी सग-ससर्ग सम्बन्ध, कर्मबन्ध के महान् आस्रव-द्वार होते हैं। अत साधु इस सर्वोत्तम आर्हद्धर्म को सुनकर असयमी जीवन की इच्छा न करे।

व्याख्या

सगो से बचो, असयमी जीवन मे मत पडो

स्वजनो का ससर्ग ससार का प्रधान कारण है। इस वात को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दे, क्योकि जितने भी सग हैं, वे सभी कर्मो के महान् आस्रव (आगमन) द्वार है।

इस प्रकार के स्वजन ससर्गरूप अनुकूल उपसर्ग से छूटने के लिए साधक को क्या करना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते है—'**जीविय नावकखिज्जा।**' अर्थात् अनुकूल उपसर्ग आने पर साधक असयमी जीवन की यानी गृहवासरूप पाश-बधन की इच्छा न करे तथा प्रतिकूल उपसर्ग आने पर जीवन की इच्छा न करे। अथवा साधु श्रुत-चारित्ररूप धर्म, जो सबसे उत्कृष्ट एव मुनीन्द्र प्रतिपादित है, उसे सुनकर असत्कर्म के अनुष्ठानपूर्वक सासारिक जीवन की आकाक्षा न करे।

निष्कर्ष यह है कि जब से ये और इस प्रकार के स्वजन आदि द्वारा कृत अनुकूल उपसर्ग आएँ साधक एकदम सावधान हो जाय, एक ही झटके मे उसे या

स्वजनो के प्रस्ताव को ठुकरा दे, किसी भी मूल्य पर गृहवास या सासारिक मार्ग को स्वीकार न करे।

मूल पाठ

अहिमे संति आवट्टा, कासवेण पवेइया ।
बुद्धा जत्थावसप्पंति, सीयंति अबुहा जंहि ॥१४॥

संस्कृत छाया

अथेमे सन्त्यावर्ता, काश्यपेन प्रवेदिता ।
बुद्धा यत्रावसर्पन्ति, सीदन्त्यबुधा यत्र ॥१४॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके वाद (**कासवेण**) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर ने (**पवेइया**) यह खासतौर से वता दिया कि (**इमे**, ये सग-ससर्ग (**आवट्टा संति**) आवर्त—भँवर जाल—चक्कर है। (**जत्थ**) जिनके आने पर (**बुद्धा**) तत्त्वज्ञ पुरुप (**अवसप्पंति**) झटपट इनसे अलग हट जाते हैं, इनसे दूर से ही किनाराकशी कर लेते है। (**अबुद्धा जंहि**) जहाँ कि अज्ञानी अदूरदर्शी विवेकमूढ (**सीयंति**) इनमे फँसकर दुख पाते है।

भावार्थ

इसके अनन्तर काश्यपगोत्री भगवान् महावीर ने विशेपत निरूपण किया है कि ये पूर्ववर्णित सग आवर्त भँवरजाल या चक्कर है। विद्वान् पुरुष इन आवर्तो से दूर रहते है, जवकि अज्ञानी निर्विवेकी व्यक्ति इनमे बुरी तरह फँसकर दुख पाते है।

व्याख्या

ज्ञानी साधक सग के चक्करो से दूर

इस गाथा मे सग को आवत कहकर उनसे दूर रहने की प्रेरणा दी है— '**अहिमेसंति अबुहा जंहि**।' यहाँ 'अह' (अथ) शब्द अनन्तर अर्थ मे है। अर्थात् यहाँ से दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होता है। अथवा यहाँ पाठान्तर है—'**अहो**', जो विस्मयादि वोधक शब्द है। यह पाठ अधिक सगत है। आशय यह है कि अहो आश्चर्य है कि भगवान् महावीर के द्वारा इन स्वजनाश्रित सगो को आवर्त (भवरजाल) वताये जाने पर भी अज्ञानीपुरुप इसी मे ही वार-वार फँमकर अपना जीवन दुखी वना लेता है, जवकि तत्त्वज्ञानी साधक इससे दूर से ही किनाराकशी कर लेता है।

आवर्त दो प्रकार का होता हैं द्रव्यावर्त और भावावर्त। द्रव्य-आवर्त नदी, समुद्र आदि मे होने वाले भँवरलाल को कहते है, जवकि भावावर्त उत्कट महामोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न सासारिक विपयभोगो की इच्छा को सिद्ध करने वाली सम्पत्ति, सुख-सुविधाएँ या काममेवन की विशिष्ट प्रार्थना है।

सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान महावीर ने आवर्त का स्वरूप बताया है। इसलिए जो विवेकी एव दूरदर्शी साधक इन आवर्तो का फल जानते हैं, वे साधक इनके उपस्थित होने पर झटपट वहाँ से दूर हट जाते हैं, परन्तु अज्ञानी इनमे आसक्त होकर महादु ख पाते है।

इन्ही आवर्तो को बताने के लिए शास्त्रकार कहते है—

मूल पाठ

रायाणो रायऽमच्चा य माहणा अदुव खत्तिया।
निमतयति भोगेहि, भिक्खूयं साहुजीविण ॥१५॥

संस्कृत छाया

राजानो राजामात्याश्च ब्राह्मणा अथवा क्षत्रिया ।
निमन्त्रयन्ति भोगैर्भिक्षुक साधुजीविनम् ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**रायाणो**) राजा, महाराजा आदि, (**रायऽमच्चा य**) और राजमन्त्रीगण (**माहणा**) ब्राह्मण (**अदुवा**) अथवा (**खत्तिया**) क्षत्रिय (**साहुजीविण**) उत्तम आचार-विचारपूर्वक जीवन जीने वाले (**भिक्खुय**) भिक्षु को (**भोगेहि**) विविध भोग भोगने के लिए (**निमतयति**) निमन्त्रित करते है।

भावार्थ

राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और राजमत्री तथा ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय उत्तम आचार-विचारपूर्वक जीवन जीने वाले साधु को कामभोग भोगने के लिए आमन्त्रित करते है।

व्याख्या

राजाओ आदि द्वारा भोगो का आमन्त्रण मिलने पर

भोगो का किसी सत्ताधीश या धनाधीश द्वारा आमन्त्रण मिलना भी अनुकूल उपसर्ग है। और ऐसे अनुकूल उपसर्गो के मिलने पर बड-बडे धर्मधुरधर आचार्य एव साधु भी उसे स्वीकार करते देखे गए है। उस युग के महान् प्रभावक आचार्य तक भी राजा, बादशाह या किसी सत्ताधीश द्वारा दी गई पालकी, छत्र, चामर, तथा विविध सुख-सुविधाएँ, भोगसामग्री स्वीकार करते देखे गए है, तब सामान्य साधु की तो बिसात ही क्या ? कई रूपयौवन सम्पन्न साधुओ को मगधाधीश श्रेणिक जैसे भी आमन्त्रित करते है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने चित्त नामक साधु को विविध प्रकार के विषय-भोगो और सुख-सुविधाओ का प्रलोभन दिया था। इसीलिए शास्त्रकार इस अनुभवसिद्ध बात को कहते है—'**रायाणो रायऽमच्चा य भिक्खूय साहुजीविण।**'

आशय यह है कि सामान्य शासक से लेकर चक्रवर्ती तक जो भी छोटा-बडा शासक हे, वह राजा पद से समझ लेना चाहिए। राजामात्य यानी मत्री, पुरोहित, प्रधान आदि, एव ब्राह्मण तथा इक्ष्वाकु आदि कुलो मे उत्पन्न क्षत्रिय या आदि पद से अन्य कोई धनाढ्य वैभवशाली व्यक्ति सुविहित आचारवान साधु को शब्दादि विविध विपयोपभोगो के लिए आमत्रित कर सकते है, परन्तु ऐसे अवसर को साधु परीक्षाकाल समझ कर किसी भी मूल्य पर अपने साधु-धर्म से फिसले नही, यह इस गाथा मे ध्वनित किया गया है।

मूल पाठ

हत्थऽस्सरहजाणेहिं विहारगमणेहिं य ।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी ! पूजयामु त ॥१६॥

सस्कृत छाया

हस्त्यश्वरथयानैर्विहारगमनैश्च ।
भुक्ष्व भोगानिमान् श्लाघ्यान् महर्षे ! पूजयामस्त्वाम् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(महरिसी) हे महर्पि ! (हत्थऽस्सरहजाणेहिं) ये हाथी, घोडा, रथ और पालकी आदि सवारियाँ आपके बैठने (विहारगमणेहिं य) और मनोविनोद या आमोद-प्रमोद के हेतु ये बाग बगीचे आपके सैर-सपाटे करने के लिए हैं। (इमे सग्घे भोगे) इन उत्तमोत्तम भोगो का मनचाहा उपभोग कीजिए। (त पूजयामु) हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा (आदर-सत्कार) करते है।

भावार्थ

पूर्वोक्त चक्रवर्ती राजा आदि मुनि के पास आकर कहते हैं—हे महाभाग ऋषिवर ! ये हाथी, घोडे, रथ और पालकी आदि सवारियाँ आपके बैठने के लिए है और आपके आमोद-प्रमोद या क्रीडा के एव सैर-सपाटे हेतु ये बाग-बगीचे है। आप इन उत्तमोत्तम भोगो का जी चाहा उपभोग कीजिए। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते है।

व्याख्या

किन विषयोपभोगो का प्रलोभन दिया जाता है ?

सत्ताधीश या धनाधीश आदि अपनी किसी न किसी लौकिक स्वार्थपूर्ति के लिए या किसी स्वार्थसिद्धि के हो जाने पर पहले तो समुच्चयरूप मे साधु को भोगो के लिए आमन्त्रित करते है—"आइए, आप हमारे घर को पावन कीजिए, जितने दिन आपकी इच्छा हो, रहिए। आपके लिए यहाँ सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ हैं।" परन्तु इस पर सुविहित साधु जब सकोच करता है, अथवा सुख-सुविधाप्रिय साधु

सोचता है कि "इसमे क्या धरा है ? ये मकान तो वैसे ही बने हुए है, अन्य सुख-सामग्री न हो तो केवल किसी के मकान मे जाने से क्या लाभ ?" अत वे सत्ताधीश या धनाढ्य लोग साधु को आकृष्ट करने या खरीद लेने के लिए उसे खुल्लमखुल्ला प्रलोभन अपने यहाँ लाकर देते है—"देखिये, महात्मन् ! ये हाथी, घोडे, रथ और पालकी आपके लिए प्रस्तुत है। आपको मेरे गुरु होकर पैदल नही चलना है। इनमे से जो भी सवारी आपको अभीष्ट हो, उसका जी चाहा उपयोग करे। और जब कभी आपका मन उचट जाय, सैर करने की इच्छा हो तो ये बाग-बगीचे है, इनमे आप मनचाहा भ्रमण करे, ताजे फूलो की सुगन्ध ले, प्राकृतिक सौन्दर्य को निहारे। 'च' शब्द से इन्द्रियो को सुख देने वाले अन्यान्य विषयो के उपभोग के लिए भी आमन्त्रित कर सकते है। वे यह भी कह सकते है कि यह सब उत्तमोत्तम विषयभोग सामग्री आपके चरणो मे समर्पित है। आप इनका मनचाहा उपभोग करे। हम भी आपके भक्त है। आप जो भी आज्ञा देगे, हम उसे सहर्ष शिरोधार्य करेंगे। हम आपकी प्रतिष्ठा मे कोई कमी न आने देगे। हम आपका सत्कार-सम्मान करते है।"

मूल पाठ

वत्थगन्धमलकार इत्थीओ सयणाणि य ।
भुंजाहिमाइ भोगाइ, आउसो ! पूजयामु त ॥१७॥

सस्कृत छाया

वस्त्र-गन्धमलकार स्त्रियः शयनानि च ।
भुक्ष्वेमान् भोगान्, आयुष्मन् ! पूजयामस्त्वाम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(आउसो) हे आयुष्मन् ! (वत्थगन्ध) वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, (अलकार) आभूषण (इत्थीओ) अगनाएँ (य) और (सयणाणि) शय्या तथा शयनसामग्री, (इमाइ भोगाइ) इन भोगो— भोगसामग्री का (भुज) मनचाहा उपभोग करें। (त) आपकी हम (पूजयामु) पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं।

भावार्थ

हे आयुष्मन् ! उत्तमोत्तम वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, विविध आभूषण, नवयौवना अगनाएँ और शय्या आदि शयनीय सामग्री, इन भोगो का आप जी चाहा उपभोग करे। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते है।

व्याख्या

अन्य भोग्यसामग्री का आमन्त्रण

पूर्वगाथा मे भी कुछ भोग्य सामग्री के आमन्त्रण का उल्लेख है और इसमे भी। परन्तु इस गाथा मे कुछ विशिष्ट सामग्रियो के आमन्त्रण का उल्लेख किया गया है। इसका रहस्य यह है कि पूर्वगाथा मे जिस भोग्यसामग्री का उल्लेख है,

आशय यह है कि सामान्य शासक से लेकर चक्रवर्ती तक जो भी छोटा-बडा शासक है, वह राजा पद से समझ लेना चाहिए। राजामात्य यानी मन्त्री, पुरोहित, प्रधान आदि, एव ब्राह्मण तथा इक्ष्वाकु आदि कुलो मे उत्पन्न क्षत्रिय या आदि पद से अन्य कोई धनाढ्य वैभवशाली व्यक्ति सुविहित आचारवान साधु को शब्दादि विविध विषयोपभोगो के लिए आमन्त्रित कर सकते है, परन्तु ऐसे अवसर को साधु परीक्षाकाल समझ कर किसी भी मूल्य पर अपने साधु-धर्म से फिसले नही, यह इस गाथा मे ध्वनित किया गया है।

मूल पाठ

हत्थऽस्सरहजाणेहिं विहारगमणेहि य ।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी ! पूजयामु त ॥१६॥

सस्कृत छाया

हस्त्यश्वरथयानैर्विहारगमनैश्च ।
भुक्ष्व भोगानिमान् श्लाघ्यान् महर्षे ! पूजयामस्त्वाम् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(महरिसी) हे महर्षि ! (हत्थऽस्सरहजाणेहिं) ये हाथी, घोडा, रथ और पालकी आदि सवारियाँ आपके बैठने (विहारगमणेहिं य) और मनोविनोद या आमोद-प्रमोद के हेतु ये बाग बगीचे आपके सैर-सपाटे करने के लिए है। (इमे सग्घे भोगे) इन उत्तमोत्तम भोगो का मनचाहा उपभोग कीजिए। (त पूजयामु) हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा (आदर-सत्कार) करते है।

भावार्थ

पूर्वोक्त चक्रवर्ती राजा आदि मुनि के पास आकर कहते हैं—हे महाभाग ऋषिवर ! ये हाथी, घोडे, रथ और पालकी आदि सवारियाँ आपके बैठने के लिए है और आपके आमोद-प्रमोद या क्रीडा के एव सैर-सपाटे हेतु ये बाग-बगीचे है। आप इन उत्तमोत्तम भोगो का जी चाहा उपभोग कीजिए। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते है।

व्याख्या

किन विषयोपभोगो का प्रलोभन दिया जाता है ?

सत्ताधीश या धनाधीश आदि अपनी किसी न किसी लौकिक स्वार्थपूर्ति के लिए या किसी स्वार्थसिद्धि के हो जाने पर पहले तो समुच्चयरूप मे साधु को भोगो के लिए आमन्त्रित करते है—"आइए, आप हमारे घर को पावन कीजिए, जितने दिन आपकी इच्छा हो, रहिए। आपके लिए यहाँ सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ है।" परन्तु इस पर सुविहित साधु जब सकोच करता है, अथवा सुख-सुविधाप्रिय साधु

सोचता है कि "इसमे क्या धरा है ? ये मकान तो वैसे ही बने हुए है, अन्य सुख-सामग्री न हो तो केवल किसी के मकान मे जाने से क्या लाभ ?" अत वे सत्ताधीश या धनाढ्य लोग साधु को आकृष्ट करने या खरीद लेने के लिए उसे खुल्लमखुल्ला प्रलोभन अपने यहाँ लाकर देते है—"देखिये, महात्मन् ! ये हाथी, घोडे, रथ और पालकी आपके लिए प्रस्तुत है। आपको मेरे गुरु होकर पैदल नही चलना है। इनमे से जो भी सवारी आपको अभीष्ट हो, उसका जी चाहा उपयोग करे। और जब कभी आपका मन उचट जाय, सैर करने की इच्छा हो तो ये बाग-बगीचे है, इनमे आप मनचाहा भ्रमण करें, ताजे फूलो की सुगन्ध ले, प्राकृतिक सौन्दर्य को निहारें। 'च' शब्द से इन्द्रियो को सुख देने वाले अन्यान्य विषयो के उपभोग के लिए भी आमन्त्रित कर सकते है। वे यह भी कह सकते है कि यह सब उत्तमोत्तम विषयभोग सामग्री आपके चरणो मे समर्पित है। आप इनका मनचाहा उपभोग करें। हम भी आपके भक्त हैं। आप जो भी आज्ञा देंगे, हम उसे सहर्ष शिरोधार्य करेंगे। हम आपकी प्रतिष्ठा मे कोई कमी न आने देंगे। हम आपका सत्कार-सम्मान करते हैं।"

मूल पाठ

वत्थगन्धमलकार इत्थीओ सयणाणि य ।
भुंजाहिमाइ भोगाइ, आउसो ! पूजयामु त ।।१७।।

सस्कृत छाया

वस्त्र-गन्धमलकार स्त्रिय शयनानि च ।
भुक्ष्वेमान् भोगान्, आयुष्मन् ! पूजयामस्त्वाम् ।।१७।।

अन्वयार्थ

(आउसो) हे आयुष्मन् ! **(वत्थगन्ध)** वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, **(अलकार)** आभूषण **(इत्थीओ)** अगनाएँ **(य)** और **(सयणाणि)** शय्या तथा शयनसामग्री, **(इमाइ भोगाइ)** इन भोगो— भोगसामग्री का **(भुज)** मनचाहा उपभोग करें। **(त)** आपकी हम **(पूजयामु)** पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं।

भावार्थ

हे आयुष्मन् ! उत्तमोत्तम वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, विविध आभूषण, नवयौवना अगनाएँ और शय्या आदि शयनीय सामग्री, इन भोगो का आप जी चाहा उपभोग करे। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते है।

व्याख्या

अन्य भोग्यसामग्री का आमत्रण

पूर्वगाथा मे भी कुछ भोग्य सामग्री के आमन्त्रण का उल्लेख है और इसमे भी। परन्तु इस गाथा मे कुछ विशिष्ट सामग्रियो के आमन्त्रण का उल्लेख किया गया है। इसका रहस्य यह है कि पूर्वगाथा मे जिस भोग्यसामग्री का उल्लेख है,

उस भोग्य सामग्री को लेने मे साधु इतना कतराता नही। परन्तु जब सत्ताधीश या धनाढ्य देखते है कि अब यह साधु इतनी भोग्यसामग्री एव सुख-सुविधाओ का उपभोग करने लग गया है और इसके साथ हमारा दिल खुल गया है तो वे फिर उनके अन्तरग मित्र (जिगरी दोस्त) बनकर सयम-विघातक अन्यान्य भोगसामग्री के लिए आमत्रण करते है—"हे महाभाग ! आयुष्मन् ! आप हमारे पूज्य है। आपके चरणो मे दुनियाँ की सर्वश्रेष्ठ भोग्यसामग्री प्रस्तुत है। ये चीनाशुक आदि रेशमी कपडे है। ये इत्र, तेल-फुलेल, सुगन्धिपूर्ण, पुटपाक, सेंट, लवेंडर आदि सुगन्धि युक्त पदार्थ है। ये कडे, बजूबन्द, हार, अगूठी आदि आभूषण है। ये नवयुवती गौर-वर्णा मृगनयनी सुन्दरियाँ है। ये गद्दे, तकिये, पलगपोश, पलग आदि शय्या सामग्री हे। ये सब इन्द्रियो और मन को प्रसन्न करने वाले उत्तमोत्तम भोग-साधन आपकी सेवा मे प्रस्तुत है। हम इन्हे आपके चरणो मे समर्पित करते है। आप इनका यथेष्ट उपयोग करके जीवन सफल करे। हम इन भोग्य पदार्थो के द्वारा आपका सत्कार करते हैं। **'पूजयामु त'** यह वाक्य दोनो गाथाओ मे आया है, इसका रहस्य यह प्रतीत होता है कि सुविहित साधक साधुजीवन मे त्याज्य भोग्यपदार्थो का सेवन करने मे जब प्रवृत्त होता है, तब उसके मन मे सहसा यह विचार भी उपस्थित होता है कि मेरे भक्त जब इन पदार्थो का उपभोग करते हुए मुझे देखेंगे तो उनके मन मे मेरे प्रति अप्रतिष्ठा—अश्रद्धा का भाव पैदा होगा। अत मेरी प्रतिष्ठा, मेरी इज्जत भी मेरे भक्तवर्ग मे बरकरार रहे, इस चिन्ता के निवारण के लिए दोनो गाथाओ मे यह बात कही गई है कि राजा आदि नये भक्त बने हुए लोग ऐसे भोग-साधनो के उपभोग की ओर झुकने वाले साधु को कहते है—हे पूज्य, आप निश्चिन्त रहे। इन चीजो के उपभोग से आपकी पूजा-प्रतिष्ठा मे कोई कमी नही आएगी। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते है, सम्मान देते है। जब राजा सम्मान देता हे तो प्रजा तो अवश्य ही देगी, क्योकि प्रजा तो राजा का अनुसरण करती है। इस प्रकार साधु को अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की ओर से आश्वस्त करने के लिए दो जगह एक से वाक्यो का प्रयोग किया गया है।

साधु को भोगो का खुलकर उपभोग करने की दृष्टि से फिर वे क्या कहते है ? इसे बताते है—

मूल पाठ

जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खुभावंमि सुव्वया ।
आगारमावसंतस्स, सव्वो सविज्जए तहा ॥१८॥

सस्कृत छाया

यस्त्वया नियमश्चीर्णो भिक्षुभावे सुव्रत ! ।
आगारमावसतस्तव सर्व सविद्यते तथा ॥१८॥

अन्वयार्थ

(सुव्वया) हे सुन्दर व्रत वाले मुनिवर ! (तुमे) तुमने (भिक्खुभावमि) मुनि भाव मे रहते हुये (जो) जिस (नियमो) नियम का (चिण्णो) आचरण-अनुष्ठान किया है। (आगारमावसतस्स) घर मे निवास करने पर भी (सव्वो) तुम्हारा वह सब व्रतनियम (तहा) उसी तरह—पूर्ववत (सविज्जए) बना रहेगा।

भावार्थ

हे सुन्दर व्रतधारी साधक ! मुनि भाव मे रहते हुये तुमने जिन महाव्रत आदि यम-नियमो का अनुष्ठान किया है, वह सब गृहनिवास करने पर भी पूर्ववत् बने रहेगे।

व्याख्या

साधक को गृहवास मे रहने का आश्वासन

कई लज्जाशील सयमप्रिय साधक जब गृहवास मे जाने मे इसलिए कतराते है कि वहाँ जाने पर हमारे महाव्रत यम-नियम आदि सब भग हो जाएँगे, हमारी आज तक की सारी साधना मिट्टी मे मिल जाएगी, बेकार हो जाएगी। अत ऐसे साधुओ को गृहवास मे फँसाने के हेतु उद्यत स्वजन या अन्य हितैषी-मोहीजन उनसे कहते है—मुनिवरो ! आपने जिन महाव्रत आदि यम-नियमो का पालन किया है, गृहवास मे जाने पर वे उसी तरह रहेगे, उनका फल कभी समाप्त नही होगा। गृहवास मे वे नियम पूर्ववत् पाले जा सकेंगे, उनका फल भी पूर्ववत् मिलता रहेगा, क्योंकि मनुष्य के द्वारा किये गए पुण्य पाप तथा उनके फल का कभी नाश नही होता। अत नियम भग के भय से पूर्वोक्त सुखोपभोग करने मे सकोच मत करो, यह तात्पर्य है।

मूल पाठ

चिर दुइज्जमाणस्स, दोसो दाणि कुतो तव ? ।
इच्चेव ण निमतेन्ति नीवारेण व सूयर ॥१६॥

सस्कृत छाया

चिर विहरतो दोष इदानीकुतस्तव ? ।
इत्येव निमत्रयन्ति नीवारेणेव सूकरम् ॥१६॥

अन्वयार्थ

हे साधकवर ! (चिर) चिरकाल से (दुइज्जमाणस्स) सयम के आचरण-पूर्वक विहार करते हुए (तव) आपको (दाणि) इस समय (दोसो) दोष (कुओ) कैसे हो सकता है ? (निवारेण व सूयर) जैसे लोग चावलो के दानो का प्रलोभन देकर सूअर को फँसा लेते है, (इच्चेव) इसी प्रकार (ण निमतेन्ति) विविध भोगोप-

भोगो का प्रलोभन देकर गृहवास मे फँसाने के लिए मुनि को तथाकथित लोग निमन्त्रित करते है।

भावार्थ

हे साधकवर ! आपने चिरकाल तक सयम का आचरण करते हुए ग्रामानुग्राम विहार किया है। अब आपको इन भोगो को भोग लेने मे कोई भी दोष कैसे हो सकता है ? इस प्रकार भोगो के उपभोग का आमन्त्रण देकर लोग साधु को गृहवास मे उन्ही तरह फँसा लेते है, जिस तरह चावल के दानो का प्रलोभन देकर सूअर को फँसाते है।

व्याख्या

सुसयमी साधक को गृहवास मे फँसाने का दुश्चक्र

इतने आश्वामन देने के बावजूद भी जब सुसयमी साधक ऐसे सकोच के कारण गृहवास मे जाने को तैयार नही होता कि गृहस्थवास मे मेरे पूर्वस्वीकृत महाव्रत, सयमनियमो को भग करने का भयकर दोष लगेगा। अत शास्त्रकार कहते हैं कि पूर्वोक्त स्वजन या सत्ताधीश आदि साधु के मन को आश्वस्त करने के लिए कहते हैं—"साधकप्रवर ! आपने बहुत वर्षो तक सयम-नियमो का पालन किया है, अब इन भोगो को भोगने मे कोई दोप नही हो सकता है।" इस प्रकार कहकर वे पूर्वोक्त समस्त भोग्यसामग्री प्रस्तुत करके उसके उपभोग की चाट लगाकर सयम-जीवी साधु के हृदय मे भोगबुद्धि उत्पन्न कर देते हैं। उसे उसी तरह असयम मे या गृहवास मे फँसा लेते है, जिस तरह चावलो के दाने डालकर सूअर को फँसा लेते है।

मूल पाठ

चोइया भिक्खुचरियाए, अचयंता जवित्तए ।
तत्थ मंदा विसीयति, उज्जाणसि व दुब्बला ॥२०॥

संस्कृत छाया

चोदिता भिक्षुचर्य्ययाऽशक्नुवन्तो यापयितुम् ।
तत्र मन्दा विषीदन्ति उद्यान इव दुर्बला ॥२०॥

अन्वयार्थ

(भिक्खुचरियाए) सयमी साधुओ की चर्या—समाचारी पालन करने के लिए (चोइया) आचार्य आदि के द्वारा प्रेरित (जवित्तए अचयता) साधुसमाचारी के पालन-पूवक सयमी जीवनयापन करने मे असमर्थ (मदा) अल्पसत्त्व साधक (तत्थ) उस समय मे (विसीयति) शिथिल होकर उसी तरह बैठ जाते है (उज्जाणसि व दुब्बला) जैसे चढाव के ऊँचे मार्ग मे दुर्बल बैल ढीले होकर बैठ जाते है।

भावार्थ

साधुसमाचारी के लिए आचार्य आदि द्वारा वार-वार प्रेरणा दिये जाने पर भी अल्पसत्त्व साधक उस साधुसमाचारी का पालन करते हुए सयमी जीवन यापन करने मे अपने आपको असमर्थ जानकर सयम मे शिथिल होकर या सयमभार छोडकर उसी तरह ढीले होकर वैठ जाते है जिस तरह ऊँचे चढाव वाले मार्ग मे दुर्बल बैल ढीले होकर पड जाते है।

व्याख्या

सयम से विचलित साधको की दशा

जो साधक पूर्वोक्त भोगो का निमत्रण पाकर एक वार सयम मे शिथिल हो जाता है, अपनी साधुसमाचारी के अनुसार नही चलता, उसे आचार्य, गुरु आदि साधुसमाचारी पर चलने को प्रेरित करते है, उसको भी सहन करने मे असमर्थ और सयमपालनपूर्वक जीवनयापन करने मे अशक्त अल्पसत्त्व साधक मोक्षप्राप्ति के प्रधान साधन तथा करोडो जन्मो के पश्चात् मिले हुए सयमरत्न के पालन मे शिथिल हो जाता है। यह बात दृष्टान्त द्वारा समझायी गयी है—जैसे उद्यान यानी मार्ग के ऊँचे भाग पर अत्यन्त वोझ से दवे हुए तथा लदे हुए भार को ढोने मे असमर्थ दुर्वल वैल गर्दन नीची करके निढाल होकर धप्प से वैठ जाते है, उसी तरह अल्पसत्त्व बुद्धिमन्द अदूरदर्शी साधक भी अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग को सहन करने का सयम की चढाई वाला ऊँचा मार्ग आता है तो मरियल वैल की तरह पचमहाव्रत तथा साधु-समाचारी रूपी भार को वहन करने मे अशक्त, दुर्बलमना होकर सयम से शिथिल होकर या सयम का त्याग करके नीची गर्दन किये बैठ जाते है। स्त्री आदि सगो या भोगासक्ति रूपी भावावर्त साधक को सयम से गिराने मे निमित्त वनते है।

भिक्खुचरियाए—साधुचर्या के यहाँ दो अर्थ हैं—एक तो यह है कि ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति आदि साधुजीवन की चर्या। दूसरा अर्थ है—इच्छाकार, मिच्छाकार आदि दस प्रकार की समाचारी, जो उत्तराध्ययनसूत्र मे वर्णित है।

मूल पाठ

अचयंता व लूहेण उवहाणेण तज्जिया ।
तत्थ मदा विसीयति, उज्जाणंसि जरग्गवा ॥२१॥

संस्कृत छाया

अशक्नुवन्तो रूक्षेण, उपधानेन तर्जिता ।
तत्र मन्दा विषीदन्ति, उद्याने जरद्गवा ॥२१॥

अन्वयार्थ

(लूहेण) रूक्ष – नीरस कठोर सयम का पालन (अचयता) नही कर सकने

वाले तथा (**उवहाणेण तज्जिया**) तप से पीडित (**मदा**) अदूरदर्शी अल्पसत्त्व साधक (**उज्जाणसि जरग्गवा**) ऊँचे चढाई वाले मार्ग मे बूढे बैल के समान (**तत्थ**) उस सयम मे (**विसीयति**) क्लेश पाते हैं।

भावार्थ

नीरस सयम का पालन करने मे असमर्थ एव तपस्या के नाम से कॉपने वाले अदूरदर्शी अल्पसत्त्व अज्ञ साधक सयममार्ग मे उसी तरह क्लेश पाते है, जिस तरह बूढे—जराजीर्ण बैल ऊँचे चढाई वाले मार्ग मे कष्ट पाते है।

व्याख्या

उपसर्ग उपस्थित होने पर विषाद पाने वाले साधक

इस गाथा मे सयममार्ग मे क्लेश पाने के दो कारण प्रस्तुत किये गये है—(१) पूर्वोक्त भोगप्रलोभनो के चक्कर मे आने से जिन्हे सयम रूखा-सूखा, नीरस और भारभूत लगता है, (२) जो १२ प्रकार की बाह्य-आभ्यन्तर तपस्या से कतराता है, तपस्या का नाम सुनते ही पीडा पाता है। ऐसे मन्द पराक्रमी अज्ञ साधक सयम की उच्च साधना के मार्ग मे किस प्रकार कष्ट पाते है ? यह बताने के लिए दृष्टान्त दिया हे—जैसे जीर्णशीर्ण बूढा हारा-थका बैल ऊपर चढाई वाले मार्ग मे कष्ट पाता हे। ऊँची चढाई वाले मार्ग मे तो जवान बैल को भी कष्ट होता है, फिर वृद्ध बैल की तो बात ही क्या ? वैसे ही साधना की ऊँचाइयो पर चढने मे मन्दसत्त्व साधक पद-पद पर कष्ट पाता है। शास्त्रकार का आशय यह है कि जो साधक धीरता और सहनन (दृढता) से युक्त एव विवेकी हैं, उनका ऐसे अनुकूल उपसर्गरूपी आवर्तो के बिना भी सयम से भ्रष्ट होना सम्भव है, तब फिर जो विवेकमूढ हैं, आवर्तो के द्वारा उपसर्ग के चक्कर मे पडे है, उनका तो कहना ही क्या ?

मूल पाठ

एव निमतण लद्धु, मुच्छिया गिद्धा इत्थीसु ।
अज्झोववन्ना कामेहि, चोइज्जता गया गिह ॥२२॥

॥त्ति बेमि॥

सस्कृत छाया

एव निमन्त्रण लब्ध्वा मूच्छिता गृद्धा स्त्रीषु ।
अध्युपपन्ना कामेषु चोद्यमाना गता गृहम् ॥२२॥

॥इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(**एव**) पूर्वोक्त प्रकार से (**निमतण**) भोग भोगने के लिए निमन्त्रण (**लद्धु**) पाकर (**मुच्छिया**) कामभोगो मे आसक्त (**इत्थीसु गिद्धा**) स्त्रियो मे आसक्त—मोहित,

(कामेहि) कामभोगो मे (अज्झोववन्ना) दत्तचित्त पुरुष (चोइज्जता) सयमपालन के लिए प्रेरित किये जाने पर भी (गिह) घर को (गया) चले गये।

भावार्थ

पूर्वोक्त प्रकार से काम-भोगो के सेवन का आमन्त्रण पाकर काम-भोगो मे आसक्त, कामिनियो मे मोहित, एव कामभोगो मे दत्तचित्त पुरुष सयम-पालन के लिए आचार्य, गुरु आदि के द्वारा प्रेरणा दिये जाने पर भी गृहवासी हो चुके हैं।

व्याख्या

उपसर्ग-पराजित साधको की दशा

द्वितीय उद्देशक की इस अन्तिम गाथा मे शास्त्रकार ने उपसहार करते हुए यह बताया है कि पूर्वोक्त अनुकूल उपसर्गो से पराजित साधको की क्या दशा होती है ? यहाँ उनकी तीन विकट दशाओ का वर्णन किया गया है—

(१) वे विषयभोगो मे मूर्च्छित हो जाते हैं।
(२) वे स्त्रियो मे मोहित हो जाते है।
(३) वे काम-भोगो मे दत्तचित्त हो जाते है।

सर्वप्रथम तो पूर्वोक्त रीति से शासको या वैभवसम्पन्नो तथा कदाचित् स्वजनो द्वारा उन्हे विविध प्रकार के आर्थिक, सुख-सुविधाजन्य, कामजन्य एव विविध भोग्य-साधनो (हाथी, घोडे, रथ, पालकी, वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, स्त्रियाँ, शयनसामग्री आदि) के प्रलोभन दिये जाते है, विविध प्रकार से उलटे-सीधे ढग से उन्हे समझाया जाता है, (जिसका वर्णन पूर्वगाथाओ मे किया जा चुका है) आखिरी दाँव तक समझाने पर धीरता और दृढता के धनी साधको मे इतना दम नहीं होता कि इतने प्रलोभनो के बाद वे फिसलें नहो। वे फिसलने लगते है और क्रमश उपर्युक्त तीन अवस्थाओ से पार होते है। बीच-बीच मे उनके गुरु अथवा आचार्य उन्हें उक्त पतन के गर्त मे गिरने से बार-बार रोकते है, टोकते है, समझाते है, असयम के परिणाम बताते हैं, पर काममोहित वे साधक उन प्रेरको की बात पर कान नही देते, वे अपनी मोहदशा के कारण धुन ही धुन मे तीसरी स्टेज पार कर जाते है। इसके बाद रुकते नहीं। बदनाम और भ्रष्ट हो जाने के बाद उन्हे पतन के गड्ढे मे गिरने के सिवाय और कुछ नही सूझता। आखिरकार वे अल्पपराक्रमी व्यक्ति प्रव्रज्या को छोडकर पुन गृहस्थवास मे चले जाते है। यही बात शास्त्रकार कहते है—'चोइज्जता गया गिह।'

इति शब्द समाप्ति का द्योतक है। ब्रवीमि का अर्थ पूर्ववत् है।

तृतीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

तृतीय अध्ययन : तृतीय उद्देशक

विषादयुक्त वचनोपसर्गाधिकार

अव तीसरे अध्ययन का तीसरा उद्देशक प्रारम्भ किया जा रहा है। प्रथम और द्वितीय उद्देशक मे क्रमश प्रतिकूल और अनुकूल उपसर्गो का वर्णन किया गया है, अव तीसरे उद्देशक मे उक्त दोनो उपसर्गो की प्रतिक्रियास्वरूप साधक मे जो आध्यात्मविषाद या ज्ञान-वैराग्य का नाश होता है, वह वताया गया हे। इसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

जहा संगामकालम्मि, पिट्ठतो भीरु वेहइ।
वलयं गहण णूमं, को जाणइ पराजय ? ॥१॥

सस्कृत छाया

यथा सग्रामकाले, पृष्ठत भीरु प्रेक्षते ।
वलय गहनमाच्छादक को जानाति पराजयम् ? ॥१॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (सगामकालम्मि) युद्ध के समय (भीरु) कायर पुरुष (पिट्ठतो) पीछे की ओर (वलय) गोलाकार गड्ढा, (गहण णूम) वृक्ष बेल आदि से आच्छादित छिपा हुआ स्थान (वेहइ) देखता है। वह सोचता है कि (पराजय) किसका पराजय होगा, (को जाणइ) यह कौन जानता है ?

भावार्थ

जैसे युद्ध के समय कायर व्यक्ति पहले आत्मरक्षा के लिए पीछे की ओर कोई गोलाकार गड्ढा, वृक्षो और बेलो से ढका हुआ सघन एव छिपा हुआ बीहड आदि स्थान देखता है। वह सोचता है कि न जाने इस युद्ध मे किसकी हार होगी, किसकी जीत ? अत सकट आने पर उक्त स्थानो मे आत्मरक्षा हो सकती है। इसलिए पहले छिपने के स्थान देख लेने चाहिए।

व्याख्या

सग्राम मे कायर पहले छिपने के स्थान देखता है

इस गाथा मे सग्राम मे भीरु व्यक्ति का दृष्टान्त देकर शास्त्रकार वस्तु तत्त्व समझाते हैं—'जहा सगामकालम्मि को जाणइ पराजय ?'

आशय यह है कि कायर और वीर का पता युद्धकाल मे लग जाता है। जिस समय युद्ध प्रारम्भ होता है, उसमे पूर्व युद्धविद्या मे अकुशल कायर व्यक्ति शत्रुसेना के साथ युद्ध के मौके पर बचने के लिए ऐसे दुर्गम स्थानो की तलाश कर लेता है, जहाँ अच्छी तरह छिपा जा सके या शत्रुसेना के प्रहारो मे बचा जा सके। वे दुर्गम स्थान कौन-कौन से हो सकते ह ? इसे मोटे तौर पर शास्त्रकार बताते है—'वलय' यानी जहाँ मडलाकार पानी विद्यमान हो, वह स्थान अथवा जलरहित गहरा गोल गड्ढा आदि स्थान, जहाँ से निकलना और घुसना कठिन हो। अथवा 'गहण' यानी वृक्षो और बेलो से कमर तक ढका हुआ सघन स्थान, 'णूम' अर्थात् छिपा हुआ गुफा, बीहड आदि स्थान। वह कायर पुरुष इन स्थानो को पहले क्यो देखता है ? इसका समाधान है—'को जाणइ पराजय ?' अर्थात् वह समझता ह कि इस युद्ध मे बडे-बडे शूरवीर योद्धा एकत्रित हुए है, कौन जानता हे, किसकी हार होगी, किसकी जीत ? मान लो, दुर्भाग्य से हार हो गयी तो फिर अपने प्राण बचाने मुश्किल होगे। अत प्राण बचाने के लिए पहले से स्थान ढूंढ लेना अच्छा रहेगा।

मूल पाठ

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो।
पराजियाऽवसप्पामो, इति भीरु उवेहई ॥२॥

संस्कृत छाया

मुहूर्त्ताणा मुहूर्त्तस्य, मुहूर्त्तो भवति तादृश ।
पराजिता अवसर्पाम , इति भीरुरुपेक्षते ॥२॥

अन्वयार्थ

(मुहुत्ताण) बहुत मुहूर्तो का (मुहुत्तस्स) अथवा एक मुहूर्त्त का (तारिसो) कोई ऐसा (मुहुत्तो होइ) अवसर होता है, (जिसमे जय या पराजय सम्भव है) (पराजिया) अत शत्रु से हारे हुए हम (अवसप्पामो) जहाँ भागकर छिप सके (इति) ऐसे स्थान को (भीरु) कायर पुरुप (उवेहइ) सोचता है।

भावार्थ

बहुत मुहूर्तो का अथवा एक ही मूहूर्त का कोई ऐसा अवसर विशेष होता है, जिसमे जय या पराजय की सम्भावना रहती है। इसलिए "हम पराजित होकर जहाँ छिप सके," ऐसे स्थान को कायर पुरुष पहले ही सोचता है तलाशता है।

व्याख्या

कायर पुरुष का भीरुतापूर्ण चिन्तन

इस गाथा मे पुन युद्धभीरु व्यक्ति का कायरताभरा चिन्तन दिया गया है कि

कायरपुरुप युद्ध के नगाडे वज रहे हो, उस समय सर्वप्रथम यह सोचता है कि बहुत-से मुहूर्तो या एक ही मुहूर्त का कोई ऐसा क्षण होता है, जिसमे जय-पराजय के फैसले की सम्भावना रहती है। ऐसी दशा मे पराजित होकर किसी गुप्त स्थान मे छिपना पडे, यह भी सम्भव है। ऐसा विचार करके कायर पुरुष पहले ही विपत्ति के प्रतिकार के लिए स्थान ढूँढ लेता है।

इन दो गाथाओ मे दृष्टान्त देकर अव इस गाथा मे दार्ष्टान्तिक प्रस्तुत करते है—

मूल पाठ

एव तु समणा एगे, अबलं नच्चाण अप्पग।
अणागय भयं दिस्स, अविकप्पतिमं सुय ॥३॥

सस्कृत छाया

एव तु श्रमणा एके, अबल ज्ञात्वाऽऽत्मानम्।
अनागत भय दृष्ट्वाऽवकल्पयन्तीद श्रुतम् ॥३॥

अन्वयार्थ

(**एव तु**) इस प्रकार (**एगे समणा**) कोई श्रमण (**अप्पग**) अपने आपको (**अबल**) जीवनपर्यन्त सयमपालन करने मे असमर्थ (**नच्चाण**) जानकर (**अणागय**) भविष्यकालीन (**भय दिस्स**) भय (खतरा) देखकर (**इम सुय**) इस व्याकरण, ज्योतिप, वैद्यक आदि शास्त्रो को (**अविकप्पति**) अपने निर्वाह के साधन बनाते हैं।

भावार्थ

इसी प्रकार कोई श्रमण अपने आपको जीवनभर सयम-पालन करने मे अपने को असमर्थ जानकर भविष्य मे आने वाले खतरो से बचने के लिए व्याकरण और ज्योतिष आदि शास्त्रो को अपने जीवन-निर्वाह के साधन बनाते है।

व्याख्या

मन्दपराक्रमी साधक की भावी कल्पना

इस गाथा मे पूर्व दृष्टान्तो के साथ दार्ष्टान्तिक घटाते है—'एव तु अविकप्पति।' आशय यह है कि युद्ध मे प्रवेश करने से पहले जैसे कायर पुरुप यह देखता है, कि कदाचित् हमारी पराजय हुई तो मेरी रक्षा के लिए उपयुक्त स्थान कौन-मा होगा ? इमी प्रकार कोई मन्दपरात्रमी साधक अपने आपको जिन्दगीभर चारित्रपालन करने मे असमर्थ जानकर भविष्य मे सयमत्याग करने से उपस्थित होने वाले खतरो से वचने के लिए सोचता है—अभी मेरे पास न तो धन है, न जीविका का कोई साधन है, रोग, बुढापा, दुर्भिक्ष आदि आकस्मिक सकट के समय मेरी जिन्दगी बचाने या

सुख से जीवनयापन करने का कौन-सा साधन होगा ? अत वह सयमपालन मे असमर्थ अल्पसत्त्व साधक उक्त खतरे से बचने के लिए यह सोचता है कि "मेरे लिए गणित, ज्योतिष, वैद्यक, व्याकरण और होराशास्त्र आदि जो मैंने पढे है, उन्ही से दु ख के समय मेरी रक्षा हो सकेगी ।"

मूल पाठ

को जाणइ विऊवातं, इत्थीओ उदगाउ वा ।
चोइज्जता पवक्खामो, ण णो अत्थि पकप्पिय ॥४॥

सस्कृत छाया

को जानाति व्यापात, स्त्रीत उदकाद्वा ।
चोद्यमाना प्रवक्ष्यामो, न नोऽस्ति प्रकल्पितम् ॥४॥

अन्वयार्थ

(इत्थीओ) स्त्री से **(उदगाउ वा)** अथवा उदक—कच्चे पानी से **(विऊवात)** मेरा सयम भ्रष्ट हो जाएगा, **(को जाणइ)** यह कौन जानता है ? **(णो)** मेरे पास **(पकप्पिय)** पहले का उपार्जित द्रव्य भी **(ण अत्थि)** नही है। इसलिए **(चोइज्जता)** किसी के पूछने पर हम हस्तिशिक्षा और धनुर्वेद आदि विद्याओ को **(पवक्खामो)** बतायेंगे ।

भावार्थ

सयमपालन मे अस्थिरचित्त पुरुष यह सोचता है कि स्त्रीसेवन से अथवा कच्चे पानी के स्नान से मैं सयम से भ्रष्ट हो जाऊँगा, यह कौन जानता है ? मेरे पास पहले का कमाया हुआ धन भी नही है, किन्तु हमने जो हस्तिविद्या और धनुर्वेद आदि विद्याएँ सीख रखी है, इनको ही बता (सिखा) कर सकट के समय जीवननिर्वाह कर सकेंगे ।

व्याख्या

अल्पसत्त्व साधको का ऊटपटाँग चिन्तन

सयमपालन मे असमर्थ साधक यो ऊटपटाग विचार करते है कि प्राणियो की शक्ति अल्प होती है और कर्मों की गति भी विचित्र है। प्रमाद के अनेक स्थान है। ऐसी स्थिति मे सर्वज्ञ के सिवाय कौन निश्चयपूर्वक कह सकता है कि मैं किस उपद्रव (उपसर्ग) से हार खाकर सयम से भ्रष्ट हो जाऊँगा ? सम्भव है, स्त्रीपरीषह से मेरा सयम नष्ट हो जाए, अथवा स्नान के लिए कच्चे (सचित्त) पानी के सेवन से मेरा पतन हो जाए। वे अदूरदर्शी अज्ञ साधक यो भी सोचते है—सयम से पतित हो जाने पर मेरे पास कोई पहले का कमाया हुआ धन भी नही है जो काम दे सके। किसी के पूछने पर मै हस्तिविद्या, धनुर्वेद आदि विद्याएँ (जो मेरी पहले सीखी हुई हैं)

वताकर अपना निर्वाह कर लूंगा। ऐसा निश्चय करके वे अल्पपराक्रमी व्यक्ति व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिप आदि लौकिक विद्याओ के अध्ययन मे प्रवृत्त होते है। यद्यपि वे निर्वाह के लिए व्याकरण आदि विद्याएँ सीखते है, तथापि इन विद्याओ से उन अभागो का अभीष्ट मनोरथ सिद्ध नही होता। एक अनुभवी ने कहा है—

उपशमफलाद् विद्याबीजात् फल धनमिच्छताम्।
भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमद्भुतम्॥

अर्थात्—उपशमरूप को उत्पन्न करने वाले विद्यावीज से धन प्राप्त करना चाहने वालो का श्रम यदि निष्फल होता है तो इसमे आश्चर्य की क्या वात है ?

मोक्षविद्यारूपी बीज शान्तिरूपी फल को उत्पन्न करता है। उस विद्याबीज से यदि कोई मनुष्य धनरूपी फल की अभिलापा करता है, और उसका परिश्रम यदि व्यर्थ होता है तो इसमे आश्चर्य की कोई वात नही है। प्रत्येक वस्तु का फल नियत होता है। जिस वस्तु का जो फल है, उससे भिन्न फल वह अपने कर्त्ता को नही दे सकती। जैसे चावल के वीज से जौ का अकुर कभी उत्पन्न नही हो सकता।

अत उन अल्पसत्त्व साधको का अज्ञान और मोह से प्रेरित सयमविरुद्ध विपरीत चिन्तन उनकी बुद्धि को तामसिक और राजसिक अवश्य वना देता है, मगर यथार्थ चिन्तन, तदनुरूप कार्य और तदनुसार फललाभ नही होता।

मूल पाठ

इच्चेव पडिलेहंति, वलया पडिलेहिणो ।
वितिगिच्छसमावन्ना, पंथाण च अकोविया ॥५॥

सस्कृत छाया

इत्येव प्रतिलेखन्ति, वलय-प्रतिलेखिन ।
विचिकित्सासमापन्ना पथश्चाकोविदा ॥५॥

अन्वयार्थ

(वितिगिच्छसमावन्ना) इस सयम का पालन मैं कर सकूंगा या नही, इस प्रकार के सशय मे पडे हुए **(पथाण च अकोविया)** और मोक्षमार्ग को नहीं जानने वाले **(वलया पडिलेहिणो)** युद्ध के समय गड्ढे आदि ढूंढने वाले कायर पुरुषो के समान **(इच्चेव पडिलेहति)** अल्पपराक्रमी कच्चे साधक भी इसी प्रकार के अटसट विचार करते है।

भावार्थ

मैं इस सयम का पालन कर सकूँगा या नही ? इस प्रकार के सशय मे पडे हुए और मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ जीव युद्ध के मौके पर छिपने का स्थान ढूंढने वाले कायर के समान तथा मार्ग न जानने वाले मूर्ख के समान

यही सोचते रहते है कि सयम से भ्रष्ट होने पर जीवननिर्वाह व्याकरण आदि विद्याओ से करके अपनी रक्षा कर सकूँगा ।

व्याख्या

सयमपालन मे सशयशील साधक

पूर्वगाथाओ मे अल्पपराक्रमी साधु की सयमपालन मे कायरता की मनोवृत्ति का चित्रण किया है, इस गाथा मे उनकी अस्थिर मनोवृत्ति का परिचय देते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'**इच्चेव पडिलेहृति अकोविया ।**' कच्चे एव अल्पसत्त्व साधक के मन मे सशय बना रहता है कि इस कठोर सयम का मैं आजीवन पालन कर भी सकूँगा या नही ? सयम कठोर क्यो है ? इसके लिए कहा है —

लुक्खमणुण्हमणियय, कालाइक्कत-भोयण विरस ।
भूमीसयण लोओ असिणाण बभचेर च ।।

अर्थात्—यहाँ रूखा और ठण्डा आहार मिलता है, वह भी कभी मिलता है, कभी नही । और वह भोजन का समय बीत जाने पर मिलता है और वह भी नीरस । प्रव्रजित पुरुष को भूमि पर सोना पडता है, लोच करना, स्नान न करना तथा ब्रह्मचर्य पालन करना, यह कितना कठोर एव कठिन सयम है ?

सयम की कठोर क्रियाओ को देखकर ही वह सशय करता है । जैसे मार्ग को न जानने वाला सशय करता है कि यह मार्ग जिस स्थान पर जाना है, वहाँ जाता भी है या नही ? और वह चचलचित्त हो उठना हे, इसी तरह लिये हुए सयमभार को अन्त तक वहन कर सकने मे सशयशील कायर साधक निमित्तशास्त्र, आयुर्वेद आदि शास्त्रो से अपनी आजीविका चलाने की आशा रखते है ।

अब शूरवीर योद्धाओ का दृष्टान्त देकर महासत्त्व साधक की मनोदशा बताते हैं—

मूल पाठ

जे उ सगामकालमि नाया सूरपुरगमा ।
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं पर मरण सिया ।।६।।

सस्कृत छाया

ये तु सग्रामकाले, ज्ञाता शूरपुरगमा ।
नो ते पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते, कि पर मरण स्यात् ।।६।।

अन्वयार्थ

(उ) परन्तु (जे) जो पुरुष (नाया) जगत्प्रसिद्ध (सूरपुरगमा) शूरवीरो मे अग्रगण्य हैं, (ते) वे (सगामकालम्मि) युद्ध का समय आने पर (**णो पिट्ठमुवेहिंति**) पीछे की बात पर ध्यान नही देते हैं, वे समझते हैं कि (**कि पर मरण सिया**) मरण के सिवाय और क्या हो सकता है ?

भावार्थ

जो पुरुष ससार मे प्रसिद्ध वीरो मे अग्रगण्य है, वे तो युद्ध के मौके पर आगा पीछा नही सोचते कि विपत्ति के समय मेरी रक्षा कैसे होगी ? वे समझते है कि अधिक से अधिक मृत्यु के सिवाय और क्या हो सकता है ?

व्याख्या

वीर पीछे नहीं, आगे ही देखते हैं

युद्ध के मोर्चे पर वीर की मनोवृत्ति कैसी होती है, इसका सुन्दर चित्रण प्रस्तुत करते है—'**जे उ सगामकालमि मरण सिया ।**' अर्थात् जो पुरुष महापराक्रमी, जगत्प्रसिद्ध वीरो मे अग्रणी है, वे युद्ध के समय पीछे होने वाली बात का विचार तक नही करते और न ही दुर्गम स्थानो मे छिपकर अपनी रक्षा करने के लिए पीछे की ओर झाँकते हैं। वे युद्ध के समय आगे रहते हे। युद्ध का मैदान छोडकर भागने का उनका विचार होता ही नही। वे समझते हैं कि इस युद्ध मे हमारी अगर अधिक से अधिक हानि होगी तो यही हो सकती है कि हम मौत के मेहमान हो जाएँ। किन्तु वह मृत्यु सदा स्थायी रहने वाली कीर्ति की अपेक्षा तो हमारी दृष्टि मे तुच्छ हैं। कहा भी हैं—

विशरारुभिरविनश्वरमपि चपलैः स्थास्नु वाञ्छता विशदम् ।
प्राणैर्यदि शूराणा भवति यश किं न पर्याप्तम् ॥

अर्थात्—मनुष्यो के प्राण नाशवान और चचल है, उन्हे देकर अविनाशी, स्थिर और शुद्ध युद्ध के अभिलाषी वीरो को यदि प्राणो के बदले यश मिलता हैं, तो क्या वह प्राणो से बढकर मूल्यवान नही हैं ?

सुभटो की मनोवृत्ति का दृष्टान्त देकर अब दार्ष्टान्त बतलाते ह—

मूल पाठ

एव समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबधण ।
आरभ तिरिय कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥७॥

संस्कृत छाया

एव समुत्थितो भिक्षु, व्युत्सृज्यागारबन्धनम् ।
आरम्भ तिर्य्यक् कृत्वा, आत्मत्वाय परिव्रजेत् ॥७॥

अन्वयार्थ

(**एव**) इस प्रकार (**अगारबधण**) गृहबन्धन को (**वोसिज्जा**) त्याग करके (**आरभ**) तथा आरम्भ को (**तिरिय कट्टु**) तिलाजलि देकर (**समुट्ठिए**) सयमपालन के लिए समुत्थित—समुद्यत (**भिक्खू**) साधु (**अत्तत्ताए**) आत्मभाव—मोक्ष की प्राप्ति के लिए (**परिव्वए**) सयम का अनुष्ठान करे।

भावार्थ

इसी प्रकार (पूर्वोक्त शूरवीरो की तरह) जो साधु गृहवन्धन का व्युत्सर्ग (त्याग) करके तथा सावद्य-अनुष्ठान को छोडकर निरवद्य सयम-पालन करने के लिए उद्यत हुआ है, वह मोक्षप्राप्ति या आत्मभाव के लिए सयम का पालन करे।

व्याख्या

सयमपालन मे सुदृढ साधक की मन स्थिति

सुभटो की मनोवृत्ति का परिचय देने के वाद अव उस दृष्टान्त को दार्ष्टान्ति पर घटाते हे – **'एव समुट्ठिए' परिव्वए।'**

आशय यह है कि जो लोग नाम, कुल, शिक्षा और शूरवीरता मे विश्व-विख्यात है, वे शत्रुसेना को भेदन करने वाले पुरुप जव कमर कसकर एव हाथो म शस्त्रास्त्र लेकर युद्ध के लिए तैयार होते हैं, तब वे पीछे की ओर मुडकर नही देखते, इसी तरह जो पराक्रमशाली महान् साधु कपायो और इन्द्रियविपयोरूपी शत्रुओ पर विजय पाने के लिए तथा परीषहो और उपसर्गो का सामना करने एव जन्म-मरण के चक्र को भेदन करने हेतु जव सयमभार को लेकर उद्यत—उत्थित होते है, तब वे भी पीछे की ओर मुडकर नही झाँकते कि हमारे घरवालो का क्या होगा ? ये विविध भोगोपभोग के साधन नही मिलेंगे तो क्या होगा ? मै सयम नही पाल सका तो भविष्य मे क्या होगा ? उनके मन मे ये दुर्विकल्प उठते ही नही। वह सोचता है कि एक वार जब मैंने गार्हस्थ्यवन्धनो को काटकर फेंक दिया है और आरम्भ समारम्भो को तिलाजलि दे दी है तथा सयम के लिए उद्यत हुआ हूँ तो फिर वापिस पीछे मुडकर उन्हे अपनाने का कोई सवाल ही नही उठता। वीर का प्रत्येक कदम आगे होता है, पीछे नही। उसकी विजययात्रा का मूलमत्र यही होता है—

'कार्यं वा साधयेयम्, देह वा पातयेयम्।

अर्थात्—या तो कार्य (मोक्षप्राप्तिरूप) सिद्ध करके छोडूंगा, या वही देहत्याग कर दूंगा।'

अत्तत्ताए परिव्वए—आत्मा के स्वभाव को आत्मतत्त्व कहते है। वह पूर्णतया समस्त कर्मकलक से रहित होने पर होता है, उस आत्मतत्त्व के लिए सुविहित साधु को सावधान होकर विजययात्रा के लिए आगे कूच करना चाहिए। अथवा साधुजीवन का ध्येय आत्मा का मोक्ष या सयम है, उसका भाव आत्मभाव है, उक्त आत्मभाव के लिए चारो ओर से सयमानुष्ठान क्रिया मे दत्तचित्त होकर जुट जाना चाहिए। क्योकि शास्त्र मे बताया है—

भावार्थ

जो पुरुष ससार मे प्रसिद्ध वीरो मे अग्रगण्य है, वे तो युद्ध के मौके पर आगा-पीछा नही सोचते कि विपत्ति के समय मेरी रक्षा कैसे होगी ? वे समझते है कि अधिक से अधिक मृत्यु के सिवाय और क्या हो सकता है ?

व्याख्या

वीर पीछे नहीं, आगे ही देखते हैं

युद्ध के मोर्चे पर वीर की मनोवृत्ति कैसी होती हे, इसका सुन्दर चित्रण प्रस्तुत करते है—'**जे उ सगामकालमि मरण सिया ।**' अर्थात् जो पुरुप महा-पराक्रमी, जगत्प्रसिद्ध वीरो मे अग्रणी है, वे युद्ध के समय पीछे होने वाली वात का विचार तक नही करते और न ही दुर्गम स्थानो मे छिपकर अपनी रक्षा करने के लिए पीछे की ओर झांकत है। वे युद्ध के समय आगे रहते हे। युद्ध का मैदान छोडकर भागने का उनका विचार होता ही नही। वे समझते है कि इस युद्ध मे हमारी अगर अधिक से अधिक हानि होगी तो यही हो सकती है कि हम मौत के मेहमान हो जाएँ। किन्तु वह मृत्यु सदा स्थायी रहने वाली कीर्ति की अपेक्षा तो हमारी दृष्टि मे तुच्छ है। कहा भी है—

विशरारुभिरविनश्वरमपि चपलैं स्थास्नु वाञ्छता विशदम् ।
प्राणैर्यदि शूराणा भवति यश किं न पर्याप्तम् ॥

अर्थात्—मनुष्यो के प्राण नाशवान और चचल है, उन्हे देकर अविनाशी, स्थिर और शुद्ध युद्ध के अभिलाषी वीरो को यदि प्राणो के वदले यश मिलता है, तो क्या वह प्राणो से बढकर मूल्यवान नही है ?

सुभटो की मनोवृत्ति का दृष्टान्त देकर अव दार्ष्टान्ति वतलाते है—

मूल पाठ

एव समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबधण ।
आरभ तिरिय कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥७॥

सस्कृत छाया

एव समुत्थितो भिक्षु , व्युत्सृज्यागारबन्धनम् ।
आरम्भ तिर्य्यक् कृत्वा, आत्मत्वाय परिव्रजेत् ॥७॥

अन्वयार्थ

(**एव**) इस प्रकार (**अगारबधण**) गृहवन्धन को (**वोसिज्जा**) त्याग करके (**आरभ**) तथा आरम्भ को (**तिरिय कट्टु**) तिलाजलि देकर (**समुट्ठिए**) सयमपालन के लिए समुत्थित—समुद्यत (**भिक्खू**) साधु (**अत्तत्ताए**) आत्मभाव—मोक्ष की प्राप्ति के लिए (**परिव्वए**) सयम का अनुष्ठान करे।

भावार्थ

इसी प्रकार (पूर्वोक्त शूरवीरो की तरह) जो साधु गृहबन्धन का व्युत्सर्ग (त्याग) करके तथा सावद्य-अनुष्ठान को छोडकर निरवद्य सयम-पालन करने के लिए उद्यत हुआ है, वह मोक्षप्राप्ति या आत्मभाव के लिए सयम का पालन करे।

व्याख्या

सयमपालन मे सुदृढ साधक की मन स्थिति

सुभटो की मनोवृत्ति का परिचय देने के वाद अव उस दृष्टान्त को दार्ष्टान्त पर घटाते हैं - **'एव समुट्ठिए परिव्वए।'**

आशय यह है कि जो लोग नाम, कुल, शिक्षा और शूरवीरता मे विश्व-विख्यात हैं, वे शत्रुसेना को भेदन करने वाले पुरुष जव कमर कसकर एव हाथो म शस्त्रास्त्र लेकर युद्ध के लिए तैयार होते है, तव वे पीछे की ओर मुडकर नही देखते, इसी तरह जो पराक्रमशाली महान् साधु कपायो और इन्द्रियविपयोरूपी शत्रुओ पर विजय पाने के लिए तथा परीपहो और उपसर्गो का सामना करने एव जन्म-मरण के चक्र को भेदन करने हेतु जव सयमभार को लेकर उद्यत—उत्थित होते है, तव वे भी पीछे की ओर मुडकर नही झाँकते कि हमारे घरवालो का क्या होगा ? ये विविध भोगोपभोग के साधन नही मिलेंगे तो क्या होगा ? मै सयम नही पाल सका तो भविष्य मे क्या होगा ? उनके मन मे ये दुर्विकल्प उठते ही नही। वह सोचता है कि एक वार जव मैंने गार्हस्थ्यबन्धनो को काटकर फेंक दिया है और आरम्भ समारम्भो को तिलाजलि दे दी है तथा सयम के लिए उद्यत हुआ हूँ तो फिर वापिस पीछे मुडकर उन्हे अपनाने का कोई सवाल ही नही उठता। वीर का प्रत्येक कदम आगे होता है, पीछे नही। उसकी विजययात्रा का मूलमत्र यही होता है—

'कार्यं वा साधयेयम्, देह वा पातयेयम्।

अर्थात्—या तो कार्य (मोक्षप्राप्तिरूप) सिद्ध करके छोडूंगा, या वही देहत्याग कर दूंगा।'

अत्तत्ताए परिव्वए—आत्मा के स्वभाव को आत्मतत्त्व कहते है। वह पूर्णतया समस्त कर्मकलक से रहित होने पर होता है, उस आत्मतत्त्व के लिए सुविहित साधु को सावधान होकर विजययात्रा के लिए आगे कूच करना चाहिए। अथवा साधुजीवन का ध्येय आत्मा का मोक्ष या सयम है, उसका भाव आत्मभाव है, उक्त आत्मभाव के लिए चारो ओर से सयमानुष्ठान क्रिया मे दत्तचित्त होकर जुट जाना चाहिए। क्योकि शास्त्र मे वताया है—

भावार्थ

जो पुरुष ससार मे प्रसिद्ध वीरो मे अग्रगण्य है, वे तो युद्ध के मौके पर आगा-पीछा नही सोचते कि विपत्ति के समय मेरी रक्षा कैसे होगी ? वे समझते है कि अधिक से अधिक मृत्यु के सिवाय और क्या हो सकता है ?

व्याख्या

वीर पीछे नहीं, आगे ही देखते हैं

युद्ध के मोर्चे पर वीर की मनोवृत्ति कैसी होती है, इसका सुन्दर चित्रण प्रस्तुत करते है—'**जे उ सगामकालमि मरण सिया** ।' अर्थात् जो पुरुप महा-पराक्रमी, जगत्प्रसिद्ध वीरो मे अग्रणी है, वे युद्ध के समय पीछे होने वाली बात का विचार तक नही करते और न ही दुर्गम स्थानो मे छिपकर अपनी रक्षा करने के लिए पीछे की ओर झाँकत है। वे युद्ध के समय आगे रहते है। युद्ध का मैदान छोडकर भागने का उनका विचार होता ही नही। वे समझते है कि इस युद्ध मे हमारी अगर अधिक से अधिक हानि होगी तो यही हो सकती है कि हम मौत के मेहमान हो जाएँ। किन्तु वह मृत्यु सदा स्थायी रहने वाली कीर्ति की अपेक्षा तो हमारी दृष्टि मे तुच्छ हैं। कहा भी है—

विशरारुभिरविनश्वरमपि चपलै स्थास्नु वाञ्छता विशदम् ।
प्राणैर्यदि शूराणा भवति यश किं न पर्याप्तम् ॥

अर्थात्—मनुष्यो के प्राण नाशवान और चचल है, उन्हे देकर अविनाशी, स्थिर और शुद्ध युद्ध के अभिलाषी वीरो को यदि प्राणो के बदले यश मिलता है, तो क्या वह प्राणो से बढकर मूल्यवान नही है ?

सुभटो की मनोवृत्ति का दृष्टान्त देकर अव दार्ष्टान्त वतलाते है—

मूल पाठ

एव समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबधण ।
आरभ तिरिय कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥७॥

सस्कृत छाया

एव समुत्थितो भिक्षु, व्युत्सृज्यागारवन्धनम् ।
आरम्भ तिर्य्यक् कृत्वा, आत्मत्वाय परिव्रजेत् ॥७॥

अन्वयार्थ

(**एव**) इस प्रकार (**अगारबधण**) गृहबन्धन को (**वोसिज्जा**) त्याग करके (**आरभ**) तथा आरम्भ को (**तिरिय कट्टु**) तिलाजलि देकर (**समुट्ठिए**) सयमपालन के लिए समुत्थित—समुद्यत (**भिक्खू**) साधु (**अत्तत्ताए**) आत्मभाव—मोक्ष की प्राप्ति के लिए (**परिव्वए**) सयम का अनुष्ठान करे।

भावार्थ

इसी प्रकार (पूर्वोक्त शूरवीरो की तरह) जो साधु गृहबन्धन का व्युत्सर्ग (त्याग) करके तथा सावद्य-अनुष्ठान को छोडकर निरवद्य सयम-पालन करने के लिए उद्यत हुआ है, वह मोक्षप्राप्ति या आत्मभाव के लिए सयम का पालन करे।

व्याख्या

सयमपालन मे सुदृढ साधक की मन स्थिति

सुभटो की मनोवृत्ति का परिचय देने के बाद अब उस दृष्टान्त को दार्ष्टान्त पर घटाते हैं – **'एव समुट्ठिए' परिव्वए।'**

आशय यह है कि जो लोग नाम, कुल, शिक्षा और शूरवीरता मे विश्व-विख्यात है, वे शत्रुसेना को भेदन करने वाले पुरुष जब कमर कसकर एव हाथो मे शस्त्रास्त्र लेकर युद्ध के लिए तैयार होते है, तब वे पीछे की ओर मुडकर नही देखते, इसी तरह जो पराक्रमशाली महान् साधु कषायो और इन्द्रियविषयोरूपी शत्रुओ पर विजय पाने के लिए तथा परीषहो और उपसर्गों का सामना करने एव जन्म-मरण के चक्र को भेदन करने हेतु जब सयमभार को लेकर उद्यत—उत्थित होते हैं, तब वे भी पीछे की ओर मुडकर नही झांकते कि हमारे घरवालो का क्या होगा ? ये विविध भोगोपभोग के साधन नही मिलेंगे तो क्या होगा ? मैं सयम नही पाल सका तो भविष्य मे क्या होगा ? उनके मन मे ये दुर्विकल्प उठते ही नही। वह सोचता है कि एक बार जब मैंने गार्हस्थ्यबन्धनो को काटकर फेंक दिया है और आरम्भ समारम्भो को तिलाजलि दे दी है तथा सयम के लिए उद्यत हुआ हूँ तो फिर वापिस पीछे मुडकर उन्हे अपनाने का कोई सवाल ही नही उठता। वीर का प्रत्येक कदम आगे होता है, पीछे नही। उसकी विजययात्रा का मूलमत्र यही होता है—

'कार्यं वा साधयेयम्, देह वा पातयेयम्।

अर्थात्—या तो कार्य (मोक्षप्राप्तिरूप) सिद्ध करके छोडूंगा, या वही देहत्याग कर दूंगा।'

अत्तत्ताए परिव्वए—आत्मा के स्वभाव को आत्मतत्त्व कहते है। वह पूर्णतया समस्त कर्मकलक से रहित होने पर होता है, उस आत्मतत्त्व के लिए सुविहित साधु को सावधान होकर विजययात्रा के लिए आगे कूच करना चाहिए। अथवा साधुजीवन का ध्येय आत्मा का मोक्ष या सयम है, उसका भाव आत्मभाव है, उक्त आत्मभाव के लिए चारो ओर से सयमानुष्ठान क्रिया मे दत्तचित्त होकर जुट जाना चाहिए। क्योकि शास्त्र मे बताया है—

कोह माण च माय च लोह पचेंदियाणि य ।
दुज्जय चेवमप्पाण, सव्वमप्पेजए जिय ।।

अर्थात्—आत्मा के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ तथा पाँचो इन्द्रिय ये दुर्जय है। एक अपनी आत्मा को जीत लेने पर सभी जीत लिये जाते है।

ऐसे सुविहित उत्तम आचारवान साधुओ पर भी आक्षेपरूपी उपसर्ग कैसे आते है ? इसे आगामी गाथा मे बताते है—

मूल पाठ

तमेगे परिभासति, भिक्खूय साहुजीविणं ।
जे एव परिभासति, अतए ते समाहिए ।।८।।

सस्कृत छाया

तमेके परिभाषन्ते, भिक्षुक साधुजीविनम् ।
य एव परिभाषन्ते, अन्तके ते समाधे ।।८।।

अन्वयार्थ

(साहुजीविण) परोपकार आदिरूप सम्यक् आचरणपूर्वक अथवा उत्तम आचार-विचारपूर्वक जीवन जीने वाले **(त भिक्खूय)** उस साधु के विषय मे **(एगे)** कोई-कोई अन्यदर्शनी **(परिभासति)** आगे कहे जाने वाले आक्षेपात्मक वचन कहते है। परन्तु **(जे)** जो नासमझ लोग **(एव)** इस प्रकार के आक्षेपयुक्त वचन **(परिभासति)** कहते है, बकते है, **(ते)** वे **(समाहिए अतए)** समाधि से बहुत दूर है।

भावार्थ

स्वपरकल्याणरूप उत्तम साध्वाचारपूर्वक जीवन जीने वाले उस सुविहित साधु के विषय मे कई अन्यदर्शनी आक्षेपात्मक वचन कहते है। परन्तु इस प्रकार बकवास करने वाले राग-द्वेष-कषाय-उपशान्तिरूप समाधि से कोसो दूर हैं।

व्याख्या

आक्षेपात्मक वचनरूप उपसर्ग

निरवद्य सयमानुष्ठानपूर्वक स्वपरकल्याणरूप उत्तम आचार पालन करके जीने वाले सुविहित साधु पर भी कई अन्यदर्शनी कई प्रकार के आक्षेपात्मक वाक्यो द्वारा कीचड उछालते हैं, उस समय सुविहित, शान्त, समाधिस्थ साधु क्या चिन्तन करे ? यही 'अतए ते समाहिए' इस पक्ति के द्वारा शास्त्रकार ने इस गाथा मे उपसर्ग का स्वरूप बताकर अभिव्यक्त कर दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय अपने पर आक्षेप करने वाले आजीवक मतानुयायी आदि अन्यतीर्थियो के प्रति उत्तम साधु यही तटस्थ (रागद्वेष से रहित) चिन्तन करे कि ये बेचारे रा-द्वेष-कषाय-उपशान्ति या

मुक्तिरूप समाधि से काफी दूर है। जैसे लोहे की सलाइयाँ आपस में नहीं मिलती हैं, अलग-अलग रहती हैं, वैसे ही ये अन्य मतावलम्बी आक्षेपक परस्पर उपकार से दूर-दूर रहते है। अथवा यो समझना चाहिए कि जो साधुओ के उत्तम आचार की निन्दा करते है या आक्षेपात्मक वचन बोलते है, उनका धर्म पुष्ट नही है तथा वे समाधि मोक्षरूप सम्यक् ध्यान या सम्यक् अनुष्ठान मे दूर हैं। उनका मन-वचन-काया के सयम से कोई वास्ता नही है। उन बेचारो के प्रति सुविहित साधु तरस खाए। यो ही सोच ले कि हाथी अपनी चाल मे चलता है, उसके पीछे कुत्ते भौंकते रहते हैं, उन पर वह कोई ध्यान नही देता, उसी प्रकार वीतरागता का पथिक साधु उनकी आक्षेपात्मक बातो पर कोई ध्यान न दे। हा, अपने सयमाचरण मे कोई गलती हो या भूल हो तो उसे अवश्य सुधार ले। आक्षेपक या निन्दक लोगो द्वारा कहे गये वचन सुनकर सावधानी रखे। यही इस गाथा द्वारा शास्त्रकार ने ध्वनित कर दिया है।

अगली गाथा मे शास्त्रकार अन्यतीर्थियो द्वारा किये जाते हुए आक्षेपो का निरूपण करते है—

मूल पाठ

सम्बद्धसमकप्पा उ, अन्नमन्नेसु मुच्छिया ।
पिंडवाय गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य ॥६॥

संस्कृत छाया

सम्बद्धसमकल्पास्तु, अन्योऽन्येषु मूर्च्छिता ।
पिण्डपात ग्लानस्य, यत्सारयत दद्ध्वञ्च ॥६॥

अन्वयार्थ

(सम्बद्धसमकप्पा उ) ये लोग गृहस्थ सम्बन्धियो के समान व्यवहार करते है। **(अन्नमन्नेसु मुच्छिया)** ये परस्पर एक-दूसरे के प्रति आसक्त रहते है। **(ज)** क्योंकि ये **(गिलाणस्स)** रोगी साधु के लिए **(पिंडवाय)** भोजन **(सारेह)** लाते है **(य)** और **(दलाह)** उसे देते हैं।

भावार्थ

अन्यतीर्थी लोग सम्यग्दृष्टि सुविहित साधुओ के विषय मे यह आक्षेप करते है कि इन साधुओ का व्यवहार तो गृहस्थ सम्बन्धियो का सा है। जैसे गृहस्थ अपने कुटुम्ब मे परस्पर आसक्त रहते है, वैसे ही ये साधु भी परस्पर आसक्त रहते है। रोगी साधु के लिए ये भोजन लाते है और उसे देते है।

व्याख्या

गृहस्थो का-सा व्यवहार है इन साधुओ का !

अन्यमतावलम्बी किस-किस प्रकार का आक्षेप सुविहित साधुओ पर करते हैं?

इसका एक नमूना इस गाथा मे बताया है—'सम्बद्धसमकप्पा उ ' अर्थात्—वे सुविहित साधुओ पर आक्षेप करते है—देखो तो सही, ये लोग घर-बार, कुटुम्ब-कबीला और सभी नाते-रिश्ते छोडकर साधु बने हे, लेकिन इनमे भी परस्पर एक-दूसरे साधुओ के साथ पुत्र कलत्र आदि स्नेहपाशो से सम्बद्ध (परस्पर उपकार्य-उपकारकरूप से बँधे हुए) गृहस्थो का सा व्यवहार है। जैमे गृहस्थ माता-पिता, पत्नी आदि के मोहवन्धन मे बँधे होते हैं, और परस्पर एक-दूसरे के सहायक होते हे, उमी प्रकार ये साधु भी आपस मे किसी न किमी नाते-रिश्ते से बँध जाते है। जैसे गृहस्थजीवन मे पिता पुत्रो पर आसक्त होता हे, पत्नी पति पर अनुराग करती है और पति पत्नी पर अनुरक्त होता है, इसी प्रकार इन साधुओ मे भी गुरु का शिष्य पर और शिष्य का गुरु पर गाढ अनुराग होता हे। गुरुभाइयो मे भी परस्पर रागभाव होता है। इन्होने गृहस्थी के नाते-रिश्ते छोडे, किन्तु यहा नये नाते-रिश्ते वना लिये। आसक्ति तो वैसी की वैसी वनी रही है, केवल आसक्ति के पात्र बदल गये है। फिर इनमे और गृहस्थो मे क्या अन्तर रहा ? इनका व्यवहार गृहस्थो जैसा ही तो है ! फिर ये परस्पर आसक्त होकर एक-दूसरे का उपकार भी करते हैं। जव कोई साधु वीमार हो जाता है तो ये उस रोगी साधु के प्रति अनुरागवश उसके योग्य पथ्ययुक्त आहार अन्वेपण करके लाते है और उसे देत है। यह गृहस्थ के समान व्यवहार नही तो क्या है ?

इस प्रकार परोक्षरूप से आक्षेपवचन के वाद वे प्रत्यक्षरूप से कैसे आक्षेप पर उतर आते है ? इसे ही शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

एव तुब्भे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा।
नट्ठसप्पहसब्भावा संसारस्स अपारगा ॥१०॥

सस्कृत छाया

एव यूय सरागस्था, अन्योऽन्यमनुवशा ।
नष्टसत्पथसद्भावा ससारस्यापारगा ॥१०॥

अन्वयार्थ

(एव) पूर्वोक्त प्रकार के अनुमार (तुब्भे) आप माधु लोग (सरागत्था) स्पष्टत सरागी है और (अन्नमन्नमणुव्वसा) परस्पर एक-दूसरे के वश मे रहते हैं। अत (नट्ठसप्पहसब्भावा) आप लोग सन्मार्ग और सद्भाव से रहित है, इसलिए (ससारस्स) समार को (अपारगा) पार नही कर सकते हैं।

भावार्थ

अन्यतीर्थी लोग सम्यग्दृष्टि सुविहित माधुओ पर आक्षेप करते हुए कहते है—पूर्वोक्त प्रकार से आप लोग सराग है, एक दूसरे के वशीभूत रहते

है। अत आप लोग सत्पथ और सद्भाव से रहित है। इसलिए ससार को पार नही कर सकते।

व्याख्या

सुविहित साधुओ पर प्रत्यक्ष आक्षेप

इस गाथा मे पूर्वगाथा मे उक्त परोक्ष आक्षेप को अन्यतीर्थी लोगो द्वारा किये जाने वाले प्रत्यक्ष आक्षेप के रूप मे प्रस्तुत करते है—'एव तुब्भे सरागत्था अन्नमन्नमणुव्वसा।' इससे पहली गाथा मे किये गये आक्षेप साधुओ के प्रति सीधे नही थे। वे साधुओ के विषय मे किसी अन्य के सामने कानाफूसी करते या उनकी निन्दा दूसरो के समक्ष करते है, कर्णोपकर्ण मे साधुओ के कानो मे वे आक्षेपात्मक शब्द आकर टकराते है। जबकि इस गाथा मे अन्यतीर्थियो द्वारा साधुओ पर सीधे आक्षेप पर उतर आने का वर्णन है। वे साधुओ से कहते है "अजी ! आप लोग गृहस्थो की तरह परस्पर एक दूसरे से रागभाव से बँधे हुए है, अपने और अपनो का परस्पर उपकार करते हैं, इसलिए रागयुक्त है।" रागसहित स्वभाव को सराग कहते है और सराग मे स्थित को सरागस्थ (सरागत्था) कहते हैं। फिर वे कहते है - आप काहे के साधु हैं ? आप तो परस्पर एक-दूसरे के प्रति आसक्तिवश है। जैसे गृहस्थो मे आसक्ति के कारण परस्पर अधीनता रहती है, वैसी ही आप मे है। साधु को नि सग रहना चाहिए, किसी के वश में रहना तो ठीक नही। वश मे रहना तो गृहस्थो का व्यवहार है। अत आप लोग सन्मार्ग — मोक्ष के यथार्थ मार्ग तथा सद्भाव — परमार्थ से भ्रष्ट हैं। इसलिए आप लोग चार गतियो मे भ्रमणरूप ससार को पार नही कर सकते मोक्ष को प्राप्त नही कर सकते।

पूर्वपक्ष बताकर अब इसका खण्डन करने के लिए आगामी गाथा मे कहते है—

मूल पाठ

अह ते परिभासेज्जा, भिक्खु मोक्खविसारए।
एव तुब्भे पभासता, दुपक्ख चेव सेवह ॥ ११॥

सस्कृत छाया

अथ तान् परिभाषेत भिक्षुर्मोक्षविशारद ।
एव यूय प्रभाषमाणा दुष्पक्षञ्चैव सेवध्वम् ॥११॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् (मोक्खविसारए) मोक्षविशारद—अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्ररूपणा करने मे निपुण (भिक्खु) साधु (ते) उन अन्यतीर्थियो से (परिभासेज्जा) कहे कि (एव) इस प्रकार (पभासता) कहते हुए (तुब्भे) आप लोग (दुपक्ख) दुष्पक्ष— मिथ्यापक्ष का (सेवह) सेवन करते है।

करते हैं। गृहस्थ के वर्तनो मे भोजन करने के कारण आपको परिग्रह लगता ही है तथा आप लोग आहार मे भी मूर्च्छा करते है। इसलिए अपने आपको अपरिग्रही मानना कैसे उचित कहा जा सकता है। फिर आप भिक्षा लाने मे असमर्थ रुग्ण साधु के लिए गृहस्थो के यहाँ से स्वय भिक्षा न लाकर गृहस्थो से मँगाते है, किन्तु साधु को गृहस्थो से भोजन मँगाने का अधिकार (नियम) नही हे। इसलिए गृहस्थ के द्वारा लाए हुए आहार के खाने मे जो दोष होता ह वह भी आपको जरूर लगता है। गृहस्थ लोग सचित्त बीज और कच्चे जल का उपमर्दन करके आहार बनाते हे तथा रोगी साधु के लिए तो विशेपत आहार तैयार करते हे, उस आहार को आप स्वय गृहस्थो के घरो मे जाकर करते है, तथा गृहस्थो के द्वारा लाया हुआ आहार रुग्ण साधु को देते है। इस प्रकार आप गृहस्थो द्वारा सेवा कराते हुए कच्चे जल और सचित्त बीज का उपभोग करते हैं, एव उद्दिष्ट आहार आदि का सेवन करते ह। इन सब बातो को देखते हुए नि सन्देह यह कहा जा सकता है कि आप साधुवेष मे होते हुए भी गृहस्थ पक्ष का सेवन कर रहे है। अथवा आप स्वय तो असत् आच-रण करते हैं, किन्तु सत् आचरण करने वालो की निन्दा करते है, इस कारण आप द्विपक्ष सेवी है। इस प्रकार प्राज्ञ एव मोक्षमार्ग विशारद साधु उक्त आक्षेपकर्ताओं को उत्तर दे।

मूल पाठ

लित्ता तिव्वाभितावेण, उज्भिया असमाहिया।
नातिकडूइय सेय, अरुयस्सावरज्भती ॥१३॥

सस्कृत छाया

लिप्तास्तीव्राभितापेन, उज्झिता असमाहिता।
नातिकण्डूयित श्रेयोऽरुषोऽपराध्यति ॥१३॥

अन्वयार्थ

(तिव्वाभितावेण) आप लोग तीव्र कषायो या तीव्रबन्धवाले कर्मों से (लित्ता) लिप्त (उज्झिया) सदविवेक से रहित तथा (असमाहिया) शुभ अध्यवसाय से रहित है। (अरुयस्स) घाव-व्रण का (अतिकडूइय) अधिक खुजलाना (न सेय) अच्छा नही है, (अवरज्झती) क्योकि वह दोष उत्पन्न करता है।

भावार्थ

आप लोग तीव्रकषायो या तीव्रबन्ध वाले कर्मों से लिप्त है, सद्विवेक से रहित है और शुभ अध्यवसाय से भी दूर हे। अत हमारी राय मे घाव का अत्यन्त खुजलाना अच्छा नही है। क्योकि उससे घाव मे विकार ही उत्पन्न होता है।

करते हैं। गृहस्थ के वर्तनो मे भोजन करने के कारण आपको परिग्रह लगता ही है तथा आप लोग आहार मे भी मूर्च्छा करते है। इसलिए अपने आपको अपरिग्रही मानना कैसे उचित कहा जा सकता है। फिर आप भिक्षा लाने मे असमर्थ रुग्ण साधु के लिए गृहस्थो के यहाँ से स्वय भिक्षा न लाकर गृहस्थो से मँगाते है, किन्तु साधु को गृहस्थो से भोजन मँगाने का अधिकार (नियम) नही है। इसलिए गृहस्थ के द्वारा लाए हुए आहार के खाने मे जो दोप होता है वह भी आपको जरूर लगता है। गृहस्थ लोग सचित्त वीज और कच्चे जल का उपमर्दन करके आहार वनाते है तथा रोगी साधु के लिए तो विशेपत आहार तैयार करते है, उस आहार को आप स्वय गृहस्थो के घरो मे जाकर करते है, तथा गृहस्थो के द्वारा लाया हुआ आहार रुग्ण साधु को देते हैं। इस प्रकार आप गृहस्थो द्वारा सेवा कराते हुए कच्चे जल और सचित्त वीज का उपभोग करते है, एव उद्दिष्ट आहार आदि का सेवन करते है। इन सब बातो को देखते हुए नि सन्देह यह कहा जा सकता है कि आप साधुवेष मे होते हुए भी गृहस्थ पक्ष का सेवन कर रहे है। अथवा आप स्वय तो असत् आचरण करते हैं, किन्तु सत् आचरण करने वालो की निन्दा करते है, इस कारण आप द्विपक्ष सेवी है। इस प्रकार प्राज्ञ एव मोक्षमार्ग विशारद साधु उक्त आक्षेपकर्ताओं को उत्तर दे।

मूल पाठ

लित्ता तिव्वाभितावेण, उज्झिया असमाहिया ।
नातिकडूइय सेय, अरुयस्सावरज्झती ॥१३॥

सस्कृत छाया

लिप्तास्तीव्राभितापेन, उज्झिता असमाहिता ।
नातिकण्डूयित श्रेयोऽरुषोऽपराध्यति ॥१३॥

अन्वयार्थ

(तिव्वाभितावेण) आप लोग तीव्र कपायो या तीव्रवन्धवाले कर्मो से (लित्ता) लिप्त (उज्झिया) सदविवेक से रहित तथा (असमाहिया) शुभ अध्यवसाय से रहित हैं। (अरुयस्स) घाव-व्रण का (अतिकडूइय) अधिक खुजलाना (न सेय) अच्छा नही है, (अवरज्झती) क्योकि वह दोष उत्पन्न करता है।

भावार्थ

आप लोग तीव्रकषायो या तीव्रवन्ध वाले कर्मो से लिप्त है, सद्विवेक से रहित है और शुभ अध्यवसाय से भी दूर है। अत हमारी राय मे घाव का अत्यन्त खुजलाना अच्छा नही है। क्योकि उससे घाव मे विकार ही उत्पन्न होता है।

निन्दा का रास्ता) (ण णियए) नियत—युक्तिसगत नही है (वती) आपने जो सम्यग्दृष्टि सुविहित साधुओ के लिए आक्षेपात्मक वचन कहा है, वह भी (असमिक्खा) विना विचारे कहा है, (किती) एव आप लोग जो कार्य कर रहे ह, वह भी विवेकशून्य हैं।

भावार्थ

हेय और उपादेय पदार्थो को यथार्थरूप से जानने वाला साधक जो भी वात अन्यदर्शनी आक्षेपकर्त्ताओ को बताता है, वह यथार्थ ही वताता है, अयथार्थ नही। इस दृष्टि से अन्यतीर्थियो को ईमानदारी से यथार्थ वात की शिक्षा देता हुआ कहता है—आप लोगो ने जो रवैया या रास्ता अख्तियार किया है, वह युक्तिसगत नही है। तथा आप जो सच्चरित्र साधुओ पर आक्षेप करते है, वह भी बिना विचारे करते है, एव आपका जो कार्य या व्यवहार है, वह भी विवेकरहित है।

व्याख्या

प्रेम से सच्ची और साफ-साफ बातें कहे

जो साधक त्याज्य और ग्राह्य पदार्थो का ज्ञाता है तथा रोष-द्वेषरहित होकर सत्य बातें कहने के लिए कृतप्रतिज्ञ है, वह अन्यदर्शनी लोगो से तू-तू-मैं-मैं, व्यर्थ विवाद, झगडा या वाक्कलह करने की अपेक्षा उन्हे बहुत ही मधुर शब्दो मे, नम्रतापूर्वक सच्ची और साफ-साफ बातें समझा दे—उन्हे हितकर तथा वास्तविक सत्य बातो की शिक्षा दे कि आपने जो मार्ग या रवैया अपनाया है, कि निष्किचन होने के कारण साधु को उपकरण कतई रखने नही चाहिए, इसी प्रकार परस्पर एक-दूसरे की सेवा भी नही करनी चाहिए, आपका यह रास्ता युक्तिसगत व निरापद नही है। तथा आप लोग जो यह कहते है कि जो रोगी साधु को आहार लाकर देते है, वे गृहस्थ के समान हैं, यह भी आप विना विचारे कहते है तथा आप जो कार्य या व्यवहार करते हे, वह भी विवेकशून्य है। अत आप हमारी बात पर दीर्घदृष्टि से सोचें-विचारें और वैसा करने पर आपको हमारी बात की सचाई स्वत ज्ञात हो जाएगी। हम आपके हितैषी है, द्वेषी नही। हमारा आपसे यह नम्र सुझाव है कि घाव को अत्यधिक खुजलाने की तरह बात को बतगड बनाना श्रेयस्कर नही है।

मूल पाठ

एरिसा जा वई एसा अग्गवेणु व्व करिसिता।
गिहिणो अभिहडं सेय, भुजिउ ण उ भिक्खुण ॥१५॥

सस्कृत छाया

ईदृशी या वागेपा, अग्रवेणुरिव कर्षिता ।
गृहिणोऽभ्याहृत श्रेय भोक्तु न तु भिक्षूणाम् ॥१५॥

अन्वयार्थ

(एरिसा) इस तरह की (जा) जो (वई) कथन है कि (गिहिणो अभिहडं) "गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार (भुंजिउं सेयं) साधु को खाना श्रेयस्कर है। (ण उ भिक्खुणं) किन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ नहीं," (एसा) यह बात (अग्गवेणु व्व) बांस के अग्रभाग की तरह (करिसिता) कमजोर है, वजनदार नहीं है।

भावार्थ

साधु को गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार खाना श्रेयस्कर है, किन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ आहार खाना श्रेयस्कर नहीं, इस तरह का जो आपका कथन है, वह युक्तिरहित होने के कारण बांस के अग्रभाग की तरह दमदार नहीं है।

व्याख्या

बांस के अग्रभाग की तरह युक्तिरहित पोचा कथन

इस गाथा में 'गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार सेवन करना साधु के लिए श्रेयस्कर है,' अन्यतीर्थिकों के इस वाक्य का खण्डन किया है—'एरिसा ... भिक्खुणं।' इसका आशय यह है कि अन्यतीर्थियों के इस कथन में कोई प्राचीन प्रमाण, कोई तर्कसंगत तथ्य, कोई हेतुसहित युक्ति, या कोई वजनदार प्राचीन वीतराग महर्षियों द्वारा चलायी हुई परम्परा से सम्मत नहीं है, जिसके बल पर इस बात को सिद्ध किया जा सके। इसलिए इस कथन को शास्त्रकार ने 'अग्गवेणु व्व करिसिता' कहकर बाँस के अग्रभाग की तरह दुर्बल बताया है। अर्थात् इस कथन में कोई दम नहीं है। इसलिए दम नहीं है कि गृहस्थों द्वारा साधुओं के लिए आरम्भ-समारम्भ करके बना-कर लाये हुए आहार में सरासर छह काया के जीवों का घात सम्भव है, साथ ही आधाकर्म, औद्देशिक आदि अनेक दोषों से युक्त अशुद्ध आहार होता है, जब कि साधुओं के द्वारा अनेक गृहस्थगृहों में गवेषणा करके लाया हुआ भुक्तशिष्ट आहार उद्गमादि दोषों से रहित, साधु के लिए आरम्भ-समारम्भ से वर्जित एवं अमृत भोजन होता है। भगवद्गीता में भी कहा है—"यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।" इसलिए गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार यज्ञशिष्ट नहीं, अमृत नहीं, वह तो दोषों का भण्डार होता है।

मूल पाठ

धम्मपन्नवणा जा सा, सारंभाण विसोहिआ।
ण उ एयाहिं दिट्ठीहिं, पुव्वमासिं पग्गप्पियं ॥१६॥

संस्कृत छाया

धर्मप्रज्ञापना या सा सारम्भाणा विशोधिका ।
न त्वेताभिर्दृष्टिभि पूर्वमासीत् प्रकल्पितम् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(जा धम्मपन्नवणा) 'साधुओ को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए, यह जो धर्मदेशना है, (सा) वह (सारभाण विसोहिआ) गृहस्थो को विशुद्ध करने वाली है, साधुओ को नही ।' (एयाहिं दिट्ठीहिं) इन दृष्टियो से (पुव्व) पहले (ण उ पगप्पिअ आसि) यह देशना नही की गई थी ।

भावार्थ

"साधुओ को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए, यह जो धर्म-देशना है, वह गृहस्थो को ही पवित्र करने वाली है, साधुओ को नही ।" इस अभिप्राय से पहले यह धर्म की देशना नहीं दी गई थी ।

व्याख्या

सर्वज्ञप्रदत्त धर्मदेशना का विपरीत अर्थ

इस गाथा मे सर्वज्ञप्ररूपित धर्मदेशना का जो अन्यतीर्थियो द्वारा उलटा अर्थ लगाया जाता है, उसका खण्डन किया गया है—'धम्मपन्नवणा विसोहिआ'। अर्थात्—यह जो धमदेशना है कि साधुओ को दान देकर उपकार करना चाहिए, वह गृहस्थो की ही शुद्धि करने वाली है, साधुओ की नही, क्योकि साधु तो अपने तप-सयम का आचरण करके ही शुद्ध होते है। अत दान देने का साधु को अधिकार नही है। यदि साधु भी गृहस्थो को आहारादि देने लगेगे तो उन्हे सदोप आहार स्वीकार करना पडेगा, सयम मे भी बाधा उपस्थित होगी। इस कारण साधु गृहस्थो को दान नही देते। यदि वे दान देने लगेगे तो याचको की भीड लग जाएगी। सबको दान देने से साधु की भिक्षा ही दुर्लभ हो जाएगी। वह अपनी सयममात्रा के लिए याचना करके आहार लाता है, उसमे से दान देने का अधिकार नही। देता है तो मृपावाद एव अदत्तादान का दोप लगता है। सर्वज्ञ द्वारा प्रदत्त धमदेशना के गलत अर्थ लगाये जाने का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'ण उ एयाहि पगप्पिय'। अर्थात—रोगादि अवस्था मे साधु को आहारादि लाकर देने का, साधु के प्रति उपकार गृहस्थ को ही करना चाहिए, साधुओ को परस्पर ऐसा नहीं करना चाहिए, इस प्रकार की आपकी (अन्यतीर्थियो की) विपरीत दृष्टि के अनुसार पूर्वकाल मे सर्वज्ञो ने धमदेशना नही दी थी। क्योकि सर्वज्ञ पुरुप इस प्रकार के तुच्छ या विपरीत अर्थ की प्ररूपणा नही करते। रोगी आदि साधु की एपणादि के दोपो मे उपयोग न रखने वाले असयमी पुरुप ही वैयावृत्य-सेवा करें मगर उपयोग रखने वाले सयमी साधु स्वय रोगी आदि साधु की वैयावृत्य

न करे, ऐसी दोषजनक तुच्छ देशना सर्वज्ञ की नही हो सकती। अत रोगी साधु की वैयावृत्य साधु को नही करनी चाहिए इत्यादि अन्यतीर्थियो का आक्षेप शास्त्र-विरुद्ध, युक्तिविरुद्ध एव अयथार्थ हैं। वस्तु स्थिति यह है कि आप लोग भी अपने रोगी साधु की वैयावृत्य करने के लिए गृहस्थ को प्रेरणा देते है, तथा इस कार्य का अनुमोदन करके रोगी साधु का उपकार करना अगीकार भी करते है, इसलिए आप रोगी साधु का उपकार भी करते है और इस कार्य मे द्वेष भी करते हैं। यह तो 'वदतो व्याघात' जैसा है।

मूल पाठ

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं अचयता जवित्तए ।
ततो वाय णिराकिच्चा, ते भुज्जोवि पगब्भिया ॥१७॥

संस्कृत छाया

सर्वाभिरनुयुक्तिभिरशक्नुवन्तो यापयितुम् ।
ततो वाद निराकृत्य ते भूयोऽपि प्रगल्भिता ॥१७॥

अन्वयार्थ

(सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं) समस्त युक्तियो के द्वारा (जविनए अचयता) अपने पक्ष की सिद्धि न कर सकते हुए (ते) वे अन्यतीर्थी (वाय णिराकिच्चा) वाद को छोडकर (भुज्जोवि पगब्भिया) पुन दूसरी तरह से अपने पक्ष की स्थापना करने की धृष्टता करते हैं।

भावार्थ

समस्त युक्तियो के द्वारा अन्यतीर्थी जब अपने पक्ष की स्थापना (सिद्धि) करने मे असमर्थ रहते है, तब वादविवाद को छोडकर फिर वे दूसरी तरह से स्वपक्ष की स्थापना करने की धृष्टता करते है।

व्याख्या

स्वपक्ष सिद्धि मे परास्त अन्यतीर्थी पुनः उसी धृष्टता पर

आजीवक (गोशालक) मतावलम्बी आदि अन्य मतानुयायी जब अपनी बात को सिद्ध करने के लिए तदनुसार समस्त हेतु, दृष्टान्त, प्रमाण आदि युक्तियो से एडी से लगाकर चोटी तक जोर लगा लिया, फिर भी वे अपनी बात को सिद्ध करने मे असमर्थ रहे तब वे सम्यक् हेतु और दृष्टान्तो से ओतप्रोत युक्ति-प्रमाण पुरसर वाद का मार्ग त्यागकर पुन दूसरे दुर्बल तरीके से अपने पक्ष की सिद्धि करने की धृष्टता करते हैं। जैसा कि वे कहते हैं—

पुराण मानवो धर्म, सागो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभि ॥

पुराण, मनुप्रणीत धर्मशास्त्र, सागोपाग वेद और चिकित्साशास्त्र ये चार ईश्वरीय आज्ञा से सिद्ध हैं, इसलिए तर्कों द्वारा उनका खण्डन नही किया जा सकता। तब फिर धर्म परीक्षा के लिए युक्ति, तर्क, अनुमान आदि प्रमाणो की क्या आवश्यकता है? क्योकि बहुसख्यक लोगो द्वारा स्वीकृत तथा राजा-महाराजा आदि महान् लोगो द्वारा मान्य होने से स्पष्ट है कि हमारा धर्म ही श्रेष्ठ है, दूसरा धर्म नही। हम जो बात कहते हैं, वह पुराणो आदि से सिद्ध है, फिर हमे अन्य प्रमाणो को प्रस्तुत करने की क्या जरूरत है? इस प्रकार ऊटपटाँग धृष्टतापूर्वक विवाद करते हुए अन्य तीर्थीजनो को क्या उत्तर देना चाहिए? इस सम्बन्ध मे वृत्तिकार कहते है—'ज्ञान आदि सार मे रहित बहुत-से लोग कोई बात कहते हो तो उससे कोई मतलब सिद्ध नही होता। एरड की लकडियो का ढेर गिनती मे चाहे जितनी अधिक हो, फिर भी उसकी कीमत थोडे-से चन्दन के बराबर भी नही होती। इसी तरह ज्ञान-विज्ञान से हीन पुरुषो की सख्या या उनके द्वारा दिये गए अभिमत का मूल्य थोडे-से भी ज्ञान-विज्ञान वालो के बराबर नही हो सकता। जैसे आँख वाला एक पुरुप भी सैकडो अधो मे श्रेष्ठ होता है, इसी तरह ज्ञानी पुरुप एक भी हो तो वह उन सैकडो अज्ञानियो से श्रेष्ठ होता है। जो सासारिक जीवो के बन्ध, मोक्ष तथा गति-आगति एव उनके कारणो को नही जानते, वे अज्ञमानव बहुत हो तो भी उनका अभिमत धर्म के विपय मे प्रमाण नही माना जा सकता।"[1]

जिनके पास कोई युक्तिप्रमाणपुरसर उत्तर नही होता, वे लोग इधर-उधर बगले झाँकते है या विवाद मे न टिकने पर गाली गलौज का सहारा लेते है। इसी बात को अगली गाथा मे शास्त्रकार कहते है—

मूल पाठ

रागदोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता।
आउस्से सरण जति, टकणा इव पव्वय ॥१८॥

---

१ एरडकट्ठरासी जहा य गोसीस चदनपलस्स ।
मोल्ले न होज्ज सरिसो, कित्तियमेत्तो गणिज्जतो ॥१॥
तह वि गणणातिरेगो जह रासी सो न चदनसरिच्छो ।
तह निव्विण्णाणमहाजणोवि सोज्झे विसवयति ॥२॥
एक्को सचक्खुगो जह अधलयाण सर्एहि बहुर्एहि ।
होइ वर दट्ठव्वो णहु ते बहुगा अपेच्छता ॥३॥
एव बहुगावि मूढा ण पमाण जे गइ ण जाणति ।
ससारगमणगुविल णिउणस्स य बधमोक्खस्स ॥४॥

टकण जाति के म्लेच्छ जब किसी प्रवल शक्तिशाली पुरुप की सेना द्वारा हरा कर खदेड दिये जाते है, तव वे आखिर पर्वत का ही आश्रय लेते ह, इसी प्रकार अन्यतीर्थी लोग वाद-विवाद मे परास्त हो जाते हे, तव वे और कोई उपाय अपनी खीझ उतारने का न देखकर गाली-गलौज, आक्षेप, असभ्य शब्दो की वौछार या लाठी आदि से प्रहार का ही सहारा लेने पर उतारू हो जाते हे। ऐसे समय मे उन अन्यतीर्थियो के साथ प्रत्याक्रमण या हिंसक प्रतिकार, आक्रोश आदि का आश्रय लेना सुविहित विश्ववन्धु साधु के लिए जरा भी उचित नही है। वृत्तिकार कहते है—

अक्कोस-हणण-मारण धम्मब्भसाण बालसुलभाण।
लाभ मन्नइ धीरो जहुत्तराण अभावमि ॥

अर्थात—गाली देना, मारपीट करना, प्रहार करना या धर्म भ्रष्ट करना, ये सव कार्य नादान निपट अज्ञानी बच्चो के से हैं, धीर पुरुप इन बातो का उत्तर न देना ही लाभदायी समझते है।

मूल पाठ

बहुगुणप्पगप्पाइ, कुज्जा अत्तसमाहिए ।
जेणऽन्ने णो विरुज्झेज्जा, तेण त त समायरे ॥१६॥

सस्कृत छाया

बहुगुणप्रकल्पानि कुर्यादात्मसमाधिक ।
येनाऽन्यो न विरुध्येत, तेन तत्तत् समाचरेत ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**अत्तसमाहिए**) जिनकी चित्तवृत्ति समाधियुक्त—प्रसन्न ह, वह मुनि (**बहुगुणप्पगप्पाइ**) अन्यतीर्थी के साथ विवाद के समय अनेक गुण उत्पन्न हो, इस प्रकार के अनुष्ठान (**कुज्जा**) करे। (**जेण**) जिससे (**अन्ने**) दूसरा—प्रतिपक्षी व्यक्ति (**णो विरुज्झेज्जा**) अपना विरोधी न वने, (**त त समायरे**) उस कार्य को करे।

भावार्थ

अन्यतीर्थिको के साथ विवाद करते समय प्रशान्तचित्त मुनि अपनी चित्तवृत्ति को प्रसन्न रखता हुआ ऐसे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन आदि का प्रयोग करे, जिससे अनेक गुणो—स्नेह, सद्भावना, आत्मीयता, धर्म के प्रति आकर्पण, साधुसस्था के प्रति श्रद्धा, वीतराग देवो के प्रति वहुमान (आदरभाव) को प्राप्ति हो, अथवा स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का निराकरण हो। मुनि अपना आचरण और व्यवहार ऐसा रखे, जिससे प्रतिपक्षी व्यक्ति विरोधी न वन जाए।

व्याख्या

दूसरो के साथ विवाद के समय मुनि का धर्म

पूर्वगाथा मे विवाद मे हार जाने के वाद अन्यतीर्थियो की मनोवृत्ति या वाल चेष्टा का निरूपण किया है, साथ ही विवादकारियो के दो विशेषणो द्वारा उनकी वैसी चेष्टा होने के कारण वताकर साधु को उनके साथ विवाद न करने मे ही लाभ का निर्देश ध्वनित कर दिया है। किन्तु मान लो, कोई अन्यतीर्थी साधु के साथ विवाद करने आए और वह पूर्वगाथा मे वताए हुए ढग की सी वाल चेष्टाएँ तो न करता हो, किन्तु प्रसन्नहृदय, शान्तमुनि को ऐसा प्रतीत हो कि विवाद मे प्रतिपक्षी दल हारता जा रहा है, और आत्मीयता, सद्भावना, स्नेह, मैत्री, सद्गुरु-देव-धर्म के प्रति श्रद्धा आदि गुण वढने के वजाय रोष, द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिक्रिया, घृणा, अश्रद्धा आदि दोष ही वढने की सम्भावना है, प्रतिपक्षी के मन मे धर्मादि श्रवण या आकर्षण वढने की अपेक्षा लगातार विरोधभाव, दुःख के कारण भयकर प्रतिरोध या द्वेषभाव ही वढता जा रहा है, तो वह प्रशान्तात्मा साधु क्या करे ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—'**बहुगुणप्पगप्पाइ कुज्जा ... त त समायरे**।' अर्थात्—जिन वातो से पूर्वोक्त वहुत-से गुण निष्पन्न होते हो, उसे वहुगुणप्रकल्प कहते हैं। वृत्तिकार की दृष्टि से जिन अनुष्ठानो के करने से स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष-निराकरण आदि हो, या अपने मे पक्षपातरहित मध्यस्थता आदि उत्पन्न हो, ऐसे अनुष्ठानो को वहु-गुणप्रकल्प कहते है। वह अनुष्ठान प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन आदि हैं। अथवा मध्यस्थ के समान वचन वोलना भी वहुगुणप्रकल्प है। अत प्रसन्नचित्त साधु किसी के साथ विवाद करते समय या दूसरे समय मे आत्मसमाधि-युक्त होकर पूर्वोक्त अनुष्ठानो को ही करे। अथवा जिस मध्यस्थवचन के कहने से दूसरे के चित्त मे किसी प्रकार का दुःख उत्पन्न न हो, वह-वह कार्य साधु करे। तथा धर्म को श्रवण करने आदि सद्भावो मे प्रवृत्त अन्यतीर्थी या दूसरा कोई व्यक्ति जिस अनुष्ठान या भाषण से अपना विरोधी, विद्वेषी या प्रतिक्रियावादी न वने, वह अनुष्ठान साधु करे, अथवा वैसा वचन वोले।

निष्कर्ष यह है कि अपनी चित्तसमाधि खोकर, या दूसरे मे विद्वेष या विरोध उत्पन्न करने वाला कोई भी विवाद न करे।

मूल पाठ

इम च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२०॥

सस्कृत छाया

इमञ्च धर्ममादाय काश्यपेन प्रवेदितम् ।
कुर्याद् भिक्षुर्ग्लानस्य अग्लान्या समाहित ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**कासवेण पवेइय**) काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी द्वारा कहे हुए (**इम च धम्ममादाय**) इस धर्म को स्वीकार करके (**समाहिए**) प्रसन्नचित्त (**भिक्खू**) साधु (**गिलाणस्स**) रुग्ण साधु का (**अगिलाए**) ग्लानिरहित होकर (**कुज्जा**) वैयावृत्य—सेवा करे।

भावार्थ

काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा प्रतिपादित इस धर्म को अगीकार करके प्रसन्नचित्त मुनि रोगी साधु की ग्लानिरहित होकर सेवा करे।

व्याख्या

रुग्ण साधु की सेवा प्रसन्नचित्त मुनि का धर्म

इस गाथा मे शास्त्रकार ने स्वमत-पक्ष की स्थापना करते हुए रुग्ण साधु की सेवा-शुश्रूषा करना साधु का अनिवार्य धर्म बताया है।

प्रश्न होता है कि साधु के इस सेवाधर्म का प्रतिपादन किसने और किसके लिए किया है ? इसका समाधान शास्त्रकार इसी गाथा के पूर्वार्द्ध में करते हैं—'**इम च धम्ममादाय कासवेण पवेइय**।' धम का अर्थ है—जो दुर्गति मे गिरते हुए प्राणी को धारण करके रखता और सद्गति मे स्थापन करता है। इसे केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भगवान् महावीर ने देवता, मनुष्य आदि की सभा मे सत्य अर्थ की प्ररूपणा द्वारा कहा था। उस धर्म को स्वीकार करके भिक्षाशील साधु दूसरे असमर्थ रुग्ण साधु की सेवा-शुश्रूषा करे। किस प्रकार सेवा करे ? यह बताते हैं—"स्वय ग्लानिरहित होकर तथा यथाशक्ति समाधियुक्त होकर करे।" आशय यह है कि अगर साधु स्वय समाधियुक्त होकर अग्लानभाव से रुग्ण साधु की सेवा नही करेगा, सेवा करने से जी चुराएगा तो भविष्य मे कदाचित् वह भी किसी समय रुग्ण, अस्वस्थ या अशक्त हो सकता है, उस समय उसकी सेवा से दूसरे साधु कतरायेंगे, तब उक्त साधु के मन मे असमाधिभाव उत्पन्न होगा। अत रुग्ण साधु को जिस प्रकार समाधि उत्पन्न हो, उस प्रकार से आहारादि लाकर उसे देना स्वस्थ साधु का मुख्य धर्म है।

मूल पाठ

सखाय पेसल धम्म, दिट्ठिम परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाय परिव्वएज्जाऽसि ॥२१॥

॥त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

सख्याय पेशल धर्म, दृष्टिमान् परिनिवृत ।
उपसर्गान् नियम्य, आमोक्षाय परिव्रजेद् ॥२१॥
॥इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(दिट्ठिम) पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला दृष्टिसम्पन्न (परिनिव्वुडे) रागद्वेषरहित शान्त मुनि (पेसल धम्म) उत्तम सुन्दर धर्म को (सखाय) जानकर (उवसग्गे) उपसर्गो पर (नियामित्ता) नियन्त्रण करके (आमोक्खाय) मोक्षप्राप्ति-पर्यन्त (परिव्वए) सयम का अनुष्ठान करे।

भावार्थ

पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता दृष्टिसम्पन्न रागद्वेषरहित शान्त मुनि इस उत्तम धर्म को जानकर मोक्षप्राप्ति तक सयम का अनुष्ठान करे।

व्याख्या

उपसर्गों को सहते हुए मोक्षपर्यन्त सयमपालन करे

इस गाथा मे इस उद्देशक का उपसहार करते हुए शास्त्रकार मुनि के लिए प्रेरणात्मक उपदेश देते हैं—'**सखाय पेसल धम्म आमोक्खाय परिव्वए।**' तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक जीवन मे पुरुषार्थ के धर्म और मोक्ष दो सिरे है। धर्म से पुरुषार्थ की शुरूआत होती है, और मोक्ष पुरुषार्थ की अन्तिम मजिल है। इसलिए इस गाथा मे मुनि के लिए सर्वप्रथम यह निर्देश किया गया है कि वह वीतरागप्ररूपित मुनिधर्म को सभी पहलुओ से अगोपागसहित समझे, जाने, परखे और प्रत्येक प्रवृत्ति मे धर्म की दृष्टि रखे, यानी धर्मदृष्टि या पदार्थो के वास्तविक स्वरूप को देखने की दृष्टि (सम्यग्दृष्टि) का अभ्यासी दृष्टिमान हो, तथा वीतरागतारूप धर्म की प्राप्ति के लिए राग-द्वेष से दूर, कषायनिवृत्त—शान्त हो। इस प्रकार धर्म को इस तरह रग-रग मे रमा ले कि उपसर्गो पर नियमन करने मे उसे किसी प्रकार की कठिनाई न हो। साथ ही अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गो से घबराकर अब तक आचरित किये हुए धर्म को न छोडे, यहाँ तक कि जब तक समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त न हो जाय, तब तक उस धर्ममार्ग—सयम पर डटा रहे। 'इति' शब्द समाप्तिसूचक है, 'ब्रवीमि' का अर्थ पूर्ववत् है।

॥ तृतीय अध्ययन का तृतीय उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण ॥

संस्कृत छाया

इमञ्च धर्ममादाय काश्यपेन प्रवेदितम् ।
कुर्याद् भिक्षुर्ग्लानस्य अग्लान्या समाहित ॥२०॥

अन्वयार्थ

(कासवेण पवेइय) काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी द्वारा कहे हुए **(इम च धम्ममादाय)** इस धर्म को स्वीकार करके **(समाहिए)** प्रसन्नचित्त **(भिक्खू)** साधु **(गिलाणस्स)** रुग्ण साधु का **(अगिलाए)** ग्लानिरहित होकर **(कुज्जा)** वैयावृत्य—सेवा करे।

भावार्थ

काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा प्रतिपादित इस धर्म को अगीकार करके प्रसन्नचित्त मुनि रोगी साधु की ग्लानिरहित होकर सेवा करे।

व्याख्या

रुग्ण साधु की सेवा प्रसन्नचित्त मुनि का धर्म

इस गाथा मे शास्त्रकार ने स्वमत-पक्ष की स्थापना करते हुए रुग्ण साधु की सेवा-शुश्रूपा करना साधु का अनिवार्य धर्म बताया है।

प्रश्न होता है कि साधु के इस सेवाधर्म का प्रतिपादन किसने और किसके लिए किया है ? इसका समाधान शास्त्रकार इसी गाथा के पूर्वार्द्ध मे करते है—'**इम च धम्ममादाय कासवेण पवेइय।**' धम का अर्थ है—जो दुगति मे गिरते हुए प्राणी को धारण करके रखता और सद्गति मे स्थापन करता है। इसे केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भगवान् महावीर ने देवता, मनुष्य आदि की सभा मे सत्य अर्थ की प्ररूपणा द्वारा कहा था। उस धर्म को स्वीकार करके भिक्षाशील साधु दूसरे असमर्थ रुग्ण साधु की सेवा-शुश्रूपा करे। किस प्रकार सेवा करे ? यह बताते है—"स्वय ग्लानिरहित होकर तथा यथाशक्ति समाधियुक्त होकर करे।" आशय यह है कि अगर साधु स्वय समाधियुक्त होकर अग्लानभाव से रुग्ण साधु की सेवा नही करेगा, सेवा करने से जी चुराएगा तो भविष्य मे कदाचित् वह भी किसी समय रुग्ण, अस्वस्थ या अशक्त हो सकता ह, उस समय उसकी सेवा से दूसरे साधु कतरायेंगे, तब उक्त साधु के मन मे असमाधिभाव उत्पन्न होगा। अत रुग्ण साधु को जिस प्रकार समाधि उत्पन्न हो, उस प्रकार से आहारादि लाकर उसे देना स्वस्थ साधु का मुख्य धम है।

मूल पाठ

सखाय पेसल धम्म, दिट्ठिम परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाय परिव्वएज्जाऽसि ॥२१॥

॥त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

सख्याय पेशल धर्म, दृष्टिमान् परिनिवृत ।
उपसर्गान् नियम्य, आमोक्षाय परिव्रजेद् ॥२१॥
॥इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(दिट्ठिम) पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला दृष्टिसम्पन्न (परिनिव्वुडे) रागद्वेषरहित शान्त मुनि (पेसल धम्म) उत्तम सुन्दर धर्म को (सखाय) जानकर (उवसग्गे) उपसर्गो पर (नियामित्ता) नियन्त्रण करके (आमोक्खाय) मोक्षप्राप्ति-पर्यन्त (परिव्वए) सयम का अनुष्ठान करे ।

भावार्थ

पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता दृष्टिसम्पन्न रागद्वेपरहित शान्त मुनि इस उत्तम धर्म को जानकर मोक्षप्राप्ति तक सयम का अनुष्ठान करे।

व्याख्या

उपसर्गों को सहते हुए मोक्षपर्यन्त सयमपालन करे

इस गाथा मे इस उद्देशक का उपसहार करते हुए शास्त्रकार मुनि के लिए प्रेरणात्मक उपदेश देते हैं—'सखाय पेसल धम्म आमोक्खाय परिव्वए ।' तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक जीवन मे पुरुषार्थ के धर्म और मोक्ष दो सिरे है । धर्म मे पुरुषार्थ की शुरूआत होती है, और मोक्ष पुरुषार्थ की अन्तिम मजिल है । इसलिए इस गाथा मे मुनि के लिए सर्वप्रथम यह निर्देश किया गया है कि वह वीतरागप्ररूपित मुनिधर्म को सभी पहलुओ से अगोपागसहित समझे, जाने, परखे और प्रत्येक प्रवृत्ति मे धर्म की दृष्टि रखे, यानी धर्मदृष्टि या पदार्थो के वास्तविक स्वरूप को देखने की दृष्टि (सम्यग्दृष्टि) का अभ्यासी दृष्टिमान हो, तथा वीतरागतारूप धर्म की प्राप्ति के लिए राग-द्वेष से दूर, कषायनिवृत्त—शान्त हो। इस प्रकार धर्म को इस तरह रग-रग मे रमा ले कि उपसर्गो पर नियमन करने मे उसे किसी प्रकार की कठिनाई न हो । साथ ही अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों से घबराकर अब तक आचरित किये हुए धर्म को न छोड़े, यहाँ तक कि जब तक समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त न हो जाय, तब तक उस धर्ममार्ग—सयम पर डटा रहे। 'इति' शब्द समाप्तिसूचक है, 'ब्रवीमि' का अर्थ पूर्ववत् है ।

॥ तृतीय अध्ययन का तृतीय उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण ॥

तृतीय अध्ययन : चतुर्थ उद्देशक

उपसर्ग-स्थैर्य अधिकार

पूर्व उद्देशको मे अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गो का वर्णन किया गया है। इन उपसर्गो के द्वारा कदाचित् साधु विचार-आचार से भ्रष्ट हो सकता है। अत इस उद्देशक मे उपसर्ग मे स्थिरता का उपदेश दिया जाता है। इस सन्दर्भ मे सर्वप्रथम गाथा यह है—

मूल पाठ

आहमु महापुरिसा पुव्वि तत्ततवोधणा ।
उदएण सिद्धिमावन्ना तत्थ मदो विसीयति ॥१॥

सस्कृत छाया

आहुर्महापुरुषा पूर्व तप्ततपोधना ।
उदकेन सिद्धिमापन्नास्तत्र मन्दो विपीदति ॥१॥

अन्वयार्थ

(आहसु) कोई अज्ञानी कहते है कि (पुव्वि) प्राचीनकाल मे (तत्ततवोधणा) तप करना ही जिनका धन है ऐसे तपेतपाए तपोधनी (महापुरिसा) महापुरुप (उदएण) कच्चेपानी का सेवन करके (सिद्धिमावन्ना) मुक्ति को प्राप्त हो गये थे। (मदो) बुद्धिमद अपरिपक्व बुद्धि का साधक यह सुनकर (तत्थ) शीत (कच्चे) जल के सेवन आदि मे (विसीयति) प्रवृत्त हो जाता है।

भावार्थ

कई अज्ञानी पुरुप कहते है कि प्राचीनकाल मे तपेतपाए तपोधन महापुरुपो ने शीतल (कच्चे) जल का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त की थी, अपरिपक्व बुद्धि का साधक यह सुनकर शीतल जल के सेवन आदि मे प्रवृत्त हो जाता है।

व्याख्या

शीतोदकसेवन से मोक्षप्राप्ति एक भ्रान्ति

इस अध्ययन का नाम उपसर्गपरिज्ञा है। अत उपसर्ग आने पर साधक

कैसे गाफिल हो जाता है, किस-किस प्रकार की भ्रान्ति में डालने वाले उपसर्ग आते हैं और साधक उनके प्रवाह में कैसे बह जाता है ? इन बातों का संक्षिप्त दिग्दर्शन इस उद्देशक में कराया गया है।

इस गाथा में बताया गया है कि शीत-उदक के सेवन से प्राचीन काल के कई तपोधनी महापुरुषों को मोक्ष हो गया था, इस प्रकार की अफवाहें परमार्थ को न जानने वाले अज्ञानियों द्वारा फैलाई जाती हैं और उनके चक्कर में कई कच्ची स्थूलबुद्धि के साधक आ जाते हैं तथा उसी भ्रान्ति के शिकार होकर शीतलजल सेवन में प्रवृत्त हो जाते हैं। उन अफवाह फैलाने वाले अज्ञ पुरुषों का कहना है कि प्राचीन काल में वल्कलचीरी नारायण ऋषि आदि महापुरुषों ने तपरूपी धन का अनुष्ठान किया था, तथा पचाग्नि सेवन आदि तपश्चर्याओं के द्वारा देह को खूब तपाया था। उन महापुरुषों ने शीतल (कच्चे) जल तथा कद-मूल, फल आदि का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त कर ली थी।

इस बात को सुनकर तथा सत्य मानकर प्रासुक जल पीने से तथा स्नान न करने से घबराया हुआ कोई अपरिपक्व बुद्धि साधक सयमाचरण में दु ख महसूस करता है अथवा वह पूर्वापर का विचार किये बिना झटपट शीतलजल का उपयोग करने लग जाता है। वे मदमति यह नही सोचते कि वे लोग तापस आदि के व्रतों का पालन करते थे। उन्हे किसी कारणवश जातिस्मरण ज्ञान होने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई थी। और मौनीन्द्र सम्बन्धी भाव-सयम की प्राप्ति होने से उनके ज्ञानावरणीय आदि कर्म नष्ट हो गये थे। इस कारण से भरत चक्रवर्ती आदि के समान उन्हे मोक्ष प्राप्त हुआ था, किन्तु शीतल जल का उपभोग करने से नही।

अपरिपक्वबुद्धि के साधक को इस प्रकार की भ्रान्ति के शिकार बनकर अपनी सयमचर्या में झटपट रद्दोबदल नही करना चाहिए, यह सकेत शास्त्रकार ने इस गाथा मे ध्वनित कर दिया है।

मूल पाठ

अभुजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुजिआ।
बाहुए उदग भोच्चा तहा नारायणे रिसी ॥२॥
आसिले देविले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दग भोच्चा बीयाणि हरियाणि य ॥३॥
एते पुव्व महापुरिसा आहिता इह समता।
भोच्चा बीओदग सिद्धा इति मेयमणुस्सुअ ॥४॥

तत्थ मंदा विसीयंति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पिट्ठसप्पी य संभमे ॥५॥

संस्कृत छाया

अभुक्त्वा नमिर्वैदेही, रामगुप्तश्च भुक्त्वा ।
बाहुक उदकं भुक्त्वा, तथा नारायण ऋषि ॥२॥
आसिलो देवलश्चैव, द्वैपायनो महाऋषि ।
पराशर उदकं भुक्त्वा बीजानि हरितानि च ॥३॥
एते पूर्वं महापुरुषा आख्याता इह सम्मता. ।
भुक्त्वा बीजोदकं सिद्धा इति मयानुश्रुतम् ॥४॥
तत्र मन्दा विषीदन्ति, बाहच्छिन्ना इव गर्दभा ।
पृष्ठत परिसर्पन्ति, पृष्ठसर्पी च सभ्रमे ॥५॥

अन्वयार्थ

(नमी विदेही अभुंजिया) विदेह देश के राजा नमिराज ने आहार छोड करके (य) और (रामगुत्ते) रामगुप्त ने (भुंजिया) आहार खाकर, तथा (बाहुए) बाहुक ने (तहा) तथा (नारायणे रिसी) नारायण ऋषि ने (उदगभोच्चा) शीतल जल का सेवन करके सिद्धिलाभ किया था।

(आसिले) आसिल ऋषि, (देविले) देवलऋषि (महारिसी दीवायण) तथा महर्षि द्वैपायन एवं (पारासरे) पाराशर ऋषि इन लोगो ने (दगबीयाणि हरियाणि भोच्चा) शीतलजल, बीज एव हरी वनस्पतियो का उपभोग करके मोक्ष पाया था।

(पुव्व) प्राचीन काल मे (एतेमहापुरिसा) ये महापुरुष (आहिया) समस्त विश्व मे विख्यात थे (इह) तथा इस जैन आगम मे भी (सम्मता) सम्मत—मान्य हैं। (बीओदग भोच्चा) इन महापुरुषो ने बीज और सचित्त जल का उपभोग करके (सिद्धा) मोक्ष प्राप्त किया था। (इति) यह (मेयमणुस्सुअ) मैंने (महाभारत आदि मे) परम्परा से सुना है।

(तत्थ) इस प्रकार की भ्रान्तिजनक दुःशिक्षा के उपसर्ग होने पर (मंदा) कच्ची बुद्धि के मद साधक (वाहच्छिन्ना) भार से पीडित (गद्दभा व) गधो की तरह (विसीयंति) संयमभार वहन करने मे दुःख महसूस करते हैं। (संभमे) जैसे अग्नि आदि का उपद्रव होने पर (पिट्ठसप्पी) लकडी के टुकडे की सहायता से चलने वाला पैरो से रहित पुरुष (लॅंगडा) (पिट्ठतो) भागने वाले लोगो के पीछे-पीछे (परिसप्पंति) चलता है। उसी तरह वह मंदमति भी संयम मे सबसे पीछे हो जाता है, अथवा उक्त लालबुझक्कडो का पिछलग्गू बन जाता है।

भावार्थ

कोई अज्ञानी पुरुष अपरिपक्व बुद्धि के साधु को सयम भ्रष्ट करने के लिए कहता है—अजी, विदेहदेश के शासक नमिराजा ने आहार किये विना सिद्धि प्राप्त की थी तथा रामगुप्त ने आहार करके मुक्ति पाई थी, एव वाहुक ने शीतल जल पीकर सिद्धि प्राप्त की थी और नारायण ऋषि ने शीतोदक पीकर मोक्ष पाया था।

आसिल ऋषि, देवलऋषि, महर्षि द्वैपायन एव पाराशर ऋषि ने शीतल जल, वीज और हरी वनस्पतियाँ सेवन करके मोक्ष प्राप्त किया था।

कोई अन्यतीर्थी सुसाधुओ को सयम से पतित करने के लिए उनसे कहता है—अजी, सुनो तो सही, पूर्वकाल मे हुए ये महापुरुष जगत्प्रसिद्ध थे और जैन आगमो मे भी इन्हे माना गया है। इन लोगो ने तो शीतल जल और वीज का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त की थी।

मिथ्यादृष्टि लालवुझक्कडो की पूर्वोक्त भ्रान्तिजनक वाते सुनकर अपरिपक्व बुद्धि के कई मूढ साधक सयम-पालन मे इस प्रकार दु ख का अनुभव करते है, जैसे वोझ से पीडित गधे उस भार को लेकर चलने मे दु ख का अनुभव करते है। तथा जैसे लकडी के टुकडो को हाथ मे पकडकर सरक-सरक कर चलने वाला लगडा मनुष्य आग आदि का उपद्रव होने पर तेजी से भागने मे असमर्थ होने से भागने वालो के पीछे-पीछे चलता है, इसी तरह सयम पालन करने मे दु ख अनुभव करने वाले वे मदपराक्रमी साधक उत्साहपूर्वक शीघ्रता से मोक्ष की ओर दौड लगाने मे असमर्थ होने से सयम पालन करने वालो के पीछे-पीछे रेगते हुए—रोते-झीकते मदगति से चलते हैं। अत ऐसे लोग मोक्ष तक न पहुँचकर रास्ते मे ही ससार की रगीनियो मे भटकते रहते हैं।

व्याख्या

अपरिपक्वबुद्धि साधु भ्रान्ति-उत्पादको के चक्कर मे

इस उद्देशक की प्रथम गाथा मे प्राचीन तपोधनी महापुरुषो की दुहाई देकर कच्ची बुद्धि के साधको को सयम से डिगाने की वात—उपसर्ग के सन्दर्भ मे कही गयी थी। दूसरी गाथा से पाँचवी गाथा तक भी उसी के अनुसन्धान मे बताया गया है कि ये भ्रान्तिउत्पादक अन्यतीर्थिक या बुद्धिप्रवञ्चक लोग विभिन्न ऋषियो के नाम ले-लेकर उनकी दुहाई देकर किस-किस तरह से कच्चे सुसाधक को पथभ्रष्ट कर देते हैं ? वे कहते हैं - देखो, जो लोग कहते हैं कि कच्चे शीतल जल पीने वालो को तथा सचित्त बीज एव हरी वनस्पति खाने वाले साधको को मुक्ति नही मिल सकती, वे लोग आँखें खोलकर महाभारत आदि पुराण पढें। उनमे स्पष्ट लिखा है—वैदेही नमिराज ने आहारादि का त्याग करके, रामगुप्त ने आहार सेवन करके तथा वाहुक

एव नारायणऋषि ने शीतलजल का सेवन करके मुक्ति प्राप्त की थी। आसिल, देवल, महर्षि द्वैपायन एव पाराशर तो कच्चा पानी, बीज एव हरी वनस्पतियाँ सेवन करके भी मोक्ष पा सके थे। ये सब महापुरुष समस्त भूमण्डल मे विख्यात थे, जैन-आगमो मे भी ये माने गये है, ये लोग ठडे जल और बीज का उपभोग करके सिद्ध हुए है, यह मैने महाभारत आदि पुराणो से सुना है, अथवा अपनी सघीय प्राचीन परम्परा से सुना है। ऐसे कोई कुतीर्थिक अथवा अपने सघ के लोग अपरिपक्व साधुओ को फुसलाकर उन्हे सयमपालन मे शिथिल कर देते है, अथवा सयमभ्रष्ट कर देते हैं।

अपरिपक्व एव स्थूल बुद्धि वाले साधक अथवा सयम की कठोर चर्या के पालन मे दु ख अनुभव करने वाले साधक इन और ऐसे ही अन्य भ्रान्ति-उत्पादको या भ्रान्तिजनक दु शिक्षको के चक्कर मे पडकर झटपट शीतलजल के सेवन आदि सयम-विरुद्ध प्रवृत्ति मे पडने का फैसला कर लेते ह। ऐसे बहकाने या फुसलाने वाले लोग इस ढग से मीठी-मीठी बातें करके और पुराणो मे वर्णित कुछ तापसो के जीवन की तथा मोक्षलाभ की दुहाई देते है, जिससे अदूरदर्शी भोलाभाला साधक उनके चक्कर मे आ जाता है। ऐसे लोगो के कुचक्र मे पडकर वे अपने सयम को कैसे खो बैठते है ? यह बात पाँचवी गाथा मे स्पष्ट की है **'तत्थ मदा विसीयति पिट्ठसप्पी य सभमे।'**

आशय यह है कि ऐसे लालबुझक्कडो के वाग्जाल मे फँसना भी एक बहुत बडा उपसर्ग है। और भोले-भाले मदपराक्रमी साधक ऐसे उपसर्ग आने पर बहुत जल्दी फिसल जाते है। ऐसे फिसड्डी साधको की मनोवृत्ति को दो दृष्टान्तो द्वारा समझाया गया है—ऐसे सयमभार को सहन करने मे पीडा अनुभव करने वाले मूर्ख साधक इसी प्रकार तीव्र दु ख अनुभव करते है, जिस प्रकार बोझे से पीडित गधे चलने मे दु ख महसूस करते हैं। अथवा ऐसे सयम मे शिथिल एव हतोत्साह साधक लकडी के टुकडो को हाथ मे लेकर अग्निकाण्ड आदि का आतक उपस्थित होने पर भागने वालो के पीछे-पीछे सरक-सरककर चलने वाले उस लँगड की तरह है, जो तेजी से सरपट मोक्ष की ओर दौड लगाने वाले साधको के पीछे-पीछे रेगते हुए रोते-पीटते बेमन से चलते है। ऐसे कच्चीबुद्धि के साधक ठेठ मोक्ष तक नहीं पहुँच पाते ह, किन्तु बीच मे ही विषयसुखो की भूलभुलैया मे फँसकर ससार मे परिभ्रमण करते रहते हैं।

वे मदमति बुरी शिक्षा देकर झटपट बहका देने वाली मिथ्यादृष्टियो की प्ररूपणारूप उपसर्ग के उदय होने पर सयमपालन मे तो पीडा महसूस करते ह, किन्तु रोते-पीटते निरुत्साहित होकर सयम पालकर दीर्घकाल तक सासारिक परिभ्रमण के महादु ख का ख्याल नही करते। वे मूढ यह नही जानते कि जिन लोगो को भी मोक्ष की प्राप्ति हुई थी, उन्हे किसी कारणवश जातिस्मरणज्ञान के उदय होने से

एव नारायणऋषि ने शीतलजल का सेवन करके मुक्ति प्राप्त की थी। आसिल, देवल, महर्षि द्वैपायन एव पाराशर तो कच्चा पानी, बीज एव हरी वनस्पतियाँ सेवन करके भी मोक्ष पा सके थे। ये सब महापुरुष समस्त भूमण्डल मे विख्यात थे, जैन-आगमो मे भी ये माने गये है, ये लोग ठडे जल और बीज का उपभोग करके सिद्ध हुए है, यह मैने महाभारत आदि पुराणो से सुना है, अथवा अपनी सघीय प्राचीन परम्परा से सुना है। ऐसे कोई कुतीर्थिक अथवा अपने सघ के लोग अपरिपक्व साधुओ को फुसलाकर उन्हे सयमपालन मे शिथिल कर देते है, अथवा सयमभ्रष्ट कर देते है।

अपरिपक्व एव स्थूल बुद्धि वाले साधक अथवा सयम की कठोर चर्या के पालन मे दु ख अनुभव करने वाले साधक इन और ऐसे ही अन्य भ्रान्ति-उत्पादको या भ्रान्तिजनक दु शिक्षको के चक्कर मे पडकर झटपट शीतलजल के सेवन आदि सयम-विरुद्ध प्रवृत्ति मे पडने का फैसला कर लेते है। ऐसे बहकाने या फुसलाने वाले लोग इस ढग से मीठी-मीठी बातें करके और पुराणो मे वर्णित कुछ तापसो के जीवन की तथा मोक्षलाभ की दुहाई देते है, जिससे अदूरदर्शी भोलाभाला साधक उनके चक्कर मे आ जाता है। ऐसे लोगो के कुचक्र मे पडकर वे अपने सयम को कैसे खो बैठते है? यह बात पाँचवी गाथा मे स्पष्ट की है **'तत्थ मदा विसीयति पिट्ठसप्पी य सभमे।'**

आशय यह है कि ऐसे लालबुझक्कडो के वाग्जाल मे फँसना भी एक बहुत बडा उपसर्ग है। और भोले-भाले मदपराक्रमी साधक ऐसे उपसर्ग आने पर बहुत जल्दी फिसल जाते है। ऐसे फिसड्डी साधको की मनोवृत्ति को दो दृष्टान्तो द्वारा समझाया गया है—ऐसे सयमभार को सहन करने मे पीडा अनुभव करने वाले मूर्ख साधक इसी प्रकार तीव्र दु ख अनुभव करते है, जिस प्रकार बोझे से पीडित गधे चलने मे दु ख महसूस करते हैं। अथवा ऐसे सयम मे शिथिल एव हतोत्साह साधक लकडी के टुकडो को हाथ मे लेकर अग्निकाण्ड आदि का आतक उपस्थित होने पर भागने वाला के पीछे-पीछे सरक-सरककर चलने वाले उस लगड की तरह है, जो तेजी से सरपट मोक्ष की ओर दौड लगाने वाले साधको के पीछे-पीछे रेगते हुए रोते-पीटते बेमन से चलते है। ऐसे कच्चीबुद्धि के साधक ठेठ मोक्ष तक नही पहुँच पाते है, किन्तु बीच मे ही विषयसुखो की भूलभुलैया मे फँसकर ससार मे परिभ्रमण करते रहते है।

वे मदमति बुरी शिक्षा देकर झटपट बहका देने वाली मिथ्यादृष्टियो की प्ररूपणारूप उपसर्ग के उदय होने पर सयमपालन मे तो पीडा महसूस करते है, किन्तु रोते-पीटते निरुत्साहित होकर सयम पालकर दीर्घकाल तक सासारिक परिभ्रमण के महादु ख का ख्याल नही करते। वे मूढ यह नही जानते कि जिन लोगो को भी मोक्ष की प्राप्ति हुई थी, उन्हे किसी कारणवश जातिस्मरणज्ञान के उदय होने से

व्याख्या

सुख से सुख की प्राप्ति की मान्यता आर्यमार्ग के विरुद्ध है

इस गाथा मे तथागत बुद्ध के बाद बौद्धभिक्षुओ द्वारा प्रवर्तित 'सुख से सुख की प्राप्ति होती है'—इस भ्रान्त मान्यता का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके निराकरण किया गया है। यह भ्रान्त मान्यता यहाँ उपसर्ग के सन्दर्भ मे इसलिए प्रस्तुत की गयी है कि वहुत-से अल्पपराक्रमी एव सयमचर्या मे शिथिल साधक इस भ्रान्तमान्यतारूपी उपसर्ग के शिकार हो जाते है और परमशान्तिदायक ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप वीतराग प्रतिपादित आर्य—मोक्षमार्ग को छोड वैठते है—**'जे तत्थ आरिय मग्ग परम च समाहिए।'**

मोक्षप्राप्ति के विचार प्रसग मे बौद्ध तथा लोच आदि से पीडित कोई स्वयूथिक यह कहते है कि सुख से ही सुख प्राप्त होता है। जैसा कि वे कहते हैं—

सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि, सर्वाणि दु खाच्च समुद्विजन्ते।
तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि॥

अर्थात्—सभी प्राणी सुख मे रत रहते हैं और सभी दु ख से डरते है। इसलिए सुख चाहने वाले पुरुप को सुख ही देना चाहिए। क्योकि सुख देने वाला ही सुख पाता है।

'सात सातेण' युक्ति का आधार लेकर बौद्ध मानते है कि 'कारण के अनु रूप ही कार्य होता है।' जिस प्रकार शालिधान के वीज से शालि का ही अकुर उत्पन्न होता है, जौ का अकुर नही, उसी प्रकार इस लोक के सुख से ही परलोक मुक्ति का सुख मिल सकता है, किन्तु लोच आदि दु ख से मुक्ति नही मिलती। जैसा कि बौद्धागम मे भी कहा है—

मणुण्ण भोयण भोच्चा, मणुण्ण सयणासण।
मणुण्णसि अगारसि, मणुण्ण झायए मुणी॥

अर्थात्—मुनि को मनोज्ञ भोजन करके मनोज्ञ शय्या और आसन का सेवन करके मनोज्ञ घर मे सुखभोग करना चाहिए। तथा मनोज्ञ पदार्थ का ही ध्यान (चिन्तन) करना चाहिए।[1]

इसके अतिरिक्त बौद्धभिक्षुओ की दिनचर्या बताते हुए भी इसी वात का समर्थन किया है, और इसी सुखयुक्त दिनचर्या से मुक्तिप्राप्ति मानी गयी है—

---

१ ये उल्लेख शीलाकाचार्य ने किस ग्रन्थ से किये है, यह अज्ञात है। यदि यह किसी बौद्ध ग्रन्थ से उद्धत किया गया है तो और भी महत्त्वपूर्ण है, यह असम्भव भी नही। उत्तरकाल मे बौद्धो ने भी अपना साहित्य प्राकृत भाषा मे निवद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था। 'धम्मपद' इसका प्रमाण है।

मृद्वी शय्या, प्रातरुत्थाय पेया, भक्त मध्ये पानक चापराह्णे ।
द्राक्षाखण्ड शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्ट ॥

अर्थात्—भिक्षु को मुलायम शय्या पर सोना चाहिए और प्रात काल उठकर दुग्ध आदि पदार्थ पीना चाहिए। एव दोपहर मे भोजन (भात आदि का) करना चाहिए, सायकाल मे फिर कोई शरबत, दूध आदि पेय पदार्थ पीना चाहिए। उसके बाद आधीरात मे द्राक्षा (किशमिश) और मिश्री खाना चाहिए। इस प्रकार की सुखपूर्वक दिनचर्या से अन्त मे शाक्यपुत्र (तथागत बुद्ध) ने मोक्ष देखा है।[1]

"मनोज्ञ आहार, विहार आदि करने से चित्त मे प्रसन्नता उत्पन्न होती है। चित्त प्रसन्न होने पर एकाग्रता पैदा होती है और एकाग्रता से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सुख से ही सुख की प्राप्ति (सात सातेण विज्जती) होती है, परन्तु लोच आदि कायाकष्ट से कदापि मुक्ति नही हो सकती।"

इस प्रकार की प्ररुपणा करने वाले बौद्ध आदि का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके शास्त्रकार ने इसका खण्डन किया है—'**जे तत्थ आरिय मग्ग ·· परम च समाहिए।**'

---

१ बौद्धसाधुओ का यह आचार निश्चय ही उत्तरकालीन बौद्धभिक्षुओ का आचार रहा होगा। जिसका उल्लेख शीलाकाचार्य ने इस सूत्र की वृत्ति मे विशेष रूप से किया है। यह नौवी-दसवी सदी के बौद्धजीवन का आँखो देखा वर्णन भी हो सकता है। उस समय बौद्धधर्म व दर्शन विकृत हो गया था। अत यह आचार असम्भव नही। थेरगाथा मे भविष्य के भिक्षुओ की आस्था व दिनचर्या का वर्णन मिलता है, जो इसी से मिलता-जुलता है। सम्भव है, थेरगाथा के प्रणयनकाल मे बौद्धभिक्षुओ मे यह शिथिलता आ चुकी होगी, जिसकी चरमपरिणति का आभास यहाँ प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि थेरगाथा मे वर्णन है—

अञ्ञथा लोयनाथम्हि तिट्ठन्ते पुरिसुत्तमे।
इरिय असि भिक्खून अञ्ञथा दानिदिस्सति ॥ थेरगाथा ९२१
सब्बासपवरिक्खीणा महाझायी महाहिता ।
निब्बुता दानि ते थेरा परित्ता दानि तादिसा ॥ थेरगाथा ९२८

अर्थात्—पुरुषोत्तम बुद्ध के रहते भिक्षुओ की चर्या दूसरी थी, पर अब कुछ और ही हो गयी है। पहले के भिक्षु अधिक नम्र और कर्मास्रव को दूर करते थे, महान् ध्यानी थे, स्वपरहित मे तत्पर रहते थे। पापो से निवृत्त रहते थे। परन्तु इस समय वैसे भिक्षु बहुत ही अल्प है।

आर्यमार्ग, जो कि परम समाधि से युक्त है, आर्य का अर्थ है—जो समस्त त्याज्य बातो से दूर हो। ऐसा जो मार्ग है, वह आर्यमार्ग है। अर्थात् जो जैनेन्द्र-शासनप्रतिपादित परमशान्ति का उत्पादक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष का मार्ग– आर्यमार्ग है। यह आर्यमार्ग ही मोक्षसुख का कारण है, एकान्त शान्ति का उत्पादक है, इससे बढकर सुख का मार्ग और कौन-सा हो सकता है ? मनोज्ञ आहार आदि को जो सुख का कारण कहा है, यह भी ठीक नही। क्योकि मनोज्ञ आहार से कभी-कभी हैजा (विशूचिका) आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते है, इसलिए मनोज्ञ आहार एकान्तरूप से सुख का कारण नही है। वास्तव मे देखा जाय तो विपयजन्य सुख दु ख के प्रतिकार का हेतु होने से वह सुख का आभासमात्र है, वास्तविक सुख नही है। वह तो दु ख का ही कारण होता है। वैपयिक सुख मे दु खो का मिश्रण रहता है, अत वह विपमिश्रित भोजन के समान वस्तुत दु खरूप ही है। मूढपुरुप ही उसे सुख मानते ह। जो सुख इन्द्रिय या पदार्थो के आश्रित है, वह पराधीन है। इन्द्रियो के विकृत हो जाने या पदाथो के मिलने, न मिलने पर आधारित होने से पराधीन है, दु खरूप है। त्याग, तप, वैराग्य, ध्यान, साधना एव भोजन आदि की परतन्त्रता से मुक्ति आदि स्वाधीन सुखात्मक है। अत दु खरूप, इन्द्रियविपयो को सुखरूप मानना मृगमरीचिका के समान सुखभ्रम है। कहा भी है—

दु खात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमान , सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दु खबुद्धि ।
उत्कीर्णवर्णपदपंक्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥

—अज्ञानी विवेकमूढ व्यक्तियो की गति, मति व दृष्टि कैसी विपरीत होती है ? यह देखिये—जो पचेन्द्रियविपय दु खरूप है, उन्हे वे सुखरूप मानते है, और जो यम, नियम, तप, सयम आदि सुखरूप है, उन्हे दु खरूप समझते है। जैसे किसी धातु पर खुदे हुए अक्षरो की पक्ति अकित की जाती है, तो वह देखने पर उलटी दिखाई देती है, लेकिन जब उसे मुद्रित किया जाता है, तब वह सीधी हो जाती है। इसी तरह ससारी जीवो की सुख-दु ख के विपय मे उलटी समझ होती है। विपयभोग को दु ख और नियमादि को सुख समझने से उनका रूप ठीक प्रतीत होता है। अत दु खरूप विपयभोग परमानन्दस्वरूप एकान्तिक और आत्यन्तिक मोक्ष सुख का कारण कैसे हो सकता है ? तथा केश का लुचन, पृथ्वी पर शयन, भिक्षा माँगना, दूसरे द्वारा किया गया अपमान सहन करना, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, दशमशक आदि परीपह-सहन आदि को जो दु ख का कारण वताया है, वह भी उनके लिए है, जो लोग परमार्थदर्शी नही हैं अत्यन्त दुर्बल हृदय है, परन्तु जो महान् दृढधर्मी साधक हैं, परमार्थदर्शी है, आत्मस्वभाव मे लीन हैं, स्वपरकल्याण मे प्रवृत्त है, उनके लिए ये सब साधनाएँ दु खरूप नही हैं, वल्कि आत्मस्वाधीनतारूप सुख की जननी हैं। उनकी महान् शक्ति के प्रभाव से ये सब सुखसाधनस्वरूप हैं, दु खरूप नही। अत सम्यग्ज्ञान-

पूर्वक की हुई साधना, सयमपालन, परीषहसहन, तप, ध्यान आदि सब मोक्षसुख के साधन है। परमार्थचिन्तक महापुरुष के लिए कष्ट भी सुख का कारण है, दुःखदायक नही। कहा भी है—

> तणसथारनिविण्णोवि मुनिवरो भट्ट रागमयमोहो।
> ज पावइ मुत्तिसुह, कत्तो त चक्कवट्टी वि ?

अर्थात्—राग, मद और मोह से रहित मुनि तृण की शय्या पर सोता हुआ भी जिस परमानन्दरूप मुक्तिसुख का अनुभव करता है, वह चक्रवर्ती के भी भाग्य म नसीब कहाँ ?

> दु ख दुष्कृतसक्षयाय महता क्षान्ते पद वैरिण,
> कायस्याशुचिता विरागपदवी सवेगहेतुर्जरा ।
> सर्वत्याग महोत्सवाय मरण, जाति सुहृत्प्रीतये,
> सपद्भि परिपूरित्त जगदिद स्थान विपत्ते कुत ?

अर्थात्—दु ख होने से महान् व्यक्ति दु खित नही होते। वे यह जानकर सुखी होते हैं कि यह दु ख आया है तो हमारे दुष्कर्मों के क्षय के लिए आया है। क्षमा करने से वैर की शान्ति है, शरीर की मलिनता वैराग्य की उत्पत्ति के लिए है, बुढापा वैराग्य सवेग का कारण है तथा मरण समस्त वस्तुओ के सर्वत्यागरूप महोत्सव के लिए है। अत ज्ञानियो की दृष्टि म यह जगत् सुखसमृद्धि, स्वर्गसामग्री एव सार-भूत तत्त्वो से भरा हुआ है, इसमे दु ख को स्थान ही कहाँ है ?

बौद्धो का यह तर्क भी सर्वथा एकान्तरूप से यथार्थ नही है कि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। कभी-कभी कारण के विपरीत भी कार्य देखा जाता है। जैसे सीग से शर नामक वनस्पति की उत्पत्ति होती है, गोवर से बिच्छू पैदा होता है, गाय और भेड के बालो से दूब उत्पन्न होती है। ये सब कारणो से विपरीत कार्यों की उत्पत्ति के नमूने है। इसलिए सुख से एकान्तरूप से सुख की ही उत्पत्ति होती है, यह एकान्तिक कथन है।

एकान्तरूप से सुख से सुख की ही उत्पत्ति मानने पर विचित्र ससार का होना नही बन सकता, क्योकि स्वर्ग मे निवास करने वाले जो जीव सदा सुख का ही उपभोग किया करते है, उनकी उत्पत्ति सुखभोग के कारण फिर स्वर्ग मे ही होगी, तथा नरक मे रहने वाले जीवो की उत्पत्ति दु खभोग के कारण फिर नरक मे ही होगी। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गतियो मे जाने के कारण जो जगत् की विचित्रता होती है, वह नही हो सकेगी। परन्तु यह शास्त्र एव सिद्धान्त से सम्मत नही और न ही अभीष्ट है।

निष्कर्ष यह है कि यहा सुखभोग करने से परलोक मे भी सुख मिलता है, और अन्त मे मोक्षसुख भी मिलता है, यह वैषयिकसुखग्रस्त भवाभिनन्दी जीवो की

कपोलकल्पना है । अत सुविहित साधु को ऐसे मिथ्यादृष्टियो के भ्रान्तिजनक वचनो के बहकावे मे आकर स्वधर्म और मोक्षमार्ग का त्याग नही करना चाहिए, ऐसी भ्रान्तियो को मोक्षमार्ग मे विघ्नरूप उपसर्ग मानकर उनसे वचना चाहिए । यही इस गाथा का साराश है ।

मूल पाठ

मा एयं अवमन्नता, अप्पेण लुपहा बहु ।
एतस्स उ अमोक्खाए, अओहारिव्व जूरह ॥७॥

सस्कृत छाया

मैनमवमन्यमाना अल्पेन लुम्पथ बहु ।
एतस्य त्वमोक्षे अयोहारीव जूरयथ ॥७॥

अन्वयार्थ

(एय) इस जिनमार्ग का (अवमन्नता) तिरस्कार करके—ठुकराकर तुम लोग (अप्पेण) तुच्छ—अल्प विषयसुख के लोभ से (बहु) अतिमूल्यवान् मोक्षसुख को (मा) मत (लुपह) विगाडो । (एतस्स) 'सुख से सुख प्राप्त होता है,' इस मिथ्यापक्ष को (अमोक्खाए) नही छोडने पर (अओहारिव्व) सोना छोडकर लोहा लेने वाले वाणिक् की तरह (जूरह) पछताओगे ।

भावार्थ

'सुख से ही सुख होता है,' इस मिथ्यापक्ष की भ्रान्ति मे पडकर वीतराग प्ररूपित उत्तमधर्म का परित्याग करने वाले अन्यदर्शनी के कल्याणार्थ शास्त्रकार उपदेश देते है—"तुम लोग इस जिनशासन (जिनधर्म) को ठुकराकर तुच्छ विषयसुख के लोभ मे पडकर अतिदुर्लभ मोक्षसुख को हाथ से मत खोओ । 'सुख से ही सुख होता है,' इस भ्रान्तियुक्त असत्पक्ष को नही छोडोगे तो उसी तरह पछताओगे, जैसे सोना आदि बहुमूल्य धातु छोडकर केवल लोहा खरीदने वाला बनिया पश्चात्ताप करता है ।"

व्याख्या

भ्रान्त मान्यता के शिकार लोगो को उपदेश

'यहाँ सुखभोग से ही आगे सुख मिलता है,' यह मान्यता कितनी भ्रान्त और आपातरमणीय है, परिणाम मे कितनी दु खदायिनी, विपम एव भवभ्रमण की कारण है, इसका विवेचन पिछली गाथा मे वताकर अब शास्त्रकार इस गाथा मे इस भ्रान्त मान्यता के शिकार लोगो को अनुकम्पा बुद्धि से प्रेरित होकर उपदेश देते हैं—"बन्धुओ ! तुम लोग मिथ्यापूर्वाग्रहवश वीतरागप्ररूपित उत्तम मोक्षमार्ग या पवित्र जिन-सिद्धान्त का तिरस्कार करके सिर्फ तुच्छ व क्षणिक विषयसुखो के प्रलोभन मे

पडकर अत्यन्त दुर्लभ जो मोक्षसुख मिल सकता है, उसका अवसर मत गँवाओ। मोक्षसुख की बाजी अभी तक तुम्हारे हाथ मे है। अभी कुछ नही बिगडा, थोडी-सी भूल हुई है, उसे सुधार लो और अल्पकालिक वैषयिकसुखो की मृगमरीचिका को छोडकर मोक्षसुख के लिए पुरुषार्थ करो। इससे तुम्हे भविष्य मे मोक्षसुख ही नही, इस लोक मे भी धर्मपालन से सातावेदनीय के फलस्वरूप स्वाधीनसुख प्राप्त होगा। दोनो लोक सुधर जाएँगे। अन्यथा, उक्त मिथ्यामत की पूछ पकडकर चलोगे और अपने पकडे हुए झूठे पक्ष को नही छोडोगे तो तुम्हारी भी हालत उस बनिये की सी होगी, जो लोहे का भार लेकर दूर से आ रहा था, किन्तु रास्ते मे सोना और चादी मिलने पर हठाग्रहवश उन्हे इसलिए नही लिया, कि मैं इतनी दूर से इस लोहे को लाया हूँ, इसे कैसे छोड दूं ? किन्तु जब घर पहुँचा तो लोहे का दाम कम पाकर खूब रोया-पीटा, पछताया। इसी तरह तुम्हे बाद मे पछताना न पडे, इसलिए हम तुम्हे सावधान करते है कि इस गलत मान्यता के चक्कर मे पडकर अपना जीवन बर्बाद मत करो। देखो, मनोज्ञ आहारादि करने से काम की वृद्धि होती है, और कामवृद्धि होने पर चित्त स्थिर नही रह सकता। अत मनोज्ञ आहार करने वाले के चित्त मे समाधि नही रह सकती। उससे दु खदायक कटु परिणाम भोगने पडते है।

मूल पाठ

पाणाइवाते वट्टंता मुसावादे असंजता।
अदिन्नादाणे वट्टता, मेहुणे य परिग्गहे ।।८।।

सस्कृत छाया

प्राणातिपाते वर्तमाना मृषावादेऽसयता ।
अदत्तादाने वर्तमाना, मैथुने च परिग्रहे ।।८।।

अन्वयार्थ

(पाणाइवाते) आप लोग जीवहिंसा मे (वट्टता) प्रवृत्त रहते है, (मुसावादे) मृषावाद मे, (अदिन्नादाणे) अदत्तादान—चोरी मे, (मेहुणे य परिग्गहे) मैथुन और परिग्रह मे भी (वट्टता) प्रवृत्त रहते है। इस कारण आप लोग (असजता) असयमी हैं, सयमी नही।[1]

भावार्थ

'सुख-भोग से भविष्य मे सुख मिलता है' इस मिथ्या सिद्धान्त के

---

१ तथाकथित बौद्धो पर यह जो आरोपण है, वह ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से यथार्थ प्रतीत होता है। क्योकि तथागत बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्धधर्म की एक शाखा के भिक्षुओ मे यह आचारशैथिल्य आ गया था, वे अत्यन्त असयत हो गये थे। थेरगाथा मे उसकी प्रतिध्वनि मिलती है। —सम्पादक

वैसे ही कितने ही मिथ्यादृष्टि अनार्य साधु कर्माश्रव की अधिकता से नरक आदि के दुःख प्राप्त करते है। वे मुक्तिपथ से विमुख हो जाते है।[1]

इस प्रकार बौद्ध आदि साधको के पचाश्रव मे पडने के कारण पूर्वोक्त सुख-भोग की मिथ्यामान्यता बनती है।

मूल पाठ

एवमेगे उ पासत्था, पन्नवति अणारिया ।
इत्थीवसगया बाला, जिणसासणपरम्मुहा ॥९॥
जहा गंड पिलाग वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं ।
एव विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ? ॥१०॥

---

१ बौद्ध साधुओ के इस प्रकार के आचारशैथिल्य की प्रतिध्वनि थेरगाथा मे अकित है। वहाँ यह शका भी व्यक्त की गयी है कि यदि ऐसी ही शिथिलता बनी रही तो बौद्धशासन विनष्ट हो जाएगा। ये पापवासनाएँ उनके अन्दर उन्मत्त राक्षसो जैसी खेल रही है। वासनाओ के वश होकर वे सासारिक वस्तुओ की प्राप्ति मे यत्र-तत्र दौड लगा रहे है। सद्धर्म को छोडकर असद्धर्म को श्रेष्ठ मानते है। भिक्षा के लिए कुकृत्य का आचरण करते है। वे सभी शिल्प सीखते है और गृहस्थो से अधिकाधिक प्राप्ति की आकाक्षा करते है। देखिए थेरगाथा मे उनके जीवन का कच्चा चिट्ठा—

भेसज्जेसु यथा वेज्जा, किच्चाकिच्चे यथा गिही ।
गणिका व विभूसाय, इस्सरे खत्तिओ यथा ॥९३८॥
नेकतिका वचनिका कूटसक्खा अपाटुका ।
बहूहि परिकप्पेहि आमिस परिभुञ्जरे ॥९३९॥

अर्थात्—वे भिक्षु औषधो के विषय मे वैद्यो की तरह है, काम-धाम मे गृहस्थो की तरह है, विभूषा करने मे गणिका की तरह है, ऐश्वर्य (प्रभुत्व) मे क्षत्रियो की तरह हैं। वे धूर्त है, प्रवचनिक हे, ठग है, और असयमी है। बहुत-से सस्कार किये हुए मास का उपभोग करते हैं।

आगे उसी थेरगाथा (९४०-९४२) मे कहा गया है कि वे भिक्षु लोभवश धनसग्रह करते हैं, स्वार्थ के लिए धर्मोपदेश देते है, सघ के भीतर सघर्ष करते हैं तथा परलाभ से जीविका करते हुए लज्जित नही होते।

यह सारा शिथिलाचार सूत्रकृताग (अ० ३, उ० ४, गा० ८) मे उक्त पच-पापो के आक्षेप की यथार्थता सूचित करता है।

चक्कर मे पडे हुए बौद्ध आदि साधको को शास्त्रकार कहते है—आप लोग इस मिथ्या मान्यता के कारण जीवहिसा मे प्रवृत्त होते है, झूठ बोलते है, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण कर लेते है, मैथुन (कामसेवन) और परिग्रह (ममत्वपूर्वक भोग्यसाधनो के सग्रह) मे रत रहते है। इस कारण आप असयमी ही कहलाएँगे, सयमी नही।

व्याख्या

मिथ्यामान्यता के चक्कर मे पचाश्रवसेवन

पूर्वगाथा मे शास्त्रकार ने शाक्यादि साधको को पूर्वोक्त मिथ्यामान्यता छोडने की जोरदार प्रेरणा दी, किन्तु दुराग्रही व्यक्ति अपनी पकडी हुई मिथ्यामान्यता को सहसा नही छोडता। इसका नतीजा क्या होता है ? इसे बताते हुए शास्त्रकार पुन उनके हृदय की आँखे खोलते है—बन्धुओ ! सुखभोग से भविष्य मे भी सुख प्राप्त होता है, इस मिथ्यामान्यता के कारण बहककर आप लोग कितना नीचे उतर आये है ! ध्यान से सोचिए ! जब आप लोग यही झूठी जिद ठान लेते है कि हमे तो येन-केन-प्रकारेण सुखभोग ही करना है, तब आप हिसा, झूठ, बेईमानी, अन्याय, अनीति, मैथुनसेवन और परिग्रहवृत्ति आदि पापो का सेवन करते रहते है। आप अपने शरीर को पुष्ट करने और उससे इन्द्रियसुख भोगने के लिए स्वादिष्ट भोजन के पचन-पाचन आदि मे स्वच्छन्दरूप से प्रवृत्त होते है, इस झूठी मान्यता का प्रचार करके झूठ बोलते है, अथवा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए झूठी बात भी कह देते है। अपने आपको प्रव्रजित कहकर भिक्षु के आचार-विचार के पालन मे उद्यत हुए आप लोग गृहस्थो का-सा आचरण करते है, इसलिए आप मिथ्याभाषण भी करते है। अपनी सुखवृद्धि के लिए आप नानाप्रकार के सुखसाधनो को जुटाते है, उन्हे ममत्व-पूर्वक रखते है, हाथी, घोडा, ऊँट आदि पशुओ को रखते है, धन भी रखते है या फिर रखाते है। इस तरह परिग्रह के दोष से भी आप बच नही पाते। और जब सुखप्राप्ति की धुन मे ही रहते है तो रतियाचना करने वाली स्त्री के साथ कामसेवन भी कर लेते हो, यह भी सम्भव है। फिर आप सुख के लिए जिन जीवो के शरीर का उपभोग मासाहार आदि या सवारी आदि के रूप मे करते है, वे शरीर उनके स्वामियो द्वारा आपको मिले नही, किन्तु आप उनकी अनुमति के बिना जबरन उनका उपभोग करते है, यह सरासर अदत्तादान का दोष है। इस प्रकार आप सुख-भोग की मान्यता के कारण बेखटके जगत्प्रसिद्ध पाँचो पापो मे प्रवृत्त होते है। भला बताइए, कोई आपको सयमी कैसे कहेगा ? बल्कि जिस प्रकार जन्मान्ध पुरुष छिद्र वाली नौका मे बैठकर समुद्र पार करना चाहता है, तो समुद्र मे ही डूब जाता है,

वैसे ही कितने ही मिथ्यादृष्टि अनार्य साधु कर्माश्रव की अधिकता से नरक आदि के दुःख प्राप्त करते है। वे मुक्तिपथ से विमुख हो जाते है।[1]

इस प्रकार बौद्ध आदि साधको के पचाश्रव म पडने के कारण पूर्वोक्त सुख-भोग की मिथ्यामान्यता बनती है।

मूल पाठ

एवमेगे उ पासत्था, पन्नवति अणारिया ।
इत्थीवसगया बाला, जिणसासणपरम्मुहा ॥९॥

जहा गंड पिलाग वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तग ।
एव विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ? ॥१०॥

---

१ बौद्ध साधुओ के इस प्रकार के आचारशैथिल्य की प्रतिध्वनि थेरगाथा मे अकित है। वहाँ यह शका भी व्यक्त की गयी है कि यदि ऐसी ही शिथिलता बनी रही तो बौद्धशासन विनष्ट हो जाएगा। ये पापवासनाएँ उनके अन्दर उन्मत्त राक्षसो जैसी खेल रही है। वासनाओ के वश होकर वे सासारिक वस्तुओ की प्राप्ति मे यत्र-तत्र दौड लगा रहे हैं। सद्धर्म को छोडकर असद्धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं। भिक्षा के लिए कुकृत्य का आचरण करते ह। वे सभी शिल्प सीखते हैं और गृहस्थो से अधिकाधिक प्राप्ति की आकाक्षा करते है। देखिए थेरगाथा मे उनके जीवन का कच्चा चिट्ठा—

भेसज्जेसु यथा वेज्जा, किच्चाकिच्चे यथा गिही।
गणिका व विभूसाय, इस्सरे खत्तिओ यथा ॥९३८॥
नेकतिका वचनिका कूटसक्खा अपाटुका ।
बहूहि परिकप्पेहि आमिस परिभुञ्जरे ॥९३९॥

अर्थात्—वे भिक्षु औषधो के विषय मे वैद्यो की तरह हैं, काम-धाम मे गृहस्थो की तरह हैं, विभूषा करने मे गणिका की तरह हैं, ऐश्वर्य (प्रभुत्व) मे क्षत्रियो की तरह हैं। वे धूर्त हैं, प्रवचनिक हैं, ठग हैं, और असयमी है। बहुत-से सस्कार किये हुए मास का उपभोग करते ह।

आगे उसी थेरगाथा (९४०-९४२) मे कहा गया है कि वे भिक्षु लोभवश धनसग्रह करते हैं, स्वार्थ के लिए धर्मोपदेश देते है, सघ के भीतर सघर्ष करते है तथा परलाभ से जीविका करते हुए लज्जित नही होते।

यह सारा शिथिलाचार सूत्रकृताग (अ० ३, उ० ४, गा० ८) मे उक्त पच-पापो के आक्षेप की यथार्थता सूचित करता है।

जहा मधादए नाम, थिमिअ भुजती दग ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ? ॥११॥
जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअ भुजती दग ।
एव विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ? ॥१२॥
एवमेगे उ पासत्था मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुणए ॥१३॥

संस्कृत छाया

एवमेके तु पार्श्वस्था प्रज्ञापयन्त्यनार्या ।
स्त्रीवशगता वाला जिनशासनपराङ्मुखा ॥९॥
यथा गण्ड पिटक वा परिपीड्येत मुहूर्त्तकम् ।
एव विज्ञापनीस्त्रीषु, दोषस्तत्र कुत स्यात् ? ॥१०॥
यथा मन्धादनो नाम स्तिमित भुक्ते दकम् ।
एव विज्ञापनीस्त्रीषु, दोषस्तत्र कुत स्यात् ? ॥११॥
यथा विहगमा पिंगा स्तिमित भुक्ते दकम् ।
एव विज्ञापनीस्त्रीषु दोषस्तत्र कुत स्यात् ? ॥१२॥
एवमेके तु पार्श्वस्था , मिथ्यादृष्ट्योऽनार्या ।
अध्युपपन्ना कामेषु, पूतना इव तरुणके ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**इत्थीवसगया**) स्त्री के वश मे रहने वाले (**बाला**) अज्ञानी (**जिणसासण-परम्मुहा**) जिनशासन (जैनधर्म) से पराङ्मुख (**अणारिया**) अनार्य (**एगेपासत्था**) कई पार्श्वस्थ या पाशस्थ (**एव**) इस प्रकार (**पन्नवति**) प्ररूपणा करते हे ।

(**जहा**) जैसे (**गड**) फुसी (**पिलाग वा**) अथवा फोडे को (**मुहुत्तग**) मुहूर्त्तभर (**परिपीलेज्ज**) दवाकर मवाद निकाल देना चाहिए, इसी तरह (**विन्नवणित्थीसु**) सहवास की प्रार्थना करने वाली स्त्रियो के साथ समागम कर लेना चाहिए। (**तत्थ**) इस कार्य मे (**दोसो कओ सिया**) दोप कहाँ से हो सकता है ?

(**जहा**) जैसे (**मधादए नाम**) भेड (**थिमिअ**) विना हिलाये (**दग**) पानी (**भुजती**) पीती है, (**एव**) इसी तरह (**विन्नवणित्थीसु**) समागम की प्रार्थना करने वाली स्त्रियो के साथ समागम कर लिया जाय तो (**तत्थ**) इसमे (**दोसो कओ सिया**) कौन-सा दोप है ?

(**जहा**) जैसे (**पिंगा**) पिंगा नामक (**विहगमा**) पक्षिणी (**थिमिअ**) विना हिलाए (**दग**) पानी (**भुजती**) पी लेती है, (**एव**) इसी तरह (**विन्नवणित्थीसु**) समागम

के लिए प्रार्थना करने वाली स्त्रियो से समागम कर लिया जाय तो (तत्य) उसमें (कओ दोसो सिया) कौन-सा दोप हो जाएगा ?

(एव) पूर्वोक्तरूप से मैथुनसेवन को निर्दोष मानने वाले (एगे उ) कई (पासत्था) पार्श्वस्थ या पाशस्थ (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि है, (अणारिया) अनार्य हैं। (कामेहिं) कामभोगो मे वे (अज्झोववन्ना) अत्यन्त मूर्च्छित हैं। (तरुणए पूयणा इव) जैसे पूतना नामक डाकिनी वालको पर आसक्त रहती है।

भावार्थ

स्त्रियो के वश मे रहने वाले अज्ञानी जैनसिद्धान्तो से विमुख कई पार्श्वस्थ या पाशस्थ इस प्रकार (आगे कही जाने वाली वातो) की प्ररूपणा करते हैं।

वे अन्यतीर्थी कहते है—"जैसे फुसी या फोडे को दवाकर उसका मवाद निकाल देने से कुछ देर वाद ही पीडा शान्त हो जाती है, इसी प्रकार सहवास के लिए प्रार्थना करने वाली कामिनियो के साथ समागम से थोडी देर के बाद कामपीडा शान्त हो जाती है, अत इस कार्य मे क्या दोप है ?"

"जैसे भेड पानी को बिना हिलाये ही पी लेती है, ऐसा करने से किसी जीव का उपघात न होने से उसको कोई दोप नही होता है, इसी तरह रति-प्रार्थना करने वाली युवती स्त्री के साथ समागम करने मे किसी को पीडा न होने के कारण उसमे कोई दोप कैसे हो सकता है ?"

कामासक्त अन्यतीर्थी कहते है—"जैसे पिंगा नाम की मादा पक्षी बिना हिलाये जल पी लेती है, किसी जीव को उसके जल पीने से कोई दुःख नही होता, वैसे ही अगर कोई तरुणी कामसेवन के लिए प्रार्थना करे तो उसके साथ समागम कर लेने से किसी जीव को भी दुःख नही होता और अपनी भी तृप्ति हो जाती है। भला, इस कार्य मे क्या दोष हो सकता है ?"

पूर्वोक्त प्रकार से मैथुन-सेवन को निर्दोष मानने वाले व्यक्ति पार्श्वस्थ या पाशस्थ है, मिथ्यादृष्टि है, अनार्य है। वे कामभोगो मे ऐसे अत्यन्त आसक्त—मूर्च्छित है, जैसे पूतना नाम की डाकिनी छोटे बच्चो पर आसक्त रहती है।

व्याख्या

स्त्रीसेवन मे दोष ही क्या ? एक मिथ्यामान्यता

अव शास्त्रकार ९वी गाथा से लेकर १३वी गाथा तक एक विचित्र मान्यता का रहस्योद्घाटन करते है, जो उस युग मे नीलवस्त्रधारी बौद्ध विशेप या नाथवादी मण्डल मे रहने वाले शैवविशेप मे प्रचलित थी, वह मान्यता थी—"रति-प्रार्थना करने वाली अगना के साथ सम्पर्क करने मे कोई दोप नही है।" शास्त्रकार ऐसे

कामासक्त लोगो के लिए ५ विशेषण नौवी गाथा मे प्रयुक्त करते हैं—'**पासत्था, अणारिया, इत्थीवसगया, बाला** और **जिणसासणपरम्मुहा**।' इन सबका अर्थ क्रमश समझ लेना चाहिए।

पासत्था – पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था, जो मूल सम्प्रदाय या तीर्थ मे न रहकर पार्श्व—यानी पडौसी सम्प्रदाय या तीर्थ मे रहते हो, उन्हे पार्श्वस्थ कहा जाता है। यहाँ पार्श्वस्थो मे आचार्य शीलाक ने बौद्धो को भी सम्मिलित किया है। ये पार्श्वस्थ कुशीलसेवन तथा स्त्री-परीषह से पराजित रहते थे। इसलिए पासत्थ का एक रूप **पाशस्थ** भी होता है, यानी जो स्त्री आदि के मोहपाश मे फँसे हुए हो। पार्श्वस्थ की अपेक्षा **पाशस्थ** अर्थ यहाँ अधिक सगत है।

अणारिया—अनार्य कर्म करने वाले अनार्य कहलाते है। इन पूर्वोक्त तथा-कथित बौद्धो को ८वी गाथा मे हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह मे प्रवृत्त होने वाले बताया गया था। ये सभी कर्म अनार्य कर्म कहलाते हैं, इसलिए इन कर्मों के कर्त्ता तथाकथित बौद्धविशेषो को अनार्य कहा हैं।

इत्थीवसगया[1]—जो युवती कामिनियो की गुलामी करते हो, उनके आज्ञा-वर्ती रहते हो, उनके इशारे पर नाचते हो, उन्हे स्त्रीवशगत कहते है।

बाला—बाल अज्ञानी को कहते है। अध्यात्मशास्त्र मे बाल वह है, जो बात-बात मे राग, द्वेष, कषाय, मोह आदि से भडक उठते हो, जो हिंसा आदि पापकर्म करने की नादानी करके अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मारते हो, जो हिताहित के विचार से शून्य हो।

जिणसासणपरम्मुहा[2]—रागद्वेष-विजेता जिन कहलाते है। उनके शासन का अर्थ है—उनकी आज्ञा—कषाय, मोह, रागद्वेष को उपशान्त करने की आज्ञा, उससे जो पराङ्मुख—विमुख हैं, ससाराभिसक्त है एव जैनमार्ग से द्वेष करने वाले है, वे

---

१ स्त्रियो के वे कितने अधिक चाटुकार थे, इसका नमूना उन्ही के ग्रन्थ मे देखिये—

प्रियादर्शनमेवाऽस्तु किमन्यैर्दर्शनान्तरैः ।
प्राप्यते येन निर्वाण सरागेणाऽपि चेतसा ॥

—"मुझे प्रिया का दर्शन होना चाहिए, फिर अन्य दर्शनो से क्या प्रयोजन है? क्योकि प्रिया के दर्शन से सरागचित्त के द्वारा भी निर्वाणसुख प्राप्त होता है।"

२ **भवबीजाकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य ।**
ब्रह्मावा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

—इस प्रकार जिन शब्द यहाँ व्यक्तिवाचक न होकर गुणवाचक है, जिसके रागादि विकार नष्ट हो गये हो, वे फिर किसी भी नाम से पुकारे जाते हो, वे नमस्करणीय—वन्दनीय है।

जिनशासन-पराङ्मुख कहलाते हैं। जिन शब्द यहाँ किसी व्यक्तिविशेष के अर्थ मे नही है। जो भी राग-द्वेषविजेता हो, उसका नाम कुछ भी हो, वह जिन है।

इससे पूर्व की ८वी गाथा मे उल्लिखित प्राणातिपात आदि पांच पापो मे प्रवृत्त लोग भी इस गाथा मे उक्त पाँच विशेषणो वाले हैं। यानी पूर्व गाथा से ये सम्बद्ध हैं। इस गाथा मे पाँच विशेषणो से युक्त पार्श्वस्थ आदि के नाम जो 'एगे' शब्द है, उसका अर्थ शीलाकाचार्य (वृत्तिकार) ने किया है—एके अर्थात् प्राणातिपात आदि मे प्रवर्तमान रहने वाले कोई बौद्धविशेष नीलवस्त्रधारी[1] या नाथवादी मण्डल मे प्रविष्ट होकर रहने वाले शैवविशेष, जो उत्तम अनुष्ठान से दूर रहने के कारण पार्श्वस्थ है या अवसन्न और कुशील आदि स्वयूथिक पार्श्वस्थ हैं।

अपनी बात को सिद्ध करने के लिए वे पार्श्वस्थ, अनार्य, स्त्रीवशगत, बाल एव जिनशासनविमुख साधक आगे की तीन गाथाओ (१०वी, ११वी एव १२वी) मे तीन दृष्टान्त देते है। तीनो दृष्टान्तो द्वारा उन्होने रतिप्रार्थना करने वाली कामिनी के साथ समागम करने को निर्दोष सिद्ध करने की कोशिश की है। वे तीनो दृष्टान्त क्रमश इस प्रकार हैं—

१—जैसे किसी के शरीर मे फुसी या फोडा हो जाता है तो उसकी पीडा को शान्त करने के लिए वह फोडे-फुसी को थोडी देर तक दबाकर उसका मवाद व दूषित रक्त निकाल देता है, जिससे थोडी देर मे ही उसे सुख-शान्ति हो जाती है। ऐसा करने मे कोई दोष नही माना जाता, वैसे ही कोई कामिनी अपनी कामपीडा शान्त करने के लिए समागम की प्रार्थना करती हैं, तो उस स्त्री के साथ समागम करके फोडे आदि को फोडकर शान्ति प्राप्त करने के समान कामपीडा शान्त करता है, तो इसमे क्या दोष हो सकता है? बलात्कार करना दोष है, किन्तु स्वत सहवास-प्रार्थना करने वाली ललना के साथ समागम करके पीडा शान्त करने मे कोई दोष नही हो सकता। यह किन्ही अज्ञानियो का मत है।

२—समागम की प्रार्थना करने वाली किसी युवती के साथ समागम करने से यदि किसी को कोई पीडा होती तो अवश्य ही इस कार्य मे दोष होता, परन्तु इस प्रवृत्ति मे किसी को जरा भी पीडा नही होती। जैसे मन्धादन यानी भेड घुटनो को पानी मे झुकाकर पानी को गदा किये या हिलाये बिना ही स्थिरतापूर्वक धीरे-से

---

१ वृत्तिकार शीलाकाचार्य ने यह मान्यता नीलवस्त्र वाले आदि बौद्धविशेषो की मानी है। बौद्धो मे कौन-सा सम्प्रदाय नीले वस्त्र पहनता था, यह अज्ञात है। सम्भव है, कोई वज्रयान आदि बौद्धशाखा रही हो। जैसे—"**एके इति बौद्ध-विशेषा नीलपटादयो नाथवादिकमण्डलप्रविष्टा वा शैवविशेषा।**"

—सूत्रकृताग वृत्ति १।३।४।९

चुपचाप पानी पीकर अपनी तृप्ति कर लेती है। उसकी इस क्रिया से किसी जीव को पीडा नही होती, इसी तरह सम्भोग की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ समागम करने से किसी दूसरे जीव को कोई पीडा नही होती और स्वतृप्ति भी हो जाती है, इसलिए इस काय मे भी कोई दोष कैसे हो सकता है ? मतलब यह है कि जैसे भेड का दूसरे को पीडा न देते हुए जल पीना निर्दोष है, वैसे ही दूसरे को पीडा न देने वाला मैथुन एक-दूसरे का सुखोत्पादक मैथुन है, वह निर्दोष है। यह दूसरे अज्ञानी की मान्यता है।

३—इसी तरह तीसरे की मान्यता है कि जैसे कपिंजल नामक चिडिया केवल अपनी चोंच के अग्रभाग के सिवाय, दूसरे अगो द्वारा जलाशय के जल को स्पर्श न करती हुई, आकाश मे उडती हुई, जल का पान कर लेती है। ऐसा करते समय वह न तो जल को हिला-डुलाकर कष्ट देती है, और न जलाश्रित किसी जीव को कष्ट देती है, इसलिए उसका जलपान निर्दोष है, वैसे ही किसी नारी द्वारा समागम की प्रार्थना करने पर कोई पुरुष राग-द्वेषरहित बुद्धि से उस स्त्री के शरीर को कुशा से ढककर उसके शरीर को न छूते हुए पुत्रोत्पत्ति के निमित्त से, (काम के निमित्त से नही) शास्त्रोक्त विधान के अनुसार ऋतुकाल मे समागम करता है तो उसमे उसको कोई जीवघातरूप दोष नही होता। उसका तथारूप मैथुनसेवन निर्दोष ही है। जैसा कि उनके धर्मशास्त्र मे कहा है—

धर्मार्थं पुत्रकामस्य स्वदारेस्वधिकारिण ।
ऋतुकाले विधानेन दोषस्तत्र न विद्यते ॥

अर्थात्—धर्मरक्षा के लिए, पुत्रोत्पत्ति के निमित्त, अपनी स्त्री मे अधिकार रखने वाले पुरुष के लिए ऋतुकाल मे स्त्री-समागम का शास्त्रीय विधान होने से इसमे कोई दोष नही है।

तीनो दृष्टान्तो मे तथाकथित बौद्धो की उक्त तीनो मान्यताओ का मूलस्वर एक ही है। वह है—'रतिप्रार्थिनी स्त्री के साथ समागम निर्दोष है।' यही कारण है कि प्रत्येक दृष्टान्त के उपसहार मे गाथा मे **'एव विन्नवणित्थीसु दोसो तत्थ कओ सिआ ?'** इसी वाक्य को दुहराया गया है। किन्तु यह मान्यता भ्रान्त है। उक्त भ्रान्त मान्यता वालो द्वारा प्रयुक्त तीनो दृष्टान्तो का निर्युक्तिकार तीन गाथाओ से निराकरण करते है—

जह णाम मडलग्गेण सिर छेत्तूण कस्सइ मणुस्सो ।
अच्छेज्ज पराहुत्तो किं नाम ततो ण घिप्पेज्जा ? ॥५३॥
जह वा विसगडूस कोई घत्तूण नाम तुण्हिक्को ।
अण्णेण अदीसतो किं नाम ततो न व मरेज्जा ? ॥५४॥

जहा नाम सिरिघराओ कोइ रयणाणि घेत्तूण ।
अच्छेज्ज पराहुतो किं णाम ततो न घेप्पेज्जा ? ॥५५॥

अर्थात्—जैसे कोई व्यक्ति तलवार से किसी का सिर काटकर कहीं चुपचाप पराङ्मुख होकर या छिपकर बैठ जाय, तो क्या इस प्रकार उदासीनता धारण कर लेने से उसे अपराधी मानकर पकडा नही जाता ? तथा कोई मनुष्य यदि जहर की घूंट पीकर चुपचाप रहे या उसे कोई देखे नही, तो क्या दूसरे के न देखने मे वह विषपान का फल मृत्यु प्राप्त नही करेगा ? इसी तरह यदि कोई व्यक्ति किसी धनाढ्य के भण्डार से बहुमूल्य रत्नो को चुराकर पराङ्मुख हो छिपकर बैठ जाए तो क्या वह चोर समझकर पकडा नही जाएगा ?

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई मनुष्य दुष्टतापूर्वक या मूर्खतावश किसी का सिर काटकर, या विष पीकर या रत्न चुराकर मध्यस्थ वृत्ति धारण कर ले तो भी वह निर्दोष नही हो सकता । दोष या अपराध करने का विचार तो उसने उस अकृत्य के करने से पहले कर ही लिया था, फिर उस कुकृत्य को करने मे प्रवृत्त हुआ, तब दोष-सलग्न हो गया और फिर उस दोष को छिपाने के लिए वह छिपकर या चुपचाप एक कोने मे उदासीन होकर बैठ गया, यह भी दोष है, इसलिए दोष तो कुकार्य करने से पूर्व, करते समय और करने के पश्चात्—यो तीनो समय मे है । फिर उसे निर्दोष कैसे कहा जा सकता है, उसी प्रकार कोई व्यक्ति किसी स्त्री की मैथुनसेवन करने की प्रार्थना-मात्र से उस कुकृत्य मे प्रवृत्त हो जाता है तो उस समय उसे रागभाव व मैथुन का विचार (जो कि पापरूप है) आये बिना न रहेगा, तत्पश्चात् मैथुन मे प्रवृत्ति करते समय भी उसमे तीव्र रागभाव होना अवश्यम्भावी है । चाहे वह स्त्री के अगो को स्पर्श करे या न करे, चाहे अन्य अगो को ढक दे, फिर भी मन से तो तीव्र रागभाव के कारण कामोदय होगा ही । एक बार कामभोग का सेवन करने के बाद बार-बार उस स्त्री के साथ कामसेवन मे प्रवृत्त होना सम्भव है । इस तरह पुन-पुन मैथुनसेवन, तीव्र रागभाव, स्त्री के प्रति मोह, उसकी अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति, सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन-पोषण आदि मोहराजा का विषचक्र चलता रहेगा । इसीलिए मैथुनसेवन के विषय मे महर्षियो ने अनेक दोष बतलाये हैं[1] —

प्राणिना बाधक चैतच्छास्त्रे गीत महर्षिभि ।
नलिकातप्तकणकप्रवेशज्ञाततस्तथा ॥१॥

---

१ दशवैकालिकसूत्र मे भी कहा है—

मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सय ।
तम्हा मेहुणससग्ग निग्गथा वज्जयतिण ॥

मूल चैतदधर्मस्य भव-भावप्रवर्धनम् ।
तस्माद् विषान्नवत् त्याज्यमिद पापमनिच्छता ।।२।।

अर्थात्—शास्त्र मे महर्षियो ने मैथुन को प्राणियो का विघातक बताया है। जैसे नली के भीतर तपे हुए अत्यन्त गर्म अग्निकणो को डालने से उसके अन्दर की चीजो का तत्काल नाश हो जाता है, वैसे ही मैथुनसेवन से स्त्री की योनि मे स्थित सजीव शुक्राणुओ का नाश हो जाता है, आत्मिक शक्तियो का तो शीघ्र ही खात्मा हो जाता है। मैथुनसेवन अधर्म का मूल है, ससार (जन्म-मरणरूप) को बढाने वाला है। अत पाप की इच्छा न करने वाले पुरुष को विषाक्त अन्न की तरह इसका त्याग कर देना चाहिए।

अत राग होने पर ही उत्पन्न होने वाले, समस्त दोषो के स्थान एव ससार-वर्द्धक मैथुनसेवन फिर वह स्त्री-पुरुष की इच्छाजन्य हो या अनिच्छाजन्य हो, कथमपि निर्दोष नही हो सकता।

बच्चो पर आसक्त पूतना की तरह ये कामासक्त अनार्य !

तेरहवी गाथा मे पूर्वोक्त रतिप्रार्थिनी स्त्रीसहवास की घोरअनर्थकर एव भ्रान्तमान्यता वाले तथाकथित मतवादी कैसे है? इसे बताते है—'**एवमेगे उ पासत्था पूयणा इव तरुणए।**'[1] आशय यह है कि फोडे को फोडकर उसका

१ शीलाकाचार्य का सकेत बौद्धविशेषो के प्रति है, जो नीलवस्त्रधारी आदि होते थे। क्योकि सूत्रकृतागसूत्र मे ही आगे शाक्य (बौद्धविशेष) साधुओ के लिए इस प्रकार का दुर्ध्यान करने का उल्लेख किया है। निम्नोक्त गाथाएँ प्रमाण के लिए प्रस्तुत हैं—

ते अ बीओदग चेव तमुद्दिस्सा य ज कड ।
भोच्चा झाण झियायति, अखेयन्ना असमाहिया ।। सूत्र० ११।२६
मणुण्ण भोयण भुज्जे ।
मसनिवत्ति काण्ड सेवइ दतिक्कगति धगिमेया ।
इय च चइउणारभ, परववएसा कुणइ बालो ।। सू० ११।२७-२८

इसका अर्थ शीलाकाचार्य ने इस प्रकार किया है—"वे शाक्य आदि सचित्त जलपान, बीज (सचित्त) तथा उद्दिष्ट भोजन करके आर्तध्यान करते हैं। वे धर्म के अवेदज्ञ तथा असमाधिवान हैं। शाक्यभिक्षु मनोज्ञ आहार, वसति, शय्या, आसन आदि राग के कारणो का ध्यान करते हैं—उपभोग करते हैं। सज्ञान्तर क्षमाश्रमण के कारण वे इसे निर्दोष मानते हैं। जैसे ढक, कक, कुलल, मगु आदि पक्षी मत्स्य-गवेषणा के लिए कलुषतायुक्त ध्यान करते है, वैसे ही ये मिथ्यादृष्टि अनार्यसाधु दुष्टध्यान करते है।"

मवाद बाहर निकालने के समान जो तथाकथित मतवादी मैथुनसेवन को निरवद्य—निर्दोष मानते हैं, वे स्त्रीपरीषह से हारे हुए है, शुभ अनुष्ठानो से कोसो दूर है, उनकी दृष्टि विपरीत है, वस्तुस्वरूप को ग्रहण करने वाली नही है। वे समग्र पाप-कर्मो मे लिप्त होने के कारण अनार्य है तथा इस प्रकार की आध्यात्मिक जगत् मे सर्वथा विपरीत मिथ्यामान्यता को मानने और उसकी प्ररूपणा करने वाले व्यक्ति कामभोगो मे इतने तीव्र आसक्त हैं, जितनी पूतना नामक डाकिनी बच्चो पर आसक्त रहती है। जैसे पूतना डाकिनी को रात-दिन स्तनपान करने वाले बच्चो के बिना चैन नही पडती, वैसे ही इन इच्छारूप एव मदनरूप कामो मे आसक्त काम के कीडो को भी बिलकुल चैन नही पडती।

अथवा पूतना भेड का नाम है, वह अपने बच्चो पर अत्यधिक आसक्त रहती है इसी तरह वे आर्य कामभोगो अत्यासक्त रहते है। इस विषय मे एक कहानी भी प्रसिद्ध है—

पशुओ मे से किसमे अपनी सन्तान के प्रति अधिक स्नेह होता है ? इसको परीक्षा करने का एक बार एक व्यक्ति ने बीडा उठाया। उसने सब पशुओ के बच्चे किसी जलरहित कुँए मे रख दिये। अत और तो सब बच्चो की माताएँ अपने-अपने बच्चो की रोने-चिल्लाने की आवाज सुनकर उस कुँए के किनारे खडी-खडी रोने लगी। किन्तु भेड अपने बच्चो के प्रेम मे अधी होकर मृत्यु की परवाह न करके कुँए मे कूद पडी। अत परीक्षक ने निश्चय कर लिया कि समस्त पशुओ मे से भेड का अपने बच्चा के प्रति अधिक स्नेह होता है। इसी तरह पूर्वोक्त भ्रान्त मान्यता वालो का कामभोग मे अत्यधिक मोह होता है।

अगली गाथा मे उन कामासक्त पुरुषो की मनोवृत्ति और उसके परिणाम के विषय मे शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउमि जोव्वणे ॥१४॥

सस्कृत छाया

अनागतमपश्यन्त प्रत्युत्पन्नगवेषका ।
ते पश्चात् परितप्यन्ते क्षीणे आयुषि यौवने ॥१४॥

अन्वयार्थ

(अणागयमपस्सता) भविष्य मे होने वाले दु ख को न देखते हुए (पच्चुप्पन्न-गवेसगा) जो लोग वर्तमान सुख की खोज मे रत रहते हैं, (ते) वे (पच्छा) पीछे

मूल चैतदधर्मस्य भव-भावप्रवर्धनम् ।
तस्माद् विषान्नवत् त्याज्यमिव पापमनिच्छता ॥२॥

अर्थात्—शास्त्र मे महर्षियो ने मैथुन को प्राणियो का विघातक बताया है। जैसे नली के भीतर तपे हुए अत्यन्त गर्म अग्निकणो को डालने से उसके अन्दर की चीजो का तत्काल नाश हो जाता है, वैसे ही मैथुनसेवन से स्त्री की योनि मे स्थित सजीव शुक्राणुओ का नाश हो जाता है, आत्मिक शक्तियो का तो शीघ्र ही खात्मा हो जाता है। मैथुनसेवन अधर्म का मूल है, ससार (जन्म-मरणरूप) को बढाने वाला है। अत पाप की इच्छा न करने वाले पुरुष को विषाक्त अन्न की तरह इसका त्याग कर देना चाहिए।

अत राग होने पर ही उत्पन्न होने वाले, समस्त दोषो के स्थान एव ससार-वर्द्धक मैथुनसेवन फिर वह स्त्री-पुरुष की इच्छाजन्य हो या अनिच्छाजन्य हो, कथमपि निर्दोष नही हो सकता।

बच्चो पर आसक्त पूतना की तरह ये कामासक्त अनार्य !

तेरहवी गाथा मे पूर्वोक्त रतिप्रार्थिनी स्त्रीसहवास की घोरअनर्थकर एव भ्रान्तमान्यता वाले तथाकथित मतवादी कैसे है? इसे बताते हैं—'एवमेगे उ पासत्था पूयणा इव तरुणए।'[1] आशय यह है कि फोडे को फोडकर उसका

१ शीलाकाचार्य का सकेत बौद्धविशेषो के प्रति है, जो नीलवस्त्रधारी आदि होते थे। क्योकि सूत्रकृतागसूत्र मे ही आगे शाक्य (बौद्धविशेष) साधुओ के लिए इस प्रकार का दुर्ध्यान करने का उल्लेख किया है। निम्नोक्त गाथाएँ पमाण के लिए प्रस्तुत हैं—

ते अ बीओदग चेव तमुद्दिस्सा य ज कड ।
भोच्चा झाण झियायति, अखेयन्ना असमाहिया ॥ सूत्र० ११।२६
मणुण्ण भोयण भुञ्जे ।
मसनिवति काण्ड सेवइ दतिक्कगति धगिमेया ।
इय च चइउणारभ, परववएसा कुणइ बालो ॥ सू० ११।२७-२८

इसका अर्थ शीलाकाचार्य ने इस प्रकार किया है—"वे शाक्य आदि सचित्त जलपान, बीज (सचित्त) तथा उद्दिष्ट भोजन करके आर्तध्यान करते हैं। वे धर्म के अवेदज्ञ तथा असमाधिवान हैं। शाक्यभिक्षु मनोज्ञ आहार, वसति, शय्या, आसन आदि राग के कारणो का ध्यान करते हैं—उपभोग करते हैं। सज्ञान्तर क्षमाश्रमण के कारण वे इसे निर्दोष मानते हैं। जैसे ढक, कक, कुलल, मगु आदि पक्षी मत्स्य-गवेषणा के लिए कलुपतायुक्त ध्यान करते है, वैसे ही ये मिथ्यादृष्टि अनार्यसाधु दुष्टध्यान करते हैं।"

(आउमि जोव्वणे खीणे) आयु और युवावस्था के क्षीण होने पर (परितप्पति) पश्चात्ताप करते हैं।

भावार्थ

असत्कर्म के करने से भविष्य मे मिलने वाले दु खो को न देखते हुए जो लोग केवल वर्तमान सुख की खोज मे लगे रहते हैं, वे जवानी बीत जाने पर और आयुष्य क्षीण होने पर पश्चात्ताप करते है।

व्याख्या

दुष्कर्मी लोग पछताते हैं? क्यो और कब?

जो लोग पूर्वोक्त भ्रान्त मान्यता के शिकार होकर कामासक्त रहते हैं, हिंसा, झूठ, व्यभिचार, चोरी, परिग्रह आदि पापकर्मो मे या अन्य प्रपचो मे रात-दिन लगे रहते है। वे उन दुष्कर्मो को करते समय भविष्य मे उनके कारण नरकादि मे मिलने वाली यातनाओ का कोई विचार नही करते, उनकी दृष्टि केवल वर्तमान सुख, ऐश-आराम, विषयभोगो के मनमाने सेवन आदि पर ही टिकी रहती है। उन क्षणिक सुखोपभोगो के आवेश मे वे अपने भविष्य का कोई विचार नही करते, न अपनी अनमोल जिन्दगी की कोई परवाह करते है। किन्तु जब यौवन ढल जाता है, बुढापा आकर झाँकने लगता हैं, मृत्युदूत सिरहाने आकर खडे हो जाते हैं, सारा शरीर जर्जर हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, आँख, कान, जीभ, नाक आदि इन्द्रियाँ काम करने से जवाब दे देती हैं कोई न कोई बीमारी आकर घर दबोचती है, तब उनको जिन्दगी का खयाल आता है और वे पछताते है—"हाय! हमने अपनी अमूल्य जि दगी यो ही बेकार खो दी। कुछ भी धर्माचरण नही किया। ससार की मोहमाया मे उलझे रहे। साधक का वेष पहनकर जनता को धोखा देते रहे, जनता मे धर्मात्मा कहलाते रहे।" वे इस प्रकार पश्चात्ताप करते हैं—

हत मुष्टिभिराकाश, तुषाणा कण्डन कृतम्।
यन्मया प्राप्य मानुष्य, सदर्थे नादर कृत ॥

अर्थात्—मैंने मनुष्य-जन्म पाकर अच्छी बातो को नही अपनाया, सदाचरण नही किया। यो मुट्ठियो से आकाश को पीटता रहा और चावलो का भुस्सा कूटता रहा।

विहवावलेवनडिएहिं जाइ कीरति जोव्वणमएण।
वयपरिणामे सरियाइ ताइ हिअए खुडुक्कति ॥

अर्थात्—वैभव के नशे मे, यौवन के मद मे, जो कार्य नहीं करने चाहिए, वे किये, किन्तु जब उम्र ढल जाती हैं और वे अकृत्य याद आते हैं, तब मनुष्य के हृदय मे काँटे-से खटकने लगते है।

निष्कर्ष यह है कि उन कामासक्त जीवो को समय रहते चेत जाना चाहिए, जिससे बाद मे पछताना न पडे ।

मूल पाठ

जेहिं काले परक्कत, न पच्छा परितप्पए ।
ते धीरा बंधणुम्मुक्का नावकखति जीविअ ॥१५॥

सस्कृत छाया

यै काले पराक्रान्त, न पश्चात् परितप्यन्ते ।
ते धीरा बन्धनोन्मुक्ता , नावकाक्षन्ति जीवितम् ॥१५॥

अन्वयार्थ

(जेहिं) जिन साधको ने (काले) धर्मोपार्जनकाल मे (परक्कत) धर्माचरण मे पुरुषार्थ किया है, (ते) वे (पच्छा) बाद मे—यौवन बीत जाने पर (न परितप्पए) पश्चात्ताप नही करते है। (बधणुम्मुक्का) बन्धन से छूटे हुए (ते धीरा) वे धीर पुरुष (जीविअ) असयमी जीवन की (नावकखति) इच्छा नही करते है।

भावार्थ

धर्मोपार्जन के समय मे जिन पुरुषो ने धर्मोपार्जन किया है, वे वृद्धावस्था (पिछली उम्र) मे पश्चात्ताप नही करते। बन्धन से उन्मुक्त वे धीर पुरुष असयमी जीवन की इच्छा नही करते।

व्याख्या

समय पर चेतने वाले साधक बाद मे पछताते नहीं

पूर्व गाथा मे बताया है कि भविष्य का विचार न करके केवल वर्तमान सुखो मे ही रमण करने वाले लोग आयु क्षीण होने पर पछताते है और इस गाथा मे इसके विपरीत जो समय रहते सावधान होकर धर्मोपार्जन करते है, वे बाद मे पछताते नही, यह बताया गया है।

आशय यह है कि जो साधक उत्तम पराक्रमी होने के कारण पहले से ही तप, सयम आदि का आचरण करते है, उन्हे यौवन ढल जाने पर और बुढापा आने पर कभी पश्चात्ताप नही होता। वे मृत्युकाल के समय या वृद्धावस्था मे क्यो पश्चात्ताप करेंगे, जिन साधको ने धर्मोपार्जनकाल मे आत्महितसम्पादन के लिए इन्द्रियविषयो और कषायो पर विजय करने मे खूब पुरुषार्थ किया है।

काले परक्कत—काल—समय पर पराक्रम करने वाला। यद्यपि जो पुरुष विवेकसम्पन्न है, उनके लिए प्राय सभी समय धर्मोपार्जन का काल है, क्योकि उनके लिए धर्मोपार्जन ही मुख्य पुरुषार्थ है। वे जो भी प्रवृत्ति करेंगे, उसमे धर्म पुरुषार्थ को मुख्य रखकर ही करेंगे। इसलिए विवेकी साधको का एक भी क्षण धर्मरहित

(आउमि जोव्वणे खीणे) आयु और युवावस्था के क्षीण होने पर (परितप्पति) पश्चात्ताप करते है।

भावार्थ

असत्कर्म के करने से भविष्य मे मिलने वाले दु खो को न देखते हुए जो लोग केवल वर्तमान सुख की खोज मे लगे रहते हैं, वे जवानी बीत जाने पर और आयुष्य क्षीण होने पर पश्चात्ताप करते है।

व्याख्या

दुष्कर्मी लोग पछताते हैं ? क्यो और कब ?

जो लोग पूर्वोक्त भ्रान्त मान्यता के शिकार होकर कामासक्त रहते है, हिंसा, झूठ, व्यभिचार, चोरी, परिग्रह आदि पापकर्मो मे या अन्य प्रपचो मे रात-दिन लगे रहते हैं। वे उन दुष्कर्मो को करते समय भविष्य मे उनके कारण नरकादि मे मिलने वाली यातनाओ का कोई विचार नही करते, उनकी दृष्टि केवल वर्तमान सुख, ऐश-आराम, विषयभोगो के मनमाने सेवन आदि पर ही टिकी रहती है। उन क्षणिक सुखोपभोगो के आवेश मे वे अपने भविष्य का कोई विचार नही करते, न अपनी अनमोल जिन्दगी की कोई परवाह करते है। किन्तु जब यौवन ढल जाता है, बुढापा आकर झाँकने लगता है, मृत्युदूत सिरहाने आकर खडे हो जाते है, सारा शरीर जर्जर हो जाता हे, शक्ति क्षीण हो जाती है, आँख, कान, जीभ, नाक आदि इन्द्रियाँ काम करने से जवाब दे देती हैं कोई न कोई बीमारी आकर घर दबोचती है, तब उनको जिन्दगी का खयाल आता है और वे पछताते है—"हाय! हमने अपनी अमूल्य जि दगी यो ही बेकार खो दी। कुछ भी धर्माचरण नही किया। ससार की मोहमाया मे उलझे रहे। साधक का वेष पहनकर जनता को धोखा देते रहे, जनता मे धर्मात्मा कहलाते रहे।" वे इस प्रकार पश्चात्ताप करते हैं—

हत मुष्टिभिराकाश, तुषाणा कण्डन कृतम्।
यन्मया प्राप्य मानुष्य, सदर्थे नादर कृत ॥

अर्थात्—मैंने मनुष्य-जन्म पाकर अच्छी बातो को नही अपनाया, सदाचरण नही किया। यो मुट्ठियो से आकाश को पीटता रहा और चावलो का भुस्सा कूटता रहा।

विहवावलेवनडिएहि जाइ कीरति जोव्वणमएण।
वयपरिणामे सरियाइ ताइ हिअए खुडुक्कति ॥

अर्थात्—वैभव के नशे मे, यौवन के मद मे, जो कार्य नही करने चाहिए, वे किये, किन्तु जब उम्र ढल जाती है और वे अकृत्य याद आते हैं, तब मनुष्य के हृदय मे काँटे-से खटकने लगते हैं।

निष्कर्ष यह है कि उन कामासक्त जीवो को ममय रहते चेत जाना चाहिए, जिससे बाद मे पछताना न पडे।

मूल पाठ

जेहिं काले परक्कत, न पच्छा परितप्पए ।
ते धीरा बंधणुम्मुक्का नावकखति जीविअ ॥१५॥

सस्कृत छाया

यै काले पराक्रान्त, न पश्चात् परितप्यन्ते ।
ते धीरा बन्धनोन्मुक्ता , नावकाक्षन्ति जीवितम् ॥१५॥

अन्वयार्थ

(जेहिं) जिन साधको ने (काले) धर्मोपार्जनकाल मे (परक्कत) धर्माचरण मे पुरुषार्थ किया है, (ते) वे (पच्छा) बाद मे—यौवन बीत जाने पर (न परितप्पए) पश्चात्ताप नही करते हैं। (बधणुम्मुक्का) बन्धन से छूटे हुए (ते धीरा) वे धीर पुरुष (जीविअ) असयमी जीवन की (नावकखति) इच्छा नही करते है।

भावार्थ

धर्मोपार्जन के समय मे जिन पुरुषो ने धर्मोपार्जन किया है, वे वृद्धावस्था (पिछली उम्र) मे पश्चात्ताप नही करते। बन्धन से उन्मुक्त वे धीर पुरुष असयमी जीवन की इच्छा नही करते।

व्याख्या

समय पर चेतने वाले साधक बाद मे पछताते नहीं

पूर्व गाथा मे बताया है कि भविष्य का विचार न करके केवल वर्तमान सुखो मे ही रमण करने वाले लोग आयु क्षीण होने पर पछताते है और इस गाथा मे इसके विपरीत जो समय रहते सावधान होकर धर्मोपार्जन करते हे, वे बाद मे पछताते नही, यह बताया गया है।

आशय यह है कि जो साधक उत्तम पराक्रमी होने के कारण पहले से ही तप, सयम आदि का आचरण करते हैं, उन्हे यौवन ढल जाने पर और बुढापा आने पर कभी पश्चात्ताप नही होता। वे मृत्युकाल के समय या वृद्धावस्था मे क्यो पश्चात्ताप करेगे, जिन साधको ने धर्मोपार्जनकाल मे आत्महितसम्पादन के लिए इन्द्रियविषयो और कषायो पर विजय करने मे खूब पुरुषार्थ किया है।

काले परक्कत—काल—समय पर पराक्रम करने वाला। यद्यपि जो पुरुष विवेकसम्पन्न हैं, उनके लिए प्राय सभी समय धर्मोपार्जन का काल है, क्योकि उनके लिए धर्मोपार्जन ही मुख्य पुरुषार्थ है। वे जो भी प्रवृत्ति करेंगे, उसमे धर्म पुरुषार्थ को मुख्य रखकर ही करेगे। इसलिए विवेकी साधको का एक भी क्षण धर्मरहित

नही जाता। वे धर्मरूप प्रधान पुरुषार्थ मे ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं।

जिन साधको का समय धर्मपुरुषार्थ मे व्यतीत होता है, वे धर्म मे इतने अभ्यस्त होते है कि विघ्नबाधाएँ या विपत्तियाँ आने पर भी वे धर्माचरण छोडते नही, बल्कि परीषह और उपसर्ग को भी धीरतापूर्वक सहन करते है। क्योकि वे बाल्यकाल से ही विषयभोगो का ससर्ग न करते हुए तपस्या मे प्रवृत्त रह चुके है, इसलिए कर्मविदारण करने मे समर्थ धीर है। चाहे कितने ही सकट मे पडे हो, अथवा उनके सामने स्नेहबन्धन मे फँसाने के कितने ही अनुकूल उपसर्ग हो, किन्तु स्नेहबन्धन से उन्मुक्त वे साधक असयमी जीवन की कदापि इच्छा नही करते। अथवा वे जीवन-मरण मे नि स्पृह रहकर सयमानुष्ठान मे दत्तचित्त रहते है। यही बात शास्त्रकार ने गाथा के उत्तरार्ध मे कह दी है—'**ते धीरा बधणुम्मुक्का, नावकखति जीविय।**'

मूल पाठ

जहा नई वेयरणी दुत्तरा इह समता ।
एव लोगसि नारीओ दुरुत्तरा अमईमया ।।१६।।

सस्कृत छाया

यथा नदी वैतरणी दुस्तरेह सम्मता ।
एव लोके नार्यो दुस्तरा अमतिमता ।।१६।।

अन्वयार्थ

(**जहा**) जैसे (**इह**) इस लोक मे (**वेयरणी नई**) वैतरणी नदी (**दुत्तरा समता**) दुस्तर मानी गयी है, (**एव**) इसी तरह '(**लोगसि**) लोक मे (**नारीओ**) स्त्रियाँ (**अमईमया**) अविवेकी मनुष्य द्वारा (**दुरुत्तरा**) दुस्तर मानी गयी है।

भावार्थ

जैसे इस लोक मे अत्यन्त वेग वाली वैतरणी नदी को पार करना अत्यन्त दुष्कर माना गया है, वैसे ही इस ससार मे कामिनियाँ अविवेकी साधक पुरुष के लिए अत्यन्त दुस्तर मानी गयी है।

व्याख्या

अविवेकी साधक के लिए स्त्रीपरीषह दुर्लंघ्य

इस गाथा मे एक अनुकूल उपसर्ग—स्त्रीपरीषह को साधक के लिए पार करना दुष्कर बताया है—'**एव लोगसि नारीओ दुरुत्तरा अमईमया।**'

वास्तव मे मोक्षार्थी साधक के लिए स्त्रीमोहरूप उपसर्ग पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। बडे-बडे पहुँचे हुए साधक भी स्त्रीमोह पर विजय पाने मे

लडखडा जाते है। वे चाहे सग्राम मे बहुत ही बहादुरी दिखा सकते हो, परन्तु स्त्री के कटाक्ष के आगे पराजित हो जाते है। कामिनियाँ हावभाव, कटाक्ष, भ्रूभग, अगन्यास आदि के द्वारा कच्चे साधक के मन को विचलित कर देती है। नीतिकार कहते है—

> सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणाम् ।
> लज्जा तावद् विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव ।।
> भ्रूचापाक्षेपमुक्ता श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते ।
> यावल्लीलावतीना न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणा पतन्ति ।।

अर्थात्—पुरुष सन्मार्ग पर तभी तक टिकता है, और इन्द्रियो पर भी तभी तक अपना प्रभुत्व रखता है, तथा लज्जा भी तभी तक करता है, एव विनय भी तभी तक रखता है, जब तक लीलावती स्त्रियो के द्वारा भ्रूकुटिरूपी धनुष को कान तक खीचकर चलाये हुए नीलपक्ष वाले दृष्टिबाण उस पर नही गिरे ह।

इसीलिए शास्त्रकार इस बात को एक दृष्टान्त देकर समझाते है, जैसे इस लोक मे वैतरणी नदी को पार करना अत्यन्त कठिन माना जाता ह, वैसे ही जो अविवेकी (असावधान या गाफिल) साधक है, उसके लिए नारी (नारी-मोहरूप) के उपसर्ग नद का पार करना अत्यन्त दुष्कर है, अत्यन्त दुस्तर है।

मूल पाठ

जेहिं नारीण सजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता ।
सव्वमेय निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ।।१७।।

सस्कृत छाया

यैर्नारीणा सयोगा पूजना पृष्ठत कृता ।
सर्वमेतन्निराकृत्य ते स्थिता सुसमाधिना ।।१७।।

अन्वयार्थ

(जेहिं) जिन पुरुषो ने (नारीण सजोगा) स्त्रियो का ससर्ग (पूयणा) काम-शृगार की ओर (पिट्ठतो कता) पीठ फेर ली है, मुख मोड लिया है, (ते) वे साधक (एय सव्व निराकिच्चा) समस्त उपसर्गो का निराकरण—उन्हे पराजित करके (सुसमाहिए ठिया) पसन्नचित्त होकर रहते है।

भावार्थ

जिन साधको ने स्त्री-ससर्ग और कामशृङ्गार से मुख मोड लिया है, वे समस्त उपसर्गो को जीतकर उत्तम समाधि मे लीन रहते है।

नही जाता। वे धर्मरूप प्रधान पुरुषार्थ मे ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते है।

जिन साधको का समय धर्मपुरुषार्थ मे व्यतीत होता हे, वे धर्म मे इतने अभ्यस्त होते है कि विघ्नबाधाएँ या विपत्तियाँ आने पर भी वे धर्माचरण छोडते नही, बल्कि परीषह और उपसर्ग को भी धीरतापूर्वक सहन करते है। क्योकि वे वाल्यकाल से ही विषयभोगो का ससर्ग न करते हुए तपस्या मे प्रवृत्त रह चुके है, इसलिए कर्मविदारण करने मे समर्थ धीर है। चाहे कितने ही सकट मे पडे हो, अथवा उनके सामने स्नेहबन्धन मे फँसाने के कितने ही अनुकूल उपसर्ग हो, किन्तु स्नेहबन्धन से उन्मुक्त वे साधक असयमी जीवन की कदापि इच्छा नही करते। अथवा वे जीवन-मरण मे नि स्पृह रहकर सयमानुष्ठान मे दत्तचित्त रहते है। यही वात शास्त्रकार ने गाथा के उत्तरार्ध मे कह दी हे—**'ते धीरा बधणुम्मुक्का, नावकखति जीविय।'**

मूल पाठ

जहा नई वेयरणी दुत्तरा इह समता ।
एव लोगसि नारीओ दुरुत्तरा अमईमया ॥१६॥

सस्कृत छाया

यथा नदी वैतरणी दुस्तरेह सम्मता।
एव लोके नार्य्यो दुस्तरा अमतिमता ॥१६॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (इह) इस लोक मे (वेयरणी नई) वैतरणी नदी (दुत्तरा समता) दुस्तर मानी गयी है, (एव) इसी तरह (लोगसि) लोक मे (नारीओ) स्त्रियाँ (अमईमया) अविवेकी मनुष्य द्वारा (दुरुत्तरा) दुस्तर मानी गयी है।

भावार्थ

जैसे इस लोक मे अत्यन्त वेग वाली वैतरणी नदी को पार करना अत्यन्त दुष्कर माना गया है, वैसे ही इस ससार मे कामिनियाँ अविवेकी साधक पुरुष के लिए अत्यन्त दुस्तर मानी गयी है।

व्याख्या

अविवेकी साधक के लिए स्त्रीपरीषह दुर्लंघ्य

इस गाथा मे एक अनुकूल उपसर्ग—स्त्रीपरीपह को साधक के लिए पार करना दुष्कर वताया है—**'एव लोगसि नारीओ दुरुत्तरा अमईमया।'**

वास्तव मे मोक्षार्थी साधक के लिए स्त्रीमोहरूप उपसर्ग पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। वडे-वडे पहुँचे हुए साधक भी स्त्रीमोह पर विजय पाने मे

लडखडा जाते हैं। वे चाहे सग्राम मे वहुत ही वहादुरी दिखा सकते हो, परन्तु स्त्री के कटाक्ष के आगे पराजित हो जाते है। कामिनियाँ हावभाव, कटाक्ष, भ्रूभग, अगन्यास आदि के द्वारा कच्चे साधक के मन को विचलित कर देती हैं। नीतिकार कहते हैं—

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणाम् ।
लज्जा तावद् विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव ।।
भ्रूचापाक्षेपमुक्ता श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते ।
यावल्लीलावतीना न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणा पतन्ति ।।

अर्थात्—पुरुष सन्मार्ग पर तभी तक टिकता है, और इन्द्रियो पर भी तभी तक अपना प्रभुत्व रखता है, तथा लज्जा भी तभी तक करता है, एव विनय भी तभी तक रखता है, जब तक लीलावती स्त्रियो के द्वारा भ्रूकुटिरूपी धनुष को कान तक खीचकर चलाये हुए नीलपक्ष वाले दृष्टिबाण उस पर नही गिरे ह।

इसीलिए शास्त्रकार इस बात को एक दृष्टान्त देकर समझाते ह, जैसे इस लोक मे वैतरणी नदी को पार करना अत्यन्त कठिन माना जाता ह, वैसे ही जो अविवेकी (असावधान या गाफिल) साधक हे, उसके लिए नारी (नारी-मोहरूप) के उपसर्ग नद का पार करना अत्यन्त दुष्कर है, अत्यन्त दुस्तर हैं।

मूल पाठ

जेहिं नारीण सजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता ।
सव्वमेय निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ।।१७।।

सस्कृत छाया

यैर्नारीणा सयोगा पूजना पृष्ठत कृता ।
सर्वमेतन्निराकृत्य ते स्थिता सुसमाधिना ।।१७।।

अन्वयार्थ

(जेहिं) जिन पुरुषो ने (नारीण सजोगा) स्त्रियो का ससर्ग (पूयणा) काम-श्रृगार की ओर (पिट्ठतो कता) पीठ फेर ली है, मुख मोड लिया है, (ते) वे साधक (एय सव्व निराकिच्चा) समस्त उपसर्गो का निराकरण—उन्हे पराजित करके (सुसमाहिए ठिया) पसन्नचित्त होकर रहते हैं।

भावार्थ

जिन साधको ने स्त्री-ससर्ग और कामश्रृङ्गार से मुख मोड लिया है, वे समस्त उपसर्गो को जीतकर उत्तम समाधि मे लीन रहते है।

व्याख्या

स्त्रीससर्ग विमुख ' सर्व-उपसर्ग विजेता

जिन साधको ने स्त्रीससर्ग को अनर्थकर तथा परिणाम मे कटुफल देने वाला समझकर तिलाजलि दे दी है, तथा कामोत्तेजक वस्त्र, अलकार, पुष्पमाला, सुगन्धित पदार्थ आदि कामश्रृङ्गारो का भी त्याग कर दिया है, वे क्षुधा, पिपासा, अरति, स्त्रीचर्या आदि सभी अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गो को मिनटो मे जीत लेते हैं। इतना ही नही, उपसर्गो के आने पर भी वे उनको अपने पर हावी नही होने देते, न अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गो के समय क्षुब्ध होते है और न ही धर्माचरण का त्याग करते है। वे साधक प्रसन्नतापूर्वक सुसमाधि मे स्थिर रहते है। इसे ही शास्त्रकार कहते है—**'जेहिं नारीण ठिआ सुसमाहिए।'** जो कामभोगासक्त एव स्त्रीससर्ग आदि परीषहो एव उपसर्गो से पराजित हो जाते हैं, वे आग पर पडी हुई मछली की तरह राग की आग मे जलते-तडपते हुए अशान्तिपूर्वक रहते है।

मूल पाठ

एए ओघं तरिस्सति, समुद्द ववहारिणो ।
जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चती सयकम्मुणा ॥१८॥

संस्कृत छाया

एते ओघ तरिष्यन्ति समुद्र व्यवहारिण ।
यत्र प्राणा विषण्णा कृत्यन्ते स्वकर्मणा ॥१८॥

अन्वयार्थ

(एए) अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गो को जीतने वाले ये पूर्वोक्त पुरुष **(ओघ)** ससार को **(तरिस्सति)** पार करगे **(समुद्द ववहारिणो)** जैसे समुद्र के आश्रय से व्यापार करने वाले वणिक् समुद्र को पार करते है। **(जत्थ)** जिस ससार मे **(विसन्नासि)** पडे हुए **(पाणा)** प्राणी **(सयकम्मुणा)** अपने-अपने कर्मो से **(किच्चती)** पीडित किये जाते है।

भावार्थ

अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गो को जीतकर महापुरुषो द्वारा आचरित मार्ग का अनुसरण करने वाले धीर साधक, जिस ससारसागर मे पडे हुए प्राणी अपने कर्मों के प्रभाव से नाना प्रकार की पीडा पाते है, उस ससारसागर को पार करेंगे, जिस तरह समुद्रयात्रा करके दूसरे पार जाकर व्यापार करने वाले वणिक् समुद्र आदि को पार कर लेते है।

व्याख्या

उपसर्ग-विजेता साधक ही संसारसागर-पारगामी होता है

इस गाथा मे बताया गया है कि अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को जीतने वाले

मुनि ससारसागर पार कर लेते है। कैसे ? इसी को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—
'एए ओघ तरिस्सति समुद्द ववहारिणो।'

आशय यह है कि जैसे सामुद्रिक व्यापारी समुद्र की छाती पर अपनी माल से लदी जहाजे चलाकर लवणसमुद्र को पार कर लेते है, वैसे ही मोक्षयात्री साधक भी भावरूपी ओघ—ससारसागर को सयम या धर्मरूपी जहाज के द्वारा पार कर लेंगे।

परन्तु जो लोग स्त्रीससर्ग के कारण ससारसागर मे पडे हुए हैं, वे जीव अपने किये हुए असातावेदनीय के उदयरूप पापकर्मो के प्रभाव से दुख भोगते है।

मूल पाठ

त च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे ।
मुसावायं च वज्जिज्जा, अदिन्नादाण च वोसिरे ॥१९॥

सस्कृत छाया

तच्च भिक्षु परिज्ञाय सुव्रत समितश्चरेत् ।
मृषावादञ्च वर्जयेत्, अदत्तादान च व्युत्सृजेत् ॥१९॥

अन्वयार्थ

(भिक्खू) साधु **(त च परिण्णाय)** पूर्वोक्त बातो को जानकर **(सुव्वते)** उत्तम व्रतो से युक्त तथा **(समिते)** पचसमितियो से युक्त रहकर **(चरे)** विचरण करे। **(मुसावाय च वज्जिज्जा)** मृषावाद को छोड दे **(अदिन्नादाण च वोसिरे)** और अदत्तादान का त्याग कर दे।

भावार्थ

पूर्वोक्त गाथाओ मे जो बाते (अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग के सम्बन्ध मे) कही गयी है, उन्हे ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से मृषावाद एव अदत्तादान के त्याग के साथ ही उत्तम सुव्रती एव समितियुक्त साधक उपसर्गो की गुलामी या पराजितता का त्याग करे।

व्याख्या

उपसर्गविजयी साधु कौन, क्या करे ?

पहले कहा जा चुका है कि "स्त्रियाँ वैतरणी की तरह दुस्तर है, अत जो स्त्रीससर्ग का त्याग कर देते है, वे ससारसागर को पार कर लेते है, किन्तु जो स्त्री-ससर्गी हैं, वे स्वकर्मो मे पीडित किये जाते है।" इन सब बातो को सुव्रती और पचसमितिधर साधु भलीभाँति जानकर– अर्थात् स्त्रीससर्ग को त्याग करने योग्य तथा सयम को अपनाने योग्य समझकर सयम का अनुष्ठान करे।

सुव्वते समिते चरे—यहाँ साधु के मूलगुणो और उत्तरगुणो, दोनो का पालन—आचरण करना बताकर शास्त्रकार ने जिन व्रतो मे साधक फिसल जाता है, उनके विषय मे सकेत किया है—**मुसावाय च वज्जिज्जा, अदिन्नादाण च वोसिरे।** अर्थात् वह साधक मृषावाद और अदत्तादान दोनो से अच्छी तरह दूर रहे। इन दोनो से दूर रहेगा तथा महाव्रतो और समितियो का पालन भलीभाँति करेगा, तभी वह साधक उपसर्गो को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उन्हे छोडेगा, अर्थात् आने वाले उपसर्गो के वश मे नही होगा, उन्हे जीत लेगा। यहाँ बीच मे 'च' शब्द पडा है, उससे मैथुनविरमण महाव्रत तथा अपरिग्रह महाव्रत का भी ग्रहण किया जा सकता है। अर्थात् साधु अपना कल्याण समझकर पच महाव्रतो एव समितियो के पालन मे दत्तचित्त रहे।

मूल पाठ

उड्ढमहे तिरियं वा, जे केई तसथावरा ।
सव्वत्थ विरति कुज्जा, सति निव्वाणमाहिय ॥२०॥

संस्कृत छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् ये केचित् त्रसस्थावरा ।
सर्वत्र विरति कुर्य्यात् शान्तिनिर्वाणमाख्यातम् ॥२०॥

अन्वयार्थ

(उड्ढ) ऊर्ध्व—ऊपर, **(अहे)** नीचे तथा **(तिरिय)** तिरछे **(जे केई तसथावरा)** जो कोई भी त्रस और स्थावर प्राणी है, **(सव्वत्थ)** सर्वकाल मे **(विरति)** उनकी हिंसा मे विरति-निवृत्ति **(कुज्जा)** करनी चाहिए। **(सति निव्वाण)** ऐसा करने से शान्तिरूपी निर्वाणपद की प्राप्ति **(आहिय)** कही गई है।

भावार्थ

ऊपर, नीचे अथवा तिरछे लोक मे जो त्रस या स्थावर जीव निवास करते है, उनकी हिसा से सर्वदा निवृत्त रहना चाहिए। ऐसा करने से साधक को परमशान्तिरूपी निर्वाणपद की प्राप्ति होती है, ऐसा सर्वज्ञो ने कहा है।

व्याख्या

सर्वत्र सर्वदा अहिंसा पालन से ही निर्वाणप्राप्ति

पूर्वगाथा मे मृषावाद, अदत्तादान और उपलक्षण से मैथुन तथा परिग्रह से विरति की प्रेरणा दी गई थी, इस गाथा मे शास्त्रकार हिंसात्याग की प्रेरणा दे रहे हैं—**'उड्ढमहे सति निव्वाणमाहिय।'**

आशय यह है कि ऊपर के क्षेत्र मे हो, या नीचे के क्षेत्र मे हो, या तिरछे क्षेत्र मे हो, जो भी जीव हो, उसकी हिंसा से साधक को निवृत्त होना चाहिए। यहाँ

उड्ढ अहे वा तिरिय शब्द क्षेत्र का सूचक है। ससार मे मुख्यतया दो प्रकार के प्राणी होते है—त्रस और स्थावर। जो प्राणी स्वय चलते-फिरते स्थूल आँखो से दिखाई देते है—अथवा जो भय पाते है, वे त्रस हे। और जो प्राणी चलते-फिरते नही, किन्तु सदा स्थित रहते है तथा एक ही इन्द्रिय—स्पर्शेन्द्रिय से युक्त सुपुप्त चेतना वाले हैं, वे स्थावर कहलातेहै। त्रस द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक है। उनमे से पचेन्द्रिय जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प एव भुजपरिसर्प, फिर देवता, नारक और तिर्यञ्च भी है, तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक, गर्भज और सम्मूच्छिम, आदि भेद भी होते हैं। स्थावर प्राणियो के पृथ्वी, जल तेज, वायु और वनस्पति ये ५ भेद हैं, फिर इनके सूक्ष्म-बादर, पर्याप्तक-अपर्याप्तक ये भेद भी होते है। यहाँ त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा का निपेध करके द्रव्यप्राणातिपात का ग्रहग किया गया है। तथा '**सव्वत्थ**' शब्द से सर्वकाल मे अर्थात् सभी अवस्थाओ मे किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए, यह कहकर काल और भाव के भेद से युक्त प्राणातिपात का ग्रहण किया गया हे। इस प्रकार १४ ही जीवस्थानो मे तीन करण और तीन योग (करना-कराना-अनुमोदन, तथा मन-वचन-काया) से प्राणातिपात से निवृत्त हो जाना चाहिए।

'**सतिनिव्वाणमाहिय**' पूर्वगाथा तथा इस गाथा के द्वारा प्राणातिपातविरति आदि पाँचो मूलगुणो—महाव्रतो तथा समिति आदि उत्तरगुणो का फन नाग लेकर वताने के लिए शास्त्रकार इस गाथा के चौथे चरण मे कहते है कि शान्ति ही निर्वाणपद कहा गया है। शान्ति का अर्थ है—कर्मरूपी दाह का उपशमन—शान्त हो जाना। वह समस्त दु खो की निवृत्तिस्वरूप है। अत चरणकरण (मूलगुण—उत्तरगुण) का आचरण करने वाले साधक को वह शान्तिरूपी निर्वाणपद की प्राप्ति अवश्य होती है, ऐसा कहा गया है।

मूल पाठ

[1]इम च धम्ममादाय, कासवेण पवेइय ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२१॥
सखाय पेसल धम्म, दिट्ठिम परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाय परिव्वएज्जासि ॥२२॥

॥त्ति बेमि॥

---

१ ये दोनो गाथाएँ इसी अध्ययन के तीसरे उद्देशक की समाप्ति मे दी गयी है। अत ये दोनो दुबारा ज्यो की त्यो यहाँ प्रस्तुत की गयी है। —सम्पादक

सस्कृत छाया

इम च धर्ममादाय, कासवेण प्रवेदितम् ।
कुर्यात् भिक्षुर्ग्लानस्याग्लानतया समाहित ॥२१॥
सख्याय पेशल धर्म, दृष्टिमान् परिनिर्वृत ।
उपसर्गान् नियम्य, आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥२२॥
॥इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(कासवेण पवेइय) काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीरस्वामी द्वारा कहे गये (इम च धम्ममादाय) इस धर्म को स्वीकार करके (समाहिए) समाधियुक्त (भिक्खू) साधु (अगिलाए) अग्लानभाव से (गिलाणस्स) रुग्ण साधु की (कुज्जा) सेवा करे।

(दिट्ठिम) सम्यग्दृष्टि (परिनिव्वुडे) रागद्वेषादि से निवृत्त—शान्त साधु (पेसल धम्म सखाय) मुक्ति प्रदान करने मे कुशल इस धर्म को सम्यक् प्रकार से जानकर (उवसग्गे) समस्त उपसर्गों पर (नियामित्ता) नियन्त्रण—विजय प्राप्त करके या समभावपूर्वक सहन करके (आमोक्खाय) मोक्षप्राप्ति तक (परिव्वए) सयम का अनुष्ठान करे।

भावार्थ

काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित इस मोक्ष-प्राप्ति-कुशल धर्म को स्वीकार करके समाधियुक्त रहता हुआ अग्लानभाव से रुग्ण (ग्लान) साधु की सेवा करे।

सम्यग्दृष्टि शान्त साधक को मोक्ष प्रदान करने मे कुशल इस धर्म को अच्छी तरह जानकर उपसर्गों को सहन करता हुआ मोक्षप्राप्तिपर्यन्त सयम का अनुष्ठान करे।

व्याख्या

उपसर्गों पर विजय, धर्माचरण मोक्षप्राप्ति तक

तीसरे अध्ययन की समाप्ति मे शास्त्रकार ने इन दो गाथाओ की पुनरावृत्ति करके भी मोक्षप्राप्तिपर्यन्त उपसर्गों पर विजय एव धर्म का भलीभाँति निरीक्षण-परीक्षण करके धर्माचरण की बात कूट-कूट कर भर दी है। २१वी गाथा मे पूर्ववत् दुर्गति मे गिरते हुए जीव को धारण करने वाले श्रुतचारित्ररूप या मूल-उत्तरगुणरूप धर्म को आचार्य आदि के उपदेश से ग्रहण—स्वीकार करके अग्लानसाधु प्रसन्नचित्त से स्वय को कृतकृत्य एव धन्य मानता हुआ रोगी साधु की सेवा करे। ऐसा करते समय परीषह-उपसर्गों से न घबराए। उत्पन्न केवल-दिव्यज्ञान भव्यजीवोद्धारक भगवान् महावीर स्वामी ने इस धर्म को कहा था।

अपनी बुद्धि से या दूसरे से सुनकर मोक्ष प्रदान करने मे अनुकूल इस श्रुत-चारित्रधर्म को सुन-समझकर सम्यग्दृष्टि, शान्त या मुक्ततुल्य साधक मोक्षप्राप्ति-पर्यन्त सयम का आचरण भलीभाँति करे।

'इति' शब्द समाप्ति अर्थ मे है। 'ब्रवीमि' का अर्थ भी पूर्ववत् है।

इस प्रकार तृतीय अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्यासहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ सूत्रकृतागसूत्र का तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन स्त्रीपरिज्ञा

तृतीय अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है, अब चतुर्थ अध्ययन प्रारम्भ हो रहा है। तीसरे अध्ययन के साथ इस अध्ययन का सम्बन्ध यह है कि पूर्व अध्ययन मे अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन किया गया है, उसमे यह बताया गया था कि अनुकूल उपसर्ग प्राय दु सह होते है और उन उपसर्गो मे भी स्त्रीकृत उपसर्ग अत्यन्त दुस्तर होता है। अत चतुर्थ अध्ययन मे स्त्रीकृत उपसर्गो पर विजय प्राप्त करने के लिए उपदेश दिया गया है। इसी सन्दर्भ मे इस अध्ययन—स्त्रीपरिज्ञा के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार होते हैं। उपक्रम मे अर्थाधिकार यहाँ दो प्रकार का होना सम्भव है—अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार।

चतुर्थ अध्ययन का सक्षिप्त परिचय

अध्ययन अर्थाधिकार तो यहाँ स्पष्ट है। इस स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन मे बताया गया है कि साधुओ पर किस-किस प्रकार से स्त्रीजन्य-उपसर्ग आता है? साधु जब किसी स्त्री के अधीन (गुलाम) हो जाता है, तब स्त्री उस साधु के सिर पर पाद-प्रहार करती, रूठ जाती है, कभी उसे अपने पैरों को रचाने, कमर दबवाने, अन्न-वस्त्र लाने, तिलक और अजन लाने तथा पखा झलने का आदेश देती है। कभी बच्चे के खेलने के लिए खिलौने लाने तथा उसे गोद मे लेकर खिलाने का आदेश देती है। कभी कपडे धुलवाती है, कभी पानी भरवाती है, इत्यादि विविध पहलुओ से स्त्रीजन्य उपसर्गो का वर्णन किया गया है। अध्ययन-अर्थाधिकार के सम्बन्ध मे निर्युक्तिकार ने प्रथम अध्ययन की प्रस्तावना मे 'थीदोसविवज्जणा चेव' इस गाथा के द्वारा पहले ही बता दिया है।

उद्देशार्थाधिकार इस प्रकार है—इस अध्ययन मे दो उद्देशक हैं। इनके अर्थाधिकार के सम्बन्ध मे निर्युक्ति गाथाएँ इस प्रकार हैं—

पढमे सथव-सलवमाइहि खलणा उ होंति सीलस्स।
बितिए इहेव खलियस्स अवत्थाकम्मबधो य ॥५८॥
सूरा मो मन्नता कइतवियाहिं उवहिप्पाहाणाहिं।
गहिया हु अभय-पज्जोय-कूलवालादिणो बहवे ॥५९॥

तम्हा ण उ वीसभो गतव्वो णिच्चमेव इत्थीसु ।
पढमुद्दे से भणिया जे दोसा ते गणतेण ॥६०॥
सुसमत्थाऽवऽसमत्था कीरती अप्पसत्तिया पुरिसा ।
दीसती सूरवादी णारीवसगा ण ते सूरा ॥६१॥
धम्ममि जो दढा मई सो सूरो सत्तिओ य वीरो य ।
ण हु धम्मणिरुस्साहो पुरिसो सूरो सुवलिओऽवि ॥६२॥
एते चेव य दोसा पुरिससमाएवि इत्थीयाणपि ।
तम्हा उ अप्पमाओ विरागमग्गमि तासि तु ॥६३॥

प्रथम उद्देशक मे स्त्रीजन्य-उपसर्ग के सिलसिले मे यह वताया गया है कि स्त्रियो के साथ ससर्ग रखने, उनके साथ चारित्रनाशक वाते करने से स्त्रियो के कामोत्तेजक अगोपागो को विकारभाव से देखने आदि से अल्पपराक्रमी साधक का शील (चारित्र) भग हो जाता है। कभी वाचिक रूप से तो कभी मानसिक रूप से और प्रसगवश कायिक रूप से भी वह शीलभ्रष्ट हो जाता है। सयमपालन मे शिथिल होकर दीक्षा तक को छोड वैठता है।

द्वितीय उद्देशक मे यह बताया है कि शीलभ्रष्ट साधु को इसी जन्म मे स्वपक्ष और परपक्ष की ओर से कैसे-कैसे तिरस्कार आदि दुखो के प्रसग आते है ? शीलभग से हुए अशुभकर्मबन्ध के कारण अगले जन्मो मे उसे दीर्घकाल तक ससार-परिभ्रमण करना पडता है। स्त्रियां वडे-बडे बुद्धिमानो, शूरवीरो और तपस्वियो को कैसे शीलभ्रष्ट करके अपने वश मे कर लेती है ? इसके सम्बन्ध मे अत्यन्त बुद्धिमान अभयकुमार का, प्रचण्ड शूरवीर चन्द्रप्रद्योत का, महान् तपस्वी कूलवाल का दृष्टान्त देकर समझाया है कि ये तीनो कृत्रिमभाव वाली तथा कपट की खान कामिनियो के द्वारा कैसे वश मे किये जा चुके हैं। कई तो स्त्रियो के द्वारा कपट मे राज्यभ्रष्ट, शीलभ्रष्ट एव तपोभ्रष्ट किये गये है। कई शीलभ्रष्ट किये जाकर इसी जन्म मे तिरस्कृत, अपमानित एव पददलित हुए है।

इसलिए स्त्रियो को सुगतिमार्ग की अर्गला—विघ्नकारिणी, कपट से भरी हुई, पुरुप को ठगने मे अतिनिपुण जानकर विवेकी साधक को उनका कदापि विश्वास नही करना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि प्रथम उद्देशक मे जो स्त्रियो के दूपण वताये है तथा उसी सन्दर्भ मे द्वितीय उद्देशक मे जो दोष शीलभ्रष्टता के कारण उत्पन्न होते हैं, उन्हे वताकर विचारशील साधक को मार्गदर्शन दिया है कि स्त्रियो को कपटराशि की मूर्ति समझकर स्वपर-हितैपी साधक को सहसा उनके विश्वास मे नही बह जाना चाहिए।

शत्रुसैन्य को जीतने आदि मे अत्यन्त समर्थ पुरुषो को भी स्त्रियो ने पलभर मे अपने नेत्रो के कटाक्ष से ही वशीभूत करके डरपोक और असमर्थ बना दिया है।

ऐसे बहादुर आदमी भी अल्पपराक्रमी बनकर स्त्रियो की खुशामद करते हुए अशक्त बना दिये जाते हैं। अपने को शूरवीर मानने वाले पुरुष भी स्त्री के वश मे होकर दीन होते देखे गये है। इसलिए साधक को स्त्रियो पर सहसा विश्वास कर लेना खतरे से खाली नही है। कहा भी है—

को वीससेज्ज तासि कतिवयभरियाण दुव्वियड्ढाण ।
खणरत्तविरत्ताण धिरत्थु इत्थीण हिययाण ॥
अण्ण भणति पुरओ अण्ण पासे णिवज्जमाणीओ ।
अन्न तासि हियए ज च खम ते करिंति पुणो ॥
महिला य रत्तमेत्ता उच्छुखड च सक्करा चेव ।
सा पुण विरत्तमित्ता णिबकूरे वियेसेइ ॥
असयारभाण तहा सव्वेसि लोगगरहणिज्जाण ।
परलोगवेरियाण कारणय चेव इत्थीओ ॥
अहवा को जुवईण जाणइ चरिय सहावकुडिलाण ।
दोसाण आगरो च्चिय जाण सरीरे वसइ कामो ॥
मूल दुच्चरियाण हवइ उ णरयस्स वत्तणी विउला ।
मोक्खस्स महाविग्घ वज्जेयव्वा सया णारी ॥
धण्णा ते वरपुरिसा जे च्चिय मोत्तूण णिययजुवईओ ।
पव्वइया कयनियमा सिवमयलमणुत्तर पत्ता ॥

अर्थात्—कपट से भरी हुई और दुःख से समझाने योग्य तथा क्षणमात्र मे अनुराग करने वाली और क्षणभर मे विरक्त होने वाली स्त्रियो पर कौन विश्वास कर सकता है? पूर्वोक्त दुर्गुणो से भरे हुए स्त्रीहृदय को धिक्कार है! स्त्रियाँ सामने कुछ और कहती है, दूसरे के पास कुछ और करती है। उनके हृदय मे कुछ और बात होती है, किन्तु मन मे जो ठानती है, वही करती है। अनुरक्त होने पर स्त्री गन्ने या शक्कर की तरह मीठी होती है, किन्तु विरक्त होने पर वही स्त्री नीम के अकुर से भी अधिक कडवी हो जाती है। लोक मे निन्दा के योग्य तथा परलोक मे शत्रु के समान जितनी भी प्रवृत्तियां है, उन सबकी कारण स्त्रियाँ हैं। अथवा स्वभाव से ही कुटिल युवतियो के चरित्र को कौन जान सकता है, क्योकि दोषो का भण्डार कामदेव उनके शरीर मे वास करता है। स्त्रियाँ दुष्टआचरण की मूल हैं, नरक की विशाल राजमार्ग है, मोक्ष जाने मे महाविघ्नकारिणी है तथा स्त्रियाँ सदैव त्याज्य है। वे श्रेष्ठपुरुष धन्य हैं, जो अपनी सुन्दरी स्त्री को छोडकर दीक्षा धारण करके यम-नियम का पालन करके अचल अनुत्तर कल्याणस्थान मोक्ष को प्राप्त कर चुके है।

शूरवीर वही है, जिसकी बुद्धि श्रुतचारित्रधर्म मे निश्चल है, तथा जो इन्द्रियो और मनरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है।

जो पुरुष धर्माचरण करने मे उत्साही नही है, इसलिए शुभ अनुष्ठान मे उद्यम नही करता, तथा सत्पुरुषो द्वारा आचरित मार्ग से भ्रष्ट होता है, वह चाहे कितना ही बलवान् हो, उसे शूरवीर नही कहा जा सकता।

स्त्रियो के सम्बन्ध से पुरुष मे उत्पन्न होने वाले जितने दोष बताये गये हैं, उतने ही पुरुष के सम्बन्ध से स्त्री मे भी उत्पन्न होते हैं। इसी से निर्युक्तिकार कहते हैं—ये (पूर्वोक्त शीलनाश आदि) सभी दोष, उतने ही (कम-ज्यादा नही) पुरुषो के सम्बन्ध से स्त्रियो मे उत्पन्न होते ह। अत दीक्षा धारण की हुई साध्वियो को भी पुरुषो के साथ परिचय आदि के त्याग मे अप्रमत्त रहना ही श्रेयस्कर है। इस अध्ययन मे स्त्री के ससर्ग से पुरुष मे होने वाले दोषो के समान ही पुरुष के ससर्ग मे स्त्री मे होने वाले दोष भी बताये गये हैं, तथापि इसका नाम 'पुरुषपरिज्ञा' न रखकर 'स्त्रीपरिज्ञा' रखा गया है। उसका कारण है, अधिकतर दोष स्त्री-सम्पर्क से ही पैदा होते हैं।

निक्षेप की दृष्टि से स्त्री के विभिन्न अर्थ

इस अध्ययन का नाम स्त्रीपरिज्ञा है। इसमे स्त्री शब्द के नाम और स्थापना निक्षेप को छोडकर द्रव्य आदि निक्षेप पर विचार करते हैं—द्रव्यस्त्री दो प्रकार की है—आगम (ज्ञान) से और नोआगम से। जो पुरुष स्त्रीपदार्थ को जानता है, परन्तु उसमे उपयोग नही रखता, वह द्रव्य-स्त्री है, क्योकि उपयोग न रखना ही द्रव्य है। ज्ञशरीर और भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यस्त्री के तीन प्रकार हैं—एक है एक-भविका (जो जीव एक भव के बाद ही स्त्रीभव को प्राप्त करने वाला है), दूसरी है—बद्धायुष्का (जिसने स्त्री की आयु बाँध ली है), तथा तीसरी है—अभिमुखनामगोत्रा (जिस जीव के स्त्रीनामगोत्र अभिमुख हो)।

इसके अतिरिक्त चिह्नस्त्री, वेदस्त्री और अभिलापस्त्री ये भी स्त्री अर्थ के द्योतक है। जो चिह्नमात्र से स्त्री है अथवा स्त्री के स्तन आदि अगोपाग तथा स्त्री की तरह की पोशाक आदि का धारण करना, अथवा जिस महान् आत्मा का स्त्रीवेद नष्ट हो गया है, ऐसा छद्मस्थ या केवली अथवा अन्य कोई जीव जो स्त्री का वेष धारण करता है, वह चिह्नस्त्री है। पुरुष भोगने की इच्छारूप स्त्रीवेद के उदय को वेदस्त्री कहते है। जो कहा जाता है, उसे अभिलाप कहते हैं। स्त्रीलिंग को कहने वाला शब्द अभिलापस्त्री है। जैसे माला, मैना, सीता, गीता आदि शब्द।

भावस्त्री दो प्रकार की है आगम से और नोआगम से। जो जीव स्त्री-पदार्थ को जानता हुआ उसमे उपयोग रखता है, वह आगम से भावस्त्री है। नोआगम से भावस्त्री वह है, जो स्त्रीवेदरूप वस्तु मे उपयोग रखता है, क्योकि उपयोग उस जीव से भिन्न नही होता। जैसे अग्नि मे उपयोग रखने वाला बालक भी अग्नि कहलाता है। अथवा स्त्रीवेद को उत्पन्न करने वाले उदयप्राप्त जो कर्म

ऐसे वहादुर आदमी भी अल्पपराक्रमी वनकर स्त्रियो की खुशामद करते हुए अशक्त वना दिये जाते है। अपने को शूरवीर मानने वाले पुरुप भी स्त्री के वश मे होकर दीन होते देखे गये हैं। इसलिए साधक को स्त्रियो पर सहसा विश्वास कर लेना खतरे से खाली नही है। कहा भी है—

को वीससेज्ज तासि कतिवयभरियाण दुव्वियड्ढाण ! ।
खणरत्तविरत्ताण धिरत्थु इत्थीण हिययाण ।।
अण्ण भणति पुरओ अण्ण पासे णिवज्जमाणीओ ।
अन्न तासि हियए ज च खम ते करिति पुणो ।।
महिला य रत्तमेत्ता उच्छुखड च सक्करा चेव ।
सा पुण विरत्तमित्ता णिबकूरे विसेसेइ ।।
असयारभाण तहा सव्वेसि लोगगरहणिज्जाण ।
परलोगवेरियाण कारणय चेव इत्थीओ ।।
अहवा को जुवईण जाणइ चरिय सहावकुडिलाण ।
दोसाण आगरो च्चिय जाण सरीरे वसइ कामो ।।
मूल दुच्चरियाण हवइ उ णरयस्स वत्तणी विउला ।
मोक्खस्स महाविग्घ वज्जेयव्वा सया णारी ।।
धण्णा ते वरपुरिसा जे च्चिय मोत्तूण णिययजुवईओ ।
पव्वइया कयनियमा सिवमयलमणुत्तर पत्ता ।।

अर्थात्—कपट से भरी हुई और दु ख से समझाने योग्य तथा क्षणमात्र मे अनुराग करने वाली और क्षणभर मे विरक्त होने वाली स्त्रियो पर कौन विश्वास कर सकता है ? पूर्वोक्त दुर्गुणो से भरे हुए स्त्रीहृदय को धिक्कार है ! स्त्रियाँ सामने कुछ और कहती है, दूसरे के पास कुछ और करती हैं। उनके हृदय मे कुछ और बात होती है, किन्तु मन मे जो ठानती हैं, वही करती हैं। अनुरक्त होने पर स्त्री गन्ने या शक्कर की तरह मीठी होती है, किन्तु विरक्त होने पर वही स्त्री नीम के अकुर से भी अधिक कडवी हो जाती है। लोक मे निन्दा के योग्य तथा परलोक मे शत्रु के समान जितनी भी प्रवृत्तियाँ है, उन सबकी कारण स्त्रियाँ है। अथवा स्वभाव से ही कुटिल युवतियो के चरित्र को कौन जान सकता है, क्योकि दोषो का भण्डार कामदेव उनके शरीर मे वास करता है। स्त्रियाँ दुष्टआचरण की मूल हैं, नरक की विशाल राजमार्ग है, मोक्ष जाने मे महाविघ्नकारिणी है तथा स्त्रियाँ सदैव त्याज्य है। वे श्रेष्ठपुरुष धन्य है, जो अपनी सुन्दरी स्त्री को छोडकर दीक्षा धारण करके यम-नियम का पालन करके अचल अनुत्तर कल्याणस्थान मोक्ष को प्राप्त कर चुके है।

शूरवीर वही है, जिसकी बुद्धि श्रुतचारित्रधर्म मे निश्चल है, तथा जो इन्द्रियो और मनरूपी शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर लेता है।

जो पुरुष धर्माचरण करने मे उत्साही नही है, इसलिए शुभ अनुष्ठान मे उद्यम नही करता, तथा सत्पुरुषो द्वारा आचरित मार्ग से भ्रष्ट होता है, वह चाहे कितना ही बलवान् हो, उसे शूरवीर नही कहा जा सकता।

स्त्रियो के सम्बन्ध से पुरुष मे उत्पन्न होने वाले जितने दोष बताये गये हैं, उतने ही पुरुष के सम्बन्ध से स्त्री मे भी उत्पन्न होते हैं। इसी से निर्युक्तिकार कहते हैं—ये (पूर्वोक्त शीलनाश आदि) सभी दोष, उतने ही (कम-ज्यादा नही) पुरुषो के सम्बन्ध से स्त्रियो मे उत्पन्न होते है। अत दीक्षा धारण की हुई साध्वियो को भी पुरुषो के साथ परिचय आदि के त्याग मे अप्रमत्त रहना ही श्रेयस्कर है। इस अध्ययन मे स्त्री के ससर्ग से पुरुष मे होने वाले दोषो के समान ही पुरुष के ससर्ग से स्त्री मे होने वाले दोष भी बताये गये हैं, तथापि इसका नाम 'पुरुषपरिज्ञा' न रखकर 'स्त्रीपरिज्ञा' रखा गया है। उसका कारण है, अधिकतर दोष स्त्री-सम्पर्क मे ही पैदा होते हैं।

निक्षेप की दृष्टि से स्त्री के विभिन्न अर्थ

इस अध्ययन का नाम स्त्रीपरिज्ञा है। इसमे स्त्री शब्द के नाम और स्थापना निक्षेप को छोडकर द्रव्य आदि निक्षेप पर विचार करते है—द्रव्यस्त्री दो प्रकार की है—आगम (ज्ञान) से और नोआगम से। जो पुरुष स्त्रीपदार्थ को जानता है, परन्तु उसमे उपयोग नही रखता, वह द्रव्य-स्त्री है, क्योकि उपयोग न रखना ही द्रव्य है। ज्ञशरीर और भव्यशरीर से व्यतिरिक्त-द्रव्यस्त्री के तीन प्रकार है—एक है एक-भविका (जो जीव एक भव के बाद ही स्त्रीभव को प्राप्त करने वाला है), दूसरी है—बद्धायुष्का (जिसने स्त्री की आयु बाँध ली है), तथा तीसरी है—अभिमुखनामगोत्रा (जिस जीव के स्त्रीनामगोत्र अभिमुख हो)।

इसके अतिरिक्त चिह्नस्त्री, वेदस्त्री और अभिलापस्त्री ये भी स्त्री अर्थ के द्योतक हैं। जो चिह्नमात्र से स्त्री है अथवा स्त्री के स्तन आदि अगोपाग तथा स्त्री की तरह की पोशाक आदि का धारण करना, अथवा जिस महान् आत्मा का स्त्रीवेद नष्ट हो गया है, ऐसा छद्मस्थ या केवली अथवा अन्य कोई जीव जो स्त्री का वेष धारण करता है, वह चिह्नस्त्री है। पुरुष भोगने की इच्छारूप स्त्रीवेद के उदय को वेदस्त्री कहते हैं। जो कहा जाता है, उसे अभिलाप कहते है। स्त्रीलिंग को कहने वाला शब्द अभिलापस्त्री है। जैसे माला, मैना, सीता, गीता आदि शब्द।

भावस्त्री दो प्रकार की है आगम से और नोआगम से। जो जीव स्त्री-पदार्थ को जानता हुआ उसमे उपयोग रखता है, वह आगम से भावस्त्री है। नोआगम से भावस्त्री वह है, जो स्त्रीवेदरूप वस्तु मे उपयोग रखता है, क्योकि उपयोग उस जीव से भिन्न नही होता। जैसे अग्नि मे उपयोग रखने वाला बालक भी अग्नि कहलाता है। अथवा स्त्रीवेद को उत्पन्न करने वाले उदयप्राप्त जो कर्म

है, उनमे जो उपयोग रखता है, अर्थात् स्त्रीवेदनीय कर्मो को जो अनुभव करता है, वह नोआगम से भावस्त्री है। यह स्त्री शब्द का निक्षेप है।

स्त्री के विपक्षभूत पुरुष के निक्षेपदृष्टि से अर्थ

स्त्री के विपक्षभूत पुरुष के भी निक्षेपदृष्टि से विभिन्न अर्थ समझ लेने चाहिए। सज्ञा को नाम कहते है। जो सज्ञामात्र से पुरुष है, वह नामपुरुष है। लकडी आदि की वनायी हुई पुरुषाकृति स्थापनापुरुष है। द्रव्यपुरुष ज्ञशरीर, भव्य-शरीर और तद्व्यतिरिक्त नोआगम से तीन प्रकार का है—एकभविक, वद्धायुष्क एव अभिमुखनामगोत्र।

अथवा द्रव्य (धन मे जिसका मन अत्यन्त आसक्त है, उस द्रव्यप्रधान पुरुष को द्रव्यपुरुष कहते है। जैसे—मम्मण वणिक् इत्यादि। क्षेत्रपुरुष वह है, जो जिस क्षेत्र मे जन्मा है, जैसे सौराष्ट्र देश मे जन्मा हुआ पुरुष सौराष्ट्रिक कहलाता है। अथवा जिसको जिस क्षेत्र के आश्रय से पुरुषत्व प्राप्त होता है, वह उस क्षेत्र का क्षेत्रपुरुष है। जो जितने काल तक पुरुषवेदनीय कर्मो को भोगता है, वह कालपुरुष कहलाता है। जिसके पुरुषचिह्न (प्रजननलिंग) हो, वह प्रजननपुरुष है। अनुष्ठान को कर्म कहते है, जिसमे कर्म प्रधान है, उसे कर्मपुरुष कहते हैं। भोगप्रधान पुरुष को भोगपुरुष (चक्रवर्ती आदि) कहते है। धैर्य आदि गुणप्रधान पुरुष को गुणपुरुष कहते है। भावपुरुष वह है, जो पुरुषवेदनीय कर्मो को अनुभव कर रहा है। इस प्रकार पुरुष के दश निक्षेप होते हैं।

प्रथम उद्देशक स्त्रीससर्ग से शीलनाश

जैसा कि प्रथम उद्देशक के अर्थाधिकार मे वताया गया है कि स्त्रियो के साथ अतिससर्ग रखने से तथा चारित्रविघातक वाते करने आदि से शीलनाश कैसे-कैसे हो जाता है? इसी सन्दर्भ मे प्राप्त प्रसगानुसार इस उद्देशक की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

जे मायरं च पियर च विप्पजहाय पुव्वसजोग ।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणो विवित्तेसु ॥१॥
सुहुमेणं त परिक्कम्म, छन्नपएण इत्थिओ मदा ।
उव्वायपि ताउ जाणसु, जहा लिस्सति भिक्खुणो एगे॥२॥

सस्कृत छाया

य मातर च पितर च, विप्रहाय पूर्वसयोगम् ।
एक सहितश्चरिष्यामि आरतमैथुनो विविक्तेषु ॥१॥

सूक्ष्मेण त परिक्रम्य छन्नपदेन स्त्रियो मन्दा ।
उपायमपि ता जानन्ति यथा श्लिष्यन्ति भिक्षव एके ।।२।।

अन्वयार्थ

(जे) जो पुरुष इस विचार से दीक्षा ग्रहण करता है कि मैं (मायर पियर) माता-पिता तथा (पुव्वसजोग) पूर्वसम्बन्ध को (विप्पजहाय) छोडकर (आरतमेहुणो) एव मैथुनरहित होकर तथा (एगे सहिए) अकेले ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त रहता हुआ (विवित्तेसु) स्त्री, पशु और नपुसकरहित स्थानो मे (चरिस्सामि) विचरण करूँगा ।

(मदा इत्थिओ) अविवेकिनी स्त्रियाँ (सुहुमेण) छल से (त परिक्कम्म) साधु के पास आकर (छन्नपएण) गूढार्थ वाले शब्द से या कपट से साधु को शील-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती है । (ताउ उव्वायपि जाणसु) स्त्रियाँ वह उपाय भी जानती हैं, (जहा एगे भिक्खुणो लिस्सति) जिससे कोई साधु उनके साथ सग कर ले ।

भावार्थ

जो व्यक्ति इस आशय से दीक्षा अगीकार करता है कि मैं माता-पिता तथा समस्त पूर्वसम्बन्धो का परित्याग करके एव मैथुन से दूर रहकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र (रत्नत्रय) का पालन करता हुआ अकेला स्त्रीपशुनपुसक-रहित एकान्त, शान्त, पवित्र स्थानो मे विचरण करूँगा ।

अविवेकिनी स्त्रियाँ किसी छल से उस साधु के निकट आकर कपट से अथवा गूढ अर्थ वाले शब्दो द्वारा साधु को शील से भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। वे यह उपाय भी जानती है, जिससे कोई साधु उनका सग कर ले ।

व्याख्या

दीक्षा के समय साधक का सकल्प

इस गाथा मे स्त्रीपरिज्ञा के सम्बन्ध मे साधक को अपनी दीक्षा के समय के सकल्प का स्मरण कराया गया है—'जे मायर विवित्तेसु ।'

पूर्व अध्ययन की अन्तिम गाथा के साथ इस अध्ययन की पहली गाथा का सम्बन्ध यह है कि पूर्व अध्ययन की अन्तिम गाथा मे कहा गया था—'आमोक्खाय परिव्वए'' अर्थात् मोक्षप्राप्तिपर्यन्त दीक्षा का पालन करे । और मोक्ष तभी और उसी को प्राप्त हो सकता है, जब मोह का त्याग हो । इसलिए इस अध्ययन मे मोह

का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। मोह मे सर्वशिरोमणि है—स्त्रीजन्य मोह। अत इसी सिलसिले मे सबसे प्रथम गाथा मे साधु को दीक्षा-वेला मे ली हुई प्रतिज्ञा का स्मरण कराया गया है कि कोई उत्तम साधु जब दीक्षा ग्रहण करता है, तब माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री तथा सास-ससुर आदि सम्बन्धियो के जितने भी पिछले सम्बन्ध थे, उन्हे छोडकर माता-पिता आदि सम्बन्धो से रहित अकेला अथवा कषायरहित एव ज्ञान-दर्शन चारित्र से सम्पन्न अथवा स्वहित यानी परमार्थ का अनुष्ठान करने वाला होकर ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि "मै सयम का पालन करूँगा।" यह प्रतिज्ञा ही सर्वप्रधान है। उसी प्रतिज्ञा का एक अश इस प्रकार है कि "कामवासना से बिलकुल निवृत्त होने के कारण मैं स्त्री-पशु-नपुसकरहित पवित्र स्थानो मे विचरण करूँगा।"

इस प्रतिज्ञाश को स्मरण कराने का हेतु यह है कि जब साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञा ले लेता है, तब वह ऐसे स्थान मे, ऐसे वातावरण मे रात्रिनिवास नही कर सकता, जहाँ स्त्री रहती हो। तथा ऐसी गली, मोहल्ले मे भी वह चल-फिर नही सकता, जहाँ दुश्चरित्र स्त्रियाँ रहती हो, और न ही सिर्फ स्त्रियो या अकेली एक स्त्री के पास बैठ सकता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यरक्षा की नौ गुप्तियाँ स्त्रीजन्य उपसर्ग को जीतने के सम्बन्ध मे हैं। अत इस प्रतिज्ञा को स्मरण कराने का आशय भी यही है कि साधु अपनी दीक्षाग्रहण के समय की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण करके स्त्रीजन्य उपसर्ग से अपने आप को सुरक्षित रख सके। किन्तु ऐसे पवित्र, शान्त, स्त्री-पशु-नपुसकरहित एकान्त स्थान मे भी साधु के समक्ष अविवेकी स्त्रियो द्वारा कैसे-कैसे उपसर्ग किये जाते हैं ? यह अगली गाथाओ मे शास्त्रकार क्रमश बताते हैं—

अविवेकी स्त्रियों द्वारा साधु को शीलभ्रष्ट करने का प्रयत्न

इस गाथा मे स्त्रीजन्य उपसर्ग का एक पहलू दिया गया है। शास्त्रकार ने साधु को अविवेकिनी स्त्रियो द्वारा शीलभ्रष्ट करने की एक झाँकी प्रस्तुत की है। कई अविवेकिनी रमणियाँ किसी दूसरे कार्य के बहाने से शीलवान साधु के पास आकर बैठ जाती हैं अथवा इधर-उधर के पुराने गार्हस्थ्य या दाम्पत्य-सस्मरण याद दिलाकर साधक को शीलभ्रष्ट कर देती है या शीलभ्रष्ट होने योग्य बना देती है। जैसे नानाप्रकार के छल-कपट करने मे निपुण, अनेक प्रकार कामविलासो को पैदा करने वाली, कामवासना की प्रबलता के कारण हिताहित-विचारशून्य मूढ मागध वेश्या आदि रमणियो ने कूलबालुक आदि तपस्वियो को शीलभ्रष्ट कर डाला था। इसी तरह रमणियाँ साधु को शीलभ्रष्ट कर डालती हैं। तात्पर्य यह है कि कई कामुक स्त्रियाँ भाई, पुत्र आदि के बहाने से साधु के पास आकर धीरे-धीरे उसे सयम से पतित कर देती हैं। किसी अनुभवी ने कहा है —

पियपुत्तभाइकिडगा, णत्तूकिडगा य सयणकिडगा य।
एते जोव्वणक्किडगा पच्छन्नपई महिलियाण ॥

अर्थात्—प्रिय पुत्र, भाई, प्रिय नाती, तथा किसी स्वजन आदि ससारी सम्बन्ध के बहाने से गुप्त पति वना लेना तो स्त्रियो की नीति है।

इसीलिए शास्त्रकार कहते है—'**सुहुमेण त परिक्कम्म।**'

छन्नपएण—उन कामिनियो का साधु को शीलभ्रष्ट करने का दूसरा तरीका गूढ अर्थ वाले शब्दो के प्रयोग से फँसाने का है। इस प्रकार का कोई श्लोक, कविता या भजन बनाकर वे साधु के पास आकर सुनाती हे, जिससे उस श्लोक, कविता या भजन आदि मे उक्त कामिनी का मनोभाव झलक सके। इस सम्बन्ध मे वृत्तिकार ऐसा गुप्त अर्थ वाला एक श्लोक प्रस्तुत करते है—

काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शवरीषु।
मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे ! ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु ॥

इस श्लोक के चारो चरणो के प्रथम अक्षरो की योजना करने से '**कामेमि ते**' (मैं तुम्हे चाहती हूँ) यह वाक्य वनता है। अथवा गुप्त नाम के द्वारा या गूढार्थक मधुर वार्तालाप करके वे अपना जाल रचती है। स्त्रियाँ यह कामजाल कैसे विछाती है, और साधु कैसे फँस जाता है ? इसके सम्वन्ध मे उत्तरार्ध मे शास्त्रकार कहते है—'**उव्वायपि ताउ जाणसु, जहा लिस्सति भिक्खुणो।**' वे चालाक स्त्रियाँ साधु को अपने कामजाल मे फँसाने के अनेक तरीके जानती है, जिससे भोलेभाले साधक भी वेदमोहनीय कर्मोदयवश उनके कपटजाल मे फँसकर उन स्त्रियो मे आसक्त हो जाते है।

वे चालाक स्त्रियाँ शीलवान् और सावधान साधक को भी किस प्रकार मोहित कर लेती है, यह अगली गाथा मे शास्त्रकार बताते हैं—

मूल पाठ

पासे भिस णिसीयति, अभिक्खण पोसवत्थं परिहिति।
काय अहेवि दसति, बाहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वज्जे ॥३॥

सस्कृत छाया

पार्श्वे भृश निषीदन्ति, अभीक्ष्ण पोषवस्त्र परिदधति।
कायमधोऽपि दर्शयन्ति, बाहुमुद्धृत्य कक्षमनुव्रजेयु ॥३॥

अन्वयार्थ

(**पासे**) साधु के पास (**भिस णिसीयति**) वहुत अधिक वैठती है, (**अभिक्खण**) वार-वार (**पोसवत्थ**) सुन्दर कामोत्पादक वस्त्रो को ढीला होने का वहाना वनाकर (**परिहिति**) पहनती है। (**काय अहेवि दसति**) शरीर के निचले भाग (गुप्ताग) को

भी काम-उद्दीपित करने के लिए साधु को दिखलाती है (बाहू उद्धट्टु) तथा भुजा ऊँची करके (कक्खमणुव्वज्जे) काख दिखाती हुई साधु के सामने से जाती हैं।

भावार्थ

स्त्रियाँ साधु को कामजाल मे फँसाने के लिए उसके निकट अत्यन्त (बहुत देर तक या बहुत सटकर) बैठती है और कामपोषक सुन्दर बारीक वस्त्र को ढीला होने का बहाना बनाकर या अपने अग से फिसल जाने के बहाने बार-बार पहनती है। तथा वे अपने जघा आदि निचले भागो (गुप्तागो) को भी दिखाती है। कभी बाहे ऊँची करके अपने काख दिखाती हुई साधु के सामने से जाती है।

व्याख्या

स्त्रियो द्वारा कामजाल मे फँसाने के लिए अग प्रदर्शन

मायावती स्त्रियाँ साधु को अपने चगुल मे फँसाकर शीलभ्रष्ट करने के लिए जो मोहक तरीके अपनाती है, उसे शास्त्रकार इस गाथा मे बताते है। यहाँ सर्वत्र लिङ् लकार सम्भावना अर्थ मे है। अर्थात् साधु के सामने कामुक स्त्रियो द्वारा शीलभ्रष्ट करने के ये उपाय अजमाये जा सकते है। कई स्त्रियाँ तो बहुत देर-देर तक साधु के पास बैठ जाया करती है, या बहुत ही निकट सटकर बैठ जाती है। वे पास बैठकर धीरे-धीरे अपना मोहक जाल बिछाती हैं। साधु के प्रति स्नेह प्रगट करती हुई मीठी मीठी बाते बनाकर विश्वास पैदा करने हेतु वे उसके अत्यन्त निकट आकर बैठ जाती है। अथवा एकान्त मे कोई बात कहने के लिए बैठ जाती हैं।

कभी कभी वे कामवृद्धिकारक बारीक सुन्दर कपडो को बार-बार सिर से नीचे उतर जाने, फिसल जाने या ढीले हो जाने के बहाने से बार-बार ऊपर करती है, बाँधती है या पहनती हैं। वे साधु को अपनी कामेच्छा प्रकट करने के लिए प्राय ऐसा करती हैं। फिर साधु के मन मे कामवासना भडकाने के लिए वे जाघ, आदि नीचे के गुप्त अगो को दिखाती है। कभी-कभी अपनी बाहे ऊँची उठाकर काँख दिखलाती हुई साधु के सामने से होकर जाती है, ताकि उसके पुष्ट शरीर, लचकीली कमर, एव मासल भुजा को देखकर साधु मे कामवासना जाग जाय। निष्कर्ष यह है कि साधु को मोहित करने के लिए स्त्रियाँ इस प्रकार के विविध तरीके अपनाती हैं।

मूल पाठ

सयणासणेहिं जोगेहिं इत्थिओ एगता णिमंतंति।
एयाणि चेव से जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि ॥४॥

संस्कृत छाया

शयनासनेन योग्येन स्त्रिय एकदा निमन्त्रयन्ति ।
एतानि चैव स जानीयात् पाशान् विरूपरूपान् ॥४॥

अन्वयार्थ

(एगता) किसी समय (इत्थिओ) चालाक स्त्रियाँ (जोगेहिं) उपभोग करने योग्य (सयणासणेहिं) पलग, शय्या, आसन आदि का उपभोग करने के लिए (णिमतति) साधु को एकान्त मे आमन्त्रित करती है। (से) वह साधु (एयाणि) इन सब बातो को (विरूवरूवाणि) नाना प्रकार के (पासाणि) पाशबन्धन—कामजाल मे फँसाने बन्धन (जाणे) समझे।

भावार्थ

कभी-कभी चालाक स्त्रियाँ साधु को उपभोग्य सुन्दर पलग, शय्या, आसन आदि पर बैठने के लिए एकान्त मे आमन्त्रित करती है, मनुहार करती हैं। लेकिन विवेकी साधु इन सब बातो को कामजाल मे फँसाने के नाना प्रकार के बन्धन समझे।

व्याख्या

एकान्त मे भोग्य पदार्थो की मनुहार कामपाश के बन्धन

साधु कभी-कभी इतना बहक जाता है कि उसे होश ही नही रहता कि अमुक महिला द्वारा इतनी भक्ति क्यो की जा रही है? वह भक्ति के बहाने वाग्जाल मे फँसकर उसके आमन्त्रण पर उसके घर पर या एकान्त मे चला जाता है, फिर वह धूर्त नारी साधु को एकान्त में मौका देखकर कामजाल मे फँसाने हेतु कहती है—महात्मन्! इस पलग पर, इस गद्दे पर या शय्या पर विराजिए। इसमे कोई सजीव वस्तु नही है, प्रासुक है। अच्छा, और कुछ नही तो कम से कम इस कुर्सी पर या आरामकुर्सी पर जरा बैठ जाइए। इतनी दूर से चलकर पधारे हैं, जरा इस गलीचे पर बैठकर सुस्ता लीजिए।

इस प्रकार चालाक रमणियाँ शयन (शय्या पलग आदि), आसन (गलीचा, कुर्सी आदि) इत्यादि का उपभोग करने की प्रार्थना करती हैं। परन्तु परमार्थदर्शी, ज्ञेय बातो का ज्ञाता, अनुभवी साधक इन शयन, आसन आदि की प्रार्थना—मनुहार को स्त्री के मोहपाश मे फँसाने वाले बन्धन समझे। साधु उन प्रलोभनो को स्त्रियो का छलावा समझकर उन स्त्रिया के सग से दूर रहे। कई बार चालाक स्त्रियो की अतीव सेवाभक्ति के प्रलोभनो के कारण उनका सग दुस्त्यज्य होता है, लेकिन विवेकी साधु इन लुभावने फदो से अपने को बचाए।

मूल पाठ

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नोवि य साहसं समभिजाणे ।
णो सहियपि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥५॥

संस्कृत छाया

न तासु चक्षु सदध्यात्, नाऽपि च साहस समभिजानीयात् ।
न सहितोऽपि विहरेद्, एवमात्मा सुरक्षितो भवति ॥५॥

अन्वयार्थ

(तासु) उन स्त्रियो पर टकटकी लगाकर **(चक्खु नो सधेज्जा)** आँख न लगाए, न गडाए, आँख से आँख न मिलाए। **(नोवि य साहस समभिजाणे)** उनके साथ कुकर्म करने की सम्मति—स्वीकृति भी न दे। **(सहियपि नो विहरेज्जा)** उनके साथ ग्राम-नगर आदि मे विहार न करे, **(एव)** इस प्रकार **(अप्पा सुरक्खिओ होइ)** साधु की आत्मा सुरक्षित होती है।

भावार्थ

साधु स्त्रियो पर अपनी दृष्टि न गडावे, न टकटकी लगाकर देखे या आँख से आँख न मिलाए तथा उनके साथ कुकर्म करने का साहस न करे, न ही कुकर्म करने की स्वीकृति दे। उनके साथ ग्राम आदि मे विहार न करे, इस प्रकार साधु की आत्मा सुरक्षित होती है।

व्याख्या

स्त्रियो के वशीभूत न होने के नुस्खे

इस गाथा मे उन बातो का निषेध साधु के लिए किया गया है, जो उसके शील को भ्रष्ट कर देती हैं। और खास तौर से स्त्रीजन्य उपसर्ग हैं। ऐसे अनुकूल उपसर्गों मे कभी तो स्त्री स्वय किसी चीज का प्रलोभन देती है, कुकर्म मे प्रवृत्त करती है, कभी साधु उसे देखकर स्वय शील से डिगने लगता है। ऐसी लडखडाती अवस्था से साधु को कौन उबार सकता है ? उसकी आत्मा की कौन रक्षा कर सकता है ? शास्त्रकार कहते हैं—**'एवमप्पा सुरक्खिओ होइ।'** अर्थात् ये और इनके समान अन्य कई प्रकार के कामोत्तेजक या शीलनाशक कामजाल है, जिनसे साधु को स्वय बचना चाहिए। आशय यह है कि साधु स्त्रियो द्वारा की जाने वाली पूर्वोक्त प्रार्थनाओ को मोहपाश समझे, ऐसी स्त्रियो पर अपनी दृष्टि न दे, या उनकी दृष्टि से अपनी दृष्टि न मिलावे। पयोजनवश यदि उनकी ओर देखना पडे तो क्या करे ? इसके लिए कहा है—

कार्येऽपीषन् मतिमान् निरीक्षते योषिदगमस्थिरया ।
अस्निग्धया दृशाऽवज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥

अर्थात् काम पडने पर बुद्धिमान् स्त्री के अग की आर जरा-सी अस्थिर, अस्निग्ध, रूखी एव अवज्ञापूर्ण दृष्टि से देखे, ताकि अकुपित होते हुए भी बाहर से कुपित-सा प्रतीत हो।

किसी युवती की प्रार्थना पर साधु उसके साथ कुकर्म करना हर्गिज स्वीकार न करे। कारण, नरकगमन आदि कुशीलसेवन के परिणामो का ज्ञाता साधु यह भलीभाँति समझ ले कि स्त्री के साथ ससर्ग करना सग्राम मे उतरने के समान अति-साहस का कार्य है।

साधु स्त्रियो के साथ ग्रामानुग्राम विहार न करे, न उनके साथ एकान्त मे बैठे। स्त्रियो की एकान्त सगति करना साधु के लिए लोकापवाद, निन्द्य एव पाप-जनक है। कहा भी है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वासाऽप्यत्र मुह्यति ॥

अर्थात्—माँ, बहन एव पुत्री के साथ भी एकान्त स्थान मे नही बैठना चाहिए। क्योकि इन्द्रियाँ बडी बलवान् है, बडे-बडे विद्वानो को भी अकार्य मे प्रवृत्त कर देती हैं।

इस प्रकार स्त्रीससर्गों को हर हालत मे टालने से और आत्मभावो मे रमण करने से आत्मा सुरक्षित हो जाता है। स्त्रीससर्ग समस्त अनर्थो का कारण है, यह जानकर आत्महितैषी साधक को इसका दूर से ही त्याग कर देना चाहिए।

मूल पाठ

आमंतिय उस्सविया भिक्खु आयसा निमतंति।
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥६॥

सस्कृत छाया

आमन्त्र्य उच्छ्राय्य भिक्षुमात्मना निमत्रयन्ति।
एताश्चैव स जानीयात् शब्दान् विरूपरूपान् ॥६॥

अन्वयार्थ

(आमतिय) स्त्रियाँ साधु को सकेत देकर अर्थात् मैं आपके पास अमुक समय आऊँगी, इत्यादि प्रकार से आमत्रण देकर (उस्सविया) तथा अनेक प्रकार के वार्तालापो से विश्वास देकर (भिक्खु) साधु को (आयसा) अपने साथ सम्भोग करने या भोग भोगने के लिए (निमतति) आमन्त्रित—प्रार्थना करती है। अत (से) वह (एयाणि सद्दाणि) स्त्री सम्बन्धी इन शब्दो—बातो को (विरूवरूवाणि जाणे) नाना-प्रकार के पाशवन्धन समझे।

भावार्थ

स्त्रियाँ साधु को सकेत देती है, कि 'मैं अमुक समय आपके पास आऊंगी,' तथा विविध प्रकार की इधर-उधर की बातो से साधु को विश्वास दिलाती है। इसके पश्चात् वे अपने साथ सम्भोग करने के लिए साधु को

आमन्त्रित करती है, प्रार्थना करती है। अत विवेकी साधु स्त्री सम्बन्धी इन शब्दो—बातो को नाना प्रकार के पाशबन्धन समझे।

व्याख्या

स्त्रियो के मधुर शब्दो को मोहबन्धन माने

इस गाथा मे स्त्रीजन्य उपसर्ग का दूसरे पहलू से चित्रण किया गया है। स्त्रियाँ किसी पुरुप को अपने वाग्जाल मे कैसे फँसा लेती है? इसे शास्त्रकार बहुत ही नपे-तुले शब्दो मे कहते है—'आमतिय विरुवरूवाणि।'

आशय यह है कि कामिनियाँ स्वभाव से अकार्य करने को सहसा उद्यत रहती है। वे पहले साधु को इशारा करती है या वचन देती है कि "मैं अमुक समय आपके पास आऊँगी। आप भी वहाँ तैयार रहना।" इस प्रकार का आमत्रण देकर, फिर इधर-उधर के अनेक विश्वसनीय वचनो से वे साधु को विश्वास दिलाती है, ताकि वह सकोच छोड दे। वे साधु का भय मिटाने के लिए झूठ-मूठ कहती है—"मै अपने पति से पूछकर आपके पास आयी हूँ। अपने पति को भोजन कराकर, उनके पैर धोकर एव उन्हे सुलाकर यहाँ आयी हूँ। आप मेरे पर विश्वास कीजिए और मेरे पति की शका छोडकर निर्भय एव निश्चिन्त होकर मेरे साथ समागम कीजिए। नि सकोच होकर यह कार्य कीजिए। मेरा यह शरीर, हृदय, ये आभूपण, यह धन वगैरह सब आपका है। इस शरीर को आप चाहे जिस कार्य मे लगाएँ, आनन्द लूटे। मेरा शरीर आदि सब आपके चरणो मे समर्पित है। मैं तो आपके चरणो की दासी हूँ, मुझे अकशायिनी बनाइए।" या विविध वाग्जाल बिछाकर स्त्रियाँ साधु को विश्वस्त करके अपने साथ सम्भोग के लिए प्रार्थना करती है। नाना प्रकार के प्रलोभन के सब्जबाग दिखाती है। परन्तु परमार्थ को जानने वाला साधु स्त्री सम्बन्धी इन नाना शब्दादि विपयो को पाशस्वरूप समझे, क्योकि निश्चय ही ये स्त्री सम्बन्धी शब्दादि विपय दुर्गतिगमन के कारण है, मोक्षमार्ग मे अर्गला हैं। इनका परिणाम अत्यन्त बुरा है, यह जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से इन्हे त्याग दे।

मूल पाठ

मणबधणेहिं णेगेहिं, कलुणविणीयमुवगसित्ताण ।
अदु मजुलाइ भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥७॥

सस्कृत छाया

मनोबन्धनैरनेकै करुणविनीतमुपश्लिष्य ।
अथ मजुलानि भाषन्ते, आज्ञापयन्ति भिन्नकथाभि ॥७॥

अन्वयार्थ

(णेगेहिं मणबधणेहिं) अनेक प्रकार के चित्ताकर्पक मनोहारी उपायो के द्वारा

(**कलुणविणीयमुवगसित्ताण**) तथा करुणोत्पादक वाक्यो और विनीतभाव से साधु के पास आकर (**अदु मजुलाइ भासंति**) वे रमणियाँ मधुर-मधुर भाषण करती हैं, (**भिन्नकहाँहि आणवयंति**) और कामसम्बन्धी वार्तालाप के द्वारा साधु को अपने साथ कुकर्म करने की आज्ञा देती है।

भावार्थ

चालाक नारियाँ साधु के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अनेक प्रकार के मनोहारी उपाय आजमाती है। कभी वे करुणाजनक वाक्य बोलकर अनुनय-विनय करती हुई साधु के पास आती है। कभी साधु के पास आकर मधुर-मधुर बाते करती हैं। वे कामोत्तेजक वार्तालाप के द्वारा साधु को अपने साथ सम्भोग करने की आज्ञा दे देती है।

व्याख्या

चालाक स्त्रियो के द्वारा साधु को आकर्षित करने के उपाय

इस गाथा मे भी यह बताया गया है कि चालाक स्त्रियाँ किस प्रकार साधु को विविध मधुर उपायो से अपने साथ समागम के लिए मना लेती है, यहाँ तक कि अपना गुलाम बनाकर उसे समागम के लिए मजबूर कर देती है—'**मणबंधणेहिं णेगेहिं**।' अर्थात् सर्वप्रथम वे चतुर नारियाँ मन को कामपाश मे बाँध देने वाले विविध आकर्षणकारी दृश्यो, सगीतो, रसो, सुगन्धियो एव कोमल गुदगुदाने वाले स्पर्शों से लुभाकर अपनी ओर खीचती हैं। इसके लिए वे मधुर-मधुर वचन कहती हैं, आकर्षक शब्दो से सम्बोधित करती है, उस साधक की ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से कटाक्ष फेंककर अथवा आँखें या मुँह मटकाकर देखती हैं, कभी अपने स्तन, नाभि, कमर, जघा आदि अगो को दिखाती है, कभी मनोहर हावभाव, अभिनय या अग-विन्यास करती हैं, जिससे कि साधु उन पर मोहित हो जाय। कभी वे करुणा पैदा करने वाले मधुर आलाप करती हैं—"हे नाथ ! हे प्रिय ! हे कान्त ! हे स्वामी ! हे दयित ! हे जीवनाधार ! हे प्राणप्यारे ! आप मुझे प्राणो से भी बढकर प्रिय है। मैं तो आपके जीने से जीती हूँ, आप ही मेरे शरीर के मालिक है। मुझे आपने बहुत रुलाया, बहुत प्रतीक्षा करायी। अब तो बहुत हो चुकी। अब इन्कार करोगे तो मैं यही प्राण दे दूँगी। आपको मेरी सौगन्ध है। आप मुझे नही अपनाओगे तो मैं मर जाऊँगी। आपको नारीहत्या का पाप लगेगा। बस अब तो मुझे अपने चरणो की चेरी बना लें। मैं आपकी दासी बनकर आपकी हर तरह से सेवा करूँगी। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। निश्चित होकर सहवास करें।" इत्यादि करुणा-जनक, विश्वासोत्पादक मधुर वचनो से साधक के हृदय मे आकर्षण पैदा करके कामवासना भडका देती है। कभी वे साधु के पास आकर अनुनय-विनय करती है और साधु के हृदय मे काम का प्रबल ज्वर उत्पन्न कर देती है। कभी मधुर वचनो से

कहती हैं—"प्रिय ! अव तो मान जाइये न ! आप रूठिए मत । आप रूठेंगे तो मै भी रुठ जाऊँगी ।" कभी वे मन्द हास्य करती है—"नाथ ! अब तो आपको मै जाने न दूँगी । आप मुझे निराधार छोडकर कहाँ जाएँगे ?" कभी एकान्त मे कामवासना भडकाने वाली वातो से साधु के चित्त मे विकृति पैदा कर देती है । इस प्रकार साधु को किसी प्रकार मोहित एव वशीभूत करके वे स्त्रियाँ उसकी दुर्बलता को जानकर उसे गुलाम वना लेती हैं । फिर तो उसे इतना बाध्य कर देती है कि उसे मजबूर होकर उक्त कामिनियो के कहे अनुसार सहवास आदि करना पडता है ।

वे चतुर स्त्रियाँ किस प्रकार साधु को अपने मोहपाश मे बाँध लेती हैं ? इसे आगामी गाथा मे कहते हैं—

मूल पाठ

सीह जहा व कुणिमेण निब्भयमेगचरति पासेणं ।
एविथियाउ बधति, सवुडं एगतियमणगार ॥८॥

सस्कृत छाया

सिह यथाहि कुणिमेन निर्भयमेकचर पाशेन ।
एव स्त्रियो बध्नन्ति सवृतमेकतयमनगारम् ॥८॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे **(निब्भय)** निर्भय **(एगचर)** अकेले वन मे विचरण करने वाले **(सीह)** सिह को **(कुणिमेण)** मास खिलाकर **(पासेण)** पाश से **(बधति)** सिह पकडने वाले लोग वाँध लेते है । **(एव)** इसी तरह **(इत्थियाउ)** स्त्रियाँ **(सवुड)** मन-वचन-काया से गुप्त—सवृत रहने वाले शान्त **(एगतिय अणगार)** किसी अनगार को **(बधति)** अपने मोहपाश मे जकड लेती हैं ।

भावार्थ

जैसे सिह को पकडने वाले शिकारी मास का लोभ देकर अकेले निर्भय विचरण करने वाले सिह (वनराज) को अपने पाशबन्धन मे बाँध लेते है, वैसे ही चतुर स्त्रियाँ मन वचन-काया को सवृत—गुप्त रखने वाले शान्त उक्त अनगार को भी अपने मोहपाश मे जकड लेती है । जब वे मन-वचन-काया से गुप्त रहने वाले साधु को भी वश मे कर लेती हैं, तब सामान्य पुरुष की तो बिसात ही क्या ?

व्याख्या

सिह की तरह सवृत पुरुषसिह को भी वश मे कर लेती हैं

इस गाथा मे उन चतुर नारियो का सामर्थ्य दृष्टान्त देकर बताया है कि किस प्रकार वे कठोर सयमी साधु को भी अपने मोहपाश मे जकड लेती है—

'सीह जहा · एगतियमणगार ।' आशय यह है कि वन मे स्वच्छन्द विचरण करने वाला एकाकी वनराज कितना पराक्रमी होता हे ? किन्तु सिंह को पकडने वाले चतुर शिकारी उसे मास आदि का लोभ देकर विविध उपायो से उसके गले मे किसी प्रकार से फदा डालकर बाँध लेते हैं। वे उसे अनेक प्रकार की यातनाएँ देकर पालतू पशु की तरह काबू मे कर लेते हैं। ठीक इसी प्रकार कामकला-चतुर स्त्रियाँ पूर्वोक्त अनेक प्रकार के उपायो से मन-वचन-काया को गुप्त—सुरक्षित रखने वाले कठोर सयमी साधु को भी अपने वश मे कर लेती है, मोहपाश मे बाँध लेती है। यहाँ 'सवुड' पद देकर शास्त्रकार ने स्त्रियो की शक्ति का दिग्दर्शन किया है कि जब वे इतने सुसवृत साधु को भी अपना पथ बदलने को विवश कर सकती है, तब जिनके मन-वचन-काया सुरक्षित—गुप्त नही है, उनका तो कहना ही क्या ?

मूल पाठ

अह तत्थ पुणो णमयंती, रहकारो व णेमि आणुपुव्वीए ।
बद्धे मिए व पासेण फंदते वि ण मुच्चए ताहे ॥९॥

सस्कृत छाया

अथ तत्र पुनर्नमयन्ति, रथकार इव नेमिमानुपूर्व्या ।
बद्धो मृग इव पाशेन स्पन्दमानोऽपि न मुच्यते तस्मात् ॥९॥

अन्वयार्थ

(रहकारो) रथकार (णेमि व) जैसे नेमि—चक्र को (आणुपुव्वीए) क्रमश नमा (झुका) देता है, इसी तरह स्त्रियाँ साधु को (अह) अपने वश मे करने के पश्चात् (तत्थ) अपने इष्ट अर्थ मे क्रमश (णमयती) झुका लेती हैं। (मिए व) मृग की तरह (पासेण) पाश से (बद्धे) बँधा हुआ साधु (फदते वि) पाश से छूटने के लिए उछल-कूद मचाता हुआ भी (ताहे) उससे (ण मुच्चए) छूटता नही है।

भावार्थ

जैसे रथकार रथ की नेमि (पुट्ठी) को क्रमश नमा देता है, इसी तरह स्त्रियाँ साधु को अपने वश मे करके क्रमश अपने अभीष्ट अर्थ मे झुका लेती हैं। जैसे पाश मे बँधा हुआ मृग पाश से मुक्त होने के लिए बहुत छटपटाता है, पर छूट नही सकता, वैसे ही कामकलादक्ष ललनाओ के मोह-पाश मे बँधा हुआ साधु कितनी ही उछलकूद मचा ले, वह पाश से मुक्त नही हो सकता।

व्याख्या

एक बार मोहपाशबद्ध साधु छूट नहीं सकता

इस गाथा मे मोहपाशबद्ध साधु की कैसी दशा होती है ? इसे दृष्टान्त द्वारा

समझाते ह—'अह तत्थ पुणो णमयती मुच्चए ताहे।' अर्थात्– अपने वश मे कर लेने के पश्चात् कामकलादक्ष नारियाँ साधु को अपने अभीष्ट अर्थ मे झुका लेती ह। जिस तरह एक वढई रथ के चक्र के वाहर की गोलाकार पुट्ठी (नेमि) को क्रमश नमा देता है, उसी तरह साधु को भी वे नारियाँ अनुकूल कार्यो मे प्रेरित करती हैं। स्त्री के पाश मे एक वार वँध जाने के वाद वह साधु पाशवद्ध मृग की तरह छूटना चाहने पर भी तथा भरसक प्रयत्न कर लेने पर भी छूट नही सकता। कितना जवर्दस्त मोहपाश का वन्धन है। एक कवि ने ठीक कहा है—

> बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
> दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पकजकोषे॥

अर्थात्—ससार मे वहुत से वन्धन है, पर प्रेम (मोह) रूपी रस्सी का बन्धन निराला ही है। देखो, कठोर काष्ठ को भेदन करने मे निपुण भौंरा कमल के प्रेम (मोह) के वशीभूत होकर उसके कोष मे ही निष्क्रिय होकर स्वय वन्द हो जाता है।

मूल पाठ

> अह सेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायस व विसमिस्स।
> एव विवेगमादाय, सवासो नवि कप्पए दविए ॥१०॥

सस्कृत छाया

> अथ सोऽनुतप्यते पश्चात् भुक्त्वा पायसमिव विषमिश्रम्।
> एव विवेकमादाय सवासो नाऽपि कल्पते द्रव्ये ॥१०॥

अन्वयार्थ

(अह) स्त्री के वश मे होने के पश्चात् (से) वह साधु (पच्छा अणुतप्पई) वाद मे पश्चात्ताप करता है। (विसमिस्स) जैसे विष मिली हुई (पायस) खीर (भोच्चा) खाकर मनुष्य पश्चात्ताप करता है। (एव) इसी प्रकार (विवेगमादाय) विवेक को अपनाकर (दविए) मुक्तिगमनयोग्य साधु को (सवासो) स्त्रियो के साथ एक स्थान मे निवास या ससर्ग करना (नवि कप्पए) उचित नही है—कल्पनीय नही है।

भावार्थ

जैसे विषमिश्रित खीर का सेवन करके मनुष्य बाद मे पछताता है, वैसे ही स्त्री के वश मे होने पर मनुष्य पश्चात्ताप करता है। अत इस वात का विवेक करके मुक्तिगमन के योग्य साधक का स्त्री के साथ एक स्थान मे रहना योग्य नही है।

व्याख्या

स्त्री के मोहपाश मे बँधने से पश्चात्ताप

स्त्री के मोहपाश मे वद्ध अनगार कूटपाश मे वँधे हुए मृग की तरह रात-दिन

छटपटाता है। वह अपने परिवार के भरणपोषण के लिए अहर्निश चिन्तित रहता है, मन मे क्लेश पाता रहता है। कारण यह है कि गृहस्थवास स्वीकार करने वाले व्यक्ति के लिए निम्नोक्त चिन्ताएँ हरदम लगी रहती हैं—"कौन क्रोधी है? कौन समचित्त है? कैसे उसे वश मे करूँ? यह मुझे धन कैसे दे? किस दानी को मैंने छोड दिया है? कौन विवाहित है? और कौन कुआरा है?"[1] ये और इस प्रकार की चिन्ता करता हुआ व्यक्ति नाना प्रकार के पापकर्मों का बन्ध करता है तथा वह व्यक्ति पश्चात्ताप करता हुआ कहता है—"मैंने कुटुम्ब का भरण-पोपण करने हेतु अनेक कुकर्म किये। उन कुकृत्यो के कारण मैं अकेला दु ख भोग रहा हूँ, दूसरे फल भोगने वाले तो अन्यत्र चले गये।"[2] इस प्रकार महामोहात्मक कुटुम्बपाश मे पडा हुआ व्यक्ति पश्चात्ताप करता है।

इसी बात को शास्त्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं – जैसे कोई विपमिश्रित अन्न खाकर बाद मे विष के वेग से व्याकुल होकर पश्चात्ताप करता है—हाय! वर्तमान सुखरसिक बनकर मुझ पापी ने परिणाम मे दु खदायी ऐसा भोजन क्यो कर लिया? इसी प्रकार स्त्री के मोहपाश मे बद्ध व्यक्ति भी पुत्र, पौत्र, कन्या, दामाद, बहन, भतीजे और भानजे आदि के भोजन, वस्त्र, आभूषण, विवाह, जातकर्म और मृतकर्म आदि एव उनकी बीमारी की चिकित्सा आदि कई चिन्ताओ से व्याकुल होकर अपने शरीर का कर्त्तव्य भी भूल जाता है। वह इस लोक एव परलोक के लिए जो कुछ धर्माचरण करना है, उससे विमुख होकर केवल अपने परिवार के पालन-पोषण मे ही व्याकुलचित्त से सलग्न रहता हुआ पश्चात्ताप करता है। अत विवेक को अपनाकर चारित्र मे विघ्नकारिणी स्त्रियो के साथ एक स्थान मे निवास करना मुक्तिगमनयोग्य या रागद्वेषवर्जित साधु के लिए उचित नही है, क्योकि स्त्रियो के साथ सवास करना विवेकी साधक के उत्तम अनुष्ठानो मे विघातक होता है।

स्त्री-ससर्ग से उत्पन्न दोषो को बताकर उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्त व कटग नच्चा।
ओए कुलाणि वसवत्ती आघाते ण से वि णिग्गंथे ॥११॥

---

१ कोद्धमओ को समचित्तु, काहोवणाहिं काहो दिज्जउ वित्त? को उग्घाडउ परिहियउ परिणीयउ को व कुमारउ पडियत्तो जीव खडप्फडेहि पर वधइ पावह भारओ।

२. मया परिजनस्यार्थे कृत कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्योऽह, गतास्ते फलभोगिन ॥

समझाते हैं—'अह तत्थ पुणो णमयती मुच्चए ताहे।' अर्थात्– अपने वश मे कर लेने के पश्चात् कामकलादक्ष नारियाँ साधु को अपने अभीष्ट अर्थ मे झुका लेती है। जिस तरह एक वढई रथ के चक्र के वाहर की गोलाकार पुट्ठी (नेमि) को क्रमश नमा देता हे, उसी तरह साधु को भी वे नारियाँ अनुकूल कार्यो मे प्रेरित करती है। स्त्री के पाश मे एक बार वँध जाने के वाद वह साधु पाशवद्ध मृग की तरह छूटना चाहने पर भी तथा भरसक प्रयत्न कर लेने पर भी छूट नही सकता। कितना जवर्दस्त मोहपाश का वन्धन है। एक कवि ने ठीक कहा है—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पकजकोषे॥

अर्थात्—ससार मे वहुत से बन्धन हैं, पर प्रेम (मोह) रूपी रस्सी का बन्धन निराला ही है। देखो, कठोर काष्ठ को भेदन करने मे निपुण भौंरा कमल के प्रेम (मोह) के वशीभूत होकर उसके कोष मे ही निष्क्रिय होकर स्वय बन्द हो जाता है।

मूल पाठ

अह सेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायस व विसमिस्स।
एव विवेगमादाय, सवासो नवि कप्पए दविए ॥१०॥

सस्कृत छाया

अथ सोऽनुतप्यते पश्चात् भुक्त्वा पायसमिव विषमिश्रम्।
एव विवेकमादाय सवासो नाऽपि कल्पते द्रव्ये ॥१०॥

अन्वयार्थ

(अह) स्त्री के वश मे होने के पश्चात् (से) वह साधु (पच्छा अणुतप्पई) वाद मे पश्चात्ताप करता है। (विसमिस्स) जैसे विष मिली हुई (पायस) खीर (भोच्चा) खाकर मनुष्य पश्चात्ताप करता है। (एव) इसी प्रकार (विवेगमादाय) विवेक को अपनाकर (दविए) मुक्तिगमनयोग्य साधु को (सवासो) स्त्रियो के साथ एक स्थान मे निवास या ससर्ग करना (नवि कप्पए) उचित नही है—कल्पनीय नही हैं।

भावार्थ

जैसे विषमिश्रित खीर का सेवन करके मनुष्य बाद मे पछताता है, वैसे ही स्त्री के वश मे होने पर मनुष्य पश्चात्ताप करता है। अत इस वात का विवेक करके मुक्तिगमन के योग्य साधक का स्त्री के साथ एक स्थान मे रहना योग्य नही है।

व्याख्या

स्त्री के मोहपाश मे बंधने से पश्चात्ताप

स्त्री के मोहपाश मे वद्ध अनगार कूटपाश मे वँधे हुए मृग की तरह रात-दिन

छटपटाता है। वह अपने परिवार के भरणपोषण के लिए अहर्निश चिन्तित रहता है, मन मे क्लेश पाता रहता है। कारण यह है कि गृहस्थवास स्वीकार करने वाले व्यक्ति के लिए निम्नोक्त चिन्ताएँ हरदम लगी रहती हैं—"कौन क्रोधी है? कौन समचित्त है? कैसे उसे वश मे करूँ? यह मुझे धन कैसे दे? किस दानी को मैंने छोड दिया है? कौन विवाहित है? और कौन कुआरा है?"[1] ये और इस प्रकार की चिन्ता करता हुआ व्यक्ति नाना प्रकार के पापकर्मों का बन्ध करता है तथा वह व्यक्ति पश्चात्ताप करता हुआ कहता है—"मैंने कुटुम्ब का भरण-पोषण करने हेतु अनेक कुकर्म किये। उन कुकृत्यो के कारण मैं अकेला दु ख भोग रहा हूँ, दूसरे फल भोगने वाले तो अन्यत्र चले गये।"[2] इस प्रकार महामोहात्मक कुटुम्बपाश मे पडा हुआ व्यक्ति पश्चात्ताप करता है।

इसी बात को शास्त्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाते है – जैसे कोई विषमिश्रित अन्न खाकर बाद मे विष के वेग से व्याकुल होकर पश्चात्ताप करता है—हाय! वर्तमान सुखरसिक बनकर मुझ पापी ने परिणाम मे दु खदायी ऐसा भोजन क्यो कर लिया? इसी प्रकार स्त्री के मोहपाश मे बद्ध व्यक्ति भी पुत्र, पौत्र, कन्या, दामाद, बहन, भतीजे और भानजे आदि के भोजन, वस्त्र, आभूषण, विवाह, जातकर्म और मृतकर्म आदि एव उनकी बीमारी की चिकित्सा आदि कई चिन्ताओ से व्याकुल होकर अपने शरीर का कर्त्तव्य भी भूल जाता है। वह इस लोक एव परलोक के लिए जो कुछ धर्माचरण करना है, उससे विमुख होकर केवल अपने परिवार के पालन-पोषण मे ही व्याकुलचित्त से सलग्न रहता हुआ पश्चात्ताप करता है। अत विवेक को अपनाकर चारित्र मे विघ्नकारिणी स्त्रियो के साथ एक स्थान मे निवास करना मुक्तिगमनयोग्य या रागद्वेषवर्जित साधु के लिए उचित नही है, क्योकि स्त्रियो के साथ सवास करना विवेकी साधक के उत्तम अनुष्ठानो मे विघातक होता है।

स्त्री ससर्ग से उत्पन्न दोषो को बताकर उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्त व कटग नच्चा।
ओए कुलाणि वसवत्ती आघाते ण से वि णिग्गंथे ॥११॥

---

१ कोद्धयओ को समचित्तु, काहोवणाहिं काहो दिज्जउ वित्त? को उग्घाडउ परिहियउ परिणीयउ को व कुमारउ पडियत्तो जीव खडप्फडेहिं पर वधइ पावह भारओ।

२. मया परिजनस्यार्थे कृत कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्येऽह, गतास्ते फलभोगिन ॥

संस्कृत छाया

तस्मात्तु वर्जयेत् स्त्री विषलिप्तमिव कण्टक ज्ञात्वा ।
ओज कुलाणि वशवर्त्ती, आख्याति न सोऽपि निर्ग्रन्थ ॥११॥

अन्वयार्थ

(तम्हाउ) इसलिए (विसलित्त व कटग णच्चा) स्त्री को विष से लिप्त काँटे के समान समझकर (इत्थी वज्जए) साधु स्त्री-ससर्ग से दूर रहे। (वसवत्ती) स्त्री के वश मे रहने वाला जो साधक (ओए कुलाणि) अकेला किसी अकेली स्त्री के घर मे जाकर (आघाते) धर्म का कथन—उपदेश करता है, (ण से वि णिग्गथे) वह भी निर्ग्रन्थ नही है।

भावार्थ

स्त्रियो को विष से लिपटे हुए काँटे के समान जानकर साधु दूर से ही उनके ससर्ग का त्याग करे। जो व्यक्ति स्त्री के वश (गुलाम) होकर गृहस्थो के घर मे जाकर अकेला किसी अकेली स्त्री को धर्मकथा सुनाता है, वह भी निर्ग्रन्थ साधक नही है।

व्याख्या

स्त्रीससर्ग विषलिप्तकण्टकसम त्याज्य

एक तो काँटा हो, फिर वह विषलिप्त हो, वह चुभने पर केवल पीडा ही नही करता, जानलेवा भी बन जाता है। यदि वह शरीर के किसी भी अग मे चुभकर टूट जाय तो अनर्थ पैदा करता है। इसी तरह पहले तो स्त्री का स्मरण ही अनर्थकारी है, फिर उसका ससर्ग किया जाय तो वह विषलिप्त काँटे की तरह एक ही बार प्राण नही लेता, किन्तु अनेक जन्मो तक जन्म-मरण और नाना प्रकार के दुःख देता रहता है। किसी विद्वान् ने विष और विषय के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है—

**विषस्य विषयाणा च, दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
उपभुक्त विष हन्ति, विषया स्मरणादपि ॥**

अर्थात्— विष और विषय (कामसेवन) मे परस्पर बहुत अन्तर है। विष तो खाने पर प्राण हरण करता है, किन्तु विषय (कामभोग) स्मरण करने से ही प्राणनाश करते है।

एक प्राचीन आचार्य ने कहा है—

**वरि विसखइय, न विसयसुहु इक्कसि विसिणि मरति ।
विसयामिस पुण घारिया णर णरएहिं पडति ॥**

अर्थात्— विष खाना अच्छा है, किन्तु विषय का सेवन अच्छा नही, क्योकि विष खाने से तो जीव एक ही बार मरण का कष्ट पाता है, किन्तु विषयरूपी मास के सेवन से मनुष्य नरक के गड्ढे मे गिरकर बार-बार कष्ट पाता है।

अब एक दूसरे पहलू से बताया गया है कि अकेली स्त्री के साथ अकेले साधु का ससर्ग, चाहे वह धर्मकथा के निमित्त से ही क्यो न हो, उचित नही है, क्योकि ऐसा साधु स्त्री का गुलाम या वशीभूत होकर ही बार-बार किसी न किसी बहाने से स्त्रीसम्पर्क करने का प्रयत्न करेगा और स्पष्ट कहे तो वह उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करेगा। नि सन्देह ऐसा करने वाला साधु साधुधर्म से भ्रष्ट हो जाता है, वह यथार्थ साधु, बाह्य-अभ्यन्तर ग्रन्थो (परिग्रहो) से रहित मुनि नही माना जा सकता। क्योकि निषिद्ध आचरण के सेवन से उसका पतित हो जाना बहुत सम्भव है।

हाँ, यदि कोई स्त्री बीमारी या किसी अन्य गाढ कारणवश साधु के स्थान पर आने मे असमर्थ हो, अतिवृद्ध हो, अशक्त हो और दूसरे सहायक (साथी) साधु उस समय न हो तो अकेला साधु भी उसके पास जाकर दूसरी स्त्रियो से वेष्टित या पुरुषो से युक्त उक्त स्त्री को वैराग्योत्पादक धर्मकथा कहे या मगलपाठ सुनाए तो कोई आपत्ति नही है।

मूल पाठ

जे एय उंछ अणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं ।
सुतवस्सिए वि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु ॥१२॥

सस्कृत छाया

य एतदुच्छमनुगृद्धा अन्यतरास्ते भवन्ति कुशीलानाम् ।
सुतपस्व्यपि स भिक्षुर्न विहरेत् सार्धं खलु स्त्रीभि. ॥१२॥

अन्वयार्थ

(जे) जो पुरुष (एय) इस स्त्रीससर्गरूपी (उछ) झूठन या त्याज्य निन्द्यकर्म मे (अणुगिद्धा) अत्यन्त आसक्त हैं, (ते) वे (कुसीलाण) कुशीलो—पार्श्वस्थ आदि लोगो मे से (अन्नयरा) कोई एक (हुति) हैं। (से भिक्खू) इसलिए वह साधु चाहे (सुतवस्सिए वि) उत्तम तपस्वी हो तो भी (इत्थीसु सह) स्त्रियो के साथ (नो विहरे) विहार न करे।

भावार्थ

जो पुरुष स्त्रीससर्गरूपी त्याज्य निन्दनीय कुकृत्य—झूठन मे अत्यन्त आसक्त हैं, वे पासत्थ, अवसन्न आदि कुशीलो मे से कोई एक है। अत. साधु चाहे कितना ही उत्तम तपस्वी क्यो न हो, स्त्रियो के साथ विहार (क्रीडा, गमन आदि) न करे।

व्याख्या

स्त्रीससर्गरूप निन्द्यकर्म मे आसक्त कुशील हैं

जिन मदबुद्धि अदूरदर्शी साधको की दृष्टि उत्तम सयमानुष्ठान छोडकर सिर्फ

वर्तमान सुख की ओर ही है, वे पूर्वोक्त विभिन्न प्रकार से स्त्रीससर्गरूप त्याज्य निन्दनीय कर्म या झूठन के सेवन मे प्रवृत्त होते है, उन्हे शास्त्रकार पाशस्थ या पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, ससक्त और अपच्छन्दरूप कुशीलो मे कोई एक कुशील कहते है। अथवा काथिक, पश्यक, सम्प्रसारक और मामकरूप कुशीलो मे से वे कोई एक कुशील हैं। यह निश्चित है कि स्त्रीसम्पर्क आदि निन्द्य कृत्यो के करने से साधु कुशील हो जाता है।

अत उत्तम तपस्या के द्वारा जिन्होने अपने मन-वचन काया को तपाया है, वे तपस्वी यदि अपना कल्याण चाहते है तो चारित्र को नष्ट करने वाली स्त्रियो के साथ न रहे, न कही जावे और न कही क्रीडा करें, न बैठे, विहार न करे। साधु स्त्री को जलते हुए अगारे के समान समझकर दूर से ही त्याग करे।

मूल पाठ

अवि धूयराहि सुण्हाहि धातीहि अदुव दासीहि ।
महतीहि वा कुमारीहि, संथवं से न कुज्जा अणगारे ॥१३॥

सस्कृत छाया

अपि दुहितृभि स्नुषाभि धात्रीभिरथवा दासीभि ।
महतीभिर्वा कुमारीभि सस्तव स न कुर्यादनगार ॥१३॥

अन्वयार्थ

(अवि धूयराहि) अपनी कन्याओ के भी साथ, (सुण्हाहि) पुत्रवधुओ, (धातीहि) दूध पिलाने वाली धायमाताओ (अदुव) अथवा (दासीहि) दासियो, (महतीहि) बडी उम्र की स्त्रियो अथवा (कुमारीहि) कुँआरी कन्याओ के साथ (से अणगारे) वह अनगार (सथव) ससर्ग—परिचय (न कुज्जा) न करे।

भावार्थ

अपनी पुत्रियाँ हो, पुत्रवधुएं हो, दूध पिलाने वाली धायमाताएँ हो, अथवा दासियाँ या नौकरानियाँ हो, बडी उम्र की स्त्रियाँ हो, अथवा कुंआरी कन्याएँ हो, उनके साथ भी साधु को ससर्ग नही करना चाहिए।

व्याख्या

इन स्त्रियो के साथ भी साधु ससर्ग न करे

इस गाथा मे शास्त्रकार ने उन स्त्रियो का उल्लेख किया जिनके पास बैठने या जिनके साथ ससर्ग करने से साधु पर किसी को सहसा अविश्वास नही हो सकता। फिर भी इन स्त्रियो के साथ साधु को परिचय, ससर्ग या अत्यधिक उठ-बैठ करना निषिद्ध बताया है। इसके लिए अवि (अपि) शब्द का प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध है। इन पदो का अर्थ क्रमश इस प्रकार है—

धूयराहि—दुहिता या पुत्री का नाम हे। चाहे अपनी पुत्री ही क्यो न हो, उसके साथ भी कहीं एकान्त मे बैठने, उठने, विहार करने या वार्तालाप करने वगैरह के रूप मे ससर्ग या परिचय करना उचित नही है। सुण्हाहि—स्नुपा—पुत्रवधू को कहते हैं, उसके साथ भी एकान्त स्थान आदि मे न बैठे। धातीहि—धात्री, धायमाता को कहते हैं। धायें पाँच प्रकार की होती है—क्षीरधात्री, मज्जनधात्री, मण्डनधात्री, क्रीडाधात्री आदि। धायें भी माता के तुल्य होती है। उनके साथ भी साधु एकान्त मे किसी प्रकार का ससर्ग न करे। दूसरी स्त्रियो को जाने दीजिए, सबसे नीच जो पानी भरने वाली या घर का काम करने वाली दासियाँ या नौकरानियाँ है,उनके साथ भी साधु सम्पर्क न रखे। बडी स्त्री हो, या कुमारी हो अथवा शब्द से कोई साध्वी हो, उनके साथ भी साधु अपना सम्पर्करूप परिचय न करे। यद्यपि अपनी कन्या या पुत्रवधू के साथ एकान्त स्थान मे रहने से साधु का चित्त सहसा विकृत नही हो सकता, तथापि लोगो को स्त्री के साथ एकान्त स्थान मे बैठे या रहते देखकर शका उत्पन्न हो सकती है अथवा नीतिकार भी कहते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वासमप्यत्र कर्षति ॥

अर्थात्—माता, बहन और पुत्री के साथ भी एकान्त मे नही बैठना चाहिए, क्योकि इन्द्रियाँ बडी बलवान होती हैं, वे विद्वान् पुरुष को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं।

इन कारणो से किसी भी स्त्री के साथ एकान्त मे सम्पर्क करना वर्जित किया गया है।

साधु को स्त्री के साथ एकान्त स्थान मे बैठे देखकर लोगो मन मे किस प्रकार की शका एव प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, इसे बताते हैं—

मूल पाठ

अदु णाइणं च सुहीण वा, अप्पिय दट्ठु एगता होति ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि ॥१४॥

संस्कृत छाया

अथ ज्ञातीना सुहृदा वा अप्रिय दृष्ट्वा एकदा भवति ।
गृद्धा सत्त्वा कामेषु, रक्षणपोषणे मनुष्योऽसि ॥१४॥

अन्वयार्थ

(एगता) किसी समय (दट्ठु) एकान्त स्थान मे स्त्री के साथ बैठे हुए साधु को देखकर (णाइण च सुहीण वा) उस स्त्री के ज्ञाति (स्व) जनो अथवा सुहृदो-

मित्रजनो या हितैषियो को (अप्पिय होति) दु ख उत्पन्न होता है। वे कहते है—(सत्ता कामेहिं गिद्धा) जैसे दूसरे प्राणी काम मे आसक्त है, इसी तरह यह साधु भी है। (रक्खणपोसणे मणुस्सोसि) तथा वे कहते हे कि तुम इसका भरण-पोषण भी करो, क्योकि तुम इसके आदमी हो।

भावार्थ

किसी स्त्री के साथ साधु को एकान्त स्थान मे बैठे देखकर उस स्त्री के ज्ञातिजनो और मित्रजनो-स्नेहीजनो के चित्त मे दु ख उत्पन्न होता है। वे कहते है कि जैसे दूसरे लोग काम मे आसक्त होते है, इसी तरह यह साधु भी कामासक्त है। फिर वे रुष्ट होकर कहते हैं—"तुम इसके आदमी हो तो इसका भरण-पोषण क्यो नही करते ?"

व्याख्या

एकान्त स्थान मे स्त्री सम्पर्क के कारण शका और प्रतिक्रिया

पूर्वगाथा मे कन्या, पुत्रवधू आदि किसी भी स्त्री के साथ एकान्त मे परिचय-ससर्ग करना वर्जित बताया गया था। उसी सन्दर्भ मे इस गाथा मे यह बताया गया है कि साधु को एकान्त स्थान मे किसी स्त्री के पास बैठे देखकर उसके स्वजनो एव स्नेहीजनो के मन मे कैसी प्रतिक्रिया होती है ?

'अदु णाइण मणुस्सोऽसि' आशय यह है कि किसी भी अकेली स्त्री के साथ एकान्त स्थान मे बैठे हुए या वार्तालाप करते हुए और उस प्रकार की प्रवृत्ति बार-बार करने से उस स्त्री के परिवार वालो और स्नेहीजनो के हृदय मे दु ख उत्पन्न होता है, उन्हे उस अकेली स्त्री का साधु के पास वैठना बहुत अखरता है, उन्हे बहुत बुरा लगता है। इसे वे अपनी जाति या कुल की बदनामी या कलक समझते हैं। वे साधु के इस रवैये को देखकर अनेक प्रकार की शका-कुशकाएँ उसके सम्बन्ध मे करते है कि यह साधु अपने ज्ञान-ध्यान, स्वाध्याय, या साधना की समस्त धर्माचरणरूप प्रवृत्तियो को छोडकर जब देखो तब इस स्त्री के पास निर्लज्ज होकर वैठा रहता है, इसके मुँह की ओर ताकता रहता है। जैसे दूसरे लोग काम-भोग मे आसक्त रहते हैं, वैसे ही यह साधु भी कामासक्त है। फिर उनमे और इसमे क्या अन्तर रहा ? कभी-कभी वे इस साधु पर ताना भी कसते हैं—

> **मुण्ड शिरो वदनमेतदनिष्टगन्धम्,**
> **भिक्षाशनेन भरण च हतोदरस्य।**
> **गात्र मलेन मलिन गतसर्वशोभम्,**
> **चित्र तथाऽपि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा॥**

अर्थात्—इस साधु का सिर तो मु डा हुआ है, इसके मुँह से वदबू आ रही

है, भीख माँगकर पापी पेट को भरता है, इसका शरीर मैल से गदा हो रहा है, और शोभा से रहित भद्दा तथा भौडा है। फिर भी आश्चर्य है कि इसके मन की इच्छा काम-भोगो मे लगी है।

साधु के इस रवैये को देखकर तथा उस स्त्री के स्वजनो द्वारा वार-वार रोक-टोक करने एव समझाने पर भी जव साधु अपना प्रतिकूल रवैया नही छोडता, तब वे क्रुद्ध होकर उस साधु से कहते है—"अव तो आप ही इस स्त्री का भरण-पोषण करिए, क्योकि यह आपके पास ही अधिकतर बैठी रहती है, इसलिए आप ही इसके स्वामी हैं।" अथवा 'रक्खणपोसणे' मे समाहारद्वन्द्वसमास है, इसलिए ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि उस स्त्री के जाति वाले उस साधु पर ताना मारते हुए कहते हैं—"हम लोग तो इस स्त्री का भरण-पोषण करने वाले है, इसके पति तो तुम हो, क्योकि यह अपने सब कामकाज छोडकर सदा तुम्हारे पास ही बैठी रहती है।"

मूल पाठ

समणं पि दट्ठुदासीण, तत्थ वि ताव एगे कुप्पति ।
अदुवा भोयणेंहि णत्थेंहि, इत्थीदोस सकिणो होति ॥१५॥

सस्कृत छाया

श्रमणमपि दृष्ट्वोदासीन, तत्रापि तावदेके कुप्यन्ति।
अथवा भोजनैर्न्यस्तै स्त्रीदोपशकिनो भवन्ति ॥१५॥

अन्वयार्थ

(दासीण पि समण) रागद्वेपवर्जित उदासीन तपस्वी साधु को भी (दट्ठु) स्त्री के साथ एकान्त मे बातचीत करते या बैठे देखकर (तत्थ वि एगे कुप्पति) इस सम्बन्ध मे कोई कोई एक क्रुद्ध हो जाते हैं। (इत्थीदोस सकिणो होति) और वे उस स्त्री मे दोष की शका करते है। (अदुवा भोयणेंहि णत्थेंहि) अथवा वे यह समझते है कि यह स्त्री इस साधु की प्रेमिका है, इसलिए यह नाना प्रकार का आहार तैयार करके साधु को देती है।

भावार्थ

राग-द्वेष से वर्जित, उदासीन एव तपस्वी श्रमण को भी स्त्री के साथ एकान्त मे बातचीत करते या बैठे देखकर कोई-कोई व्यक्ति आगबबूला (क्रोधित) हो उठते है और वे उस स्त्री मे (बदचलनी या दुश्चरित्रता) दोष की आशका करने लगते है। वे समझते है—यह स्त्री इस साधु की प्रेमिका है, इसीलिए तो यह नाना प्रकार का स्वादिष्ट आहार वनाकर साधु को दिया करती है।

व्याख्या

श्रमण एव स्त्री के प्रति लोगो का क्रोध और आशका

इस गाथा मे तपस्या से खिन्न शरीर वाले श्रमण को भी स्त्री के

मित्रजनो या हितैपियो को (अप्पिय होति) दु ख उत्पन्न होता है। वे कहते है—(सत्ता कामेहि गिद्धा) जैसे दूसरे प्राणी काम मे आसक्त हैं, इसी तरह यह साधु भी है। (रक्खणपोसणे मणुस्सोसि) तथा वे कहते हैं कि तुम इसका भरण-पोषण भी करो, क्योकि तुम इसके आदमी हो।

भावार्थ

किसी स्त्री के साथ साधु को एकान्त स्थान मे बैठे देखकर उस स्त्री के ज्ञातिजनो और मित्रजनो-स्नेहीजनो के चित्त मे दु ख उत्पन्न होता है। वे कहते है कि जैसे दूसरे लोग काम मे आसक्त होते है, इसी तरह यह साधु भी कामासक्त है। फिर वे रुष्ट होकर कहते है—'तुम इसके आदमी हो तो इसका भरण-पोषण क्यो नही करते ?"

व्याख्या

एकान्त स्थान मे स्त्री सम्पर्क के कारण शका और प्रतिक्रिया

पूर्वगाथा मे कन्या, पुत्रवधू आदि किसी भी स्त्री के साथ एकान्त मे परिचय-ससर्ग करना वर्जित बताया गया था। उसी सन्दर्भ मे इस गाथा मे यह बताया गया है कि साधु को एकान्त स्थान मे किसी स्त्री के पास बैठे देखकर उसके स्वजनो एव स्नेहीजनो के मन मे कैसी प्रतिक्रिया होती है ?

'अदु णाइण मणुस्सोऽसि' आशय यह है कि किसी भी अकेली स्त्री के साथ एकान्त स्थान मे बैठे हुए या वार्तालाप करते हुए और उस प्रकार की प्रवृत्ति बार-बार करने से उस स्त्री के परिवार वालो और स्नेहीजनो के हृदय मे दु ख उत्पन्न होता है, उन्हे उस अकेली स्त्री का साधु के पास बैठना बहुत अखरता है, उन्हे बहुत बुरा लगता है। इसे वे अपनी जाति या कुल की बदनामी या कलक समझते हैं। वे साधु के इस रवैये को देखकर अनेक प्रकार की शका-कुशकाएँ उसके सम्बन्ध मे करते हैं कि यह साधु अपने ज्ञान-ध्यान, स्वाध्याय, या साधना की समस्त धर्माचरणरूप प्रवृत्तियो को छोडकर जब देखो तब इस स्त्री के पास निर्लज्ज होकर बैठा रहता है, इसके मुँह की ओर ताकता रहता है। जैसे दूसरे लोग काम-भोग मे आसक्त रहते हैं, वैसे ही यह साधु भी कामासक्त है। फिर उनमे और इसमे क्या अन्तर रहा ? कभी-कभी वे इस साधु पर ताना भी कसते है—

> मुण्डं शिरो वदनमेतदनिष्टगन्धम्,
> भिक्षाशनेन भरण च हतोदरस्य।
> गात्र मलेन मलिन गतसर्वशोभम्,
> चित्र तथाऽपि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा॥

अर्थात्—इस साधु का सिर तो मुँडा हुआ है, इसके मुँह से बदबू आ रही

है, भीख माँगकर पापी पेट को भरता है, इसका शरीर मैल से गदा हो रहा है, और शोभा से रहित भद्दा तथा भौडा है। फिर भी आश्चर्य है कि इसके मन की इच्छा काम-भोगो मे लगी है।

साधु के इस रवैये को देखकर तथा उस स्त्री के स्वजनो द्वारा वार-वार रोक-टोक करने एव समझाने पर भी जव साधु अपना प्रतिकूल रवैया नही छोडता, तब वे क्रुद्ध होकर उस साधु से कहते हैं—"अव तो आप ही इस स्त्री का भरण-पोपण करिए, क्योंकि यह आपके पास ही अधिकतर बैठी रहती है, इसलिए आप ही इसके स्वामी हैं।" अथवा 'रक्खणपोसणे' मे समाहारद्वन्द्वसमास है, इसलिए ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि उस स्त्री के जाति वाले उस साधु पर ताना मारते हुए कहते हैं—"हम लोग तो इस स्त्री का भरण-पोपण करने वाले है, इसके पति तो तुम हो, क्योकि यह अपने सब कामकाज छोडकर सदा तुम्हारे पास ही बैठी रहती है।"

मूल पाठ

समणं पि दट्ठुदासीण, तत्थ वि ताव एगे कुप्पति ।
अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थीदोस सकिणो होंति ॥१५॥

सस्कृत छाया

श्रमणमपि दृष्ट्वोदासीन, तत्रापि तावदेके कुप्यन्ति ।
अथवा भोजनैर्न्यस्तै स्त्रीदोषशकिनो भवन्ति ॥१५॥

अन्वयार्थ

(दासीण पि समण) रागद्वेषवर्जित उदासीन तपस्वी साधु को भी (दट्ठु) स्त्री के साथ एकान्त मे बातचीत करते या बैठे देखकर (तत्थ वि एगे कुप्पति) इस सम्बन्ध मे कोई कोई एक क्रुद्ध हो जाते है। (इत्थीदोस सकिणो होंति) और वे उस स्त्री मे दोष की शका करते हैं। (अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं) अथवा वे यह समझते हैं कि यह स्त्री इस साधु की प्रेमिका है, इसलिए यह नाना प्रकार का आहार तैयार करके साधु को देती है।

भावार्थ

राग-द्वेष से वर्जित, उदासीन एव तपस्वी श्रमण को भी स्त्री के साथ एकान्त मे बातचीत करते या बैठे देखकर कोई-कोई व्यक्ति आगबबूला (क्रोधित) हो उठते है और वे उस स्त्री मे (बदचलनी या दुश्चरित्रता) दोष की आशका करने लगते है। वे समझते है—यह स्त्री इस साधु की प्रेमिका है, इसीलिए तो यह नाना प्रकार का स्वादिष्ट आहार बनाकर साधु को दिया करती है।

व्याख्या

श्रमण एव स्त्री के प्रति लोगो का क्रोध और आशका

इस गाथा मे तपस्या से खिन्न शरीर वाले श्रमण को भी स्त्री के साथ

एकान्त मे बैठे या वार्तालाप करते देखकर होने वाली जन-प्रतिक्रिया का अनुभव-सिद्ध वर्णन है—'समण पि दट्ठु सकिणो होति।' एक लोकश्रुति है—'यद्यपि शुद्ध लोकविरुद्ध न करणीय, नाचरणीयम्।' इसका अर्थ ह—यद्यपि किसी व्यक्ति का व्यवहार शुद्ध और निर्दोप है, किन्तु लोक-व्यवहार की दृष्टि से विरुद्ध हो तो उसे नही करना चाहिए और उस प्रकार आचरण भी नही करना चाहिए। यही बात दूसरी दृष्टि से शास्त्रकार कहते है कि यद्यपि साधु पवित्र है, तपश्चर्या से उसका तन-मन परिपूत हो चुका है, वह राग-द्वेप से वर्जित है, इसलिए सासारिक प्रपचो से उदासीन या मध्यस्थ रहता है, तपस्या से शरीर खिन्न एव रूखा-सूखा, जीर्ण हो रहा है तथा जो विपयसुख का विरोधी है, इतने पवित्र निर्दोप श्रमण को भी यदि किसी स्त्री के साथ लोग एकान्त मे बैठे या वार्तालाप करते देखते है तो एकदम आगबबूला हो जाते है, उसकी खरीखोटी आलोचना करने लगते है, उसकी ओर अँगुली उठाने लगते है, उसे भला-बुरा कहते है। तात्पर्य यह है कि ऐसे तपोमूर्ति तटस्थ साधु को भी एकान्त मे स्त्री के साथ वार्तालाप करते देखकर कई लोग सहन नही करते और एकदम क्रोधित हो जाते है, तो फिर जिस साधु मे स्त्रीससर्ग से विकार उत्पन्न हो गया हे उसकी तो बात ही क्या है ? अथवा यहाँ 'समण दट्ठुदासीण' का यह अर्थ भी हो सकता है—'जो साधु अपना स्वाध्याय, ध्यान, सयमक्रिया आदि प्रवृत्तियो के प्रति उदासीन (लापरवाह) होकर जब देखो तब किसी स्त्री के साथ एकान्त मे बातचीत करता रहता है, उसे देखकर भी कई लोगो मे रोष पैदा हो जाता है।

अथवा स्त्री के साथ एकान्त मे वार्तालाप करते हुए साधु को देखकर लोग उस स्त्री के प्रति चरित्रहीन या बदचलन होने की शका करते है। वे स्त्री सम्बन्धी दोष ये है—वे समझते हैं कि यह स्त्री भाँति-भाँति के पकवान बनाकर इस साधु को देती है। इसलिए यह साधु प्रतिदिन यहाँ आया करता है। अथवा यह स्त्री ससुर आदि को आधा आहार परोसकर साधु के आने पर चचलचित्त होती हुई श्वसुर आदि को एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु परोस देती है। इसलिए वे उस स्त्री के प्रति एकदम शकाशील हो जाते हैं कि यह स्त्री अवश्य ही उस साधु का सग करती है। इसी कारण साधु को विशिष्ट आहार देती है और उसके साथ अन्य पुरुषो से रहित एकान्त स्थान मे बैठती है। यह अवश्य ही चरित्रभ्रष्ट हो गयी है, नही तो परपुरुष के प्रति इतना प्रेम क्यो दिखलाती ?

इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण भी है। एक स्त्री भोजन की थाली पर बैठे हुए अपने पति व श्वसुर को भोजन परोस रही। परन्तु उसका चित्त उस समय गाँव मे होने वाले नट के नृत्य को देखने मे था। अत अन्यमनस्क होने के कारण चावल के बदले रायता परोस दिया। उसका ससुर इस बात को ताड गया। पति

ने क्रोधित होकर उसे पीटा और अन्य पुरुष मे आसक्त जानकर घर से बाहर निकाल दिया।

निष्कर्ष यह कि स्त्री के साथ एकान्त स्थान मे बैठने आदि से स्त्री पर भी लाछन आता है और साधु पर भी लाछन आता है। इसलिए स्त्रीससर्ग से साधु सदा दूर रहे।

मूल पाठ

कुव्वति सथव ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ।
तम्हा समणा ण समेति आयहियाए सण्णिसेज्जाओ ।। १६।।

सस्कृत छाया

कुर्वन्ति सस्तव ताभि प्रभ्रष्टा समाधियोगेभ्य ।
तस्मात् श्रमणा न सयन्ति आत्महिताय सन्निषद्या ।।१६।।

अन्वयार्थ

(समाहिजोगेहिं) समाधियोग—धर्मध्यान से **(पब्भट्ठा)** भ्रष्ट पुरुष ही **(ताहिं सथव कुव्वति)** उन स्त्रियो के साथ ससर्ग करते है। **(तम्हा)** इसलिए **(समणा)** श्रमण **(आयहियाए)** आत्मकल्याण के लिए **(सण्णिसेज्जाओ)** स्त्रियो के स्थान पर **(न समेति)** नही जाते हैं।

भावार्थ

समाधियोग—धर्मध्यान से भ्रष्ट पुरुष ही स्त्रियो से परिचय करते हैं। परन्तु श्रमण आत्मकल्याण की दृष्टि से स्त्रियो के स्थान पर नही जाते।

व्याख्या

स्त्रीपरिचयी श्रमण समाधियोग से भ्रष्ट हैं

आशय यह है कि जो साधु सयममार्ग से भ्रष्ट होकर स्त्रियो के साथ सस्तव करते हैं, वे प्रभ्रष्ट हैं। स्त्रियो के घर पर बार-बार जाना, उनके साथ पुरुषो की साक्षी के विना बैठना, सलाप करना, उनको रागभाव से देखना, इत्यादि सस्तव—परिचय वेदमोहनीयकर्मोदय के कारण साधु करते हैं। जो श्रमण स्त्रियो के साथ परिचय (सस्तव) करते है, वे समाधियोग यानी जिसमे धर्मध्यान प्रधान है, ऐसे मन-वचन-काया के व्यापारो से भ्रष्ट है, शिथिल विहारी हैं। स्त्रियो के साथ अत्यधिक परिचय करने से समाधियोग का नाश होता है। इसलिए उत्तम साधक स्त्रियो की माया को पास नही फटकने नही देते।

सण्णिसेज्जाए—सनिषद्या उसे कहते हैं, जो सुख का उत्पादक होने से तथा अनुकूल होने के कारण निषद्या अर्थात् निवास स्थान के समान है। स्त्रियो के

निवासस्थान को भी सन्निषद्या कहते है। आत्मकल्याण चाहने वाले साधु जहाँ ऐसी सन्निषद्या हो, वहाँ नही जाते।

यहाँ जो स्त्री-ससर्ग छोडने का उपदेश दिया गया है, वह स्त्रियो को भी इहलोक परलोक मे होने वाली हानि से बचाने के कारण हितकर है। इस गाथा के उत्तरार्द्ध मे कही-कही ऐसा पाठ भी पाया जाता है—'**तम्हा समणा उ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ।**' इसका भावार्थ यह हे कि स्त्री सम्पर्क अहितकर है, इसलिए हे श्रमणो! विशेष रूप से स्त्रियो के निवास स्थानो की तथा स्त्रियो द्वारा की गई सेवाभक्ति रूप माया को स्वकल्याण के निमित्त छोड दो। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

मूल पाठ

बहवे गिहाइ अवहट्टु मिस्सीभाव पत्थुया य एगे।
धुवमग्गमेव पवयंति, वाया वीरिय कुसीलाण ॥१७॥

सस्कृत छाया

बहवो गृहाणि अवहृत्य मिश्रीभाव प्रस्तुताश्च एके।
ध्रुवमार्गमेव प्रवदन्ति वाचा वीर्य कुशीलानाम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**बहवे एगे**) बहुत-से लोग (**गिहाई अवहट्टु**) घर से निकलकर अर्थात् प्रव्रजित होकर भी (**मिस्सीभाव पत्थुया**) मिश्रमार्ग अर्थात् कुछ गृहस्थ और कुछ साधु का आचार स्वीकार कर लेते है। (**धुवमग्गमेव पवयति**) इसे वे मोक्ष का ही मार्ग कहते है, किन्तु (**वाया वीरिय कुसीलाण**) यह कुशील लोगो की वाणी की शूर-वीरता है, अनुष्ठान मे नही।

भावार्थ

बहुत-से लोग प्रव्रज्या लेकर (गृहवास छोडकर) भी कुछ गृहस्थ और कुछ साधु के मिले-जुले आचार को सेवन करने मे उद्यत होते है। वे अपने इस आचार को ही ध्रुव-मोक्ष का मार्ग कहते हैं। किन्तु यह उन कुशीलो की केवल वाणी की ही शूरवीरता है, आचरण की नही।

व्याख्या

मिश्रमार्गी प्रव्रजितो का बकवास

इस गाथा मे शास्त्रकार ऐसे साधको का परिचय दे रहे हैं, जो साधु और गृहस्थ के मिलेजुले आचार का पालन करते हैं और उसी को मोक्षपथ के नाम से प्ररूपण करते है, उसी की विशेषता बताते हैं, उसी के समर्थन मे तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, उसी को सिद्ध करने के लिए एडी से चोटी तक पसीना बहाते है।

परन्तु वे द्रव्यसाधु ऐसा क्यो करते है ? इसका कारण यह है कि घरवार, कुटुम्ब-कबीला एव धन-सम्पत्ति छोड देने के बाद भी मोह के उदयवश ने पुन उसी चक्कर मे पडते जाते है। स्त्रियो के ससर्ग, भक्त-भक्ताओ से अतिपरिचय, परिजनो से मोह सम्बन्ध आदि के कारण वे न तो पूरे साधु-जीवन के मौलिक आचार का पालन करते हैं, और न ही गृहस्थजीवन के आचार-पालक कहलाते हे। वे ऐसे मध्यममार्ग को अपना लेते हैं, जो गृहस्थ और साधु दोनो के कुछ-कुछ आचारो का मिला-जुला रूप होता है। इसी बात को शास्त्रकार कहते है—'मिस्सीभाव पत्थुया य एगे।' अर्थात् वे साधु और गृहस्थ की मिश्रित अवस्था को प्राप्त कर लेते है। वे साधुवेश को ग्रहण करने से साधु और गृहस्थ के समान आचरण करने से गृहस्थ होते ह। वे न तो एकान्त गृहस्थ ही है और न एकान्त साधु ही है। इतना होने के बावजूद भी वे अपने द्वारा स्वीकृत मार्ग को ही ध्रुव अर्थात् मोक्ष या सयम का मार्ग कहते हे। और कहते हैं कि हमने जिस मध्यममार्ग का आचरण करना प्रारम्भ किया हैं, वही मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, क्योकि इस मार्ग से प्रवृत्ति करने के द्वारा प्रव्रज्या अच्छी तरह पाली जा सकती है।

'वाया वीरिय कुसीलाण'—शास्त्रकार कहते है कि यह उन कुशीलो के वाणी का वीर्य-पराक्रम ही समझना चाहिए, उसके पीछे शास्त्र-सम्मत आचार का वल नही है। क्योकि वे द्रव्यलिंगी पुरुष वचनमात्र से अपने को प्रव्रजित कहते हैं, परन्तु उनमे उत्तम सयमानुष्ठान का पराक्रम (वीर्य) नही हैं। उन्होने तो एकमात्र वैपयिक सुख और तज्जनित सातागौरव मे आसक्ति के कारण ही इस प्रकार का सुखसुविधापूर्ण मार्ग अपनाया है। अपने शिथिलाचार को छिपाने के लिए उन्होने इस प्रकार का मिश्र मार्ग अगीकार किया है।

मूल पाठ

सुद्ध रवति परिसाए, अह रहस्संमि दुक्कड करेति।
जाणति, य ण तहाविहा, माइल्ले महासढेऽय ति ॥१८॥

सस्कृत छाया

शुद्ध रौति परिषदि, अथ रहसि दुष्कृत करोति।
जानन्ति च तथाविदो, मायावी महाशठोऽयमिति ॥१८॥

अन्वयार्थ

(परिसाए) वह कुशील पुरुष सभा मे (सुद्ध रवति) अपने आप को शुद्ध कहता है, (अह रहस्समि) परन्तु एकान्त मे (दुक्कड करेति) वह पाप करता है। (तहाविहा) ऐसे व्यक्ति की अङ्गचेष्टाओ, आचार-विचारो एव व्यवहारो को जानने वाले पुरुप उन्हे (जाणति) जान लेते है कि (माइल्ले महासढेऽय ति) यह मायावी और महाधूर्त है।

भावार्थ

वह कुशील पुरुष सभा मे अपने आपको शुद्ध बतलाता है, परन्तु एकान्त मे छिपकर दुष्कर्म-पापकर्म करता है। परन्तु उसकी अगचेष्टाओ, आचार-विचार तथा व्यवहारो को जानने वाले व्यक्ति उसे जान लेते है कि यह मायावी और महान् शठ है।

व्याख्या

ये शुद्धता की दुहाई देने वाले प्रच्छन्न पापी!

जो व्यक्ति पूर्वगाथा मे उक्त मिश्रमार्गी कुशील, जो वाणी से ही शूरवीर है, वह अशुद्ध एव पाप दोषयुक्त होते हुए भी भरी सभा मे अपने आप को पवित्र, शुद्ध, दूध का धोया, निर्दोष कहता है और डके की चोट कहता है। इसी रहस्य का उद्घाटन शास्त्रकार करते हैं—'सुद्ध रवति महासढेऽयति' अर्थात् वह भरी सभा मे जोर-शोर से गरजता हुआ कहता है—"मै शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ, मेरा जीवन निष्पाप है।" परन्तु उसके कारनामो का पता लगाया जाय तो आश्चर्य होगा कि उसकी शुद्धता की दुहाई वचनामात्र है, छलावा है, धोखे की टट्टी है, क्योकि वह छिप-छिपकर एकान्त मे पापकर्म करता है, दोषो का सेवन करता है, अनाचार करता है, मिथ्याचार या दिखावटी आचार का पालन करता है। उसके काले कारनामो को जानने वाले या उसके सम्पर्क मे आने वाले जानते है कि वह कितने गहरे पानी मे है। वे उसकी अटपटी दिनचर्या से, उसके व्यवहार से, उसके आचार-विचारो से, उसकी अगचेष्टाओ पर से यह भली-भाँति जान लेते हैं कि यह केवल वचन के गुब्बारे उछालता है, यह जितना और जो कुछ कहता है, आचरण मे उतना ही दूर एव विपरीत है। अन्य कोई नही तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महापुरुष तो उसके दुष्कर्मों को जान लेते है। उस कुशील के अकर्तव्य या पापकर्म की कहानी उनसे तो जरा भी छिपी नही रह पाती। मोहान्ध पुरुष अँधेरे मे छिपकर असद् अनुष्ठान करता है, और मन मे सोचता है कि मेरे पापकर्म को कौन जानता है? किसी को जरा भी पता नही लग सकता, मेरे कारनामों का। मेरे हथकडे मै ही जानता हूँ। परन्तु नीतिकार कहते है—

> आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
> नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गत मन ॥

अर्थात्—आकृति से, इशारो से, चाल-ढाल से, चेष्टा से, भाषण से, आँख और मुख के विकार से किसी व्यक्ति के अन्तमन मे छिपी हुई बात परिलक्षित हो जाती है।

साधारण मनोविज्ञान के अभ्यासियो या सतत सम्पर्क मे रहने वालो से उस व्यक्ति से दुष्कर्म छिपे नही रह सकते। उसे जानने वाले जानते है। एक लौकिक उक्ति है—

पाप छिपाये ना छिपै, छिपे तो मोटा भाग ।
दाबी दूबी ना रहे, रुई-लपेटी आग ॥

एक अनुभवी का कहना है —

न य लोण लोणिज्जइ ण य तुप्पिज्जइ घय वा तेल्ल वा ।
किह सक्को वचेउ अत्ता अणुहूयकल्लाणो ॥

अर्थात्—नमक का खारापन और तेल-घी का चिकनापन छिपाया नही जा सकता, इसी तरह बुरा कर्म करने वाला अपनी आत्मा को धोखा नही दे सकता ।

मूल पाठ

सयं दुक्कडं च न वदति, आइट्ठोवि पकत्थति बाले ।
वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ॥१६॥

संस्कृत छाया

स्वय दुष्कृत च न वदति, आदिष्टोऽपि प्रकत्थते बाल ।
वेदानुवीचि मा कार्षी , चोद्यमानो ग्लायति स भूय ॥१६॥

अन्वयार्थ

(बाले) अज्ञानी जीव **(सय दुक्कड)** अपने दुष्कृत-पाप को स्वय **(न वदति)** नही कहता है। **(आइट्ठोवि पकत्थति)** जब दूसरा कोई (गुरु आदि) उसे अपना पाप प्रकट करने का आदेश या प्रेरणा देता है, तब वह स्वय अपनी बडाई करने लगता है। **(वेयाणुवीइ मा कासी)** 'तुम मैथुन-सेवन की इच्छा मत करो' इस प्रकार आचार्य, गुरु आदि के द्वारा **(भुज्जो)** बार बार **(चोइज्जतो)** प्रेरित किया जाने पर भी **(से)** वह कुशील **(गिलाइ)** ग्लान-नाराज या उदास हो जाता है।

भावार्थ

द्रव्यलिंगी अज्ञानी पुरुष अपने दुष्कर्म—पाप को स्वय गुरु या आचार्य के सामने नही कहता। जब आचार्य, गुरु आदि कोई दूसरा हितैषी साधक उसे अपना पाप प्रकट करने का आदेश, उपदेश या निर्देश (प्रेरणा) करता है, तब वह स्वय अपनी प्रशसा के पुल बाँधने लगता है। 'तुम मैथुन की इच्छा भी मत करो' इस प्रकार आचार्य आदि द्वारा बार-बार उसे प्रेरणा दिये जाने पर वह मुर्झा जाता है, झेंप जाता है या नाराज हो जाता है।

व्याख्या

प्रच्छन्न पापी कुशील द्रव्यलिंगी की दुश्चेष्टाएँ

यह मनोविज्ञानसम्मत बात है कि जगत् मे कोई भी अपने आप को पापी नही कहलाना चाहता, चाहे वह कितना भी पापकर्म क्यो न करता हो ? प्रत्येक पुरुष मे अपने आप को धर्मात्मा कहलाने की इच्छा रहती है और वह अपनी इस इच्छा

भावार्थ

वह कुशील पुरुष सभा मे अपने आपको शुद्ध बतलाता है, परन्तु एकान्त मे छिपकर दुष्कर्म-पापकर्म करता है। परन्तु उसकी अगचेष्टाओ, आचार-विचार तथा व्यवहारो को जानने वाले व्यक्ति उसे जान लेते है कि यह मायावी और महान् शठ है।

व्याख्या

ये शुद्धता की दुहाई देने वाले प्रच्छन्न पापी !

जो व्यक्ति पूर्वगाथा मे उक्त मिथ्यमार्गी कुशील, जो वाणी से ही शूरवीर है, वह अशुद्ध एव पाप दोषयुक्त होते हुए भी भरी सभा मे अपने आप को पवित्र, शुद्ध, दूध का धोया, निर्दोष कहता है और डके की चोट कहता है। इसी रहस्य का उद्घाटन शास्त्रकार करते हैं—'सुद्ध रवति महासढेऽयति' अर्थात् वह भरी सभा मे जोर-शोर से गरजता हुआ कहता है—"मै शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ, मेरा जीवन निष्पाप है।" परन्तु उसके कारनामो का पता लगाया जाय तो आश्चर्य होगा कि उसकी शुद्धता की दुहाई वचनामात्र है, छलावा है, धोखे की टट्टी है, क्योकि वह छिप-छिपकर एकान्त मे पापकर्म करता है, दोषो का सेवन करता है, अनाचार करता है, मिथ्याचार या दिखावटी आचार का पालन करता है। उनके काले कारनामो को जानने वाले या उसके सम्पर्क मे आने वाले जानते है कि वह कितने गहरे पानी मे है। वे उसकी अटपटी दिनचर्या से, उसके व्यवहार से, उसके आचार-विचारो से, उसकी अगचेष्टाओ पर से यह भली-भाँति जान लेते है कि यह केवल वचन के गुब्बारे उछालता है, यह जितना और जो कुछ कहता है, आचरण मे उतना ही दूर एव विपरीत है। अन्य कोई नही तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महापुरुष तो उसके दुष्कर्मो को जान लेते है। उस कुशील के अकर्तव्य या पापकर्म की कहानी उनसे तो जरा भी छिपी नही रह पाती। मोहान्ध पुरुष अँधेरे मे छिपकर असद् अनुष्ठान करता है, और मन मे सोचता है कि मेरे पापकर्म को कौन जानता है ? किसी को जरा भी पता नही लग सकता, मेरे कारनामो का। मेरे हथकडे मैं ही जानता हूँ। परन्तु नीतिकार कहते है—

आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गत मन ॥

अर्थात्—आकृति से, इशारो से, चाल-ढाल से, चेष्टा से, भाषण से, आँख और मुख के विकार से किसी व्यक्ति के अन्तर्मन मे छिपी हुई बात परिलक्षित हो जाती है।

साधारण मनोविज्ञान के अभ्यासियो या सतत सम्पर्क मे रहने वालो से उस व्यक्ति से दुष्कर्म छिपे नही रह सकते। उसे जानने वाले जानते है। एक लौकिक उक्ति है—

पाप छिपाये ना छिपै, छिपे तो मोटा भाग ।
दाबी दूबी ना रहे, रुई-लपेटी आग ॥

एक अनुभवी का कहना है—

न य लोण लोणिज्जइ ण य तुप्पिज्जइ घय वा तेल्लं वा ।
किह सक्को वचेउ अत्ता अणुहूयकल्लाणो ॥

अर्थात्—नमक का खारापन और तेल-घी का चिकनापन छिपाया नही जा सकता, इसी तरह बुरा कर्म करने वाला अपनी आत्मा को धोखा नही दे सकता ।

मूल पाठ

सयं दुक्कडं च न वदति, आइट्ठोवि पकत्थति बाले ।
वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ॥१९॥

संस्कृत छाया

स्वय दुष्कृत च न वदति, आदिष्टोऽपि प्रकत्थते बाल ।
वेदानुवीचि मा कार्षी , चोद्यमानो ग्लायति स भूय ॥१९॥

अन्वयार्थ

(**बाले**) अज्ञानी जीव (**सय दुक्कड**) अपने दुष्कृत-पाप को स्वय (**न वदति**) नही कहता है। (**आइट्ठोवि पकत्थति**) जब दूसरा कोई (गुरु आदि) उसे अपना पाप प्रकट करने का आदेश या प्रेरणा देता है, तब वह स्वय अपनी बडाई करने लगता है। (**वेयाणुवीइ मा कासी**) 'तुम मैथुन-सेवन की इच्छा मत करो' इस प्रकार आचार्य, गुरु आदि के द्वारा (**भुज्जो**) बार बार (**चोइज्जतो**) प्ररित किया जाने पर भी (**से**) वह कुशील (**गिलाइ**) ग्लान-नाराज या उदास हो जाता है।

भावार्थ

द्रव्यलिंगी अज्ञानी पुरुष अपने दुष्कर्म—पाप को स्वय गुरु या आचार्य के सामने नही कहता। जब आचार्य, गुरु आदि कोई दूसरा हितैषी साधक उसे अपना पाप प्रकट करने का आदेश, उपदेश या निर्देश (प्रेरणा) करता है, तब वह स्वय अपनी प्रशसा के पुल बाँधने लगता है। 'तुम मैथुन की इच्छा भी मत करो' इस प्रकार आचार्य आदि द्वारा बार-बार उसे प्रेरणा दिये जाने पर वह मुर्झा जाता है, झेप जाता है या नाराज हो जाता है।

व्याख्या

प्रच्छन्न पापी कुशील द्रव्यलिंगी की दुश्चेष्टाएँ

यह मनोविज्ञानसम्मत बात है कि जगत् मे कोई भी अपने आप को पापी नही कहलाना चाहता, चाहे वह कितना भी पापकर्म क्यो न करता हो ? प्रत्येक पुरुष मे अपने आप को धर्मात्मा कहलाने की इच्छा रहती है और वह अपनी इस इच्छा

की पूर्ति के लिए गुप्तरूप से पाप करता है या कुशीलसेवन करता है, ताकि कोई उसे पापी न कह सके। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—**'सय दुक्कड च न वदति'**। अर्थात् कुशील पुरुप अपने किए हुए प्रच्छन्न पाप को किसी के पूछने या न पूछने पर भी स्वय प्रगट नही करता कि मैंने अमुक दुष्कार्य किया है।

प्रश्न होता हे कि प्रच्छन्न पापी मायावी स्वय तो कहता नही, मगर जो लोग उसके काले कारनामो को जानते है, जो उसके सम्पर्क मे सतत रहकर उसकी दुश्चेष्टाओ से अनभिज्ञ नही है, उनके सामने भी वह कैसे छिपा सकता है? इसके समाधान के लिए शास्त्रकार उसकी दुश्चेष्टाओ को व्यक्त करते हैं—**'आइट्ठोवि पकत्थति बाले'** अर्थात् उसके प्रच्छन्न पापो के जानकार गुरु, आचार्य या कोई हितैपी उससे अपने पापो या दुष्कृत्यो को प्रकट करने या कहने के लिए आदेश या प्रेरणा देते है तो वह उनकी वात को ऊपर ही ऊपर उडा देता हे, उनकी खरी-खरी वातो को सुनी-अनुसुनी कर देता हैं। वह कहने लगता हे—"कौन कहता है, मैंने अमुक दुष्कृत्य किया है? कहने वाले झूठे है। भला मैं ऐसा खानदानी (कुलीन) व्यक्ति ऐसा दुराचरण कर सकता हूँ?" और फिर धृष्टतापूर्वक अपनी प्रशसा के पुल वाँधने लगता है— "मैं जितने अपनी और दूसरो की भलाई के कार्य करता हूँ, शायद ही कोई करता हो। मेरे जैसा परोपकारी, धर्मवीर, पूजनीय पुरुष और कौन है? मैंने कुछ ही वर्षो मे अपने हजारो भक्त वनाए है। अगर मैं दुश्चरित्र होता तो मेरे इतने भक्त कैसे वन जाते? मैं जगत् मे कर्मयोगी हूँ, आदरणीय-वन्दनीय वन गया हूँ, इसलिए कुछ ईर्ष्यालु लोग मुझसे ईर्ष्या करके मुझे इस प्रकार से वदनाम करके लोगो की दृष्टि मे गिराना चाहते है। मेरी कीर्ति उनकी आँखो मे खटकती हैं, इसलिए वे मेरी निन्दा करके मुझे वदनाम करते है, मेरे विरुद्ध झूठा प्रचार करते है।"

'वेयाणुवीइ मा कासी' वेदानुवीचि मे 'वेद' शब्द पुरुषवेद के उदय का द्योतक है। उसके अनुकूल मैथुन की इच्छा वेदानुवीचि कहलाता है। इसके पश्चात् जव आचार्य या गुरु उसकी थोथी वातें तथा मनगढन्त विचार सुनते है ता खिन्न होकर उसे वार-बार प्रेरणा देते हैं कि "सौ बात की एक वात है, तुम मैथुन-सेवन की मन से भी इच्छा न करो, उसे सदा के लिए मन-वचन-काया से तिलाजलि दे दो।" इस प्रकार वार-वार कहासुनी करने पर वह अत्यन्त ग्लानि को पाप्त हो जाता है। ग्लानि का अर्थ है—एकदम झेंप जाना, मुर्झा जाना, या मुँह पर हवाइयाँ उडने लग जाना, चेहरा फीका हो जाना। अथवा वह उस वात को सुनी-अनसुनी कर देता है। या वह उनकी वात सुनकर मर्मस्थान मे विद्ध-सा या मर्माहत-सा खेदयुक्त होकर कहता है—"मुझ पर पाप की आशका की जाती है, तव मुझे पापरहित होने से भी क्या लाभ? क्योकि निर्विष सर्प से भी लोग वहुत डरते हैं।" इसी वात को शास्त्रकार कहते हैं—**'चोइज्जंतो · से भुज्जो।'**

मूल पाठ

ओसियावि इत्थिपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेयखेदन्ना ।
पण्णासमन्निता वेगे, नारीणं वस उवकसति ।।२०।।

संस्कृत छाया

उषिता अपि स्त्रीपोषेषु पुरुषा स्त्रीवेदखेदज्ञा ।
प्रज्ञासमन्विता एके नारीणा वशमुपकषन्ति ।।२०।।

अन्वयार्थ

(इत्थिपोसेसु उसिया वि पुरिसा) जो पुरुष स्त्रियो का पोपण कर चुके हैं, **(इत्थिवेयखेयन्ना)** अतएव स्त्रियो के कारण होने वाले खेदो के ज्ञाता हैं, **(पण्णासमन्निता)** एव प्रज्ञा-बुद्धि से युक्त है **(वेगे)** ऐसे भी काई **(नारीण वस उवकसति)** स्त्रियो के वशीभूत हो जाते हैं ।

भावार्थ

स्त्रियो का पोषण करने के लिए पुरुष को जो-जो प्रवृत्तियाँ करनी पडती है, उनका सम्पादन करके जो पुरुष मुक्तभोगी हो चुके हैं तथा स्त्रीवेद (स्त्री जाति) माया प्रधान होती है, उससे उत्पन्न होने वाले क्लेशो के जो अनुभवी है, तथा औत्पातिकी आदि बुद्धियो से सम्पन्न हैं, ऐसे भी कोई पुरुष स्त्रियो के वशीभूत हो जाते हैं ।

व्याख्या

स्त्रीपोषण के अनुभवी बुद्धिशील भी स्त्री के वशीभूत हो जाते हैं

स्त्री का आकर्षण कितना प्रबल होता है ? यह इस गाथा मे बताया गया है। जो व्यक्ति इस ब.त के अनुभवी हैं, भुक्तभोगी हैं, जो यह भलीभाँति जानते हैं कि स्त्रियो का पोपण करने मे क्या-क्या दोष पैदा होते हैं ? किस-किस प्रकार के उतार-चढाव स्त्रियो के पोषण मे आते हैं ? क्योकि वे पहले स्त्री-पोपक प्रवृत्तियो को सम्पादन कर चुके है। तथा जो स्त्रीवेद के खेद को जानते हैं, अर्थात् स्त्रीवेद प्राय मायाप्रधान होता है यह जानने मे जो निपुण है, एव औत्पातिकी, पारिणामिकी, वैनयिकी और कार्मिकी आदि बुद्धि अथवा शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारणा, ऊहापोह आदि बुद्धि के अष्टगुणो से समन्वित हैं, ऐसे कई लोग भी महामोहान्ध होकर स्त्रियो के वशीभूत हो जाते है। जब इतने बुद्धिनिधान, भुक्तभोगी और स्त्रीविषयक अनुभव मे पक्के मनुष्य भी स्त्रियो के गुलाम बन जाते हैं, तब सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या ?

आश्चर्य तो इस बात का है कि इस प्रकार के स्त्री मनोविज्ञान मे निपुण व्यक्ति जानते-बूझते हुए भी जैसे पतगा प्रकाश पर टूट पडता है, वैसे ही वे स्त्री-मोह मे टूट पडते है ।

स्त्री स्वभाव के विषय मे नीतिकार कहते है—

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोर्विश्वासयन्ति च नर न च विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्य श्मशानघटिका इव वर्जनीया ॥१॥
समुद्रवीचीव चलस्वभावा सन्ध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागा ।
स्त्रिय कृतार्था पुरुष निरर्थक, निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥२॥
हृद्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यत् पुरोऽथ पृष्ठेऽन्यत् ।
अन्यत्तव मम चान्यत् स्त्रीणा सर्व किमप्यन्यत् ॥३॥

स्त्रियाँ किसी कार्यवश हँसती है, कभी रोती है, कभी पुरुष को विश्वास देती है, परन्तु स्वय उस पर विश्वास नही करती । अत कुल एव शील से युक्त पुरुष मरघट की घटिकाओ के समान स्त्रियो को त्याज्य समझे । समुद्र की तरगें जिस प्रकार चचल होती है, उसी तरह स्त्रियो का स्वभाव भी चचल होता है । जैसे सन्ध्याकाल के बादलो मे थोडी देर तक राग (लालिमा) टिकता है, वैसे ही स्त्रियो राग भी थोडी देर तक रहता है । स्त्रियाँ जब अपना प्रयोजन पुरुष से सिद्ध कर लेती है, तब जैसे लोग महावर का रग निकाल कर उसकी रुई को फैंक देते है, वैसे ही वे पुरुष को मन से फैंक देती हैं । स्त्रियो के हृदय मे और बात होती है, वाणी मे और बात तथा करती कुछ और ही है । सामने अन्य बात होती है, पीछे अन्य । तुम्हारे लिए अन्य होता है, मेरे लिए अन्य होता है । वस्तुत स्त्रियो का सब कुछ अन्य ही होता है ।

स्त्री-स्वभाव के सम्बन्ध मे वृत्तिकार ने एक कथानक प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है—

एक युवक वैशिक कामशास्त्र (स्त्री स्वभाव को बताने वाले शास्त्र) के अध्ययन के लिए घर से पाटलिपुत्र रवाना हुआ । रास्ते मे वह एक गाँव मे एक स्त्री के यहाँ टिका । उसने युवक का रूप-रग देखकर पूछा—"तुम्हारे हाथ-पैर अत्यन्त सुकुमार हैं, तुम्हारा चेहरा भी सुन्दर है, तुम हृष्टपुष्ट युवक हो, फिर अपना गाव और घर छोडकर कहाँ जा रहे हो ?" युवक ने अपने जाने का प्रयोजन यथार्थरूप से उस स्त्री को कह सुनाया । यह सुनकर स्त्री ने कहा—"अच्छा, खुशी से जाओ, पर वैशिक कामशास्त्र पढकर लौटते समय इस गाँव से होकर ही जाना ।" युवक ने उक्त स्त्री की बात मानकर उसे वचन दिया । अत अपने वचन के अनुसार युवक वैशिक कामशास्त्र पढकर लौटते समय उसी मार्ग से होकर उस गाँव मे पहुँचा । उस स्त्री के यहाँ जब वह पहुँचा, तो उसने स्नान-भोजन आदि के द्वारा युवक की बडी आवभगत की । साथ ही उस स्त्री ने अपने हावभावो, कटाक्षो, अगविन्यास एव बोलचाल से उस युवक का मन इतना हर लिया कि वह उस स्त्री

पर मोहित हो गया। मोहित युवक ने ज्यो ही उस स्त्री का हाथ पकडना चाहा त्यो ही उसने जोर से चिल्लाकर अपना हाथ छुडा लिया और लोगो की भीड जमा होने का अवसर देखकर चट से उसके सिर पर पानी का भरा घडा उडेल दिया। जब आगन्तुक लोगो ने पूछा कि 'तुमने ऐसा क्यो किया ?' तब उसने बनावटी बात बनाते हुए कहा—इसके गले मे पानी लग गया था, अत इसके मरने मे जरा-सी कसर रह गई थी। इसकी ऐसी स्थिति देखकर मैंने इसे बचाने के लिए दया लाकर इसको पानी से नहला दिया। सब लोग जब 'बहुत अच्छा किया', कहकर चले गए तब उस स्त्री ने युवक से कहा—"वैशिक कामशास्त्र पढकर तुमने स्त्री स्वभाव का क्या खाक ज्ञान प्राप्त किया है ?" वस्तुत स्त्री चरित्र दुर्विज्ञेय होता है। इसलिए पुरुष को, खासकर साधक को स्त्री के स्वभाव पर सहसा विश्वास नही करना चाहिए।

मूल पाठ

अवि हत्थपायछेदाए, अदुवा वद्धमंसउक्कते ।
अवि तेयसाभितावणाणि, तच्छियखारसिंचणाइं च ॥२१॥

संस्कृत छाया

अपि हस्तपादच्छेदाय, अथवा वर्धमांसोत्कर्त्तनम् ।
अपि तेजसाऽभितापनानि तक्षयित्वा क्षारसिंचनानि च ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**अवि हत्थपायछेदाए**) इस लोक मे परस्त्री के साथ सम्पर्क करना हाथ-पैर के छेदनरूप दण्ड के लिए होता है (**अदुवा वद्धमंसउक्कते**) अथवा चमडी और मास काटने का दण्ड मिलता है (**अवि तेयसाभितावणाणि**) अथवा आग से जलने का दण्ड मिलता है। (**तच्छियखारसिंचणाइ**) अथवा अग काटकर उस पर खार छिडकने का दण्ड मिलता है।

भावार्थ

जो लोग परस्त्रीसेवन करते हैं, उनके हाथ-पैर काट लिए जाते हैं, चमडी उधेड ली जाती है, मास नोच लिया जाता है तथा आग मे जलाया जाता है, एव उनके अग काटकर उन पर खार छिडका जाता है। इस प्रकार का भयकर दण्ड उन्हे इस लोक मे मिलता है।

व्याख्या

परस्त्रीससर्ग का इहलौकिक भयकर दण्ड

इस गाथा मे परस्त्रीससर्ग करने वाले व्यक्तियो के भयकर दण्ड का शास्त्रकार उल्लेख करते है। यहाँ 'अवि' (अपि) शब्द सम्भावना अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, यह सभी प्रकार के दण्डो के साथ समझ लेना चाहिए। अर्थात् परस्त्री मे मोहित एव

ससक्त लोगो के हाथ-पैर काट लिए जाने की सम्भावना है, उनकी चमडी उधेड ली जानी सम्भव है, मास भी नोचा जा सकता है, उस स्त्री के स्वजनो द्वारा उत्तेजित राजपुरुप पारदारिको को भट्टी पर चढाकर उन्हे तपा भी सकते है, परस्त्रीलम्पट शरीर को वसूला आदि से छीलकर उस पर खार छिडका जा सकता है। ये सब दण्ड कितने भयकर है! परस्त्रीगामी को प्रतिष्ठाहानि, अपकीर्ति आदि मानसिक दण्ड भी कम नही होता। उसकी निन्दा, भर्त्सना, अपशब्दो एव गालियो की बौछार आदि वाचिक दण्ड भी भयकर होता है।

मूल पाठ

अदु कण्णणासच्छेद, कंठच्छेदण तितिक्खती।
इति इत्थ पावसतत्ता, न य बिति पुणो न काहिति ॥२२॥

संस्कृत छाया

अथ कर्णनासिकाच्छेद, कण्ठच्छेदन तितिक्षन्तो।
इत्यत्र पापसतप्ता, न च ब्रुवते न पुन करिष्याम ॥२२॥

अन्वयार्थ

(पावसतत्ता) पाप की आग मे जलते हुए पुरुष (इत्थ) इस लोक मे (कण्णणासच्छेद) कान और नाक का छेदन एव (कठच्छेदण) कण्ठ का छेदन (तितिक्खती) सहन कर लेते हैं। (न य बिति) परन्तु यह नही कहते कि (पुणो न काहिति) अब हम फिर पाप नही करेंगे।

भावार्थ

पाप से सन्तप्त पुरुष इस लोक मे कान और नाक के छेदन एव कण्ठ का छेदन तो सह लेते है, लेकिन वे मूढ यह वादा नही करते कि अब भविष्य मे हम पाप नही करेंगे।

व्याख्या

परस्त्रीगामी द्वारा भयकर दण्ड सहन, किन्तु पाप से विरत नहीं

इस गाथा मे परस्त्रीगामी की कठोर मनोवृत्ति और साहस का परिचय दिया गया है कि वे अपने पापकर्म से सन्तप्त होकर नरक के सिवाय इस लोक मे किये हुए पाप के दण्डस्वरूप कान और नाक तथा कण्ठ का छेदन तो सह लेते है, परन्तु मन मे ऐसा दृढ सकल्प करके कभी वचनबद्ध नही होते कि भविष्य मे हम ऐसा कुकृत्य नही करेंगे। सच है, पापी पुरुष इस लोक और परलोक मे मिलने वाली भयकर सजा एव यातना तो स्वीकार कर लेते है, पर पापकर्म से निवृत्त नही होते।

मूल पाठ

सुयमेयमेवेगेसि इत्थीवेदेति हु सुयक्खाय।
एवं पि ता वदित्तावि, अदुवा कम्मुणा अवकरेति ॥२३॥

संस्कृत छाया

श्रुतमेतदेवमेकेषा स्त्रीवेद इति हु स्वाख्यातम् ।
एवमपि ता उक्त्वाऽपि, अथवा कर्मणा अपकुर्वन्ति ॥२३॥

अन्वयार्थ

(एय एव सुत) हमने यह सुना है कि ऐसा पाप (स्त्रीसम्पर्क का कुकृत्य) वहुत बुरा होता है, (एगेसि सुयक्खाय) कुछ लोगो ने यह ठीक ही कहा है कि (इत्थीवेदेत्ति हु) वैशिक कामशास्त्र (स्त्री-वेद) का भी यह कथन है कि (ता एव पि वदित्ताबि कम्मुणा अवकरेंति) अब पुन मै ऐसा नही करूँगी, यह कहकर भी स्त्रियाँ (कामुक नारियाँ) पुन कर्म से अपकार्य करती है ।

भावार्थ

यह हमने सुना है कि ऐसा पाप (स्त्रीससक्ति का दुष्कार्य) वहुत ही बुरा है तथा कोई ऐसा ठीक ही कहते भी है और वैशिक कामशास्त्र (स्त्री-स्वभाव निरूपक वेद) का भी यह कथन है कि स्त्रियाँ पुन पापकर्म न करने का वचन देकर भी कर्म से अपकर्म करती जाती है ।

व्या

श्रुति, युक्ति और अनुभूति से काम बुरा, किन्तु दुस्त्याज्य

शास्त्रकार केवल अपनी बात न कहकर अन्य कामशास्त्र आदि से तथा युक्ति और अनुभूति से यह प्रमाणित करते हैं कि हमने सुना है तथा वैशिक कामशास्त्र मे भी कथन है और कुछ लोगो ने युक्ति से भी सिद्ध कर दिया है कि स्त्री के साथ ससर्ग बुरा है, किन्तु स्त्रियाँ ऐसा कहकर भी कि अब हम अपने साथ ससर्ग नही होने देंगी, फिर भी पुन इस अपकर्म को करती रहती हैं ।

यही बात शास्त्रकार कहते हैं—'सुयमेयमेवेगेसि ' 'कम्मुणा अवकरेंति' । अर्थात् पूर्वगाथाओ मे जो कहा गया है, वह सब हमने गुरुपरम्परा से, लोकश्रुति-परम्परा से तथा किन्ही अनुभवी सज्जनो से सुना है कि स्त्रीससर्ग निन्दनीय है । क्योकि स्त्री का चित्त दुर्विज्ञेय, स्वभाव चचल और उनका सेवन कठिन होता है । उनके साथ सम्पर्क का नतीजा वहुत बुरा होता है । कई तो बहुत ही अदूरदर्शिनी और तुच्छ स्वभाव की होती हैं । उनमे अभिमान वहुत अधिक होता है । इस प्रकार कोई कहते हैं । यह वात लौकिक श्रुति परम्परा से तथा पुरानी आख्यायिकाओ से भी ज्ञात होती है । स्त्रियो के स्वभाव और उनके साथ ससर्ग का फल बताने वाले वैशिक कामशास्त्र को 'स्त्री-वेद' कहते है । इसमे भी कहा है—

दुर्ग्राह्य हृदय यथैव वदन यद्दर्पणान्तर्गतम्,
भाव पर्वतमार्गदुर्गविषम स्त्रीणा न विज्ञायते ।
चित्त पुष्करपत्रतोयतरल नैकत्र सन्तिष्ठते,
नार्यो नाम विषाकुरैरिव लता दोषै सम वर्धिता ॥

अर्थात्—जैसे दर्पण पर पडी हुई मुख की छाया दुर्ग्राह्य होती है, वैसे ही स्त्रियो का हृदय दुर्ग्राह्य (जल्दी से पकड मे न आने वाला) होता है। स्त्रियो का अभिप्राय पर्वत के दुर्गम मार्ग के समान गहन होने के कारण महसा विज्ञात नही होता। उनका चित्त कमलपत्र पर पडे हुए जलविन्दु के समान अति चचल होता है, इसलिए वह एक जगह नही टिकता। नारियाँ क्या है ? ये विप के अकुरो के साथ उत्पन्न हुई विपलता के समान विभिन्न दोपो से पालित-पोषित होनी है।

वृत्तिकार ने किसी अनुभवी की गाथाओ भी इस मम्वन्ध मे दी है—

सुट्ठुवि जियासु सुट्ठुवि पियासु सुट्ठुवि य लद्धपसरासु।
अडईसु महिलियासु य वीसभो नेव कायव्वो ॥१॥
उब्भेउ अगुली सो पुरिसो, सयलमि जीवलोयमि ।
काम तएण नारी जेण न पत्ताइ दुक्खाइ ॥२॥
अह एयाण पगई सव्वस्स करेति वेमणस्साइ ।
तस्स ण करेति णवर जस्स अल चेव कामेहि ॥३॥

अर्थात्—अच्छी तरह जीती हुई, अच्छी तरह प्रसन्न की हुई, अच्छी तरह परिचय की हुई अटवी और स्त्री का विश्वास नही करना चाहिए। क्या इस समग्र जीवलोक मे कोई अगुलि उठाकर कह सकता है, जिसने स्त्री की कामना करके दु ख न पाया हो ? स्त्रियो का स्वभाव है कि वे सबका तिरस्कार करती हैं, केवल उसका तिरस्कार नही करती, जिसे स्त्री की कामना नही है।

अत अन्त मे शास्त्रकार कहते हैं—'अब हम ऐसा नही करेगी', इस प्रकार वचन द्वारा कहकर भी स्त्रियाँ कर्म द्वारा विपरीत आचरण करती जाती है। अथवा सामने स्वीकार करके भी शिक्षा (उपदेश) देने वाले का ही अपकार करती है।

आगामी गाथा मे स्वय शास्त्रकार स्त्री-स्वभाव का परिचय देते है—

मूल पाठ

अन्नं मणेण चिंतेति वाया अन्नं च कम्मुणा अन्न ।
तम्हा ण सद्दह भिक्खू, बहुमायाओ इत्थीओ णच्चा ॥२४॥

संस्कृत छाया

अन्यन्मनसा चिन्तयन्ति, वाचा अन्यच्च कर्मणाऽन्यत् ।
तस्मान्न श्रद्दधीत भिक्षु बहुमाया स्त्रियो ज्ञात्वा ॥२४॥

अन्वयार्थ

(मणेण अन्न चिंतेंति) स्त्रियाँ मन से कुछ और सोचती हैं, **(वाया अन्ने च)** और वचन से और कहती है, तथा **(कम्मुणा अन्न)** कर्म से और कुछ करती है।

(तम्हा) इसलिए (बहुमायाओ इत्थीओ णच्चा) स्त्रियो को अतिमाया वाली जान कर (भिक्खू ण सद्दह) साधु उन पर विश्वास न करे।

भावार्थ

स्त्रियाँ मन मे कुछ और विचार करती है, एव वाणी से कुछ और प्रगट करती है तथा कर्म से कुछ और ही करती है। इसलिए साधु स्त्रियो को अत्यन्त मायाविनी जानकर उन पर भरोसा न करे।

व्याख्या

स्त्रियो के मन, वचन, कर्म से विभिन्न रूप

इस गाथा मे शास्त्रकार स्त्री-स्वभाव का चित्रण करते है—'**अन्न मणेण इत्थीओ णच्चा।**' तात्पर्य यह है कि स्त्रियाँ पाताल के उदर के समान अति गम्भीर होती हैं, वे मन से कुछ और ही विचार करती हैं, तथा सुनने मे मधुर प्रतीत होने वाले, किन्तु परिणाम मे भयकर अपनी वाणी द्वारा भाषण और ही तरह का करती हैं, और उसके कर्म का रूप इन दोनो से भी न्यारा है। साधु यह निश्चित समझ ले कि स्त्रियाँ माया करने मे अति निपुण होती है, उनका कोई भरोसा नही है। अत उनकी माया से अपनी आत्मा को लिप्त न होने दे।

इस सम्बन्ध मे वृत्तिकार एक कथा देते हैं। एक युवक था—दत्तावैशिक। उसे ठगने के लिए एक वेश्या ने अनेक उपाय किये। परन्तु उन्होने मन से उसकी कामना नही की। उसे दृढ देखकर वेश्या ने कहा—मै दुर्भाग्यरूपी कलक से कलकित हूँ, अब मुझे जीने से क्या प्रयोजन है। मुझे आपने छोड दिया है, अत मैं अब अग्नि मे प्रवेश करके जल मरूँगी। यह सुनकर दत्तावैशिक ने कहा—"स्त्रियाँ माया करके अग्नि मे भी प्रवेश कर सकती है।" इस पर उस वेश्या ने सुरग के पूर्व द्वार के पास लकडियो का ढेर इकट्ठा करके उसे जला दिया और सुरग मार्ग से अपने घर चली आई। इसके बाद दत्तावैशिक ने कहा—"स्त्रियो के लिए ऐसी माया करना तो बाएँ हाथ का खेल है।" वह ऐसा कह रहे थे कि उन्हे विश्वास दिलाने के लिए धूर्तो ने उन्हे चिता पर फैंक दिया। इतने पर भी उन्होने स्त्रियो पर विश्वास नही किया। इसी प्रकार अन्य साधको को भी स्त्रियो पर विश्वास नही करना चाहिए।

मूल पाठ

जुवती समणं बूया विचित्तलंकारवत्थगाणि परिहित्ता।
विरता चरिस्सह रुक्खं, धम्ममाइक्ख णे भयतारो ॥२५॥

संस्कृत छाया

युवति श्रमण ब्रूयात् विचित्रालकारवस्त्रकाणि परिधाय।
विरता चरिष्याम्यह रुक्ष, धर्ममाचक्ष्व न भयत्रात ॥२५॥

अन्वयार्थ

(जुवती) कोई जवान स्त्री (विचित्तलकारवत्थगाणि) विचित्र आभूषण और वस्त्र (परिहित्ता) पहनकर (समण बूया) साधु से कहे कि (अह विरताचरिस्स रुक्ख) मैं गृहवन्धन से विरत होकर सयम पालन करूँगी (भयतारो) हे भयत्राता साधो ! (णे धम्ममाइक्ख) आप मुझे धर्म के सम्वन्ध मे उपदेश दे, कहे।

भावार्थ

कोई युवती नारी विचित्र अलकार और वस्त्र पहनकर साधु से कहे कि मैं विरक्त होकर सयम का पालन करूँगी, इसलिए आप मुझे धर्मोपदेश दीजिए।

व्याख्या

नारी साध्वी बनने के बहाने साधु को ठगने वाली

कोई नवयौवना नारी वस्त्रालकारो से सुसज्ज होकर साधु से कहे कि "मुनिवर ! मैं अव इस गृहवन्धन से विरक्त हो चुकी हूँ। मेरा पति मुझे पसन्द नही है, या वह मेरे अनुकूल नही है, उसने मुझे छोड दिया है अत मैं तो अव सयम का पालन करूँगी। कही-कही 'रुक्ख' के वदले 'मोण' शब्द है, वहाँ भी मौन (मुनि का भाव—मुनित्व) का अर्थ सयम ही होता है। अत हे भय से रक्षक साधो ! मुझे आप धर्म सुनाइए, ताकि मैं इस दु ख की भागिनी न वनूँ।"

इस प्रकार धर्मध्वजी वनकर महिलाएँ साधु को अपने चक्कर मे फँसा लेती हैं।

अगली गाथा मे बताया है कि इससे भी आगे वढकर वे और भी विश्वस्त वेष धरकर साधु के समक्ष आती है —

मूल पाठ

अदु साविया पवाएण, अहमसि साहम्मिणी य समणाण।
जतुकुभे जहा उवज्जोई, संवासे विदू विसीएज्जा　　॥२६॥

सस्कृत छाया

अथ श्राविकाप्रवादेन, अहमस्मि सार्धमिणी श्रमणानाम्　।
जतुकुम्भो यथा उपज्योति, सवासे विद्वान् विषीदेत　　॥२६॥

अन्वयार्थ

(अदु) इसके पश्चात् (साविया पवाएण) श्राविका होने के वहाने से स्त्री साधु के निकट आकर कहती है—(अहमसि साहम्मिणी समणाण) मैं श्रमणो की सार्धमिणी हूँ, यह कहकर भी वह साधुओ के पास आती है। (जहा उवज्जोइ जतुकुभे) जैसे आग के पास लाख का घडा जल जाता है। इसी तरह (विदू) विद्वान् पुरुष भी (सवासे) स्त्री ससर्ग से शिथिलाचारी हो जाते हैं।

भावार्थ

इसके पश्चात्—स्त्री कभी श्राविका होने के बहाने से साधु के निकट आती है और कहती है—मै श्रमणो की सहधर्मिणी हूँ, यह कहकर वह बार-बार साधु के पास आती है, बैठती है और साधु को ठगने का उपक्रम करती है। जैसे आग के पास रखा हुआ लाख का घडा जलकर कुछ ही क्षणो मे स्वाहा हो जाता है इसी तरह विद्वान् पुरुष भी स्त्रियो से ससर्ग करके भ्रष्ट हो जाता है।

व्याख्या

स्त्री, श्राविका के बहाने साधु को फँसाती है

इस गाथा मे प्रस्तुत किया गया है कि मायाविनी स्त्री किस प्रकार साधु को श्राविका बनकर फँसा लेती है। मायाविनी नारी साधु के पास इस बहाने से आती है कि मैं श्राविका हूँ, इसलिए साधु की सार्धमिणी हूँ। ऐसा प्रपच रचकर वह स्त्री बार-बार साधु के सम्पर्क मे आती है। घण्टो उसके पास बैठती है और धीरे-धीरे कूलवालुक तपस्वी की तरह साधु को धर्म से भ्रष्ट कर देती है।

वास्तव मे स्त्री का ससर्ग ब्रह्मचारियो के लिए महान् अनर्थ का कारण होता है। कहा भी है—

तज्ज्ञान तच्च विज्ञान तत्तप स च सयम।
सवमेकपदे भ्रष्ट, सर्वथा किमपि स्त्रिय ॥

वह ज्ञान, वह विज्ञान, वह तप और वह सयम सब स्त्री को विकार दृष्टि से देखते ही नष्ट हो जाते हैं, अगर सर्वागरूप से उसे मोहदृष्टि से देखकर उसके साथ सम्पर्क कर ले, तब वह महान् अनर्थ का कारण बन जाती है। शास्त्रकार दृष्टान्त द्वारा इस बात को समझाते हैं—'जतुकुभे जहा उवज्जोई' जिस तरह लाख का घडा आग के पास रखते ही पिघल जाता है वैसे ही ब्रह्मचारी का स्त्री के साथ निवास करने से वह भ्रष्ट हो जाता है। बडे-बडे विद्वान् भी जब स्त्रियो के साथ सवाद करने से धर्माचरण मे शिथिल हो जाते है, तब साधारण आदमियो की तो बात ही क्या?

इसी दृष्टान्त द्वारा अगली गाथा मे फिर शास्त्रकार समझाते हैं—

मूल पाठ

जतुकुभे जोइउवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ।
एवित्थियाहि अणगारा, सवासेण णासमुवयति ॥२७॥

सस्कृत छाया

जतुकुम्भो ज्योतिरुपगूढ आश्वभितप्तो नाशमुपयाति।
एव स्त्रीभिरनगारा सवासेन नाशमुपयान्ति ॥२७॥

अन्वयार्थ

(जोइउवगूढे जतुकुभे) अग्नि के साथ आलिगन किया हुआ लाख का घडा (आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ) शीघ्र ही तपकर नष्ट हो „जाता है, (एवित्थियाहिं सवासेण अणगारा) इसी तरह स्त्रियो के ससर्ग से अनगार साधक (णासमुवयति) नाश को प्राप्त हो जाते है ।

भावार्थ

जैसै अग्नि को छूता (आलिगित किया) हुआ लाख-का घडा चारो ओर से तपकर शीघ्र ही पिघल जाता हे, इसी तरह अनगार पुरुप स्त्रियो के ससर्ग से शीघ्र ही सयम से भ्रष्ट हो जाते है ।

व्याख्या

स्त्री के स्पर्श से भी कितना अनर्थ !

स्त्री का ससर्ग तो दूर रहा, सिर्फ स्त्री के स्मरण मात्र से ही कितना अनर्थ होता है ? यह इस गाथा मे बताया है । इस सम्बन्ध मे पूर्व गाथा मे उक्त दृष्टान्त द्वारा पुन समझाया गया है । जैसे अग्नि मे आलिगित लाख का घडा शीघ्र ही सब ओर से तपकर पिघल कर नष्ट हो जाता है, इसी तरह ब्रह्मचारी साधु भी स्त्री के स्मरणमात्र से यानी मन मे विचारमात्र से ही सयम से भ्रष्ट हो जाता है ।

मूल पाठ

कुव्वंति पावगं कम्मं पुट्ठा वेगेवमाहिंसु ।
नोऽहं करेमि पावति अकेसाइणी ममेसत्ति ।।२८।।

सस्कृत छाया

कुर्वन्ति पापक कर्म पृष्ठा एके एवमाहु ।
नाऽह करोमि पापमिति अङ्कशायिनी ममैषेति ।।२८।।

अन्वयार्थ

(एगे पावग कम्म कुव्वति) कई भ्रष्टाचारी साधुवेपी पापकर्म करते है, (पुट्ठा वा एवमाहसु) किन्तु पूछने पर ऐसा कहते है कि (अह पाव नो करेमि) मैं पापकर्म नही करता हूँ (एसा मम अकेसाइणी त्ति) किन्तु यह स्त्री बचपन से मेरी अकशायिनी रही है ।

भावार्थ

कई भ्रष्टाचारी साधुवेषधारी पापकर्म करते हैं, किन्तु आचार्य आदि के पूछने पर ऐसा कह देते हैं, "अजी ! मै तो पापकर्म करता ही नही । यह स्त्री बचपन मे मेरे अक मे सोती थी, इसी कारण यह ऐसा करती है ।

व्याख्या

स्त्री-मोहित सदनुष्ठानभ्रष्ट साधकों की माया

इस गाथा मे शास्त्रकार उन भ्रष्ट साधको का उल्लेख करते है, जो ससार मे फँसाने वाली नारी मे आसक्त एव उत्तम अनुष्ठान से भ्रष्ट एव इहलोक पर-लोक के नाश से न डरने वाले कुछ वेषधारी पापकर्म करते है। परन्तु उत्कट मोह से मूढ बने वे वेषधारी पुरुष आचार्य, गुरु आदि के पूछने पर बिलकुल इन्कार करते हुए कहते हैं—"मैं कोई ऐसे-वैसे कुल मे उत्पन्न ऐरा-गैरा साधु नही हूँ, जो पाप कर्म के कारणस्वरूप अनुचित कर्म करूँ। यह तो मेरी पुत्री के समान है। यह बाल्यकाल मे मेरी गोदी मे सोती थी। अत उस पूर्व अभ्यास के कारण ही मेरे साथ ऐसा आचरण करती है। वस्तुत मैं तो ससार के स्वरूप को भलीभाँति जानता हूँ। प्राण चले जायँ, पर मैं ऐसा व्रतभग कदापि न करूँगा।"

इस प्रकार कपट करके अपने पाप को छिपाने वाला और अधिक मोहकर्म के वश हो जाता है।

मूल पाठ

बालस्स मदयं बीय, ज च कड अवजाणई भुज्जो ।
दुगुण करेइ से पाव, पूयणकामो विसन्नेसी ॥२९॥

संस्कृत छाया

बालस्य मान्द्य द्वितीय, यच्च कृतमपजानीते भूय ।
द्विगुण करोति स पाप, पूजनकामो विषण्णैषी ॥२९॥

अन्वयार्थ

(बालस्स) उस मूर्ख पुरुष की **(बीय मदय)** दूसरी मूर्खता यह है कि **(ज च कड भुज्जो अवजाणई)** वह किये हुए पापकर्म को, नही किया कहता है **(से दुगुण पाव करेइ)** इस प्रकार वह दुगुना पाप करता है। **(पूयणकामो विसन्नेसी)** वह जगत् मे अपनी पूजा प्रतिष्ठा चाहता है, लेकिन असयम की इच्छा करता है।

भावार्थ

उस मूढ पुरुष की दूसरी विवेकमूढता यह है कि उसने जो पापकर्म किया है, उससे फिर इन्कार करता है। इस प्रकार वह दुगुना पाप करता है। वह ऐसा इसलिए करता है कि वह जगत् मे अपनी पूजा-प्रतिष्ठा चाहता है, किन्तु दूसरी ओर असयम मे लिपटा रहना चाहता है।

व्याख्या

पापकर्म करना और उसे छिपाना दोहरा पाप है

इस गाथा मे पूर्व गाथा मे उक्त वेषधारी पापकर्मसेवी की वृत्ति का

विश्लेषण किया है—'**बालस्स मदय बीय पूयणकामो विसन्नेसी** ।' आशय यह है कि राग-द्वेष से आकुल बुद्धि वाले अतत्त्वदर्शी मूढ साधक की यह दूसरी मूढता है, एक तो अकार्य करने से चतुर्थ व्रत का भग होता है, फिर वह उस अकार्य को स्वीकार न करके मिथ्याभापण का पाप और करता है। एक तो उक्त मूढ ने धृष्टतापूर्वक असदनुष्ठान किया। फिर उसके विपय मे दूसरे के पूछने पर वह उससे इन्कार करता हुआ कहता है—"राम-राम ! मैंने यह दुष्कर्म हर्गिज नही किया है। भला मै ऐसा कुलीन और समझदार व्यक्ति इस प्रकार का दुष्कृत्य कैसे कर सकता हूँ ? मेरी भी तो इज्जत है।" वह इस प्रकार का मायाचार और दम्भ क्यो करता है ? इस सम्वन्ध मे शास्त्रकार कहते है—'**पूयणकामो विसन्नेसी** ।' मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह तथ्य है कि मनुष्य चाहे कितना ही बुरा कर्म करता हो, पर वह समाज मे सम्मान और शान के साथ जीना चाहता है, इसलिए वह अपनी तसवीर समाज मे अच्छी प्रस्तुत करने हेतु एव सदाचारी, त्यागी, तपस्वी, सयमी न होते हुए भी सदाचारी, त्यागी, तपस्वी और सयमी कहलाने हेतु मायाचार करता है। वह अपने पापकर्म को छिपाकर ऐसा दवदबा रखता है कि कोई उस पर उगली न उठा सके, साथ ही वह अपनी असयमीवृत्तिजनित दुष्कर्मो को छोडना भी नही चाहता। 'थोथा चना, वाजे घना' वाली कहावत को वह चरितार्थ करता है।

मूल पाठ

सलोकणिज्जमणगार, आयगयं निमतणेणाहसु ।
वत्थं च ताइ ! पायं वा अन्नं पाणगं पडिग्गाहे ॥३०॥

संस्कृत छाया

सलोकनीयमनगारमात्मगत निमत्रणेनाहु ।
वस्त्र च त्रायिन् ! पात्रवा, अन्न पानक प्रतिगृहाण ॥३०॥

अन्वयार्थ

(**सलोकणिज्ज**) देखने मे सुन्दर (**आयगय**) आत्मज्ञानी (**अणगार**) साधु को (**निमतणेणाहसु**) स्त्रियाँ निमत्रण देती हुई कहती हैं—(**ताइ**) हे भवसागर से रक्षा करने वाले साधुवर ! (**वत्थ च पाय वा अन्न पाणग पडिग्गाहे**) वस्त्र, पात्र, अन्न और पान आप मेरे यहाँ से स्वीकार करें।

भावार्थ

देखने मे सुन्दर साधु को स्त्रियाँ प्रार्थना करती हुई कहती हैं—हे भवसागरत्राता मुनिवर ! आप मेरे यहाँ पधार कर वस्त्र, पात्र और अन्न-पान ग्रहण करे।

व्याख्या

व्यभिचारिणी स्त्रियो द्वारा साधु को जाल मे फँसाने का प्रयत्न

इस गाथा मे एक और पहलू से माधु को सावधान किया गया है कि किस प्रकार से व्यभिचारिणी स्त्रियाँ भद्र एव सयमी साधु को अपने कामजाल मे फँसा लेती है—"**सलोकणिज्ज पडिग्गाहे** ।" आशय यह है कि कई कामुक नारियाँ सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ एव सुरूप आत्मज्ञानी अनगार को सभ्य तरीके से कामजाल मे फँसाने का प्रयत्न करती हैं। वे उक्त माधु को प्रार्थना करती है—"ससार सागर से रक्षा करने वाले मुनिवर ! वस्त्र पात्र, अन्न पान आदि जिस वस्तु की आपको आवश्यकता हो तो आपको और कही पधारने की जरूरत नही, आप मेरे यहाँ पधारें। मैं आपको सब कुछ दूँगी।"

अगर साधु उनके वाग्जाल मे फँसकर उनकी प्रार्थना स्वीकार करके बार-बार उनके यहाँ आवागमन करेगा और वस्त्रादि स्वीकार कर लेगा तो फिर उसके भ्रष्ट हो जाने की पूरी सम्भावना है।

मूल पाठ

णीवारमेव बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागतु ।
बद्धे विसयपासेंहि मोहमावज्जइ पुणो मदे ॥३१॥

॥त्ति बेमि॥

सस्कृत छाया

नीवारमेव बुध्येत, नेच्छेदगारमागन्तुम् ।
बद्धो विषयपाशेन मोहमापद्यते पुनर्मन्द ॥३१॥

॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार के प्रलोभन को साधु (णीवार बुज्झेज्जा) सूअर को फँसाने वाले चावल के दाने के समान समझे। (अगारमागतु णो इच्छे) ऐसी स्त्रियो की प्रार्थना पर उनके घर बार-बार जाने की इच्छा न करें। (विसयपासेंहि बद्धे मदे) विषयपाश मे बँधा हुआ मूढ साधक (पुणो मोहमावज्जइ) पुन-पुन मोह को प्राप्त होता है। (त्ति बेमि) "यह मैं कहता हूँ।"

भावार्थ

पूर्वोक्त प्रकार के प्रलोभनो को साधु सूअर को लुभाकर फँसाने वाले चावलो के दाने के समान समझे। विषयरूपी पाश से बँधा हुआ वह मूर्ख व्यक्ति बार-बार मोह को प्राप्त होता है।

विश्लेषण किया है—'**बालस्स मदय बीय ' पूयणकामो विसन्नेसी ।**' आशय यह है कि राग-द्वेष से आकुल बुद्धि वाले अतत्त्वदर्शी मूढ साधक की यह दूसरी मूढता है, एक तो अकार्य करने से चतुर्थ व्रत का भग होता है, फिर वह उस अकार्य को स्वीकार न करके मिथ्याभाषण का पाप और करता है। एक तो उक्त मूढ ने धृष्टतापूर्वक असदनुष्ठान किया। फिर उसके विषय मे दूसरे के पूछने पर वह उससे इन्कार करता हुआ कहता है—"राम-राम ! मैंने यह दुष्कर्म हर्गिज नही किया है। भला मै ऐसा कुलीन और समझदार व्यक्ति इस प्रकार का दुष्कृत्य कैसे कर सकता हूँ ? मेरी भी तो इज्जत है।" वह इस प्रकार का मायाचार और दम्भ क्यो करता है ? इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते है—'**पूयणकामो विसन्नेसी ।**' मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह तथ्य है कि मनुष्य चाहे कितना ही बुरा कर्म करता हो, पर वह समाज मे सम्मान और शान के साथ जीना चाहता है, इसलिए वह अपनी तसवीर समाज मे अच्छी प्रस्तुत करने हेतु एव सदाचारी, त्यागी, तपस्वी, सयमी न होते हुए भी सदाचारी, त्यागी, तपस्वी और सयमी कहलाने हेतु मायाचार करता है। वह अपने पापकर्म को छिपाकर ऐसा दबदबा रखता है कि कोई उस पर उगली न उठा सके, साथ ही वह अपनी असयमीवृत्तिजनित दुष्कर्मो को छोडना भी नही चाहता। 'थोथा चना, वाजे घना' वाली कहावत को वह चरितार्थ करता है।

मूल पाठ

सलोकणिज्जमणगार, आयगयं निमतणेणाहसु ।
वत्थं च ताइ ! पायं वा अन्नं पाणगं पडिग्गाहे ॥३०॥

सस्कृत छाया

सलोकनीयमनगारमात्मगत निमत्रणेनाहु ।
वस्त्र च त्रायिन् ! पात्रवा, अन्न पानक प्रतिगृहाण ॥३०॥

अन्वयार्थ

(**सलोकणिज्ज**) देखने मे सुन्दर (**आयगय**) आत्मज्ञानी (**अणगार**) साधु को (**निमतणेणाहसु**) स्त्रियाँ निमत्रण देती हुई कहती हैं—(**ताइ**) हे भवसागर से रक्षा करने वाले साधुवर ! (**वत्थ च पाय वा अन्न पाणग पडिग्गाहे**) वस्त्र, पात्र, अन्न और पान आप मेरे यहाँ से स्वीकार करें।

भावार्थ

देखने मे सुन्दर साधु को स्त्रियाँ प्रार्थना करती हुई कहती है—हे भवसागरत्राता मुनिवर ! आप मेरे यहाँ पधार कर वस्त्र, पात्र और अन्न-पान ग्रहण करे।

व्याख्या

व्यभिचारिणी स्त्रियो द्वारा साधु को जाल मे फँसाने का प्रयत्न

इस गाथा मे एक और पहलू से साधु को सावधान किया गया है कि किस प्रकार से व्यभिचारिणी स्त्रियाँ भद्र एव सयमी साधु को अपने कामजाल मे फँसा लेती है—"**सलोकणिज्ज पडिग्गाहे**।" आशय यह है कि कई कामुक नारियाँ सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ एव सुरूप आत्मज्ञानी अनगार को सभ्य तरीके से कामजाल मे फँसाने का प्रयत्न करती हैं। वे उक्त साधु को प्रार्थना करती है—"ससार सागर से रक्षा करने वाले मुनिवर! वस्त्र पात्र, अन्न पान आदि जिस वस्तु की आपको आवश्यकता हो तो आपको और कही पधारने की जरूरत नही, आप मेरे यहाँ पधारें। मैं आपको सब कुछ दूँगी।"

अगर साधु उनके वाग्जाल मे फँसकर उनकी प्रार्थना स्वीकार करके बार-बार उनके यहाँ आवागमन करेगा और वस्त्रादि स्वीकार कर लेगा तो फिर उसके भ्रष्ट हो जाने की पूरी सम्भावना है।

मूल पाठ

णीवारमेव बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागतु।
बद्धे विसयपासेहि मोहमावज्जइ पुणो मदे ॥३१॥

॥त्ति बेमि॥

सस्कृत छाया

नीवारमेव बुध्येत, नेच्छेदगारमागन्तुम्।
बद्धो विषयपाशेन मोहमापद्यते पुनर्मन्द ॥३१॥

॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार के प्रलोभन को साधु (**णीवार बुज्झेज्जा**) सूअर को फँसाने वाले चावल के दाने के समान समझे। (**अगारमागतु णो इच्छे**) ऐसी स्त्रियो की प्रार्थना पर उनके घर बार-बार जाने की इच्छा न करें। (**विसयपासेहि बद्धे मदे**) विपयपाश मे बँधा हुआ मूढ साधक (**पुणो मोहमावज्जइ**) पुन-पुन मोह को प्राप्त होता है। (**त्ति बेमि**) "यह मैं कहता हूँ।"

भावार्थ

पूर्वोक्त प्रकार के प्रलोभनो को साधु सूअर को लुभाकर फँसाने वाले चावलो के दाने के समान समझे। विषयरूपी पाश से बँधा हुआ वह मूर्ख व्यक्ति बार-बार मोह को प्राप्त होता है।

व्याख्या

साधक उन प्रलोभनो से दूर रहे

इस गाथा मे पूर्वगाथा मे वर्णित प्रलोभनो के सन्दर्भ मे साधु को सावधान किया गया है कि जब भी उसके सामने ये और इस प्रकार के अन्य प्रलोभन आवें तो वह बिलकुल न ललचाए। वह दीर्घदृष्टि से उस पर विचार करे कि यह जो अमुक-अमुक वस्तुओ को देने की प्रार्थना इन महिलाओ द्वारा की जा रही है, वह स्वाभाविक है या कृत्रिम ? स्वार्थ से लिप्त है, मोहयुक्त है या परमार्थ से प्रेरित है ? मान लो, कदाचित् साधु को किसी वस्तु की आवश्यकता भी हो तो वह अपने साथी साधु को साथ लेकर किसी पुरुष या अन्य स्त्री की उपस्थिति मे उस स्त्री के यहाँ प्रवेश करे और प्रासुक, कल्पनीय और ऐषणीय वस्तु जानकर ग्रहण करे। लेकिन अगर कोई शक हो और उक्त प्रार्थी महिला दुश्चरित्र प्रतीत हो तो वह उस स्त्री के यहाँ न जाए। क्योकि इस प्रकार की दुश्चरित्र स्त्रियाँ साधु को वस्त्रपात्रादि का आमन्त्रण देकर तथा थोडा-बहुत देकर पहले वश कर लेती हैं, फिर उसको अपने कामजाल मे फँसाकर सयमभ्रष्ट कर देती है। कदाचित् साधु अनायास ही उसके यहाँ पहुँच गया हो तो वह अपने कल्पानुसार थोडा-सा कुछ लेकर वहाँ से तुरन्त वापस लौट जाए। दुबारा फिर उस स्त्री के घर जाने की इच्छा न करे। अथवा एक बार सयम लेने के बाद साधु गृहरूपी भवर मे पडने की फिर इच्छा न करे। उन दुश्चरित्र स्त्रियो की प्रार्थना को धोखाधडी समझे उसी प्रकार जैसे सूअर को चावल के दाने फैलाकर वश मे कर लेते है। किन्तु पाश के समान शब्दादि विषयो के द्वारा बँधा हुआ अज्ञजीव स्नेहपाश को तोडने मे समर्थ नही होता, बार-बार उसका चित्त व्याकुल होता है। उसे अपने कर्त्तव्य का भान नही होता। इति शब्द समाप्ति के अर्थ मे आया है। 'ब्रवीमि' का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार चतुर्थ अध्ययन का प्रथम उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

❀

चतुर्थ अध्ययन द्वितीय उद्देशक

शीलभ्रष्ट पुरुष की दशा

प्रथम उद्देशक मे बताया गया था कि स्त्री-सम्पर्क करने से साधक किस प्रकार चारित्रभ्रष्ट हो जाता है। अब दूसरे उद्देशक मे उस चारित्रभ्रष्ट पुरुष की दशा तथा चरित्रभ्रष्टता से होने वाले कर्मबन्ध का वर्णन किया जा रहा है। इस सम्बन्ध से दूसरे उद्देशक की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

ओए सया ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा ।
भोगे समणाणं सुणेह, जह भुजति भिक्खुणो एगे ॥१॥

सस्कृत छाया

ओज सदा न रज्येत, भोगकामी पुनर्विरज्येत ।
भोगे श्रमणाना शृणुत, यथा भुजति भिक्षव एके ॥१॥

अन्वयार्थ

(ओए सया ण रज्जेज्जा) ओज अर्थात् राग-द्वेपरहित अकेला साधु भोगो मे सदा (कदापि) अनुरक्त न हो, चित्त न लगाए। **(भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा)** कदाचित् भोगो की चित्त मे कामना प्रादुर्भूत हो जाय तो उसे ज्ञानबल द्वारा हटा दे, ज्ञान के द्वारा उससे विरक्त हो जाय। **(भोगे समणाण)** भोगो का सेवन करने से श्रमणो की जो हानि या हँसी होती है, तथा **(जह एगे भिक्खुणो भुजति सुणेह)** कई साधु किस प्रकार भोग भोगते है, उसे सुनो।

भावार्थ

हे शिष्यो! राग-द्वेष से रहित साधु कदापि भोगो मे अनुरक्त न हो। यदि मोहोदयवश भोग-कामना की लहर मन मे उठे तो ज्ञानबल से उसे वही रोक दे। भोगो के सेवन से साधुओ की कितनी हानि या हँसी होती है, तथा कई भिक्षु किस प्रकार भोग भोगते है, यह सुनो।

व्याख्या

भोगकामना ज्ञानबल से हटाए

इससे पूर्वगाथाओ मे बताया गया था कि साधु को कोई नारी किसी भी

वहाने से अपने मोहजाल मे फँसा कर कामभोगो मे लुभाना चाहे तो साधु उसमे लुभा न जाए, सावधान रहे। उसी सन्दर्भ मे इस गाथा मे तथा यहाँ आगे की गाथाओ मे वताई जाने वाली वातो के सम्बन्ध मे सकेत किया गया है कि साधु सदैव कामभोगो से दूर रहे। क्यो दूर रहे? कैसे दूर रहे? दूर नही रहता है तो क्या हानि उठानी पडती है? भोगो से दूर न रहने वाला साधु किस प्रकार कामभोगो मे फँस कर दुःख पाता है? ये सब बातें हम अगली गाथाओ मे कहेगे।

कामभोगो से दूर रहने का कारण श्रमण का एक 'ओए' (ओज) विशेषण देकर वताया गया है। वृत्तिकार ओज शब्द के दो अर्थ करते हैं। एक द्रव्य-ओज और दूसरा भाव-ओज। द्रव्य-ओज का अर्थ परमाणु है और भाव-ओज का मतलव है—राग-द्वेष मे रहित पुरुष। जैसे परमाणु अकेला होता है, वैसे ही साधु भी राग-द्वेषादि विकारो के परिवार मे रहित (भावत) एकाकी है। जब साधु वीतरागता के पथ पर तीव्रगति से चलने वाला पथिक है तो उसे स्त्रीविपयक राग तो सर्वथा और सर्वदा छोडना अनिवार्य है। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**'ओए सया ण रज्जेज्जा'** अर्थात् रागद्वेपरहित होकर साधु सर्वथा अनर्थ की खान स्त्रियो मे अनुरक्त न हो।

कदाचित् मोहकर्म के उदय से साधु मे भोग की कामना प्रादुर्भुत हो जाय तो वह कैसे दूर रहे? इसके लिए गाथा के दूसरे चरण मे बताया है—**'भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा।'** आशय यह है कि ऐसी परिस्थिति मे साधु ज्ञानरूपी अकुश द्वारा कामभोगो से विरक्ति प्राप्त करे। यानी वह इस प्रकार का चिन्तन करे कि त्याग करने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थो मे से कौन-से पदार्थ है? त्याज्य है तो क्यो? कामभोग त्याज्य इसलिए हैं कि ये गृहस्थो के लिए भी अनर्थकारक हैं, विडम्बनाप्राय हैं। तो फिर साधुओ के लिए तो कहना ही क्या? कामभोग किम्पाकफल के समान भयकर हानिकारक है। किम्पाकफल तो वाह्य जीवन का नाश कर देता है, लेकिन यह भोग जन्म-जन्मान्तर मे जीवन को नष्ट करते हैं। अन्य विचारको ने भी कहा है—

> **कृश काण खञ्ज श्रवणरहित पुच्छविकल,**
> **क्षुधाक्षामो जीर्ण पिठरक-कपालार्दितगल।**
> **व्रणं पूयक्लिन्नं कृमिकुलशतैराविलतनु,**
> **शुनी मन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदन:॥**

अर्थात्—दुर्बल, काना, लगडा, कान और पूंछ से रहित, भूख से व्याकुल, शिथिल अगो वाला, गले मे पडे हुए ठीकरे के कारण पीडित, मवाद से भरे हुए घावो, सैकडो कीडो से भरा हुआ शरीर वाला कुत्ता कुतिया के पीछे-पीछे भागता फिरता है। सच है, कामदेव मरे हुए को भी मारता है।

इस दृष्टि से श्रमण को ज्ञानबल द्वारा भोग की इच्छा एकदम रोकनी चाहिए।

श्रमण के चित्त मे पूर्वसस्कारवश कदाचित् भोगवासना आ जाने पर उसको ज्ञानबल से न रोककर वह उसमे दिलचस्पी लेता हुआ यदि आसक्तिपूर्वक कामभोगो के प्रवाह मे बह जाता है, तो वह उसके लिए हास्यास्पद है। लोग उसकी मजाक उडाते हुए कहेगे—'वाह रे साधु! कल तो हमे काम-भोगो को छोडने के लिए बढ-चढकर कह रहा था, काम-भोगो की निन्दा कर रहा था, आज स्वय ही कामभोगो मे लिपट गया। यह कैसा साधु है? इस पर किसी प्रकार का विश्वास नही करना चाहिए। इसे अपने घर मे प्रवेश नही करने देना चाहिए।' इस प्रकार वह श्रमण लोगो के लिए अविश्वसनीय, अनादरणीय और अश्रद्धेय बन जाता है। उसके साथ ही प्राय समस्त साधुओ के प्रति लोगो की अश्रद्धा, अविश्वास और अनादरबुद्धि हो जाती है। वह समस्त श्रमणसघ के लिए, साथ ही सघनायक के लिए भी लोकविड-म्बना, लोकनिन्दा और घोर आशातना का कारण बन जाता है। इसी आशय को घोषित करने के लिए शास्त्रकार ने श्रमण शब्द एकवचन मे प्रयुक्त न करके **'समणाण'** बहुवचन मे प्रयुक्त किया है।

अन्तिम चरण मे यह बताया गया है कि जो साधु कामभोगसेवन प्रकार की घोर हानि की उपेक्षा करके भोग-सेवन मे प्रवृत्त हो जाते क्या दशा या विडम्बना होती है? अथवा वे इस उत्तम हितशिक्षा भोगने मे कैसे प्रवृत्त होकर जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं? यह शास्त्रकार कहते हैं—'जह भुञ्जति भिक्खुणो एगे।'

अत शास्त्रकार स्त्रीसम्बन्धी भोगो मे आसक्त उन भिक्षुओं का कानो सुना हाल अगली गाथाओं मे क्रमश बताते है—

मूल पाठ

अह त तु भेदमावन्न मुच्छियं भिक्खु क। न ८
पलिभिंदिया ण तो पच्छा, पादद्धट्टु मुद्धि ८॥

सस्कृत छाया

अथ त तु भेदमापन्न मूर्च्छित भिक्षु काममतिवर्तम्।
परिभिद्य तत्पश्चात् पादावुद्धृत्य मूर्ध्नि प्रघ्नन्ति ।

अन्वयार्थ

(अह भेदमावन्न) इसके पश्चात् चारित्र से भ्रष्ट हुए, (मुच्छिय) आसक्त (काममतिवट्ट) कामभोगो मे दत्तचित्त या कामभोगो मे (त तु भिक्खु) उस साधु को वे स्त्रियाँ (पच्छा पलिभिंदिया) बाद मे अपने

बहाने से अपने मोहजाल मे फँसा कर कामभोगो मे लुभाना चाहे तो साधु उसमे लुभा न जाए, सावधान रहे। उसी सन्दर्भ मे इस गाथा मे तया यहाँ आगे की गाथाओ मे बताई जाने वाली बातो के सम्बन्ध मे सकेत किया गया है कि साधु सदैव काम-भोगो से दूर रहे। क्यो दूर रहे ? कैसे दूर रहे ? दूर नही रहता है तो क्या हानि उठानी पडती है ? भोगो से दूर न रहने वाला साधु किस प्रकार कामभोगो मे फँस कर दुख पाता है ? ये सब बातें हम अगली गाथाओ मे कहेगे।

कामभोगो से दूर रहने का कारण श्रमण का एक **'ओए'** (ओज) विशेषण देकर बताया गया है। वृत्तिकार ओज शब्द के दो अर्थ करते हैं। एक द्रव्य-ओज और दूसरा भाव-ओज। द्रव्य-ओज का अर्थ परमाणु है और भाव-ओज का मतलब है—राग-द्वेष मे रहित पुरुष। जैसे परमाणु अकेला होता है, वैसे ही साधु भी राग-द्वेषादि विकारो के परिवार मे रहित (भावत) एकाकी है। जब साधु वीतरागता के पथ पर तीव्रगति से चलने वाला पथिक है तो उसे स्त्रीविषयक राग तो सर्वथा और सर्वदा छोडना अनिवार्य है। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**'ओए सया ण रज्जेज्जा'** अर्थात् रागद्वेषरहित होकर साधु सर्वथा अनर्थ की खान स्त्रियो मे अनुरक्त न हो।

कदाचित् मोहकर्म के उदय से साधु मे भोग की कामना प्रादुर्भुत हो जाय तो वह कैसे दूर रहे ? इसके लिए गाथा के दूसरे चरण मे बताया है—**'भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा।'** आशय यह है कि ऐसी परिस्थिति मे साधु ज्ञानरूपी अकुश द्वारा कामभोगो से विरक्ति प्राप्त करे। यानी वह इस प्रकार का चिन्तन करे कि त्याग करने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थो मे से कौन-से पदार्थ है ? त्याज्य है तो क्यो ? कामभोग त्याज्य इसलिए है कि ये गृहस्थो के लिए भी अनर्थकारक है, विडम्बनाप्राय है। तो फिर साधुओ के लिए तो कहना ही क्या ? कामभोग किम्पाकफल के समान भयकर हानिकारक है। किम्पाकफल तो बाह्य जीवन का नाश कर देता है, लेकिन यह भोग जन्म-जन्मान्तर मे जीवन को नष्ट करते हैं। अन्य विचारको ने भी कहा है—

कृश काण खञ्ज श्रवणरहित पुच्छविकल,
क्षुधाक्षामो जीर्ण पिठरक-कपालार्दितगल।
व्रणै पूयक्लिन्नै कृमिकुलशतैराविलतनु,
शुनी मन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदन.॥

अर्थात्—दुर्बल, काना, लगडा, कान और पूँछ से रहित, भूख से व्याकुल, शिथिल अगो वाला, गले मे पडे हुए ठीकरे के कारण पीडित, मवाद से भरे हुए घावो, सैंकडो कीडो से भरा हुआ शरीर वाला कुत्ता कुतिया के पीछे-पीछे भागता फिरता है। सच है, का ` ` हुए को भी मारता है।

इस दृष्टि से श्रमण को ज्ञानबल द्वारा भोग की इच्छा एकदम रोकनी चाहिए।

श्रमण के चित्त मे पूर्वसस्कारवश कदाचित् भोगवासना आ जाने पर उसको ज्ञानबल से न रोककर वह उसमे दिलचस्पी लेता हुआ यदि आसक्तिपूर्वक कामभोगो के प्रवाह मे वह जाता है, तो वह उसके लिए हास्यास्पद है। लोग उसकी मजाक उडाते हुए कहेगे—'वाह रे साधु! कल तो हमे काम-भोगो को छोडने के लिए वढ-चढकर कह रहा था, काम-भोगो की निन्दा कर रहा था, आज स्वय ही कामभोगो मे लिपट गया। यह कैसा साधु है? इस पर किसी प्रकार का विश्वास नही करना चाहिए। इसे अपने घर मे प्रवेश नही करने देना चाहिए।' इस प्रकार वह श्रमण लोगो के लिए अविश्वसनीय, अनादरणीय और अश्रद्धेय वन जाता है। उसके साथ ही प्राय समस्त साधुओ के प्रति लोगो की अश्रद्धा, अविश्वास और अनादरवुद्धि हो जाती है। वह समस्त श्रमणसघ के लिए, साथ ही सघनायक के लिए भी लोकविडम्बना, लोकनिन्दा और घोर आशातना का कारण वन जाता है। इसी आशय को घोषित करने के लिए शास्त्रकार ने श्रमण शब्द एकवचन मे प्रयुक्त न करके **'समणाण'** बहुवचन मे प्रयुक्त किया है।

अन्तिम चरण मे यह बताया गया है कि जो साधु कामभोगसेवन से इस प्रकार की घोर हानि की उपेक्षा करके भोग सेवन मे प्रवृत्त हो जाते हैं, उनकी क्या-क्या दशा या विडम्बना होती है? अथवा वे इस उत्तम हितशिक्षा को मानकर भोग-भोगने मे कैसे प्रवृत्त होकर जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं? यह बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—**'जह भुञ्जति भिक्खुणो एगे।'**

अत शास्त्रकार स्त्रीसम्वन्धी भोगो मे आसक्त उन भिक्षुओ का आँखो देखा, कानो सुना हाल अगली गाथाओ मे क्रमश बताते हैं—

मूल पाठ

अह त तु भेदमावन्न मुच्छियं भिक्खु काममतिवट्ट।
पलिभिंदिया ण तो पच्छा, पादद्धट्टु मुद्धि पहणति ॥२॥

सस्कृत छाया

अथ त तु भेदमापन्न मूर्च्छित भिक्षु काममतिवर्तम्।
परिभिद्य तत्पश्चात् पादावुद्धृत्य मूर्ध्नि प्रघ्नन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ

(अह भेदमावन्न) इसके पश्चात् चारित्र से भ्रष्ट हुए, **(मुच्छिय)** स्त्रियो मे आसक्त **(काममतिवट्ट)** कामभोगो मे दत्तचित्त या कामभोगो मे अतिप्रवृत्त **(त तु भिक्खु)** उस साधु को वे स्त्रियाँ **(पच्छा पलिभिंदिया)** वाद मे अपने वशीभूत

जानकर (तो पादुद्धट्टु) अपना पैर उठाकर (मुद्धि पहणति) उसके सिर पर प्रहार करती है।

भावार्थ

इसके पश्चात् उस साधु को चारित्र से छिन्न-भिन्न नष्ट-भ्रष्ट, स्त्रियो मे आसक्त, कामभोगो (विषयो) मे अतिप्रवृत्त—दत्तचित्त एव अपने वशवर्ती (गुलाम) जानकर वे स्त्रियाँ उस साधु के सिर पर अपना पैर उठाकर लात मारती है।

व्याख्या

भोगो मे मूर्च्छित स्त्रीआसक्त साधु की विडम्बना

इस गाथा मे शास्त्रकार उन साधुवेषी लोगो की विडम्बना का सम्भावनात्मक वर्णन करते हैं—'अह त तु भेदमावन्न मुद्धि पहणति।' यहाँ उक्त साधु के चार विशेषण दिये है—चारित्र से नष्ट-भ्रष्ट, महिलाओ मे अत्यासक्त, कामभोगो मे अतिप्रवृत्त एव स्त्रीवशवर्ती। यह एक मनोविज्ञानसम्मत तथ्य है कि जब स्त्रियाँ उक्त साधु को उसके रग-ढग, चाल-ढाल, वृत्ति-प्रवृत्ति एव मनोभावो पर से जान लेती हैं कि यह अब हमारे वश मे हो गया है, हम इसे जैसे कहेगी, वैसे यह स्वीकार कर लेगा, जो कुछ कहा जायेगा, उसे उसी तरह मान लेगा। तब कभी तो वे अपने किये हुए कार्य के प्रति खूब आभार प्रकट करती हैं—"तुम तो आजकल बडे नटखट हो गये हो, हम तुमसे बोलेंगी नही। हम तुम्हारे पास नही आएँगी, क्योकि तुम्हारा सिर मुडा हुआ होने से तुम बड भद्दे मालूम होते हो, तुम्हारा शरीर पसीने से तरबतर रहता है, मैलाकुचैला है, इस कारण तुम्हारे मुँह, काँख, छाती और बस्ति-स्थान आदि बदबू से भरे है। हमने तो यह न देखकर तुम्हारे प्रेम मे पागल होकर अपने कुल, शील, धर्म और लज्जा की मर्यादा आदि छोडकर तुम्हे अपना शरीर समर्पित कर दिया, परन्तु तुम इतने निष्ठुर हो कि हमारे लिए कुछ भी नही करते, हमारा कहना भी नही मानते।" इस प्रकार जब वे महिलाएँ रूठने का-सा स्वाँग करके नाराजी दिखाती है, तो स्त्रियो का गुलाम वह साधु उन रुष्ट स्त्रियो को मनाने, प्रसन्न करने लिए उनके चरणो मे गिरता है मधुर-मधुर वचनो से उनकी प्रशसा करता है। कहा भी है—

> व्याभिन्नकेसरबृहच्छिरसश्च सिहा,
> नागाश्च दानमदराजि कृशैं कपोलै।
> मेधाविनश्च पुरुषा समरे च शूरा,
> स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति॥

अर्थात्—सिर पर घने बालो वाले केसरी सिंह, मदजल के झरने से दुर्बल कपोल वाले हाथी, तथा बुद्धिशाली और युद्ध मे शूरवीर पुरुष भी स्त्री के सामने अत्यन्त कायर और दीन बन जाते हैं।

इस प्रकार जब वे स्त्रियाँ उक्त साधु की वशवर्तिता तथा चारित्रदुर्बलता जान लेती हैं, तब नाराज होकर अपना पैर उठाकर उसके सिर पर लात दे मारती हैं। स्त्रीमोहित मूढ साधक उन कुपित स्त्रियो की मार भी हँसकर सह लेता है, यह काम की ही विडम्बना है।

मूल पाठ

जइ केसिआ ण मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए।
केसाणविह लुचिस्स, नन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥३॥

संस्कृत छाया

यदि केशिकया मया भिक्षो! नो विहरे सह स्त्रिया।
केशानिह लुञ्चिष्यामि, नान्यत्र मया चरे ॥३॥

अन्वयार्थ

(जइ) यदि (केसिया मए इत्थीए) मुझ केशो वाली स्त्री के साथ (भिक्खू) हे साधो! (णो विहरे) विहार—रमण नही करोगे, तो (इह) मैं यही इसी जगह (केसाण लुचिस्स) केशो को नोच डालूगी। (मए नन्नत्थ चरेज्जासि) मेरे सिवाय किसी दूसरी जगह विचरण मत करना।

भावार्थ

कामुक महिला कहती है—हे साधुवर! यदि तुम मुझ केशो वाली नारी के साथ रमण करने मे लज्जित होते हो तो मैं इसी जगह अभी इन केशो को उखाड फेंकूंगी, परन्तु शर्त यह है कि तुम मुझे छोडकर अन्यत्र कही विहरण नही करोगे।

व्याख्या

कामुक स्त्री द्वारा साधु को वचनबद्ध करने का तरीका

इस गाथा मे यह बताया गया है कि कामुक कामिनी साधु को किस प्रकार अनुनय-विनय का झूठा प्रदर्शन करके अपने साथ विहरण करने के लिए मनाती है और अपने साथ रहने के लिए वचनबद्ध कर लेती है—**'जइ केसिआ ण मए चरिज्जासि।'**

यहाँ **'केसिआ'** विशेषण से साधु को मोहित करने का कामुक स्त्रियो का ढग बताया है। स्त्रियो के सिर के बाल पुरुष को सहसा मोहित और आकर्षित कर लेते हैं। अत केशिका (केशवाली) कामुक स्त्री अपने केशो की लटें दिखलाकर साधु से कहती हैं—अगर मेरे ये लम्बे-लम्बे काले-कजरारे बाल तुम्हे नही सुहाते हैं और तुम मेरे साथ रमण करने मे लज्जित होते हो तो लो, मैं अभी इसी जगह इन केशो को नोच डालती हूँ, फिर दूसरे आभूपणो की तो बात ही क्या है? यहाँ केशो का लुचन तो उपलक्षण मात्र है, कामिनी साधु को वचनबद्ध करने के लिए कहती है—

"ये केश भी उखाड डालूँगी, और इन आभूषणो को भी उतारने मे नही हिचकूँगी, और भी विदेशगमन, धनार्जन आदि कठोर मे कठोर दुष्कर काम भी मैं तुम्हारे लिए कर लूंगी, सब कष्ट भी सह लूंगी, परन्तु मेरी एक प्रार्थना है, जो तुम्हे स्वीकार करनी होगी, उसके लिए मुझे वचन देना होगा कि तुम मुझे छोडकर कही दूसरी स्त्रियो के साथ विहरण नही करोगे, मेरे सिवाय अन्यत्र कही नही जाओगे। मैं तुम्हारा वियोग क्षणभर भी नही सह सकूगी। तुम मुझे जो आज्ञा दोगे, उसका पालन मैं नि सकोच करूगी।" इस प्रकार कामुक नारी भद्र साधु को अपने माया-जाल मे फँसा लेती हे।

मूल पाठ

अह ण से होई उवलद्धो, तो पेसति तहाभूएहि ।
अलाउच्छेद पेहेहि, वग्गुफलाइ आहराहित्ति ॥४॥

सस्कृत छाया

अथ स भवत्युपलब्धस्तत प्रेषयन्ति तथाभूतै ।
अलावूच्छेद प्रेक्षस्व, वल्गुफलान्याहर इति ॥४॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् (से उवलद्धो होई) यह साधु मेरे साथ घुलमिल गया है, या मेरे वश मे हो गया है, इस बात को जब स्त्री जान लेती है, (तो पेसति तहा भूएहि) तब वह उस साधु को दास के समान अपने उन-उन कार्यो के लिए प्रेरित करती है—भेजती हैं। वह कहती है – (अलावुच्छेद पेहेहि) तुम्बा काटने के लिए छुरी आदि ले आओ, (वग्गुफलाइ आहराहित्ति) मेरे लिए अच्छे-अच्छे फल ले आओ।

भावार्थ

साधु की चेष्टा अ र चेहरे आदि से जब स्त्रियाँ यह भाँप लेती हैं कि अब यह साधु हमारे साथ घुलमिल गया है, हमारे वश मे हो गया है, तब वे एक नौकर को तरह अमुक-अमुक कार्य करने के लिए उसे प्रेरणा देकर भेजती हैं। वह कहती है—देखो जी, तुम्बा काटने के लिए छुरी या और कोई शस्त्र चाहिए, उसे बाजार से देखकर ल आओ तथा साथ-साथ मेरे लिए अच्छे-अच्छे फल भी लेते आना।

व्याख्या

नारीवशीभूत साधु के साथ नौकर का सा व्यवहार

इस गाथा मे नारी के वश मे हुए साधु के साथ स्त्रियो के व्यवहार का दिग्दर्शन कराया गया है—'अलाउच्छेद वग्गुफलाइ आहराहित्ति।' आशय यह है कि पूर्वगाथा मे कहे अनुसार स्त्रियाँ जब अपने पर मोहित साधु को अत्यन्त

कोमल, नम्र, मनोहर, ललित वचनो से दुलारकर आश्वस्त-विश्वस्त करके वचन मे अच्छी तरह बाँध लेती है, और जब वे यह भलीभाँति जान लेती है कि अब यह साधु मेरे प्रति पक्का अनुरागी हो गया है, मेरे साथ घुलमिल गया है, अब यह कही अन्यत्र नही जाएगा, तब वह उस साधु के साथ नौकर का-सा व्यवहार करने लगती हैं। वह कहती हैं—बाजार मे तुम्बा काटने का चाकू या छुरी (अलाबुच्छेदक) देखो तो खरीदकर ले आओ, ताकि मैं उसे ठीक काटकर पात्र का मुख बना सकूँ, और देखो, लगे हाथो नारियल, केले, अगूर आदि अच्छे-अच्छे फल भी लेते आना।

अथवा 'वग्गुफलाइ आहाराहित्ति' इसका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि तुम जो धर्मकथा या दर्शनशास्त्र आदि पर व्याख्यान देते हो, उस वाणी (वल्गु) का फल, जो वस्त्र या नकद रूप मे आदि का लाभ है, उसे भी ले आना।

मूल पाठ

दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सति राओ।
पाताणि य मे रयावेहि, एहि ता मे पिट्ठओ मद्दे ॥५॥

सस्कृत छाया

दारूणि शाकपाकाय, प्रद्योतो वा भविष्यति रात्रौ ।
पात्राणि (पादौ) च मे रजय, एहि तावन्मे पृष्ठ मर्दय ॥५॥

अन्वयार्थ

(सागपागाए[1]) सागभाजी पकाने के लिए **(दारूणि)** ईंधन-लकडियाँ ले आओ। **(राओ)** रात्रि के निविड अन्धकार मे **(पज्जोओ)** तेल आदि होगा तो प्रकाश **(भविस्सति)** होगा। **(मे पाताणि य रयावेहि)** और जरा मेरे पात्रो (बर्तनो) को रग दो, या मेरे पैरो को महावर आदि से रग दो। **(एहि ता मे पिट्ठओ मद्दे)** 'इधर आओ, जरा मेरी पीठ मल दो।'

भावार्थ

स्त्री उस साधु को नौकर की तरह आज्ञा देती है—"देखो, साग-भाजी पकाने के लिए लकडियाँ नही है, लकडियाँ ले आओ। रात मे प्रकाश के लिए तेल भी नही रहा, अतः तेल लाओगे तो प्रकाश होगा। और जरा मेरे पैरो को महावर आदि से रग दो या मेरे पात्रो (बर्तनो) को रग से रग दो, और जरा इधर आओ, मेरी पीठ मे दर्द हो रहा है, उसे मल दो।"

व्याख्या

स्त्री नौकर की तरह तुच्छ कार्यों मे जुटाए रखती है

स्त्री के गुलाम बने हुए साधु को वह स्त्री नौकर की तरह तुच्छ कार्यो मे

---

१ कही-कही 'अन्नपागाए' (अन्नपाकाय) पाठ भी मिलता है।

प्रेरित करती रहती है । कभी कहती है—देखो, आज रसोई बनाने के लिए घर मे ईंधन नही है, अत बाजार से लकडियाँ ले आओ । कभी आज्ञा देती है—आज रात को उजाला तभी होगा, जब दीपक या दीवट जलाने के लिए तेल होगा, अत तेल ले आओ । अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि 'रात मे प्रकाश के लिए जगल से लकडियाँ ले आओ ।' कभी कहती है—'मेरे पात्रो को रग दो, ताकि मैं भी सुखपूर्वक भिक्षाचरी कर लूँगी अथवा मेरे पैरो को महावर आदि से रग दो ।' कभी कहती है—प्रिय ! अन्य सब कामो को छोडकर मेरे पास आओ, मेरी पीठ मे या मेरे अगो मे बहुत पीडा हो रही है, इसलिए पहले मेरी पीठ या अगो पर मालिश कर दो ।

ये और इस प्रकार के अन्यान्य तुच्छ कार्यों मे उक्त वेषधारी कार्मकिकर को जोतकर नारी विविध नाच नचाया करती है ।

मूल पाठ

वत्थाणि य मे पडलेहेहि, अन्न पाणं च आहराहित्ति ।
गध च रओहरण च, कासवगं च मे समणुजाणाहि ॥६॥

सस्कृत छाया

वस्त्राणि च मे प्रत्युपेक्षस्व, अन्न पान च आहर इति ।
गन्ध च रजोहरण च, काश्यपक च मे समनुजानीहि ॥६॥

अन्वयार्थ

(**वत्थाणि य मे पडिलेहेहि**) साधो ! मेरे वस्त्रा को तो देखो, कितने जीर्ण-शीर्ण हो गये है, इसलिए दूसरे नये कपडे लाओ, अथवा देखो, ये मेरे वस्त्र बहुत मैले हो गये हैं, इन्हे धोबी को दे दो, अथवा मेरे वस्त्रो की अच्छी तरह देखभाल करो, इन्हे सुरक्षित स्थान मे रखो, ताकि चूहे, दीमक आदि न काट खाएँ । (**अन्न पाण च आहराहित्ति**) मेरे लिए अन्न और जल – पेय पदार्थ माँग लाओ । (**गध च रओ-हरण च**) मेरे लिए कपूर आदि सुगन्धित पदार्थ एव ब्रुश, झाडन, बुहारी, रजोहरण आदि धूल झाडने का साधन लाओ । (**कासवग च मे समणुजाणाहि**) मैं लोच की पोडा नही सह सकती, इसलिए मुझे नाई से बाल कटाने की अनुज्ञा दो ।

भावार्थ

हे साधो ! मेरे वस्त्रो को देखो, फट गये है, नये कप लाकर दो, अथवा मेरे कपडे मैले हो रहे है, इन्हे धुलने दे दो । अथवा मेरे वस्त्र आदि सामग्री को चूहो से बचाकर सँभाल कर रखो । मेरे लिए अन्न-पानी आदि लाकर दो । तथा सुगन्धित पदार्थ एव सुन्दर रजोहरण या धूल झाडने का साधन (ब्रुश या बुहारी आदि) लाकर दो । मैं लोच की पीडा नही सह सकती । अत मुझे नाई से बाल कटाने की आज्ञा दो ।

व्याख्या

स्त्री-मोहित की विडम्बना

कामिनी स्त्री-वशीभूत वेशधारी पुरुष की कैसी दुर्गति करती है ? इसे दूसरे पहलू से इस गाथा मे बताया गया है—'वत्थाणि मे आहराहित्ति।' स्त्री अपने वशीभूत साधक को नये वस्त्र लाने या वस्त्र धुलाने अथवा वस्त्रो की देखभाल कर रखने की, अन्न-जल लाकर देने की, तथा सुगन्धित पदार्थ एव रजोहरण ला देने की प्रेरणा करती है। साथ ही वह अपने केशो का नापित से मुण्डन कराने की अनुमति भी ले लेती है।

इस गाथा मे स्त्री की मनोवृत्ति अपने प्रति आसक्त पुरुष के प्रति किस-किस प्रकार की बन जाती है ? यह विश्लेषण करके बता दिया है।

मूल पाठ

अदु अंजणि अलंकार कुक्कययं मे पयच्छाहि ।
लोद्ध च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च मुलिय च ॥७॥
कुट्ठ तगर च अगरु, सपिट्ठ सम्म उसिरेण ।
तेल्ल मुहभिलिजाए, वेणुफलाइ सन्निधानाए ॥८॥
नदीचूण्णगाइं पाहराहि, छत्तोवाणह च जाणाहि ।
सत्थ च सूवच्छेज्जाए, आणील च वत्थय रयावेहि ॥९॥
सुफणि च सागपागाए, आमलगाइ दगाहरण च ।
तिलगकरणिमजणसलाग, घिसु मे विहूणय विजाणेहि ॥१०॥
संडासग च फणिह च, सीहलिपासग च आणाहि ।
आदसग च पयच्छाहि, दतपक्खालणं पवेसाहि ॥११॥
पूयफलं तबोलय सूईसुत्तग च जाणाहि ।
कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगालण च ॥१२॥
चंदालग च करग च, वच्चघर च आउसो ! खणाहि ।
सरपायय च जायाए गोरहग च सामणेराए ॥१३॥
घडिग च सडिंडिमय च, चेलगोल कुमारभूयाए ।
वास समभिआवण्ण, आवसह च जाण भत्त च ॥१४॥

आसदिय च नवसुत्त', पाउल्लाइ सकमट्ठाए ।
अदु पुत्तदोहलट्ठाए आणप्पा हवति दासा व ॥१५॥

सस्कृत छाया

अथाञ्जनिकामलकार, खु खुणक मे प्रयच्छ ।
लोध्र च लोध्रकुसुम च, वेणुपलाशिका च गुलिका च ॥७॥
कुष्ट तगर चागुरु सपिष्ट समम् उशीरेण ।
तैल मुखाभ्यगाय वेणुफलानि सन्निधानाय ॥८॥
नन्दीचूर्ण प्राहर छत्रोपानहौ च जानीहि ।
शस्त्रञ्च सूपच्छेदाय आनीलञ्च वस्त्र रञ्जय ॥९॥
सुफणि च शाकपाकाय आमलकान्युदकाहरणञ्च ।
तिलककरण्यञ्जनशलाका, ग्रीष्मे मे विधूनकमपि जानीहि ॥१०॥
सडासिक (मदशक) च फणिह च, सीहलिपाशकञ्चानय ।
आदर्शक च प्रयच्छ दन्तप्रक्षालनक प्रवेशय ॥११॥
पूगीफल ताम्बूलक सूचीसूत्रक च जानीहि ।
कोशञ्च मोचमेहाय शूर्पौ खलञ्च क्षारगालनकम् ॥१२॥
चन्दालकञ्च करक वर्चोगृहञ्च आयुष्मन् खन ।
शरपातञ्च जाताय, गोरथक च श्रामणये ॥१३॥
घटिका च सडिडिमक च, चेलगोलक च कुमारक्रीडाय ।
वर्षञ्च समभ्यापन्नमावसथञ्च जानीहि भक्तञ्च ॥१४॥
आसन्दिका च नवसूत्रा पादुका सक्रमणार्थाय ।
अय पुत्रदोहदार्थाय, आज्ञप्ता भवन्ति दासा इव ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**अदु अजणि अलकार कुक्कयय मे पयच्छाहि**) हे साधो ! मेरे लिए अजन का पात्र (सुरमादानी), आभूपण, घघरूदार वीणा लाकर दो, (**लोद्ध च लोद्धकुसुम च**) लोध्र का फल और फूल लाओ, तथा (**वेणुपलासिय च गुलिय च**) बाँस से बना हुआ वाद्य वशी या बासुरी लाकर दो, एव पौष्टिक औषध की गोली भी लाकर दो ॥७॥

(**कुट्ठ तगर च अगरु**) कुष्ट, तगर और अगरु (**उसीरेण सम सपिट्ठ**) खसखस के साथ पीसे हुए मुझे लाकर दो। तथा (**मुहभिलिजाए तेल्ल**) मुख पर लगाने के लिए तेल एव (**सन्निधानाए वेणुफलाइ**) वस्त्र आदि रखने के लिए बास की बनी हुई एक सन्दूक लाओ ॥८॥

फिर वह कहती है—प्रियतम ! (**नदीचूणगाइ**) मुझे ओठ रगने के लिए चूर्ण (**पाहराहि**) लाकर दो। (**छत्तापानह च जाणाहि**) यह भी समझ लो कि छाता

और जूता भी लाना है। (सूवच्छेज्जाए सत्थ च) और सागभाजी काटने के लिए एक शस्त्र छुरी या चाकू लाओ। (वत्थ च आणील रयावेहि) तथा नीले रग से मेरा कपडा रगवा दो ॥९॥

(सागपाकाए सुफणि) प्रियवर! सागभाजी आदि पकाने के लिए तपली या बटलोई लाओ, (आमलगाइ दगाहरण च) आँवले ला दो, साथ ही पानी रखने का पात्र (घडा आदि) लाकर दो। (तिलगकरणिमजनसलाग) तिलक लगाने और अजन लगाने की सलाई भी लेते आना। तथा (घिसु मे विहूणय जाणीहि) ग्रीष्मकाल मे हवा करने के लिए एक पखा भी ला दो ॥१०॥

(सडासग च) नाक के बालो को उखाडने के लिए चीपिया लाओ। (फणिह च) और केशो को सवारने के लिए कघी भी लाओ। (सीहलिपासग च आणाहि) तथा चोटी बाँधने के लिए ऊन की बनी हुई जाली (सीहलिपाशक) लाकर दो। (आदसग च पयच्छाहि) एक दर्पण (चेहरा देखने का शीशा) भी ला दो। (दतपक्खालणे पवेसाहि) दाँत साफ करने के लिए दतमजन या दतौन भी लाकर दो ॥११॥

(पूयफल) सुपारी, (तबोलय) पान, (सूईसुत्तग च जाणीहि) और सूई-धागा लाकर दो। (कोस च मोयमेहाए) तथा पेशाव करने के लिए एक बडा प्याला (भाजन), (सुप्पुखलग च खारगालण च) और सूप (छाजला) तथा ऊखली एव खार गालने के लिए बर्तन लाकर शीघ्र दो ॥१२॥

(आउसो) हे आयुष्मन! (चदालग) देवपूजन करने के लिए ताँबे का बर्तन, (करग च) और जलपात्र (करवा) अथवा मधु रखने का पात्र लाओ। (वच्चघर च खणाहि) और एक शौचालय (पाखाना) भी मेरे लिए खुदवा दो। (जायाए सरपायय च) और अपने पुत्र के खेलने के लिए एक धनुष भी ला दो। (सामणेराए गोरहग च) तथा अपने श्रमणपुत्र (श्रामणेर) के लिए एक तीन वर्ष का बैल ला दो ॥१३॥

(घडिय च सडिडिमय) मिट्टी की बनी गुडिया और झुनझुना बाजा, (चेलगोलक च कुमारभूयाए) अपने कुमार (पुत्र) के खेलने के लिए कपडे की बनी हुई गेंद ले आओ। (वास च समभियावण्ण) और देखो, वर्षाऋतु निकट आ गयी है। (आवसह भत्त च जाण) इसलिए वर्षा से बचने के लिए मकान (आवास) और अन्न का प्रबन्ध करो ॥१४॥

(नवसुत्त च आसदिय) नये सूत से बनी हुई एक मचिया या कुर्सी लाओ। (सकमट्ठाए पाउल्लाइ) और चलने-फिरने के लिए एक जोडी खडाऊँ भी लाओ। (अदु पुत्तदोहलट्ठाए) और देखिए, मेरे पुत्रदोहद के लिए अमुक वस्तु लाओ।

(दासा वा आणप्पा हवंति) इस प्रकार स्त्रियाँ दास की तरह पुरुषो पर आज्ञा चलाती हैं ॥१५॥

भावार्थ

स्त्री मे अनुरक्त साधु से फिर वह स्त्री कहती है—हे साधो ! मेरे लिए अजनपात्र (सुरमादानी), आभूषण, घुँघरूदार वीणा लाकर दो। तथा लोध्र का फल और फूल लाओ एव सुन्दर बासुरी तथा पौष्टिक औषध की गोली लाकर दो ॥७॥

स्त्री कहती है—प्रियतम ! खसखस के साथ अच्छी तरह पीसे हुए अगरु, तगर और कुष्ट आदि सुगन्धित द्रव्य मुझे लाकर दो। मुँह पर लगाने के लिए तेल तथा कपडे आदि रखने के लिए वास की बनी हुई एक पेटी भी मुझे ला दो ॥८॥

फिर वह कहती है—प्रियतम ! मेरे लिए ओठ रगने का चूर्ण ले आइए, तथा छाता, जूता एव सागभाजी सुधारने के लिए चाकू या छुरी भी लेते आना। मेरा वस्त्र नीले रग से रगवा दे ॥९॥

स्त्री शीलभ्रष्ट पुरुष से कहती है—प्राणवल्लभ ! सागभाजी आदि पकाने के लिए एक तपेली या बटलोई लेते आना। आँवला और पानी रखने का एक बर्तन (घडा, मटका आदि), तिलक और अजन लगाने की सलाई एव गर्मी मे हवा करने के लिए एक पखा भी ला दे ॥१०॥

फिर वह प्रिया कहती है—जीवनधन ! नाक के केशो को उखाडने के लिए एक चिमटी (चीपिया) ला दो, बालो को सवारने के लिए एक कघी भी लेते आएँ। मेरी चोटी बाँधने के लिए ऊन की बनी हुई एक जाली या आँटी ला दीजिए तथा दाँत साफ करने के लिए दतमजन या दतौन भी ला दे ॥११॥

आगे वह फरमाइश करती है—प्रियतम ! पान, सुपारी, सूई-धागा लाना याद रखना। पेशाब के लिए एक बडा प्याला (भाजन), एक सूप, एक ऊखल और एक खार गालने का बर्तन शीघ्र लाकर दे ॥१२॥

हे आयुष्मन् ! देवता का पूजन करने के लिए ताबे का बर्तन तथा जल या मद्य रखने का पात्र ला दे। तथा मेरे लिए एक शौचालय (पाखाना) खुदवा दे। अपने लाल के खेलने के लिए एक धनुष भी ला दे और तीन वर्ष का एक बैल ला दे, जिसे आपका पुत्र (श्रमणपुत्र) बैलगाडी में जोतेगा ॥१३॥

फिर शीलभ्रष्ट साधु से उसकी प्रेमिका कहती है—प्रियतम ! अपने राजकुमार से नौनिहाल बच्चे के खेलने के लिए एक मिट्टी की गुडिया, एक बाजा, झुनझुना और एक कपडे की गोलाकार बनी गेद ला दो। वर्षा-काल शीघ्र ही आने वाला है। अतः वर्षा से सुरक्षा के लिए आवास (मकान) और चार मास के हेतु अनाज का प्रबन्ध कर लीजिए ॥१४॥

फिर वह कहती है—प्राणप्रिय ! सोने-बैठने के लिए नये सूत से बनी हुई एक सुन्दर मचिया या खटिया ले आओ तथा घर मे इधर-उधर घूमने के लिए एक जोडी खडाऊ लेते आएँ। मैं गर्भवती हूँ। मेरे गर्भ के दोहद की पूर्ति के लिए अमुक-अमुक वस्तुएँ लाकर दे।

इस प्रकार मोहमूढ करने वाली कामिनियाँ दास की तरह अपने वशवर्ती पुरुषो पर आज्ञा चलाती है। अगर वे काम नही करते है तो झिड-कती हैं, कभी मीठे शब्दो मे उपालम्भ देती है, कभी आँखे दिखाती है तो कभी झूठी प्रशसा करके उनसे काम करवाती है। इस प्रकार तेली के बैल की तरह ललनासक्त पुरुष रातदिन गृहकार्य मे जुटे रहते है। साधना को ताक मे रख दिया जाता है ॥१५॥

व्याख्या

वशीभूत साधु से स्त्री की माँग पर माँग

एक बार जब स्त्री किसी पुरुष की दुर्बलता को जान लेती है और खुल जाती है तो फिर वह बेखटके अपने प्रति अनुरक्त पुरुष से बार-बार नयी-नयी फरमाइश करती रहती है। एक फरमाइश पूरी होते, न होते दूसरी फरमाइश तैयार रखती है। यहाँ शास्त्रकार उसी सम्भावना को प्रगट करते है—**'अट्टु अजणि गुलिय च ॥'**

इस गाथा मे नारी की ६ माँगें आसक्त पुरुष से है, जो कि सामान्य गृहस्थ नारी की अपने पति से होती हैं। कभी वह कहती है—मेरे पास काजल रखने की डिबिया नही है, उसे ला दो। कभी वह फरमाइश करती है—अजी, मेरे लिए कडे, बाजूबन्द, हार आदि आभूषण तो ला दो, ताकि मैं शृगार कर सकूँ। कभी कहती है—मेरे मनोरजन के लिए घु घरूदार वीणा ला दीजिए, ताकि मैं अपना और आपका मनोरजन कर सकूँ। मैं जब अजन आदि शृगारप्रसाधन सामग्री और अलकारो मे सुसज्जित होकर घुघरूदार वीणा बजाऊँगी तो आपका मन प्रसन्न हो उठेगा। कभी कहती है—प्रिय ! आज तो मुझे लोध्र और लोध्र के फूल लाकर दो, जिससे मैं केशो का शृगार कर सकूँ। तथा मुझे चिकने बास से बनी एक बासुरी ला दो, जिससे मैं अपना मनोरजन कर सकू। और फिर वह कहती है—मेरे लिए एक सिद्धगुलिका ला दो, ताकि मेरा यौवन अजर-अमर रहे।

इसके बाद आठवी गाथा मे बताया गया है कि स्त्री फिर उस शीलभ्रष्ट

पुरुप से क्या माँगे करती है ? वह कहती है—प्रियतम ! खसखस के दानो के साथ पीसे हुए कमलकुष्ट, अगरु और तगर इन सुगन्धित द्रव्यो को ला दो, अथवा कमलकुष्ट, अगरु और तगर इन्हे लाकर खसखस के साथ अच्छी तरह पीसें। मेरे चेहरे की सुन्दरता बढाने के लिए मुख पर लगाने हेतु कोई अच्छा-सा तेल लेते आएँ। मेरे कपडे आदि अस्त-व्यस्त पडे रहते हैं, इन्हे तरतीव से जमाकर रखने के लिये वाँस की वनी हुई एक पेटी (सन्दूक) ले आएँ।

इसके पश्चात् स्त्री की माँग होती है - प्रियवर ! मुझे अपने ओठ रगने के लिए अनेक द्रव्यो के सयोग से वना हुआ नन्दीचूर्णक चाहिए, उसे वाजार से ले आना और छाता तथा जूते लाना भी याद रखना। साथ ही साग आदि सुधारने के लिए चाकू या छुरी ले आना। मेरे पहनने का वस्त्र हलके नीले रग का रगवा दो।

शीलभ्रष्ट पुरुप को फिर वह दास्यकर्म मे प्रेरित करती हुई कहती है—प्राणनाथ ! सागभाजी पकाने के लिए एक तपेली या बटलोई लेते आना। जिसमे तक्र आदि पदार्थो को सुखपूर्वक पकाया जाय, उसे सुफणि (तपेली, वटलोई या पतीली) कहते है। स्नान करने या पित्तशान्ति के निमित्त खाने के लिए आँवले भी लेते आना। जल रखने का वर्तन (घडा, मटकी आदि) लाओ। यहाँ उपलक्षण से घी, तेल तथा घर की अन्य सामग्री रखने के लिए पात्र (वर्तन) लाने की सूचना भी गर्भित है। जिससे तिलक किया जाता है, उसे तिलककरणी कहते है। अथवा जिससे गोरोचना आदि लगाकर तिलक किया जाता है या गोरोचना को तिलककरणी कहते है। अथवा जिसमे तिलक करने के द्रव्य पीसे जाते है, उसे भी तिलककरणी कहते हैं। सलाई सोने की या हाथीदाँत की वनी हुई होती है। आँख मे अजन लगाने की जो सलाई होती है, उसे अजनशलाका कहते हैं। अर्थात् इन सव चीजो को ले आओ। ग्रीष्मकाल की भयकर गर्मी की शान्ति के लिए मुझे एक पखा लाकर दो।

इसके वाद वह प्रिया कहती है—"प्राणवल्लभ ! मेरी नाक मे वहुत-से फालतू बाल हो गये हैं, उन्हे उखाडने के लिए एक सडासक—चीपिया या चिमटी अवश्य लावें। साथ ही केश सवारने के लिए एक कघा, चोटी वाँधने के लिए ऊन की बनी हुई जाली या आँटी, चेहरा देखने के लिए एक दर्पण, तथा दाँत साफ करने के लिए दन्तमजन या दतौन लाना मत भूलिएगा। आदर्शक शब्द दर्पण अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जिससे दाँतो का मैल साफ किया जाता है, उसे **'दतपक्खालण'** (दतप्रक्षालनक) कहते हैं। वर्तमान युग की भापा मे इसे दतमजन या दतौन अथवा दाँत साफ करने का व्रुश—टुथव्रुश कहा जा सकता है। चोटी वाँधने के लिए ऊन की वनी हुई जाली या आँटी को **सीहलिपासग** (सीहलिपाशक) कहते है।

स्त्री की माँग इतने पर भी रुकती नही, उसकी नित नयी माँग जारी रहती है। कभी वह कहती है—प्रियतम ! मुखवास के लिए मुझे पान और सुपारी (ताम्बूल और पूगीफल) चाहिए। कपडे वहुत फट गये हैं। इन्हे सीने के लिए सूई-धागा भी चाहिए। और हाँ, लगे हाथो पेशाव करने के लिए एक वडा प्याला (भाजन), एक सूप, एक ऊखल तथा एक खार गलाने का वर्तन भी लेते आएँ।

यहाँ पूगीफल का अर्थ सुपारी, ताम्बूल का अर्थ नागरवेल के पत्ते—पान है।

'कोस च मोयमेहाए'—मोक (मोय) पेशाव को कहते है। यानी मूत्रविसर्जन करने के लिए कोश यानी भाजन। स्त्री का कहने का आशय यह है कि रात मे भय के कारण मे उठकर वाहर जाने मे असमर्थ हूँ। इसलिए पेशाव का भाजन मेरे लिए लाना आवश्यक है।

'सुप्पुक्खलग'—चावल आदि को साफ करने तथा भुस्सा वगैरह अलग करने के साधन को सूर्प (शूर्प) कहते हैं और धान आदि के कूटने के साधन को ऊखल कहते हैं।

'चदालग च करग च'—देवपूजन करने के पात्र को चन्दालक कहते हैं। मथुरा मे इस पात्र को 'चदालक' कहा जाता है। जल रखने के एक वर्तन को करक (करवा) कहते हैं। ये दोनो चीजे मुझे अवश्य ला दीजिए।

फिर वह स्त्री आज्ञा देती है—देखो जी ! मैं शौच के लिए वाहर नही जा सकती, इसलिए मेरे लिए एक पाखाना यही बनवा दें। शौचस्थान (पाखाना) को **'वच्चघर'** (वर्चोगृह) कहते हैं। जिस पर रखकर बाण फैंकते हैं, उसे शरपात—धनुप कहते है। ऐसा एक धनुष अपने लाल के खेलने के लिए ला दो। साथ ही **'गोरहग च सामणेराए'**—गोरथक तीन वर्ष के बैल को कहते हैं, जो बैल रथ मे जुत सके व सन्तान का भार वहन कर सके। **'सामणेराए'** का अर्थ है—श्रमणपुत्र के लिए। भूतपूर्व श्रमण वह शीलभ्रष्ट साधु है, स्त्रीसग से हुए उसके पुत्र को यहाँ श्रमणपुत्र कह दिया गया है। आशय यह है कि वह कहती है, एक तीन वर्ष का ऐसा बैल लाओ, जो गाडी मे या गोरथ मे जुत सके और भार भी खीच सके।

इसके पश्चात् ढीठ होकर वह नायिका कहती है—प्राणवल्लभ ! राजकुमार के समान सुन्दर-सलौने मेरे नन्हे पुत्र के खेलने के लिए मिट्टी की गुडिया, अन्य खिलौने, एक वाजा और एक कपडे की बनी हुई गोल गेंद चाहिए, इन सब वस्तुओ को लेते आएँ। और देखिए, वर्षाकाल शीघ्र ही आने वाला है, उससे पहले आप दो काम कर लीजिए, एक तो एक अच्छा-सा मकान वर्षा से रक्षा के लिए बना ले, दूसरे, चार महीने के खाने के लिए अनाज, दाल आदि का प्रवन्ध कर ले। कहा भी है—

मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा।
तत्कर्तव्य मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते ॥

अर्थात्—वर्षाकाल के अतिरिक्त शेष आठ महीनो मे मनुष्य को ऐसा कार्य कर लेना चाहिए, जिससे वर्षाकाल के ४ महीनो मे सुख प्राप्त हो, तथा दिन मे वह काय कर लेना चाहिए, जिससे रात्रि मे आनन्द प्राप्त हो एव आयुष्य के पूर्वभाग मे मनुष्य को ऐसे कार्य करने चाहिए, जिससे आयुष्य के अन्त मे सुख मिले।

कभी कभी निलज्ज होकर स्त्री कामासक्त पुरुष को डाँटते हुए कहती है—बैठे-बैठे क्या कर रहे हो ? बाजार से जाकर नये सूत से बनी हुई एक मचिया या खटिया ले आओ। मैं नगे पैरो इधर-उधर नही घूम सकती, इसलिए मेरे लिए मूँज या काष्ठ की बनी हुई खडाऊँ भी लेते आना। और देख रहे हो न ! मैं आजकल गर्भवती हूँ, मुझे अनेक प्रकार दोहद उत्पन्न होते हैं। उनकी पूर्ति के लिए अमुक-अमुक वस्तुएँ जरूर लानी है। इस प्रकार स्नेहपाश मे बँधे हुए कामासक्त पुरुष पर स्त्रियाँ निर्लज्ज होकर दास की तरह आज्ञा चलाती है, नित नयी माँगे करती है। बेचारा पुरुष पशु की तरह सारे कार्यभार को रातदिन ढोता रहता है।

मूल पाठ

जाए फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा ण अहवा जहाहि ।
अह पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवति उट्टा वा ॥१६॥

सस्कृत छाया

जाते फले समुत्पन्ने, गृहाणैनमथवा जहाहि ।
अथ पुत्रपोषिण एके, भारवहा भवन्ति उष्ट्रा इव ॥१६॥

अन्वयार्थ

(जाए फले समुप्पन्ने) पुत्र उत्पन्न होना गार्हस्थ्य का फल है, उसके होने पर (गेण्हसु वा ण अहवा जहाहि) स्त्री रुष्ट होकर कहती है—इस पुत्र को गोद मे लो अथवा छोड दो। (अह एगे पुत्तपोसिणो उट्टा वा भारवहा हवति) कोई पुरुष पुत्र के पालन-पोषण मे इतने रक्त हो जाते है कि वे ऊँट की तरह जीवन-भर (गार्हस्थ्य) भार ढोते रहते है।

भावार्थ

पुत्र का जन्म होना गृहस्थ जीवन का फल है। उस फल के उत्पन्न होने पर स्त्री झिडकती हुई पुरुष से कहती है—लो, अपने लाल को, या तो इसे रखो, गोद मे लेकर खिलाओ अथवा इसे छोड दो, मैं नही जानती। इससे प्रेरित होकर सन्तान के पालन-पोषण मे आसक्त कई पुरुष जिदगीभर ऊँट की तरह गार्हस्थ्यभार ढोते रहते हैं।

व्याख्या

पुत्र उत्पन्न होने पर तो और अधिक गुलाम

इस गाथा मे पुत्रोत्पत्ति होने पर स्त्री-आसक्त पुरुष की अधमदशा का वर्णन किया है— 'जाए फले भारवहा हवंति उट्टा वा' आशय यह है कि गृहस्थ जीवन मे एक गृहस्थ दम्पती के लिए पुत्र का जन्म होना ही गार्हस्थ्यफल माना जाता है। नर नारी के ससर्ग का फल कामसुखभोग करना है, और कामभोग-सेवन का प्रधान फल पुत्र-जन्म है। पुत्र गृहस्थ के लिए कितना प्यारा होता है, यह कवि के शब्दो मे पढिए—

इद तत्स्नेहसर्वस्व सममाढ्यदरिद्रयो ।
अचन्दनमनौशीर हृदयस्यानुलेपनम् ॥१॥
यत्तच्छपनिकेत्युक्त बालेनाव्यक्तभाषिणा ।
हित्वा साख्य च योग च तन्मे मनसि वर्तते ॥२॥

अर्थात्— धनवान और निर्धन दोनो के लिए पुत्रजन्म होना समान रूप से स्नेह का सर्वस्व है। यह चन्दन और खसखस के बिना ही हृदय को शीतलता पहुँचाने वाला लेप है। तुतलाते हुए नन्हे मुन्ने ने शयनिका शब्द के बदले शपनिका शब्द कहा था, वह शब्द साख्य और योग के अतिरिक्त मेरे हृदय मे विद्यमान रहता है।

लोक व्यवहार मे पुत्रसुख को ही पहला सुख माना है, उसके बाद दूसरा सुख अपने शरीर का है। इसलिए पुरुषो के लिए पुत्र ही परम अभ्युदय का कारण इस मोहमय ससार मे माना जाता है। इस दृष्टि से पुत्रजन्म होने के बाद पुरुषो को क्या-क्या कष्ट सहने पडते हैं ? इसे ही शास्त्रकार सक्षेप मे बताते हैं—'गेण्हसु वा ण अयवा जहाहि'। सर्वप्रथम तो स्त्री ही झिडकती हुई कहती है "प्रियतम ! तुम्हारे इस लाल को लो, सँभालो, मैं अन्यान्य गृहकार्यो मे लगी हूँ। इसे लेने का मुझे अवकाश नही है। अगर तुम इसे नही सम्भालते हो तो मत सम्भालो। मैं इसको नही रखूँगी। मेरी ओर भी तो देखो। मैने तो इसे नौ महीने तक पेट मे रखा है, मगर तुम थोडी सी देर भी इस बच्चे को रखने से घबराते हो। तुम बैठे-बैठे करते क्या हो ? इसे सम्भालो, मै जाती हूँ।"

स्त्रीवशीभूत पुरुष की दशा स्त्री के सामने नौकर से भी बदतर हो जाती है। नौकर तो अपने मालिक से डरकर उसकी आज्ञा का पालन करता है, लेकिन स्त्री-वशीभूत पुरुष स्त्री के प्रति मोह, पुत्र के प्रति ममत्व एव आसक्ति के कारण उसकी हर आज्ञा को शिरोधार्य करता है, हृदय से उसका पालन करता है। स्त्रीवशीभूत पुरुष स्त्री की हर आज्ञा को अपने पर कृपा मानकर सहर्ष पालन करता है। कहा भी है—

यदेव रोचते मह्य, तदेव कुरुते प्रिया ।
इति वेत्ति न जानाति, तत्प्रिय यत्करोत्यसौ ॥१॥

ददाति प्रार्थित प्राणान् मातर हन्ति तत्कृते ।
किं न दद्यात्, न किं कुर्यात्, स्त्रीभिरभ्यर्थितो नर ॥२॥
ददाति शौचपानीय, पादौ प्रक्षालयत्यपि ।
श्लेष्माणमपि गृह्णीत, स्त्रीणा वशगतो नर ॥३॥

अर्थात्—वह समझता है कि मुझे जो रुचिकर लगता है, वही मेरी प्रिया करती है। वस्तुत यही उस (स्त्री) का प्रिय करता ह, इसे वह नही जानता। पुरुप स्त्री के द्वारा प्रार्थना करने पर अपने प्राण तक दे देता है। उसके लिए अपनी माता को भी मार डालता हे। वस्तुत स्त्री की प्रार्थना पर पुरुप उसे क्या नही दे देता, और क्या नही कर डालता ? स्त्री का गुलाम पुरुष शौचक्रिया के लिए उसे जल देता है, उसके पैर भी धोता है, उसका थूक भी अपनी हथेली पर ले लेता है।

इस प्रकार स्त्रियाँ पुरुष को अपने पर गाढ अनुरक्त देखकर कभी पुत्र के निमित्त से, कभी अन्यान्य प्रयोजनो से एक नौकर समझकर जब-तब आदेश देती रहती हैं और स्त्रीमोही तथा पुत्रपोषक पुरुप महामोहकर्म के उदय मे इहलोक और परलोक के नष्ट होने की परवाह न करके स्त्री का आज्ञाकारी बनकर सब आज्ञाओ का यथावत् पालन करता है। यो जिन्दगीभर ऊँट की तरह वह पुरुष गार्हस्थ्यभार ढोता रहता है।

और भी वह क्या-क्या करता है ? इसे अगली गाथा मे बताते हैं—

मूल पाठ

राओ वि उट्ठिया सता, दारग च सठवति धाई वा।
सुहिरामणा वि ते सता वत्थधोवा हवति हंसा वा ॥१७॥

सस्कृत छाया

रात्रावप्युत्थिता सन्त दारक सस्थापयन्ति धात्रीव ।
सुह्रीमनसोऽपि ते सन्त वस्त्रधावका भवन्ति हसा वा ॥१७॥

अन्वयार्थ

(राओ वि) रात मे भी वे पुत्रपोषणशील स्त्रीमोही पुरुष (उट्ठिया सता) उठकर (धाई वा दारग च सठवति) धाय की तरह बालक को गोद से चिपकाये रहते है, (ते सुहिरामणा वि सता) वे पुरुष अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी (हसा वा वत्थधोवा हवति) धोबी की तरह स्त्री और बच्चे के वस्त्र तक धोते हैं।

भावार्थ

स्त्रीवशीभूत एव पुत्रपोषक पुरुष रात मे भी जागकर धाय की तरह बच्चे को गोद मे चिपकाए रहते है। वे अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी स्त्री का मन प्रसन्न रखने के लिए धोबी की तरह उसके और बच्चे के कपडे भी धो डालते है।

व्याख्या

स्त्री-दास कौन-सा तुच्छ कार्य नहीं करते ?

इस गाथा मे स्त्री के वशवर्ती गुलाम पुरुष की वृत्ति-प्रवृत्ति की एक झाकी देकर शास्त्रकार इस प्रसग का अगली गाथा मे उपसहार कर देते है—'राओ वि उट्ठिया हवति हसा वा ।'

आशय यह है कि स्त्रीवशगत पुरुष स्त्री के समक्ष इतने दीन-हीन-कायर हो जाते हैं कि स्त्री के किसी भी वचन को सुनकर चूँ भी नही कर सकते । रात को भी ज्यो ही बच्चा रोता है, वे स्त्री को न जगाकर स्वय चुपचाप उठ जाते है, और धाय की तरह बच्चे को गोद से चिपटा लेते है । वे बालक को किस प्रकार के मधुर-मधुर आलापो से खेलाते हैं ? इसे एक विचारक के शब्दो मे देखिए —

"सामिओसि णगरस्स य णक्कउरस्स य हत्थकप्पगिरिपट्टणसीह-पुरस्स य उण्णयस्स निन्नस्स य कुच्छिपुरस्स य कण्णकुज्ज आयामुह सोरियपुरस्स य ।"

अर्थात् - हे पुत्र ! तुम नगर का स्वामी हो । तुम नक्रपुर, हस्तिपत्तन, कल्पपत्तन, सिंहपुर, उन्नत-स्थान, निम्नस्थान, कुक्षिपुर, कान्यकुब्ज, पितामहमुख एव शौरिपुर के स्वामी हो ।

इस प्रकार स्त्रीवशीभूत पुरुष ऐसे-ऐसे कार्य करते हैं, जिनसे वे हँसी के पात्र बनते हैं । यद्यपि ऐसे नीच एव निन्द्य करते हुए वे लज्जित होते हैं, फिर भी वे स्त्रीमोहवश लज्जा को ताक मे रखकर उसके वचन के अनुसार तुच्छ से तुच्छ कर्म करते हैं । यही सूत्रकार कहते हैं—'वत्थधोवा हवति हसा वा ।' अर्थात् ऐसे पुरुष धोबी की तरह स्त्री के मैले-कुचैले कपडे धोते हैं, यहाँ तक कि वे बच्चे के पोतडे भी धोते हैं । वस्त्र धोना तो उपलक्षण है । पानी लाना, अनाज पीसना, रोटी बनाना आदि अन्य कार्य भी वे पुरुष करते हैं । कितनी दीन-हीन मनोवृत्ति हो जाती है, ऐसे पुरुष की ! इसे अगली गाथा मे देखिए—

मूल पाठ

एव बहुहि कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना ।
दासे मिइव पेसे वा, पसुभूतेव से ण वा केई ।।१८।।

संस्कृत छाया

एव बहुभि कृतपूर्वं, भोगार्थाय येऽभ्यापन्ना ।
दासमृगाविव प्रेष्य इव पशुभूत इव स न वा कश्चित् ।।१८।।

अन्वयार्थ

(एव बहुहि कयपुव्व) इस प्रकार पूर्वोक्त काल मे बहुत-से लोगो ने किया है । (भोगत्थाए जेऽभियावन्ना) जो पुरुष भोगो के लिए सावद्यकर्म मे आसक्त है,

ददाति प्रार्थित प्राणान् मातर हन्ति तत्कृते ।
किं न दद्यात्, न किं कुर्यात्, स्त्रीभिरभ्यर्थितो नर ॥२॥
ददाति शौचपानीय, पादौ प्रक्षालयत्यपि ।
श्लेष्माणमपि गृह्णीत, स्त्रीणा वशगतो नर. ॥३॥

अर्थात्—वह समझता है कि मुझे जो रुचिकर लगता है, वही मेरी प्रिया करती है। वस्तुत यही उस (स्त्री) का प्रिय करता है, इसे वह नही जानता। पुरुष स्त्री के द्वारा प्रार्थना करने पर अपने प्राण तक दे देता है। उसके लिए अपनी माता को भी मार डालता है। वस्तुत स्त्री की प्रार्थना पर पुरुष उसे क्या नही दे देता, और क्या नही कर डालता ? स्त्री का गुलाम पुरुष शौचक्रिया के लिए उसे जल देता है, उसके पैर भी धोता है, उसका थूक भी अपनी हथेली पर ले लेता है।

इस प्रकार स्त्रियाँ पुरुष को अपने पर गाढ अनुरक्त देखकर कभी पुत्र के निमित्त से, कभी अन्यान्य प्रयोजनो से एक नौकर समझकर जब-तब आदेश देती रहती है और स्त्रीमोही तथा पुत्रपोषक पुरुष महामोहकर्म के उदय से इहलोक और परलोक के नष्ट होने की परवाह न करके स्त्री का आज्ञाकारी बनकर सब आज्ञाओ का यथावत् पालन करता है। यो जिन्दगीभर ऊँट की तरह वह पुरुष गार्हस्थ्यभार ढोता रहता है।

और भी वह क्या-क्या करता है ? इसे अगली गाथा मे बताते हैं—

मूल पाठ

राओ वि उट्ठिया संता, दारगं च संठवंति धाई वा।
सुहिरामणा वि ते संता वत्थधोवा हवंति हंसा वा ॥१७॥

संस्कृत छाया

रात्रावप्युत्थिता सन्त दारक संस्थापयन्ति धात्रीव ।
सुह्रीमनसोऽपि ते सन्त वस्त्रधावका भवन्ति हंसा वा ॥१७॥

अन्वयार्थ

(राओ वि) रात मे भी वे पुत्रपोषणशील स्त्रीमोही पुरुष (उट्ठिया संता) उठकर (धाई वा दारगं च संठवंति) धाय की तरह बालक को गोद से चिपकाये रहते हैं, (ते सुहिरामणा वि संता) वे पुरुष अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी (हंसा वा वत्थधोवा हवंति) धोबी की तरह स्त्री और बच्चे के वस्त्र तक धोते हैं।

भावार्थ

स्त्रीवशीभूत एवं पुत्रपोषक पुरुष रात मे भी जागकर धाय की तरह बच्चे को गोद मे चिपकाए रहते है। वे अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी स्त्री का मन प्रसन्न रखने के लिए धोबी की तरह उसके और बच्चे के कपड़े भी धो डालते है।

व्याख्या

स्त्री-दास कौन-सा तुच्छ कार्य नहीं करते ?

इस गाथा मे स्त्री के वशवर्ती गुलाम पुरुष की वृत्ति-प्रवृत्ति की एक झाकी देकर शास्त्रकार इस प्रसग का अगली गाथा मे उपसहार कर देते है—'**राओ वि उट्ठिया हवति हसा वा ।**'

आशय यह है कि स्त्रीवशगत पुरुष स्त्री के समक्ष इतने दीन-हीन-कायर हो जाते हैं कि स्त्री के किसी भी वचन को सुनकर चूं भी नही कर सकते । रात को भी ज्यो ही बच्चा रोता है, वे स्त्री को न जगाकर स्वय चुपचाप उठ जाते है, और धाय की तरह बच्चे को गोद से चिपटा लेते है । वे बालक को किस प्रकार के मधुर-मधुर आलापो से खेलाते है ? इसे एक विचारक के शब्दो मे देखिए --

"सामिओसि णगरस्स य णक्कउरस्स य हत्थकप्पगिरिपट्टणसीह-पुरस्स य उण्णयस्स निन्नस्स य कुच्छिपुरस्स य कण्णकुज्ज आयामुह सोरियपुरस्स य ।"

अर्थात् - हे पुत्र! तुम नगर का स्वामी हो । तुम नक्रपुर, हस्तिपत्तन, कल्पपत्तन, सिंहपुर, उन्नत-स्थान, निम्नस्थान, कुक्षिपुर, कान्यकुब्ज, पितामहमुख एव शौरिपुर के स्वामी हो ।

इस प्रकार स्त्रीवशीभूत पुरुष ऐसे-ऐसे कार्य करते है, जिनसे वे हँसी के पात्र बनते हैं । यद्यपि ऐसे नीच एव निन्द्य करते हुए वे लज्जित होते हैं, फिर भी वे स्त्रीमोहवश लज्जा को ताक मे रखकर उसके वचन के अनुसार तुच्छ से तुच्छ कर्म करते है । यही सूत्रकार कहते हैं—'**वत्थधोवा हवति हसा वा ।**' अर्थात् ऐसे पुरुष धोबी की तरह स्त्री के मैले-कुचैले कपडे धोते हैं, यहाँ तक कि वे बच्चे के पोतडे भी धोते हैं । वस्त्र धोना तो उपलक्षण है । पानी लाना, अनाज पीसना, रोटी बनाना आदि अन्य कार्य भी वे पुरुष करते हैं । कितनी दीन-हीन मनोवृत्ति हो जाती है, ऐसे पुरुष की ! इसे अगली गाथा मे देखिए—

मूल पाठ

एव बहुहि कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना ।
दासे मिइव पेसे वा, पसुभूतेव से ण वा केई ।।१८।।

सस्कृत छाया

एव बहुभि कृतपूर्वं, भोगार्थाय येऽभ्यापन्ना ।
दासमृगाविव प्रेष्य इव पशुभूत इव स न वा कश्चित् ।।१८।।

अन्वयार्थ

(एव बहुहि कयपुव्व) इस प्रकार पूर्वोक्त काल मे बहुत-से लोगो ने किया है । (भोगत्थाए जेऽभियावन्ना) जो पुरुष भोगो के लिए सावद्यकर्म मे आसक्त हैं,

(दासे मिइव पेसे वा पसुभूतेव से ण वा केई) वे पुरुष या तो दासो की तरह हैं, या मृग की तरह भोलेभाले नौकर है अथवा वे पशु के समान है अथवा वे कुछ भी नही है।

भावार्थ

स्त्रीवशीभूत होकर बहुत-से लोगो ने भूतकाल मे भी स्त्रियो की आज्ञा का पालन किया है। जो पुरुप भोग के निमित्त सावद्य कार्यो मे आसक्त है, वे या तो खरीदे हुए गुलामो की तरह है, या वे बेचारे (मृग) नौकर के समान है, या फिर वे पशु के समान है, अथवा वे सबसे अधम—तुच्छ – नगण्य है।

व्याख्या

स्त्रीदास अतीत मे कैसे थे, क्या थे ?

प्रश्न होता है कि शास्त्रकार ने पूर्वगाथाओ मे स्त्रीवशीभूत पुरुष की वृत्ति-प्रवृत्ति के जिस निकृष्ट चित्र का अकन किया है, क्या वे भूतकाल मे भी इसी प्रकार करते थे ? वे भूतकाल मे भी आम जनता की नजरो मे क्या और किसके तुल्य समझे जाते थे ? इसी का समाधान इस गाथा मे शास्त्रकार ने प्रस्तुत किया है—'**एव बहुहि कयपुव्व से ण वा केई।**' शास्त्रकार का आशय यह है कि जिस प्रकार का हमने स्त्रीवशीभूत पुरुष की वृत्ति-प्रवृत्तियो का निरूपण किया है, उस प्रकार की वृत्ति-प्रवृत्ति भूतकाल मे भी उन लोगो मे पायी जाती थी, जो लोग काम-भोग के लिए सावद्यकार्यो मे रचेपचे रहते थे। ऐसे लोग जो कामभोगो की प्राप्ति के लिए इहलोक-परलोक के अनिष्टो एव खतरो को नही सोचकर बेखटके हाथ धोकर सावद्य-अनुष्ठानो मे जी-जान से जुटे रहते थे, उन्होने भूतकाल मे भी स्त्री के गुलाम बनकर पूर्वोक्त तुच्छ कार्य किये थे, वर्तमान मे भी करते है और भविष्य मे भी करेगे। तथा यह बात भी पूर्ण रूप से सत्य है कि जो पुरुष मोहान्ध तथा स्त्री-वशीभूत हैं, चतुर स्त्रियाँ उनसे पूर्वोक्त तुच्छ कार्य नि शक होकर कराती है।

ऐसे स्त्रीवशीभूत पुरुष अतीत मे व वर्तमान मे कैसे व किसके समान समझे जाते थे ? इसके लिए उन पुरुषो की तुलना पाँच प्रकार से की गयी है—(१) दास के समान, (२) मृग के समान, (३) प्रेष्य (नौकर) के समान, (४) पशु के समान तथा (५) सबसे अधम नगण्य।

उन्हे दास के समान इसलिए कहा गया है कि स्त्रियाँ नि शक होकर उन्हे दास (गुलाम) की तरह पूर्वगाथाओ मे उक्त कर्मो मे लगाती है। मृग की तरह इसलिए कहा गया है कि जैसे जाल मे पडा हुआ मृग परवश होता है, इसी प्रकार स्त्रीवशीभूत पुरुप इतना परवश हो जाता है कि वह अपनी इच्छा से भोजन आदि क्रियाएँ भी नही कर पाता। स्त्रीवशीभूत पुरुप को क्रीतदास या प्रेष्य—नौकर की

उपमा इसलिए दी जाती है कि उसे मलमूत्र फैंकने के काम मे भी लगाया जाता है। स्त्रीवशीभूत पुरुष कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य तथा हित की प्राप्ति तथा अहित के त्याग से रहित होने के कारण पशुतुल्य होता है। जैसे पशु केवल आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृत्ति को ही जीवन का सर्वस्व मानते है, वैसे ही स्त्री-वशीभूत पुरुष भी रात-दिन भोगप्राप्ति, सुखसुविधाओ के अन्वेषण, कामभोग के लिए स्त्री की गुलामी, ऊँट की तरह रात-दिन तुच्छ सासारिक कार्यो मे जुटे रहने तथा उत्तम अनुष्ठानो से दूर रहने के कारण पशु-सा ही है। अथवा स्त्रीवशीभूत पुरुष दास, मृग, प्रेष्य (क्रीतदास) तथा पशु से भी गया बीता अधम एव निकृष्ट होने के कारण कुछ भी नही है, नगण्य है। आशय यह है कि वह पुरुष इतना अधम है कि उसके समान कोई नीच है ही नही, जिससे उसकी उपमा दी जा सके। अथवा उभयभ्रष्ट होने के कारण वह पुरुष किसी भी कोटि मे नही है, कुछ भी नही है। उत्तम निरवद्य अनुष्ठान से रहित होने के कारण वह प्रव्रजित नही है तथा ताम्बूल आदि का सेवन करने से तथा लोचमात्र करने से वह गृहस्थ भी नही है। अथवा इस लोक और परलोक का सम्पादन करने वाले पुरुषो मे से वह किसी मे भी नही है।

अब शास्त्रकार इस अध्ययन को परिसमाप्त करते हुए स्त्रीसग करने के त्याग की प्रेरणा देते है—

मूल पाठ

एवं खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवास च वज्जेज्जा।
तज्जातिया इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाए ॥१६॥

सस्कृत छाया

एव खलु तासु विज्ञप्त, सस्तव सवास च वर्जयेत्।
तज्जातिका इमे कामा, अवद्यकरा एवमाख्याता ॥१६॥

अन्वयार्थ

(तासु) स्त्रियो के विषय मे (एव विन्नप्प) इस प्रकार की बाते बताई गई हैं (सथव सवास च वज्जेज्जा) इसलिए साधु स्त्रियो के साथ ससर्ग (परिचय) सहवास का त्याग करे। (तज्जातिया इमे कामा अवज्जकरा एवमक्खाए) स्त्री ससर्ग से उत्पन्न होने वाले ये कामभोग पाप को पैदा करते हैं, ऐसा तीर्थकरो ने कहा है।

भावार्थ

स्त्रीससर्ग के सम्बन्ध मे जो पूर्वोक्त शिक्षाएँ दी गई है, उन्हे देखते हुए साधु स्त्री के साथ ससर्ग और सवास से बिलकुल दूर रहे। स्त्रीससर्ग

से उत्पन्न होने वाले ये कामभोग पाप को उत्पन्न करते है, ऐसा तीर्थंकरो ने कहा है।

व्याख्या

स्त्रीससर्ग-त्याग की प्रेरणा

इस गाथा मे शास्त्रकार ने स्त्री-ससर्ग और सवास से दूर रहने की प्रेरणा दी है। इसका कारण वताते हुए शास्त्रकार ने तीर्थकरो, गणधरो आदि के कथन का हवाला देते हुए कह दिया कि ये पूर्वोक्त प्रकार के कामभोग अनेक प्रकार के पापो को उत्पन्न करते है। खासतौर से इस वात पर जोर दिया गया है कि पूर्व-गाथाओ मे जो कहा गया था कि स्त्री यह कहती है कि यदि केशवाली स्त्री के साथ तुम्हारा मन नही लगता है तो मै केशो को उखाड डालू, आदि, वाहियात वातो के वाग्जाल मे कल्याणकामी साधक न आए। सौ वातो की एक वात यह है कि वह अपने अमूल्य सयमी जीवन की रक्षा के लिए हर सम्भव तरीके से स्त्री-ससर्ग एव स्त्री-सवास से दूर रहे। यही इस गाथा का रहस्य है।

मूल पाठ

एयं भय ण सेयाय, इइ से अप्पग निरु'भित्ता।
णो इत्थि णो पसु भिक्खू, णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा ॥२०॥

सस्कृत छाया

एतद् भय न श्रेयसे, इति स आत्मान निरुध्य।
नो स्त्री नो पशु भिक्षु नो स्वय पाणिना निलीयेत ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**एय भय न सेयाय**) स्त्री-ससर्ग से जो खतरे पैदा होते है, वह कल्याण के लिए नही होते, (**इइ से अप्पग निरु भित्ता**) इसलिये साधु अपने आपको स्त्री-ससर्ग से रोक कर (**णो इत्थि णो पसु णो सय पाणिणा भिक्खू णिलिज्जेज्जा**) न तो स्त्री को, और न ही पशु को अपने हाथ से स्पर्श करे।

भावार्थ

स्त्री-ससर्ग से पूर्वोक्त अनेक भय पैदा होते है, इस कारण स्त्री-ससर्ग कल्याणकारी नही होते है। अत साधु स्त्री एव पशु का अपने हाथ से सस्पर्श न करे।

व्याख्या

स्त्री-ससर्ग ही नहीं स्त्री-पशु सस्पर्श से भी दूर रहे

इस गाथा मे स्त्री-ससर्ग से होने वाले खतरो और अकल्याण की ओर इगित

करते हुए शास्त्रकार स्त्री-ससर्ग ही नही, स्त्री-पशु-स्पर्श से भी सयमी साधु को बचने का निर्देश करते हैं—णो इत्थि पाणिणा णिलिज्जेज्जा।

आशय यह है कि पूर्वोक्त कथनानुसार स्त्रियो की प्रार्थना तथा उनके साथ परिचय भय का कारण है, इसलिए कहा है—एय भय। साथ ही यह भी कहा है कि स्त्रीसम्पर्क अशुभ-अनुष्ठान का कारण है, इसलिए वह श्रेयस्कर नही है। इन सब बातो को भली-भाँति हृदयगम करके सयमी साधु स्त्री-ससर्ग मे अपने को रोक कर उत्तम मार्ग मे स्वय को स्थापित करे। स्त्री तथा पशु के साथ सवास-सवसति नरक ले जाने का कारण है। इसीलिए शास्त्र मे साधु की शय्या स्त्री, पशु और नपुसकवर्जित होने का विधान है। इसी कारण स्त्री-पशु का सम्पर्श भी यहाँ वर्जित बताया है।

णो सय पाणिणा णिलिज्जेज्जा—इसका एक अर्थ यह भी है कि अपने हाथ से अपनी गुप्तेन्द्रिय का पीडन न करे, क्योकि ऐसा करने से भी चारित्र बिगड जाता है। कामोत्तेजना साधक के लिए महामोहकर्मबन्ध—पापकर्मबन्ध का कारण है, इसलिए इसके जो भी निमित्त है, उनका त्याग साधु के लिए अनिवार्य है।

मूल पाठ

सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरियं च वज्जए नाणी।
मणसा वयसा काएणं, सव्वफाससहे अणगारे ॥२१॥

सस्कृत छाया

सुविशुद्धलेश्य मेधावी, परक्रियाञ्च वर्जयेद् ज्ञानी।
मनसा वचसा कायेन सर्वस्पर्शसहोऽनगार ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**सुविसुद्धलेसे**) विशुद्ध लेश्या (चित्तवृत्ति) वाला (**मेहावी नाणी**) मर्यादा मे स्थित ज्ञानी पुरुष (**मणसा वयसा काएण**) मन, वचन और काया से (**परकिरिय च वज्जए**) आत्महित मे बाधक—परभाव या दूसरे की क्रिया को वर्जित करे। क्योकि (**सव्वफाससहे अणगारे**) जो शीत, उष्ण आदि समस्त स्पर्शो को सहन करता है, वही साधु—अनगार है।

भावार्थ

विशुद्ध लेश्या—चित्त की परिणति वाला साधु-मर्यादा मे स्थित ज्ञानी साधक मन, वचन एव काया से आत्मभावो से पर अनात्मभावो की या विषयोपभोग द्वारा तथाकथित परोपकार क्रिया का त्याग करे। वास्तव मे अनगार वही है जो स्त्री-स्पर्श परीषह या शीत, उष्ण, दश, मशक, तृण आदि के समस्त स्पर्शो को समभाव से सहता है।

करते हुए शस्त्रकार स्त्री-ससर्ग ही नही, स्त्री-पशु-स्पर्श से भी सयमी साधु को वचने का निर्देश करते हैं—**णो इत्थि पाणिणा णिलिज्जेज्जा।**

आशय यह है कि पूर्वोक्त कथनानुसार स्त्रियो की प्रार्थना तथा उनके साथ परिचय भय का कारण है, इसलिए कहा हे—**एय भय**। साथ ही यह भी कहा है कि स्त्रीसम्पर्क अशुभ-अनुष्ठान का कारण है, इसलिए वह श्रेयस्कर नही है। इन सब वातो को भली-भाँति हृदयगम करके सयमी साधु स्त्री-ससर्ग से अपने को रोक कर उत्तम मार्ग मे स्वय को स्थापित करे। स्त्री तथा पशु के साथ सवास-सवसति नरक ले जाने का कारण है। इसीलिए शास्त्र मे साधु की शय्या स्त्री, पशु और नपु सकर्वजित होने का विधान है। इसी कारण स्त्री-पशु का सस्पर्श भी यहाँ वर्जित वताया है।

णो सय पाणिणा णिलिज्जेज्जा—इसका एक अर्थ यह भी है कि अपने हाथ से अपनी गुप्तेन्द्रिय का पीडन न करे, क्योकि ऐसा करने से भी चारित्र बिगड जाता है। कामोत्तेजना साधक के लिए महामोहकर्मबन्ध—पापकर्मबन्ध का कारण है, इसलिए इसके जो भी निमित्त हैं, उनका त्याग साधु के लिए अनिवार्य है।

मूल

सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरियं च वज्जए नाणी।
मणसा वयसा काएणं, सव्वफाससहे अणगारे ॥२१॥

संस्कृत छाया

सुविशुद्धलेश्य मेधावी, परक्रियाञ्च वर्जयेद् ज्ञानी।
मनसा वचसा कायेन सर्वस्पर्शसहोऽनगार ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**सुविसुद्धलेसे**) विशुद्ध लेश्या (चित्तवृत्ति) वाला (**मेहावी नाणी**) मर्यादा मे स्थित ज्ञानी पुरुष (**मणसा वयसा काएण**) मन, वचन और काया से (**परकिरिय च वज्जए**) आत्महित मे बाधक—परभाव या दूसरे की क्रिया को वर्जित करे। क्योकि (**सव्वफाससहे अणगारे**) जो शीत, उष्ण आदि समस्त स्पर्शो को सहन करता है, वही साधु—अनगार है।

भावार्थ

विशुद्ध लेश्या—चित्त की परिणति वाला साधु-मर्यादा मे स्थित ज्ञानी साधक मन, वचन एव काया से आत्मभावो से पर अनात्मभावो की या विपयोपभोग द्वारा तथाकथित परोपकार क्रिया का त्याग करे। वास्तव मे अनगार वही है जो स्त्री-स्पर्श परीषह या शीत, उष्ण, दश, मशक, तृण आदि के समस्त स्पर्शो को समभाव से सहता है।

से उत्पन्न होने वाले ये कामभोग पाप को उत्पन्न करते हैं, ऐसा तीर्थंकरो ने कहा है।

व्याख्या

स्त्रीससर्ग-त्याग की प्रेरणा

इस गाथा मे शास्त्रकार ने स्त्री-ससर्ग और सवास से दूर रहने की प्रेरणा दी है। इसका कारण बताते हुए शास्त्रकार ने तीर्थंकरो, गणधरो आदि के कथन का हवाला देते हुए कह दिया कि ये पूर्वोक्त प्रकार के कामभोग अनेक प्रकार के पापो को उत्पन्न करते हैं। खासतौर से इस बात पर जोर दिया गया है कि पूर्व-गाथाओ मे जो कहा गया था कि स्त्री यह कहती है कि यदि केशवाली स्त्री के साथ तुम्हारा मन नही लगता है तो मैं केशो को उखाड डालू, आदि, वाहियात बातो के वाग्जाल मे कल्याणकामी साधक न आए। सौ बातो की एक बात यह है कि वह अपने अमूल्य सयमी जीवन की रक्षा के लिए हर सम्भव तरीके से स्त्री-ससर्ग एव स्त्री-सवास से दूर रहे। यही इस गाथा का रहस्य है।

मूल पाठ

एयं भय ण सेयाय, इइ से अप्पग निरु'भित्ता।
णो इत्थि णो पसु भिक्खू, णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा ॥२०॥

संस्कृत छाया

एतद् भय न श्रेयसे, इति स आत्मान निरुध्य।
नो स्त्री नो पशु भिक्षु नो स्वय पाणिना निलीयेत ॥२०॥

अन्वयार्थ

(एय भय न सेयाय) स्त्री-ससर्ग से जो खतरे पैदा होते है, वह कल्याण के लिए नही होते, (इइ से अप्पग निरु भित्ता) इसलिये साधु अपने आपको स्त्री-ससर्ग से रोक कर (णो इत्थि णो पसु णो सय पाणिणा भिक्खू णिलिज्जेज्जा) न तो स्त्री को, और न ही पशु को अपने हाथ से स्पर्श करे।

भावार्थ

स्त्री-ससर्ग से पूर्वोक्त अनेक भय पैदा होते है, इस कारण स्त्री-ससर्ग कल्याणकारी नही होते है। अत साधु स्त्री एव पशु का अपने हाथ से सस्पर्श न करे।

व्याख्या

स्त्री-ससर्ग ही नहीं स्त्री-पशु सस्पर्श से भी दूर रहे

इस गाथा मे स्त्री-ससर्ग से होने वाले खतरो और अकल्याण की ओर इगित

करते हुए शस्त्रकार स्त्री-ससर्ग ही नही, स्त्री-पशु-स्पर्श से भी सयमी साधु को वचने का निर्देश करते हैं—**णो इत्थि पाणिणा णिलिज्जेज्जा ।**

आशय यह है कि पूर्वोक्त कथनानुसार स्त्रियो की प्रार्थना तथा उनके साथ परिचय भय का कारण है, इसलिए कहा है—**एय भय ।** साथ ही यह भी कहा है कि स्त्रीसम्पर्क अशुभ-अनुष्ठान का कारण है, इसलिए वह श्रेयस्कर नही है। इन सब बातो को भली-भाँति हृदयगम करके सयमी साधु स्त्री-ससर्ग से अपने को रोक कर उत्तम मार्ग मे स्त्रय को स्थापित करे। स्त्री तथा पशु के साथ सवास-सवसति नरक ले जाने का कारण है। इसीलिए शास्त्र मे साधु की शय्या स्त्री, पशु और नपुसकवर्जित होने का विधान है। इसी कारण स्त्री-पशु का सस्पर्श भी यहाँ वर्जित बताया है।

णो सय पाणिणा णिलिज्जेज्जा—इसका एक अर्थ यह भी है कि अपने हाथ से अपनी गुप्तेन्द्रिय का पीडन न करे, क्योकि ऐसा करने से भी चारित्र बिगड जाता है। कामोत्तेजना साधक के लिए महामोहकर्मवन्ध—पापकर्मवन्ध का कारण है, इसलिए इसके जो भी निमित्त हैं, उनका त्याग साधु के लिए अनिवार्य है।

मूल पाठ

सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरियं च वज्जए नाणी ।
मणसा वयसा काएण, सव्वफाससहे अणगारे ॥२१॥

संस्कृत छाया

सुविशुद्धलेश्य मेधावी, परक्रियाञ्च वर्जयेद् ज्ञानी ।
मनसा वचसा कायेन सर्वस्पर्शसहोऽनगार ॥२१॥

अन्वयार्थ

(सुविसुद्धलेसे) विशुद्ध लेश्या (चित्तवृत्ति) वाला **(मेहावी नाणी)** मर्यादा मे स्थित ज्ञानी पुरुष **(मणसा वयसा काएण)** मन, वचन और काया से **(परकिरिय च वज्जए)** आत्महित मे वाधक—परभाव या दूसरे की क्रिया को वर्जित करे। क्योकि **(सव्वफाससहे अणगारे)** जो शीत, उष्ण आदि समस्त स्पर्शों को सहन करता है, वही साधु—अनगार है।

भावार्थ

विशुद्ध लेश्या—चित्त की परिणति वाला साधु-मर्यादा मे स्थित ज्ञानी साधक मन, वचन एव काया से आत्मभावो से पर अनात्मभावो की या विपयोपभोग द्वारा तथाकथित परोपकार क्रिया का त्याग करे। वास्तव मे अनगार वही है जो स्त्री-स्पर्श परीषह या शीत, उष्ण, दश, मशक, तृण आदि के समस्त स्पर्शो को समभाव से सहता है।

व्याख्या

अनगार पर-क्रिया का त्रियोग से त्याग करे

इस गाथा मे साधु को अपनी मौलिक मर्यादाओ का भान कराकर मन-वचन काया तीनो योगो से पर-क्रिया से विरत होने की प्रेरणा दी गई है। साधु को अपनी मौलिक मर्यादाओ का भान कराने के लिए शास्त्रकार ने साधु के लिए यहाँ पाँच विशेषणो का प्रयोग किया है—**'सुविशुद्धलेश्यावान्, मेधावी, ज्ञानी, सर्वस्पर्शसह, और अनगार।'**

सुविशुद्ध-लेश्यावान् का अर्थ है—जिसकी चित्तवृत्ति विशेष रूप से स्त्रीससर्ग के त्यागरूप होने के कारण निष्कलक—सुविशुद्ध है। मेधावी का अर्थ है—जो मर्यादा मे स्थित है। ज्ञानी का अर्थ है—जो स्व-पर, या हेय-ज्ञेय-उपादेय को या जानने योग्य पदार्थो को भली-भाँति जानता है। सर्वस्पर्शसह का अर्थ है स्त्री-स्पर्शपरीषह से लेकर अन्य सभी शीत-उष्ण, दश-मशक, तृण आदि जितने भी स्पर्श हैं, उन सबको जो समभाव से सहता है। और अनगार का अर्थ है—जो घरबार, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, गृह सम्बन्धी समस्त सासारिक रिश्ते-नाते, लेन-देन, व्यवहार, एव स्त्री बालक आदि का मोहजनित सम्पर्क छोडकर सयम मे स्थित है।

इन पाँच विशेषणो द्वारा साधु जीवन की मर्यादाएँ समझाकर शास्त्रकार मूल मुद्दे की बात कहते हैं—**'मणसा वयसा काएण परिकिरिय च वज्जए।'** यहाँ परक्रिया का मन-वचन-काया इन त्रियोग से, तथा उपलक्षण से तीन करण (करना, कराना और अनुमोदन तीनो) से त्याग करने का निर्देश किया है। परक्रिया के यहाँ लगभग चार अर्थ प्रतीत होते है—(१) आत्मभावो से अन्य परभावो अनात्मभावो की क्रिया, अथवा आत्महित मे बाधक क्रिया, (२) स्त्री आदि आत्मगुणबाधक पदार्थ के लिए जो क्रिया की जाती है, अर्थात् विषय का उपभोग देकर जो दूसरे का उपकार किया जाता है, वह परक्रिया है। (३) विषय-भोग की सामग्री देकर दूसरे की कुछ सहायता करना भी परक्रिया है, (४) दूसरे—गृहस्थ नर-नारी से अपने पैर दबवाना, पैर धुलाना आदि सेवा कराना भी परक्रिया है।

इन चारो प्रकार के अर्थो की छाया मे पूर्वोक्त पाँच विशेषणो से युक्त साधु मन, वचन और शरीर से परक्रिया का सर्वथा त्याग करे।

तात्पर्य यह है कि साधु परक्रिया (एक अर्थ के अनुसार)—औदारिक एव दिव्य कामभोग के लिए मन से भी विचार न करे, दूसरे को भी 'मन से प्रेरित न करे, मन से ऐसा विचार करने को अच्छा न समझे। इसी प्रकार वचन से एव शरीर से भी समझ लेना चाहिए। औदारिक काम-भोग के नौ भेद होते हैं, वैसे ही

दिव्य (वैक्रियक) कामभोग के भी नौ भेद हैं। इन अठारह प्रकार की परिज्ञा (अब्रह्मचर्य) का साधु त्याग करे, और १८ प्रकार से ब्रह्मचर्यव्रत को सुरक्षित रखे।

मूल पाठ

इच्चेवमाहु से वीरे, धुअरए धुअमोहे से भिक्खू ।
तम्हा अज्झत्तविसुद्धे सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वज्जासि ॥२२॥
॥त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

इत्येवमाहुः स वीर धुतरजाः धुतमोह स भिक्षु ।
तस्मादध्यात्मविशुद्ध सविमुक्त आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥२२॥
॥इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(धुअरए धुअमोहे) जिसने स्त्रीसम्पर्कजनित रज यानी कर्मों को दूर कर दिया था तथा जो रागद्वेषमोहरहित थे, (से वीरे इच्चेवमाहु) उन वीर प्रभु ने यह कहा है। (तम्हा अज्झत्तविसुद्धे) इसलिए विशुद्धात्मा या निर्मलचित्त (सुविमुक्के) और स्त्रीसम्पर्क से वर्जित (से भिक्खू) वह साधु (आमोक्खाए) मोक्षपर्यन्त (परिव्वज्जाए) सयम के अनुष्ठान मे प्रवृत्त रहे। (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ

जिसने स्त्रीसम्पर्कजनित कर्मरज दूर कर दिया था, तथा जो राग-द्वेषरहित थे, उन वीर प्रभु ने पूर्वोक्त बातें कही है, इसलिए विशुद्धात्मा या विशुद्धचित्त एव स्त्रीसम्पर्क से अच्छी तरह विमुक्त साधु मोक्षप्राप्तिपर्यन्त सयमानुष्ठान मे उद्यत रहे।

व्याख्या

अन्तिम उपदेश

इस गाथा मे अध्ययन का उपसहार करते हुए यह सूचित किया है कि इस अध्ययन मे जो भी स्त्रीपरिज्ञा सम्बन्धी बाते कही गयी हैं, वे सब परहिततत्पर, दिव्यज्ञानी, स्त्रीसम्पर्कजनित कर्मरज से मुक्त, रागद्वेष-मोहविजेता भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है। अत प्रत्येक सयमी साधु को, जो विशुद्धचेता है, स्त्रीसम्पर्क से मुक्त है, वह समस्त कर्मों के क्षय (मोक्ष) होने तक सयमपालन मे उद्यम करे।

इति शब्द समाप्ति के अर्थ मे है। बेमि (ब्रवीमि) का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार सूत्रकृतागसूत्र के चतुर्थ अध्ययन का द्वितीय उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्यासहित समाप्त हुआ।

॥ स्त्रीपरिज्ञा नामक चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

❀

पंचम अध्ययन : नरकविभक्ति

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय

चतुर्थ अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब पचम अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। इसका पूर्वापर सम्बन्ध इस प्रकार है—प्रथम अध्ययन मे स्वसमय-परसमय-प्ररूपणा की गयी है। इसके पश्चात् स्वसमय मे बोध प्राप्त करना चाहिए, यह दूसरे अध्ययन मे कहा है। सम्यक् प्रकार से बोध पाये हुए पुरुष को अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को भलीभांति सहन करना चाहिए, यह तृतीय अध्ययन मे बताया गया है। इसके पश्चात् चतुर्थ अध्ययन मे यह बताया गया है कि बोधप्राप्त साधक को स्त्रीपरीषह भी अच्छी तरह सहन करना चाहिए। अब पांचवे अध्ययन मे यह बताया जायेगा कि जो साधक उपसर्गों एव परीषहो से भय खाता है तथा स्त्री के वश मे हो जाता है, वह अवश्य नरक मे जाता है। वहाँ कैसी-कैसी भयकर वेदनाएँ होती हैं, किस-किस प्रकार से जीवो को पीडा पहुँचायी जाती है और उनकी प्रतिक्रिया नारकीय जीवो पर कैसी-कैसी होती है? इसलिए इस अध्ययन का नाम नरकविभक्ति रखा गया है। यह इस अध्ययन का अर्थाधिकार है, जिसमे नरक के घोर दु खो का वर्णन है। उपक्रम के सन्दर्भ मे यहाँ अर्थाधिकार दो प्रकार का है—अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार। इस अध्ययन का अर्थाधिकार अभी-अभी हम बता चुके हैं। इस अध्ययन के दो उद्देशक है। दोनो उद्देशको मे नरक के दु खो तथा नरकपालो द्वारा दी जाने वाली भयकर यातनाओ का हृदयस्पर्शी वर्णन है।

नरक क्या, क्यों और कैसे ?

इस ससार मे प्रत्येक जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मानुसार सुख या दु ख पाता है, साथ ही सुखो और दु खो को भोगने के लिए कोई न कोई गति, योनि या वातावरण अवश्य प्राप्त करता है। ईश्वर कर्तृत्ववादियो के अनुसार सोचे तो ईश्वर भी प्रत्येक जीव के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार ही उसे विभिन्न गति, या योनि मे पहुँचाता या प्राप्त कराता है। इसमे किसी भी प्रकार की रियायत नही होती, न रिश्वत चल सकती है। अत जब अच्छे या बुरे कर्मों का फल अवश्य मिलेगा, यह निश्चित है, तब जिन लोगो ने अच्छे कर्म किये हैं, उन्हे तो उनके शुभकर्मानुसार स्वर्ग (देवगति) या मनुष्यलोक मे स्थान मिल जाता है। परन्तु जिन लोगो ने जिन्दगीभर झूठ बोला है, चोरियाँ की हैं, हत्याएँ और कत्लें की हैं, कुशीलसेवन किया है, ममत्व

करके अनापशनाप परिग्रह रखा है, उसे उन-उन कुकृत्यो का दण्ड यदि न मिले तो जगत् मे अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। अत जगत् की सुव्यवस्था के लिए पुण्य और पाप का फल भोगने हेतु स्वर्ग (देवगति) और नरक (नरकगति) मानना अनिवार्य है। यदि ये दोनो गतियाँ न मानी जाएँगी तो कोई भी व्यक्ति शुभकार्य—पुण्यकार्य करने के लिए प्रोत्साहित नही होगा। सभी बेखटके पापकर्म मे प्रवृत्त होगे। किसी को कोई न तो पाप करने से टोक सकेगा और न ही कोई रोक सकेगा। इसलिए स्वर्ग और नरक की व्यवस्था मानना अनिवार्य है।

निक्षेप की दृष्टि से नरक के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से ६ भेद है। नाम नरक और स्थापना नरक सुगम हैं। द्रव्यनरक आगमत और नोआगमत होने के कारण दो प्रकार का है। आगम द्रव्यनरक वह है, जो पुरुप नरक को जानता है, किन्तु उसमे उपयोग नही रखता। नोआगम से द्रव्य-नरक वह है, जो ज्ञशरीर और भव्यशरीर से अतिरिक्त इसी लोक मे मनुष्यभव या तिर्यञ्चभव मे अशुभकर्म करने के कारण जो प्राणी अशुभ है, जैसे कालसौकरिक (कसाई) आदि। ये सब द्रव्यनरक कहलाते हैं। अथवा जेल, बन्दीगृह आदि जो बुरे स्थान हैं, जहाँ रहकर जीव अत्यन्त कष्ट पाता है, अथवा जहाँ नरक की-सी वेदनाएँ मिलती हैं, वे सब द्रव्यनरक हैं। अथवा कर्मद्रव्य और नोकर्मद्रव्य के भेद से द्रव्यनरक दो प्रकार का है। उनमे जो नरकवेदनीय कर्म बाँधे जा चुके है, वे एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र की दृष्टि से द्रव्यनरक हैं। नोकर्मद्रव्य की दृष्टि से द्रव्यनरक तो इसी लोक मे अशुभ रूप, रस, गन्ध और शब्द हैं। क्षेत्रनरक नरको का स्थान है, जो ८४ लाख सख्या वाले काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और अप्रतिष्ठान नामक नरको का विशिष्ट भूभाग है। कालनरक वहाँ है, जहाँ जिस नरक की जितनी स्थिति है। जो जीव नरक की आयु भोगते हैं, वे भावनरक हैं। तथा नरक के योग्य कर्म के उदय को भी भावनरक कहते हैं। अर्थात् नरक मे स्थित जीव और नरकायु के उदय से उत्पन्न असातावेदनीय आदि कर्म के उदय वाले जीव, ये दोनो ही 'भाव-नरक' कहे जा सकते हैं।

नरकविभक्ति नामक अध्ययन की रचना करके नरक एव नरक मे दिये जाने वाले भयकर दु खो का वर्णन शास्त्रकार ने इसलिए किया है कि शास्त्र के प्रारम्भ मे बन्धन को जानकर उसका त्याग करने पर जोर दिया है। इसलिए नरकायु के कर्म-बन्धन को तथा उक्त कर्मबन्धन से होने वाले कर्मविपाक (कर्मफल) को जानना साधक के लिए अत्यावश्यक है, ताकि वह नरक के दारुण दु खो को सुन-समझकर नरकगति की कारणभूत निम्नोक्त बातो से दूर रहे और स्वपरकल्याणरूप सयम साधना मे अहर्निश सलग्न रहे। स्थानाग सूत्र मे नरकगति के चार कारण बताये गये हैं—

'महारंभेण, महापरिग्गहेण पंचिदियवहेण कुणिमाहारेण ।'[1]

अर्थात्—चार कारणों से जीव नरकगति का बन्ध करता है—महारम्भ से, महापरिग्रह से, पचेन्द्रिय जीवों के वध से एव मासाहार से ।

नरक का सक्षेप मे परिचय इस प्रकार है—नरक का पर्यायवाची निरय शब्द है—निर्गतमविद्यमानमयमिष्टफल दैव कर्म सातवेदनीयाऽऽदिरूप येभ्यस्ते निरया, निर्गतमयशुभमस्मादिति निरय । अथवा नरान् कायन्ति शब्दयन्ति योग्यताया अनतिक्रमेणाऽऽकारयन्ति जन्तून् स्वस्वस्थाने इति नरका । अर्थात्—सातावेदनीयादि-रूप इष्टफल या शुभ जिनमे से निकल गये है, उन्हे निरय कहते है । अथवा प्राणियो को अपने-अपने स्थान मे दुर्लघ्यरूप से दूर से ही बुला लेते है, अथवा जहाँ वेदना के मारे जीव एक-दूसरे को सम्बोधन करके सहायता के लिए बुलाते है, वह नरक है ।

नरक सात है—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूम्रप्रभा, तम प्रभा, महातम प्रभा । इनके क्रमश ७ रूढिगत नाम है—धम्मा, वशा, शैला, अजना, अरिष्टा, मघा और माघवी । ये सात नरकभूमियाँ है, जो एक दूसरी के नीचे घनोदधि (घनाम्बु), घनवात, तनुवात और आकाश के आधार पर स्थित हैं । ये आपस मे सटकर नही है । एक दूसरी भूमि के बीच मे असख्य योजनो का अन्तर है । उन नरकभूमियो मे केवल ५ महालय नरक हैं, वे क्रमश ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, पाँच कम एक लाख और ५ आवासो मे विभक्त हैं । ये सव भूमि के अन्दर है और अनेक पटलो मे बँटे हुए है । प्रथम भूमि मे १३ पटल हैं, आगे की भूमियो मे क्रमश दो-दो पटल कम होते गये हैं । सातवी भूमि मे केवल केवल एक पटल है । रत्नप्रभा १ लाख ८० हजार योजन, शर्कराप्रभा ३२ हजार योजन, वालुकाप्रभा २८ हजार योजन, पकप्रभा २४ हजार योजन, धूम्रप्रभा २० हजार योजन, तम प्रभा १६ हजार योजन और महातम प्रभा ८ हजार योजन मोटी है ।

उन नरको मे रहने वाले जीवो की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाइस और तैंतीस सागरोपमकाल की है । वे नरक के प्राणी निरन्तर अशुभतर लेश्या, दुष्परिणाम, बुरे, बेडौल, भौंडे, भद्दे, कुरूप शरीर, असह्यतर वेदना और विक्रिया वाले होते है । वे एक दूसरे के लिए परस्पर दु ख उत्पन्न करते है । चौथी नरकभूमि से पहले पहले यानी तीन नरकभूमियो तक सक्लिष्ट परिणामी असुर (परमाधार्मिक) दु ख उत्पन्न करते हैं, पीडा देते है । नारक लोग प्राय एक दूसरे के

---

१. तत्त्वार्थसूत्र मे नरक के दो कारण बताये गये हैं—"बह्वारम्भपरिग्रहत्व च नारकस्यायुष ।" महारम्भ और महापरिग्रह ये दो नरकायुबन्ध के कारण है । —देखो तत्त्वार्थ सूत्र अ० ३ मे ।

साथ हुए वैर का स्मरण करके परस्पर कुत्तो की तरह लडते हैं। पूर्वजन्म का स्मरण करके उनकी यह वैर की गाँठ और सुदृढ हो जाती है, जिससे वे अपनी विक्रिया से तलवार, भाला, वसूला, फरसा आदि शस्त्र बनाकर उनसे तथा अपने हाथ, पैर, दाँतो और नखो से छेदन-भेदन, तक्षण और कर्तन आदि के द्वारा परस्पर अति-तीव्र दु सह दु ख उत्पन्न करते हैं।

यह परस्परकृत दु ख है। क्षेत्रजन्य दु ख का भी वहाँ कोई पार नही है। नरकभूमियो मे उत्तरोत्तर असह्य भयकर रूप, डरावनी आकृति, असह्य दुर्गन्ध, असह्य कटु और तिक्त रस, दु सह भयकर चीत्कार, आर्त्तध्यान से पीडित नारको के शब्द और दु सहशीत उष्ण आदि स्पर्श हैं। इन सबका दु ख भी कम नही है।

इन दो प्रकार के दु खो के अतिरिक्त उन्हे एक तीसरे प्रकार का दु ख और होता है, जो असुर जाति के १५ प्रकार के परमाधार्मिक असुरो[1] द्वारा उत्पन्न किया जाता है।[1] यद्यपि यह दु ख प्रारम्भ की तीन नरक-भूमियो तक ही है। ये असुर स्वभाव से ही निर्दयी होते है। अनेक सुख-साधनो के रहते हुए भी इन्हे नारकियो को लडाने मे आनन्द आता है। नारकियो को अपने सकेत पर पूर्ववैर स्मरण करके परस्पर लडते-मरते देख इन्हे बडी प्रसन्नता होती है। इस प्रकार मार-काट मे एव उससे उत्पन्न हुए दु खो के सहने मे ही नारको की जिंदगी बीतती है। ये इस दौरान कोई भी शुभ कार्य नही कर सकते। शुभ कार्य करने की भावना ही इनके चित्त मे अशुभतर लेश्याओ के कारण पैदा नही होती। आयुष्य का पूरा भोग किये बिना बीच मे वे दु खो से कदापि छुटकारा नही पा सकते, क्योकि उनकी अकाल मृत्यु नही होती।

प्रथम तीन नरको मे पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक नरकपाल किस प्रकार से वहाँ के नारकीय जीवो को दु ख और वेदना उत्पन्न करते हैं? यह निर्युक्तिकार के शब्दो मे पढिये—

अम्ब नामक प्रथम नरकपाल परमाधार्मिक अपने भवनो से नरकावासो मे जाते है और वहाँ के शरणरहित नारकीय जीवो को कुत्ते की तरह शूल आदि के प्रहार से पीडित करते हुए एक जगह से दूसरी जगह क्रीडापूर्वक उछालते हैं। उन बेचारे अनाथ जीवो को इधर से उधर घुमाते हैं। तथा उन्हे आकाश मे फैंकते है, जब वे नीचे गिरने लगते है तो उन्हे मुद्गर आदि के द्वारा मारते-पीटते हैं, शूल

---

१ १५ परमाधार्मिक देवो के नाम इस प्रकार है –

अंबे अंबरिसी चेव सामे य सबलेवि य।
रोद्दोवरुद्द काले य, महाकालेत्ति आवरे॥
असिपत्ते धणु कुंभे, वालु वेयरणीवि य।
खरस्सरे महाघोसे, एव पण्णरसाहिया॥

से बींध देते हैं, उनका गला दबोचकर जमीन पर पटक देते है तथा उनका मुँह नीचा करके बीच मे से ऊपर उठा कर आकाश तल मे छोड देते है।

पहले मुद्गर वगैरह से घायल, फिर तलवार आदि से अग-भग किये हुए उन मूर्च्छित नारको को फिर वे महापापी परमाधार्मिक कर्पणी नामक शस्त्र विशेष से काटते है, चीरकर टुकडे-टुकडे करते है। इस प्रकार चीर-चीर कर वे नारकीय जीवो के मूँग की दाल के बरावर टुकडे कर देते है। तथा बीच मे से चीरे गए नारकीय जीवो के वे पापी असुर फिर टुकडे-टुकडे करते है यह यातना अम्बर्षि नामक असुरकुमार नरकभूमि मे नारको को देते है।

तीसरे श्याम नामक असुर परमाधार्मिक तीव्र असातावेदनीय के उदय से वर्तमान दुरवस्था को प्राप्त उन पुण्यहीन नारकीय जीवो के अगोपागो का छेदन करते है, पर्वत से नीचे वज्र भूमि मे गिराते हैं, शूल आदि से उन्हे बीध डालते हैं, सुई आदि से उनके नाक मे छेद कर देते हैं, फिर रस्सी आदि से उन क्रूरकर्मा नारको को बाँधते हैं। तथा उस जगह लता (चाबुक) के प्रहार से चमडी उधेड देते है। यो शातन, पातन, बन्धन, वेधन, आदि अनेक प्रकार के दुःख उन पूर्वपापकृत नारको को श्याम नामक नरकपाल देते हैं।

सबल नामक नरकासुर पापकर्मो के उदय से उत्पन्न होने वाले नारको को खुशी से उछलते हुए कष्ट देते है। वे उन नारकियो की आँते काट कर उनमे स्थित मासविशेष रूप फिप्फिम को तथा हृदय को एव हृदय मे रहने वाले कलेजे को चीरते है। पेट की आँतो और चमडी को खीचते हैं। इस तरह नाना उपायो से शरण रहित नारकीय जीवो को वे तीव्र वेदना देते हैं, भयकर पीडा उत्पन्न करते है।

रौद्र नामक नरकपाल अपने नाम के अनुसार अति क्रूर होकर तलवार, भाला, बल्लम आदि अनेक शस्त्रो से अशुभ कर्मोदय को प्राप्त नारको को पीडा देते हैं।

उपरुद्र नामक नरकपाल नारको के सिर, बाहो, जाँघ, हाथ और पैर आदि अग-प्रत्यगो को तोड-मोड देते हैं तथा करवत से चीरते हैं। वस्तुत ऐसा कोई दुःख नही, जिसे वे पापी न देते हो।

काल नाम के नरकपाल दीर्घचुल्ली, शुण्ठक, कन्दुक और प्रचण्डक नाम की तीव्र ताप वाली भट्टियो मे नारको का पकाते हैं। तथा ऊँट के आकार की कुभी मे एव लोहे की कडाही मे नारकी जीवो को डालकर जीवित मछली की तरह वे पकाते हैं।

महाकाल नामक पाप-कर्मरत असुर नाना उपायो से नारको को पीडा देते हैं। जैसे कि वे नारकी जीवो को काटकर उसमे से कौडी के बरावर माँस का टुकडा निकालते हैं, फिर पीठ की चमडी को छीलते है और जो नारक पहले मासाहारी थे, उन्हे उनका ही वह माँस खिलाते हैं।

असि नामक नरकपाल अशुभ कर्म के उदय से दुरवस्था को प्राप्त नारको के

हाथ, पैर, जाघ, वाहे, सिर और पार्श्व आदि अग-प्रत्यगो के छोटे-छोटे टुकडे करते हैं और उन्हें घोर वेदनाएँ पहुँचाते है।

असिपत्रधनुष नामक नरकपाल असिपत्र (तलवार के समान तीखे पत्तो वाले वृक्षो के) वन को बीभत्स बनाकर उन पेडो की छाया मे विश्राम के लिए आये हुए नारकीय जीवो को तलवार आदि के द्वारा काट डालते हैं। तथा जोर की हवा चलाकर तलवार के समान तीखी धार वाले पत्तो से उनके कान, नाक, ओठ, हाथ, पैर, दाँत, छाती, नितम्ब, जाघ और भुजा को छिन्न-भिन्न एव विदारण कर डालते हैं।

कुम्भी नामक नरकपाल नारकी जीवो को व्यवस्थितरूप से मारते हैं और उन्हें ऊँट के समान आकार वाली कुम्भी मे, कडाही के समान आकार वाले लोहे के वडे बर्तन मे एव गेंद के समान गोलाकार लोहे की कुम्भी मे तथा कोठी के समान आकार वाली कुम्भी मे और इसी प्रकार के अन्य बर्तनो मे पकाते हैं।

बालुका नामक नरकपाल अरक्षित असहाय नारकी जीवो को गर्मागर्म रेत से भरे हुए बर्तन (भाड) मे डालकर चने की तरह भूनते है, उसमे से तड-तड आवाज निकलती है। उन नारको को भूनने का उनका तरीका भी अत्यन्त क्रूर है। कदम्ब के फूल के समान अत्यन्त लाल-लाल गर्म वालुका (कदम्बवालुका) पर नारकीय जीवो को रखकर फिर उन्हे आकाशतल मे इधर-उधर घुमाते है और तव भूनते हैं।

वैतरणी नामक नरकपाल वैतरणी नदी को ही विकृत कर डालते हैं। वैतरणी नदी मे मवाद, रक्त, केश और हड्डियाँ कलकल करती हुई जलधारा के साथ वहती रहती हैं। वह वडी भयानक है। उसे देखने से ही घृणा पैदा होती है। उसका पानी खारा और गर्म है। परमाधार्मिक असुर नारको को इस वैतरणी नदी मे वहा देते हैं।

खरस्वर नामक नरकपाल भी नारकीय जीवो को पीडा देने मे कोई कसर नही छोडते। वे नारको के शरीर को खम्भे की तरह सूत से नापकर उसे बीचोबीच आरे से चीरते हैं, फिर उन्ही नारको को परस्पर कुल्हाडी से कटवाते हैं। इस प्रकार उनके शरीर के अवयवो को छीलकर पतला कर देते है। वज्रमय भयकर काँटो वाले सेमर के पेड पर वे चिल्लाते हुए नारको को चढा देते है, फिर वृक्षारूढ नारको को वे जोर से खीच लेते है।

महाघोप नामक अधम नरकपाल असुर दूसरो को पीडा देकर व्याध की तरह अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वे अपनी क्रीडा के लिए नाना उपायो से नारकी जीवो को पीडा देते हैं। वेचारे नारकी जीव जव डरकर हिरन की तरह इधर-उधर भागने लगते हैं तो ये दुष्ट असुर उन्हे वध्य पशुओ की तरह चारो ओर से

घेरकर वही रोक लेते है। इस तरह वे उन नारको को नरक के उन निग्रह स्थानो मे रोककर वन्द कर देते है।

इस प्रकार नरक के असह्य दु खो की यह बोलती कहानी है, जिन्हे स्त्री-ससर्ग, व्यभिचार, हत्या, चोरी, डकैती आदि भयकर पापकर्म करने वाले जीव पाते है। कही तो वे स्वय ही आपस मे लडभिडकर या मानसिक रूप से घोर दु ख पाते हे, कही इन असुरो द्वारा विभिन्न प्रकार से दु ख दिये जाते है और कही नरक की भूमि के प्रकृतिकृत असह्य दु खो का सामना करना पडता है। नारकी जीव कितना ही रोये, चिल्लाये, हाय-तोवा मचाएँ, कोई उनकी सुनता नही, कोई उन्हे आश्वासन नही देता।

नरकविभक्ति नाम क्यो ?

इस अध्ययन का नाम नरकविभक्ति क्यो रखा गया ? यह स्पष्ट है। विभक्ति कहते है- विभाग को। इस अध्ययन मे नरक के विभिन्न विभागो के क्षेत्रीय दु खों, स्वयकृत दु खो, पारस्परिक दु खो और परमाधार्मिक असुरकृत दु खो का करुणाजनक निरूपण है। साथ ही विभिन्न नरकावासो मे तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम शीत, उष्ण आदि स्पर्श, विकराल बीभत्स रूप, भयकर दुर्गन्ध, तीव्र कटु व तिक्त रस एव भयकर चीत्कारपूर्ण शब्द आदि अशुभ विषयो का नारको को कैसा अनुभव होता है ? उनके मन पर उनकी क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ होती है ? यह सब नरकविभक्ति नामक इस अध्ययन मे वर्णित है।

अब इस सम्बन्ध मे क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

पुच्छिस्सऽह केवलिय महेसिं, कहंभितावा णरगा पुरत्था ?
अजाणओ मे मुणि ! बूहि जाण, कहं नु बाला नरय उवेंति ?॥१॥

सस्कृत छाया

पृष्टवानह केवलिन महर्षि, कथमभितापा नरका पुरस्तात् ?
अजानतो मे मुने ! ब्रूहि जानन्, कथ नु बाला नरकमुपयान्ति ? ॥१॥

अन्वयार्थ

(अह) मैंने (पुरत्था) पहले (केवलिय महेसिं) केवलज्ञानी महर्षि महावीर स्वामी से (पुच्छिस्स) पूछा था कि (णरगा कहभितावा) नरक कैसे पीडाकारी है ? (मुणि) हे मुने ! (जाण) आप इसे जानते है, अत (अजाणओ मे बूहि) न जानने वाले मुझे कहिए। (बाला) मूढ अज्ञानी जीव (कह नु) किस कारण से (नरय उवेंति) नरक को प्राप्त करते हैं ?

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं—मैंने केवलज्ञानी

महर्षि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से बहुत पहले पूछा था कि नरक कैसे पीडाकारक हैं ? मुनिशिरोमणि प्रभो ! मैं इसे नही जानता, किन्तु आप इसे जानते है। अत आप मुझे यह बतलाइए, और यह भी कहिए कि अज्ञानी मूढ जीव किस कारण से नरक मे जाते है।

व्याख्या

नरक के सम्बन्ध मे जिज्ञासा

गणधर सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्यो से अपना अनुभव सुनाते हुए एक दिन कहा था कि बहुत अर्सा हुआ, जब एक दिन मैंने श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर के समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रगट की थी—"भगवन् ! मै नरक और वहाँ होने वाले तीव्र सन्तापो से बिलकुल अनभिज्ञ हूँ। आप सर्वज्ञ है। आपसे त्रिकाल, त्रिलोक की कोई भी बात छिपी नही है। आप अनुकूल-प्रतिकूल अनेक उपसर्गों को सहने के अनेक अनुभवो मे से गुजरे है। समस्त जीवो की क्रिया-प्रतिक्रिया, वृत्ति-प्रवृत्ति को आप भलीभाँति जानते हैं। अत आप यह बताने की कृपा करें कि नरकभूमियाँ कैसे-कैसे दु खो से भरी हैं ? वहाँ के लोग इतने दु खी क्यो हैं ? वे इन दु खो के समय क्या करते होगे ? और वे हिताहित-विवेकमूढ जीव किन-किन कारणो से नरक को प्राप्त करते है ?" यही इस गाथा का आशय है।

मूल पाठ

एवं मए पुट्ठे महाणुभावे, इणमोऽब्बवी कासवे आसुपन्ने।
पवेदइस्स दुहमट्ठदुग्ग, आदीणिय दुक्कडियं पुरत्था ॥२॥

सस्कृत छाया

एव मया पृष्टो महानुभाव, इदमब्रवीत् काश्यप आशुप्रज्ञ ।
प्रवेदयिष्यामि दु खमर्थदुर्गमादीनिक दुष्कृतिक पुरस्तात् ॥२॥

अन्वयार्थ

(एव) इस प्रकार (मए) मेरे द्वारा (पुट्ठे) पूछे जाने पर (महाणुभावे कासवे आसुपन्ने) महाप्रभावक काश्यपगोत्रीय समस्त पदार्थों मे सदा शीघ्र उपयोग रखने वाले भगवान् महावीर स्वामी ने (इणमोऽब्बवी) यह कहा कि (दुहमट्ठदुग्गं) नरक दु खदायी है, तथा असर्वज्ञ पुरुषो से अज्ञेय है, (आदीणिय) वह अत्यन्त दीन जीवो का निवासस्थान है, (दुक्कडिय) उसमे पापी (दुष्कर्म करने वाले) जीव रहते हैं। (पुरत्था पवेदइस्स) यह आगे चलकर हम बतायेंगे।

भावार्थ

श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि से फरमाते है—इस प्रकार मेरे

द्वारा जिज्ञासा प्रगट करने पर अतिशयमाहात्म्यसम्पन्न, सब वस्तुओ मे सदा शीघ्र उपयोग रखने वाले, काश्यपगोत्र मे उत्पन्न श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा कि नरकस्थान अत्यन्त दु खदायक और असर्वज्ञ (छद्मस्थ) जीवो द्वारा अज्ञेय है। वे पापी और दीन जीवो के निवासस्थान है, यह मै आगे चलकर बताऊँगा।

व्याख्या

नरक के सम्बन्ध मे भगवान् महावीर का सक्षिप्त उत्तर

इस गाथा मे नरक के सम्बन्ध मे सुधर्मास्वामी द्वारा किये गये प्रश्न का भगवान् महावीर द्वारा दिया गया सक्षिप्त उत्तर बताया गया है।

सर्वप्रथम सुधर्मास्वामी ने भगवान् महावीर के लिए **'महाणुभावे'**, **'कासवे'**, **'आसुपन्ने'** इन तीन विशेषणो का प्रयोग किया है। महानुभाव का अर्थ है—चौतीस अतिशय तथा ३५ प्रकार की वाणी के माहात्म्य से सम्पन्न। काश्यप का अर्थ है—काश्यपगोत्रोत्पन्न। यह विशेषण खास वर्द्धमानस्वामी के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'आशुप्रज्ञ' का अर्थ है—सदा सर्वत्र उपयोग रखने वाले।

शास्त्रकार का कहने का आशय यह है कि इन विशेषणो से युक्त भगवान् महावीर स्वामी ने नरक के सम्बन्ध मे सक्षिप्त उत्तर यो दिया – नरकभूमि दु ख का कारण है, या बुरे कर्मो का फल होने के कारण दु खरूप है, अथवा नरकस्थान जीवो को दु ख देता है, इसलिए दु खदायी है या असातावेदनीय कर्म के उदय से होने से नरकभूमि तीव्रपीडारूप है, इसलिए यह दु खमय है। यहाँ **'दुहमट्ठदुग्ग'** पाठ है, उसका अर्थ है—नरकभूमि केवल दु ख देने के लिए ही बनी है, इसलिए दु खार्थ है, दु खनिमित्त है, या दु खप्रयोजन है। दूसरा विशेषण है—दुर्ग। नरकभूमि को पार करना कठिन है, इसलिए दुर्ग है। अथवा असर्वज्ञो द्वारा वह दुर्विज्ञेय है, क्योकि नरक को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है। नरकभूमि की विशेषता बताते हुए दो विशेषणो का प्रयोग किया है—**आदीणिय, दुक्कडिय**। वह अत्यन्त दीन प्राणियो का निवासस्थान है, जिसमे चारो ओर दीनजीव निवास करते है, इसलिए नरकभूमि आदीनिक है। तथा नरकभूमि मे बुराकर्म, पाप या पाप का फल असातावेदनीय विद्यमान रहता है, इसलिए इसे दुष्कृतिक कहा है। यहाँ **'दुक्कडिण'** पाठान्तर भी है। जिसका अर्थ है—नरकनिवासी पापीजनो ने नरक भोगने योग्य जो पूर्वजन्म मे कर्म किये हैं, वे दुष्कृती हैं।

मूल पाठ

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइ कम्माइं करति रुद्दा।
ते घोररूवे तमिसधयारे तिव्वाभितावे नरए पडत्ति ॥३॥

संस्कृत छाया

ये केऽपि बाला इह जीवितार्थिन पापानि कर्माणि कुर्वन्ति रौद्रा. ।
ते घोररूपे तमिस्रान्धकारे, तीव्राभितापे नरके पतन्ति ॥३॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक मे (रुद्दा) प्राणियो को भयभीत करने वाले (जे केइ बाला) जो अज्ञानी जीव (जीवियट्ठी) अपने जीवन के लिए (पावाइ कम्माइ करंति) हिंसा आदि पापकर्म करते हैं। (ते) वे (घोररूवे) घोर रूप वाले (तमिसधयारे) घोर अन्धकार से युक्त (तिव्वाभितावे) तीव्रतम ताप—गर्मी वाले (नरए) नरक मे (पडति) गिरते है।

भावार्थ

इहलोक मे प्राणियो को भयभीत करने वाले अज्ञानी जीव अपने जीवन की खुशहाली के लिए दूसरे प्राणियो की हिंसा आदि पापकर्म करते हैं। वे घोर विकराल रूप वाले, घोर अधेरे से युक्त तथा अत्यन्त तीव्र ताप—गर्मी वाले नरक मे गिरते है।

व्याख्या

कौन, क्यों और कैसे नरक मे जाते हैं ?

इस गाथा मे यह बताया गया है कि नरकयात्रा कौन करते हैं, क्यो करते है और कैसे नरक मे जाते है ? जो व्यक्ति स्वय रौद्र हैं, कर्म से भी रौद्र—भयकर हैं, भावो से भी रौद्र है, विचारो से भी भयकर हैं और वचन से भी रौद्र हैं। जो बाल हैं—हित मे प्रवृत्ति एव अहित मे निवृत्ति के विवेक से रहित अज्ञानी हैं। राग-द्वेष की उत्कटता के कारण जो आत्महित से अज्ञ तियच एव मनुष्य हैं। अथवा जो सिद्धान्त से अनभिज्ञ होने के कारण महारम्भ, महापरिग्रह, पचेन्द्रिय जीवो के प्राण-घात एव मासभक्षण आदि सावद्य अनुष्ठान मे प्रवृत्त हैं, वे बाल हैं।

ऐसे रौद्र एव अज्ञानी जीव नरक मे क्यो जाते है ? इसके लिए शास्त्रकार दो शब्द देते हैं—'जीवियट्ठी' एव 'पावाइ कम्माइ करंति' अर्थात्—सुख से जीवनयापन करने के लिए पापोपादानरूप कर्म करते हैं, भयकर हिंसा, आदि पापकर्म करते है। इसी कारण वे नरक मे जाते हैं।

पापकर्म से युक्त व्यक्ति किस प्रकार के नरक मे जाता है, इसके लिए शास्त्रकार ने नरक के घोररूप, तमिस्रान्धकार, और तीव्राभिताप, इन तीन विशेषणो का प्रयोग किया है। वहाँ विकराल दृश्य हैं, इसलिए नरक को घोररूप कहा है। नरक मे इतना घोर अन्धकार है कि जहाँ हाथ को हाथ भी नही सूझता, अपने नेत्र से अपना शरीर भी नही दिखाई देता। जैसे उल्लू दिन मे बहुत कम देखता है, वैसे ही

नारकीय जीव अवधिज्ञान से भी दिन मे मद-मद देख सकता है। इस सम्बन्ध मे आगम का प्रमाण प्रस्तुत है—

"किण्हलेसे ण भते ! णेरइए किण्हलेस्स णेरइय पणिहाए ओहिणा सव्वओ समता समभिलोएमाणे केवइय खेत्त जाणई ? केवइय खेत्त पासइ ? गोयमा ! णो बहुययर खेत्त जाणइ, णो बहुययर खेत्त पासइ, इत्तरिमेवय खेत्त जाणइ, इत्तरियमेव खेत्त पासइ।"

अर्थात—"भते ! कृष्णलेश्या वाला नारकी जीव नारकी जीव को अवधिज्ञान के द्वारा चारो ओर देखता हुआ कितने क्षेत्र तक जानता—देखता है ? गौतम ! वह बहुत क्षेत्र नही जानता—देखता, किन्तु थोडे ही क्षेत्र तक जानता—देखता है।"

तथा नरक मे इतनी तीव्र दु सह सन्ताप (गर्मी—उष्णता) है कि वह खैर के धधकते अगारो की महाराशि से अनन्तगुना अधिक ताप (गर्मी) से युक्त है।

ऐसे घोरतम वेदना वाले नरको मे ऐसे गुरुकर्मी जीव जाते हैं, जो विषयसुखो का त्याग नही कर पाते। जिसमे धधकती हुई आग की लपटें मौजूद है तथा जो ससारसागर का प्रधान दु ख-स्थान है, ऐसे नरक मे वे गिरते हैं। जिस नरक मे नारकी जीवो की छाती को परमाधार्मिक पैर से कुचलते है, मुँह से खून का कुल्ला करके फेंकते हैं, आरे से चीरकर उनके शरीर को दो भागो मे विभक्त कर देते हैं। जिस नरक मे भेदन किये जाते हुए प्राणियो के कोलाहल से सब दिशाएँ भर जाती है तथा चलते हुए नारको की खोपडियाँ और हड्डियाँ चट्चट् आवाज करती है, पीडा के कारण नारक जोर-जोर से चिल्लाकर कराहते हैं। कडाहो मे डालकर उनके शरीर को भून डाला जाता है, शूल से बींधकर उनका शरीर ऊपर उठाया जाता है। अत नरक मे भयकर आवाज और भयकर उत्कट दुर्गन्ध है। नारको के बदीगृह मे असह्य क्लेश के घर होते हैं, जहाँ घोर यातनाएँ उन्हे दी जाती हैं। कही कटे हुए हाथ-पैरो से खून और चर्वी का दुर्गम प्रवाह बहता है। कही निर्दयतापूर्वक नारको का सिर काटकर धड से अलग कर दिया जाता है तो कही जलती हुई गर्म सडासी के द्वारा नारको की जीभ खीच ली जाती है, कही तीखे नोकदार काँटो वाले वृक्षो से नारको का शरीर रगड कर जर्जर कर दिया जाता है। इस प्रकार जहाँ पलक झपकने भर को भी सुखशान्ति नही मिलती, अपितु लगातार दु ख, दु ख और दु ख ही चारो ओर मिलता रहता है। ऐसी भयकर नरकभूमियो मे वे जाते है, जो प्राणिवध करते है, मिथ्यावादी है, पापकर्मो से लिप्त हैं।

मूल पाठ

तिव्व तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसइ आयसुह पडुच्चा।
जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खइ सेयवियस्स किंचि ॥४॥

पागब्भि पाणे बहुण तिवाति अनिव्वते घातमुवेति बाले।
णिहो णिस गच्छइ अतकाले, अहोसिर कट्टु उवेइ दुग्ग ।।५।।

सस्कृत छाया

तीव्र त्रसान् स्थावरान् यो हिनस्ति आत्मसुख प्रतीत्य ।
यो लूषको भवत्यदत्तहारी, न शिक्षते सेवनीयस्य किंचित् ।४।।
प्रागल्भी प्राणाना बहूनामतिपाती, अनिर्वृतो घातमुपैति बाल ।
न्यग् निशा गच्छत्यन्तकाले अध शिर कृत्वोपैति दुर्गम् ।।५।।

अन्वयार्थ

(**जे आयसुहपडुच्च**) जो जीव अपने विषयसुख के निमित्त (**तसे थावरे य पाणिणो तिव्व हिंसइ**) त्रस और स्थावर प्राणियो की तीव्ररूप से हनन (हिंसा) करता है तथा (**जे लूसए होइ अदत्तहारी**) तथा जो प्राणियो का उपमर्दन करता और दूसरे की चीज को बिना दिये ले लेता है, एव (**सेयवियस्स किंचि ण सिक्खइ**) जो सेवन करने योग्य सयम का जरा-सा भी सेवन नही करता ।।४।।

(**पागब्भि**) जो पुरुष पापकर्म करने मे धृष्ट है, (**बहुण पाणे तिवाति**) अनेक प्राणियो का घात करता है, (**अनिव्वते**) जिसकी क्रोधाग्नि कभी बुझती नही, अर्थात् सदा कषायाग्नि प्रज्वलित रहती है, वह अज्ञानी जीव (**अतकाले**) अन्तिम समय मे (**णिहो णिस गच्छइ**) नीचे घोर अधकार मे चला जाता है (**अहोसिर कट्टु दुग्ग उवेइ**) और नीचे सिर करके कठोर पीडास्थान को पाता है ।।५।।

भावार्थ

जो जीव अपने वैषयिक सुख के लिए त्रस और स्थावर दोनो प्राणियो का तीव्रता के साथ वध करता है, साथ ही वह प्राणियो का उपमर्दन और दूसरे की चीज को बिना दिये ग्रहण करता है, एव जो सेवन करने योग्य सयम का जरा-सा भी सेवन नही करता है—।।४।।

जो जीव प्राणियो की हिसा करने मे बडा ढीठ है और बेखटके बहुत-से प्राणियो की हिंसा करता है, जो सदा क्रोधाग्नि से जलता रहता है। वह अज्ञ जीव नरक को प्राप्त करता है। वह मृत्यु के समय मे नीचे अन्धकार मे प्रवेश करता है और नीचा सिर करके महापीडा स्थान को प्राप्त करता है ।।५।।

व्याख्या

हिंसक, चोर आदि पापियों को नरक का दण्ड

इन दोनो गाथाओ मे नरकयात्रा के पात्रो का निरूपण किया है। शास्त्रकार के अनुसार जो जीव महामोहनीय कर्म के उदय से अपने इन्द्रिय-सुखो का लोलुप

वनकर वेखटके त्रस और स्थावर (द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीव त्रस एव पृथ्वीकाय आदि पाँच एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं) जीवो की निर्दयतापूर्वक रौद्र-परिणामो से हिसा करता है, नाना उपायो से जीवो का उपमर्दन (वध, वध आदि) करता है और अदत्ताहारी है यानी चोरी करता है विना दिये दूसरो का द्रव्य हरण कर लेता है तथा अपने कल्याण के लिए जो सेवन करने योग्य या सज्जनो द्वारा सेव्य सयम का जरा भी सेवन नही करता अर्थात्, पापकर्म के उदय के कारण जो काकमास आदि तुच्छ असेव्य वस्तु से भी विरत नही होता है ।

इसके अतिरिक्त जो प्राणी प्राणियो की हिंसा आदि पाप करने मे बडा ढीठ है, जिसे पापकर्म करने मे कोई लज्जा, सकोच या हिचक नही होती, जो वेखटके बहुत-से प्राणियो की हिसा कर देता है। प्रागल्भी का अर्थ है—प्रगल्भ— धृष्टता करने वाला । प्राणियो का अत्यन्त पात (घात) करने का जिसका स्वभाव है, उसे अतिपाती कहते हैं। शास्त्रकार का आशय यह है कि जो पुरुष अपने मतलव के अनुसार किसी धर्मशास्त्र का मनमाना अर्थ निकालता है, अथवा किसी कुशास्त्र का आश्रय लेकर हिंसा, असत्य, मद्यपान, मासाहार, मैथुनसेवन आदि को निर्दोष बताने का साहस करता है। वह कहता है, 'वेदविहिता हिंसा हिंसा न भवति ।' वेद मे जिसका विधान है, वह हिंसा हिसा नही होती । अथवा कोई मनचला यह कहता है—शिकार करना तो क्षत्रियो या राजाओ का धर्म है या कर्म है, ताकि वे इससे मनोरजन कर सकें। अथवा कई लोग इस प्रकार के श्लोक कहकर उसका मनमाना अर्थ करते हैं—

न मासभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूताना, निवृत्तिस्तु महाफला ॥

अर्थात्— मास खाने मे, शराब पीने मे और मैथुन सेवन करने मे कोई दोष नही है। यह तो जीवो की स्वभावसिद्ध प्रवृत्ति है। परन्तु इनसे निवृत्ति महाफल-दायिनी है ।

जो लोग इस प्रकार बिना किसी हिचकिचाहट के क्रूर सिंह और काले साँप के समान स्वभाव से प्राणियो का वध करते हैं, तथा जिनकी कषायाग्नि कभी शान्त नही होती, जो जानवरो की कत्ल एव मछलियो का वध करके अपनी जीविका चलाते हैं, तथा जिनके परिणाम सदा वध करने के बने रहते है, जो कदापि शान्त नही होते, ऐसे पापी जीव अपने किये हुए पापकर्मों का फल भोगने के लिए प्राणिघातक स्थान—नरक मे जाते है । जो अज्ञानी है, मरणकाल मे वह नीचे घोर अधकार मे जाता है, जहाँ उसे वाह्य प्रकाश भी नही मिलता और ज्ञान का प्रकाश भी नही । अपने किये हुए पापकर्मो के कारण सिर नीचा करके वह पापी भयकर यातनास्थान मे जा

पहुँचता है। अर्थात् ऐसे घोर अन्धकारयुक्त नरक मे जा गिरता है, जहाँ गुफा मे घुसने की तरह सिर नीचा करके जीव जाता है।

मूल पाठ

हण छिंदह भिंदह ण दहेति, सद्दे सुणित्ता परहम्मियाण ।
ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना, कखति कंनाम दिसं वयामो ।।६।।

संस्कृत छाया

जहि छिन्धि, भिन्धि दह इति शब्दान् श्रुत्वा परमाधार्मिकाणाम् ।
ते नारका भयभिन्नसज्ञा काक्षन्ति का नाम दिश व्रजाम ।।६।।

अन्वयार्थ

(हण) मारो, (छिंदह) काटो, (भिंदह) भेदन करो-तोड दो, (दह) जला दो, (इति परहम्मियाण सद्दे सुणित्ता) इस प्रकार परमाधार्मिको के शब्द सुनकर (भयभिन्नसन्ना) भय से सज्ञाहीन—मूर्च्छित (ते नारगाओ) वे नारक जीव (कखति) चाहते हैं कि (क नाम दिस वयामो) हम किस दिशा मे भागें ?

भावार्थ

नारकी जीव परमाधार्मिको के मारो, काटो, तोड दो, जला दो इत्यादि शब्द सुनकर भय से सज्ञाहीन-निश्चेष्ट हो जाते हैं और वे चाहते हैं कि हम किस दिशा मे भागे ?

व्याख्या

परमाधार्मिको के भयकर शब्द सुनकर सज्ञाहीन नारक

इस गाथा मे नारक जीवो को परमाधार्मिको द्वारा दिये गये भयजनक शब्द-जन्य दु खो का निरूपण किया गया है। तिर्यञ्चभव और मनुष्यभव को छोडकर नरक मे उत्पन्न होने वाले प्राणी अन्तर्मुहूर्त तक अण्डे से निकले हुए रोम और पख से रहित पक्षी की तरह शरीर उत्पन्न करते हैं। पत्पश्चात् पर्याप्तभाव को प्राप्त होते ही वे नारक परमाधार्मिको के अति भयकर शब्द सुनते हैं—यह पापी महारम महा-परिग्रह आदि क्रूरकर्म करके आया है अत इसे मुद्गर आदि से मारो, तलवार से काटो, इसे शूल आदि से बीध दो, भाले मे पिरो दो, इसे आग मे झोककर जला दो। ये और इस प्रकार के कर्णकटु मर्मवेधी भयकर शब्दो को सुनकर उनका कलेजा काँप उठता है। वे भय के मारे बेहोश हो जाते हैं। होश मे आते ही किंकर्तव्यविमूढ एव चचल होकर वे मन ही मन यह सोचते हैं कि अब कहाँ, किस दिशा मे जायँ ? कहाँ हमारी रक्षा होगी ? कहाँ हमे शरण मिलेगी ? हम इस महाघोर दारुण (शब्द-जन्य) दु ख से कैसे त्राण पा सकेंगे ? इस प्रकार नारकी जीवो को परमाधार्मिक असुरो के भयोत्पादक शब्दो के श्रवण मात्र से अपार दु ख होता है।

मूल पाठ

इंगालरासिं जलियं सजोतिं तत्तोवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया ।।७।।

सस्कृत छाया

अगारराशि ज्वलित सज्योति तदुपमा भूमिमनुक्रामन्त ।
ते दह्यमाना करुण स्तनन्ति अरहस्वरास्तत्र चिरस्थितिका ।।७।।

अन्वयार्थ

(जलिय) जैसे जलती हुई (इगालरासिं) अगारो की राशि (सजोतिं) तथा ज्योतिसहित (तत्तोवम) भूमि के सदृश (भूमिं) जमीन पर (अणुक्कमता) चलते हुए अतएव (डज्झमाणा) जलते हुए (ते) वे नारकीय जीव (कलुण थणति) करुण रुदन करते है। (अरहस्सरा) उनकी करुण ध्वनि स्पष्ट मालूम होती है, (तत्थ चिरट्ठितीया) ऐसे घोर नरकस्थान मे इसी स्थिति मे वे चिरकाल तक निवास करते है।

भावार्थ

जैसे जलती हुई अगारो की राशि बहुत ही तपी हुई होती है तथा आग के सहित तप्तभूमि बहुत गर्म होती है, उसी के समान अत्यन्त तपी हुई नरकभूमि पर चलते हुए नरक के जीव मानो चारो ओर से जल रहे हो, इस प्रकार बहुत जोर से करुण क्रन्दन करते है। उनका वह क्रन्दन स्पष्टरूप से सुनाई देता है। ऐसी ही स्थिति मे वे नारक चिरकाल तक वहाँ रहते है।

व्याख्या

नरक की तप्तभूमि का स्पर्श कितना दुखदायी !

यहाँ नरक की भूमि को खैर के धधकते अगारो की राशि की तथा जाज्वल्यमान अग्नि के सहित पृथ्वी की उपमा दी गई हैं। इन दोनो प्रकार की भूमियों की सी तपतपाती हुई नरक की भूमि होती है। जिस पर चलते हुए और जलते हुए नारकीय जीव जोर-जोर से रोते-चिल्लाते हैं। शास्त्रकार ने नरकभूमि को वादर अग्नि की उपमा दी है, वह दिग्दर्शनमात्र समझना चाहिए। क्योकि नरक के ताप की तुलना इस लोक की अग्नि से की नही जा सकती। वहाँ का दाह तो इस लोक के दाह से अनेक गुना अधिक है। अत महानगरके दाह से भी कई गुना अधिक ताप से जलते हुए वे नारक विलविलाते हैं, रोते-बिलखते हैं। इस प्रकार की स्थिति मे वे जघन्य १० हजार वर्ष तक और उत्कृष्टत ३३ सागरोपम तक नरक मे निवास करते हैं।

मूल पाठ

जइ ते सुया वेयरणीभिदुग्गा, णिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया ।
तरति ते वेयरणी भिदुग्गा, उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा ॥८॥

संस्कृत छाया

यदि ते श्रुता वैतरण्यभिदुर्गा निशितो यथाक्षुर इव तीक्ष्णस्रोता ।
तरन्ति ते वैतरणीमभिदुर्गामिषुचोदिता शक्तिसु हन्यमानाः ॥८॥

अन्वयार्थ

(खुरइव तिक्खसोया णिसिओ) तेज उस्तरे की तरह तीक्ष्णधारा वाली **(अभिदुग्गावेयरणी)** अत्यन्त दुर्गम वैतरणी नदी का नाम **(जइ ते सुया)** शायद तुमने सुना होगा । (ते) वे नारकी जीव **(अभिदुग्गा वेयरणी)** अतिदुर्गम वैतरणी नदी को **(तरति)** इस प्रकार पार करते हैं, **(उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा)** मानो बाण मारकर प्रेरित किये हुए हो, या भाले से बीधकर चलाए हुए मनुष्य किसी विषम नदी मे कूद पडते हो ।

भावार्थ

उस्तरे के समान तेज धारा वाली अति दुर्गम वैतरणी नदी का नाम शायद तुमने सुना होगा । जैसे बाण (डडे के अग्रभाग मे नोकदार कील लगाकर उसके द्वारा टोच मारकर बैल को चलाते है, उसे बाण कहते है) से और भाले से भेदकर प्रेरित किया हुआ मनुष्य लाचार होकर किसी भयकर नदी मे कूद पडता है, इसी तरह सताये या खदेडे जाते हुए नारकी जीव घबराकर उस नदी मे कूद पडते है ।

व्याख्या

वैतरणी की तेज धारा मे कूदने को बाध्य नारक

इस गाथा मे वैतरणी नदी का स्वरूप बताकर उसकी तेज धारा मे नारकी जीवो को किस प्रकार कूदने और पार करने को बाध्य कर दिया जाता है, यह बताया गया है ? वैतरणी नदी नरक की मुख्य विशाल नदी है । उसमे रक्त के समान खारा और गर्म जल बहता रहता है । उस्तरे के समान उसकी जलधारा बडी तेज है । उस धारा के लग जाने मे नारको के अग कट जाते हैं । नदी बहुत ही गहन एव दुर्गम है । नारकी जोव जब अत्यन्त गर्म अगार के समान तपी हुई नरकभूमि को छोडकर प्यास के मारे अपने ताप को मिटाने के लिए तथा जल मे स्नान करने की इच्छा से उस नदी मे कूदकर तैरते हैं । कई बार वे इस तरह उस नदी मे कूदने को बाध्य कर दिये जाते है, जिस तरह बैलो को आरा भोक कर या भाले से बीधकर चलाया जाता है । कितना दारुण दु ख है, कितनी विवशता है, नारको के जीवन मे !

मूल पाठ

कीलेहि विज्झंति असाहुकम्मा, नावं उविते सइविप्पहूणा ।
अन्ने तु सूलाहि तिसूलियाहि दीहाहि विद्धूण अहे करति ॥६॥

सस्कृत छाया

कीलेषु विध्यन्ति असाधुकर्माण , नावमुपयत स्मृतिविप्रहीना ।
अन्ये तु शूलैस्त्रिशूलैर्दीर्घैर्विद्ध्वाऽध कुर्वन्ति ॥६॥

अन्वयार्थ

(नाव उविते) नौका पर आते हुए नारकी जीवो के (असाहुकम्मा) परमाधार्मिक (कीलेहि विज्झति) गले मे कीलें चुभो देते है । (सइविप्पहूणा) वे नारक जीव स्मृतिरहित होकर किंकर्तव्यमूढ हो जाते हैं । (अन्ने तु) तथा दूसरे नरकपाल (दीहाहि सूलाहि तिसूलियाहि) लवे-लवे शूलो और त्रिशूलो से (विद्धूण) नारकीय जीवो को वीध कर (अहे करति) नीचे जमीन पर पटक देते हैं ।

भावार्थ

वैतरणी नदी के दु ख से उद्विग्न नारक जीव जब किसी नौका पर चढने के लिए आते है, तव उस नौका पर पहले से बैठे हुए परमाधार्मिक असुर उन वेचारे नारको के गले मे कीले चुभो देते है । अत वैतरणी के दु ख से पहले ही स्मृतिहीन बने हुए नारकी जीव इस दु ख से और अधिक स्मृतिहीन हो जाते है । वे किंकर्तव्यविमूढ होकर अपने शरण का और कोई मार्ग नही खोज पाते । कई दुष्ट नरकपाल अपने मनोविनोद के लिए उन नारको को शूलो और त्रिशूलो से बीधकर नीचे जमीन पर पटक देते हैं ।

व्याख्या

कण्ठ मे कीलें चुभाने वाले ये परमाधार्मिक !

वैतरणी नदी के खारे, गर्म तथा वदबूदार पानी से अतितप्त बेचारे नारकी जीव उस नदी मे परमाधार्मिको द्वारा चलाई जा रही काँटेदार नौका पर जब चढने लगते हैं तो उस पर पहले से चढे हुए दुष्ट परमाधार्मिक उन नारकी जीवो के गले मे कीलें चुभो देते है । पहले से वैतरणी के दु ख से सुधबुध खोये हुए बेचारे नारक इस प्रकार कठ के बीध देने से अत्यन्त स्मृतिरहित हो जाते हैं, वे होश खो बैठते हैं । उन्हे अपने कर्तव्य का विवेक सर्वथा नही रहता । कई नरकपाल तो नारकीय जीवो के साथ क्रीडा करते हुए उन स्मृतिहीन नारको को लम्बे-लम्बे शूलो और त्रिशूलो से बीध कर नीचे जमीन पर फेंक देते हैं । कितना दारुण दु ख है, नारक जीवन मे— शारीरिक भी और मानसिक भी !

मूल पाठ

केसि च बधित्तु गले सिलाओ, उदगसि बोलंति महालयसि ।
कलबुयावालुय मुम्मुरे य, लोलति पच्चति य तत्थ अन्ने ॥१०॥

सस्कृत छाया

केषा च बद्ध्वा गले शिला , उदके मज्जयन्ति महालये ।
कलम्बुकाबालुकाया मुर्मुरे च, लोलयन्ति पचन्ति च तत्राऽन्ये ॥१०॥

अन्वयार्थ

(केसि च) किन्ही नारकी जीवो के (गले) गले मे (सिलाओ बधित्तु) शिलाएँ बाँधकर (महालयसि उदगसि) अगाध जल मे (बोलति) डुबो देते हैं । (अन्ने) तथा दूसरे परमाधार्मिक (कलबुयावालुय) अत्यन्त तपी हुई लाल सुर्ख रेत मे और (मुम्मुरे) मुर्मुराग्नि मे (लोलति पचचति य) इधर-उधर घुमाते हैं तथा पकाते है ।

भावार्थ

नरकपाल किन्ही नारकी जीवो के गले मे शिलाएँ बाँधकर अगाध जल मे डुबाते हैं । कई दूसरे नरकपाल अत्यन्त तपी हुई लाल रेत पर तथा मुर्मुराग्नि पर इधर-उधर घुमाते तथा पकाते हैं ।

व्याख्या

परमाधार्मिकों का क्रूर व्यवहार

इस गाथा मे यह बताया गया है कि परमाधार्मिक नारको के गले मे बडी-बडी शिलाएँ बाँधकर क्रूरतापूर्वक उन्हे अगाधजल मे डुबा देते हैं । कई तो इतने क्रूर होते है कि उन्हे वहाँ से खीचकर वैतरणी नदी के तट पर स्थित कलम्बु के फूल के समान तपी हुई लाल सुर्ख रेत पर ले आते हैं, फिर उन्हे इधर-उधर दौडाते हैं, तथा भाड की तरह तपी हुई मुर्मुर-अग्नि मे उन्हे डालकर मास की तरह पकाते हैं, चने के समान भूनते हैं । वेचारे नारक अपने पापकर्मोदयवश इन सब दु खो को रो-रोकर सहते हैं ।

मूल पाठ

आसूरियं नाम महाभितावं, अंधतमं दुप्पतरं महंतं ।
उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, समाहिओ जत्थऽगणी झियाई ॥११॥

संस्कृत छाया

असूर्यं नाम महाभितापमन्धन्तमं दुष्प्रतरं महान्तम् ।
ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिशासु समाहितो यत्राऽग्निः ध्मायते ॥११॥

अन्वयार्थ

(आसूरिय नाम) जिसमे सूर्य नही है, ऐसा असूर्य नामक नरक (महाभि　　) महाताप से युक्त है, (अधतम दुप्पतर महत) तथा जो घने अँधेरे से परिपूर्ण है, दु ख से पार करने योग्य एव　बहुत बडा है। (जत्थ) तथा जहाँ (उड्ढ अहेय तिरिय दिसासु) ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा एव तिर्यग्दिशाओ मे अर्थात् सभी दिशाओ मे (समाहिओ अगणी झियाइ) प्रज्वलित अग्नि सदा जलती रहती है, ऐसे नरको मे पापी जीव जाते हैं।

भावार्थ

जिसमे सूर्य का अभाव है, जो महाताप से युक्त है, जो सघन अन्धकार से भरा है, जो दु ख से पार करने योग्य है एव बहुत बडा है। जहाँ ऊपर, नीचे और तिरछे यानी समस्त दिशाओ मे प्रज्वलित आग निरन्तर जलती रहती है। ऐसे नरको मे पापी जीव जाते है।

व्याख्या

नरक की भयकरता कितनी ?

इस गाथा मे नरक के कुछ विशेषणो का प्रयोग करके उसकी भयकरता का दिग्दर्शन कराया गया है। सर्वप्रथम विशेषण 'आसूरिय' है, जिसका अर्थ होता है—जिसमे सूर्य नही रहता, ऐसा एक असूर्य नाम का नरक है, जो कुम्भी के-से आकार का तथा घोर अन्धेरे से भरा होता है। अथवा सभी नरको को असूर्य कहते हैं। वह सूर्य से रहित होते हुए भी सूर्य से भी अधिक प्रचण्ड ताप से युक्त होता है। मगर होता है सघन अन्धकार से परिपूर्ण, दुस्तर—जिसका कोई ओर-छोर नही दिखता, इतना विशाल और बडा होने से पार किया जाना कठिन है। ऐसे विशाल लम्बे-चौडे और गहरे नरक मे पापी प्राणी जाते है, रहते है। साथ ही नरक मे ऊँची, नीची, तिरछी सभी दिशाओ मे व्यवस्थित रूप से लगाई गई आग सतत जलती रहती है। कही-कही 'समाहिओ' के बदले 'समस्सिओ' पाठ भी है, जिसका अर्थ होता है—जिस नरक मे बहुत दूर-दूर तक ऊपर उठी हुई आग की लपटें सतत जलती रहती हैं। ऐसे नरक मे बेचारे पापी प्राणी कहाँ सुख-चैन से एक क्षण भी रह सकते हैं ?

मूल पाठ

जसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे, अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो।
सया य कलुण पुण घम्मठाण, गाढोवणीय अतिदुक्खधम्म ॥११॥

छाया

यस्मिन् गुहाया ज्वलनेऽतिवृत्तोऽविजानन दह्यते लुप्तप्रज्ञ　।
सदा च करुण पुनर्घर्मस्थान, गाढोपनीतमतिदु खधर्मम् ॥१२॥

अन्वयार्थ

(जसी) जिस नरक मे (गुहाए जलणे) गुफा अर्थात् उष्ट्रिका की-सी आकृति वाले नरक मे स्थापित अग्नि मे (अतिउट्टे) आवृत होकर (अविजाणओ) अपने पाप को न जानता हुआ (लुत्तपण्णो) सज्ञाहीन होकर नारक जीव (डज्झइ) जलता रहता है। (सया य) जो नरक सदा (कलुण) करुणाजनक है, (घम्मठाण) पूर्णरूप से ताप का स्थान है तथा (गाढोवणीय) जो नरक पापी जीवो को बलात्कार से—अनिवार्यरूप से मिलता है। (अतिदुक्खधम्म) अत्यन्त दु ख देना ही जिसका स्वभाव है। ऐसे स्थान मे पापी नारकजीव जाते हैं।

भावार्थ

जिस नरक मे गुफा (उष्ट्रिका) के आकार मे स्थापित की हुई आग मे घिरा हुआ नारकी जीव अपने पाप को न जानता हुआ सज्ञाहीन होकर सदा जलता रहता है। नरकभूमि करुणाजनक है और पूरा का पूरा ताप का स्थान है। पापी जीवो को यह भूमि जबरन प्राप्त होती है, अत्यन्त दु ख देना ही उसका स्वभाव है। पापकर्म से ही वह प्राप्त होती है।

व्याख्या

गुफामय आग मे सदा जलते हुए ये नारकी

इस गाथा मे ऐसी नरकभूमि का करुणाजनक निरूपण है, जहाँ बेचारे नारकी जीव जबरन ऊँट के आकार की बनी हुई गुफानुमा नरकभूमि मे बलात् धकेल दिये जाते हैं। वहाँ चारो ओर आग ही आग होती है। उस धधकती आग मे झुलसते हुए वे बेचारे अपने पाप से अनभिज्ञ तथा सज्ञाहीन नारक अवधि के विवेक से रहित होकर त्राहि-त्राहि मचाते है। यह नरक सदा सर्वदा अति करुण है, पूर्णतया ताप का स्थान है, अत्यन्त पापी जीवो को यह नरक बलात् प्राप्त होता है। पापी जीव ही ऐसे स्थान मे जाते हैं। इस नरक का स्वभाव ही अतिदु ख देने का है। आँख का एक पलक मारने जितने समय तक भी यहाँ सुखपूर्वक विश्राम नही मिलता। सदा दु ख ही दु ख भोगते रहना है।

मूल पाठ

चत्तारि अगणीओ समारभित्ता, जहि कूरकम्माऽभितविति बालं।
ते तत्थ चिट्ठ तऽभितप्पमाणा मच्छा व जीवतुवजोइपत्ता ॥१३॥

सस्कृत छाया

चतसृष्वग्नीन् समारभ्य, यस्मिन् क्रूरकर्माणोऽभितापयन्ति बालम्।
ते तत्र तिष्ठन्त्यभितप्यमाना मत्स्या इव जीवन्त उपज्योति प्राप्ता ॥१३॥

अन्वयार्थ

(जंहि) जिस नरक भूमि मे (कूरकम्मा) क्रूर कर्म करने वाले परमाधार्मिक असुर (चत्तारि अगणीओ) चारो दिशाओ मे चार अग्नियाँ (समारभित्ता) प्रज्वलित करके (बाल) अज्ञानी नारकी जीव को (अभितविंति) तपाते है। (ते) वे नारकी जीव (जीवतुवजोइपत्ता मच्छा व) जीते-जी आग मे डाली मछली की तरह (अभि-तप्पमाणा) ताप पाते—तडफते हुए (तत्थ) उसी जगह (चिट्ठत) स्थित—पडे रहते है।

भावार्थ

उन नरको मे क्रूरकर्मा परमाधार्मिक चारो दिशाओ मे चार अग्नियाँ जलाकर अज्ञानी नारको को उनमे तपाते है। जैसे जीती हुई मछली आग मे डाली जाने पर वह तडफडाती है, वैसे ही बेचारे नारक इस आग मे तपते रहते हैं और वही आग मे जलते हुए पडे रहते हैं।

व्याख्या

नारको पर कहर बरसाने वाले क्रूरकर्मा नरकपाल

इस गाथा मे यह बताया गया है कि क्रूर एव निर्दयता की प्रतिमूर्ति नरक-पाल नारको पर किस प्रकार कहर बरसाते हैं। वे अकारण ही चारो दिशाओ मे आग जलाकर पूर्वजन्म मे पाप किये हुए अज्ञानी नारकी जीव को भट्टी की तरह अत्यन्त ताप देते हुए पकाते है। नारक को भी आग के पास जबरन धकेल देते हैं। बेचारे नारकी अपने क्रूर पापकर्मवश उसी महादु खद नरक मे पैदा होते हैं, चिरकाल तक रहते है, और फिर उसी जगह स्थित रहते हैं। आग मे डाली हुई जीवित मछली जैसे परवशता के कारण अन्यत्र नही जा सकती, उसी जगह स्थित रहती है, वैसे ही नारक भी वही स्थित रहते हैं, इधर-उधर नही जा सकते।

मूल

संतच्छणं नाम महाहिताव, ते नारया जत्थ असाहुकम्मा ।
हत्थेहि पाएहि य बधिऊण, फलगं व तच्छति कुहाडहत्था ।।१४।।

संस्कृत छाया

सतक्षण नाम महाभिताप, ते नारका यत्र असाधुकर्माण ।
हस्तैश्च पादैश्च बद्ध्वा फलकमिव तक्ष्णुवन्ति कुठारहस्ता ।।१४।।

अन्वयार्थ

(महाहिताव) महान् ताप देने वाला (संतच्छण नाम) सतक्षण नामक एक नरक है, (जत्थ) जिसमे (असाहुकम्मा) बुरा कर्म करने वाले (कुहाडहत्था) हाथो मे

कुल्हाडी लिये हुए (ते नारया) वे नरकपाल (हत्थेहि, पाएहि य बधिऊण) उनके हाथो और पैरो को बाँधकर (फलग व तच्छति) लकडी के तख्ते की तरह छीलते हैं।

भावार्थ

सतक्षण नामक एक नरक है, वह प्राणियो को महान् ताप देने वाला है। उस नरक मे घोर निर्दयी परमाधार्मिक हाथो मे कुल्हाडे लिए रहते है। वे नारकी जीवो के हाथ-पैर बॉधकर काष्टफलक के समान कुठार से कॉटते-छीलते है।

व्याख्या

सतक्षण नरक मे कुल्हाडा लिए हुए परमाधार्मिक

इस गाथा मे सतक्षण नामक नरक का परिचय दिया गया है कि वहाँ क्रूर-कमकर्ता निर्दयी नरकपाल हाथ मे कुल्हाडा लिये रहते है, और ज्योही नारकी जीव सामने दिखाई देता है, त्योही उस पर टूट पडते हैं और उसके हाथ-पैर बाँधकर लकडी के छीलने की तरह कुल्हाडे से उन्हे काट देते है।

मूल पाठ

रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे भिन्नुत्तमंगे वरिवत्तयता ।
पयंति ण णेरइए फुरते, सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥१५॥

सस्कृत छाया

रुधिरे पुन वर्च समुच्छ्रितागान् भिन्नोत्तमागान् परिवर्तयन्त ।
पचन्ति नैरयिकान् स्फुरत सजीवमत्स्यानिवायसकवल्याम् ॥१५॥

अन्वयार्थ

(पुणो) फिर (रुहिरे वच्चसमुस्सिअगे) जिनका रक्त मे लिप्त शरीर—अग मल के द्वारा फूल गया है, (भिन्नुत्तमगे) जिनका सिर चूर-चूर कर दिया गया है, (फुरते) और जो पीडा के मारे छटपटा रहे हैं, (णेरइए) ऐसे नारकी जीवो को (वरिवत्तयता) परमाधार्मिक असुर ऊपर-नीचे, उलट-पलट करते हुए (सजीवमच्छेव) जीवित मछली की तरह (अयोकवल्ले) लोहे की कडाही मे (पयति) पकाते हैं।

भावार्थ

जिन नारकी जीवो का सिर नरकपालो द्वारा पहले चूर-चूर कर दिया गया है, तथा जिनके अग मल के द्वारा सूज गए है, नरकपाल उन नारकी जीवो का रक्त निकाल कर उसे पहले गर्म लोहे की कडाही मे डालते है, फिर उसमे जीती हुई मछली की तरह छटपटाते हुए नारकी जीवो को डालकर रक्त मे पकाते है।

अन्वयार्थ

(जहिं) जिस नरक भूमि मे (कूरकम्मा) क्रूर कर्म करने वाले परमाधार्मिक असुर (चत्तारि अगणीओ) चारो दिशाओ मे चार अग्नियाँ (समारभित्ता) प्रज्वलित करके (बाल) अज्ञानी नारकी जीव को (अभितविंति) तपाते है। (ते) वे नारकी जीव (जीवतुवजोइपत्ता मच्छा व) जीते-जी आग मे डाली मछली की तरह (अभितप्पमाणा) ताप पाते—तडफते हुए (तत्थ) उसी जगह (चिट्ठत) स्थित—पडे रहते है।

भावार्थ

उन नरको मे क्रूरकर्मा परमाधार्मिक चारो दिशाओ मे चार अग्नियाँ जलाकर अज्ञानी नारको को उनमे तपाते है। जैसे जीती हुई मछली आग मे डाली जाने पर वह तडफडाती है, वैसे ही बेचारे नारक इस आग मे तपते रहते है और वही आग मे जलते हुए पडे रहते हैं।

व्याख्या

नारको पर कहर बरसाने वाले क्रूरकर्मा नरकपाल

इस गाथा मे यह बताया गया है कि क्रूर एव निर्दयता की प्रतिमूर्ति नरकपाल नारको पर किस प्रकार कहर बरसाते हैं। वे अकारण ही चारो दिशाओ मे आग जलाकर पूर्वजन्म मे पाप किये हुए अज्ञानी नारकी जीव को भट्टी की तरह अत्यन्त ताप देते हुए पकाते है। नारक को भी आग के पास जबरन धकेल देते हैं। बेचारे नारकी अपने क्रूर पापकर्मवश उसी महादु खद नरक मे पैदा होते हैं, चिरकाल तक रहते हैं, और फिर उसी जगह स्थित रहते हैं। आग मे डाली हुई जीवित मछली जैसे परवशता के कारण अन्यत्र नही जा सकती, उसी जगह स्थित रहती है, वैसे ही नारक भी वही स्थित रहते हैं, इधर-उधर नही जा सकते।

मूल

संतच्छणं नाम महाहिताव, ते नारया जत्थ असाहुकम्मा ।
हत्थेहि पाएहि य बधिऊण, फलगं व तच्छति कुहाडहत्था ॥१४॥

संस्कृत छाया

सतक्षण नाम महाभिताप, ते नारका यत्र असाधुकर्माण ।
हस्तैश्च पादैश्च बद्ध्वा फलकमिव तक्ष्णुवन्ति कुठारहस्ता ॥१४॥

अन्वयार्थ

(महाहिताव) महान् ताप देने वाला (सतच्छण नाम) सतक्षण नामक एक नरक है, (जत्थ) जिसमे (असाहुकम्मा) बुरा कर्म करने वाले (कुहाडहत्था) हाथो मे

कुल्हाडी लिये हुए (ते नारया) वे नरकपाल (हत्थेहि, पाएहि य बधिऊण) उनके हाथो और पैरो को बाँधकर (फलग व तच्छति) लकडी के तख्ते की तरह छीलते है।

भावार्थ

सतक्षण नामक एक नरक है, वह प्राणियो को महान् ताप देने वाला है। उस नरक मे घोर निर्दयी परमाधार्मिक हाथो मे कुल्हाडे लिए रहते है। वे नारकी जीवो के हाथ-पैर बाँधकर काष्टफलक के समान कुठार से काँटते-छीलते है।

व्याख्या

सतक्षण नरक मे कुल्हाडा लिए हुए परमाधार्मिक

इस गाथा मे सतक्षण नामक नरक का परिचय दिया गया है कि वहाँ क्रूर-कर्मकर्ता निर्दयी नरकपाल हाथ मे कुल्हाडा लिये रहते है, और ज्योही नारकी जीव सामने दिखाई देता है, त्योही उस पर टूट पडते है और उसके हाथ-पैर बाँधकर लकडी के छीलने की तरह कुल्हाडे से उन्हे काट देते है।

मूल पाठ

रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे भिन्नुत्तमंगे वरिवत्तयता ।
पयंति ण णेरइए फुरते, सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥१५॥

सस्कृत छाया

रुधिरे पुन वर्च समुच्छ्रितागान् भिन्नोत्तमागान् परिवर्तयन्त ।
पचन्ति नैरयिकान् स्फुरत सजीवमत्स्यानिवायसकवल्याम् ॥१५॥

अन्वयार्थ

(पुणो) फिर (रुहिरे वच्चसमुस्सिअगे) जिनका रक्त मे लिप्त शरीर—अग मल के द्वारा फूल गया है, (भिन्नुत्तमगे) जिनका सिर चूर-चूर कर दिया गया है, (फुरते) और जो पीडा के मारे छटपटा रहे है, (णेरइए) ऐसे नारकी जीवो को (वरिवत्तयता) परमाधार्मिक असुर ऊपर-नीचे, उलट-पलट करते हुए (सजीवमच्छेव) जीवित मछली की तरह (अयोकवल्ले) लोहे की कडाही मे (पयति) पकाते हैं।

भावार्थ

जिन नारकी जीवो का सिर नरकपालो द्वारा पहले चूर-चूर कर दिया गया है, तथा जिनके अग मल के द्वारा सूज गए है, नरकपाल उन नारकी जीवो का रक्त निकाल कर उसे पहले गर्म लोहे की कडाही मे डालते है, फिर उसमे जीती हुई मछली की तरह छटपटाते हुए नारकी जीवो को डालकर रक्त मे पकाते हैं।

व्याख्या

छटपटाते नारको को गर्म रक्तपूर्ण कडाही मे

इस गाथा मे परमाधार्मिक असुरो द्वारा नारको का रक्त निकाल कर उन्हे कडाही मे उबलते हुए गर्मागर्म रक्त मे झौक देने का करुण वर्णन है। इतना ही नही, पहले उनकी खोपडी फोडकर चूर-चूर कर दी जाती है, फिर उनके शरीर से खून निकालकर कडाही मे डाला जाता है, तत्पश्चात् उनके शरीर जब मल से सूज जाते हैं और जिंदी मछली की तरह पीडा के कारण छटपटाने लगते हैं, जब उन्हे ज्यो के त्यो अधोमुख उठाकर लोहे की कडाही मे डालकर पकाते है। जिस समय उन नारको को पकाया जाता है, उस समय असह्य वेदना से विकल होकर वे अपने अगो को इधर-उधर पछाडते हैं। पर क्रूर नरकपालो को उन पर कोई दया नही आती।

मूल पाठ

नो चेव ते तत्थ मसीभवंति, ण मिज्जती तिव्वभिवेयणाए।
तमाणुभाग अणुवेदयता, दुक्खति दुक्खी इह दुक्कडेण ॥१६॥

सस्कृत ।

नो चैव ते तत्र मषीभवन्ति, न म्रियन्ते तीव्राभिवेदनया।
तमनुभागमनुवेदयन्त दु खयन्ति दु खिन इह दुष्कृतेन ॥१६॥

अन्वयार्थ

(तत्थ) नरक की उस आग मे (ते) वे नारकी जीव (**नो चेव मसीभवति**) जलकर भस्म नही हो जाते, (**तिव्वभिवेयणाए**) नरक की तीव्र पीडा से भी (**ण मिज्जती**) वे मरते नही हैं, किन्तु (**तमाणुभाग अणुवेदयता**) नरक के तीव्रपीडारूप उक्त कर्मफल के भोगते हुए वे वही रहते हैं। (**इह दुक्कडेण**) इस (मनुष्य) लोक मे किये हुए दुष्कर्मों—पापकर्मों के कारण वे (**दुक्खी दुक्खति**) नारकी तीव्र पीडा से दु खित होकर दु ख पाते रहते है।

भावार्थ

वे नारकी जीव नरक की उस अग्नि मे जलकर स्वाहा नही हो जाते, और न ही वे नरक की तीव्र यातना से मरते है, किन्तु बहुत काल तक वे नरक के तीव्र पीडारूप उक्त कर्मफल को भोगते हुए वही रहते है। इस लोक मे किये हुए दुष्कर्मों के फलस्वरूप वे वहाँ नरक की तीव्र पीडा से दु खी होकर दु ख पाते रहते है।

व्याख्या

न भस्मीभूत, न मृत, फिर भी चिरकाल तक दु खित

इस गाथा मे नारकी जीवो की विशेपता का वर्णन करते हुए शास्त्रकार

कहते हैं कि लोग सोचते होगे कि जब उन नारको को आग मे डालकर इतना जलाया जाता है तो क्या वे भस्मीभूत नही हो जाते ? उन्हे छेदन-भेदन-ताडन आदि करके इतनी पीडा दी जाती है, क्या फिर भी वे मरते नही है ?

शास्त्रकार कहते हैं—'नो चेव ते तत्थ ण मिज्जती तिव्वभिवेयणाए ।' अर्थात् वे नारकी जीव पूर्वोक्तरूप से बहुत बार पकाये जाने पर भी वे उस आग मे जलकर भस्म नही हो जाते । 'ण मिज्जती तिव्वभिवेयणाए' इसका एक अर्थ और भी निकलता है, वह यह कि वे जैसी तीव्रतम वेदना का अनुभव करते हैं, उसकी तुलना —उपमा आग मे डाली हुई मछली आदि को होने वाली वेदना से नही दी जा सकती । अत वे वर्णनातीत अनुपमेय वेदना का अनुभव करते है । अथवा तीव्र वेदना होने पर भी अपने किये हुए कर्मों का फलभोग शेष रहने के कारण वे नारकी जीव मरते नही हैं, अपितु जब तक आयुष्य है, तब (दीर्घकाल) तक पूर्ववर्णनानुसार सर्दी एव गर्मी आदि की पीडा का अनुभव करते हुए तथा परमाधार्मिको द्वारा किये गये स्वकर्म-फलस्वरूप दहन (जलाना) छेदन, भेदन, तक्षण (छीलना), त्रिशूल और शूल मे बीधना, कुम्भी मे पकाना, खड्ग के-से तेज धारवाले पत्तो से काटना, वृक्ष पर चढाना, नदी मे डुबाना तथा परस्पर एक-दूसरे के द्वारा उत्पन्न किये हुए दु खो को भोगते हुए, वे वही रहते हैं । नरकवासी जीव पूर्वजन्मकृत हिंसा आदि १८ पाप-स्थानरूप पापो के फलस्वरूप निरन्तर उत्पन्न दु ख से दु खित होते रहते हैं । उन्हे क्षणभर के लिए भी सुखशान्ति या दु ख से मुक्ति नही मिलती ।

मूल पाठ

तहिं च ते लोलणसंपगाढे, गाढं सुतत्त अगणिं वयति ।
न तत्थ साय लहती भिदुग्गे, अरहियाभितावा तहवी तविंति ॥१७॥

सस्कृत छाया

तस्मिश्च ते लोलनसम्प्रगाढे, गाढ सुतप्तमग्नि व्रजन्ति ।
न तत्र सात लभन्तेऽभिदुर्गेऽरहिताभितापान् तथापि तापयन्ति ॥१७॥

अन्वयार्थ

(लोलणसपगाढे) नारकी जीवो के चलने से भरे हुए (तहिं) उस नरक मे (गाढ) अत्यन्त (सुतत्त) अच्छी तरह तपी हुई (अगणि) अग्नि के पास (वयति) जब वे नारक जाते हैं । (अभिदुग्गे तत्थ) तब उस अतिदुर्गम अग्नि मे (साय न लहती) वे सुख नही पाते । यद्यपि वे (अरहियाभितावा) नारक तीव्रताप से युक्त होते हैं (तहवि) तथापि (तविंति) उन्हे नरकपाल तपाते है ।

भावार्थ

नारकी जीवो के सचार से परिपूर्ण नरक मे शीत से पीडित नारक

जब अपनी ठड मिटाने के लिए नरक मे अत्यन्त तीव्ररूप से जलती हुई उत्तप्त आग के पास जाते है, मगर वहाँ भी बेचारे सुख नही पाते। एक ओर तो बेचारे नारक उस भयकर अग्नि के तीव्र ताप से सतप्त होते है फिर भी दूसरी ओर वे परमाधार्मिक असुर उन्हे और अधिक जलाते तथा सतप्त करते है।

व्याख्या

एक तो नरक का ताप, उस पर नरकपालो का सन्ताप

इस गाथा मे शास्त्रकार नारकी जीवो को होने वाले दोहरे दु खो का वर्णन करते हैं। निष्कर्ष यह है कि नरक महान् दु खो का स्थान है। इसमे कही भी, किसी भी कोने मे, किसी भी समय मे, किसी भी स्थिति मे, किसी भी निमित्त से कोई सुख नही है। काल की कोठरी की तरह चारो ओर दु ख ही दु ख से नरक भरे है। फिर जीव चाहता तो सुख ही है। नारकी जीव भी अत्यन्त शीत के दु ख से बचने के लिए अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि के पास जाते हैं, परन्तु वह आग तो अत्यन्त दाहक होती है, उसमे वे झुलसने लगते हैं। जाते है सुख की आशा से, पर मिलता है, पहले से भी अधिक दु ख। वहाँ भी उन्हे जरा-सा भी सुख नही मिलता। आश्चर्य तो यह है कि एक ओर तो वे बेचारे नारकी जीव उस आग मे पहले से ही अत्यन्त तपे हुए होते हैं, उस पर दुष्ट परमाधार्मिक असुर और अधिक ताप तरह-तरह से देते हैं। उनके जले पर नमक छिडकते रहते है।

मूल

से सुच्चइ नगरवहे व सद्दे दुहोवणीयाणि पयाणि तत्थ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा, पुणो पुणो ते सरह दुहेति ॥१८॥

सस्कृत छाया

अथ श्रूयते नगरवध इव शब्द , दु खोपनीतानि पदानि तत्र।
उदीर्णकर्मण उदीर्णकर्माणः पुन पुनस्ते सरभस दु खयन्ति ॥१८॥

अन्वयार्थ

(से) इसके पश्चात् (तत्थ) उस नरक मे (नगरवहे व सद्दे) नगरवध (शहर मे कत्लेआम) के समय होने वाले कोलाहल के-से शब्द (सुच्चइ) सुनाई पडते हैं। साथ ही वहाँ (दुहोवणीयाणि पयाणि) दु ख से भरे करुणाजक शब्द भी सुनाई देते हैं। (उदिण्णकम्मा ते) जिनके मिथ्यात्व आदि जनित कर्म उदय मे आए हुए है, वे परमाधार्मिक नरकपाल (उदिण्णकम्माण) जिनके पापकर्म उदय (फल देने की दशा) मे आये हुए है, उन नारकी जीवो को (पुणो पुणो) वार-वार (सरह) तीव्र वेग से (दुहेंति) पीडित करते है।

भावार्थ

जैसे किसी नगर मे दगा या कत्लेआम (सामूहिक वध) होते समय नगरनिवासी जनता का भयकर कोलाहल सुनाई देता है, उसी तरह् नरक मे भी नारकी जीवो का हाहाकार से भरा भयकर रुदन शब्द सुनाई देता है, उन शब्दो के सुनने से सहृदय पुरुष को करुणा पैदा हो जाती है। जिनके मिथ्यात्व आदि कर्म उदय मे आ गए है, वे परमाधार्मिक असुर जिनके पापकर्म उदय (फल देने की स्थिति) मे आ गए है, उन नारको को पुन पुन उत्साहपूर्वक पीडा देते हैं।

व्याख्या

नरक के जीवो का भयकर हाहाकार और दुख

इस गाथा मे नरक मे होने वाले करुणापूर्ण महान् हाहाकार को नगर मे होने वाले कत्लेआम के समय के हाहाकार के साथ तुलना की गई है। 'से' शब्द यहाँ 'अथ'—'इसके पश्चात्' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् नरक के जीवो पर जब शीत, उष्ण आदि के भयकर तीव्र प्राकृतिक दुख, पारस्परिक दु.ख एव परमाधार्मिक कृत दुख एकदम टूट पडते है, तब वे जो आर्तनाद करते है, करुणाजनक विलाप करते हैं, हे मात ! हे तात ! बडा कष्ट है, मैं अनाथ और अशरण हूँ, कहाँ जाऊँ, कैसे इस कष्ट से बचूं ? मेरी रक्षा करो ! इस प्रकार के करुणाप्रधान शब्दो मे वे पुकार करते है, उस समय का कोलाहल इतना भयकर होता है कि उसे सुनकर कान के पर्दे फट जाते है। उस कोलाहल की उपमा शास्त्रकार ने नगर मे होने वाले दगे या सामूहिक वध के समय होने वाले कोलाहल से दी है। वस्तुत नरक का कोलाहल नगरवध के समय के कोलाहल से भी कई गुना बढकर तेज, मर्मभेदी एव करुणोत्पादक होता है।

गाथा के उत्तरार्द्ध मे शास्त्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से एक बात की ओर इगित करते हैं—'उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा सरह दुहेंति।' नारकी जीवो को दुख कौन देता है ? तथा उन्हे ये सब दुख क्यो प्राप्त होते है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार का कथन है कि जिनके पापकर्म उदयावस्था को प्राप्त हुए है, उन्हे ही ये सब नरकगत दुख प्राप्त होते है, तथा जिनके मिथ्यात्व, हास्य, रति आदि उदय मे विद्यमान है, वे परमाधार्मिक असुर नारको को बार-बार भयकर क्रूरता, द्वेष, रोष आदि आवेश मे आकर असह्य दुख देते है।

मूल पाठ

पाणेहि ण पावा विओजयंति, तं भे पवक्खामि जहातहेण।
दण्डेहि तत्थ सरयंति बाला, सव्वेहि दण्डेहि पुराकएहि ॥१९॥

संस्कृत छाया

प्राणै पापा वियोजयन्ति, तद्भवदभ्य प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन ।
दण्डैस्तत्र स्मरयन्ति बाला सर्वैं दण्डै पुराकृतै ॥१९॥

अन्वयार्थ

(पावा) पापी नरकपाल (पाणेहिं विओजयति) नारकी जीवो के अगो को काटकर अलग-अलग कर देते है, (त) इसका कारण मैं (भे) आपको (जहातहेण) यथार्थरूप से (पवक्खामि) कहूँगा। (बाला) अज्ञानी नरकपाल (दडेहिं) नारकी जीवो को दण्ड देकर (सव्वेहिं पुराकएहिं दडेहिं) उनके दण्ड के कारणभूत समस्त पूर्वकृत पापो का (सरयति) स्मरण कराते हैं।

भावार्थ

पापात्मा परमाधार्मिक असुर नारकी जीवो के अगो को काटकर अलग अलग कर देते है, इसका कारण मैं आपको बताऊँगा। वास्तव मे वे अज्ञानी नरकपाल नरक के जीवो के द्वारा पूर्वजन्म मे दूसरे प्राणियो को दिये गए दण्ड (पूर्वजन्मकृत दण्डरूप समस्त पापकर्मो) के अनुसार ही दण्ड देकर उन्हे उनके पूर्वकृत पापकर्मों की याद दिलाते है।

व्याख्या

पूर्व दिये गए दड के अनुसार ही दड

इस गाथा मे नरकपालो द्वारा वर्तमान नरकभव मे नारकीयो को दिये जाने वाले दण्ड का मूल कारण वताया गया है कि पापकर्मा नरकपाल नारकी जीवो के अगो को काट-काट कर उन्हे पृथक्-पृथक् कर देते है, इसके पीछे कौन-सा कारण है ? इसका कारण सर्वज्ञ वीरप्रभु स्वय बताने की कृपा करते है। विवेकमूढ परमाधार्मिक असुर नारको को नाना प्रकार का दण्ड देते समय उन्हे उनके द्वारा पूर्वजन्म मे किये हुए कर्मों का इस प्रकार स्मरण कराते है—"मूर्ख ! तू बडे हर्ष के साथ प्राणियो का मास काट-काट कर खाता था, तथा उनका रक्त पीता था एव मदिरापान व परस्त्रीगमन करता था। अपने किये हुए उन पापकर्मो को याद कर। अब उन्ही पापकर्मो का फल भोगते समय तू इस प्रकार क्यो चिल्लाता है ? क्यो हायतोबा मचाता है ? इस प्रकार परमाधार्मिक नरकपाल नारकी जीवो द्वारा पूर्वजन्म मे दूसरे प्राणियो को जो जो दण्ड दिये हैं—हानि पहुँचाई है, उन सभी का स्मरण कराते हुए तदनुसार दण्ड (दु खरूप) देकर उन्हे पीडित करते हैं।

मूल पाठ

ते हम्ममाणा णरगे पडति, पुन्ने दुरूवस्स महाभितावे ।
ते तत्थ चिट्ठति दुरूवभक्खी, तुट्टति कम्मोवगया किमीहिं ॥२०॥

संस्कृत छाया

ते हन्यमाना नरके पतन्ति, पूर्णे दुरूपस्य महाभितापे ।
ते तत्र तिष्ठन्ति दुरूपभक्षिण , त्रुट्यन्ते कर्मोपगता कृमिभि ।।२०।।

अन्वयार्थ

(हम्ममाणा ते) परमाधार्मिको के द्वारा मारे जाते हुए वे नारकी जीव (महाभितावे) महासन्ताप देने वाले (दुरूवस्स पुण्णे) विष्ठा और मूत्र आदि बीभत्स रूपो से परिपूर्ण (नरगे) दूसरे नरक मे (पडति) गिरते हैं । (ते तत्थ) वे वहाँ पर (दुरूवभक्खी) मल-मूत्र आदि घिनौनी कुरूप चीजो का भक्षण करते हुए (चिट्ठति) चिरकाल—बहुत लबे आयुष्यकाल तक रहते है और (कम्मोवगया) कर्मो के वशीभूत होकर (किमीहिं) कीडो के द्वारा (तुट्टति) काटे जाते हैं ।

भावार्थ

नरकपालो द्वारा मारे जाते हुए वे नारकी जीव, उस नरक से निकल कर दूसरे ऐसे नरक मे गिरते है, जो मल, मूल, मवादि आदि गदी बीभत्स कुरूप वस्तुओ से भरा है तथा वहाँ वे मल-मूत्र आदि घिनौनी वस्तुओ का भक्षण करते हुए चिरकाल—दीर्घ आयुष्यकाल तक रहते है और वहाँ कीडो के द्वारा काटे जाते हैं ।

व्याख्या

कितनी गदी नरकभूमि मे निवास ?

इस गाथा मे यह बताया गया है कि नारकी जीव एक नरक मे से निकलकर दूसरे नरक मे जाते हैं । वे सोचते है, चलो, इस नरकभूमि से तो छुट्टी मिलेगी, अव दूसरी नरकभूमि मे जाकर सुख से रहेगे, परन्तु उनकी यह आशा धूल मे मिल जाती है, दूसरी नरकभूमि उसे भी वदतर और चढकर दु खदायी मिलती है । वहाँ मल, मूत्र, मवाद आदि ही खाने-पीने को मिलते है, तथा रहने को भी मल-मूत्र, मवाद आदि गदी चीजो से भरे स्थान मिलते हैं । नरक की कालकोठरी जेल की कई गुना अधिक भयकर होती है । ऐसे असह्य दु खप्रद एव गदगी न मे नारकी जीव घुट-घुट कर अपनी लम्बी आयु पूरी करते हैं, तुर्रा यह कि नरकपालो द्वारा उत्पन्न किये हुए एव परस्पर एक दूसरे रित कीडे उन्हें रात-दिन काटते रहते हैं ।[१] यह सब पापकर्मों की लीला है ।

---

[१] न सम्बन्ध मे आगम का पाठ प्रस्तुत है—"छट्ठीसत्तमासु ण पुढवीसु नेरइया पहू महताइ लोहिकुथुरूवाइ विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स काय समतुरगेमाणा अणुघायमाणा अणुघायमाणा चिट्ठति ।" नारकी जीव छठी और सातवी नरकभूमि मे अत्यन्त वडा रक्त का कुन्थुआ (कीडा) वनाकर परस्पर एक दूसरे के शरीर को हनन करते हैं ।

संस्कृत छाया

प्राणै पापा वियोजयन्ति, तद्भवदभ्य प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन ।
दण्डैस्तत्र स्मरयन्ति बाला सर्वै दण्डै पुराकृतै ॥१९॥

अन्वयार्थ

(पावा) पापी नरकपाल (पाणेहिं विओजयति) नारकी जीवो के अगो को काटकर अलग-अलग कर देते हैं, (त) इसका कारण मैं (भे) आपको (जहातहेण) यथार्थरूप से (पवक्खामि) कहूँगा। (बाला) अज्ञानी नरकपाल (दडेहिं) नारकी जीवो को दण्ड देकर (सव्वेहिं पुराकएहिं दडेहिं) उनके दण्ड के कारणभूत समस्त पूर्वकृत पापो का (सरयति) स्मरण कराते है।

भावार्थ

पापात्मा परमाधार्मिक असुर नारकी जीवो के अगो को काटकर अलग अलग कर देते है, इसका कारण मैं आपको बताऊँगा। वास्तव मे वे अज्ञानी नरकपाल नरक के जीवो के द्वारा पूर्वजन्म मे दूसरे प्राणियो को दिये गए दण्ड (पूर्वजन्मकृत दण्डरूप समस्त पापकर्मो) के अनुसार ही दण्ड देकर उन्हे उनके पूर्वकृत पापकर्मो की याद दिलाते है।

व्याख्या

पूर्व दिये गए दड के अनुसार ही दड

इस गाथा मे नरकपालो द्वारा वर्तमान नरकभव मे नारकीयो को दिये जाने वाले दण्ड का मूल कारण बताया गया है कि पापकर्मा नरकपाल नारकी जीवो के अगो को काट-काट कर उन्हे पृथक्-पृथक् कर देते हैं, इसके पीछे कौन-सा कारण है ? इसका कारण सर्वज्ञ वीरप्रभु स्वय बताने की कृपा करते हैं। विवेकमूढ परमाधार्मिक असुर नारको को नाना प्रकार का दण्ड देते समय उन्हे उनके द्वारा पूर्वजन्म मे किये हुए कर्मों का इस प्रकार स्मरण कराते हैं—"मूर्ख ! तू बडे हर्ष के साथ प्राणियो का मास काट-काट कर खाता था, तथा उनका रक्त पीता था एव मदिरापान व परस्त्रीगमन करता था। अपने किये हुए उन पापकर्मो को याद कर। अब उन्ही पापकर्मो का फल भोगते समय तू इस प्रकार क्यो चिल्लाता है ? क्यो हायतोबा मचाता है ? इस प्रकार परमाधार्मिक नरकपाल नारकी जीवो द्वारा पूर्वजन्म मे दूसरे प्राणियो को जो जो दण्ड दिये हैं—हानि पहुँचाई है, उन सभी का स्मरण कराते हुए तदनुसार दण्ड (दु खरूप) देकर उन्हे पीडित करते हैं।

मूल पाठ

ते हम्ममाणा णरगे पडति, पुन्ने दुरूवस्स महाभितावे ।
ते तत्थ चिट्ठति दुरूवभक्खी, तुट्टंति कम्मोवगया किमीहिं ॥२०॥

सस्कृत छाया

ते हन्यमाना नरके पतन्ति, पूर्णे दुरूपस्य महाभितापे ।
ते तत्र तिष्ठन्ति दुरूपभक्षिण , त्रुट्यन्ते कर्मोपगता कृमिभि ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**हम्ममाणा ते**) परमाधार्मिको के द्वारा मारे जाते हुए वे नारकी जीव (**महाभितावे**) महासन्ताप देने वाले (**दुरूवस्स पुण्णे**) विष्ठा और मूत्र आदि बीभत्स रूपो से परिपूर्ण (**नरगे**) दूसरे नरक मे (**पडति**) गिरते हैं । (**ते तत्थ**) वे वहाँ पर (**दुरूवभक्खी**) मल-मूत्र आदि घिनौनी कुरूप चीजो का भक्षण करते हुए (**चिट्ठति**) चिरकाल—बहुत लवे आयुष्यकाल तक रहते है और (**कम्मोवगया**) कर्मो के वशीभूत होकर (**किमीहिं**) कीडो के द्वारा (**तुट्टति**) काटे जाते हैं ।

भावार्थ

नरकपालो द्वारा मारे जाते हुए वे नारकी जीव, उस नरक से निकल कर दूसरे ऐसे नरक मे गिरते है, जो मल, मूल, मवादि आदि गदी बीभत्स कुरूप वस्तुओ से भरा है तथा वहाँ वे मल-मूत्र आदि घिनौनी वस्तुओ का भक्षण करते हुए चिरकाल—दीर्घ आयुष्यकाल तक रहते है और वहाँ कीडो के द्वारा काटे जाते हैं ।

व्याख्या

कितनी गदी नरकभूमि मे निवास ?

इस गाथा मे यह बताया गया है कि नारकी जीव एक नरक मे से निकलकर दूसरे नरक मे जाते हैं । वे सोचते हैं, चलो, इस नरकभूमि से तो छुट्टी मिलेगी, अब दूसरी नरकभूमि मे जाकर सुख से रहेगे, परन्तु उनकी यह आशा धूल मे मिल जाती है, दूसरी नरकभूमि उसे भी बदतर और बढकर दुखदायी मिलती है । वहाँ मल, मूत्र, मवाद आदि ही खाने-पीने को मिलते हैं, तथा रहने को भी मल-मूत्र, मवाद आदि गदी चीजो से भरे स्थान मिलते हैं । नरक की कालकोठरी जेल की कालकोठरी से कई गुना अधिक भयकर होती हैं । ऐसे असह्य दुखप्रद एव गदगी भरे बीभत्स स्थान मे नारकी जीव घुट-घुट कर अपनी लम्बी आयु पूरी करते है, इस पर भी तुर्रा यह कि नरकपालो द्वारा उत्पन्न किये हुए एव परस्पर एक दूसरे द्वारा प्रेरित कीडे उन्हे रात-दिन काटते रहते हैं ।[1] यह सब पापकर्मों की लीला है ।

---

१ इस सम्बन्ध मे आगम का पाठ प्रस्तुत है—"छट्ठीसत्तमासु ण पुढवीसु नेरइया पहू महताइ लोहिकुथुरूवाइ विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स काय समतुरगेमाणा अणुघायमाणा अणुघायमाणा चिट्ठति ।" नारकी जीव छठी और सातवी नरकभूमि मे अत्यन्त बडा रक्त का कुन्थुआ (कीडा) बनाकर परस्पर एक दूसरे के शरीर को हनन करते हैं ।

मूल पाठ

सया कसिणं पुण घम्मठाणं गाढोवणीय अतिदुक्खधम्म ।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देह, वेहेण सीस सेऽभितावयति ॥२१॥

सस्कृत छाया

सदा कृत्स्न पुनर्घर्मस्थान, गाढोपनीतमतिदु खधर्मम् ।
अन्दूषु प्रक्षिप्य विहृत्य देह, वेधेन शीर्ष तस्याभितापयन्ति ॥२१॥

अन्वयार्थ

(सया कसिण पुण घम्मठाण) नारकी जीवो के रहने का पूरा का पूरा स्थान सदा गर्म होता हैं, (गाढोवणीय) और वह स्थान उन्हे गाढबन्धन से बद्ध (निधत्त-निकाचितरूप) कर्मो के कारण प्राप्त हुआ है। (अतिदुक्खधम्म) अत्यन्त दु ख देना ही उस स्थान का धर्म—स्वभाव है। (अदूसु पक्खिप्प) नरकपाल नारकी जीवो के शरीर को वेडी आदि बन्धनो मे डालकर (देह विहत्तु) उनके शरीर को तोड-मरोड कर तथा (वेहेण सीस) उनके मस्तक मे छिद्र करके (अभितावयति से) उन्हे पीडित करते है।

भावार्थ

नारकी जीवो के रहने का सारा का सारा स्थान सदा गर्म रहता है। वह स्थान उन्हे निधत्त निकाचितरूप गाढबन्धन से बद्ध कर्मो के कारण प्राप्त हुआ है। उस स्थान का स्वभाव अत्यन्त दु ख देना है। उस स्थान मे नारकी जीवो के शरीर को तोड मरोड कर तथा उसे बेडी आदि बन्धनो मे डालकर उनके मस्तक मे छेद करके नरकपाल उन्हे दु.खित करते है।

व्याख्या

दु खो और सन्तापो से भरा नरकालय

इस गाथा मे नारक जीवो के रहने के स्थान का वर्णन किया गया है। कोई यह न समझे कि नरक मे कही तो कम गर्म स्थान होगा, शास्त्रकार स्वय समाधान करते है कि नारको के आवासस्थान मे कही भी किसी भी समय कोई भी कोना ऐसा नही होता, जो गर्म न हो, समूचा स्थान सदैव उष्ण रहता है। उसमे नरक के जीव सिकते रहते है। उस स्थान का वातावरण सदा ही दु खमय रहता है। कही भी और कदापि सुख नही मिल सकता। स्थानकृत दु ख के अतिरिक्त नरकपालो द्वारा उन्हे वेडी आदि बन्धनो मे जकड दिया जाता है, फिर उनके अगोपाग तोड-मरोडे जाते है, तथा उसके मस्तक को शूल से वीधकर पीडा दी जाती है। उनके अगो को फैलाकर उनमे इस तरह कील ठोकते हैं जैसे चमडे को फैलाकर उसमे कील ठोकी जाती है। नरकस्थान और उसमे इतने दु ख की प्राप्ति उनके निधत्त-निकाचित कर्मों का परिणाम है।

मूल पाठ

छिंदति बालम्स खुरेण नक्क, उट्ठेवि छिंदति दुवेवि कण्णे ।
जिब्भ विणिक्कस्स विहत्थिमित्त, तिक्खाहि सूलाहिऽभितावयंति ।।२२।।

संस्कृत छाया

छिन्दन्ति बालम्य क्षुरेण नासिकामोष्ठावपि छिन्दन्ति द्वावपि कर्णौ ।
जिह्वा विनिष्कास्य वितस्तिमात्रा तीक्ष्णाभि शूलाभिरभितापयन्ति ।।२२।।

अन्वयार्थ

(**बालस्स**) अविवेकी नारकी जीव की नाक को, नरकपाल (**खुरेण**) उस्तरे से (**छिंदति**) काट देते है, साथ ही (**उट्ठेवि**) उनके दोनो ओठ भी और (**दुवेवि कण्णे**) दोनो कान भी (**छिंदति**) काट डालते है। तथा (**जिब्भ विहत्थिमित्त विणिक्कस्स**) बित्ताभर जीभ बाहर खीचकर (**तिक्खाहि सूलाहि**) उसमे तीखे शूल चुभोकर (**अभितावयति**) सन्ताप देते हैं।

भावार्थ

नरकपाल नारकी जीवो की नासिका, दोनो ओठ और दोनो कान तेज धार वाले उस्तरे से काट लेते है तथा उनकी जीभ को एक बित्ता (वितस्ति) भर बाहर खीच उसमे तीखे शूल भोक देते हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त पीडा देते हैं।

व्याख्या

परमाधार्मिकों द्वारा अगो का छेदन और उत्पीडन

इस गाथा मे नरकपालो द्वारा नारकी जीवो के विविध अगो के छेदन, वेधन और उत्पीडन की क्रूरता का वर्णन है। पूर्वगाथाओ मे उक्त कथनानुसार वे परमाधार्मिक असुर नारकी जीवो को उनके पापो की याद दिला-दिलाकर सदैव नाना वेदनाओ से युक्त नारको की नासिका, दोनो ओठ और दोनो कान काट लेते है। तथा मद्य, मास और रस के लम्पट और मिथ्या भाषण करने वाले जीवो की जिह्वा एक बित्ता बाहर खीचकर उसमे तीखे शूल भोक कर पीडा देते हैं। नारको को अपने पापकर्मों की कितनी भारी सजा मिलती है?

मूल पाठ

ते तिप्पमाणा तलसपुडव, राइदिय तत्थ थणति बाला ।
गलति ते सोणिअपूयमंसपज्जोइया खारपइद्धियगा ।।२३।।

संस्कृत छाया

ते तिप्यमानास्तालसपुटा इव रात्रिदिव तत्र स्तनन्ति बाला ।
गलन्ति ते शोणितपूयमास प्रद्योतिता क्षारप्रदिग्धागा ।।२३।।

अन्वयार्थ

(तिप्पमाणा) जिनके अगो से खून बह रहा है, ऐसे (ते) वे (बाला) अज्ञानी नारक (तालसपुडव) सूखे ताल के पत्तो के समान (राइ दिय) रातदिन (तत्थ) उस नरक मे (थणति) जोर-जोर से चिल्लाते रहते है। (पज्जोइया) आग मे जलाकर (खारपइद्धियगा) फिर उन अगो पर खार (नमक आदि) लगा देते है, जिससे (सोणिअपूयमस) उनके अगो से निरन्तर खून, मवाद और मास (गलति) गिरते रहते है।

र्थ

वे अज्ञानी नारकी जीव अपने अगो से खून टपकाते हुए सूखे हुए ताल के पत्तो के समान रातदिन आर्तशब्द करते रहते हैं। तथा आग मे जलाकर बाद मे उन अगो पर खार लगाये हुए वे नारकी जीव अपने अगो से रक्त, मवाद और मास टपकाते रहते है।

व्याख्या

नारको के अगों से रक्तादि-स्राव एव आर्तनाद

इस गाथा मे नारकी जीवो के अगो से रक्त, मवाद आदि के टपकते रहने तथा दु खपीडित होने के कारण अहर्निश आर्तनाद करने का वर्णन किया गया है।

परमाधार्मिक असुरो ने जिन नारको के नाक, ओठ और कान काट लिये हैं, उनके उक्त अगो से रातदिन रक्त, मवाद और मास टपकते रहते हैं, वे जिस स्थान मे रहते है, वहाँ रातदिन वे विवेकमूढ ताल के सूखे पत्तो के समान सदा आर्तनाद करते रहते हैं। जिन अगो को आग मे झुलसा दिया जाता है, उन पर ये असुर खार छिडकते रहते हैं, उन्ही अगो से वे खून, मवाद और मास टपकाते रहते है। कितना दु खमय एव शोक-क्रन्दन से पूर्ण जीवन है नारको का ?

मूल पाठ

जइ ते सुता लोहितपूयपाइ बालागणी तेअगुणा परेण ।
कुभी महताहियपोरसीया, समुस्सिता लोहियपूयपुण्णा ॥२४॥

सस्कृत छाया

यदि ते श्रुता लोहितपूयपाचिनी बालाग्निना तेजोगुणा परेण ।
कुम्भी महत्यधिकपौरुषीया, समुच्छ्रता लोहितपूयपूणा ॥२४॥

अन्वयार्थ

(लोहितपूयपाइ) रक्त और मवाद को पकाने वाली (बालागणी तेअगुणा परेण) नई सुलगाई हुई अग्नि के ताप के समान जिसका गुण है, अर्थात् जो अत्यन्त तेज ताप से युक्त है (महता) बहुत विशाल है, (अहियपोरसीया) पुरुष के प्रमाण मे

भी अधिक प्रमाणयुक्त (**लोहियपूयपुण्णा**) रक्त और पीव से भरी हुई, (**समुस्सिता**) ऊँची (**कुभी जइ ते सुता**) ऐसी कुभी नामक नरकभूमि कदाचित् तुमने सुनी होगी ।

भावार्थ

खून और मवाद को पकाने वाली ताजी सुलगाई हुई आग के प्रखर तेज से युक्त तथा पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाणवाली, रक्त और पीव से भरी हुई कुम्भी नामक नरकभूमि का नाम कदाचित् तुमने सुना होगा ।

व्याख्या

रक्त और मवाद से पूर्ण कुभी कैसी और कितनी बड़ी ?

फिर सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से भगवद्वचन कहते है—"नरक मे कुम्भी नामक एक नरकभूमि है, जिसका स्वभाव रक्त और मवाद को पकाना है । वह ताजी प्रदीप्त अग्नि के ताप से युक्त है । वह कुम्भी बहुत बडी है और पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाण वाली है, तथा वह ऊँट के आकार की बहुत ऊँची है । वह रक्त और मवाद से भरी रहती है । वह कुम्भी चारो ओर आग से जलती रहती हे । देखने मे भी वह अत्यन्त घृणास्पद एव बीभत्स है । कुम्भी का वर्णन शास्त्रकार ने क्यो किया ? इसका समाधान अगली गाथा मे देखिए ।

मूल पाठ

पक्खिप्प तासु पययंति बाले, अट्टस्सरे ते कलुण रसंते ।
तण्हाइया ते तउतबतत्तं पज्जिज्जमाणाऽट्टतर रसति ।।२५।।

संस्कृत छाया

प्रक्षिप्य तासु प्रपचन्ति बालान् आर्त्तस्वरान् तान् करुण रसत ।
तृष्णार्दितास्ते त्रपुताम्रतप्त पाय्यमाना आर्त्तस्वर रसन्ति ।।२५।।

अन्वयार्थ

(**तासु**) रक्त और मवाद से भरी हुई उन कुम्भियो मे (**बाले**) अज्ञानी तथा (**अट्टस्सरे**) आर्तनाद करते हुए एव (**कलुण रसते**) करुणस्वर से विलाप करते हुए नारकी जीवो को (**पक्खिप्प**) डालकर (**पययंति**) पकाते हैं । (**तण्हाइया**) प्यास से व्याकुल (**ते**) वे नारकी जीव (**तउतबतत्त**) नरकपालो के द्वारा तपा हुआ सीसा और तांबा (**पज्जिज्जमाणा**) पिलाये जाने पर (**अट्टतर रसति**) आर्त्तस्वर से रुदन करते हैं ।

भावार्थ

आर्तनादपूर्वक करुण क्रन्दन करते हुए अज्ञानी नारकी जीवो को परमाधार्मिक असुर रक्त और मवाद से भरी हुई कुम्भी मे डालकर पकाते हैं । जब वे प्यास से व्याकुल होते है तो नरकपाल उन बेचारो को गर्म सीसा

और तांबा गलाकर उनके मुँह मे जबर्दस्ती उडेल देते है, जिससे वे बेचारे नारक आर्तस्वर से रुदन करते है।

व्याख्या

प्यास बुझाने के लिए पिघला हुआ गर्म सीसा और तांबा

इस गाथा मे नारको की दु खगाथा का रोमाञ्चकारी वर्णन दिया गया है। ताजी सुलगाई हुई आग के तीव्र तेज से जलती हुई तथा रक्त, मवाद, मास, शरीर के कटे-फटे, सडे-गले अवयव एव गन्दे-घिनौने पदार्थों से भरी, बदबूदार पूर्वोक्त कुम्भी मे अरक्षित तथा आर्तनादपूर्वक करुणस्वर से विलाप करते हुए अज्ञानी नारकी जीव को नरकपाल जबरन डालकर पकाते है। प्यास से व्याकुल नारकी जीव जब पानी मांगते है तो दुष्ट नरकपाल उन्हे यह याद दिलाते हुए कि *'तुम्हें तो मद्य बहुत प्रिय था'* लो पीओ इसे, यो कहकर तपाया हुआ सीसा और तांबा उनके मुँह मे जबर्दस्ती उँडेल देते है। उन्हे पीते हुए वे बहुत जोर से आर्त्तनाद करते है, रोते-बिलखते हैं, बहुत ही आजीजी करते है, पर क्रूर परमाधार्मिक बिलकुल दया या रियायत उन पर नही करते।

मूल पाठ

अप्पेण अप्पं इह वचइत्ता, भवाहमे पुव्वसते सहस्से ।
चिट्ठति तत्थ बहुकूरकम्मा, जहाकडं कम्म तहासि भारे ।। २६ ।।

सस्कृत छाया

आत्मनाऽऽत्मानमिह वञ्चयित्वा भवाधमान् पूर्वं शतसहस्रश ।
तिष्ठन्ति तत्र बहुक्रूरकर्माण, यथाकृत कर्म तथाऽस्य भार ।।२६।।

अन्वयार्थ

(इह) इस मनुष्यभव मे (**अप्पेण अप्प वचइत्ता**) अपने आप ही खुद की वचना (ठगी) करके (**पुव्वसते सहस्से भवाहमे**) पूर्वकाल मे लुब्धक (व्याध) आदि सैंकडो और हजारो नीच (अधम) भवो को प्राप्त करके (**बहुकूरकम्मा तत्थ चिट्ठति**) बहुक्रूरकर्मी जीव उस नरक मे रहते हैं। (**जहाकड कम्म तहा से भारे**) पूर्वजन्म मे जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार ही उसे पीडा प्राप्त होती है।

भावार्थ

इस मनुष्यजन्म मे थोडे-से सुख के लोभ मे आकर जो अपने आपकी वचना स्वय करते है, वे इससे पूर्व सैंकडो और हजारो बार शिकारी, मच्छीमार आदि नीचातिनीच योनियो मे जन्म पाकर फिर अत्यन्त क्रूरकर्मी वे जीव नरक मे निवास करते हैं। जिस जीव ने पूवजन्म मे जैसा कर्म किया है, उसे उसके अनुसार ही पीडारूप फल प्राप्त होता है।

व्याख्या

जैसा और जितना दुष्कर्म : वैसा और उतना ही दु ख

इस गाथा मे शास्त्रकार कर्मसिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट बताते है कि जिस प्राणी ने जिस प्रकार से किसी जीव को क्षति पहुँचाई है, उसे वैसे ही रूप मे तदनुसार क्षति पहुँचती है। जैसा दु ख जिसने दूसरे जीव को दिया है, उसे वैसा ही दु ख मिलता है। जो व्यक्ति दूसरो को धोखा देकर या गला काटकर खुश होता है, शास्त्रकार कहते हैं—'अप्पेण अप्प इह वचइत्ता।' ऐसा जीव मनुष्यभव मे दूसरो को धोखा देता है, वह अपने आप को धोखा देता है, क्योकि जिस प्रकार से उसने दूसरो को ठगा है, उसे उसी सिक्के मे उसका भुगतान करना होगा। दूसरे प्राणी के घातरूप अल्पसुख के लोभ से जो जीव अपने आपकी वचना करता है, वह अनेक भव करता हुआ सैकडो और हजारो बार मच्छीमार, व्याध, मल्लाह आदि अधम जातियो मे जन्म लेता है। उन जन्मो मे वह विषयलम्पट तथा पुण्यविमुख होकर उक्त दुष्कर्म के फलस्वरूप महाघोर और अतिदारुण नरकस्थान को पाप करता है।

नरक मे रहने वाले क्रूरकर्मीजीव पूर्वजन्म के वैरभाव को स्मरण करके परस्पर एक-दूसरे को मार-पीट, गालीगलौज आदि करके दु ख उत्पन्न करते है। इस प्रकार शास्त्रकार की दृष्टि से वे चिरकाल तक निवास करते है।

'जहाकड कम्म तहासि भारे'—अर्थात् जिस जीव ने पूर्वजन्म मे जैसे और जिस नीच अध्यवसाय से नीच और उससे भी नीच कर्म हँस-हँसकर किये हैं, उस जीव को वेदना भी उसी प्रकार की तीव्र या तीव्रतर होती है। वह वेदना अपने आप से भी होती है, दूसरे के द्वारा भी मिलती है और दोनो से भी होती है। जो पूर्वजन्म मे मासाहारी थे, उनको यहाँ नरक मे भी उनका ही मास आग मे पकाकर खिलाया जाता है। जो पूर्वजन्म मे मद्य पीते थे, उनको भी अपने ही रक्त को उबाल कर गर्म-गर्म उनके मुँह मे उँडेला जाता है। पूर्वजन्म मे जो किसी प्राणी का रक्त पीते थे, उन्हे भी गर्म सीसा पिघला कर पिलाया जाता है। पूर्वज म मे शिकारी या मच्छीमार बनकर जो मृग या मछली आदि का घात करते थे, वे यहाँ उसी तरह काटे और मारे जाते हैं। जो मिथ्याभाषण, पैशुन्य, परनिन्दा आदि करते थे, उनके मिथ्याभाषण आदि पापो का स्मरण कराकर उनकी जीभ काट ली जाती है। जो पूर्वजन्म मे दूसरे का द्रव्य हरण करते थे, उनके अगोपाग काट लिये जाते है, जो परस्त्रीसेवन करते थे, उनका अण्डकोश काट लिया जाता है, तथा उन्हे शाल्मलिवृक्ष का आलिगन कराया जाता है। इसी तरह जो महारम्भी एव महापरिग्रही तथा क्रोध, मान, माया, लोभ (कषाय) से ओतप्रोत थे, उन्हे नरकपालो द्वारा जन्मान्तर के महारम्भ आदि का स्मरण दिलाकर उसी तरह का दु ख दिया जाता है। इसलिए

और तॉबा गलाकर उनके मु ह मे जबर्दस्ती उडेल देते हैं, जिससे वे बेचारे नारक आर्तस्वर से रुदन करते है।

व्याख्या

प्यास बुझाने के लिए पिघला हुआ गर्म सीसा और तॉबा

इस गाथा मे नारको की दु खगाथा का रोमाञ्चकारी वर्णन दिया गया है। ताजी सुलगाई हुई आग के तीव्र तेज से जलती हुई तथा रक्त, मवाद, मास, शरीर के कटे-फटे, सडे-गले अवयव एव गन्दे-घिनौने पदार्थों से भरी, बदबूदार पूर्वोक्त कुम्भी मे अरक्षित तथा आर्तनादपूवक करुणस्वर से विलाप करते हुए अज्ञानी नारकी जीव को नरकपाल जबरन डालकर पकाते है। प्यास से व्याकुल नारकी जीव जब पानी मॉगते है तो दुष्ट नरकपाल उन्हे यह याद दिलाते हुए कि **'तुम्हें तो मद्य बहुत प्रिय था'** लो पीओ इसे, यो कहकर तपाया हुआ सीसा और तॉबा उनके मु ह मे जबर्दस्ती उँडेल देते हैं। उन्हे पीते हुए वे बहुत जोर से आर्तनाद करते है, रोते-विलखते हैं, बहुत ही आजीजी करते है, पर क्रूर परमाधार्मिक बिलकुल दया या रियायत उन पर नही करते।

मूल पाठ

अप्पेण अप्पं इह वचइत्ता, भवाहमे पुव्वसते सहस्से ।
चिट्ठति तत्थ बहुकूरकम्मा, जहाकड कम्म तहासि भारे ॥ २६॥

सस्कृत छाया

आत्मनाऽऽत्मानमिह वञ्चयित्वा भवाधमान् पूर्वं शतसहस्रश ।
तिष्ठन्ति तत्र बहुक्रूरकर्माण, यथाकृत कर्म तथाऽस्य भार ॥२६॥

अन्वयार्थ

(इह) इस मनुष्यभव मे (**अप्पेण अप्प वचइत्ता**) अपने आप ही खुद की वचना (ठगी) करके (**पुव्वसते सहस्से भवाहमे**) पूर्वकाल मे लुब्धक (व्याध) आदि सैकडो और हजारो नीच (अधम) भवो को प्राप्त करके (**बहुकूरकम्मा तत्थ चिट्ठति**) बहुक्रूरकर्मी जीव उस नरक मे रहते हैं। (**जहाकड कम्म तहा से भारे**) पूर्वजन्म मे जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार ही उसे पीडा प्राप्त होती है।

भावार्थ

इस मनुष्यजन्म मे थोडे-से सुख के लोभ मे आकर जो अपने आपकी वचना स्वय करते है, वे इससे पूर्व सैकडो और हजारो बार शिकारी, मच्छीमार आदि नीचातिनीच योनियो मे जन्म पाकर फिर अत्यन्त क्रूरकर्मी वे जीव नरक मे निवास करते है। जिस जीव ने पूर्वजन्म मे जैसा कर्म किया है, उसे उसके अनुसार ही पीडारूप फल प्राप्त होता है।

व्याख्या

जैसा और जितना दुष्कर्म : वैसा और उतना ही दु ख

इस गाथा मे शास्त्रकार कर्मसिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट बताते है कि जिस प्राणी ने जिस प्रकार से किसी जीव को क्षति पहुँचाई हे, उसे वैसे ही रूप मे तदनुसार क्षति पहुँचती है । जैसा दु ख जिसने दूसरे जीव को दिया है, उसे वैसा ही दु ख मिलता है । जो व्यक्ति दूसरो को धोखा देकर या गला काटकर खुश होता है, शास्त्रकार कहते है—'अप्पेण अप्प इह वचइत्ता ।' ऐसा जीव मनुष्यभव मे दूसरो को धोखा देता है, वह अपने आप को धोखा देता है, क्योकि जिस प्रकार से उसने दूसरो को ठगा है, उसे उसी सिक्के मे उसका भुगतान करना होगा । दूसरे प्राणी के घातरूप अल्पसुख के लोभ से जो जीव अपने आपकी वचना करता हे, वह अनेक भव करता हुआ सैकडो और हजारो बार मच्छीमार, व्याध, मल्लाह आदि अधम जातियो मे जन्म लेता है । उन जन्मो मे वह विषयलम्पट तथा पुण्यविमुख होकर उक्त दुष्कर्म के फलस्वरूप महाघोर और अतिदारुण नरकस्थान को पाप करता है ।

नरक मे रहने वाले क्रूरकर्माजीव पूर्वजन्म के वैरभाव को स्मरण करके परस्पर एक-दूसरे को मार-पीट, गालीगलौज आदि करके दु ख उत्पन्न करते है । इस प्रकार शास्त्रकार की दृष्टि से वे चिरकाल तक निवास करते है ।

'जहाकड कम्म तहासि भारे'—अर्थात् जिस जीव ने पूर्वजन्म मे जैसे और जिस नीच अध्यवसाय से नीच और उससे भी नीच कर्म हँस-हँसकर किये है, उस जीव को वेदना भी उसी प्रकार की तीव्र या तीव्रतर होती है । वह वेदना अपने आप से भी होती है, दूसरे के द्वारा भी मिलती है और दोनो से भी होती है । जो पूर्वजन्म मे मासाहारी थे, उनको यहाँ नरक मे भी उनका ही मास आग मे पकाकर खिलाया जाता है । जो पूर्वजन्म मे मद्य पीते थे, उनको भी अपने ही रक्त को उबाल कर गर्म-गर्म उनके मुँह मे उँडेला जाता है । पूर्वजन्म मे जो किसी प्राणी का रक्त पीते थे, उन्हे भी गर्म सीसा पिघला कर पिलाया जाता है । पूर्वजन्म मे शिकारी या मच्छीमार बनकर जो मृग या मछली आदि का घात करते थे, वे यहाँ उसी तरह काटे और मारे जाते है । जो मिथ्याभाषण, पैशुन्य, परनिन्दा आदि करते थे, उनके मिथ्याभाषण आदि पापो का स्मरण कराकर उनकी जीभ काट ली जाती है । जो पूर्वजन्म मे दूसरे का द्रव्य हरण करते थे, उनके अगोपाग काट लिये जाते है, जो परस्त्रीसेवन करते थे, उनका अण्डकोश काट लिया जाता है, तथा उन्हे शाल्मलिवृक्ष का आलिगन कराया जाता है । इसी तरह जो महारम्भी एव महापरिग्रही तथा क्रोध, मान, माया, लोभ (कषाय) से ओतप्रोत थे, उन्हे नरकपालो द्वारा जन्मान्तर के महारम्भ आदि का स्मरण दिलाकर उसी तरह का दु ख दिया जाता है । इसलिए

शास्त्रकार के इस वाक्य को हृदयगम कर लो कि जिसने जैसा कर्म किया है, उसे उसके अनुसार ही पापकर्म फलस्वरूप दुख की प्राप्ति होती है ।

मूल

समज्जिणित्ता कलुस अणज्जा, इट्ठेहि कतेहि य विप्पहूणा ।
ते दुब्भिगधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसति ॥२७॥
॥त्ति बेमि॥

सस्कृत छाया

समर्ज्य कलुषमनार्य्या, इष्टैकान्तैश्च विप्रहीना ।
ते दुरभिगन्धे कृत्स्ने (कृष्णे) च स्पर्शे, कर्मोपगा कुणिमे आवसन्ति ॥२७॥
॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(अणज्जा) अनार्य पुरुष **(कलुस समज्जिणित्ता)** पाप उपार्जन करके **(इट्ठेहि कतेहि य विप्पहूणा)** इष्ट और प्रिय रूपादि विपयो से रहित-वचित होकर **(कम्मोवगा)** कर्मो के वशीभूत होकर **(दुब्भिगधे)** दुर्गन्ध से भरे, **(कसिणे य फासे)** अशुभ स्पर्श वाले **(कुणिमे)** मास-रुधिरादि से परिपूर्ण नरक मे **(आवसति)** जमकर निवास करते हैं । **(त्ति बेमि)** ऐसा मैं कहता हूँ ।

भावार्थ

अनार्य पुरुष पापकर्मों का उपार्जन करके इष्ट और प्रिय शब्दादि से रहित होकर कर्मो के वश दुर्गन्ध से भरे, अशुभ स्पर्श से युक्त मास रक्त आदि से परिपूर्ण नरक मे चिरकाल तक जमकर निवास करते हैं । ऐसा मैं कहता हूँ ।

व्याख्या

पुरुषो का इष्ट स्पर्शादि से रहित होकर नरक निवास

इस गाथा मे प्रथम उद्देशक का उपसहार करते हुए शास्त्रकार ने नरक का सक्षिप्त स्वरूप और अनार्यो का वहाँ इष्ट शुभ विषयो से रहित होकर रहना वता दिया है । अनार्य पुरुप वे हैं, जो अनार्यकर्म या हिंसा, झूठ, चोरी आदि आस्रवो का सेवन करके अत्यन्त अशुभकर्मों का उपार्जन एव वृद्धि कर लेते हैं । वे क्रूरकर्मी जीव, जो नरक मे चिरकाल तक डेरा जमाए रहते हैं, उसका फल बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—वे नरक मे आकर अशुभ दुर्गन्धयुक्त स्थान मे रहते है, तथा शब्दादि पचेन्द्रिय विपयो से एव इष्ट मनोज्ञ पदार्थों से वञ्चित (रहित) होकर रहते है ।

अथवा वे जिन माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र आदि स्वजनो के लिए पाप का उपार्जन करते है, उनसे रहित होकर अकेले, असहाय और असुरक्षित होकर नरक मे चिरकाल तक सडते रहते हैं। नरकभूमियाँ सडे हुए मुर्दे से भी अधिक बदबूदार तथा अत्यन्त उद्वेगजनक स्पर्श वाली एव मास, रुधिर, पीव, चर्बी आदि गदे पदार्थो से भरी हुई घृणास्पद है। जहाँ नारको का हाहाकार शब्द दशो दिशाओ को बहरा कर देता है। ऐसी अतिनीच नरक मे प्राय अज्ञान के कारण नारक जीव उत्कृष्टत ३३ सागरोपम काल तक की आयु तक रहते हैं। 'त्ति बेमि' शब्द का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार पचम अध्ययन (नरकविभक्ति) का प्रथम उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

❀

पंचम अध्ययन : द्वितीय उद्देशक

नरकाधिकार

पाँचवे अध्ययन के प्रथम उद्देशक की व्याख्या की जा चुकी है। अब उसका दूसरा उद्देशक प्रारम्भ किया जाता है। पहले उद्देशक मे विशेषतया यह बताया गया है कि प्राणिवर्ग किन-किन पापकर्मो के करने से नरक मे जाता है और किस-किसके द्वारा कैसी-कैसी यातनाएँ दी जाती हैं और उनकी कैसी-कैसी प्रतिक्रिया नारकी जीवो के मानस पर होती है ? अब इस दूसरे उद्देशक मे भी वही बाते दूसरे पहलुओ से विशेषरूप से बताई गई हैं।

इस सम्बन्ध से क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

अहावर सासयदुक्खधम्म, त भे पवक्खामि जहातहेण ।
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदति कम्माइ पुरेकडाइ ।।१।।

संस्कृत छाया

अथापर शाश्वतदु खधर्म, त भवद्भ्य प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन ।
बालायथा दुष्कृतकर्मकारिणो, वेदयन्ति कर्माणि पुराकृतानि ।।१।।

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् (**सासयदुक्खधम्म**) निरन्तर दु ख देना जिसका स्वभाव है, ऐसे (**अवर**) दूसरे (**त**) नरक के सम्बन्ध मे (**भे**) आपको (**जहातहेण**) यथार्थरूप से (**पवक्खामि**) मैं कहूँगा। (**जहा**) जिस प्रकार (**दुक्कडकम्मकारी**) पापकर्म करने वाले (**बाला**) अज्ञानी जीव (**पुरेकडाइ कम्माइ वेदति**) अपने पूर्वकृत पापकर्मो का फल भोगते हैं।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्यवर्ग—जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं— अब मैं निरन्तर दु ख देने वाले दूसरे नरक के विषय मे आपको ठीक-ठीक उपदेश करूंगा। पापकर्म करने वाले अज्ञानी प्राणी जिस प्रकार अपने पाप का फल भोगते है, वह मैं बताऊँगा।

व्याख्या

सतत दु ख स्वभाव वाले अन्य नरक और पापी नारक

श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्यवर्ग से अन्य नरको और नारकी जीवो के पाप के फल का यथातथ्य निरूपण करने की बात कहते है, उसका इस गाथा मे उल्लेख है।

नरक के सम्बन्ध मे प्रथम उद्देशक मे भी बहुत सी बाते बताई गई है। वहाँ भी नरक को सतत दु खस्वभावयुक्त बताया गया है। और यहाँ पुन उसी बात को दोहराया गया है—'सासयदुक्खधम्म।' शाश्वत—यानी आयुपर्यन्त रहने वाला, जिंदगीभर सतत दु ख देना ही जिसका स्वभाव है, ऐसे नरक को 'शाश्वतदु खधर्मा' कहते है। नरक के जीवो को पद-पद पर, स्थान-स्थान पर इतना दु ख है कि उसे सुख का तो पता ही नही होता कि वह क्या चीज है? क्योकि नारकी जीवो को एक क्षणभर भी सुख का लेश नही प्राप्त होता। श्री सुधर्मास्वामी कहते है—उस नरक का जैसा भी स्वरूप है, वैसा मैं आपसे कहूँगा, उसमे राईरत्तीभर भी घटा-बढाकर अथवा आरोपित करके नही कहूँगा। जो पुरुष बाल है—परमार्थ को नही जानते हैं, तथा कर्मफल का विचार न करके पापकर्म करते रहते हैं अथवा बुरे अनुष्ठान द्वारा ज्ञानावरणीयादि कर्मो का उपार्जन करते हैं वे पापी जीव पूर्वजन्मोपार्जित कर्मो का फल जिस प्रकार नरक मे भोगते है, उसे मैं कहूँगा।

मूल पाठ

हत्थेहिं पाएहि य बधिऊणं, उदर विकत्त'ति खुरासिएहिं।
गिण्हित्तु बालस्स विहत्तु देहं, वद्ध थिर पिट्ठतो उद्धरति ॥२॥

सस्कृत छाया

हस्तेषु पादेषु च बद्ध्वा, उदर विकर्त्तयन्ति क्षुरप्रासिभि।
गृहीत्वा वालस्य विहत देह, बध्र स्थिर पृष्ठता उद्धरन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ

(हत्थेहि पाएहि य बधिऊण) परमाधार्मिक असुर नारकी जीवो के हाथो और पैरो को बाँधकर (खुरासिएहिं) उस्तरे और तलवार के द्वारा (उदर विकत्त ति) उसका पेट फाड देते हैं। (बालस्स) अज्ञानी नारकी जीवो के (विहत्तु देह) लाठी आदि अनेक शस्त्रो के प्रहार से क्षत-विक्षत—घायल हुए या जर्जरित हुए शरीर को (गिण्हित्तु) पकड कर (पिट्ठओ वद्ध थिर उद्धरति) उनकी पीठ की चमडी को जबरन खीच लेते है, उधेड लेते हैं।

भावार्थ

परमाधार्मिक असुर नारकी जीवो के हाथो और पैरो को बाँधकर

तेज उस्तरे या तलवार से उनका पेट फाड डालते है। फिर वे अज्ञानी नारक के लाठी आदि अनेक प्रहारो से क्षतविक्षत जर्जर शरीर को पकड कर उनके पीठ की चमडी को जबरन उधेड देते है।

व्याख्या

परमाधार्मिको द्वारा नारकी जीवो को यातना

इस गाथा मे पूर्वगाथा मे की गई प्रतिज्ञा के अनुसार नरक और नरक के दु खो के कारणो का वर्णन प्रारम्भ किया गया ह— 'हत्थेहि पाएहि उद्धरति।' उन-उन पापकर्मो के उदय से दूसरो को दु ख देने मे हर्षित होने वाले परमाधार्मिक असुर उन नारकी जीवो के हाथ-पैर कसकर बाँधते है, फिर उस्तरा या तलवार आदि तेज धार वाले शस्त्रो से उनका पेट फाड डालते है। इतना ही नही, बालवत् असमर्थ उन नारकी जीवो के लाठी आदि विविध शस्त्रो के प्रहार से क्षतविक्षत एव जर्जर बने हुए शरीर को कसकर पकड लेते है, फिर उनको पीठ की चमडी जबरन उधेड लेते है। कितनी करुण कहानी है, नारक लोगो के जीवन की।

मूल पाठ

बाहू पकत्तति य मूलतो से, थूल वियास मुहे आडहंति ।
रहसि जुत्त सरयति बाल, आरुस्स विज्झति तुदेण पिट्ठे ॥३॥

सस्कृत छाया

बाहून् प्रकर्तयन्ति च मूलतस्तस्य, स्थूल विकाश मुखे आदहन्ति ।
रहसि युक्त स्मरयन्ति बालमारुष्य विध्यन्ति तुदेन पृष्ठे ॥३॥

अन्वयार्थ

(से बाहूय मूलतो पकत्त ति) नरकपाल नारकी जीव की बाहु को जड से काट देते है। (मुहे वियास) फिर उनका मुँह फाडकर (थूल आडहति) उसमे जलते हुए लोहे के बडे-बडे गोले डालकर जलाते हैं। (रहसि) गुप्त रूप से एकान्त मे जुत्त) जन्मान्तर मे किये हुए उनके कर्मो का (सरयति) स्मरण कराते है। (आरुस्स) तथा बिना कारण ही कोप करके (तुदेन) चाबुक से (पिट्ठे) पीठ पर (विज्झति) प्रहार करते हैं।

भावार्थ

नरकपाल नारकी जीव की भुजा को मूल से काट देते है, फिर उनका मुँह फाड उसे तपा हुआ लाल सुर्ख लोहे का गोला डालकर जला देते हैं एव एकान्त मे ले जाकर उनके पूर्वकृत पापकर्म की याद दिलाते है। कभी अकारण रोष करके चाबुक से उनकी पीठ पर मारते हैं।

व्याख्या

पापकर्मों की याद दिलाकर रोषपूर्वक ताडन

इस गाथा मे पुन नारको को दी जाने वाली यातनाओ का वर्णन किया गया है। वास्तव मे तीन नरकभूमियो मे परमाधार्मिक तथा दूसरे नारकी जीव तथा नीचे की चार नरकभूमियो मे रहने वाले दूसरे नारकी जीव नारकी जीवो की भुजा को जड से काट डालते हैं तथा मुँह फाडकर उसमे तपा हुआ लोहे का लाल-लाल वडा गोला डालकर मुँह जला डालते हैं। फिर एकान्त मे उन नारको को ले जाकर वे उन्हें उनके द्वारा पूर्वजन्म मे किये हुए पापकर्मों की याद दिलाकर यह वता देते हैं कि वे ऐसी सजा क्यो दे रहे हैं? जैसे कि गर्म सीसा पिलाते समय वे कहते है—'तुम कितने खुश होकर शराब पीते थे? अब क्यो घबराते हो?' उनके शरीर के मास का टुकडा खिलाते समय कहते है—'तुम तो दूसरे का मास खूब खाते थे, अब इसे खाने मे क्यो हिचकिचाते हो?' इस प्रकार दु ख के अनुरूप उनके कर्मों का स्मरण कराते हुए उनको पीडा देते हैं। कभी-कभी अकारण ही रोष करके उनकी पीठ पर कोडे बरसाने लगते हैं। बेचारे परवश नारकी जीव कुछ भी प्रतिकार नही कर सकते। विवश होकर उन्हें सब कुछ सहना पडता है।

मूल पाठ

अय व तत्त जलियं सजोइ, तऊवम भूमिमणुक्कमता ।
ते डज्झमाणा कलुण थणति, उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता ॥४॥

संस्कृत छाया

अय इव ज्वलिता सज्योतिस्तदुपमा भूमिमनुक्रामन्त ।
ते दह्यमाना करुण स्तनन्ति इषुचोदितास्तप्तयुगेषु युक्ता ॥४॥

अन्वयार्थ

(अय व) तप्त लोहे के गोले के समान (सजोइ) ज्योतिसहित (जलिय) जलती हुई (तत्त) तप्त भूमि की (तऊवम) उपमायोग्य (भूमि) भूमि पर (अणुक्कमत्ता) चलते हुए (ते) वे नारकी जीव (डज्झमाणा) जलते हुए (कलुण थणति) करुण क्रन्दन करते है, (उसुचोइया) लोहे का नोकदार आरा भोककर प्रेरित करने पर (तत्तजुगेसु जुत्ता) तप्त गाडी के जुए मे जुते हुए वे नारकी जीव करुण विलाप करते हैं।

भावार्थ

तपे हुए गर्म लोहे के गोले के समान ज्योतिसहित जलती हुई नरक की तपी-सी भूमि पर चलते हुए वे नारक जीव झुलसने से करुण विलाप करते हैं। साथ ही लोहे का नोकदार आरा भोककर बैलो को चलाने की तरह तप्त गाडी मे जुते हुए नारकी जीवो को भी आरा भोककर चलाने से वे बेचारे करुण क्रन्दन करते है।

व्याख्या

नरक की जलती भूमि पर चक्रमण, नोकदार आरे से वेध !

इस गाथा मे नारकी जीवो के नरक मे जाज्वल्यमान लोहे के गोले की तरह जलती हुई ज्योतिस्वरूप पृथ्वी के समान नरकभूमि पर चलने की तथा बैलगाडी मे जुते हुए बैलो को चलाने के लिए नोकदार लोहे का आरा भोकने की तरह जुए मे जोते हुए नारकी जीवो के आरा भोकने की प्रतिक्रिया बताई है। **'कलुण थणंति'** अर्थात् वे बेचारे करुणस्वर मे रोते विलखते है। उनका रुदन या उनकी पुकार वहाँ कोई नही सुनता। परमाधार्मिक तो और अधिक क्रूरता से उन्हे पीडा पहुँचाते हैं।

मूल पाठ

बाला बला भूमिमणुक्कमता, पविज्जलं लोहपह व तत्त ।
जसीऽभिदुग्गसि पवज्जमाणा, पेसेव दर्डेहि पुराकरंति ॥५॥

सस्कृत छाया

बाला बलाद भूमिमनुक्राम्यमाणा, प्रविरलजला लोहपथमिव तप्ता ।
यस्मिन्नभिदुर्गे प्रपद्यमानाः प्रेष्यानिव दण्डैः पुर कुर्वन्ति ॥५॥

अन्वयार्थ

(**बाला**) अज्ञानी नारकी जीव (**लोहपह व तत्त**) जलते हुए लोहमय मार्ग (रेल की पटरी के समान) तपी हुई (**पविज्जल**) रक्त और मवाद के कारण थोडा पानी होने से कीचड वाली (**भूमि**) पृथ्वी पर (**बला**) परमाधार्मिको द्वारा जबरन (**अणुक्कमता**) चलाये जाते हुए बुरी तरह रोते-चिल्लाते हैं। (**जसीऽभिदुग्गसि**) नारकी जीव कुम्भी अथवा शाल्मलि आदि जिस दुर्गम स्थान पर (**पवज्जमाणा**) परमाधार्मिको द्वारा चलने के लिए प्रेरित किये जाते है, किन्तु जब वे ठीक से नही चलते तब (**पेसेव दर्डेहि पुराकरति**) कुपित होकर परमाधार्मिक डडे आदि मारकर बैल की तरह उन्हे आगे चलाते हैं।

भावार्थ

परमाधार्मिक, अज्ञानी नारकी जीवो को जलते हुए लोहमय पथ के समान तपी हुई तथा रक्त एव मवाद के कारण थोडा पानी होने से कीचड वाली जमीन पर जबर्दस्ती चलाते हैं। जिस कठिन स्थान पर जाते हुए नारकी जीव रुक जाते है, उस स्थान मे बैल की तरह डडे आदि से मार-मार कर वे उन्हे आगे ले जाते है।

व्याख्या

परमाधार्मिको द्वारा बलात् चलने को बाध्य

परमाधार्मिक नरक के मुख्य दण्डनायक हैं। वे नारको से मनमाना व्यवहार,

अमानुषिक एव क्रूर यातनापूर्ण बर्ताव करते हैं। इस गाथा मे यह बताया गया है कि नरकपाल नारकी जीवो को कैसे नरकभूमि पर चलने को बाध्य कर देते हैं। बेचारे अज्ञानी नारको को वे जलते हुए लोहे के मार्ग (लोहे की रेल की पटरी) के समान गर्म तथा रक्त व मवाद की अधिकता के कारण पकिल भूमि पर जबरन चलाते हैं। अत्यन्त ऊबडखाबड या विषम नरकस्थान मे चलने के लिए परमाधार्मिक उन्हे प्रेरित करते हैं, किन्तु जब वे ठीक से नही चलते, तब क्रुद्ध होकर बैल या दास की तरह डडे, कोडे आदि मार-मारकर उन्हे आगे चलने को बाध्य कर देते हैं। निष्कर्ष यह है कि नारकी जीव स्वेच्छा से न तो कही जा सकते हैं, न कही रह सकते हैं।

मूल पाठ

ते संपगाढंसि पवज्जमाणा, सिलाहि हम्मंति निपातिणीहिं।
सतावणी नाम चिरट्ठितीया, सतप्पती जत्थ असाहुकम्मा ॥६॥

संस्कृत छाया

ते सम्प्रगाढ प्रपद्यमाना शिलाभिर्हन्यन्ते निपातिनीभि।
सतापनी नाम चिरस्थितिका, सन्तप्यते यत्रासाधुकर्मा ॥६॥

अन्वयार्थ

(सपगाढसि) तीव्र वेदना से भरे असह्य नरक मे (पवज्जमाणा) पडे हुए (ते) वे नारकी जीव (निपातिणीहिं सिलाहि हम्मति) सम्मुख गिरने वाली शिलाओ के नीचे दबकर मारे जाते हैं। (सतावणी) सतापनी यानी सताप देने वाली कुम्भी नरकभूमि (चिरट्ठितीया) चिरकाल तक स्थिति वाली है। (जत्थ) जहाँ (असाहुकम्मा) पापकर्म करने वाला जीव चिरकाल तक (सतप्पती) सतप्त होता है।

भावार्थ

तीव्र पीडा से परिपूर्ण नरक मे पडे हुए नारकी जीव कभी-कभी सामने से गिरती हुई शिलाओ से मारे जाते हैं। कुम्भी नामक सतापनी नरकभूमि को प्राप्त पापी नारको की स्थिति बहुत लम्बी होती है। पापकर्मी नारक उसमे दीर्घकाल तक सतप्त होता रहता है।

व्याख्या

चिरकाल तक सतापनी मे सतप्त नारक

इस गाथा मे नारको की चिरकालीन वेदना का जीता-जागता चित्रण है। जब नारकी जीव अत्यन्त घोर पीडा से पूर्ण असह्य नरक मे अथवा मार्ग मे होते हैं और वे इधर-उधर हटने या चले जाने मे असमर्थ होते है, तो असुरो द्वारा सामने से शिलाएँ पटकी जाती हैं, जिनके नीचे दबकर वे मरणासन्न हो जाते हैं। जो प्राणियो

को सदा हर तरह से सन्ताप देने वाली है, उसे सतापनी कहते हैं, वह कुम्भी नरक है, जिसकी स्थिति दीर्घकालिक है। कुम्भी नरक मे गया हुआ नारकी जीव चिरकाल तक रहकर वहाँ नाना प्रकार की वेदनाएँ भोगता रहता है। वहाँ वही जीव जाता है, जिसने पूर्वजन्म मे बहुत पापकर्म किये हो। सचमुच जीव की यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

मूल पाठ

कदूसु पक्खिप्प पयंति बाल, ततोवि दड्ढा पुण उप्पयंति ।
ते उड्ढकाएंहि पखज्जमाणा, अवरेंहि खज्जंति सणप्फएंहि ॥७॥

संस्कृत छाया

कन्दुसु प्रक्षिप्य पचन्ति बाल, ततोऽपि दग्धा पुनरुत्पतन्ति ।
ते ऊर्ध्वकायै प्रखाद्यमाना अपरै खाद्यन्ते सनखपदै ॥७॥

अन्वयार्थ

(बाल) अज्ञानी नारकी जीव को (कदूसु) गेंद के समान आकार वाले नरक मे (पक्खिप्प) डालकर (पयंति) परमाधार्मिक पकाते है। (दड्ढा) जलते हुए वे नारकी जीव (ततोवि) वहाँ से (पुण उप्पयंति) फिर ऊपर उड जाते है, (ते) वे नारकी जीव (उड्ढकाएंहि) द्रोणकाक के द्वारा (खज्जंति) खाए जाते है। (अवरेंहि सणप्फएंहि) तथा दूसरे सिंह, व्याघ्र आदि के द्वारा भी खाए जाते हैं।

भावार्थ

नरकपाल, अज्ञानी नारक को गेंद के-से आकार की कुम्भी मे डालकर पकाते है। फिर वे जलते हुए वहाँ से भूने जाते हुए चने की तरह ऊपर उछल जाते हैं। वहाँ द्रोणकाक (एक प्रकार के शिकारी कौए) उन पर टूट पडते है, वहाँ से जब वे दूसरी ओर जाते हैं, सिंह बाघ आदि के द्वारा खाए जाते है।

व्याख्या

नारक गेंद के समान आकार की नरककुम्भी मे

इस गाथा मे यह बताया गया है कि नारकी जीवो को परमाधार्मिक किस-किस प्रकार की यातनाएँ देते है। बेचारे नारकों को नरकपाल गेंद के समान आकार वाली नरककुम्भी मे डालकर पकाते है। चने की तरह पकाते हुए वे जीव वहाँ से उछलकर ऊपर उड जाते हैं। जहाँ वैक्रिय से बने हुए द्रोणकाक उन्हे खाने को टूट पडते है। वहाँ से दूसरी ओर जाते हैं तो सिंह व्याघ्र आदि नखवाले हिंसक जानवरो द्वारा वे खा डाले जाते हैं। कितनी विडम्बना है, नारको के जीवन मे, यह सब स्वकृत पापकर्मो का ही खेल है।

मूल पाठ

समूसिय नाम विधूमठाण, ज सोयतत्ता कलुण थणति ।
अहोसिर कट्टु विगत्तिऊण, अयव सत्थेहि समोसवेति ॥८॥

सस्कृत छाया

समुच्छ्रित नाम विधूमस्थान, यत् शोकतप्ता करुण स्तनन्ति ।
अध शिर कृत्वा विकर्त्यायोवत् शस्त्रै समुत्स्रवन्ति ॥८॥

अन्वयार्थ

(समूसिय नाम विधूमठाण) नरक मे ऊँची चिता के समान धूमरहित एक स्थान है, **(ज सोयतत्ता)** जिस स्थान को पाकर शोकसतप्त नारकी जीव **(कलुण थणति)** करुणस्वर मे विलाप करते हैं। **(अहोसिर कट्टु)** नरकपाल नारकीजीव के सिर को नीचा करके **(विगत्तिऊण)** तथा उसके शरीर को काटकर **(अयव सत्थेहि)** लोहे के शस्त्रो से **(समोसवेंति)** उसके टुकडे-टुकडे कर डालते है।

व्याख्या

नारकी जीवो की वही हाय-हाय !

इस गाथा मे नरकपालो द्वारा नारको को दी जाती हुई शस्त्र पीडा का वर्णन है। चिता के समान धूमरहित एक नरकभूमि होती है, जो अत्यन्त पीडा का स्थान है। उस स्थान पर पहुँचते ही नारकी जीव शोक से विह्वल होकर करुणक्रन्दन करते हैं। क्रूर नरकपाल उनका मस्तक नीचा करके, उनके शरीर को लोहे के शस्त्रों से काटकर टुकडे-टकडे कर डालते है।

यहाँ 'नाम' शब्द सम्भावना के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जिसके लगाने से वाक्य का अर्थ होता है— नरक मे धूमरहित एक उच्च चिताकार स्थान की सम्भावना है।

मूल पाठ

समूसिया तत्थ विसूणियगा पक्खीहि खज्जति अओमुहेहि ।
सजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जसी पया हम्मइ पावचेया ॥९॥

सस्कृत छाया

समुच्छ्रितास्तत्र विशूणितागा पक्षिभि खाद्यन्तेऽयोमुखै ।
सजीवनी नाम चिरस्थितिका, यस्या प्रजा हन्यते पापचेतस ॥९॥

अन्वयार्थ

(तत्थ) उस नरक मे **(समूसिया)** अधोमुख करके लटकाए हुए **(विसूणियगा)** तथा जिनके शरीर की चमडी उधेड ली गई है, ऐसे नारकी जीवो को **(अओमुहेहि)** लोहे की तीखी चोच वाले **(पक्खीहि)** पक्षीगण **(खज्जति)** खा लेते हैं। **(सजीवणी नाम चिरट्ठितीया)** वहाँ सजीवनी (नरकभूमि सजीवनी इसलिए कहलाती है कि

को सदा हर तरह से सन्ताप देने वाली है, उसे सतापनी कहते हैं, वह कुम्भी नरक है, जिसकी स्थिति दीर्घकालिक है। कुम्भी नरक मे गया हुआ नारकी जीव चिरकाल तक रहकर वहाँ नाना प्रकार की वेदनाएँ भोगता रहता है। वहाँ वही जीव जाता है, जिसने पूर्वजन्म मे बहुत पापकर्म किये हो। सचमुच जीव की यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

मूल पाठ

कदूसु पक्खिप्प पयंति बाल, ततोवि दड्ढा पुण उप्पयंति ।
ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जंति सणप्फएहिं ॥७॥

संस्कृत छाया

कन्दुसु प्रक्षिप्य पचन्ति बाल, ततोऽपि दग्धा पुनरुत्पतन्ति ।
ते ऊर्ध्वकायैः प्रखाद्यमाना अपरैः खाद्यन्ते सनखपदैः ॥७॥

अन्वयार्थ

(बाल) अज्ञानी नारकी जीव को (कदूसु) गेंद के समान आकार वाले नरक मे (पक्खिप्प) डालकर (पयंति) परमाधार्मिक पकाते हैं। (दड्ढा) जलते हुए वे नारकी जीव (ततोवि) वहाँ से (पुण उप्पयंति) फिर ऊपर उड जाते हैं, (ते) वे नारकी जीव (उड्ढकाएहि) द्रोणकाक के द्वारा (खज्जंति) खाए जाते है। (अवरेहिं सणप्फएहिं) तथा दूसरे सिंह, व्याघ्र आदि के द्वारा भी खाए जाते हैं।

भावार्थ

नरकपाल, अज्ञानी नारक को गेंद के-से आकार की कुम्भी मे डालकर पकाते हैं। फिर वे जलते हुए वहाँ से भूने जाते हुए चने की तरह ऊपर उछल जाते है। वहाँ द्रोणकाक (एक प्रकार के शिकारी कौए) उन पर टूट पडते है, वहाँ से जब वे दूसरी ओर जाते हैं, सिंह बाघ आदि के द्वारा खाए जाते है।

व्याख्या

नारक गेंद के समान आकार की नरककुम्भी मे

इस गाथा मे यह बताया गया है कि नारकी जीवो को परमाधार्मिक किस-किस प्रकार की यातनाएँ देते हैं। बेचारे नारको को नरकपाल गेंद के समान आकार वाली नरककुम्भी मे डालकर पकाते हैं। चने की तरह पकाते हुए वे जीव वहाँ से उछलकर ऊपर उड जाते हैं। जहाँ वैक्रिय से बने हुए द्रोणकाक उन्हे खाने को टूट पडते हैं। वहाँ से दूसरी ओर जाते हैं तो सिंह व्याघ्र आदि नखवाले हिंसक जानवरो द्वारा वे खा डाले जाते है। कितनी विडम्बना है, नारको के जीवन मे ! यह सब स्वकृत पापकर्मो का ही खेल है।

मूल पाठ

समूसिय नाम विधूमठाण, ज सोयतत्ता कलुण थणति ।
अहोसिर कट्टु विगत्तिऊण, अयव सत्थेहि समोसवेति ॥८॥

संस्कृत छाया

समुच्छ्रित नाम विधूमस्थान, यत् शोकतप्ता करुण स्तनन्ति ।
अध शिर कृत्वा विकर्त्यायोवत् शस्त्रै समुत्स्रवन्ति ॥८॥

अन्वयार्थ

(समूसिय नाम विधूमठाण) नरक मे ऊँची चिता के समान धूमरहित एक स्थान है, **(ज सोयतत्ता)** जिस स्थान को पाकर शोकसतप्त नारकी जीव **(कलुण थणति)** करुणस्वर मे विलाप करते है। **(अहोसिर कट्टु)** नरकपाल नारकीजीव के सिर को नीचा करके **(विगत्तिऊण)** तथा उसके शरीर को काटकर **(अयव सत्थेहि)** लोहे के शस्त्रो से **(समोसवेति)** उसके टुकडे-टुकडे कर डालते है।

व्याख्या

नारकी जीवो की वही हाय-हाय !

इस गाथा मे नरकपालो द्वारा नारको को दी जाती हुई शस्त्र पीडा का वर्णन है। चिता के समान धूमरहित एक नरकभूमि होती है, जो अत्यन्त पीडा का स्थान है। उस स्थान पर पहुँचते ही नारकी जीव शोक से विह्वल होकर करुणक्रन्दन करते हैं। क्रूर नरकपाल उनका मस्तक नीचा करके, उनके शरीर को लोहे के शस्त्रों से काटकर टुकडे-टुकडे कर डालते हैं।

यहाँ 'नाम' शब्द सम्भावना के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जिसके लगाने से वाक्य का अर्थ होता है— नरक मे धूमरहित एक उच्च चिताकार स्थान की सम्भावना है।

मूल पाठ

समूसिया तत्थ विसूणियगा पक्खीहि खज्जति अओमुहेहि ।
सजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जसी पया हम्मइ पावचेया ॥९॥

संस्कृत छाया

समुच्छ्रितास्तत्र विशूणितागा पक्षिभि खाद्यन्तेऽयोमुखै ।
सजीवनी नाम चिरस्थितिका, यस्या प्रजा हन्यते पापचेतस ॥९॥

अन्वयार्थ

(तत्थ) उस नरक मे **(समूसिया)** अधोमुख करके लटकाए हुए **(विसूणियगा)** तथा जिनके शरीर की चमडी उधेड ली गई है, ऐसे नारकी जीवो को **(अओमुहेहि)** लोहे की तीखी चोच वाले **(पक्खीहि)** पक्षीगण **(खज्जति)** खा लेते हैं। **(सजीवणी नाम चिरट्ठितीया)** वहाँ सजीवनी (नरकभूमि सजीवनी इसलिए कहलाती है कि

वहाँ मरण कष्ट पाकर भी जीव मरते नही है तथा उनकी आयु भी बहुत लम्बी होती है) नामक नरकभूमि हे, जो चिरकाल तक की स्थिति वाली होती है। (जसी) जिस नरक मे (पावचेया पया हम्मइ) पापकर्मी जनता मारी जाती है।

भावार्थ

जिस नरक मे नीचा मुँह करके लटकाये हुए तथा शरीर की खाल उधेडे हुए नारकजीव लोहे की चोच वाले पक्षियो द्वारा खा डाले जाते है। नरक की भूमि सजीवनी कहलाती है। क्योकि मरण के समान कष्ट पाकर भी नारकी जीव आयु शेष रहने के कारण मरते नही हैं तथा उस नरक मे पहुँचे हुए प्राणियो की उम्र भी काफी लबी होती है। पापचेता प्राणी उस नरक मे मारे जाते है।

व्याख्या

नरक मे लोहमुखी पक्षियो द्वारा घोर कष्ट

इस गाथा मे नारको की दीर्घकालीन स्थिति का सकेत किया गया है। वास्तव मे नरक का नाम सजीवनी भी है। जिसका अर्थ होता है—जहाँ मृत्यु-सा कष्ट पाकर भी जीव आयुष्य-वल होने के कारण मरते नही है इसीलिए नरकभूमि सजीवनी औपधि के समान जीवन देने वाली कहलाती है क्योकि नारकी जीव टुकडे-टुकडे कर देने पर भी आयु शेप रहने के कारण मरता नही है। नरक की उत्कृष्ट आयु ३३ सागरोपम की है, इसीलिए शास्त्रकार कहते है—**'चिरट्ठितीया'** अर्थात् वह चिरकालीन स्थिति वाली है। नरक मे गए हुए पापी मुद्गर आदि द्वारा मारे-पीटे जाते है। नरक मे किसी खम्भे पर मुँह नीचा और पैर ऊपर करके चाण्डाल मृतशरीर की तरह उसे लटका देते हैं। फिर उसकी चमडी उधेड डालते हैं, तत्पश्चात लोहे की सी तीखी चोच वाले कौए, गीध आदि पक्षी उसे खा जाते हैं। इस प्रकार वे नारकी जीव नरकपालो द्वारा अथवा परस्पर एक-दूसरे के द्वारा छेदन-भेदन किये जाने पर भी तथा उबाले जाने से मूर्च्छित हो जाने पर वेदना की अधिकता का अनुभव करते हुए भी वे मरते नही। नरक की पीडा से व्याकुल होकर वे मरना भी चाहते हैं, पर अत्यन्त पीसे जाने पर भी वे मरते नही है, किन्तु पारे के समान पुन मिल जाते है।

मूल पाठ

तिक्खाहि सूलाहि निवायंति वसोगय सावययं व लद्ध।
ते सूलविद्धा कलुणं थणति, एगतदुक्खा दुहओ गिलाणा ॥१०॥

सस्कृत छाया

तीक्ष्णाभि शूलाभिर्निपातयन्ति वशगत श्वापदमिव लब्धम्।
ते शूलविद्धा करुण स्तनन्ति, एकान्तदु खा द्विधा तो ग्लाना. ॥१०॥

अन्वयार्थ

(वसोगय) अपने वश मे हुए (सावयय व लद्ध) वन्य पशु के समान मिले हुए नारकी जीव को नरकपाल (तिक्खाहिं सूलाहिं) तीखे शूलो से (निवाययति) मारते है। (सूलविद्धा) शूल से वीधे हुए (दुहओ) अन्दर और बाहर दोनो ओर से (गिलाणा) ग्लान—मुर्झाए हुए (एगतदुक्खा) एकान्त दु ख वाले नारकी जीव (कलुण थणति) करुणस्वर से विलाप करते हैं।

भावार्थ

वशीभूत हुए जगली जानवर के समान नारकी जीव को पाकर परमाधार्मिक असुर तीखे शूलो से मार गिराते हैं। शूलो से बीधे हुए तथा अन्दर और बाहर दोनो तरह से ग्लान—उदास एव एकान्त दु खो नारकी जीव करुण क्रन्दन करते है।

व्याख्या

नरकपालों द्वारा नारकी जीवो पर बरसाया जाता कहर

इस गाथा मे बताया गया है कि नारकी जीव जब मृग, सूअर आदि पालतू जानवर की तरह परमाधार्मिको के वशीभूत हो जाता है, तब नरकपाल पूर्वजन्मकृत पापो का स्मरण कराकर उसे तीखे लोह के शूलो से बीध-बीध कर मार गिराते हैं। शूल आदि के द्वारा बीधे हुए भी नारकी जीव मरते नही है, किन्तु करुणस्वर से आर्त-नाद करते हैं। उन नारकी जीवो का उस समय कोई भी रक्षक एव सहायक न होने से वे अन्दर और बाहर दोनो ओर से मनमलिन व तन-क्षीण हो जाते हैं। इस प्रकार नारकी सदैव एकान्त दु ख ही दु ख का अनुभव करते हुए करुण विलाप करते रहते हैं।

मूल पाठ

सया जल नाम निहं महत, जसी जलतो अगणी अकट्ठो ।
चिट्ठंति बद्धा बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरट्ठतीया ॥११॥

सस्कृत छाया

सदा ज्वलन् नाम निह महच्च, यस्मिन् ज्वलन्नग्निरकाष्ठ ।
तिष्ठन्ति बद्धा बहुक्रूरकर्माण , अरहस्वरा केऽपि चिरस्थितिका ॥११॥

अन्वयार्थ

(सया) सदैव (जल) जलता हुआ (महत निह) एक महान् प्राणिघात का स्थान है, (जसी) जिसमे (अकट्ठो अगणी) विना काष्ठ की आग (जलतो) जलती रहती है। (बहुकूरकम्मा) जिन्होने पूर्वजन्म मे अत्यन्त क्रूर (पाप) कर्म किये हैं, (चिरट्ठितीया) तथा जो उस नरक मे चिरकाल तक निवास करते है, (बद्धा) वे उस

नरक मे वाध दिये जाते है (अरहस्सरा चिट्ठति) गला फाड फाड कर जोर जोर से चिल्लाते रहते है।

भावार्थ

एक ऐसा प्राणियो का घातस्थान है, जो सदा जलता रहता है और जिसमे विना लकडी की आग निरन्तर जलती रहती है। जिन्होने पूर्वजन्म मे अत्यन्त क्रूरकर्म किये है, वे पापी नारकीजीव बाँध दिये जाते हैं, वे अपने पाप का फल भोगने के लिए चिरकाल तक वहाँ निवास करते हैं और पीडा के मारे गला फाडकर जोर-जोर से रोते रहते है।

व्याख्या

सदा अग्निमय प्राणिघातक स्थान मे दु खी नारकी जीव।

इस गाथा मे यह बताया गया है कि जहाँ सदैव विना ही ईंधन के आग जलती रहती है, उस प्राणिघातक नरकस्थान मे नारक दीर्घकाल (उत्कृष्ट ३३ सागरोपम काल) तक कैसे रहते हैं ? वे क्यो रहते है, ऐसे घोर दु खमय स्थान मे ? क्या वे नरक से भागकर अन्यत्र कही जा नही सकते ? इतनी पीडा होते हुए भी वे मरते क्यो नही ? इन सब का समाधान इस गाथा के उत्तरार्द्ध मे किया गया है— **"चिट्ठति बद्धा चिरट्ठितीया।"** नारकी जीवो का जितना आयुष्य होता है, वे उसे पूर्ण करने के वाद ही मरते हैं, पहले नही, क्योकि उनका आयुष्य अनपवर्त्य (निरुपक्रम) होता है,[1] इसलिए यह 'चिरट्ठितीया' कहा है। दीर्घकाल तक आयुष्यबद्ध होने के कारण पूरी अवधि तक नरक की सजा भोगे विना उनका छुटकारा नही हो सकता। इसीलिए वे इतनी पीडा होते हुए भी उस घोर दु खमय स्थान को छोडकर न न तो कही अन्यत्र जा सकते है और न ही मर सकते हैं। वल्कि परमाधार्मिको या अन्य नारको द्वारा बाँधे जाने के कारण वे इधर-उधर अपनी इच्छा से भाग भी नही सकते, उन्हे पूरी सजा भोगनी पडती है, क्योकि उन्होने पूर्वजन्म मे अत्यन्त क्रूर कर्म किये थे, उनके फलस्वरूप यह भयकर दण्ड उन्हे मिलता है। पर सजा भोगते समय वे बेचारे अज्ञानी नारक जोर-जोर से गला फाडकर रोते-बिलखते इतनी लम्बी जिंदगी पूरी करते है।

मूल पाठ

चिया महती उ समारभित्ता, छुब्भंति ते तं कलुण रसत ।
आवट्टती तत्थ असाहुकम्मा, सप्पी जहा पडिय जोइमज्झे ॥१२॥

---

१ देखिये तत्वार्थसूत्र मे—औपपातिक (देव और नारक) चरमदेहोत्तमपुरुषाऽसख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुष । —तत्त्वार्थ अ० २ सू० ५३

संस्कृत छाया

चिता महती समारभ्य, क्षिपन्ति ते त करुणं रसन्तम् ।
आवर्तते तत्रासाधुकर्मा, सर्पिर्यथा पतित ज्योतिर्मध्ये ॥१२॥

अन्वयार्थ

(ते) वे परमाधार्मिक (महती उ चिया) बहुत बडी चिता (समारभित्ता) रचकर (कलुण रसत त) करुण स्वर से विलाप करते हुए उस नारकी जीव को (छुब्भति) उसमे झोक देते हैं। (तत्थ) उसमे (असाहुकम्मा) पापकर्मी नारक (आवट्टती) पिघल जाता है, (जहा) जैसे (जोइमज्झे पडिय सप्पी इव) आग मे पडा हुआ घी पिघल जाता है।

भावार्थ

वे परमाधार्मिक असुर बडी भारी चिता बनाकर उसमे करुणस्वर से रोते-बिलखते हुए उस नारकी जीव को झोक देते है, उसमे पडकर वह पापी जीव उसी तरह पिघलकर पानी-सा हो जाता है, जैसे आग मे डाला हुआ घृत पिघलकर पानी-सा हो जाता है।

व्याख्या

प्रज्वलित चिता मे झोक देने पर भी पानी-पानी

इस गाथा मे यह बताया गया है कि नरकपाल नारकी जीवो को (सजा) दुःख देने के लिए एक विशाल चिता बनाते हैं, उसे प्रज्वलित करते हैं और धू-धू जलती हुई उस चिता मे पापी नारको को झोकते जाते है। पर आश्चर्य यह है कि वह जलकर भी मरता नही। जैसे अग्नि मे घी डालने से वह एकदम पिघल जाता है, वैसे ही नारकी जीव का शरीर चिता मे डालते ही पिघलकर पानी-सा हो जाता है। फिर वह पूर्ववत् हो जाता है, और फिर उसके साथ अनेक तरह से खिलवाड की जाती है। यह क्रम रातदिन निरन्तर चलता रहता है। न रात को चैन, न दिन को चैन! सारी जिंदगी इस प्रकार रोने-धोने मे बीतती है। नरक इस प्रकार से शोक-सन्ताप का घर है।

मूल पाठ

सदा कसिणं पुण घम्मठाण, गाढोवणीय अइदुक्खधम्म ।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊण, सत्तु व्व डडेहि समारभति ॥१३॥

सस्कृत छाया

सदा कृत्स्न पुनर्धर्मस्थान गाढोपनीत अतिदु खधर्मम् ।
हस्तश्च पादश्च बद्ध्वा, शत्रुमिव दण्डै समारभन्ते ॥१३॥

अन्वयार्थ

(पुण) फिर (सया) सदैव—तीनो काल मे, (कसिण) सारा का सारा (घम्मठाण) एक उष्ण स्थान है जो (गाढोवणीय) निधत्त, निकाचित आदि रूप मे गाढवन्ध से वद्धकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है (अइदुक्खधम्मा) जिसका स्वभाव अत्यन्त दु ख देना है। (तत्थ) उस दु ख परिपूर्ण नरक मे (हत्थेहि पाएहि य बधिऊण) हाथ और पैर वाँधकर (सत्तुव्व) शत्रु की तरह नरकपाल (डडेहि) डडो से (समारभति) मारते-पीटते हैं।

भावार्थ

निरन्तर जलने वाला पूरा का पूरा एक गर्म स्थान है, जो नारक जीवो को निधत्त निकाचित आदि रूप से वद्ध क्रूर कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है, जिसका स्वभाव ही अत्यन्त दु ख देने का है। उस नरकस्थान मे नारक के हाथ-पैर वाँधकर दुश्मन की नरकपाल डडो से पीटते हैं।

व्याख्या

एक तो सदा गर्म स्थान, फिर डडो से पिटाई।

इस गाथा मे इस वात को फिर दोहराया गया है कि एक नरकस्थान ऐसा है, जहाँ हरदम हर कोना आग की तरह जलता है। इतनी डिग्री का तापमान होता है कि मनुष्यलोक का प्राणी तो उसे एक क्षण भी नही सह सकता। नारकी जीव उसमे सदा सिकते रहते हैं, दु ख पाते रहते हैं। प्रश्न होता है, ऐसा सदा अत्यन्त उष्ण जलवायु वाला स्थान उन नारको को क्यो मिलता है? क्या कोई उपाय ऐसा भी है, जिससे वह स्थान टाला जा सके? शास्त्रकार इसके उत्तर मे कहते हैं—'गाढोवणीय'। आशय यह है कि नारको को वह स्थान निधत्त या निकाचित रूप से गाढवन्धन से वद्ध पापकर्मों के फलस्वरूप मिलता है, और वह मिलता है—अनिवार्य। उसे कथमपि टाला नही जा सकता। जो कर्म निकाचित रूप से वँध जाते हैं, उन्हे भोगे विना कोई छुटकारा नही होता। उसमे वे जीव निरुपाय हो जाते हैं। खैर, उन्हें अत्यन्त गर्म स्थान तो मिला, पर दुर्भाग्य यह है कि वहाँ भी नरकपाल उन्हें चैन से वैठने नही देते, दुश्मन की तरह उनकी आँखो मे खून उतर आता है और वे उन नारको के हाथ-पैर वाँधकर डडा से पिटाई करने पर पिल पडते हैं।

मूल पाठ

भजंति बालस्स वहेण पुट्ठी, सीसपि भिदति अओघणेहि।
ते भिन्नदेहा फलग व तच्छा, तत्ताहि आराहि णियोजयति ॥१४॥

सस्कृत छाया

भञ्जति वालस्य व्यथेन पृष्ठि शीर्षमपि भिन्दन्त्योघनै।
ते भिन्नदेहा फलकमिव तष्टास्तप्ताभिराराभिर्नियोज्यन्ते ॥१४॥

अन्वयार्थ

(बालस्स पुट्ठीं) अज्ञानी नारकी जीव की पीठ (वहेण) लाठी आदि से मार-मारकर (भजति) तोड देते हैं। तथा (अओघणेहिं) लोहे के भारी घन से उसका (सीसवि) सिर भी (भिंदति) फोड डालते हैं। (भिन्न देहा ते) इस प्रकार उन नारको के अग अग चूर-चूर कर दिये जाने पर उन्हे (तत्ताहि आराहिं) तपी हुई गर्मागर्म करवतो आरो से (फलग व तच्छा) लकडी के तख्ते की तरह चीर देते हैं, तब उन्हे (णियोजयति) खौलता हुआ गर्मागर्म सीसा पीने मे जबरन प्रवृत्त करते है।

भावार्थ

नरकपाल पहले तो लाठी से मार-मारकर उन नारकी जीवो की पीठ (कमर) तोड देते हैं, फिर लोहे के घन से उनका सिर भी फोड देते है। इस तरह नारको के प्रत्येक अग को चूर-चूर करके फिर उन्हे लकडी के तख्ते की तरह तपे हुए आरो (करवतो) से चीर देते हैं और तब उन्हे गर्मागर्म सीसा पीने को बाध्य करते हैं।

व्याख्या

नारको के समस्त अगभग और गर्म सीसा पीने को बाध्य ?

इस गाथा मे यह बताया गया है कि किस प्रकार नारकी जीवो के अग-अग चूर्ण कर दिये जात है और फिर उन्हें खौलता हुआ सीसा पीने को मजबूर किया जाता है। उन नरकपालो द्वारा सर्वप्रथम बेचारे नारको की पीठ व्यथित करने वाली लाठी, चाबुक आदि के तीव्र प्रहार से तोड दी जाती है। फिर उनका सिर लोहे के भारी-भरकम घन से फोड दिया जाता है। 'अपि' शब्द से यहाँ दूसरे अगोपागो के भी चूर-चूर करने का आशय प्रतीत होता है। इस प्रकार समस्त अग चूर-चूर कर दिये जाने के बाद नारको के शरीर को गर्म आरे से लकडी का तख्ता चीरने की तरह चीर देते हैं। इस तरह विविध प्रकार से पीडित करके भी वे दम नही लेत, अपितु उन्हें उबाल कर गलाया हुआ गर्म सीसा पीने को विवश कर देते हैं। बहरहाल, नारकी जीवो के नाक मे दम कर देते है। एक क्षणभर भी वे सुख की सास नही लेने देते।

मूल पाठ

अभिजुजिय रुद्द असाहुकम्मा, उसुचोइया हत्थिवह वहति ।
एग दुरूहित्तु दुवे ततो वा, आरुस्स विज्भति ककाणओ से ॥१५॥

सस्कृत छाया

अभियोज्य रौद्रमसाधुकर्मण इषुचोदितान् हस्तिवह वाहयन्ति ।
एक समारोह्य द्वौ त्रीन्वा, आरुष्य विध्यन्ति मर्माणि तस्य ॥१५॥

अन्वयार्थ

(असाहुकम्मा) दुष्कर्मकारी पापी नारकी जीवो को (रुद्द अभिजुंजिय) उनके जीवहिंसादि रौद्र-भयकर कुकृत्यो का स्मरण कराकर (उसुचोइया) बाण के प्रहार से प्रेरित करके (हत्थिवह वहति) उनसे हाथी की तरह भार वहन कराते हैं। (एग दुवे ततो वा दुरुहित्तु) एक दो या तीन नारको को उनकी पीठ पर चढाकर उन्हें चलाते है। और (आरुस्स) क्रोध करके (से ककाणओ) उनके मर्मस्थान मे (विज्झति) वेधते है—सुई जैसी नोकदार वस्तु चुभोते हैं।

भावार्थ

नरकपाल पापी नारकी जीवो को उनके पूर्वकृत पापो की याद दिलाकर बाण के प्रहार से प्रेरित करके हाथी की तरह भार ढोने के लिए बाध्य कर देते हैं। उनकी पीठ पर एक दो या तीन नारकी जीवो को बिठाकर चलाते हैं तथा क्रोधित होकर उनके मर्मस्थान मे तीखा नोकदार शस्त्र चुभोते है।

व्याख्या

पूर्व पापो की याद दिलाकर भारवहन को बाध्य

इस गाथा मे नरकपालो द्वारा नारको को जबरन भार ढोने के लिए बाध्य करने का मार्मिक चित्रण है।

'रुद्द अभिजु जिय' इस वाक्य के दो अर्थ निकलते हैं। एक यह है कि नरकपाल नारकी जीवो को दूसरे नारको के हनन आदि रौद्र-क्रूर कर्मो मे लगाकर, तथा दूसरा अर्थ है—पूर्वजन्म मे नारको द्वारा किये गए प्राणिघात आदि भयकर पापकर्मो का स्मरण कराकर।

जैसे हाथी पर चढकर उससे भारी वजन ढोने का काम लेते है, वैसे ही नारकी जीवो से भी नरकपाल किस प्रकार भारवहन कराते हैं ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं एक नारकी जीव की पीठ पर एक, दो या तीन दूसरे नारकी जीवो को बैठाकर उससे भारवहन कराते है। अगर वह अधिक बोझ होने के कारण ठीक से चलता नही है तो रुष्ट होकर उसे चाबुक आदि से मारते है या उसके मर्मस्थान मे सुई आदि तीखी नोकदार चीज चुभो देते हैं। कितनी नृशसता का व्यवहार है यह ? पर क्या किया जाय ? विवश होकर नारकी जीवो को यह सब कष्ट सहना ही पडता है।

मूल

बाला बला भूमिमणुक्कमता, पविज्जल कटइल महत ।
विबद्धतप्पेहि विसण्णचित्ते, समीरिया कोट्टबलि करिति ॥१६॥

सस्कृत छाया

बाला बलाद् भूमिमनुक्राम्यमाणा , पिच्छिला कण्टकिला महतीम् ।
विबद्धतर्पै विषण्णचित्तान् समीरिता कोट्टबलि कुर्वन्ति ॥१६॥

अन्वयार्थ

(बाला) बालक के समान पराधीन बेचारे नारकी जीव नरकपालो द्वारा (बला) बलात्कार से (पविज्जल) कीचड से भरी (कटइल) और काँटो से परिपूर्ण (महत भूमि) विस्तृत भूमि पर (अणुक्कमता) चलाये जाते है । (समीरिया) पापकर्म से प्रेरित नरकपाल (विसण्णचित्ते) मूर्च्छित या दूसरे नारकी जीवो को (कोट्टबलि करिति) खण्डश काट-काटकर नगरबलि के समान इधर-उधर फैंक देते है ।

भावार्थ

पाप से प्रेरित नरकपाल बालकवत् परवश बेचारे नारकी जीवो को कीचड से लथपथ एव काटो से भरी विशाल पृथ्वी पर चलने के लिए बाध्य कर देते है । तथा अनेक प्रकार के बधनो से बाँधे हुए तथा विषण्णचित्त सज्ञाहीन बेचारे दूसरे नारकी जीवो को खण्ड-खण्ड करके नगरबलि के समान इधर-उधर फैंक देते हैं ।

व्याख्या

यातना पर यातना ।

इस गाथा मे पहले कही बात को फिर दुहराया गया है । इस प्रकार पुनरुक्ति करने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि नरकभूमि की भयकरता हृदयगम हो जाए । बेचारे नारकी जीवो को पहले तो भूमि ही दु खपूर्ण मिलती है, उस पर नरकपाल लोग बरबस उन्हे कीचड से लथपथ एव काँटो से भरी बहुत विशाल जमीन पर धीमे चलने पर दौडने के लिए बाध्य कर देते है । इसके अतिरिक्त अन्य मूर्च्छित या विषण्णचित्त नारको को अनेक प्रकार से बाँधकर पापकर्म से प्रेरित नरकपाल खण्ड-खण्ड काटकर नगरबलि के समान इधर-उधर फैंक देते हैं । उसके शरीर की बोटी-बोटी करके बलि कर देते है । निष्कर्ष यह है कि बेचारे नारको को नरक मे यातना पर यातना प्राप्त होती है ।

मूल पाठ

वेतालिए नाम महाभितावे, एगायते पव्वयमतलिक्खे ।
हम्मति तत्था बहुकूरकम्मा पर सहस्साण मुहुत्तगाणं ॥१७॥

सस्कृत छाया

वैतालिको नाम महाभिताप एकायत पर्वतोऽन्तरिक्षे ।
हन्यन्ते तत्स्था बहुक्रूरकर्माण पर सहस्राणा मुहूर्त्तकाणाम् ॥१७॥

सस्कृत छाया

सम्बाधिता दुष्कृतिनः स्तनन्ति, अह्नि च रात्रौ परितप्यमाना ।
एकान्तकूटे नरके महति, कूटेन तत्स्था विषमे हतास्तु ॥१८॥

अन्वयार्थ

(सबाहिया) निरन्तर पीडित किये जाते हुए (दुक्कडिणो) दुष्कर्म किये हुए पापात्मा नारक (अहो य राओ परितप्पमाणा) दिन और रात परिताप—दु ख भोगते हुए (थणति) रोते रहते है। (एगतकूडे) एकान्त केवल दु ख के स्थान (महते) विस्तृत (विसमे) ऊवडखावड या कठिन (नरए) नरक मे पडे हुए प्राणी (कूडेण हता उ) गले मे फाँसी डालकर मारे जाते हुए (तत्था) वहाँ रहने वाले नारकी जीव केवल रोते रहते हैं।

भावार्थ

सतत पोडा दिये जाते हुए पापकर्मी जीव (नारक) अहर्निश सतप्त होते हुए आँसू बहाते रहते है। एकान्त रूप से दु ख के पु ज उस विशाल एव विषम नरक मे रहने वाले वे नारक जीव गले मे फाँसी डालकर मारे जाते समय केवल रोते रहते हैं।

व्याख्या

अब इन आँसुओ का कोई मूल्य नहीं।

इस गाथा मे सदा और लगातार पीडित किये जाते हुए महापापी जीवो के सतत दु खो से घिरे होने से एकमात्र रुदन का वर्णन है। भला, जो प्राणी अपने पूर्व जीवन मे अहर्निश पापो मे आकण्ठ डूबा रहा है, उसे अव एकान्त दु खरूप, अति-विस्तृत एव विपम नरक मे जब निरन्तर तरह-तरह से पीडित किया जाता है, और उसके दु ख की कोई फरियाद नही होती, तब सिवाय रोने-धोने और हाय-तोबा मचाने के और कोई चारा नही रहता। किन्तु अब इन आंसुओ का कोई मोल नही, किसी को उनके पूर्वकृत महापापकर्मो कारण उन पर करुणा पैदा नही होती।

मूल पाठ

भजति ण पुव्वमरी सरोसं, समुग्गरे ते मुसले गहेतु ।
ते भिन्नदेहा रुहिर वमता, ओमुद्धगा धरणितले पडति ॥१९॥

संस्कृत छाया

भञ्जन्ति पूर्वारय सरोष, समुद्गराणि मुसलानि गृहीत्वा ।
ते भिन्नदेहा रुधिर वमन्तोऽधोमुखा धरणीतले पतन्ति ॥१९॥

अन्वयार्थ

(समुग्गरे मुसले गहेतु) मुद्गर और मूसल हाथ मे लेकर नरकपाल

(पुव्वमरी) पहले के शत्रु के ममान (सरोस) रोप के साथ (भजति) नारकी जीवो के अगो को तोड देते है। (भिन्नदेहा) जिनकी देह टूट गई है, ऐसे नारकी जीव (रुहिर वमता) रक्त वमन करते हुए अधोमुख होकर (धरणितले) भूतल पर (पडति) गिर जाते हैं।

भावार्थ

पूर्वजन्म के दुश्मन के ममान हाथ मे मुद्गर और मूसल लिए परमा धार्मिक असुर नारको को देखते ही उन पर टूट पडते है, प्रहार से उनके अग-अग चूर-चूर कर डालते है। देह चूर-चूर हो जाने के कारण मुँह से खून की उल्टी करते हुए वे नारकी जीव औंधे मुँह जमीन पर गिर पडते हैं।

व्याख्या

नारकों की भयकर दुर्दशा

इस गाथा मे नारको की भयकर दुर्दशा का करुण वर्णन है। पूर्वजन्म मे किये हुए पापो की भयकर सजा इस नरकभव मे उन्हे परमाधार्मिक असुर देते हैं। वे या अन्य नारक जब सजा देने लगते हैं तो पूर्वजन्म के शत्रु-से बनकर हाथ मे मुद्गर और मूसल लिये रोषपूर्वक नारकों पर गाढ प्रहार करते है, जिससे उनके अ ग चूर चूर हो जाते हैं। उसके बाद अरक्षित, असहाय एव शस्त्र से आहत नारकी जीव मुँह से खून की उल्टी करते हुए औंधे मुँह के बल जमीन पर गिर पडते हैं। वे जोर से कराहते हैं, लेकिन कोई उनकी पुकार नही सुनता।

मूल पाठ

अणासिया नाम महासियाला पागब्भिणो तत्थ सया सकोवा।
खज्जति तत्था बहुकूरकम्मा, अदूरगा सकलियाहि बद्धा ॥२०॥

सस्कृत छाया

अनशिता नाम महाश्रृगाला प्रगल्भिणस्तत्र सदा सकोपा।
खाद्यन्ते तत्स्था बहु क्रूरकर्माण अदूरगा श्रृ खलैर्बद्धा ॥२॥

अन्वयार्थ

(तत्थ) उस नरक मे (सया सकोवा) सदा क्रोधित (अणासिया) क्षुधातुर (पागब्भिणो) ढीठ (महासियाला) बडे-बडे सियार रहते हैं। (तत्था) वे वहाँ रहने वाले सियार (बहुकूरकम्मा) जन्मान्तर मे अत्यन्त पाप किये हुए (सकलियाहि बद्धा) जजीरो से बधे हुए (अदूरगा) निकट मे स्थित नारको को (खज्जति) खा जाते है।

भावार्थ

वहाँ नरक मे सदा क्रोधित और भूखे ढीठ भीमकाय श्रृगाल रहते

है। ये शृगाल पूर्वजन्म मे कृत पापो के कारण जजीरो से बंधे हुए रहते हैं। ये निकट मे स्थित नारकी जीवो को खा जाते है।

व्याख्या

नारको को खा जाने वाले ये खूंख्वार और भूखे गीदड

इस गाथा मे नरक के खूंख्वार और भूखे गीदडो का वर्णन है। ये गीदड भी नारको को दण्ड देने के लिए उनके निकट ही छिपे रहते है। ये गीदड कैसे होते हैं ? इसके लिए शास्त्रकार ७ विशेषणो द्वारा उनका स्वरूप बताते है—(१) अनशित (भूखे) (२) महाशृगाल (विशालकाय गीदड) (३) प्रगल्भी—ढीठ, (४) सदा सकोप—हर समय उनकी भौंहे तनी रहती हैं, (५) अत्यन्त क्रूरकर्म किये हुए, (६) जजीरो से जकडे हुए एव (७) अदूरगा—बहुत ही निकट (नारको के) रहने वाले। सचमुच ये शिकारी गीदड दाँव लगते ही वहाँ के निकटस्थ नारको का सफाया कर डालते हैं। वस्तुत ये गीदड भी वहाँ के नरकपालो द्वारा वैक्रिय शक्ति से बनाये जाते हैं।

मूल पाठ

सयाजला नाम नदीऽभिदुग्गा पविज्जल लोहविलीणतत्ता।
जसी भिदुग्गसि पवज्जमाणा, एगायऽताऽणुक्कमण करेति ॥२१॥

सस्कृत छाया

सदाजला नाम नद्यभिदुर्गा पिच्छिला लोहविलीनतप्ता ।
यस्यामभिदुर्गाया प्रपद्यमाना, एका अत्राणा उत्क्रमण कुर्वन्ति ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**सयाजला नाम**) नरक मे सदाजला नामक (**नदीऽभिदुग्गा**) अत्यन्त दुर्गम गहन या विषम नदी है (**पविज्जल**) उसका जल क्षार, मवाद और रक्त से मैला रहता है। अथवा वह नदी अत्यन्त भारी कीचड से सनी है। (**लोहविलीणतत्ता**) तथा वह आग से पिघले हुए तरल लोहे के समान अत्युष्ण जल को धारण करती है। (**अभिदुग्गसि जसी पवज्जमाणा**) अतिविषम जिस नदी मे पहुँचे हुए नारक जीव (**एगायताणुक्कमण करेंति**) बेचारे अकेले और अरक्षित ही तैरते है।

भावार्थ

नरक मे सदाजला नाम की एक नदी है, जिसमे हमेशा पानी भरा रहता हैं वह नदी अत्यन्त कष्टदायिनी है। उसका पानी रक्त, मवाद एव क्षार आदि से सदा मलिन रहता है। आग से पिघले हुए तरल लोहे के समान उसका जल अत्यन्त गर्म रहता है। उस अतिविषम नदी पर पहुँचे हुए नारकी जीव बेचारे अकेले अरक्षित और असहाय-से बने उस नदी मे तैरते हैं।

व्याख्या

सदाजला नदी नारको को कष्टदायिनी

इस गाथा मे नरक की एक सदाजला नदी का चित्रण किया गया है। सदाजला 'यथानाम तथागुण' वाली है। इसका दूसरा रूप 'सदाज्वला' भी होता है, जिसका अथ होता है—सदाज्वलनशील। उसका जल लोहे को अत्यन्त गर्म करके पिघलाए हुए गर्म रस का-सा अत्यन्त गर्म एव रक्त, मवाद तथा क्षार से मैला रहता है। रक्त से भरी होने वाली यह नदी बडी फिसलनी (चिकनी) है। अथवा विस्तृत और गहरे जल वाली है। अथवा वह प्रदीप्तजला यानी सदा अत्युष्ण जल वाली है। ऐसी सदाजला नदी पर नरक के भयकर ताप से बचने हेतु नारक पहुँच जाते है, लेकिन वहाँ ठडक तो मिलती नही। न कोई उनकी रक्षा करने वाला होता है, बेचारे अकेले-अकेले ही तैरते हैं।

मूल पाठ

एयाइ फासाइ फुसति बाल, निरतर तत्थ चिरट्ठितीय ।
ण हम्ममाणस्स उ होइ ताण, एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खा ॥२२॥

सस्कृत छाया

एते स्पर्शा स्पृशन्ति बाल, निरन्तर तत्र चिरस्थितिक ।
न हन्यमानस्य तु भवति त्राण एक स्वय प्रत्यनुभवति दु खम् ॥२२॥

अन्वयार्थ

(तत्थ) वहाँ नरक मे **(चिरट्ठितीय)** चिरकाल तक निवास करने वाले **(बाल)** अज्ञानी नारक को **(एयाइ फासाइ)** ये पूर्वोक्त स्पर्श यानी दु ख **(निरतर)** सदा सतत **(फुसति)** पीडित करते रहते है। **(हम्ममाणस्स उ)** पूर्वोक्त दु खो से आहत होते हुए नारकी जीव का **(ताण ण होइ)** वहाँ कोई त्राण—रक्षक नही होता। सच है, **(एगो सय दुक्ख पच्चणुहोइ)** वह अकेला उक्त दु खो को भोगता है।

भावार्थ

पहले के दो उद्देशको मे जिन कठोर दु खो का वर्णन किया है, उन सब दु खो का स्पर्श अज्ञानी नारकी जीव को निरन्तर होता रहता है। उन नारकी जीवो की आयु भी लम्बी होती है, और उस दु ख से उनकी रक्षा भी नही हो सकती। वह अकेला ही उन दु खो को भोगता है। उसकी सहायता या रक्षा दूसरा कोई नही कर सकता।

व्याख्या

अकेले ही दीर्घकाल तक दु खरूप फलभोग

इस गाथा मे उद्देशक का उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते है—'एयाइ फासाइ पच्चणुहोइ दुक्ख।'

इस गाथा मे तीन बातो की ओर शास्त्रकार का सकेत है—

(१) पूर्वोक्त समस्त कठोर दु ख नारकी जीवो को सतत भोगने पडते है।

(२) नारकी की आयु बहुत लम्बी होती है, उसका रक्षक कोई नही बनता।

(३) उन दु खो को वह अकेला ही भोगता है, उसका सहभागी कोई नही होता।

नारको को प्राप्त होने वाले दु ख चाहे परमाधार्मिको द्वारा प्राप्त होते हो, अथवा परस्पर नारको द्वारा हो या प्रकृतिकृत शीतोष्णादि दु ख हो, सभी दु ख अतिकटु हैं। ऐसे अतिदु सह रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द पाकर अज्ञानी नारक बार-बार पीडित होते रहते हैं। कोई भी क्षण ऐसा खाली नही जाता, जब उन्हे दु ख से छुट्टी मिलती हो। सदैव सतत दु ख, दु ख और दु ख ही मिलता रहता है।

फिर नारको की आयु (स्थिति) बहुत लबी होती है। सातो नरको की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश १, ३, ७, १०, १७, २२ और ३३ सागरोपम काल की है। ससारी जीवो मे नारकी के सिवाय अन्य किसी प्राणी की इतनी उत्कृष्ट स्थिति नही होती। दु ख भी उत्कट और उस पर अत्यन्त लम्बी आयु होती है। इसलिए चिरकाल तक नरक मे पडे रहकर कठोर कारावास से भी बढकर दण्ड प्राप्त होता है, उसे भोगना पडता है।

प्रश्न होता है, क्या उस नारक के इतने उत्कट दु ख को सहने मे कोई हिस्सेदार (Partner) नही होता, ताकि दु ख का बँटवारा होने से उसे कम दु ख सहना पडे ? शास्त्रकार कहते हैं—'एगो सय पच्चणुहोइ दुक्ख' अर्थात् जीव सदा स्वय अकेला ही दु ख का अनुभव करता है, उसके साथ दूसरा कोई साझीदार नही होता। वह बेचारा अफसोस करता है—

मया परिजनस्यार्थे कृत कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्योऽह गतास्ते फलभोगिन ॥

अर्थात्—हाय ! मैंने अपने परिवार के लिए अत्यन्त भयकर दुष्कर्म किये। परन्तु फल भोगने के समय मैं अकेला यहाँ जल सड रहा हूँ, फल भोगते समय वे सब मुझे छोडकर चले गए।

मूल पाठ

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति सपराए।
एगतदुक्खं भवमज्जणित्ता, वेदति दुक्खी तमणत दुक्ख ॥२३॥

सस्कृत छाया

यद् यादृश पूर्वमकार्षीत् कर्म, तदेवागच्छतिसम्पराये ।
एकान्तदु ख भवमर्जयित्वा, वेदयन्ति दु खिनस्तमनन्तदु खम् ॥२३॥

व्याख्या

सदाजला नदी नारको को कष्टदायिनी

इस गाथा मे नरक की एक सदाजला नदी का चित्रण किया गया है। सदाजला 'यथानाम तथागुण' वाली है। इसका दूसरा रूप 'सदाज्वला' भी होता है, जिसका अथ होता है—सदाज्वलनशील। उसका जल लोहे को अत्यन्त गर्म करके पिघलाए हुए गर्म रस का-सा अत्यन्त गर्म एव रक्त, मवाद तथा क्षार से मैला रहता है। रक्त से भरी होने वाली यह नदी बडी फिसलनी (चिकनी) है। अथवा विस्तृत और गहरे जल वाली है। अथवा वह प्रदीप्तजला यानी सदा अत्युष्ण जल वाली है। ऐसी सदाजला नदी पर नरक के भयकर ताप से बचने हेतु नारक पहुँच जाते हैं, लेकिन वहाँ ठडक तो मिलती नही। न कोई उनकी रक्षा करने वाला होता है, बेचारे अकेले-अकेले ही तैरते हैं।

मूल पाठ

एयाइ फासाइ फुसति बाल, निरतर तत्थ चिरट्ठितीय ।
ण हम्ममाणस्स उ होइ ताण, एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खा ॥२२॥

संस्कृत छाया

एते स्पर्शा स्पृशन्ति बाल, निरन्तर तत्र चिरस्थितिक ।
न हन्यमानस्य तु भवति त्राण एक स्वय प्रत्यनुभवति दु खम् ॥२२॥

अन्वयार्थ

(तत्थ) वहाँ नरक मे **(चिरट्ठितीय)** चिरकाल तक निवास करने वाले **(बाल)** अज्ञानी नारक को **(एयाइ फासाइ)** ये पूर्वोक्त स्पर्श यानी दु ख **(निरतर)** सदा सतत **(फुसति)** पीडित करते रहते हैं। **(हम्ममाणस्स उ)** पूर्वोक्त दु खो से आहत होते हुए नारकी जीव का **(ताण ण होइ)** वहाँ कोई त्राण—रक्षक नही होता। सच है, **(एगो सय दुक्ख पच्चणुहोइ)** वह अकेला उक्त दु खो को भोगता है।

भावार्थ

पहले के दो उद्देशको मे जिन कठोर दु खो का वर्णन किया है, उन सब दु खो का स्पर्श अज्ञानी नारकी जीव को निरन्तर होता रहता है। उन नारकी जीवो की आयु भी लम्बी होती है, और उस दु ख से उनकी रक्षा भी नही हो सकती। वह अकेला ही उन दु खो को भोगता है। उसकी सहायता या रक्षा दूसरा कोई नही कर सकता।

व्याख्या

अकेले ही दीर्घकाल तक दु खरूप फलभोग

इस गाथा मे उद्देशक का उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'एयाइ फासाइ पच्चणुहोइ दुक्ख।'

इस गाथा मे तीन बातो की ओर शास्त्रकार का सकेत है—

(१) पूर्वोक्त समस्त कठोर दु ख नारकी जीवो को सतत भोगने पडते हैं।

(२) नारकी की आयु बहुत लम्बी होती है, उसका रक्षक कोई नही वनता।

(३) उन दु खो को वह अकेला ही भोगता है, उसका सहभागी कोई नही होता।

नारको को प्राप्त होने वाले दु ख चाहे परमाधार्मिको द्वारा प्राप्त होते हो, अथवा परस्पर नारको द्वारा हो या प्रकृतिकृत शीतोष्णादि दु ख हो, सभी दु ख अतिकटु हैं। ऐसे अतिदु सह रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द पाकर अज्ञानी नारक बार-बार पीडित होते रहते हैं। कोई भी क्षण ऐसा खाली नही जाता, जब उन्हे दु ख से छुट्टी मिलती हो। सदैव सतत दु ख, दु ख और दु ख ही मिलता रहता है।

फिर नारको की आयु (स्थिति) बहुत लबी होती है। सातो नरको की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश १, ३, ७, १०, १७, २२ और ३३ सागरोपम काल की है। ससारी जीवो मे नारकी के सिवाय अन्य किसी प्राणी की इतनी उत्कृष्ट स्थिति नही होती। दु ख भी उत्कट और उस पर अत्यन्त लम्बी आयु होती है। इसलिए चिरकाल तक नरक मे पडे रहकर कठोर कारावास से भी बढकर दण्ड प्राप्त होता है, उसे भोगना पडता है।

प्रश्न होता है, क्या उस नारक के इतने उत्कट दु ख को सहने मे कोई हिस्सेदार (Partner) नही होता, ताकि दु ख का बँटवारा होने से उसे कम दु ख सहना पडे? शास्त्रकार कहते हैं—'एगो सय पच्चणुहोइ दुक्ख' अर्थात् जीव सदा स्वय अकेला ही दु ख का अनुभव करता है, उसके साथ दूसरा कोई साझीदार नही होता। वह बेचारा अफसोस करता है—

मया परिजनस्यार्थे कृत कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्येऽह गतास्ते फलभोगिन ॥

अर्थात्—हाय! मैंने अपने परिवार के लिए अत्यन्त भयकर दुष्कर्म किये। परन्तु फल भोगने के समय मैं अकेला यहाँ जल सड रहा हूँ, फल भोगते समय वे सब मुझे छोडकर चले गए।

मूल पाठ

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति सपराए।
एगतदुक्ख भवमज्जणित्ता, वेदति दुक्खी तमणत दुक्ख ॥२३॥

सस्कृत छाया

यद् यादृश पूर्वमकार्षीत् कर्म, तदेवागच्छतिसम्पराये।
एकान्तदु ख भवमर्जयित्वा, वेदयन्ति दु खिनस्तमनन्तदु खम् ॥२३॥

अन्वयार्थ

(ज) जो, (जारिस) जैसा (पुव्व) पूर्व मे पूर्वजन्म मे (कम्म) कर्म (अकासि) जीव ने किया ह, (तमेव) वही (सपराए) ससार—दूसरे भव मे (आगच्छति) आता है। (एगतदुक्ख भव अज्जणित्ता) जिसमे (नरक मे) एकान्त दु ख होता है, ऐसे भव (जन्म) को प्राप्त करके (दुक्खी) एकान्तदु खी जीव (त अणतदुक्ख वेदति) अनन्त दु खरूप उस नरकरूप फल को भोगते है।

भावार्थ

जिस जीव ने पूर्वजन्म या पूर्वकाल मे जैसे कर्म किये है, उसे दूसरे भव (समार) मे वही प्राप्त होता है। जिन्होने एकान्तदु खरूप नरकभव का कर्म किया है, अनन्तर दु खरूप उम नरकरूप फल को भोगते है।

व्याख्या

जैसे जिसके कर्म, वैसा ही फलभोग।

इस गाथा मे यह स्पष्ट किया गया है कि नारको को जो नरक मिला है, वह किसी ईश्वर या किसी शक्ति द्वारा नही मिला है, अपितु जैसे जिस जीव ने कर्म किये थे, तदनुसार उसे अपना नया ससार मिलता है। इस दृष्टि से उन्हे पूर्वजन्म मे उपाजित एकान्त दु खजनक पापकर्मों के अनुसार एकान्त दु खरूप नरक मिला है। 'जैसी करणी, वैसी भरणी' की कहावत ही इस सम्बन्ध मे चरितार्थ होती है। कर्म सिद्धान्त इतना प्रबल एव अकाट्य सिद्धान्त है कि इसमे किसी भी पक्षपात, किसी भी ईश्वर या परम शक्ति के हस्तक्षेप अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति को कहने की गुजाइश ही नही रहती। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—'ज जारिस तमणत दुक्खं।' आशय यह है कि प्राणी पूर्वजन्म मे जैसी स्थिति और जैसे अनुभाव (रस) वाले जो कर्म करता है, वैसा ही अर्थात् जघन्य, मध्यम एव उत्कृष्ट स्थिति वाला तथा जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट अनुभव वाला उसी तरह का फल ससार (अगले जन्म) मे उसे प्राप्त होता है। अर्थात् तीव्र, मन्द और मध्यम जैसे अध्यवसायो (परिणामो से जो कर्म बाँधा गया है, वह तीव्र, मन्द और मध्यम विपाक (फल) उत्पन्न करता हुआ उदय मे आता है। जिस प्राणी ने सुख के लेश से भी रहित एकान्तरूप से दु खोत्पादक नरक-भव के कारणरूप कर्मो का उपार्जन किया है, वह एकान्त दु खी होकर पूर्वोक्त असातावेदनीय रूप अनन्त (जिसका चिरकाल तक अन्त न हो) अशान्तियोग्य एव अप्रतीकार्य दु खो को भोगता है, यानी वैसे दु खों का दीर्घकाल तक अनुभव करता है।

मूल पाठ

एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे, न हिंसए किंचण सव्वलोए।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ, बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥२४॥

संस्कृत छाया

एतान् श्रुत्वा नरकान् धीरो, न हिंस्यात् कचन सर्वलोके ।
एकान्त दृष्टिरपरिग्रहस्तु बुध्येत लोकस्य वश न गच्छेत् ।।२४।।

अन्वयार्थ

(धीरे) बुद्धिशील धीरपुरुष **(एयाणि णरगाणि)** इन नरको के वर्णन को **(सोच्चा)** सुनकर **(सव्वलोए)** समग्र लोक मे **(किंचण)** किसी प्राणी की **(न हिंसए)** हिंसा न करे। **(एगतदिट्ठी)** किन्तु एकमात्र जीवादि तत्त्वो या आत्मतत्त्व या सिद्धा त पर दृष्टि (विश्वास) रखता हुआ **(अपरिग्गहे उ)** परिग्रहरहित होकर **(लोयस्स बुज्झिज्ज)** अशुभकर्म करने और उनका फल भोगने वाले लोक—जीवलोक को समझे, अथवा कषायो का स्वरूप जाने तथा **(वस न गच्छे)** कदापि उनके वश मे (अधीन) न हो, यानी उनके प्रवाह मे न बहे ।

भावार्थ

धीरपुरुष इन नरको का वर्णन सुनकर समस्त लोक मे किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। साथ ही जीवादि तत्त्वो या एकमात्र आत्मतत्त्व पर सम्यक् श्रद्धा (दृष्टि) रखता हुआ परिग्रहवृत्ति से रहित होकर अशुभकर्म और उनके फलस्वरूप मिलने वाले लोक या जीवलोक अथवा कषायलोक का स्वरूप समझे और कदापि उनके अधीन न हो ।

व्याख्या

'नरकविभक्ति' से साधक शिक्षा या प्रेरणा ले

इस गाथा मे इस सारे अध्ययन को जान-सुनकर साधक को जो शिक्षा या प्रेरणा लेनी चाहिए, वह सक्षेप मे बताई है—**'एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे ।'** आशय यह है कि बुद्धि से सुशोभित विद्वान् एव हिताहित विवेकी धीरपुरुष, जिनका वर्णन इस अध्ययन के दोनो उद्देशको मे किया गया है, उन नरको यानी नरक मे प्राप्त होने वाले दु खो को सुनकर निम्नोक्त शिक्षा या प्रेरणा ले —(१) समग्र लोक मे किसी की हिंसा न करे, (२) परिग्रहरहित हो, (३) एकमात्र आत्मतत्त्व या तत्सम्बद्ध जीवादि तत्त्वो मे अविचल दृष्टि या श्रद्धा रखे, (४) अशुभकर्म करने और उसका फल भोगने वाले जीवलोक या कषायलोक को स्वरूपत जाने, (५) किन्तु उनके प्रवाह मे न बह जाय, उनके अधीन न रहे ।

निष्कर्ष यह है कि साधक नरक मे नारको को मिलने वाले भयकर दु खो और उन दु खो के कारणो को जानकर वैसे कुकृत्य न करे जिनसे नरक का बन्ध हो, तथा अगर कोई कुकृत्य पहले अज्ञान या मोहवश हो गया हो तो उसके सम्बन्ध मे आलोचना, प्रायश्चित्त, तप, जप आदि के द्वारा उस दुष्कर्म की शुद्धि कर ले ।

यहाँ 'अपरिग्गहे उ' मे 'उ' (तु) शब्द से परिग्रह के अतिरिक्त मृषावाद, अदत्तादान और मैथुन के त्याग को भी समझ लेना चाहिए। मतलब यह है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एव योग ये पाँच जो कर्मबन्ध के मुख्य कारण है, उनको छोडना नरकादि के बन्ध से बचने के लिए अनिवार्य है। अगर इनका त्याग या पापकर्मो का त्याग नही किया जाए और भगवान, तीर्थंकर, मसीहा, पैगबर, खुदा, गॉड या ईश्वर किसी से केवल नरकादि से बचाने की प्रार्थना की जाएगी तो वह निष्फल होगी, कोई भी शक्ति घोरपापी को नरक से बचा नही सकती। इस गाथा के पीछे यह रहस्य भी निहित है।

मूल पाठ

एव तिरिक्खे मणुयाम (सु) रेसु, चतुरतऽणत तयणुव्विवाग।
स सव्वमेयं इति वेदइत्ता, कखेज्ज काल धुयमायरेज्ज ॥२५॥
॥त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

एव तिर्यक्षु मनुजाम (सु) रेषु चतुरन्तमनन्त तदनुविपाकम्।
स सर्वमेतदिति विदित्वा काङ्क्षेत काल ध्रुवमाचरेत ॥२५।
॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(एव) इसी तरह (तिरिक्खे मणुयामरे सु) तिर्यञ्चो मे, मनुष्यो और देवो मे भी उपलक्षण से नरक मे जो (चउरतऽणत) चारगतिरूप तथा अनन्त ससार है, तथा (तयणुव्विवाग) उन चारो गतियो या उनमे कृतकर्मो के अनुरूप जो विपाक (फल) है, (इति एय सव्व स वेदइत्ता) जैसा जिसका यथार्थ वस्तु स्वरूप है, इन सब बातो को वह बुद्धिमान पुरुष जानकर (काल कखेज्ज) अपने मरणकाल की प्रतीक्षा एव समीक्षा करे, साथ ही (धुयमायरेज्ज) ध्रुव-मोक्षमार्ग—सयम या धर्मपथ का भली भाँति आचरण करे।

भावार्थ

जैसे पापकर्मी पुरुष की पूर्वगाथाओ मे नरकगति बताई है, इसी प्रकार तिर्यञ्च, मनुष्य या देवगति मे जो चातुर्गतिक रूप तथा अनन्त ससार है, (जिसका अत बहुत ही कठिनता से होता है) तथा उन चारो गतियो या उनमे कृतकर्मो के अनुरूप जो विपाक (फल) प्राप्त होता है, इन सब बातो का पूर्वोक्त रीति से यथार्थ वस्तुस्वरूप वह बुद्धिमान् पुरुष जानकर मरण-काल की प्रतीक्षा और समीक्षा करता हुआ ध्रुवमोक्ष या मोक्ष के कारणभूत सयम का यथार्थ रूप से पालन करे।

व्याख्या

चातुर्गतिकरूप अनन्त ससार का स्वरूप समझो

इस गाथा मे अध्ययन की परिसमाप्ति पर नरकगति ही नही, शेप तीनो गतियो सहित चारो गतियो और उनके अनुरूप होने वाले कर्मफल के यथार्थ वस्तु-तत्त्व को समझने और मृत्युपर्यन्त इनके चक्कर मे न आकर मोक्षप्राप्ति के अनुरूप सयम पालन का उपदेश दिया है।

नरकविभक्ति अध्ययन के सन्दर्भ मे नरकगति के अतिरिक्त शेष तीन गतियो मे गमन के कारणो और तदनुरूप होने वाले कर्मफलो के यथार्थ स्वरूप को समझने की बात इसलिए कही गई है कि मनुष्य यह समझता है कि ऐसे घोर दु ख तो नरकगति मे ही मिलते हैं, अन्यत्र नही, परन्तु उसकी यह भ्रान्ति है। अशुभकर्म उदय मे आता है तो नरक के अतिरिक्त तिर्यचगति, मनुष्यगति एव देवगति मे नरक के जैसे दु ख उतनी तीव्र मात्रा मे नही तो अल्पतीव्र मात्रा भी भोगने पडते हैं। तिर्यञ्चगति मे परवश होकर कितना दु ख उठाना पडता है, यह सर्वविदित है। मनुष्यगति मे भी इष्टवियोग, रोग, शोक, पीडा, मानसिक वेदना, अपमान, निर्धनता, क्लेश, राज-दण्ड आदि भयकर दु खो का साम्राज्य देखा जाता है। और देवगति मे भी ईर्ष्या, कलह, ममत्वजनित दु ख, वियोग, नीच जाति के देवो मे उत्पत्ति आदि अनेको दु ख हैं। इसीलिए शास्त्रकार का आशय यह है कि नरकगति मे जैसे नारकीय एव दु ख-मय वातावरण हो सकता है वैसे ही मनुष्यगति, तिर्यंचगति एव देवगति मे भी नार-कीय एव दु खमय वातावरण हो सकता है, इसलिए उस भावनरक से बचो, उसके कारणो को समझो और चातुर्गतिक रूप ससार और तदनुरूप मिलने वाले कर्मफल को भी जान लो। ससार का स्वरूप, उसके कारण और तदनुरूप फल के यथार्थ तत्त्व को समझकर जो ध्रुव —मोक्ष है, जहाँ जाने के बाद गमनागमन, जन्ममरण आदि नही होता, उसी दिशा मे मृत्युपर्यन्त प्रयत्नशील रहे, धर्म या सयम का मोक्षदृष्टि से आचरण करे। ससारदृष्टि को छोडे। चार गतियो मे से नरकगति के चार कारणो का उल्लेख पहले किया जा चुका है। देवगति के सरागसयम, सयमासयम, अकाम निर्जरा और बालतप ये ४ कारण हैं, मनुष्यगति के प्रकृतिभद्रता, प्रकृतिविनीतता, जीवदया और किसी से ईर्ष्या न रखना ये ४ कारण हैं, तथा तिर्यचगति के माया, गूढमाया, असत्यभाषण और झूठा तोल-माप करना ये ४ कारण शास्त्रो मे बताए हैं। इन्हें जानकर साधक सयममार्ग मे आने वाले परीषहों और उपसर्गो को भी समभाव से सहने की प्रेरणा ले यह भी इस अध्ययन मे नरकदर्शन (विभक्ति) के निरूपण के पीछे रहस्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार पचम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ नरकविभक्ति नामक पचम अध्ययन समाप्त ॥

छठा अध्ययन · वीरस्तुति

पाँचवें नरकविभक्ति अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब छठा 'वीर-स्तुति' अध्ययन प्रारम्भ कर रहे है। पूर्वोक्त पांच अध्ययनो के साथ इस अध्ययन का सम्बन्ध यह है कि पहले से लेकर पाँचवें अध्ययन तक विभिन्न पहलुओ से कर्मबन्धन के कारणो तथा कर्मबन्ध से होने वाले तीव्र दु खदायक फलो का निरूपण किया गया है। कही मिथ्यात्व से होने वाले कर्मबन्धो का प्रतिपादन किया गया है, तो कही प्रमाद—उपसर्गों के सहन करने मे असावधानी से होने वाले कर्मबन्धन का विवेचन है, कही अविरति—हिंसा, असत्य, परिग्रह, अब्रह्मचर्य (स्त्रीससर्ग) आदि से होने वाले कर्मबन्धनो और उनके परिणामो खासा अच्छा चित्रण किया गया है, तो कही घोर पापकर्मो के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले नरक और तज्जनित दु खो का कच्चा चिटठा खोलकर रख दिया है। अब इस छठे अध्ययन मे इन सब कर्मबन्धनो, उनके करणो—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, स्त्रीससर्ग आदि से दूर रहने वाले तथा उपसर्गों और परीषहो के समय चट्टान-से दृढ रहने वाले स्थिरप्रज्ञ, नरक बन्ध के ही नही, चारो गतियो के बन्ध के कारणो से स्वय दूर रहने वाले तथा जगत् के सभी भव्य जीवो को उस सम्बन्ध मे प्रतिबोध देकर दूर रहने के लिए सावधान करने वाले श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर के आदर्श जीवन की झाँकी वीरस्तुति के माध्यम से श्री सुधर्मास्वामी दे रहे हैं। इस अध्ययन को प्ररूपित करने का प्रयोजन यह है कि जो साधक कर्मबन्धन के कारणो को समझकर उनसे दूर रहना और कर्मफलो से बचना चाहता है, अपनी आत्मा को शुद्ध सयम या ज्ञानदर्शन-चारित्ररूप मोक्ष के पथ पर ले जाना चाहता है, उसके सामने एक आदर्श होना चाहिए, ताकि वह उसके सहारे अपने जीवन के चित्र को सयम के विविध रगो से भर सके। पूर्णता के आदर्श के बिना अपूर्ण साधक का आगे बढना कठिन होता है। अत उस आदर्श जीवन की झाँकी वीरस्तुति के नाम से प्रस्तुत की जा रही है।

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय—इस अध्ययन का नाम 'वीरस्तुति' है। इसका सिर्फ एक उद्देशक ही है। इस अध्ययन मे भगवान् महावीर स्वामी के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, धर्मपुरुषार्थ आदि सद्गुणो के सम्बन्ध मे श्री जम्बूस्वामी द्वारा उठाए एक प्रश्न का श्री सुधर्मास्वामी द्वारा प्रतिपादित सगोपाग उत्तर है। भगवान्

महावीर की महत्ता एव आदर्श का एक बहुत ही सुन्दर एव उज्ज्वल चित्र इसमे प्रस्तुत किया गया है, उन्ही के ही एक महान् ज्ञानी एव सयमी शिष्य श्री गणधर सुधर्मास्वामो के द्वारा। भगवान् महावीर स्वामी का अनुपम धर्म, ज्ञान, दर्शन, शील, कैसा था? उन्होने किस प्रकार ससार के प्राणियो के दुखो और उनके कारणो को जानकर अष्टविध कर्मो का क्षय करने के लिए पुरुषार्थ किया था? उन्होने ससार के समस्त प्राणियो के स्वभाव, गति, आगति, जाति, शरीर, कर्म आदि के वास्तविक स्वरूप को कैसे जाना था? वे कैसे अनन्तज्ञानदर्शन से सम्पन्न बने? जीवविज्ञान को उन्होने कैसे हस्तामलकवत् कर लिया था? अहिंसाधर्म की सिद्धि उन्होने अनेकान्तवाद द्वारा कैसे की थी? उनकी अहिंसा कैसी थी? अपरिग्रह कैसा था? उनकी विहारचर्या, उनका आचरण, उनकी दिव्यदृष्टि आदि कैसी थी? कषायो और विषयो से वे किस प्रकार निर्लिप्त थे? निर्वाणवदियो मे, साधुओ मे, मुनियो मे तपस्वियो मे, सुज्ञानियो मे, शुक्लध्यानियो मे, धर्मोपदेशको मे, अध्यात्मविद्या के पारगामियो मे, चारित्रवानो मे, प्रभावशालियो आदि मे भगवान् महावीर किस प्रकार से श्रेष्ठ और अग्रणी थे? श्रेष्ठता के लिए सुमेरु, सुदर्शन, स्वयभूरमण सागर, देवेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, शख आदि ससार की सर्वश्रेष्ठ मानी जाने वाली वस्तुओ से उपमा दी गई है। साथ ही लोकोत्तम श्रमणश्रेष्ठ भगवान् महावीर की निश्चलता, क्षमा, दया, शील, श्रुत, तप, ज्ञान, कषायविजय, पापमुक्तता, वाद-विजयित्व, त्याग, ममत्व और वासना पर विजय आदि उत्तमोत्तम गुणो का निरूपण किया गया है।

कई लोग पूछते है—भगवान् की स्तुति करने से या नाम-स्मरण से क्या लाभ है? पापक्षय कैसे हो जाता है? इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि जिस समय किसी व्यक्ति का नाम लिया जाता है, उस समय फौरन उसकी आकृति, प्रकृति, गुण, और विशेषता आदि का भी स्मरण हो आता है। जिससे महापुरुषो की स्तुति करते ही व्यक्ति के सामने उनकी विशेषता, उनके विशिष्ट गुणो का प्रकाश साकार-सा हो जाता है और व्यक्ति के अन्धकारमय जीवन मे प्रकाश की उज्ज्वल किरणे फैलती है। महापुरुषो की स्तुति चित्त की चिर मलिनता को धोकर साफ कर देती है। जैसे कसाई का नाम लेते ही व्यक्ति के मानसचक्षुओ मे एक ऐसे निम्नस्तरीय पापी व्यक्ति का चित्र अकित हो जाता है, जिसके लाल-लाल नेत्र है, हाथ मे छुरा है, कालाकलूटा शरीर है, भयकर निर्दय स्वभाव है। वेश्या का नाम लेते ही स्मृतिपटल पर एक भोगी, विलासी कामिनी, नारी की प्रतिमूर्ति अकित हो जाती है। किसी पवित्र आत्मा, विशिष्ट त्यागी, सद्गुणी सन्त या सद्गृहस्थ का नाम लेते ही मानस किन्ही अलौकिक भावो मे बहने लगता है। इसी प्रकार भगवान् के यथार्थ गुणनिष्पन्न नाम के लेते ही या उनकी स्तुति या गुणानुवाद करते ही सहसा हृदय मे उनके दिव्य रूप और लोकोत्तर गुणो की छवि अकित हो जाती है, उनकी

विशेपताएँ स्मृतिपथ पर आ जाती है। भगवान् के नामस्मरण से भक्तहृदय अनायास ही भगवान् मे तन्मय होने लगता है, साधक एव भक्त को उपसर्गो, परीपहो, कष्टो एव त्याग-तप मे टिके रहने का अपूर्व वल मिलता है। उनके आदर्श चरित्र से महान् प्रेरणा मिलनी है। भला प्रभुमय या भगवत्प्रेम से भरे निर्मल हृदय मे पाप-ताप को टिकने का अवकाश ही कहाँ मिल सकता है ? जन्म-जन्मान्तर के पाप-तापो का शमन करने के लिए वीरस्तुति अमोघ औपधि है। वीरप्रभु की स्तुति एव गुणोत्कीर्तन साधक एव भक्त की सुपुप्त सद्वृत्ति-प्रवृत्तियो को सहमा उद्बुद्ध कर देती है।

इन्ही उद्देश्यो को लेकर वीरस्तुति की श्री सुधर्मास्वामीकृत रचना शास्त्रकार ने छठे अध्ययन के रूप मे प्रस्तुत की है।

वीर और स्तुति शब्द के निक्षेपार्थ—वीर शब्द के द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के भेद से चार निक्षेप होते है। ज्ञशरीर और भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यवीर वह है, जो द्रव्य के लिए युद्ध आदि मे अद्भुत कौशल दिखाता है। अथवा जो वीर्यवान् द्रव्य हो, वह भी द्रव्यवीर के अन्तर्गत माना जाता है। जैसे तीर्थकर अनन्तवल-वीर्य से युक्त होते है, वे लोक को गेंद की तरह अलोक मे फेंकने मे समर्थ हैं। वे मन्दराचल को दण्ड बनाकर उस पर रत्नप्रभा पृथ्वी को छत्र के समान धारण कर सकते हैं। चक्रवर्ती भी वलवीर्य मे सामान्य मनुष्यो या राजाओ से वढकर होते है इसलिए उन्हे भी द्रव्यवीर कहा जा सकता है। क्षेत्रवीर वह है, जो अपने क्षेत्र मे अद्भुत पराक्रम दिखाता है या वीर कहलाता है, इसी प्रकार कालवीर वह है, जो अपने युग मे—अपने समय मे अदभुत पराक्रमशाली होता। अथवा काल (मृत्यु) पर विजय पा लेता है, उसे भी कालवीर कहा जा सकता है। भाववीर वह है, जिसकी आत्मा क्रोध, मान, माया, लोभ, पचेन्द्रियविपयो, तथा परीपह, उपसर्ग आदि से पराजित नहीं हुई है। जैसे कि आगमो मे कहा है—

> कोह माण च माय च लोभ पचेदियाणि य।
> दुज्जय चेव अप्पाण, सव्वमप्पे जिए जिय॥
> जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
> एग जिणेज्ज अप्पाण एस से परमोजओ॥

अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ और पाँचो इन्द्रियाँ, ये दुर्जय है। इसलिए एकमात्र आत्मा को जीत लेने पर सब जीत लिये जाते है। जो पुरुप अकेला ही युद्ध मे लाखो दुजय सुभटो को जीत लेता है, उससे भी वढकर विजयी वह है, जो एक अपनी आत्मा को जीत लेता है। और भी कहा है—

> एक्को परिभमउ जए वियड जिणकेसरी सलीलाए।
> कदप्पदुट्ठदाढो मयणो विड्डारियो जेण ॥

अर्थात्—इस जगत् मे एकमात्र जिनसिंह ही अपनी विकट चाल से भ्रमण कर सकते हैं, जिन्होने अपनी लीला से कामरूप तीक्ष्णदाढ वाले मदन (काम को) चीर डाला है।

इस अध्ययन मे अनुकूल-प्रतिकूल परीपहो और उपसर्गों से अपराजित तथा त्याग, तपस्या, चारित्र, ज्ञान, दर्शन मे अद्भुत पराक्रम के कारण भगवान् महावीर स्वामी की हो आध्यात्मिक वीरता के कारण यहाँ भाववीर से विवक्षित हैं।

स्तुति के भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप होते है। नाम, स्थापना सुगम है। ज्ञशरीर एव भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यस्तुति वह है जो कटक, केयूर, पुष्पमाला, चन्दन आदि सचित्त-अचित्त द्रव्यो द्वारा की जाती है। भावस्तुति वह है—जो विद्यमान गुणो का (यानी जिसमे जो गुण मौजूद है, उनका) कीर्तन, गुणानुवाद किया जाता है। यहाँ वीरस्तुति मे वीरप्रभु की भावस्तुति ही विवक्षित है।

अत निक्षेप आदि के बाद अब वीरस्तुति की गाथाएँ क्रमश प्रारम्भ करते हैं—

मूल पाठ

पुच्छिस्सु ण समणा माहणा य, अगारिणो या परतित्थिया य।
से केइ णेगत हियं धम्ममाहु, अणेलिस साहु-समिक्खयाए ॥१॥

सस्कृत छाया

अप्राक्षु श्रमणा ब्राह्मणाश्च, अगारिणो ये परतीर्थिकाश्च।
स क एकान्तहित धर्ममाह, अनीदृश साधुसमीक्षया ॥१॥

अन्वयार्थ

(समणा य माहणा) श्रमण और ब्राह्मण, **(अगारिणो)** क्षत्रिय आदि सद्-गृहस्थ, **(परतित्थिया य)** अन्यतीर्थिक शाक्य आदि ने पूछा कि **(स केइ)** वह कौन है? जिसने **(णेगतहियं)** एकान्त हितरूप **(अणेलिस)** अनुपम **(धम्म)** धर्म **(साहु समिक्खयाए)** अच्छी तरह विचार कर **(आहु)** कहा है।

भावार्थ

आर्य जम्बूस्वामी ने गुरुदेव सुधर्मास्वामी गणधर से पूछा—"भगवन्! मुझसे प्राय श्रमण-साधु, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सद्गृहस्थ एव बौद्ध आदि अन्य मतो के मानने वाले सज्जन प्रश्न किया करते हैं कि जिन्होने अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा स्वतन्त्र रूप से अच्छी तरह निश्चय कर विश्व का एकान्तरूप से कल्याण करने वाले अनुपम धर्म (अहिंसा आदि) का कथन किया है, वे महापुरुष कौन है? कैसे हैं?"

व्याख्या

विश्व हितकर अनुपम धर्म का प्ररूपक कौन ?

इस गाथा मे श्री जम्बूस्वामी द्वारा अपने गुरु श्री सुधर्मा स्वामी से अनुपम धर्म के प्रतिपादक के सम्बन्ध मे पूछा गया प्रश्न अकित किया गया है। अथवा इस शास्त्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा मे कहा गया है कि जीव को बोध प्राप्त करना चाहिए। पूर्व अध्ययनो मे उपसर्गपरिज्ञा, स्त्रीपरिज्ञा तथा नरकविभक्ति आदि का जो वर्णन है, उसे सुनकर जन्म-मरण के भय से उद्विग्न पुरुषो ने श्री सुधर्मा स्वामी से पूछा—इस अनुपम धर्म का बोध किसने दिया ?

वास्तव मे जब श्री जम्बूस्वामी से श्रमण, ब्राह्मण आदि ने भगवान् महावीर स्वामी की विशेषताओ के सम्बन्ध मे पूछा होगा, तभी उन्होने सुधर्मास्वामी के सामने अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की होगी कि श्रमण निर्ग्रन्थ आदि ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि के अनुष्ठान मे तत्पर रहने वाले एव आगारी अर्थात् क्षत्रिय आदि सद्गृहस्थ तथा बौद्ध आदि परमतवादी कई सज्जनो ने मुझसे पूछा है कि यह महापुरुष कौन है, कैसे हैं, जिन्होने दुर्गति मे गिरते हुए जीव को धारण करने मे समर्थ एकान्त विश्व हितकर अनुपम अहिंसादि धर्म का प्रतिपादन पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का निश्चय करके या समत्वदृष्टिपूर्वक किया है ?

इसी से सम्बन्धित अन्य प्रश्नमाला अगली गाथा मे प्रस्तुत की जाती है—

मूल पाठ

कहं च णाण कह-दसणं से, सील कह नायसुतस्स आसी ?।
जाणासि ण भिक्खू जहातहेण, अहासुत बूहि जहा णिसत ॥२॥

संस्कृत छाया

कथ च ज्ञान, कथ दर्शन तस्य शील कथ ज्ञातसुतस्य आसीत् ?
जानासि खलु भिक्षो ! याथातथ्येन, यथाश्रुत ब्रूहि यथा निशान्तम् ॥२॥

अन्वयार्थ

(**से नायसुतस्स**) उन ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी का (**णाण**) ज्ञान (**कह**) कैसा था ? तथा (**कह दसण**) उनका दर्शन कैसा था ? (**सील कह आसी ?**) तथा उनका शील यानी यम-नियम का आचरण कैसा था ? (**भिक्खू**) हे मुनिवर ! (**जहातहेण जाणासि**) आप इसे यथार्थरूप से जानते है, इसलिए (**अहासुत**) जैसा आपने सुना है, (**जहा णिसत**) जैसा निश्चय किया है, (**बूहि**) वैसा हमे कहिए।

भावार्थ

आर्य जम्बूस्वामी ने गुरुदेव श्री सुधर्मास्वामी से पुन प्रार्थना की—"गुरुदेव ! ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के सम्बन्ध मे आप खूब अच्छी तरह

से जानते हैं। अत यह बताने का अनुग्रह कीजिए कि उन ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर का ज्ञान कैसा था? दर्शन कैसा था? और शील-आचार कैसा था? आपने जैसा सुना और जैसा निश्चय किया हो, तदनुसार बताने की कृपा करे।"

व्याख्या

भगवान् महावीर के ज्ञान, दर्शन, शील के सम्बन्ध मे पुन प्रश्न

इस गाथा मे पुन भगवान् महावीर स्वामी के गुणो के सम्बन्ध मे प्रश्न उठाया गया है कि भगवान महावीर स्वामी ने इतना ज्ञान—विशुद्ध ज्ञान कहाँ से और कैसे-कैसे प्राप्त किया था? अथवा भगवान् महावीर का ज्ञान यानी विशेष अर्थ को प्रकाशित करने वाला बोध कैसा था? तथा उनका दर्शन—विश्व के समस्त चराचर सजीव-निर्जीव पदार्थों को देखने, उनकी यथार्थ वस्तुस्थिति पर विचार करने की उनकी दृष्टि कैसी थी? अथवा सामान्य रूप से अर्थ को प्रकाशित करने वाला उनका दर्शन कैसा था? यम-नियम या व्रतनियम रूप उनका शील—सदाचार कैसा था? ज्ञातृवशीय क्षत्रियपुत्र भगवान् महावीर स्वामी के ये सब कैसे थे? हे स्वामिन्! मैंने जो पूछा है, उस सम्बन्ध मे आप यथार्थरूप से जानते है। अत आपने जैसा भी सुना है, जो भी उनके बारे मे निर्णय किया है, वह सब मुझे विस्तार से कहिए, ताकि मैं तथा अन्य साधक भी उनके आदर्श को जान सके।

मूल पाठ

खेयन्नए से कुसले महेसी[1], अणंतनाणी य अणतदसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्म च धिइ च पेहि ॥३॥

सस्कृत छाया

खेदज्ञ स कुशलो महाऋषि, अनन्तज्ञानी च अनन्तदर्शी ।
यशस्विनश्चक्षुपथे स्थितस्य, जानासि धर्मञ्च धृतिञ्च प्रेक्षस्व ॥३॥

अन्वयार्थ

(से खेयन्नए) वे ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी ससार के प्राणियो का दुख जानते थे। (कुसले) कर्मों को उखाड फैंकने मे कुशल थे, (महेसी) महान् ऋषि थे—सच्चिदानन्दमय सत्यस्वरूप के द्रष्टा थे अथवा (आसुपन्ने) उनका उपयोग सदा सर्वत्र लगा रहता था। (अणतनाणी य अणतदसी) अनन्तज्ञानी—सर्वज्ञ और अनन्तदर्शी—सर्वदर्शी थे। (जससिणो) अक्षय यशवाले थे। (चक्खुपहे ठियस्स) उन जनता के नयनपथ मे स्थित अर्थात् जनता की आँखो मे बसे हुए अथवा जिनका

---

१ कही कही 'कुसले महेसी' के बदले 'कुसलासुपन्ने' पाठ भी मिलता है।

व्याख्या

विश्व हितकर अनुपम धर्म का प्ररूपक कौन ?

इस गाथा मे श्री जम्बूस्वामी द्वारा अपने गुरु श्री सुधर्मा स्वामी से अनुपम धर्म के प्रतिपादक के सम्बन्ध मे पूछा गया प्रश्न अकित किया गया है। अथवा इस शास्त्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा मे कहा गया है कि जीव को बोध प्राप्त करना चाहिए। पूर्व अध्ययनो मे उपसर्गपरिज्ञा, स्त्रीपरिज्ञा तथा नरकविभक्ति आदि का जो वर्णन है, उसे सुनकर जन्म-मरण के भय से उद्विग्न पुरुषो ने श्री सुधर्मा स्वामी से पूछा—इस अनुपम धर्म का वोध किसने दिया ?

वास्तव मे जब श्री जम्बूस्वामी से श्रमण, ब्राह्मण आदि ने भगवान् महावीर स्वामी की विशेषताओ के सम्बन्ध मे पूछा होगा, तभी उन्होने सुधर्मास्वामी के सामने अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की होगी कि श्रमण निर्ग्रन्थ आदि ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि के अनुष्ठान मे तत्पर रहने वाले एव आगारी अर्थात् क्षत्रिय आदि सद्गृहस्थ तथा बौद्ध आदि परमतवादी कई सज्जनो ने मुझसे पूछा है कि यह महापुरुष कौन है, कैसे है, जिन्होने दुर्गति मे गिरते हुए जीव को धारण करने मे समर्थ एकान्त विश्व हितकर अनुपम अहिंसादि धर्म का प्रतिपादन पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का निश्चय करके या समत्वदृष्टिपूर्वक किया है ?

इसी से सम्बन्धित अन्य प्रश्नमाला अगली गाथा मे प्रस्तुत की जाती है—

मूल पाठ

कहं च णाण कह-दसण से, सील कह नायसुतस्स आसी ?।
जाणासि ण भिक्खू जहातहेण, अहासुत बूहि जहा णिसत ।।२।।

सस्कृत छाया

कथ च ज्ञान, कथ दर्शन तस्य शील कथ ज्ञातसुतस्य आसीत् ?
जानासि खलु भिक्षो ! याथातथ्येन, यथाश्रुत ब्रूहि यथा निशान्तम् ।।२।।

अन्वयार्थ

(**से नायसुतस्स**) उन ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी का (**णाण**) ज्ञान (**कह**) कैसा था ? तथा (**कह दसण**) उनका दर्शन कैसा था ? (**सील कह आसी ?**) तथा उनका शील यानी यम-नियम का आचरण कैसा था ? (**भिक्खू**) हे मुनिवर ! (**जहातहेण जाणासि**) आप इसे यथार्थरूप से जानते है, इसलिए (**अहासुत**) जैसा आपने सुना है, (**जहा णिसत**) जैसा निश्चय किया है, (**बूहि**) वैसा हमे कहिए।

भावार्थ

आर्य जम्बूस्वामी ने गुरुदेव श्री सुधर्मास्वामी से पुन प्रार्थना की—"गुरुदेव ! ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के सम्बन्ध मे आप खूब अच्छी तरह

से जानते हैं। अत यह बताने का अनुग्रह कीजिए कि उन ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर का ज्ञान कैसा था ? दर्शन कैसा था ? और शील-आचार कैसा था ? आपने जैसा सुना और जैसा निश्चय किया हो, तदनुसार बताने की कृपा करे।"

व्याख्या

भगवान् महावीर के ज्ञान, दर्शन, शील के सम्बन्ध मे पुन प्रश्न

इस गाथा मे पुन भगवान् महावीर स्वामी के गुणो के सम्बन्ध मे प्रश्न उठाया गया है कि भगवान महावीर स्वामी ने इतना ज्ञान —विशुद्ध ज्ञान कहाँ से और कैसे-कैसे प्राप्त किया था ? अथवा भगवान् महावीर का ज्ञान यानी विशेष अर्थ को प्रकाशित करने वाला बोध कैसा था ? तथा उनका दर्शन—विश्व के समस्त चराचर सजीव-निर्जीव पदार्थो को देखने, उनकी यथार्थ वस्तुस्थिति पर विचार करने की उनकी दृष्टि कैसी थी ? अथवा सामान्य रूप से अर्थ को प्रकाशित करने वाला उनका दर्शन कैसा था ? यम-नियम या व्रतनियम रूप उनका शील—सदाचार कैसा था ? ज्ञातृवशीय क्षत्रियपुत्र भगवान् महावीर स्वामी के ये सब कैसे थे ? हे स्वामिन् ! मैंने जो पूछा है, उस सम्बन्ध मे आप यथार्थरूप से जानते है। अत आपने जैसा भी सुना है, जो भी उनके बारे मे निर्णय किया है, वह सब मुझे विस्तार से कहिए, ताकि मैं तथा अन्य साधक भी उनके आदर्श को जान सकें।

मूल पाठ

खेयन्नए से कुसले महेसी[1], अणतनाणी य अणतदंसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्म च धिइ च पेहि ॥३॥

संस्कृत छाया

खेदज्ञ स कुशलो महाऋषि , अनन्तज्ञानी च अनन्तदर्शी ।
यशस्विनश्चक्षुपथे स्थितस्य, जानासि धर्मञ्च धृतिञ्च प्रेक्षस्व ॥३॥

अन्वयार्थ

(से खेयन्नए) वे ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी ससार के प्राणियो का दु ख जानते थे। (कुसले) कर्मो को उखाड फैंकने मे कुशल थे, (महेसी) महान् ऋषि थे —सच्चिदानन्दमय सत्यस्वरूप के द्रष्टा थे अथवा (आसुपन्ने) उनका उपयोग सदा सर्वत्र लगा रहता था। (अणतनाणी य अणतदसी) अनन्तज्ञानी—सर्वज्ञ और अनन्तदर्शी—सर्वदर्शी थे। (जससिणो) अक्षय यशवाले थे। (चक्खुपहे ठियस्स) उन जनता के नयनपथ मे स्थित अर्थात् जनता की आँखो मे बसे हुए अथवा जिनका

---

१ कही कही 'कुसले महेसी' के बदले 'कुसलासुपन्ने' पाठ भी मिलता है।

भावकुशो को छेदन करने मे कुशल थे। भगवान् प्राणियो के कर्मरूपी भावकुशो को काटने मे भी निपुण होने से कुशल थे। शीघ्रबुद्धि सम्पन्न व्यक्ति आशुप्रज्ञ कहलाता है। भगवान् आशुप्रज्ञ थे, क्योकि उनका उपयोग सदा-सर्वदा सर्वत्र लगा रहता था, वे छद्मस्थ की तरह सोचकर या उपयोग लगाकर नही जानते थे। भगवान् महर्षि थे, अर्थात् अत्यन्त उग्र तपश्चर्या करने से तथा अतुल परीषहो और उपसर्गो को सहन करने के कारण महर्षि थे। अथवा सच्चिदानन्दमय सत्यस्वरूप के या जीवन के अभ्युदय के मन्त्रो के द्रष्टा होने के कारण भी वे महर्षि थे। वे अनन्तज्ञानी इसलिए थे कि उनका विशेष ग्राहक ज्ञान अन्त (क्षय) रहित था। अथवा उनका ज्ञान अनन्तपदार्थों का निश्चय करने वाला होने से वे अनन्तज्ञानी थे। सामान्य अर्थ का निश्चय करने के कारण वे अनन्तदर्शी थे। भगवान् का यश मनुष्य, देवता एव असुरो से बढकर था, इसलिए वे यशस्वी थे। तथा भवस्थ केवली अवस्था मे वे जगत् के नयनपथ मे स्थित थे। अथवा जगत् के सामने सूक्ष्म और व्यवहित पदार्थों को प्रकट करने के कारण वे जगत् नेत्रस्वरूप थे। अथवा वे आँखो के समान हिताहित पथ को दिखाने मे स्थित—सलग्न रहते थे।

ऐसे भगवान् के धर्म को अर्थात् ससार का उद्धार करने के स्वभाव को अथवा उनके द्वारा प्ररूपित श्रुत-चारित्ररूप धर्म को जानो-समझो। उपसर्गो एव परीषहो के द्वारा पीडित किये जाने पर भी निष्कप चारित्र से अविचल स्वभावरूप उनकी धृति—दृढता को या सयम मे प्रीति को देखो, अपनी पैनी बुद्धि से उस पर विचार करो।

अथवा 'जाणाहि धम्म च धिइ च पेहि' का यह अर्थ भी होता है कि उन्ही श्रमण इत्यादि सज्जनो ने श्रीसुधर्मास्वामी से पूछा कि 'यशस्वी और जगत् की आँखो मे बसे हुए भगवान महावीर स्वामी के धर्म और धैर्य को आप जानते है, अत हमसे इन सब के बारे मे कहें।'

मूल पाठ

उड्ढ अहेय तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
से णिच्चऽणिच्चेहि समिक्ख पन्ने, दीवे व धम्म समिय उदाहु ॥४॥

सस्कृत छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणा ।
स नित्यानित्याभ्या समीक्ष्य प्रज्ञो, दीप इव धर्मं समितमुदाह ॥४॥

अन्वयार्थ

(उड्ढ) ऊपर, (अहेयं) नीचे और (तिरिय दिसासु) तिरछी दिशाओ मे रहने वाले (तसा य जे थावरा जे य पाणा) जो त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं,

उन्हे (णिच्चऽणिच्चेहिं) जीवस्वरूप द्रव्य की दृष्टि से नित्य और पर्याय—परिवर्तन की दृष्टि से अनित्य दोनो प्रकार का (समिक्ख) जानकर (से पन्ने) उन महाप्राज्ञ केवलज्ञानी प्रभु ने (दीवे व समियं धम्म उदाहु) दीपक के समान सम्यक्धर्म का कथन किया था।

भावार्थ

भगवान् महावीर ने ऊपर, नीचे और तिरछे तीनो लोको मे जो भी त्रस और स्थावर जीव है, उन सबको द्रव्य की दृष्टि से नित्य और पर्याय (स्वर्ग, नरक और मनुष्य आदि रूप मे परिवर्तन) की दृष्टि से अनित्य केवलज्ञान से सागोपाग जानकर ससार सागर से पार करने मे समर्थ श्रुत-चारित्ररूप धर्म को दीपक के समान पदार्थों को सम्यक् प्रकाशित करने वाला बताया है।

व्याख्या

जीव के नित्यानित्य स्वरूप और धर्म का कथन

श्री सुधर्मास्वामी इस गाथा से भगवान् महावीर स्वामी के गुणो का वर्णन आरम्भ करते है—ऊपर, नीचे और तिरछे चौदह रज्जु ऊँचे इस समग्र लोक मे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रियरूप जो त्रस प्राणी है, तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिरूप जो एकेन्द्रिय स्थावर प्राणी है। भगवान् केवल-ज्ञानी होने से समस्त प्राणियो को जानते हैं। प्रज्ञ यानी प्राज्ञ है। अत केवलज्ञान के प्रकाश मे द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दोनो का सापेक्षदृष्टि—अनेकान्तवाद से आश्रय लेकर उन्हे नित्य और अनित्य[1] दोनो प्रकार का भलीभाति जानकर प्राणियो को समस्त पदार्थों का स्वरूप बताने के कारण दीपक की तरह अथवा ससार-समुद्र मे पडे हुए जीवो को सदुपदेश देने से उनके लिए आश्वासन का कारण होने से भगवान द्वीप की तरह है। ऐसे भगवान् ने श्रुतचारित्ररूप धर्म को उत्तम अनुष्ठान-युक्त या रागद्वेषमुक्त होकर या समभाव के साथ कहा था अर्थात् आचाराग सूत्र के 'जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ' वचन के अनुसार भगवान् ने पुण्यवान्

१ जैनधर्म आत्मा को नित्य और अनित्य उभयात्मक मानता है। जीवस्वरूप द्रव्यदृष्टि से आत्मा नित्य हैं क्योकि मूलस्वरूप से आत्मा का कभी नाश नही होता। लेकिन पर्याय – परिवर्तन की दृष्टि से आत्मा अनित्य भी है। आत्मा मनुष्य पशु आदि के शरीर के नाश की दृष्टि से अनित्य है। यही जैनधर्म का अनेकान्तवाद है। इसलिए न तो वेदान्त या साख्य के अनुसार आत्मा को कूटस्थनित्य मानना चाहिए और न ही बौद्धदर्शन की तरह आत्मा को एकान्त, अनित्य, क्षणभगुर ही मानना चाहिए।

और अपुण्यवान्, सभी पर कृपा करके धर्म का कथन किया है, पूजासत्कार के लिए नही। अथवा धर्म ही द्वीप की तरह है, क्योकि वह ससार समुद्र मे समान भाव से आश्रय देने वाला है। अथवा धर्म दीप के समान है, क्योकि यह अज्ञानान्धकार मे भटकते हुए प्राणियो को दीपक के समान प्रकाश देता है।

मूल पाठ

से सव्वदसी अभिभूयनाणी, णिरामगंधे धिइम ठियप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगसि विज्ज, गथा अतीते अभए अणाऊ ॥५॥

संस्कृत छाया

स सर्वदर्शी अभिभूयज्ञानी निरामगधो धृतिमास्थितात्मा ।
अनुत्तर सर्वजगत्सु विद्वान, ग्रन्थादतीतोऽभयोऽनायु ॥५॥

अन्वयार्थ

(से) वे भगवान महावीर स्वामी (सव्वदसी) समस्त पदार्थों को देखने वाले (अभिभूयनाणी) केवलज्ञानी, (णिरामगधे) मूल और उत्तर गुणो से विशुद्ध चारित्र के पालक (धिइम) धृतियुक्त, (ठियप्पा) आत्मस्वरूप मे स्थित थे। (सव्वजगसि) सारे जगत् मे वे (अणुत्तरे विज्ज) सर्वोत्तम विद्वान् थे। (गथा अतीते अभए अणाऊ) वे बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार की ग्रन्थियो से रहित, निर्भय और आयुरहित थे।

भावार्थ

भगवान् महावीर त्रिकालवर्ती सब पदार्थों के ज्ञाता और द्रष्टा थे। वे कामक्रोधादि अन्तरग शत्रुओ को जीतकर केवलज्ञानी बने थे। वे निर्दोष चारित्रपालक थे, अटल धीर पुरुष थे, अपने आत्मस्वरूप मे स्थिरभाव से लीन थे। अर्थात् स्थितप्रज्ञ एव निर्विकार शुद्धात्मा थे। समग्र लोक मे अध्यात्मविद्या के सर्वोत्तम पारगत विद्वान् थे। सर्वथा परिग्रह के त्यागी थे, निर्भय थे, सदा के लिए जन्म-मृत्यु पर विजय पाने के कारण अजर-अमर अनायु हो गए थे। उन्होने पुनर्जन्म के लिए फिर से आयुष्य का बन्ध नही किया था।

व्याख्या

निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र की विशेषताएँ

इस गाथा मे भगवान् महावीर की विशेषताओ का निरूपण विभिन्न पदो द्वारा किया गया है—सर्वदर्शी, अभिभूयज्ञानी, निरामगन्ध, धृतिमान्, स्थितात्मा, सर्वजगत्सु अनुत्तरो विद्वान्, ग्रन्थातीत, अभय और अनायु। वे सर्वदर्शी इसलिए थे कि स्वभाव से ही चराचर जगत् के सामान्यरूप से द्रष्टा थे। मति आदि चार ज्ञाना

को पराजित करके रहने वाला ज्ञान केवलज्ञान ह। भगवान् उससे युक्त थे, इसलिए उन्हे अभिभूय ज्ञानी कहा ह। भगवान् के सविशुद्धकोटि और अविशुद्ध-कोटिरूप दोनो ही प्रकार के गन्ध—दोप हट गए थे, इसलिए निराम गन्ध थे। अर्थात् उन्होने मूल—उत्तर गुणो से शुद्ध चारित्रक्रिया का पालन किया था। तथा असह्य परीपहो और उपसर्गो की पीडा प्राप्त होने पर भी भगवान कम्परहित होकर चारित्र मे दृढ थे। तथा कर्मोपाधि हट जाने से वे कर्मरहित शुद्ध आत्मस्वरूप मे स्थित थे। सारे ससार मे भगवान् से वढकर हस्तामलकवत् जगत् के पदार्थो को जानने वाला और कोई विद्वान नही था। भगवान् सचित्तादिरूप वाह्य ग्रन्थ और कर्मरूप आभ्यन्तर ग्रन्थ से अतीत—निर्ग्रन्थ थे। वे इहलोकभय आदि ७ प्रकार के भयो से रहित थे। भगवान् के (वर्तमान आयु के सिवाय) चारो प्रकार की आयु नही थी, क्योकि कर्मरूपी वीज के जल जाने पर फिर उनकी उत्पत्ति असम्भव है। इसीलिए भगवान् को यहाँ अनायु कहा गया है। उन्होने सदा-सदा के लिए जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि पर विजय प्राप्त कर ली थी। इन सब विशेषताओ से युक्त ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर थे।

मूल पाठ

से भूइपण्णे अणिएअचारी ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू ।
अणुत्तरे तप्पइ सूरिए वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥६॥

सस्कृत छाया

स भूतिप्रज्ञोऽनिकेतचारी (अनियताचारी) ओघन्तरो धीरोऽनन्तचक्षु ।
अनुत्तर तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तम प्रकाशयति ॥६॥

अन्वयार्थ

(से) वे भगवान् महावीर स्वामी (भूइपण्णे) अनन्तज्ञानी अथवा सर्वमगल-रूप प्रज्ञासम्पन्न, (अणिएअचारी) गृहप्रतिवन्धरहित या अप्रतिवद्धरूप विचरण करने वाले या अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र विचरणशील (ओहतरे) ससार समुद्र को पार करने वाले (धीरे) विशाल बुद्धि से सुशोभित, (अणतचक्खू) अनन्तदर्शी व अनन्त-ज्ञानी थे। (सुरिए वा) जैसे सूर्य (अणुत्तरे तप्पइ) सवसे अधिक तपता है, वैसे ही सबसे अधिक उत्कृष्ट तप करते थे, (वइरोयणिंदे व तम पगासे) प्रकाशमान अग्नि जैसे अन्धकार को दूर करके प्रकाश करती है, वैसे ही भगवान् अज्ञानान्धकार को दूर कर पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करते थे।

भावार्थ

भगवान् की प्रज्ञा विश्वमगलकारिणी थी, उनका विहार सव प्रकार के गृह या सासारिक प्रतिवन्धो से रहित था, वे ससार समुद्र को तैरने वाले

थे, सब प्रकार के उपसर्गों और परीषहों को समभाव से सहन करने में धीर थे। सूर्य जैसे सबसे अधिक तपता है, वैसे ही वे उत्कृष्ट तप करने वाले थे, या सूर्य के समान अखण्ड तेजस्वी थे। वैरोचन इन्द्र या प्रचण्ड वैरोचन अग्नि के समान अज्ञानान्धकार नष्ट करके ज्ञान का प्रकाश करते थे।

व्याख्या

भगवान् महावीर के विशिष्ट गुण

भगवान् महावीर भूतिप्रज्ञ थे। भूति शब्द वृद्धि, रक्षा और मगल अर्थ मे प्रयुक्त होता है, इसलिए यहाँ भूतिप्रज्ञ के तीन अर्थ सम्भव है (१) बढी हुई प्रज्ञा वाले—अनन्तज्ञानवान्, (२) जगत की रक्षा मे तत्पर प्रज्ञा से सम्पन्न तथा (३) विश्व-मगलकारिणी प्रज्ञा से युक्त। भगवान् अनिकेतचारी या अनियतचारी थे। अर्थात् गृहादि प्रतिबन्धो को छोडकर विचरण करते थे, अथवा समस्त सासारिक प्रतिबन्धो से रहित उनका गमन—विहार था यानी वे अप्रतिबद्धविहारी तथा अनियत स्थान पर विचरणशील थे। ससार समुद्र के ओघ—प्रवाह को तैरने वाले थे। वे उत्तम बुद्धि से विभूषित थे या परीषहो और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करने मे धीर थे। भगवान् अनन्तचक्षु थे, अर्थात् ज्ञेय पदार्थो की अनन्तता होने के कारण अथवा ज्ञान की नित्यता के कारण उनका केवलज्ञान चक्षु था, अथवा भगवान् का ज्ञान लोक के अनन्त पदार्थो का प्रकाशक होने के कारण चक्षुभूत होने से से अनन्तचक्षु थे। जैसे ससार मे सूर्य सबसे अधिक तपता है, उसी प्रकार भगवान् ससार मे सर्वाधिक या सर्वोत्कृष्ट तप करने वाले थे, अथवा ज्ञान मे सर्वोत्कृष्ट थे। जैसे प्रज्वलित होने के कारण इन्द्रस्वरूप अग्नि अथवा वैरोचन नामक इन्द्र अन्धकार को मिटाकर प्रकाश फैलाता है, वैसे ही भगवान् अज्ञानान्धकार को दूर करके पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करते थे।

इस प्रकार भगवान् महावीर अनेक उत्तमोत्तम गुणो से विभूषित थे।

मूल पाठ

अणुत्तर धम्ममिणं जिणाणं, णेया मुणी कासव आसुपन्ने ।
इंदेव देवाण महाणुभावे, सहस्सणेता दिवि ण विसिट्ठे ।।७।।

सस्कृत छाया

अनुत्तर धर्ममिम जिनाना, नेता मुनि काश्यप आशुप्रज्ञ ।
इन्द्र इव देवाना महानुभाव, सहस्रनेता दिवि खलु विशिष्ट ।।७।।

अन्वयार्थ

(आसुपन्ने) सर्वत्र सर्वदा उपयोगसम्पन्न प्रज्ञावान, (कासव) काश्यपगोत्रीय (मुणी) मननशील मुनि, श्री वर्द्धमान स्वामी (जिणाण) ऋषभ आदि जिनेश्वरो के

(इण) इस (अणुत्तर) सबसे प्रधान (धम्म) धर्म के (णेया) नेता थे (दिवि) जैसे देव-लोक मे (सहस्स देवाण) हजारो देवो का (इदेव) इन्द्र नेता (महाणुभावे विसिट्ठे) और अधिक विशिष्ट प्रभावशाली है, वैसे ही भगवान् सारे जगत् मे विशिष्ट प्रभाव-शाली थे।

भावार्थ

सर्वत्र सदैव सतत उपयोगसम्पन्न प्रज्ञावान काश्यप वश के तेजस्वी सूर्य, मननशील मुनि श्रमण भगवान् महावीर ऋषभ आदि जिनवरो के द्वारा प्रचलित इस श्रेष्ठ अहिसादि या सूत्रचारित्ररूप धर्म के महान् नेता थे। स्वर्गलोक मे जिस प्रकार इन्द्र असख्य (सहस्रो) देवो पर नेतृत्व करता है, वैसे ही वीरप्रभु भी अपने युग के एक मात्र सर्वप्रधान विशिष्ट प्रभावशाली धर्मनेता थे, अथवा धर्म साधना करने वाले साधको के पथप्रदर्शक नेता थे।

व्याख्या

भगवान् महावीर धर्मनेता और सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे

इस गाथा मे भगवान् महावीर कैसे धर्मनेता थे ? किस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ प्रभावशाली पुरुष थे ? यह उपमाओ द्वारा समझाया गया है। भगवान् महावीर के लिए यहाँ तीन विशेषणो का प्रयोग करके उनके धर्मनेतृत्व गुण का औचित्य सिद्ध किया गया है। वे है—**मुणी, कासव, आसुपन्ने**। जो तीनो लोको के समस्त तत्त्वो पर मनन-चिन्तन-विचार करते है, वे मुनि होते है। इस प्रकार भगवान् मुनिश्रेष्ठ थे। फिर वे काश्यपवश के उज्ज्वल सूर्य थे। काश्यप सूर्य को भी कहते है, सूर्यसम नृवश को भी प्रवुद्ध करने वाले सूर्य थे। तीसरा विशेषण आशुप्रज्ञ है, जिसका यहाँ विव-क्षित अर्थ है—सदैव सर्वत्र सतत ज्ञानोपयोगसम्पन्न प्राज्ञ। धर्मनेता मे ये तीनो विशिष्ट गुण आवश्यक हैं। यही कारण है कि सुधर्मा स्वामी की दृष्टि मे भगवान् महावीर ऋषभ आदि पूर्वतीर्थकरो द्वारा प्रचलित इस सर्वोत्तम अहिसादि या सूत्र-चारित्र रूप धम के नेता जच गए थे। कैसे नेता थे वे ? इसके लिए शास्त्रकार कहते है—**'इदेव देवाण दिविण विसिट्ठे'** अर्थात्—जैसे देवलोक मे इन्द्र हजारो देवो का नेता होता है, इसी प्रकार भगवान् महावीर भी धर्मसाधको के विशिष्ट प्रभावशाली नेता थे। सक्षेप मे भगवान् महावीर धर्मनेता, रूप, बल, वश और वण आदि मे सर्वप्रधान, सबसे विशिष्ट, सबसे अधिक प्रभावशाली और सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे।

मूल पाठ

से पन्नया अक्खयसागरे वा, महोदही वावि अणतपारे।
अणाइले वा अकसाइ मुक्के, सक्केव देवाहिवइ जुइम ॥८॥

संस्कृत छाया

स प्रज्ञयाऽक्षयसागर इव महोदधिरिवाऽपि अनन्तपार ।
अनाविलो वा अकषायी मुक्त , शक्र इव देवाधिपतिर्द्युतिमान् ॥८॥

अन्वयार्थ

(से) वे भगवान् महावीर स्वामी (सागरे वा) समुद्र के समान (पन्नया) प्रज्ञा से (अक्खय) अक्षय थे । (महोदही वावि अणतपारे) अथवा वे स्वयम्भूरमण समुद्र के समान अपार प्रज्ञा वाले थे । (अणाइले वा) जैसे समुद्र का जल निर्मल होता है, उसी तरह भगवान् की प्रज्ञा निर्मल थी, (अकसाइ मुक्के) वे कपायो से रहित और मुक्त—रागद्वेषमुक्त थे । (सक्केव देवाहिवइ) जैसे देवो का अधिपति इन्द्र होता है, वह तेजस्वी होता है, वैसे ही भगवान् महावीर भी दिव्यगुणसम्पन्न साधको के अधिपति तथा बडे तेजस्वी थे ।

व्याख्या

अक्षय, अपार और निर्मल प्रज्ञा से सम्पन्न वीरप्रभु !

इस गाथा मे बताया गया है कि भगवान् समुद्र के समान अक्षय प्रज्ञासम्पन्न थे । जिस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र अपार एव निर्मल है, उसी प्रकार भगवान् महावीर स्वामी की प्रज्ञा का भी कोई पार नही था, वह निर्मल थी । जो पदार्थ जानने योग्य हैं, उसमे भगवान् की बुद्धि कभी क्षय को प्राप्त नही होती थो, न वह किसी के द्वारा रोकी (प्रतिहत की) जा सकती थी । वस्तुत भगवान् की इस प्रज्ञा का नाम-केवलज्ञान है, जो काल से आदि अनन्त है । द्रव्य, क्षेत्र और भाव से भी अनन्त एव अक्षय हैं । यह अन्त-रहित है । वैसे तो भगवान् अनुपम थे । ससार के किसी भी पदार्थ से उनकी उपमा नही दी जा सकती । सम्पूर्ण तुल्यता का दृष्टान्त नही मिलता । फिर भी शास्त्रकार भगवान् का परिचय देने की दृष्टि से एकदेशीय दृष्टान्त देकर समझाते है—'से पन्नया देवाहिवइ जुइम ।' अर्थात्—जैसे समुद्र अक्षय जल से युक्त होता है, वैसे ही भगवान् भी प्रज्ञा (ज्ञान) से अक्षय थे । जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र अपार, विस्तृत, गम्भीर जल वाला तथा अक्षोभ्य होता है, भगवान की प्रज्ञा भी अपार, विस्तृत उस समुद्र से भी अनन्तगुण गम्भीर और क्षुब्ध न होने वाली थी । इस समुद्र का जल जैसे निर्मल होता है, वैसे ही भगवान् का ज्ञान भी कर्म का लेश न होने के कारण निर्मल था । भगवान अकषायी थे, क्योकि वे चारो कपायो से सर्वथा रहित थे । भगवान् रागद्वेष या वासनाजन्य ज्ञानावरणीय आदि घातीकर्मों के नष्ट हो जाने से मुक्त थे । कही-कही 'भिक्खू' पाठ भी 'मुक्के' के बदले मिलता है, उसका अर्थ यह है कि यद्यपि भगवान् के सब अन्तराय नष्ट हो चुके थे, तथा वे समस्त जगत् के पूज्य थे, तथापि वे भिक्षावृत्ति से ही अपना जीवन निर्वाह करते थे । वे अक्षीणमहानसादि लब्धि का उपयोग नही

करते थे। तथा देवताओ के अधिपति इन्द्र की तरह वे साधको के अधिपति एव तेजस्वी थे।

मूल पाठ

से वीरिएण पडिपुन्नवीरिए, सुदसणे वा णगसव्वसेट्ठे।
सुरालए वासिमुदागरे से, विरायए णेगगुणोववेए ॥६॥

संस्कृत छाया

स वीर्येण प्रतिपूर्णवीर्यं सुदर्शन इव नगसर्वश्रेष्ठ ।
सुरालयो वासिमुदाकर विराजतेऽनेकगुणोपपेत ॥६॥

अन्वयार्थ

(से) वे भगवान महावीर स्वामी (वीरिएण) वीर्य से (पडिपुण्णवीरिए) पूर्ण वीर्य-सम्पन्न हैं (सुदसणेव नगसव्वसेट्ठे) तथा समस्त पर्वतो मे सुदर्शन—सुमेरु-पर्वत के समान सर्वश्रेष्ठ है। (वासिमुदागरे सुरालए) निवास करने वालो को हर्ष उत्पन्न करने वाले स्वर्ग के समान, (से) वे वीरप्रभु (णेगगुणोववेए विरायए) अनेक गुणो से युक्त होकर सुशोभित हैं।

भावार्थ

वीर्यान्तराय कर्म का क्षय करने से वे भगवान् महावीर परिपूर्ण वीर्य (शक्ति) से सम्पन्न थे। जिस प्रकार सुदर्शन (सुमेरु) पर्वत ससार के सब पर्वतो मे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार भगवान् भी सर्वश्रेष्ठ है। जिस प्रकार स्वर्ग निवास करने वालो मे मोद उत्पन्न करने वाला है, वैसे ही आप हर्षोत्पादक तथा अनेकानेक मनोहर गुणो से युक्त होकर सुशोभित थे।

व्याख्या

पूर्ण शक्तिमान्, सर्वश्रेष्ठ, प्राणिमात्र के मोदकारी वीरप्रभु

इस गाथा मे पुन दूसरे पहलुओ से कई उपमाओ द्वारा वीरप्रभु की विशेषताएँ बताई गई हैं। वे अनन्त शक्तिमान थे, क्योंकि वीर्यान्तराय कर्म के क्षय हो जाने से औरस बल, धृतिबल और सहनन बल आदि सब बलो से भगवान् परिपूर्ण थे। तथा जम्बूद्वीप की नाभि के समान सुमेरु पर्वत जिसका दूसरा नाम सुदर्शन पर्वत भी है, जैसे समस्त पर्वतो मे श्रेष्ठ है, वैसे ही भगवान् वीर्य तथा अन्य गुणो मे सर्वश्रेष्ठ थे। जैसे अपने पर निवास करने वाले देवताओ को आनन्द देने वाला स्वर्ग प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और प्रभाव आदि गुणो से सुशोभित है, इसी तरह भगवान् भी सत्य, शील, दया, क्षमा आदि अनन्त गुणो से सुशोभित थे।

साराश यह है कि भगवान् महावीर ससार मे सबसे श्रेष्ठ, प्राणिमात्र के लिए आनन्दकारी एव सत्य, शील आदि अनेक गुणो के अक्षयनिधि थे ।

मूल पाठ

सय सहस्साण उ जोयणाण, तिकडगे पडगवेजयते ।
से जोयणे णवणवते सहस्से, उद्धुस्सितो हेट्ठसहस्समेग ॥१०॥
पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए, ज सूरिया अणुपरिवट्टयति ।
से हेमवन्ने बहुनदणे य, जसी रइं वेदयंति महिंदा ॥११॥
से पव्वए सद्दमहप्पगासे, विरायती कचणमट्ठवन्ने ।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे गिरिवरे से जलिएव भोमे ॥१२॥
महीइ मज्झंमि ठिए णगिदे, पन्नायते सूरिय सुद्धलेसे ।
एवं सिरिए उ स भूरिवन्ने, मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥१३॥
सुदसणस्सेव जसो गिरिस्स, पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते जाती जसो दसणनाणसीले ॥१४॥

संस्कृत छाया

शत सहस्राणा तु योजनाना, त्रिकण्डक पण्डकवैजयन्त ।
स योजने नवनवति सहस्राणि ऊर्ध्वमुच्छ्रितोऽध सहस्रमेकम् ॥१०॥
स्पृष्टो नभस्तिष्ठति भूम्यवस्थितो य सूर्या अनुपरिवर्तयन्ति ।
स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च यस्मिन् रतिं वेदयन्ति महेन्द्रा ॥११॥
स पर्वत शब्दमहाप्रकाशो, विराजते काञ्चनमष्टवर्ण ।
अनुत्तरो गिरिषु च पर्वदुर्गो, गिरिवरोऽसौ ज्वलित इव भौम ॥१२॥
मह्या मध्ये स्थितो नगेन्द्र , प्रज्ञायते सूर्यशुद्धलेश्य ।
एव श्रिया तु स भूरिवर्ण मनोरमो द्योतयत्यर्चिमाली ॥१३॥
सुदर्शनस्येव यशो गिरे प्रोच्यते महत पर्वतस्य ।
एतदुपम श्रमणो ज्ञातपुत्र जातियशो दर्शन ज्ञानशील ॥१४॥

अन्वयार्थ

(सहस्साण जोयणाण सय उ) वह सुमेरु पर्वत सौ हजार (एक लाख) योजन ऊँचा है, (तिकडगे) उसके तीन विभाग है। (पडगवेजयते) उस पर्वत पर सबसे ऊपर स्थित पण्डकवन पताका की तरह शोभा पाता है। (से) वह सुमेरु पर्वत (जोयणे णवणवति सहस्से उदधुस्सितो) ९९ हजार योजन ऊपर उठा है, (हेट्ठसहस्स-मेग) और एक हजार योजन भूमि मे गडा है ॥१०॥

(से) वह सुमेरु पर्वत (**णभे पुट्ठे**) आकाश को छूता हुआ, (**भूमिवट्ठिए चिट्ठइ**) पृथ्वी पर स्थित है, (**ज**) जिसकी (**सूरिया**) सूर्यगण (**अणुपरिवट्टयति**) परिक्रमा देते है। (**हेमवन्ने**) वह सुनहरी रग वाला (**बहुनदणे य**) बहुत से नन्दन-वनो से युक्त है, (**जसी**) जिस पर (**महिंदा**) महेन्द्रगण (**रति वेदयति**) आनन्द का अनुभव करते है ॥११॥

(**से पव्वए**) वह पर्वत (**सद्दमहप्पगासे**) अनेक नामो मे अतिप्रसिद्ध है,(**कचण-मट्ठवण्णे**) तथा वह सोने की तरह शुद्ध वर्ण वाला (**विरायती**) सुशोभित है। (**अणुत्तरे**) वह सब पर्वतो मे श्रेष्ठ है। (**गिरिसु य पव्वदुग्गे**) वह सभी पर्वतो मे उपपर्वतो के द्वारा दुर्गम है (**से गिरिवरे**) वह पर्वतश्रेष्ठ (**भोमे व जलिए**) मणि और औपधियो से प्रकाशित भू प्रदेश की तरह प्रकाश करता है ॥१२॥

(**नगिंदे**) वह पर्वतराज (**महीइ मज्झमि**) पृथ्वी के मध्य मे (**ठिए**) स्थित है। (**सूरिय सुद्धलेसे**) वह सूर्य के समान शुद्ध कान्ति वाला (**पन्नायते**) प्रतीत होता है, (**एव**) इसी तरह (**सिरिए उ**) वह अपनी शोभा से (**भूरिवन्ने**) अनेक वर्णवाला (**मणोरमे**) और मनोहर हैं (**अच्चिमाली**) वह सूर्य की तरह (**जोयइ**) सब दिशाओ को प्रकाशित करता है ॥१३॥

(**महतो पव्वयस्स**) महान् पर्वत (**सुदसणस्स गिरिस्स**) सुदर्शन गिरि का यश पूर्वोक्त प्रकार से कहा जाता है। (**समणे नायपुत्ते एतोवमे**) ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर को इसी पर्वत से उपमा दी जाती है। (**जाती जसो दसणनाणसीले**) भगवान् जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील मे सबसे श्रेष्ठ हैं ॥१४॥

भावार्थ

वह सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। वह निन्यानवे हजार योजन भूमि से ऊपर आकाश मे है, और एक हजार योजन नीचे भूमि के गर्भ मे है। इसके तीन काण्ड (विभाग) है। सबसे ऊपर के काण्ड मे पण्डक-वन है जो ध्वजा के समान बहुत सुन्दर मालूम होता है ॥१०॥

वह सुमेरुपर्वत ऊपर आकाश को और नीचे पृथ्वी को स्पर्श करके खडा हुआ है। सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहगण अविराम गति से उसके चारो और प्रदक्षिणा करते रहने है। स्वर्ण के समान उसकी सुन्दर कान्ति और वर्ण है। वह अनेक नन्दन आदि वनो से सुशोभित है। साधारण देवो की तो बात ही क्या, स्वय महेन्द्र भी सुमेरु पर आकर विश्रान्ति का आनन्दानुभव करते हैं ॥११॥

सुमेरुपर्वत की कन्दराओ मे से देवो का कोमल सगीत स्वर दूर-दूर तक गूँजता रहता है। तपे हुए सोने-सी उज्ज्वल कान्ति से वह सुशोभित

है। सुमेरु सब पर्वतो मे श्रेष्ठ है, और ऊँची ऊँची मेखलाओ के कारण दुर्गम है तथा मगल ग्रह के समान अतीव उज्ज्वल कान्ति वाला है ॥१२॥

सुमेरुपर्वत भूमण्डल के ठीक बीच मे है, वह पर्वतराज सूर्य के समान अतीव दिव्य कान्तिवाला मालूम होता है। नाना प्रकार के रत्नो के कारण विचित्र वर्णो की मनोरम प्रभा से युक्त है। उसमे से चारो ओर उज्ज्वल किरणे निकलती रहती है, जो सूर्य की तरह दशो दिशाओ को अपने आलोक से प्रकाशित करती है ॥१३॥

जिस प्रकार ससार मे पर्वतो का राजा सुमेरु यशस्वी कहलाता है, उसी प्रकार भगवान् महावीर स्वामी भी तीन लोक मे महान् यशस्वी थे। जैसे सुमेरु अपने गुणो के द्वारा सब पर्वतो मे श्रेष्ठ है, इसी तरह धर्मसाधना मे अतीव उग्र श्रम करने वाले ज्ञातपुत्र श्रमण महावीर जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील आदि सद्‌गुणो मे सबसे श्रेष्ठ थे ॥१४॥

व्याख्या

पर्वतराज सुमेरु के समान गुणो मे सर्वश्रेष्ठ महावीर

दसवी गाथा से चौदहवी गाथा तक पर्वतराज सुमेरु की विशेषताएँ बता कर भगवान् महावीर को उससे उपमा देकर गुणो मे सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।

सुमेरुपर्वत की विशेषता बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—सुमेरुपर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। वह भूमितल से लेकर ९९ हजार योजन ऊपर आकाश मे है और एक हजार योजन नीचे भूगर्भ मे स्थित है। आशय यह है कि जैसे सुमेरुपर्वत ऊर्ध्व, अध और मध्य तीनो लोको मे अवस्थित है, वैसे ही भगवान् का प्रभाव भी तीनो लोको मे व्याप्त था। सुमेरु के तीन काण्ड — विभाग है - भूमिमय, स्वर्णमय और वैडूर्यमय। इसी प्रकार भगवान् भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय से सुशोभित थे। सुमेरुपर्वत के मस्तक पर स्थित पण्डकवन उसकी पताका के समान शोभा पाता है, वैसे ही वीरप्रभु भी तीर्थकर नामक शीर्षस्थ पद से सुशोभित हैं। सुमेरुपर्वत ऊपर गगनचुम्बी है, और नीचे भूमिस्पर्शी है। सूर्यचन्द्र आदि ग्रहगण सदैव अविरत उसके चारो ओर प्रदक्षिणा देते रहते हैं। इसी प्रकार महामण्डलेश्वर सम्राट तक भी भगवान् के चारो ओर प्रदक्षिणा लगाया करते थे और उनका उपदेश सुनने के लिए सदा लालायित रहते थे। भगवान् महावीर के अहिंसा, सत्य आदि के सिद्धान्त सुमेरु के समान सदैव ऊर्ध्वमुखी थे। सुमेरु स्वर्ण की-सी सुन्दर कान्ति से तथा नन्दनवन आदि अनेक वनो से सुशोभित है वैसे ही भगवान् महावीर का दिव्यशरीर भी स्वर्ण जैसी कान्ति वाला एव पीत वर्ण का था। सुमेरु के मस्तक पर चार नन्दन आदि वन है—जैसे कि भूमिमय विभाग मे भद्रशाल वन है, उससे

ऊपर फिर ५०० योजन चढने के बाद मेखला प्रदेश मे नन्दनवन है, उससे ५६२ योजन चढने पर सौमनस वन आता है। उससे ३६००० योजन ऊपर चढने के बाद सुमेरु के शिखर पर पण्डकवन है। इस प्रकार यह पर्वतराज चार नन्दन वनो से युक्त विचित्र क्रीडा का स्थान है। अन्य देवो की तो बात ही क्या, महेन्द्रगण भी स्वर्ग से भी अधिक रमणीय गुणो से युक्त होने के कारण वहाँ आकर उस पर क्रीडा करके आनन्द का अनुभव करते है, इसी प्रकार भगवान् के चरणो मे भी प्राणिमात्र आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करते थे। अधिक क्या, स्वर्गनिवासी देवो को भी भगवान् की सेवा मे आने से शान्ति मिलती थी। सचमुच भगवान् महावीर अपने युग मे विश्व शान्ति के एकमात्र आराधना केन्द्र थे।

सुमेरुपर्वत मन्दर, मेरु, सुदर्शन और सुरगिरि आदि अनेक नामो से जगत् मे प्रसिद्ध है, वैसे ही भगवान वर्धमान स्वामी भी वीर, महावीर, सन्मति, त्रिशला-नन्दन, ज्ञातपुत्र, वैशालिक आदि अनेक नामो से प्रसिद्ध थे। अथवा सुमेरु की कन्दरा से उठने वाली देवो की कोमल ध्वनि दूर-दूर तक गूँजती रहती है, वैसे ही भगवान् महावीर की वाणी भी अतीव ओजस्वी, गभीर, सारगर्भित दिव्यध्वनि के रूप मे प्रगट होती थी। जो दूर-दूर तक बैठे श्रोताओ को सुनाई देती थी और उनके अन्तर् पर अपना अमिट प्रभाव डाल देती थी। सुमेरु का वर्ण सोने की तरह शुद्ध एव चिकना है। भगवान् के शरीर का वर्ण भी शुद्ध सोने-का-सा उज्ज्वल था। सुमेरु से बढकर ससार मे कोई पर्वत नही है, वैसे ही भगवान् से बढकर उस युग मे गुणो मे श्रेष्ठ कोई नही था। सुमेरुपर्वत अपनी ऊँची-नीची मेखलाओ के कारण दुर्गम है, वैसे भगवान् महावीर भी नय, प्रमाण, निक्षेप आदि की गहन भगावलियो के कारण तत्त्वचर्चा के क्षेत्र मे वादियो के द्वारा दुर्गम एव दुर्जेय थे। अनेकान्तवाद का सिद्धान्त कही भी पराजित नही होता, वह अजेय दुर्ग है। भौम का अर्थ मगलग्रह है, यानी मगलग्रह के समान सुमेरु अतीव उज्ज्वल कान्ति वाला है, वैसे ही भगवान् भी उज्ज्वल कान्ति से शोभायमान थे। भौम का दूसरा अर्थ भूमि सम्बन्धी परिणाम भी होता है। इस प्रसग मे भौम का अभिप्राय यह होगा कि जिस प्रकार पृथ्वी अनेक तेजोमय औषधियो से जाज्वल्यमान रहती है, वैसे ही सुमेरुपर्वत भी अनेक तेजोमय तरुसमूह से जाज्वल्यमान रहता है। भगवान् भी सुमेरु के समान अनन्तानन्त गुणो से प्रकाशमान थे।

जिस प्रकार सुमेरुपर्वत ठीक भूमण्डल के बीचो-बीच है, उसी प्रकार भगवान् महावीर भी धर्मसाधको की भावनाओ के मध्यबिन्दु थे।

आशय यह है कि रत्नप्रभा पृथ्वी के मध्य भाग मे जम्बूद्वीप है। उसके बराबर मध्य भाग मे सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन और माल्यवान इन चार

द्रंष्ट्रा पर्वतो से सुशोभित, समभूभाग मे १० हजार योजन विस्तृत एव प्रत्येक ६० योजन पर एक योजन के ११वे भाग से कम विस्तार वाला, वाकी का योजन के दशभाग विस्तृत, ऐसा मेरुपर्वत है। उसके सिर पर ४० योजन की ऊँची चोटी है। सुमेरु पर्वतो का राजा है। इसी तरह भगवान् महावीर भी तपस्वी, त्यागी साधु-श्रावको के राजा यानी नेता थे। भगवान् की अधिनायकता से हजारो साधक वासना पर विजय पाकर वडे आनन्द से मोक्ष साम्राज्य के अधिकारी वने।

सुमेरु पर्वत नाना प्रकार के रत्नो की प्रभा के कारण रग-विरगा लगता है, इसी प्रकार भगवान् महावीर भी सत्य, शील, क्षमा, ज्ञान, दर्शन आदि अनेक गुणो के कारण अनन्त रूप थे। जैसे सुमेरुपर्वत मे से चारो ओर प्रकाश की उज्ज्वल किरणें निकलती रहती है जो दशो दिशाओ को अपने आलोकसे उद्भासित करती है, तथैव भगवान् महावीर भी अपने ज्ञान का प्रकाश लोक-अलोक मे सर्वत्र फैलाते थे। कोई भी ऐसा पदार्थ नही जो उनके अनन्तज्ञान से उद्भासित न होता हो ?

चौदहवी गाथा मे शास्त्रकार सुमेरु पर्वत के वर्णन का उपसहार करते हुए कहते हैं—**'एतोवमे समणे नायपुत्ते जातिजसो दसणनाणशीले ।'** अर्थात् सुमेरु पर्वत की उपमा भगवान् महावीर को दी है। पर्वतराज सुमेरु जैसे लोक मे यशस्वी कहलाता है, वैसे ही भगवान् महावीर भी तीनो लोको मे महायशस्वी थे। जिस प्रकार मेरु अपने गुणो के कारण श्रेष्ठ कहलाता है, वैसे ही भगवान् भी अपनी जाति[1], यश, दर्शन, ज्ञान और शील आदि सद्गुणो मे सर्वश्रेष्ठ थे।

मूल पाठ

गिरिवरे वा निसहाऽऽययाणं, रुयए व सेट्ठे वलयायताण ।
तओवमे से जगभूइपन्ने, मुणीण मज्झे तमुदाहु पन्ने ॥१५॥

---

१ भगवान् महावीर के राजवश के कारण उन्हे ज्ञातपुत्र कहा जाता था। क्षत्रियो की ज्ञात शाखा मे उनका जन्म हुआ था। आजकल भी ज्ञातृ या ज्ञात जाति वैशाली नगरी (जिला मुजफ्फरपुर के अन्तर्गत बसाड) के आसपास जथरिया भूमिहर जाति के रूप मे विद्यमान है। जथरिया शब्द ज्ञातृ शब्द का ही अपभ्रश है, ज्ञातृ—ज्ञातर—जातर—जतरिया—जथरिया, यो रूप विगडता गया है। भगवान् महावीर का गोत्र काश्यप था, जथरिया जाति का गोत्र भी काश्यप है। जथरिया जाति के सिंहान्त नाम क्षत्रिय होने के सूचक हैं। आज भी जथरिया जाति मे वहुत से जमीदार और राजा है। —सम्पादक

सस्कृत छाया

गिरिवर इव निषध आयताना, रुचक इव श्रेष्ठो वलयायतानाम् ।
तदुपम स जगद्भूतिप्रज्ञ , मुनीना मध्ये तमुदाहु प्रज्ञा ॥१५॥

अन्वयार्थ

(आययाण गिरिवरे निसहा वा) जैसे लम्बे पर्वतो मे श्रेष्ठ निपध प्रधान है तथा (वलयायताण रुयए व सेट्ठे) चूडी के समान गोलाकार पर्वतो मे रुचक पर्वत श्रेष्ठ कहलाता है, इसी प्रकार (जगभूइपन्ने से) जगत मे सबसे अधिक बुद्धिमान उन भगवान् महावीर स्वामी की (तओवमे) वही उपमा है । (पन्ने) बुद्धिमान पुरुषो ने (मुणीण मज्झे तमुदाहु) मुनियो मे भगवान् को श्रेष्ठ कहा ।

भावार्थ

जिस प्रकार दीर्घाकार (लम्बे) पर्वतो मे निषधपर्वत श्रेष्ठ है, तथा वलयाकार (चूडी के समान गोल) पर्वतो मे रुचक पर्वत श्रेष्ठ है, वही उपमा ससार मे चराचर विश्व के ज्ञाता अनन्तज्ञानी (सर्वाधिक प्रज्ञावान) भगवान् महावीर स्वामी पर घटित होती है । बुद्धिमान पुरुषो ने विश्व के सभी त्यागी ऋषि मुनियो मे श्रमण महावीर को श्रेष्ठ बतलाया है ।

व्याख्या

समस्त मुनियो मे श्रेष्ठ महावीर कैसे ?

इस गाथा मे दो पर्वतो की उपमा देकर भगवान् महावीर को सबसे अधिक बुद्धिमान एव सर्वश्रेष्ठ बतलाया है । जैसे जम्बूद्वीप या अन्य द्वीपो मे समस्त लम्बे पर्वतो मे निषध पर्वत श्रेष्ठ है, तथा वर्तुलाकार (चूडी की तरह गोल) पर्वतो मे रुचकपर्वत उत्तम है, क्योकि वह रुचक द्वीपान्तवर्ती मानुषोत्तर पर्वत की तरह गोल और लम्बा है, तथा असख्येय योजन विस्तृत है, इसी तरह भगवान् भी हैं । अर्थात् वे दो पर्वत जैसे लम्बाई और गोलाई मे सबसे श्रेष्ठ है, इसी प्रकार भगवान् भी ससार मे सर्वाधिक भूतिप्रज्ञ है यानी प्रज्ञा मे सर्वश्रेष्ठ है । तथा उनके स्वरूप को जानने वाले बुद्धिमान् कहते है कि वे त्यागी ऋषि-मुनियो मे सर्वश्रेष्ठ है, सर्वोपरि हैं ।

मूल पाठ

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तर झाणवर झियाइ ।
सुसुक्कसुक्क अपगंडसुक्कं, सखिंदुएगतवदातसुक्क ॥१६॥

सस्कृत छाया

अनुत्तर धर्ममुदीरयित्वाऽनुत्तर ध्यानवर ध्यायति ।
सुशुक्लशुक्लमपगण्डशुक्ल शखेन्दुवदेकान्तावदातशुक्लम् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(अणुत्तर धम्ममुईरइत्ता) भगवान् महावीर ने सर्वोत्तम धर्म का उपदेश देकर (अणुत्तर झाणवर झियाइ) सर्वोत्तम श्रेष्ठ ध्यान—शुक्लध्यान की साधना की। (सुसुक्कसुक्क) भगवान् का ध्यान अत्यन्त शुक्ल वस्तुओ के समान शुक्ल था, (अपगडसुक्क) तथा वह दोपविवर्जित शुक्ल था, (संखिदुएगतवदातसुक्क) शख, चन्द्रमा आदि शुद्ध श्वेत वस्तुओ के समान एकान्त शुद्ध श्वेत था।

भावार्थ

भगवान् महावीर ससारतारक सर्वोत्तम धर्म प्रकाशित करके सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ ध्यान—शुक्लध्यान मे स्थित हुए। भगवान् का वह शुक्ल-ध्यान (आत्म-चिन्तन की विशुद्ध धारा) अत्यन्त शुक्ल वस्तुओ से शुक्ल था, दोषरहित शुक्ल था, और शख, चन्द्रमा आदि शुद्ध श्वेत वस्तुओ के समान पूर्णरूप से एकान्त निर्मल शुक्ल था।

व्याख्या

भगवान् का सर्वश्रेष्ठ ध्यान शुक्लध्यान

इस गाथा मे यह बताया गया है कि भगवान् महावीर का सर्वश्रेष्ठ शुक्ल ध्यान कैसा था ? शुक्लध्यान की साधना उन्होने कब की थी ? आशय यह है कि भगवान् ने पहले ससार के समक्ष अनुत्तर (जिससे श्रेष्ठ दूसरा नही है, ऐसे) धर्म का भलीभाँति प्रतिपादन किया, तदनन्तर उत्तम ध्यान श्रेष्ठ—शुक्लध्यान की साधना मे लीन हुए। अर्थात् जब भगवान् को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो गया, तव वे योग निरोधकाल के दौरान सूक्ष्मकाययोग को रोकते हुए सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती नामक तृतीय शुक्लध्यान मे स्थित हो जाते थे, और जब उनके समस्त योगो का निरोध हो गया, तव वे व्युपरतक्रियअनिवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यान मे लीन हो जाते थे। यही शास्त्रकार बतलाते हैं—'सुसुक्कसुक्क वदातसुक्क।' अर्थात् जो ध्यान अत्यन्त शुक्ल (श्वेत वर्ण की तरह शुक्ल है, तथा जिससे दोष हट गया है, अर्थात् जो निर्दोप शुक्ल है, अथवा अपगण्ड यानी जल के फेन के समान जो शुक्ल है, तथा शख और चन्द्र के समान जो एकान्त व शुद्ध शुक्ल है, ऐसे द्विविध शुक्लध्यान की साधना प्रभु करते थे।

मूल पाठ

अणुत्तरग्ग परम महेसी असेसकम्म स विसोहइत्ता।
सिद्धि गते साइमणतपत्ते नाणेण सीलेण य दसणेण ॥१७॥

सस्कृत छाया

अनुत्तराग्र्या परमा महर्षिरशेषकर्माणि स विशोध्य वीर।
सिद्धि गत. सादिमनन्त प्राप्त, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥१७॥

अन्वयार्थ

(स महेसी) वे महर्षि भगवान् महावीर स्वामी (नाणेण सीलेण य दसणेण) ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बल से (असेसकम्म) ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्मों का (विसोहइत्ता) शोधन करके क्षय करके (अणुत्तरग्ग परम सिद्धि गते) सर्वोत्तम अनुत्तर लोकाग्रभाग मे स्थित परम सिद्धि को प्राप्त हुए। (साइमणतपत्ते) जिस सिद्धि की आदि तो है, परन्तु अन्त नही है।

भावार्थ

उन महर्षि भगवान् महावीर ने समस्त कर्मों को सदाकाल के लिए नष्ट करके लोक के अग्रभाग मे स्थित, सर्वोत्कृष्ट सादि-अनन्तरूप सर्वप्रधान सिद्धि (मोक्ष) गति को प्राप्त किया। भगवान् ने सिद्धि की प्राप्ति मे अन्य किसी पर भरोसा न करके अपने ही पुरुषार्थ पर भरोसा किया, फलत अपने ज्ञान एव शील (चारित्र) के द्वारा कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त की।

व्याख्या

वीरप्रभु ने सिद्धिगति कैसी और कैसे प्राप्त की ?

इस गाथा मे यह बताया है कि महर्षि महावीर ने कैसे सिद्धिगति (मुक्ति) प्राप्त की, और वह सिद्धि कैसी है ? जैनदर्शन का यह एक ठोस सिद्धान्त है कि सिद्धि (मुक्ति) किसी के देने से, किसी को प्रसन्न कर देने से या किसी विशिष्ट भगवत्शक्ति की मनौती करने से कदापि प्राप्त नही हो सकती, कोई भी देव किसी को मुक्ति नही दे सकता, और न ही एक व्यक्ति को किसी दूसरे मानव द्वारा साधना करने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसीलिए भगवान् महावीर ने सिद्धि प्राप्ति के हेतु किसी अन्य पर भरोसा न रखकर अपनी ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र तप की साधना मे पुरुषार्थ के बल पर स्वय ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्मों का सदा-सदा के लिए समूल नाश करके, आत्मा को परम विशुद्ध बना कर शैलेशी अवस्था से उत्पन्न चतुर्थ शुक्लध्यान मे स्थित होकर पचम सिद्धिगति प्राप्त की।

सिद्धिगति कहे या मुक्ति कहे अथवा मोक्ष या निर्वाण कहे, बात एक ही है। परन्तु मोक्ष या निर्वाण के सम्बन्ध मे विभिन्न धर्मों और दर्शनो मे काफी मतभेद है। कोई सातवे आसमान पर मोक्ष बतलाता है, कोई (साख्यदर्शन) त्रिविध दुखो से अत्यन्त निवृत्ति को मोक्ष कहते है, कोई (वैशेषिकदर्शन) सुख, दुख आदि नौ आत्म-गुणो के सर्वथा नष्ट हो जाने को मोक्ष कहते है, बौद्धदर्शन सर्वसस्कार क्षणिक हैं, इस बात को सुदृढतया हृदय मे जमा लेने को मोक्ष कहते हैं। इसीलिए इन सबका निराकरण करके जैनदर्शनसम्मत सर्वज्ञप्ररूपित वास्तविक सिद्धि या मुक्ति का स्वरूप बताने हेतु यहाँ सिद्धिगति के लिए कई विशेषणो का प्रयोग किया गया है, जिसे भगवान् महावीर ने प्राप्त किया था। सिद्धिगति के यहाँ पाँच विशेषण हैं—अनुत्तरा,

अग्रया, परमा, अशेषकर्म विशुद्धि, सादि-अनन्ता। सिद्धिगति सब गतियो मे श्रेष्ठ है, लोक के अग्रभाग मे स्थित होने के कारण वह अग्रया है, वह परमधाम होने के कारण परमा है। वहाँ जाने के पश्चात आवागमन नही होता, इसलिए सादि-अनन्त है, समस्त कर्मों का क्षय होने से तथा आत्मा विशुद्ध होने से वह प्राप्त होती है, इसलिए इसे अशेषकर्म विशुद्धि भी कहा है।

मूल पाठ

रुक्खेसु णाए जह सामली वा, जंसि रति वेययती सुवन्ना।
वणेसु वा णदणमाहु सेट्ठ, नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ॥१८॥

संस्कृत छाया

वृक्षेषु ज्ञातो यथा शाल्मली वा, यस्मिन् रति वेदयन्ति सुपर्णा।
वनेषु वा नन्दनमाहु श्रेष्ठ, ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रज्ञ ॥१८॥

अन्वयार्थ

(जह) जैसे (रुक्खेसु) वृक्षो मे (णाए सामली) प्रसिद्ध सेमर वृक्ष श्रेष्ठ है, (जंसि) जिस पर (सुवन्ना) सुपर्णकुमार नामक भवनपति जाति के देव (रति वेययति) आनन्द का अनुभव करते है। (वणेसु वा णदणमाहु सेट्ठ) जैसे वनो मे नन्दनवन को श्रेष्ठ कहते है, इसी प्रकार (नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने) ज्ञान और चारित्र के द्वारा उत्तम ज्ञानी भगवान् महावीर को श्रेष्ठ कहते हैं।

भावार्थ

जैसे वृक्षो मे शाल्मली (सेमर) वृक्ष श्रेष्ठ है, जिस पर सुपर्णकुमार जाति के भवनपति देव क्रीडा करके आनन्द का अनुभव करते है, तथा जैसे ससार के समस्त सुन्दर वनो मे नन्दनवन श्रेष्ठ है, जो सुमेरुगिरि पर अवस्थित है, इसी प्रकार अनन्तज्ञानी भगवान् महावीर भी ज्ञान और शील मे सर्वश्रेष्ठ महापुरुष थे।

व्याख्या

ज्ञान और शील मे सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महावीर

इस गाथा मे शाल्मलीवृक्ष एव नन्दनवन की उपमा देकर भगवान् महावीर को ज्ञान और शील मे सर्वश्रेष्ठ पुरुष बताया गया है। जैसे देवकुरुक्षेत्र मे वृक्षो मे प्रसिद्ध शाल्मली (सेमर) वृक्ष श्रेष्ठ है, जो सुपर्णजाति के भवनपति देवो का आनन्द-दायक क्रीडास्थल है, जिस पर दूसरे स्थानो से आकर सुपर्णकुमार देव विशिष्ट आनन्द का अनुभव करते हैं। तथैव वनो मे देवो की क्रीडाभूमि नन्दनवन प्रधान है, इसी प्रकार भगवान् भी समस्त पदार्थों को प्रकट करने वाले केवलज्ञान और यथाख्यातचारित्र के द्वारा सबसे प्रधान हैं। केवलज्ञानी के लिए यहाँ भूतिप्रज्ञ (उत्कृष्ट ज्ञान वाले) शब्द प्रयुक्त किया गया है।

मूल पाठ

थणिय व सद्दाण अणुत्तरे उ, चदो व ताराण महाणुभावे ।
गधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठ, एव मुणीण अपडिन्नमाहु ॥१६॥

संस्कृत छाया

स्तनितमिव शब्दानामनुत्तरस्तु चन्द्र इव ताराणा महानुभाव ।
गन्धेषु वा चन्दनमाहु श्रेष्ठमेव मुनीनामप्रतिज्ञमाहु ॥१६॥

अन्वयार्थ

(सद्दाण) शब्दो मे **(थणियं व)** जैसे मेघगर्जन **(अणुत्तरे)** प्रधान है। **(ताराण)** और तारो मे **(महाणुभावे चदो व)** जैसे महाप्रभावशाली चन्द्रमा श्रेष्ठ है, **(गधेसु चदण वा सेट्ठमाहु)** सुगन्धो मे जैसे चन्दन को श्रेष्ठ कहा है, **(एव)** इसी प्रकार **(मुणीण)** मुनियो मे **(अपडिन्नमाहु)** कामनारहित भगवान् महावीर स्वामी को श्रेष्ठ कहा है।

भावार्थ

जिस प्रकार शब्दो मे मेघ की गम्भीर गर्जना का शब्द अनुपम है, तारामण्डल मे चन्द्र महानुभाव—महाप्रभावशाली है, सुगन्धित वस्तुओ मे मलय (बावना चन्दन) श्रेष्ठ कहा है, उसी प्रकार भूमण्डल के समस्त मुनियो मे लोक-परलोक की वासना से सर्वथा मुक्त भगवान् महावीर श्रेष्ठ थे।

व्याख्या

मुनियों मे श्रेष्ठ महावीर क्यो और किस तरह ?

इस गाथा मे भगवान् महावीर को तीन उपमाएँ देकर मुनियो मे श्रेष्ठ बताया गया है। पहली उपमा है मेघगर्जन की, दूसरी है—तारामण्डल की और तीसरी है—चन्दन की। ये तीनो शब्द, रूप और गन्ध तीनो के प्रतीक है। इस भूमण्डल मे शब्दो मे जैसे मेघगर्जन प्रधान है, नक्षत्रो मे सबको आनन्ददायक कान्ति के द्वारा महानुभाव (महाप्रभावशील) चन्द्रमा प्रधान है, तथा गन्धो (गन्धवाले पदार्थो) मे गोशीर्ष चन्दन (या मलय चन्दन) श्रेष्ठ है, इसी प्रकार मुनियो मे इस लोक-परलोक के सुख की कामना न करने वाले भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ हैं।

मूल पाठ

जहा सयभू उदहीण सेट्ठे, नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे ।
खोओदए वा रस वेजयते, तवोवहाणे मुणिवेजयंते ॥२०॥

संस्कृत छाया

यथा स्वयम्भूरुदधीना श्रेष्ठ , नागेषु वा धरणेन्द्रमाहु श्रेष्ठम् ।
इक्षुरसोदको वा रसवैजयन्त , तप उपधाने मुनिवैजयन्तः ॥२०॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (उदहीण) समुद्रो मे (सयभू सेट्ठे) स्वयम्भूरमण समुद्र श्रेष्ठ है, (नागेसु वा) तथा नागो (भवनपतिदेव विशषो) मे (धरणिंद सेट्ठे माहु) धरणेन्द्र को श्रेष्ठ कहा है, (खोओदए वा रसवेजयते) इक्षुरसोदक समुद्र जैसे समस्त रस रस वालो मे प्रधान है, (तवोवहाणे मुणिवेजयते) इसी तरह प्रधान (विशिष्ट) तप के द्वारा भगवान महावीर सब मुनियो मे शिरोमणि हैं ।

भावार्थ

जिस प्रकार सब समुद्रो मे स्वयम्भूरमण समुद्र प्रधान है, नागकुमार जाति के भवनपतिदेवो मे उनका इन्द्र धरणेन्द्र प्रधान है, सब रसो मे ईख का मधुर रस प्रधान है, अथवा सब रस वाले सागरो मे इक्षुरसोदक समुद्र प्रधान है, इसी प्रकार विशिष्ट तप साधना के क्षेत्र मे भगवान् महावीर समस्त मुनियो मे प्रधान थे ।

व्याख्या

तप साधना के क्षेत्र मे सर्वोपरि मुनिश्रेष्ठ भगवान् महावीर

इस गाथा मे भगवान् महावीर को तपस्या के क्षेत्र मे समस्त लोक की पताका के समान सर्वोपरि मुनिवर तीन उपमाओ द्वारा बताया गया है—पहली उपमा दी गई है—स्वयम्भूरमण समुद्र से, दूसरी दी गई है—धरणेन्द्र से, और तीसरी दी गई है—इक्षुरसोदक से । जो अपने आप उत्पन्न होते हैं, वे स्वयम्भू कहलाते हैं, देवो को स्वयम्भू कहा जाता है, वे (स्वयम्भू देव) जहाँ जाकर रमण—क्रीडा करते हैं, उसे स्वयम्भूरमण समुद्र कहते हैं, वह एक विशिष्ट एव लोक मे समस्त द्वीप-समुद्रो के अन्त मे विद्यमान है । उसे समस्त समुद्रो मे श्रेष्ठ समुद्र माना जाता है, तथा नागकुमारजाति के भवनपति देवो का इन्द्र धरणेन्द्र कहलाता है, वह नागजाति मे प्रधान (श्रेष्ठ) कहलाता है, इसी प्रकार समस्त रसो मे इक्षुरस श्रेष्ठ माना जाता है, अथवा ईख के रस के समान जिसका जल मधुर है, वह इक्षुरसोदक समुद्र अपने माधुर्यगुणो के कारण समस्त रस वालो—समस्त समुद्रो की पताका के समान प्रधान माना जाता है । इसी प्रकार अपनी विशिष्ट तपस्या के उपधान से जगत् की तीनो अवस्थाओ को जानने वाले (मुनि) भगवान् महावीर समग्रलोक की पताका के समान सर्वोपरि हैं ।

मूल पाठ

हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहो मिगाण सलिलाण गगा ।
पक्खीसु वा गरुलेवेणुदेवो, निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥२१॥

संस्कृत छाया

हस्तिष्वैरावणमाहुर्ज्ञात, सिहो मृगाणा सलिलाना गगा ।
पक्षिषु वा गरुडो वेणुदेवो, निर्वाणवादिनमिह ज्ञातपुत्र ॥२१॥

अन्वयार्थ

(हत्थीसु) हाथियो मे (णाए) जगत्प्रसिद्ध (एरावणमाहु) ऐरावण हाथी को प्रधान कहते है, (मिगाण सीहो) तथा मृगो मे सिह—मृगेन्द्र प्रधान है, (सलिलाण गगा) जलो—नदियो मे गगा प्रधान है, (पक्खीसु वा गरुलेवेणुदेवो) पक्षियो मे वेणुदेव गरुड प्रधान है, इसी प्रकार (निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते) निर्वाणवादियो मे इस विश्व मे ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी श्रेष्ठ है।

भावार्थ

जिस प्रकार हाथियो मे इन्द्र का प्रसिद्ध ऐरावत हाथी मुख्य है, पशुओ (मृगो) मे सिह मुख्य है, नदियो मे गगा नदी मुख्य है, पक्षियो मे वेणुदेव गरुड पक्षी मुख्य है, उसी प्रकार निर्वाणवादियो—मोक्षमार्ग के उपदेशको (नेताओ) मे ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर मुख्य थे ।

व्याख्या

निर्वाणमार्ग के उपदेशको मे प्रधान ज्ञातपुत्र महावीर

इस गाथा मे भगवान् महावीर को चार लोकप्रसिद्ध उपमाओ से उपमित करके निर्वाणवादियो मे अग्रणी बताया गया है। प्रधान वस्तुओ के विशेषज्ञ बुद्धिमान बताते है कि हाथियो मे इन्द्र का जगत्प्रसिद्ध ऐरावत हाथी प्रधान होता है। पशुओ मे बल आदि की दृष्टि से सिह को मुख्य बताया जाता है, भरतक्षेत्र की अपेक्षा से समस्त नदियो मे पवित्रता, विशालता आदि की दृष्टि से गगानदी मुख्य मानी जाती है। इसी प्रकार पक्षियो मे आकाश मे सुदीर्घ मुक्त विहार की दृष्टि से गरुडपक्षी (वेणुदेव) मुख्य माना जाता है। इसी तरह निर्वाणवादियो मे ज्ञातपुत्र भगवान महावीर प्रधान है। निर्वाण सिद्धि क्षेत्र को कहते हैं अथवा समस्त कर्मक्षय का नाम निर्वाण (मोक्ष) है। निर्वाण के स्वरूप, उपाय, प्राप्ति तथा साधक-बाधक कारणो को जो बताते हैं, उन्हे निर्वाणवादी कहते है। ससार के विभिन्न निर्वाणवादियो (मोक्ष के महोपदेशको) मे ज्ञातपुत्र वीर वर्धमान स्वामी अग्रणी थे क्योकि उन्होने निर्वाण का यथार्थ स्वरूप बताया था। पूर्वोक्त उपमाएँ भगवान के मगलता, शुक्लता, पवित्रता और स्वतन्त्रता आदि सद्गुणो को अभिव्यक्त करती है।

मूल पाठ

जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।
खत्तीण सेट्ठे जह दतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥२२॥

संस्कृत छाया

योधेषु ज्ञातो यथा विश्वसेन , पुष्पेषु वा यथाऽरविन्दमाहु ।
क्षत्रियाणा श्रेष्ठो यथा दान्तवाक्य , ऋषीणा श्रेष्ठस्तथा वर्धमान ।।२२।।

अन्वयार्थ

(जह) जैसे (णाए) विश्वविख्यात (वीससेणे) विश्वसेन (जोहेसु सेट्ठे) योद्धाओ मे श्रेष्ठ है, (जह) जैसे (पुप्फेसु वा) फूलो मे (अरविंदमाहु) अरविन्द—कमल प्रधान है, (जह) जैसे (खत्तीण) क्षत्रियो मे (दंतवक्के सेट्ठे) दान्तवाक्य श्रेष्ठ हैं, (तह) इसी प्रकार (इसीण) ऋषियो मे (वद्धमाणे सेट्ठे) वर्धमान स्वामी श्रेष्ठ है ।

भावार्थ

जिस प्रकार वीर योद्धाओ मे वासुदेव महान् है, फूलो मे अरविन्द कमल महान् है, क्षत्रियो मे दान्तवाक्य (चक्रवर्ती) महान् है, उसी प्रकार ऋषियो मे श्री वर्द्धमान महावीर सबसे महान् थे ।

व्याख्या

ऋषियो मे सर्वतो महान ऋषिवर वर्द्धमानस्वामी

इस गाथा मे वीरप्रभु को तीन उपमाओ से उपमित करके ऋषियो मे श्रेष्ठ बताया है । पहली उपमा यह है—जैसे हाथी, घोडे, रथ और पैदल इन चार अगो वाले बल के सहित चतुरगिणी सेना से सम्पन्न योद्धाओ मे विश्वसेन—वासुदेव प्रधान है, तथा पुष्पो मे अरविन्द कमल का पुष्प श्रेष्ठ कहलाता है । क्षत्रिय का अर्थ है—क्षत (नाश) से जो प्राणियो का त्राण-रक्षण करता है । ऐसे क्षत्रियो मे दान्त-वाक्य प्रधान है । दान्तवाक्य चक्रवर्ती वह कहलाता है, जिसके एक वाक्य से ही शत्रु का दमन हो जाता है, इन सबकी तरह ऋषियो मे श्री वीर वर्धमान स्वामी श्रेष्ठ है ।

ये उपमाएँ भगवान् की शूरता, वीरता, दृढता, सर्वप्रियता, मनोहरता, इन्द्रियनिग्रहता और भवभय से रक्षकता आदि सद्‌गुणो की राशि को सूचित करती हैं ।

मूल पाठ

दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण, सच्चेसु वा अणवज्ज वयति ।
तवेसु वा उत्तम बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ।।२३।।

सस्कृत छाया

दानाना श्रेष्ठमभयप्रदान, सत्येषु वाऽनवद्य वदन्ति ।
तपस्सुवोत्तम ब्रह्मचर्यं, लोकोत्तम श्रमणो ज्ञातपुत्र ।।२३।।

अन्वयार्थ

(दाणाण) दानो मे (अभयप्पयाण सेट्ठ) अभयदान श्रेष्ठ हैं, (सच्चेसु वा) अथवा सत्यो मे (अणवज्ज वयति) उस सत्य को श्रेष्ठ कहते है, जिससे किसी को

पीडा न हो। ऐसे निर्दोष सत्य को श्रेष्ठ कहा जाता है। (तवेसु व उत्तम बभचेर) तपस्याओ मे ब्रह्मचर्य उत्तम तप है, इसी प्रकार (समणे नायपुत्ते लोगुत्तमे) श्रमण ज्ञातपुत्र महावीर स्वामी लोक मे उत्तम है।

भावार्थ

जिस प्रकार दानो मे अभयदान उत्तम है, सत्यो मे पापरहित दयामय सत्य उत्तम है, तपो मे ब्रह्मचर्य तप उत्तम है, उसी प्रकार तीन लोको मे ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर सबसे उत्तम थे।

व्याख्या

त्रिलोक मे सर्वोत्तम श्रमण भगवान् महावीर

इस गाथा मे दान, सत्य और तप इन तीनो मे उत्तम पदार्थ की उपमा देकर श्रमण भगवान् महावीर को त्रिलोक मे सर्वोत्तम बताया गया है।

सर्वप्रथम दानो मे अभयदान को श्रेष्ठ बताया गया है। दान की परिभाषा यह है—'स्वपरानुग्रहार्थ दीयते इति दानम्' अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए जो दिया जाता है, उसे दान कहते है। दान अनेक प्रकार का होता है। किन्तु उन सबमे अभयदान ही श्रेष्ठ कहलाता है, यह अनुभव से भी सिद्ध है, और शास्त्र से भी। अभयदान का अर्थ है—जीवन की रक्षा या प्राणरक्षा चाहने वाले मरते हुए या भय खाते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करना, उसे निर्भय बनाना, एक प्रकार का जीवन-दान (प्राणदान) देना है, जो शास्त्रीय परिभाषा मे अभयदान कहलाता है। अभय-दान अन्य दानो की अपेक्षा क्यो श्रेष्ठ है ? इसे बताने के लिए नीतिकारो का अनुभव भी देखिए

> दीयते म्रियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा ।
> धनकोटिं न गृह्णीयात् सर्वो जीवितुमिच्छति ।।

अर्थात्—मरते हुए प्राणी को एक ओर करोडो का धन दिया जाय, दूसरी ओर उसे जीवन दिया जाय तो वह दोनो मे से धन को लेना पसन्द नही करेगा, वह जीवन को लेना (प्राणरक्षा) ही पसन्द करेगा। क्योकि सभी प्राणी जीना चाहते है।

इस सम्बन्ध मे एक लौकिक कथा भी प्रसिद्ध है। एक राजा ने एक चोर को चोरी के अपराध मे मृत्युदण्ड देने की आज्ञा दी। चोर को पकडकर चाण्डाल लोग एक खास तरह की वध्य की पोशाक पहनाकर वधस्थान की ओर ले जा रहे थे। राजा के चार रानियाँ थी। उन्होने महल के झरोखे से जब उस चोर को मृत्युदण्ड के लिये ले जाते देखा तो सिपाहियो से पूछने पर ज्ञात हुआ कि चोरी के अपराध मे इसे मृत्युदण्ड दिया जा रहा है। एक रानी ने राजा से कह-सुनकर एक दिन के लिए उसकी मृत्यु स्थगित करके चोर के प्रति उपकार करने

के लिये माँग लिया। राजा ने वह चोर उक्त रानी को सौप दिया। फलत रानी ने उसे नहला-धुलाकर, उत्तम भोजन वस्त्रादि से उसका सत्कार किया, और एक हजार स्वर्णमुद्रायें उसे मनचाहा आमोद-प्रमोद करने के लिए दी। दूसरे दिन दूसरी रानी ने भी इसी प्रकार राजा से उस चोर को माँगकर पहली रानी की तरह सत्कृत किया, और एक लाख सोने की मुहरे उसे यथेष्ट विपयोपभोग के लिए दी, तीसरे दिन तीसरी रानी ने भी चोर का इसी तरह सत्कार किया और एक करोड मुद्राएँ उसे अपनी मनचाही इच्छा पूरी करने के लिए दी। चौथे दिन चौथी रानी की बारी थी। उसने भी चोर को राजा से माँग लिया और कहा कि "मैं चाहती हूँ कि इसका मृत्युदण्ड माफ कर दिया जाय।" राजा ने उक्त रानी की बात मान कर उसकी मृत्यु की सजा माफ कर दी। रानी ने उसका पूर्वोक्त तीनो रानियो की तरह कोई सत्कार नही किया और न उसे धन ही दिया, सिर्फ उसे बुलाकर कहा कि—"भाई! मैंने तुम्हारा मृत्युदण्ड सदा के लिए माफ करवा दिया है, अब तुम निर्भय हो।" चौथी रानी की यह प्रवृत्ति देख शेष तीनो रानियाँ उसकी मजाक करने लगी—"वाह! तुमने तो इसे कुछ नही दिया, बडी कजूस हो तुम!" उसने कहा—"मैंने अपनी समझ से इसका सबसे ज्यादा उपकार किया है।" इस पर रानियो मे परस्पर विवाद छिड गया। फैसले के लिए राजा ने चोर को ही बुलाकर पूछा "सच-सच बताओ, तुम पर सबसे ज्यादा उपकार किस रानी ने किया है?" चोर ने उत्तर दिया—"महाराज! मुझ पर सबसे अधिक उपकार चौथी रानीजी ने किया है, क्योकि स्नान, भोजन, धन आदि मिलने पर भी मैं तो मृत्यु के भय से कॉप रहा था। मुझे तो कुछ भी सुधबुध नही थी कि मैंने क्या खाया-पिया या पहना है? मेरे सामने तो मौत नाच रही थी। इसलिए अन्य सुखो का तो मुझे भान ही नही रहा। जब मेरे कानो मे ये शब्द पडे कि तुम्हारा मृत्युदण्ड सदा के लिए माफ कर दिया गया है, तुमने मरण से रक्षा पा ली है, तो मेरे आनन्द का पार न रहा। मुझे जीवनदान देकर चौथी रानीमाता ने नया जन्म दिया है।" राजा ने तुरन्त निर्णय दे दिया कि अभयदान देना ही सबसे श्रेष्ठ उपकार है। इस पर से यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि अभयदान समस्त दानो मे श्रेष्ठ है।

सत्यवाक्यो मे आध्यात्मिक पुरुष उसे ही श्रेष्ठ कहते हैं, जो निरवद्य—निष्पाप हो, दूसरो को पीडा उत्पन्न करने वाला न हो। सत्य का वास्तविक लक्षण ही यही है—'सद्भ्यो हित सत्यम्', जो प्राणियो के लिए हितकर हो, वह सत्य है। जो वाक्य प्राणियो को पीडा पहुँचाने वाला हो, वह चाहे भाषा की दृष्टि से यथार्थ हो, वास्तव मे सत्य नही है। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

तहेव काण काणेत्ति पडग पडगत्ति वा।
वाहिय वावि रोगित्ति, तेण चोरेत्ति नो वए॥

पीडा न हो । ऐसे निर्दोष सत्य को श्रेष्ठ कहा जाता है। (तवेसु व उत्तम बंभचेरं) तपस्याओ मे ब्रह्मचर्य उत्तम तप है, इसी प्रकार (समणे नायपुत्ते लोगुत्तमे) श्रमण ज्ञातपुत्र महावीर स्वामी लोक मे उत्तम हैं।

भावार्थ

जिस प्रकार दानो मे अभयदान उत्तम है, सत्यो मे पापरहित दयामय सत्य उत्तम है, तपो मे ब्रह्मचर्य तप उत्तम है, उसी प्रकार तीन लोको मे ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर सबसे उत्तम थे।

व्याख्या

त्रिलोक मे सर्वोत्तम श्रमण भगवान् महावीर

इस गाथा मे दान, सत्य और तप इन तीनो मे उत्तम पदार्थ की उपमा देकर श्रमण भगवान् महावीर को त्रिलोक मे सर्वोत्तम बताया गया है।

सर्वप्रथम दानो मे अभयदान को श्रेष्ठ बताया गया है। दान की परिभाषा यह है—'स्वपरानुग्रहार्थं दीयते इति दानम्' अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए जो दिया जाता है, उसे दान कहते है। दान अनेक प्रकार का होता है। किन्तु उन सबमे अभयदान ही श्रेष्ठ कहलाता है, यह अनुभव से भी सिद्ध है, और शास्त्र से भी। अभयदान का अर्थ है—जीवन की रक्षा या प्राणरक्षा चाहने वाले मरते हुए या भय खाते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करना, उसे निर्भय बनाना, एक प्रकार का जीवन-दान (प्राणदान) देना है, जो शास्त्रीय परिभाषा मे अभयदान कहलाता है। अभय-दान अन्य दानो की अपेक्षा क्यो श्रेष्ठ है ? इसे बताने के लिए नीतिकारो का अनुभव भी देखिए

दीयते म्रियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा ।
धनकोटि न गृह्णीयात् सर्वो जीवितुमिच्छति ॥

अर्थात्—मरते हुए प्राणी को एक ओर करोडो का धन दिया जाय, दूसरी ओर उसे जीवन दिया जाय तो वह दोनो मे से धन को लेना पसन्द नही करेगा, वह जीवन को लेना (प्राणरक्षा) ही पसन्द करेगा। क्योकि सभी प्राणी जीना चाहते है।

इस सम्बन्ध मे एक लौकिक कथा भी प्रसिद्ध है। एक राजा ने एक चोर को चोरी के अपराध मे मृत्युदण्ड देने की आज्ञा दी। चोर को पकडकर चाण्डाल लोग एक खास तरह की वध्य की पोशाक पहनाकर वधस्थान की ओर ले जा रहे थे। राजा के चार रानियाँ थी। उन्होंने महल के झरोखे से जब उस चोर को मृत्युदण्ड के लिये ले जाते देखा तो सिपाहियो से पूछने पर ज्ञात हुआ कि चोरी के अपराध मे इसे मृत्युदण्ड दिया जा रहा है। एक रानी ने राजा से कह-सुनकर एक दिन के लिए उसकी मृत्यु स्थगित करके चोर के प्रति उपकार करने

के लिये माँग लिया। राजा ने वह चोर उक्त रानी को सौंप दिया। फलत रानी ने उसे नहला-धुलाकर, उत्तम भोजन वस्त्रादि से उसका सत्कार किया, और एक हजार स्वर्णमुद्राये उसे मनचाहा आमोद-प्रमोद करने के लिए दी। दूसरे दिन दूसरी रानी ने भी इसी प्रकार राजा से उस चोर को माँगकर पहली रानी की तरह सत्कृत किया, और एक लाख सोने की मुहरे उसे यथेष्ट विषयोपभोग के लिए दी, तीसरे दिन तीसरी रानी ने भी चोर का इसी तरह सत्कार किया और एक करोड मुद्राएँ उसे अपनी मनचाही इच्छा पूरी करने के लिए दी। चौथे दिन चौथी रानी की बारी थी। उसने भी चोर को राजा से माँग लिया और कहा कि "मैं चाहती हूँ कि इसका मृत्युदण्ड माफ कर दिया जाय।" राजा ने उक्त रानी की बात मान कर उसकी मृत्यु की सजा माफ कर दी। रानी ने उसका पूर्वोक्त तीनो रानियो की तरह कोई सत्कार नही किया और न उसे धन ही दिया, सिर्फ उसे बुलाकर कहा कि—"भाई! मैंने तुम्हारा मृत्युदण्ड सदा के लिए माफ करवा दिया है, अब तुम निर्भय हो।" चौथी रानी की यह प्रवृत्ति देख शेष तीनो रानियाँ उसकी मजाक करने लगी—"वाह! तुमने तो इसे कुछ नही दिया, बडी कजूस हो तुम!" उसने कहा—"मैंने अपनी समझ से इसका सबसे ज्यादा उपकार किया है।" इस पर रानियो मे परस्पर विवाद छिड गया। फैसले के लिए राजा ने चोर को ही बुलाकर पूछा "सच-सच बताओ, तुम पर सबसे ज्यादा उपकार किस रानी ने किया है?" चोर ने उत्तर दिया—"महाराज! मुझ पर सबसे अधिक उपकार चौथी रानीजी ने किया है, क्योकि स्नान, भोजन, धन आदि मिलने पर भी मैं तो मृत्यु के भय से काँप रहा था। मुझे तो कुछ भी सुधबुध नही थी कि मैंने क्या खाया-पिया या पहना है? मेरे सामने तो मौत नाच रही थी। इसलिए अन्य सुखो का तो मुझे भान ही नही रहा। जब मेरे कानो मे ये शब्द पडे कि तुम्हारा मृत्युदण्ड सदा के लिए माफ कर दिया गया है, तुमने मरण से रक्षा पा ली है, तो मेरे आनन्द का पार न रहा। मुझे जीवनदान देकर चौथी रानीमाता ने नया जन्म दिया है।" राजा ने तुरन्त निर्णय दे दिया कि अभयदान देना ही सबसे श्रेष्ठ उपकार है। इस पर से यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि अभयदान समस्त दानो मे श्रेष्ठ है।

सत्यवाक्यो मे आध्यात्मिक पुरुष उसे ही श्रेष्ठ कहते है, जो निरवद्य—निष्पाप हो, दूसरो को पीडा उत्पन्न करने वाला न हो। सत्य का वास्तविक लक्षण ही यही है—'सद्भ्यो हित सत्यम्', जो प्राणियो के लिए हितकर हो, वह सत्य है। जो वाक्य प्राणियो को पीडा पहुँचाने वाला हो, वह चाहे भाषा की दृष्टि से यथार्थ हो, वास्तव मे सत्य नही है। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

तहेव काण काणेत्ति पडग पडगत्ति वा।
वाहिय वावि रोगित्ति, तेण चोरेत्ति नो वए॥

अर्थात्—इसी प्रकार सत्यवादी साधक काने (एक आँख वाले) को काना न कहे, नपुसक को नपुसक न कहे, तथा रोगिष्ठ को रुग्ण न कहे और चोर भी को चोर न कहे। मतलब यह कि किसी के दिल को दु खित करने की दृष्टि से चाहे सच्ची बात ही कही गई हो, फिर भी उसके पीछे हिंसा का पुट होने से वह सत्य वास्तव मे सत्य नही कहलाता। कहा भी है—

लोकेऽपि श्रूयते वादो, यथा सत्येन कौशिक ।
पतितो वधयुक्त न, नरके तीव्रवेदने ।।

अर्थात्—जगत् मे भी यह बात सुनी जाती है कि कौशिक मुनि ने सच्ची बात तो कही, किन्तु वह प्राणिवधकारक थी, इसलिए उस पापयुक्त वचन के फल स्वरूप वे मरकर तीव्रवेदना वाले नरक मे गए।

तथैव नवविध ब्रह्मचर्यगुप्तियो से युक्त ब्रह्मचर्य तप ही समस्त तपो से बढकर है, यह बात भी अनुभवसिद्ध है। अन्य शास्त्रो मे भी कहा है—'ब्रह्मचर्य पर तप' ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट तप है।

इसी तरह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी लोक मे सर्वोत्कृष्ट दान (अभय-दान), सर्वोत्कृष्ट सत्य (निरवद्य वचन) एव सर्वोत्कृष्ट तप (ब्रह्मचर्य) तथा उत्तम रूपसम्पत्ति, सर्वोत्कृष्ट शक्ति, एव क्षायिक ज्ञान, दर्शन और शील से सम्पन्न होने के कारण लोकोत्तम है।

मूल पाठ

ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा, सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा ।
निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी ।।२४।।

सस्कृत छाया

स्थितीना श्रेष्ठा लवसप्तमा वा, सभा सुधर्मा वा सभाना श्रेष्ठा ।
निर्वाणश्रेष्ठा यथा सर्वधर्मा, न ज्ञातपुत्रात्परोऽस्ति ज्ञानी ।।२४।।

अन्वयार्थ

(ठिईण) जैसे स्थिति (आयु) वालो मे (लवसत्तमा सेटठा) लवसप्तम अर्थात् पाँच अनुत्तर विमानवासी देवता श्रेष्ठ है। (सुहम्मा सभा सभाण सेट्ठा) जैसे सुधर्मासभा समस्त सभाओ मे श्रेष्ठ है। (जह सव्वधम्मा निव्वाण सेट्ठा) सब धर्मो मे जैसे निर्वाण श्रेष्ठ धर्म है, इसी तरह (ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी) ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर से बढकर कोई ज्ञानी नही है, अर्थात् महावीर स्वामी सब ज्ञानियो मे श्रेष्ठ थे।

भावार्थ

जैसे सुखमय जीवन की सबसे लम्बी आयु (स्थिति) मे सर्वार्थसिद्ध

नामक २६वे देवलोक के देवो की आयु श्रेष्ठ है, सब सभाओ मे प्रथम देवलोक के सौधर्म इन्द्र की सुधर्मा सभा श्रेष्ठ है, सब धर्मो मे निर्वाण की ही श्रेष्ठता है, उसी प्रकार ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर भी ज्ञानियो मे सबसे श्रेष्ठ थे, उनसे बढकर कोई ज्ञानी उस युग मे नही था।

व्याख्या

ज्ञानियो मे सर्वश्रेष्ठ ज्ञातपुत्र महावीर

इस गाथा मे तीन सर्वश्रेष्ठ वातो की उपमा देकर श्रमण भगवान् महावीर को ज्ञानियो मे सर्वश्रेष्ठ वताया गया है।

'लवसत्तमा' लवसप्तम पारिभाषिक शब्द है। शालिधान आदि की एक मुट्ठी की लवन (काटने की) क्रिया मे जितना समय लगता है, उसे 'लव' कहते है। सात लवो के जितना समय लवसप्तम कहलाता है। अनुत्तर विमानवासी देवो की यह सज्ञा है। इसका कारण यह है कि यदि उन्हे सात लव की आयु अधिक मिल गई होती तो वे अपने शुद्ध परिणामो से मोक्ष प्राप्त कर लेते, किन्तु आयु की इतनी न्यूनता होने से वे मोक्ष प्राप्त न कर सके और अनुत्तर विमानो मे देवरूप से उत्पन्न हुए। ससार के सुखमय जीवन की सर्वोत्कृष्ट दीर्घतर स्थिति (आयु) मे सर्वार्थसिद्ध (लवसप्तम) नामक २६वे देवलोक के देवो की स्थिति (आयु) श्रेष्ठ है।

सभाओ मे प्रथम देवलोक के सौधर्म इन्द्र की सुधर्मा सभा श्रेष्ठ है, क्योकि उसमे अनेक क्रीडा के स्थान बने हुए हैं। तथा सब धर्मो ने निर्वाण (मोक्ष) को श्रेष्ठ माना है, कुप्रावचनिक तक भी अपने दर्शन का फल मोक्ष ही बताते है। जितने भी धर्म या दर्शन हैं सभी एक या दूसरे प्रकार से निर्वाण या मोक्ष को श्रेष्ठ पुरुषार्थ और जीवन का अन्तिम ध्येय मानते हैं। इसी तरह सर्वज्ञ श्री भगवान् महावीर स्वामी ज्ञानियो मे सर्वश्रेष्ठ थे, उनसे बढकर और कोई ज्ञानी उस युग मे नही था।

मूल पाठ

पुढोवमे धुणइ विगयगेही, न सण्णिहि कुव्वइ आसुपन्ने ।
तरिउ समुद्द व महाभवोघ, अभयकरे वीर अणतचक्खू ॥२५॥

सस्कृत छाया

पृथिव्युपमो धुनाति विगतगृद्धि , न सन्निधि करोत्याशुप्रज्ञ ।
तरित्वा समुद्रमिव महाभवौघमभयकरो वीरोऽनन्तचक्षु ॥२५॥

अन्वयार्थ

(पुढोवमे) भगवान् महावीर स्वामी पृथ्वी के समान सब प्राणियो के लिए आधारभूत थे, (धुणइ) आठ प्रकार के कर्ममलो को दूर करने वाले थे, (विगयगेही) वे

वाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों मे गृद्धि-आसक्ति से रहित थे। (आसुपन्ने) सदा सर्वत्र उपयोगवान थे, (न सण्णिहिं कुव्वइ) वे धन, धान्य आदि पदार्थों का विलकुल सग्रह नही करते थे, अथवा वे क्रोधादि या परिजन, भक्ति आदि का सान्निध्य-ससर्ग-आसक्ति नही करते थे। (महाभवोघ सम्मुद्द व तरिउ) महान् ससार समुद्र के प्रवाह को समुद्र की तरह पार करके उन्होने मोक्ष प्राप्त किया था। (अभयकरे वीर अणतचक्खू) भगवान् सभी प्राणियो को अभय देने या करने वाले थे, कर्मो को विदारण करने के कारण वीर थे, अनन्तचक्षु (अनन्तज्ञानसम्पन्न) थे।

भावार्थ

भगवान् महावीर पृथ्वी के समान सब जीवो के आधारभूत थे, अथवा पृथ्वी के समान भयकर उपसर्गों और परीषहो के कष्टो को समभाव से सहने वाले क्षमावीर थे। कर्ममल का नाश करने वाले थे। आशा, तृष्णा, मूर्च्छा-ममता या आसक्ति से सर्वथा दूर थे। भगवान् ने धन-धान्य आदि किसी भी वस्तु का कभी सग्रह न किया। उनका ज्ञान निरन्तर उपयोग सहित था। महाभयकर ससार समुद्र को समुद्रवत् तैरकर वीरप्रभु अभयकर (सब प्राणियो को अभय करने वाले) बन गए थे और इसी प्रकार वे अनन्तचक्षु थे, चक्षु की तरह मार्गदर्शक थे, नेता थे, अथवा अनन्तज्ञानी बन गए थे।

व्याख्या

अनेक विशिष्ट गुणो के निधि भगवान् महावीर

इस गाथा मे भगवान् महावीर को सर्वसहिष्णु, सर्वाधार, कर्ममुक्त, अनासक्त, असग्रही, ससारसमुद्रपारगामी, अभयकर, वीर और अनन्तचक्षु बताकर उन्हे गुणो के भण्डार बताया है। जैसे पृथ्वी सब जीवो का आधार है, उसी तरह भगवान् महावीर भी सबको अभय देने एव उत्तम हितकर उपदेश देने से सब जीवो के आधार थे। अथवा पृथ्वी जैसे सर्वसहा एव क्षमा कहलाती है, वैसे ही भगवान् भी समस्त परीषहो और उपसर्गो को भली-भाँति समभाव से सहते थे और क्षमाशील थे। भगवान् आठो ही कर्मों को सर्वथा नष्ट करने वाले थे, वे बाह्याभ्यन्तर वस्तुओ की गृद्धि आशा-तृष्णा से रहित थे। सन्निधि सन्निधान या निकटता को कहते है। धन-धान्य आदि तथा द्विपद-चतुष्पद आदि के सम्पर्क या सग्रह को द्रव्य-सन्निधि कहते हैं, और सामान्यरूप से सब कषायो या विकारो के सम्पर्क को भाव-सन्निधि कहते है। भगवान् दोनो प्रकार की सन्निधि नही करते थे। वे आशुप्रज्ञ थे, अर्थात् सर्वत्र सदैव उपयोगवान थे, छद्मस्थ की तरह मन से सोचकर पदार्थ का निश्चय नही करते थे। भगवान् ने बहुत दुखो से भरे चार गति वाले ससार-सागर को पार करके सर्वोत्तम मोक्षपद को प्राप्त कर लिया था। वे अभयकर थे, अर्थात्

प्राणियो का रक्षणरूप अभय स्वय देते थे और सदुपदेश देकर दूसरे से अभय दिलाते थे। तथा भगवान् वीर थे—अर्थात् आठ प्रकार के कर्मों को विशेपरूप से दूर करते थे। तथा जिसका अन्त (नाश) नही होता, यानी जो नित्य है अथवा ज्ञेय वस्तु के अनन्त होने से जो अनन्त है, ऐसा केवलज्ञान जिनका नेत्र के समान है, वे वीरप्रभु अनन्तचक्षु हैं।

मूल पाठ

कोहं च माणं च तहेव माय, लोभ चउत्थं अज्झत्थदोसा ।
एआणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ ॥२६॥

संस्कृत छाया

क्रोधञ्च मान च तथैव माया, लोभ चतुर्थञ्चाध्यात्मदोषान् ।
एतान् वान्त्वाऽर्हन् महर्षिर्न करोति पाप न कारयति ॥२६॥

अन्वयार्थ

(**अरहा महेसी**) अर्हन्त महर्षि श्री महावीर स्वामी (**कोह च माण च तहेव माय**) क्रोध, मान और माया (**चउत्थ लोभ**) तथा चौथा लोभ (**एआणि**) इन (**अज्झत्थदोसा**) अध्यात्म (आत्मा के अन्दर के) दोषो का (**वता**) वमन त्याग करके (**ण पाव कुव्वइ ण कारवेइ**) न तो स्वय पाप करते थे, और न ही दूसरो से कराते थे।

भावार्थ

ससार के सर्वश्रेष्ठ महर्षि भगवान् महावीर क्रोध, मान, माया और लोभ आदि अध्यात्म दोषो (अन्तर् के विकारो) का पूर्णतया त्याग करके अर्हन्त (पूज्य, विश्ववन्द्य) बन गए थे। इसके पश्चात् भगवान् ने न कभी स्वय पापाचरण किया और न ही दूसरो से करवाया और न करने वालो का अनुमोदन ही किया।

व्याख्या

अन्तरग दोषों एव पापों से सर्वथा दूर अर्हन्त महर्षि

इस गाथा मे महर्षि भगवान् महावीर के द्वारा कषायत्याग तथा पापो के कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याग करके अर्हत्पद प्राप्त करने का सारगर्भित निरूपण है। न्यायशास्त्र का यह एक माना हुआ तथ्य है कि 'कारण के नाश होने से कार्य का नाश हो जाता है'। इस दृष्टि से महर्षि भगवान् महावीर ने ससार की उत्पत्ति के कारणभूत क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि आन्तरिक विकारो (अध्यात्म-दोषो) का त्याग करके अर्हत्पद प्राप्त किया। वीतरागता की प्राप्ति उन्हे किसी अन्य शक्ति से वरदान के रूप मे नही हुई, न उनके बदले किसी

दूसरे के पुरुषार्थ से हुई। स्वय ही जब उन्होने पूर्वोक्त अध्यात्म-दोपो के निवारण के लिए पुरुषार्थ किया, और स्वय कषायो, रागद्वेप-मोह आदि पर विजय प्राप्त की, तब स्वत वीतराग तीर्थंकर एव महर्षि बने। वस्तुत महर्षित्व भी तभी प्राप्त होता है, जब अध्यात्म-दोषो पर विजय प्राप्त करली जाती है, और पापो का कृत-कारित-अनुमोदित रूप तीन करण एव मन-वचन-काया तीन योग से त्याग किया जाता है। भगवान् ने दोनो प्रकार की आध्यात्मिक साधना करके आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हस्तगत की।

मूल पाठ

किरियाकिरिय वेणइयाणुवाय, अण्णाणियाण पडियच्च ठाणे।
से सव्ववायं इति वेयइत्ता, उवट्ठिए संजमदीहराय ॥२७॥

संस्कृत छाया

क्रियाऽक्रिये वैनयिकानुवादमज्ञानिकाना प्रतीत्य स्थानम्।
स सर्ववादमिति वेदयित्वा, उपस्थित सयमदीर्घरात्रम् ॥२७॥

अन्वयार्थ

(**किरियाकिरिय**) क्रियावादी, अक्रियावादी तथा (**वेणइयाणुवाय**) विनय-वादी (**वैनयिक**) के कथन को एव (**अण्णाणियाण ठाण पडियच्च**) अज्ञानवादियो (**अज्ञानिको**) के स्थान—मतपक्ष को जानकर (**से इति सव्ववाय वेयइत्ता**) फिर इस प्रकार वे समस्तवादियो के मन्तव्य को समझाकर (**सजमदीहराय**) आजीवन सयम मे (**उवट्ठिए**) प्रवृत्त हुए, स्थिर रहे।

भावार्थ

भगवान् महावीर ने क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञान-वाद आदि सब प्रकार के मत-मतान्तरो को पहले स्वय भली भाँति जाना, तत्पश्चात् जनता को समस्त वादियो का मन्तव्य तथा उनमे निहित सत्य का वास्तविक रहस्य समझाया। भगवान् ज्ञान के साथ सयम के बड उत्कृष्ट साधक थे। अत वे जीवनपर्यन्त निर्दोष शुद्ध सयम मे स्थित रहे।

व्याख्या

मतमतान्तरो के बीच भी सत्य और सयम मे स्थिर

इस गाथा मे भगवान् महावीर की समता, अनेकान्तवादिता एव सत्यता तथा सयमनिष्ठा का परिचय दिया गया है कि किस प्रकार वे अनेकानेक मत-मतान्तरो के बीच रहकर भी अपने को समता एव अनेकान्तवाद की पगडडी पर स्थिर रखते थे।

क्रियावादियो का सिद्धान्त है कि क्रिया से ही मोक्ष मिलता है। अक्रियावादी ज्ञानवादी होते है, वे कहते है कि वस्तु के यथार्थ ज्ञान मात्र से ही मोक्ष हो जाता है, क्रिया की आवश्यकता नही है। जैसे कि साख्यदर्शन की उक्ति है—

पचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रत ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नाऽत्र सशय ॥

अर्थात्—पच्चीस तत्त्वो का जानकार व्यक्ति चाहे जिस आश्रम मे हो, जटाधारी हो, मुडित हो या शिखाधारी, वह अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है, इसमे किसी प्रकार का सशय नही है। विनयवादी विनय से ही मोक्षप्राप्ति मानते है। वे कहते हैं—सबका विनय करो। गोशालक मतानुयायी वैनयिक कहलाते है, क्योकि वे विनयाचार को ही महत्त्व देते हैं। चौथे अज्ञानवादी हैं, वे अज्ञान से ही मोक्ष मानते हैं। वे कहते हैं—ज्ञान से ही सब गडबडझाला पैदा होती है। वितण्डावाद, अहकार आदि सब ज्ञान के कारण ही पैदा होते हैं। इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है। अनजाने मे किया हुआ पाप दोषापत्तिकारक नही माना जाता है, उसका फल भी नही मिलता आदि।[1]

समतावादी भगवान् महावीर ने इन सभी मतवादियो के मतो को भली भाँति समझकर भव्यजीवो को इनमे निहित सत्य का रहस्य समझाते हुए स्वय ने ज्ञान के साथ-साथ सयम का आचरण भी आजीवन किया। आपने जो कुछ भी कहा, उसे पहले अपने जीवन मे आचरित करके बताया था। आप केवल वाणीशूर नही थे, अपितु आपने ज्ञान और क्रिया दोनो का सम्यक् आचरण किया था। जैसा कि जैनाचार्य प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं—

यथा परेषा कथका विदग्धा शास्त्राणि कृत्वा लघुतामुपेता ।
शिष्यैरनुज्ञामलिनोपचारैर् वक्तृत्वदोषास्त्वयि ते न सन्ति ॥

अर्थात्—हे प्रभो! दूसरे धर्म या दर्शन वाला विदग्ध (विद्वान्) कथक (धर्मोपदेशक) शास्त्रो की रचना करके भी लघुता को प्राप्त हुए, क्योकि अपने शिष्य तथा वे जो दूसरो को उपदेश देते हैं, तदनुसार स्वय आचरण नही करते। इसलिए उनमे जो वक्तृत्व (वाणी मे पूर्वापर या कथनी-करनी के विरोध रूप) दोष हैं, वे दोष आप में कतई नही है, क्योकि आपकी तो कथनी के अनुरूप करणी भी होती है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—उवट्ठिए सयमदीहराय। अर्थात् भगवान् सयम मे दीर्घरात्र—जीवन भर तक उद्यत रहे।

---

१ क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी के ३६३ भेदो तथा उनके स्वरूप का विशेष विश्लेपण आगे यथाप्रसग करेंगे। —सम्पादक

मूल पाठ

से वारिया इत्थी सराइभत्त , उवहाणव दुक्खखयट्ठयाए ।
लोग विदित्ता आरं पर च, सव्व पभू वारिय सव्ववार ।।२८।।

सस्कृत छाया

स वारयित्वा स्त्रिया सरात्रिभक्तामुपधानवान् दु खक्षयार्थाय ।
लोकेविदित्वाऽऽर पर च, सर्व प्रभुर्वारितवान् सर्ववारम　।।२८।।

अन्वयार्थ

(से पभू) वे वीरप्रभु (सराइभत्त इत्थी वारिया) रात्रिभोजन और स्त्री (स्त्रीससर्ग) छोडकर (दुक्खखयट्ठयाए) दु ख के कारणभूत कर्मो के क्षय करने के लिए (उवहाणव) सदा तप (विशिष्ट तप) मे प्रवृत्त रहते थे । (आर पर च लोग विदित्ता) इहलोक और परलोक को जानकर (सव्ववार सव्व वारिय) भगवान ने समस्त प्रकार के सर्वपापो को छोड दिया था ।

भावार्थ

वे भगवान महावीर प्रभु त्यागमार्ग के अतीव कठोर साधक थे । इसीलिए उन्होने रात्रिभोजन तथा स्त्रीसम्पर्क दोनो का त्याग कर दिया । सासारिक दु खो की परम्परा का समूल नाश करने के लिए भगवान् ने उग्र तपश्चर्या की थी । लोक और परलोक के रहस्य एव कारणो को जानकर भगवान ने लोक-परलोक सम्बन्धी वासनाओ का सर्वपापो का पूर्णरूप से त्याग कर दिया था ।

व्याख्या

कठोर त्यागमार्ग के उत्कृष्ट साधक वीरप्रभु

इस गाथा मे भगवान् महावीर के द्वारा रात्रिभोजन, स्त्रीससर्ग तथा अन्य समस्त पापो का त्याग तथा तप क्यो किया गया था ? इन सबका सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया गया है ।

वास्तव मे महावीर प्रभु कठोर त्यागमार्ग के साधक थे । इसीलिए उन्होने हिंसा और अब्रह्मचर्य मे कारण समझकर क्रमश रात्रिभोजन एव स्त्रीसम्पर्क का त्याग कर दिया था । यही नही, उन्होने अपने सघ के साधु-साध्वियो के लिए भी इसी प्रकार का त्याग करना अनिवार्य बताया था। उपलक्षण से प्राणातिपात, मृषावाद आदि अन्य सभी पापो को भी छोड दिया था, यह भी इसके अन्तर्गत समझ लेना चाहिए । भगवान् ने अपने शरीर को तपश्चरण साधना से साध लिया था । ऐसा उन्होंने क्यो किया ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं—दुक्खखयट्ठयाए ।' अर्थात् सभी प्राणियो को दु ख देने वाले कर्मो का क्षय करने के लिए ही उन्होंने

ऐसा किया था। प्राणियो को अष्टविध कर्म ही दुख देते है। इसके अतिरिक्त भगवान् ने इहलोक और परलोक को भलीभाँति जानकर अथवा चार गति रूप ससार के विविध कारणो, चारो गतियो के स्वरूप तथा उनकी प्राप्ति के कारणो को जान कर उक्त सभी पापो को सर्वथा छोड दिया था।

आशय यह है कि भगवान् ने स्वय हिंसा आदि पापो का परित्याग करके दूसरो को भी इस धर्म मे स्थापित किया था। वस्तुत जो व्यक्ति अपने धर्म मे स्वय स्थित नही होता वह दूसरो को उस धर्म मे स्थापित करने मे समर्थ नही हो सकता। कहा भी है—

> ब्रुवाणोऽपि न्याय्य स्ववचनविरुद्ध व्यवहरन्,
> परान्नल कश्चिद् दमयितुमदान्त स्वयमिति।
> भवान् निश्चित्यैव मनसि जगदाधाय सकल,
> स्वमात्मान तावद् दमयितुमदान्त व्यवसित ॥

अर्थात्—जो मनुष्य कहता तो न्यायसगत बात है, परन्तु अपने कथन से विरुद्ध आचरण करता है, वह स्वय अजितेन्द्रिय होकर दूसरो को जितेन्द्रिय नही बना सकता। इसलिए प्रभो! आप स्वय इस बात को जानकर तथा सारे ससार के स्वरूप का निश्चय करके सर्वप्रथम अपनी आत्मा का दमन करने के लिए प्रवृत्त हुए थे। तथा देवो के पूज्य चार ज्ञान के धनी, तीर्थंकर भगवान् (केवलज्ञान होने से पहले) मोक्षप्राप्ति के लिए अपने बलवीर्य का पूर्ण उपयोग करते हुए पूर्ण उत्साह के साथ उद्यम करते थे।

मूल पाठ

सोच्चा य धम्म अरहतभासिय, समाहिय अट्ठपओवसुद्ध ।
त सद्दहाणा य जणा अणाऊ, इदा व देवाहिव आगमिस्सति ॥२६॥
॥ त्ति बेमि ॥

सस्कृत छाया

श्रुत्वा च धर्ममर्हद् भाषित समाहितमर्थपदोपशुद्ध ।
त श्रद्दधानाश्च जना अनायुष, इन्द्रइव देवाधिपा आगमिष्यन्ति ॥२६॥
॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**अरहतभासिय**) श्री अरिहन्तदेव द्वारा भाषित, (**समाहिय अट्ठपओवसुद्ध**) युक्तियुक्त और अर्थ तथा पदो से शुद्ध (**धम्म सोच्चा**) धर्म को सुनकर (**त सद्दहाणा**) उस पर श्रद्धा रखने वाले (**जणा अणाऊ**) व्यक्ति आयुष्यकर्म से रहित—

मूल पाठ

से वारिया इत्थी सराइभत्त , उवहाणव दुक्खखयट्ठयाए ।
लोग विदित्ता आरं पर च, सव्व पभू वारिय सव्ववार ।।२८।।

सस्कृत छाया

स वारयित्वा स्त्रिया सरात्रिभक्तामुपधानवान् दु खक्षयार्थाय ।
लोकेविदित्वाऽऽर पर च, सर्व प्रभुर्वारितवान् सर्ववारम ।।२८।।

अन्वयार्थ

(से पभू) वे वीरप्रभु (सराइभत्त इत्थी वारिया) रात्रिभोजन और स्त्री (स्त्रीससर्ग) छोडकर (दुक्खखयट्ठयाए) दु ख के कारणभूत कर्मो के क्षय करने के लिए (उवहाणव) सदा तप (विशिष्ट तप) मे प्रवृत्त रहते थे । (आर पर च लोग विदित्ता) इहलोक और परलोक को जानकर (सव्ववार सव्व वारिय) भगवान ने समस्त प्रकार के सर्वपापो को छोड दिया था ।

भावार्थ

वे भगवान महावीर प्रभु त्यागमार्ग के अतीव कठोर साधक थे । इसीलिए उन्होने रात्रिभोजन तथा स्त्रीसम्पर्क दोनो का त्याग कर दिया । सासारिक दु खो की परम्परा का समूल नाश करने के लिए भगवान् ने उग्र तपश्चर्या की थी । लोक और परलोक के रहस्य एव कारणो को जानकर भगवान ने लोक-परलोक सम्बन्धी वासनाओ का सर्वपापो का पूर्णरूप से त्याग कर दिया था ।

व्याख्या

कठोर त्यागमार्ग के उत्कृष्ट साधक वीरप्रभु

इस गाथा मे भगवान् महावीर के द्वारा रात्रिभोजन, स्त्रीससर्ग तथा अन्य समस्त पापो का त्याग तथा तप क्यो किया गया था ? इन सबका सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया गया है ।

वास्तव मे महावीर प्रभु कठोर त्यागमार्ग के साधक थे । इसीलिए उन्होंने हिंसा और अब्रह्मचर्य मे कारण समझकर क्रमश रात्रिभोजन एव स्त्रीसम्पर्क का त्याग कर दिया था । यही नही, उन्होने अपने सघ के साधु-साध्वियो के लिए भी इसी प्रकार का त्याग करना अनिवार्य बताया था । उपलक्षण से प्राणातिपात, मृषावाद आदि अन्य सभी पापो को भी छोड दिया था, यह भी इसके अन्तर्गत समझ लेना चाहिए । भगवान् ने अपने शरीर को तपश्चरण साधना से साध लिया था । ऐसा उन्होंने क्यो किया ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते है—'दुक्खखयट्ठयाए ।' अर्थात् सभी प्राणियो को दु ख देने वाले कर्मो का क्षय करने के लिए ही उन्होंने

ऐसा किया था। प्राणियो को अष्टविध कर्म ही दुःख देते है। इसके अतिरिक्त भगवान् ने इहलोक और परलोक को भलीभाँति जानकर अथवा चार गति रूप ससार के विविध कारणों, चारो गतियो के स्वरूप तथा उनकी प्राप्ति के कारणो को जान कर उक्त सभी पापो को सर्वथा छोड दिया था।

आशय यह है कि भगवान् ने स्वय हिंसा आदि पापो का परित्याग करके दूसरो को भी इस धर्म मे स्थापित किया था। वस्तुत जो व्यक्ति अपने धर्म मे स्वय स्थित नही होता वह दूसरो को उस धर्म मे स्थापित करने मे समर्थ नही हो सकता। कहा भी है—

ब्रुवाणोऽपि न्याय्य स्ववचनविरुद्ध व्यवहरन्,
परान्नल कश्चिद् दमयितुमदान्त स्वयमिति।
भवान् निश्चित्यैव मनसि जगदाधाय सकल,
स्वमात्मान तावद् दमयितुमदान्त व्यवसित ॥

अर्थात्—जो मनुष्य कहता तो न्यायसगत बात है, परन्तु अपने कथन से विरुद्ध आचरण करता है, वह स्वय अजितेन्द्रिय होकर दूसरो को जितेन्द्रिय नही बना सकता। इसलिए प्रभो! आप स्वय इस बात को जानकर तथा सारे ससार के स्वरूप का निश्चय करके सर्वप्रथम अपनी आत्मा का दमन करने के लिए प्रवृत्त हुए थे। तथा देवो के पूज्य चार ज्ञान के धनी, तीर्थंकर भगवान् (केवलज्ञान होने से पहले) मोक्षप्राप्ति के लिए अपने बलवीर्य का पूर्ण उपयोग करते हुए पूर्ण उत्साह के साथ उद्यम करते थे।

मूल पाठ

सोच्चा य धम्म अरहतभासिय, समाहिय अट्ठपओवसुद्ध।
त सद्दहाणा य जणा अणाऊ, इदा व देवाहिव आगमिस्सति ॥२९॥

॥ त्ति बेमि ॥

संस्कृत छाया

श्रुत्वा च धर्ममर्हद् भाषित समाहितमर्थपदोपशुद्ध।
त श्रद्दधानाश्च जना अनायुष, इन्द्रइव देवाधिपा आगमिष्यन्ति ॥२९॥

॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(अरहतभासिय) श्री अरिहन्तदेव द्वारा भाषित, (समाहिय अट्ठपओवसुद्ध) युक्तियुक्त और अर्थ तथा पदो से शुद्ध (धम्म सोच्चा) धर्म को सुनकर (त सद्दहाणा) उस पर श्रद्धा रखने वाले (जणा अणाऊ) व्यक्ति आयुष्यकर्म से रहित—

मुक्त हो जाते हैं। (इदा व देवाहिव आगमिस्सति) अथवा इन्द्रो की तरह देवताओ के अधिपति—स्वामी होते हैं।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी गणधर श्री जम्बूस्वामी से वीरस्तुति का उपसहार करते हुए कहते हैं—जो साधक रागद्वेष विजेता अरिहन्त भगवान महावीर द्वारा सम्यक् प्रकार से कथित धर्म को सुनकर युक्तियुक्त, तथा शब्द और अर्थ दोनो ही दृष्टियो से सर्वथा शुद्ध धर्म प्रवचन पर श्रद्धा रखेगे वे व्यक्ति जन्ममरण के बन्धन (आयुष्य कर्मबन्धन) से रहित होकर सिद्ध-पद प्राप्त करेंगे, अथवा स्वर्ग मे देवताओ के अधिपति—स्वामी इन्द्र बनेंगे।

व्याख्या

जिनेन्द्रभाषित धर्म के आराधको की गति

इस गाथा मे इस वीरस्तुति अध्ययन का उपसहार करते हुए श्री सुधर्मास्वामी तीर्थकर वीरप्रभु के गुणोत्कीर्तन करने के पश्चात् अपने शिष्यो से कहते है कि श्री तीर्थकर द्वारा भापित जो श्रुत-चारित्ररूप अथवा दुगति मे गिरती हुई आत्मा को धारण करके रखने वाले धर्म को, जो कि उत्तम युक्ति और हेतु से सगत हे, जो अर्थो और शब्दो की दृष्टि से शुद्ध है, सुनकर, श्रद्धा करते हैं तथा आचरण करते हैं, वे जीव आयुकर्म से रहित हो तो सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करते हैं और यदि आयु के सहित हो तो इन्द्र आदि देवाधिपति होते है। यह इस गाथा का आशय है।

साराश यह है कि इस अध्ययन मे भगवान् महावीर की स्तुति उनके साधनामय जीवन के विविध पहलुओ को लेकर उत्तमोत्तम विविध गुणो का विश्लेपण करके श्री सुधर्मास्वामी द्वारा की गई है।

इति शब्द समाप्ति का सूचक है, ब्रवीमि का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार वीरस्तुति नामक छठा अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्यासहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ वीरस्तुति नामक छठा अध्ययन समाप्त ॥

सप्तम अध्ययन : कुशील-परिभाषा

इस अध्ययन का सक्षिप्त परिचय

छठे अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब सातवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। इसका पहले के अध्ययनो के साथ सम्बन्ध यह है कि प्रथम अध्ययन के प्रारम्भ मे बन्धन को जानकर उसे तोडने का निर्देश दिया था। कर्म-बन्धन के सन्दर्भ मे उसके करणो और उनके निवारण का उपाय भी साथ-साथ प्रत्येक अध्ययन मे शास्त्रकार बताते चले गये हैं। (बन्धन के मिथ्यात्व, अविरति, आदि पाँच कारणो मे से कुशील भी अविरति के अन्तर्गत आता है।) क्योकि कुशील-सेवन से जो कर्मबन्धन होता है, वह इतना गाढतर होता है कि अन्त मे दुर्गति मे जाने के सिवाय कोई चारा नही रहता। एक वार नरकादि दुर्गति मे जाने के बाद मिथ्यात्वसम्पन्न प्राणी के लिए भारी कर्मबन्धनो को काटने और पुन सम्यक्त्व प्राप्त करके व्रताचरण या सुशील का आचरण करना अतीव दुष्कर है। इसलिए (शास्त्रकार ने इस अध्ययन का नाम कुशीलपरिभाषा देकर यह बताया है कि कुशील जीव को कैसे-कैसे कर्मबन्धन होते हैं और वह कैसे अपनी आत्मा को कर्मो से भारी कर लेता है?)

पूर्व अध्ययन वीरस्तुति मे शील के आदर्श श्रमण भगवान् महावीर की चर्या, उनकी विशिष्ट गुणावली, उनके ध्यान, ज्ञान, तप, शील, दर्शन आदि का वर्णन किया गया है, अब इसमे उससे विपरीत कुशील के सम्बन्ध मे बताया गया है, जो सुशील के आदर्शो और आचारविचारो से बिलकुल विपरीत है। इसी कारण इस अध्ययन का नाम कुशीलपरिभाषा रखा गया है। इसका सिर्फ एक ही उद्देशक है। इस अध्ययन का अर्थाधिकार यह है कि परतीर्थी, स्वयूथिक पार्श्वस्थ आदि को, जिनका कि आचार-विचार अहिंसा, सत्य, सयम, ब्रह्मचर्य, या अपरिग्रहवृत्ति के अनुकूल नही है, जो सरलभाव से अपने दोषो और अपराधो को स्वीकार न करके, अथवा भूलो का परिमार्जन न करके अपने पूर्वाग्रहो पर ही दृढ रहते हैं, शिथिल या विपरीत विचार-आचार को सुशील बताते हैं, वे सब चाहे स्वतीर्थिक हो, परतीर्थिक हो, कुशील जनो मे परिगणित किये जाते हैं। इस अध्ययन मे उक्त कुशील जनो के आचार-विचार, उनका फल तथा उनके फलस्वरूप दुर्गतिगमन आदि का वर्णन है।

वीच-वीच मे कही-कही इनसे विपरीत सुशील जनो के आचार-विचार का भी वर्णन किया गया हे। अत कुशीलपरिभाषा[1] का अर्थ हुआ—कुशील जनो के सम्वन्ध मे विस्तृत रूप से सभी पहलुओ से किया गया भाषण—कथन या निरूपण।

शील, अशील और कुशील का निक्षेप दृष्टि से अर्थ

सामान्यतया शील का अर्थ स्वभाव, सदाचार, ब्रह्मचर्य एव आचार-विचार होता है। शील के सम्बन्ध मे चार निक्षेप किये गये है—नामशील, स्थापनाशील, द्रव्य-शील और भावशील। नाम-स्थापना सुगम है। द्रव्यशील वस्त्र, भोजन, आभूषण आदि के विषय मे इस प्रकार है—जो मनुष्य फल की अपेक्षा (परवाह) न करके स्वाभाविक रूप से या स्वभाव से ही जिस द्रव्य का या जिस क्रिया का सेवन करता है, अथवा जिस वस्त्र, भोजन आदि के सेवन करने की आवश्यकता जिस समय नही है, उसकी परवाह न करके जो स्वभाव से उस पदार्थ का सेवन करता है अथवा उसी मे अपने चित्त को सलग्न रखता है, यह द्रव्यशील है। अथवा चेतन और अचेतन जिस द्रव्य का जो स्वरूप है, उसे भी द्रव्यशील कहते है।

भावशील दो प्रकार का है—ओघशील और आभीक्ष्यसेवनाशील। ओघ कहते हैं—सामान्य को। जो व्यक्ति सामान्यतया सावद्ययोगो से विरत (निवृत्त) है, अथवा जो विरताविरत है, वह शीलवान है या ओघ से भावशील है। जो इसके विपरीत है, वह अशीलवान या भाव-अशील है। आभीक्ष्यसेवना अर्थात् निरन्तर या बार-बार सेवन करने की अपेक्षा से धर्म के सम्वन्ध मे प्रशसा, आचार या विचार का अनुष्ठान करना भावशील है। सतत अपूर्व ज्ञान का उपार्जन करते रहना, दर्शन को पुष्ट करते रहना, उपशमप्रधान चारित्र की आराधना करते रहना, विशिष्ट तप या अभिग्रह आदि करते रहना भावशील है। (भाव-अशील और भाव कुशील मे अन्तर यह है कि अशील न तो शील-पालन या शील मे प्रवृत्त होने का सकल्प करता है, न किसी धर्म सम्बन्धी विचार-आचार का अनुष्ठान करता है। जबकि कुशील शीलपालन या शील मे प्रवृत्त तो होता है, लेकिन होता है अशुद्ध रूप से, विपरीतरूप से।) अप्रशस्त भावशील धर्म की ओट मे अधर्म मे प्रवृत्ति करता है, क्रोधादि कषायो, चोरी, परनिन्दा, कलह, आक्षेप, मिथ्यादोषारोपण, दम्भ आदि मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार जो उपशमप्रधान चारित्र के विपरीत चलते है, वे भाव दु शील या कुशील कहलाते है। वैसे तो कुशील के अगणित प्रकार हो सकते है, किन्तु यहाँ उन सभी की विवक्षा नही है, न उन सभी के वर्णन का अवकाश है। इस अध्ययन मे सक्षेप मे नपे-तुले शब्दो मे कुछेक विवक्षित कुशीलजनो के सम्बन्ध मे

---

१ परि-समन्तात् भाष्यन्ते निरूप्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते तदनुष्ठानतस्तद्विपाकदुर्गतिगमन-तश्चेति परिभाषा, कुशीलाना परिभाषा—कुशीलपरिभाषा।

निरूपण किया गया है। नियुक्तिकार के शब्दो मे इस अध्ययन मे विवक्षित कुशील-वर्णन देखिए—

> अफासुयपडिसेविय णाम भुज्जो य सीलवादी य।
> फासु वयति सील अफासुया मो अभु जता ॥८९॥
> जइ णाम गोयमा चडीदेवगा वारिभद्दगा चेव ।
> जे अग्गिहोत्तवादी जलसोय जे य इच्छति ॥९०॥

कुत्सित-निन्दित या बुरे शील वाले परतीर्थिक और पार्श्वस्थ आदि तथा अन्य जो भी अविरत हैं, उनका इस कुशील-परिभाषा नामक अध्ययन मे वर्णन है।

इस लोक मे धर्मध्यान, अध्ययन, सदनुष्ठान आदि को छोडकर तथा धर्म के आधारभूत अपने शरीर के पालन के लिए आहार की प्रवृत्ति को छोडकर अन्य सासारिक प्रवृत्ति करते हैं, वे कुशील या दु शील है। सुशील-कुशील की इसी परिभाषा को लेकर इस अध्ययन मे विचार किया गया है।

इस दृष्टि से जो कुतीर्थिक, तथा स्वयूथिक स्वच्छन्दाचारी, पार्श्वस्थ आदि सचित्त वस्तु (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति या द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीव या त्रसजीव निष्पन्न सजीव पदार्थ) का सेवन करते हैं, वे अप्रासुकप्रतिसेवी हैं, फिर भी वे धृष्टतापूर्वक अपने आपको सुशीलवान् कहते है, मगर वे सुशीलवान नही हैं, क्योकि विद्वान् पुरुप अचित्त वस्तु-सेवन को ही शील कहते हैं। आशय यह है कि प्रासुक और उद्गम आदि दोपरहित आहार सेवन करने वाले साधु शीलवान कहलाते हैं, अन्य नही। इस विपय मे नियुक्तिकार कुछ नाम लेकर वताते हैं—गोव्रतिक, चण्डी-उपासक, वारिभद्रक, अग्निहोत्रवादी, जलशौचिक, भागवत, पार्श्वस्थ, अवसन्न, अपछन्द आदि स्वयूथिक जो उद्गामादि दोषयुक्त आहारभोजी हैं, ये, और इस प्रकार के व्यक्तियो की गणना कुशील मे की जाती है। गोव्रतिक वे लोग हैं, जो प्रशिक्षित (सिखाये हुए) छोटे से बैल को लेकर अन्न आदि के लिए घर-घर घूमते हैं। दूसरे चण्डी-उपासक हैं, जो हाथ मे चक्र धारण करते हैं, चण्डी की उपासना करते हैं, पशुबलि देते या दिलाते हैं। तीसरे हैं—वारिभद्रक, जो सचित्त जल पीकर रहते हैं अथवा शैवाल खाकर जीते है, प्रतिदिन कई बार स्नान तथा बार-बार हाथ-पैरो के धोने आदि मे रत रहते हैं। चौथे हैं—अग्निहोत्रवादी, जो अग्नि मे होम करने से ही स्वर्गप्राप्ति बताते हैं, इसके बाद भागवत आदि है, जो रातदिन जलशौच आदि मे ही सलग्न रहते हैं, ये और इस प्रकार के अन्य जो भी सचित्त (सजीव) पदार्थसेवी हैं, यानी धर्म या साधना के नाम पर एकेन्द्रियादि जीवो का उपमर्दन करते हैं, इसलिए कुशील मे परिगणित होते हैं। इनके अतिरिक्त स्वयूथिक भी पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, अपछन्द, आदि जो उद्गमादि दोषयुक्त आहार-सेवन करते है, वे भी कुशील मे गिने जाते हैं।

बीच-बीच मे कही-कही इनसे विपरीत सुशील जनो के आचार-विचार का भी वर्णन किया गया है। अत कुशीलपरिभाषा[1] का अर्थ हुआ—कुशील जनो के सम्बन्ध मे विस्तृत रूप से सभी पहलुओ से किया गया भाषण—कथन या निरूपण।

शील, अशील और कुशील का निक्षेप दृष्टि से अर्थ

सामान्यतया शील का अथ स्वभाव, सदाचार, ब्रह्मचर्य एव आचार-विचार होता है। शील के सम्बन्ध मे चार निक्षेप किये गये हे—नामशील, स्थापनाशील, द्रव्यशील और भावशील। नाम-स्थापना सुगम है। द्रव्यशील वस्त्र, भोजन, आभूषण आदि के विषय मे इस प्रकार है—जो मनुष्य फल की अपेक्षा (परवाह) न करके स्वाभाविक रूप से या स्वभाव से ही जिस द्रव्य का या जिस क्रिया का सेवन करता है, अथवा जिस वस्त्र, भोजन आदि के सेवन करने की आवश्यकता जिस समय नही है, उसकी परवाह न करके जो स्वभाव से उस पदाथ का सेवन करता है अथवा उसी मे अपने चित्त को सलग्न रखता है, यह द्रव्यशील है। अथवा चेतन और अचेतन जिस द्रव्य का जो स्वरूप है, उसे भी द्रव्यशील कहते हैं।

भावशील दो प्रकार का है—ओघशील और आभीक्ष्यसेवनाशील। ओघ कहते हैं—सामान्य को। जो व्यक्ति सामान्यतया सावद्ययोगो से विरत (निवृत्त) हे, अथवा जो विरताविरत है, वह शीलवान है या ओघ से भावशील है। जो इसके विपरीत है, वह अशीलवान या भाव-अशील है। आभीक्ष्यसेवना अर्थात् निरन्तर या बार-बार सेवन करने की अपेक्षा से धर्म के सम्बन्ध मे प्रशसा, आचार या विचार का अनुष्ठान करना भावशील है। सतत अपूर्व ज्ञान का उपार्जन करते रहना, दर्शन को पुष्ट करते रहना, उपशमप्रधान चारित्र की आराधना करते रहना, विशिष्ट तप या अभिग्रह आदि करते रहना भावशील है। भाव-अशील और भाव कुशील मे अन्तर यह है कि अशील न तो शील-पालन या शील मे प्रवृत्त होने का सकल्प करता है, न किसी धर्म सम्बन्धी विचार-आचार का अनुष्ठान करता है। जबकि कुशील शीलपालन या शील मे प्रवृत्त तो होता है, लेकिन होता है अशुद्ध रूप से, विपरीतरूप से। अप्रशस्त भावशील धर्म की ओट मे अधर्म मे प्रवृत्ति करता है, क्रोधादि कषायो, चोरी, परनिन्दा, कलह, आक्षेप, मिथ्यादोषारोपण, दम्भ आदि मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार जो उपशमप्रधान चारित्र के विपरीत चलते हैं, वे भाव दु शील या कुशील कहलाते है वैसे तो कुशील के अगणित प्रकार हो सकते हैं, किन्तु यहाँ उन सभी की विवक्षा नही है, न उन सभी के वर्णन का अवकाश है। इस अध्ययन मे सक्षेप मे नपे-तुले शब्दो में कुछेक विवक्षित कुशीलजनो के सम्बन्ध मे

---

१ परि-समन्तात् भाष्यन्ते निरूप्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते तदनुष्ठानतस्तद्विपाकदुर्गतिगमनतश्चेति परिभाषा, कुशीलाना परिभाषा—कुशीलपरिभाषा।

निरूपण किया गया है। निर्युक्तिकार के शब्दो मे इस अध्ययन मे विवक्षित कुशील-वर्णन देखिए—

अफासुयपडिसेविय णाम भुज्जो य सीलवादी य।
फासु वयंति सील अफासुया मो अभुजता ॥८६॥
जइ णाम गोयमा चडीदेवगा वारिभद्दगा चेव ।
जे अग्गिहोत्तवादी जलसोय जे य इच्छति ॥६०॥

कुत्सित-निन्दित या बुरे शील वाले परतीर्थिक और पार्श्वस्थ आदि तथा अन्य जो भी अविरत हैं, उनका इस कुशील-परिभाषा नामक अध्ययन मे वर्णन है।

इस लोक मे धर्मध्यान, अध्ययन, सदनुष्ठान आदि को छोडकर तथा धर्म के आधारभूत अपने शरीर के पालन के लिए आहार की प्रवृत्ति को छोडकर अन्य सासारिक प्रवृत्ति करते हैं, वे कुशील या दुःशील है। सुशील-कुशील की इसी परिभाषा को लेकर इस अध्ययन मे विचार किया गया है।

इस दृष्टि से जो कुतीर्थिक, तथा स्वयूथिक स्वच्छन्दाचारी, पार्श्वस्थ आदि सचित्त वस्तु (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति या द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीव या त्रसजीव निष्पन्न सजीव पदार्थ) का सेवन करते हैं, वे अप्रासुकप्रतिसेवी हैं, फिर भी वे धृष्टतापूर्वक अपने आपको सुशीलवान् कहते है, मगर वे सुशीलवान नही है, क्योकि विद्वान् पुरुष अचित्त वस्तु-सेवन को ही शील कहते है। आशय यह है कि प्रासुक और उद्गम आदि दोषरहित आहार सेवन करने वाले साधु शीलवान कहलाते हैं, अन्य नही। इस विषय मे निर्युक्तिकार कुछ नाम लेकर बताते हैं—गोव्रतिक, चण्डी-उपासक, वारिभद्रक, अग्निहोत्रवादी, जलशौचिक, भागवत, पार्श्वस्थ, अवसन्न, अपछन्द आदि स्वयूथिक जो उद्गमादि दोषयुक्त आहारभोजी हैं, ये, और इस प्रकार के व्यक्तियो की गणना कुशील मे की जाती है। गोव्रतिक वे लोग हैं, जो प्रशिक्षित (सिखाये हुए) छोटे से बैल को लेकर अन्न आदि के लिए घर-घर घूमते हैं। दूसरे चण्डी-उपासक हैं, जो हाथ मे चक्र धारण करते है, चण्डी की उपासना करते हैं, पशुबलि देते या दिलाते हैं। तीसरे हैं—वारिभद्रक, जो सचित्त जल पीकर रहते हैं अथवा शैवाल खाकर जीते हैं, प्रतिदिन कई बार स्नान तथा बार-बार हाथ-पैरो के धोने आदि मे रत रहते है। चौथे हैं—अग्निहोत्रवादी, जो अग्नि मे होम करने से ही स्वर्गप्राप्ति बताते है, इसके बाद भागवत आदि हैं, जो रातदिन जलशौच आदि मे ही सलग्न रहते हैं, ये और इस प्रकार के अन्य जो भी सचित्त (सजीव) पदार्थसेवी है, यानी धर्म या साधना के नाम पर एकेन्द्रियादि जीवो का उपमर्दन करते हैं, इसलिए कुशील मे परिगणित होते हैं। इनके अतिरिक्त स्वयूथिक भी पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, अपछन्द, आदि जो उद्गमादि दोषयुक्त आहार-सेवन करते हैं, वे भी कुशील मे गिने जाते हैं।

कुशील विपयक वर्णन के सन्दर्भ मे क्रमप्राप्त गाथाएँ इस प्रकार प्रकार हैं—

मूल पाठ

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा ।
जे अडया जे य जराउ पाणा, ससेयया जे रसयाभिहाणा ॥१॥
एयाइ कायाइ पवेइयाइ, एएसु जाणे पडिलेह साय ।
एएण काएण य आयदडे, एएसु या विप्परियासुविति ॥२॥

सस्कृत छाया

पृथिवी चापश्चाग्निश्च वायु तृणवृक्षबीजाश्च त्रसाश्च प्राणा ।
येऽण्डजा ये च जरायुजा प्राणा, सस्वेदजा ये रसजाभिधाना ॥१॥
एते काया. प्रवेदिता, एतेपु जानीहि प्रत्युपेक्षस्व सातम् ।
एतै कायैर्य आत्मदण्डा, एतेषु च विपर्यासमुपयान्ति ॥२॥

अन्वयार्थ

(पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु **(तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा)** तृण, वृक्ष, बीज, और त्रस प्राणी **(जे अडया)** तथा जो अण्डज हैं, **(जे य जराउ पाणा)** तथा जो जरायुज प्राणी है **(ससेयया जे रसयाभिहाणा)** जो स्वेदज (पसीने से पैदा होने वाले) है तथा जो रसज सज्ञक (जो विकृति वाले रस से उत्पन्न होते) हैं। **(एयाइ कायाइ पवेइयाइ)** इन सबको सर्वज्ञो ने जीव का पिण्ड कहा है। **(एएसु)** इन पृथ्वीकाय आदि मे **(साय जाणे)** सुख की इच्छा जानो **(पडिलेह)** इस पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो **(एएण काएण य आयदडे)** जो उक्त प्राणियो का नाश करके अपनी आत्मा को दण्डित करते है, वे **(एएसु वा विप्परियासुविति)** इन्ही प्राणियो मे जन्म धारण करते है।

भावार्थ

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष, बीज, और जो त्रस प्राणी तथा अण्डज (पक्षी आदि), जरायुज (मनुष्य गाय आदि), स्वेदज (जूँ लीख आदि) और रसज (दूध, दही आदि मे उत्पन्न होने वाले) हैं, इन्हे सर्वज्ञो ने जीव के शरीर (काय) कहा है। इन पृथ्वीकायिक आदि जीवो मे सुख की इच्छा रहती है, इसे समझ लो और इस पर बारीकी से विचार करो। जो जीव इन शरीरधारी प्राणियो का नाश करके उक्त पाप से अपनी आत्मा को दण्डित करते है, वे बार-बार इन्ही प्राणियो मे जन्म ग्रहण करते हैं।

व्याख्या

जीवो के प्रकार तथा उनके नाश से अपनी महाहानि

इन दो गाथाओ मे शास्त्रकार ने आहार आदि के निमित्त से जीवहिंसा

करने वाले व्यक्तियों को कुशील मे परिगणित करने के लिए जीवों के मुख्य-मुख्य प्रकार बताकर उनके उपमर्दन—प्राणनाश से हिंसाकर्ता की कितनी बड़ी हानि होती है ? इसे संक्षेप मे बताया है।

पुढवी—पृथ्वी को शरीर बनाकर रहने वाले जीव, अर्थात् जिनका शरीर ही पृथ्वी है। यहाँ 'य' शब्द इसके अन्तर्गत भेदों को सूचित करता है। पृथ्वी-कायिकों के सूक्ष्म और बादर दो भेद होते है, फिर इन दोनो के पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो भेद होते हे। इस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवो के ४ भेद होते हैं।

इसी प्रकार अप्कायिक (जलकायिक), तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवो के भी चार-चार भेद समझ लेने चाहिए।

वनस्पतिकायिक जीवो के कितने भेद होते है ? इसे शास्त्रकार बताते है—तृण अर्थात् घास, कुश, तिनका आदि, वृक्ष यानी आम, नीम, जामुन आदि, बीज का अर्थ है—विविध प्रकार के गेहूँ, जौ, चना, मूँग, मोठ आदि अनाज तथा फलो के बीज आदि। बीच-बीच मे पड़े हुए 'य' शब्द अन्य भेदो को सूचित करते है। अर्थात् लता, गुल्म, गुच्छ आदि भेदो को भी वनस्पतिकाय मे समझ लेना चाहिए।

तसा य पाणा—जो प्राणी त्रास (उद्वेग या भय) का अनुभव करके एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाते हैं, हल-चल करते दिखाई देते हैं, वे त्रस कहलाते हैं। त्रस जीवो मे दो इन्द्रियो वाले जीवो से लेकर पाँचो इन्द्रियो वाले जीवो तक का समावेश हो जाता है। द्वीन्द्रिय मे वे जीव आते है, जिसके स्पर्शेन्द्रिय (शरीर) और रसनेन्द्रिय (जीभ) हो। जैसे लट, गिंडोला, अलसिया, शख, कौडी, जोक आदि। त्रीन्द्रिय मे वे जीव गिने जाते हैं, जिनके स्पर्शन, रसन और घ्राणेन्द्रिय (नाक) हो। जैसे चींटी, मकोडा, जू, लीख, चीचण, खटमल, गजाई, खजूरे, दीमक, घनेरिया आदि जीव। चतुरिन्द्रिय मे वे प्राणी माने जाते है, जिनके स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षुरिन्द्रिय, ये ४ इन्द्रियाँ हो। जैसे टिड्डी, पतगा, मक्खी, मच्छर, भौंरा, बिच्छू, भृ गारी आदि जीव। इसके बाद पचेन्द्रिय जीवो मे उनकी गणना होती है, जिनके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय (कान) ये पाँचो इन्द्रियाँ हो। इनके मुख्यतया ४ भेद है—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव। तिर्यंच पचेन्द्रिय मे जलचर, खे (आकाश) चर, स्थलचर (जमीन पर चलने वाले) उरपरिसर्प (छाती के बल पर चलने वाले) भुजपरिसर्प (भुजा के बल पर चलने वाले)। इनके सज्ञी, असज्ञी, पर्याप्तक-अपर्याप्तक, गर्भज-सम्मूर्छिम आदि अनेक अवान्तर भेद होते है।

यहाँ शास्त्रकार ने त्रस जीवो के अण्डज, जरायुज, सस्वेदज एव रसज ये ४ प्रकार प्रदर्शित किये हैं। अण्डज वे कहलाते है जो अण्डे मे से फूटकर बाहर निकलते हैं—जन्म लेते है, जैसे पक्षी, सर्प, गिलहरी आदि। जरायुज वे कहलाते है,

जो जरायु चमडे की झिल्ली मे लिपटे हुए जन्म लेते है, जैसे मनुष्य, गाय, भैंस आदि । सस्वेदज वे कहलाते है, जो पसीने से उत्पन्न होते है, जैसे जू, लीख, खटमल, चीचड आदि । रसज वे कहलाते है, जो दही, काजी, आदि रसो के विकृत हो जाने पर उत्पन्न होते है, जैसे बिगडा हुआ अत्यन्त खट्टा, रसचलित तथा सडा हुआ दही, काजी, अथवा शराव आदि । ये सव त्रस जीवो के प्रकार है ।

पृथ्वीकायिक आदि स्थावर एव द्वीन्द्रिय आदि त्रसरूप मे जीवो के मोटे तौर से भेद बताकर शास्त्रकार उनके उपमर्दन—हिंसा मे क्या-क्या दोप होते हैं ? क्या-क्या हानियाँ है ? इसे बताते है —'एयाइ कायाइ एएसु य विप्परियासुविंति ।'

आशय यह है कि सर्वज्ञ तीर्थकरो ने स्थावर जीवो के ५ एव त्रसजीवो का एक यो पट् (छह) जीवनिकाय बताये है । उन्होने अपने केवलज्ञान के महाप्रकाश मे पृथ्वी आदि मे जीवो की सत्ता देखकर ससार को बताई है । उन्होने यह भी कहा कि इन सभी (चाहे छोटे हो या वड) जीवो मे सुख की इच्छा होती है, यह समझ लेना चाहिए । आशय यह है कि प्रत्येक प्राणी सुख से जीना चाहता है, कोई भी प्राणी दु ख नही चाहता । दु ख से सभी को नफरत होती है । यह जानकर फिर सूक्ष्मबुद्धि से विचार करो कि जैसे मुझे कोई किसी भी प्रकार से पीडा देता है तो मुझे दु ख होता है, वैसे ही इनको पीडा देने पर इन्हें भी दु ख होगा । साथ ही क्रिया की प्रतिक्रिया भी होती है, किसी भी प्राणी को पीडा देने, उसका घात करने या क्षति पहुँचाने से उसे दु ख होने के साथ-साथ पीडा आदि पहुँचाने वाले (हिंसक) की आत्मा भी पापकर्मबन्धन से भारी हो जाती है, और उसके परिणामस्वरूप भयकर दण्ड दूसरे जन्म मे भोगना पडता है । निष्कर्ष यह है कि दूसरो को पीडित करना अपनी आत्मा को पीडित या दण्डित करना है । इनकी हिंसा करने से हिंसाकर्ता को भयकर कष्ट के रूप मे उसका मूल्य चुकाना पडता है । अथवा जो जीव इन प्राणियो को चिरकाल तक दण्ड देते है, पीडा पहुँचाते हैं, उनकी क्या दशा होती है, वह शास्त्रकार के शब्दो मे सुनिये—'एएसु य विप्परियासुविंति ।'

अर्थात्—पूर्वोक्त पृथ्वीकाय आदि जीवो को पीडा देने वाले जीव, इन्ही पृथ्वीकाय आदि योनियो मे बार-बार जन्म लेते हैं । अथवा 'विपर्यास को प्राप्त होते है' इसका अर्थ यह भी है कि जो जीव सुख की प्राप्ति के लिए जीवो का आरम्भ (हिंसा) करते हैं, उन्हे उससे सुख के वदले उलटा दु ख ही मिलता है, सुख कदापि नही मिलता । अथवा कुतीर्थीगण मोक्ष के लिए इन प्राणियो का उपमर्दन करके जो क्रिया करते हैं, उन्हे मोक्ष के वदले ससार—जन्ममरण के चक्र—की ही प्राप्ति होती है ।

उक्त प्राणियो को दण्ड देकर मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले जीव मोक्ष के वदले ससार को कैसे प्राप्त करते है ? यह अगली गाथाओ मे वताते है—

मूल पाठ

जाईपह् अणुपरिवट्टमाणे, तसथावरेहिं विणिघायमेति ।
से जाइजाइ बहुकूरकम्मे, ज कुव्वइ मिज्जइ तेण बाले ॥३॥
अंस्सि च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा ।
ससारमावन्न पर पर ते, बधति वेदंति य दुन्नियाणि ॥४॥

सस्कृत छाया

जातिपथमनुपरिवर्तमानस्त्रसस्थावरेषु विनिधातमेति ।
स जातिजातिं बहुक्रूरकर्मा, यत्करोति म्रियते तेन बाल ॥३॥
अस्मिश्च लोके अथवा परस्तात् शताग्रशो वा तथाऽन्यथा वा ।
ससारमापन्ना पर पर त, बध्नन्ति वेदयन्ति च दुर्नीतानि ॥४॥

अन्वयार्थ

(जाइपह) एकेन्द्रिय आदि जातियो मे (अणुपरिवट्टमाणे) बार-बार जन्मता और मरता हुआ (से) वह जीव (तसथावरेहिं) त्रस और स्थावर जीवो मे उत्पन्न होकर (विणिघायमेति) बार-बार नाश होता है, (जाइ-जाइ बहुकूरकम्मे) बार-बार जन्म लेकर बहुत क्रूर कर्म करने वाला वह (बाले) बाल—अज्ञानीजीव (ज कुव्वइ) जो कर्म करता है (तेण मिज्जइ) उसी से मृत्यु को प्राप्त होता है ॥३॥

(अंस्सि च लोए) इस लोक मे (अदुवा परत्था) अथवा परलोक में वे कर्म अपना फल देते हैं। (सयग्गसो वा तह अन्नहा वा) वे एक जन्म मे अथवा सैंकडो जन्मो मे फल देते हैं। जिस प्रकार वे कर्म किये गए है, उसी तरह अपना फल देते हैं अथवा दूसरी तरह भी देते हैं। (ससारमावन्न ते) ससार मे परिभ्रमण करते हुए वे कुशील-जीव (पर पर) बडे से बडा दु ख भोगते हैं । (बधति वेदति य दुन्नियाणि) वे आर्त्तध्यान करके फिर कर्म बाँधते हैं और अपने दुर्नीतियुक्त पापकर्मो का फल भोगते हैं ॥४॥

भावार्थ

एकेन्द्रिय आदि पूर्वोक्त प्राणियो को दण्ड देने (उपमर्दन करने) वाला जीव बार-बार उन्ही एकेन्द्रिय आदि योनियो मे जन्मता और मरता है। वह उन त्रस स्थावर योनियो मे उत्पन्न होकर घात को प्राप्त होता है। एक जाति से दूसरी जाति मे जन्म ग्रहण करके वह अत्यन्त क्रूरकर्मा अज्ञानी जीव अपने ही किये हुए पापकर्मो के कारण मारा जाता है, जन्म मरण करता है।

कोई कर्म इसी जन्म मे अपना फल कर्ता को दे देता है, जबकि कोई

कर्म दूसरे जन्म मे फल देता है। कोई एक ही जन्म मे फल दे देता है, तो कोई कर्म सैकडो जन्मो मे जाकर फल देता है। कोई कर्म जिस तरह किया किया गया है, उसी तरह फल दे देता है, तो कोई कर्म दूसरी तरह से फल देता है। कुशील पुरुप सदा ससार मे परिभ्रमण करते रहते है और वे एक कर्म का दु खरूप फल भोगते हुए फिर आर्तध्यान करते हुए दूसरा कर्म बाँधते है। इस प्रकार वे अपने दुष्कृत्यो के फलस्वरूप सदा कर्म बाँधते रहते है और भोगते रहते है।

व्याख्या

प्राणियो का विनाशकर्ता स्वय विनष्ट होता है

इस तीसरी गाथा मे बताया गया है कि पूर्वगाथा मे उक्त प्राणियो को दण्डित करने वाला प्राणी किस प्रकार जन्म-जन्म मे दण्डित होता है, और अन्त मे कैसे अपना विनाश कर लेता है ?

एकेन्द्रिय आदि जातियो के पथ को **'जातिपथ'** कहते है। अथवा जाति जन्म को कहते है। **'पह'** का 'वह' रूप होकर 'वध' शब्द बन जाता है, उसका अर्थ होता है—मरण। अर्थात एकेन्द्रिय आदि जातियो मे जन्म-मरण करता हुआ जीव अथवा बार-बार जन्म-मरण का अनुभव करता हुआ वह जीव द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवो मे, एव पृथ्वी, जल आदि स्थावर जीवो मे उत्पन्न होकर जीवो को उसने पूर्वजन्म मे जिस प्रकार का दण्ड दिया था, तदनुरूप कर्मविपाक से बार-बार नाश को प्राप्त होता है। प्राणियो को अत्यन्त दण्ड देने वाला तथा बार-बार जन्म पाकर उनमे अतिक्रूर-कर्म करने वाला वह जीव सद्-असद्-विवेक से रहित होने के कारण बालक के समान अज्ञानी है। वह जिस एकेन्द्रिय आदि जाति के प्राणियो की हिंसारूप जो कर्म करता है, उसी कर्म मे वह मर जाता है अथवा उसी कर्म से वह मारा जाता है, अथवा **'मिज्जइ'** का सस्कृत रूप **'मीयते'** भी होता है जिसका अर्थ होता है— वह अतिक्रूरकर्मा पुरुष लोक मे 'यह चोर है, गुण्डा है, हत्यारा है, इत्यादि रूप से उसी कर्म के द्वारा बदनाम किया जाता है।

कर्म कदापि और कहीं भी नहीं छोडते

चौथी गाथा मे पूर्वगाथा के सन्दर्भ मे बताया गया है कि कुशील पुरुष को अपने कर्मों का फल कहाँ-कहाँ, कब और किस प्रकार से भोगना पडता है। जो कर्म शीघ्र फल देने वाले हैं वे इसी जन्म मे कर्ता को फल दे देते हैं। अथवा दूसरे जन्म—नरक आदि मे वे अपना फल देते हैं। वे कर्म या तो एक ही जन्म मे अपना तीव्र विपाक उत्पन्न करते हैं, या फिर अनेक जन्मो मे उत्पन्न करते है। प्राणी जिस प्रकार से अशुभ कर्म करता है, कर्म उसे उसी प्रकार से फल देता है, अथवा दूसरी तरह से भी देता है। मृगापुत्र की तरह कोई कर्म दूसरे भव मे अपना फल देता है। तथा जिसकी दीर्घकालिक स्थिति है, वह कर्म अन्य जन्मो मे अपना फल देता है। एव

जिस प्रकार वह कर्म किया गया है, उसी प्रकार वह अपने कर्ता को एक बार या अनेक बार फल देता है। अथवा वह दूसरी तरह से एक बार या हजारो बार सिर का या हाथ-पैरो का छेदनरूप फल कर्ता को देता है। इस प्रकार प्राणियो को बहुत दण्ड देने वाले वे कुशील-जीव चातुर्गतिक ससार मे पडे हुए अरहट यन्त्र की तरह बार-बार ससार मे भ्रमण करते रहते है और तीव्र से तीव्र दु ख भोगते रहते है। पूर्वजन्म के एक कर्म का फल भोगते हुए वे आर्त्तध्यान करके फिर दूसरा कर्म बाँधते हैं और अपने पापकर्म का फल भोगते है। अपने किये हुए कर्म का फल भोगे विना कोई छुटकारा नही। कृतकर्म का फल भोग अनिवार्य है। ज्ञानी पुरुप कहते है —

मा होहि रे विसन्नो जीव ! तुम विमणदुम्मणो दीणो ।
णहु चिंतिएण फिट्टइ त दुक्ख ज पुरा रइय ॥१॥
जइ पविससि पायाल अडवि व दरिं गुह समुद्द वा ।
पुव्वकयाउ न चुक्कसि, अप्पाण घायसे जइ वि ॥२॥

अर्थात्—(अरे जीव ! तू उदास, दीन और दु खितचित्त मत हो, क्योकि जो दु ख तूने पहले पैदा किया है, वह चिन्ता करने से मिट नही सकता है। चाहे तू पाताल मे प्रविष्ट हो जाय, अथवा किसी गहन जगल मे जाकर छिप जाय, या पर्वत की गुफा मे जाकर छिप जाय अथवा तू अपनी आत्महत्या करले, परन्तु पूर्वजन्म कृतकर्म से तू बच नही सकता।)

निष्कर्ष यह है कि कुशील व्यक्ति, चाहे जितना छिपकर एकान्त गुप्त स्थान मे कुकर्म करले, वह उसके फल से कदापि बच नही सकता।

मूल पाठ

जे मायर वा पियरं च हिच्चा समणव्वए अगणि समारभिज्जा ।
अहाहु से लोए कुसीलधम्मे भूयाइ जे हिसति आयसाते ॥५॥

सस्कृत छाया

यो मातर वा पितर च हित्वा, श्रमणव्रतेऽग्नि समारभेत ।
अथाहु स कुशीलधर्मा भूतानि यो हिनस्त्यात्मसाते ॥५॥

अन्वयार्थ

(जे) जो व्यक्ति (मायर वा पियर च) माता और पिता को (हिच्चा) छोड कर (समणव्वए) श्रमणव्रत को धारण करके (अगणि समारभिज्जा) अग्निकाय का आरम्भ करता है, (जे आयसाते भूयाइ हिंसति) तथा जो अपनी सुख-सुविधा के लिए प्राणियो की हिंसा करता है, (से लोए कुसीलधम्मे) वह व्यक्ति लोक मे कुशील-धर्म वाला है, (अहाहु) ऐसा सर्वज्ञपुरुपो ने कहा है।

भावार्थ

जो व्यक्ति माता-पिता को छोडकर श्रमणव्रत को धारण करके अग्निकाय का आरम्भ करता है, तथा जो अपनी सुख-सुविधा के लिए प्राणियो की हिसा करता है, वह कुशीलधर्म-युक्त है, यह सर्वज्ञ पुरुषो ने कहा है।

व्याख्या

अग्निकाय समारम्भी कुशीलधर्मा है

पूर्वगाथाओ मे तथा इस अध्ययन की भूमिका मे सामान्य रूप से कुशील का निरूपण किया गया है, अब इस गाथा मे शास्त्रकार एक विशिष्ट कुशील, जिसे पापण्डी कहा जा सकता है, उसके विषय मे कहते हैं।

जो व्यक्ति श्रमणचर्या के तत्त्व को तथा श्रमणवृत्ति के परमार्थ को नही जानता, किन्तु किसी आवेश मे या सनक मे आकर अथवा देखा-देखी या फिर घर मे किसी के द्वारा ताना मारे जाने पर अथवा सुख-सुविधाओ के या पूजा-प्रतिष्ठा के प्रलोभन मे आकर माता-पिता तथा उपलक्षण से भाई-बहन, स्त्री-पुत्र आदि परिवार को छोडकर सहसा श्रमणव्रत की दीक्षा अगीकार कर लेता है, श्रमणवेष पहन लेता है, सिर मु डा लेता है, लेकिन अपने धर्म की मर्यादा को भूलकर, अहिंसा का पूर्णरूप से पालन करने की प्रतिज्ञा को ठुकराकर अग्निकाय का आरम्भ करने लगता है। अर्थात् वह पचन-पाचन आदि करने-कराने अनुमति देने एव उद्दिष्ट आहार-सेवन करने इत्यादि के रूप मे अग्निकाय का आरम्भ करता है। वह पाषण्डी — द्रव्यश्रमण अथवा तथाकथित श्रमणव्रतधारी अग्निकाय का आरम्भ करने से कुशील है। जिसके धर्म (श्रमणधर्म) का स्वभाव कुत्सित है—बिगड गया है, उसे कुशीलधर्मा कहते है। ऐसा तीर्थंकर, गणधर आदि ने कहा है। ऐसा व्यक्ति कुशील कैसे है? शास्त्रकार इसी का समाधान करते हुए कहते है—'भूयाइ जे हिंसति आयसाते।' अर्थात्— भूतो—प्राणियो का वध जो अपनी सुखसुविधा के लिए अथवा परलोक मे सुख मिलेगा या स्वर्ग—मोक्ष के सुख के लिए सस्कृति या धर्म की ओट मे या रूढिपरम्परा या रीति-रिवाजो के पालन करने हेतु करते हैं, वे कुशील हैं। अथवा स्वर्गप्राप्ति की इच्छा से जो पचाग्निसेवन तप करते है, अग्निहोम आदि क्रियाएँ करते है या लौकिक पुरुष पचन पाचन आदि के द्वारा अग्निकाय-समारम्भ करके सुख चाहते हैं, वे सब कुशील है।

मूल पाठ

उज्जालओ पाण निवायएज्जा, निव्वावओ अगणि निवायवेज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्म, ण पंडिए अगणि समारभिज्जा ॥६॥

संस्कृत छाया

उज्ज्वालक प्राणान् निपातयेत्, निर्वापकोऽग्नि निपातयेत् ।
तस्मात्तु मेधावी समीक्ष्य धर्म, न पण्डितोऽग्नि समारभेत् ॥६॥

अन्वयार्थ

(उज्जालओ) आग जलाने वाला पुरुष (पाण निवायएज्जा) प्राणियो का घात करता है, और (निव्वावओ) आग बुझाने वाला पुरुष (अगणि निवायवेज्जा) अग्निकाय के जीव का घात करता है। (तम्हा उ) इसलिए (मेहावि) बुद्धिमान् (पडिए) पण्डित पुरुष (धम्म समिक्ख) श्रुत-चारित्ररूप धर्म को देखकर (अगणि ण समारभिज्जा) अग्निकाय का समारम्भ (हिंसाजनक प्रवृत्ति) न करे।

भावार्थ

आग जलाने वाला व्यक्ति प्राणियो का घात करता है और आग बुझाने वाला पुरुष भी अग्निकाय के जीवो का वध करता है, इसलिए बुद्धिशील पण्डित पुरुष को चाहिए कि वह अपने धर्म का विचार करके अग्निकाय का आरम्भ न करे।

व्याख्या

साधक के लिए अग्निकाय-समारम्भ का निषेध

अग्नि मे जीव हैं, यह बात कई प्रमाणो से सिद्ध है। जो साधक तपने-तपाने, पचन-पाचन एव प्रकाश आदि कार्यों के लिए लकडी या अन्य ईंधन डालकर आग जलाता है, वह अग्निकायिक जीवो का तो घात करता ही है, अपितु पृथ्वी आदि के आश्रित रहे हुए स्थावर और त्रस जीवो का घात भी करता है। अथवा वह व्यक्ति प्राणियो को मन-वचन-काया से आयु बल एव इन्द्रियो से विनष्ट करता है। तथा जो व्यक्ति पानी आदि के द्वारा जलती आग को बुझाता है, वह भी अग्निकाय के एव तदाश्रित जीवो के प्राणो का नाश करता है।

प्रश्न होता है—एक आग को जलाता है, और दूसरा आग को बुझाता है, इन दोनो मे से कौन-सा व्यक्ति दूसरे काय के जीवो का अधिक विनाश करता है? इसके उत्तर मे यहाँ भगवतीसूत्र का प्रमाण प्रस्तुत है, उसी से पाठक निर्णय कर सकेंगे—

"दो भते! पुरिसा अन्नमन्नेण सद्धि अगणिकाय समारभति, तत्थ ण एगे पुरिसे अगणिकाय उज्जालेइ, एगे ण पुरिसे अगणिकाय निव्वावेइ। तेसिं भते! पुरिसाण कयरे वा पुरिसे महाकम्मतराए, कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए?। जे वा से पुरिसे अगणिकाय उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकाय निव्वावेइ?" "कालोदाई! तत्थ ण जे से पुरिसे अगणिकाय उज्जालेइ, से ण पुरिसे महाकम्मतराए चेव, जाव महावेयणतराए चेव, तत्थ ण जे से पुरिसे अगणिकाय निव्वावेइ, से ण पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव, जाव

अप्पवेयणतराए चेव । कालोदाई ! तत्थ ण जे से पुरिसे अगणिकाय उज्जालेइ, से ण पुरिसे वहुतराग पुढविकाय समारभइ, बहुतराग आउक्काय समारभइ, अप्पतराग तेउकाय समारभइ, बहुतराग वाउकाय समारभइ, वहुतराग वणस्सइकाय समारभइ, वहुतराग तसकाय समारभइ। तत्थ ण जे से पुरिसे अगणिकाय निव्वावेइ से ण पुरिसे अप्पतराग पुढविकाय समारभइ, अप्पतराग आउक्काय समारभइ, वहुतराग तेउकाय समारभइ, अप्पतराग वाउकाय समारभइ, अप्पतराग वणस्सइकाय समारभइ, अप्पतराग तसकाय समारभइ।"

अर्थात्—"कालोदायी पूछते है—भगवन् ! एक सरीखे भाण्डपात्रादि साधन वाले दो पुरुप अग्निकाय का समारम्भ करते है, दोनो मे मे एक अग्निकाय को प्रज्वलित करता है, और दूसरा उसे बुझाता है, तो भते ! इन दोनो मे से कौन-सा व्यक्ति महाकर्मयुक्त है और कौन-सा अल्पकर्मयुक्त है ? जो आग जलाता है, वह या जो आग बुझाता है, वह ?" इसके उत्तर मे भगवान् फरमाते है—"कालोदायी ! इन दोनो मे से जो व्यक्ति अग्नि प्रज्वलित करता है, वह महाकर्मयुक्त है, यावत् महावेदना युक्त है, तथा जो व्यक्ति आग बुझाता है, वह अल्पकर्मयुक्त है। कारण यह है कि जो व्यक्ति आग जलाता है, वह पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, वनस्पति काय तथा त्रसकाय का बहुत आरम्भ करता है, सिर्फ अग्निकाय का अल्प आरभ करता है, किन्तु जो व्यक्ति आग बुझाता है, वह पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, तथा त्रसकाय का अल्प आरम्भ करता है, लेकिन अग्निकाय का वहुत आरम्भ करता है। कालोदायी ! इसी दृष्टि से आग जलाने वाले को महाकमयुक्त और जो आग बुझाता है, उसे अल्पकर्मयुक्त कहा है।" और भी कहा है - 'भूयाण एसमाघाओ हव्ववाहो ण ससओ' नि सन्देह अग्नि का आरम्भ जीवो का नाशक है। इस दृष्टि से सद्-असद् विवेकी विद्वान साधक अपने धर्म (साधुधर्म या गृहस्थधर्म) का विचार करके अग्निकाय का समारम्भ न करे। यहाँ 'पण्डित' शब्द का अर्थ पाप से निवृत्त है। अर्थात् अग्निकाय के समारम्भ करने से अन्य प्राणियो का वध होता है, उससे जो निवृत्त है, वस्तुत वही पण्डित है।

अग्निकाय के समारम्भ से अन्य प्राणिवध कैसे हो सकता है। इसे अगली गाथा मे बताते हैं—

मूल पाठ

पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा, पाणा य सपाइम सपयति ।
ससेयसा कट्ठसमस्सिया य, एते दहे अगणि समारभते ॥७॥

संस्कृत छाया

पृथिव्यपि जीवा आपोऽपिजीवा , प्राणाश्च सम्पातिमा सम्पतन्ति ।
संस्वेदजा काष्ठसमाश्रिताश्चै एतान् दहेदग्निं समारभमाणः ॥७॥

अन्वयार्थ

(पुढवी वि जीवा) पृथ्वी भी जीव है, (आऊ वि जीवा) जल भी जीव है, (सपाइम पाणा य सपयंति) तथा सम्पातिम (उडने वाले पतगे आदि) जीव आग मे पडकर मर जाते है, (ससेयया) पसीने से पैदा होने वाले प्राणी, (कट्ठसमस्सिया) तथा लकडी के आश्रित रहने वाले जीव होते है । (अगणि समारभते एते दहे) जो अग्नि का समारम्भ करता है, वह व्यक्ति इन जीवो को जला देता है ।

भावार्थ

जो जीव अग्नि को प्रज्वलित करता है, वह पृथ्वीकायिक जीवो को, जलकायिक जीवो को, पतगे आदि उडने वाले जीवो को तथा ईंधन के आश्रित रहने वाले जीवो को भस्म कर देता है ।

व्याख्या

अग्नि का आरम्भ अनेक जीवो के वध का कारण

इस गाथा मे उन लोगो का सामाधान किया गया है, जो लोग यह मानते हैं कि पृथ्वी मे जीव नही है, जल मे जीव नही हैं, तथा कडे, लकडी आदि मे कौन से जीव हैं, जिनका नाश हो जाता है ? आग जब जलती है तो किसी न किसी जमीन पर ही जलाई जाती है, किन्तु जब आग की अत्यन्त तेज गर्म आँच उस मिट्टी को लगती है तो मिट्टी के जो जीव है, जिनका शरीर ही मिट्टी का है, वे तो नष्ट हो ही जाते हैं, मिट्टी के आश्रित रहने एव रेंगने वाले कई बारीक त्रस जीव भी तेज आँच से मर जाते है । साथ ही मिट्टी मे पानी भी मिला रहता है, जब आग जलती है तो पानी के जीव भी समाप्त हो जाते हैं, अथवा जब आग जिस पानी, मिट्टी आदि से बुझाई जाती है, तब उनके जीव भी मर जाते है । इसी तरह जब आग जलती है तो बहुत-सी दफा कई पतगे आदि उडने वाले जन्तु या कीड तथा पसीने से पैदा होने वाले जूं, लीख, खटमल आदि भी उसमे गिर पडते है । इसके अतिरिक्त कडे, लकडी आदि आग जलाने के साधनो मे कई जीव बैठे रहते है, कई बार साप, बिच्छू, कीडे, मकोडे, घुण, दीमक आदि वहाँ आकर बसेरा ले लेते है । अग्नि जलाने वाला अविवेकी व्यक्ति इन सब जीवो को फूंक देता है । अत मानना होगा कि अग्निकाय का समारम्भ अनेक जीवो के विनाश का कारण है ।

मूल पाठ

हरियाणि भूयाणि विलबगाणि, आहार देहा य पुढो सियाई ।
जे छिंदती आयसुह पडुच्च, पागब्भि पाणे बहुण तिवाई ॥८॥

अप्पवेयणतराए चेव । कालोदाई ! तत्थ ण जे से पुरिसे अगणिकाय उज्जालेइ, से ण पुरिसे बहुतराग पुढविकाय समारभइ, बहुतराग आउक्काय समारभइ, अप्पतराग तेउकाय समारभइ, बहुतराग वाउकाय समारभइ, बहुतराग वणस्सइकाय समारभइ, बहुतराग तसकाय समारभइ । तत्थ ण जे से पुरिसे अगणिकाय निव्वावेइ से ण पुरिसे अप्पतराग पुढविकाय समारभइ, अप्पतराग आउक्काय समारभइ, बहुतराग तेउकाय समारभइ, अप्पतराग वाउकाय समारभइ, अप्पतराग वणस्सइकाय समारभइ, अप्पतराग तसकाय समारभइ ।"

अर्थात्—"कालोदायी पूछते हैं—भगवन् ! एक सरीखे भाण्डपात्रादि साधन वाले दो पुरुप अग्निकाय का समारम्भ करते है, दोनो मे मे एक अग्निकाय को प्रज्वलित करता है, और दूसरा उसे बुझाता है, तो भते ! इन दोनो मे से कौन-सा व्यक्ति महाकर्मयुक्त है और कौन-सा अल्पकर्मयुक्त है ? जो आग जलाता है, वह या जो आग बुझाता है, वह ?" इसके उत्तर मे भगवान् फरमाते है—"कालोदायी ! इन दोनो मे से जो व्यक्ति अग्नि प्रज्वलित करता है, वह महाकर्मयुक्त है, यावत् महावेदना युक्त है, तथा जो व्यक्ति आग बुझाता है, वह अल्पकर्मयुक्त है । कारण यह है कि जो व्यक्ति आग जलाता है, वह पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, वनस्पति काय तथा त्रसकाय का बहुत आरम्भ करता है, सिर्फ अग्निकाय का अल्प आरम्भ करता है, किन्तु जो व्यक्ति आग बुझाता है, वह पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, तथा त्रसकाय का अल्प आरम्भ करता है, लेकिन अग्निकाय का बहुत आरम्भ करता हे । कालोदायी ! इसी दृष्टि से आग जलाने वाले को महाकर्मयुक्त और जो आग बुझाता है, उसे अल्पकर्मयुक्त कहा है ।" और भी कहा है – 'भूयाण एसमाघाओ हव्ववाहो ण ससओ' निसन्देह अग्नि का आरम्भ जीवो का नाशक है । इस दृष्टि से सद्-असद् विवेकी विद्वान साधक अपने धर्म (साधुधर्म या गृहस्थधर्म) का विचार करके अग्निकाय का समारम्भ न करे । यहाँ 'पण्डित' शब्द का अर्थ पाप से निवृत्त है । अर्थात् अग्निकाय के समारम्भ करने से अन्य प्राणियो का वध होता है, उससे जो निवृत्त है, वस्तुत वही पण्डित है ।

अग्निकाय के समारम्भ से अन्य प्राणिवध कैसे हो सकता है । इसे अगली गाथा मे बताते है—

मूल पाठ

पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा, पाणा य सपाइम सपयति ।
ससेयसा कट्ठसमस्सिया य, एते दहे अगणि समारभते ॥७॥

के आश्रित मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्ते, फूल, फल आदि विभिन्न अवयवो के रूप मे पृथक् पृथक् स्थान मे रहते हैं। अर्थात् मूल से लेकर पत्ते, फूल आदि तक मे एक ही जीव नही, अपितु अनेक जीव है। वनस्पतिकाय मे रहने वाले इन जीवो के सख्येय, असख्येय और अनन्त प्रकार है। अत जो व्यक्ति (अग्निकाय-समारम्भक तापस तथा स्वयपाकी शाक्य आदि साधक तथा अन्यमतीय जो व्यक्ति वनस्पतिकाय के आरम्भ से निवृत्त नहीं है, वह) इन जीवो को अपने सुख-साधनो के लिए, अपने पेट भरने या आश्रय लेने अथवा अपने शरीर के पोपणवर्धन के लिए, या देह मे हुए घाव को भरने के हेतु जो व्यक्ति काटता है, कुचलता है, खाता है, मसलता है, तोडता है, या चूर्ण बनाता है, पकाता है, छप्पर आदि छाता है, वह धृष्टता करके इनका तथा इनके आश्रित अनेक जीवो का धृष्टतापूर्वक विनाश करता है। इन जीवो के विनाश से न तो धर्म होता है, और न ही आत्मा को सुख मिलता है, बल्कि जीवहिंसा से अनेक घोर पापकर्मो का वन्धन करके तत्फलस्वरूप नरकादि गति का मेहमान बनता है, जहाँ दुख ही दुख मिलता है।

मूल पाठ

जाइ च वुड्ढि च विणासयते, बीयाइ अस्संजय आयदडे ।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसइ आयसाए ॥९॥

सस्कृत छाया

जाति च वृद्धि च विनाशयन् बीजान्यसयत आत्मदण्ड ।
अथाहु स लोकेऽनार्यधर्मा, बीजानि यो हिनस्त्यात्मसाताय ॥९॥

अन्वयार्थ

(जे असजय) जो असयमी पुरुष (आयसाए) अपने सुख के लिए (बीयाइ हिंसइ) बीजो का नाश करता है, वह (जाइ च वुड्ढि च विणासयते) अकुर की उत्पत्ति और वृद्धि का विनाश करता है। (आयदड) वास्तव मे वह हिंसा के उक्त पाप के द्वारा अपनी ही आत्मा को दण्डित करता है (लोए से अणज्जधम्मे आहु) तीर्थकरो ने उसे इस लोक मे अनार्य कहा है, अथवा ससार मे लोग उसे अनार्य (अनाडी) कहते हैं।

भावार्थ

जो असयमी पुरुष अपने सुख के लिए बीज का नाश करता है, वह उस बीज से होने वाले अकुर, शाखा, पत्ते, फूल, फल आदि की उत्पत्ति और वृद्धि का नाश करता है। वास्तव मे देखा जाय तो वह उस हिंसा के पाप के द्वारा अपनी आत्मा को ही दण्डित करता है। ससार मे तीर्थंकर अथवा प्रत्यक्षदर्शी लोग उसे अनार्यधर्मी कहते है।

संस्कृत छाया

हरितानि भूतानि विलम्बकानि, आहारदेहाय पृथक् श्रितानि ।
यच्छिनत्त्यात्मसुख प्रतीत्य, प्रागल्भ्यात्प्राणाना बहूनामतिपाती ॥८॥

अन्वयार्थ

(हरियाणि) हरी दूब और अकुर आदि भी (भूयाणि) जीव है, (विलबगाणि) वे भी जीव का आकार धारण करते है, (पुढो सियाई) वे मूल, स्कन्ध, शाखा और पत्र आदि के रूप मे पृथक्-पृथक् रहते है। (जे आयसुह पडुच्च) जो व्यक्ति अपने सुख की अपेक्षा से (आहार देहा य) तथा अपने आहार या आधारभूत झौपडी मकान आदि अपने शरीर की पुष्टि के लिए (छिंदती) इनका छेदन करता है, (पागब्भि पाणे बहुण तिवाई) वह धृष्ट पुरुप बहुत-से जीवो का विनाश करता हे।

भावार्थ

हरी दूब, तृण, अकुर आदि भी वनस्पतिकायिक जीव है, वे भी जीव की विभिन्न अवस्थाओ को धारण करते हैं और वृक्ष के आश्रित मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्ते, फल, फूल आदि अवयवो के रूप मे अलग-अलग रहते है। इन जीवो का अपने सुख के लिए तथा अपने आहार या आधार (आवास) एव शरीर-पोषण के लिए जो छेदन-भेदन करता है, वह धृष्टपुरुप अनेक प्राणियो का घात करता है।

व्याख्या

वनस्पति के विभिन्न अगो का छेदन : उनका विनाश है

इस गाथा मे वनस्पतिकाय के विभिन्न अवयवो मे जीव का अस्तित्व सिद्ध करके उनके छेदन भेदन का निषेध सूचित किया है। शास्त्रकार का आशय यह है कि हरी दूब, हरी घास, या हरे अकुर आदि जितनी भी हरित वनस्पति है, सब म जीव है, क्योंकि आहार आदि से इनकी वृद्धि देखी जाती है, तथा वे जीव के आकार को धारण करते हैं, इनमे अन्तश्चेतना, सुषुप्त चेतना होती है। जैसे मनुष्य कलल (वीर्य), अर्बुद (शुक्राणु या डिम्ब), मासपेशी, गर्भ, प्रसव, बाल, कुमार, युवा, मध्यम (प्रौढ) और वृद्ध आदि शारीरिक अवस्थाएँ धारण करता है, इसी प्रकार हरे शाली धान्य आदि जात (उत्पन्न), अभिनव (नवीन), सजात रस (जिसमे रस पैदा हो गया है) युवा, परिपक्व (पका हुआ) और सूखा हुआ तथा मृत (जीवच्युत) आदि अवस्थाओ को धारण करते है। वृक्ष आदि भी जब वे पैदा होते हैं तो अब ये अकुरित हुए हैं, अब इनके कोपले लगी हैं, अब इनके पत्ते, फूल, स्कन्ध, शाखा, फल आदि लगे है, इसके पश्चात् जब वे स्कन्ध शाखा-प्रशाखा आदि के रूप मे बढने लगते हैं, तब युवा या पोत (पौधे) कहलाने लगते हैं। इसी प्रकार उनकी अन्य अवस्थाएँ भी होती है, जिन्हे सभी देखते है। तथा वे जीव वृक्ष

के आश्रित मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्ते, फूल, फल आदि विभिन्न अवयवो के रूप मे पृथक् पृथक् स्थान मे रहते हैं। अर्थात् मूल से लेकर पत्ते, फूल आदि तक मे एक ही जीव नही, अपितु अनेक जीव हैं। वनस्पतिकाय मे रहने वाले इन जीवो के सख्येय, असख्येय और अनन्त प्रकार है। अत जो व्यक्ति (अग्निकाय-समारम्भक तापस तथा स्वयपाकी शाक्य आदि साधक तथा अन्यमतीय जो व्यक्ति वनस्पतिकाय के आरम्भ से निवृत्त नहीं है, वह) इन जीवो को अपने सुख-साधनो के लिए, अपने पेट भरने या आश्रय लेने अथवा अपने शरीर के पोषणवर्धन के लिए, या देह पे हुए घाव को भरने के हेतु जो व्यक्ति काटता है, कुचलता है, खाता है, मसलता है, तोडता है, या चूर्ण बनाता है, पकाता है, छप्पर आदि छाता है, वह धृष्टता करके इनका तथा इनके आश्रित अनेक जीवो का धृष्टतापूर्वक विनाश करता है। इन जीवो के विनाश से न तो धर्म होता है, और न ही आत्मा को सुख मिलता है, बल्कि जीवहिंसा से अनेक घोर पापकर्मो का बन्धन करके तत्फलस्वरूप नरकादि गति का मेहमान बनता है, जहाँ दुख ही दुख मिलता है।

मूल पाठ

जाइ च वुड्ढि च विणासयते, बीयाइ अस्संजय आयदडे ।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसइ आयसाए ॥९॥

सस्कृत छाया

जातिं च वृद्धिं च विनाशयन् बीजान्यसयत आत्मदण्ड ।
अथाहु स लोकेऽनार्यधर्मा, बीजानि यो हिनस्त्यात्मसाताय ॥९॥

अन्वयार्थ

(जे असजय) जो असयमी पुरुष (आयसाए) अपने सुख के लिए (बीयाइ हिसइ) बीजो का नाश करता है, वह (जाइ च वुड्ढि च विणासयते) अकुर की उत्पत्ति और वृद्धि का विनाश करता है। (आयदडे) वास्तव मे वह हिंसा के उक्त पाप के द्वारा अपनी ही आत्मा को दण्डित करता है (लोए से अणज्जधम्मे आहु) तीर्थंकरो ने उसे इस लोक मे अनार्य कहा है, अथवा ससार मे लोग उसे अनार्य (अनाडी) कहते है।

भावार्थ

जो असयमी पुरुष अपने सुख के लिए बीज का नाश करता है, वह उस बीज से होने वाले अकुर, शाखा, पत्ते, फूल, फल आदि की उत्पत्ति और वृद्धि का नाश करता है। वास्तव मे देखा जाय तो वह उस हिंसा के पाप के द्वारा अपनी आत्मा को ही दण्डित करता है। ससार मे तीर्थंकर अथवा प्रत्यक्षदर्शी लोग उसे अनार्यधर्मी कहते है।

व्याख्या

बीजो का नाश उनकी संतान वृद्धि का नाश, आत्मनाश

इस गाथा मे बताया गया है कि हरी (सचित्त) वनस्पति की उत्पत्ति के आदि कारण—बीज का जो व्यक्ति नाश करता है, वह एक तरह से अंकुर से लेकर प्रशाखा, फूल, फल आदि तक के रूप मे उससे होने वाली वृद्धि का विनाश करता है। वास्तव मे बीज का विनाश संतानवृद्धि का विनाश है। ऐसा करने वाला चाहे प्रव्रज्याधारी हो, या सन्यास वेशधारी हो, तापस हो, वास्तव मे वह गृहस्थ-सा ही है। अपने इस अपकृत्य के द्वारा वह अपनी आत्मा को ही पापकर्म से बोझिल बनाकर नाना योनियो मे भ्रमण का दण्ड देता है। दूसरो का नाश वस्तुत अपना ही नाश है। जो पुरुष धर्म के नाम से, देवी-देवो की पूजा आदि के नाम से अथवा अपने सुख के लिए बीजो का नाश करता है, वह अपनी आत्मा के विनाश और दुर्गतिपतन को न्यौता देता है। उसे लोग पाखंडी, अनार्य, क्रूरकर्मा, धर्मध्वजी, ढोंगी आदि तुच्छ नाम से पुकारते है, अथवा तीर्थंकर आदि सर्वज्ञो ने ऐसे व्यक्ति को अनार्यधर्मा कहा है। यहाँ बीज का नाश तो उपलक्षण है, उससे समग्र वनस्पतिकाय का नाश ही आत्मविनाशक सूचित किया है।

मूल पाठ

गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा, णरा परे पंचसिहा कुमारा ।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य, चयंति ते आउक्खए पलीणा ॥१०॥

संस्कृत छाया

गर्भे म्रियन्ते ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तश्च, नराः परे पंचशिखा कुमारा ।
युवानो मध्यमा स्थविराश्च, त्यजन्ति ते आयु क्षये प्रलीना ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**गब्भाइ मिज्जंति**) हरित वनस्पति का छेदन-भेदन करने वाले जीव प्राय गर्भ मे ही मर जाते हैं, (**बुयाबुयाणा**) तथा कई तो स्पष्ट बोलने की अवस्था मे और कई अस्पष्ट बोलने तक की उम्र मे ही मर जाते हैं। (**परे णरा**) दूसरे पुरुष (**पंचसिहा कुमारा**) पंचशिखा वाले कुमार अवस्था मे ही मौत के मेहमान हो जाते है (**जुवाणगा मज्झिमथेरगा य**) कई जवान होकर तो कई प्रौढ उम्र के होकर अथवा बूढे होकर चल बसते है। (**आउक्खए पलीणा ते चयंति**) इस प्रकार बीज आदि का नाश करने वाले प्राणी इन अवस्थाओ मे से किसी भी अवस्था मे आयु क्षीण होने पर अपने शरीर को छोड देते हैं।

भावार्थ

देवी-देवो की अर्चा या धर्म के नाम से अथवा सुखवृद्धि आदि किसी

भी कारण से हरी वनस्पति आदि का छेदन करने वाले कई व्यक्ति तो गर्भ मे ही समाप्त हो जाते है, कई स्पष्ट बोलने की उम्र तक मर जाते है, जबकि कई बोलने की उम्र आने से पहले ही मौत के मेहमान बन जाते है। तथा कोई कुमार-अवस्था मे तो कोई जवान होकर, कोई प्रौढ होकर एव कोई बुढापा आने पर चल बसते है। आशय यह है कि वे इनमे से किसी भी अवस्था मे आयुक्षय होते ही शरीर छोड देते हैं। इनकी आयु कोई नियत या दीर्घ नही होती।

व्याख्या

वनस्पतिनाशक अल्पायु या अनियतायु होते है।

इस गाथा मे सजीव वनस्पति-छेदन का फल बताते हुए कहते हैं—जो जीव वनस्पतिकाय का छेदन-भेदन करते है, वे या तो गर्भावस्था तक आते-आते ही खत्म हो जाते है, या कोई बच गया तो बोलने तक की उम्र मे ही चल देता है, अथवा स्पष्ट बोलने तक की उम्र आते-आते मौत के मुँह मे चला जाता है। कोई पाँच शिखा वाला कुमार होकर मर जाता है, तो कोई जवान, कोई प्रौढ, तो कोई बूढा होकर रोगग्रस्त अवस्था मे चल बसता है। कही-कही 'थेरगा य' के बदले 'पोरुसा य' पाठ है। वहाँ अर्थ होता है—पुरुष की अन्तिम अवस्था पाकर यानी अत्यन्त वृद्ध, अशक्त और जराजीर्ण होकर मरता है। आशय यह है कि सजीव वनस्पति के विनाशको की आयु न तो निश्चित है और न ही लम्बी है। या तो वे अल्पायु होते है, असमय मे ही चल बसते हैं, या उनकी आयु अनिश्चित होती है, किसी भी समय मौत का वारण्ट आ सकता है। ऐसे लोगो को शरीर का अत्यधिक मोह होता है, जिससे मृत्यु जबर्दस्ती छुडा देती है। वह हाथ मलता रह जाता है, कुछ भी धर्माचरण नही कर पाता। कितनी बडी हानि है यह, वनस्पतिकाय के विनाशको की!

मूल पाठ

संबुज्झहा जंतवो ! माणुसत्त दट्ठु भय बालिसेण अलभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥११॥

संस्कृत छाया

सम्बुध्यध्व जन्तवो ! मनुष्यत्व, दृष्ट्वा भय बालिशेनालाभ ।
एकान्तदु खो ज्वरित इव लोक, स्वकर्मणा विपर्यासमुपैति ॥११॥

अन्वयार्थ

(जतवो) हे प्राणियो ! (माणुसत्त) मनुष्यजन्म की दुर्लभता को (सबुज्झहा) समझो (भय दट्ठु) नरक एव तिर्यञ्च आदि योनियो के भय (खतरे) को देखकर तथा (बालिसेण अलभो) विवेकमूढ पुरुष को उत्तम विवेक का अलाभ (प्राप्ति का

व्याख्या

बीजो का नाश उनकी सतान वृद्धि का नाश, आत्मनाश

इस गाथा मे बताया गया है कि हरी (सचित्त) वनस्पति की उत्पत्ति के आदि कारण—बीज का जो व्यक्ति नाश करता है, वह एक तरह से अकुर से लेकर प्रशाखा, फूल, फल आदि तक के रूप मे उससे होने वाली वृद्धि का विनाश करता है। वास्तव मे बीज का विनाश सतानवृद्धि का विनाश है। ऐसा करने वाला चाहे प्रव्रज्याधारी हो, या सन्यास वेशधारी हो, तापस हो, वास्तव मे वह गृहस्थ-सा ही है। अपने इस अपकृत्य के द्वारा वह अपनी आत्मा को ही पापकर्म से बोझिल बनाकर नाना योनियो मे भ्रमण का दण्ड देता है। दूसरो का नाश वस्तुत अपना ही नाश है। जो पुरुष धर्म के नाम से, देवी-देवो की पूजा आदि के नाम से अथवा अपने सुख के लिए बीजो का नाश करता है, वह अपनी आत्मा के विनाश और दुर्गतिपतन को न्यौता देता है। उसे लोग पाखडी, अनार्य, क्रूरकर्मा, धर्मध्वजी, ढोगी आदि तुच्छ नाम से पुकारते हैं, अथवा तीर्थंकर आदि सर्वज्ञो ने ऐसे व्यक्ति को अनार्यधर्मा कहा है। यहाँ बीज का नाश तो उपलक्षण है, उससे समग्र वनस्पतिकाय का नाश ही आत्मविनाशक सूचित किया है।

मूल पाठ

गब्भाइ मिज्जति बुयाबुयाणा, णरा परे पचसिहा कुमारा ।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य, चयति ते आउक्खए पलीणा ॥१०॥

सस्कृत छाया

गर्भे म्रियन्ते ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तश्च, नरा· परे पचशिखा कुमारा ।
युवानो मध्यमा स्थविराश्च, त्यजन्ति ते आयु क्षये प्रलीना ॥१०॥

अन्वयार्थ

(गब्भाइ मिज्जति) हरित वनस्पति का छेदन-भेदन करने वाले जीव प्राय गर्भ मे ही मर जाते हैं, **(बुयाबुयाणा)** तथा कई तो स्पष्ट बोलने की अवस्था मे और कई अस्पष्ट बोलने तक की उम्र मे ही मर जाते है। **(परे णरा)** दूसरे पुरुष **(पचसिहा कुमारा)** पचशिखा वाले कुमार अवस्था मे ही मौत के मेहमान हो जाते हैं **(जुवाणगा मज्झिमथेरगा य)** कई जवान होकर तो कई प्रौढ उम्र के होकर अथवा बूढे होकर चल बसते है। **(आउक्खए पलीणा ते चयति)** इस प्रकार बीज आदि का नाश करने वाले प्राणी इन अवस्थाओ मे से किसी भी अवस्था मे आयु क्षीण होने पर अपने शरीर को छोड देते हैं।

भावार्थ

देवी-देवो की अर्चा या धर्म के नाम से अथवा सुखवृद्धि आदि किसी

भी कारण से हरी वनस्पति आदि का छेदन करने वाले कई व्यक्ति तो गर्भ मे ही समाप्त हो जाते हैं, कई स्पष्ट बोलने की उम्र तक मर जाते हैं, जबकि कई बोलने की उम्र आने से पहले ही मौत के मेहमान बन जाते है। तथा कोई कुमार-अवस्था मे तो कोई जवान होकर, कोई प्रौढ होकर एव कोई बुढापा आने पर चल बसते है। आशय यह है कि वे इनमे से किसी भी अवस्था मे आयुक्षय होते ही शरीर छोड देते है। इनकी आयु कोई नियत या दीर्घ नही होती।

व्याख्या

वनस्पतिनाशक अल्पायु या अनियतायु होते है।

इस गाथा मे सजीव वनस्पति-छेदन का फल बताते हुए कहते है—जो जीव वनस्पतिकाय का छेदन-भेदन करते है, वे या तो गर्भावस्था तक आते-आते ही खत्म हो जाते हैं, या कोई बच गया तो बोलने तक की उम्र मे ही चल देता है, अथवा स्पष्ट बोलने तक की उम्र आते-आते मौत के मुँह मे चला जाता ह। कोई पाँच शिखा वाला कुमार होकर मर जाता है, तो कोई जवान, कोई प्रौढ, तो कोई बूढा होकर रोगग्रस्त अवस्था मे चल बसता है। कही-कही 'थेरगा य' के बदले 'पोत्ता य' पाठ है। वहाँ अर्थ होता है—पुरुष की अन्तिम अवस्था पाकर यानी अत्यन्त वृद्ध, अशक्त और जराजीर्ण होकर मरता है। आशय यह है कि सजीव वनस्पति के विनाशको की आयु न तो निश्चित है और न ही लम्बी है। या तो वे अल्पायु होते है, असमय मे ही चल बसते हैं, या उनकी आयु अनिश्चित होती है, किसी भी समय मौत का वारण्ट आ सकता है। ऐसे लोगो को शरीर का अत्यधिक मोह होता है, जिससे मृत्यु जबर्दस्ती छुडा देती है। वह हाथ मलता रह जाता है, कुछ भी धर्माचरण नही कर पाता। कितनी बडी हानि है यह, वनस्पतिकाय के विनाशको की!

मूल पाठ

संबुज्झहा जंतवो! माणुसत्त दट्ठु भय बालिसेण अलभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥११॥

सस्कृत छाया

सम्बुध्यध्व जन्तवो! मनुष्यत्व, दृष्ट्वा भय बालिशेनालाभ।
एकान्तदु खो ज्वरित इव लोक, स्वकर्मणा विपर्यासमुपैति ॥११॥

अन्वयार्थ

(जतवो) हे प्राणियो! (माणुसत्त) मनुष्यजन्म की दुर्लभता को (सबुज्झहा) समझो (भय दट्ठु) नरक एव तिर्यञ्च आदि योनियो के भय (खतरे) को देखकर तथा (बालिसेण अलभो) विवेकमूढ पुरुष को उत्तम विवेक का अलाभ (प्राप्ति का

अभाव) जानकर, बोध प्राप्त करो। (लोए) यह लोक (जरिए व) ज्वर से पीडित व्यक्ति की तरह (एगतदुक्खे) एकान्त (बिलकुल) दु खी है। (सकम्मुणाविप्परिया-सुवेइ) अपने-अपने कर्म से सुख चाहता हुआ भी जीव दु ख प्राप्त करता है।

भावार्थ

हे जीवो ! मनुष्यभव की दुर्लभता को समझो, नरक और तिर्यच गति मे होने वाले भयकर खतरो को देखो, विवेकहीन व्यक्ति बोधिलाभ नही प्राप्त कर सकता, इसलिए समय रहते बोध प्राप्त करो। यह ससार तो बुखार से पीडित मनुष्य की तरह सर्वथा दु खी है। वह सुख के लिए नाना पाप करता है, पर फल उलटा ही पाता है—दु खमय, सकटपूर्ण ।

व्याख्या

एकान्तदु खी ससार मे बोधिलाभ ही महत्त्वपूर्ण

इस गाथा मे शास्त्रकार ने बोधिलाभ पर जोर दिया है। प्राणियो को सम्बोधित करते हुए शास्त्रकार ललकार कर कहते है —मनुष्यो ! बोध प्राप्त करो। तुम जिन कुशील, पाखण्डो और आरम्भपरायण लोगो के चक्कर मे पडे हो, वे लोग तुम्हारी रक्षा नही कर सकते । तुम अपने मनुष्यजन्म पर विचार करो कि यह कैसे और कितनी कितनी घाटियाँ पार करने के बाद मिला है ? मनुष्यजन्म प्राप्त करके भी फिर अज्ञान और मोह मे फँसे रहे, अपने जन्म को सार्थक करने का विचार नही किया तो 'काता पीजा सब कपास' हो जाएगा । क्या तुम्हे पता नही है मनुष्यजन्म, उत्तम क्षेत्र, उत्तम जाति, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, धर्मश्रवण, उच्च विचार ग्रहण, श्रद्धा और सयम- ये इस ससार मे अतीव दुर्लभ हैं ।[1]

ऐसे दुर्लभ मनुष्यजन्म तथा अन्य उत्तम साधनो को पाकर भी जो मूढ धर्माचरण नही करता, उसे फिर बोध प्राप्त होना मुश्किल है। और फिर यह भी तो आँखे खोलकर देखो कि यह ससार ज्वरपीडित मनुष्य की तरह त्रिविध दु खो की भट्टी मे सर्वथा जल रहा है, कही भी तो सुख नही । जन्म, जरा, रोग, मृत्यु सब दु खरूप है, सारा ससार दु खमय है, जिसमे प्राणी क्लेश पा रहे हैं। इसलिए कि ससारी अविवेकी प्राणी सुख के लिए नाना प्रकार के आरम्भ करते हैं, परन्तु उनसे सुख के बजाय दु ख ही पल्ले पडता है। सचमुच, इस लोक मे अनार्यकर्म करनेवाला पुरुष अपने ही दुष्कर्मो से दु ख पाता है। वह सुख के लिए प्राणिघात करके दु ख ही पाता है, मोक्ष के लिए जीवो का नाश करके ससार भ्रमण करता है।[2]

---

१ माणुस्स-खेत्त-जई-कुल-रूवारोग्गमाउय बुद्धी ।
सवणोग्गहसद्धा सजमो य लोगम्मि दुल्लहाइ ॥

२ सुखार्थी प्राण्युपमर्द कुर्वन् दु खमाप्नोति, यदि वा मोक्षार्थी ससार पर्यटतीति विपर्य्यास ।

मूल पाठ

इहेग मूढा पवयंति मोक्खं, आहारसपज्जणवज्जणेणं ।
एगे य सीओदगसेवणेणं, हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥१२॥

संस्कृत छाया

इहैके मूढा प्रवदन्ति मोक्षं आहारसम्पज्जनवर्जनेन ।
एके च शीतोदकसेवनेन, हुतेनैके प्रवदन्ति मोक्षम् ॥१२॥

अन्वयार्थ

(इह) इस जगत् मे अथवा इस मोक्ष के सम्बन्ध मे (एगे) कई (मूढा) मूढ लोग (आहार सपज्जणवज्जणेण मोक्खं पवयंति) आहार के रस का पोषक नमक छोड देने से मोक्ष बताते है, (एगे य सीओदगसेवणेण) कई लोग शीतल (सचित्त) जल के सेवन से मोक्ष मानते है। और (एगे हुएण मोक्खं पवयंति) कई लोग तो अग्नि मे होम करने से मोक्ष बतलाते है।

भावार्थ

इस ससार मे कई मूढ लोग आहार के रस का पोषक नमक छोड देने से मोक्ष मानते हैं, कई ठडे (कच्चे) पानी के सेवन से मोक्ष बताते है एव कई लोग आग मे घी का होम करने से मोक्ष की प्राप्ति बताते है।

व्याख्या

ये सस्ते मोक्ष के दावेदार !

इस गाथा मे मोक्ष का सस्ता नुस्खा बताने वाले तीन मोक्षवादियो के मत का निरूपण किया गया है। वे इस प्रकार है—(१) नमक छोड देने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है, ठडे पानी के सेवन से मोक्ष मिल जाता है, और (३) प्रतिदिन अग्नि मे घृत आदि द्रव्यो का होम करने से मोक्ष प्राप्ति होती है।

तीनो सस्ते मोक्षवादियो का मत क्रमश यो है—'जित सर्वरस जिते' रस पर विजय पाने से सब पर विजय पा ली। नमक सब रसो का राजा है। नमक ऐसा रस है, जिससे आहार के रस का पोषण होता है। इसलिए आहार के साथ पाँच प्रकार के रसो (लवणो) को छोड देने से मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। पाँच रस ये हैं—'सैन्धव, सौवर्चल, बिड, रौम, सामुद्र'। नमक के त्याग से रसमात्र का त्याग हो जाता है, और उसके त्याग से मोक्ष निश्चित है। किसी प्रति मे ऐसा पाठ मिलता है—'आहारओ पचकवज्जणेण' उसका अर्थ है—आहार मे पाँच वस्तुओ के त्याग से मोक्ष मिलता है। वे ५ वस्तुएँ इस प्रकार हैं—'लहसुन, प्याज, ऊँटनी का दूध, गोमास और मद्य।' कई वारिभद्रक भागवतविशेष सचित्त जल के सेवन से मोक्ष मानते है। वे कहते है, जैसे—वस्त्र, शरीर आदि के बाह्य मल की शुद्धि करने

की शक्ति जल मे देखी जाती है, वैसे आन्तरिक मल को दूर करने मे भी जल समर्थ है। इसलिए शीतलजलसेवन मोक्ष का कारण है। कई तापस या अग्निहोत्री ब्राह्मण आदि होम करने से मोक्ष बताते हैं। वे कहते हैं—समिधा, घी आदि हव्यसामग्री से अग्नि को तृप्त करना चाहिए, क्योकि यह जैसे सोने के मैल को जला देती है, वैसे ही तृप्त होने पर आत्मा के आन्तरिक मैल-पाप को भी जला देगी। पापदहन ही मोक्ष है।

आगे की गाथाओ मे शास्त्रकार क्रमश इन मतो का निराकरण करते है—

मूल पाठ

पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासणेण ।
ते मज्जमस लसुण च भोच्चा, अनत्थ वास परिकप्पयति ॥१३॥
उदगेण जे सिद्धिमुदाहरति, सायं च पाय उदग फुसंता ।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धि, सिज्झिसु पाणा वहवे दगसि ॥१४॥
मच्छा य कुम्मा य सरीसिवा य मग्गू य उट्ठा दगरक्खसा य ।
अट्ठाणमेय कुसला वयति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरति ॥१५॥
उदय जइ कम्ममल हरेज्जा, एव सुह इच्छामित्तमेव ।
अध व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेव विणिहति मदा ॥१६॥
पावाइ कम्माइ पकुव्वतो हि, सीओदग तु जइ त हरिज्जा ।
सिज्झिसु एगे दगसत्तघाई मुस वयते जलसिद्धिमाहु ॥१७॥
हुतेण जे सिद्धिमुदाहरति, साय च पाय अगणि फुसता ।
एव सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणि फुसताण कुकम्मिणपि ॥१८॥
अपरिक्ख दिट्ठ ण हु सिद्धि, एहिति ते घायमबुज्झमाणा ।
भूएहि जाण पडिलेह सात, विज्ज गहाय तसथावरेहि ॥१९॥

संस्कृत छाया

प्रात स्नानादिषु नास्ति मोक्ष, क्षारस्य लवणस्यानशनेन ।
ते मद्यमास लशुनञ्च भुक्त्वा, अन्यत्र वास परिकल्पयन्ति ॥१३॥
उदकेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति, साय च प्रातरुदक स्पृशन्त ।
उदकस्य स्पर्शेन स्याच्च सिद्धि, सिध्येयु प्राणा वहव उदके ॥१४॥
मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च, मद्गवश्चोष्ट्रा उदकराक्षसाश्च ।
अस्थानमेतत्कुशला वदन्ति, उदकेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति ॥१५॥

उदक यदि कर्ममल हरेदेव शुभमिच्छामात्रमेव ।
अन्ध च नेतारमनुसृत्य प्राणिनश्चैव विनिघ्नन्ति मन्दा ॥१६॥
पापानि कर्माणि प्रकुर्वतो हि, शीतोदक तु यदि तद्धरेत ।
सिद्ध्येयुरेके दकसत्त्वघातिनो मृषा वदन्तो जलसिद्धिमाहु ॥१७॥
हुतेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति, साय च प्रातरग्नि स्पृशन्त ।
एव स्यात् सिद्धिर्भवेत्तस्मादग्नि स्पृशता कुकर्मिणामपि ॥१८॥
अपरीक्ष्य दृष्ट नैवेव सिद्धिरेष्यन्ति ते घातमबुध्यमाना ।
भूतैर्जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सात, विद्या गृहीत्वा त्रसस्थावरै ॥१९॥

अन्वयार्थ

(**पाओसिणाणादिसु**) प्रात काल के स्नान आदि से (**मोक्खो नत्थि**) मोक्ष नही होता है। (**खारस्स लोणस्स अणासणेण**) खारे (या क्षार तथा) नमक के न खाने से भी मोक्ष नही होता। (**ते**) अन्यतीर्थी मोक्षवादी (**मज्जमस लसुण च भोच्चा**) मद्य, मास और लहसुन खाकर (**अनत्थवास**) मोक्ष से अन्य स्थान ससार मे निवास (**परि-कप्पयति**) करते है ॥१३॥

(**साय च पाय उदग फुसता**) सायकाल और प्रात काल पानी का स्पर्श करते हुए (**जे उदगेण सिद्धिमुदाहरति**) जो लोग जलस्नान से मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं, (वे मिथ्यावादी हैं)। (**उदगस्स फासेण सिद्धीसिया**) जल के बार-बार स्पर्श से यदि मुक्ति मिले तो (**दगसि बहवे पाणा सिज्झिसु**) जल मे रहने वाले बहुत से जल-चारी प्राणी मोक्ष प्राप्त कर लेते ॥१४॥

(**मच्छा य कुम्मा य सरीसिवा य**) मछलियाँ, कछुए और साँप, (**मग्गू य उट्ठा दगरक्खसा य**) कौए के आकार का मदगू नामक जलचर, ऊँट नामक जलचर और जलराक्षस (दरियाई घोडा) नामक जलचर (जल स्पर्श से मुक्ति होती तो, सबसे पहले मुक्ति प्राप्त कर लेते) (**उदगेण जे सिद्धिमुदाहरन्ति**) अत जलस्पर्श से मुक्ति की प्राप्ति बताते है, (**अट्ठाणमेय कुसला वयति**) मोक्षतत्त्व मे पारगत पुरुष इस कथन को अयुक्त कहते है ॥१५॥

(**उदग जइ कम्ममल हरेज्जा**) जल यदि कर्म-मल का हरण—नाश करता है तो (**एव सुह**) इस प्रकार वह शुभ —पुण्य का भी हरण—नाश कर देगा। (**इच्छा-मित्तमेव**) इसलिए जल कर्ममल को हर लेता है, यह कहना इच्छामात्र-कल्पनामात्र है। (**मदा**) मूढ लोग ही (**अध णेयारमणुस्सरित्ता**) अधे नेता के पीछे-पीछे चलकर (**एव च पाणाणि विणिहति**) इस प्रकार—जल स्नान आदि ऊटपटाँग क्रियाएँ करके प्राणियो की हिंसा करते है ॥१६॥

(**पावाइ कम्माइ पकुव्वतो हि**) यदि पापकर्म करने वाले उस पुरुष के (**त**) उस पाप को (**सीओदग तु हरिज्जा**) यदि शीतल सचित्त पानी (या जल स्नान)

मिटा दे तो (एगे दगसत्तघाती सिज्झिसु) ये जो जलजीवो का घात करने वाले मछुए आदि है, वे भी मुक्ति प्राप्त कर लेगे । (मुस वयते जलसिद्धिमाहु) इसलिए जल मे अवगाहन करने से मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो कहते है, वे मिथ्यावादी है ॥१७॥

(साध च पाय अगणि फुसता) सायकाल और प्रात काल अग्नि का स्पर्श करते हुए (जे) जो वादी (हुतेण सिद्धिमुदाहरति) आग मे होम करने से मोक्ष-प्राप्ति बतलाते हैं, (वे भी मिथ्यावादी है) (एव सिद्धि सिया) यदि इस प्रकार—अग्नि के स्पर्श—से मुक्ति मिल जाए, (तम्हा अगणि फुसताण कुकम्मिण पि हवेज्ज) तब तो अग्नि का रात-दिन स्पर्श करने वाले कुकर्मियो-दुष्टाचारियो को भी झटपट मुक्ति मिल जानी चाहिए ॥१८॥

(अपरिक्ख दिट्ठ) जल मे अवगाहन तथा अग्निहोम आदि से सिद्धि (मुक्ति) मानने वाले वादियो ने परीक्षा किये बिना ही इस सिद्धान्त को मान लिया है, (ण हु एव सिद्धि) वस्तुत इस प्रकार सिद्धि (मुक्ति) नही मिला करती । (अबुज्झमाणा ते) वस्तुतत्त्व को न समझने वाले ये लोग (घाय एहिति) घात—ससार को ही प्राप्त करेगे । (विज्ज गहाय, अत ज्ञान को ग्रहण करके (पडिलेह) और चारो ओर से विचार करके (तस थावरेहि भूएहि सात जाण) त्रस और स्थावर प्राणियो मे सुख की इच्छा को समझो ॥१९॥

र्थ

प्रात कालिक स्नान आदि से मोक्ष नही मिलता, क्षार व नमक के न खाने से भी मोक्ष प्राप्त नही होता । वे अन्यतीर्थी लोग तो मद्य, मास और लहसुन का सेवन करके मोक्ष से अन्य—ससार मे निवास करते हैं—भ्रमण करते रहते है ॥१३॥

सायकाल और प्रभातकाल मे सचित्त जल का स्पर्श करते हुए जो लोग जलस्पर्श से मोक्ष की प्राप्ति बतलाते है, वे मिथ्यावादी है । यदि जल के स्पर्श से मोक्ष की प्राप्ति होती हो तो जल मे निवास करने वाले जलचर जन्तुओ को कभी का मोक्ष मिल जाता, किन्तु ऐसा होना सम्भव नही है ॥१४॥

यदि जलस्पर्श से मुक्ति मिलती हो तो मछलियाँ, कछुए, साँप, मद्गु नामक जलजन्तु, ऊँट नामक जलचर एव जलराक्षस (दरियाई घोडा) आदि सबसे पहले मुक्ति प्राप्त कर लेते, मगर ऐसा होता नही है । अत जो जल-स्पर्श से मोक्ष बताते हैं, उनका कथन अयुक्त है, ऐसा मोक्षतत्त्वज्ञ कहते हैं ॥१५॥

अगर पानी कर्ममल—पाप को धो डालता है तो वह उसी प्रकार से पुण्य (शुभकर्म) को भी धो डालेगा । इसीलिए पानी कर्ममल को साफ कर

देता है, यह कथन कोरी कल्पना है। वस्तुत. मूढ लोग ऐसे ही अज्ञानान्ध नेता के पिछलग्गू बनकर जलस्नान आदि क्रियाओ द्वारा प्राणियो की हिंसा करते है ॥१६॥

पापकर्म करने वाले पुरुष के पाप को यदि सचित्त जल दूर कर देता है तो जलजन्तुओ का घात करने वाले मछुए आदि के पापकर्म को जल मिटा देगा और उन्हे भी मुक्ति प्राप्त हो जाएगी, परन्तु ऐसा होता नही है। इसलिए जो ऐसा कहते है कि जलस्पर्श से मुक्ति होती है, वे मिथ्या कहते है ॥१७॥

सन्ध्याकाल और प्रात काल अग्नि का स्पर्श करते हुए जो लोग अग्नि मे होम करने से मोक्ष-प्राप्ति होना बताते है, वे भी मिथ्यावादी है, क्योकि यदि इस प्रकार से मोक्ष मिलती हो तो फिर रात-दिन अग्नि-स्पर्श कुकर्मियो को भी मोक्ष मिल जाना चाहिए ॥१८॥

जलावगाहन से या अग्नि मे होम करने से जो लोग सिद्धिलाभ बताते हैं, उन्होने इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले शास्त्रो की परीक्षा किये बिना ही ऐसे खोटे सिद्धान्त को मान लिया है। वस्तुत इन ऊटपटांग क्रियाओ से मुक्ति नही मिलती है। वस्तुतत्त्व को बिना समझे ही आँख मूँद कर चलने वाले वे लोग इन अन्धक्रियाओ द्वारा प्राणिघात करके मोक्ष-प्राप्ति के बदले ससार-प्राप्ति ही करते हैं। अत सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके तथा सभी पहलुओ से विचार करके त्रस और स्थावर प्राणियो मे भी सुख की सज्ञा (इच्छा) जानो और उनकी किसी भी प्रकार से हिंसा मत करो ॥१९॥

व्याख्या

जलस्पर्श एव अग्निहोत्रादि क्रियाओ से मोक्ष कैसे ?

तेरहवी गाथा से लेकर उन्नीसवी गाथा तक शास्त्रकार ने जलस्पर्श से, लवण-सेवन त्याग से या अग्निहोत्र से मोक्ष मानने वाले मतवादियो की मान्यता को मिथ्या सिद्ध करके उनका निराकरण किया है।

बात यह है कि प्रात काल जलस्नान करने से समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त होने का कोई तुक नही है। बल्कि सचित्त जल के सेवन से जलकायिक जीवो का तथा उनके आश्रित रहे हुए अनेक त्रसजीवो का उपमर्दन होता है। जीवो की हिंसा से मोक्षप्राप्ति कदापि सम्भव नही है। दूसरी बात यह है कि जल मे आत्मा पर लगे हुए आन्तरिक पापकर्म-मल को दूर करने की शक्ति नही है, बल्कि वह बाह्यमल को भी पूरी तरह से साफ नही कर सकता, फिर आन्तरिक मल को धो डालने की शक्ति उसमे हो ही कैसे सकती है? वस्तुत आन्तरिक मल का नाश तो भावो की

मिटा दे तो (एगे दगसत्तघाती सिज्झिसु) ये जो जलजीवो का घात करने वाले मछुए आदि है, वे भी मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। (मुस वयते जलसिद्धिमाहु) इसलिए जल मे अवगाहन करने से मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो कहते है, वे मिथ्यावादी है ॥१७॥

(साय च पाय अगणि फुसता) सायकाल और प्रात काल अग्नि का स्पर्श करते हुए (जे) जो वादी (हुतेण सिद्धिमुदाहरति) आग मे होम करने से मोक्ष-प्राप्ति वतलाते है, (वे भी मिथ्यावादी हैं) (एव सिद्धि सिया) यदि इस प्रकार—अग्नि के स्पर्श—से मुक्ति मिल जाए, (तम्हा अगणि फुसताण कुकम्मिण पि हवेज्ज) तव तो अग्नि का रात-दिन स्पर्श करने वाले कुकर्मियो-दुष्टाचारियो को भी झटपट मुक्ति मिल जानी चाहिए ॥१८॥

(अपरिक्ख दिट्ठ) जल मे अवगाहन तथा अग्निहोम आदि से सिद्धि (मुक्ति) मानने वाले वादियो ने परीक्षा किये विना ही इस सिद्धान्त को मान लिया है, (ण हु एव सिद्धि) वस्तुत इस प्रकार सिद्धि (मुक्ति) नही मिला करती। (अबुज्झमाणा ते) वस्तुतत्त्व को न समझने वाले ये लोग (घाय एहिति) घात—ससार को ही प्राप्त करेंगे। (विज्ज गहाय) अत ज्ञान को ग्रहण करके (पडिलेह) और चारो ओर से विचार करके (तस थावरेहि भूएहि सात जाण) त्रस और स्थावर प्राणियो मे सुख की इच्छा को समझो ॥१९॥

भावार्थ

प्रात कालिक स्नान आदि से मोक्ष नही मिलता, क्षार व नमक के न खाने से भी मोक्ष प्राप्त नही होता। वे अन्यतीर्थी लोग तो मद्य, मास और लहसुन का सेवन करके मोक्ष से अन्य—ससार मे निवास करते है—भ्रमण करते रहते है ॥१३॥

सायकाल और प्रभातकाल मे सचित्त जल का स्पर्श करते हुए जो लोग जलस्पर्श से मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं, वे मिथ्यावादी है। यदि जल के स्पर्श से मोक्ष की प्राप्ति होती हो तो जल मे निवास करने वाले जलचर जन्तुओ को कभी का मोक्ष मिल जाता, किन्तु ऐसा होना सम्भव नही है ॥१४॥

यदि जलस्पर्श से मुक्ति मिलती हो तो मछलियाँ, कछुए, साँप, मद्गु नामक जलजन्तु, ऊँट नामक जलचर एव जलराक्षस (दरियाई घोडा) आदि सबसे पहले मुक्ति प्राप्त कर लेते, मगर ऐसा होता नही है। अत जो जल-स्पर्श से मोक्ष वताते हैं, उनका कथन अयुक्त है, ऐसा मोक्षतत्त्वज्ञ कहते हैं ॥१५॥

अगर पानी कर्ममल—पाप को धो डालता है तो वह उसी प्रकार से पुण्य (शुभकर्म) को भी धो डालेगा। इसीलिए पानी कर्ममल को साफ कर

देता है, यह कथन कोरी कल्पना है। वस्तुत. मूढ लोग ऐसे ही अज्ञानान्ध नेता के पिछलग्गू बनकर जलस्नान आदि क्रियाओ द्वारा प्राणियो की हिंसा करते है ।।१६।।

पापकर्म करने वाले पुरुष के पाप को यदि सचित्त जल दूर कर देता है तो जलजन्तुओ का घात करने वाले मछुए आदि के पापकर्म को जल मिटा देगा और उन्हे भी मुक्ति प्राप्त हो जाएगी, परन्तु ऐसा होता नही है। इसलिए जो ऐसा कहते है कि जलस्पर्श से मुक्ति होती है, वे मिथ्या कहते हैं ।।१७।।

सन्ध्याकाल और प्रात काल अग्नि का स्पर्श करते हुए जो लोग अग्नि मे होम करने से मोक्ष-प्राप्ति होना बताते है, वे भी मिथ्यावादी है, क्योकि यदि इस प्रकार से मोक्ष मिलती हो तो फिर रात-दिन अग्नि-स्पर्श कुकर्मियो को भी मोक्ष मिल जाना चाहिए ।।१८।।

जलावगाहन से या अग्नि मे होम करने से जो लोग सिद्धिलाभ बताते हैं, उन्होने इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले शास्त्रो को परीक्षा किये विना ही ऐसे खोटे सिद्धान्त को मान लिया है। वस्तुत इन ऊटपटांग क्रियाओ से मुक्ति नही मिलती है। वस्तुतत्त्व को विना समझे ही आँख मूँद कर चलने वाले वे लोग इन अन्धक्रियाओ द्वारा प्राणिघात करके मोक्ष-प्राप्ति के बदले ससार-प्राप्ति ही करते हैं। अत सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके तथा सभी पहलुओ से विचार करके त्रस और स्थावर प्राणियो मे भी सुख की सज्ञा (इच्छा) जानो और उनकी किसी भी प्रकार से हिंसा मत करो ।।१६।।

व्याख्या

जलस्पर्श एव अग्निहोत्रादि क्रियाओ से मोक्ष कैसे ?

तेरहवी गाथा से लेकर उन्नीसवी गाथा तक शास्त्रकार ने जलस्पर्श से, लवण-सेवन त्याग से या अग्निहोत्र से मोक्ष मानने वाले मतवादियो की मान्यता को मिथ्या सिद्ध करके उनका निराकरण किया है।

बात यह है कि प्रात काल जलस्नान करने से समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त होने का कोई तुक नही है। वल्कि सचित्त जल के सेवन से जलकायिक जीवो का तथा उनके आश्रित रहे हुए अनेक त्रसजीवो का उपमर्दन होता है। जीवो की हिंसा से मोक्षप्राप्ति कदापि सम्भव नही है। दूसरी बात यह है कि जल मे आत्मा पर लगे हुए आन्तरिक पापकर्म-मल को दूर करने की शक्ति नही है, बल्कि वह बाह्यमल को भी पूरी तरह से साफ नही कर सकता, फिर आन्तरिक मल को धो डालने की शक्ति उसमे हो ही कैसे सकती है ? वस्तुत आन्तरिक मल का नाश तो भावो की

शुद्धि से ही हो सकता है। जो भावो की शुद्धि से रहित है, वह व्यक्ति चाहे जितना पानी मे डुबकी लगा ले, उससे उसके आन्तरिक पापमल की शुद्धि नही हो सकती। मोक्ष तो आ तरिक मल का नाश होने से ही हो सकता है, फिर वह सचित्त जलस्नान से कैसे हो जायेगा ?

खारे नमक को खाने का त्याग कर देने से भी मोक्षप्राप्ति की आशा नही की जा सकती, क्योकि खारा नमक ही एकमात्र रसजनक नही है, मिश्री, शर्करा, घृत, दूध, दधि आदि भी रसोत्पादक पदार्थ है। फिर हम यह पूछते है कि मोक्ष द्रव्य से नमक का त्याग कर देने से मिलता है या भाव से ? यदि द्रव्य से लवण-त्याग से मोक्ष मिलता हो, तब तो जिस देश मे लवण होता ही नही, वहाँ के सभी निवासियो को मोक्ष मिल जाना चाहिए, क्योकि वे द्रव्यत लवणत्यागी है। परन्तु ऐसा होता देखा नही जाता, और न ही यह अभीष्ट है। यदि भाव से लवणत्यागी को मोक्ष प्राप्त होना मानें तो भाव ही मोक्षप्राप्ति का कारण ठहरा, ऐसी स्थिति मे लवणत्याग का क्या महत्व रहा ?

कई मूढ एक ओर तो नमक छोड देते हैं, लेकिन दूसरी ओर वे मद्य, मास एव लहसुन आदि तामसिक पदार्थों का सेवन करके जन्ममरण रूप ससार मे असख्य-काल तक डटे रहते है, क्योकि उनका अनुष्ठान ससारनिवास के योग्य ही होता है। वे मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावो से आराधना-साधना करते नही, केवल ऊपर-ऊपर की बातो पर तैरते रहते हैं, इसलिए उनका मोक्ष पाना तो बहुत दूर है, ससार मे ही वे अपना डेरा जमा लेते है।

१४-१५वी गाथा मे शास्त्रकार जलस्पर्श से मुक्तिवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जो मन्दमति शीतल (सचित्त) जल से स्नान आदि से मुक्ति बताते हैं और यह कहते हैं कि प्रात काल मे, अपराह्न मे एव सायकाल मे यानी तीनो सन्ध्याओ के समय शीतल (कच्चे) जल से स्नान आदि क्रियाएँ करने से मोक्ष प्राप्ति होती है, यह कथन भी मिथ्या है। इस प्रकार यदि जलस्पर्श से ही मुक्ति मिलने लगेगी, तब तो यह बहुत सस्ता सौदा है। हर एक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही पाप करके आया हो, पानी मे डुबकी लगाते ही उसका सब पाप धुल जाएगा और वह मोक्ष पा लेगा। मनुष्य की बात तो जाने दें, मछली आदि जो जलचर प्राणी है, वे तो चौबीसो घण्टे जल मे ही रहते हैं, जलस्पर्श से ओतप्रोत रहते है, बेचारे उन प्राणियो को सतत जलस्पर्श के कारण शीघ्र ही मुक्ति मिल जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त अगर जलस्पर्श से मुक्ति प्राप्त होती हो तो सतत जल मे अवगाहन करके रहने वाले मछली, कछुए, साँप, जलमुर्गा, दरियाई घोडा, ऊँट नामक जलचर, मनुष्याकार जलराक्षस नामक जलचर जन्तुओ को तो सर्वप्रथम मोक्ष मिल जाना चाहिए। परन्तु ऐसा देखा नही जाता और यह अभीष्ट भी नही है। इसलिए

जो जलस्पर्श से मोक्ष वताते है, उनका कथन युक्तिसगत नही है। मोक्षतत्व के रहस्यज्ञ इसे मिथ्या मान्यता कहते हैं।

जलस्पर्शमोक्षवादी यह कहते है कि जल जैसे वाह्य मैल को दूर कर देता है, वैसे ही आन्तरिक मैल को भी दूर कर देता है, परन्तु उनका यह कथन भी मिथ्या एव युक्तिविरुद्ध है। जल जैसे वाहर के वुरे मैल को धो, देता है, वैसे अगराग, कुकुम, चन्दनादि लेप को भी धो डालता है, इसी प्रकार जैसे वह पापकर्ममल को धो डालेगा, वैसे वह पुण्य (शुभ कर्म) को भी धो डालेगा। अर्थात् जल से पाप की तरह पुण्य के भी धुल जाने से वह अपने ही अभीष्ट का विघातक एव विरोधी होगा, हितकारक नही। इससे आगे वढकर कहे तो जल मोक्ष के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानो को भी एक दिन धोकर साफ कर देगा। अत जल मोक्षप्रापक या मोक्षसाधक के वदले मोक्षवाधक ही सिद्ध हुआ। इसलिए जल कर्ममल का हरण कर देता है, यह कथन कोरी कपोल-कल्पना है, इसके पीछे कोई ठोस प्रमाण एव युक्ति नही है।

जो लोग अपनी वुद्धि अज्ञानी नेता के हाथ मे सौंपकर उनके पीछे-पीछे केवल अन्धानुसरण करते हैं, वे जलस्पर्श से मोक्ष होने की झूठी मान्यता को झटपट नही छोडते, वल्कि अधिकाधिक जलस्पर्श करके अनेक प्राणियो का हनन करते रहते है, भला प्राणिहिंसा से उन्हे मोक्ष कैसे मिलेगा ?

वारिभद्रक जलस्पर्शवादियो की दृष्टि से देखें तो भी स्मृतियो मे ब्रह्मचारी के लिए जल से स्नान करना दोपकारक एव निपिद्ध वताया है —

> स्नान मद-दर्पकर, कामाग प्रथम स्मृतम्।
> तस्मात् काम परित्यज्य न ते स्नान्ति दमेरता ॥

अर्थात्—स्नान मद और दर्प उत्पन्न करता है। वह काम का पहला अग है। इसलिए जो पुरुप इन्द्रियो के दमन मे रत हैं, वे काम का त्याग करके जलस्नान नही करते।

भारतीय आध्यात्मिक मनीषी यह भी तो मानते हैं कि केवल पानी शरीर पर उडेल कर उसे गीला कर लेने वाला व्यक्ति 'स्नात' (नहाया हुआ) नही कहलाता, स्नात तो वह तभी कहलाता है, जव वह अहिंसा आदि व्रतो से स्नात हो। वस्तुत वही वाह्य और आभ्यन्तररूप से पवित्र है, शुद्ध है।

जलस्पश से मुक्ति की मिथ्या मान्यता का पूर्वोक्त युक्तियो से खण्डन किये जाने के वावजूद भी झूठी जिद करके वे अपनी मान्यता पर दृढ रहकर यह कहे कि जलस्पर्श पापकर्म-मल को धो डालता है, तव शास्त्रकार कहते हैं कि पापकर्म करने वाले व्यक्ति के पाप को यदि शीतलजलस्नान मिटा देता है, तव तो जलचर प्राणियो का अहर्निश घात करने वाले एव जल मे अवगाहन करने वाले पापी मछुए

शुद्धि से ही हो सकता है। जो भावो की शुद्धि से रहित है, वह व्यक्ति चाहे जितना पानी मे डुबकी लगा ले, उससे उसके आन्तरिक पापमल की शुद्धि नही हो सकती। मोक्ष तो आ तरिक मल का नाश होने से ही हो सकता है, फिर वह सचित्त जलस्नान से कैसे हो जायेगा ?

खारे नमक को खाने का त्याग कर देने से भी मोक्षप्राप्ति की आशा नही की जा सकती, क्योकि खारा नमक ही एकमात्र रसजनक नही है, मिश्री, शर्करा, घृत, दूध, दधि आदि भी रसोत्पादक पदार्थ है। फिर हम यह पूछते है कि मोक्ष द्रव्य से नमक का त्याग कर देने से मिलता है या भाव से ? यदि द्रव्य से लवण-त्याग से मोक्ष मिलता हो, तब तो जिस देश मे लवण होता ही नही, वहाँ के सभी निवासियो को मोक्ष मिल जाना चाहिए, क्योकि वे द्रव्यत लवणत्यागी है। परन्तु ऐसा होता देखा नही जाता, और न ही यह अभीष्ट है। यदि भाव से लवणत्यागी को मोक्ष प्राप्त होना मानें तो भाव ही मोक्षप्राप्ति का कारण ठहरा, ऐसी स्थिति मे लवणत्याग का क्या महत्व रहा ?

कई मूढ एक ओर तो नमक छोड देते हैं, लेकिन दूसरी ओर वे मद्य, मास एव लहसुन आदि तामसिक पदार्थो का सेवन करके जन्ममरण रूप ससार मे असख्य-काल तक डटे रहते है, क्योकि उनका अनुष्ठान ससारनिवास के योग्य ही होता है। वे मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावो से आराधना-साधना करते नही, केवल ऊपर-ऊपर की बातो पर तैरते रहते हैं, इसलिए उनका मोक्ष पाना तो बहुत दूर है, ससार मे ही वे अपना डेरा जमा लेते हैं।

१४-१५वी गाथा मे शास्त्रकार जलस्पर्श से मुक्तिवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जो मन्दमति शीतल (सचित्त) जल से स्नान आदि से मुक्ति बताते हैं और यह कहते है कि प्रात काल मे, अपराह्न मे एव सायकाल मे यानी तीनो सन्ध्याओ के समय शीतल (कच्चे) जल से स्नान आदि क्रियाएँ करने से मोक्ष प्राप्ति होती है, यह कथन भी मिथ्या है। इस प्रकार यदि जलस्पर्श से ही मुक्ति मिलने लगेगी, तब तो यह बहुत सस्ता सौदा है। हर एक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही पाप करके आया हो, पानी मे डुबकी लगाते ही उसका सब पाप धुल जाएगा और वह मोक्ष पा लेगा। मनुष्य की बात तो जाने दें, मछली आदि जो जलचर प्राणी हैं, वे तो चौबीसो घण्टे जल मे ही रहते हैं, जलस्पर्श से ओतप्रोत रहते है, बेचारे उन प्राणियो को सतत जलस्पर्श के कारण शीघ्र ही मुक्ति मिल जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त अगर जलस्पर्श से मुक्ति प्राप्त होती हो तो सतत जल मे अवगाहन करके रहने वाले मछली, कछुए, साँप, जलमुर्गा, दरियाई घोडा, ऊँट नामक जलचर, मनुष्याकार जलराक्षस नामक जलचर जन्तुओ को तो सर्वप्रथम मोक्ष मिल जाना चाहिए। परन्तु ऐसा देखा नही जाता और यह अभीष्ट भी नही है। इसलिए

जो जलस्पर्श से मोक्ष बताते है, उनका कथन युक्तिसगत नही है। मोक्षतत्व के रहस्यज्ञ इसे मिथ्या मान्यता कहते है।

जलस्पर्शमोक्षवादी यह कहते है कि जल जैसे बाह्य मैल को दूर कर देता है, वैसे ही आन्तरिक मैल को भी दूर कर देता है, परन्तु उनका यह कथन भी मिथ्या एव युक्तिविरुद्ध है। जल जैसे बाहर के बुरे मैल को धो देता है, वैसे अगराग, कुकुम, चन्दनादि लेप को भी धो डालता है, इसी प्रकार जैसे वह पापकर्ममल को धो डालेगा, वैसे वह पुण्य (शुभकर्म) को भी धो डालेगा। अर्थात् जल से पाप की तरह पुण्य के भी घुल जाने से वह अपने ही अभीष्ट का विघातक एव विरोधी होगा, हितकारक नही। इससे आगे बढकर कहे तो जल मोक्ष के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानो को भी एक दिन धोकर साफ कर देगा। अत जल मोक्षप्रापक या मोक्षसाधक के बदले मोक्षबाधक ही सिद्ध हुआ। इसलिए जल कर्ममल का हरण कर देता है, यह कथन कोरी कपोल-कल्पना है, इसके पीछे कोई ठोस प्रमाण एव युक्ति नही है।

जो लोग अपनी बुद्धि अज्ञानी नेता के हाथ मे सौंपकर उनके पीछे-पीछे केवल अन्धानुसरण करते है, वे जलस्पर्श से मोक्ष होने की झूठी मान्यता को झटपट नही छोडते, बल्कि अधिकाधिक जलस्पर्श करके अनेक प्राणियो का हनन करते रहते है, भला प्राणिहिंसा से उन्हे मोक्ष कैसे मिलेगा ?

वारिभद्रक जलस्पर्शवादियो की दृष्टि से देखें तो भी स्मृतियो मे ब्रह्मचारी के लिए जल से स्नान करना दोपकारक एव निषिद्ध बताया है—

स्नान मद-दर्पकर, कामाग प्रथम स्मृतम्।
तस्मात् काम परित्यज्य न ते स्नान्ति दमेरता ॥

अर्थात्—स्नान मद और दर्प उत्पन्न करता है। वह काम का पहला अग है। इसलिए जो पुरुप इन्द्रियो के दमन मे रत है, वे काम का त्याग करके जलस्नान नही करते।

भारतीय आध्यात्मिक मनीषी यह भी तो मानते हैं कि केवल पानी शरीर पर उडेल कर उसे गीला कर लेने वाला व्यक्ति 'स्नात' (नहाया हुआ) नही कहलाता, स्नात तो वह तभी कहलाता है, जब वह अहिंसा आदि व्रतो से स्नात हो। वस्तुत वही बाह्य और आभ्यन्तररूप से पवित्र है, शुद्ध है।

जलस्पश से मुक्ति की मिथ्या मान्यता का पूर्वोक्त युक्तियो से खण्डन किये जाने के बावजूद भी झूठी जिद करके वे अपनी मान्यता पर दृढ रहकर यह कहे कि जलस्पर्श पापकर्म-मल को धो डालता है, तब शास्त्रकार कहते हैं कि पापकर्म करने वाले व्यक्ति के पाप को यदि शीतलजलस्नान मिटा देता है, तब तो जलचर प्राणियो का अहर्निश घात करने वाले एव जल मे अवगाहन करने वाले पापी मछुए

भी अपना पापमल धो कर झटपट मुक्ति प्राप्त क्यो नही कर लेते ? जलावगाहन मुक्ति देने वाला जो है, आपके मत से ! परन्तु यह कदापि देखा नही जाता, अभीष्ट भी नही है। यो अगर पापियो को केवल जल मे गोता लगाने या स्नान करने से ही मुक्ति मिलने लगे तो फिर नरक आदि लोक बिलकुल खाली हो जाएँगे, वहाँ कोई भी प्राणी नही रहेगा। इसलिए जलस्पर्श से मुक्ति की मनगढन्त कल्पना मिथ्या है। कुछ पोगापथियो ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए यह मिथ्या मान्यता चला रखी है।

इसके पश्चात् १८वी गाथा मे अग्निस्पर्श से मोक्षवादियो की मान्यता का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते है—जो पुरुष सायकाल एव प्रातकाल अग्नि का स्पर्श करते हुए अग्नि मे होम करने से मोक्षप्राप्ति बताते है, उनका कथन भी यथार्थ नही है। उनका कथन इस प्रकार है—श्रुतिवाक्य है कि **'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम'** अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निहोत्र करे। अग्नि मे घी, तथा अन्य हव्यसामग्री होमने से स्वर्ग की प्राप्तिरूप सिद्धि मिलती है। क्योकि अग्नि जैसे बाह्य द्रव्यो को जला देती है, वैसे ही वह आभ्यन्तर पापकर्मो को भी जला डालती है। परन्तु वह अग्नि तभी आभ्यन्तर पापो को जलाती है, जब घृत आदि हवन सामग्री से उसे तृप्त किया जाए। अथवा हविषु के द्वारा अग्नि को तृप्त करते हुए उस कर्म से इच्छानुसार गति चाहते हैं। इसीलिए अग्निहोत्रवादी (मीमासक या वैदिक) लोगो का कहना है कि अग्निस्पर्शादि कार्य करने से अवश्य ही सिद्धि मिल जाती है।

यद्यपि **'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम'** यह श्रुतिवाक्य अग्निहोत्र कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति ही प्रतिपादित करता है, मोक्षप्राप्ति का विधान नही करता, क्योकि उनके मत मे मोक्ष विधेय नही है। वह कर्मजन्य नही है, तथापि मीमासको का यह मत है कि निष्कामभाव से किया जाने वाला अग्निहोत्र आदि कर्म मोक्ष का प्रयोजक है। इसी मत को लक्ष्य मे रखकर यहाँ अग्नि-स्पर्श से मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए इस श्रुतिवाक्य से विरोध नही आता।

इस मन्तव्य का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'एव सिया सिद्धि कुकम्मिण पि।'** आशय यह है कि यदि अग्नि मे द्रव्यो के डालने से या अग्नि-स्पर्श करने से मुक्ति मिलती हो तो आग जलाकर कोयला बनाने वाले तथा कुभार, लुहार आदि आरम्भजीवियो को भी सिद्धि मिल जानी चाहिए।

अग्निहोत्रवादी कहते हैं कि हमारी शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार सस्कृत अग्नि मे ही होम करने से मुक्ति मिलती है। कुमार, लुहार आदि आरम्भजीवी लोग सस्कृत अग्नि मे आहुति नही डालते। इसलिए उन्हे अग्निस्पर्श से मुक्ति कैसे मिल सकती है ?

इसका समाधान यह है कि अग्निस्पर्श से मुक्ति बताने वाले जो लोग मत्र से पवित्र अग्नि के स्पर्श से सिद्धि बताते हैं, यह तो उनके मूर्ख मित्र ही मान सकते है। जैसे आरम्भजीवियो द्वारा अग्नि मे डाली हुई चीज को वह भस्म कर देती ह, वैसे ही अग्निहोत्रियो द्वारा डाली हुई चीज को भी वह भस्म कर डालती हे। इसलिए अग्निहोत्रियो और आरम्भजीवियो के अग्नि-कार्य मे कोई विशेषता नही है। तथा वे जो कहते है—'अग्निमुखा वै देवा' देवो का मुख अग्नि है, यह कथन भी युक्ति-रहित होने से वाणीविलासमात्र है।

अन्त मे १६वी गाथा मे इन दोनो मोक्षवादियो की मान्यता का सामान्य रूप से निराकरण करके शास्त्रकार उन्हे ज्ञान प्राप्त करके इन प्राणिघातजनक क्रियाओ से निवृत्त होने का अनुरोध करते हैं।

सच तो यह है कि जल मे अवगाहन करने या अग्नि मे होम करने से मुक्ति मानने वालो ने यह बात जिस शास्त्र से ली है, उस शास्त्र की या शास्त्र वचनो की प्रमाणो और युक्तियो से जाँच-पडताल तो की नही है, यो ही अन्धश्रद्धावश मान ली है। क्योकि युक्तियो और प्रमाणो से यही बात सिद्ध होती है कि इन कार्यो से सिद्धि नही मिलती, क्योकि सचित्त जल मे अवगाहन करने या अग्निहोत्र करने से अनेक जीवो का सहार होता है। अत इस जीव सहारात्मक क्रिया से मोक्ष कैसे मिल सकता है? वास्तव मे वे इस वस्तुतत्त्व को नही जानते, इसलिए इन कर्मकाण्डो को धर्म समझकर प्राणियो (जल के एव जलाश्रित अन्य त्रस प्राणियो का तथा अग्नि के एव अग्नि के आश्रित अन्य त्रस-स्थावर प्राणियो) का घात करते हुए पापकर्म करते रहते हैं। इसलिए शास्त्रकार उसका परिणाम बताते हैं—'**एहिंति ते घाय-मबुज्झमाणा**। अर्थात् वे पूर्वोक्त तथ्य को न समझने के कारण प्राणिघात के कारण घात (ससार) को ही प्राप्त होता है। चातुर्गतिक ससार घात (जिसमे प्राणिघात होता है, वह) कहलाता है। क्योकि जीवविनाश से विनाशको को ससार (भव-भ्रमण) ही मिलता है, सिद्धि कथमपि नही मिलती।

इसलिए जिज्ञासु और सद्-असद्विवेकपरायण पुरुषो से शास्त्रकार का अनुरोध है कि पहले तो वे हमारे सिद्धान्तो का जिज्ञासापूर्वक भलीभांति ज्ञान प्राप्त करें, तदनन्तर उस पर ठण्ड दिल-दिमाग से विचार करें, और यह बात निश्चित समझ लें कि ससार मे सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दु ख किसी को भी प्रिय नही है। अपने समान त्रस और स्थावर प्राणियो मे सुख-दु ख की चेतना विद्यमान है। अत त्रस-स्थावर प्राणियो के घात से उन्हे दु ख ही होगा, और दु ख देने से कदापि मोक्ष-सुख नही मिल सकता। इसलिए त्रस-स्थावर प्राणियो की हिंसा निष्पन्न हो, ऐस किसी भी कर्मकाण्ड से मोक्ष या स्वर्गादि सुख नही मिल सकता। इस पर गहराई मे विचार करके धर्म के नाम पर प्रचलित हिंसा कर्मो को छोड देना चाहिए।

जो लोग प्राणिघात से सुख की अभिलाषा करते हैं, वे अशील या कुशील पुरुष किस प्रकार की दु खमय स्थिति का अनुभव करते है ? इसे अगली गाथा मे पढिए—

मूल पाठ

थणंति लुप्पति तस्सति कम्मी, पुढो जगा परिसखाय भिक्खू ।
तम्हा विऊ विरतो आयगुत्ते, दट्ठु तसे या पडिसंहरेज्जा ॥२०॥

सस्कृत छाया

स्तनन्ति लुप्यन्ते त्रस्यन्ति कर्मिण पृथक् जन्तव परिसख्याय भिक्षु ।
तस्माद् विद्वान् विरत आत्मगुप्तो, दृष्ट्वा त्रसाश्च प्रतिसहरेत् ॥२०॥

अन्वयार्थ

(कम्मी जगा) पापकर्म करने वाले प्राणी (पुढो) प्रत्येक अलग-अलग (थणति) रुदन करते हैं, (लुप्पति) तलवार आदि द्वारा काटे जाते हैं, फाडे जाते हैं, (तस्सति) वे डरते है । (तम्हा) इसलिये (विऊ भिक्खू) विद्वान् भिक्षु—मुनि (विरतो आयगुत्ते) पापो से निवृत्त हो, तथा अपनी आत्मरक्षा करे । (तसे या दट्ठु) त्रस एव स्थावर प्राणियो को देखकर (पडिसहरेज्जा) उनके घात की क्रिया से निवृत्त हो जाए ।

भावार्थ

पापकर्मी प्राणी नरक, तिर्यंच आदि गतियो मे प्रत्येक अलग-अलग जाते हैं, वहाँ जब तलवार आदि से उनका छेदन-भेदन किया जाता है, तब वे रोते-चीखते है भय से कॉपते हैं । इसलिए इन सब बातो से विज्ञ विचारक मुनि प्राणातिपात आदि पापो से निवृत्त हो, और अपनी आत्मा को इन पापो से बचाए । त्रस और स्थावर प्राणियो को देखकर उनकी हिंसा की क्रिया से दूर रहे ।

व्याख्या

अत्यन्त दु खमय परिणाम जानकर प्राणिहिंसा से बचो

इस गाथा मे शास्त्रकार ने सुशील साधु को लक्ष्य करके त्रस-स्थावर प्राणियो के वध से अपनी आत्मा को बचाने का निर्देश किया है । वास्तव मे जो लोग सचित्त जल और अग्नि का आरम्भ करके प्राणिघात द्वारा सुख पाना चाहते हैं, उनकी आशा दुराशा है । वे नरक आदि दुर्गतियो मे जाकर तीव्र दु खो से पीडित किये जाते हैं, तब वे असह्य वेदना से सतप्त एव अशरण होकर रोते-विलखते हैं, किन्तु उनकी पुकार कोई नही सुनता । परमाधार्मिक असुरो द्वारा वे पापकर्मी नारक काटे, छेदे, फाडे और चोट पहुँचाए जाते हैं । उन नाना यातनाओ के कारण वे भय से व्याकुल हो जाते हैं । पापकर्म करते हैं, वे कर्मी कहलाते हैं ।

प्राणिघातकर्ता प्रत्येक जीव की यह दशा होती है। अत शुद्ध भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले विद्वान् मुनि को इन सब बातो पर विचार करके पाप से निवृत्त होकर मन-वचन-काया से इन पापो से अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए, और त्रस-स्थावर प्राणियो की प्रकृति, सुख-दु ख आदि को जानकर उनके घात की क्रियाओ से दूर रहना चाहिए।

मूल पाठ

जे धम्मलद्ध विणिहाय भुजे, वियडेण साहट्टु य जे सिणाइ।
जे धोयइ लूसयई व वत्थ, अहाहु से णागणियस्स दूरे ॥२१॥

सस्कृत छाया

यो धर्मलब्ध विनिधाय भुक्ते, विकटेन सहृत्य च य स्नाति।
यो धावति लूपयति च वस्त्र, अथाहु स नाग्न्यस्य दूरे ॥२१॥

अन्वयार्थ

(जे) जो साधुनामधारी (धम्मलद्ध) धर्म से मिले हुए—यानी औद्देशिक, क्रीत आदि दोषो से रहित आहार को (विणिहाय) छोडकर (भुजे) उत्तम स्वादिष्ट भोजन खाता है, (वियडेण, तथा अचित्त जल से भी (साहट्टु) अपने अगो का सकोच करके (सिकोड कर) भी (जे) जो (सिणाइ) स्नान करता है, तथा (जे) जो (धोयइ) अपने वस्त्र या पैर आदि को धोता है, (लूसयई व वत्थ) एव शोभा के लिए जो बडे वस्त्र को छोटा या छोटे वस्त्र को बडा करता है (अहाहु) तीर्थकर और गणधरो ने कहा है कि (से णागणियस्स दूरे) वह नग्नभाव—सयम से दूर है।

भावार्थ

जो साधुनामधारी दोषरहित धर्मप्राप्त (साधुधर्म की भिक्षामर्यादा से प्राप्त) आहार को छोडकर रसलोलुपतावश अन्य सरस स्वादिष्ट भोजन खाता है, तथा अचित्त पानी से अचित्त स्थान मे अगो को सिकोड करके भी स्नान करता है, शोभा के लिए अपने वस्त्र, पैर आदि को धोता है, श्रृ गार के लिए जो बडे वस्त्र को छोटा और छोटे को बडा करता है, वह निर्ग्रन्थ-भावरूप सयम से दूर है, ऐसा तीर्थकरो एव गणधरो ने कहा है।

व्याख्या

स्वादलोलुपता, शोभा एव श्रृ गार की भावना सयमनाशिनी है

प्रस्तुत गाथा मे शास्त्रकार सुशील साधु की चर्या की ओर इगित करते हुए शिथिलाचारपरायण साधु की वृत्ति एव दुश्चर्या की झाँकी प्रस्तुत करते हैं—वास्तव मे शिथिलाचार या दुश्चर्या की वृत्ति साधु मे तभी जागती है, जब वह आत्मकल्याण की साधना से हटकर शरीरासक्तितत्पर हो जाता है। ऐसे साधु की वृत्ति हमेशा

सरस, स्वादिष्ट एव गरिष्ठ आहार के सेवन की ओर लगी रहती है, भिक्षावृत्ति से धर्ममर्यादानुसार भिक्षा मे जो कुछ भी और जैसा भी मिला है, उसमे सन्तुष्ट नही होता, उसकी जिह्वालोलुपता उसे बढ़िया सुस्वादु भोजन प्राप्त करने के लिए ताक-ताक कर ऊँचे और भावुक भक्तो के घरो से भिक्षा-नियमो की अपेक्षा करके भी लाने को प्रेरित करती है। वह उस प्रकार धर्मप्राप्त आहार को ठुकरा कर सरस स्वादिष्ट आहार पाने को उतावला हो जाता है, और लाकर व सेवन करके ही दम लेता है। साथ ही शरीर-शोभा के लिए प्रतिदिन वस्त्र धोने तथा शरीर की सफाई करने मे लगा रहता हे। इतना ही नही, शृगार की दृष्टि से वस्त्रो को फाडकर काटछाट करके छोटा या वडा भी करता रहना है, इस प्रकार की विभूपावृत्ति या स्वाद-लोलुपवृत्ति साधु को साधुता से कोसो दूर रखती है। माधुता सादगी मे है, यथा-लाभ सन्तोष मे है, इन्द्रियसयम मे है। तीर्थकरो ने दशविध श्रमणधर्म (क्षमा, मार्दव आदि) के द्वारा सुशील साधु का धर्म बता दिया है। उसी पर चलना उसे शोभा देता है।

मूल पाठ

कम्म परिन्नाय दगसि धीरे, वियडेण जीविज्ज य आदिमोक्ख।
से बीयकदाइ अभुजमाणे, विरते सिणाणाइसु इत्थियासु ॥२२॥

सस्कृत छाया

कर्म परिज्ञायोदके धीरो, विकटेन जीवेच्चादिमोक्षम्।
स बीजकन्दान् अभुजानो, विरत स्नानादिषु स्त्रीषु ॥२२॥

अन्वयार्थ

(धीरे) धीर साधक (दगसि) कच्चे पानी मे (कम्म परिन्नाय) कर्मबन्ध जान कर (आदिमोक्ख) ससार से मोक्ष तक (वियडेण जीविज्ज) प्रासुक जल के द्वारा जीवन धारण करे। (से बीयकदाइ अभुजमाणे) वह साधु बीज, (बीजसहित वन-स्पति), कन्द तथा मूल, पत्र, फल आदि का भोजन न करता हुआ (सिणाणाइसु इत्थियासु विरते) स्नान आदि से तथा स्त्रियो से दूर रहे।

भावार्थ

बुद्धिशील साधक कच्चे पानी से स्नानादि करने मे कर्मबन्ध जानकर ससार से मुक्ति प्राप्त होने तक प्रासुक (अचित्त) जल से ही अपना जीवन धारण करे। वह बीजकाय, कन्द आदि कच्ची वनस्पति का उपभोग न करे, तथा स्नान आदि शृगारविभूषा कर्म से एव स्त्री आदि समस्त मैथुनकर्म से विरत रहे।

व्याख्या

सुशील साधु-चर्या की ओर इशारा

इस गाथा मे सुशील साधु की अहिंसामयी चर्या की ओर शास्त्रकार ने साधु-साध्वियो का ध्यान खीचा है। उनका इस कथन के पीछे यही अभिप्राय है कि साधु को धर्मपालनार्थ शरीर धारण करना है, और शरीर विना आहार पानी के टिकता नही है, आहार-पानी-वस्त्रादि जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य है, ऐसी स्थिति मे वह आहार पानी प्राप्त करने के लिए न तो स्वय आरम्भ करे, न करावे और न करते हुए का अनुमोदन करे। जो आहार-पानी सजीव है, शास्त्रपरिणत एव प्रासुक नही है, अचित्त नही है, उस आहार एव पानी को सचित्त जानकर तथा उसके लेने से जीवहिंसा की सम्भावना होने मे उसके ग्रहण करने तथा सेवन करने मे कर्मवन्ध समझकर जब तक मोक्ष न हो जाय तब तक उसे ग्रहण व सेवन न करे, सिर्फ प्रासुक (अचित्त), एपणीय एव निर्दोष आहार-पानी, जो भिक्षा मे प्राप्त हो, उसी से जीवन निर्वाह करे। साराश यह है कि साधु कम से कम वस्तु से, अचित्त और सीधी-सादी, अल्पारम्भी वस्तु से अपना जीवन चलाए। वह कब तक इस प्रकार की चर्या से चले ? इसके लिए कहते है—**'जीविज्ज य आदिमोक्ख'** आदि का अर्थ है--ससार, उससे मोक्ष न हो, तब तक इसी प्रकार जीए। अथवा धर्मपालन का आदि-मूल कारण शरीर, उससे जब तक मोक्ष यानी छुटकारा न हो, यानी शरीर न छूटे वहाँ तक इसी प्रकार का निर्दोष प्रासुक आहार-पानी लेकर जीवन चलाए। वीज, कद आदि जितनी भी सचित्त सजीव वनस्पति आदि पदार्थ है, उनका उपभोग कदापि न करे, और न ही शरीर को इन्द्रियविषयो मे या स्नान आदि स्त्रीसेवन आदि कामोत्तेजक वस्तुओ मे प्रवृत्त करे। मतलब यह है कि शरीर को सुशोभित एव श्रृगारित करने के जितने भी साधन—स्नान, तैलमर्दन, पीठी, चन्दनादि लेप आदि जितने भी प्रसाधन—हैं, उनसे दूर ही रहे, साथ ही कामोत्तेजन करने वाली स्त्री सम्पर्क या सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री, या अन्य मैथुनकर्म आदि से भी सर्वथा निवृत्त रहे।

निष्कर्ष यह है कि साधु आत्मकल्याण के लिए जीता है, शरीर श्रृगार, विभूषा, स्त्रीससर्ग या सचित्त आहार पानी का सेवन आदि शरीर से सम्बद्ध कर्म-वन्धन की कारणभूत वातो से वास्ता न रखे। सुशील साधु कुशीलवर्द्धक वातो से दूर रहे।

मूल पाठ

जे मायर च पियर च हिच्चा, गार तहा पुत्तपसु धण च।
कुलाइ जे धावइ साउगाइ, अहाहु से सामणियस्स दूरे ॥२३॥

संस्कृत छाया

योे मातर च पितर च हित्वाऽगार तथा पुत्रपशून् धन च ।
कुलानि यो धावति स्वादुकानि, अथाहु स श्रामण्यस्य दूरे ॥२३॥

अन्वयार्थ

(जे मायर च पियर च) जो साधक अपने माता और पिता को, **(गार तहा पुत्तपसु धण च)** घरबार तथा पुत्र, पशु और धन को **(हिच्चा)** छोडकर **(साउगाइ कुलाइ जे धावइ)** स्वादिष्ट भोजन वाले घरो मे दौडता है, **(से सामणियस्स दूरे)** वह साधक श्रमणत्व से कोसो दूर है, **(अहाहु)** ऐसा तीर्थकरो ने कहा है ।

भावार्थ

जो साधक माँ, बाप, घरबार, तथा पुत्र स्त्री आदि परिवार, पशु तथा धन सम्पत्ति आदि सर्वस्व छोडकर स्वादलोलुपतावश स्वादिष्ट भोजन वाले घरो मे भागता फिरता है, समझ लो, वह श्रमणभाव से कोसो दूर है, ऐसा तीर्थकरो ने कहा है ।

व्याख्या

गार्हस्थ्य छोडकर भी स्वादिष्ट भोजन के चक्कर मे !

इस गाथा मे यह बताया गया है कि वह साधक अभी कच्चा साधक है, श्रमणभाव से दूर है, साधना मे बहुत पीछे है, जो अपना घरबार, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद, धन-सम्पत्ति आदि समस्त गार्हस्थ्यप्रपचो को छोडकर त्यागवृत्ति से पच महाव्रत धारण करके सयमभार तो ग्रहण कर लेता है लेकिन बाद मे मनोबलहीन एव रसलोलुप बनकर ताक-ताक कर सुस्वादु भोजन वाले घरो मे स्वादिष्ट भोजन के लिए दौडता रहता है । उसे त्याग, वैराग्य, सयम, साधुत्व आदि का कोई विचार नही है, एकमात्र बढिया स्वादिष्ट आहार पाने की धुन है । नि सन्देह ऐसा व्यक्ति अपनी की-कमाई तपस्या एव साधना को स्वादलोलुपता के चक्कर मे पडकर मटियामेट कर देता है ।

मूल

कुलाइ जे धावइ साउगाइ, आघाति धम्मं उदराणुगिद्धे ।
अहाहु से आयरियाण सयंसे, जे लावएज्जा असणस्स हेऊ ॥२४॥

संस्कृत छाया

कुलानि यो धावति स्वादुकानि, आख्याति धर्ममुदरानुगृद्ध ।
अथाहु स आचार्याणा शताशे, य आलापयेदशनस्य हेतो ॥२४॥

अन्वयार्थ

(उदराणुगिद्धे) पेट भरने मे आसक्त (जे) जो साधक (साउगाइ कुलाइ धावइ) स्वादिष्ट भोजन वाले घरो मे दौडते है, तथा (धम्म आघाति) वहाँ जाकर धर्मकथा—धर्मोपदेश करते हैं, (से आयरियाण सयसे) वे साधक आचार्यों या आर्यो (साधुओ) के शताश के समान हैं, (जे असणस्स हेऊ लावएज्जा) जो भोजन के लोभ के कारण अपना गुण स्वय वर्णन करते हैं, वे आर्यो के शताश भी नही है, (अहाहु) ऐसा तीर्थंकर ने कहा है।

भावार्थ

जो उदरभरण मे आसक्त होकर स्वादिष्ट भोजन के लोभवश सुस्वादुभोजन वाले अच्छे-अच्छे घरो मे ताक-ताक कर जाता है, वहाँ जाकर धर्मोपदेश देता है, तथा जो स्वादिष्ट भोजन के लिए अपना गुण-कीर्तन करता है, वह आचार्यों के सौवे हिस्से के बरावर भी नही है, ऐसा तीर्थंकरो ने कहा है।

व्याख्या

भोजन के लिए धर्मोपदेश और गुणकीर्तन क्यो ?

साधक की भिक्षा स्वाभिमानपूर्वक अमीरी भिक्षा है, वह भिखारियो जैसी दीनवृत्ति से प्रेरित नही होती। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—जो साधु अपनी धर्म-मर्यादाओ को भूलकर स्वादिष्ट भोजन पाने की धुन में समभाव से घरो मे गोचरी करने के वजाय, ताक-ताक कर बार-बार उन्ही घरो मे जाता है, जहाँ स्वादिष्ट चटपटा भोजन मिलता हो, तथा वहाँ उस घर के लोगो को रिझाने के लिए मनोरजक धर्मकथा भी वह करता है। इतना ही नही, इससे आगे बढकर वह उन्हे अपना पक्का भक्त (केवल स्वादिष्ट भोजन पाने हेतु) बनाने की कोशिश करता है, उनके मन मे अपने प्रति श्रद्धाभक्ति बढाने या जमाने के लिए वह अपने गुणो की बढ-चढ कर स्वय प्रशसा करके उक्त गृहस्थ के परिवार वालो को आकर्षित करता है। और भी मत्र, तत्र आदि के अनेको उपाय अजमाता है। आहार पाने हेतु इस प्रकार की तिकडमवाजी करने वाला वह साधक आचार्यों के शताश के समान भी नही है, ऐसा तीर्थंकरो ने कहा है। वह साधक कुशील है, उदरानुगृद्ध है, चटोरा है, पेटू है।

मूल पाठ

णिक्खम्म दीणे परभोयणमि मुहमगलोए उदराणुगिद्धे ।
नीवारगिद्धेव महावराहे, अदूरए एहिइ घातमेव ॥२५॥

सस्कृत छाया

निष्क्रम्य दीन परभोजने, मुखमागलिक उदरानुगृद्ध ।
नीवारगृद्ध इव महावराह, अदूर एष्यति घातमेव ॥२५॥

अन्वयार्थ

(णिक्खम्म) जो पुरुष साधु दीक्षा के लिए घर से निकल कर (परभोयणमि) दूसरे के भोजन के लिए (दीणे) दीन बनकर (मुहमंगलीए) भाट की तरह मुख मांगलिक बनता है, जी-हजूरी करते हुए मुँह पर दूसरे की प्रशंसा करता है, (नीवार-गिद्धे व महावराहे) वह चावल के दानो मे आसक्त मोटे ताजे सूअर की तरह (उदराणुगिद्धे) पेट भरने मे ही आसक्त है, (अदूरए) वह निकट भविष्य मे ही (घातमेव) नाश को ही (एहिइ) प्राप्त होगा।

भावार्थ

जो पुरुष मुनि दीक्षा के लिए घरबार छोडकर निकला है, किन्तु दूसरे के भोजन के लिए दीन बनकर भाट की तरह चापलूसी करता है वह चावल के दानो मे आसक्त मोटे ताजे सूअर की भाँति अपना पेट पालने मे ही आसक्त है। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होगा।

व्याख्या

पेट के लिए कितनी दीनता ? कितनी चापलूसी ?

इस गाथा मे बताया गया है कि साधु बन जाने के बाद स्वादलोलुपतावश दीनता, चापलूसी और जी-हजूरी करके साधक अपना कितना पतन कर लेता है ? अपनी आत्मा का किस प्रकार विनाश कर लेता है ? वास्तव मे घरबार, कुटुम्ब-कबीला और धन-धान्य आदि छोडकर साधु बन जाने के बाद वह गृहस्थ के यहाँ बने हुए भोजन मे से मधुकरी वृत्ति से अनेक घरो मे से थोडा-थोडा आहार लेकर अपना निर्वाह करता है, किन्तु जब वह साधु अपनी उच्चवृत्ति, साधुता, त्याग-तपस्या का विचार नही करता, सिर्फ जिह्वालोलुप बन जाता है, तब वह यथालाभ सतुष्ट न होकर सरस स्वादिष्ट भोजन के लिए भिखारी की तरह दीन बनकर अनेक धनिको या सत्ताधीशो की चाटुकारी, खुशामद, जीहजूरी करने लगता है, वह उन्हे प्रसन्न करने के लिए ठकुरसुहाती बात कहता है। कई बार उनकी प्रशसा मे अति-शयोक्ति भरे वचन कहकर वह उन लोगो को प्रसन्न करता है—*आप तो महान् पुण्यवान है, भाग्यशाली है, आपको कौन नही जानता ? आप तो कर्ण की तरह महादानेश्वरी है, आप धर्मात्मा हैं, आपके गुणो की सर्वत्र प्रशसा हो रही है, धर्मकार्यो मे और साधुसन्तो की सेवा मे आप कभी पीछे नहीं रहते, इत्यादि।* भाटो की तरह इस प्रकार की चाटुकारिता वह सर्वस्वत्यागी साधु क्यो करता है ? इसका कारण शास्त्रकार बताते हैं—'**उदराणुगिद्धे**' वह साधु पेटू है, उदरम्भरी है, स्वादलोलुप है। अपनी जिह्वालोलुपता के कारण वह पेट भरने मे उसी तरह टूट पडता है, जैसे विशालकाय सूअर चावल के दानो पर एकदम टूट पडता है। परन्तु जिस प्रकार विशालकाय सूअर चावल के दानो मे लुब्ध होकर भारी सकट मे फँस जाता है,

अपनी जान गँवा देता है, वैसे ही वह कुशील असयमी साधक उदरपूर्ति मे आसक्त होकर अपने सयमी जीवन का नाश कर देता है, अहिंसा, सत्य आदि महाव्रतो को भी धीरे-धीरे खो बैठता है और एक दिन सयमप्राणहीन खोखला साधुवेष का ढांचा मात्र रह जाता है। शास्त्रकार कहते हैं—'अद्दूरए एहिइ घातमेव।' अर्थात् वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। यहाँ घात (नाश) दो प्रकार का है—द्रव्यघात और भाव-घात। द्रव्य से अतिस्वादिष्ट, गरिष्ठ, दुष्पाच्य भोजन प्रतिदिन करने से शीघ्र ही रोगग्रस्त होकर उसका शरीर विनष्ट हो जाता है, भाव से सयमी-जीवन, महाव्रत आदि से वह नष्ट हो जाता है। स्वादलोलुपता के कारण नाना कर्मवन्धन करके वह नीच योनियो मे वार-वार परिभ्रमण करता है।

मूल पाठ

अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे ।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च, निस्सारए होइ जहा पुलाए ॥२६॥

सस्कृत छाया

अन्नस्य पानस्येह लौकिकस्यानुप्रियं भाषते सेवमान ।
पार्श्वस्थता चैव कुशीलता च, नि सारो भवति यथा पुलाक ॥२६॥

अन्वयार्थ

(अन्नस्स पाणस्स) भोजन तथा पानी (इहलोइयस्स) एव वस्त्र आदि इह-लौकिक साधनो के लिए (सेवमाणे) एक सेवक—दास की तरह जो पुरुष (साधुवेषी) (अणुप्पियं भासति) आहारादि के दाता के अनुकूल प्रिय भाषण करता है, ठकुर-सुहाती वात कहता है, (पासत्थयं चेव कुसीलयं च) वह धीरे-धीरे पार्श्वस्थ भाव (आचार-शैथिल्य) को और कुशीलभाव (दूषित सयमित्व-साधुत्व) को प्राप्त होता है। और एक दिन वह (निस्सारए होइ जहा पुलाए) भुस्से की तरह नि सार-नि सत्त्व सयमप्राण से रहित, थोथा हो जाता है।

भावार्थ

जो पुरुष (साधु वेषधारी) अन्न-पान तथा वस्त्र आदि इहलौकिक पदार्थों के लोभ से दातापुरुष को ठकुरसुहाती बातें कहता है। ऐसा व्यक्ति पार्श्वस्थ तथा कुशील वन जाता है और भुस्से के समान नि सत्त्व (थोथा) हो जाता है।

व्याख्या

साधु का वेष परन्तु साधुत्व से रहित थोथा नि सार

इस गाथा मे यह वताया गया है कि जो साधु वढिया रुचिकर अन्न-पानी या वस्त्र आदि के लिए राजाओ के सेवक की तरह दाता की जी-हजूरी करता है,

अन्वयार्थ

(णिक्खम्म) जो पुरुष साधु दीक्षा के लिए घर से निकल कर (परभोयणमि) दूसरे के भोजन के लिए (दीणे) दीन बनकर (मुहमंगलीए) भाट की तरह मुख मांगलिक बनता है, जी-हजूरी करते हुए मुँह पर दूसरे की प्रशंसा करता है, (णीवारगिद्धे व महावराहे) वह चावल के दानो मे आसक्त मोटे ताजे सूअर की तरह (उदराणुगिद्धे) पेट भरने मे ही आसक्त है, (अदूरए) वह निकट भविष्य मे ही (घातमेव) नाश को ही (एहिइ) प्राप्त होगा।

भावार्थ

जो पुरुष मुनि दीक्षा के लिए घरबार छोडकर निकला है, किन्तु दूसरे के भोजन के लिए दीन बनकर भाट की तरह चापलूसी करता है वह चावल के दानो मे आसक्त मोटे ताजे सूअर की भाँति अपना पेट पालने मे ही आसक्त है। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होगा।

व्याख्या

पेट के लिए कितनी दीनता? कितनी चापलूसी?

इस गाथा मे बताया गया है कि साधु बन जाने के बाद स्वादलोलुपतावश दीनता, चापलूसी और जी-हजूरी करके साधक अपना कितना पतन कर लेता है? अपनी आत्मा का किस प्रकार विनाश कर लेता है? वास्तव मे घरबार, कुटुम्ब-कबीला और धन-धान्य आदि छोडकर साधु बन जाने के बाद वह गृहस्थ के यहाँ बने हुए भोजन मे से मधुकरी वृत्ति से अनेक घरो मे से थोडा-थोडा आहार लेकर अपना निर्वाह करता है, किन्तु जब वह साधु अपनी उच्चवृत्ति, साधुता, त्याग-तपस्या का विचार नही करता, सिर्फ जिह्वालोलुप बन जाता है, तब वह यथालाभ सतुष्ट न होकर सरस स्वादिष्ट भोजन के लिए भिखारी की तरह दीन बनकर अनेक धनिको या सत्ताधीशो की चाटुकारी, खुशामद, जीहजूरी करने लगता है, वह उन्हे प्रसन्न करने के लिए ठकुरसुहाती बात कहता है। कई बार उनकी प्रशंसा मे अतिशयोक्ति भरे वचन कहकर वह उन लोगो को प्रसन्न करता है—आप तो महान् पुण्यवान है, भाग्यशाली हैं, आपको कौन नही जानता? आप तो कर्ण की तरह महादानेश्वरो है, आप धर्मात्मा हैं, आपके गुणो की सर्वत्र प्रशंसा हो रही है, धर्मकार्यो मे और साधुसन्तो की सेवा मे आप कभी पीछे नहीं रहते, इत्यादि। भाटो की तरह इस प्रकार की चाटुकारिता वह सर्वस्वत्यागी साधु क्यो करता है? इसका कारण शास्त्रकार बताते है—'उदराणुगिद्धे' वह साधु पेटू है, उदरम्भरी है, स्वादलोलुप है। अपनी जिह्वालोलुपता के कारण वह पेट भरने मे उसी तरह टूट पडता है, जैसे विशालकाय सूअर चावल के दानो पर एकदम टूट पडता है। परन्तु जिस प्रकार विशालकाय सूअर चावल के दानो मे लुब्ध होकर भारी संकट मे फँस जाता है,

अपनी जान गँवा देता है, वैसे ही वह कुशील असयमी साधक उदरपूर्ति मे आसक्त होकर अपने सयमी जीवन का नाश कर देता है, अहिंसा, सत्य आदि महाव्रतो को भी धीरे-धीरे खो बैठता है और एक दिन सयमप्राणहीन खोखला साधुवेष का ढाँचा मात्र रह जाता है। शास्त्रकार कहते है—'अद्दूरए एहिइ घातमेव।' अर्थात् वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। यहाँ घात (नाश) दो प्रकार का है—द्रव्यघात और भाव-घात। द्रव्य से अतिस्वादिष्ट, गरिष्ठ, दुष्पाच्य भोजन प्रतिदिन करने से शीघ्र ही रोगग्रस्त होकर उसका शरीर विनष्ट हो जाता है, भाव से सयमी-जीवन, महाव्रत आदि से वह नष्ट हो जाता है। स्वादलोलुपता के कारण नाना कर्मबन्धन करके वह नीच योनियो मे बार-बार परिभ्रमण करता है।

मूल पाठ

अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे ।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च, निस्सारए होइ जहा पुलाए ॥२६॥

संस्कृत छाया

अन्नस्य पानस्येह लौकिकस्यानुप्रिय भाषते सेवमान ।
पार्श्वस्थता चैव कुशीलता च, नि सारो भवति यथा पुलाक ॥२६॥

अन्वयार्थ

(**अन्नस्स पाणस्स**) भोजन तथा पानी (**इहलोइयस्स**) एव वस्त्र आदि इह-लौकिक साधनो के लिए (**सेवमाणे**) एक सेवक—दास की तरह जो पुरुष (साधुवेषी) (**अणुप्पियं भासति**) आहारादि के दाता के अनुकूल प्रिय भाषण करता है, ठकुर-सुहाती बात कहता है, (**पासत्थयं चेव कुसीलयं च**) वह धीरे-धीरे पार्श्वस्थ भाव (आचार-शैथिल्य) को और कुशीलभाव (दूषित सयमित्व-साधुत्व) को प्राप्त होता है। और एक दिन वह (**निस्सारए होइ जहा पुलाए**) भुस्से की तरह नि सार-नि सत्त्व सयमप्राण से रहित, थोथा हो जाता है।

भावार्थ

जो पुरुष (साधु वेषधारी) अन्न-पान तथा वस्त्र आदि इहलौकिक पदार्थो के लोभ से दातापुरुष को ठकुरसुहाती बाते कहता है। ऐसा व्यक्ति पार्श्वस्थ तथा कुशील बन जाता है और भुस्से के समान नि सत्त्व (थोथा) हो जाता है।

व्याख्या

साधु का वेष परन्तु साधुत्व से रहित थोथा नि सार

इस गाथा मे यह बताया गया है कि जो साधु बढिया रुचिकर अन्न-पानी या वस्त्र आदि के लिए राजाओ के सेवक की तरह दाता की जी-हजूरी करता है,

उसकी हाँ मे मिलाता है, ठकुरसुहाती वाते करता है, किन्तु दाता के जीवन मे कोई ऐब या भूल हो तो उसे नाराजी के डर मे सावधान नही कर सकता, ऐसा साधुवेपी व्यक्ति पेट भरने मे आसक्त होकर ही यह सब प्रपञ्च करता है । शास्त्रकार कहते है— ऐसा साधु साधु के वप मे है, कदाचित् साधु की कुछ क्रियाएँ भी ऊपर-ऊपर से कर लेता हो, परन्तु अन्दर से उसका जीवन भुस्से की तरह चारित्ररूपी सार से हीन, नि सत्त्व और थोथा ह । ऐसा व्यक्ति आचारहीन पार्श्वस्थ-सा हो जाता है, या वह विपरीत आचार से युक्त कुशील-सा हो जाता है । अत वह स्वयूथिक साधुओ के अपमान का पात्र हो जाता है, और परलोक म भी दुर्गति का भाजन वनता है ।

मूल पाठ

अण्णातपिंडेणऽहियासएज्जा, णो पूयण तवसा आवहेज्जा ।
सद्देहि रूवेहि असज्जमाणे, सव्वेहि कामेहि विणीय गेहि ।।२७।।

सस्कृत छाया

अज्ञातपिण्डेनाधिसहेत्, न पूजन तपसाऽऽवहेत् ।
शब्दै रूपै रसज्जन्, सर्वेभ्य कामेभ्यो विनीय गृद्धिम् ।।२७।।

अन्वयार्थ

(अण्णातपिंडेणऽहियासएज्जा) साधु अज्ञातपिण्ड के द्वारा अपना निर्वाह करे । (तपसा पूयण णो आवहेज्जा) और तपस्या के द्वारा अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा न करे, तथा (सद्देहि रूवेहि असज्जमाणे) शब्दो और रूपो (दृश्य वस्तुओ) मे आसक्त न होता हुआ। (सव्वेहि कामेहि गेहि विणीय) समस्त विषय-कामनाओ से गृद्धि —आसक्ति हटाकर एकमात्र सयम मे रत होकर रहे ।

भावार्थ

साधु अज्ञात पिण्ड (अपरिचित घरो से लाए हुए भिक्षान्न) से अपना निर्वाह करे । तपस्या के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा न करे तथा शब्दो, रूपो तथा विविध प्रकार के विषयभोगो से आसक्ति हटाकर शुद्ध सयम का पालन करे ।

व्याख्या

सुशील साधक का आचार-विचार

कुशील साधु वेपधारियो के सम्बन्ध मे पहले कहा जा चुका है, अव यहाँ से उसी सन्दर्भ मे उसके प्रतिपक्षी सुशील साधक के आचार-विचार के सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते है - 'अण्णातपिंडेण विणीय गेहि' ।

तात्पर्य यह है कि पिछली गाथाओ वतलाए हुए जो अग्निहोत्र तथा जलस्पर्श आदि से मोक्ष की प्राप्ति न मानता हो तथा अग्निकाय आदि के समारम्भ न करे,

वह सुशील साधु माना जाएगा, बशर्ते कि वह स्वादिष्ट आहार-पानी आदि के लिए ताक-ताक कर अच्छे घरो मे न जाए, न उन दाताओं की झूठी प्रशसा आदि करके आहारादि ले। तब फिर यह सवाल उठेगा कि वह सुशील साधु निर्दोष आहारपानी कैसे प्राप्त करे ? कैसे जीए ? कैसे रहे ? इसके समाधानार्थ इस गाथा मे बताया गया कि वह अज्ञात (जिन घरो का पहले-पीछे का उससे कोई परिचय न हो) घरो मे पिण्ड (आहार-पानी आदि) ग्रहण करे, और अपने सयमी जीवन का पालन करे। ऐसे घरो से तो प्राय अन्त (भुक्तशिष्ट) और प्रान्त (बचा-खुचा फैंके जाने योग्य) रूखा-सूखा और नीरस आहार ही मिलेगा, परन्तु सुशील एव अहिंसामूर्ति साधु इसकी परवाह न करे, वह ऐसा तुच्छ आहार मिलने पर मन मे दीनता न लाए और उत्कृष्ट आहार मिल जाए तो गर्व नही करे। समभाव से उस आहार को उदरस्थ करले। यहाँ 'अहियासएज्जा' पद इस बात का भी द्योतक है कि समभावी साधक अपने आप को इसी साँचे मे ढाल ले। किन्तु अपना गुणोत्कीर्तन करके, अपना परिचय देकर, तप, चारित्र, मत्र-यत्रादि चमत्कार के बलपर आदर और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयास न करे क्योकि इससे वह सुशील साधक फिर उन्ही पूर्वोक्त दोषो से लिप्त हो जाएगा। ऐसा करके तो साधक अपनी मुक्तिहेतुक तपस्या, साधना और आराधना को बेचकर घाटे मे रहेगा। कहा भी है—

पर लोकाधिक धाम, तप -श्रुतमिति द्वयम् ।
तदेवार्थित्वनिर्लुप्तसार तृणलवायते ॥

अर्थात्—परलोक मे श्रेष्ठ स्थान दिलाने वाले दो ही पदार्थ है—तप और श्रुत। इनसे सासारिक पदार्थ की इच्छा करने पर इनका सार निकल जाएगा, ये तिनके की तरह नि सार हो जायेंगे।

जैसे रस मे आसक्ति न करने की बात कही, वैसे शब्द और रूप मे भी तथा समस्त विषयभोगो—गन्ध और स्पर्श आदि मे भी सुशील साधक आसक्ति को फटकने न दे। किस प्रकार इन पर से आसक्ति हटाए ? इसके उत्तर मे एक प्राचीन आचार्य के विचार सुनिए—

सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोयविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्व ॥१॥
रूवेसु य भद्दयपावएसु, चक्खुविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्व ॥२॥
गधेसु य भद्दयपावएसु, घाणविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्व ॥३॥
भक्खेसु य भद्दयपावएसु, रसणविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्व ॥४॥

फासेसु य भद्दयपावएसु, फासविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्व ॥५॥

वीणा और वेणु (वर्तमान मे रेडियो आदि) के मधुर शब्द कान मे टकराएँ तो साधु उनमे प्रसन्न न हो, और न ही कर्कश शब्द कान मे पडने पर उन पर अप्रसन्न हो। इसी प्रकार सुन्दर और असुन्दर रूप भी आँखो के सामने आएँ तो साधु कदापि उन पर प्रसन्न या अप्रसन्न न हो, गन्ध अच्छा या बुरा जैसा भी नाक मे आए, साधु कभी तुष्ट या रुष्ट न हो, भोज्य पदार्थ स्वादिष्ट या खराब जैसे भी जीभ पर आएँ, साधु उनके प्रति तोप या रोप न लाए। इसी प्रकार स्पर्श भी भला या बुरा जैसा भी शरीर से हो, साधु न तो उन पर खुश हो, न नाराज। निष्कर्प यह है कि मनसहित पाँचो इन्द्रियो के जो भी मनोज्ञ-अमनोज्ञ विपय हो, उनके प्रति राग (आसक्ति) या द्वेप (घृणा, रोप आदि) न करे, समभाव से अपने शुद्ध सयमपथ पर चले। इच्छा-मदनरूप समस्त कामविकारो से आसक्ति हटाकर शुद्ध सयम पालन करे।

मूल पाठ

सव्वाइ सगाइ अइच्च धीरे, सव्वाइ दुक्खाइ तितिक्खमाणे ।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयकरे भिक्खू अणाविलप्पा ॥२८॥

सस्कृत छाया

सर्वान् सगानतीत्य धीर, सर्वाणि दु खानि तितिक्षमाण ।
अखिलोऽगृद्धोऽनियतचारी, अभयकरो भिक्षुरनाविलात्मा ॥२८॥

अन्वयार्थ

(धीरे भिक्खु) बुद्धिशाली भिक्षु (सव्वाइ सगाइ अइच्च) सर्वसगो को छोडकर, (सव्वाइ दुक्खाइ तितिक्खमाणे) सब दु खो को सहन करता हुआ (अखिले अगिद्धे अणिएयचारी) ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पूर्ण तथा विपयभोगो मे अनासक्त एव अप्रतिबद्धविहारी (अभयकरे) प्राणियो को अभयदान देने वाले (अणाविलप्पा) तथा विपय-कषायो से अनाकुल-आत्मा होकर सयम का भलीभाँति पालन करता है।

भावार्थ

बुद्धि से सुशोभित भिक्षु समस्त आसक्तियुक्त सम्बन्धो का परित्याग करके समस्त दु खो को सहन करता हुआ, ज्ञान-दर्शन-चारित्र से परिपूर्ण विषयभोगो मे अनासक्त एव अप्रतिबद्धविहारी होता है। तथा वह प्राणियो को अभय देता हुआ और विषय-कषायो से अनाकुल होकर सुचारु रूप से सयम का पालन करता है।

व्याख्या

सुशील साधु की सयम साधनाएँ

पूर्वगाथा मे सुशील साधु के आचार-विचारो का निरूपण किया था, इस

गाथा मे उसकी विभिन्न साधनाओ के सम्बन्ध मे निरूपण करते है। पूर्वगाथा मे पाँचो इन्द्रियो के विपयो मे रागद्वेप रहित होकर सयमस्थ रहने की बात थी, इस गाथा मे अन्य साधनाओ के सम्बन्ध मे कहते है सर्व सगो का त्याग करने का अर्थ है आभ्यन्तर सग-आसक्ति और बाह्य सजीव-निर्जीव पदार्थो के प्रति आसक्ति यानी दोनो प्रकार के परिग्रहो को छोडकर विवेकी साधक शारीरिक-मानसिक दु खो के समय सहनशील बने—यानी उपसर्गो और परीपहो से उत्पन्न दु खो को समभावपूर्वक सहन करता रहे। तभी वह अखिल यानी ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सर्वांगपूर्ण बनता है। और जब वह कामवासनाओ मे आसक्त नही होता, तभी वह अप्रतिबद्धविहारी होता है द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव के प्रतिबन्ध से रहित होकर विचरण करता है। ऐसा होने पर ही वह स्वय निर्भय होकर दूसरो का अभयदाता बनता है। ये सब साधनाएँ तभी सफल हो सकती है, जब साधक विपयो और कपायो से आकुल नही होता उन्हे सेवन के लिए उतावला नही होता, न उनसे घबराता हे, तिलमिलाता हे। ये सुशील साधु की कुछ आवश्यक सयम-साधनाएँ है।

मूल पाठ

भारस्स जत्ता मुणि भुजएज्जा, कखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, सगामसीसे व पर दमेज्जा ॥२९॥

सस्कृत छाया

भारस्य यात्रायै मुनिर्भुञ्जीत, काक्षेत् पापस्य विवेक भिक्षु ।
दु खेन स्पृष्टो धुतमाददीत, सग्रामशीर्षे इव पर दमयेत् ॥२९॥

अन्वयार्थ

(**मुणि भारस्स जत्ता**) मुनि पचमहाव्रतरूप सयम यात्रार्थ (**भुजएज्जा**) आहार करे। (**भिक्खू पावस्स विवेग कखेज्ज**) भिक्षु अपने पूर्वपाप का त्याग करने की इच्छा करे। (**दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा**) दु ख का स्पर्श होने (आ पडने) पर धुत – सयम या मोक्ष को गहण-स्मरण करे, या उसमे ध्यान लगाए। (**सगामसीसे व पर दमेज्जा**) युद्ध भूमि मे (युद्ध के मोर्चे पर) जैसे सुभट पुरुप शत्रु के योद्धा का दमन करता हे, उसी तरह साधु कर्मरूपी शत्रु का दमन करे।

भावार्थ

मुनि सयम के निर्वाह के लिए आहार करे, भिक्षु अपने पूर्वपाप को छोडने का सकल्प करे, दु खो का स्पर्श होने पर साधु अपने सयम या मोक्ष का चिन्तन करे या ध्यान लगाए। जैसे सुभट पुरुष युद्ध के मोर्चे पर शत्रु का दमन करता है, वैसे ही साधु कर्मरूपी शत्रु का दमन करे।

व्याख्या

सुशील साधु चार बातो से सावधान रहे

इस गाथा मे सुशील साधु को सयम रक्षा के लिए किन-किन बातो से सावधान रहना चाहिए ? यह बताया गया है। साधु को निम्नलिखित बातो से सावधान रहना चाहिए —

(१) वह ध्यान रखे कि सयम यात्रा के निर्वाह के लिए मुझे आहार करना है, (२) पूर्वकृत पापो का त्याग करने का प्रतिदिन सकल्प करे, अन्यथा पूव सस्कार उसके मार्ग मे विघ्न डालेंगे, (३) जब कभी दु खो से घिर जाय, तब मोक्ष या सयम मे अपना ध्यान ओतप्रोत कर दे, (४) कर्मशत्रु का दमन करता रहे, अगर कर्मशत्रु को आगे बढने या मनमाना करने दिया जाएगा तो वह आत्मा पर हावी हो जाएगा, फिर आत्मा अपनी साधना को निर्विघ्नतापूर्वक नही कर सकेगा। अत सुशील साधक को अपनी सयम साधना शुद्ध एव तेजस्वी रखने के लिए इन बातो से सावधान रहना चाहिए।

मूल पाठ

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागम कखति अतकस्स ।
णिधूय कम्म ण पवचुवेइ, अक्खक्खए वा सगडं ॥३०॥

॥त्ति बेमि॥

सस्कृत छाया

अपि हन्यमान फलकावतष्टी, समागम काक्षत्यन्तकस्य ।
निर्धूय कर्म न प्रपञ्चमुपैति, अक्षक्षय इव शकटम् ॥३०॥

॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**अवि हम्ममाणे**) परीषहो और उपसर्गों के द्वारा पीडा पाता हुआ भी उसे सहन करे (**फलगावतट्ठी**) जैसे लकडी के तख्ते को दोनो ओर से छीले जाने पर वह रागद्वेष नही करता, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर तप से कष्ट पाता हुआ भी साधक रागद्वेष न करे, (**अतकस्स समागम कखति**) किन्तु मृत्यु के आने की प्रतीक्षा करे। (**णिधूयकम्म ण पवचुवेइ**) इस प्रकार कर्म को दूर करके साधु जन्म, मरण, रोग, शोक आदि को प्राप्त नही करता। (**अक्खक्खए वा सगड**) जैसे अक्ष (धुरी) के टूट जाने से गाडी आगे नही चलती है। (**त्ति बेमि**) ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ

परीषहो और उपसर्गो से पीडित होता हुआ भी साधु उसे सहन करे, जैसे दोनो तरफ से छीला जाता हुआ काष्ठ का तख्ता रागद्वेष नही करता,

वैसे ही बाह्य-आभ्यन्तर तप से या परीषहो-उपसर्गों से कष्ट पाता हुआ साधु भी रागद्वेष न करे अपितु समभावपूर्वक पीडा सहते हुए मृत्यु की प्रतीक्षा करे। जैसे गाडी की धुरी टूट जाने पर वह आगे नही चलती, वैसे ही कर्म काट देने पर जन्म, मरण, रोग, शोक आदि प्रपच की गाडी भी आगे नही चलती। अर्थात् वह जन्ममरणादि को प्राप्त नही करता।

व्याख्या

सुशील साधक द्वारा अन्तिम मजिल पाने का उपाय

साधक और सब सावधानी तो रख सकता है, परन्तु जब परीषहो और उपसर्गो की बौछार होने लगती है, तब पीडा के मारे उसका मन प्राय डगमगाने लगता है। वह सोचने लगता है, क्यो व्यर्थ ही इन परीषहो को सहा जाए ? इनके सहने से वर्तमान मे तो अत्यन्त दु ख हो रहा है, आगे कहाँ सुख मिलने वाला है, इन दु खो के सहने से ? इस प्रकार साधक परीषह और उपसर्गो के कष्ट से कतराता है, वह सब कुछ छोडने को उद्यत हो जाता है, ऐसे मौके पर शास्त्रकार साधक को परामर्श देते है कि वह परीषह या उपसर्ग के कष्ट को एक प्रकार की बाह्य एव आभ्यन्तर तपस्या समझकर समभाव से सहन करे। जैसे काठ का तख्ता दोनो ओर से छीला जाने पर भी उसमे किसी प्रकार का राग-द्वेष नही होता, वैसे ही बाह्य-आभ्यन्तर तप से शरीर को तपाने से दुर्बल हो जाने पर भी साधक रागद्वेष न करे। यदि शरीर नष्ट होने को हो, और किसी तरह से भी धर्मपालन करने मे समर्थ न हो तो साधु को चाहिए कि वह मृत्यु का हँसते-हँसते स्वागत करे, मृत्यु का आलिंगन करने मे वह बिलकुल न झिझके। आठ प्रकार के कर्मो के क्षय होने से शरीर से सम्बन्धित जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि ससार प्रपञ्च उसी तरह मिट जाता है, जिस तरह गाडी का धुरा टूट जाने पर गाडी वही रुक जाती है। ससाररूपी प्रपच का समाप्त होना ही अन्तिम मजिल—मोक्ष पाना है, जहाँ से फिर वापस लौटना नही होता।

इति शब्द समाप्ति अर्थ का सूचक है, ब्रवीमि का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार कुशील परिभाषा नामक सप्तम अध्ययन अमर सुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ कुशील परिभाषा नामक सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

व्याख्या

सुशील साधु चार बातो से सावधान रहे

इस गाथा मे सुशील साधु को सयम रक्षा के लिए किन-किन बातो से सावधान रहना चाहिए ? यह बताया गया है। साधु को निम्नलिखित बातो से सावधान रहना चाहिए —

(१) वह ध्यान रखे कि सयम यात्रा के निर्वाह के लिए मुझे आहार करना है, (२) पूर्वकृत पापो का त्याग करने का प्रतिदिन सकल्प करे, अन्यथा पूव सस्कार उसके मार्ग मे विघ्न डालेंगे, (३) जब कभी दु खो से घिर जाय, तब मोक्ष या सयम मे अपना ध्यान ओतप्रोत कर दे, (४) कर्मशत्रु का दमन करता रहे, अगर कर्मशत्रु को आगे बढने या मनमाना करने दिया जाएगा तो वह आत्मा पर हावी हो जाएगा, फिर आतमा अपनी साधना को निर्विघ्नतापूर्वक नही कर सकेगा। अत सुशील साधक को अपनी सयम साधना शुद्ध एव तेजस्वी रखने के लिए इन बातो से सावधान रहना चाहिए।

मूल पाठ

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागमं कखति अतकस्स ।
णिधूय कम्म ण पवचुवेइ, अक्खक्खए वा सगडं ॥३०॥

॥त्ति बेमि॥

सस्कृत छाया

अपि हन्यमान फलकावतष्टी, समागम काक्षत्यन्तकस्य ।
निर्धूय कर्म न प्रपञ्चमुपैति, अक्षक्षय इव शकटम् ॥३०॥

॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**अवि हम्ममाणे**) परीषहो और उपसर्गो के द्वारा पीडा पाता हुआ भी उसे सहन करे (**फलगावतट्ठी**) जैसे लकडी के तख्ते को दोनो ओर से छीले जाने पर वह रागद्वेष नही करता, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर तप से कष्ट पाता हुआ भी साधक रागद्वेष न करे, (**अतकस्स समागम कखति**) किन्तु मृत्यु के आने की प्रतीक्षा करे। (**णिधूयकम्म ण पवचुवेइ**) इस प्रकार कर्म को दूर करके साधु जन्म, मरण, रोग, शोक आदि को प्राप्त नही करता। (**अक्खक्खए वा सगड**) जैसे अक्ष (धुरी) के टूट जाने से गाडी आगे नही चलती है। (**त्ति बेमि**) ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ

परीषहो और उपसर्गो से पीडित होता हुआ भी साधु उसे सहन करे, जैसे दोनो तरफ से छीला जाता हुआ काष्ठ का तख्ता रागद्वेष नही करता,

वैसे ही बाह्य-आभ्यन्तर तप से या परीषहो-उपसर्गों से कष्ट पाता हुआ साधु भी रागद्वेष न करे अपितु समभावपूर्वक पीडा सहते हुए मृत्यु की प्रतीक्षा करे। जैसे गाडी की धुरी टूट जाने पर वह आगे नही चलती, वैसे ही कर्म काट देने पर जन्म, मरण, रोग, शोक आदि प्रपच की गाडी भी आगे नही चलती। अर्थात् वह जन्ममरणादि को प्राप्त नही करता।

व्याख्या

सुशील साधक द्वारा अन्तिम मंजिल पाने का उपाय

साधक और सब सावधानी तो रख सकता है, परन्तु जब परीषहो और उपसर्गों की बौछार होने लगती है, तब पीडा के मारे उसका मन प्राय डगमगाने लगता है। वह सोचने लगता है, क्यो व्यर्थ ही इन परीषहो को सहा जाए ? इनके सहने से वर्तमान मे तो अत्यन्त दु ख हो रहा है, आगे कहाँ सुख मिलने वाला है, इन दु खो के सहने से ? इस प्रकार साधक परीषह और उपसर्गो के कष्ट से कतराता है, वह सब कुछ छोडने को उद्यत हो जाता है, ऐसे मौके पर शास्त्रकार साधक को परामर्श देते है कि वह परीषह या उपसर्ग के कष्ट को एक प्रकार की बाह्य एव आभ्यन्तर तपस्या समझकर समभाव से सहन करे। जैसे काठ का तख्ता दोनो ओर से छीला जाने पर भी उसमे किसी प्रकार का राग-द्वेष नही होता, वैसे ही बाह्य-आभ्यन्तर तप से शरीर को तपाने से दुर्बल हो जाने पर भी साधक रागद्वेष न करे। यदि शरीर नष्ट होने को हो, और किसी तरह से भी धर्मपालन करने मे समर्थ न हो तो साधु को चाहिए कि वह मृत्यु का हँसते-हँसते स्वागत करे, मृत्यु का आलिंगन करने मे वह बिलकुल न झिझके। आठ प्रकार के कर्मो के क्षय होने से शरीर से सम्बन्धित जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि ससार प्रपञ्च उसी तरह मिट जाता है, जिस तरह गाडी का धुरा टूट जाने पर गाडी वही रुक जाती है। ससाररूपी प्रपच का समाप्त होना ही अन्तिम मंजिल—मोक्ष पाना है, जहाँ से फिर वापस लौटना नही होता।

इति शब्द समाप्ति अर्थ का सूचक है, ब्रवीमि का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार कुशील परिभाषा नामक सप्तम अध्ययन अमर सुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ कुशील परिभाषा नामक सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन : वीर्य

सातवें अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है, अब आठवें वीर्य नामक अध्ययन की व्याख्या प्रारम्भ की जा रही है। सातवे अध्ययन मे कुशील (शिथिलाचारी एव पतित) साधक के साथ साथ सुशील (सुविहित सदाचारी) साधक का भी निरूपण किया गया है। इन दोनो प्रकार के साधुओ का कुशीलत्व और सुशीलत्व क्रमश सयम-वीर्यान्तराय (सयमपालन मे विघ्नरूप) कर्म के उदय से तथा क्षयोपशम से होता है। अत वीर्य (बल) के सम्बन्ध मे स्पष्ट निरूपण करने हेतु यह आठवाँ अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

विभिन्न पहलुओ से वीर्य और उसके प्रकार

इस अध्ययन के नाम से ही प्रकट है कि इसमे वीर्य अर्थात् पराक्रम के सम्बन्ध मे वर्णन है। इसलिए इस अध्ययन का अर्थाधिकार यह है—वीर्य तीन प्रकार का है—(१) बालवीर्य, (अविवेकी), (२) बाल-पण्डितवीर्य (यथाशक्ति सदाचारी) और (३) पण्डितवीर्य (सम्पूर्ण सयम पालने वाला)। इन तीनो प्रकार के वीर्य (आत्मबल) वालो मे प्रत्येक का वीर्य (आत्मशक्ति) जानकर साधु को पण्डितवीर्य मे पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। इस अध्ययन मे कोई उद्देशक नही है। वीर्य शब्द यहाँ सामर्थ्य, बल, पराक्रम, या शक्ति का सूचक है।

विभिन्न पहलुओं से वीर्य और उसके प्रकार

निक्षेप की दृष्टि से वीर्य के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यों ६ निक्षेप होते हैं। नाम और स्थापनावीर्य सुगम हैं। **द्रव्यवीर्य** आगमत और नो-आगमत दो प्रकार का है। जो पुरुष वीर्य को जानता है, परन्तु उसमे उपयोग नही रखता, वह आगमत द्रव्यवीर्य है। नो-आगम से द्रव्यवीर्य ज्ञशरीर तथा भव्यशरीर से व्यतिरिक्त सचित्तवीर्य, अचित्तवीर्य और मिश्रवीर्य यो तीन प्रकार का है। सचित्तवीर्य के तीन भेद हैं—द्विपद, चतुष्पद और अपद। द्विपदो मे अरिहत, चक्रवर्ती, बलदेव आदि का जो वीर्य (शरीर पराक्रम) है, तथा जिस स्त्रीरत्न का जो वीर्य है, वह यहाँ सचित्त द्विपद द्रव्यवीर्य है। तथा सचित्त चतुष्पदो मे उत्तम अश्व, उत्तम हाथी या सिंह, व्याघ्र आदि का जो वीर्य (बल) है, उसे सचित्त चतुष्पद द्रव्यवीर्य समझना चाहिए तथा बोझा ढोने और दौडने मे इनका जो बल है, वह द्रव्यवीर्य जानना

चाहिए। अपदो मे गोशीर्ष चन्दन आदि के वीर्य (शक्ति) को समझना चाहिए। इस चन्दन मे यह शक्ति है कि इसका लेप लगाने से शीतकाल मे शीत और ग्रीष्म-काल मे गर्मी दूर हो जाती है। अत इसका वीर्य अपदद्रव्यवीर्य है।

(अचित्त द्रव्यवीर्य तीन प्रकार का है—आहार, आवरण (शरीररक्षक कवच आदि) और प्रहरण (शस्त्र)। आहार का वीर्य यह है कि दूध आदि पदार्थों के सेवन से शरीर और इन्द्रियो मे ताकत एव स्फूर्ति आती है। जैसे दूध आदि। वातपित्त कफादि नाशक, बुद्धिवर्द्धक, शक्तिवर्द्धक औषधियो को भी आहार-रस-वीर्य कहते हैं। शरीर रक्षण मे कवच, ढाल आदि की शक्ति **आवरण-वीर्य** है और शस्त्र, अस्त्र आदि की शक्ति **प्रहरणवीर्य** है।)

क्षेत्रवीर्य—जिस क्षेत्र का जो वीर्य (सामर्थ्य) है वह क्षेत्र द्रव्यवीर्य है। अथवा दुर्ग आदि स्थान के आश्रय से किसी पुरुष का उत्साह बढता है, इसलिए भी वह क्षेत्रवीर्य है, अथवा देवकुरु आदि क्षेत्र मे सभी पदार्थ उस क्षेत्र के प्रभाव से उत्तमवीर्यवान होते हैं, इसलिए वह क्षेत्रवीर्य है। अथवा जिस क्षेत्र मे वीर्य की व्याख्या की जाय वह भी क्षेत्रवीर्य है।

कालवीर्य—एकान्त सुखयुक्त सुषम नामक प्रथम आरादि कालवीर्य है। अथवा अमुक-अमुक ऋतु मे अमुक-अमुक वस्तु शक्ति बढाती है, सामर्थ्य एव स्वास्थ्य बढती है, वह भी कालवीर्य है।

भाववीर्य—वीर्य-शक्तियुक्त जीव की वीर्यसम्बन्धी अनेक लब्धियाँ है। यह छाती का वीर्य, शरीरवीर्य (बल), इन्द्रियबल, आध्यात्मिक बल आदि अनेक प्रकार का होता है। **मनोबल**—मन आन्तरिक व्यापार से मनोयोग्य पुद्गलो को मन के रूप मे, भाषा के योग्य पुद्गलो को भाषा के रूप मे तथा काय के योग्य पुद्गलो को काय के रूप मे एव श्वास-उच्छ्वास के योग्य पुद्गलो को श्वासोच्छ्वास के रूप मे परिणत करता है, वह मनोवीर्य है। इसके दो भेद है—सम्भाव्य और सभव। जो जीव बुद्धिमान के द्वारा कही गई बात को इस समय नही समझ सका, परन्तु भविष्य मे अभ्यास के द्वारा समझ लेगा, उसका वह मनोबल **सम्भाव्यमनोवीर्य** है। तीर्थंकरो तथा अनुत्तरविमान के देवो का मन बहुत निर्मल होता है। वे मन द्वारा जो प्रश्न करते है, उसका समाधान तीर्थंकरदेव द्रव्यमन से ही दे देते है। उनका यह मनोबल सभवमनोवीर्य है।

वचनबल—वाग्वीर्य के भी दो भेद है सभव और सम्भाव्य। तीर्थंकरो की वाणी मे एक योजन दूर तक फैलने का सामर्थ्य है, सबको अपनी-अपनी भाषा मे समझाने की उसमे शक्ति है, इसलिए वह **सभववाग्वीर्य** है। किसी-किसी व्यक्ति की वाणी दूध एव मधु के समान माधुर्यबल से युक्त होने से सबको प्रभावित कर सकती

अष्टम अध्ययन : वीर्य

सातवे अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है, अव आठवें वीर्य नामक अध्ययन की व्याख्या प्रारम्भ की जा रही है। सातवे अध्ययन मे कुशील (शिथिलाचारी एव पतित) साधक के साथ साथ सुशील (सुविहित सदाचारी) साधक का भी निरूपण किया गया है। इन दोनो प्रकार के साधुओ का कुशीलत्व और सुशीलत्व क्रमश सयम-वीर्यान्तराय (सयमपालन मे विघ्नरूप) कर्म के उदय से तथा क्षयोपशम से होता है। अत वीर्य (वल) के सम्बन्ध मे स्पष्ट निरूपण करने हेतु यह आठवाँ अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

विभिन्न पहलुओ से वीर्य और उसके प्रकार

इस अध्ययन के नाम से ही प्रकट है कि इसमे वीर्य अर्थात् पराक्रम के सम्बन्ध मे वर्णन है। इसलिए इस अध्ययन का अर्थाधिकार यह है—वीर्य तीन प्रकार का है—(१) वालवीर्य, (अविवेकी), (२) बाल-पण्डितवीर्य (*यथाशक्ति सदाचारी*) और (३) पण्डितवीर्य (सम्पूर्ण सयम पालने वाला)। इन तीनो प्रकार के वीर्य (आत्मबल) वालो मे प्रत्येक का वीर्य (आत्मशक्ति) जानकर साधु को पण्डितवीर्य मे पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। इस अध्ययन मे कोई उद्देशक नही है। वीर्य शब्द यहाँ सामर्थ्य, बल, पराक्रम, या शक्ति का सूचक है।

विभिन्न पहलुओ से वीर्य और उसके प्रकार

निक्षेप की दृष्टि से वीर्य के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यो ६ निक्षेप होते हैं। नाम और स्थापनावीर्य सुगम हैं। द्रव्यवीर्य आगमत और नो-आगमत दो प्रकार का है। जो पुरुष वीर्य को जानता है, परन्तु उसमे उपयोग नही रखता, वह आगमत द्रव्यवीर्य है। नो-आगम से द्रव्यवीर्य ज्ञशरीर तथा भव्यशरीर से व्यतिरिक्त सचित्तवीर्य, अचित्तवीर्य और मिश्रवीर्य यो तीन प्रकार का है। सचित्तवीर्य के तीन भेद हैं—द्विपद, चतुष्पद और अपद। द्विपदो मे अरिहत, चक्रवर्ती, बलदेव आदि का जो वीर्य (शरीर पराक्रम) है, तथा जिस स्त्रीरत्न का जो वीर्य है, वह यहाँ सचित्त द्विपद द्रव्यवीर्य है। तथा सचित्त चतुष्पदो मे उत्तम अश्व, उत्तम हाथी या सिंह, व्याघ्र आदि का जो वीर्य (बल) है, उसे सचित्त चतुष्पद द्रव्यवीर्य समझना चाहिए तथा बोझा ढोने और दौडने मे इनका जो वल है, वह द्रव्यवीर्य जानना

चाहिए। अपदो मे गोशीर्ष चन्दन आदि के वीर्य (शक्ति) को समझना चाहिए। इस चन्दन मे यह शक्ति है कि इसका लेप लगाने से शीतकाल मे शीत और ग्रीष्म-काल मे गर्मी दूर हो जाती है। अत इसका वीर्य अपदद्रव्यवीर्य है।

(अचित्त द्रव्यवीर्य तीन प्रकार का है – आहार, आवरण (शरीररक्षक कवच आदि) और प्रहरण (शस्त्र)। आहार का वीर्य यह है कि दूध आदि पदार्थों के सेवन से शरीर और इन्द्रियो मे ताकत एव स्फूर्ति आती है। जैसे दूध आदि। वातपित्त कफादि नाशक, बुद्धिवर्द्धक, शक्तिवर्द्धक औषधियो को भी आहार-रस-वीर्य कहते हैं। शरीर रक्षण मे कवच, ढाल आदि की शक्ति आवरण-वीर्य है और शस्त्र, अस्त्र आदि की शक्ति प्रहरणवीर्य है।)

क्षेत्रवीर्य—जिस क्षेत्र का जो वीर्य (सामर्थ्य) है वह क्षेत्र द्रव्यवीर्य है। अथवा दुर्ग आदि स्थान के आश्रय से किसी पुरुष का उत्साह बढता है, इसलिए भी वह क्षत्रवीर्य है, अथवा देवकुरु आदि क्षेत्र मे सभी पदार्थ उस क्षेत्र के प्रभाव से उत्तमवीर्यवान होते हैं, इसलिए वह क्षेत्रवीर्य है। अथवा जिस क्षेत्र मे वीर्य की व्याख्या की जाय वह भी क्षेत्रवीर्य है।

कालवीर्य—एकान्त सुखयुक्त सुषम नामक प्रथम आरादि कालवीर्य है। अथवा अमुक-अमुक ऋतु मे अमुक-अमुक वस्तु शक्ति बढाती है, सामर्थ्य एव स्वास्थ्य बढती है, वह भी कालवीर्य है।

भाववीर्य—वीर्य-शक्तियुक्त जीव की वीर्यसम्बन्धी अनेक लब्धियाँ है। यह छाती का वीर्य, शरीरवीर्य (बल), इन्द्रियबल, आध्यात्मिक बल आदि अनेक प्रकार का होता है। **मनोबल**—मन आन्तरिक व्यापार से मनोयोग्य पुद्गलो को मन के रूप मे, भाषा के योग्य पुद्गलो को भाषा के रूप मे तथा काय के योग्य पुद्गलो को काय के रूप मे एव श्वास-उच्छ्वास के योग्य पुद्गलो को श्वासोच्छ्वास के रूप मे परिणत करता है, वह मनोवीर्य है। इसके दो भेद हैं—सम्भाव्य और सभव। जो जीव बुद्धिमान के द्वारा कही गई बात को इस समय नहीं समझ सका, परन्तु भविष्य मे अभ्यास के द्वारा समझ लेगा, उसका वह मनोबल **सम्भाव्यमनोवीर्य** है। तीर्थकरो तथा अनुत्तरविमान के देवो का मन बहुत निर्मल होता है। वे मन द्वारा जो प्रश्न करते हैं, उसका समाधान तीर्थंकरदेव द्रव्यमन से ही दे देते है। उनका यह मनोबल सभवमनोवीर्य है।

वचनबल—वाग्वीर्य के भी दो भेद है सभव और सम्भाव्य। तीर्थंकरो की वाणी मे एक योजन दूर तक फैलने का सामर्थ्य है, सबको अपनी-अपनी भाषा मे समझाने की उसमे शक्ति है, इसलिए वह **सभववाग्वीर्य** है। किसी-किसी व्यक्ति की वाणी दूध एव मधु के समान माधुर्यबल से युक्त होने से सबको प्रभावित कर सकती

उसके भग करे तो इस अपेक्षा से यह सादि है और फिर जघन्य अन्तर्मुहूर्त मे चारित्रग्रहण करे तथा उत्कृष्ट अपार्धपुद्गलपरावर्तनकाल मे फिर चारित्र का उदय हो तो वह अविरति सान्त है। इस अपेक्षा से अविरति सादिसान्त है। पण्डित-वीर्य सर्वविरतिरूप है। और वह विरति चारित्रमोहनीयकर्म के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से होने के कारण तीन प्रकार की है। इस दृष्टि से भी वीर्य तीन प्रकार का है।

यहाँ आध्यात्मिक वीर्य के इन तीनो प्रकारो के सन्दर्भ मे शास्त्रकार बताते है। अब क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

दुहा वेय सुयक्खायं, वीरियति पवुच्चई ।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, कह चेय पवुच्चई ? ॥१॥

सस्कृत छाया

द्विधा वेद स्वाख्यात वीर्यमिति प्रोच्यते ।
कि नु वीरस्य वीरत्व, कथ चेद प्रोच्यते ॥१॥

अन्वयार्थ

(वेय वीरियति पवुच्चइ) यह जो वीर्य कहलाता है, वह (दुहा सुयक्खाय) दो प्रकार का तीर्थकरो ने कहा है। (वीरस्स किं नु वीरत्त) वीर पुरुष की वीरता क्या है ? (कह चेय पवुच्चई) किस कारण से वह वीर कहलाता है ?

भावार्थ

यह जो 'वीर्य' नाम से पुकारा जाता है, इसे तीर्थकरो ने दो प्रकार का कहा है। प्रश्न होता है— वीर का वीरत्व क्या है ? और वह किस कारण से वीर कहलाता है ?

व्याख्या

वीर्य, वीर और वीरत्व

इस गाथा मे वीर्य का स्वरूप, प्रकार और वीर तथा वीरत्व के सम्बन्ध मे यत्किंचित् झाँकी दी है।

जो विशेष रूप से अहित को दूर करता है, उसे वीर्य कहते है। वह जीव की एक शक्तिविशेष है।[1] उसी शक्ति के सहारे प्रत्येक प्राणी चिन्तन-मनन से लेकर बोलना, चलना, देखना, सूंघना, स्पर्श करना, सोना, जागना आदि तमाम मानसिक, वाचिक एव कायिक क्रियाएँ कर सकता है। जीवन मे से वीर्यशक्ति निकल गई तो

---

१ विशेषेण ईरयति—प्रेरयति अहित येन तद्वीर्यम्, जीवस्य शक्तिविशेष ।

—शीलाक-वृत्ति

समझ लो, उसका नाश हो गया। शरीर मे जो श्वेत, पारदर्शी, तरल-सा, गाढा, चिकना-सा पदार्थ रहता है, जिसे शुक्र कहते हैं, उसे भी वीर्य कहा जाता है, परन्तु उस वीर्य का इतना महत्त्व नही है, जितना कि पराक्रम या सामर्थ्यरूप वीर्य का है। इसीलिए शास्त्रकार ने उसी आध्यात्मिक वीर्य के सिलसिले मे कहा है कि वीर्य के दो प्रकार तीर्थंकरो व गणधरो ने सम्यक् प्रकार से कहे है।

गाथा के उत्तरार्द्ध मे प्रश्न उठाया गया है कि वीरपुरुष मे वीरत्व या वीर्य क्या वस्तु है? और किस कारण से उसे वीर कहते है?

वास्तव मे ये दोनो प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं और इन्ही दोनो प्रश्नो के खभो पर समग्र वीर्य अध्ययन का महल खडा है। अत अगली गाथाओ मे क्रमश इनका उत्तर शास्त्रकार देते है—

मूल पाठ

कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्म वावि सुव्वया ।
एतेहि दोहि ठाणेहि, जेहि दीसंति मच्चिया ॥२॥

सस्कृत छाया

कमके प्रवेदयन्त्यकर्माण वाऽपि सुव्रता ।
आभ्या द्वाभ्या स्थानाभ्या, याभ्या दृश्यन्ते मर्त्या ॥२॥

अन्वयार्थ

(एगे कम्म पवेदेंति) कई लोग कर्म को वीर्य कहते है, (सुव्वया) और हे सुव्रतो! (अकम्म वावि) कोई अकर्म को वीर्य कहते है। (मच्चिया) मर्त्यलोक के प्राणी (एतेहि दोहि ठाणेहि दीसति) इन्ही दो भेदो मे देखे जाते हैं।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं हे सुव्रतो! कई लोग कर्म को वीर्य कहते हैं और दूसरे अकर्म को वीर्य कहते हैं। इस प्रकार वीर्य के दो प्रकार हैं। इन्ही दो भेदो मे मर्त्यलोक के सभी प्राणी दिखाई देते है।

व्याख्या

कर्म और अकर्म वीर्य के दो भेद

इस गाथा मे कर्म और अकर्म को वीर्य बताने वाले लोगो का मत प्रदर्शित करके दो प्रकार के वीर्य बताए हैं। जो लोग कर्म को ही वीर्य बताते है, उनका कहना है कि अपने प्रयत्न से जो क्रिया निष्पादित की जाती है, उसे कर्म कहते है और कर्म ही (जोर लगाकर किया जाता है, इसीलिए) वीर्य है। अथवा कर्म ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार का है। कारण मे कार्य का उपचार करने से वह अष्टविध कर्म ही आठ प्रकार का वीर्य है। क्योकि औदयिक भाव से जो निष्पन्न होता है, वह कर्म कहलाता है और औदयिकभाव कर्म के उदय से ही निष्पन्न होता है। इसलिए

उसके भग करे तो इस अपेक्षा से यह सादि है और फिर जघन्य अन्तर्मुहूर्त मे चारित्रग्रहण करे तथा उत्कृष्ट अपार्धपुद्गलपरावर्तनकाल मे फिर चारित्र का उदय हो तो वह अविरति सान्त है। इस अपेक्षा से अविरति सादिसान्त है। पण्डित-वीर्य सवविरतिरूप है। और वह विरति चारित्रमोहनीयकर्म के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से होने के कारण तीन प्रकार की है। इस दृष्टि से भी वीर्य तीन प्रकार का है।

यहाँ आध्यात्मिक वीर्य के इन तीनो प्रकारो के सन्दर्भ मे शास्त्रकार बताते हैं। अब क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

दुहा वेय सुयक्खाय, वीरियति पवुच्चई ।
कि नु वीरस्स वीरत्त, कह चेय पवुच्चई ? ॥१॥

सस्कृत छाया

द्विधा वेद स्वाख्यात वीर्यमिति प्रोच्यते ।
कि नु वीरस्य वीरत्व, कथ चेद प्रोच्यते ॥१॥

अन्वयार्थ

(वेय वीरियति पवुच्चइ) यह जो वीर्य कहलाता है, वह (दुहा सुयक्खाय) दो प्रकार का तीर्थंकरो ने कहा है। (वीरस्स किं नु वीरत्त) वीर पुरुप की वीरता क्या है ? (कह चेय पवुच्चई) किस कारण से वह वीर कहलाता है ?

भावार्थ

यह जो 'वीर्य' नाम से पुकारा जाता है, इसे तीर्थंकरो ने दो प्रकार का कहा है। प्रश्न होता है— वीर का वीरत्व क्या है ? और वह किस कारण से वीर कहलाता है ?

व्याख्या

वीर्य, वीर और वीरत्व

इस गाथा मे वीर्य का स्वरूप, प्रकार और वीर तथा वीरत्व के सम्बन्ध मे यत्किंचित् झाँकी दी है।

जो विशेष रूप से अहित को दूर करता है, उसे वीर्य कहते हैं। वह जीव की एक शक्तिविशेष है।[1] उसी शक्ति के सहारे प्रत्येक प्राणी चिन्तन-मनन से लेकर बोलना, चलना, देखना, सूंघना, स्पर्श करना, सोना, जागना आदि तमाम मानसिक, वाचिक एव कायिक क्रियाएँ कर सकता है। जीवन मे से वीर्यशक्ति निकल गई तो

---

१ विशेषेण ईरयति—प्रेरयति अहित येन तद्वीर्यम्, जीवस्य शक्तिविशेष ।

—शीलाक-वृत्ति

समझ लो, उसका नाश हो गया। शरीर मे जो श्वेत, पारदर्शी, तरल-सा, गाढा, चिकना-सा पदार्थ रहता है, जिसे शुक्र कहते है, उसे भी वीर्य कहा जाता है, परन्तु उस वीर्य का इतना महत्त्व नही है, जितना कि पराक्रम या सामर्थ्यरूप वीर्य का है। इसीलिए शास्त्रकार ने उसी आध्यात्मिक वीर्य के सिलसिले मे कहा है कि वीर्य के दो प्रकार तीर्थंकरो व गणधरो ने सम्यक् प्रकार से कहे हैं।

गाथा के उत्तरार्द्ध मे प्रश्न उठाया गया है कि वीरपुरुष मे वीरत्व या वीर्य क्या वस्तु है? और किस कारण से उसे वीर कहते हैं?

वास्तव मे ये दोनो प्रश्न महत्त्वपूर्ण है और इन्ही दोनो प्रश्नो के खभो पर समग्र वीर्य अध्ययन का महल खडा है। अत अगली गाथाओ मे क्रमश इनका उत्तर शास्त्रकार देते है—

मूल पाठ

कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्म वावि सुव्वया ।
एतेहि दोहि ठाणेहि, जेहि दीसंति मच्चिया ॥२॥

सस्कृत छाया

कमके प्रवेदयन्त्यकर्माण वाऽपि सुव्रता ।
आभ्या द्वाभ्या स्थानाभ्या, याभ्या दृश्यन्ते मर्त्या ॥२॥

अन्वयार्थ

(एगे कम्म पवेदेंति) कई लोग कर्म को वीर्य कहते है, (सुव्वया) और हे सुव्रतो! (अकम्म वावि) कोई अकर्म को वीर्य कहते हैं। (मच्चिया) मर्त्यलोक के प्राणी (एतेहि दोहि ठाणेहि दीसति) इन्ही दो भेदो मे देखे जाते है।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते है हे सुव्रतो! कई लोग कर्म को वीर्य कहते हैं और दूसरे अकर्म को वीर्य कहते है। इस प्रकार वीर्य के दो प्रकार है। इन्ही दो भेदो मे मर्त्यलोक के सभी प्राणी दिखाई देते है।

व्याख्या

कर्म और अकर्म वीर्य के दो भेद

इस गाथा मे कर्म और अकर्म को वीर्य बताने वाले लोगो का मत प्रदर्शित करके दो प्रकार के वीर्य बताए हैं। जो लोग कर्म को ही वीर्य बताते है, उनका कहना है कि अपने प्रयत्न से जो क्रिया निष्पादित की जाती है, उसे कर्म कहते है और कर्म ही (जोर लगाकर किया जाता है, इसीलिए) वीर्य है। अथवा कर्म ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार का है। कारण मे कार्य का उपचार करने से वह अष्टविध कर्म ही आठ प्रकार का वीर्य है। क्योकि औदयिक भाव से जो निष्पन्न होता है, वह कर्म कहलाता है और औदयिकभाव कर्म के उदय से ही निष्पन्न होता है। इसलिए

शास्त्रीय परिभाषा मे उसे बालवीर्य कहते हैं । वीर्य का दूसरा भेद अकर्म है । जिसमे कर्म न हो, वह अकर्मवीर्य कहलाता है । अकर्मवीर्य कर्म के जोर से निष्पन्न नही होता, किन्तु वह वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न आत्मा का स्वाभाविक वीर्य है । वैसे चारित्रमोहनीयकर्म के उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न निर्मल चारित्र मे पुरुषार्थ को भी वीर्य कहते है । हे सुव्रतो ! ऐसे वीर्य को शास्त्रीय परिभाषा मे पण्डितवीर्य कहते है ।

सकर्मवीर्य और अकर्मवीर्य, दूसरे शब्दो मे बालवीर्य और पण्डितवीर्य इन्ही भेदो मे सारे ससार का वीर्य समाविष्ट है, या व्यवस्थित है । मर्त्यलोक के समस्त प्राणी इन्ही दो भेदो मे विभक्त हैं । अच्छी बुरी अनेक प्रकार की क्रियाओ मे उत्साह, धैर्य, साहस और पौरुष, बल के साथ लगे हुए व्यक्ति को देखकर स्थूलदृष्टि वाले लोग कहते है— "यह पुरुष वीर्य सम्पन्न (शक्तिशाली) है ।" किन्तु सम्यग्दृष्टिजन वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से युक्त महापुरुष को अनन्तवीर्य (बल) युक्त कहते है ।

पूर्वगाथा मे कारण मे कार्य का उपचार करके कर्म को ही बालवीर्य कहा गया था, अब अगली गाथा मे कारण मे कार्य का उपचार करके प्रमाद को कर्मरूप बताते है—

मूल पाठ

पमाय कम्ममाहसु, अप्पमाय तहाऽवरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बाल पडियमेव वा ॥३॥

सस्कृत छाया

प्रमाद कर्म आहुरप्रमाद तथाऽपरम् ।
तद्भावादेशतो वाऽपि बाल पण्डितमेव वा ॥३॥

अन्वयार्थ

(पमाय कम्ममाहसु) तीर्थंकरो ने प्रमाद को कर्म कहा है (तहा अप्पमाय अवर) तथा अप्रमाद को अकर्म कहा है (तब्भावादेसओ वावि) इन दोनो की सत्ता से ही (बाल पडियमेव) बालवीर्य या पण्डितवीर्य होता है ।

भावार्थ

तीर्थंकरो ने प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा है । अत प्रमाद के होने से बालवीर्य और अप्रमाद के होने से पण्डितवीर्य होता है ।

व्याख्या

प्रमाद कर्म बालवीर्य एव अप्रमाद अकर्म पण्डितवीय

प्रमाद का अर्थ होता है—प्राणिवर्ग जिसके कारण उत्तम अनुष्ठान से रहित होते हैं, वह मद्य आदि पाँच प्रकार का है । मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा (चारित्रदूषक कथा) ये ५ प्रमाद जिनवरो ने बताए हैं । तीर्थंकरो ने प्रमाद को

कर्मवन्धन का एक विशिष्ट कारण कहा है और अप्रमाद को अकर्म—कर्मवन्धन-रहितत्व। प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहने का रहस्य यह है कि प्रमाद के कारण भानरहित होकर जीव कर्म बाँधता है, वह अपनी सारी शक्ति (वीर्य) को विपरीत अनुष्ठान मे लगाकर कर्मवन्धन करता रहता है, इसलिए प्रमादयुक्त सकर्मा जीव का जो भी क्रियानुष्ठान है, वह बालवीर्य है तथा प्रमादरहित पुरुष के कर्तव्य के पीछे सतत आत्मभान होने के कारण उसके कार्य मे कर्म का अभाव है, वह अपनी सारी शक्ति अप्रमत्त होकर कर्मक्षय करने, हिंसा आदि आस्रवो तथा कर्मबन्धो से दूर रहने मे और स्व-भावरमण मे लगाता है, इसलिए ऐसे व्यक्ति का कार्य पण्डित-वीर्य है। इस प्रकार जो व्यक्ति प्रमादी और सकर्मा है, उसके वीर्य को बालवीर्य और जो अप्रमादी और अकर्मा है, उसके वीर्य को पण्डितवीर्य समझना चाहिए। जीव मे इन दोनो की सत्ता से ही क्रमश बाल और पण्डित का व्यवहार होता है। अभव्य-जीवो का बालवीर्य अनादि-अनन्त, और भव्यजीवो का अनादि-सान्त या सादि-सान्त होता है, जबकि पण्डितवीर्य सादि और सान्त ही होता है। इसलिए साधक को प्रमादजन्य बालवीर्य छोडकर अप्रमादजन्य पण्डितवीर्य को अपनाना चाहिए।

प्रमादवश मूढ बनकर कर्मबध करने वाले अधम पुरुष का बालवीर्य (अधम पुरुषार्थ मे शक्ति) किन-किन कुकृत्यो मे कैसे-कैसे प्रयुक्त होता है ? इसे अगली गाथा मे पढिए—

मूल पाठ

सत्थमेगे तु सिक्खता, अतिवायाय पाणिण।
एगे मते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो ॥४॥

सस्कृत छाया

शास्त्रमेके तु शिक्षन्ते, अतिपाताय प्राणिनाम्।
एके मत्रानधीयते प्राण-भूत-विहेटकान् ॥४॥

अन्वयार्थ

(**एगे पाणिण अतिवायाय**) कई लोग प्राणियो का वध करने के लिए (**सत्थ सिक्खता**) तलवार आदि शस्त्र (चलाना) अथवा धनुर्वेद आदि शास्त्र सीखते है, (**एगे पाणभूयविहेडिणो मते अहिज्जति**) तथा कई लोग प्राणी और भूतो (जीवो) को मारने वाले मत्रो को पढते है।

भावार्थ

कई बालजीव प्राणियो का सहार करने के लिए तलवार आदि शस्त्रो का चलाना अथवा धनुर्वेद, कौटिल्य अर्थशास्त्र, वात्स्यायन कामशास्त्र, कोकशास्त्र आदि शास्त्रो को सीखते हैं तथा कई अज्ञजीव प्राणियो एव जीवो के विघातक मत्रो का अध्ययन करते हैं।

व्याख्या

प्राणिविघातक शास्त्रो एव मत्रो का अध्ययन

इस गाथा मे बताया गया है कि वालवीर्यसम्पन्न व्यक्ति अपनी शक्तियो का उपयोग प्राणिविघातक शास्त्रो एव मत्रो के अभ्यास मे करते है। अपनी समस्त शक्तियो (वीर्यो) का उपयोग आत्मकल्याण एव विकास मे करना चाहिए, इसके वजाय सुख-साता और अहकारपोषण मे लीन, राग-द्वेष-प्रमादरत, वालवीर्यसम्पन्न लोग अपनी शक्तियो को ऐसे शास्त्रो और मत्रो को उत्साहपूर्वक सीखने और उनका प्रयोग करने मे लगाते है। उन सीखी हुई प्राणिघातक विद्याओ का प्रयोग प्राणि-हिंसा के लिए होता है। अस्त्र-शस्त्र विद्या तो प्राणिघातक है ही। मारण-मोहन-उच्चाटन मत्रो का प्रयोग भी सरासर जीवहिंसक है। आयुर्वेदशास्त्र या चिकित्सा-शास्त्र मे जीवहिंसा से निष्पन्न कई औषधियो का प्रयोग वताया गया है। चौर्यशास्त्र मे धन हरण करने एव ठगने की विद्या बताई गई है जो परपीडाजनक है। काम-शास्त्र मे कामोत्तेजनाजनक प्रयोग वताये गये है, जो वीर्यनाशक है। कई लोग पाप-कर्म के उदय से अथर्ववेद के प्राणिघातकजनक मत्रो को अश्वमेध, नरमेध, गोमेध, श्येनयाज्ञ आदि यज्ञो के निमित्त पढते हे। जिन मारण-उच्चाटन आदि मत्रो से द्वीन्द्रिय आदि प्राणियो तथा पृथ्वीकाय आदि भूतो की अनेक प्रकार की पीडा या हिंसा होती है। गदे विचारो वाले लोग ही उन्हे पढते है और उत्तम अनुष्ठान छोड कर अशुभ अनुष्ठानो मे अपना पराक्रम करते है। जैसे कि कहा है—

> षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूना मध्यमेऽहनि ।
> अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभि ॥

अश्वमेधयज्ञ के वचनानुसार बीच के दिन मे तीन कम ६०० पशु मारने के लिए तैयार रखे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त चारित्रभ्रष्ट करने वाले तत्रशास्त्र, जिनमे मद्य, मत्स्य, मास, मैथुन और मुद्रा, इन पचमकारो का वर्णन है, इन शास्त्रो को वालवीर्य सम्पन्न ही तो पढ सकते हैं। कहाँ तक गिनाएँ ? जितने भी ऐसे प्राणिविघातक शास्त्र या विद्या, मत्र आदि है, उन्हे वालवीर्य वाले ही सीखते है और पापकर्म बाँधते हैं।

मूल पाठ

माइणो कट्टु माया य, कामभोगे समारभे ।
हता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥५॥

सस्कृत छाया

मायिन कृत्वा मायाश्च, कामभोगान् समारम्भन्ते ।
हन्तारश्छेत्तार प्रकर्त्तयितार आत्मसातानुगामिन ॥५॥

अन्वयार्थ

(माइणो माया कट्टु) माया करने वाले व्यक्ति माया यानी छलकपट करके (कामभोगे समारभं) कामभोगो का सेवन करते है। (आयसायाणुगामिणो) अपने सुख के पीछे दौडने वाले वे (हंता छेत्ता पगब्भित्ता) प्राणियो को मारते, काटते और चीरते हैं।

भावार्थ

धोखेबाज लोग कपट एव ठगी से दूसरे का धन आदि हरण करके या गुप्त रूप से कामभोगो का सेवन करते है। वे अपने सुख के पीछे अधी दौड लगाने वाले बालवीर्यवान् पुरुष प्राणियो का हनन, छेदन और विदारण (चीरना) करते है।

व्याख्या

सुखेच्छाओ के पीछे दौडने वाले कपटी लोगो के कारनामे

जो लोग केवल अपने सुख और प्रसिद्धि के पीछे अन्धे होकर दौडते है, वे दूसरो को ठगने मे, परवचना करने मे और सब्जबाग दिखाने मे बडे चतुर होते हैं। वे हाथ की सफाई से, मुँह की सफाई से और अपने मधुर व्यवहार से भोले-भाले लोगो की आँखो मे इस प्रकार धूल झोकते रहते है कि वे सहसा उसकी माया को पकड नही सकते। इस प्रकार वे बडी सफाई से धनिको और युवतियो को अपने मायाजाल मे फँसाकर पाचो इन्द्रियो के शब्दादि विषयो का मनमाना उपभोग करते हैं। यहाँ 'कामभोगे समारभे' के बदले 'आरम्भाय तिवट्टइ' भी पाठान्तर मिलता है, जिसका अर्थ होता है—वे भोगार्थी व्यक्ति मन वचन-काय तीनो से आरम्भ मे प्रवृत्त रहते है।

इस प्रकार परवचना से कामभोगो का सेवन करते हुए वे क्या-क्या करते है? इसके लिए शास्त्रकार कहते है—'हन्ता छेत्ता पगब्भित्ता आयसायाणुगामिणो।' आशय यह है कि वे सुख की लालसा मे तत्पर, विषयभोगासक्त एव क्रोध-मान-माया-लोभ चारो कषायो से मलिन हृदय वाले पुरुष प्राणियो का घात करते हैं, उनके नाक, कान, पेट, पीठ आदि अगोपाग काट लेते हैं, उनका पेट फाड देते हैं, आँतें चीर देते है। इस प्रकार के अशुभ पुरुषार्थ को शास्त्रकार बालवीर्य कहते है।

मूल पाठ

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अतसो ।
आरओ परओ वावि, दुहावि य असजया ॥६॥

सस्कृत छाया

मनसा वचसा चैव, कायेन चैवान्तश ।
आरत परतो वाऽपि द्विधोऽपि चासयता ॥६॥

भावार्थ

जीवहिंसा करने वाला पुरुष उस जीव के साथ अनेक जन्मो के लिए वैर बाँध लेता है, क्योकि दूसरे जन्म मे वह जीव उसे मारता है, फिर तीसरे जन्म मे जीवहिंसक उसे मारता है, इस प्रकार वैर की परम्परा परस्पर चलती रहती है। फिर आरम्भजनित हिंसाएँ पाप को उत्पन्न करती हैं, जिनका विपाक अन्त मे दुःखद होता है।

व्याख्या

जीवहिंसा वैरपरम्पराजनक एव दुःखान्त

इसका आशय स्पष्ट है। बालवीर्यसम्पन्न पुरुष अविवेक के कारण प्राणिघात मे अपनी सारी शक्ति लगा देता है, जिसके फलस्वरूप वैर की परम्परा कई जन्मो तक चलती है। फिर जीवहिंसा के द्वारा पापकर्म का बन्ध होने के कारण अन्त में भयकर दुःख का अनुभव होता है।

मूल पाठ

सपरायं णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो ।
रागदोसस्सिया बाला, पाव कुव्वति ते बहु ॥८॥

सस्कृत छाया

सम्पराय नियच्छन्त्यात्मदुष्कृतकारिण ।
रागद्वेषाश्रिता बाला पाप कुर्वन्ति ते बहु ॥८॥

अन्वयार्थ

(अत्तदुक्कडकारिणो) स्वय पाप करने वाले जीव (सपराय णियच्छति) साम्परायिक कर्म बाँधते हैं। (रागदोसस्सिया ते बाला) तथा राग और द्वेष के आश्रय से वे अज्ञानी जीव (बहु पाव कुव्वति) बहुत पाप करते है।

भावार्थ

स्वय दुष्कर्म करने वाले प्राणी साम्परायिक कर्म बाँधते हैं तथा राग-द्वेष के स्थानभूत वे अज्ञानी बहुत पाप करते हैं।

व्याख्या

स्वय पापकारी साम्परायिक कर्मबन्ध करते हैं

कर्म दो प्रकार के होते है—ईर्यापथिक और साम्परायिक। सम्पराय बादर-कषायो को कहते हैं, उनसे (अत्यन्त क्रोध आदि से) प्राप्त कर्म साम्परायिक कहलाते हैं। साम्परायिकरूप कर्मबन्धन जीवो की हिंसा के कारण वैरपरम्परावश स्वय दुष्कृत (पाप) करनेवाले प्राणी करते हैं। यहाँ उन पाप करने वाले पुरुषो के विशेषण बताते है—राग और द्वेष के आश्रयभूत तथा कषाय से मलिनात्मा पुरुष

सद् और असद् के विवेक से हीन होने के कारण बालकवत् अज्ञानी हैं। वे मूढजीव अपनी अज्ञानता के कारण बहुत पाप करते है।

इस प्रकार सकर्म (बाल) वीर्य का वर्णन करके उसका उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते है—

मूल पाठ

एय सकम्मवीरिय, बालाणं तु पवेदितं ।
इत्तो अकम्मवीरियं, पडियाण सुणेह मे ॥६॥

सस्कृत छाया

एतत् सकर्मवीर्य्यं बालाना तु प्रवेदितम् ।
इतोऽकर्मवीर्य, पण्डिताना श्रृणुत मे ॥६॥

अन्वयार्थ

(एय) यह (बालाण) अज्ञानियो का (सकम्मवीरिय) सकर्मवीर्य (पवेदित) कहा गया है। (इत्तो) अब यहाँ से (पडियाण) उत्तम विज्ञ साधुओ के (अकम्मवीरिय) अकर्मवीर्य के सम्बन्ध मे (मे सुणेह) मुझ से सुनो।

भावार्थ

यह (पूर्वोक्त) अज्ञानियो का सकर्मवीर्य कहा गया है। अब यहाँ से पण्डित मुनिवरो के अकर्मवीर्य के बारे मे मुझ से सुनो।

व्याख्या

सकर्मवीर्य का उपसहार, अकर्मवीर्य का प्रारम्भ

पूर्वोक्त गाथाओ मे सकर्म (बाल) वीर्य के सन्दर्भ मे कहा गया है कि कई अज्ञानीजन प्राणिघात के लिए शस्त्रसचालन विद्या सीखते हैं, कई लोग प्राणिहिंसा-प्रेरक शास्त्रो को पढते हैं, कई परपीडक मन्त्रो का अध्ययन करते है, कई कपटी नाना प्रकार के कपट एव मायाचार से कामभोग-सेवन करते हैं तथा कितने ही लोग पाप-कर्म करके वैरपरम्परा बाँध लेते है, आदि। जैसे जमदग्नि ने अपनी पत्नी के साथ कुकर्म करने के कारण कृतवीर्य को मार डाला था, इस वैर के कारण कृतवीर्य के पुत्र कार्त्तवीर्य ने जमदग्नि को मार डाला था। फिर जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने सात बार पृथ्वी को क्षत्रिय-रहित कर दिया था, उसके पश्चात् कार्तवीर्य के पुत्र सुभूम ने २१ बार ब्राह्मणो का विनाश किया था। यह वैरपरम्परा की बोलती कहानी है।

कषाय के वशीभूत होकर शक्तिशाली व्यक्ति शत्रु से वैर का बदला उसे अधिक पीडा देकर लेते है। वे फिर इतने स्वार्थान्ध या क्रोधान्ध हो जाते है कि बाप या बेटे का भी कोई लिहाज नही रखते। इस प्रकार सकर्मी (पापी) अज्ञानियो या प्रमादी पुरुषो के सकर्म (बाल) वीर्य (बल) के सम्बन्ध मे यहाँ तक कहा जा

चुका है। अब यहाँ से पण्डितो (उत्तम ज्ञानी साधुओ) के अकर्मवीर्य के सम्बन्ध मे सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि से कहते है—"मै कहता हूँ, सुनो।"

मूल पाठ

दविए बधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्नवधणे ।
पणोल्ल पावक कम्म, सल्लं कतति अंतसो ॥१०॥

संस्कृत छाया

द्रव्यो बन्धनान्मुक्त सर्वतश्छिन्नबन्धन ।
प्रणुद्य पापक कर्म, शल्य कृन्तत्यन्तश ॥१०॥

अन्वयार्थ

(दविए) मुक्ति जाने योग्य भव्य पुरुष (बधणुम्मुक्के) बन्धन से मुक्त होकर, (छिन्नबधणे) बन्धनो को सर्वथा छिन्न-भिन्न करके (पावक कम्म पणोल्ल) पापकर्म को छोडकर (अतसो सल्ल कतति) अन्त मे समस्त शल्यरूप कर्मो को काट देता है।

भावार्थ

मुक्तिगमनयोग्य—भव्यपुरुष बधनो से मुक्त होता है। वह सब प्रकार के बधनो को छिन्न-भिन्न कर देता है। पहले सब पाप-कर्मो को छोडकर अन्त मे अपने शुभ अशुभ सभी कर्मो को काट देता है।

व्याख्या

पण्डितवीर्य के धनी की विशेषताएँ

इस गाथा मे पण्डितवीर्य के धनी की कुछ विशेषताएँ बताते है—'**दविए बधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्नबधणे पणोल्ल पावक कम्म, सल्ल कतति अतसो**।' द्रव्य शब्द भव्य अर्थ मे है, अर्थात् जो मोक्षगमन के योग्य हो। अथवा द्रव्य का अर्थ है—रागद्वेषरहित होने के कारण जो पुरुष द्रव्यभूत यानी कषायरहित हो, अथवा वीतराग के समान अल्पकषाय हो। यहाँ एक प्रश्न होता है—छठे गुणस्थानवर्ती सराग-सयमस्थ साधक क्या कषायरहित कहा जा सकता है? इसका समाधान यह है कि हाँ, उसे कषायरहित कहा जा सकता है, क्योकि कषाय होने पर भी जो पुरुष उसे उदय मे आने से दबा देता है, वह भी वीतरागतुल्य है।[1] चूंकि कषाय होने पर ही कर्म का स्थितिकाल बँधता[2] है, इसलिए कषाय ही बन्धनरूप है। पण्डितवीर्ययुक्त साधक पूर्वोक्त दृष्टि से कषायरहित होने से **बन्धन से उन्मुक्त** कहा गया है। जैसे

---

१ किं सक्का वोत्तु जे सरागधम्ममि कोइ अकसायो ?
सतेवि जो कसाए निगिण्हइ सोऽवि तत्तुल्लो।'

२ 'बधट्ठिई कसायवसा।'

कोई पुरुष जेल से छूट जाने पर स्वतन्त्र-स्ववश हो जाता है, वैसे ही पण्डित-वीर्यवान् पुरुष कषायमुक्त होते ही सूक्ष्म-स्थूल समस्त बन्धनो से छूटे हुए व्यक्ति की तरह स्थितप्रज्ञ, वीतराग व स्वभावस्थित हो जाता है। तथा वह पापो को दूर करके, उनके मूल कारण आस्रवो को काट कर लगे हुए काँटे की तरह बाकी रहे हुए कर्मों को समूल उखाड फैंकता है। यहाँ **'सल्ल कतइ अप्पणो'** यह पाठान्तर भी है जिसका अर्थ होता है—वह पुरुष काँटे की तरह अपनी आत्मा के साथ लगे, आठ प्रकार के कर्मों को काट फैंकता है।

वह व्यक्ति जिसके आश्रय से शल्यरूप कर्मों का छेदन करता है, उसे अगली गाथा मे शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

नेआउय सुयक्खायं, उवादाय समीहए ।
भुज्जो भुज्जो दुहावास, असुहत्त तहा तहा ।।११।।

संस्कृत छाया

न्यायोपेत स्वाख्यातमुपादाय समीहते ।
भूयो भूयो दु खावासमशुभत्व तथा तथा ।।११।।

अन्वयार्थ

(नेआउय सुयक्खाय) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को तीर्थंकरो ने मोक्ष का नेता (मोक्ष प्रदाता) कहा है, **(उवादाय समीहए)** विद्वान् पुरुष उसे ग्रहण कर मोक्ष के लिए उद्यम करते है। **(भुज्जो भुज्जो दुहावास)** बालवीर्य बार-बार दु ख का स्थान है। **(तहा तहा असुहत्त)** बालवीर्य वाला व्यक्ति ज्यो-ज्यो दु ख भोगता है, त्यो-त्यो उसका अशुभ विचार बढता जाता है।

भावार्थ

तीर्थंकरो ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का नेता या प्रापक कहा है, इसलिए बुद्धिमान पुरुष (पण्डितवीर्यवान) इन्हे ग्रहण कर मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करते है। तथा बालवीर्य जीव को बार-बार दु ख देता है, वह दु खो का घर है। बालवीर्यवान ज्यो ज्यो दु ख भोगता है, त्यो-त्यो उसका अशुभ विचार बढता जाता है।

व्याख्या

पण्डितवीर्यशाली का पुरुषार्थ और बालवीर्यवान् का भी

जो जीवो को अच्छे रास्ते ले जाता है, उसे नेता कहते हैं। यह नेता सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है अथवा श्रुत-चारित्ररूप धर्म भी नेता शब्द से गृहीत होता है, क्योकि वह भी जीव को मोक्ष मे ले जाता है। ऐसा पण्डितवीर्यशाली

का पुरुपार्थ होता है । पण्डितवीर्यशाली पुरुप मोक्ष के लिए पुरुपार्थ करके वीतरागता या मुक्ति का अनन्तसुख प्राप्त करता है, जबकि बालवीर्यशाली जीव अपने पापकर्मो के कारण बार-बार नरकादि दु खस्थान योनियो मे दु ख पाता है। ज्यो-ज्यो वह नरकादि दु खो को भोगता है, त्यो-त्यो खराब अध्यवसाय के कारण अशुभ विचार करता है, जो उसके लिए और अधिक दु ख का कारण होता है। इस प्रकार विचार करके पण्डितवीर्यवान् पुरुप धर्मध्यान मे पुरुपार्थ करता है। अपने अध्यवसायो, वचनो और कार्यकलापो की बार-बार जाँच पडताल करता रहता है तथा अपनी शक्ति अच्छे कार्यो मे लगाता है।

मूल पाठ

ठाणी विविहठाणाणि, चइस्सति ण संसओ ।
अणियते अय वासे णायएहिं सुहीहिं य ॥१२॥

सस्कृत छाया

स्थानिनो विविधस्थानानि, त्यक्ष्यन्ति न सशय ।
अनित्यो (अनियतो)ऽय वास , ज्ञातिभि. सुहृद्भिश्च ॥१२॥

अन्वयार्थ

(ठाणी) उच्च स्थान पर बैठे हुए सभी (विविहठाणाणि चइस्सति) अपने-अपने (विविध) स्थानो को छोड देंगे, (ण ससओ) इसमे कोई सन्देह नही है। (णायएहिं सुहीहिं य) अपने ज्ञातिजनो और मित्रो के साथ जो (अय वासे) यह निवास या सवास है, वह भी (अणियते) अनियत है या अनित्य है।

भावार्थ

नि सन्देह स्थानो के अधिपति सभी लोग एक न एक दिन अपने-अपने उस-उस स्थान को छोड़ देगे, तथा अपने ज्ञातिजनो और मित्रजनो के साथ जो यह सवास है, वह भी अनियत या अनित्य है।

व्याख्या

सभी स्थान और सम्बन्ध अनित्य

जो-जो उच्च पद या स्थान पर आज अधिष्ठित हैं, उन्हे स्थानी कहते है, जैसे देवलोक मे इन्द्र तथा उनके सामानिक तैंतीस पार्षद आदि स्थानी हैं। इसी तरह मनुष्यो मे चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, महामाण्डलिक नृप आदि स्थानी—उच्च पद वाले हैं। इसी प्रकार तिर्यचो मे भी समझ लेना चाहिए। इस भोगभूमि आदि मे भी जो कोई स्थान उत्तम-मध्यम-निकृष्ट हैं, या जो भी मन्त्री, अध्यक्ष आदि पद हैं, उन स्थानो को उनके स्वामी एक न एक दिन अवश्य छोड देंगे। जैसा कि कहा है—

अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि चेह च ।
देवासुरमनुष्याणामृद्धयश्च सुखानि च ॥

अर्थात् इस लोक मे या देवलोक मे जितने भी स्थान हैं, सव अशाश्वत (अनित्य) है, साथ ही देव, दानव, मानव आदि की ऋद्धियाँ या सुख सभी अनित्य है। ये सभी थोडे समय के पदार्थ है, इसलिए इन पर गर्व या ममत्व नही करना चाहिए। इसके अतिरिक्त ज्ञातिजन, वन्धुजन, मित्र एव परिचित सभी के साथ सवास भी अनित्य है। कोई निश्चय नही है कि कब इनके साथ सम्वन्ध टूट जाएगा।

एक विचारक ने कहा है—

सुचिरतरमुषित्वा बान्धवैर्विप्रयोग,
सुचिरमपि हि रन्त्वा नास्ति भोगेषु तृप्ति ।
सुचिरमपि सुपुष्ट याति नाश शरीरम्,
सुचिरमपि विचिन्त्यो, धर्म एक सहाय ॥

अर्थात्—वन्धु-बान्धवो के साथ चिरकाल तक रहने के वाद सदा के लिए उनसे वियोग हो जाता है, भोगो को चिरकाल तक भोगने के वाद भी उनसे तृप्ति नही होती, शरीर को वहुत काल तक वहुत अच्छी तरह पाला-पोसा हो, मगर एक दिन यह नष्ट हो ही जाता है। अत अच्छी तरह सुदीर्घकाल तक धर्म का चिन्तन एव आचरण किया हो तो वही एकमात्र इस लोक एव परलोक मे सहायक होता है।

इस गाथा मे जो 'य' (च) शब्द है, वह धन-धान्य-द्विपद-चतुष्पद, शरीर आदि समस्त पदार्थ अनित्य और अशरण है, इस बात को वताने के लिए है।

मूल पाठ

एवमादाय मेहावी अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।
आरिय उवसपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं ॥१३॥

सस्कृत छाया

एवमादाय मेधावी, आत्मन गृद्धिमुद्धरेत् ।
आर्यमुपसपद्येत सर्वधर्मैरकोपितम् ॥१३॥

अन्वयार्थ

(मेहावी) बुद्धिमान साधक (एवमादाय) यह विचार कर (अप्पणो गिद्धिमुद्धरे) अपनी ममत्व बुद्धि को उखाड फैंके, (सव्वधम्ममकोविय) समस्त कुतीर्थिक धर्मो से अदूषित (आरिय उवसपज्जे) इस वीतरागभाषित आर्यधर्म को ग्रहण करे।

भावार्थ

सभी उच्च पद या स्थान अनित्य है, यह विचार करके बुद्धिमान् विवेकी साधक अपने अन्तर् मे जड जमाई हुई ममता (आसक्ति) को उखाड फैंके। सब कुतीर्थिक धर्मो से अदूषित इस वीतरागभाषित श्रुत-चारित्ररूप आर्य (श्रेष्ठ) धर्म को ग्रहण करे।

व्याख्या

ममत्व छोड़े, समत्व पकड़े

इस गाथा मे बताया गया है कि सभी उच्च पद, स्थान या पदार्थ अनित्य हैं, इस प्रकार का विचार करके मेधावी पण्डितवीर्यसम्पन्न साधक किसी भी वस्तु मे अपनी ममता न रखे। यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार की ममता हो तो उसे उखाड फैंके। क्योंकि मेधावी मर्यादा मे स्थिर रहने वाले या हिताहित विवेकशील पुरुष को कहते है, वह ममत्व को छोडे, समत्व को पकडे तथा आर्यो-तीर्थंकरो के इस आर्य-मार्ग— मोक्षमार्ग को ग्रहण करे, जो कि कुतीर्थिको के धर्मो द्वारा दूषित नही है।

मूल पाठ

सह समइए णच्चा, धम्मसार सुणेत्तु वा।
समुवट्ठिए उ अणगारे, पच्चक्खायपावए ॥१४॥

संस्कृत छाया

सह सन्मत्या ज्ञात्वा, धर्मसार श्रुत्वा वा।
समुपस्थितस्त्वनगार प्रत्याख्यातपापक ॥१४॥

अन्वयार्थ

(सह समइए) अच्छी बुद्धि के द्वारा (सुणेत्तु वा) अथवा सुनकर (धम्मसार णच्चा) धर्म का सच्चा स्वरूप या निचोड जानकर (समुवट्ठिए अणगारे) आत्म-कल्याण के लिए सयमपथ मे उद्यत-समुपस्थित अनगार (साधु) (पच्चक्खाय पावए) पाप का प्रत्याख्यान करके पवित्रात्मा बन जाता है।

भावार्थ

धर्म के सच्चे स्वरूप या साराश तत्त्व को अपनी निर्मल बुद्धि द्वारा या गुरुजी आदि से सुनकर जानकर ज्ञानादि गुणो के उपार्जन मे उद्यत साधु पाप का प्रत्याख्यान (त्याग) करके निर्मल आत्मावाला होता है।

व्याख्या

सद्धर्म का ज्ञान, पाप का प्रत्याख्यान

पण्डितवीर्यशील साधक के लिए सर्वप्रथम सच्चे धर्म का स्वरूप जानना आवश्यक है, तदनन्तर समस्त पापो का प्रत्याख्यान। किन्तु सद्धर्म का परिज्ञान अपनी पवित्र बुद्धि द्वारा या गुरुदेव आदि से श्रवण करके करे। धर्म का सार ग्रहण करने से पूर्व पापो का त्याग करना अनिवार्य है, अन्यथा पापो के बोझ से पवित्र बुद्धि दब जाएगी और अपनी शक्ति (वीर्य) उल्टी दशा मे बहने लगेगी।

मूल पाठ

जं किंचुवक्कम्मं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अतरा खिप्प, सिक्ख सिक्खेज्ज पडिए ॥१५॥

सस्कृत छाया

य कञ्चिदुपक्रम जानीयादायुक्षेमस्यात्मन ।
तस्यैवान्तरा क्षिप्र, शिक्षा शिक्षेत् पण्डित ॥१५॥

अन्वयार्थ

(पडिए) विद्वान साधक (अप्पणो आउक्खेमस्स) अपनी आयु का (ज किंचुवक्कम्म) यदि कुछ घात का क्षयकाल (जाणे) जाने तो (तस्सेव अतरा) उसी दौरान ही (खिप्प) शीघ्र (सिक्ख सिक्खेज्ज) सलेखनारूप शिक्षा ग्रहण करे ।

भावार्थ

विद्वान् साधक किसी भी प्रकार से अपनी आयु को क्षीण होती जाने तो उसी दरम्यान शीघ्र ही (क्षयकाल से पहले ही) सलेखनारूप शिक्षा ग्रहण करे ।

व्याख्या

आयुष्य-क्षय से पहले सलेखना ग्रहण करे ।

जब साधक शरीर आदि सभी पदार्थो को अनित्य जानकर ममत्वबुद्धि का उन्मूलन कर लेता है तो उसकी बुद्धि एव हृदय निर्मल हो जाने से कदाचित् उसे अपनी आयु के क्षण अल्पतम मालूम हो तो अन्य सब विकल्प छोडकर उसी दौरान शीघ्र ही उसे सल्लेखना-सथारा ग्रहण कर लेना चाहिए ताकि अन्तिम समय मे आत्मा की आराधना भलीभाँति हो जाय ।

उवक्कम्म—जिससे आयु क्षय को प्राप्त होती है उसे उपक्रम कहते हैं । यदि साधु किसी भी जरिये से अपनी आयु का उपक्रम (विनाशकारण) जान ले, अर्थात् वह यह जान ले कि मेरी आयु कितनी है, उसका नाश (क्षय) कब, किस प्रकार होगा ? तो वह उसे जानते ही उस काल के पहले से आकुलता छोडकर तथा जीवन मरण की आकाक्षा से रहित होकर 'सिक्ख सिक्खेज्ज' अर्थात् सलेखना रूप शिक्षा को ग्रहण करे । आशय यह है कि भक्त परिज्ञा (अन्न पानी दोनो का त्याग) तथा इगितमरण (मर्यादित स्थान मे रहकर अन्न-पानी का त्याग करना, परन्तु शारीरिक सेवा कराना) आदि शिक्षा ग्रहण करे । यानी ग्रहण शिक्षा के द्वारा मरणविधि को भलीभाँति जानकर आसेवना-शिक्षा से उसका सेवन करे ।

मूल पाठ

जहा कुम्मे स अगाइ, सए देहे समाहरे ।
एव पावाइ मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१६॥

संस्कृत छाया

यथा कूर्म स्वागानि, स्वके देहे समाहरेत् ।
एव पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(जहा कुम्मे स अगाइ सए देहे समाहरे) जैसे कछुआ अपने अगो को अपने देह मे सिकोड लेता है, (एव मेहावी) इसी प्रकार बुद्धिमान साधक (पावाइ) अपने पापो को (अज्झप्पेण समाहरे) धर्मध्यान आदि की भावना से समेट ले, सकुचित करले ।

भावार्थ

जैसे कछुआ अपने अगो को अपने शरीर मे सिकोड लेता है, वैसे ही बुद्धिशाली साधक अपनी आत्मा मे धर्मध्यान की अलख जगाकर अपने पापो को समेट ले ।

व्याख्या

कछुए की तरह पापों को समेट ले

यहाँ कछुए का उदाहरण देकर समझाया गया है कि जैसे कछुआ जब कोई बाहरी सकट देखता है तो फौरन अपनी गर्दन आदि अगो को सिकोडकर अपने शरीर के अन्दर कर लेता है, एक तरह से वह अपने अगो को निश्चेष्ट कर लेता है, फिर भी सावधान रहता है। वैसे ही मर्यादा मे रहने वाला मेधावी हिताहित विवेकी साधक पापकर्म का सकट उपस्थित होते ही फौरन धर्मध्यान आदि अध्यात्म भावना मे अपने मन-मस्तिष्क को समेटकर अन्तर्मुखी बन जाय, बहिर्मुखी न रहे । और पापरूप समस्त अनुष्ठानो को धर्मध्यान की भावना से (बाहर ही) छोडकर मरणकाल आने पर सलेखना के द्वारा मन-वचन-काया को पवित्र बनाकर पण्डित-मरण से अपना शरीर छोडे । यही पण्डितवीर्य-प्रयोग की सच्ची परीक्षा है ।

मूल पाठ

साहरे हत्थपाए य, मण पचेंदियाणि य ।
पावक च परिणाम, भासादोस च तारिस ॥१७॥

संस्कृत छाया

सहरेद्धस्तपादञ्च, मन पञ्चेन्द्रियाणि च ।
पापक च परिणाम, भाषादोष च तादृशम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(हत्थपाए य साहरे) साधु अपने हाथ पैरो को सिकोडकर (स्थिर) रखे । (मण पचेन्दियाणि य) मन और पाँचो इन्द्रियो को भी उनके विषयो से निवृत्त रखे ।

मूल पाठ

जं किचुवक्कम्मं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अतरा खिप्प, सिक्ख सिक्खेज्ज पडिए ।।१५।।

संस्कृत छाया

य कञ्चिदुपक्रम जानीयादायुक्षेमस्यात्मन ।
तस्यैवान्तरा क्षिप्र, शिक्षा शिक्षेत् पण्डित ।।१५।।

अन्वयार्थ

(पडिए) विद्वान साधक (अप्पणो आउक्खेमस्स) अपनी आयु का (ज किचुवक्कम्म) यदि कुछ घात का क्षयकाल (जाणे) जाने तो (तस्सेव अतरा) उसी दौरान ही (खिप्पं) शीघ्र (सिक्ख सिक्खेज्ज) सलेखनारूप शिक्षा ग्रहण करे ।

भावार्थ

विद्वान् साधक किसी भी प्रकार से अपनी आयु को क्षीण होती जाने तो उसी दरम्यान शीघ्र ही (क्षयकाल से पहले ही) सलेखनारूप शिक्षा ग्रहण करे ।

व्याख्या

आयुष्य-क्षय से पहले सलेखना ग्रहण करे ।

जब साधक शरीर आदि सभी पदार्थो को अनित्य जानकर ममत्वबुद्धि का उन्मूलन कर लेता है तो उसकी बुद्धि एव हृदय निर्मल हो जाने से कदाचित् उसे अपनी आयु के क्षण अल्पतम मालूम हो तो अन्य सब विकल्प छोडकर उसी दौरान शीघ्र ही उसे सल्लेखना-सथारा ग्रहण कर लेना चाहिए ताकि अन्तिम समय मे आत्मा की आराधना भलीभाँति हो जाय ।

उवक्कम्म—जिससे आयु क्षय को प्राप्त होती है उसे उपक्रम कहते है । यदि साधु किसी भी जरिये से अपनी आयु का उपक्रम (विनाशकारण) जान ले, अर्थात् वह यह जान ले कि मेरी आयु कितनी है, उसका नाश (क्षय) कब, किस प्रकार होगा ? तो वह उसे जानते ही उस काल के पहले से आकुलता छोडकर तथा जीवन-मरण की आकाक्षा से रहित होकर 'सिक्ख सिक्खेज्ज' अर्थात् सलेखना रूप शिक्षा को ग्रहण करे । आशय यह है कि भक्त परिज्ञा (अन्न-पानी दोनो का त्याग) तथा इगितमरण (मर्यादित स्थान मे रहकर अन्न-पानी का त्याग करना, परन्तु शारीरिक सेवा कराना) आदि शिक्षा ग्रहण करे । यानी ग्रहण शिक्षा के द्वारा मरणविधि को भलीभाँति जानकर आसेवना-शिक्षा से उसका सेवन करे ।

मूल पाठ

जहा कुम्मे स अगाइ, सए देहे समाहरे ।
एव पावाइ मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ।।१६।।

सस्कृत छाया

यथा कूर्म स्वागानि, स्वके देहे समाहरेत् ।
एव पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(जहा कुम्मे स अगाइ सए देहे समाहरे) जैसे कछुआ अपने अगो को अपने देह मे सिकोड लेता है, (एव मेहावी) इसी प्रकार बुद्धिमान साधक (पावाइ) अपने पापो को (अज्झप्पेण समाहरे) धर्मध्यान आदि की भावना से समेट ले, सकुचित करले ।

भावार्थ

जैसे कछुआ अपने अगो को अपने शरीर मे सिकोड लेता है, वैसे ही बुद्धिशाली साधक अपनी आत्मा मे धर्मध्यान की अलख जगाकर अपने पापो को समेट ले ।

व्याख्या

कछुए की तरह पापो को समेट ले

यहाँ कछुए का उदाहरण देकर समझाया गया है कि जैसे कछुआ जब कोई बाहरी सकट देखता है तो फौरन अपनी गर्दन आदि अगो को सिकोडकर अपने शरीर के अन्दर कर लेता है, एक तरह से वह अपने अगो को निश्चेष्ट कर लेता है, फिर भी सावधान रहता है। वैसे ही मर्यादा मे रहने वाला मेधावी हिताहित विवेकी साधक पापकर्म का सकट उपस्थित होते ही फौरन धर्मध्यान आदि अध्यात्म भावना मे अपने मन-मस्तिष्क को समेटकर अन्तर्मुखी बन जाय, बहिर्मुखी न रहे । और पापरूप समस्त अनुष्ठानो को धर्मध्यान की भावना से (बाहर ही) छोडकर मरणकाल आने पर सलेखना के द्वारा मन-वचन-काया को पवित्र बनाकर पण्डित-मरण से अपना शरीर छोडे । यही पण्डितवीर्य-प्रयोग की सच्ची परीक्षा है ।

मूल पाठ

साहरे हत्थपाए य, मण पचेदियाणि य ।
पावक च परिणाम, भासादोस च तारिस ॥१७॥

सस्कृत छाया

सहरेद्धस्तपादञ्च, मन पञ्चेन्द्रियाणि च ।
पापक च परिणाम, भाषादोष च तादृशम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(हत्थपाए य साहरे) साधु अपने हाथ पैरो को सिकोडकर (स्थिर) रखे । (मण पचेन्दियाणि य) मन और पाँचो इन्द्रियो को भी उनके विषयो से निवृत्त रखे ।

(पावक ण परिणाम तारिस भासादोस च) तथा पापरूप परिणाम और पापमय भाषा दोष को भी वर्जित करे ।

भावार्थ

मुनि अपने हाथो-पैरो को सकोच कर स्थिर रखे, मन और पाँचो इन्द्रियो को भी उनके विषयो से दूर रखे तथा पापरूप परिणाम (अध्य-वसाय) और पापजनक भाषादोष से भी निवृत्त रहे, ताकि इनसे किसी भी जीव को पीडा न हो ।

व्याख्या

मन-वचन-काया को अशुभ से निवृत्ति आवश्यक

जिस समय साधु पादपोपगमन या इगितमरण नामक आजीवन अनशन (सथारे) की स्थिति मे हो, अथवा ध्यानादि मे स्थित हो, उस समय वह इस प्रकार की साधना का अभ्यास कर ले कि उनके हाथ-पैर आदि निश्चल रहे, उन्हे इस प्रकार से सिकोडकर कटे हुए पेड की भाँति स्थिर रखे, जिससे किसी भी जीव को पीडा न पहुँचे, तथा मन को दु सकल्पो, दुर्विचारो और विषय-कषायो से दूर रखे, आँख, नाक, कान, जीभ एव स्पर्शेन्द्रिय को भी उनके विषयो मे राग-द्वेष से हटा ले । इसके अतिरिक्त वह इहलोक एव परलोक मे सुख-प्राप्ति की वासनारूप परिणामो एव पापजनक भाषादोष को न फटकने दे । निष्कर्ष यह है कि साधु मन-वचन काया से गुप्त रहता हुआ दुर्लभ सुसयम की रक्षा करते हुए और कर्मबन्धनो को काटते हुए पण्डितमरण की प्रतीक्षा करे ।

मूल पाठ

अणु माण च माय च, त परिन्नाय पडिए ।
सातागारवणिहुए, उवसतेऽणिहे चरे ॥१८॥

सस्कृत छाया

अणु मान च माया च, तत् परिज्ञाय पण्डित ।
साता-गौरवनिभृत उपशान्तोऽनीहश्चरेत ॥१८॥

अन्वयार्थ

(अणु माण च माय च) साधु जरा-सा भी अभिमान और माया (छलकपट) न करे (त परिन्नाय) मान और माया का अनिष्ट फल जानकर (पडिए) विद्वान् सद्-असद् विचारक साधक (साता-गारव-णिहुए) सुखशीलता तथा प्रतिष्ठा आदि मे उद्यत न हो, (उवसतेऽणिहे चरे) तथा उपशान्त एव निस्पृह या मायारहित होकर विचरण करे ।

भावार्थ

साधु थोडा सा भी अहकार और कपट न करे। मान और माया का फल बहुत बुरा होता है, यह समझकर हिताहित विचारक मुनि सुख भोग, एव प्रतिष्ठा की लालसा न रखे, तथा क्रोधादि को छोडकर शान्त एव नि स्पृह या मायारहित होकर विचरण करे।

व्याख्या

कषायो और सुखैषणाओ से दूर रहे

सयम मे उत्कृष्ट पराक्रम करते हुए उत्तम साधु को देखकर यदि कोई सत्ताधीश या धनाढ्य व्यक्ति साधु की पूजा-प्रतिष्ठा करे, अत्यधिक आदर-सत्कार करे या उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति दिखाए तो सुविचारक साधु को मन मे जरा भी अहकार नही करना चाहिए। अथवा सलेखना सथारा के समय भी भक्तो और दर्शनार्थियो की भीड देखकर साधु मन मे जरा भी गर्व न करे कि मै कितना महान् तपस्वी हूँ, मैं इस समय कितना सौभाग्यशाली हूँ, या मेरी पण्डितमरण-साधना की चारो ओर वाहवाही हो रही है, मेरा सर्वत्र जय-जयकार हो रहा है। इसी प्रकार पाण्डु-आर्या के समान जरा-सी भी माया न करे, अधिक माया का तो कहना ही क्या? इसी तरह क्रोध और लोभ भी पण्डितमुनि के लिए त्याज्य हैं। मतलब यह है कि इन चारो कषायो का स्वरूप इनके सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप तथा इनके दुष्परिणामो को ज्ञपरिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग करे।

कही-कही 'अइमाण च माय च त परिण्णाय पडिए' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है—अत्यन्त मान सुभूम की तरह दु खदायक होता है, यह जानकर बुद्धिशाली पुरुष उसे तथा माया को भी छोड दे। सरागसयम मे कदाचित् मान का उदय हो जाए तो तुरन्त उसे विफल करदे, यानी दबा दे। इसी तरह माया को भी दवा दे। युद्ध के मोर्चे पर बडे-बडे योद्धा जिस बल के द्वारा शत्रु की विराट सेना को जीत लेते है, वस्तुत वह सच्चा वीर्य नही है। सच्चा वीर्य वह है, जिसके द्वारा काम, क्रोध, मोह, मान, माया, लोभ आदि आत्म-शत्रुओ को जीता जाय।

इसी प्रकार उत्तम सयम-पराक्रमी तपस्वी साधु सुखसुविधाओ के मोह मे पड कर कही छला न जाए, कही सयम से फिसल न जाए, इस बात का पूरा ध्यान रखे। क्रोधादि कषायो को जीतकर शान्त-उपशान्त रहे, तथा कोई साधु की सेवा करता है या नही करता, कोई पूजा-सत्कार करता या नही करता है, कोई उसकी प्रशसा या प्रसिद्धि करता है या नही, इन बातो से वह सदा नि स्पृह एव तटस्थ रहे। तभी वह अपने जीवन मे पण्डितवीर्य का आदर्श उपस्थित कर सकेगा।

मूल पाठ

पाणे य णाइवाएज्जा, अदिन्नपि य णादए।
सादियं ण मूसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥१९॥

सस्कृत छाया

प्राणाश्च नातिपातयेत् अदत्तमपि च नाऽददीत ।
सादिक न मृषा ब्रूयादेष धर्मो वृषिमत (वश्यस्य) ॥१९॥

अन्वयार्थ

(पाणे य णाइवाएज्जा) प्राणियो का सहार न करे, **(अदिन्नपि य णादए)** बिना दी हुई चीज न ले, **(सादिय मुस ण बूया)** माया सहित झूठ न बोले, **(एस धम्मे वुसीमओ)** जितेन्द्रिय पुरुष का यही धर्म है ।

भावार्थ

साधक प्राणियो की हिंसा न करे, नही दी हुई वस्तु न ले, कपटसहित असत्याचरण (दम्भ) न करे—इन्द्रियविजेता का यही धर्म है ।

व्याख्या

जितेन्द्रिय पुरुष का धर्म

इस गाथा मे जितेन्द्रिय पण्डित पुरुष के धर्म के अगो का प्रतिपादन किया गया है । जितेन्द्रिय साधु का पहला धर्म यह है कि वह छोटे-बडे किसी भी प्राणी के प्राणो की हिंसा होती हो, ऐसा कार्य न करे । क्योकि प्राण अनमोल है । एक भी प्राण किसी भी मूल्य पर मिल नही सकता । ऐसे अद्भुत और सभी जीवो को प्रिय दसो प्राणो मे से किसी एक भी प्राण की विराधना करना उचित नही । दूसरा धर्म है—अदत्तादान न ले । किसी के स्वामित्व की छोटी या बडी, अल्पमूल्य या बहु-मूल्य, कम या ज्यादा, सचित्त या अचित्त कोई भी वस्तु हो, उसके स्वामी की अनु-मति इच्छा या प्रदान के बिना ग्रहण करना चोरी है, किसी के हक (अधिकार) का हरण कर लेना भी चोरी है । साधु इस अकृत्य से दूर रहे ।

तीसरा धर्म है—कपटपूर्वक मृषावाद का त्याग करे । मायासहित झूठ बोलना, घुमा-फिराकर बात कहना, असली बात छिपाकर अन्यथा बोलना, कहना कुछ, करना कुछ, दिखावा कुछ, आचरण कुछ, दम्भ, मायाचार आदि करना सब मायामृषा है । साधु को इससे कोसो दूर रहना चाहिए । जितेन्द्रिय (वृषिमान या वश्य) पुरुष के श्रुतचारित्ररूप धर्म का यही सार है ।

मूल पाठ

अतिक्कम्मं तु वायाए, मणसा वि न पत्थए ।
सव्वओ सवुडे दते, आयाणं सुसमाहरे ॥२०॥

संस्कृत छाया

अतिक्रम तु वाचा, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ।
सर्वत सवृतो दान्त:, आदान सुसमाहरेत् ॥२०॥

अन्वयार्थ

(अतिवकम्म तु) किसी प्राणी के प्राणो को क्षति पहुँचाने की (वायाए) वाणी से (मणसा वि) अथवा मन से भी (न पत्थए) इच्छा न करे। (सव्वओ सवुडे) किन्तु भीतर से और बाहर से सब ओर से निवृत्त, स्थिर शान्त या गुप्त होकर रहे। (दत्ते आयाण सुसमाहरे) इन्द्रियो का दमन करता हुआ साधु आदान—मोक्ष देने वाले सम्यग्ज्ञानादि का भलीभाँति ग्रहण—पालन करे।

भावार्थ

वाणी से या मन से भी किसी भी प्राणी के प्राणो को हानि पहुँचाने की इच्छा न करे, किन्तु अन्दर और बाहर चारो ओर से शान्त, निवृत्त एव गुप्त होकर रहे। इन्द्रियो का दमन करता हुआ साधु मोक्षदायक सम्यग्दर्शनादिरूप सयम की तत्परता के साथ समाराधना करे।

व्याख्या

शान्तिपूर्वक आत्माराधना मे शक्ति लगाए

आत्माराधना मे अपनी शक्ति (वीर्य) लगाने वाला सुविहित साधु क्या करे और क्या न करे? इसके लिए इस गाथा मे सुन्दर मार्गदर्शन दिया गया है। जिन प्रवृत्तियो से किसी भी प्राणी के प्राणो को पीडा पहुँचती हो, उन हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह या कषाय-सेवन, विपयासक्ति आदि प्रवृत्तियो को साधु वचन और तन से सर्वथा न करे, मन से ऐसी प्रवृत्तियो की इच्छा भी न करे। अपितु बाहर और भीतर सब ओर से अपने को समाहित, शान्त, निवृत्त और गुप्त करले, न अपना कही प्रचार-प्रसार करे, न प्रसिद्धि, न कीर्ति का मोह रखे, न प्रशसा की लालसा। चुपचाप अन्तरात्मा मे डुबकी लगाकर अपने आपको ढूँढे, निरीक्षण-परीक्षण करे और इन्द्रियो और मन को विषयो से निवृत्त, निरपेक्ष व अनासक्त करके वह मोक्षप्रदायक रत्नत्रय का सम्यक् पालन करे। यही आत्माराधना मे शक्ति लगाने का उपाय है।

मूल पाठ

कडं च कज्जमाण च आगमिस्स च पावग ।
सव्व त णाणुजाणति, आयगुत्ता जिइदिया ॥२१॥

संस्कृत छाया

कृतञ्च क्रियमाण च, आगमिष्यच्च पापकम् ।
सर्वं तन्नानुजानन्ति, आत्मगुप्ता जितेन्द्रिया ॥२१॥

अन्वयार्थ

(आयगुत्ता जिइदिया) अपनी आत्मा को पाप से गुप्त - सुरक्षित रखने वाले, जितेन्द्रिय पुरुप, (कड च कज्जमाण च आगमिस्स च पावग) किया हुआ, किया जाता हुआ य। भविष्य मे किया जाने वाला जो पाप है, (सव्व त णाणुजाणति) उस सभी का अनुमोदन नही करते हैं।

भावार्थ

अपनी आत्मा को पाप से बचाकर रखने वाले, इन्द्रिय-विजेता पुरुष किसी के द्वारा अतीत मे किये गए, वर्तमान मे किए जाते हुए और भविष्य मे किए जाने वाले समस्त पाप का अनुमोदन नही करते।

व्याख्या

आत्मरक्षातत्पर साधक त्रैकालिक पाप का अनुमोदन नहीं करते

इस गाथा मे यह बताया गया है कि जो साधु पापभीरु है, अपनी आत्मा को हर तरह से पाप से बचाना चाहते है, इन्द्रियविजयी है, वे अपनी अनुमोदन शक्ति का उपयोग किसी के भी त्रैकालिक पाप मे नही करते। वे सदैव इसी प्रकार का चिन्तन करते है कि हमे मन-वचन-काया की अनुपम शक्तियां मिली है, उनका उपयोग हम किसी के भूतकालीन, भविष्यकालीन या वर्तमानकालीन पापो के समर्थन या अनुमोदन मे नही लगाएँगे, अपितु हम त्रैकालिक धर्मकार्य के समर्थन—अनुमोदन मे लगाएँगे, अन्यथा अपनी आत्मिक शक्तियो को गुप्त, मौन रखेंगे। अथवा इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि साधुओ के लिए किन्ही अनाडी लोगो ने जो पाप किया हैं, वर्तमान मे जो पाप करते है या कर रहे है, और भविष्य मे जो करेंगे, उन सबका मन से, वचन से या काया से साधु कदापि अनुमोदन नही करते। इसका अर्थ यह हुआ कि वे स्वय उस पापजनित वस्तु का उपभोग नही करते, तथा दूसरो ने अपने स्वार्थ के लिए जो पाप किया है, करते है या करेंगे, जैसे कि शत्रु का सिर काट डाला, काट रहा हैं या काट डालेगा, या चोर को मार डाला, मार रहा है या मार डालेगा, इत्यादि दूसरो के सावद्य (पापयुक्त) अनुष्ठानो को साधु अच्छा नही मानते। समाचार-पत्रो से भी ऐसे पापजनित कार्यों के त्रैकालिक समाचार पढ-सुनकर वे मन-वचन-काया से उसे अच्छा नही समझते। निष्कर्ष यह है कि वे किसी भी मूल्य पर तीनो काल मे निष्पन्न पापजनित कार्यों का समर्थन नही करते। यही उनके पण्डित-वीर्य का आदर्श है।

मूल पाठ

जे याबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदसिणो।
असुद्ध तेसि परक्कत, सफल होइ सव्वसो ॥२२॥

संस्कृत छाया

ये चाऽबुद्धा महाभागा वीरा असम्यक्त्वदर्शिन ।
अशुद्ध तेषा पराक्रान्त, सफल भवति सर्वश ॥२२॥

अन्वयार्थ

(जे याबुद्धा) जो पुरुष धर्म के तत्त्व को नही जानते है, किन्तु (महाभागा) जगत् मे महाभाग्यशाली पूजनीय माने जाते हैं, (वीरा) फिर वे शत्रुसेना को जीतने वाले वीर है, तथा (असमत्तदसिणो) सम्यग्दर्शन से रहित है, (तेसि परक्कत असुद्ध) उनका तप, दान आदि मे पराक्रम —उद्योग अशुद्ध है, (सव्वसो सफल होइ) और वह सर्वथा (सफल) कर्मफलयुक्त- कर्मबन्धन का हेतु होता है।

भावार्थ

जो पुरुष धर्म के रहस्य से अनभिज्ञ है, किन्तु लोकपूज्य, महान् वीर है, वे सम्यग्दर्शन से रहित—मिथ्यादृष्टि है तो उनका किया हुआ तप, दान आदि पराक्रम अशुद्ध है और वह सबका सब कर्मबन्धनरूप फल का जनक होता है।

व्याख्या

मिथ्यादृष्टि का समस्त पराक्रम कर्मबन्धफलजनक

इस गाथा मे यह बताया गया है कि ससार मे बडे वीर और महाभाग—पूज्य समझे जाने वाले, किन्तु धर्मतत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण मिथ्यात्वी लोगो का सारा दानादि पराक्रम अशुद्ध है, और वह कर्मबन्धफलजनक होता है। प्रश्न होता है, जो लोग ससार मे महामान्य, महाविद्वान् और बडे वीर कहलाते है, वे अबुद्ध और मिथ्यादृष्टि कैसे है ? इसका समाधान यो है कि शुष्क व्याकरण और तर्क तथा इसी प्रकार के अन्य शास्त्रो के ज्ञान से जिन्हे अभिमान उत्पन्न हो गया है, जो अपने आपको महापण्डित मानते है, परन्तु पारमार्थिक (वस्तु के सच्चे) स्वरूप को न जानने के कारण वे वास्तव मे अबुद्ध है, क्योकि सम्यक्त्व के विना शुष्क तर्क-मात्र से तत्त्वबोध प्राप्त नही होता। कहा भी है—

शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि,
नैवाबुध समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम् ।
नानाप्रकाररसभावगताऽपि दर्वी,
स्वाद रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति ॥

अर्थात्—"शास्त्र मे गहरे प्रवेश और उसकी व्याख्या करने मे निपुण होने पर भी अज्ञानी (अबुध) पुरुष वस्तु के यथार्थ स्वरूप को उसी तरह नही जान पाता, जिस प्रकार नाना प्रकार के रसो मे डूबी रहने वाली कुडछी दीर्घकाल तक भी रसो के स्वाद को नही जान पाती।" इस प्रकार जो अबुद्ध हैं, वह बालवीर्यवान् है।

महान भाग वाला महाभाग कहलाता है। भाग शब्द यहाँ पूजार्थक है। इसीलिए महाभाग का अर्थ महापूज्य या लोकप्रसिद्ध हुआ। कई लोग पूर्वजन्म मे उपार्जित पुण्य के वल से इस भव मे पूजे जाते हैं, प्रसिद्ध हो जाते है, सुखसुविधाएँ प्राप्त कर लेते हैं, तथा शस्त्रास्त्र सचालन मे कुशल होने के कारण वीर भी कहलाते हैं, फिर भी मिथ्यादृष्टि एव वालवीर्यवान् होने के कारण शास्त्रकार उनके पराक्रम को अशुद्ध कहते है। यानी उनके द्वारा तप, दान आदि किया हुआ प्रयत्न अशुद्ध होता है। वह तप आदि सर्व अनुष्ठान कर्मबन्ध-फल का कारण होता है। जैसे कुवैद्य के द्वारा की हुई चिकित्सा विपरीत फल प्रदान करती है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि के द्वारा की हुई तप आदि क्रियाएँ कर्मनिर्जरा के वदले कर्मबन्धरूप विपरीत फलदायिनी होती है, क्योकि वह भावना (परिणाम) से दूपित एव सद्-असद् विवेकविकल होता है, अथवा निदान से युक्त होता है। जल मे एक ही पकार का स्वाभाविक रस सर्वत्र होता है, लेकिन भिन्न-भिन्न प्रकार के भू-भागो के सम्पर्क से वह कही मीठा और कही खारा हो जाता है, इसी प्रकार तप भी विभिन्न पात्रो मे विभिन्न प्रकार का फल प्रदान करता है। यही कारण ह मिथ्यादृष्टि, फिर वे चाहे कितने लोकपूज्य हो, योद्धा हो, चाहे लौकिक शास्त्रज्ञ हो, उनका पराक्रम (उनकी सव क्रिया) कर्मबन्धनरूपफल को उत्पन्न करता है।

मूल पाठ

जे य बुद्धा महाभागा वीरा समत्तदंसिणो ।
सुद्ध तेसि परक्कत, अफल होइ सव्वसो ॥२३॥

सस्कृत छाया

ये च बुद्धा महाभागा, वीरा सम्यक्त्वदर्शिन ।
शुद्ध तेषा पराक्रान्तमफल भवति सर्वश ॥२३॥

अन्वयार्थ

(जे य) जो लोग (बुद्धा) पदार्थ के सच्चे स्वरूप को जानने वाले हैं, (महाभागा) बडे पूजनीय हैं, (वीरा) कर्म-विदारण करने मे शूरवीर है, (समत्तदसिणो) तथा सम्यग्दृष्टि है। (तेसि परक्कत) उनका सयम, दान, तपादि पराक्रम (उद्योग) (सुद्ध) निर्मल है, (सव्वसो अफल होइ) और सव अफल— कर्मफलाभावरूप मोक्ष के लिए होता है।

भावार्थ

जो स्वय बुद्ध हैं, वस्तुतत्त्वज्ञ हैं, महाभाग - महापूज्य है, तथा कर्म को विदारण करने मे शूर हैं, सम्यग्दृष्टि है, उनका पराक्रम (तप आदि उद्योग) शुद्ध है, वह सदा कर्मवन्धनरूप फल से रहित होता है—निर्जरा का ही कारण होता है।

व्याख्या

सम्यग्दृष्टि का पराक्रम शुद्ध और कर्मबन्धफल से रहित

पूर्व गाथा मे मिथ्यादृष्टि के पराक्रम के सम्बन्ध मे बताया गया था, उस गाथा मे शास्त्रकार सम्यग्दृष्टि के पराक्रम के सम्बन्ध मे बताते है—

जो बुद्ध[1] तत्त्वज्ञ है, समस्तु वस्तुओ के स्वरूप को यथायरूप मे जानते है, अपने उत्तम गुणो के कारण महापूजनीय है। वीर का अर्थ है—कर्मविदारण करने मे जो शूरवीर है, अथवा जो सम्यग्ज्ञानादि गुणो से विराजित है। वे सम्यग्दृष्टि है। उनका तप, स्वाध्याय, यम, नियम, दान आदि समस्त अनुष्ठान पराक्रम शुद्ध है, निर्दोष है, अतएव वह विपय-कपायदि दोपो से अकलकित पण्डितवीर्यरूप शुद्ध अफल होता है, यानी वह कर्मवन्धरूप फल से रहित केवल निर्जरा के लिए ही होता है। सम्यक्दृष्टि पुरुप के समस्त तप सयमादि अनुष्ठान निर्जरा का कारण होता है। भगवती सूत्र मे भी कहा है—

'सजमे अणण्हयफले, तवे वोदाणफले' सयम का फल आस्रव का रुक जाना है, तप का फल कर्मनिर्जरा है।

मूल पाठ

तेसि पि तवो ण सुद्धो, निक्खता जे महाकुला ।
ज नेवन्ने वियाणति, न सिलोग पवेज्जए ॥२४॥

सस्कृत छाया

तेषामपि तपो न शुद्ध , निष्क्रान्ता ये महाकुला ।
यन्नैवाऽन्ये विजानन्ति, न श्लोक प्रवेदयेत् ॥२४॥

अन्वयार्थ

(तेसि पि तवो ण सुद्धो) उनका तप भी शुद्ध नही है, **(जे महाकुला निक्खता)** जो महाकुल वाले बडी धूमधाम से प्रव्रज्या लेकर पूजा-सत्कार के लिए तप करते है। **(ज नेवन्ने वियाणति)** इसलिए दान मे श्रद्धा रखने वाले दूसरे लोग जानें नही, इस प्रकार आत्मार्थी को तप करना चाहिए। **(न सिलोग पवेज्जइ)** तथा तपस्वी को अपने मुँह से अपनी प्रशसा भी नही करनी चाहिए।

भावार्थ

जो बडे कुल मे उत्पन्न व्यक्ति बडी धूमधाम से दीक्षा लेते है, और फिर पूजा-सत्कार पाने के लिए तप करते हैं, उनका तप भी अशुद्ध है। अत साधु तप को इस प्रकार गुप्त रखे कि दान मे श्रद्धा रखने वाले लोग न जानें। तथा साधु अपने मुँह से अपनी प्रशसा भी न करे।

---

१ वृत्तिकार शीलाकाचार्य के अनुसार यहाँ बुद्ध शब्द से 'स्वयबुद्ध', तीर्थंकरादि, तथा उनके बुद्धबोधित शिष्य गणधर आदि का ग्रहण किया गया है।

व्याख्या

महाकुलीन साधु पूजाप्रतिष्ठा के लिए तप न करें

जो कुल शूरवीरता, दानशीलता, तपस्या आदि के कारण नामी है, जैसे इक्ष्वाकुकुल, उग्रकुल, भोगकुल आदि थे या है, वर्तमान मे अन्य कुल भी है, जिनका यश जगत् मे फैला हुआ हो, उन महाकुलो मे जन्मे हुए जो व्यक्ति त्याग-वैराग्य से सम्पन्न होकर भागवती दीक्षा अगीकार करने के बाद पूजा-सत्कार के लिए तप करते है या अपने कुल आदि की दृष्टि से स्वय प्रशसा करते है, किसी कामना से तप करते है, किसी स्वार्थ से तप करते है तो उनका वह तप अशुद्ध हो जाता है। पण्डितवीर्य-सम्पन्न साधक को तप आदि क्रियाएँ चुपचाप विना शोहरत या प्रसिद्धि के करनी चाहिए। जिससे दान मे श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति जान न सके। साधक स्वय भी अपने मुँह मे अपनी तारीफ न करे कि मैं अमुक कुल मे जन्मा था, अमुक मेरे माता-पिता थे, मैं धनिक या सत्ताधीश था या मैं महातपस्वी हूँ। इस प्रकार स्वय की शोहरत करके अपनी तपस्या को नि सार न बनाए।

मूल पाठ

अप्पपिडासि पाणासि, अप्प भासेज्ज सुव्वए ।
खतेऽभिनिव्वुडे दते, वीतगिद्धी सदा जए ॥२५॥

सस्कृत छाया

अल्पपिण्डाशी पानाशी, अल्प भाषेत सुव्रत ।
क्षान्तोऽभिनिर्वृतो दान्तो, वीतगृद्धि सदा यतेत ॥२५॥

अन्वयार्थ

(अप्पपिंडासि पाणासि) साधु उदरनिर्वाह के लिए अल्पाहारी हो, थोडे-से जल से काम चलाए, (अप्प भासेज्ज सुव्वए) सुव्रत पुरुष थोडा बोले (खते अभिनिव्वुडे दते वीतगिद्धी) तथा क्षमाशील, लोभादिरहित शान्त, दान्त एव विषयभोगो मे अनासक्त होकर (सदा जए) सदा सयमपालन मे प्रयत्न (पुरुषार्थ) करे।

भावार्थ

साधु उदरनिर्वाह के लिए थोडा-सा आहार ले, अल्प जल का उपयोग करे, थोडा बोले, क्षमाशील बने, लोभादि से दूर शान्त रहे, इन्द्रियदमन करे, विषयोपभोगो मे अनासक्त होकर सदा सयमपालन का प्रयत्न करे।

व्याख्या

साधु का निवृत्तिमय शान्त पुरुषार्थ

साधु-जीवन त्यागप्रधान होता है। साधु का सदा यह प्रयत्न रहता है कि सासारिक वस्तुओ की जितनी कम मात्रा से निर्वाह हो सके, उतने से काम चला

ले। मोक्षाभिलाषी के लिए ऐसा दैनिक स्वाभाविक क्रम तभी हो सकता है, जब वह अपनी प्रतिदिन की चर्या मे कम से कम चीजो का उपयोग करे। अपनी प्रकृति, आदत, विचारधारा और आचार-प्रणाली ही ऐसी बना ले कि कम मे कम वस्तुओ या साधनो से वह अपने शरीर और जीवन का निर्वाह कर सके। परन्तु जो साधक अपनी आवश्यकताएँ बढा लेता है, अपनी प्रसिद्धि और प्रशसा की भूख बढा लेता है, अपने जीवन मे लोगो से अधिक परिचय, सम्पर्क और आकर्षित करने या कोई स्वार्थ सिद्ध करने की आदत बना लेता है, या फिर बात-बात मे लोगो मे उलझ जाता है, अपना बडप्पन दिखाने के लिए गर्वस्फीत भाषा मे बोलता है चुप एव मौन नही रह सकता है, पाँचो इन्द्रियो के विषयो का कम से कम और वह भी अनासक्ति (राग-द्वेषरहितता) पूर्वक उपयोग करने के बदले अधिकाधिक व अनियत्रित, अमर्यादित उपयोग करने लग जाता है, तब उसकी मूल साधना छूट जाती है, उसका ध्यान, मौन, स्वाध्याय, तप, जप आदि छूट जाते हैं, करता है तो भी बिना मन से, बिना लगन और स्फूर्ति के, निरुत्साही और अशान्त होकर करता है। ऐसी स्थिति मे साधना पण्डितवीर्य-सम्पन्न एव तेजस्वी नही बनती। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'अप्पपिंडासि पाणासि वीतगिद्धि सदा जए।' साधु को अपना शरीर न तो मोटा-ताजा एव बलिष्ठ बनाना है, और न ही सुन्दर व मोहक बनाना है, यह काम तो भोगियो का है, और फिर आत्मा तो निराहारी है, साधु जो कुछ भी आहार करता है, वह शरीर से धर्मपालनार्थ, सयमयात्रा सुखपूर्वक निर्विघ्नता से चलाने के लिए विवश होकर करता है। इसलिए त्यागी साधु कम से कम आहार (भोज्य पदार्थो की सख्या और मात्रा दोनो मे अल्पतम) लेकर मस्ती से अपनी सयमयात्रा चलाए। भोज्य द्रव्यो की अधिक सख्या या अधिक मात्रा मे आहार लेने जाएगा तो उसे या तो दानियो की गुलामी या दीनता करनी पडेगी, या उसे प्राप्त करने के लिए अधिक समय और शक्ति लगानी पडेगी। यही बात पानी या पेय पदार्थो के लिए समझनी चाहिए। वाणी की शक्ति मिली है तो उसका उपयोग कम से कम करके उस शक्ति को आत्मसाधना मे लगाए। जैसे आहार-पानी की ऊनोदरी तपस्या होती है, वैसे ही वस्त्रपात्र आदि अन्य आवश्यक साधनो की भी हो सकती है। इसी प्रकार क्रोधादि कषाय, पचेन्द्रियविषय आदि की भी भाव-ऊनोदरी होती है, अर्थात् वह कषाय, विषय और आहार तीनो की ऊनोदरी करे। कम से कम पदार्थों का उपयोग करके सुख और सन्तोष से सयम पालन करे। कहा भी है -

थोवाहारो थोवभणिओ अ जो होइ थोवनिद्दो य।
थोवोवहिउवकरणो तस्स हु देवावि पणमति ॥

अर्थात्—जो साधक थोडा आहार करता है, थोडा बोलता है, थोडी नींद लेता है, अपने सयम के उपकरण और साधन बहुत ही थोडे रखता है, उसे देवता

भी प्रणाम करते है। व्यवहार सूत्र मे साधु-साध्वी के आहार की मात्रा बताई गई है। मुर्गी के अडे के बराबर ८ कौर आहार करने वाला अल्पाहारी है, जो १२ कौर आहार करता है, वह अपार्ध (आधे से कम) आहार करके ऊनोदरी करता हे। १६ कौर आहार करना द्विभाग प्राप्त आहारी है, २४ कौर आहार करने वाला अल्प-ऊनोदरिक हे, ३० कौर आहार करने वाला प्रमाण-प्राप्तहारी है और ३२ कौर आहार करने वाला पूर्ण आहारी है। साधु को आहार-पानी की मात्रा घटाने का तथा अन्य साधनो एव कपायादि कम करने का अभ्यास करना चाहिए।

मूल पाठ

झाणजोग समाहट्टु, काय विउसेज्ज सव्वसो ।
तितिक्ख परम णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२६॥
॥ त्ति बेमि ॥

सस्कृत छाया

ध्यानयोग समाहृत्य, काय व्युत्सृजेत् सर्वश ।
तितिक्षा परमा ज्ञात्वा, आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥२६॥
॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(झाणजोग समाहट्टु) साधु ध्यानयोग (चित्तनिरोधरूप साधना) को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके (काय विउस्सेज्ज सव्वसो) पूर्णरूप से काया का व्युत्सर्ग—अनिष्ट प्रवृत्तियो से निरोध करे। (तितिक्ख परम णच्चा) परीषहो और उपसर्गो के समभावपूर्वक सहिष्णुता को उत्तम समझ कर (आमोक्खाय परिव्वएज्जासि) सम्पूर्ण कर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त होने तक सयमानुष्ठान मे प्रवृत्त—सलग्न रहे।

भावार्थ

साधु ध्यानयोग को अपनाकर समस्त बुरे व्यापारो (प्रवृत्तियो) से अपने तन-मन-वचन को रोक दे, शरीर पर से ममत्व छोड दे, परीषह-उपसर्ग-जनित कष्टो को सहन करना अच्छा जानकर जब तक समस्त कर्म-क्षयरूप मोक्ष प्राप्त न हो जाय, तव तक सयम पालन मे जुटा रहे।

व्याख्या

काया की भक्ति से दूर रहकर आत्मभक्ति मे ओतप्रोत रहे

साधुजीवन मे मोक्ष प्राप्ति के लिए देह गौण होता है, आत्मा मुख्य होती है। देह की भक्ति को छोडकर साधु आत्म-भक्ति अधिकाधिक कर सके इसके लिए शास्त्रकार इस अध्ययन की अन्तिम गाथा मे कुछ प्रक्रिया बता रहे हैं—'झाणजोग

आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।' आशय यह है कि देहभक्ति को केवल वचन और काया से ही नही, मन, बुद्धि और हृदय से सर्वथा छोडकर यानी मेरा शरीर है ही नही, इस प्रकार से विचार करे। तथा देह के प्रति जो सूक्ष्म ममत्व हो, उसका भी त्याग करने के लिए कायोत्सर्ग या कायव्युत्सर्ग करे। शरीर को किसी भी अकुशल अनिष्ट विचार, वचन, या चेष्टा मे न लगाए, कदाचित् मन, वचन या शरीर पूर्व-सस्कारवश उधर जाता हो तो उसे बलपूर्वक रोक दे। इसीलिए यहाँ—'काय विउस्सेज सव्वसो' कहा है। जब देहभक्ति छोड दी तो मन-वचन या काया को किसमे लगाए? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं 'झाणजोग समाहट्टु' (ध्यानयोग को सम्यक् अपनाए)। तात्पर्य यह है कि वह साधक आत्म-भक्ति करे। अपनी आत्मा मे—आत्मस्वभाव मे लीन होने के लिए देहभक्ति सर्वथा छोडकर पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान करे। ध्यान का लक्षण है – 'उत्तम सहननस्यैकाग्रचिन्ता-निरोधो ध्यानम्'[1] या 'तत्प्रत्येकतानता ध्यानम्।'[2] अर्थात् उत्तम सहनन वाले व्यक्ति का चित्त को किसी एक आत्म-विषयक पदार्थ मे एकाग्र करके बाह्य (दैहिक) विषयो के चिन्तन से रोकना ध्यान है, अथवा किसी ध्येय के प्रति एकतान हो जाना ध्यान है। निष्कर्ष यह है कि दैहिक (शरीर या शरीर से सम्बन्धित) विषयो से मन-वचन-काया को सर्वथा हटाकर पूर्वोक्त लक्षणयुक्त धर्मध्यान या शुक्लध्यान (आत्मा को कर्मों से मुक्त करने के लिए धर्म या धर्मांगो का या शुद्ध आत्मा या आत्मगुणो का ध्यान) को पिण्डस्थ आदि प्रकारो मे से अपनी योग्यतानुसार किसी एक प्रकार से अपनाए। उक्त ध्यान के दौरान जो भी सकट, परीषह, उपसर्ग या कष्ट आएँ आत्मा का परमधर्म जानकर उन्हें सहन करे और इस प्रकार की आत्म-भक्ति मे मोक्ष प्राप्त होने तक डटा रहे।

यही पण्डितवीर्य—अकर्मवीर्य का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है।

इति शब्द समाप्ति अर्थ मे है, 'ब्रवीमि' पूर्ववत् है।

इस प्रकार सूत्रकृतागसूत्र का अष्टम वीर्य नामक अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ वीर्य नामक अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

---

1 तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ 2 योगदर्शन

भी प्रणाम करते है। व्यवहार सूत्र मे साधु-साध्वी के आहार की मात्रा बताई गई है। मुर्गी के अडे के बराबर ८ कौर आहार करने वाला अल्पाहारी है, जो १२ कौर आहार करता है, वह अपार्ध (आधे से कम) आहार करके ऊनोदरी करता है। १६ कौर आहार करना द्विभाग प्राप्त आहारी है, २४ कौर आहार करने वाला अल्प-ऊनोदरिक है, ३० कौर आहार करने वाला प्रमाण-प्राप्तहारी है और ३२ कौर आहार करने वाला पूर्ण आहारी है। साधु को आहार-पानी की मात्रा घटाने का तथा अन्य साधनो एव कषायादि कम करने का अभ्यास करना चाहिए।

मूल पाठ

झाणजोग समाहट्टु, काय विउसेज्ज सव्वसो ।
तितिक्ख परम णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२६॥
॥ त्ति बेमि ॥

सस्कृत छाया

ध्यानयोग समाहृत्य, काय व्युत्सृजेत् सर्वश ।
तितिक्षा परमा ज्ञात्वा, आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥२६॥
॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(झाणजोग समाहट्टु) साधु ध्यानयोग (चित्तनिरोधरूप साधना) को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके (काय विउस्सेज्ज सव्वसो) पूर्णरूप से काया का व्युत्सर्ग—अनिष्ट प्रवृत्तियो से निरोध करे। (तितिक्ख परम णच्चा) परीषहो और उपसर्गो के समभावपूर्वक सहिष्णुता को उत्तम समझ कर (आमोक्खाय परिव्वएज्जासि) सम्पूर्ण कर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त होने तक सयमानुष्ठान मे प्रवृत्त—सलग्न रहे।

भावार्थ

साधु ध्यानयोग को अपनाकर समस्त बुरे व्यापारो (प्रवृत्तियो) से अपने तन-मन-वचन को रोक दे, शरीर पर से ममत्व छोड दे, परीषह-उपसर्ग-जनित कष्टो को सहन करना अच्छा जानकर जब तक समस्त कर्म-क्षयरूप मोक्ष प्राप्त न हो जाय, तब तक सयम पालन मे जुटा रहे।

व्याख्या

काया की भक्ति से दूर रहकर आत्मभक्ति मे ओतप्रोत रहे

साधुजीवन मे मोक्ष प्राप्ति के लिए देह गौण होता है, आत्मा मुख्य होती है। देह की भक्ति को छोडकर साधु आत्म-भक्ति अधिकाधिक कर सके इसके लिए शास्त्रकार इस अध्ययन की अन्तिम गाथा मे कुछ प्रक्रिया बता रहे है—'झाणजोग

धर्म नवम अध्ययन

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

आठवे अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अव नौवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। आठवें अध्ययन मे वालवीर्य और पण्डितवीर्य का वर्णन किया गया था। पण्डितवीर्य उसी का समझा जाता है, जो धर्माचरण मे पुरुषार्थ करता है। इस सम्वन्ध मे नौवाँ धर्माध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस अध्ययन मे धर्म के सम्वन्ध मे निरूपण किया गया है। निर्युक्तिकार के कथनानुसार इस अध्ययन मे भावधर्म[1] का अधिकार है, क्योकि भावधर्म ही वास्तव मे धर्म है। दशवैकालिकसूत्र के प्रथम और छठे (धर्मार्थकाम नामक) अध्ययन मे भी इसी दुर्गति-गमन से जीव को वचाने वाले धर्म का प्रतिपादन किया है। आगे के दसवे और ग्यारहवे अध्ययन मे भी यही वात वताई जाएगी। क्योकि भावसमाधि या भावमार्ग और धर्म एक ही चीज है। परमार्थत इनमे कोई अन्तर नही है। धर्म के जो श्रुत-चारित्र रूप प्रकार है, अथवा क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश भेद है, उनमे और भावसमाधि मे कोई अन्तर नही है, क्योकि क्षमा आदि उत्तम गुणो को अपने मे भलीभाँति स्थापित करना ही तो भावसमाधि है और ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मुक्तिमार्ग भी तो प्रकारान्तर मे भावधर्म है।

निक्षेपदृष्टि से धर्म के विभिन्न अर्थ

धर्म के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार निक्षेप होते है। नाम और स्थापनाधर्म तो सुगम है। द्रव्यधर्म, जो ज्ञशरीर-भव्यशरीर से व्यतिरिक्त है, तीन प्रकार का है—सचित्तधर्म, अचित्तधर्म और मिश्रधर्म। सचित्त यानी जीते हुए शरीर से युक्त जीव का धर्म (स्वभाव) उपयोग रूप है। अचित्त यानी धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो का भी जो जिसका स्वभाव है, वह उसका धर्म है। जैसे धर्मास्तिकाय का स्वभाव गमनक्रिया मे सहायता देना, अधर्मास्तिकाय का ठहरने मे सहायता देना, आकाशास्तिकाय का स्वभाव अवगाहन देना, तथा पुद्गलास्तिकाय का पूरण-गलन-विध्वसनरूप स्वभाव है। मिश्रद्रव्य जो दूध और जल आदि हैं, उनमे भी जो जिसका

---

१ धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो भावधम्मेण एत्थ अहिगारो।
एसेव होइ धम्मे एसेव समाहिमग्गोत्ति ॥

स्वभाव है, उसे उसका धर्म समझना चाहिए। गृहस्थो के भी जो कुल, नगर, ग्राम, राष्ट्र आदि से सम्बन्धित नियमोपनियम या मर्यादाएँ है, कर्तव्य हैं, अथवा दायित्व हैं, उन्हे कुलधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि समझने चाहिए। अन्नपुण्य आदि नौ प्रकार के पुण्य गृहस्थो के प्रति गृहस्थो के दान-पुण्यरूप हैं, उन्हे भी द्रव्य-धर्म जानना चाहिए।

भावधर्म नो-आगम से दो प्रकार का है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक धर्म दो प्रकार का है—एक गृहस्थो का, दूसरा पाषण्डियो का। लोकोत्तर धर्म ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भेद से तीन प्रकार का है।

इस धर्माध्ययन मे ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्न साधुओ का जो धर्म है, उसके सम्बन्ध मे खासतौर से निरूपण किया गया है।

अत इस सन्दर्भ मे इस अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है

मूल पाठ

कयरे धम्मे अक्खाए, माहणेण मईमया ?
अजु धम्म जहातच्च, जिणाण त सुणेह मे ॥१॥

सस्कृत छाया

कतरो धर्म आख्यात माहनेन मतिमता ?
ऋजुधर्मं यथातथ्य जिनना त शृणुत मे ॥१॥

अन्वयार्थ

(मईमया) केवलज्ञानसम्पन्न **(माहणेण)** अहिंसा (मा-हन—जीवो को मत मारो) का परम उपदेश देने वाले भगवान् महावीर स्वामी ने **(कयरे धम्मे अक्खाए)** कौन-सा धर्म बताया है ? **(जिणाण)** जिनवरो के **(त अजु धम्म)** उस सरल धर्म को **(जहातच्च)** यथार्थ रूप से **(मे सुणेह)** मुझ से सुनो।

भावार्थ

केवलज्ञानी तथा अहिंसा के परम उपदेष्टा भगवान् महावीर ने कौन-सा धर्म बताया है ? श्री जम्बूस्वामी आदि के इस प्रश्न के उत्तर मे श्री सुधर्मास्वामी कहते हैं—"लो जिनवरो के उस सरल धर्म को मुझ से सुनो।"

व्याख्या

भगवान् महावीर ने कौन-सा धर्म बताया था ?

इस अध्ययन की प्रथम गाथा मे जम्बूस्वामी आदि द्वारा प्रश्न उठाया गया है कि विश्व मे बहुत-से धर्म हैं, सभी मत-पथवादी लोग अपनी-अपनी दृष्टि से धर्म की प्ररूपणा और उसकी व्याख्या करते हैं। चूँकि भगवान् महावीर, जैसा कि हमने सुना है, बहुत बडे धर्मोपदेशक थे, उन्होने अपने केवलज्ञान के दिव्य प्रकाश मे अहिंसा

मूल पाठ

आघायकिच्चमाहेउ, नाईओ विसएसिणो ।
अन्ने हरंति त वित्त, कम्मी कम्मेहि किच्चती ॥४॥
माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नाल ते तव ताणाय, लुप्पतस्स सकम्मुणा ॥५॥

सस्कृत छाया

आघातकृत्यमाधातु ज्ञातयो विषयैषिण ।
अन्ये हरन्ति तद्वित्त, कर्मी कर्मभि कृत्यते ॥४॥
माता-पिता स्नुषा भ्राता भार्या पुत्राश्च औरसा ।
नाल ते तव त्राणाय, लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥५॥

अन्वयार्थ

(विसएसिणो नाईओ) सासारिक सुखाभिलाषी ज्ञातिजन (आघायकिच्चमाहेउ) मरणोत्तर क्रिया (दाहसस्कार, जलाजलिप्रदान, पितृपिंड आदि कृत्य) करके (त वित्त अन्ने हरंति) उस आरम्भ-पापकर्ता के धन का वे (अन्य) लोग हरण कर लेते हैं, (कम्मी कम्मेहि किच्चती) परन्तु उस द्रव्य को एकत्रित करने के लिए नाना प्रकार के पापकर्म करने वाला वह व्यक्ति अकेला उन पापकर्मो के फलस्वरूप दु ख भोगता है ॥४॥

(सकम्मुणा) अपने पापकर्म से (लुप्पतस्स) ससार मे पीडित होते हुए (तव) तुम्हारी (ताणाय) रक्षा करने के लिए (माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा) माता, पिता, पुत्रवधू, भाई, भार्या और सगे औरस पुत्र (नाल) कोई भी समर्थ नही है ॥५॥

भावार्थ

सासारिक सुखाभिलाषी धनलोलुप ज्ञातिवर्ग दाहसस्कार आदि मरणोत्तर क्रिया करके उसके अर्जित किये हुए धन का हरण कर लेते हैं। परन्तु पापकर्म करके धन सचय करनेवाला वह मृत व्यक्ति अकेला ही उन पापो का दु खरूप फल भोगता है ॥४॥

अपने पापकर्म के फलस्वरूप ससार मे दु ख भोगते हुए प्राणी को उसके माता-पिता, पुत्रवधू, भाई, भार्या और सगे बेटे आदि कोई भी बचा नही सकते ।

व्याख्या

स्वकृत कर्मो के दु खद फल का स्वय ही भोक्ता

इन दोनो गाथाओ मे यह बताया गया है कि मनुष्य बडी-बडी उमगो से

वहुत ही पापकर्म करके धन कमाता है, परन्तु अकस्मात् जव वह चल वसता है तो उसके मरने के वाद उसकी मरणोत्तर क्रिया (दाह-सस्कार आदि) लोक दिखावे के लिए करके फौरन उसके ज्ञातिजन उन धन को अपने कब्जे मे कर लेते हैं। यहाँ तक कि कई वार तो उसकी पत्नी या नावालिग वच्चे भी रोते-विलखते रह जाते हैं, और उसका वह धन जिसके हाथ मे पड जाता है, वही दवा बैठता है। न तो उसके पीछे उस धन से कोई सुकृत्य किया जाता है, और न ही वह किसी धर्मकार्य मे लगाया जाता है। उस धन से उसके ज्ञातिवन्धु मौज उडाते हैं। आखिर धन के लिए किये हुए इतने पापकृत्यो के फलस्वरूप उसे अकेले को ही दु ख भोगना पडता है। दूसरा कोई भी उसमे हिस्सेदार नही वनता। कितनी विडम्वना होती है, उस पापकर्मकर्ता की ! इस सम्वन्ध मे एक गुरु किसी राजा को उपदेश देते हुए कहता है—

> ततस्तेनार्जितैर्द्रव्यैर्दारैश्च परिरक्षितै ।
> क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन् ! हृष्टास्तुष्टा ह्यलकृता ॥

अर्थात् - हे राजन् ! जिसने इतने पापकर्म करके द्रव्य उपार्जित किया है, और इतनी स्त्रियो के साथ शादी करके उन्हे रखा है, उसके मरने के पश्चात् दूसरे लोग उनके मालिक वनकर खुश होकर, आभूपण पहनकर उनसे मौज उडाते हैं। परन्तु पापकर्म से द्रव्य उपार्जन करने वाला मृत पापी अपने कृतपापो से ससार मे पीडित किया जाता है।

जन्म देने वाले माता-पिता, सगे भाई-वहन, स्त्री-पुत्र, आदि या अन्य स्वजन कोई भी तुम्हारे पापकर्मों से पीडित होते हुए तुम्हारी रक्षा करने मे समर्थ नही है। यानी जव वे इस लोक मे विभिन्न दु खो से तुम्हारी रक्षा नही करते, तव परलोक मे उनके द्वारा रक्षा करने की आशा कैसे की जा सकती है ?

कालसौकरिक (कसाई) के पुत्र सुलस को अभयकुमार के सत्सग से जीव-हिंसा से विरक्ति हो चुकी थी। उसके परिवारीजनो ने उसे पुरखो की तरह जीववध करने के लिए वहुत कहा-सुनी की, परन्तु उस महापराक्रमी सुलस ने उनकी एक न मानी। जव पारिवारिक लोग उस पर दवाव डालने लगे तो उसने कुल्हाडी लेकर अपने हाथ पर मारी और उनसे कहा कि आप मेरी इस पीडा को वाँट लीजिए। जव सवने ऐसा करने से इन्कार कर दिया तो सुलस ने कहा—जव मेरी इस पीडा को आप ले नही सकते, तो परलोक मे पापकर्म का फल भोगते समय आप मेरी क्या सहायता करेंगे ? अत मैं यह पाप नही करूँगा। यह कहकर उस प्रबुद्ध सुलस ने जीववध नही किया। इसी प्रकार सभी आरम्भजनित हिंसा करने वाले पापकर्मी यह समझ लें कि उनके दुष्कृत्यो का फल उन्हे अकेले ही भोगना पडेगा, कोई भी उसमे हाथ वँटाने या उनकी एवज मे दु खद फल भोगने को नही आयेगा।

मूल पाठ

एयमट्ठ स पेहाए, परमट्ठाणुगामिय ।
निम्ममो निरहकारो, चरे भिक्खू जिणाहिय ॥६॥

सस्कृत छाया

एतदर्थं स प्रेक्ष्य, परमार्थानुगामिकम् ।
निर्ममो निरहकारश्चरेद्, भिक्षुर्जिनाहितम् ॥६॥

अन्वयार्थ

(स) वह साधु (एयमट्ठ) 'स्वकृत पाप से दुख भोगते हुए प्राणी की कोई रक्षा नही कर सकता,' इस बात को (पेहाए) भली-भांति जान-देखकर (परमट्ठाणुगामिय) तथा परमार्थरूप मोक्ष या धर्म के कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, यह जानकर (निम्ममो निरहकारो) ममतारहित और अहकारशून्य होकर (भिक्खू) भिक्षु—साधु (जिणाहिय) वीतराग-भाषित धर्म का (चरे) आचरण करे।

भावार्थ

अपने किये हुए कर्मो से सासारिक दुख भोगते हुए प्राणी की रक्षा करने मे कोई भी दूसरा समर्थ नही है, इस बात को अच्छी तरह सोच-समझकर तथा मोक्ष या धर्म का कारण—रत्नत्रय है, इसे हृदयगम करके साधु ममत्व से रहित और अहकार से शून्य होकर जिनेन्द्रप्ररूपित धर्म का आचरण करे।

व्याख्या

जिनभाषित धर्म का आचरण क्यो करे ?

इस गाथा मे शास्त्रकार ने पूर्वोक्त सिद्धान्त का हवाला देकर साधक को जिनभाषित धर्म पर चलने की प्रेरणा दी है। यह सत्य है कि दूसरे के पापकर्म का फल दूसरा नही भोग सकता और न ही पापकर्मजनित दुख से उसे बचा सकता है, तब कर्मरहित होने या पापकर्म से बचने के लिए मोक्षमार्ग के साधन रत्नत्रयरूप धर्म के सिवाय और कोई उपाय नही है। इसी उपाय को शास्त्रकार ने बताया है कि धर्म और कर्म दो विरोधी चीजे है। कर्म से बचने या कर्म से रहित होने का उपाय धर्म है। इस बात को साधक प्राणियो के स्वयमेव कर्मफलस्वरूप दुख भोगने के सिद्धान्त से समझे, सोचे और वीतरागभाषित सयमधर्म—रत्नत्रयरूपधर्म का रास्ता अगीकार करे।

मूल पाठ

चिच्चा वित्त च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गह ।
चिच्चा ण णतग सोय, निरवेक्खो परिव्वए ॥७॥

सस्कृत छाया

त्यक्त्वा वित्तञ्च पुत्राश्च, ज्ञातीश्च परिग्रहम् ।
त्यक्त्वा खल्वन्तग शोक, निरपेक्ष परिव्रजेत् ॥७॥

अन्वयार्थ

(वित्त च पुत्ते य णाइओ य परिग्गह चिच्चा) धन और पुत्रो का, ज्ञातिजनो और परिग्रह का त्याग करके (अतग सोय ण चिच्चाण) अन्तर के शोक सन्ताप को छोडकर (निरवेक्खो परिव्वए) निरपेक्ष—नि स्पृह होकर सयम का पालन करे।

भावार्थ

धन, पुत्र, ज्ञातिजन एव परिग्रह का त्याग करे तथा आन्तरिक सन्ताप छोडकर साधक सयम के अनुष्ठान मे प्रगति करे।

व्याख्या

सासारिक ममत्व छोडकर सयम मे प्रगति करे

इस गाथा मे साधु-धर्म के सम्बन्ध मे निर्देश किया गया है कि साधु किसे छोडे, और किसे अपनाए ? वैसे तो साधु बनते समय समस्त सासारिक पदार्थों का मोह-ममत्व छोडना अनिवार्य होता है, परन्तु यहाँ उन वस्तुओ का उल्लेख खासतौर से किया गया है, जिन वस्तुओ पर मनुष्य का अधिक मोह-ममत्व होता है जिनके लिए मनुष्य प्राय अपने प्राण तक दे डालता है, वे है —धन, पुत्र, कौटुम्बिकजन और आभूषण, मकान, भूमि आदि परिग्रह। अत ये और अन्य समस्त सासारिक वस्तुएँ—जो शरीर और शरीर से सम्बन्धित निर्जीव या सजीव है —उन सब पर से ममत्व का त्याग करे। किन्तु कई बार इन वस्तुओ का त्याग करने पर भी पूर्व सस्कारवश उनका सन्ताप-परिताप रह-रहकर मन मे होता है, दिल की तह मे उनके लिए ममत्व, चिन्ता, शोक, सन्ताप या पश्चात्ताप होता रहता है, साधु बन जाने पर भी वह मन मे उन्ही के बारे मे सोचता रहता है, लोगो से उनके बारे मे पूछता रहता है, या समाचार व सन्देश भेजता रहता है, अथवा उन्हे दर्शन के लिए सन्देश देता रहता है, यह साधु के लिए उचित नही। ऐसा होने से ममत्व का स्रोत सूखेगा नही, बल्कि बढेगा। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—**चिच्चाण णतग सोय निरवेक्खो परिव्वए**। अर्थात् उन पदार्थों का, जिन पर से सर्वथा ममत्व छोड दिया है, अन्तर् मे यदि उनके प्रति या उनके त्याग का जरा भी शोक सताप या पश्चात्ताप हो तो उसे मन से निकाल देना चाहिए, और उन सबसे निरपेक्ष, नि स्पृह एव विरक्त होकर, अपने सयम मे प्रगति करनी चाहिए, जिस प्रव्रज्या को अपनाया है, उसमे प्रगति करनी चाहिए। साधु को अपने सयमपथ पर ही चलते रहना चाहिए। जिस वस्तु से साधु का वास्ता ही नही रहा, उसके बारे मे पूछताछ, चिन्ता, सन्ताप या अपेक्षा करनी ही नही चाहिए। अथवा इस पक्ति का अर्थ यह भी होता

मूल पाठ

एयमट्ठं स पेहाए, परमट्ठाणुगामियं ।
निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहियं ॥६॥

संस्कृत छाया

एतदर्थं स प्रेक्ष्य, परमार्थानुगामिकम् ।
निर्ममो निरहंकारश्चरेद्, भिक्षुर्जिनाहितम् ॥६॥

अन्वयार्थ

(स) वह साधु (एयमट्ठं) 'स्वकृत पाप से दुःख भोगते हुए प्राणी की कोई रक्षा नहीं कर सकता,' इस बात को (पेहाए) भली-भाँति जान-देखकर (परमट्ठाणुगामियं) तथा परमार्थरूप मोक्ष या धर्म के कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, यह जानकर (निम्ममो निरहंकारो) ममतारहित और अहंकारशून्य होकर (भिक्खू) भिक्षु—साधु (जिणाहियं) वीतराग-भाषित धर्म का (चरे) आचरण करे।

भावार्थ

अपने किये हुए कर्मों से सांसारिक दुःख भोगते हुए प्राणी की रक्षा करने में कोई भी दूसरा समर्थ नहीं है, इस बात को अच्छी तरह सोच-समझकर तथा मोक्ष या धर्म का कारण—रत्नत्रय है, इसे हृदयंगम करके साधु ममत्व से रहित और अहंकार से शून्य होकर जिनेन्द्रप्ररूपित धर्म का आचरण करे।

व्याख्या

जिनभाषित धर्म का आचरण क्यों करे ?

इस गाथा में शास्त्रकार ने पूर्वोक्त सिद्धान्त का हवाला देकर साधक को जिनभाषित धर्म पर चलने की प्रेरणा दी है। यह सत्य है कि दूसरे के पापकर्म का फल दूसरा नहीं भोग सकता और न ही पापकर्मजनित दुःख से उसे बचा सकता है, तब कर्मरहित होने या पापकर्म से बचने के लिए मोक्षमार्ग के साधन रत्नत्रयरूप धर्म के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। इसी उपाय को शास्त्रकार ने बताया है कि धर्म और कर्म दो विरोधी चीजें हैं। कर्म से बचने या कर्म से रहित होने का उपाय धर्म है। इस बात को साधक प्राणियों के स्वयमेव कर्मफलस्वरूप दुःख भोगने के सिद्धान्त से समझे, सोचे और वीतरागभाषित संयमधर्म—रत्नत्रयरूपधर्म का रास्ता अंगीकार करे।

मूल पाठ

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं ।
चिच्चा ण णंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए ॥७॥

संस्कृत छाया

त्यक्त्वा वित्तञ्च पुत्रांश्च, ज्ञातींश्च परिग्रहम् ।
त्यक्त्वा खल्वन्तगं शोकं, निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥७॥

अन्वयार्थ

(वित्तं च पुत्ते य णाइओ य परिग्गहं चिच्चा) धन और पुत्रों का, ज्ञातिजनों और परिग्रह का त्याग करके (अंतगं सोयं ण चिच्चाण) अन्तर के शोक सन्ताप को छोड़कर (निरवेक्खो परिव्वए) निरपेक्ष—निःस्पृह होकर संयम का पालन करे।

भावार्थ

धन, पुत्र, ज्ञातिजन एवं परिग्रह का त्याग करे तथा आन्तरिक सन्ताप छोड़कर साधक संयम के अनुष्ठान में प्रगति करे।

व्याख्या

सांसारिक ममत्व छोड़कर संयम में प्रगति करे

इस गाथा में साधु-धर्म के सम्बन्ध में निर्देश किया गया है कि साधु किसे छोड़े, और किसे अपनाए ? वैसे तो साधु बनते समय समस्त सांसारिक पदार्थों का मोह-ममत्व छोड़ना अनिवार्य होता है, परन्तु यहाँ उन वस्तुओं का उल्लेख खासतौर से किया गया है, जिन वस्तुओं पर मनुष्य का अधिक मोह-ममत्व होता है जिनके लिए मनुष्य प्रायः अपने प्राण तक दे डालता है, वे हैं—धन, पुत्र, कौटुम्बिकजन और आभूषण, मकान, भूमि आदि परिग्रह। अतः ये और अन्य समस्त सांसारिक वस्तुएँ—जो शरीर और शरीर से सम्बन्धित निर्जीव या सजीव हैं—उन सब पर से ममत्व का त्याग करे। किन्तु कई बार इन वस्तुओं का त्याग करने पर भी पूर्व संस्कारवश उनका सन्ताप-परिताप रह-रहकर मन में होता है, दिल की तह में उनके लिए ममत्व, चिन्ता, शोक, सन्ताप या पश्चात्ताप होता रहता है, साधु बन जाने पर भी वह मन में उन्हीं के बारे में सोचता रहता है, लोगों से उनके बारे में पूछता रहता है, या समाचार व सन्देश भेजता रहता है, अथवा उन्हें दर्शन के लिए सन्देश देता रहता है, यह साधु के लिए उचित नहीं। ऐसा होने से ममत्व का स्रोत सूखेगा नहीं, बल्कि बढ़ेगा। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**चिच्चाण णंतगं सोयं निरवेक्खो परिव्वए**। अर्थात् उन पदार्थों का, जिन पर से सर्वथा ममत्व छोड़ दिया है, अन्तर् में यदि उनके प्रति या उनके त्याग का जरा भी शोक संताप या पश्चात्ताप हो तो उसे मन से निकाल देना चाहिए, और उन सबसे निरपेक्ष, निःस्पृह एवं विरक्त होकर, अपने संयम में प्रगति करनी चाहिए, जिस प्रव्रज्या को अपनाया है, उसमें प्रगति करनी चाहिए। साधु को अपने संयमपथ पर ही चलते रहना चाहिए। जिस वस्तु से साधु का वास्ता ही नहीं रहा, उसके बारे में पूछताछ, चिन्ता, सन्ताप या अपेक्षा करनी ही नहीं चाहिए। अथवा इस पंक्ति का अर्थ यह भी होता

कि जो दुस्त्याज्य है, विनाश करने वाला है, या आत्मा के भीतर दबा-छिपा रहता है, उस सन्ताप (सजीव या निर्जीव किसी भी पदार्थ के प्रति द्वेष, घृणा या शोक) को छोडकर अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग जो आस्रव के स्रोत है, जो सयमीजीवन या धर्ममय जीवन का अन्त करने वाले है, उन्हे छोडकर सबसे निरपेक्ष होकर मोक्ष-पथ पर प्रगति करे । एक अनुभवी चारित्रात्मा ने कहा है -

छलिया अवयक्खता निरावयक्खा गया अविग्घेण ।
तम्हा पवयणसारे निरावयक्खेण होयव्व ॥१॥
भोगे अवयक्खता पडति ससारसागरे घोरे ।
भोगेहि निरवयक्खा तरति ससारकतार ॥२॥

अर्थात् — जिन्होने परपदार्थों की या परिग्रह की अपेक्षा (ममता) रखी, वे ठगा गये, जो उनमे निरपेक्ष रहे वे निर्विघ्न होकर ससार-सागर को पार कर गए। जो साधक भोगो की अपेक्षा रखते है, वे घोर ससार-समुद्र मे डूब जाते है, किन्तु जो भोगो से निरपेक्ष रहते है, वे ससाररूपी अटवी को पार कर जाते है।

निष्कर्ष यह है कि साधु के लिए सासारिक पदार्थों से लगाव रखना अधम है और निरपेक्ष रहना धर्म है ।

मूल पाठ

पुढवी उ अगणी वाऊ, तणरुक्खसबीयगा ।
अडया पोयजराऊ रस-ससेय-उब्भिया ॥८॥
एतेहि छहि काएहि, त विज्ज परिजाणिया ।
मणसा कायवक्केण, णारभी ण परिग्गही ॥९॥

सस्कृत छाया

पृथिव्यापोऽग्निर्वायुस्तृणवृक्षा सबीजका ।
अण्डजा पोतजरायुजा, रस-सस्वेदोद्भिज्जा ॥८॥
एतै षड्भि कायैस्तद् विद्वान् परिज्ञाय ।
मनसा कायवाक्येन, नारम्भी न परिग्रही ॥९॥

अन्वयार्थ

(पुढवी उ अगणी वाऊ तणरुक्खसबीयगा) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा तृण, वृक्ष और बीजसहित वनस्पति, (अडया पोयजराऊ रससंसेयउब्भिया) एव अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदज, तथा उद्भिज्ज ये सब षट्कायिक जीव है ॥८॥

(विज्ज) विद्वान् साधक (एतेहिं छहिं काएहिं) इन छह कायो से (त परि-जाणिया) इन्हे जीव जानकर अथवा ज्ञपरिज्ञा से इन्हे जानकर (मणसा कायवक्केण)

मन, वचन और काया से (णारभी ण परिग्गही) प्रत्याख्यानपरिज्ञा से न इनका आरम्भ (हिंसा) करे और न ही इनका परिग्रह करे ॥६॥

भावार्थ

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और तृण-वृक्ष, वीजयुक्त वनस्पति, अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदज एव उद्भिज्ज—ये सब षड्जीवनिकाय हैं। विद्वान् साधक इन छह कायो के रूप मे इन्हे ज्ञपरिज्ञा से जीव जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से मन-वचन काया से न तो इनका आरम्भ करे और न ही इनका परिग्रह करे।

व्याख्या

षट्जीवनिकाय के आरम्भ-परिग्रह का त्याग करे

इन दोनो गाथाओ मे शास्त्रकार ने दो बाते साधुधर्म के रूप मे बताई है—

(१) सर्वप्रथम ससार के समस्त प्राणिया को षट्जीवनिकाय के रूप मे ज्ञपरिज्ञा से जाने, (२) उन सभी प्रकार के जीवनिकायो का न तो आरम्भ करे, और न परिग्रह यानी प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उन जीवो के आरम्भ एव परिग्रह का त्याग करे। कितनी सुन्दर प्रेरणा शास्त्रकार ने साधक को दे दी है।

षट्जीवनिकाय इस प्रकार हैं—

(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय (३) तेजस्काय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रसकाय।

पृथ्वीकाय के अन्तर्गत मिट्टी, मुरड, खडी, गेरू, हीगलू, हडताल, हिरमच आदि आते हैं। फिर उसके सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त आदि भेद हैं। इसी प्रकार अप्काय के अन्तर्गत ओस, खार, समुद्र, नदी, कुए, तालाव आदि सब प्रकार का सचित्त पानी आदि है। फिर उनके भी सूक्ष्म आदि भेद है। तेजस्काय मे अग्नि, अगारा, ज्वाला, भोभर, चिनगारी आदि सबका समावेश हो जाता है। उसके भी सूक्ष्म आदि भेद हैं। वायुकाय मे उक्कलियावात, मडलियावात, घनवात, तनुवात, शुद्धवात आदि का समावेश हो जाता है। वायुकाय के भी सूक्ष्म आदि भेद हैं। इसके पश्चात् वनस्पनि के कुछ प्रकारो का शास्त्रकार नामोल्लेख करते है—"तणरुक्खसबीयगा।" अर्थात्—वनस्पतिकाय के अन्तर्गत तृण, वृक्ष, वीज आदि हैं। इसके सिवाय वनस्पतिकाय के फल, फूल, डाली, स्कन्ध, पत्ते, दूब, अकुर, काई आदि अनेको प्रकार हैं। इसके भी सूक्ष्म आदि भेद पूर्ववत् समझ लेने चाहिए। कुश, कास, हरी घास, दूब आदि तृण कहलाते हैं। अशोक, आम, नीम, जामुन आदि वृक्ष कहलाते हैं। धान्य (शालि), गेहूँ, जौ, मक्का, चना आदि बीज हैं। ये पाँचो ही जीवनिकाय एकेन्द्रिय है और स्थावर कहलाते है। छठे त्रसकाय का निरूपण करते हुए शास्त्रकार कहते है—अण्डज—अडे से उत्पन्न होने वाले पक्षी, गृहकोकिल,

गिलहरी, साँप आदि), पोतज (बच्चे के रूप मे पैदा होने वाले हाथी, शरभ आदि), रसज (दही, सौवीर आदि मे रसचलित होने पर उत्पन्न होने वाले जीव), संस्वेदज (पसीने से उत्पन्न होने वाले जूं, खटमल आदि), उद्भिज्ज (टिड्डी, मेढक, खजरीट आदि प्राणी) तथा जरायुज (चमडी की झिल्ली से आवेष्टित होकर पैदा होने वाले मनुष्य, गाय आदि) है। ये सभी द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के त्रसकायिक प्राणी हैं।

हेयोपादेयविवेकी विद्वान् साधु सर्वप्रथम ज्ञपरिज्ञा से इन षट्काय के जीवो को भलीभाँति जान ले। साथ ही प्रत्याख्यानपरिज्ञा से मन-वचन-काया से जीवो का घात करने वाले आरम्भ का तथा इनके परिग्रह का—इन्हे ममत्वपूर्वक रखने का—त्याग करे।

मूल पाठ

मुसावाय बहिद्ध च, उग्गह च अजाइया ।
सत्थादाणाइ लोगसि, त विज्ज परिजाणिया ॥१०॥
पलिउंचण च भयणं च, थडिल्लुस्सयणाणि य ।
धूणादाणाइ लोगसि, त विज्ज परिजाणिया ॥११॥
धोयण रयण चेव, वत्थीकम्म विरेयण ।
वमणजणपलीमथ, त विज्ज परिजाणिया ॥१२॥
गधमल्लसिणाण च, दतपक्खालण तहा ।
परिग्गहित्थिकम्म च, तं विज्ज परिजाणिया ॥१३॥
उद्देसिय कीयगड च, पामिच्च चेव आहड ।
पूय अणेसणिज्ज च, त विज्ज परिजाणिया ॥१४॥
आसूणिमक्खिराग च, गिद्धुवघायकम्मगं ।
उच्छोलण च कक्क च, त विज्ज परिजाणिया ॥१५॥
सपसारी कयकिरिए, पसिणायतणाणि य ।
सागारिय च पिंड च, त विज्ज परिजाणिया ॥१६॥
अट्ठावय न सिक्खिज्जा, वेहाईय च णो वए ।
हत्थकम्म विवाय च, त विज्ज परिजाणिया ॥१७॥

पाणहाओ य छत्त च, णालीय बालवीयण ।
परकिरिय अन्नमन्न च, त विज्ज परिजाणिया ॥१८॥
उच्चार पासवण, हरिएसु ण करे मुणी ।
वियडेण वावि साहट्टु, णायमेज्जा कयाइ वि ॥१९॥
परमत्ते अन्नपाण, ण भुजेज्ज कयाइ वि ।
परवत्थ अचेलोऽवि, त विज्ज परिजाणिया ॥२०॥
आसदी पलियके य, णिसिज्ज च गिहतरे ।
सपुच्छण सरण वा, त विज्ज परिजाणिया ॥२१॥
जस कित्ति सिलोय च, जा य वदणपूयणा ।
सव्वलोयसि जे कामा, त विज्ज परिजाणिया ॥२२॥
जेणेह णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाण तहाविह ।
अणुप्पयाणमन्नेसि, त विज्ज परिजाणिया ॥२३॥

सस्कृत छाया

मृषावाद बहिद्ध (मैथुन) च, अवग्रह चायाचितम् ।
शस्त्रादानानि लोके, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१०॥
पलिकुञ्चन च भजन च, स्थण्डिलोच्छ्रयणानि च ।
धूनयाऽऽदानानि लोके, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥११॥
धावन रञ्जन चैव, वस्तिकर्म विरेचनम् ।
वमनाञ्जन पलिमन्थ, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१२॥
गन्ध-माल्य-स्नानानि, दन्तप्रक्षालन तथा ।
परिग्रहस्त्रीकर्माणि, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१३॥
औद्देशिक क्रीतकृत च, प्रामित्य चैवाहृतम् ।
पूतमनेषणीयञ्च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१४॥
आशूनमक्षिराग च, गृद्ध्युपघातकर्मकम् ।
उच्छोलन च कल्क च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१५॥
सम्प्रसारी कृतक्रिय प्रश्नायतनानि च ।
सागारिक च पिण्डञ्च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१६॥
अष्टापद न शिक्षेत, वेधातीतञ्च नो वदेत् ।
हस्तकर्म विवादञ्च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१७॥

गिलहरी, साँप आदि), पोतज (बच्चे के रूप मे पैदा होने वाले हाथी, शरभ आदि), रसज (दही, सौवीर आदि मे रसचलित होने पर उत्पन्न होने वाले जीव), सस्वेदज (पसीने से उत्पन्न होने वाले जूं, खटमल आदि), उद्भिज्ज (टिड्डी, मेढक, खजरीट आदि प्राणी) तथा जरायुज (चमडी की झिल्ली मे आवेष्टित होकर पैदा होने वाले मनुष्य, गाय आदि) है। ये सभी द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के त्रसकायिक प्राणी हैं।

हेयोपादेयविवेकी विद्वान् साधु सर्वप्रथम ज्ञपरिज्ञा से इन षट्काय के जीवो को भलीभाँति जान ले। साथ ही प्रत्याख्यानपरिज्ञा से मन-वचन-काया से जीवो का घात करने वाले आरम्भ का तथा इनके परिग्रह का—इन्हे ममत्वपूर्वक रखने का—त्याग करे।

मूल पाठ

मुसावाय बहिद्ध च, उग्गह च अजाइया ।
सत्थादाणाइ लोगसि, त विज्ज परिजाणिया ॥१०॥

पलिउचण च भयणं च, थडिल्लुस्सयणाणि य ।
धूणादाणाइ लोगसि, त विज्ज परिजाणिया ॥११॥

धोयण रयण चेव, वत्थीकम्म विरेयण ।
वमणजणपलीमथ, त विज्ज परिजाणिया ॥१२॥

गधमल्लसिणाण च, दतपक्खालण तहा ।
परिग्गहित्थिकम्म च, त विज्ज परिजाणिया ॥१३॥

उद्देसिय कीयगड च, पामिच्च चेव आहड ।
पूय अणेसणिज्ज च, त विज्ज परिजाणिया ॥१४॥

आसूणिमक्खिराग च, गिद्धुवघायकम्मगं ।
उच्छोलण च कक्क च, त विज्ज परिजाणिया ॥१५॥

सपसारी कयकिरिए, पसिणायतणाणि य ।
सागारिय च पिड च, त विज्ज परिजाणिया ॥१६॥

अट्ठावय न सिक्खिज्जा, वेहाईय च णो वए ।
हत्थकम्म विवाय च, त विज्ज परिजाणिया ॥१७॥

पाणहाओ य छत्त च, णालीय वालवीयण ।
परकिरिय अन्नमन्न च, त विज्ज परिजाणिया ॥१८॥
उच्चार पासवण, हरिएसु ण करे मुणी ।
वियडेण वावि साहट्टु, णायमेज्जा कयाइ वि ॥१९॥
परमत्ते अन्नपाण, ण भुजेज्ज कयाइ वि ।
परवत्थ अचेलोऽवि, त विज्ज परिजाणिया ॥२०॥
आसदी पलियके य, णिसिज्ज च गिहतरे ।
सपुच्छण सरण वा, त विज्ज परिजाणिया ॥२१॥
जस किंत्ति सिलोय च, जा य वदणपूयणा ।
सव्वलोयसि जे कामा, त विज्ज परिजाणिया ॥२२॥
जेणेह णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाण तहाविह ।
अणुप्पयाणमन्नेसि, त विज्ज परिजाणिया ॥२३॥

सस्कृत छाया

मृषावाद बहिद्ध (मैथुन) च, अवग्रह चायाचितम् ।
शस्त्रादानानि लोके, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१०॥
पलिकुञ्चन च भजन च, स्थण्डिलोच्छ्रयणानि च ।
धूनयाऽऽदानानि लोके, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥११॥
धावन रञ्जन चैव, वस्तिकर्म विरेचनम् ।
वमनाञ्जन पलिमन्थ, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१२॥
गन्ध-माल्य-स्नानानि, दन्तप्रक्षालन तथा ।
परिग्रहस्त्रीकर्माणि, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१३॥
औद्देशिक क्रीतकृत च, प्रामित्य चैवाहृतम् ।
पूतमनेषणीयञ्च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१४॥
आशूनमक्षिराग च, गृद्ध्युपघातकर्मकम् ।
उच्छोलन च कल्क च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१५॥
सम्प्रसारी कृतक्रिय प्रश्नायतनानि च ।
सागारिक च पिण्डञ्च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१६॥
अष्टापद न शिक्षेत, वेधातीतञ्च नो वदेत् ।
हस्तकर्म विवादञ्च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१७॥

उपानहौ च छत्रञ्च, नालिक वालव्यजनम् ।
परिक्रियाञ्चाऽन्योऽन्य, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१८॥
उच्चार प्रस्रवण हरितेषु न कुर्यान्मुनि ।
विकटेन वाऽपि सहृत्य, नाचमेत कदाचिदपि ॥१९॥
पराऽमत्रेऽन्नपान, न भुजीत कदाचिदपि ।
परवस्त्रमचेलोऽपि, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥२०॥
आसन्दी पर्य्यंकञ्च, निषद्या च गृहान्तरे ।
सप्रश्न स्मरण वाऽपि, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥२१॥
यश कीर्ति श्लोकञ्च, या च वन्दन-पूजना ।
सर्वलोके ये कामास्तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥२२॥
येनेह निर्वहेद् भिक्षुरन्नपान यथाविधम् ।
अनुप्रदानमन्येषा, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥२३॥

अन्वयार्थ

(मुसावाय) असत्यभाषण, (बहिद्ध च) मैथुन-सेवन करना, (उग्गह) उद्ग्रह—परिग्रह रखना, (अजाइया) तथा अदत्तादान लेना (लोगसि सत्थादाणाइ) ये सब लोक मे शस्त्र के समान और कर्मबन्धन के कारण हैं। (विज्ज त परिजाणिया) विद्वान् साधक इन्हे ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग करे ॥१०॥

(पलिउचण च) माया, (भयण च) और भजन—लोभ (थडिल्लुस्सयणाणि य) स्थण्डिल—क्रोध तथा उच्छ्रयण मान का (धूण) त्याग करो, (लोगसि आदाणाइ) क्योकि ये सब लोक मे कर्म-बन्धन के कारण है। (विज्ज त परिजाणिया) इसलिए विद्वान् मुनि इन्हे जानकर इनका त्याग करे ॥११॥

(धोयण) हाथ-पैर तथा वस्त्र आदि धोना, (रयण) तथा उन्हे रंगना, (वत्थीकम्म विरेयण) वस्तिकर्म करना—एनिमा वगैरह लेना, विरेचन (जुलाब) लेना, (वमणजण) दवा लेकर वमन (उलटी—कै) करना, आँखो मे अजन (काजल आदि) लगाना, (पलीमथ त) इत्यादि सयम के नष्ट करने वाले कार्यों (पलिमथो) को (विज्ज परिजाणिया) विद्वान् साधक जानकर इनका त्याग करे ॥१२॥

(गधमल्लसिणाण च) शरीर मे सुगन्धित पदार्थ लगाना, पुष्पमाला या अन्य कोई माला धारण करना, स्नान करना, (दतपक्खालण) तथा दाँतो को धोना—साफ करना, (परिग्गहित्थिकम्म च) परिग्रह (सोने-चाँदी के सिक्के, नोट या सोने-चाँदी, हीरे आदि या उनके आभूषण) रखना, तथा स्त्रीसमोग करना (त विज्ज परिजाणिया) विद्वान् मुनि इन्हे पाप का कारण जानकर इनका त्याग करे ॥१३॥

(उद्देसिय) साधु को देने के उद्देश्य से जो आहारादि तैयार किया गया है, वह औद्देशिक, (कीयगड) साधु के लिए जो खरीदा गया है तथा बनाया गया है,

(पामिच्च) एव साधु को देने के लिए जो दूसरे से उधार लिया गया है, (आहृड चेव) और साधु को देने के लिए जो गृहस्थ द्वारा लाया हुआ है, (पूय) जो आधाकर्मी दोषयुक्त आहार से मिला हुआ है, (अणसणिज्ज च) तथा जो आहारादि दोषयुक्त है, अशुद्ध है, (विज्ज त परिजाणिया) विद्वान् मुनि इन सबको सयमविघातक एव ससारपरिभ्रमण के कारण जानकर इनका त्याग करे ॥१४॥

(आसूणिमक्खिराग च) भस्म, रसायन आदि खाकर शरीर को बलिष्ठ व मोटा बनाना, शोभा के लिए आँखो मे अजन लगाना, (गिद्धुवघायकम्मग) शब्दादि विषयो मे गृद्धि—आसक्ति रखना, तथा जिस कर्म से जीवो का घात होता है, उसे करना, (उच्छोलण च कक्क च) अयतना (असावधानी) से हाथ-पैर आदि शीतल अप्रासुक जल से धोना, शरीर मे पीठी (उवटन) लगाना (विज्ज त परिजाणिया) इन सबको विद्वान् मुनि कर्मबन्धन एव ससारपरिभ्रमण के कारण जानकर इनका परित्याग करे ॥१५॥

(सपसारी) असयतो के साथ सासारिक बाते करना, (कयकिरिए) असयम के अनुष्ठान की प्रशसा करना, (पसिणायतणाणि य) ज्योतिष सम्बन्धी प्रश्नो के उत्तर देना, (सागारिय च पिंड च) तथा शय्यातर (जिसकी आज्ञा से मकान मे साधु ठहरा है) का पिण्ड (आहार) ग्रहण करना, (विज्ज त परिजाणिया) इन बातो को विद्वान् साधु ससारभ्रमण का कारण जानकर इनका त्याग करे ॥१६॥

(अट्ठावय न सिक्खिज्जा) साधु जुआ खेलना न सीखे, (वेहाईय णो वए) सद्धर्म के विरुद्ध बात न कहे, (हत्थकम्म विवाय च) तथा वह हस्तकर्म न करे या हाथापाई (झगडा बढाकर) न करे, तथा व्यर्थ का विवाद न करे, (विज्ज त परिजाणिया) विद्वान् मुनि इन्हे ससारवृद्धि के कारण समझकर इनका परित्याग करे ॥१७॥

(पाणहाओ य छत्त च) जूते पहनना और छाता लगाना, (णालीय बालवीयण) जुआ खेलना और पखे से हवा करना (अन्नमन्न च परकिरिय) एक के द्वारा करने योग्य क्रिया दूसरे द्वारा करना और दूसरे द्वारा करणीय क्रिया पहले द्वारा करना—इस प्रकार अन्योन्यपरक्रिया करना, (विज्ज त परिजाणिया) विद्वान् साधु इन सबको कर्मबन्धन के कारण जानकर इनका परित्याग करे ॥१८॥

(मुणी उच्चार पासवण हरिएसु ण करे) साधु हरी वनस्पति (हरियाली) वाले स्थान मे मल-मूत्र त्याग न करे, (साहट्टु) तथा बीज आदि को हटाकर (वियडेण वावि) अचित्तजल से भी (कयाइ वि) कदापि (णायमेज्जा अथवा णावमज्जे) आचमन न करे, या वस्तु शुद्धि या शरीर शुद्धि न करे ॥१९॥

(परमत्ते अन्नपाण कयाइ वि ण भुजेज्ज) दूसरे के यानी गृहस्थ के बर्तन मे साधु कदापि अन्न या जल का सेवन न करे। (अचेलोऽवि परवत्थ) साधु वस्त्र-

रहित या जीर्णवस्त्रवाला होने पर भी पर-गृहस्थ का वस्त्र धारण न करे। (विज्ज त परिजाणिया) विद्वान् साधु इन अनाचरणीय बातो को ससारभ्रमण का कारण जानकर इनका त्याग करे ॥२०॥

(आसदी पलियके य) छोटी खाट या माचे पर या पलग पर साधु न बैठे, न सोए, तथा (गिहतरे णिसिज्ज च) गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरो के बीच मे जो छोटी गली होती है, वहाँ न बैठे। (सपुच्छण) वह गृहस्थ से कुशलक्षेम न पूछे। (सरण) तथा अपनी पूर्व कामक्रीडा का स्मरण न करे। (विज्ज त परिजाणिया) विद्वान् मुनि इन्हे अनर्थकारक समझकर इनका परित्याग करे ॥२१॥

(जस किंत्ति सिलोय च) साधु यश, कीर्ति और श्लोक—गुणकीर्तन, (जा य वदण-पूयणा) तथा जो वन्दना या पूजा-प्रतिष्ठा है, (सव्वलोगसि जे कामा) तथा समस्त लोक मे जो कामभोग है, (त विज्ज परिजाणिया) उन्हे विद्वान् मुनि ससार-परिभ्रमण का कारण जानकर इनका त्याग करे ॥२२॥

(इह) इस जगत् मे (जेण) जिस अन्न और जल से (भिक्खू) सयमी साधु या साधु का सयम (णिव्वहे) खराब हो जाए, (तहाविह अन्नपाण) वैसा अशुद्ध आहार-पानी (अन्नेसि अणुप्पयाण) दूसरे साधुओ को देना, (त विज्ज परिजाणिया) ससार-परिभ्रमण का कारण जानकर विद्वान् मुनि उसका त्याग करे ॥२३॥

भावार्थ

झूठ बोलना, मैथुन सेवन करना, परिग्रह रखना और अदत्तादान लेना, ये सब लोक मे शस्त्र के समान है, तथा कर्मबन्ध के कारण है, इसलिए विद्वान् मुनि इन्हे ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग करे ॥१०॥

साधु माया, लोभ, क्रोध और मान का त्याग करे, क्योकि ये सब लोक मे कर्मबन्धन के कारण है। इसलिए विद्वान साधु इन्हे जानकर छोड दे ॥११॥

हाथ-पैर या वस्त्र धोना, इन्हे रगना एव वस्तिकर्म, विरेचन, वमन करना और आँखो मे अजन लगाना, ये सब सयम को नष्ट करने वाले (पलिमन्थ) है, यह जानकर विद्वान् साधु इनका त्याग करे ॥१२॥

सुगन्धित पदार्थ लगाना, पुष्प आदि की माला धारण करना, स्नान करना, दन्त-प्रक्षालन करना, कीमती वस्तुओ या सिक्को आदि का परिग्रह रखना, स्त्रीसेवन करना तथा हस्तकर्म करना, इन सबको पापकर्मबन्ध का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका त्याग करे ॥१३॥

साधु को दान देने के लिए जो आहार आदि तैयार किया गया है, जो मोल *लाया गया है*, दूसरे से *उधार लिया गया है*, साधु को देने के लिए

जो आहार आदि गृहस्थ द्वारा लाया गया है, जो आधाकर्मी आदि दोषयुक्त आहार से मिश्रित है, इस प्रकार जो आहार आदि किसी भी तरह से सदोष है, उसे ससार का कारण जानकर विचक्षण साधु उसका त्याग करे ।।१४।।

रसायन, भस्म आदि का सेवन शरीर को बलिष्ठ एव मोटा बनाने के लिए करना, शोभा के लिए आँखो मे अजन लगाना तथा शब्दादि विषयो मे आसक्त होना एव जिससे जीवो का घात हो, वैसा कर्म करना तथा ठडे जल से अयत्नापूर्वक हाथ-पैर आदि धोना तथा शरीर मे पीठी (उबटन) लगाना, इन बातो को ससार का कारण जानकर विवेकी साधु इनका त्याग करे ।।१५।।

असयतो के साथ सासारिक बातें करना, असयम के अनुष्ठान की प्रशसा करना एव ज्योतिष के प्रश्नो का उत्तर देना तथा शय्यातर का पिण्ड लेना, इन बातो को ससारभ्रमण का कारण जानकर विवेकी साधु इनका परित्याग करे ।।१६।।

साधु जुआ खेलना न सीखे तथा अधर्मप्रधान वाक्य न बोले तथा हाथापाई से, इस प्रकार का कलह और विवाद न करे । विद्वान् साधु इन बातो को ससारभ्रमण का कारण जानकर त्याग करे ।।१७।।

जूते पहनना, छाता लगाना, शतरज खेलना, पखे से हवा करना, जिससे कर्मबन्ध हो, ऐसी पारस्परिक क्रिया आदि को कर्मबन्ध का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका त्याग करे ।।१८।।

साधु हरी वनस्पति वाली जगह पर मल-मूत्र त्याग न करे एव बीज आदि हटाकर अचित्त जल से आचमन या वस्त्रादि की शुद्धि न करे ।।१९।।

साधु गृहस्थ के बर्तन मे भोजन न करे, पानी न पीए एव वस्त्ररहित या वस्त्र जीर्ण होने पर भी साधु गृहस्थ का वस्त्र न पहने, क्योकि ये सब ससारभ्रमण के कारण है, इसलिए विद्वान् मुनि इनका त्याग करे ।।२०।।

साधु खटिया पर न बैठे और न पलग पर सोए तथा गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरो के बीच मे जो छोटी गली होती है उसमे न बैठे एव गृहस्थ का कुशल न पूछे तथा अपनी पूर्वक्रीडा का स्मरण न करे । इन सभी बातो को ससारपरिभ्रमण का कारण समझकर साधु इनका परित्याग करे ।।२१।।

यश, कीर्ति, श्लाघा, वन्दन, पूजा, प्रतिष्ठा तथा समस्त लोक के विषय-भोगो को ससारपरिभ्रमण का कारण जानकर विद्वान् साधु उनको तिलाजलि दे दे ।।२२।।

इस जगत् मे जिस आहार-पानी के सेवन से साधु का सयम खराब हो

जाता है, वैसा अशुद्ध आहार-पानी साधु दूसरे साधुओ को न दे, क्योकि वह समारपरिभ्रमण का कारण है, अत विद्वान् मुनि इसका त्याग करे ॥२३॥

व्याख्या

विद्वान् साधु इन अनाचरणीय बातो का त्याग करे

१०वी गाथा से लेकर २३वी गाथा तक साधु के आचार-धर्म की बातो के सन्दर्भ मे अनाचरणीय बातो की सूची दे दी है। और प्रत्येक गाथा के अन्त मे यह निर्देश कर दिया है कि विद्वान् साधु इन्हे कर्मबन्ध का, अनर्थ या ससारपरिभ्रमण का कारण ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से छोडे। ८वी और ९वी गाथा मे अहिंसा महाव्रत के सन्दर्भ मे हिंसा के परित्याग के विषय मे कहा गया था, अब १०वी गाथा मे मृषावाद, मैथुन, अदत्तादान और परिग्रह के त्याग को अनिवार्य धर्म   ा गया है, क्योकि ये सब लोक मे शस्त्र के समान हैं, तथा कर्मबन्ध के कारण है। मुसावाय का अर्थ झूठ बोलना है, बहिद्ध का अर्थ है मैथुन सेवन, उग्गह का अर्थ है—परिग्रह, तथा अजाइया का अर्थ है—अदत्तादान। प्राणियो को पीडाकारक होने के कारण इन्हे शस्त्र कहा गया है। इनमे आठ प्रकार के कर्मों का ग्रहण करने के कारण इन्हे आदान भी कहा गया है। इसके पश्चात शास्त्रकार ने पूर्ववत् चार कषायो का त्याग करने को साधु धर्म बताया गया है। 'पलिउचण' माया के लिए, भयण लोभ के लिए, थडिल्ल क्रोध के लिए और उस्सयण मान के लिए प्रयुक्त किया गया है। ये चारो कषाय भी पूर्ववत् कर्मबन्धन के कारण होने के कारण त्याज्य हैं। मूलगुणो के सम्बन्ध मे त्याज्य बातो का निर्देश करके अब शास्त्रकार १२वी गाथा से उत्तरगुणो से सम्बन्धित दशवैकालिक आदि सूत्रो मे वर्णित अनाचरणीय बातो के त्याग का निर्देश करते है—

धोयण—हाथ-पैर आदि एव वस्त्र को शोभा के लिए धोना अनाचीर्ण है। वस्तिकर्म तथा विरेचन-एनिमा आदि तथा जुलाब लेना, दवा लेकर वमन करना, आँखो मे शोभा के लिए कज्जल लगाना, तथा अन्य शरीर सस्कार जो सयम गुणो के विघातक है, साधु के लिए अनाचरणीय हैं। क्योकि इनका साधुधर्मपालन से कोई वास्ता नही है, ये केवल शरीर मोहवश होते है।

शरीर-शृगार एव प्रसाधन से सम्बन्धित तथा अन्य बाते भी सयम की दृष्टि से वर्जनीय है, उनका १३वी गाथा मे निर्देश करते है—शरीर पर सुगन्धित पदार्थ लगाना, माला धारण करना, स्नान करना, शोभा के लिए दाँत चमकाना, बहुमूल्य वस्तुओ का ममत्वपूर्वक सग्रह रखना, एव देव, मनुष्य और तिर्यंचजाति की स्त्री का सेवन या हस्तमैथुन आदि कम करना, ये पापकर्मबन्ध के कारण हैं। इनसे साधु का नैतिक जीवन समाप्त हो जाता है। अत ये सब त्याज्य हैं।

इससे अगली गाथा मे अनेषणीय एव दोषयुक्त आहार के ग्रहण एव सेवन

करने का निषेध किया गया है। आहार के ४२ दोष हैं, उनमें १६ उद्गम के, १६ उत्पादना के एव १० एषणा के दोष है, उन्हे भलीभाँति जानकर सुविहित साधु उन्हे त्याज्य समझें। इसके पश्चात् १५वी गाथा मे भी शरीरमोहवश कतिपय अनाचरणीय बातो को छोडने का निर्देश है—जैसे शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए रसायन-सेवन करना, नेत्र मे शोभा के लिए अजन लगाना, शब्दादि पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त होना, जीवघातजनक कर्म करना, अयत्नापूर्वक ठण्डे जल से हाथ-पैर आदि धोना, शरीर मे उवटन लगाना आदि। ये सब इसलिए त्याज्य हैं कि उनसे सयमवृद्धि मे कोई सहारा नही लगता बल्कि ये सब सयम के घातक हैं।

कई बातें ऐसी हैं, जो साधुत्व की साधना मे विघ्नकारक हैं, मोहकर्म की वृद्धि करने वाली हैं। जैसे असयतो के साथ विवाह, सगाई, कामभोग आदि वासनावर्द्धक व्यर्थ का समय नष्ट करने वाली गप्पे मारना, असयम के कार्यो की तारीफ करना, गृहस्थो के मतलब की ज्योतिष, हस्तरेखा आदि से सम्बन्धित प्रश्नो का उत्तर देना, शय्यातर-पिण्ड या निन्दनीय, दुराचारी या अनाचारी के यहाँ से आहार ग्रहण करना। ये सब बाते भी साधु के लिए त्याज्य है।

इसके अतिरिक्त जुआ खेलना सीखना, धर्मविरुद्ध बातो की प्रेरणा देना, हाथापाई पर उतारू हो जाना, विवाद एव कलह करना, ये सब निन्द्यकर्म साधु के लिए अनाचरणीय हैं।

जूते पहनना, छाता लगाना, शतरज खेलना, पखे से हवा करना, एक-दूसरे के करने योग्य क्रिया एक-दूसरा करे, हरियाली भूमि पर मल-मूत्र त्याग करना, अचित्त जल से भी बीजादि हटाकर उस जगह आचमन करना या वस्त्र-शरीर आदि की शुद्धि करना, ये सब बातें साधु के लिए अनाचरणीय है।

साधु के लिए गृहस्थ का पात्र परपात्र है। उसमे साधु न तो आहार करे और न ही पेय पदार्थ पीए। क्योकि गृहस्थ के पात्र को पहले या पीछे सचित्त जल से धोये जाने की तथा कदाचित् चुराये जाने या गिरकर टूट जाने की आशका रहती है। अथवा स्थविरकल्पी साधु के लिए हाथ की अजलि मे खाना-पीना, परपात्र मे खाना-पीना निषिद्ध है क्योकि स्थविरकल्पी साधुओ की अजलि छिद्रयुक्त होती है, उसमे से आहार-पानी आदि नीचे गिर जाने और अयत्ना होने की आशका रहती है। इसलिए स्थविरकल्पी साधु अजलिरूप परपात्र मे न खाए-पीए, जबकि जिनकल्पी साधु की अजलि छिद्ररहित होती है, उनके लिए अजलि ही स्वपात्र है, अन्य सभी (स्थविरकल्पियो या गृहस्थो के) पात्र उनके लिए परपात्र हैं। उनमे वे न खाएँ-पीएँ, क्योकि उनमे खाने-पीने से उनके सयम मे विराधना होने का खतरा है। इसी प्रकार स्थविरकल्पी साधु वस्त्रधारी होते हैं, कदाचित् उनका वस्त्र कोई चुरा ले जाए, फाड दे, छीन ले या अत्यन्त जीर्ण हो जाए तो भी वह परवस्त्र यानी गृहस्थ के

वस्त्र न ले, क्योंकि पहले या पीछे उसे कच्चे पानी से धोये जाने या चुराये जाने अथवा फट जाने की आशङ्का है। जिनकल्पी मुनि वस्त्ररहित होते ही हैं, उनके लिए सभी वस्त्र परवस्त्र है, इसलिए उन्हे कोई भक्तिवश या जबरन वस्त्र पहनाना चाहे तो वे कदापि न पहने। निष्कर्ष यह है कि विवेकी साधु परपात्र और परवस्त्र का उपयोग सयमविराधक समझकर कदापि न करे।

इसी प्रकार आसन्दी एक प्रकार का आसन विशेष है जिसे आजकल आराम-कुर्सी या स्प्रिंगदार लचीली कुर्सी कहते हैं। कई जगह उस पर गद्दा लगा होता है, अथवा उसे छोटा माचा या खटिया भी कहते है। गृहस्थो के सोने का पलग भी आरामदेह होता है। इन दोनो पर सोना-बैठना इसलिए वर्जित किया गया है कि ब्रह्मचारी साधु को कड़े आसन या शय्या पर सोना बैठना चाहिए, जो आसन या शय्या के साधन लचीले हो, जिन पर बैठने से साधु को कामोत्तेजना पैदा होती हो, वे तथा जिनके छिद्रो मे रहे हुए जीवो की विराधना होने की आशका हो, ऐसे आसन तथा शयन के साधन पर साधु को न तो बैठना या लेटना चाहिए, न सोना चाहिए। इसी प्रकार गृहस्थ के घर मे उसकी गृहिणी, पुत्रवधू, पुत्रियाँ आदि रहती हैं, तथा दो घरो के बीच मे जो गली होती है, उससे स्त्रियो, पुरुषो के आने-जाने का मार्ग रहता है, साधु को इन दोनो जगहो मे बैठने से ब्रह्मचर्य मे विराधना होने की आशका है। फिर किसी गृहस्थ के घर के भीतर स्त्रियो के बीच मे बैठना या गली मे बैठना साधु के लिए शोभास्पद भी नही है। साधु के वहाँ बैठने से गृहस्थो को उस पर अब्रह्मचर्य की शका भी हो सकती है। इसलिए ब्रह्मचर्यविराधक कर साधु इनका भी त्याग करे।

इसके बाद साधु के लिए त्याज्य अनाचरणीय बाते बताई गई हैं—सपुच्छण सरण वा। अर्थात् साधु अपनी मर्यादा मे ही सयत भाषा मे ही गृहस्थ से बोले, क्योकि गृहस्थो से अतिपरिचय करेगा तो वह अपनी पुरानी आदत के अनुसार उनसे कुशल प्रश्न पूछ बैठेगा।—यानी गृहस्थ के घर का समाचार पूछेगा—कौन, कहाँ, कैसे हैं? इत्यादि प्रश्न पूछने से साधु का समय बहुत-सा फालतू गप्पो मे चला जाएगा। इसलिए साधु को इस प्रकार के गपशप मे व्यर्थ समय न खोना चाहिए अथवा सपुच्छण का अर्थ अपने अगो को पोछना भी होता है, यह भी गृहस्थ के यहाँ बैठकर करना अच्छा नही होता। इसी प्रकार पूर्वक्रीडित कामभोगो का स्मरण करना अथवा अपने माता-पिता, भाई-बहन के लाड-प्यार या वैर-विरोध का स्मरण करना भी साधु के लिए अहितकर है। वस्तुतत्त्व का ज्ञाता विद्वान मुनि इन बातो को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग करे।

इसी प्रकार यश, कीर्ति, श्लाघा, वन्दना या पूजा भी साधु के लिए मदवर्धक, अहकार वृद्धि करने वाली एव कर्मबन्धन की कारण है। इसलिए साधु इनको

मन से भी न चाहे और न लोगो को इनके लिए प्रेरणा दे, जहाँ तक हो सके 'प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा' (प्रतिष्ठा सूअर की विष्ठा है) समझकर पास भी न फटकने दे। किसी महायुद्ध मे विजय प्राप्त करने से या किसी महान् या महत्त्वपूर्ण कठिन कार्य के करने से जगत् मे वीर नाम से प्रसिद्धि होती है, उसे यश कहते है, बहुत दान देने से जो प्रसिद्धि होती है, उसे कीर्ति कहते है, तथा उत्तमकुल, जाति मे जन्म लेने, तप करने, शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन करने से जगत् मे जो ख्याति होती है, उसे श्लोक कहते हैं, देवेन्द्र, नरेन्द्र, असुरेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव कोई शासक या धनपति नमस्कार करते है, उसे वन्दना कहते है, सत्कार के साथ वस्त्रादि दिया जाना पूजा है। इन सबको साधु त्याज्य समझे। साथ ही ससार के जितने भी कामभोग हैं, उन्हे भी रागद्वेषवर्द्धक समझकर विद्वान् साधु उन्हे तिलाजलि दे दे, ठुकरा दे।

जिस अन्नजल से साधु के सयम का निर्वाह न हो उलटे सयम बिगडे, उसमे कामोत्तेजना बढे, नशा हो जाए, दिमाग घूमने लगे, बुद्धिभ्रष्ट हो जाए या क्रूरता बढे, ऐसा आहार-पानी साधु न तो स्वय ग्रहण करे और न ही दूसरे साधुओ को या परतीर्थी साधु को भी दे। ऐसे अशुद्ध एव विषाक्त दुष्पाच्य अन्नजल को सयम-विघातक समझकर साधु उसका त्याग करे।

इन और ऐसी ही अनाचरणीय बातो को हिताहितविवेकी साधु सयम-विघातक, कर्मबन्धकारक एव ससारपरिभ्रमण के कारण समझकर छोड दे, यही साधु का आचारधर्म—चारित्रधर्म है।

मूल

एव उदाहु निग्गथे, महावीरे महामुणी ।
अणतनाणदसी से, धम्म देसितव सुत ।।२४।।

स छाया

एवमुदाहृतवान् निर्ग्रन्थो, महावीरो महामुनि ।
अनन्तज्ञानदर्शी स, धर्मं देशितवान् श्रुतम् ।।२४।।

अन्वयार्थ

(निग्गथे महामुणी) निर्ग्रन्थ महामुनि (अनतनाणदसी) अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी (महावीरे) श्रमण भगवान् महावीर ने (एवमुदाहु) ऐसा कहा है। (धम्म सुत देसितव) उन्होने धर्म (चारित्र) और श्रुत का उपदेश दिया है।

भावार्थ

अनन्तज्ञान-दर्शनसम्पन्न बाह्य-आभ्यन्तरग्रन्थिरहित, महामुनि श्रमण-शिरोमणि भगवान् महावीर ने ऐसा (पूर्वोक्त वचन) कहा है। उन्होने इस चारित्रधर्म एव श्रुतरूप धर्म का उपदेश दिया है।

व्याख्या

धर्म का यह उपदेश भगवान् महावीर का है

शास्त्रकार पूर्वोक्त गाथाओ मे बताए हुए धर्म के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण करते हुए कहते है—मै इस धर्म का मूलवक्ता नही हूँ। किन्तु भगवान् महावीर ने साधुधर्म के सन्दर्भ मे इन अनाचरणीय बातो का उल्लेख किया है। उन्होने ही ससार-सागर से पार करने मे समर्थ श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म का उपदेश दिया है, यानी अनाचरणीय बातो के त्यागरूप चारित्रधर्म तथा जीवादि पदार्थो के बोधरूप श्रुतधर्म का उपदेश उन्होने ही दिया है। क्योकि वे स्वय केवलज्ञानी, केवलदर्शनी होने से समस्त वस्तुतत्त्व के अनुभवी थे, और बाह्य एव आभ्यन्तर सभी ग्रन्थियो से मुक्त थे। वे ही गणधरो, स्थविरो, तथा समस्त श्रमणो-श्रमणियो के स्वयसम्बुद्ध गुरु थे, इसलिए महामुनि थे। आचारशास्त्र के वे ही परमज्ञाता और अनुभवी थे। इसलिए उन आप्तपुरुष की कोई भी बात अमान्य नही हो सकती।

मूल पाठ

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वफेज्ज मम्मय ।
मातिट्ठाण विवज्जेज्जा, अणुचितिय वियागरे ॥२५॥
तत्थिमा तइया भासा ज वदित्ताऽणुतप्पती ।
ज छन्न त न वत्तव्व, एसा आणा नियट्ठिया ॥२६॥
होलावाय सहीवाय, गोयावाय च नो वदे ।
तुम तुमति अमणुन्न, सव्वसो त ण वत्तए ॥२७॥

स छाया

भाषमाणो न भाषेत, नैवाभिलपेन् मर्मगम् ।
मातृस्थान विवर्जयेद्, अनुचिन्त्य व्यागृणीयात् ॥२५॥
तत्रेय तृतीया भाषा, यामुक्त्वाऽनुतप्यते ।
यच्छन्न तन्न वक्तव्य, एषा आज्ञा नैर्ग्रन्थिकी ॥२६॥
होलावाद सखीवाद गोत्रवादञ्च नो वदेत् ।
त्व त्वमित्यमनोज्ञ सर्वशस्तन्न वर्तते ॥२७॥

अन्वयार्थ

(भासमाणो न भासेज्जा) भाषासमिति से युक्त साधु भाषण करता हुआ भी भाषण नही करता है। (मम्मय णेव वफेज्ज) साधु किसी के हृदय को म र्मि चोट पहुँचाने वाली बात न कहे, (मातिट्ठाण विवज्जेज्जा) साधु मातृस्थान—कपट

से पूर्ण भाषा भी न बोले, (अणुचिंतिय वियागरे) किन्तु पहले उस सम्बन्ध मे चिन्तन-विचार करके फिर बोले ॥२५॥

(तत्थिमा तइया भासा) उन चार प्रकार की भाषाओ मे जो तीसरी भाषा (सत्यामृषा) है, उसे साधु न बोले तथा (ज वदित्ताऽणुतप्पती) जिसे बोलने के बाद पश्चात्ताप करना पडे, वह वचन भी साधु न बोले। (ज छन्न त न वत्तव्व) जिस बात को सब लोग छिपाते है, उसे भी साधु न कहे (एसा आणा नियट्ठिया) यही निर्ग्रन्थ भगवान् की आज्ञा है ॥२६॥

(होलावाय) निष्ठुर तथा नीच सम्बोधन से किसी को पुकार कर (सहीवाय) हे सखे या हे सखी ! इस प्रकार से किसी को सम्बोधित करके, (गोयावाय च) हे काश्यपगोत्रिन् हे वशिष्ठगोत्री ! इत्यादि रूप से गोत्र के नाम से सम्बोधित करके (नो वदे) साधु (इस प्रकार से) न बोले। (तुम तुमति) तथा अपने से बड़ या समान उम्र वाले से 'तू' 'रे' आदि तुच्छ शब्दो से बोलना तथा (अमणुन्न) अप्रिय लगने वाले वचनो से कहना, (सव्वसो त ण वत्तए) इत्यादि सब बाते या व्यवहार साधु न करे ॥२७॥

भावार्थ

जो साधु भाषासमिति से युक्त है, वह धर्मोपदेश या भाषण करता हुआ भी भाषण न करने वाले (मौनी) के समान है। साधु ऐसा मर्मस्पर्शी वाक्य न बोले, जिससे किसी को दु ख हो, तथा वह कपटयुक्त भाषा का त्याग करे, जो कुछ भी बोले, पहले उस सम्बन्ध मे सोच-विचारकर फिर बोले ॥२५॥

भाषाएँ चार प्रकार की है, उनमे सत्य मे झूठ मिली हुई भाषा तीसरी है, उसे साधु न बोले। तथा जिस वचन के कहने से साधु को बाद मे पश्चात्ताप करना पडे, ऐसा वचन भी साधु न कहे। एव जिस बात को सब लोग छिपाते है, उसे भी साधु न कहे। यही निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर की आज्ञा है ॥२६॥

साधु निष्ठुर तथा नीच सम्बोधनो से किसी को न पुकारे, तथा किसी को हे सखे ! या हे सखी ! इत्यादि कहकर सम्बोधित न करे एव ऐ वशिष्ठ गोत्रीय ! अरे काश्यप गोत्र वाले ! इत्यादि गोत्र का नाम लेकर न बुलाए, तथा अपने से बडे या समवयस्क को 'रे', 'तू' इत्यादि तुच्छ शब्दो से सम्बोधित न करे एव जो वचन दूसरो को अप्रिय (बुरा) लगे, उसे साधु सर्वथा न बोले अथवा बुरा व्यवहार सर्वथा न करे ॥२७॥

व्याख्या

साधु कैसी भाषा बोले, कैसी नहीं ?

साधु के पास वाणी एक अमोघ साधन है, दूसरों को यथार्थ मार्गदर्शन एवं उपदेश देने के लिए, सच्ची सलाह देने के लिए तथा धर्मपथ पर चढ़ाने के लिए, किन्तु अगर साधु उसका दुरुपयोग करता है, उस वाणी से सावद्य वचन, निष्ठुर एवं तुच्छ एवं अपशब्द बोलता है, दूसरों की खुशामद करने वाली या दीनता प्रगट करने वाली वाणी बोलता है, या सत्य के साथ झूठ मिलाकर बोलता है, तो वह अपने धर्म से च्युत होता है, पापकर्म का बन्धन करता है, जिसके कटु फल उसे भोगने पड़ते हैं। इसी बात को २५, २६ और २७वीं गाथा में शास्त्रकार स्पष्ट करते हैं।

वास्तव में जो साधु भाषासमिति का ध्यान रखकर बोलता है, वह चाहे धर्मोपदेश दे रहा हो, धर्मपथ पर चलने की किसी को प्रेरणा दे रहा हो, धर्म में स्थिर करने के लिए मार्गदर्शन दे रहा हो, वह भाषण न करने वाले (मौनी) के सरीखा ही है। जैसे कि कहा है —

> वयणविहत्तीकुसलोवओगयं बहुविहं नियाणंतो ।
> दिवसंपि भासमाणो साहू वयगुत्तयं पत्तो ॥

जो साधु वचन-विभाग को जानने में निपुण है, जो वाणी के बहुत-से प्रकारों को जानता है, वह दिनभर बोलता हुआ भी वचन गुप्ति से युक्त ही है। अथवा **'भासमाणो न भासेज्जा'** का अर्थ यह भी होता है कि दीक्षा में बड़ा (रत्नाधिक) साधु किसी से बोल रहा हो, उस समय अपना पांडित्य प्रदर्शन करने के लिए बीच में न बोले, क्योंकि इससे बड़ों की आशातना होती है और अपना अभिमान प्रकट होता है। तथा तथ्य या अतथ्य जो वचन दूसरों के दिल को चोट पहुँचाने वाला, मर्मान्तक हो, उसे साधु न बोले अथवा मामक 'यह मेरा है', ऐसा सोचकर किसी के प्रति पक्षपात से युक्त वचन न बोले।

मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा—इसका अर्थ तो यह होता है कि माया (कपट) प्रधान वचन न बोले, दूसरा अर्थ यह भी होता है—दूसरों को ठगने या धोखा देने के लिए साधु मायाचारी न बने, दम्भी न हो, वह बोलने में या व्यवहार में कपट न करे। इसके अतिरिक्त साधु को चाहिए कि बोलने से पहले उस सम्बन्ध में सोच ले कि 'यह वचन अपने या दूसरे या दोनों के लिए दुःखदायक तो नहीं है ?' उसके पश्चात् ही योग्य वचन बोले। कहा भी है—**'पुव्विं बुद्धीए पेहित्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे'** (अर्थात्—पहले बुद्धि से सोचकर फिर वाक्य बोले)।

शास्त्र में चार प्रकार की भाषा बताई है—सत्या, असत्या, सत्यामृषा और असत्यामृषा। इन चारों में से तीसरी भाषा—सत्यामृषा है। यह भाषा कुछ झूठी

और कुछ सच्ची होती हे । जैसे किसी ने अनुमान से ही कह दिया —इस गांव मे बीम लडके उत्पन्न हुए है या मरे हैं । यहाँ बीस से कम या ज्यादा बालको का जन्म या मरण भी सम्भव है, इसलिए सख्या मे फर्क होने से यह वचन मत्य और मिथ्या दोनों से मिश्रित हे । ऐसा वचन साधु को नही वोलना चाहिए । तथा जिम वचन को कहने से जीव अगले जन्म मे दु ख का भाजन होता हे, तथा उसे वाद मे पश्चात्ताप करना पडता है कि "हाय ! मैंने ऐसी वात क्यो कह दी ?", ऐसा वचन भी माधु न वोले । जिस बात को लोग यत्नपूर्वक छिपाते है जैसे मकार-चकारादिपूर्वक गाली देना, गुप्तागो का नाम लेकर वोलना, या किसी की गुप्त वात प्रकट करना, आदि सत्य होते हुए भी बोलना साधु के लिए निपिद्ध है, ऐसी निर्ग्रन्थ भगवान की आज्ञा है ।

पूर्वोक्त चारो प्रकार की भापाओ मे असत्या, सत्यामृपा एव असत्यामृपा ये तीन तो साधु के लिए वर्जनीय है ही, लेकिन पहली भापा सर्वथा सत्य होते हुए भी जहाँ वह प्राणियो को पीडा उत्पन्न करती हो, मोह पैदा करती हो, या दूसरो के लिए अप्रिय हो, या अपने लिए दीनतासूचक या चाटुकारीयुक्त हो ऐसी भापा साधु के लिए मर्वथा वर्जनीय हे । इसी बात को शास्त्रकार २७वी गाथा मे बताते हैं— 'होलावाय त ण वत्तए ।' यदि साधु किसी को निष्ठुर या तुच्छ (नीच) शब्दो मे सम्बोधन करता है—जैसे हे गोले ! अरे बदमाश ! अय दुष्ट ! अरे पापी ! अरे चोर ! यह होलावाद है, ऐसा वचन सत्य होते हुए साधु न वोले । इसी प्रकार अरे मित्र ! हे सखी ! इत्यादि वचन सखीवाद है, यह सत्य होते हुए भी मोहोत्पादक होने से साधु के लिए वर्जनीय है । तथा किसी की चापलूसी करने के लिए उसके गोत्र का नाम लेकर सम्बोधन करना (गोत्रवाद) भी दीनता या चाटुकारिता का सूचक है । जैसे—"अजी काश्यपगोत्रीजी ! आप तो बहुत ऊँचे खानदान के है ।' इत्यादि वचन भी सावु न बोले । किसी का अपमान करने हेतु 'रे' 'तू' इत्यादि तुच्छ शब्दो से बोला जाने वाला वचन भी सावु के लिए त्याज्य है । जो वाक्य सुनने मे बुरा (अमनोज्ञ) लगता है, उसे भी साधु न वोले, क्योकि ऐसा अमनोज्ञ शब्द दूसरो के दिल मे चुभ जाता है और उससे भयकर वैर बँध जाता है, कलह खडा हो जाता है, भयकर कर्मबन्धन होते हैं । इसी प्रकार सत्य होते हुए भी जो वचन हिंसाजनक है, उसे सावु न वोले, जैसे—इसका सिर काट डालो, इसे जूतो पीटो, यह चोर है, इसे कैद मे डाल दो, फाँसी पर चढा दो, ये पेड काट डालो, यहाँ आग लगाकर जगल को साफ कर दो । आदि ।

निष्कर्ष यह है कि साधु को फूंक-फूंककर वाणी का प्रयोग करना चाहिए । अन्यथा, वह अपने साधुधर्म से च्युत हो जाएगा । साधु के लिए मधुर, सत्य, हितकर, प्रिय एव परिमित वाणी ही उपयुक्त है ।

व्याख्या

साधु कैसी भाषा बोले, कैसी नहीं ?

साधु के पास वाणी एक अमोघ साधन है, दूसरो को यथार्थ मार्गदर्शन एव उपदेश देने के लिए, सच्ची सलाह देने के लिए तथा धर्मपथ पर चढाने के लिए, किन्तु अगर साधु उसका दुरुपयोग करता है, उस वाणी से सावद्य वचन, निष्ठुर एव तुच्छ एव अपशब्द बोलता है, दूसरो की खुशामद करने वाली या दीनता प्रगट करने वाली वाणी बोलता है, या सत्य के साथ झूठ मिलाकर बोलता है, तो वह अपने धर्म से च्युत होता है, पापकर्म का बन्धन करता है, जिसके कटु फल उसे भोगने पडते है। इसी बात को २५, २६ और २७वी गाथा मे शास्त्रकार स्पष्ट करते हैं।

वास्तव मे जो साधु भाषासमिति का ध्यान रखकर बोलता है, वह चाहे धर्मोपदेश दे रहा हो, धर्मपथ पर चलने की किसी को प्रेरणा दे रहा हो, धर्म मे स्थिर करने के लिए मार्गदर्शन दे रहा हो, वह भाषण न करने वाले (मौनी) के सरीखा ही है। जैसे कि कहा है —

वयणविहत्तीकुसलोवओगय बहुविह नियाणतो ।
दिवसपि भासमाणो साहू वयगुत्तय पत्तो ॥

जो साधु वचन-विभाग को जानने मे निपुण है, जो वाणी के बहुत-से प्रकारो को जानता है, वह दिनभर बोलता हुआ भी वचन गुप्ति से युक्त ही है। अथवा 'भासमाणो न भासेज्जा' का अर्थ यह भी होता है कि दीक्षा मे बडा (रत्नाधिक) साधु किसी से बोल रहा हो, उस समय अपना पाडित्य प्रदर्शन करने के लिए बीच मे न बोले, क्योकि इससे बडो की आशातना होती है और अपना अभिमान प्रकट होता है। तथा तथ्य या अतथ्य जो वचन दूसरो के दिल को चोट पहुँचाने वाला, मर्मान्तिक हो, उसे साधु न बोले अथवा मामक 'यह मेरा है', ऐसा सोचकर किसी के प्रति से युक्त वचन न बोले।

मातिट्ठाण विवज्जेज्जा—इसका अर्थ तो यह होता है कि माया (कपट) प्रधान वचन न बोले, दूसरा अर्थ यह भी होता है—दूसरो को ठगने या धोखा देने के लिए साधु मायाचारी न बने, दम्भी न हो, वह बोलने मे या व्यवहार मे कपट न करे। इसके अतिरिक्त साधु को चाहिए कि बोलने से पहले उस सम्बन्ध मे सोच ले कि 'यह वचन अपने या दूसरे या दोनो के लिए दु खदायक तो नही है ?' उसके पश्चात् ही योग्य वचन बोले। कहा भी है—'पुव्वि बुद्धीए पेहित्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे' (अर्थात्—पहले बुद्धि से सोचकर फिर वाक्य बोले)।

शास्त्र मे चार प्रकार की भाषा बताई है—सत्या, असत्या, सत्यामृषा और असत्यामृषा। इन चारो मे से तीसरी भाषा—सत्यामृषा है। यह भाषा कुछ झूठी

और कुछ सच्ची होती है। जैसे किसी ने अनुमान से ही कह दिया —इस गाँव मे वीस लडके उत्पन्न हुए है या मरे हैं। यहाँ वीस से कम या ज्यादा वालको का जन्म या मरण भी सम्भव है, इसलिए सख्या मे फर्क होने से यह वचन सत्य और मिथ्या दोनों से मिश्रित है। ऐसा वचन साधु को नही वोलना चाहिए। तथा जिस वचन को कहने से जीव अगले जन्म मे दु ख का भाजन होता है, तथा उसे वाद मे पश्चात्ताप करना पडता है कि "हाय ! मैंने ऐसी वात क्यो कह दी ?", ऐसा वचन भी साधु न वोले। जिस बात को लोग यत्नपूर्वक छिपाते है जैसे मकार-चकारादिपूर्वक गाली देना, गुप्तागो का नाम लेकर बोलना, या किसी की गुप्त वात प्रकट करना, आदि सत्य होते हुए भी वोलना साधु के लिए निषिद्ध है, ऐसी निर्ग्रन्थ भगवान की आज्ञा है।

पूर्वोक्त चारो प्रकार की भाषाओ मे असत्या, सत्यामृषा एव असत्यामृषा ये तीन तो साधु के लिए वर्जनीय है ही, लेकिन पहली भाषा सर्वथा सत्य होते हुए भी जहाँ वह प्राणियो को पीडा उत्पन्न करती हो, मोह पैदा करती हो, या दूसरो के लिए अप्रिय हो, या अपने लिए दीनतासूचक या चाटुकारीयुक्त हो ऐसी भाषा साधु के लिए सर्वथा वर्जनीय है। इसी वात को शास्त्रकार २७वी गाथा मे वताते है— 'होलावाय त ण वत्तए।' यदि साधु किसी को निष्ठुर या तुच्छ (नीच) शब्दो मे सम्बोधन करता है—जैसे हे गोले ! अरे वदमाश ! अय दुष्ट ! अरे पापी ! अरे चोर ! यह होलावाद है, ऐसा वचन सत्य होते हुए साधु न वोले। इसी प्रकार अरे मित्र ! हे सखी ! इत्यादि वचन सखीवाद है, यह सत्य होते हुए भी मोहोत्पादक होने से साधु के लिए वर्जनीय है। तथा किसी की चापलूसी करने के लिए उसके गोत्र का नाम लेकर सम्वोधन करना (गोत्रवाद) भी दीनता या चाटुकारिता का सूचक है। जैसे—"अजी काश्यपगोत्रीजी ! आप तो बहुत ऊँचे खानदान के है।' इत्यादि वचन भी साधु न बोले। किसी का अपमान करने हेतु 'रे' 'तू' इत्यादि तुच्छ शब्दो से बोला जाने वाला वचन भी साधु के लिए त्याज्य है। जो वाक्य सुनने मे बुरा (अमनोज्ञ) लगता है, उसे भी साधु न वोले, क्योकि ऐसा अमनोज्ञ शब्द दूसरो के दिल मे चुभ जाता है और उससे भयकर वैर बँध जाता है, कलह खडा हो जाता है, भयकर कर्मबन्धन होते हैं। इसी प्रकार सत्य होते हुए भी जो वचन हिंसाजनक है, उसे साधु न वोले, जैसे—इसका सिर काट डालो, इसे जूतो पीटो, यह चोर है, इसे कैद मे डाल दो, फाँसी पर चढा दो, ये पेड काट डालो, यहाँ आग लगाकर जगल को साफ कर दो। आदि।

निष्कर्ष यह है कि साधु को फूंक-फूंककर वाणी का प्रयोग करना चाहिए। अन्यथा, वह अपने साधुधर्म से च्युत हो जाएगा। साधु के लिए मधुर, सत्य, हितकर, प्रिय एव परिमित वाणी ही उपयुक्त है।

मूल

अकुसीले सया भिक्खू, णेव ससग्गिय भए　।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिबुज्झेज्ज ते विऊ ॥२८॥

सस्कृत छाया

अकुशील सदा भिक्षुर्नैव ससर्गिता भजेत　।
सु　पास्तत्रोपसर्गा प्रतिबुध्येत तद् विद्वान् ॥२८॥

अन्वयार्थ

(भिक्खू सया अकुसीले) साधु स्वय कुशील न बने, किन्तु सदा अकुशील बन कर रहे। **(णेव ससग्गिय भए)** तथा कुशीलजनो या दुराचारियो का सग या ससर्ग भी न करे, क्योकि **(सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा)** कुशीलो की सगति मे भी सुखरूप (अनुकूल) उपसर्ग रहता है, **(विऊ ते बुज्झेज्ज)** अत विद्वान् साधक उसे समझे।

र्थ

साधु स्वय कुशील न बने और न ही कुशीलो के साथ ससर्ग रखे क्योकि कुशीलो की सगति मे भी सुखरूप (सातागौरव-रूप) उपसर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। मेधावी साधक इसे भलीभाँति समझे।

व्याख्या

र्मी साधु के लिए कुशील ससर्ग निषिद्ध है

इस गाथा मे सयमधर्म मे दृढ साधु के लिए कुशीलससर्ग सयम-विघातक होने से त्याज्य बताया गया है। जिसका शील अर्थात् आचार कुत्सित (खराब) हो, वह कुशील कहलाता है। निर्युक्तिकार के मन्तव्यानुसार पार्श्वस्थ (पाशस्थ), अवसन्न, अपच्छन्द, ये सब शिथिलाचारी या कुत्सित-आचारी कुशील मे परिगणित हैं। ऐसा कुशील न तो भिक्षाशील साधु स्वय बने और न ही कुशीलो के साथ सगति करे।

प्रश्न होता है कि कुशीलो के साथ ससर्ग रखने से दृढधर्मी साधु को क्या हानि है? इसके उत्तर मे शास्त्रकार स्वय कहते हैं—'सुहरूवा तत्थुवसग्गा।' अर्थात् कुशीलो की सगति से सयम को नष्ट करने वाले, सुखभोगेच्　उपसर्ग उत्पन्न होते है। ऐसे उपसर्ग पहले तो बहुत सुहावने और सुखद लगते है, किन्तु धीरे-धीरे वे सयम की जडो को खोखला कर देते हैं, मीठे जहर की तरह वे उपसर्ग साधु को पराश्रित, इन्द्रियो का गुलाम और असयमनिष्ठ बना डालते हैं। इसलिए शास्त्रकार ने कहा है—'पडिबुज्झेज्ज ते विऊ' अर्थात्—विद्वान् साधु इनसे सावधान रहे, इन्हे अच्छी तरह समझ ले। क्योकि कुशील पुरुषो की सगति करने से वे कहते है—"अजी! शरीर को मजबूत बनाओ। इसे बहुत ही साफ-सुथरा रखो। आकर्षक

बनाओ। शरीर मजबूत नही होगा तो धर्मपालन कैसे करोगे ? आधाकर्मी आहार सेवन करने मे दोष ही क्या है ? शरीर की हिफाजत के लिए पैरो मे जूते पहन लिए या गर्मी-वर्षा से बचाव के लिए छाता लगा लिया तो कौन-सा पाप हो गया ? शरीर-रक्षा करना तो पहला धर्म है। अत किसी भी तरह से हो, धम के आधार-रूप इस शरीर को व्यर्थ कष्ट से बचाकर इसकी रक्षा करनी चाहिए। कहा भी है—

अप्पेण बहुमेसेज्जा, एय पडियलक्खण ।

अर्थात्—अल्प दोपसेवन से यदि अधिक लाभ मिलता हो तो उसे ले लेना चाहिए। यही विद्वान् का लक्षण है। किसी विचारक ने भी कहा है —

शरीर धर्मसयुक्त, रक्षणीय प्रयत्नत ।
शरीरात् स्रवते धर्म , पर्वतात् सलिल यथा ।।

शरीर धर्म के साथ है, अत धर्म के लिए शरीर की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। जैसे पर्वत से पानी निकलता है, वैसे ही शरीर से धर्म निष्पन्न होता है।

कभी-कभी कुशील पुरुप इस प्रकार की युक्तियो से समझाते है—"अजी ! आजकल पचमकाल है, हीनसहनन है, इतनी कठोर क्रिया और परीपहो-उपसर्गो के समय धैर्य रखने वाले व्यक्ति बहुत ही अल्प है। इसलिए समय के अनुसार अपना आचार बना लेना चाहिए, आदि ।" उनके इस तरह के आकर्पक एव युक्तियुक्त वचनो से साधारण अल्पपराक्रमी साधक तो झटपट प्रभावित हो जाते हैं, और धीरे-उनके समान ही बन जाते हैं। अत विवेकी साधक उनकी मोहक बातो मे न आकर कुशील ससर्ग छोड दे और सयम मे दृढ रहे ।

मूल पाठ

नन्नत्थ अतराएण, परगेहे ण णिसीयए ।
गामकुमारिय किड्डं, नातिवेल हसे मुणी ॥२९॥

स छाया

नान्यत्राऽन्तरायेण, परगेहे न निषीदेत् ।
ग्रामकुमारिका क्रीडा, नातिवेल हसेन्मुनि ॥२९॥

अन्वयार्थ

(नन्नत्थ अतराएण) किसी अन्तराय के बिना साधु (परगेहे ण णिसीयए) गृहस्थ के घर मे न बैठे। (गामकुमारिय किड्ड) गाँव के लडके-लडकियो का खेल साधु न खेले, इसी तरह (नातिवेल हसे मुणी) साधु मर्यादा छोडकर न हँसे ।

भावार्थ

साधु किसी रोग आदि अन्तराय के बिना गृहस्थ के घर मे न बैठे। तथा ग्राम के कुमार-कुमारिकाओ का खेल न खेले, एव मर्यादा छोडकर न हँसे ।

व्याख्या

साधुजीवन की कुछ मर्यादाएँ

इस गाथा मे साधुजीवन की कुछ मर्यादाओ का उल्लेख किया गया है, जिनके विपय मे सावधानी न रखी जाय तो साधु अपने सयम से गिर सकता है। वे मर्यादाएँ ये हैं—(१) विना कारण गृहस्थ के घर मे न बैठना, (२) ग्रामीण बालको के साथ या बालको के से खेल न खेलना, (३) अतिमात्रा मे हँसना या हँसी-मजाक न करना। गृहस्थ के घर मे विना कारण बैठने से लोगो को उसके चारित्र के विपय मे शका हो सकती है अथवा किसी अन्य सम्प्रदाय के या साधु-द्वेषी व्यक्ति का घर हो तो वहाँ बैठने से वह साधु प॰ झूठा इलजाम भी लगा सकता है। दशवैकालिक सूत्र मे तीन कारणो से गृहस्थ के घर मे बैठना कल्पनीय वताया है—व्याधि से ग्रस्त हो, अचानक चक्कर वगैरह आ जाय या कोई उपद्रव खडा हो जाय, अथवा वृद्धता हो। अथवा कोई साधु उपशमलब्धि वाला हो, उसका साथी साधु अच्छा हो, गुरु ने उसे आज्ञा दी हो, और किसी को धर्मोपदेश देना आवश्यक हो तो उस साधु को गृहस्थ के घर मे बैठने मे कोई दोप नही है।

ग्राम मे बालक-बालिकाओ की क्रीडा को ग्रामकुमारिका कहते है। इस खेल मे हसी-मजाक करना, हाथ का स्पर्श करना, आलिंगन आदि करना होता है, यह कामोत्पादक है, इसलिए साधु इस खेल को न देखें, न खेले। आजकल कई लडके गाँवो मे गुल्ली-डडा या गेंद आदि से खेलते है, वह भी अयत्ना होने से कर्मबन्धन का कारण है। साधु अपनी मर्यादा छोडकर न हँसे क्योकि हँसने मे कभी-कभी लडाई-झगडा हो जाता है, इसलिए हास्य को कर्मबन्धन का कारण है। कहा भी है—'हास कोड च वज्जए' साधु हँसी और क्रीडा का त्याग करे। आगम मे बताया है—

जीवे ण भते ! हसमाणे उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बधइ ?
गोयमा ! सत्तविहबधए वा अट्ठविहबधए वा।

'भगवन् ! हँसता हुआ या उत्सुक होता हुआ जीव कितनी कर्मप्रकृतियो का बध करता है ? गौतम ! वह जीव सात या आठ कर्मप्रकृतियो को बाँधता है।'

अत साधु-जीवन मे इन तीनो मर्यादाओ का पालन आवश्यक है।

मूल पाठ

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥३०॥

सस्कृत छाया

अनुत्सुक उदारेपु, यतमान परिव्रजेत्।
चर्यायामप्रमत्त, स्पृष्टस्तत्राधिषहेत् ॥३०॥

अन्वयार्थ

(उरालेसु) मनोहर शब्दादि विषयों में साधु (अणुस्सुओ) उत्कण्ठित न हो, (जयमाणो परिव्वए) यत्नपूर्वक अपने संयम में प्रगति करे। (चरियाए अप्पमत्तो) भिक्षाचर्या आदि मे प्रमाद न करे, (पुट्ठो तत्थऽहियासए) उन परीषहो और उपसर्गो के उपस्थित होने पर समभाव से सहन करे।

भावार्थ

साधु मनोहर शब्दादि विषयो मे किसी प्रकार की उत्सुकता न रखे, अगर शब्दादि विषय कदाचित् अनायास ही सामने आ जाएं तो यतनापूर्वक आगे बढ जाए, या सयम मे प्रगति करे, भिक्षाचर्या या अपनी साधुचर्या मे प्रमाद न करे, परीषहो या उपसर्गो के आने पर उन्हे समभाव से सहे।

व्याख्या

अप्रमादयुक्त साधुचर्या

इस गाथा मे साधु की अप्रमादयुक्त चर्या का निरूपण है। साधु जब कही भी विहार, भिक्षा आदि के लिए गमनागमन करेगा, तो रास्ते मे शब्दादि मनोज्ञ विषय आ सकते है। उस समय साधु उन उदार यानी मन को हरण करने वाले मनोज्ञ शब्दादि विषयो मे आसक्त न हो, उनके सेवन करने के लिए बिलकुल उत्सुक न हो, बल्कि ऐसे मौके पर उसे उदासीनभाव से यतनापूर्वक वहाँ से आगे बढ जाना चाहिए। उक्त शब्दादि विषयो का सेवन करने के लिए वहाँ साधु खडा न रहे। किन्तु अपनी इन्द्रियो एव मन पर सयम रखकर वहाँ से चल देना चाहिए। यह सोचकर कि बाहर जाऊँगा तो शब्दादि विषयो का प्रसग आएगा, इसलिए अपने उपाश्रय या धर्मस्थान मे ही बैठा रहूँ, यही सब कुछ चर्या कर लूँ, यह विचार भी ठीक नही है। शास्त्रकार कहते हैं—

'चरियाए अप्पमत्तो'—साधु सभी चर्याएँ करे, किसी भी चर्या मे प्रमाद न करे। किसी भी चर्या के लिए जाए-आए उस समय सावधानी अवश्य रखे। परीषहो और उपसर्गों से पीडित होने पर साधु दीन न बने, अपितु कर्मनिर्जरा होती हुई जानकर उन्हे समभावपूर्वक बहादुरी के साथ सहन करे।

मूल

हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज, वुच्चमाणो न सजले ।
सुमणे अहियासिज्जा, ण य कोलाहल करे ॥३१॥

संस्कृत छाया

हन्यमानो न कुप्येत् उच्यमानो न सज्वलेत् ।
सुमना अधिषहेत्, न च कोलाहल कुर्यात् ॥३१॥

अन्वयार्थ

(हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज) लाठी आदि से पीटे जाने पर साधु क्रोध न करे, (वुच्चमाणो न सजले) अथवा किसी के द्वारा अपशब्द या गाली आदि दुर्वचन कहे जाने पर साधु मन मे न जले। (सुमणे अहियासिज्जा) किन्तु प्रसन्न मन से इन्हे सहन करे (ण य कोलाहल करे) किन्तु वह हल्ला-गुल्ला न मचाए।

भावार्थ

साधु को यदि कोई लाठी या डण्डे आदि से मारे-पीटे तो वह कुपित न हो, यदि कोई अपशब्द या गाली आदि दुर्वचन कहे तो मन मे जले-कुढे नही, अपितु प्रसन्नचित्त से सबको सहन करे। किसी प्रकार का हल्ला न मचाए, न विपरीत वचन बोले।

व्याख्या

साधु आपे से बाहर न हो

इस गाथा मे यह वताया गया है कि मारपीट, गाली, अपशब्द आदि कोपोत्तेजक प्रसगो पर साधु क्या करे ? किस धर्म पर स्थिर रहे ? साधु कही किसी अपरिचित गाँव या नगर मे जाता है, वहाँ साधुचर्या से अनभिज्ञ, मूढ, गँवार एव असस्कृत लोग उस पर ढेला मारते है, कई साधु को चोर या खुफिया समझकर उस पर लाठी या डण्डे से प्रहार करते हैं, कई नादान लोग उसे गाली देकर या अपशब्द कहकर छेडते हैं, कई उसे कैद कर लेते हैं, रस्सी से बाँध देते है, ये और इस प्रकार के अन्य प्रसग आने पर सामान्य व्यक्ति के मन मे आवेश आ जाता है, वह क्रुद्ध होकर उन लोगो का सामना करने को तैयार हो जाता है, गाली के बदले मे गाली या अपशब्द कहने को उतारू हो जाता है, या अन्य प्रकार का हिंसक प्रतिकार करता है, किन्तु साधु क्या करे ? साधु का धर्म ऐसे समय मे क्या है ? इसके लिए शास्त्रकार कहते है—'सुमणे अहियासिज्जा ण य कोलाहल करे' साधु उस परीषह (आक्रोशपरीषह) को निर्जरा का कारण कर हँसते-हँसते उसे सहन करे। न तो वह उन मारपीट करने वालो पर कुपित हो, न अपशब्द कहने वालो पर मन मे कुढे-जले, बल्कि उन्हे अज्ञानी समझकर उन पर तरस खाए, किन्तु दौडो-दौडो, मुझे बचाओ, इस प्रकार से हल्ला मचाकर लोगो की भीड इकट्ठी न करे, न पुलिस थाने आदि मे उक्त व्यक्ति की रिपोर्ट लिखाकर दण्ड दिलाए। क्षमा और सहिष्णुता ही साधु का परमधर्म है।

मूल

लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए ।
आयरियाइ सिक्खेज्जा, बुद्धाण अंतिए सया ।।३२।।

संस्कृत छाया

लब्धान् कामान् न प्रार्थयेत्, विवेक एवमाख्यात ।
आर्याणि शिक्षेत, बुद्धानामन्तिके सदा ॥-२॥

अन्वयार्थ

(लद्धे कामे ण पत्थेज्जा) साधु प्राप्त कामभोगो की इच्छा न करे, (एव विवेगे आहिए) ऐसा करने पर विवेक प्रकट हो गया, ऐसा कहा जाता है। (बुद्धाण अतिए सया) ऐसा करता हुआ साधु ज्ञानियो या आचार्यो के पास सदा रहकर आर्य-कर्म सीखे।

भावार्थ

साधु मिले हुए कामभोगो की भी इच्छा न करे। ऐसा करने पर साधु को निर्मल विवेक उत्पन्न हो गया है, ऐसा कहा जाता है। साधु उक्त रीति से रहता हुआ सदा आचार्य के सान्निध्य मे रहकर ज्ञानदर्शन चारित्ररूप आर्यधर्म की शिक्षा ग्रहण करता रहे।

व्याख्या

साधना मे विवेक ही धर्म का मूल है

इस गाथा मे साधु के दीर्घकालीन साधना के फलस्वरूप कई कामभोगो की अनायास उपलब्धि हो जाती है, कई सिद्धियाँ या लब्धियाँ उसे अनायास प्राप्त हो जाती हैं, उस समय अधकचरा साधक उन प्राप्त लब्धियो या सिद्धियो या सुख-सुविधाओ का प्रयोग या उपयोग करने को मचलने लगता है। शास्त्रकार कहते है कि साधु उन प्राप्त कामभोगस्वरूप उपलब्धियो के उपभोग या प्रयोग की जरा भी इच्छा न करे, उनकी सूक्ष्मवासना भी मन मे न रखे। तभी उसमे विवेक स्थिर हो गया, ऐसा समझा जाएगा। अगर लब्धियाँ या सिद्धियाँ प्राप्त हो भी जाएँ तो वह उनकी शोहरत किये बिना चुपचाप अपने गुरुवर या आचार्य के चरणो मे रहकर रत्नत्रय की—आर्यधर्म की शिक्षा ग्रहण करता रहे। निष्कर्ष यह है कि शक्तिमान साधक गुरुचरणो मे रहकर प्राप्त शक्तियो को पचाए, उन्हे ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप आर्य-धर्म की आराधना मे लगाए। यही सच्चा विवेक है।

मूल

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्न सुतवस्सिय ।
वीरा जे अत्तपन्नेसी, धितिमता जिइंदिया ॥२३॥

संस्कृत छाया

शुश्रूषमाण उपासीत, सुप्रज्ञ सुतपस्विनम् ।
वीरा ये आप्तप्रज्ञैषिण धृतिमन्तो जितेन्द्रिया ॥२३॥

अन्वयार्थ

(सुप्पन्न सुतवस्सिय) अपने और दूसरे धर्म के सिद्धान्तो को जानने वाले उत्तम तपस्वी गुरु की (सुस्सूसमाणो) सेवा-शुश्रूपा करता हुआ साधु (उवासेज्जा) उपासना करे। (जे वीरा) जो पुरुप कर्म को विदारण करने मे समर्थ है, (अत्त-पन्नेसी) तथा राग-द्वेपरहित पुरुप की जो केवलज्ञानरूप प्रज्ञा है, उसका अन्वेपण करने वाले है (धितिमता) एव धृति से युक्त (जिइदिया) और जितेन्द्रिय है (वे ही पुरुप पूर्वोक्त कार्य को करते है।)

भावार्थ

जो स्वसमय और परसमय के ज्ञाता (सुप्रज्ञ) है तथा उत्तम तपस्वी है, ऐसे गुरु की शुश्रूषा करता हुआ साधु उनकी उपासना करे। जो पुरुष कर्मक्षय (विदारण) करने मे समर्थ है तथा वीतराग की केवलज्ञानरूप प्रज्ञा का अन्वेपण करने वाले है, धृतिमान और जितेन्द्रिय है, वे ही ऐसा कार्य करते है।

व्याख्या

गुरु-शुश्रूषा करने वाले साधक ही धर्मनिष्ठ होते है

इस गाथा मे गुरु-शुश्रूपा करने वाले साधको के उत्तम गुणो का वर्णन किया गया है। गुरु-शुश्रूपा का अर्थ है—गुरु के आदेशो को सुनने की इच्छा, यानी गुरु की वैयावृत्त्य करना। शास्त्रकार गुरु के प्रधान दो गुणो की ओर अगुलि-निर्देश करते है—'सुप्पन्न सुतवस्सिय' जिसकी प्रज्ञा सुन्दर हो, जो स्वपरसिद्धान्त के रहस्य का ज्ञाता हो, तथा जिसकी प्रज्ञा प्रत्येक गुत्थी को धर्म-दृष्टि से सुलझाने मे समर्थ हो। फिर उत्तम विशुद्ध बाह्याभ्यन्तर तप करने मे निपुण हो, मतलब यह है कि जो ज्ञान और चारित्र मे अत्यन्त स्थिर हो, तपातपाया हो, बहुत आगे बढा हुआ हो, वही गुरु उपासनीय ससेवनीय होता है, ऐसे गुरु की उपासना करे। उपासना का अर्थ होता है—गुरुचरणो मे बैठकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करना। गुरु के शरीर की नही, गुरु के गुणो की उपासना करना ही वास्तविक उपासना है। उनकी आज्ञा का परिपालन करना ही उनकी सेवा है। जैसे कि कहा है—

नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दसणे चरित्ते य।
धन्ना आवकहाए गुरुकुलवास न मुचति ॥

अर्थात्- गुरु की उपासना करने से साधक ज्ञान का भाजन बनता है, तथा दर्शन और चारित्र मे स्थिरतर हो जाता है। वे पुरुष धन्य है, जो जीवनपर्यन्त गुरुकुल निवास नही छोडते।

गुरु की उपासना कौन कर सकते है? अथवा गुरु-शुश्रूषा करने वाले साधक क्या बन जाते है? इसके लिए शास्त्रकार कहते है—'वीरा जे जिइदिया' वे वीर

हो जाते हैं, कर्मशत्रुओ पर, राग द्वेष-कषाय पर या उपसर्गो एव परीषहो पर विजय प्राप्त करने मे वे समर्थ शूर हो जाते है अथवा आत्म-कल्याण को ढूंढने मे प्रवीण हो जाते हैं तथा रागद्वेषरहित शुद्ध आत्मा की प्रज्ञा को ढूढने मे दक्ष हो जाते हैं, धृतिमान होते हे, बडे से बडे सकटो मे धैर्य एव सयम को नही छोड़ते, क्योकि सयम मे धीरता होने पर ही पचमहाव्रतरूपी भार को वे वहन कर सकते है।

जस्स धिई तस्स तवो, जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलहा।
जे अधिइमत पुरिसा, तवोऽवि खलु दुल्लहो तेसिं॥

अर्थात्— जिनमे धृति है, उन्ही के पास तप होता है, जिनके पास तप है, उन्ही को सुगति सुलभ है। जो पुरुष धृतिहीन है, उनके लिए तप दुलभ हैं। वास्तव मे धृतिमान साधक ही जितेन्द्रिय होते है। अर्थात वे ही इन्द्रिय-विषयो के प्रति होने वाले राग-द्वेष को जीत लेते है।

मूल पाठ

गिहे दीवमपासता, पुरिसादाणिया नरा ।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकखंति जीविय ॥३४॥

सस्कृत छाया

गृहे दीपमपश्यन्त पुरुषादानीया नरा ।
ते वीरा बन्धनोन्मुक्ता नावकाक्षंति जीवितम् ॥३४॥

अन्वयार्थ

(गिहे दीवमपासता) गृहवास मे ज्ञानरूपी दीप का लाभ न देखकर, (पुरिसादाणिया नरा) जो मनुष्य मुमुक्षुपुरुषो के आश्रय-आलम्बन लेने योग्य होते है, (ते बधणुम्मुक्का वीरा) वे बन्धनो से मुक्त वीर पुरुष (जीविय नावकखति) असयमी जीवन की आकाक्षा नही करते, अथवा इस नश्वर जीवन की परवाह नही करते।

भावार्थ

गृहवास मे ज्ञानरूपी दीप का लाभ न देखते हुए जो पुरुष प्रव्रज्या धारण करके उत्तरोत्तर गुणो की वृद्धि करते है वे ही पुरुष मुमुक्षुओ के आश्रयभूत होते है। वे वीर पुरुष बन्धन से मुक्त होते है, वे असयमी जीवन की इच्छा नही करते है।

व्याख्या

बन्धनमुक्त पुरुषादानीय कौन साधक होता है ?

बन्धनमुक्त पुरुषादानीय व्यक्ति कौन हो सकता है ? यह इस गाथा मे बताया गया है कि जो पुरुष गृहवास मे अथवा पाश के समान बन्धन रूप गृह यानी गृहस्थ-

भाव मे दीप के समान वस्तु को प्रकाशित करने वाला श्रुतज्ञानरूप भावदीप प्राप्त नही हो सकता है, अथवा समुद्र आदि मे प्राणियो को विश्राम देने वाले द्वीप के समान ससार-समुद्र मे प्राणियो को विश्राम देने वाला सर्वज्ञोक्त चारित्ररूप भावद्वीप नही मिल मकता है, यह जानकर जो पुरुप प्रव्रज्या धारण करके उत्तरोत्तर ज्ञानादि गुणो की वृद्धि करते है, वे पुरुप (और उपलक्षण से नारी भी) मुमुक्षुओ के आश्रय-स्वरूप महातिमहान् हो जाते है। अथवा हितैपी पौरुपवान नर-नारी जिसका ग्रहण करते है, वह मोक्ष या रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है---पुरुपादान, वह जिसमे हो, वह पुरुषादानीय कहलाता है। जो व्यक्ति ऐसे हैं, वे ही अप्टविध कर्मो का विशेप रूप से नाश करने वाले वीर है, वे ही बाह्य-आभ्यन्तर बन्धनो से मुक्त है, वे पुरुप असयमी जीवन की आकाक्षा नही करते अथवा जिंदगी की परवाह नही करते।

मूल

अगिद्धे सद्दफासेसु, आरभेसु अणिस्सिए ।
सव्व त समयातीत, जमेत लविय बहु ॥३५॥

ा

अगृद्ध शब्द स्पर्शेष्वारम्भेष्वनिश्रित ।
सर्वं तत् समयातीत, यदेतल्लपित बहु ॥३५॥

अन्वयार्थ

(सद्दफासेसु अगिद्धे) साधु मनोहर शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मे आसक्त न हो, (आरभेसु अणिस्सिए) पापयुक्त जो भी आरम्भजनक प्रवृत्ति हो, उसमे जुडा हुआ न रहे। (जमेत लविय बहु) इस के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जो बहुत-सी बातें कही गई है, (सव्व त समयातीत) वे सब सिद्धान्त (जिनागम) से विरुद्ध होने के कारण निषिद्ध की गई हैं।

र्थ

साधु मनोहर शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मे आसक्त न हो, सावद्य या हिंसाजनक आरम्भो से दूर रहे। इस अध्ययन के आदि से लेकर यहाँ तक जो बाते निषिद्ध रूप से बताई गई है, वे सब जैन सिद्धान्त (आगम) विरुद्ध होने से निषिद्ध की गई हैं, उनका आचरण न करे, मगर जो अविरुद्ध हैं, वे निषिद्ध नही है, उनका आचरण करे।

व्याख्या

नि बातें अनाचरणीय हैं

इस गाथा मे दो बातें निपिद्ध बताकर बाद मे यह बता दिया गया है कि जो बहुत-सी बातें इस मे निषेधरूप से बताई हैं, उन्हे अनाचरणीय समझना

इस वाक्य का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि समस्त झझटो-झमेलो को छोडकर, मुनि एकमात्र निर्वाण की साधना मे ही अपने आप को जुटा दे। निर्वाण को ही एक मात्र साध्य मानकर उसकी साधना करे, उसकी ही प्रार्थना करे।

पूर्वगाथाओ मे बताई हुई निषिद्ध बातो तथा अतिमान, माया एव ऋद्धि-रस-सातारूप समस्त गौरवो—विषय-भोगो को भली-भाँति समझकर उनका त्याग करे। समस्त गौरव या क्रोधादि कषाय ससारवृद्धि के कारण है, कर्मबन्धन को बढाने वाले है, साधुधर्म का लक्ष्य है—कर्मो का सर्वथा क्षय करना। अत लक्ष्य—समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष या निर्वाण तक पहुँचने के लिए कर्मबन्धन के कारण-भूत समस्त विकारो, समस्त सिद्धान्तविरुद्ध आचार-विचारो को छोड-छाडकर एकमात्र मोक्ष की दिशा मे कूच करे। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

'त्ति' शब्द समाप्ति अर्थ मे है, 'बेमि' का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार सूत्रकृतागसूत्र का नवम धर्म नामक अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ धर्म नामक नवम अध्ययन समाप्त ॥

समाधि . दशम अध्य

नौवें अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब दसवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। इस अध्ययन का पूर्व अध्ययन के साथ सम्बन्ध यह है कि नौवे अध्ययन मे प्रतिपादित धर्म की साधना तभी सुचारुरूप से हो सकती है, जबकि अविकल समाधि हो। इसलिए दसवे अध्ययन मे शास्त्रकार समाधि का निरूपण करते हैं।

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय

इस अध्ययन का नाम 'समाधि' है। यह इसका गुणनिष्पन्न नाम है, क्योंकि इस अध्ययन मे समाधि का ही प्रतिपादन किया गया है। समाधि का अर्थ है— तुष्टि, सतोप, आत्म-प्रसन्नता, आनन्द या प्रमोद। समाधि का व्याकरण की दृष्टि से अर्थ है — सम्यग् आधीयते व्यवस्थाप्यते मोक्ष तन्मार्ग वा प्रति येनात्मा धर्मध्याना-दिना स समाधि । जिस धर्मध्यान या श्रुत, विनय, आचार एव तपरूप साधना के द्वारा आत्मा मोक्ष या मोक्षमार्ग मे अच्छी तरह स्थापित या व्यवस्थित किया जाता है, वह समाधि है। प्रस्तुत अध्ययन मे भावसमाधि के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है। भावसमाधि आत्म-प्रसन्नता की प्रवृत्ति को कहते हैं, अथवा जिन गुणो द्वारा जीवन मे समाधि (आत्म-प्रसन्नता) का लाभ हो, उसे भावसमाधि कहते हैं, जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप है। दशवैकालिक सूत्र (अ० ६ उ० ४) मे चार प्रकार की समाधियो का उल्लेख है—(१) विनयसमाधि, (२) श्रुतसमाधि, (३) तप समाधि और (४) आचारसमाधि। इन चारो समाधियो के प्रत्येक के चार-चार भेद बताये गये हैं। ये चारो भावसमाधि के ही अन्तर्गत हैं। दशाश्रुतस्कन्ध की प्रथम दशा मे बीस प्रकार के असमाधिस्थान बताये हैं, जो साध्वाचार से सम्बन्धित है, इन २० असमाधिस्थानो से दूर रहना भी भावसमाधि है। समग्र अध्ययन मे किसी प्रकार का सचय न करना, समस्त प्राणियो के साथ आत्मवत् व्यवहार करना, सब प्रकार की प्रवृत्ति मे हाथ-पैर आदि अगोपागो को सयम मे रखना, किसी अदत्त वस्तु को ग्रहण न करना आदि सदाचार के नियमो के पालन पर बार-बार जोर दिया गया है। शास्त्रकार ने पुन-पुन इस बात का समर्थन किया है कि स्त्रियो मे आसक्त रहने वाले तथा परिग्रह मे ममत्व रखने वाले श्रमण समाधि प्राप्त नही कर सकते। उत्तराध्ययन सूत्र मे ब्रह्मचर्यसमाधि नामक १६वाँ अध्ययन इसी बात द्योतक है। अत

समाधि-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य की पूर्णरूपेण रक्षा की जाए तथा परिग्रह के ममत्व से दूर रहा जाए। आगे चलकर शास्त्रकार ने एकान्त क्रि का अनुसरण करने वाले तथा एकान्त अक्रियावाद का अनुसरण करने वाले—दोनो को अज्ञानमूलक एव वास्तविक धर्म एव समाधि से दूर बताया है।

समाधि के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, यो ६ निक्षेप होते है। नाम, स्थापना तो सुगम है। मनोज्ञ शब्दादि पाँचो विषयो की प्राप्ति-होने पर श्रोत्र आदि इन्द्रियो की तृप्ति होना द्रव्यसमाधि है, और इससे विपरीत हो तो, द्रव्य-असमाधि है। अथवा परस्पर अविरोधी दो द्रव्यो या अनेक द्रव्यो के मिलाने से जिसका रस बिगडता नही, अपितु पुष्ट होता है, उसे भी द्रव्यसमाधि कहते है। जैसे दूध और चीनी, तथा साग मे मिर्च, नमक, जीरा आदि का मिश्रण करने से रस की पुष्टि होती है। अथवा जिम द्रव्य के खाने-पीने से शान्ति प्राप्त होती है, वह भी द्रव्यसमाधि है। जिस द्रव्य को तराजू पर चढाने से उसके दोनो पलडे बराबर हो, उसे भी द्रव्यसमाधि कहते है। जिस जीव को जिस क्षेत्र मे रहने से शान्ति प्राप्त हो, वह क्षेत्र की प्रधानता के कारण क्षेत्रसमाधि है, अथवा जिस क्षेत्र मे समाधि का वर्णन किया जाता है, उसे भी क्षेत्रसमाधि कहते हैं। जिस जीव को जिस काल मे शान्ति उत्पन्न होती है, वह उसके लिए कालसमाधि है। जैसे शरद् ऋतु मे गाय को, रात मे उल्लू को और दिन मे कौए को शान्ति प्राप्त होती है। अथवा जिस जीव को जितने काल तक समाधि रहती है या जिस काल मे समाधि की व्याख्या की जाती है, वह भी काल की प्रधानता को लेकर कालसमाधि है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप मे अपनी आत्मा को स्थापित करना भावसमाधि है। इन चारो मे प्रवृत्त रहने वाला, मुनि समाहितात्मा कहलाता है। निष्कर्ष यह है कि जिस साधक ने सम्यक्चारित्र मे अपनी आत्मा को निहित कर दिया है, वह चारो भावसमाधियो मे स्थित हो जाता है। जो साधक दर्शनसमाधि मे स्थित है, अन्त करण जिनवचनो मे रगा हुआ होने से निर्वात स्थान मे रखे हुए दीपक की तरह कुबुद्धिरूपी वायु से विचलित नही होता, तथा ज्ञानसमाधि के कारण साधक ज्यो-ज्यो नये-नये शास्त्रो का अध्ययन करता है, त्यो-त्यो यह भावसमाधि मे प्रवृत्त होता जाता है। कहा भी है—

जह जह सुयमवगाहइ, अइसयरसपसरसजुयमउव्व।
तह तह पल्हाइ मुणी, णवणवसवेगमद्धाए॥

अर्थात्—अतिशय प्रशान्तरस के सचार से युक्त नये-नये शास्त्र मे ज्यो-ज्यो मुनि अवगाहन—प्रवेश करता जाता है, त्यो-त्यो नये-नये मोक्ष-भाव मे श्रद्धा बढने से मुनि को आह्लाद उत्पन्न होता है।

चारित्रसमाधि मे स्थित मुनि धन से हीन होने पर भी विषय-सुख से नि स्पृह होने के कारण परम शान्ति का अनुभव करता है। इसीलिए एक अनुभवी ने कहा है—

तणसथारणिसन्नोऽपि मुणिवरो भट्ठरागमयमोह्नो।
ज पावइ मुत्तिसुह, कत्तो त चक्कवट्टीवि ॥
नैवास्ति राजराजस्य, तत्सुख नैव देवराजस्य ।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥

अर्थात् जो साधु राग, मद और मोह से दूर है, वह घास (तृण) की शय्या पर स्थित होकर भी जिस आनन्द का अनुभव करता है, वह चक्रवर्ती राजा को भी नसीब कहाँ? सासारिक प्रवृत्तियो से रहित मुनि को जा सुख इसी लोक मे प्राप्त होता है, वह सुख राजाओं के राजा को अथवा देवराज को भी प्राप्त नही हो सकता। तप समाधि मे स्थित मुनि को बाह्य दीर्घ तप करने पर भी ग्लानि नही होती, तथा क्षुधा, तृषा आदि परीषहो से वह पीडित नही होता है एव आभ्यन्तर तप का अभ्यास किया हुआ मुनि ध्यान मे दत्तचित्त होने के कारण मोक्ष मे स्थित आत्मा की तरह सुख-दु ख से पीडित नही होता। इस तरह चार प्रकार की भाव-समाधि मे स्थित साधु सम्यक्चारित्र मे स्थित होता है।

अब प्रसगवश समाधि के विषय मे प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

आघ मईममणुवीय धम्म, अजू समाहि तमिण सुणेह ।
अपडिन्न भिक्खू उ समाहिपत्ते, अणियाण भूतेसु परिव्वएज्जा ॥१॥

सस्कृत छाया

आख्यातवान् मतिमान् अनुविचिन्त्य धर्म, ऋजु समाधि तमिम शृणुत ।
अप्रतिज्ञभिक्षुस्तु समाधिप्राप्तोऽनिदानो भूतेषु परिव्रजेत् ॥१॥

अन्वयार्थ

(मईम) केवलज्ञानी भगवान महावीर ने (अणुवीय) केवलज्ञान के द्वारा जानकर (अजू समाहि धम्म आघ) सरल समाधि (मोक्षप्रदायक) धर्म का कथन किया है, (तमिण सुणेह) हे शिष्यो! उस धर्म को तुम मुझसे सुनो (अपडिन्न) अपने तप का फल नही चाहता हुआ (समाहिपत्ते) समाधि को प्राप्त, (अणियाण भूतेसु) प्राणियो का आरम्भ न करता हुआ (भिक्खू सुपरिव्वएज्जा) मुनि शुद्ध सयम पालन मे प्रगति करे।

भावार्थ

केवलज्ञानी भगवान् महावीर ने केवलज्ञान के प्रकाश मे जानकर

सरल और मोक्ष मे स्थापित करने वाले समाधिरूप धर्म का निरूपण किया है। हे शिष्यो ! तुम उस धर्म को सुनो। अपने तप के प्रतिफल की आकाक्षा न करता हुआ, एव जीवहिंसाजनक आरम्भ न करता हुआ समाधिप्राप्त साधु शुद्ध सयम मे प्रगति करे।

व्याख्या

सर्वज्ञ ान महावीर द्वारा कथित समाधिधर्म सुनो

यह इस अध्ययन की प्रथम गाथा है। इसमे श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी आदि को सम्बोधित करके कहते है—शिष्यो! मतिमान् (समस्त पदार्थों का ज्ञान मति है, वह जिसमे विद्यमान हो, उसे मतिमान् कहते हैं) भगवान् महावीर ने केवलज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों का स्वरूप जानकर सरल सरस समाधि-रूप धर्म का प्ररूपण किया है। यहाँ 'अणुवीय धम्म आघ' शब्द यह सूचित करते है कि भगवान् केवलज्ञान के द्वारा यह जानकर कि इस धर्म का अधिकारी कौन है? यह किस देवगुरु या धर्म-दर्शन का अनुगामी है? यह किस पदार्थ को ग्रहण कर सकता है? किस भाषा का प्रयोग करने से अधिकाधिक श्रोताओ को लाभ हो सकेगा? इत्यादि बातो का अपनी केवलज्ञानरूपी मति से विचारकर उन्होने धर्म का कथन किया है। जो कि सरल है—कुटिल, टेढामेढा या चक्करदार नही है, और समाधिरूप—यानी सम्यक् प्रकार से आत्मा को मोक्ष या मोक्षमार्ग मे स्थापित करने वाला है। अथवा भगवान् ने धर्म और उसकी समाधि—सम्यक्ध्यान आदि का उपदेश दिया है। आप लोग भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट उस सरल धर्म या समाधि को मुझसे सुनें।

धर्मसमाधि को कौन प्राप्त कर सकता है? इसके सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते है—जो साधु अप्रतिज्ञ है यानी अपनी तप साधना आदि का प्रतिफल नही चाहता है, भिक्षाजीवी है, विषयसुखो की प्राप्ति का निदान (नियाणा) नही करता है, अथवा प्राणियो का हिंसात्मक आरम्भ नही करता है, वही समाधिप्राप्त है। उसे अपने सयम की ओर ही कदम बढाने चाहिए।

अनिदान के यहाँ पाँच अर्थ होते हैं—एक अर्थ तो अन्वयार्थ मे दिया है, दूसरा अर्थ होता है—जो विषय-सुखो की प्राप्ति के निदान (नियाणा) से रहित है, अथवा जो साधु निदान यानी कर्म-बन्धन के कारणो (आस्रवो) से दूर है, अथवा जो ससार के कारण नही है, वे ज्ञानादि अनिदान हैं। अथवा जो दुःख का कारण है, वह निदान है, किसी प्राणी को दुःख न करता हुआ—यानी अनिदान होकर साधु सयम मे पराक्रम करे।

मूल

उड्ढ अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पाएहि य संजमित्ता, अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा ॥२॥

सस्कृत छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणा ।
हस्तै पादैश्च सयम्य, अदत्तमन्यैश्च न गृह्णीयात् ॥२॥

अन्वयार्थ

(उड्ढ अहेय तिरिय दिसासु) ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओ मे (तसा य थावर य जे पाणा) जो त्रस या स्थावर प्राणी रहते है, (हत्थेहि पाएहि य सजमित्ता) हाथो और पैरो को सयम मे रखकर उन्हे पीडा नही पहुँचानी चाहिए (अन्नेसु य अदिन्न णो गहेज्जा) तथा दूसरो द्वारा न दी हुई चीज नही लेनी चाहिए ।

भावार्थ

ऊंची, नीची तथा तिरछी चार दिशा, चार विदिशा, ऊर्ध्व व अधो यो कुल दसो दिशाओ मे त्रस एव स्थावर जो भी प्राणी रहते है, अपने हाथो और पैरो को नियत्रण मे रखकर उन्हे किसी प्रकार से क्षति नही पहुँचानी चाहिए तथा दूसरो द्वारा न दी हुई वस्तु ग्रहण नही करनी चाहिए ।

व्याख्या

प्राणातिपात और अदत्तादान से सर्वथा विरमण से भावसमाधि

इस गाथा मे यह बताया गया है कि साधु को प्राणातिपात (हिंसा) और अदत्तादान (चोरी) का सर्वांशत त्याग करने से भावसमाधि प्राप्त हो सकती है। क्योकि प्राणातिपात आदि कर्मबन्ध के कारण हैं, और जो साधक कर्मबन्ध के कारणो को अपनाता हो, उसे भावसमाधि नही प्राप्त हो सकती । इसीलिए शास्त्रकार कहते है—'उड्ढ णो गहेज्जा ।' प्राणातिपात द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप से चार प्रकार का है । समस्त प्राणातिपात (जीवहिंसा) प्रज्ञापक (कहने वाले) की अपेक्षा से ऊँचे, नीचे, तिरछे तीनो लोको (क्षेत्रो) मे तथा पूर्वादि दिशाओ तथा आग्नेय आदि विदिशाओ मे किये जाते हैं । यह क्षेत्र प्राणातिपात है । जो त्रस या स्थावर प्राणी है, उन्हे पीडा देना द्रव्य प्राणातिपात है । 'तसा य जे थावर जे य पाणा' इस वाक्य मे बीच मे जो दो 'य' पडे है, वे स्वगत भेद को या काल और भाव प्राणातिपात को सूचित करते है । 'दिन मे या रात मे प्राणियो को दु खित करना कालप्राणातिपात है। पूर्वोक्त प्राणियो को हाथ-पैर आदि बाँधकर या दूसरी तरह से पीडा देना भावप्राणातिपात है । इन प्राणातिपातो से बचने के लिए अपने हाथो और पैरो को वश मे रखना चाहिए । इसी तरह श्वास, उच्छ्वास, छीक, खाँसी और अधोवायु निकलने

के समय तथा मन-वचन और शरीर की क्रिया के समय सयत बनकर भावसमाधि प्राप्त करनी चाहिए। साथ ही भावसमाधि प्राप्त करने के लिए अदत्तादान का निपेध किया गया है। अदत्तादान के निपेध से परिग्रह का निपेध तो स्वत हो जाता है। परिग्रह (ममत्व) किये बिना किसी वस्तु का सेवन नही किया जा सकता है, इसलिए परिग्रह-निपेध से मैथुन-निपेध भी अर्थत किया हुआ समझना चाहिए। समस्त महाव्रतो के पालन से भावसमाधि मिलती है, इस प्रेरणा से असत्यभाषण का निपेध भी स्वत सिद्ध हो जाता है। अथवा असत्य, परिग्रह एव मैथुन से अन्य (त्रसस्थावर) जीवो की विराधना होती है, उन्हे पीडा होती है, इसलिए प्राणातिपात के निपेध के साथ इन तीनो का निपेध भी सिद्ध हो गया। निष्कर्ष यह है कि भाव-समाधि के लिए पाँचो आस्रवा का त्याग अनिवार्य है।

मूल पाठ

सुयक्खायधम्मे वितिगिच्छतिण्णे, लाढे चरे आयतुले पयासु।
आय न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चय न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू ॥३॥

सस्कृत छाया

स्वाख्यातधर्मा विचिकित्सातीर्ण, लाढश्चरेदात्मतुल्य प्रजासु।
आय न कुर्यादिह जीवितार्थी, चय न कुर्यात् सुतपस्वी भिक्षु ॥३॥

अन्वयार्थ

(**सुयक्खायधम्मे**) श्रुत और चारित्रधर्म का भली-भाँति प्रतिपादन करने वाला (**वितिगिच्छतिण्णे**) तथा वीतरागप्ररूपित धर्म मे चिकित्सा—शका से ऊपर उठा हुआ—पारगत। (**लाढे**) प्रासुक आहार पानी तथा एपणीय अन्य उपकरण आदि से अपना निर्वाह करने वाला। (**सुतवस्सि भिक्खू**) उत्तम तपस्वी एव भिक्षा-जीवी साधु (**पयासु आयतुले**) पृथ्वीकाय आदि प्राणियो के प्रति आत्म-तुल्य होकर (**चरे**) विचरण या व्यवहार करे, अथवा धर्माचरण करे। (**इह जीवियट्ठी आय न कुज्जा**) इस लोक मे चिरकाल तक जीने की इच्छा से आय – धन की आमदनी (कमाई) न करे, अथवा आस्रवो की आय—वृद्धि न करे। (**चय न कुज्जा**) तथा भविष्य के लिए धन-धान्य आदि का सचय न करे।

भावार्थ

श्रुत चारित्रधर्म का सम्यक् व्याख्याता, तीर्थंकरोक्त धर्म मे शका से दूर, प्रासुक आहार एव एषणीय उपकरण आदि से निर्वाह करने वाला उत्तम तपस्वी भिक्षाजीवी साधु समस्त जीवो को अपने समान समझता हुआ सयम का पालन या धर्म का आचरण करे। वह इस लोक मे चिरकाल तक जीने की इच्छा से किसी प्रकार का धनार्जन न करे, या आस्रवो की

आय—वृद्धि न करे, और न ही भविष्य के लिए धन्य-धान्य आदि किसी वस्तु का सचय करे।

व्याख्या

श्रुत-समाधि, दर्शन-समाधि और आचार-समाधि के उपाय

इस गाथा मे शास्त्रकार श्रुत, दर्शन और आचार समाधि के उपाय बताते है। श्रुतसमाधि का उपाय यह है कि वह शास्त्रो के रहस्यो का इतना अच्छा ज्ञाता हो जाए कि दूसरो को श्रुतधर्म और चारित्रधर्म को अच्छी तरह समझा सके। अर्थात् श्रुत-चारित्रधर्म की प्राजल व्याख्या कर सकता हो, वह साधु श्रुतसमाधि प्राप्त कर लेता है। साथ ही 'वितिगिच्छतिण्णे' शब्द यहाँ दर्शनसमाधि को सूचित करता है। यानी वह साधु वीतरागप्ररूपित सिद्धान्तो या धर्मो के प्रति विचिकित्सा शका को पार कर गया हो, शका से रहित हो। जहाँ किसी सिद्धान्त या बात मे चित्त मे शका होती है, वहाँ समाधि भग हो जाती है। इसलिए नि शकता दर्शनसमाधि के लिए अनिवार्य है। 'तमेव सच्च निस्सक ज जिणेहिं पवेइय' जिनेन्द्र भगवन्तो ने जो कुछ कहा है, वही सत्य है, नि शक है, इस प्रकार की दृढ श्रद्धा — नि शकता होनी चाहिए, तभी दर्शनसमाधि प्राप्त हो सकती है। आगे आचारसमाधि के लिए कहा है—साधु को जो भी, जैसा भी अपनी विधि के अनुसार प्रासुक, एषणीय, कल्पनीय आहार-पानी या धर्मोपकरण मिल गया, वह अच्छा हो या खराब हो, मनोज्ञ हो या अमनोज्ञ हो, धर्मपालन के लिए उसे सहायक समझकर उसी मे सतुष्ट होकर रहने वाला (लाढ) साधु आचारसमाधि प्राप्त करता है। तथा ससार के समस्त जीवो को आत्मवत् समझे, उनके साथ आत्मतुल्य व्यवहार करे, वही समसुख-दु खी, सममना साधु समाधि प्राप्त करता है। कहा भी है —

जह मम ण पिय दुक्ख, जाणिय एमेव सव्वजीवाण।
ण हणइ ण हणावेइ य, सममणई तेण सो समणो॥

जैसे मुझे दु ख प्रिय नही है, वैसे ही सभी जीवो को नही है, यह जानकर जो न किसी प्राणी का स्वय हनन करता है और न हनन करवाता है, किन्तु सब के प्रति समान मन रखता है, इसी कारण वह समभावी साधु श्रमण कहलाता है। वह सोचता है कि जैसे मुझे कोई डाँटता-फटकारता है, या कलक लगाता है, तो मुझे दु ख होता है, वैसे ही अगर मैं दूसरो को डाटूंगा-फटकारूँगा या कलक लगाऊँगा तो उन्हे दु ख होगा। इस आत्मौपम्य सिद्धान्त के अनुसार वह सब प्राणियो को अपने समान मानता है। इसी तरह आचारसमाधि के लिए यह भी उचित है कि साधु किसी प्रकार की धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद आदि की आय (आमदनी) न करे और न ही इनका सचय करे। उसे भिक्षा पर निर्वाह करना है, यथालाभ सतुष्ट रहना है, तब पदार्थो के आय या सचय से कोई वास्ता नही रखना चाहिए। आहार-पानी

आदि का भी दूसरे दिन के लिए सग्रह नही रखना चाहिए, उसे आकाशीवृत्ति से निसर्गनिर्भर रहना चाहिए, तभी समाधि प्राप्त हो सकती है। अन्यथा आय (आमदनी) और सग्रह की चिन्ता होगी, उसकी सुरक्षा की चिन्ता होगी, उसके चुराये जाने या नष्ट हो जाने पर चिन्ता होगी। ये सब चिन्ताएँ उसकी समाधि को समाप्त कर देगी। इसलिए साधु को आय और सचय के पचडे मे नही पडना चाहिए। आय का अर्थ आस्रवो की वृद्धि भी होता है। श्रेष्ठ तपस्वी एव भिक्षाजीवी साधु को उससे भी दूर रहना चाहिए। कोई वस्तु दूसरे दिन या कभी भिक्षा द्वारा नही मिली तो तपस्या का लाभ मिला, यही समझकर आत्मसतोप करना चाहिए। यही समाधि का रहस्य है।

मूल

सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के।
पासाहि पाणेय पुढोवि सत्ते, दुक्खेण अट्टे परितप्पमाणे ॥४॥

सस्कृत छाया

सर्वेन्द्रियाभिनिर्वृत्त प्रजासु, चरेन्मुनि सर्वतो विप्रमुक्त ।
पश्य प्राणाश्च पृथगपि सत्त्वान्, दु खेनार्त्तान् परितप्यमानान ॥४॥

अन्वयार्थ

(पयासु सव्विंदियाभिनिव्वुडे) स्त्रियो के विपय मे साधु समस्त इन्द्रियो का निरोध करके जितेन्द्रिय बने। (सव्वओ विप्पमुक्के मुणी चरे) बाह्य और आभ्यन्तर सभी बन्धनो या द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के सभी प्रतिबन्धो से मुक्त होकर मुनि सयम-मार्ग पर विचरण करे। (पाणे य पुढो वि सत्ते) इस ससार मे पृथ्वीकाय आदि सभी प्राणी, चाहे वे सूक्ष्म हो या बादर पृथक्-पृथक् रूप से (अट्टे दुक्खेण परितप्प-माणे) आर्त्त (पीडित) और दु ख से परितप्त हो रहे है, (पासाहि) उन्हे देखो।

भावार्थ

साधु स्त्रियो के विषय मे अपनी समस्त इन्द्रियो को रोककर जितेन्द्रिय बने तथा सब प्रकार के बन्धनो से मुक्त होकर शुद्ध सयम का पालन करे। इस लोक मे सभी प्राणी दु ख भोग रहे है, यह देखे।

• ।

जितेन्द्रिय एव बन्धनमुक्त बनकर सभी सतप्त प्राणियों को देखो

इस गाथा मे साधु को भावसमाधि के लिए जितेन्द्रिय और बन्धनमुक्त बनना अनिवार्य बताया है। जितेन्द्रिय बनने के लिए पाँचो इन्द्रियो के विपयो की खान स्त्रियो के प्रति बिलकुल अनासक्त होना चाहिए।

साधक को सर्वेन्द्रियो को रोकने के लिए सर्वप्रथम स्त्री-सम्पर्क से दूर रहना अनिवार्य है। साथ ही साधु को बाह्य और आभ्यन्तर सग (आसक्ति) से विशेषरूप से मुक्त निष्किञ्चन सर्वबन्धनमुक्त एव नि स्पृह होना चाहिए। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का प्रतिबन्ध भी साधु को अशान्ति और चिन्ता मे डाल देता है। उससे भी साधु को सर्वथा मुक्त होना चाहिए।

कई बार साधु इन दोनो गुणो (जितेन्द्रियता एव सर्वबन्धनमुक्तता) से सम्पन्न होने पर भी अकेला, अलग-थलग हो जाता है, अथवा होने पर उदास हो जाता है, और जब सहायक या साथी के बिना अकेला दु खो और सकटो से जूझ नही पाता, उस मौके पर साधु असमाधिभाव मे गर्क हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसे मौके पर त्रस और स्थावर प्राणियो को अलग-अलग आँखें खोलकर देखो, वे दु खो और सकटो से छटपटा रहे है। साधो! तुम्हारा दु ख और सकट तो उन दु खो के मुकाबले मे कुछ भी नही है। वे आर्तध्यान करके और नवीन कर्मों को को बाँध रहे हैं। तुम अपने पर आये हुए दु ख और सकट को मामूली समझकर समभाव से सहन करो, इससे पुराने कर्म नष्ट होंगे, नये नही बँधेगे और तुम्हारा चित्त समाधिभाव मे लीन हो जायगा। समाधिभाव प्राप्त करने का यही नुस्खा है कि अपने दु ख को बिलकुल हलका और मामूली मानो, और उसे समभाव से सहो।

मूल

एतेसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टती कम्मसु पावएसु।
अतिवायतो कीरति पावकम्म, निउजमाणे उ करेइ कम्मं ॥५॥

सस्कृत छाया

एतेषु बालश्च प्रकुर्वाण , आवर्तते कर्मसु पापकेषु ।
अतिपातत क्रियते पापकर्म, नियोजयस्तु करोति कर्म ॥५॥

अन्वयार्थ

(बाले) अज्ञानी जीव (एतेसु) पूर्वोक्त पृथ्वीकाय आदि प्राणियो को (पकुव्वमाणे) दु खित-पीडित करता हुआ (पावएसु कम्मसु आवट्टती) पापकर्मों की ही बार-बार आवृत्ति करता रहता है। अथवा पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त पृथ्वीकाय आदि नीच योनियो मे परिभ्रमण करता है। (अतिवायतो पावकम्म कीरति) जीवो की हिंसा करके प्राणी पापकर्म करता है, (निउजमाणे उ कम्म करेइ) तथा दूसरो को हिंसा मे प्रेरित करके भी पापकर्म का सम्पादन करता है।

भावार्थ

अज्ञानी जीव पृथ्वीकाय आदि जीवो को पीडा देता हुआ पापकर्मों को बार-बार दुहराता रहता है, अथवा पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त पृथ्वीकाय

आदि नीच योनियो मे परिभ्रमण करता रहता है। प्राणी जीवो की हिंसा करके पापकर्म करता है, तथा दूसरो को हिसा करने मे लगाकर भी पाप-कर्म का उपर्जन करता है।

व्याख्या

प्राणिहिंसा करने-कराने से समाधि का नाश

प्राणिहिंसा करने-कराने से उपार्जित पापकर्मों के फलस्वरूप जीव को नाना तुच्छ योनियो मे बार-बार परिभ्रमण करना पडता है, जहाँ उसे सम्यक्बोध नही मिल पाता। फलत उस प्राणी को समाधि तो मिलती ही कैसे? अज्ञानी जीव जिस समय इन प्राणियो को कष्ट देता है, काटता, तपाता, आग मे जलाता है, उस समय वह चाहे अपने जरा-से स्वार्थ या वैषयिक सुख के लिए ऐसा करता हो, परन्तु उसे उस पापकर्म की बहुत मँहगी कीमत चुकानी पडती है। जो इस प्रकार दूसरो को पीडा देकर उनकी समाधि भग करता है, उसकी चिरकाल तक अपनी ही समाधि भग होती है। वह अज्ञानी जीव अपने चिरसचित पापकर्म के कारण उन्ही पाप योनियो अथवा पापकर्मों के स्थानो मे बार-बार जन्म-मरण करता है।

कही-कही 'एतेसु बाले' के बदले 'एव तु बाले' पाठ मिलता है। उसका अर्थ है—जैसे चोर और परस्त्रीलम्पट पुरुष बुरे कार्य करके इस लोक मे वध, बन्धन, अगच्छेदन आदि दुख पाते हैं, (एव तु) वैसे ही दूसरे पापी भी इस लोक और परलोक मे दुख के भाजन बनते हैं। कही-कही 'आवट्टती' के बदले 'आउट्टति' पाठ मिलता है। उसका अर्थ यह है कि बुद्धिमान पुरुष अशुभ कर्मों का दुखरूप फल देख-सुनकर या जानकर उक्त पापकर्मों से विरत हो जाते है।

अज्ञानी जीव पापकर्मो का सचय कैसे करता है? इसके लिए शास्त्रकार कहते है—'अतिवायतो कीरति पावकम्म करेइ कम्म।'

अर्थात् - जीवहिंसा सबसे बडा पापकर्म है। जीवहिंसा करके जीव बहुत पापकर्मो का बध करता है, यही नही, दूसरो को जीवहिंसा मे लगाकर भी जीव पाप-कम का उपार्जन करता है। यहाँ मूल मे 'उ' (तु) शब्द है, वह द्योतित करता है कि जो हिंसा की तरह झूठ बोलता है, चोरी करता है, मैथुन-सेवन करता है, परि-ग्रहवृत्ति रखता है, अथवा दूसरो से इन आस्रवो को कराता है, वह पाप का सचय करता है। पापकर्म मनुष्य को समाधिपूर्वक नही बैठने देता, वह उसे नाना दुखो एव दुखरूप योनियो मे भटकाता है।

मूल

आदीणवित्तीवि करेइ पाव, मता उ एगतसमाहिमाहु।
बुद्धे समाहीय रए विवेगे, पाणाइवाया विरए ठियप्पा ॥६॥

सस्कृत छाया

आदीनवृत्तिरपि करोति पाप, मत्वात्वेकान्त समाधिमाहु ।
बुद्ध समाधौ च रतो विवेके, प्राणातिपाताद् विरत स्थितात्मा ।।६।।

अन्वयार्थ

(आदीणवित्तीवि पाव करेइ) जो पुरुष दीनवृत्ति करता है—यानी कगाल भिखारी की तरह अपनी जीविका चलाता है, वह भी पाप करता है। (मत्ता उ एगतसमाहिमाहु) यह जानकर तीर्थंकरो ने एकान्त समाधि का उपदेश दिया है। (बुद्धे ठियप्पा) इसीलिए वस्तुतत्त्व का ज्ञाता स्थिरात्मा (स्थितप्रज्ञ) शुद्धचित्त पुरुष (समाहीय विवेगे रए) समाधि और विवेक मे रत रहे। (पाणाइवाया विरए) एव प्राणातिपात से निवृत्त—दूर रहे।

भावार्थ

जो पुरुष कगाल और भिखारी के समान भिखमगेपन से जीविका चलाता है, वह भी पाप करता है। इस तथ्य को जानकर तीर्थंकरो ने एकान्तरूप से भावसमाधि का उपदेश दिया है। अत विचारशील स्थित-प्रज्ञ या शुद्धचित्त पुरुष भावसमाधि और विवेक मे रत होकर प्राणातिपात (जीवहिसा) से दूर रहे।

व्याख्या

समाधि कौन-सी भ्रान्त, कौन-सी अभ्रान्त ?

इस गाथा मे भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट एकान्त समाधि क्या है और समाधि का भ्रम क्या है ? इस बात को शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है। कई लोग ज्ञान दर्शन-चारित्रसम्पन्न महाव्रती एव तपस्वी साधु को अत्यन्त मस्त और सुख-शान्तिमग्न देखकर यह सोचने लगते है कि इनका-सा वेप पहनने और इनकी तरह भिक्षा माँगकर खाने मे बहुत ही मौज मिलेगी, क्योकि ये साधु कितने प्रसन्न और स्वस्थ हैं ? इस प्रकार सोचकर कई लोग साधु का-सा स्वाँग रचकर भिक्षा (भीख) माँगने लगते हैं। लोग उनकी दुर्वृत्तियो को जानकर उन्हे भिक्षा नही देते तो वे उनके सामने गिडगिडाते हैं, दीनता प्रगट करते हैं—"दे दो माई बाप ! भगवान् के नाम पर एक रोटी दे दो ! भगवान् तुम्हारा भला करेगा ! तुम्हारी हजारी उम्र होगी ! बेटे-पोतो से तुम्हारा घर भरा रहेगा !" ये और इस प्रकार की चापलूसी करके वे मेह-नत मजदूरी किये बिना अथवा धर्माचरण मे पुरुषार्थ किये बिना मुफ्त मे अन्न-वस्त्र प्राप्त कर लेते है। इस तरह वे अपने आपको समाधियुक्त समझते हैं। शास्त्रकार कहते है—'आदीणवित्तीवि करेइ पाव ।' आशय यह है कि ऐसे लोग साधु का-सा स्वाग रचकर दीनवृत्ति मे पेट भरते हैं, निर्वाह करते हैं, वे पाप करते हैं। एक तो वे हट्टे-कट्टे होकर समाज से भिक्षा लेते हैं, यह पौरुषघ्नी भिक्षा है, जो कि पाप है।

दूसरे वे कोई धर्म-पालन या ज्ञान-दर्शन-चारित्र का आचरण नही करते, बल्कि हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन आदि पापो मे रत रहते है। तीसरे, जब वे रोटी के टुकडो के लिए दर दर भटकते ह तब लोग उन्हे किसी समय बासी, ठडा, रूखा-सूखा भोजन दे देते ह, या बढिया भोजन नही देते है तो वे रुष्ट होकर उन्हे भला-बुरा कहने को उतारू हो जाते है। नही देते है तो नाराज होकर लडने-मरने को तैयार हो जाते हैं, किन्तु सन्तुष्ट होकर नही बैठते।

राजगृहनगर मे एक बार था। बहुत से नागरिक उत्सव के निमित्त नगर के बाहर गये। वहाँ उन्होने भोजन बनाकर खाया-पीया। वहाँ एक भिखारी देर से पहुँचा, जबकि भोजन समाप्त हो चुका था। भिखारी को भोजन न मिलने से वह रुष्ट होकर वैभारगिरि पर चढ गया, वहाँ से वह उन लोगो पर पर्वतशिला गिराना चाहता था, लेकिन अचानक उसका पैर फिसल गया और वह उस आर्त्त रौद्रध्यान के फलस्वरूप मरकर नरक का मेहमान बन गया। अत जो साधु भिखारी की तरह दीनतापूर्वक भिक्षा करता है, उसे समाधियुक्त न समझो, वह तो पाप से लिप्त होता है और उसे जो थोडी-सी समाधि स्पर्शादि इन्द्रियविषयपोषक तुष्टि के कारण प्राप्त भी हो जाती है, तो वह भी द्रव्य समाधि है, असली भावसमाधि नही है। कही लोग भ्रान्तिवश इस नकली द्रव्यसमाधि को ही असली भावसमाधि न समझें, यह विचारकर तीर्थंकर और गणधर ने ससार-सागर से पार करने वाली भावरूप ज्ञानादि समाधि का उपदेश दिया था। वह ज्ञानादि समाधि 'सर्व-मात्मवश सुखम्' इस उक्ति के अनुसार इन्द्रियो या परवस्तुओ के अधीन नही है। वह त्याग-तपस्याजन्य तथा अपने अधीन है, उसे निर्धन, अकिंचन, बुद्धिमन्द आदि हर व्यक्ति प्राप्त कर सकता ह, इसलिए वह समाधि एकान्तिक और आत्यन्तिक सुख को उत्पन्न करती है। जबकि द्रव्यसमाधि स्पर्शादिसुख को उत्पन्न करती है, वह सुख भी अनिश्चित और अल्पकालीन तथा क्षणिक होता है। बल्कि वैषयिक सुख भोगते समय भले ही थोडी देर के लिए मन को खुशी से भर दे किन्तु बाद मे वे व्याधि, मरण या अन्य ऐसे ही दुर्गतिजनित या इहलोक के किसी चिन्ताजनक दुख को उत्पन्न करते है।

इसलिए तत्त्वदर्शी स्थितप्रज्ञ विवेकी साधु ज्ञानादि चार प्रकार की भावसमाधि मे मग्न रहे। कही-कही 'ठियप्पा' के स्थान पर 'ठियच्चि' पाठ है, उसका अर्थ है—विशुद्ध लेश्यावान् साधु। 'रए विवेगे' का अर्थ यह भी हो सकता है—आहार, उपकरण और कषाय का विवेक त्याग करके साधु द्रव्य और भाव से आनन्द माने। किन्तु प्राणियो के दस प्राणो के विनाश से सर्वथा दूर रहे। यही एकान्त भाव-समाधि का मार्ग है।

मूल पाठ

सव्व जग तू समयाणुपेही, पियमप्पिय कस्सइ णो करेज्जा ।
उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो, सपूयण चेव सिलोयकामी ।।७।।

सस्कृत छाया

सर्वं जगत्तु ममतानुप्रेक्षी, प्रियमप्रिय कस्यचिन्न कुर्य्यात् ।
उत्थाय दीनश्च पुनर्विषण्ण, सम्पूजन चैव श्लोककामी ।।७।।

अर्थ

(सव्व जग तू समयाणुपेही) साधु सारे जगत को समभाव से देखे। (कस्सइ पियमप्पिय णो करेज्जा) किसी का प्रिय अथवा अप्रिय न करे। (उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो) कोई साधक प्रव्रज्या लेकर परीषहो और उपसर्गो से पीडित होने पर दीन होकर, फिर दु खी या पतित हो जाते है, (सपूयण चेव सिलोयकामी) और कोई-कोई अपनी पूजा-प्रतिष्ठा और प्रशसा के अभिलाषी बन जाते है।

भावार्थ

साधु समस्त जगत् को समभाव से देखे। वह किसी का प्रिय या अप्रिय न करे। कोई-कोई साधु प्रव्रज्या धारण करके परीषहो और उपसर्गों की मार आने पर दीन-हीन-दुखी हो जाते हैं, और प्रव्रज्या को छोडकर पुन पतित हो जाते है, या पुन ग्राहंस्थ्य के विषाद मे मग्न हो जाते है। कोई-कोई मुनि दीक्षा लेकर अपनी पूजा प्रतिष्ठा और प्रशसा का इच्छुक हो जाता है।

व्याख्या

समत्व ही समाधि का उत्तम मार्ग

इस गाथा मे शास्त्रकार ने प्राणिकृत एव परिस्थितिकृत समत्व को समाधि का उत्तम मार्ग सूचित किया है। प्राणिकृत समत्व इस प्रकार है - साधु ससार के सभी प्राणियो पर समत्वदृष्टि रखे। छहो काया के जीवो को आत्मवत् देखे। किसी प्राणी को अपना प्रिय और किसी को अप्रिय न समझे। जब साधु इस प्रकार सर्वभूतात्मभूत हो जाएगा, तब न तो किसी पर रोष करेगा, और न तोष। जैसे कि कहा है—

नत्थिय य स कोइ दिस्सो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।

अर्थात्—समस्त जीवो मे साधु का न तो कोई द्वेष का पात्र है और न कोई प्रेम-भाजन।

ऐसे समभावी साधु का यह चिन्तन होता है कि जैसे मुझे दु ख अप्रिय है, वैसे ही दूसरो को भी दु ख अप्रिय है। इसलिए समत्व से युक्त साधु किसी का भी प्रिय या अप्रिय न करे, किन्तु ऐसे मामलो मे नि सग एव निर्लेप होकर रहे। इस प्रकार प्राणिकृत-समत्व से युक्त साधु ही सम्पूर्ण भावसमाधि से सम्पन्न होता है।

दूसरा समत्व है—परिस्थितिकृत। वह इस प्रकार है—भावसमाधि मे सम्यक् उन्नति करके यानी दीक्षा लेकर भी कई साधक परीषहो और उपसर्गो से पीडित होने पर समाधिभाव को खो बैठते है, दीन हो जाते है, पश्चात्ताप करते हैं और विषयार्थी होकर फिर गृहस्थ हो जाते है। यह समत्वभग है। इसी प्रकार कई साधक दीक्षा लेकर अपने सत्कार-सम्मान या प्रसिद्धि-प्रशसा के चक्कर मे पड जाते हैं। जब पूजासत्कार या प्रसिद्धि नही मिलती तो वे पार्श्वस्थ बनकर खेद करते हैं या ज्योतिष, सामुद्रिक या निमित्तशास्त्र आदि पढकर पूजा-प्रतिष्ठा पाने का उपक्रम करते हैं, यह भी समत्वभग है। तात्पर्य यह है कि साधु परीषहो और उपसर्गो से पीडित होने की परिस्थिति मे भी समभाव रखे, और सत्कार-प्रशसा या सम्मान की वासना के समय भी सतुलित रहे। सत्कार-सम्मान न मिलने पर भी समत्व रखे। इस प्रकार का परिस्थितिक समत्व ही समाधि का उत्तम मार्ग है।

मूल

आहाकडं चेव निकाममीणे, नियामचारी य विसण्णमेसी ।
इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥८॥

संस्कृत छाया

आधाकृतञ्चैव निकाममीणो, निकामचारी च विषण्णैषी ।
स्त्रीषु सक्तश्च पृथक् च बाल , परिग्रह चैव प्रकुर्वाण ॥८॥

अन्वयार्थ

(आहाकडं चेव निकाममीणे) जो साधक दीक्षा लेकर आधाकर्मी आहार की अत्यन्त लालसा रखता है, **(नियामचारी य विसण्णमेसी)** तथा जो आधाकर्मी आहार के लिए इधर-उधर बहुत घूमता है, वह वास्तव मे विषण्ण—सयमपालन मे शिथिल (कुशील) बनना चाहता है। **(इत्थीसु सत्ते य)** तथा जो स्त्रियो मे आसक्त रहता है, **(पुढो य बाले)** स्त्री के विलासो मे अज्ञानी की तरह मुग्ध रहता है तथा **(परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे)** स्त्री की प्राप्ति के लिए परिग्रह रखता है, वह पापकर्म करता है।

भावार्थ

जो पुरुष प्रव्रज्या लेकर आधाकर्मी आहार की बहुत लालसा रखता है, और आधाकर्मी आहार की तलाश मे अत्यन्त भटकता है, वह सचमुच कुशील (शिथिलाचारी—विषण्ण) बनना चाहता है। तथा जो स्त्रियो मे आसक्त रहता है और अज्ञानी की तरह स्त्रियो के विलासो मे मुग्ध हो जाता है, तथा स्त्री-प्राप्ति के लिए परिग्रह सचित करता है, वह सरासर पापकर्म करता है।

व्याख्या

ये समाधिभाव को प्राप्त नहीं कर सकते ?

इस गाथा मे शास्त्रकार ने दो प्रकार के साधको को स्पष्टत समाधिभाव से कोसो दूर बताया है—एक तो वे जो आधाकर्मी आहार या उपकरण आदि की प्रबल इच्छा करते है, और वैसे दोषयुक्त आहार की तलाश मे घटो तक घूमते रहते हैं, दूसरे वे साधक जो स्त्रियो मे आसक्त होकर उनके हावभाव और हासविलास में मुग्ध रहते है, उन्हे पाने के लिए धन जुटाते है। जो आहार आदि साधु को देने के लिए बनाया जाता है, वह आधाकर्मी दोष कहलाता है। इन दोनो ही दुर्व्यसनो मे फँसे हुए पुरुष आखिरकार सयमक्रिया मे शिथिल होकर ससाररूपी कीचड मे फँस जाते हैं। ऐसे व्यक्ति समाधिभाव से कोसो दूर है, और वे पापकर्म के सचय के कारण भविष्य मे भी समाधि प्राप्त नही कर पाते।

मूल पाठ

वेराणुगिद्धे णिचय करेति, इओ चुए स इहमट्ठदुग्ग ।
तम्हा उ मेहावी समिक्ख धम्म, चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के ।।९।।

सस्कृत छाया

वैरानुगृद्धो निचय करोति, इतश्च्युत स इदमर्थदुर्गम् ।
तस्मात्तु मेधावी समीक्ष्य धर्म, चरेन्मुनि सर्वतो विप्रमुक्त ।।९।।

अन्वयार्थ

(वेराणुगिद्धे) जो पुरुष प्राणियो के साथ वैर बांधता है, (णिचय करेति) वह पापकर्म की वृद्धि करता है। (इओ चुए स इहमट्ठदुग्ग) वह मरकर नरक आदि दु खदायी स्थानो मे जन्म लेता है। (तम्हाउ मेहावी मुणी) इसलिए बुद्धिमान् मुनि (धम्म समिक्ख) धर्म का विचार करके (सव्वउ विप्पमुक्के) समस्त बन्धनो से मुक्त होकर सयम का निष्ठापूर्वक पालन करे।

भावार्थ

जो पुरुष प्राणियो की हिंसा करके उनके साथ वैर बाँध लेता है, वह पापकर्म की वृद्धि करता है तथा वह यहाँ से मरकर नरक आदि दु खदायक स्थानो मे जन्म लेता है। इसलिए विद्वान् मुनि अपने धर्म का विचार करके समस्त बन्धनो से मुक्त होकर एकमात्र सयम की साधना मे सलग्न रहे।

व्याख्या

सर्वबन्धनमुक्त मुनि अपने धर्म पर दृढ रहे

इस गाथा मे यह बताया गया है कि वैर बांधने वाला साधक पापकर्म का सचय करके यहाँ और वहाँ दोनो जगह दु ख पाता है, अत मुनि इन सब बन्धनो से दूर रह

न ही वह आधाकर्मी आहार की तलाश मे घूमेगा, और न आधाकर्मी आहार लाने वालो या चाहने वालो से ससर्ग करेगा। बल्कि अगर किसी दिन आहार न मिला तो भी वह उपवास, ऊनोदरी आदि तप कर लेगा। शरीर को स्फूर्तिमान, तेजस्वी और हलका-फुलका बनाने के लिए शास्त्रकार की प्रेरणा के अनुसार वह तप द्वारा कृश करेगा, अथवा बहुत जन्मो के सचित कर्मो के क्षय के लिए प्रयत्न करेगा। शरीर के प्रति निरपेक्षता से उसे समाधि प्राप्त होगी।

मूल

एगत्तमेय अभिपत्थएज्जा, एव पमोक्खो न मुसति पास।
एसप्पमोक्खो अमुसे वरेवि, अकोहणे सच्चरते तवस्सी ॥१२॥

सस्कृत छाया

एकत्वमेतदभिप्रार्थयेदेव प्रमोक्षो न मृषेति पश्य ।
एष प्रमोक्षोऽमृषा वरोऽपि, अक्रोधन सत्यरतस्तपस्वी ॥१२॥

अन्वयार्थ

(एगत्तमेय अभिपत्थएज्जा) साधु एकत्व की भावना करे (एव पमोक्खो न मुसति पास) एकत्व की भावना करने से ही साधु नि सगता को प्राप्त होता है, यह मिथ्या नही, किन्तु सत्य जानो। (एसप्पमोक्खो अमुसे वरेवि) यह एकत्व भावना ही उत्कृष्ट मोक्ष है, तथा यही सच्ची भावसमाधि और प्रधान है। (अकोहणे सच्चरते तवस्सी) जो क्रोधरहित तथा सत्य मे रत है, और तपस्वी है, वही सर्वश्रेष्ठ समाधिपरायण है।

भावार्थ

साधु एकत्व की भावना करे। क्योकि एकत्व की भावना करने से ही उसका सगमोक्ष (आसक्ति से मुक्ति) हो सकता है। यह मिथ्या नही, अपितु सत्य समझो। यह एकत्व भावना ही उत्कृष्ट मोक्ष है, यही सच्ची भावसमाधि है। जो इस भावना से युक्त होकर क्रोध नही करता, सत्यभाषी और तपस्वी है, वही साधक सर्वश्रेष्ठ समाधिपरायण है।

व्याख्या

एकत्व भावना ही मोक्ष प्रदायक समाधि का द्वार

साधु एकत्व की भावना करे, दूसरे की सहायता, दूसरे का आलम्बन, दूसरे का आश्रय लेने की इच्छा न करे, यहाँ तक कि आहार-पानी, शरीर, साथी, मकान, वस्त्र, इन्द्रियाँ आदि की सहायता की अपेक्षा भी न रखे, या कम से कम रखे। क्योकि प्रत्येक प्राणी इस ससार मे अकेला ही आया है, अकेला ही जाएगा। अपने-अपनेकृत कर्म के अनुसार प्राणी अकेला ही उन कर्मो का शुभाशुभ फल भोगेगा,

दूसरा कोई भी जन्म-जरा-मरण-रोग शोक से पूर्ण इस जगत मे स्वकृतकर्म के फल-स्वरूप दु ख भोगते हुए की रक्षा करने मे समर्थ नही है। इसीलिए कहा है—

एगो मे सासओ अप्पा, णाणदसण सजुओ ।
सेसा मे वहिरा भावा, सव्वे सजोगलक्खणा ॥

एक सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मल साधिगमस्वभाव ।
वहिर्भवा सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वता कर्मभवा स्वकीया ॥

अकेला मेरा आत्मा ही शाश्वत है, जो ज्ञानदर्शन से युक्त है। शेष सभी पदार्थ बाह्य हैं और वे कर्म के कारण सयोग को प्राप्त है। मेरा आत्मा ही एकमात्र अकेला है, वही शाश्वत, निर्मल है, ज्ञानस्वरूप है, अन्य सब बाह्यभाव-परभाव हैं, जो शाश्वत नही है, कर्म के कारण सयोग को प्राप्त है, स्वकीय लगते हैं। इस प्रकार साधु एकत्व की भावना प्रतिदिन सतत करता रहे। एकत्व की भावना से सभी झझटो, मोहमाया, प्रपचों, सयोगो वगैरह से अनायास ही छुटकारा (मुक्ति) हो जाएगी, इसमे जरा भी असत्य नही है, यह परम सत्य है। एकत्व की भावना ही उत्कृष्टमोक्ष का उपाय है, तथा यही सत्य है, वास्तविक भावसमाधि है, प्रधान है। जो क्रोध नही करता, उपलक्षण से मान, माया और लोभ से भी दूर है, जो तप से अपने शरीर को तपाता है, तथा सत्यरत है, वही पुरुष सबसे प्रधान, सच्चा मुक्त और समाधि-परायण है।

मूल

इत्थीसु वा आरय मेहुणाओ, परिग्गहं चेव अकुव्वमाणो ।
उच्चावएसु विसएसु ताई, निस्ससय भिक्खू समाहिपत्ते ॥१३॥

स . छाया

स्त्रीषु चारतमैथुनेस्तु, परिग्रहञ्चैवाकुर्वाण ।
उच्चावचेषु विषयेषु त्रायी, नि सशय भिक्षु समाधिप्राप्त ॥१३॥

अन्वयार्थ

(इत्थीसु वा आरय मेहुणाओ) जो पुरुष स्त्रियो के साथ मैथुन नही करता है, (परिग्गह चेव अकुव्वमाणो) तथा परिग्रह भी नही रखता है। (उच्चावएसु विसएसु ताई) एव नाना प्रकार के विषयो मे राग-द्वेषरहित होकर जीवो की रक्षा करता है, (निस्ससय भिक्खू समाहिपत्ते) नि सन्देह वही साधु समाधि को प्राप्त है।

भावार्थ

जो साधक स्त्रियो के साथ मैथुन सेवन से विरत है, तथा परिग्रह भी नही रखता है। एव नाना प्रकार के विषयो मे राग-द्वेष रहित होकर जीवो की रक्षा करता है, नि सन्देह वही साधु समाधि को प्राप्त है।

व्याख्या

नि सन्देह वह साधु समाधिप्राप्त है

इस गाथा मे शास्त्रकार ने मैथुन और परिग्रह से निवृत्त साधक को समाधिप्राप्त बताया है। चाहे जैसा भी एकान्त स्थान हो, चाहे मनोहर ललनाएँ उससे सहवास की प्रार्थना कर रही हो, वह एकाकी हो, कोई तीसरा देखता न हो, फिर भी ब्रह्मचर्यनिष्ठ साधक किसी देवी, मानुषी या तिर्यञ्च नारी के साथ न तो सहवास करेगा, न ही उसके साथ कामचेष्टा करेगा, और न ही स्त्रियो के कटाक्ष, हावभाव, रमणीय अग, नेत्र आदि से मोहित होकर मन मे विकारभाव लाएगा, वह उसे माता-बहन मानकर अधोमुखी दृष्टि करके आगे चल देगा। इसी प्रकार जो साधक धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद आदि सजीव-निर्जीव किसी वस्तु पर अपना ममत्व स्थापित नही करता, न ही इन वस्तुओ की मन मे इच्छा करता है, बल्कि धर्मोपकरणो के प्रति भी ममता-मूर्च्छा नही रखता। तथा उत्कृष्ट विषयो पर जिसका राग और निकृष्ट विषयो पर द्वेष नही है, तथा जो विशिष्ट उपदेश देकर प्राणियो की रक्षा करता है, वह मूल-उत्तर-गुणो से युक्त साधु वास्तव मे भाव-समाधि को प्राप्त है। अथवा निस्ससय का अर्थ 'नि सश्रय' भी हो सकता है, अर्थात्—नाना प्रकार के विषयो का जो सश्रय—सेवन नही करता है, वही साधु भाव-समाधि को प्राप्त है।

मूल

अरइ रइं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफास तह सीयफासं ।
उण्ह च दस चऽहियासएज्जा, सुब्भि व दुब्भि व तिति एज्जा ।।१४।।

छाया

अरति रति चाभिभूय भिक्षुस्तृणादिस्पर्श तथा शीतस्पर्शम् ।
उष्णञ्च दश चाधिसहेत, सुरभि च दुरभि च तितिक्षयेत् ।।१४।।

अन्वयार्थ

(भिक्खू) साधु (अरइ रइ च अभिभूय) सयम मे अरति अर्थात् खेद तथा असयम मे रति यानी राग को जीतकर (तणाइफास तह सीयफास उण्ह च दस चऽहियासएज्जा) तृण आदि का स्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श एव दश-मशक के स्पर्श को सहन करे, (सुब्भि व दुब्भि व तितिक्खएज्जा) तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी सहन करे।

भावार्थ

साधु सयम मे खेद एव मे प्रीति को जीतकर तथा तृण

आदि का स्पर्श तथा शीत-उष्ण स्पर्श, और दश-मशक के स्पर्श को सहन करे, तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी समभाव से सहे।

व्याख्या

विषयो मे अनासक्त साधु भावसमाधि कैसे पाए ?

इस गाथा मे यह बताया गया है कि विषयो मे अनासक्त साधु को भावसमाधि कैसे प्राप्त हो सकती है ? जो साधु पचेन्द्रियविषयो से अनासक्त हो जाता है, तव वह यह समझने लगता है कि मैं इन्द्रियविजेता हो गया, किन्तु परमार्थदर्शी एव मन की हलचलो का भली-भाँति ज्ञाता न होने के कारण वह जरा से परीषहो के झोंके आते ही सयम से डगमगाने लगता है, मन पुन इन्द्रियविषयो की ओर दौडने को ललचाता है। इस प्रकार उस साधक की सयम मे निष्ठा शिथिल हो जाती है, सयम के प्रति उसकी अरुचि हो जाती है और असयम की ओर उसकी रुचि ढलने लगती है, उसकी भाव-समाधि अपना स्थान छोडकर भागने लगती है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'अरइ रइ च अभिभूय वा तितिक्खएज्जा। विषयो मे अनासक्त साधु को भावसमाधि प्राप्त करने के लिए सयम जो अरुचि हो रही है, उसे हटा देना चाहिए और असयम की ओर झुकाव को भी मोड देना चाहिए। यानी उसे अपने मन को ऐसे साध लेना चाहिए कि जो भी परीषह आए, उन्हे निर्जरा का कारण जानकर समभावपूर्वक सहे। यह सोचे कि मेरे लिए सहज ही कर्मक्षय करने का अवसर आ गया है। ऐसा सोचकर न सर्दी से घबराए और न गर्मी से, न घास आदि के स्पर्श से मन मे अरुचि हो और न ही दश-मशक आदि के तीखे स्पर्श से बेचैनी हो। नाक मे सुगन्ध आए या दुर्गन्ध, आँखो के सामने सुरूप आये या कुरूप, कानो से कर्णप्रिय शब्द टकराएँ या कर्णकटु, दोनो स्थितियो मे समभाव से रहे, न राग करे, न द्वेष। अगर एक पर राग किया तो दूसरे पर द्वेष (घृणा या अरुचि) अवश्य होगा। इसी प्रकार जो भी परीषह आएँ उन पर समभाव से, रागद्वेषरहित होकर सोचे। तभी भाव-समाधि का सच्चा आनन्द साधु को प्राप्त होगा।

मूल पाठ

गुत्तो वईए य समाहिपत्तो, लेस समाहट्टु परिव्वएज्जा ।
गिह न छाए, न वि छायएज्जा, समिस्सभाव पयहे पयासु ॥१५॥

सस्कृत छाया

गुप्तो वाचा च समाधि प्राप्तो, लेश्या समाहृत्य परिव्रजेत् ।
गृह न छदेन्नाऽपि छादयेत्, समिश्रभाव प्रजह्यात् प्रजासु ॥१५॥

अन्वयार्थ

(वईए य गुत्तो) जो साधु वचन से गुप्त रहता है, समझ लो (समाहिपत्तो)

व्याख्या

नि सन्देह वह साधु समाधिप्राप्त है

इस गाथा मे शास्त्रकार ने मैथुन और परिग्रह से निवृत्त साधक को समाधिप्राप्त बताया है। चाहे जैसा भी एकान्त स्थान हो, चाहे मनोहर ललनाएँ उससे सहवास की प्रार्थना कर रही हो, वह एकाकी हो, कोई तीसरा देखता न हो, फिर भी ब्रह्मचर्यनिष्ठ साधक किसी देवी, मानुषी या तिर्यञ्च नारी के साथ न तो सहवास करेगा, न ही उसके साथ कामचेष्टा करेगा, और न ही स्त्रियो के कटाक्ष, हावभाव, रमणीय अग, नेत्र आदि से मोहित होकर मन मे विकारभाव लाएगा, वह उसे माता-बहन मानकर अधोमुखी दृष्टि करके आगे चल देगा। इसी प्रकार जो साधक धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद आदि सजीव-निर्जीव किसी वस्तु पर अपना ममत्व स्थापित नही करता, न ही इन वस्तुओ की मन मे इच्छा करता है, बल्कि धर्मोपकरणो के प्रति भी ममता-मूर्च्छा नहीं रखता। तथा उत्कृष्ट विषयो पर जिसका राग और निकृष्ट विषयो पर द्वेष नही है, तथा जो विशिष्ट उपदेश देकर प्राणियो की रक्षा करता है, वह मूल-उत्तर-गुणो से युक्त साधु वास्तव मे भाव-समाधि को प्राप्त है। अथवा निस्ससय का अर्थ 'नि सश्रय' भी हो सकता है, अर्थात्—नाना प्रकार के विषयो का जो सश्रय—सेवन नही करता है, वही साधु भाव-समाधि को प्राप्त है।

मूल

अरइ रइं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफास तह सीयफासं ।
उण्ह च दस चऽहियासएज्जा, सुब्भि व दुब्भि व तितिक्खएज्जा ॥१४॥

[संस्कृत छाया]

अरतिं रतिं चाभिभूय भिक्षुस्तृणादिस्पर्श तथा शीतस्पर्शम् ।
उष्णञ्च दश चाधिसहेत, सुरभि च दुरभि च तितिक्षयेत् ॥१४॥

[अन्वयार्थ]

(भिक्खू) साधु (अरइ रइ च अभिभूय) सयम मे अरति अर्थात् खेद तथा [असयम] मे रति यानी राग को जीतकर (तणाइफास तह सीयफास उण्ह च दस चऽहियासएज्जा) तृण आदि का स्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श एव दश-मशक के स्पर्श को सहन करे, (सुब्भि व दुब्भि व तितिक्खएज्जा) तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी सहन करे।

[भावार्थ]

साधु सयम में खेद एव असयम मे प्रीति को जीतकर तथा तृण

आदि का स्पर्श तथा शीत-उष्ण स्पर्श, और दश-मशक के स्पर्श को सहन करे, तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी समभाव से सहे।

व्याख्या

विषयो मे अनासक्त साधु भावसमाधि कैसे पाए ?

इस गाथा मे यह बताया गया है कि विषयो मे अनासक्त साधु को भावसमाधि कैसे प्राप्त हो सकती है ? जो साधु पचेन्द्रियविषयो से अनासक्त हो जाता है, तब वह यह समझने लगता है कि मैं इन्द्रियविजेता हो गया, किन्तु परमार्थदर्शी एव मन की हलचलो का भली-भाँति ज्ञाता न होने के कारण वह जरा से परीषहो के झोके आते ही सयम से डगमगाने लगता है, मन पुन इन्द्रियविषयो की ओर दौडने को ललचाता है। इस प्रकार उस साधक की सयम मे निष्ठा शिथिल हो जाती है, सयम के प्रति उसकी अरुचि हो जाती है और असयम की ओर उसकी रुचि ढलने लगती है, उसकी भाव-समाधि अपना स्थान छोडकर भागने लगती है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'अरइ रइ च अभिभूय वा तितिक्खएज्जा। विषयो मे अनासक्त साधु को भावसमाधि प्राप्त करने के लिए सयम जो अरुचि हो रही है, उसे हटा देना चाहिए और असयम की ओर झुकाव को भी मोड देना चाहिए। यानी उसे अपने मन को ऐसे साध लेना चाहिए कि जो भी परीषह आएँ, उन्हें निर्जरा का कारण जानकर समभावपूर्वक सहे। यह सोचे कि मेरे लिए सहज ही कर्मक्षय करने का अवसर आ गया है। ऐसा सोचकर न सर्दी से घबराए और न गर्मी से, न घास आदि के स्पर्श से मन मे अरुचि हो और न ही दश-मशक आदि के तीखे स्पर्श से बेचैनी हो। नाक मे सुगन्ध आए या दुर्गन्ध, आँखो के सामने सुरूप आये या कुरूप, कानो से कर्णप्रिय शब्द टकराएँ या कर्णकटु, दोनो स्थितियो मे समभाव से रहे, न राग करे, न द्वेप। अगर एक पर राग किया तो दूसरे पर द्वेप (घृणा या अरुचि) अवश्य होगा। इसी प्रकार जो भी परीषह आएँ उन पर समभाव से, रागद्वेपरहित होकर सोचे। तभी भाव-समाधि का सच्चा आनन्द साधु को प्राप्त होगा।

मूल पाठ

गुत्तो वईए य समाहिपत्तो, लेस समाहट्टु परिव्वएज्जा ।
गिह न छाए, न वि छायएज्जा, समिस्सभाव पयहे पयासु ।।१५।।

सस्कृत छाया

गुप्तो वाचा च समाधि प्राप्तो, लेश्या समाहृत्य परिव्रजेत् ।
गृह न छदेन्नाऽपि छादयेत्, समिश्रभाव प्रजह्यात् प्रजासु ।।१५।।

अन्वयार्थ

(वईए य गुत्तो) जो साधु वचन से गुप्त रहता है, समझ लो (समाहिपत्तो)

व्याख्या

नि सन्देह वह साधु समाधिप्राप्त है

इस गाथा मे शास्त्रकार ने मैथुन और परिग्रह से निवृत्त साधक को समाधिप्राप्त बताया है। चाहे जैसा भी एकान्त स्थान हो, चाहे मनोहर ललनाएँ उससे सहवास की प्रार्थना कर रही हो, वह एकाकी हो, कोई तीसरा देखता न हो, फिर भी ब्रह्मचर्यनिष्ठ साधक किसी देवी, मानुषी या तिर्यञ्च नारी के साथ न तो सहवास करेगा, न ही उसके साथ कामचेष्टा करेगा, और न ही स्त्रियो के , हावभाव, रमणीय अग, नेत्र आदि से मोहित होकर मन मे विकारभाव लाएगा, वह उसे माता-बहन मानकर अधोमुखी दृष्टि करके आगे चल देगा। इसी प्रकार जो साधक धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद आदि सजीव-निर्जीव किसी वस्तु पर अपना ममत्व स्थापित नही करता, न ही इन वस्तुओ की मन मे इच्छा करता है, बल्कि धर्मोपकरणो के प्रति भी ममता-मूर्च्छा नहीं रखता। तथा उत्कृष्ट विषयो पर जिसका राग और निकृष्ट विषयो पर द्वेष नही है, तथा जो विशिष्ट उपदेश देकर प्राणियो की रक्षा करता है, वह मूल-उत्तर-गुणो से युक्त साधु वास्तव मे भाव-समाधि को प्राप्त है। अथवा निस्ससय का अर्थ 'नि सश्रय' भी हो सकता है, अर्थात्—नाना प्रकार के विषयो का जो सश्रय—सेवन नही करता है, वही साधु भाव-समाधि को प्राप्त है।

मूल

अरइ रइं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफास तह सीयफासं ।
उण्ह च दस चऽहियासएज्जा, सुब्भि व दुब्भि व तिति एज्जा ॥१४॥

स छाया

अरतिं रतिं चाभिभूय भिक्षुस्तृणादिस्पर्श तथा शीतस्पर्शम् ।
उष्णञ्च दश चाधिसहेत, सुरभिं च दुरभिं च तितिक्षयेत् ॥१४॥

अन्

(**भिक्खू**) साधु (**अरइ रइ च अभिभूय**) सयम मे अरति अर्थात् खेद तथा मे रति यानी राग को जीतकर (**तणाइफास तह सीयफास उण्ह च दस चऽहियासएज्जा**) तृण आदि का स्पर्श, शीतस्पर्श, उ एव दश-मशक के स्पर्श को सहन करे, (**सुब्भि व दुब्भि व तितिक्खएज्जा**) तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी सहन करे।

भावार्थ

साधु सयम मे खेद एव असयम मे प्रीति को जीतकर तथा तृण

आदि का स्पर्श तथा शीत-उष्ण स्पर्श, और दश-मशक के स्पर्श को सहन करे, तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी समभाव से सहे।

व्याख्या

विषयो मे अनासक्त साधु भावसमाधि कैसे पाए ?

इस गाथा मे यह बताया गया है कि विषयो मे अनासक्त साधु को भावसमाधि कैसे प्राप्त हो सकती है ? जो साधु पचेन्द्रियविषयो से अनासक्त हो जाता है, तब वह यह समझने लगता है कि मै इन्द्रियविजेता हो गया, किन्तु परमार्थदर्शी एव मन की हलचलो का भली-भाँति ज्ञाता न होने के कारण वह जरा से परीषहो के झोके आते ही सयम से डगमगाने लगता है, मन पुन इन्द्रियविषयो की ओर दौडने को ललचाता है। इस प्रकार उस साधक की सयम मे निष्ठा शिथिल हो जाती है, सयम के प्रति उसकी अरुचि हो जाती है और असयम की ओर उसकी रुचि ढलने लगती है, उसकी भाव-समाधि अपना स्थान छोडकर भागने लगती है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'अरइ रइ च अभिभूय वा तितिक्खएज्जा। विषयो मे अनासक्त साधु को भावसमाधि प्राप्त करने के लिए सयम जो अरुचि हो रही है, उसे हटा देना चाहिए और असयम की ओर झुकाव को भी मोड देना चाहिए। यानी उसे अपने मन को ऐसे साध लेना चाहिए कि जो भी परीषह आए, उन्हें निर्जरा का कारण जानकर समभावपूर्वक सहे। यह सोचे कि मेरे लिए सहज ही कर्मक्षय करने का अवसर आ गया है। ऐसा सोचकर न सर्दी से घबराए और न गर्मी से, न घास आदि के स्पर्श से मन मे अरुचि हो और न ही दश-मशक आदि के तीखे स्पर्श से बेचैनी हो। नाक मे सुगन्ध आए या दुर्गन्ध, आँखो के सामने सुरूप आये या कुरूप, कानो से कर्णप्रिय शब्द टकराएँ या कर्णकटु, दोनो स्थितियो मे समभाव से रहे, न राग करे, न द्वेष। अगर एक पर राग किया तो दूसरे पर द्वेष (घृणा या अरुचि) अवश्य होगा। इसी प्रकार जो भी परीषह आएँ उन पर समभाव से, रागद्वेषरहित होकर सोचे। तभी भाव-समाधि का सच्चा आनन्द साधु को प्राप्त होगा।

मूल पाठ

गुत्तो वईए य समाहिपत्तो, लेस समाहट्टु परिव्वएज्जा ।
गिह न छाए, न वि छायएज्जा, समिस्सभाव पयहे पयासु ।।१५।।

सस्कृत छाया

गुप्तो वाचा च समाधि प्राप्तो, लेश्या समाहृत्य परिव्रजेत् ।
गृह न छदेन्नाऽपि छादयेत्, समिश्रभाव प्रजह्यात् प्रजासु ।।१५।।

अन्वयार्थ

(वईए य गुत्तो) जो साधु वचन से गुप्त रहता है, समझ लो (समाहिपत्तो)

वही समाधि को प्राप्त है। (लेस्स समाहट्टु परिव्वएज्जा) साधु शुद्ध लेश्या को ग्रहण करके सयम मे प्रगति करे। (गिह न छाए, न वि छायएज्जा) साधु घर न छावे, और न दूसरे से छवावे। (समिस्सभाव पयहे पयासु) साधु स्त्रियो से मिलना-जुलना या ससर्ग छोड।

भावार्थ

जो साधु वचन से गुप्त रहता है, समझ लो, वह भावसमाधि को प्राप्त है। साधु शुद्ध लेश्या को ग्रहण करके सयम का अनुष्ठान करे। वह घर को न स्वय छाए और न ही दूसरो से छवाए। तथा स्त्रियो से मेल-जोल या सम्पर्क न करे।

व्याख्या

समाधिप्राप्त के कुछ लक्षण

इस गाथा मे समाधिप्राप्त साधक को पहचानने के लिए कुछ बाह्य चिह्न बताए हैं—(१) वचन से गुप्त हो (२) शुद्ध लेश्या को ग्रहण करके चलता हो, (३) घर को छाने व छवाने के प्रपच से दूर हो, (४) स्त्रियो से मेलजोल न रखे। वास्तव मे भावसमाधि के लिए ये चारो बाते अत्यन्त उपयोगी हैं। जो अधिक बोलेगा, दूसरो से गपशप लगाने मे समय खोएगा वह समाधि को खो देगा, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना का समय गँवाकर, वह समाधि को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? फिर अधिक बोलने से या सोच-विचारकर धर्मयुक्तवाणी न बोलने या असम्बद्ध बोलने से सुननेवाले के मन मे कलह, विवाद, झगडा, वैमनस्य एव ईर्ष्या-द्वेष पैदा हो जाने का अदेशा है। कोई कह सकता है कि मौन तो गूगे या तिर्यञ्च पशु आदि रखते है, क्या वे समाधि प्राप्त कर लेगे ? इसके उत्तर मे ही शास्त्रकार कहते हैं—लेस समाहट्टु परिव्वएज्जा— जो विचारपूर्वक शुद्ध लेश्यासहित मौन रखता है, या वचनगुप्ति से रहता है, सयम मे प्रवृत्ति करता है, वही समाधिभाव पा सकता है, जिसके मौन के साथ क्रूर लेश्या है, या सयम का कोई विचार नही है, उसका मौन अनर्थक है। साथ ही जब साधु घरबार छोडकर अनगार बन गया है, गृहस्थो के द्वारा अपने उपयोग के लिए बनाये गये मकान मे कुछ समय के लिए रहता है, तब उसे घर को छाने-छवाने के प्रपच की जरूरत ही क्या है ? घर को छाने-छवाने या लीपने-पोतने की तो उसे जरूरत होती है, जिसे घर बसाना हो, स्थायीरूप से रहना हो, अपने स्वामित्व का मकान बनाना हो, यह सब साधु के लिए अनावश्यक एव अकल्पनीय है। तथा स्त्रियो के साथ भी मेलजोल करके साधु को क्या लेना-देना है ? बल्कि उनके साथ अधिक घुलने-मिलने से ब्रह्मचर्य को उसी तरह खतरा है, जैसे घी के पास आग के रहने से घी के पिघल जाने या फुक जाने

का खतरा है। दीक्षा लेकर रसोई पकाने-पकवाने आदि क्रियाओ मे पडने से स्त्रियो के साथ जो मेलजोल होता है, वह सयम के लिए खतरनाक है। अत इन चारो बातो से जो साधक सम्पन्न हो, उसे ही समाधिप्राप्त साधक समझो।

मूल

जे केइ लोगमि उ अकिरियआया, अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसति ।
आरंभसत्ता गढिया य लोए, धम्मं ण जाणंति विमुक्खहेउ ॥१६॥

सस्कृत छाया

ये केऽपि लोके त्वक्रियात्मानोऽन्येन पृष्ठा धुतमादिशन्ति ।
आरम्भसक्ताः गृद्धाश्च लोके, धर्मं न जानन्ति विमोक्षहेतुम् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(लोगमि उ जे केइ अकिरियआया) इस लोक मे जो लोग आत्मा को क्रिया-रहित मानते हैं, (अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसति) और दूसरे के पूछने पर मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं, (आरभसत्ता लोएगढिया) वे आरम्भ मे आसक्त है और विषय-भोगो मे गृद्ध हैं। (विमुक्खहेउ धम्म ण जाणति) वे लोग मोक्ष के कारणरूप धर्म को नही जानते।

भावार्थ

इस लोक मे जो आत्मा को क्रियारहित (अक्रिय) मानते है, और दूसरे के पूछने पर मोक्ष का अस्तित्व बतलाते हैं, वे लोग आरम्भ मे आसक्त और विषयभोगो (दुनियादारी के झमेले) मे गृद्ध हो रहे है। वे मोक्ष के कारणरूप धर्म को नही जानते।

व्याख्या

मोक्ष के सम्बन्ध मे अस्पष्ट लोग दर्शनसमाधि से दूर

साख्यदर्शन आदि के प्ररूपक कुछ मतवादी लोग आत्मा को क्रियारहित मानते है। उनका माना हुआ आत्मा[1] सर्वव्यापी, अकर्ता (निष्क्रिय) निर्गुण और भोक्ता है। मूलपाठ में 'उ (तु) शब्द प्रयुक्त है, वह आत्मा की विशेषता का सूचक है। अर्थात् आत्मा जैसे अक्रिय है, वैसे अमूर्त भी है, क्योकि वह दिखाई नही देता, तथा वह छोटे-बडे सभी पदार्थों मे रहता है, इसलिए सर्वव्यापक है। इस कारण वह स्वय अकर्ता प्रतीत होता है। साख्यवादी की इस मान्यता के अनुसार क्रियारहित आत्मा मे बन्ध और मोक्ष कथमपि घटित नही हो सकते। किन्तु उनसे यह सवाल पूछने पर कि अक्रिय आत्मा के बन्ध और मोक्ष कैसे होते हैं ? वे कथचित कुटिल-

---

१ जैसे कि कहा है—'अकर्ता, निर्गुणो भोक्ता आत्मा कापिलदर्शने।'

मार्ग का आश्रय लेकर अक्रियावाद-सिद्धान्त मे भी आत्मा के बन्ध और मोक्ष का अस्तित्व बताते है। परन्तु वे अज्ञजीव बन्धमोक्ष का स्वरूप जानते तो बन्ध के कारण-भूत आरम्भ एव विषयो मे आसक्त क्यो होते ? वे अहिंसाधर्म को मोक्ष का कारण मानते तो हिंसाजनक आरम्भो—विविध आरम्भो मे क्यो प्रवृत्त होते हैं ? परन्तु देखा जाता है कि साख्यमतवादी बन्धन-मोक्ष के विषय मे केवल गाल बजाते है, बन्ध के कारणो से दूर होकर मोक्ष के कारणो मे प्रवृत्ति नही करते। क्योकि वे रसोई पकाने-पकवाने आदि की क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं, हरी वनस्पति का छेदन-भेदन करते है, कच्चे (सचित्त) पानी का उपयोग पीने, रसोई बनाने व स्नान आदि मे करते हैं। इस प्रकार सावद्य कार्यो मे प्रवृत्त साख्यवादी श्रुत-चारित्ररूप धर्म मोक्षमार्ग को नही जानते।

मूल पाठ

पुढो य छंदा इह माणवा उ, किरियाकिरिय च पुढो य वाय।
जायस्स बालस्स पकुव्व देह, पवड्ढई वेरमसजयस्स ॥१७॥

सस्कृत छाया

पृथक् छन्दा इह मानवास्तु, क्रियाऽक्रिय पृथक्वादम्।
जातस्य बालस्य प्रकृत्य देह, प्रवर्धते वैरमसयतस्य ॥१७॥

अन्वयार्थ

(इह माणवा उ पुढो छदा) इस ससार मे मनुष्यो की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती है, (किरियाकिरिय च पुढो य वाय) इसलिए कोई क्रियावाद को मानते है और कोई उससे भिन्न अक्रियावाद को। (जातस्स बालस्स पकुव्व देह) वे जन्मे हुए (सद्य जात) बालक के शरीर को काटकर अपना सुख पैदा करते है, (असजयस्स वेर पवड्ढई) वस्तुत ऐसे असयमी व्यक्ति का वैर (प्राणियो के साथ) बढता जाता है।

भावार्थ

जगत् मे मनुष्यो की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती है। इस कारण कोई क्रियावाद को मानता है तो कोई उससे विपरीत अक्रियावाद को। तथा कोई ताजे जन्मे हुए बच्चे के शरीर को काटकर अपना सुख मानते है, वस्तुत ऐसे असयमी लोग दूसरो के साथ वैर ही बढाते हैं।

व्याख्या

अज्ञानमूलक मतो के एकान्त आश्रय से समाधि नहीं

इस विश्व मे भिन्न-भिन्न रुचियो के मनुष्य हैं। इसी कारण कोई एकान्त क्रियावाद को मानते है और कोई एकान्त अक्रियावाद को। क्रियावादी कहते हैं कि पुरुषो को क्रिया ही फल देती है, ज्ञान नही, क्योकि स्त्री, भोज्यपदार्थ एव भोगो

की वस्तुओं के ज्ञान-मात्र से कोई सुखी नही होता।[1] इस प्रकार क्रियावादी क्रिया को ही फलदायी मानकर एकान्त क्रियावाद का आश्रय लेते हैं। इसके विपरीत अक्रियावादी अपना ही राग अलापते है। इसका स्वरूप आगे चलकर बताया जाएगा। कहने का आशय यह है कि इस ससार मे नाना प्रकार की रुचि वाले मनुष्य है। कोई एकान्त क्रियावाद का आश्रय लेकर मोक्ष की प्ररूपणा करते है और कोई अक्रियावाद को लेकर, परन्तु दोनो ही एकान्तवादी है, मोक्ष का स्वरूप दोनो ही सम्यक्-रूप से नही जानते। कई तो आरम्भ मे आसक्त और इन्द्रियो के गुलाम बनकर सुख-शान्ति एव सम्मान-प्रतिष्ठा की लालसा से सुख की इच्छा मे युक्त, हिताहित विवेकविकल, तुरन्त जन्मे हुए बालक के शरीर को काटकर टुकडे-टुकडे करके आनन्द मनाते हैं। इस प्रकार दूसरो को पीडा देने वाली क्रिया करने वाला तथा किसी भी पाप से अनिवृत्त असयती जीव उन प्राणियो के साथ सैकडो जन्मो तक चलने वाले पारस्परिक वैर को बढाता है। यहाँ 'जायस्स बालस्स पकुव्व देह' के बदले 'जायाए बालस्स पगब्भणाए' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ है—दयारहित तथा हिंसादि कार्यो मे प्रवृत्त अज्ञानी जीव की जो हिंसावाद मे धृष्टता है, उससे प्राणियो के साथ उसका वैर ही बढता है।

मूल पाठ

आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाति से साहसकारि मदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्ठेसु मूढे अजरामरेव ॥१८॥

सस्कृत छाया

आयु क्षय चैवाबुध्यमान ममेति स साहसकारी मन्द ।
अहनि च रात्रौ परितप्यमान अर्थेषु मूढोऽजरामर इव ॥१८॥

अन्वयार्थ

(आउक्खय चेव अबुज्झमाणे) आरम्भ मे आसक्त पुरुष आयुष्य क्षय होना नही जानता, (ममाति से साहसकारि मदे) किन्तु वह मूर्ख वस्तुओ पर ममता करता हुआ पापकर्म करने का साहस करता है। (अहो य राओ परितप्पमाणो) वह रात-दिन चिन्ता मे सतप्त रहता है, (अजरामरेव अट्ठेसु मूढे) वह मूढ अपने को अजर-अमर की तरह मानता हुआ धन मे आसक्त रहता है।

भावार्थ

आरम्भ मे आसक्त अज्ञानी जीव यह नही समझता कि एक दिन यह आयुष्य समाप्त हो जाएगी, बल्कि वह विवेकमूढ वस्तुओ पर ममत्व करता

---

१ क्रियैव फलदा पुसा, न ज्ञान फलद मतम् ।
यत स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥

मार्ग का आश्रय लेकर अक्रियावाद-सिद्धान्त मे भी आत्मा के बन्ध और मोक्ष का अस्तित्व बताते है। परन्तु वे अज्ञजीव बन्धमोक्ष का स्वरूप जानते तो बन्ध के कारण-भूत आरम्भ एव विपयो मे आसक्त क्यो होते ? वे अहिंसाधर्म को मोक्ष का कारण मानते तो हिंसाजनक आरम्भो—विविध आरम्भो मे क्यो प्रवृत्त होते हैं ? परन्तु देखा जाता है कि साख्यमतवादी बन्धन-मोक्ष के विपय मे केवल गाल बजाते है, बन्ध के कारणो से दूर होकर मोक्ष के कारणो मे प्रवृत्ति नही करते। क्योकि वे रसोई पकाने-पकवाने आदि की क्रिया गे प्रवृत्त होते है, हरी वनस्पति का छेदन-भेदन करते हैं, कच्चे (सचित्त) पानी का उपयोग पीने, रसोई बनाने व स्नान आदि मे करते हैं। इस प्रकार सावद्य कार्यो मे प्रवृत्त साख्यवादी श्रुत-चारित्ररूप धर्म मोक्षमार्ग को नही जानते।

मूल पाठ

पुढो य छंदा इह माणवा उ, किरियाकिरिय च पुढो य वाय।
जायस्स बालस्स पकुव्व देह, पवड्ढई वेरमसजयस्स ॥१७॥

स छाया

पृथक् छन्दा इह मानवास्तु, क्रियाऽक्रिय पृथक्वादम् ।
जातस्य बालस्य प्रकृत्य देह, प्रवधते वैरमसयतस्य ॥१७॥

अन्वयार्थ

(इह माणवा उ पुढो छदा) इस ससार मे मनुष्यो की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती है, (किरियाकिरिय च पुढो य वाय) इसलिए कोई क्रियावाद को मानते है और कोई उससे भिन्न अक्रियावाद को। (जातस्स बालस्स पकुव्व देह) वे जन्मे हुए (सद्य जात) बालक के शरीर को काटकर अपना सुख पैदा करते है, (असजयस्स वेर पवड्ढई) वस्तुत ऐसे असयमी व्यक्ति का वैर (प्राणियो के साथ) बढता जाता है।

र्थ

जगत् मे मनुष्यो की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इस कारण कोई क्रियावाद को मानता है तो कोई उससे विपरीत अक्रियावाद को। तथा कोई ताजे जन्मे हुए बच्चे के शरीर को काटकर अपना सुख मानते है, वस्तुत ऐसे असयमी लोग दूसरो के साथ वैर ही बढाते हैं।

व्याख्या

अज्ञान मतो के एकान्त आश्रय से समाधि नहीं

इस विश्व मे भिन्न-भिन्न रुचियो के मनुष्य हैं। इसी कारण कोई एकान्त क्रियावाद को मानते हैं और कोई एकान्त अक्रियावाद को। क्रियावादी कहते है कि पुरुषो को क्रिया ही फल देती है, ज्ञान नही, क्योकि स्त्री, भोज्यपदार्थ एव भोगो

की वस्तुओ के ज्ञान-मात्र से कोई सुखी नही होता ।[1] इस प्रकार क्रियावादी क्रिया को ही फलदायी मानकर एकान्त क्रियावाद का आश्रय लेते है। इसके विपरीत अक्रियावादी अपना ही राग अलापते है। इसका स्वरूप आगे चलकर बताया जाएगा। कहने का आशय यह है कि इस ससार मे नाना प्रकार की रुचि वाले मनुष्य है। कोई एकान्त क्रियावाद का आश्रय लेकर मोक्ष की प्ररूपणा करते है और कोई अक्रियावाद को लेकर, परन्तु दोनो ही एकान्तवादी है, मोक्ष का स्वरूप दोनो ही सम्यक्-रूप से नही जानते। कई तो आरम्भ मे आसक्त और इन्द्रियो के गुलाम बनकर सुख-शान्ति एव सम्मान-प्रतिष्ठा की लालसा से सुख की इच्छा से युक्त, हिताहित विवेकविकल, तुरन्त जन्मे हुए बालक के शरीर को काटकर टुकडे-टुकडे करके आनन्द मनाते है। इस प्रकार दूसरो को पीडा देने वाली क्रिया करने वाला तथा किसी भी पाप से अनिवृत्त असयती जीव उन प्राणियो के साथ सैकडो जन्मो तक चलने वाले पारस्परिक वैर को बढाता है। यहाँ 'जायस्स बालस्स पकुव्व देह' के बदले 'जायाए बालस्स पगब्भणाए' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ है—दयारहित तथा हिंसादि कार्यों मे प्रवृत्त अज्ञानी जीव की जो हिंसावाद मे धृष्टता है, उससे प्राणियो के साथ उसका वैर ही बढता है।

मूल पाठ

आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाति से साहसकारि मदे ।
अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्ठेसु मूढे अजरामरेव्व ॥१८॥

सस्कृत छाया

आयु क्षय चैवाबुध्यमान ममेति स साहसकारी मन्द ।
अहनि च रात्रौ परितप्यमान अर्थेषु मूढोऽजरामर इव ॥१८॥

अन्वयार्थ

(आउक्खय चेव अबुज्झमाणे) आरम्भ मे आसक्त पुरुष आयुष्य क्षय होना नही जानता, (ममाति से साहसकारि मदे) किन्तु वह मूर्ख वस्तुओ पर ममता करता हुआ पापकर्म करने का साहस करता है। (अहो य राओ परितप्पमाणे) वह रात-दिन चिन्ता मे सतप्त रहता है, (अजरामरेव्व अट्ठेसु मूढे) वह मूढ अपने को अजर-अमर की तरह मानता हुआ धन मे आसक्त रहता है।

भावार्थ

आरम्भ मे आसक्त अज्ञानी जीव यह नही समझता कि एक दिन यह आयुष्य समाप्त हो जाएगी, बल्कि वह विवेकमूढ वस्तुओ पर ममत्व करता

---

1 क्रियैव फलदा पुसा, न ज्ञान फलद मतम् ।
यत स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥

हुआ दिन-रात नाना प्रकार की चिन्ताओ से बेचैन रहता है। वह अपने आपको अजर-अमर समझता हुआ धन मे आसक्त रहता है।

व्याख्या

इन्हे किसी प्रकार की समाधि प्राप्त नहीं होती

इस गाथा मे ऐसे लोगो का उल्लेख शास्त्रकार ने किया है, जिन्हे द्रव्य-समाधि भी प्राप्त नही होती, भावसमाधि तो बहुत दूर की बात है। ऐसे लोग समाधि से कोसो दूर रहते हैं।

जैसे तालाब का बाँध टूट जाने पर उससे निकलते हुए पानी को मछली नही जान पाती है, वैसे ही समाधि के शत्रु मूढ लोग अपनी आयु प्रतिदिन क्षीण हो रही है, इसे नही जानते।

एक बनिये ने बहुत परिश्रम करके पर्याप्त धन कमाया। उसने सोचा कि अगर राजा, चोर या मेरे भाइयो को पता लग गया तो वे इस धन को ले लेंगे। अत नगरी के बाहर इसे गाढ आऊँ। यह सोचकर धन की थैली लेकर चुपके से वह रात को चल पडा और उज्जयिनी नगरी के बाहर जाकर एक पेड के नीचे बैठ गया। वह वहाँ बैठा बैठा रातभर यही सोचता रहा कि इस धन को यहाँ गाढूं या नही, यदि नही गाढूंगा तो राजा आदि को पता लगने पर वे ले लेंगे। यहाँ धन गाढने से कही किसी ने देख लिया या किसी के हाथ पड गया तो मेरा सर्वस्व धन चला जायेगा। इसी उधेड बुन मे सारी रात बीत गई, उजाला होने लगा। धन गाढने की धुन मे ही वह गड्ढा खोद रहा था कि तभी राजपुरुष आ धमके। वे उसको चोर समझकर उसका सब धन छीनकर ले गए। जैसे उस बनिये ने धन की चिन्ता मे सोचते-सोचते रात्रि कब व्यतीत हो गई, यह नही जाना, इसी प्रकार धनासक्त मूढ लोग धन की धुन मे पडकर अपनी आयु का नष्ट होना नही जानते और आरम्भ-परिग्रह मे रात-दिन डूबे रहकर साहसपूर्वक पापकर्म करते रहते हैं। कई जीव मम्मण बनिये की तरह कामभोग के पिपासु होकर अहर्निश धन-उपार्जन के लिए चिन्तित और व्यग्र होते हुए आर्तध्यान करके शरीर को क्लेश देते रहते हैं। इसीलिए कहा है—

अजरामरवद् बाल क्लिश्यते धनकाम्यया।
शाश्वत जीवित चैव मन्यमानो धनानि च ॥

मैं अजर-अमर रहूँगा, इस आशा से अज्ञानी जीव धन की कामना से क्लेश पाता है। साथ ही वह अपनी जिंदगी और धन दोनो को शाश्वत मानता है। धनार्थी जीव अपने आपको अजर-अमर मानकर अहर्निश धन के पीछे दौड लगाता है, न खाने का ठिकाना है, न सोने का। धन की रक्षा के लिए जमीन खोदता है, कभी पहाड पर खोदता है। कही भी उसके चित्त को चैन नही। इस प्रकार हाय-हाय करते हुए

एक दिन मौत आ धमकती है और वह हाथ मलता रह जाता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी प्रकार की समाधि कैसे प्राप्त कर सकता है ?

जहाहि वित्तं पसवो य सव्व जे बंधवा जे य पिया य मित्ता ।
लालप्पई सेऽवि य एइ मोहं, अन्ने जणा तस्स हरंति वित्तं ॥१९॥

स ं ा

जहाहि वित्त च पशूश्च सर्वान् ये बान्धवा ये च प्रियाश्च मित्राणि ।
लालप्यते सोऽपि चैति मोहम् अन्येजनास्तस्य हरन्ति वित्तम् ॥१९॥

अन्वयार्थ

(वित्त सव्व पसवो य जहाहि) धन तथा समस्त पशु आदि का त्याग करो। (जे बंधवा जे य पिया य मित्ता) तथा जो बान्धव, प्रियजन एवं मित्र है, वे वस्तुतः कुछ भी उपकार नही करते। (सेऽवि लालप्पई) तथापि मनुष्य, पशु, प्रियजन आदि के लिए बार-बार शोकाकुल होकर प्रलाप करता है, (एइ य मोह) और मोह को प्राप्त होता है। (अन्ने जणा तस्स वित्त हरंति) उसके मरने पर उसके द्वारा अत्यन्त क्लेश से उपार्जन किये हुए उस धन को दूसरे लोग ही हड़प जाते हैं।

भावार्थ

धन और पशु आदि समस्त पदार्थों को छोडो। तथा जो बाधव है, प्रियजन हैं और मित्र हैं, वे वस्तुत कुछ भी उपकार नही करते, फिर भी मनुष्य इनके लिए विलाप करता है, मोहग्रस्त होता है। किन्तु उसके मर जाने पर उसका अत्यन्त क्लेश से कमाया हुआ सब धन दूसरे ही लोग हजम कर जाते हैं।

व्याख्या

ममत्व का पुतला समाधि नहीं पा सकता

इस गाथा मे ममता से पूर्ण मनुष्य की अधम एव क्लेशयुक्त दशा का वर्णन किया गया है। जो लोग यह समझते हैं कि धन, पशु, बन्धु-बान्धव, परिजन आदि से शान्ति, सुख और समाधि प्राप्त होती है, वे भ्रम मे हैं। शास्त्रकार ने उनकी अधम दशा का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया है। गुरुजनो द्वारा धन, पशु एव स्वजनो के प्रति ममत्व त्याग का बार-बार उपदेश देने पर भी उक्त भ्रान्ति के शिकार मोहीजन इनका ममत्व नही छोडते, बल्कि जो कुछ भी उपकार नही कर सकते, उनके लिए वह मोह करके बार-बार झूरता है, रोता है, मोहवश उनको सुख देने के लिए धन कमाता है। किन्तु कण्डरीक के समान रूपवान, मम्मण वणिक् की तरह धनवान और तिलकसेठ की तरह धान्यवान होने पर भी ऐसे मोही पुरुष

समाधि को नही प्राप्त कर सकते। बल्कि अत्यन्त दु ख से जो धन उसने कमाया था, उसे उसके मरते ही दूसरे लोग हडप जाते है, वह पछताता हुआ पापकर्म की गठडी सिर पर लिए हुए परलोक को विदा हो जाता हे। यह है ममत्व के पुतलो की समाधिहीन दशा ! यह जानकर साधक को इन सबके प्रति ममत्व एव पापकर्म का सर्वथा त्याग करके समाधिनिष्ठ बनना चाहिए।

मूल पाठ

सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता, दूरे चरती परिसकमाणा ।
एव तु मेहावी समिक्ख धम्म, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ।।२०।।

सस्कृत छाया

सिंह यथा क्षुद्रमृगाश्चरन्तो, दूरे चरन्ति परिशकमाना ।
एव तु मेधावी समीक्ष्य धर्म दूरेण पाप परिवर्जयेत् ।।२०।।

अन्वयार्थ

(चरता खुड्डमिगा सीह परिसकमाणा) वन मे विचरण करते हुए छोटे-छोटे मृग सिंह के भय के आशकित होते हुए (दूरे चरन्ती) दूर ही चरते है या विचरण करते है। (एव तु मेहावी धम्म समिक्ख) इसी प्रकारे बुद्धिमान साधक धर्म की रक्षा का विचार करके पाप से शकित हुए (पाव दूरेण परिवज्जएज्जा) पाप का दूर से ही त्याग कर दे।

भावार्थ

जैसे वन मे विचरते हुए छोटे मृग मृत्यु की आशका से सिंह से बहुत दूर चरते है या विचरते है, इसी तरह बुद्धिमान साधक धर्म की रक्षा का विचार करके पाप से शकित होकर दूर से ही पाप को तिलाजलि दे दे।

व्याख्या

समाधिप्रार्थी साधक पाप को पास न फटकने दे

शास्त्रकार एक दृष्टान्त द्वारा पाप से दूर रहने की बात समझाते हैं। जैसे मृग आदि छोटे-छोटे पशु अपने आहार की तलाश मे घूमते हुए अपना घात करने वाले सिंह से डरकर दूर-दूर विचरते हैं, वैसे ही मर्यादाशील मेधावी मुनि धर्म की घात वाले पाप की आशका से उससे मन-वचन काया से दूर ही रहे, पाप को पास न फटकने दे। अपना जीवन ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप धर्म के आचरण मे लगाए, तभी समाधि प्राप्त होगी।

मूल

सबुज्झमाणे उ णरे मतीम, पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइ दुहाइ मत्ता, वेराणुबधीणि महब्भयाणि ।।२१।।

स ं ा

सम्बुध्यमानस्तु नरो मतिमान् पापात्स्वात्मान निवर्तयेत् ।
हिंसाप्रसूतानि दु खानि मत्वा, वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥२१॥

अन्वयार्थ

(सबुज्झमाणे उ मतीम णरे) धर्म को सम्यक् प्रकार से समझने वाला बुद्धिमान साधक (अप्पाण पावाउ निवट्टएज्जा) अपनी आत्मा को पापकर्म से निवृत्त करे। (हिंसप्पसूयाइ वेराणुबधीणि महब्भयाइ दुहाइ मत्ता) हिंसा से उत्पन्न कर्म वैर बाँधने वाले है, वे महाभयोत्पादक है तथा दु ख देते है, यह मानकर हिंसा न करे।

भावार्थ

धर्म के तत्त्व को समझने वाला बुद्धिशाली पुरुष अपने आपको पाप से दूर रखे। क्योकि हिंसा से उत्पन्न पापकर्म जन्मजन्मान्तर तक वैर बधाने वाले होते है, वे अत्यन्त खतरनाक एव दु खदायी होते है, यह जानकर साधक हिंसा न करे।

व्याख्या

समाधिधर्मज्ञ हिंसादि पापो से दूर रहे

इस गाथा मे शास्त्रकार यह बताते है कि समाधिधर्म को समझने वाला साधक हिंसादि पापकर्मो से दूर रहे। ऐसे साधक के लिए दो विशेषण यहाँ प्रयुक्त किये गये हैं—सबुज्झमाणे मतीम अर्थात जो साधक प्रशसनीय बुद्धि से युक्त है, मुमुक्षु है, श्रुत-चारित्ररूप धर्म या भावसमाधिरूप धर्म को समझता है। वह शास्त्र-विहित कर्मो मे प्रवृत्त होने से पहले निषिद्ध कर्मो (पापो) का त्याग करे, यानी हिंसा, झूठ आदि पापकर्मो से अपने आपको अलग रखे। क्यो अलग रखे? इसके लिए कहते हैं—'हिंसप्पसूयाइ महब्भयाणि', क्योकि हिंसा से जन्य पापकर्म अत्यन्त भयानक, वैरपरम्परा बाधने वाले तथा दु खदायक होते हैं। अर्थात् हिंसा से सैकडो जन्मो तक प्राणियो के साथ वैर चलता है, वह नरक आदि महादु खमय स्थानो मे ले जाता है। वह पाप बहुत ही भयजनक है। यह जानकर साधक स्वय को पाप से दूर रखे। यहाँ 'निव्वाणभूएव्व परिव्वएज्जा' पाठान्तर भी है, जिसका भावार्थ है—जैसे युद्ध से लौटा हुआ पुरुष निवृत्त होकर किसी की हिंसा नही करता, वैसे सावद्यानुष्ठान से रहित पुरुष किसी की हिंसा न करे, सयम पालन मे प्रगति करे।

मूल पाठ

मुस न बूया मुणि अत्तगामी, णिव्वाणमेय कसिणं समाहिं ।
सय न कुज्जा न य कारवेज्जा, करंतमन्न पि य णाणुजाणे ॥२२॥

सस्कृत छाया

मृषा न ब्रूयान्मुनिराप्तगामी, निर्वाणमेतत् कृत्स्न समाधिम् ।
स्वय न कुर्यान् न च कारयेत्, कुर्वन्तमन्यमपि च नानुजानीयात् ॥२२॥

अन्वयार्थ

(अत्तगामी मुणि मुस न बूया) आप्त पुरुषो (सर्वज्ञो) के मार्ग पर चलने वाला मुनि झूठ न बोले । **(एय णिव्वाण कसिण समाहि)** यह असत्यभाषण का त्याग ही निर्वाण—मोक्ष है और यही भावसमाधि कही गई है । **(सय न ॰ , न य कारवेज्जा, मन्न पि य ण अणुजाणे)** साधु स्वय असत्य का तथा दूसरे महाव्रतो के अतिचारो—दोषो का स्वय सेवन न करे, दूसरे से सेवन न कराए, और इनका सेवन करते हुए अन्य व्यक्ति को भी अच्छा न समझे ।

भावार्थ

आप्त पुरुषो के मार्ग का अनुयायी साधु असत्य न बोले, क्योकि इस असत्यभाषण के त्याग को ही सम्पूर्ण भावसमाधि और मोक्ष कहा गया है । इसी तरह साधु हिंसा, झूठ आदि पापो या अन्य व्रतो के दोषो का सेवन स्वय न करे, दूसरे से सेवन न कराए और जो इनका सेवन करता हो उसे अच्छा न समझे ।

व्याख्या

असत्य एव अन्य पापो से दूर रहना ही सम्पूर्ण समाधि

इस गाथा मे समस्त पापो से दूर रहने को ही सम्पूर्ण समाधि या निर्वाण कहा गया है । साधक को असत्य आदि पापो का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग क्यो करना चाहिए ? इसके लिए शास्त्रकार कहते है—*'अत्तगामी ।'* आप्तगामी का अथ है—आप्त पुरुषो के बताए मार्ग पर चलने वाला । आप्त के अर्थ होते हैं– आप्त यानी मो ॰, या हितैषी, या वीतराग, रागादि दोष जिसके नष्ट हो गए हो, वह महापुरुष, अथवा सर्वज्ञ, उनके बताए मार्ग पर चलने वाला आप्तगामी है । आप्तगामी होने के कारण मुनि झूठ न बोले । असत्य-त्याग ही मोक्ष है, वही सम्पूर्ण भावसमाधि बताई है । स्नान-भोजन आदि से या शब्दादि विषयो के सेवन से जो सासारिक समाधि उत्पन्न होती है, वह निश्चित या आत्यन्तिक नही है, असम्पूर्ण है, जबकि यह समाधि निश्चित, आत्यन्तिक और सम्पूर्ण है । अत साधु असत्य आदि समस्त पापो को या व्रतो से सम्बन्धित अतिचारो (दोषो) का तीन करण और तीन योग से त्याग करे । तभी वह सम्पूर्ण समाधि का आराधक हो सकता है ।

मूल

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने ।
धितिम विमुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा ।।२३।।

संस्कृत छाया

शुद्धे स्याज्जाते न दूषयेत् अमूर्च्छितो न चाध्युपपन्न ।
धृतिमान् विमुक्तो न च पूजनार्थी, न श्लोककामी च परिव्रजेत् ।।२३।।

अन्वयार्थ

(सिया ` जाए न दूसएज्जा) उद्गमादि-दोपरहित शुद्ध आहार मिलने पर साधु राग-द्वेप करके चारित्र को दूपित न करे। (अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने) तथा उस आहार मे मूर्च्छित होकर बार-बार उसकी लालसा न रखे। (धितिम विमुक्के) साधु धृतिमान और बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त बने। (ण य पूयणट्ठी न य सिलोयगामी) साधु अपनी पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की कामना न करे। (परिव्वएज्जा) किन्तु शुद्ध सयम-पालन मे उद्यत रहे।

र्थ

उद्गमादि दोष से रहित शुद्ध आहार प्राप्त होने पर साधु राग-द्वेष-युक्त होकर चारित्र को दूषित न करे। तथा उत्तम आहार मे मूर्च्छित न हो और न ही बार बार वैसे आहार की लालसा रखे। साधु धैर्यवान् और बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त होकर रहे, तथा वह अपनी पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की अभिलाषा न रखते हुए शुद्ध सयम का पालन करे।

व्याख्या

आचारसमाधि के लिए क्या हेय उपादेय ?

साधु को आचारसमाधि के लिए कुछ बातें त्याज्य समझनी चाहिए और कुछ उपादेय। (१) यदि निर्दोष आहार प्राप्त हुआ हो तो उस आहार का सेवन करते समय राग-द्वेप न करे, क्योकि मनोज्ञ आहार के प्रति आसक्ति होगी, और अमनोज्ञ के प्रति घृणा होगी तो साधु अपने चारित्र को दूषित कर लेगा। (२) मनोज्ञ सरस आहार मे मूर्च्छित न हो, और न ही बार बार वैसे आहार की अभिलाषा करे। (३) अपनी पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की कामना न करे। (४) धृतिमान हो और (५) बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से विमुक्त हो।

इस दृष्टि से आचारसमाधि के लिए तीन बातें त्याज्य है, और दो बातें उपादेय हैं।

निर्दोप आहार का सेवन भी निर्दोप ढग से करे तो उसका निर्दोप आहार लाना सफल है। कहा भी है—

सस्कृत छाया

मृषा न ब्रूयान्मुनिराप्तगामी, निर्वाणमेतत् कृत्स्न समाधिम् ।
स्वय न कुर्यान् न च कारयेत्, कुर्वन्तमन्यमपि च नानुजानीयात् ॥२२॥

अन्वयार्थ

(अत्तगामी मुणि मुस न बूया) आप्त पुरुषो (सर्वज्ञो) के मार्ग पर चलने वाला मुनि झूठ न बोले। (एय णिव्वाण कसिण समाहिं) यह असत्यभाषण का त्याग ही निर्वाण—मोक्ष है और यही भावसमाधि कही गई है। (सय न , , न य कारवेज्जा, करतमन्न पि य ण अणुजाणे) साधु स्वय असत्य का तथा दूसरे महाव्रतो के अतिचारो—दोषो का स्वय सेवन न करे, दूसरे से सेवन न कराए, और इनका सेवन करते हुए अन्य व्यक्ति को भी अच्छा न समझे।

भावार्थ

सर्वज्ञ आप्त पुरुषो के मार्ग का अनुयायी साधु असत्य न बोले, क्योकि इस असत्यभाषण के त्याग को ही सम्पूर्ण भावसमाधि और मोक्ष कहा गया है। इसी तरह साधु हिसा, झूठ आदि पापो या अन्य व्रतो के दोषो का सेवन स्वय न करे, दूसरे से सेवन न कराए और जो इनका सेवन करता हो उसे अच्छा न समझे।

व्याख्या

असत्य एव अन्य पापो से दूर रहना ही सम्पूर्ण समाधि

इस गाथा मे समस्त पापो से दूर रहने को ही सम्पूर्ण समाधि या निर्वाण कहा गया है। साधक को आदि पापो का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग क्यो करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार कहते है—'अत्तगामी।' आप्तगामी का अर्थ है—आप्त पुरुषो के बताए मार्ग पर चलने वाला। आप्त के अर्थ होते है— आप्त यानी मोक्षमार्ग, या हितैषी, या वीतराग, रागादि दोष जिसके नष्ट हो गए हो, वह महापुरुष, अथवा सर्वज्ञ, उनके बताए मार्ग पर चलने वाला आप्तगामी है। आप्तगामी होने के कारण मुनि झूठ न बोले। असत्य-त्याग ही मोक्ष है, वही सम्पूर्ण भावसमाधि बताई है। स्नान-भोजन आदि से या शब्दादि विषयो के सेवन से जो सासारिक समाधि उत्पन्न होती है, वह निश्चित या आत्यन्तिक नही है, असम्पूर्ण है, जबकि यह समाधि निश्चित, आत्यन्तिक और सम्पूर्ण है। अत साधु असत्य आदि पापो को या व्रतो से सम्बन्धित अतिचारो (दोषो) का तीन करण और तीन योग से त्याग करे। तभी वह सम्पूर्ण समाधि का आराधक हो सकता है।

मूल

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने ।
धितिम विमुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा ॥२३॥

त छाया

शुद्धे स्याज्जाते न दूपयेत् अमूर्च्छितो न चाध्युपपन्न ।
धृतिमान् विमुक्तो न च पूजनार्थी, न श्लोककामी च परिव्रजेत् ॥२३॥

अन्वयार्थ

(सिया ेजाए न दूसएज्जा) उद्गमादि-दोपरहित शुद्ध आहार मिलने पर साधु राग-द्वेप करके चारित्र को दूषित न करे । (अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने) तथा उस आहार मे मूर्च्छित होकर बार-बार उसकी लालसा न रखे । (धितिम विमुक्के) साधु धृतिमान और बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त बने । (ण य पूयणट्ठी न य सिलोयगामी) साधु अपनी पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की कामना न करे । (परिव्वएज्जा) किन्तु शुद्ध सयम-पालन मे उद्यत रहे ।

भावार्थ

उद्गमादि दोष से रहित शुद्ध आहार प्राप्त होने पर साधु राग-द्वेष-युक्त होकर चारित्र को दूषित न करे । तथा उत्तम आहार मे मूर्च्छित न हो और न ही बार-बार वैसे आहार की लालसा रखे । साधु धैर्यवान् और वाह्याभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त होकर रहे, तथा वह अपनी पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की अभिलाषा न रखते हुए शुद्ध सयम का पालन करे ।

व्याख्या

आचारसमाधि के लिए क्या हेय उपादेय ?

साधु को आचारसमाधि के लिए कुछ बातें त्याज्य समझनी चाहिए और कुछ उपादेय । (१) यदि निर्दोप आहार प्राप्त हुआ हो तो उस आहार का सेवन करते समय राग-द्वेप न करे, क्योंकि मनोज्ञ आहार के प्रति आसक्ति होगी, और अमनोज्ञ के प्रति घृणा होगी तो साधु अपने चारित्र को दूषित कर लेगा । (२) मनोज्ञ सरस आहार मे मूर्च्छित न हो, और न ही बार-बार वैसे आहार की अभिलापा करे । (३) अपनी पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की कामना न करे । (४) धृतिमान हो और (५) वाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से विमुक्त हो ।

इस दृष्टि से आचारसमाधि के लिए तीन बातें त्याज्य हैं, और दो बातें उपादेय है ।

निर्दोप आहार का सेवन भी निर्दोष ढग से करे तो उसका निर्दोष आहार लाना सफल है । कहा भी है—

वायालीसेसणसकडमि गहणमि जीव ! न हु छलिओ ।
इण्हि जह न छलिज्जसि भुजतो रागदोसेहिं ॥

"हे जीव ! ब्यालीस दोपरूप गहन सकट मे तो तूने धोखा नही खाया, लेकिन अब उस भोजन को सेवन करते समय तू रागद्वेप करके धोखा नही खाएगा तो तेरा निर्दोष आहार लाना और करना सब सफल है ।" साथ ही सरस आहार मिलने पर साधु रागवश उसे बार-बार पाने की इच्छा न करे, किन्तु केवल सयम के निर्वाह के लिए यथाप्राप्त आहार करे । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अच्छा आहार मिलने पर प्राय ज्ञानी पुरुप की भी विशिष्ट अभिलापा हो जाती है, इसलिए र कहते है—'अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने' अर्थात् प्राप्त सरस आहार मे मूर्च्छित न हो और अप्राप्त सरस आहार की इच्छा न करे । किसी अनुभवी साधक ने कहा है—

भुत्तभोगो पुरा जोऽवि गीयत्थोऽवि य भाविओ ।
सतेसाहारमाईसु, सोऽवि खिप्प तु खुब्भइ ॥

—'जो मुक्त भोगी है, गीतार्थ है एव जो आत्म-भावना मे सदा प्रवृत्त रहता है । वह साधक भी उत्तम आहार प्राप्त होने पर शीघ्र उसकी आकाक्षा करने लगता है ।' बाकी जो हेय बातें हैं, वे भी स्पप्ट है और उपादेय भी स्पष्ट है ।

मूल पाठ

निक्खम्म गेहा उ निरा ी, कायं विउसेज्ज नियाणछिन्ने ।
णो जीविय णो मरणाभिकंखी, चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के ॥२४॥
॥त्ति बेमि॥

स ा

निष्क्रम्य गेहात्तु निरवकाक्षी, काय व्युत्सृजेच्छिन्ननिदान ।
नो जीवित, नो मरणावकाक्षी, चरेद् भिक्षुर्वलयाद् विमुक्त ॥२४॥
॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(गेहा उ निक्खम्म) साधु घर से निकलकर यानी दीक्षा धारण करके (नि ी) अपने जीवन मे निरपेक्ष हो जाय । (काय विउसेज्ज) तथा शरीर का व्युत्सर्ग करे, (नियाणछिन्ने) तथा अपने तप के फल की कामना (निदान) न करे, (वलया विमुक्के) ससार (दुनियादारी) के चक्कर से विमुक्त होकर (णो जीविय णो कखी चरेज्ज) वह जीवन और मरण की आकाक्षा न रखता हुआ विचरण करे ।

भावार्थ

प्रव्रज्या ग्रहण किया हुआ साधक अपने जीवन मे निरपेक्ष होकर रहे। वह शरीर पर से ममत्व का व्युत्सर्ग (त्याग) करे। तथा वह अपनी तपश्चर्या के फल की कामना (निदान) न करे तथा सासारिक झझटो से अलग रहकर जीने और मरने की इच्छा न रखता हुआ विचरण करे।

व्याख्या

आदर्श तप समाधि के पांच मूलमन्त्र

इस गाथा मे अध्ययन का उपसहार करते हुए शास्त्रकार तपस्या से प्राप्त होने वाली भावसमाधि का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए शास्त्रकार ने ५ मूलमन्त्र आदर्श तप समाधि के रूप मे प्रस्तुत किये है—(१) प्रव्रज्या ग्रहण करके साधु अपने जीवन मे निरपेक्ष हो जाय, (२) देह पर ममत्व का विसर्जन करे, (३) अपनी तपस्या के फल के रूप मे भोगाकाक्षा (निदान) न करे, (४) सासारिक झझटो से अलग रहे, और (५) न जीवन की आकाक्षा करे, न मृत्यु की। साधु अगर अपने मे किसी से कुछ अपेक्षा रखेगा तो उसकी अपेक्षा पूरी न होने पर उसे दु ख होगा, अपेक्षा पूरी हो गई तो लोभ और परावलम्बन बढेगा। इसलिए निरपेक्षता ही आदर्श समाधि का पहला मन्त्र है। दूसरा है—काय-व्युत्सर्ग। इसका अभ्यास हो जाने पर साधु कही भी कैसे भी निकृष्ट स्थान मे भी सतोष से रह सकता है। तीसरा मन्त्र है अपनी साधना के फलस्वरूप भोगाकाक्षा करना, सौदेबाजी है और यह सौदा भी घाटे का है। इसलिए साधु को निदान (नियाणा) से दूर रहना चाहिए। चौथा समाधिमन्त्र है—सासारिक झझटो से मुक्त रहे। वास्तव मे जब साधु सासारिक झझटो मे फँस जाता है, तब उसकी मानसिक शाति भग हो जाएगी, समाधि खतरे मे पड जाएगी। और पाँचवाँ मन्त्र है—जीवन-मरण की आकाक्षा से रहित होना। जब साधक अधिक जीने की या कष्ट आने पर जल्दी मरने की आकाक्षा करेगा तो उससे कर्मक्षय के बजाय कर्मबन्धन ही अधिक होगा। इसलिए वह पाँचवाँ मन्त्र भी उत्तम है। इस प्रकार आदर्श तप समाधि के ५ मूलमन्त्रो के अनुसार साधक को अपना जीवन ढालना चाहिए।

इस प्रकार सूत्रकृताग सूत्र का दशम समाधि-अध्ययन अमर-सुख-बोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ धि नामक दशम अध्ययन प्त ॥

*

एकादश अध्ययन

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय

दसवे अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब ग्यारहवां अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है। दसवे अध्ययन मे भाव-समाधि का निरूपण किया गया है, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तपरूप है, और इस अध्ययन मे वर्णित भावमार्ग भी यही है।

इस अध्ययन का नाम 'मार्ग' है। यहाँ प्रशस्तज्ञान आदि भावमार्ग के आचरण का वर्णन है। इस अध्ययन का विषय समाधि नामक दसवे अध्ययन से मिलता-जुलता है। इसमे उसी प्रशस्त भावमार्ग का विवेचन किया गया है, जिससे आत्मा को समाधि प्राप्त हो। ऐसा मार्ग—ज्ञानमार्ग, दर्शनमार्ग, चारित्रमार्ग या तपोमार्ग कहलाता है। सक्षेप मे इसे सयममार्ग या मोक्षमार्ग अथवा सदाचारमार्ग भी कहा जा सकता है। इस पूरे अध्ययन मे आहारशुद्धि, सदाचार, सयम, प्राणातिपातविरमण आदि पर प्रकाश डाला गया है और कहा गया है कि प्राणो की परवाह किए बिना इन सबका पालन करना चाहिए। कुछ प्रवृत्तियो के विषय मे साधु को रहने का उपदेश दिया गया है।

निक्षेप की दृष्टि से 'मार्ग' का विवेचन

निर्युक्तिकार ने मार्ग के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यो ६ निक्षेप किये हैं। उनमे नाम और स्थापना तो सुगम है। ज्ञशरीर-भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यमार्ग के फलकमार्ग (तख्ते बिछाकर बनाया हुआ रास्ता), लतामार्ग (बेल को पकडकर पार किया जाने वाला मार्ग), आन्दोलनमाग, (झूले मे बैठकर पार किया जाने वाला पथ), वेत्रमार्ग (बेंत की लता को पकडकर पार किया जाने वाला नदी पथ), रज्जुमार्ग (रस्सी के सहारे से ऊँचे स्थान पर चढा जाने वाला पथ), (किसी सवारी द्वारा चलकर जाने वाला मार्ग), कीलमार्ग (ठुकी हुई कील के सकेत से तय किया जाने वाला मार्ग), विलमार्ग (गुफा के आकार के बने हुए रास्ते से जाने वाला), अजादिमार्ग (बकरे, ऊँट आदि पर चढकर तय किया जाने वाला), पक्षिमार्ग (भारण्ड, गरुड आदि पक्षी पर बैठकर जिस मार्ग से दूसरे देश मे

जाते है), छत्रमार्ग (छतरी के द्वारा जो मार्ग तय किया जाए), जलमार्ग (नौका आदि द्वारा पार किया जाने वाला), आकाशमार्ग (विमान आदि से तय किया जाने वाला मार्ग) आदि प्रकार है। ये सब द्रव्यमार्ग है। इस अध्ययन मे इस मार्ग का वर्णन नही है।

क्षेत्रमार्ग – जो मार्ग ग्राम, नगर तथा जिस प्रदेश मे या जिस शालिक्षेत्र आदि मे जाता है, वह अथवा जिस क्षेत्र मे मार्ग की व्याख्या की जाती है, वह क्षेत्र-मार्ग है। इसी तरह कालमार्ग के सम्बन्ध मे भी जान लेना चाहिए।

भावमार्ग—दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। दोनो ही भावमार्गो के प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते है। मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान, ये अप्रशस्त भावमार्ग है, जबकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये प्रशस्त भावमार्ग है। प्रशस्त भाव-मार्ग का फल सुगति है और अप्रशस्त भावमार्ग का फल दुर्गति है। इस अध्ययन मे सुगतिरूप फलदायक प्रशस्त भावमार्ग का ही वर्णन है। दुर्गतिफलदायक अप्रशस्तमार्ग को बताने वाले प्रावादुको के ३६३ भेद है, जिन्हे निर्युक्तिकार एक गाथा द्वारा बताते हैं—

> असियसय किरियाण, अकिरियवाईण होई चुलसीई।
> अण्णाणिय सत्तट्ठी, वेणइयाण च वत्तीस ॥

अर्थात्—क्रियावादियो के १८०, अक्रियावादियो के ८४, अज्ञानिको के ६७ और विनयवादियो के ३२ भेद है। कुल मिलाकर सब ३६३ भेद है। समवसरण-अध्ययन मे इनका स्वरूप बताया जाएगा।

चौभगी की दृष्टि से भावमार्ग का निरूपण

क्षेम, अक्षेम, क्षेमरूप और अक्षेमरूप—यो मार्ग के ४ विकल्प (भग) होते हैं। पहला मार्ग क्षेम है, क्योकि उसमे चोर, सिंह, व्याघ्र आदि का उपद्रव नही है, और क्षेमरूप भी है, क्योकि वह सम है, तथा छाया, फल, फूल, जलाशय आदि से पूर्ण है। दूसरा मार्ग क्षेम तो अवश्य है, क्योकि उसमे चोर आदि का उपद्रव नही है किन्तु क्षेमरूप नही है, क्योकि उसमे जगह-जगह काटे, ककर, गड्ढे, पहाड, ऊबड-खाबड रास्ते आदि हैं। तीसरा मार्ग क्षेम तो नही है, क्योकि उसमे चोर आदि का उपद्रव है, किन्तु क्षेमरूप है, क्योकि वह सम है, काटे, ककड, पत्थर आदि नही है। चौथा मार्ग न तो क्षेम है, न क्षेमरूप ही है। क्योकि इस मार्ग मे दोनो प्रकार की सुविधाएँ नही है।

इसी प्रकार भावमार्ग के सम्बन्ध मे भी चार भग (विकल्प) होते हैं। चारो मार्ग पर चलने वाले सयमपथिक की दृष्टि से घटित होते हैं—(१) जो सयमपथिक ज्ञानादि मार्ग से युक्त है, द्रव्यलिंग से भी युक्त है, वह क्षेम तथा क्षेमरूप होने से प्रथम भग का स्वामी है, (२) जो सयमपथिक ज्ञानादि मार्गो (गुणो) से तो युक्त है,

किन्तु कार द्रव्यलिंग को छोड रखा है, वह क्षेम तथा अक्षेमरूप दूसरे भग का धनी है। (३) तीसरे भग मे निह्नव है, जो अक्षेम और क्षेमरूप है। तथा (४) चौथे भग मे गृहस्थ और परतीर्थिक है, जो अक्षेम और अक्षेमरूप है। इसी प्रकार ये चारो भग मार्ग आदि मे भी समझ लेने चाहिए।

सम्यक्मार्ग और मिथ्यामार्ग

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप तीन प्रकार का भावमार्ग सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर, और गणधर आदि ने प्रतिपादित किया है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप बताने के कारण तीर्थंकरो और गणधरो ने इन्हे भावमार्ग कहा है। तथा उन्होने इनका आचरण भी किया है। तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग।' इसके विपरीत चरक, परिव्राजक आदि द्वारा सेवन किया जाने वाला मार्ग मिथ्या एव अप्रशस्त है, क्योकि उसमे हिंसाजनक कर्मकाण्डो का वर्णन है। अप्रशस्तमार्ग दुर्गतिफलदायक है। षट्काय के जीवो का घात करने वाले जो पार्श्वस्थ या स्वयूथिक है, उनका पकडा हुआ मार्ग भी कुमार्ग ही है। जो धर्माचरण मे शिथिल है, ऋद्धि, रस, सुखसाता और मान-बडाई आदि मे जो गुरु-कर्मी रचे-पचे रहते है, जो प्राय आधाकर्मी आहार का उपभोग करके षड्जीव-निकाय का घात करते है, और स्वय द्वारा आचरण किये जाने वाले शिथिलाचार का ही उपदेश देते है, ऐसा शिथिल आचरण करने वाला परतीर्थी हो या स्वयूथिक, वह कुमार्ग पर है।

प्रशस्तमार्ग या सत्यमार्ग वह है, जिसमे तप, सयम प्रधान है। १८ हजार शील के भेदो का जिसमे पालन करने वाले उत्तम साधुत्व के लक्षणो से युक्त हैं, वह मार्ग समस्त प्राणिवर्ग के लिए हितकर, सर्वप्राणिरक्षक है, उसमे नौ तत्वो का स्वरूप स्पष्टत प्रतिपादित है।

ार्ग के एकार्थक शब्द

निर्युक्तिकार ने सत्यमार्ग के एकार्थक १३ शब्दो का प्रयोग किया है वे। इस प्रकार है—(१) पथ (सम्यक्त्वरूप देश से ज्ञान या चारित्ररूप इष्ट देश तक पहुँचाने वाला) (२) मार्ग (आत्मा जिसमे पहले से अधिक निर्मल होता हो) (३) न्याय (जिसमे विशिष्ट स्थान की प्राप्ति अवश्य हो) (४) विधि (सम्यग्दर्शन और ज्ञान की एक साथ प्राप्ति हो) (५) धृति (सम्यग्दर्शन आदि होने पर चारित्र की जो प्राप्ति हुई है, उसे स्थिर रखने के लिए धैर्य हो) (६) सुगति (सुगति की प्राप्ति कराने वाला) (७) हित (मुक्ति प्राप्ति का कारण) (८) सुख (सुख का कारण) (९) पथ्य (जो मोक्षमार्ग का हितकर हो) (१०) श्रेय (मोह आदि ११वें गुणस्थान उपशान्त होने से श्रेयस्कर हो) (११) निवृत्ति (ससार से निवृत्ति का कारण) (१२) निर्वाण (चार प्रकार के घाती कर्मो का क्षय होकर केवलज्ञान प्राप्त होने से)

(१३) शिव (मोक्षपद प्राप्त कराने वाला शैलेशी अवस्था की प्राप्तिरूप चतुर्दश गुणस्थानरूप)।

ये सभी मोक्षमार्ग के पर्यायवाची शब्द होने से एकार्थक है।

अब इस अध्ययन की क्रम से प्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल

कयरे मग्गे अक्खाए, माहणेण मतिमता ?।
ज मग्ग उज्जु पावित्ता, ओह तरति दुत्तर ॥१॥

सस्कृत

कतरो मार्ग आख्यातो, माहनेन मतिमता।
य मार्गमृजु प्राप्य, ओघ तरति दुस्तरम् ॥१॥

अन्वयार्थ

(मतिमता माहणेण कयरे मग्गे अक्खाए ?) अहिंसा के परम-उपदेशक केवलज्ञानसम्पन्न भगवान् महावीर स्वामी ने कौन-सा मोक्ष का मार्ग बताया है ? (ज उज्जु मग्ग पावित्ता दुत्तर ओह तरति) जिस सरल मार्ग को पाकर दुस्तर ससार को मनुष्य पार करता है।

भावार्थ

अहिंसा के उपदेशक सर्वज्ञ केवलज्ञानसम्पन्न भगवान महावीर स्वामी ने कौन-सा मोक्ष का मार्ग कहा था, जिस सरल मार्ग को पाकर जीव ससारसागर से पार हो जाता है ?

व्याख्या

एक प्रश्न कौन-सा मोक्षमार्ग ?

इस गाथा मे जम्बूस्वामी श्री सुधर्मास्वामी (गणधर) से पूछते है—भगवन् ! तीन लोक का उद्धार करने मे समर्थ, सबके एकान्त हितैषी तथा जीवहिंसा न करने का उपदेश करने वाले तीर्थंकर भगवान महावीर ने तीन लोक मे मोक्ष प्रदान करने मे समर्थ मार्ग कौन-सा कहा है ? जो लोकालोक मे स्थित सूक्ष्म, व्यवहित, दूर, भूत, भविष्य और वर्तमान सभी पदार्थों को प्रकाशित करती है, उसे मति कहते हैं, वह केवलज्ञान ही है, वह भगवान् मे विद्यमान है, इसलिए वे मतिमान हैं। ऐसे भगवान् द्वारा प्रतिपादित जो मार्ग है, वह मोक्षमार्ग, प्रशस्त भावमार्ग है, वह वस्तु का यथार्थ-स्वरूप बताने के कारण सरल मार्ग है। यही नही, जो वस्तु को स्याद्वाद शैली मे सामान्य-विशेषरूप या नित्यानित्यरूप बताने के कारण अतिसरलतम मार्ग है, वक्र नही है। उसे पाने पर ससारी जीव को दुस्तर ससारसागर पार करना कठिन नही है। किन्तु मोक्ष की समग्र सामग्री पाना ही कठिन है। यही इस गाथा का आशय है।

मूल पाठ

तं मग्ग णुत्तरं सुद्धं, सव्वदुक्खविमो णं ।
जाणासि ण जहा भि ू !, त णो बूहि महामुणी ॥२॥

स छाया

त मार्गमनुत्तर शुद्ध, सर्वदु खविमोक्षणम् ।
जानासि वै यथा भिक्षो !, त नो ब्रूहि महामुने ॥२॥

अन्वयार्थ

(भिक्खू महामुणी) हे भिक्षाजीवी महामुने ! (सव्वदुक्खविमो सुद्ध णुत्तर त मग्ग) समस्त दु खो से छुडाने वाले शुद्ध और सर्वश्रेष्ठ उस मार्ग को (जहा ण जाणासि) आप जैसे जानते है, (त णो बूहि) वह हमे बताइए ।

भावार्थ

श्री जम्बूस्वामी श्रीसुधर्मास्वामी से पूछते है—हे भिक्षो महामुने ! सब दु खो से मुक्त करने वाले, शुद्ध तथा सर्वश्रेष्ठ तीर्थंकरोक्त मार्ग को आप जिस प्रकार जानते है वह हमे बताइए ।

व्याख्या

सर्वदु खमोक्षक शुद्ध श्रेष्ठ मार्ग के स्वरूप की जिज्ञासा

इस गाथा मे फिर सुधर्मास्वामी से उन्ही प्रश्नकर्ता ने मार्ग के विषय मे पूछा है। मार्ग के यहाँ तीन विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं—'सव्वदु खविमोक्खण, सुद्ध, णुत्तर ।' सर्वदु खविमोक्षण का अर्थ है—चिरकालसचित एव दु ख के कारणभूत जो कर्म है, जो वास्तव मे दु खरूप है, उन सब दु खरूप कर्मो से विमुक्त कराने वाला । शुद्ध इसलिए कहा कि यह निर्दोष है, इसमे पाप या सावद्य अनुष्ठान के उपदेश की मिलावट नही है, पूर्वापरविरुद्ध कथन नही है तथा एकमात्र जीवो के कल्याण का सरल पथ है, वक्रतारहित है । अनुत्तर इसलिए कहा है कि इससे बढकर श्रेष्ठ और सम्पूर्ण भावमार्ग विश्व मे और कोई नही है। वास्तव मे यही मार्ग वह मार्ग है, जिसके विषय मे श्री जम्बूस्वामी ने जिज्ञासा प्रकट करके सविनय निवेदन किया है कि आपने उस मार्ग को जैसा जाना-देखा-अनुभव किया है, उस तरह से हमे भी उसका स्वरूप बताइये ।

मूल

जइ णो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिं तु कयर मग्ग, आइक्खेज्ज ? कहाहि णो ॥३॥

संस्कृत छाया

यदि न केऽपि पृच्छेयुर्देवा अथवा मानुषा ।
तेषा तु कतर मार्गमाख्यास्ये ? कथय न ॥३॥

अन्वयार्थ

(जइ केइ देवा अदुव माणुसा णो पुच्छिज्जा) यदि कोई देवता या मनुष्य हमसे पूछे तो (तेसिं तु कयर मग्ग आइक्खेज्ज) उनको हम कौन-सा मार्ग बताएँ ? (कहाहि णो) यह हमे आप बताइए ।

भावार्थ

श्री जम्बूस्वामी फिर श्री सुधर्मास्वामी से पूछते है—यदि कोई देवता या मनुष्य हमसे मोक्षमार्ग के सम्बन्ध मे पूछे तो हम उन्हे कौन-सा मार्ग बताएँ ? कृपया, यह हमे बताइए ।

व्याख्या

कौन-सा मोक्षमार्ग बताएँ ?

फिर श्री जम्बूस्वामी ने जिज्ञासा प्रकट की है कि यह ठीक है कि हम तो आपके असाधारण गुणो को जानने के कारण आपको विश्वस्त एव आप्त मानकर उस मार्ग को मान लेते हैं किन्तु ससार से घबराये हुए सरलात्मा कोई चारनिकाय वाले देव या मनुष्य हमसे उस सम्यक् मार्ग के सम्बन्ध मे विशेष विस्तार से पूछे तो हमे उन्हे क्या बताना चाहिए ? प्रश्न देवता और मनुष्य ही कर सकते है, इसलिए उन्ही का उल्लेख किया गया, दूसरे प्राणियो का नही ।

मूल

जइ वो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिम पडिसाहिज्जा, मग्गसार सुणेह मे ॥४॥

स छाया

यदि व. केऽपि पृच्छेयुर्देवा अथवा मानुषा ।
तेषामिम प्रतिसाधयेत्, मार्गसार शृणुत मे ॥४॥

अन्वयार्थ

(जइ केइ देवा अदुव माणुसा वो पुच्छिज्जा) यदि कोई देवता अथवा मनुष्य आपसे पूछे तो (तेसिम पडिसाहिज्जा) उन्हे यह (आगे कहा जाने वाला) मार्ग-सम्बन्धित प्रत्युत्तर देना चाहिए । (मग्गसार मे सुणेह) वह साररूप मार्ग मुझसे सुनो ।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं—यदि कोई देवता या

मनुष्य आपसे मोक्षमार्ग के सम्बन्ध मे पूछे तो उन्हे आगे कहा जाने वाला यह मार्गसम्बन्धी प्रत्युत्तर देना चाहिए। उस सारभूत मार्ग को तुम मुझसे सुन लो।

या

उन्हे यह मार्ग बताना।

श्री सुधर्मास्वामी द्वारा दिया गया उत्तर इस गाथा मे अकित ह। उन्होने अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहा कि ससार-भय से उद्विग्न कोई देव या मनुष्य इस सम्यक् मार्ग के विपय मे तुम से पूछे तो तुम उन्हे वही मार्ग बताना जो मार्ग आगे मैं तुम्हे बता रहा हूँ। कही-कही 'तेसिं तु इम मग्ग आइक्खेज्ज सुणेह मे' यह पाठान्तर मिलता है, जिसका अर्थ है—उनसे तुम आगे कहे जाने वाले (इस) मार्ग का कथन करना। वह मार्ग मैं तुम्हे बताता हूँ।

मूल

आणुपुव्वेण महाघोर, कासवेण पवेइय ।
जमादाय इओ पुव्व, समुद्द ववहारिणो ॥५॥

स .

आनुपूर्व्या महाघोर, काश्यपेन प्रवेदितम् ।
यमादायेत पूर्व, समुद्र व्यवहारिण ॥५॥

अन्वयार्थ

(कासवेण पवेइय महाघोर) काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित उस अतिकठिन मार्ग को (आणुपुव्वेण) मैं क्रमश बताता हूँ। (समुद्द ववहारिणो) जैसे विदेश मे व्यापार करने वाले व्यक्ति समुद्र को पार करते है, इसी तरह (इओ पुव्व जमादाय) इस मार्ग का आश्रय लेकर आज से पहले बहुत-से लोग ससार-सागर को पार कर चुके हैं।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्यवर्ग से कहते है—काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर (सर्वज्ञ) के द्वारा प्रकाशित मार्ग को, जो कि अत्यन्त कठोर है, क्रमश बताता हूँ। जैसे समुद्रमार्ग से व्यापार करने वाले व्यापारी समुद्र को पार करते हैं, वैसे ही इस मार्ग को ग्रहण करके इससे पूर्व बहुत-से जीवो ने ससार-समुद्र को पार कर लिया है।

व्याख्या

सर्वज्ञ महावीरकथित मार्ग का माहात्म्य

इस गाथा मे भगवान महावीर-प्रतिपादित मार्ग का माहात्म्य है।

पहले तो उसे 'महाघोर' बताया है, वह इसलिए कि पहले तो वह प्रत्येक जीव को या यो कहिए कि प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त होना ही कठिन है। जैन सिद्धान्त का माना हुआ तथ्य है कि अनन्तानुबन्धी चार कषायो का उदय हो तो जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती, जो कि मोक्ष का द्वार है। फिर यह बताया है कि 'बारसविहे कसाए खविए उवसामिए व जोगेहिं लब्भइ चरित्तलभो' अर्थात् बारह प्रकार के कषायो (अनन्तानुबन्धी चार, अप्रत्याख्यानी चार एव प्रत्याख्यानी चार) के क्षय या उपशम करने पर जीव को शुभयोगो से चारित्र की प्राप्ति होती है। और मनुष्य-जन्म, धर्मश्रवण, धर्ममार्ग पर श्रद्धा और चारित्रपालन मे पराक्रम, ये चार बाते परम दुर्लभ हैं, जो मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिए प्राथमिक रूप से आवश्यक है। इतना दुर्लभतर मोक्षमार्ग है। जैसे कायर पुरुष का युद्ध मे प्रवेश करना भयदायक होता है, वैसे ही अल्पशक्ति वाले, सयम मे कायर, विषयभोगासक्त मनुष्य के लिए इस (मोक्ष) मार्ग पर पैर रखना महाभयदायक है, इसलिए यह घोरतर है।

इतना होने पर भी सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी आदि शिष्यो को आश्वासन देते हुए दृष्टान्त देकर कहते हैं—इतना दुर्लभतर एव कठोरतर होते हुए भी यदि किसी ने इस मार्ग का आश्रय ले लिया है और सावधानी रखी है तो उन्होने आज तक दुस्तर ससार-समुद्र को आसानी से पार किया है, जैसे समुद्रमार्ग द्वारा विदेश मे व्यापार करने वाले व्यापारी सावधानीपूर्वक समुद्र को पार कर लेते है। आशय यह है कि अधिक लाभ के लिए क्रय-विक्रय करने वाले समुद्रमार्ग से व्यापार करने वाले व्यवहारी जहाज पर चढकर दुस्तर समुद्र को पार कर लेते हैं, वैसे ही अनन्त और निर्बाध सुख के अभिलाषी साधु सम्यग्दर्शन आदि मार्ग पर चलकर दुस्तर ससारसागर को पार लेते है और मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

मूल

अतरिंसु तरतेगे, तरिस्सति ।गया ।
त सोच्चा पडिव ।मि, जतवो त सुणेह मे ।।६।।

सस्कृत छाया

अतारिषुस्तरन्त्येके, तरिष्यन्ति अनागता ।
त श्रुत्वाप्रतिवक्ष्यामि, जन्तवस्त शृणुत मे ।।६।।

अन्वयार्थ

(अतरिंसु) इस मार्ग का आश्रय लेकर भूतकाल मे अनेक लोगो ने ससार-सागर को पार किया है, (तरतेगे) तथा कोई भव्यजीव वर्तमानकाल मे भी ससार-सागर को पार करते हैं, (तरिस्सति अणागया) एव भविष्य मे भी बहुत-से जीव ससारसमुद्र को पार करेंगे। (त सोच्चा पडिवक्खामि) उस मार्ग को मैंने भगवान्

उड्ढ अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥११॥

स ं ।

पृथ्वीजीवा पृथक्सत्त्वा, आपो जीवास्तथाऽग्नय ।
वायुजीवाः पृथक्सत्त्वा, तृणवृक्षा सवीजका ॥७॥
अथाऽपरे त्रसा प्राणाः, एव षट्काया आख्याता ।
एतावानेव जीवकायो नाऽपर कश्चिद् विद्यते ॥८॥
सर्वाभिरनुयुक्तिभिर्मतिमान् प्रतिलेख्य ।
सर्वेऽकान्तदु खाश्च, अत सर्वान्न हिंस्यात् ॥९॥
एव खलु ज्ञानिन सार, यन्न हिनस्ति कञ्चन ।
अहिंसासमय चैव, एतावन्त विजानीयात् ॥१०॥
ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्, ये केचित् त्रस-स्थावरा ।
सर्वत्र विरति कुर्यात् शान्तिनिर्वाणमाख्यातम् ॥११॥

अन्वयार्थ

(पुढवी जीवा पुढो सत्ता) पृथ्वी या पृथ्वी के आश्रित जीव पृथक्-पृथक् जीव है, (आऊजीवा तहाऽगणी) तथा जल और अग्नि के जीव भी अलग-अलग हैं। (वाउजीवा पुढो सत्ता) तथा वायुकाय के जीव भी पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं, (तणरुक्खा सबीयगा) इसी तरह तृण, वृक्ष और बीज से युक्त वनस्पति मे भी जीव हैं ॥७॥

(अहावरा तसा पाणा) इसके अतिरिक्त त्रसकाय वाले भी जीव होते है। (एव छक्काय आहिया) इस प्रकार तीर्थंकरो ने छह जीवनिकाय (भद) कहे हैं। (एतावए जीवकाए) इतना ही (मुख्य रूप से) जीवो का भेद है, (णावरे कोइ विज्जई) इसके अतिरिक्त और कोई जीव (का मुख्य प्रकार) नही होता ॥८॥

(मइम) बुद्धिमान पुरुष (सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं) सभी युक्तियो मे (पडिलेहिया) इन जीवो को विश्लेषणपूर्वक सिद्ध करके भलीभाँति देखे-जाने कि (सव्वे अक्कतदुक्खा य) सभी प्राणियो को दु ख अप्रिय है, (अओ सव्वे अहिंसिया) अतएव किसी भी प्राणी की हिंसा न करे ॥९॥

(णाणिणो) ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का (एय खु सार) यही सार—निचोड है। (ज न हिंसइ कचण) कि वह किसी भी जीव की हिंसा नही करता है। (अहिंसा समय चेव एतावत विजाणिया) अहिंसा के समर्थक शास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्त जानना चाहिए ॥१०॥

(उड्ढ अहे तिरिय) ऊपर, नीचे और तिरछे (लोक मे) (जे केइ तसथावरा)

महावीर से सुनकर जैसा समझा है, उस प्रकार से आपको कहूँगा। (जतवो त मे सुणेह) हे प्राणियो। उस मार्ग को आप मुझ से सुन ले।

र्थ

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्यो से कहते है—तीर्थकरप्ररूपित इस मार्ग को ग्रहण करके भूतकाल मे बहुत-से जीव ससारसमुद्र पार कर चुके हैं, वर्तमान मे भी बहुत-से पार करते है और भविष्य मे भी बहुत-से जीव ससारसागर को पार करेंगे। उस मार्ग को मैंने तीर्थकर भगवान महावीर से सुनकर उसे जैसा समझा है, उस रूप मे मैं आप जिज्ञासुओ को कहूँगा। हे जिज्ञासु जीवो। मैं उस मार्ग का वर्णन करता हूँ, उसे आप ध्यानपूर्वक सुने।

व्याख्या

तीनो काल मे ससारसागर से पार कराने वाला मार्ग

इस गाथा मे फिर भगवान महावीरकथित मो ' की विशेषता बताते हैं। वह मो ' तीनो कालो मे ससार-समुद्र से पार करने वाला है। महापुरुषो द्वारा आचरित, मोक्षदायक जिस मार्ग को स्वीकार करके पूर्व अनादिकाल मे अनन्तजीवो ने समस्त कर्ममल को दूर करके ससारसागर को पार किया है। वर्तमान मे भी महाविदेहक्षेत्र आदि से सदा मिद्धि प्राप्त होती है, इसलिए इस समय भी व्यक्ति ससारसागर को पार करते है, तथा भविष्य मे भी अनन्तकाल मे अनन्तजीव इस मार्ग के द्वारा ससारसमुद्र को पार करेंगे। इसलिए यह त्रिकाल मे ससारसागर पार कराने वाला, मोक्षप्राप्ति का कारण तथा प्रशस्त भावमार्ग है। श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी का आश्रय लेकर समस्त जीवो को सम्बोधित करके कहते हैं—हे जीवो। तुम सावधान होकर मेरे द्वारा कहे जाने वाले मार्ग का वर्णन सुनो।

मूल पाठ

पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आऊजीवा तहाऽगणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥७॥
अहावरा तसा पाणा, एव छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई ॥८॥
सव्वाहि अणुजुत्तीहि, मइम पडिलेहिया।
सव्वे अक्कतदुक्खा य, ो सव्वे न हिंसया ॥९॥
एयं खु णाणिणो सार, ज न हिंसति कचण।
अहिंसा समय चेव, एयावतं विजाणिया ॥१०॥

उड्ढ अहे य तिरिय, जे केइ तसथावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥११॥

स ृ ा

पृथ्वीजीवा पृथक्सत्त्वा, आपो जीवास्तथाऽग्नय ।
वायुजीवा. पृथक्सत्त्वा, तृणवृक्षा सबीजका ॥७॥
अथाऽपरे त्रसा प्राणा॰, एव षट्काया आख्याता ।
एतावानेव जीवकायो नाऽपर कश्चिद् विद्यते ॥८॥
सर्वाभिरनुयुक्तिभिर्मतिमान् प्रतिलेख्य ।
सर्वेऽक्रान्तदु खाश्च, अत सर्वान्न हिंस्यात् ॥९॥
एव खलु ज्ञानिन सार, यन्न हिनस्ति कञ्चन ।
अहिं मय चैव, एतावन्त विजानीयात् ॥१०॥
ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्, ये केचित् त्रस-स्थावरा ।
सर्वत्र विरतिं कुर्यात् शान्तिनिर्वाणमाख्यातम् ॥११॥

॰ ार्थ

(पुढवी जीवा पुढो सत्ता) पृथ्वी या पृथ्वी के आश्रित जीव पृथक्-पृथक् जीव हैं, (तिवा तहाऽगणी) तथा जल और अग्नि के जीव भी अलग-अलग हैं। (वाउजीवा पुढो सत्ता) तथा वायुकाय के जीव भी पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं, (तणरुक्खा सबीयगा) इसी तरह तृण, वृक्ष और बीज से युक्त वनस्पति मे भी जीव हैं ॥७॥

(अहावरा तसा पाणा) इसके अतिरिक्त त्रसकाय वाले भी जीव होते हैं। (एव छक्काय आहिया) इस प्रकार तीर्थंकरो ने छह जीवनिकाय (भद) कहे हैं। (एतावए जीवकाए) इतना ही (मुख्य रूप से) जीवो का भेद है, (णावरे कोइ विज्जई) इसके अतिरिक्त और कोई जीव (का मुख्य प्रकार) नही होता ॥८॥

( ) बुद्धिमान पुरुष (सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं) सभी युक्तियो मे (पडिलेहिया) इन जीवो को विश्लेषणपूर्वक सिद्ध करके भलीभाँति देखे-जाने कि (सव्वे अक्कतदुक्खा य) सभी प्राणियो को दु ख अप्रिय है, (अओ सव्वे अहिंसिया) अतएव किसी भी प्राणी की हिंसा न करे ॥९॥

(णाणिणो) ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का (एय खु सार) यही सार—निचोड है। (ज न हिंसइ कचण) कि वह किसी भी जीव की हिंसा नही करता है। (अहिंसा समय चेव एतावत विजाणिया) अहिंसा के समर्थक शास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्त जानना चाहिए ॥१०॥

(उड्ढ अहे तिरिय) ऊपर, नीचे और तिरछे (लोक मे) (जे केइ तसथावरा)

जो कोई त्रस और स्थावर प्राणी है, (सव्वत्थ विरति कुज्जा) सर्वत्र उनकी हिंसा से निवृत्त (दूर) रहना चाहिए। (सति निव्वाणमाहिय) इस प्रकार जीव को शान्तिमय निर्वाण की प्राप्ति कही गई है ॥११॥

भावार्थ

पृथ्वी जीव है, पृथ्वी के आश्रित भी पृथक्-पृथक् जीव है, एव जल और अग्नि भी जीव है। वायुकाय के भी जीव पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार तृण, वृक्ष और बीज के रूप मे वनस्पतियाँ भी जीव है ॥७॥

पूर्वोक्त पाँच और इसके अतिरिक्त छठे त्रसकाय वाले जीव होते है। यो तीर्थकरो ने जीव के ६ भेद बताए है, इनसे भिन्न और कोई जीव का (मुख्य) प्रकार नही होता ॥८॥

बुद्धिमान समस्त युक्तियो से इन जीवो मे जीवत्व सिद्ध करके देखे कि सभी को दु ख अप्रिय है, यह जानकर किसी भी जीव की हिंसा न करे ॥६॥

ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का सार यही है कि वह किसी भी जीव की हिंसा नही करता। अहिसा के समर्थक शास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्त जानना चाहिए ॥१०॥

ऊपर, नीचे और तिरछे लोक मे जो त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं, उन सबकी हिंसा से विरत रहना चाहिए। इसी से जीव को शान्तिमय निर्वाण—मोक्ष की प्राप्ति कही गई है ॥११॥

व्या

अहिंसा का आचरण ही मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग है

सातवी गाथा से ग्यारहवी गाथा तक अहिंसा के आचरण का उपदेश देकर उसी को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताया है। वास्तव मे साधक के लिए पद-पद पर प्रत्येक प्रवृत्ति मे अहिंसा का—वह भी सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवो की हिंसा से विरति का—मार्ग स्वीकार करना श्रेयस्कर है। सातवी आठवी गाथा मे शास्त्रकार जीवो के मोटे तौर पर निकाय (सघात) की ारी देते हैं, ताकि अहिंसा का आचरण करने वाला साधक यह भली भाँति जान-समझ ले कि जीव कहाँ-कहाँ, किस-किस प्रकार से अपना अस्तित्व टिकाए हुए रहते हैं। फिर उनकी मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदितरूप से किसी भी प्रकार से हिंसा न करे, यानी दस प्रकार के प्राणो मे से किसी भी प्राण को चोट या हानि न पहुँचाए। धर्म और समाधि नामक अध्ययन मे पृथ्वीकाय से लेकर त्रसजीवो का भेद-प्रभेदसहित वर्णन किया जा चुका है। प्रथम तो साक्षात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँचो अपने आप मे जीवरूप हैं। साथ ही इन सबके आश्रित जो जीव रहते है, वे सब पृथक्-पृथक् जीव है। इनमे जीव के अस्तित्व की सिद्धि आचाराग के शस्त्र-परिज्ञा

नामक अध्ययन से तथा अन्य शास्त्रो से जान लेनी चाहिए। इसी प्रकार स्थावर जीवो के बाद त्रसजीवो को भी भेद-प्रभेद सहित जान लेना चाहिए। इन षट्-जीवनिकायो मे ससार के सभी कोटि के प्राणी आ जाते है, इनसे कोई भी प्राणी अवशिष्ट नही रहा। इनके सिवाय जीवो का और कोई प्रकार नही है। इन सब जीवो का अस्तित्व युक्ति-प्रत्युक्ति, अनुभूति और शास्त्र वचनो से भली-भाँति जान कर तथा यह भी जानकर कि समस्त प्राणियो को, चाहे वे छोटे हो या बडे, लघुकाय हो या विशालकाय, सुख प्रिय है, दु ख अप्रिय है, किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, तन से ही नही, मन और वचन से भी। तथा हिंसा स्वय भी न करे, वैसे ही दूसरो से भी न कराए और न ही किसी हिंसा का समर्थन-अनुमोदन करे। सिद्धान्तो या शास्त्रो का ज्ञान अर्जित करने का सार भी यही है कि वह मन-वचन-काया से किसी भी जीव की हिंसा नही करता। अहिंसा का सारा सिद्धान्त इतने मे ही आ गया, यह समझ लेना चाहिए।

आशय यह है कि जीवो का स्वरूप तथा उनकी हिंसा से होने वाले कर्मबन्ध को जानने वाले ज्ञानी का प्रधान कर्तव्य है कि वह हिंसा से सर्वथा निवृत्त हो। जो ज्ञानी यह जानता है कि समस्त प्राणियो को दु ख अप्रिय है, सुख प्रिय है, दु ख को सभी बुरा मानते है, और सुख को अच्छा। ऐसी स्थिति मे ज्ञानी यह भी समझ लेता है कि मुझे कोई दु ख देता है तो पीडा होती है, वैसी ही पीडा दूसरे प्राणियो को दु ख देने से उनको होती है। इस आत्मौपम्य सिद्धान्त को जानकर किसी भी प्राणी को दु ख या पीडा न पहुँचाना ही महाज्ञानी के ज्ञान का सार है। दूसरो को पीडा देने से निवृत्त रहना ही सच्चा ज्ञान है। इसीलिए कहा है—

> किं ताए पढियाए पयकोडीए पलालभूयाए।
> जत्थित्तिय ण णाय, परस्स पीडा न कायव्वा ॥

अर्थात्—घास के ढेर के समान करोडो पदो के पढने से क्या मतलब सिद्ध हुआ, जिनके पढने से इतना भी ज्ञान न हो सका कि किसी दूसरे जीव को पीडा न देनी चाहिए ?

निष्कर्ष यह है कि अहिंसा समर्थक शास्त्र का इतना सिद्धान्त जानना ही पर्याप्त है। अन्य बहुत-सी जानकारी से कोई मतलब सिद्ध नही होता।

फिर शास्त्रकार क्षेत्रप्राणातिपात से निवृत्त होने की बात कहते है—**'उड्ढ अहेय तिरिय जे केइ तसथावरा'**—अर्थात् ऊपर, नीचे और तिरछे लोको मे जो भी स्थावर या त्रस जीव हैं, उन सबकी हिंसा से निवृत्त रहना चाहिए। जो पुरुष ऐसा करता है, वही वस्तुत ज्ञानी है। जीवहिंसा से निवृत्त रहना ही दूसरे की शाति का कारण होने से शान्ति है। जो पुरुष जीवहिंसा नही करता, उससे कोई भी प्राणी

जो कोई त्रस और स्थावर प्राणी है, (सव्वत्थ विरतिं कुज्जा) सर्वत्र उनकी हिंसा से निवृत्त (दूर) रहना चाहिए। (सति निव्वाणमाहिय) इस प्रकार जीव को शान्तिमय निर्वाण की प्राप्ति कही गई है ॥११॥

भावार्थ

पृथ्वी जीव है, पृथ्वी के आश्रित भी पृथक्-पृथक् जीव है, एव जल और अग्नि भी जीव है। वायुकाय के भी जीव पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार तृण, वृक्ष और बीज के रूप मे वनस्पतियाँ भी जीव है ॥७॥

पूर्वोक्त पाँच और इसके अतिरिक्त छठे त्रसकाय वाले जीव होते है। यो तीर्थंकरो ने जीव के ६ भेद बताए है, इनसे भिन्न और कोई जीव का (मुख्य) प्रकार नही होता ॥८॥

बुद्धिमान समस्त युक्तियो से इन जीवो मे जीवत्व सिद्ध करके देखे कि सभी को दुःख अप्रिय है, यह जानकर किसी भी जीव की हिंसा न करे ॥९॥

ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का सार यही है कि वह किसी भी जीव की हिंसा नही करता। अहिंसा के समर्थक शास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्त जानना चाहिए ॥१०॥

ऊपर, नीचे और तिरछे लोक मे जो त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं, उन सबकी हिंसा से विरत रहना चाहिए। इसी से जीव को शान्तिमय निर्वाण—मोक्ष की प्राप्ति कही गई है ॥११॥

व्याख्या

अहिंसा का आचरण ही मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग है

सातवी गाथा से ग्यारहवी गाथा तक अहिंसा के आचरण का उपदेश देकर उसी को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताया है। वास्तव मे साधक के लिए पद-पद पर प्रत्येक प्रवृत्ति मे अहिंसा का—वह भी सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवो की हिंसा से विरति का—मार्ग स्वीकार करना श्रेयस्कर है। सातवी आठवी गाथा मे शास्त्रकार जीवो के मोटे तौर पर निकाय (सघात) की [illegible]री देते हैं, ताकि अहिंसा का आचरण करने वाला साधक यह भली भाँति जान-समझ ले कि जीव कहाँ-कहाँ, किस-किस प्रकार से अपना अस्तित्व टिकाए हुए रहते है। फिर उनकी मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदितरूप से किसी भी प्रकार से हिंसा न करे, यानी दस प्रकार के प्राणो मे से किसी भी प्राण को चोट या हानि न पहुँचाए। धर्म और समाधि नामक अ[illegible] मे पृथ्वीकाय से लेकर त्रसजीवो का भेद-प्रभेदसहित वर्णन किया जा चुका है। प्रथम तो साक्षात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँचो अपने आप मे जीवरूप हैं। साथ ही इन सबके आश्रित जो जीव रहते हैं, वे सब पृथक्-पृथक् जीव है। इनमे जीव के अस्तित्व की सिद्धि आचाराग के शस्त्र-परिज्ञा

नामक अध्ययन से तथा अन्य शास्त्रो से जान लेनी चाहिए। इसी प्रकार स्थावर जीवो के बाद त्रसजीवो को भी भेद-प्रभेद सहित जान लेना चाहिए। इन षट्-जीवनिकायो मे ससार के सभी कोटि के प्राणी आ जाते है, इनसे कोई भी प्राणी अवशिष्ट नही रहा। इनके सिवाय जीवो का और कोई प्रकार नही है। इन सब जीवो का अस्तित्व युक्ति-प्रत्युक्ति, अनुभूति और शास्त्र वचनो से भली-भाँति जान कर तथा यह भी जानकर कि समस्त प्राणियो को, चाहे वे छोटे हो या बडे, लघुकाय हो या विशालकाय, सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है, किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, तन से ही नही, मन और वचन से भी। तथा हिंसा स्वय भी न करे, वैसे ही दूसरो से भी न कराए और न ही किसी हिंसा का समर्थन-अनुमोदन करे। सिद्धान्तो या शास्त्रो का ज्ञान अर्जित करने का सार भी यही है कि वह मन-वचन-काया से किसी भी जीव की हिंसा नही करता। अहिंसा का सारा सिद्धान्त इतने मे ही आ गया, यह समझ लेना चाहिए।

आशय यह है कि जीवो का स्वरूप तथा उनकी हिंसा से होने वाले कर्मबन्ध को जानने वाले ज्ञानी का प्रधान कर्तव्य है कि वह हिंसा से सर्वथा निवृत्त हो। जो ज्ञानी यह जानता है कि समस्त प्राणियो को दुःख अप्रिय है, सुख प्रिय है, दुःख को सभी बुरा मानते हैं, और सुख को अच्छा। ऐसी स्थिति मे ज्ञानी यह भी समझ लेता है कि मुझे कोई दुःख देता है तो पीडा होती है, वैसी ही पीडा दूसरे प्राणियो को दुःख देने से उनको होती है। इस आत्मौपम्य सिद्धान्त को जानकर किसी भी प्राणी को दुःख या पीडा न पहुँचाना ही महाज्ञानी के ज्ञान का सार है। दूसरो को पीडा देने से निवृत्त रहना ही सच्चा ज्ञान है। इसीलिए कहा है—

> किं ताए पढियाए पयकोडीए पलालभूयाए।
> जत्थित्तियं ण णायं, परस्स पीडा न कायव्वा ॥

अर्थात्—घास के ढेर के समान करोडो पदो के पढने से क्या मतलब सिद्ध हुआ, जिनके पढने से इतना भी ज्ञान न हो सका कि किसी दूसरे जीव को पीडा न देनी चाहिए ?

निष्कर्ष यह है कि अहिंसा समर्थक शास्त्र का इतना सिद्धान्त जानना ही पर्याप्त है। अन्य बहुत-सी जानकारी से कोई मतलब सिद्ध नही होता।

फिर शास्त्रकार क्षेत्रप्राणातिपात से निवृत्त होने की बात कहते हैं—**'उड्ढ अहेय तिरियं जे केइ तसथावरा'**—अर्थात् ऊपर, नीचे और तिरछे लोको मे जो भी स्थावर या त्रस जीव हैं, उन सबकी हिंसा से निवृत्त रहना चाहिए। जो पुरुष ऐसा करता है, वही वस्तुतः ज्ञानी है। जीवहिंसा से निवृत्त रहना ही दूसरे की शांति का कारण होने से शान्ति है। जो पुरुष जीवहिंसा नही करता, उससे कोई भी प्राणी

भयभीत नही होते, और न वह जन्म-जन्मान्तर मे भी किसी से डरता है, तथा मोक्ष का प्रधान मार्ग अहिंसा का आचरण होने से इसे ही मोक्ष कहा गया है।

मूल

पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणई ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अतसो ॥१२॥

सं छाया

प्रभुर्दोष निराकृत्य, न विरुध्येत केनचित् ।
मनसा वचसा चैव, कायेनैव चैवान्तश ॥१२॥

• र्थ

(पभूदोसे निराकिच्चा) इन्द्रियविजेता पुरुष दोषो को हटाकर (केणई मणसा वयसा कायसा अतसो ण विरुज्झेज्ज) जीवनपर्यन्त मन, वचन, काया से किसी के साथ वैर-विरोध न करे।

भावार्थ

जितेन्द्रिय पुरुष अपने जीवन मे आए हुए दोषो को चुन-चुन कर बाहर निकाल दे और किमी के साथ मन-वचन काया से जीवन-भर वैर-विरोध न करे।

• ा

मोक्षमार्ग पर चलने के लिए दोषो और विरोध से निवृत्ति आवश्यक

मोक्ष के आग्नेय पथ पर चलने के लिए आत्मा निर्मल, पवित्र, निश्चिन्त और हल्की-फुलकी होनी चाहिए। और वह तभी हो सकती है, जब वह इन्द्रियो पर विजयी बनकर—उन्हे अपने वश मे करके समस्त दोषो (चाहे वे मन के हो, चाहे वचन के और चाहे काया के हो, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप भूलो, अपराधो, गलतियो एव बुराइयो से, या दुर्व्यसनो) से बिलकुल निवृत्त हो। साथ ही वह मन-वचन-काया से आजीवन किसी के साथ वैर-विरोध न करे। वैर-विरोध तभी होता है, जब व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह आदि पापो से लिपटा रहे। अत पापो और दोषो से सर्वथा दूर रहने से ही जितेन्द्रिय साधक मोक्षमार्ग पर चलने के योग्य बनता है।

मूल

संवुडे से महापन्ने धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयते अणेसणं ॥१३॥

छाया

सवृत स महा ो, धीरो दत्तैषणा चरेत् ।
एषणासमितो नित्य, वर्जयन् अनेषणम् ॥१३॥

अन्वयार्थ

(से सवुडे महापन्ने धीरे) वह साधु बडा धीर, महाप्रज्ञावान इन्द्रियसयमी है, जो दिया हुआ एषणीय आहार आदि लेता है। (णिच्च एसणासमिए) तथा जो सदा एषणासमिति से युक्त रहता हुआ (अणेसण वज्जयते) अनेषणीय आहार आदि को छोड़ देता है।

ार्थ

वह साधु अत्यन्त धीर, इन्द्रियो से सयत एव महाबुद्धिमान् है, जो दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिया हुआ एषणीय आहार आदि लेता है। साथ ही जो अनेषणीय आहार को सदा वर्जित करता हुआ सदा एषणासमिति से युक्त रहता है।

व्याख्या

मोक्षमार्ग का पथिक साधक ए समिति से युक्त हो

साधुजीवन की जितनी भी आवश्यकताएँ हैं, वे बहुत सीमित है, खाने-पीने के लिए थोडा-सा आहार-पानी, थोडे-से वस्त्र-पात्र तथा कुछ पोथी-पन्ने आदि। किन्तु महाश्रमण महावीर कहते है कि इन थोडी-सी आवश्यकताओ की भी पूर्ति साधु निर्दोष भिक्षावृत्ति से करे। क्योकि ऐसा करने पर ही उसका अहिंसा, सत्य, अचौर्य एव अपरिग्रह महाव्रत पूर्णतया सुरक्षित रह सकते हैं। अन्यथा उद्गमादि दोषो से युक्त आहारादि लिया तो उसका अहिंसाव्रत खतरे मे पड जाएगा, किसी को ठगकर या पच करके कोई वस्तु प्राप्त की तो सत्य महाव्रत को क्षति पहुँचेगी, किसी से छीनकर या बिना दिये कोई चीज उठा ली तो अचौर्य महाव्रत छिन्न-भिन्न हो जाएगा, स्वाद-लोलुपतावश मर्यादा से अधिक या लालसापूर्वक आहारादि ग्रहण किया तो अपरिग्रहवृत्ति का भग हो जाएगा। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं— 'दत्तेसण चरे, एसणासमिए णिच्च यते अणेसण।' तात्पर्य यह है कि महाव्रती, महाप्राज्ञ, धीर सयमी साधु गृहस्थ के यहाँ से भिक्षावृत्ति से जो कुछ निर्दोष, एषणीय, कल्पनीय वस्तु प्राप्त हो, उसी से यथालाभ सन्तुष्ट होकर निर्वाह करे। यही मोक्ष-मार्ग के पथिक के लिए उचित है।

मूल पाठ

भूयाइ च समारभ, तमुद्दिस्सा य ज
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाण सुसजए ॥१४॥

सस्कृत छाया

भूतानि च समारम्य, तमुद्दिश्य च यत्कृतम् ।
तादृश तु न गृह्णीयादन्नपान सुसयत ॥१४॥

अन्वयार्थ

(भूयाइ च समारभ) जो आहार प्राणियो का आरम्भ (उपमर्दन) करके (तमुद्दिस्सा य ज कड) अथवा साधु को देने के निमित्त से बनाया गया है, (तारिस तु अन्नपान सुसजए ण गिण्हेज्जा) ऐसे दोपयुक्त आहार-पानी को सुसयमी साधु ग्रहण न करे ।

भावार्थ

जो आहार प्राणियो का उपमर्दन करके तथा जो साधुओ को देने के निमित्त से बनाया गया है, उस आहार-पानी को उत्तम साधु ग्रहण न करे ।

व्याख्या

ऐसा करने से ही मोक्षमार्ग का पालन

पूर्वगाथा की तरह इस गाथा मे भी औद्देशिक एव आधाकर्म आदि दोप से दूषित आहार ग्रहण करना साधु के लिए निपिद्ध बताया है, क्योकि ऐसा दूषित आहार ग्रहण करने से हिंसा की परम्परा बढेगी । अगर एक बार साधु ऐसे दोषयुक्त आहार-पानी को ले लेता है तो वह गृहस्थ भक्तिवश बार-बार ऐसा दोपयुक्त आहार तैयार करके देगा । इस तरह बार-बार आरम्भजनित हिंसा का दोष लगेगा, एक गलत परम्परा पडेगी, सो अलग । अत सुसयमी साधु ऐसा दोषयुक्त आहार-पानी न तो ग्रहण करे और न ही सेवन करे । ऐसा करने से ही उस साधु के द्वारा मोक्षमार्ग का पालन हो सकेगा ।

मूल

पूईकम्म न सेविज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।
ज किंचि अ[illegible] ेज्जा, सव्वसो त न कप्पए ॥१५॥

सस्कृत छाया

पूतिकर्म न सेवेत, एष धर्म सयमवत ।
यत्किंचिदभिकाक्षेत, सर्वंश कल्पते ॥१५॥

[illegible] र्थ

(पूइकम्म न सेविज्जा) शुद्ध आहार मे आधाकर्मी आहार के मिश्रण से युक्त-पूतिकर्म युक्त—आहार का सेवन साधु न करे, (वुसीमओ एस धम्मे) शुद्ध सयमी साधु का यही धर्म है । तथा (ज किंचि अभिकखेज्जा) यदि शुद्ध आहार मे भी अशुद्धि की

शका हो जाए तो (सव्वसो त न कप्पए) उसे भी साधु को सर्वथा ग्रहण करना उचित नही है।

र्थ

शुद्ध आहार यदि आधाकर्मी आहार के एक कण से भी मिश्रित हो तो साधु उस पूतिकर्म दोषयुक्त आहार का सेवन न करे, यही शुद्ध सयमी साधु का धर्म है। साथ ही शुद्ध आहार मे भी अगर किमी प्रकार की अशुद्धि की आशका हो तो साधु को उसे भी ग्रहण करना बिलकुल उचित (कल्पनीय) नही है।

व्याख्या

शुद्ध आहार मोक्षमार्ग का कारण

इस गाथा मे भी शुद्ध आहार पर जोर दिया गया है। आखिर इसका क्या रहस्य है? इस पर हमने १३वी गाथा की व्याख्या मे प्रकाश डाला है। उसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है—'आहारशुद्धो सत्त्वशुद्धि सत्त्व ौ ध्रुवा स्मृति' यह जो वैदिक उपनिषद् वाक्य है, वह भी अर्थहीन नही है। आहार शुद्ध होगा, तभी अन्त करण (मन, बुद्धि, हृदय) शुद्ध रहेगे, और उनके शुद्ध रहने मे स्मृति भी निश्चल और प्रखर रहेगी। साधु जब कभी ऐसा दोपयुक्त गरिष्ठ, दुष्पाच्य आहार सेवन करता है, तब प्राय उसकी बुद्धि कुठित और स्मृति सुस्त हो जाती है, उसकी बुद्धि मे सुन्दर, सात्त्विक विचारो का उदय होना रुक जाता है, उसके शरीर मे आलस्य आएगा, स्फूर्ति नही रहेगी, तमोगुण का सचार अधिक होगा। इसीलिए शास्त्रकार बार-बार इस पर जोर देते हैं कि साधु को शुद्ध, निर्दोप, सात्त्विक आहार का अल्पमात्रा मे सेवन करना चाहिए। यदि अशुद्ध आहार का एक भी कण शुद्ध आहार मे मिला हो या अशुद्ध आहार की शका हो तो उसे ग्रहण या सेवन करना उचित नही है, क्योकि वह सयम मे विघात पहुँचाता है। यही सुसयमी साधु का धर्म है, क्योकि वह मोक्षमार्ग का पथिक है।

मूल

हणत णाणुजाणेज्जा, आयगुत्ते जिइंदिए ।
ठाणाइ संति ड्ढीण, गामेसु नगरेसु वा ॥१६॥

सस्कृत छाया

घ्नन्त नानुजानीयादात्मगुप्तो जितेन्द्रिय ।
स्थानानि सन्ति श्रद्धावता ग्रामेषु नगरेषु वा ॥१६॥

अन्वयार्थ

(गामेसु नगरेसु वा) ग्रामो या नगरो मे (सड्ढीण) धर्म श्रद्धालु श्रावको के

स्वामित्व के (ठाणाइ सति) साधुओ के ठहरने योग्य स्थान होते है। (आयगुत्ते जिइदिए) अत आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु (हणत णाणुजाणेज्जा) मकान आदि बनाने मे जीवहिंसा करते हुए किसी भी श्रद्धालु को अनुमति न दे।

भावार्थ

ग्रामो या नगरो मे धर्मश्रद्धालु श्रावको की मालिकी के साधुओ के ठहरने के लिए स्थान होते हैं। अत यदि कोई श्रद्धालु धर्मबुद्धि से मकान आदि बनाने का जीवहिंसामय आरम्भ करे तो जितेन्द्रिय साधु उसे अनुमति न दे।

॥

साधु जीवहिंसामय कार्य मे अनुमति न दे

इस गाथा मे जीवहिंसा के कार्यो के समर्थन से साधु को दूर रहने का निर्देश किया है।

साधु सदा हिंसा-कार्यों से मन-वचन-काया से दूर रहता है। जहाँ भी कोई व्यक्ति हिंसाजनक आरम्भ के कार्य मे उससे सलाह माँगता है, या उससे । पाना चाहता है वह तुरन्त सावधान हो जाय, क्योकि हिंसा का उसने तीन करण तीन योग से त्याग किया है। यदि साधु किसी ग्राम या नगर मे किसी श्रद्धालु व्यक्ति के स्थान मे ठहरा है, उस समय वह उसका धर्मोपदेश सुनकर धर्म या पुण्य की बुद्धि से कोई धर्मस्थान, धर्मशाला, कुआ, प्याऊ आदि बनवाना चाहता है और साधु से अनुमति चाहता है, या प्रशसा पाना चाहता है तो साधु उस आरम्भ के कार्य मे अपनी अनुमति न दे, न उस कार्य की प्रशसा करे।

मूल

तहा गिर समारब्भ, अत्थि पुण्णति णो वए ।
अहवा णत्थि पुण्णति, एवमेयं महब्भय ॥१७॥
दाणट्ठया य जे पाणा, हम्मति तसथावरा ।
तेसिं सा णट्ठाए, तम्हा अत्थित्ति णो वए ॥१८॥
जेसिं त कप्पति, अन्नपाण तहाविह ।
तेसिं लाभतरायति तम्हा णत्थित्ति णो वए ॥१९॥
जे य दाण प ति, वहमिच्छति पाणिण ।
जे य ण पडिसेहति, वित्तिच्छेयं करति ते ॥२०॥
दुहओ वि ते ण भासति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।
आय रयस्स हेच्चा ण, णिव्वाण पाउणति ते ॥२१॥

त छाया

तथा गिर समारम्य, अस्ति पुण्यमिति नो वदेत् ।
अथवा नास्ति पुण्यमित्येवमेतद् महाभयम् ॥१७॥
दानार्थञ्च ये प्राणा , हन्यन्ते त्रस-स्थावरा ।
तेषा सरक्षणार्थाय, तस्मादस्तीति नो वदेत् ॥१८॥
येषा तदुपकल्पयन्त्यन्नपान तथाविधम् ।
तेषा लाभान्तराय इति, तस्मान्नास्तीति नो वदेत् ॥१९॥
ये च दान प्रशसन्ति, वधमिच्छन्ति प्राणिनाम् ।
ये च त प्रतिषेधन्ति वृत्तिच्छेद कुर्वन्ति ते ॥२०॥
द्विधाऽपि ते न भाषन्ते, अस्ति वा नास्ति वा पुन ।
आय रजसो हित्वा, निर्वाण प्राप्नुवन्ति ते ॥२१॥

अन्वयार्थ

(तहा गिर समारब्भ) उस प्रकार का वचन सुनकर (अत्थि पुण्णति णो वए) पुण्य है, ऐसा न कहे, (अहवा णत्थि पुण्णति एवमेय महब्भय) अथवा पुण्य नही है, ऐसा कहना भी भयदायक है ॥१७॥

(दाणट्ठया) सचित्त अन्नदान या जलदान देने के लिए (जे तसथावरा पाणा हम्मति) जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं, (तेसिं सारक्खणट्ठाए) उनकी रक्षा के लिए (अत्थित्ति णो वए) पुण्य होता है, यह न कहे ॥१८॥

(जेसिं त तहाविह अन्नपाण उवकप्पति) जिन प्राणियो को दान देने के लिए उस प्रकार का अन्न-पानी बनाया जाता है, (तेसिं लाभतरायति) उनके लाभ मे अन्तराय न हो (तम्हा) इसलिए (नत्थित्ति णो वए) पुण्य नही है, यह भी साधु न कहे ॥१९॥

(जे य दाण पससति) जो दान (सचित्त पदार्थों के आरम्भ से जन्य वस्तुओ के दान) की प्रशसा (आरम्भ क्रिया करते समय) करते है (वहमिच्छति पाणिण) वे प्राणिवध की इच्छा करते है, (जे य ण पडिसेहति) जो दान का निषेध करते हैं, वे वृत्ति का छेदन (जीविका भग) करते हैं ॥२०॥

(ते दुहओ वि अत्थि वा णत्थि वा पुणो ण भासति) साधु उक्त (सचित्त पदार्थों के आरम्भ से जन्य वस्तुओ के) दान मे पुण्य होता है या नही होता है, ये दोनो बातें नही कहते हैं। (रयस्स आय हेच्चा ण) इस प्रकार कर्मो के आगमन (आस्रव) को त्याग कर (ते निव्वाण पाउणति) वे साधु निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥२१॥

भावार्थ

साधु तथारूप आरम्भजनित क्रिया की बात को सुनकर पुण्य है,

ऐसा न कहे, तथा पुण्य नही है, ऐसा भी न कहे, क्योकि ऐसा कहने मे महाव्रतो मे दोष रूप महाभय की सम्भावना है ॥१७॥

सचित्त एव आरम्भजन्य जिस दान के लिए त्रस एव स्थावर प्राणी मारे जाते है, उनकी रक्षा के लिए पूर्ण अहिसक साधु पुण्य होता है, ऐसा न कहे, इसी प्रकार जिन प्राणियो को दान देने के लिए वह अन्नजल तैयार किया जाता है, उनके लाभ मे अन्तराय न हो, इसलिए पुण्य नही है, यह भी साधु न कहे—अर्थात् दोनो जगह तटस्थ रहे ॥१८-१९॥

जो सचित्त एव आरम्भजन्य दान की प्रशसा करते हैं, अर्थात् दान के पीछे होने वाले आरम्भ की प्रशसा करते है, वे प्राणियो के वध को अपने पर ओढ लेते है। इसी प्रकार जो दान का निषेध करते हैं, वे प्राणियो की आजीविका-भग करते है, अर्थात् वे उन प्राणियो के पेट पर लात मारते हैं ॥२०॥

सचित्त एव आरम्भजनित अन्न-जल आदि के दान मे पुण्य होता है, या पुण्य नही होता, इन दोनो ही बातो को साधु नही कहते है। इस प्रकार कर्म का आगमन (आस्रव) त्यागकर, साधु मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥२१॥

व्याख्या

हिंसाजनित पुण्यकार्यों मे साधु पुण्य कहे या अपुण्य ?

इन पाँच गाथाओ मे अहिंसा महाव्रती साधु को अहिंसाव्रत की सुरक्षा के लिए सावधान किया गया है। तथाकथित दानादि शुभकार्य, जिनके पीछे भावना तो शुभ है, लेकिन या तो दातव्य वस्तु सचित्त है, या आरम्भजन्य है, यानी या तो सजीव वस्तु को देने से हिंसा होती है, अथवा वस्तु को बनाने या तैयार करने मे छहो काय के जीवो की हिंसा होती है, अत जिस देय वस्तु के पीछे इस प्रकार की हिंसा सलग्न हो, उस सम्बन्ध मे पूर्ण अहिंसक साधु से पूछा जाय कि इस कार्य मे पुण्य है या अथवा पुण्य नही है? तब साधु क्या कहे? शास्त्रकार ऐसे विकट के साधु को अपने अहिंसामहाव्रत की सुरक्षा के लिए सावधान करते हुए कहते हैं—'अत्थिपुण्णं त्ति णो वए, णत्थिपुण्णं त्ति णो वए।' अर्थात् वह आरम्भ-जनित उस शुभक्रिया मे पुण्य होता है, ऐसा भी न कहे, और पुण्य नही होता है, ऐसा भी न कहे। यानी वह दोनो मामलो मे तटस्थ या मौन रहे। वह दोनो बातो मे तटस्थ क्यो रहे? इसके लिए शास्त्रकार स्वय कहते हैं—'दा . । य जे पाणा

तेसिं लाभतरायंति तम्हा णत्थि त्ति णो वए।'

शास्त्रकार की दृष्टि यह है कि साधु पूर्ण अहिंसाव्रती है, वह मन, वचन और काया से न तो स्वय हिंसा कर या करा है, और न ही हिंसा का अनुमोदन-समर्थन कर सकता है। ऐसी स्थिति मे कोई व्यक्ति दान-धर्मार्थ किसी चीज को

तैयार करना चाहता है या कर रहा है, अथवा कर ली है, और उसे तैयार करने में त्रस या स्थावर प्राणियो की हिंसा की सम्भावना है या हिंसा हुई है और वह साधु से पूछता है कि मेरे इस शुभ कार्य मे पुण्य है या नही ? तब यदि वह पुण्य होता है, ऐसा कहता है तो उन प्राणियो की हिंसा के अनुमोदन-समर्थन का दोप उसे लगेगा, इसलिए उपर्युक्त दृष्टि से आरम्भक्रिया से युक्त शुभकार्य म साधु 'पुण्य हे,' ऐसा न कहे। साथ ही वह ऐसा भी नही कहे कि पुण्य नही होता ह, क्योंकि उस व्यक्ति ने जिन लोगो को अनुकम्पाबुद्धि से देने के लिए वे चीजें तैयार की हैं, वह व्यक्ति महाव्रती साधु के मुँह से पुण्य नही होता ह, ऐसे उद्‌गार सुनकर उनको उन वस्तुओ का दान देने से रुक जायगा। उन लोगो को उन वस्तुओ की प्राप्ति मे बहुत बडा अन्तराय आ जायगा। उनके जीवन निर्वाह मे बाधा उपस्थित होगी। सम्भव है, वे उन वस्तुओ के न मिलने से भूखे-प्यासे मर जाएँ। इस दृष्टि से शास्त्रकार अहिंसाव्रती साधु को वृत्तिच्छेद हिंसा का भागी होने से बचाने के लिए कहते हैं - 'पुण्य नही होता है,' ऐसा भी न कहे। शास्त्रकार साधु को ऐसे मामले मे तटस्थ रहने का परामर्श देते हुए कहते हैं—'दुहओ वि ते ण भासति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो' अर्थात्—उक्त सचित्त या आरम्भजनित शुभक्रिया से पुण्य होता है या पुण्य नही होता, यो दोनो तरह से न कहे, तटस्थ रहे। इस सम्बन्ध मे और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं —"जेय दाण पससति जे य ण पडिसेहति, वित्तिच्छेय करेंति ते।" अर्थात् जो अहिंसा महाव्रती साधु आरम्भ-जनित या सचित्त दान की प्रशसा करते हैं, स्पष्ट शब्दो मे कहे तो दान के पीछे होने वाले आरम्भ की प्रशसा करते हैं, वे निष्प्रयोजन ही उक्त आरम्भक्रिया से होने वाले प्राणिवध को अपने पर ओढ लेते हैं। इसी प्रकार जो लोग अनुकम्पाबुद्धि से दिए जाने वाले ऐसे दान का निषेध करते हैं, अर्थात् वे सीधा ही कह देते है—'किसी को दान मत दो, दान देना पाप है,' वे उन प्राणियो की आजीविका का भग करते है, स्पष्ट शब्दो मे कहे तो वे उन बेचारे भूखे-प्यासे प्राणियो के पेट पर लात मारते हैं, उनको मिलने वाले लाभ मे अन्तराय डालते हैं। प्रश्न होता है—एक ओर तो शास्त्रकार साधु को ऐसे दानादि शुभकार्य के पीछे किये जाने वाले आरम्भ से अनेक प्राणियो की हिंसा होने के कारण 'पुण्य होता है', ऐसा कहने का निषेध करते हैं, जबकि दूसरी ओर शास्त्रकार उन दानादि शुभ कार्यों मे 'पुण्य नही होता, ऐसा कहने से भी इन्कार करते हैं, इसके पीछे क्या रहस्य है ? शास्त्रकार का दृष्टिकोण यह है कि जिस दानादि शुभकार्य के पीछे हिंसा होती हो, या होने वाली हो, उसकी प्रशसा न करो, न उसमे 'पुण्य होता है,' ऐसा कहो। तथा जिस शुभ कार्य का लाभ दूसरो को मिलता हो, उनका दुःख मिटता हो, ऐसे शुभकार्य को भले ही वह हिंसायुक्त है, फिर भी 'पुण्य नही होता,' ऐसा भी न कहो, और न उसका निषेध

ऐसा न कहे, तथा पुण्य नही है, ऐसा भी न कहे, क्योकि ऐसा कहने मे महाव्रतो मे दोष रूप महाभय की सम्भावना है ॥१७॥

सचित्त एव आरम्भजन्य जिस दान के लिए त्रस एव स्थावर प्राणी मारे जाते है, उनकी रक्षा के लिए पूर्ण अहिसक साधु पुण्य होता है, ऐसा न कहे, इसी प्रकार जिन प्राणियो को दान देने के लिए वह अन्नजल तैयार किया है, उनके लाभ मे अन्तराय न हो, इसलिए पुण्य नही है, यह भी साधु न कहे—अर्थात् दोनो जगह तटस्थ रहे ॥१८-१९॥

जो सचित्त एव आरम्भजन्य दान की प्रशसा करते है, अर्थात् दान के पीछे होने वाले आरम्भ की प्रशसा करते है, वे प्राणियो के वध को अपने पर ओढ लेते है। इसी प्रकार जो दान का निषेध करते हैं, वे प्राणियो की आजीविका-भग करते है, अर्थात् वे उन प्राणियो के पेट पर लात मारते है ॥२०॥

सचित्त एव आरम्भजनित अन्न-जल आदि के दान मे पुण्य होता है, या पुण्य नही होता, इन दोनो ही बातो को साधु नही कहते है। इस प्रकार कर्म का आगमन (आस्रव) त्यागकर, साधु मोक्ष को प्राप्त करते है ॥२१॥

व्याख्या

हिंसाजनित पुण्यकार्यों मे साधु पुण्य कहे या अपुण्य ?

इन पाँच गाथाओ मे अहिंसा महाव्रती साधु को अहिंसाव्रत की सुरक्षा के लिए सावधान किया गया है। तथाकथित दानादि शुभकार्य, जिनके पीछे भावना तो शुभ है, लेकिन या तो दातव्य वस्तु सचित्त है, या आरम्भजन्य है, यानी या तो सजीव वस्तु को देने से हिंसा होती है, अथवा वस्तु को बनाने या तैयार करने मे छहो काय के जीवो की हिंसा होती है, अत जिस देय वस्तु के पीछे इस प्रकार की हिंसा सलग्न हो, उस सम्बन्ध मे पूर्ण अहिंसक साधु से पूछा जाय कि इस कार्य मे पुण्य है या अथवा पुण्य नही है ? तब साधु क्या कहे ? शास्त्रकार ऐसे विकट धर्मसकट के समय साधु को अपने अहिंसामहाव्रत की सुरक्षा के लिए सावधान करते हुए कहते हैं—'अत्थित्ति णो वए, णत्थित्ति णो वए।' अर्थात् वह आरम्भजनित उस शुभक्रिया मे पुण्य होता है, ऐसा भी न कहे, और पुण्य नहीं होता है, ऐसा भी न कहे। यानी वह दोनो मामलो मे तटस्थ या मौन रहे। वह दोनो बातो मे तटस्थ क्यो रहे ? इसके लिए शास्त्रकार स्वय कहते है—' . य जे पाणा • • लाभतरायति तम्हा णत्थित्ति णो वए।'

शास्त्रकार की दृष्टि यह है कि साधु पूर्ण अहिंसाव्रती है, वह मन, वचन और काया से न तो स्वय हिंसा कर या करा है, और न ही हिंसा का अनुमोदन-समर्थन कर सकता है। ऐसी स्थिति मे कोई व्यक्ति दान-धर्मार्थ किसी चीज को

तैयार करना चाहता है या कर रहा है, अथवा कर ली है, और उसे तैयार करने मे त्रस या स्थावर प्राणियो की हिंसा की सम्भावना है या हिंसा हुई है और वह साधु से पूछता है कि मेरे इस शुभ कार्य मे पुण्य है या नही ? तब यदि वह पुण्य होता है, ऐसा कहता है तो उन प्राणियो की हिंसा के अनुमोदन-समर्थन का दोष उसे लगेगा, इसलिए उपर्युक्त दृष्टि से आरम्भक्रिया से युक्त शुभकार्य मे साधु 'पुण्य है,' ऐसा न कहे। साथ ही वह ऐसा भी नही कहे कि पुण्य नही होता है, क्योकि उस व्यक्ति ने जिन लोगो को अनुकम्पाबुद्धि से देने के लिए वे चीजें तैयार की है, वह व्यक्ति महाव्रती साधु के मुँह से पुण्य नही होता है, ऐसे उद्‌गार सुनकर उनको उन वस्तुओ का दान देने से रुक जायगा। उन लोगो को उन वस्तुओ की प्राप्ति मे बहुत बडा अन्तराय आ जायगा। उनके जीवन निर्वाह मे बाधा उपस्थित होगी। सम्भव है, वे उन वस्तुओ के न मिलने से भूखे-प्यासे मर जाएँ। इस दृष्टि से शास्त्रकार अहिंसाव्रती साधु को वृत्तिच्छेद हिंसा का भागी होने से बचाने के लिए कहते हैं - 'पुण्य नही होता है,' ऐसा भी न कहे। शास्त्रकार साधु को ऐसे मामले मे तटस्थ रहने का परामर्श देते हुए कहते है—'दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो' अर्थात्—उक्त सचित्त या आरम्भजनित शुभक्रिया से पुण्य होता है या पुण्य नही होता, यो दोनो तरह से न कहे, तटस्थ रहे। इस सम्बन्ध मे और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्र कार कहते है—"जेय दाण पससति जे य ण पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करेंति ते।' अर्थात् जो अहिंसा महाव्रती साधु आरम्भ-जनित या सचित्त दान की प्रशसा करते है, स्पष्ट शब्दो मे कहे तो दान के पीछे होने वाले आरम्भ की ।करते हैं, वे निष्प्रयोजन ही उक्त आरम्भक्रिया से होने वाले प्राणिवध को अपने पर ओढ लेते हैं। इसी प्रकार जो लोग अनुकम्पाबुद्धि से दिए जाने वाले ऐसे दान का निषेध करते हैं, अर्थात् वे सीधा ही कह देते हैं—'किसी को दान मत दो, दान देना पाप है,' वे उन प्राणियो की आजीविका का भग करते हैं, स्पष्ट शब्दो मे कहे तो वे उन बेचारे भूखे-प्यासे प्राणियो के पेट पर लात मारते है, उनको मिलने वाले लाभ मे अन्तराय डालते हैं। प्रश्न होता है—एक ओर तो शास्त्रकार साधु को ऐसे दानादि शुभकार्य के पीछे किये जाने वाले आरम्भ से अनेक प्राणियो की हिंसा होने के कारण 'पुण्य होता है', ऐसा कहने का निषेध करते हैं, जबकि दूसरी ओर शास्त्रकार उन दानादि शुभ कार्यो मे 'पुण्य नही होता,' ऐसा कहने से भी इन्कार करते हैं, इसके पीछे क्या रहस्य है ? शास्त्रकार का दृष्टिकोण यह है कि जिस दानादि शुभकार्य के पीछे हिंसा होती हो, या होने वाली हो, उसकी प्रशसा न करो, न उसमे 'पुण्य होता है,' ऐसा कहो। तथा जिस शुभ कार्य का लाभ दूसरो को मिलता हो, उनका दु ख मिटता हो, ऐसे शुभकार्य को भले ही वह हिंसायुक्त है, फिर भी 'पुण्य नही होता,' ऐसा भी न कहो, और न उसका निषेध

करो। क्योंकि ऐसा करने या कहने से जिन लोगों को उन वस्तुओं का लाभ मिलने वाला था, वह साधु के द्वारा निषेध करने या 'पुण्य नहीं है,' ऐसा कहने से नहीं मिलेगा। वे प्राणी उन वस्तुओं के अभाव से पीडित होंगे, यह भी एक प्रकार की हिंसा हो जायगी। किन्तु जिस दानादि शुभ-कार्य के पीछे कोई हिंसा नहीं होने वाली है या नहीं हुई है, अथवा नहीं होती है, ऐसी अचित्त प्रासुक आरम्भ-रहित वस्तु को कोई दान करना चाहे या किया हो, अथवा कर रहा हो, उसमे उसके शुभ परिणामो की दृष्टि से साधु पुण्य कह सकता है। किन्तु अनुकम्पाबुद्धि से दिये जाने वाले दान का निषेध तो उसे हर्गिज नहीं करना है। अनुकम्पादान का निषेध तो किसी भी जैनशास्त्र मे नहीं है। भगवतीसूत्र (८, ६, ३३१) की टीका मे स्पष्ट कहा है—

'अणुकपादाण पुण जिणेहि न कयाइ पडिसिद्ध।'

जिनेश्वरो ने अनुकम्पादान का तो कहीं भी निषेध नहीं किया है। इसलिए यहाँ तो सिर्फ सचित्त और आरम्भक्रिया के विषय मे साधु को मौन या तटस्थ रहने का उपदेश दिया है, लेकिन शुभभावो की दृष्टि से (क्रिया को एक ओर रखकर) उन शुभक्रियाओ के बारे मे कोई पूछता है तो पुण्य कहने मे साधु को कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। किन्तु जब कोई व्यक्ति उक्त दानादि शुभकार्यों का आरम्भ कर रहा हो या करने वाला हो और उस समय साधु से पूछे तो उसे तटस्थ रहना चाहिए, यही इन गाथाओ का हार्द है।

निष्कर्ष यह है कि सचित्त या आरम्भजन्य दानादि शुभकार्यों मे पुण्य या अपुण्य दोनो ही बातो के कहने मे कर्मबन्ध होना जानकर उस विषय मे साधु मौन या तटस्थ रहे। तथा निरवद्य भाषण के द्वारा कर्म के आगमन को न फटकने देकर ही साधु मोक्षमार्ग पर दृढ रहते हैं। ऐसे साधक ही एक दिन मोक्ष प्राप्त करते हैं।

मूल

निव्वाण परमं बुद्धा, णक्खत्ताण व चंदिमा ।
तम्हा सदा जए दंते, निव्वाण संधए मुणी ॥२२॥

संस्कृत

निर्वाण परम बुद्धा नक्षत्राणामिव चन्द्रमा ।
तस्मात् सदा यतो दान्तो निर्वाण साधयेन्मुनि ॥२२॥

अन्वयार्थ

(णक्खत्ताण चंदिमा व) जैसे नक्षत्रो मे चन्द्रमा प्रधान है, वैसे ही (निव्वाण परम बुद्धा) निर्वाण को सर्वोत्कृष्ट मानने वाले पुरुष सर्वश्रेष्ठ हैं। (तम्हा मुणी सदा

जए दते निव्वाण सधए) इसलिए मुनि सदा यत्नशील और जितेन्द्रिय होकर मोक्ष की साधना करे।

भावार्थ

जैसे चन्द्रमा सब नक्षत्रो मे प्रधान है, वैसे ही मोक्ष को सर्वोत्कृष्ट जानने-मानने वाले साधक सबसे श्रेष्ठ (प्रधान) है। अत मुनि सदा प्रयत्नशील और इन्द्रियविजयी होकर मोक्ष की साधना करे।

व्याख्या

मुनि एकमात्र मोक्ष की साधना मे जुटा रहे

इस गाथा मे शास्त्रकार निर्वाण (मोक्ष) को विश्व मे सर्वोत्कृष्ट तत्त्व बता कर उसी की साधना मे जुटे रहने का साधु को निर्देश करते है। निर्वाण का अर्थ—सच्चा शाश्वत अपरिवर्तनशील सुख है। इसे सर्वश्रेष्ठ मानने वाले परलोकार्थी तत्त्वज्ञ पुरुष निर्वाणवादी होने के कारण नक्षत्रो मे चन्द्रमा की तरह सबसे प्रधान है। जैसे अश्विनी आदि २७ नक्षत्रो मे सुन्दरता, परिमाण और प्रकाशरूप गुणो के कारण चन्द्रमा प्रधान है, इसी तरह मोक्षार्थी तत्त्वज्ञ पुरुषो मे वे ही प्रधान है, जो पुरुष स्वर्ग, चक्रवर्ती पद या सम्पत्ति की प्राप्ति की इच्छा को ठुकराकर समस्त कर्मों के क्षयरूप मोक्ष-मार्ग मे प्रवृत्त हैं, मोक्ष को ही ससार के समस्त पदार्थों मे श्रेष्ठ मानते हैं। उसी के लिए वे तत्त्वज्ञ साधक सतत पुरुषार्थ करते हैं, तथा इन्द्रियजयी होकर मोक्ष के लिए अहर्निश क्रियाएँ करते है।

मूल

बुज्झमाणाणं पाणाणं, किच्चताण सकम्मुणा ।
आघाइ साहु त दीव, पतिट्ठेसा पवुच्चई ॥२३॥

स छाया

उह्यमानाना प्राणाना, कृत्यमानाना स्वकर्मणा ।
आख्याति साधु तद् द्वीप, प्रतिष्ठैषा प्रोच्यते ॥२३॥

अन्वयार्थ

(बुज्झमाणाण) मिथ्यात्व, कषाय आदि की धारा मे बहे जाते हुए (सकम्मुणा किच्चताण) तथा अपने कर्मो से कष्ट पाते हुए (पाणाण) प्राणियो के लिए (साहु त दीव आघाइ) उत्तम मार्गरूप इस द्वीप को तीर्थंकर बताते हैं। (एसा पतिट्ठा पवुच्चई) इसे ही मोक्ष का प्रतिष्ठान—आधार विद्वान कहते हैं।

भावार्थ

मिथ्यात्व, कषाय आदि की तीव्र धारा मे बहाकर ले जाते हुए तथा अपने ही किये हुए कर्मो के उदय से पीडित होते हुए प्राणियो के लिए

तीर्थंकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मार्गरूप यह उत्तम द्वीप बताते है। विद्वान् कहते है कि यही मोक्ष का प्रतिष्ठान—आधार है।

कर्मपीड़ित जीवो के लिए यही मार्गरूप द्वीप

इस गाथा मे मार्ग को द्वीप की उपमा देकर उसकी महिमा बताई गई है।

जैसे समुद्र मे गिरे हुए और उसकी जल-तरगो के थपेडो से घबराए हुए हारे-थके एव मरणासन्न प्राणी को कोई दयालु एकान्त-हितैपी आप्त पुरुष श्रेष्ठ द्वीप्त बता देता है तो उसे कितना आधार और आश्वासन मिलता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व, कपाय आदि तरगो के तीव्र थपेडो से अनेकभवरूप ससारसागर मे इधर-उधर बहाये जाते हुए और कर्मों के उदय से पीडित हारे-थके जीव को विश्राम एव शान्ति पाने हेतु दयालु, एकान्त हितैपी, आप्त, तीर्थंकर, गणधर या आचार्य सम्यग्दर्शनादिमय मोक्षमार्गरूप उत्तम द्वीप बताते है, उसी को प्राप्त करने का उपदेश देते है। वे कहते है कि ये सम्यग्दर्शनादि ही मोक्ष के आधारभूत हैं, मोक्ष की प्राप्ति इसी मार्ग से होती है। परतीर्थिको द्वारा सम्यग्दर्शन आदि का ऐसा उत्तम नि स्पृह उपदेश नही मिलता है।

मूल

आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्म सुद्धमक्खाइ, पडिपुन्नमणेलिसं ॥२४॥

आत्मगुप्त सदा दान्तश्छिन्नस्रोता अनाश्रव ।
यो धर्मं शुद्धमाख्याति परिपूर्णमनीदृशम् ॥२४॥

अन्वयार्थ

(आयगुत्ते) अपनी आत्मा को पाप से सदा गुप्त—सुरक्षित रखने (बचाने) वाला, (जे सया दते) जो सदा जितेन्द्रिय होकर रहने वाला है, (छिन्नसोए) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय आदि कर्मों के स्रोत-प्रवाह को जिसने तोड दिया है, (वे) और जो आस्रवो से रहित साधक है, (पडिपुन्न अणेलिस सुद्ध धम्म अ) वही सम्यग्दर्शन आदि से या नय-प्रमाण-निक्षेप आदि से पूर्ण अथवा श्रुत-चारित्र आदि से परिपूर्ण अनन्यसदृश अनुपम शुद्धधर्म का उपदेश करता है।

र्थं

जो अपनी आत्मा को सदा पाप से बचाता है, जो सदा जितेन्द्रिय होकर रहता है, जिसने मिथ्यात्व आदि कर्मो के स्रोत को तोड दिया है,

और जो आस्रवो से रहित साधक है, वही परिपूर्ण, अनुपम, शुद्ध धर्म का उपदेश करता है।

• ।

परिपूर्ण, अनुपम, शुद्धधर्म का उपदेशक

इस गाथा मे यह बताते हैं कि मोक्षमार्ग के सन्दर्भ मे शुद्धधर्म का उपदेशक कौन और किस प्रकार के गुणो और योग्यता से विभूषित होता है ? मोक्ष मे परम सहायक एव मार्गरूप शुद्धधर्म के उपदेशक के लिए यहां चार विशेषण प्रयुक्त किये गये है—आत्मगुप्त, सदैव दान्त, छिन्नस्रोत और अनास्रव। यह एक जाना-माना हुआ तथ्य है कि जो व्यक्ति मोक्ष की ओर जाते समय मार्ग मे जो भी विघ्न-बाधाएँ, सकट आदि को पार कर चुका हो, बाधक तत्त्वो को परास्त कर चुका हो और उस मार्ग मे आगे बढा हुआ अनुभवी हो, वही मोक्ष के लिए परम सहायक शुद्धधर्म का उपदेश जिज्ञासुओ या मुमुक्षुओ को कर सकता है। जिसने अभी मोक्ष का रास्ता ही नही देखा, जो अभी ससारसागर मे ही गोते खा रहा है, जिसने धर्म का क, ख, ग भी नही सीखा, और न ससार के स्रोतो या कर्मो के आगमन के द्वारो को बन्द किया है, और न ही धर्म के विपक्षी अधर्म या पाप से अपनी आत्मा को बचाने का अभ्यास किया है, वह दूसरो को केवल पोथियो के सहारे शुद्धधर्म कैसे बता सकता है। जिसने अन्दर गोता लगाया नही, केवल जलाशय के किनारे खडा-खडा गाल बजा रहा है कि नदी मे ऐसे कूदा जाता है, ऐसे तैरा जाता है, क्या उस अनुभवहीन व्यक्ति का तैरने का उपदेश यथार्थ हो सकता है ? कदापि नही। इसी बात को लेकर शास्त्रकार शुद्ध धर्मोपदेशक की योग्यता के लिए ४ बातें बताते है—(१) जिसकी आत्मा मन-वचन-काया से पापो से रक्षित (गुप्त) है, (२) जिसने इन्द्रियो और मन पर काबू कर लिया है, (३) जिसने ससार के स्रोतरूप मिथ्यात्वादि बन्धनो को काट दिया है, (४) और कर्मो के प्रवेश द्वारो को जिसने बन्द कर दिया है, वही महापुरुष ऐसे अनुपम, सागोपाग एव शुद्ध धर्म का प्रतिपादन कर सकता है, अनुभवहीन एव अयोग्य व्यक्ति धर्म और मोक्ष के नाम से सब्जबाग दिखाकर या ऊटपटांग बातें करके दुनिया को अधर्म के गर्त्त मे ही धकेलने का प्रयास करेगा।

मूल

तमेव अविजाणता अबुद्धा बुद्धमाणिणो ।
बुद्धा मोत्ति य मन्नता, अंते एए समाहिए ॥२५॥

सस्कृत ।

तमेवाविजानाना अबुद्धा बुद्धमानिन ।
बुद्धा स्मेति च मन्यमाना. अन्ते एते समाधे ॥२५॥

अन्वयार्थ

(तमेव अविजाणता) उसी परिपूर्ण (सागोपाग) धर्म को न जानते हुए, (अ बुद्धमाणिणो) अज्ञानी होकर भी अपने आपको ज्ञानी मानने वाले (मोत्ति य म·नता) 'हम ज्ञानी है,' यो मानते हैं, ऐसे व्यक्ति (एए समाहिए अते) इस समाधिरूप धर्म से कोसो दूर है ।

भावार्थ

पूर्वोक्त शुद्ध, अनुपम और सागोपाग धर्म के तत्त्व को न जानते हुए, अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको ज्ञानी मानने वाले अन्यतीर्थिक पुरुष 'हम ज्ञानी है,' ऐसा मानते है । ऐसे व्यक्ति इस समाधिरूप धर्म से बहुत दूर है ।

व्याख्या

वे धर्म के तत्त्वज्ञान से काफी दूर हैं

इस गाथा मे उन लोगो को आडे हाथो लिया है, जो परिपूर्ण शुद्ध धर्म को न जानते हुए भी अपने आपको बहुत बडा ज्ञानी बताते है । वास्तव मे परीक्षा करके देखा जाय तो वे धर्म और मोक्ष के वस्तुतत्त्व के ज्ञान से कोसो दूर हैं । इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं "अते एए समाहिए' ये समाधि से दूर हैं । समाधि शब्द यहाँ धर्म के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, क्योकि धर्म ही आत्मा को वास्तविक सुख शान्ति, सतोप, प्रसन्नता प्राप्त करा सकता है, वही मोक्ष मे सम्यक् प्रकार से जीव को ले जाकर रख सकता है ।

वे अन्यतीर्थिक धर्म के तत्त्वज्ञान से क्यो दूर हैं ? इसके समाधानार्थ शास्त्रकार द्वारा अगली छह गाथाएँ प्रस्तुत की जाती हैं—

मूल

ते अ बीयोदगं चेव, तमुद्दिस्सा य जं कड ।
भोच्चा झाणं झियायति, अखेयन्ना असमाहिया ॥२६॥
जहा ढका य कका य, कुलला मग्गुका सिही ।
मच्छेसणं झियायंति, झाण ते कलुसाधमं ॥२७॥
एव तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
विसएसणं झियायति, वा कलुसाहमा ॥२८॥
सुद्धं मग्ग विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मई ।
उम्मग्गगता दुक्ख, घायमेसति त तहा ॥२९॥

जहा आसाविणि नाव, जाइअधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागतु, अतरा य विसीयइ ॥३०॥
एव तु समणा एगे मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
सोय कसिणमावन्ना आगतारो महब्भय ॥३१॥

संस्कृत छाया

ते च बीजोदक चैव, तमुद्दिश्य च यत्कृतम् ।
भुक्त्वा ध्यान ध्यायन्ति, अखे असमाहिता ॥२६॥
यथा ढकाश्च, कंकाश्च, कुररा मद्गुका सिखा ।
मत्स्यैषण ध्यायन्ति, ध्यान तत् कलुषाधमम् ॥२७॥
एव तु श्रमणा एके, मिथ्यादृष्टयोऽनार्या ।
विषयैषण ध्यायन्ति, कका इव कलुषाधमा ॥२८॥
शुद्ध मार्ग विराध्य, इहैके तु दुर्मतय ।
उन्मार्गगता दुःख घातमेष्यन्ति तत्तथा ॥२९॥
यथाऽस्राविणी नाव जात्यन्धो दुरुह्य ।
इच्छति पारमागन्तुमन्तरा च विषीदति ॥३०॥
एव तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्या ।
स्रोत कृत्स्नमापन्ना आगन्तारो महाभयम् ॥३१॥

अन्वयार्थ

(ते य बीयोदग चेव) वे (अन्यतीर्थिक) सचित्त बीज और जल (कच्चा) तथा (तमुद्दिसा य ज कड) उनके लिए जो आहार बनाया गया है, (भोच्चा) उसका उपभोग करते हुए (झाण झियायति) आर्तध्यान करते हैं। (अखेयन्ना असमाहिया) वे उन प्राणियो के खेद (पीडा) से अनभिज्ञ अथवा धर्मज्ञान से रहित तथा समाधि से हीन है ॥२६॥

(जहा ढका य कका य कुलला मग्गुका सिही) जैसे ढक, कक, कुरर, जलमुर्ग और शिखी नामक जलचर पक्षी (मच्छेसण झियायति) मछली को पकडकर गटकने के बुरे विचार (कुध्यान) मे रत रहते हैं, (झाण ते कलुसाधम) उनका वह ध्यान मत्स्यवधरूप सावद्यव्यापारमय होने से पापरूप व अधम होता है। (एव तु) इसी तरह (मिच्छदिट्ठी अणारिया एगे समणा) मिथ्यादृष्टि, अनार्य कुछ तथाकथित श्रमण (विसएसण झियायति) विषयो की तलाश (प्राप्ति) का ही ध्यान करते हैं, (ते वा कलुसाहमा) वे ढक, कक आदि पक्षियो की तरह पापी एव अधम हैं ॥२७-२८॥

(इह) इस जगत् मे (एगे उ दुम्मई) कई दुर्बुद्धि पुरुष (सुद्ध मग्ग) शुद्ध-

र्थं

(तमेव अविजाणता) उसी परिपूर्ण (सागोपाग) धर्म को न जानते हुए, (अ बुद्धमाणिणो) अज्ञानी होकर भी अपने आपको ज्ञानी मानने वाले (मोत्ति य मन्नता) 'हम ज्ञानी है,' यो मानते हैं, ऐसे व्यक्ति (एए समाहिए अते) इस समाधिरूप धर्म से कोसो दूर है।

र्थं

पूर्वोक्त शुद्ध, अनुपम और सागोपाग धर्म के तत्त्व को न जानते हुए, अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको ज्ञानी मानने वाले अन्यतीर्थिक पुरुष 'हम ज्ञानी है,' ऐसा मानते है। ऐसे व्यक्ति इस समाधिरूप धर्म से बहुत दूर है।

• ।

वे शुद्धधर्म के तत्त्वज्ञान से काफी दूर हैं

इस गाथा मे उन लोगो को आडे हाथो लिया है, जो परिपूर्ण शुद्ध धर्म को न जानते हुए भी अपने आपको बहुत बडा ज्ञानी बताते है। वास्तव मे परीक्षा करके देखा जाय तो वे धर्म और मोक्ष के वस्तुतत्त्व के ज्ञान से कोसो दूर हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं "अते एए समाहिए' ये समाधि से दूर हैं। समाधि शब्द यहाँ धर्म के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, क्योकि धर्म ही आत्मा को वास्तविक सुख शान्ति, सतोप, प्र ा प्राप्त करा सकता है, वही मोक्ष मे सम्यक् प्रकार से जीव को ले जाकर रख ा है।

वे अन्यतीर्थिक धर्म के न से क्यो दूर हैं? इसके समाधानार्थ शास्त्रकार द्वारा अगली छह गाथाएँ प्रस्तुत की जाती है—

ते अ बीयोदगं चेव, तमुद्दिस्सा य जं ।
भोच्चा झाणं झियायंति, यन्ना माहिया ॥२६॥
जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गुका सिही ।
मच्छेसणं झियायंति, झाण ते कलुसाधमं ॥२७॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
विसए झियायंति, कंका वा कलुसाहमा ॥२८॥
सुद्ध मग्ग विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मई ।
उम्मग्गगता दुक्ख, घायमेसंति त तहा ॥२९॥

जहा आसाविणि नाव, जाइअधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागतु, अतरा य विसीयइ ॥३०॥
एव तु समणा एगे मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
सोय कसिणमावन्ना आगतारो महब्भय ॥३१॥

संस्कृत छाया

ते च बीजोदक चैव, तमुद्दिश्य च यत्कृतम् ।
भुक्त्वा ध्यान ध्यायन्ति, अखेदज्ञा असमाहिता ॥२६॥
यथा ढकाश्च, कङ्काश्च, कुररा मद्गुका सिखा ।
मत्स्यैषण ध्यायन्ति, ध्यान तत् कलुषाधमम् ॥२७॥
एव तु श्रमणा एके, मिथ्यादृष्टयोऽनार्या ।
विषयैषण ध्यायन्ति, कका इव कलुषाधमा ॥२८॥
शुद्ध मार्गं विराध्य, इहैके तु दुर्मतय ।
उन्मार्गगता दु ख घातमेष्यन्ति तत्तथा ॥२९॥
यथाऽस्राविणी नाव जात्यन्धो दुरुह्य ।
इच्छति पारमागन्तुमन्तरा च विषीदति ॥३०॥
एव तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्या ।
स्रोत कृत्स्नमापन्ना आगन्तारो महाभयम् ॥३१॥

अन्वयार्थ

(ते य बीयोदग चेव) वे (अन्यतीर्थिक) सचित्त बीज और जल (कच्चा) तथा (तमुद्दिसा य ज कड) उनके लिए जो आहार बनाया गया है, (भोच्चा) उसका उपभोग करते हुए (झाण झियायति) आर्तध्यान करते है। (अखेयन्ना असमाहिया) वे उन प्राणियो के खेद (पीडा) से अनभिज्ञ अथवा धर्मज्ञान से रहित तथा समाधि से हीन हैं ॥२६॥

(जहा ढका य कका य ला मग्गुका सिही) जैसे ढक, कक, कुरर, जलमुर्ग और शिखी नामक जलचर पक्षी (मच्छेसण झियायति) मछली को पकडकर गटकने के बुरे विचार (कुध्यान) मे रत रहते है, (झाण ते कलुसाधम) उनका वह ध्यान मत्स्यवधरूप सावद्यव्यापारमय होने से पापरूप व अधम होता है। (एव तु) इसी तरह (मिच्छदिट्ठी अणारिया एगे समणा) मिथ्यादृष्टि, अनार्य कुछ तथाकथित श्रमण (विसएसण झियायति) विषयो की तलाश (प्राप्ति) का ही ध्यान करते हैं, (ते कका वा कलुसाहमा) वे ढक, कक आदि पक्षियो की तरह पापी एव अधम है ॥२७-२८॥

(इह) इस जगत् मे (एगे उ दुम्मई) कई दुर्बुद्धि पुरुष (सुद्ध मग्ग) शुद्ध-

मार्ग की (विराहित्ता) विराधना करके दूपित करके (उम्मग्गगता) उन्मार्ग मे प्रवृत्त होते है। (दुक्ख घाय त तहा एसति) वे अपने लिए वैसे दु ख और घात (नाश) को न्योता देते है—बुलाते है ॥२६॥

(जहा) जैसे (जाइअधो) जन्मान्ध पुरुष (आसाविणि नाव दुरूहिया) छेद वाली नौका पर चढकर (पारमागतु इच्छई) नदी को पार करना चाहता है, (अतरा य विसीयइ) परन्तु वह बीच मे ही डूब जाने से दु ख पाता है ॥३०॥

(एव तु मिच्छदिट्ठी एगे अणारिया समणा) इसी तरह कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण (कसिण सोयमावन्ना) पूर्णरूप से आस्रव का सेवन करते है। (महब्भय आगतारो) किन्तु उन्हे महान् भय (खतरे) का सामना करना पडेगा ॥३१॥

भावार्थ

सचित्त बीज और कच्चा पानी तथा उनके लिए बनाये गए आहार का उपभोग करके वे अन्यतीर्थिक आर्तध्यान करते हैं। अत वे प्राणियो के दु ख (खेद) के ज्ञान से रहित अथवा धर्मज्ञान से रहित एव भावसमाधि से दूर है ॥२६॥

जैसे ढक, कक, कुरर, जलमुर्ग और शिखी नामक पक्षी जल मे रहकर सदा मछलियाँ पकडने और गटकने के ध्यान मे रत रहते है, इसी तरह कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण नामधारी सदा विषय-प्राप्ति का ध्यान करते हैं, वे भी ढक, कक आदि पक्षियो की तरह पापी और अधम है ॥२७-२८॥

इस जगत् मे कई दुर्बुद्धि लोग शुद्धमार्ग से भ्रष्ट होकर उन्मार्ग में प्रवृत्त होते है, वे अपने लिए दु ख और विनाश को ढूंढते हैं ॥२९॥

जैसे जन्मान्धपुरुष छिद्रयुक्त नौका पर चढकर नदी को पार करना चाहता है, परन्तु वह मझधार मे ही डूबकर दु ख पाता है ॥३०॥

इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि अनार्य तथाकथित श्रमण पूर्णरूप से आस्रव का सेवन करते हैं किन्तु उन्हे महाभय (खतरे) का सामना करना पडेगा ॥३१॥

भावमार्ग से दूर क्यो और कैसे ?

इन ६ गाथाओ मे शास्त्रकार ने युक्तिसहित यह बताया है कि पूर्वगाथा मे बताए गए अन्यतीर्थिक लोग, जो अपने आपको श्रमण, ज्ञानी, प्रबुद्ध आदि मानते है और धर्म और मोक्ष की बातें बघारते है, भावमाग (सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म, या मोक्षमार्ग या समाधि) से क्यो और कितने दूर हैं ? शास्त्रकार ने उन पर ५ आक्षेप किये हैं—(१) वे जीवाजीव के स्वरूप से अनभिज्ञ होने से सचित्त और औद्देशिक आहार का

सेवन करते है, (२) आर्त्तध्यान करते है (३) विषयो की प्राप्ति का अधम मपाप ध्यान करते हैं, (४) वे शुद्धमार्ग को छोडकर उन्मार्ग मे प्रवृत्त होते है, (५) आस्रवो का भरपूर सेवन करते है।

पहला आक्षेप—वे चावल, गेहूँ आदि अनाज बीजरूप जो सचित्त होता है, तथा अप्रासुक (कच्चा) पानी का सेवन करते हैं, उन्हे दान देने के लिए उनके भक्तो द्वारा अग्निकाय आदि का आरम्भ करके पकाए हुए सरस आहार को वे भोगते है। अगर जीव और अजीव का अन्तर समझते तो सजीव तथा जीवहिंसाजनित वस्तुओ का उपभोग न करते।

दूसरा आक्षेप— वे बौद्धसघ के लिए आहार बनवाने तथा उसे प्राप्त करने के लिए अहर्निश चिन्तित रहते है, अर्थात् आर्तध्यान करते है। जो लोग इहलौकिक सुख की कामना करते हैं, दास-दासी, धन-धान्य आदि परिग्रह रखते है, उन्हे धर्म-ध्यान होना सम्भव नही है। कहा भी है—

ग्राम-क्षेत्रगृहादीना गवा प्रेष्यजनस्य च ।
यस्मिन् परिग्रहो दृष्टो, ध्यान तत्र कुत शुभम् ।।

अर्थात्—जो व्यक्ति गाँव, क्षेत्र, गृह आदि का, गायो और दासजनो का परिग्रह रखता है, उसे शुभध्यान कैसे होगा ?

परिग्रह तो वैसे ही मोह, मद, लोभ, अशान्ति आदि दु खो का घर है। धैर्य शान्ति, चित्तैकाग्रता आदि का विनाशक है। वह शुभध्यानपूर्वक कदापि नही हो सकता। फिर वे शाक्य आदि पचन-पाचन आदि आरम्भक्रिया मे प्रवृत्त रहते है, उसी बात की चिन्ता करते रहते हैं, उन्हे शुभध्यान कहाँ से होगा ? तथा वे धर्म एव अधर्म के विवेक मे निपुण नही हैं, क्योकि त्याग मे धर्म न मानकर, भोग मे धर्म मानते हैं। मनोज्ञ आहार, मनोज्ञ मृदुल शय्या, मनोज्ञ आसन और बढिया सुन्दर घर आदि जो वस्तुत राग के कारण हैं, उन्हे वे शुभध्यान के कारण मानते हैं। भला रागवर्द्धक वस्तुओ के सेवन से त्यागवर्द्धक शुभध्यान कैसे हो जाएगा ? तथा वे मास का 'कल्किक' नाम रखकर उसे खाने मे दोष नही मानते और न बौद्धसघ के लिए किये जाने वाले आरम्भ को ही दोषयुक्त मानते हैं। इस प्रकार मनोज्ञ और उद्दिष्ट आहार आदि का सेवन करने और परिग्रह रखने से बेचारे शुभध्यानविहीन शाक्य आदि धर्ममार्ग से युक्त कैसे रह सकते है ?

तीसरा आक्षेप—जैसे ढक, कक, कुररी, जलमुर्गा आदि जल मे तैरने वाले पक्षी अहर्निश मछलियो को ढूंढने और उन्हे निगलने के दुर्ध्यान मे मग्न रहते हैं, वैसे ही जो मिथ्यादृष्टि आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने के कारण अनार्य, तथाकथित श्रमण अहर्निश विषयप्राप्ति का ही आर्त-रौद्र ध्यान करते हैं, वे भी ढक आदि पक्षियो की तरह कलुषित ध्यान से दूर नही है।

चौथा आक्षेप सम्यग्दर्शनादि धर्मरूप निर्दोष जो मोक्षमार्ग है, उसे ठुकरा कर शाक्य आदि कुमार्ग की प्ररूपणा करके विराधना करते हैं। ससार के राग के कारण उनकी बुद्धि कलुषित और महामोह से दूषित हो जाने से वे अच्छे मार्ग को छोडकर स्वच्छन्दाचारकल्पित कुमार्ग पर चलते हैं। इस कारण वे विक मार्ग से बहुत दूर है।

पाँचवाँ आक्षेप जैसे कोई जन्मान्ध व्यक्ति छेदवाली नौका मे बैठकर नदी पार करना चाहता है, उसके मनसूबे अधूरे ही रह जाते हैं, बेचारा अधबीच मे नौका डूबने के साथ जलसमाधि ले लेता है, दु खी हो जाता है, वैसे ही वे (आदि) जिस जीवनरूपी नौका पर बैठे हैं, वह आस्रवरूपी छिद्रो से युक्त है, क्योकि उन मिथ्यादृष्टि, अनार्य श्रमणो का जीवन आस्रवसेवन से परिपूर्ण है। इस कारण उस सछिद्र नौका पर सवार जात्यन्ध की तरह वे भी ससारसागर मे डूब जाते है। उनका धर्म उन्हे तरा नही सकता।

उपर्युक्त पाँचो ही आक्षेप अकाट्य है, युक्तियुक्त है। अत शाक्य आदि अन्यतीर्थिक भावमार्ग से कोसो दूर है, यह सिद्ध है।

मूल पाठ

इम च धम्ममादाय, कासवेण पवेइय ।
तरे सोय महाघोर, अत्तत्ताए परिव्वए ॥३२॥
विरए गामधम्मेहिं जे केइ जगई जगा ।
तेसिं अत्तुवमायाए, थाम कुव्व परिव्वए ॥३३॥
अइमाणं च मायं च, त परिन्नाय पडिए ।
सव्वमेय णिराकिच्चा, णिव्वाण सधए मुणी ॥३४॥
सधए साहुधम्म च, पावधम्म णिराकरे ।
उवहाणवीरिए भि , कोह माण ण पत्थए ॥३५॥

सस्कृत

इमञ्च धर्ममादाय, काश्यपेन प्रवेदितम् ।
तरेत् स्रोतो महाघोरमात्मत्राणाय परिव्रजेत् ॥३२॥
विरतो ग्रामधर्मेभ्यो, ये केचिज्जगति जगा ।
तेषामात्मोपमया, स्थाम कुर्वन् परिव्रजेत् ॥३३॥
अतिमानञ्च माया च तत्परिज्ञाय पण्डित ।
सर्वमेतन्निराकृत्य, निर्वाण मन्धयेन्मुनि ॥३४॥

सन्धयेत् साधुधर्मञ्च, पापधर्म निराकुर्यात् ।
उपधानवीर्यो भिक्षु क्रोधमानञ्च वर्जयेत् ॥३५॥

अन्वयार्थ

(कासवेण पवेइय) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर द्वारा बताये हुए (इम च धम्म आदाय) इस धर्म को प्राप्त करके (महाघोर सोय तरे) साधु महाघोरतम ससारसागर को पार करे, तथा (अ ए परिव्वए) अपनी आत्मा की रक्षा के लिए सयम मे प्रगति करे ।।३२।।

(गामधम्मेहि विरए) साधु इन्द्रियो के शब्दादि धर्मो—विपयो से विरत होकर (जगई जे केई जगा) जगत् मे जो भी प्राणी है, (तेसिं अत्तुवमाए) उनको अपने समान समझता हुआ (थाम कुव्व परिव्वए) सयम मे पराक्रम करता हुआ प्रगति करे ।।३३।।

(वडिए मुणी) विद्वान् मुनि (अइमाण च माय च त परिन्नाय) अतिमान और माया (छलकपट) को भली-भाँति जानकर (एय सव्व णिराकिच्चा) तथा इन सबको त्याग कर (णिव्वाण सधए) निर्वाण—मोक्ष की खोज करे ।।३४।।

(भिक्खू साहुधम्म सधए) साधु क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म के साथ अपने मन-वचन-काया को जोडे (पावधम्म णिराकरे) और जो भी पापयुक्त स्वभाव है, उसका त्याग करे, उसे खदेड दे। (उवहाणवीरिए भिक्खू) तप मे अपनी शक्ति लगाने वाला साधु (कोह माण ण पत्थए) अपनी तप साधना के उत्कर्ष को लेकर क्रोध अभिमान को जरा भी सार्थक न होने दे ।।३५।।

भावार्थ

काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्रकाशित इस धर्म को ग्रहण (स्वीकार) करके बुद्धिमान् साधक महाघोर ससारसागर को पार करे। वह केवल आत्मकल्याणार्थ ही सयम मे प्रगति करे ।।३२।।

साधु इन्द्रियो के शब्दादि विषयो से विरत होकर ससार मे जो भी प्राणी हैं, उन्हे आत्मतुल्य समझता हुआ उत्साहपूर्वक सयम का पालन करे ।।३३।।

हिताहित विवेकी साधु अत्यन्त मान और माया को भली-भाँति जानकर उन सबका परित्याग करके एकमात्र मोक्ष की खोज मे लगे ।।३४।।

साधु क्षमा आदि दस प्रकार के श्रमणधर्मों के पालन मे ही अपने मन-वचन-काया को जोडे और जो भी पापमय स्वभाव (आदत) है, उसे खदेड दे। अपनी तप साधना मे शक्ति लगाने वाला साधु तप के उत्कर्ष को लेकर किसी पर भी कोप न करे और न ही अभिमान प्रगट करे ।।३५।।

व्याख्या

मुनि साधुधर्म से मोक्ष तक की दौड लगाए

इन चार गाथाओ मे शास्त्रकार ने साधु को श्रमणधर्म पर चलकर मोक्ष प्राप्त करने के कुछ अकसीर उपाय बताए है। साथ ही, साधु को किन-किन बातो से बचकर चलना चाहिए ? इसका भी सक्षेप मे सकेत किया है।

बत्तीसवी गाथा मे शास्त्रकार ने खास बात कह दी है कि साधक श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित साधुधर्म को स्वीकार करके इधर-उधर ससार की भोग-वासनामय गलियो न झाँके। अगर ससार की ओर झाँकेगा, या ससार के प्रपचो मे रुचि लेगा तो फँस जाएगा। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—'**तरे सोय महाघोर**।' आशय यह है कि ससार महाभय-दायक है, दुस्तर है, इसमे रहने वाले प्राणी एक जन्म से दूसरे जन्म मे, एक गर्भ से दूसरे गर्भ मे और एक मरण से दूसरे मरण मे, एक दुख से दूसरे दुख मे जाते हुए अरहटयन्त्र की तरह अनन्तकाल तक ससार मे भटकते रहते हैं। ससारसागर से अपनी आत्मा को बचाने के लिए जीव को भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट शुद्धधर्म (साधुधर्म) को स्वीकार करके उसी पर सरपट चलना चाहिए। कही-कही उत्तरार्द्ध का पाठ इस प्रकार मिलता है—'**कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए**' साधु रुग्ण साधु की सेवा (वैयावृत्य) अग्लान एव प्रसन्नचित्त होकर करे अथवा साधु रोगी साधु को समाधि एव आरोग्य प्राप्त कराने हेतु उसकी सेवा करे।

३३वी गाथा मे गया है कि साधुधर्म पर दृढ रहने के लिए साधु को इन्द्रियो के लुभावने विषयो से दूर रहना चाहिए। अगर वह इन्द्रियविषयो मे आसक्त होने लगेगा तो वही फँस जायगा, उसकी सयम-यात्रा ठप्प हो जाएगी, मोक्ष तक वह पहुँच नही सकेगा। साथ ही साधु को मोक्षमार्ग पर यात्रा करते समय ससार के प्राणियो को आत्मवत् मानकर चलना चाहिए, तभी उसकी यात्रा सुखद, सरल और निर्द्वन्द्व हो सकेगी। अन्यथा, वह पद-पद पर अगर प्राणियो से रहेगा, सघर्ष करता रहेगा या दूसरो का उत्पीडन करता हुआ चलेगा, तो उसकी शान्ति, समाधि सब हवा हो जायगी। इसलिए कार स्पष्ट कहते हैं—'**थाम कुव्व परिव्वए**' अर्थात् साधु उत्साहपूर्वक या साहस के साथ मोक्षपथ पर दौड लगाए। आगे की ३४वी, ३५वी गाथा मे स्पष्ट बताया है कि साधु क्रोध, मान, माया और लोभ आदि समस्त आत्मबाह्यभावो—परभावो को दूर खदेड कर एकमात्र मोक्ष की साधना मे लगे, अपने अन्दर रहे हुए बुरे स्वभाव को तिलाजलि देकर साधुधर्म के साथ मन-वचन-काया से अपना सम्बन्ध जोडे। तभी वह मोक्ष तक आसानी मे और शीघ्रता से पहुँच है। तथा साधु मो पर यात्रा करते समय शरीर पर ममत्व न रखकर अधिकाश शक्ति तपश्चर्या मे

लगाए, किन्तु तपस्या के उत्कर्ष को पाकर वह किसी पर कोप न बरसाए और न ही अभिमान प्रगट करे।

ये सब उपाय साधुधर्म से मोक्ष तक दौड लगाकर मोक्ष पाने के है।

मूल

जे य बुद्धा अतिक्कता, जे य बुद्धा अणागया ।
सति तेसिं पइट्ठाण, भूयाण जगती जहा ॥३६॥

सं छाया

ये च बुद्धा अतिक्रान्ता, ये च बुद्धा अनागता ।
शान्तिस्तेषा प्रतिष्ठान भूताना जगति तथा ॥३६॥

अन्वयार्थ

(जे य बुद्धा अतिक्कता) जो तीर्थंकर भूतकाल मे हो चुके है, (जे य अणागया) और जो तीर्थंकर भविष्य मे होगे (तेसिं सति पइट्ठाण) उनकी साधना का आधार शान्ति है, (जहा भूयाण जगती) जैसे प्राणियो का आधार पृथ्वी है।

भावार्थ

जो तीर्थंकर अतीत मे हो चुके है और जो तीर्थंकर भविष्य मे होगे, उन सबका आधार शान्ति है, जैसे समस्त प्राणियो का आधार पृथ्वी है।

व्याख्या

शान्तिरूप भावमार्ग ही समस्त तीर्थंकरो का आधार

इस गाथा मे शान्तिरूप भावमार्ग को भूत-भविष्यकालीन समस्त तीर्थंकरो का आधार बताया है।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार के शान्तिरूप भावमार्ग का उपदेश केवल भगवान् महावीर ने ही दिया है या अन्य तीर्थंकरो ने भी दिया था या देंगे ? इसके समाधानार्थ शास्त्रकार कहते हैं— 'जे य सति तेसिं पइट्ठाण' आशय यह है कि ऋषभदेव आदि जितने भी तीर्थंकर भूतकाल हो चुके है, एव पद्मनाभ आदि जो तीर्थंकर भविष्यकाल मे होगे, अतीत और अनागत काल के ग्रहण से वर्तमानकाल का भी ग्रहण हो जाने से वर्तमानकाल मे महाविदेहक्षेत्र मे सीमन्धरस्वामी आदि जो तीर्थंकर विद्यमान हैं, उन सबका आधार शान्ति है। अर्थात् उनके उपदेशो एव साधना का सर्वाधार शान्ति रही है और रहेगी। शान्ति कहते हैं—कषायो के नाश को। कषायनाशरूप शान्ति की साधना या, इसके उपदेश का आधार लिये बिना मोक्षमार्ग पर चलने की यात्रा आगे चल नही सकती, इसलिए त्रैकालिक तीर्थंकरो के जीवन का मूलाधार शान्ति ही रहा है, जो भावमार्ग है। अथवा षट्काय के जीवो की रक्षारूप अहिंसा का नाम शान्ति है। इसके बिना बुद्धत्व—ज्ञानीपन नही हो सकता।

अथवा मोक्ष को ही शान्ति कहते है। मोक्ष तो समस्त तीर्थकरो (त्रैकालिक) का उसी तरह आधार है जिस तरह त्रस स्थावर समस्त जीवो का आधार पृथ्वी है। मोक्ष की प्राप्ति भावमार्ग के विना सम्भव नही है, इसलिए सभी तीर्थंकरो ने शान्ति-रूप भावमार्ग का ही कथन एव आचरण किया है।

मूल

अह ण वयमापन्न फासा उच्चावया फुसे ।
ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी ।।३७।।

स ा

अथ त व्रतमापन्न स्पर्शा उच्चावचा स्पृशेयु ।
न तेषु विनिहन्यात्, वातेनेव महागिरि ।।३७।।

अन्वयार्थ

(अह) इसके (भावमार्ग ग्रहण करने के) पश्चात् (वयमापन्न ण) व्रत ग्रहण किये हुए उस साधु को (उच्चावया फासा फुसे) नाना प्रकार के सम-विषम परीषह और उपसर्ग स्पर्श करें, (तेसु ण विणिहण्णेज्जा) तो साधु उनमे प्रतिहत या पराजित न हो, अथवा डिगे नही, (वातेनेव महागिरी) जैसे वायु के झोंके से महापर्वत नही डिगता है।

ार्थ

भावमार्ग ग्रहण करने के बाद व्रतग्रहण किये हुए उस साधु को नाना प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल परीषह या उपसर्ग स्पर्श करे, तब साधु उन्हे देखकर अपने सयम से उसी प्रकार विचलित न हो जैसे हवा से बडा पहाड नही डिगता।

व्याख्या

भावमार्ग से विचलित न हो

इस गाथा मे शास्त्रकार साधु को अपने कर्तव्य के विषय मे सावधान करते हैं कि साधु एक बार भावमार्ग को ग्रहण करने के पश्चात् चाहे कितने ही अनुकूल-प्रतिकूल या सम-विषम परीषह या उपसर्ग क्यो न आएँ, उस मार्ग से जरा भी विचलित न हो, वह अपने पैर उस भावमार्ग (सयम) पर मजबूती से जमाए रखे। जिस प्रकार आँधी या झझावात के कितने ही झौंके आने पर महापर्वत बिलकुल अडिग एव अडोल रहता है, वैसे ही साधु परीषहो या उपसर्गों के झोंके आने पर अपने भावमार्ग से जरा भी डिगे नही, -अटल रहे। कोई कह सकता है कि वर्तमानकाल के अल्पसत्त्व साधक इतने कठोर परीषहो एव घोर उपसर्गो के समय बिलकुल अडोल या अटल-अचल कैसे रह सकते हैं ? इसके समाधान के लिए वृत्तिकार

एक उदाहरण प्रस्तुत करते है—जैसे ग्वाला ताजे जन्मे हुए गाय के बच्चे को हाथो से उठाकार गाय के पास ले जाता है और फिर ले आता है। इसी तरह यदि वह प्रतिदिन उस बछडे को अपने हाथो से उठाकर गाय के पास ले जाने और वापस लाने का अभ्यास जारी रख तो बछडा दो-तीन वर्ष का हो जाय तो भी वह उस बछडे को उसी तरह हाथो से उठा सकता है और वापस ला सकता है। इसी प्रकार साधु भी क्रमश परीपहो और उपसर्गो को जीतने का अभ्यास करता रहे तो उन्हे जीतने या सहने का दुष्कर कार्य भी आसानी से सुकर हो सकता है।

मूल पाठ

सवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसण चरे ।
निव्वुडे कालमा ी, एय केवलिणो मय ॥२८॥
त्ति बेमि ॥

सस्कृत छाया

सवृत स महाप्राज्ञ, धीरो दत्तैषणा चरेत् ।
निर्वृत कालमाकाक्षेदेव केवलिनो मतम् ॥३८॥
इति ीमि ॥

अन्वयार्थ

(सवुडे महापन्ने धीरे से) आस्रवद्वारो का निरोध किया हुआ, महाबुद्धिशाली धीर वह साधु (दत्तेसण चरे) दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिया हुआ एषणीय आहार ही ग्रहण एव सेवन करे। (निव्वुडे कालमाकखी) तथा शान्त (उपशान्तकपाय) रहकर अपने पण्डितमरण या समाधिमरण (काल) की (अगर काल का अवसर आए तो) आकाक्षा करे। (एय केवलिणो मय) यही केवली भगवान् का मत है।

भावार्थ

आस्रवद्वारो का जिसने निरोध कर दिया है, ऐसा महाबुद्धिमान धीर साधक गृहस्थ आदि दूसरे के द्वारा दिया हुआ एषणीय आहारादि ही ग्रहण करे एव शान्त रहकर समाधिपूर्वक मृत्यु की (अगर मृत्यु का अवसर आए तो) आकाक्षा करे, यही केवली भगवान का मत है।

व्याख्या

सवृत और शान्त साधक की अन्तिम समय की साधना

इस गाथा मे शास्त्रकार ने साधु के अन्तिम समय की साधना के बारे मे सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् का मत दिया है। इसी गाथा के द्वारा इस अध्ययन का उपसहार भी किया है। सचमुच कभी-कभी ऐसा होता है कि जीवन भर साधक जिस मार्ग पर चला है, जो साधना की है, अन्तिम समय मे वह उसमे फेल हो जाता है।

उस समय उसे शरीर, शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता, संघ-मकान आदि की मोहमाया घेर लेती है और वह चिड़चिड़ा व देहासक्त होकर बीमारी, अशक्ति या वृद्धता के बहाने से अनेषणीय, अकल्पनीय या दोषयुक्त आहार लेने ा है, कषाय भी उठती हैं, अत समाधिपूर्वक मरण या संलेखना-संथारापूर्वक मृत्यु को हँसते-हँसते चाहने या स्वीकारने के बदले वह आर्तध्यान या चिन्ताआदिरूप दुर्ध्यान करते हुए मृत्यु को स्वीकार करता है। स्वीकार क्या करता है, मृत्यु उस साधक को न चाहते हुए भी जबरन उठा ले जाती है, वह अपनी जिंदगी भर की साधना की कमाई को चौपट कर देता है। इसलिए शास्त्रकार का कहने का तात्पर्य यह है कि जब अन्तिम समय आए उससे पहले ही सम्यग्दर्शन एव ज्ञान से सुशोभित मह , धीर एव शान्त साधु अ ारो को बन्द कर दे, तथा एषणीय, कल्पनीय एव निर्दोष आहार ही ले, और जब मृत्यु का अवसर आए तो शन्ति एवं समाधिपूर्वक हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करे, समाधिमरण या पण्डितमरण की आ करे यही केवलज्ञानी प्रभु का मत है। इस मत (मार्ग) पर चलकर तीनो काल मे साधु नि संदेह मोक्ष प्राप्त कर सकता है। 'त्ति' शब्द समाप्तिसूचक है, 'बेमि' का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र का एकादश मार्ग नामक अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ मार्ग ना एकादश अ ाप्त ॥

स   सरण : बारहवाँ अ॰   न

समवसरण अध्ययन का सक्षिप्त परिचय

ग्यारहवे मार्ग नामक अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब बारहवे अध्ययन मे प्रवेश हो रहा है। ग्यारहवें अध्ययन मे यह बताया गया है कि कुमार्ग छोडने से सम्यक्मार्ग प्राप्त होता है, अत कुमार्ग छोडने वाले को पहले उसके स्वरूप का परिज्ञान होना चाहिए, इस दृष्टि से कुमाग का स्वरूप बताने हेतु इस अध्ययन का प्रारम्भ किया जा रहा है। इस अध्ययन का नाम है—समवसरण अध्ययन। इसमे कुमार्ग की प्ररूपणा करने वाले क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी इन चारो के समवसरणो का निरूपण है। यहाँ देवादिकृत समवसरण अथवा समोसरण (तीर्थंकरो की धर्मसभा) विवक्षित नही है। निर्युक्तिकार ने समवसरण का अर्थ किया है—सम्यक्-एकीभाव से एक जगह एकत्र होना, सम्मेलन या मिलन अथवा सगम होना समवसरण है। अर्थात् प्रस्तुत अध्ययन मे विविध प्रकार के मत (वाद) प्रवर्तकों या मतो का सगम या सम्मेलन है।

निक्षेप की दृष्टि से समवसरण के अर्थ

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यो समवसरण के ६ निक्षेप होते हैं। नाम और स्थापना समवसरण का अर्थ तो सुगम है। द्रव्यस   रण ज्ञशरीर, और भव्यशरीर से व्यतिरिक्त सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है। सचित्त जीवो मे द्विपद (मनुष्य), चतुष्पद (गौ आदि) और अपद (वृक्ष आदि) का इकट्ठा होना सचित्त-समवसरण है। लोह, सूखी लकडी आदि अचित्त वस्तुओ का एकत्र होना या द्व्यणुको का सम्मिलन अचित्त-समवसरण है। मिश्र वस्तुओ मे सेना आदि का समवसरण समझना चाहिए। विवक्षावश जिस स्थान मे पशुओ का मेला या मनुष्यो का मेला होता है, या जहाँ समवसरण की व्याख्या की जाती है, उसे क्षेत्र की प्रधानता के कारण क्षेत्र-समवसरण कहते हैं। इसी प्रकार काल-समवसरण समझ लेना चाहिए। औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक इन ६ प्रकार के भावो का सयोग होना भाव-समवसरण कहा गया है। निर्युक्तिकार ने दूसरी तरह से भी भावसमवसरण का निरूपण किया है—'जीवादि पदार्थ हैं', यह जो कहते हैं, वे क्रियावादी हैं, इसके विपरीत जो यह कहते हैं—'जीवादि पदार्थ नही हैं,' वे अक्रियावादी हैं, 'जो ज्ञान को नही मानते हैं,' वे अज्ञान-

वादी है, तथा जो विनय से मोक्ष मानते हे, वे विनयवादी है। भेदसहित इन चारो मतो की भूल वताकर जिस सुमार्ग मे इन्हे स्थापन किया जाता ह, वह भावसमवसरण हे।

प्रस्तुत अध्ययन मे केवल इन चार मतो अर्थात् वादो का ही उल्लेख है। एकान्तरूप से अपने मत का आग्रह होने के कारण इन मतवादियो को मिथ्यादृष्टि और इनके मत को मिथ्यादशन कहा गया है। उदाहरणार्थ— क्रियावादी एकान्तरूप से जीवादि पदार्थो का अस्तित्व स्वीकार करते है कि जीवादि पदार्थ हैं ही। जब जीव को एकान्तरूप से स्वीकार किया जाता है तो यही कहा जा सकता हे कि वह सब प्रकार ह किन्तु किसी प्रकार से वह नही भी है, यह नही कहा जा सकता। ऐसी स्थिति मे जीव जैसे अपने स्वरूप से सत् है, उसी तरह दूसरे (घटपटादि) रूप से भी सत् होने लगेगा। ऐसा होने से जगत् के समस्त पदार्थ एक हो जाएँगे। उनमे कोई भेद न होने से अनेकरूप जगत् नही हो सकता। परन्तु यह प्रत्यक्ष-विरुद्ध हे, इष्ट भी नही है। इसलिए यह मत ठीक नही है, मिथ्यादशन है। इसी प्रकार जो एकान्तरूप से कहते हैं कि जीवादि पदार्थ सर्वथा नही है, वे अक्रियावादी हैं। ये भी एकान्त एव असत्य प्ररूपणा करने के कारण मिथ्यादृष्टि है। यदि एकान्तरूप से जीव का निषेध किया जाय तो कोई निषेध कर्ता न होने से 'जीव नही है' ऐसा निषेध भी नही किया जा सकता। और 'जीव नही है' इस निषेध के सिद्ध न होने से जीवादि सभी पदार्थो का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। क्रियावादी आत्मा, कर्मफल आदि को मानते हैं, जबकि अक्रियावादी आत्मा, कर्मफल आदि को नही मानते। ज्ञान को न मानने वाले अज्ञानवादी है। इनका मत है कि 'अज्ञान ही कल्याण का मार्ग है।' ये भी मिथ्यादृष्टि हैं, क्योकि ज्ञान के विना 'अज्ञान ही श्रेष्ठ है' यह भी नही कहा जा सकता है। परन्तु अज्ञानवादी ऐसा ही कहते हैं, इसलिए अज्ञानवादियो ने भी ज्ञान को स्वीकार कर लिया। जो केवल विनय को ही मानते है, वे विनयवादी है। वे केवल विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति मानते है। ये किसी मत की निन्दा नही करते। अपितु समस्त प्राणियो का विनयपूर्वक आदर करते हैं। विनयवादी लोग गधे से लेकर गाय तक, चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक एव सभी स्थलचर, जलचर एव खेचर प्राणियो को नमस्कार करते रहते हैं यही उनका विनयवाद है। परन्तु ज्ञान और क्रिया के विना मोक्ष नही होता, इसलिए केवल विनय से मोक्ष का सिद्धान्त मिथ्या है।

क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२, इस प्रकार कुल मिलाकर इन चारो की सख्या ३६३ होती है—यह निर्युक्तिकार ने बताया है। वृत्तिकार ने इन भेदो की नामपूर्वक गणना की हे।

क्रियावादियो के १८० भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं— जीव, अजीव, पुण्य,

पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष, इन नौ पदार्थों को क्रमश स्थापन करके उनके नीचे स्वत और परत , ये दो भेद रखने चाहिए। उनके नीचे भी नित्य और अनित्य दो भेदो की स्थापना करनी चाहिए। इसके नीचे भी क्रमश काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर, और आत्मा इन पाँच पदो की स्थापना करनी चाहिए। उनका विवरण इस प्रकार है—

(१) जीव अपने आप विद्यमान है, (२) जीव दूसरे से उत्पन्न होता है, (३) जीव नित्य है, (४) जीव अनित्य है। इन चारो भेदो को काल आदि ५ के साथ लेने से २० भेद होते हैं। जैसे कि (१) जीव काल से है (काल पाकर होता है), (२) जीव काल पाकर अपने से या दूसरे से होता है, (३) जीव चेतन गुण से सदा नित्य है, (४) जीव की बुद्धि काल पाकर घटती-बढती रहती है, इसलिए अनित्य है, (५) जीव स्वभाव से है, (६) जीव स्वभाव से रहता हुआ स्वत या परत प्रकट होता है, (७) जीव स्वभाव से स्वय कायम रहने के कारण नित्य है, (८) जीव स्वभाव से मृत्यु पाता है, इसलिए अनित्य है, ( ) जीव होने वाला होता है (नियति से) तो हजारो उत्पन्न होकर स्वय होता है, (१०) जीव होने वाला होता है तो दूसरे कारणो के मिलने से उत्पन्न होता है, (११) जीव होने वाला होता है तो उत्पन्न होकर सदैव (नित्य) रहता है, (१२) जीव होनहार होता है तो उत्पन्न होकर मरता (अनित्य) है, (१३) जीव ईश्वर से उत्पन्न होता है, (१४) जीव ईश्वर द्वारा रचित हुआ अपने निमित्तो से उत्पन्न होता है, (१५) जीव ईश्वर द्वारा रचित नित्य है, (१६) जीव ईश्वर द्वारा रचित अनित्य है, (१७) जीव अपने रूप मे स्वय (आत्मा से) उत्पन्न होता है, (१८) जीव अपने रूप मे दूसरे से उत्पन्न होता है, (१९) जीव अपने रूप से नित्य है, (२०) जीव अपने रूप से अनित्य है। इस प्रकार जीव के विषय मे २० भग होते हैं। इसी तरह अजीव आदि ८ तत्त्वो मे भी प्रत्येक के बीस-बीस भग होते हैं। इस प्रकार २० × ९ = १८० भेद क्रियावादियो के होते है।

अक्रियावादियो के ८४ भेद इस प्रकार है— जीव आदि ७ पदार्थों को लिख-कर उसके नीचे स्वत और परत ये दो भेद स्थापित करना चाहिए। उसके नीचे काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा ये ६ पद रखने चाहिए। जैसे— (१) जीव स्वत काल से नही है, (२) जीव परत काल से नही है, (३) जीव यदृच्छा से स्वय नही है, (४) जीव यदृच्छा से परत नही है। इसी तरह नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के साथ भी प्रत्येक के दो-दो भेद होने से कुल १२ भेद होते हैं। जीव आदि सातो पदार्थों के प्रत्येक के १२ भेद होने से १२ × ७ = ८४ भेद होते है।

अज्ञानवादियो के ६७ भेद इस प्रकार है— जीवादि ९ तत्त्वो को क्रमश लिख

कर उनके नीचे ये सात भंग रखने चाहिए—(१) सत् (२) असत् (३) सदसत् (४) अवक्तव्य, (५) सदवक्तव्य, (६) असदवक्तव्य (७) और सदसद्-अवक्तव्य। जैसे—(१) जीव सत् है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? (२) जीव असत् है, यह कौन जानता है, और जानने से भी क्या प्रयोजन है? (३) जीव सदसत् है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? (४) जीव अवक्तव्य है, यह कौन जानता है, और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? (५) जीव सद्-अवक्तव्य है, यह कौन जानता है, और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? (६) जीव असद्-अवक्तव्य है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? (७) जीव सद्असद्-अवक्तव्य है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? इसी तरह शेष अजीव आदि में भी प्रत्येक में ७-७ भंग होते हैं। यों कुल मिलाकर ९×७=६३ भेद हुए। अन्य ४ भंग इस प्रकार हैं—(१) सती (विद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और जानने से भी क्या लाभ है? (२) असती (अविद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और यह जानने से भी क्या लाभ है? (३) सदसती (कुछ विद्यमान और कुछ अविद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और जानने से भी क्या लाभ है? (४) अवक्तव्यभाव की उत्पत्ति कौन जानता है और इसे जानने से लाभ भी क्या है? इन चार भेदों को पहले के ६३ में मिलाने से ६७ भेद अज्ञानवादियों के हुए।

विनयवादियों के ३२ भेद इस प्रकार हैं—(१) देवता (२) राजा, (३) यति (४) ज्ञाति, (५) वृद्ध, (६) अधम, (७) माता और (८) पिता—इन आठों का, प्रत्येक का मन, वचन, काया और दान यों ४ प्रकार से विनय करना चाहिए। इस ८×४=३२ भेद विनयवादियों के हुए।

इन मतों का अध्ययन करने से क्या लाभ होता है? इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार का मत यह है कि पूर्वोक्त मतवादियों ने स्वेच्छानुसार जो सिद्धान्त माना है, इस अध्ययन में गणधरों ने निरूपण इसलिए किया है, कि उनके मत में जो परमार्थ है, उसका निर्णय किया जाय। इसीलिए गणधरों ने इस अध्ययन का नाम समवसरण रखा है। उनका समन्वयपूर्वक सम्मेलन करना ही इस अध्ययन का उद्देश्य है।

इनमें से क्रियावादी, जीव आदि को एकान्तरूप से सत् मानता है, तथा काल, स्वभाव, नियति, प्रारब्ध और पुरुषार्थ ये पाँचों वादी भी एकमात्र अपने-अपने काल आदि वाद को यथार्थ मानते हैं। इसलिए ये मिथ्यादृष्टि हैं। अगर क्रियावादी जीवादि को कथंचित् सत् कहें और काल, स्वभाव आदि को मानने वाले भी सिर्फ एक को न मानकर पाँचों कारणों को समवाय रूप से मानें तो ये सम्यग्दृष्टि माने जा

सकते है। अर्थात् काल, स्वभाव, नियति, प्रारब्ध (कर्म) और पुरुषार्थ इनको पृथक्-पृथक् कारण मानना मिथ्यात्व है, परन्तु इनके समूह को कारण मानना सम्यक्त्व है। शेष तीनो एकान्तवादी होने से मिथ्या हैं, परन्तु इन्ही तीनो को सापेक्षिक मानने से (अमुक अपेक्षा से) कथञ्चित् , अक्रिया और विनय का अस्तित्व मानना सम्यक् है, परन्तु अन्य अपेक्षा से उनका नास्तित्व मानना उचित है। यो सापेक्षिक (अनेकान्त) दृष्टि से मानने पर शेष तीनो वाद भी सम्यक् हो सकते है।

इसकी क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल

चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति ।
किरियं अकिरियं विणियंति तइयं, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव ॥१॥

संस्कृत छाया

चत्वारि समवसरणानीमानि, प्रावादुका यानि पृथग्वदन्ति ।
क्रियामक्रिया विनयमिति तृतीयमज्ञानमाहुश्चतुर्थमेव ॥१॥

अन्वयार्थ

(पावादुया) परतीर्थिक मतवादी (जाइं) जिन्हे (पुढो वयंति) पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, (चत्तारि इमाइं समोसरणाइं) वे चार समवसरण —चार वाद या सिद्धांत ये हैं—(किरियं अकिरियं विणियंति तइयं, अन्नाणं चउत्थमेव आहंसु) क्रियावाद, अक्रियावाद और तीसरा विनयवाद तथा चौथा अज्ञानवाद, ये ही चार वाद हैं।

भावार्थ

अन्य दार्शनिको ने जिन-जिन वादो (सिद्धान्तो या समवसरणो) को एकान्तरूप से मान रखा है, वे सिद्धान्त ये हैं—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और चौथा अज्ञानवाद।

व्याख्या

चार वाद के रूप मे चार समवसरण

इस गाथा मे शास्त्रकार ने अध्ययन के प्रारम्भ मे प्रतिपाद्य विषय का नामोल्लेख कर दिया है। चार प्रकार के सिद्धान्त मुख्यरूप से विश्व मे प्रचलित है, उन चारो मे ससारभर के मत आ जाते है। इसीलिए इन परतीर्थिकमान्य चार वादो की सख्या चार ही है, इसे निश्चयरूप से बताते है—'अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव।' अर्थात् वे सिद्धान्त ४ ही हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी।[1] क्रिया अर्थात् 'पदार्थ है', ऐसा कहने वाले क्रियावादी हैं, तथा 'पदार्थ नही हैं,'

---

१ इनके सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचन भूमिका मे कर दिया गया है तथा प्रथम अध्ययन मे इनका स्वरूप भली-भाँति बताया गया है। —सम्पादक

ऐसा कहने वाले अक्रियावादी है। तीसरे विनयवादी है, जो विनय से ही मोक्ष मानते है, और चौथे है अज्ञानवादी, जो अज्ञान को ही कल्याणकर मानते है।

इन सबके भे‍ो की सख्या का वर्णन पहले के पृष्ठो मे किया जा चुका है। अब शास्त्रकार सर्वप्रथम अज्ञानवाद का निरूपण करते है—

मूल

अण्णाणिया ता कुसला वि सता, असथुआ णो वितिगिच्छतिण्णा।
अकोविया आहु अकोविएहिं, अणाणुवीइत्तु मुस वयति ॥२॥

।

अज्ञानिकास्ते कुशला अपि सन्तोऽसस्तुता नो विचिकित्सातीर्णा।
अकोविदा आहुरकोविदेभ्योऽननुविचिन्त्यतु मृषा वदन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ

(ता अण्णाणिया) वे अज्ञानवादी (कुसला वि सता) अपने आपको कुशल मानते हुए भी (णो वितिगिच्छतिण्णा) सशय से रहित नही है। (असथुआ) अत वे मिथ्यावादी होने से लोगो मे प्रशसापात्र नही है। (अकोविया अकोविएहिं) वे स्वय अज्ञानी है और अज्ञानी शिष्यो को उपदेश देते हैं। (अणाणुवीइत्तु मुस वयति) वे वस्तुतत्त्व का विशेप चिन्तन न करके मिथ्या भाषण करते हैं।

भावार्थ

वे अज्ञानवादी अपने आपको निपुण मानते हैं, फिर भी वे सदेहरहित नही हैं, अपितु वे शकाग्रस्त है। वे स्वय अज्ञानी हैं और अपने अज्ञानी शिष्यो को उपदेश देते है। वे वस्तुतत्त्व का विचार न करके मिथ्या भापण करते हे।

व्याख्या

अज्ञानवादियों का स्वरूप

इस गाथा मे शास्त्रकार इन चार सिद्धान्तो मे से सर्वप्रथम अज्ञानवादियो का स्वरूप बताते है। इन चारो मे अज्ञानवादी सबसे अन्त मे है, उसे ही सबने पहले बताने का कारण यह है कि इन चारो मे से अज्ञानवादी ही अत्यन्त विपरीतभापी है, क्योकि वे पदार्थों का अपलाप ज्ञान का अस्तित्व से इन्कार करके करते है।

अज्ञानवादी उसे कहते है, जो अज्ञान को ही कल्याणकारी मानकर अपने आपको सन्तुष्ट मानते हैं, या जो स्वय अज्ञानी है। अज्ञानवादी अपने आपको कुशल बताते है कि हम बडे चतुर है। दूसरे जितने भी ज्ञानवान कहलाते हैं, वे अपने-अपने ज्ञान के अहकार मे डूबे है और परस्पर लडते हैं, एक-दूसरे पर आक्षेप करते हैं।

इसलिए वे बेचारे वाक्कलह करके असन्तुष्ट रहते है, उनके जीवन मे क्षेमकुशल नही हैं, हम सब तरह से कुशलमगल है, क्योकि हम फालतू किसी से न बोलते है, न ज्ञान बघारते हैं, चुपचाप अपने आप मे मस्त रहते है। वास्तव मे उन तथा-कथित ज्ञानवादियो के पास क्या है, एक सिरदर्द है।

शास्त्रकार इन अज्ञानवादियो की नब्ज को पहचानकर कहते है, कि अज्ञान-वादी अपने को कुशल बताते है, लेकिन अज्ञान के कारण किस जीव को कुशलता मिलती है ? अज्ञान के कारण ही तो जीव नाना प्रकार के दु खो से पीडित है, अज्ञान के कारण ही बुरे कर्म करके प्राणी दुर्गति और नीच योनि मे जाता है। नरक मे कौन-से ज्ञानी हैं ? अज्ञानी ही तो हैं। फिर वे परस्पर लडते-भिडते क्यो है ? क्यो वे इतना दु ख पाते हैं ? क्यो वे कुशल-क्षेम मे नही है ? और तिर्यञ्चयोनि के जीवो को देखिए। वे भी तो अज्ञानी है फिर भी कितने पराधीन हैं, कितने भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी के भयकर दु ख उन्हे उठाने पडते हैं। परतन्त्रता का दु ख कितना भयकर है। अज्ञान मे डूबे हैं, तभी तो वे कोई भी प्रगति सामाजिक, धार्मिक या आध्यात्मिक क्षेत्र मे नही कर सकते। इसलिए अज्ञानी अपने आपको कुशल-क्षेम मे मानें, परन्तु उनके जीवन मे कोई कुशलता नही आती, पशु से भी गया बीता, पिछडा हुआ जीवन है उनका। इसलिए अज्ञान ही कल्याणकर है, ऐसा कहकर वे असम्बद्ध भाषण करते है, क्योकि अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ज्ञान से करते हैं, मगर ज्ञान को कोसते हैं। इसीलिए तो वे महाभ्रान्ति के शिकार हैं। अज्ञान किस बात का श्रेयस्कर है ? यह जरा सापेक्ष दृष्टि से विचारणीय है। वैर-विरोध, अहकार, क्रोध, माया, मोह आदि पिछले विकारो को न जानना और स्मरण न करना ही श्रेयस्कर है। किन्तु जीवादि पदार्थों का ज्ञान न करना तो कदापि श्रेयस्कर नही हो सकता।

भ्रान्ति के इतने शिकार होते हुए भी अज्ञानवादी कहते हैं कि जितने भी ज्ञानवादी हैं, वे सभी एक-दूसरे से विरुद्ध पदार्थ का स्वरूप बताते है। इसलिए वे यथार्थवादी नही है। जैसे आत्मा को ही ले लीजिए। कोई तो आत्मा को सर्वव्यापी मानता है, कोई असर्वव्यापी, कोई अंगूठे के पर्व के समान मानता है तो कोई हृदय-स्थित मानता है और कोई ललाटस्थित। कोई आत्मा को नित्य और अमूर्त कहता है, इसके विपरीत कोई उसे अनित्य और मूर्त बताता है। अत इन ज्ञानवादियो को मामला कुछ समझ मे नही आता। सभी परस्पर एक-दूसरे से विरुद्ध हैं, एकमत नही हैं। किसकी बात प्रमाणभूत एव यथार्थ मानी जाए, किसकी नही ? जगत मे कोई अतिशय ज्ञानी भी नही है कि जिसका वचन प्रमाण माना जाए। अगर कोई अति-शय ज्ञानी हो भी तो अल्पज्ञ पुरुष उसे जान नही सकता। असर्वज्ञ सर्वज्ञ को जानेगा ही कैसे ? सर्वज्ञ विद्यमान हो तो भी जिसे सर्वज्ञ के समान उत्कृष्ट ज्ञान नही है, वह सर्वज्ञ को कैसे पहचान सकेगा ? अथवा यो कहे कि जो सर्वज्ञ नही है, वह सर्वज्ञ

को जानने का उपाय भी नही जान सकता। क्योकि सर्वज्ञ को जानने का उपाय जानने पर ही सर्वज्ञ को जान सकता है और स्वय सर्वज्ञ बने बिना सर्वज्ञ को जानने का उपाय नही जान सकता है। इस प्रकार सर्वज्ञज्ञान और सर्वज्ञोपायज्ञान मे अन्योन्याश्रय दोष होने से सर्वज्ञ को जानना दुष्कर है। अत हम तो कहते है कि सर्वज्ञ कोई है ही नही। सर्वज्ञ के अभाव मे, जो नही है, उसे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होने से तथा ज्ञानवादियो के द्वारा पदार्थो का परस्पर विरुद्ध स्वरूप स्वीकार किये जाने से, तथा ज्यो-ज्यो अधिक ज्ञान होता है, त्यो-त्यो भूल करने पर अधिक अपराध समझे जाने से अज्ञान ही कल्याण का साधन है। वे कहते है कि अज्ञानतावश कोई किसी के सिर पर लात मार दे तो इतना बडा दोष नही माना जाता क्योकि उसका भाव शुद्ध है।

इस प्रकार का परस्पर विरुद्ध कथन करने वाले अज्ञानवादी मिथ्यादृष्टि हैं, वे सम्यक्ज्ञान से रहित हैं। वे भ्रम मे पडे हुए है। उनका यह आक्षेप किसी माने मे सही है कि परस्पर विरुद्ध अर्थ बताने के कारण ादी सच्चे नही है, क्योकि परस्पर विरुद्ध अर्थ बताने वाले लोग असर्वज्ञ के आगमो को मानते हैं। इसीलिए वे परस्पर विरुद्ध अर्थ बताते है। परन्तु इससे समस्त सिद्धान्तो पर बाधा नही आती, क्योकि सर्वज्ञप्रणीत आगम को मानने वाले वादियो के वचनो मे परस्पर विरोध कही नही आता। क्योकि इसके बिना ता होती ही नही। अत ज्ञान पर आया हुआ परदा सम्पूर्णतया दूर हो जाने से तथा राग, द्वेष, मोह आदि जो असत्यभाषण के कारण है सर्वथा अभाव होने से सर्वज्ञ के वचन सत्य हैं। उन्हे अयथार्थ नही कहा जा सकता। सर्वज्ञप्रणीत आगम को मानने वाले परस्पर विरुद्ध बात नही कहते हैं।

सर्वज्ञसिद्धि के कारण अज्ञानवाद का न

'सर्वज्ञ हो भी तो अल्पज्ञ जीव के द्वारा वह जाना नही जा सकता', -वादियो का यह कथन भी युक्तिविरुद्ध है। यद्यपि सराग वीतराग की-सी चेष्टा करते देखे जाते है और वीतराग सराग की-सी प्रवृत्ति करते नजर आते हैं, इसलिए दूसरे की मनोवृत्ति अल्पज्ञ द्वारा जानी नही जा सकती, इस तरह प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ की उपलब्धि न होने पर भी सर्वज्ञ के अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता, क्योकि सम्भव और अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। जैसे—व्याकरण आदि शास्त्रो के अध्ययन से सस्कारित बुद्धि का अतिशय ज्ञेय सजीव पदार्थो मे देखा जाता है अर्थात् अज्ञानी की अपेक्षा व्याकरणशास्त्री या सुशिक्षित मनुष्य अधिक जानता-समझता है, इसी तरह ध्यान, समाधि, ज्ञान, आदि के विशिष्ट अभ्यास करने से उत्तरोत्तर ज्ञानवृद्धि होने से कोई वस्तुओ को जानने वाला सर्वज्ञ भी हो सकता है। वह सर्वज्ञ नही हो सकता, ऐसा कोई सर्वज्ञता का बाधक

प्रमाण भी नही है, क्योकि कोई अल्पज्ञ पुरुष प्रत्यक्षप्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही कर सकता। अल्पज्ञ का ज्ञान अल्प होने से वह सर्वज्ञ के ज्ञान और ज्ञेय के विज्ञान से रहित है। यदि उसका ज्ञान सर्वज्ञ के ज्ञान और ज्ञेय को भी जानता है तो वह स्वय सर्वज्ञ हुआ, फिर सर्वज्ञ का अभाव कहाँ रहा? अनुमानप्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही होता, क्योकि सर्वज्ञ के अभाव के साथ अव्यभिचारी कोई हेतु नही है। उपमानप्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही होता, क्योकि सर्वज्ञाभाव के साथ किसी का सादृश्य नही है। अर्थापत्तिप्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही होता, क्योकि अर्थापत्तिप्रमाण की प्रत्यक्षादिपूर्वक ही प्रवृत्ति होती है। और प्रत्यक्षादि प्रमाणो से ' के अभाव की सिद्धि न होने से अर्थापत्तिप्रमाण भी सवज्ञाभाव सिद्ध नही कर सकता। आगमप्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही होता, क्योकि आगम ' का अस्तित्व बतलाने वाला भी है। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और सम्भव, इन पाँच प्रमाणो से सर्वज्ञ की सिद्धि नही होती है, इसलिए यह निश्चित होता है कि कोई सर्वज्ञ नही है, यह कथन भी अयुक्त है, क्योकि सब देश और सब काल मे सर्वज्ञ का बोधक (ग्राहक) कोई प्रमाण नही मिलता, यह कहना अल्पज्ञ पुरुष के बूते की बात नही है, क्योकि देश-काल की अपेक्षा से जो पुरुष अत्यन्त दूर है, उसका विज्ञान अल्पज्ञ नही कर सकता। यदि वह उसका विज्ञान कर ले, तब तो वह भी सर्वज्ञ ठहरता है, फिर सर्वज्ञ नही है, ऐसा नही कहा जा सकता। स्थूलदर्शी पुरुष का विज्ञान सर्वज्ञ तक नही पहुँचता इस कारण भी सर्वज्ञ का अभाव नही कहा जा सकता, क्योकि स्थूलदर्शी पुरुष का ज्ञान व्यापक नही है। यदि कोई अव्यापक पदार्थ किसी पदार्थ के पास न पहुँचे तो उस पदार्थ का अभाव नही हो जाता। इसलिए सर्वज्ञ के अस्तित्व का बाधक कोई प्रमाण नही मिलता, प्रत्युत सर्वज्ञ के साधक सम्भव और अनुमान आदि प्रमाण मिलते हैं, इसलिए सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

उक्त सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम का स्वीकार करने से मतभेदरूप दोष भी नही आता। सर्वज्ञ के द्वारा कथित आगम को मानने वाले सभी लोग एकमत से आत्मा को शरीरमात्रव्यापी मानते हैं, क्योकि शरीरपर्यन्त ही आत्मा का गुण पाया जाता है। तथा अज्ञानवादी ने पहले जो अन्योन्याश्रय दोष बताया है, वह भी यहाँ सम्भव नही है। क्योंकि शास्त्र आदि का अभ्यास करने से बुद्धि के अतिशय ज्ञान का अस्तित्व अपनी आत्मा से भी देखा जाता है, इसलिए प्रत्यक्ष देखी हुई बात मे कोई अनुपपत्ति (बाधा) नही आती।

व्याकरणशास्त्र मे दो प्रकार के नञ्समास होते हैं—पर्युदास और प्रसज्य। पर्युदास नञ्समास सदृशग्राही होता है, जबकि प्रसज्य सर्वथा निषेध करता है। अगर अज्ञानपद मे पर्युदास वृत्ति मानकर एक ज्ञान से भिन्न उसके सदृश दूसरे ज्ञान को

अज्ञान कहते है, तव तो आपने दूसरे ज्ञान को ही कल्याण का माधन मान लिया, अज्ञानवाद कहाँ सिद्ध हुआ ? यदि प्रसज्यवृत्ति मानकर ज्ञान के अभाव को अज्ञान कहते हैं, तव तो ज्ञानाभाव अभावरूप होने से तुच्छ, रूपरहित एव सर्वशक्तिरहित हुआ, वह क्योकर कल्याणकर सिद्ध हो सकता है। ज्ञान कल्याण का साधन नही है, अज्ञान का अर्थ प्रमज्यवृत्ति से यह होता है तो वह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, क्योकि सम्यग्ज्ञान द्वारा पदार्थ के स्वरूप को जानकर प्रवृत्ति करने वाला कार्यार्थी पुरुप अपने कार्य की मिद्धि करता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। इसलिए ज्ञान को झुठलाया नही जा सकता।

अज्ञानवादी धर्मोपदेश मे सर्वथा निपुण नही हैं, परन्तु अपने अनिपुण शिष्यो को जव वे धर्म का उपदेश देते है तो ज्ञान के द्वारा ही देते हैं। अज्ञानवादी अज्ञानवाद का आश्रय लेकर विना विचार किये बोलते है, इसलिए मिथ्याभापण की प्रवृत्ति तो उनमे सहज ही है। जिसमे ज्ञान—वास्तविक ज्ञान होगा, वह पुरुप विचारपूर्वक बोलता है, और सत्यभापण सदा विचार पर निर्भर है। इसलिए अज्ञानवाद अपने आप मे एक मिथ्यावाद है, इमसे कल्याण होना तो दूर रहा उलटे नाना कर्मबन्धन होने मे जीव दुःख ही पाता है।

मूल

सच्चं असच्च इति चितयता, असाहु साहुत्ति उदाहरता ।
जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठावि भाव विणइसु णाम ॥३॥
अणोवसखा इति ते उदाहु, अट्ठे स ओभासइ अम्ह एव ।
लवावसकी य अणागएहि, णो किरियमाहसु अकिरियवाई ॥४॥

छाया

सत्यमसत्यमिति चिन्तयित्वा, असाधु साध्वित्युदाहरन्त ।
य इमे जना वैनयिका अनेके, पृष्टा अपि भाव व्यनैपुर्नाम ॥३॥
अनुपसख्यायेति ते उदाहृतवन्त अर्थ स्वोऽवभासतेऽस्माकमेवम् ।
लवावशकिनश्चानागतैर्नो, क्रियामाहुरक्रियावादिन ॥४॥

अन्वयार्थ

(सच्च असच्च इति चितयता) जो सत्य है, उसे असत्य मानते हुए (असाहु साहुत्ति उदाहरता) जो असाधु यानी अच्छा नही हैं, उसे साधु (अच्छा) बताते हुए (अणेगे जे इमा वेणइया जणा) जो ये बहुत से विनयवादी लोग हैं, (पुट्ठा विणइसु भाव णाम) वे पूछने पर विनय को ही मोक्ष का साधन बताते हैं ॥३॥

(ते अणोवसंखा) वे विनयवादी वस्तुतत्त्व को न समझकर (इति उदाहु) ऐसा कहते हैं कि (स अट्ठे अम्ह एव ओभासइ) अपने प्रयोजन की मिद्धि हमे इसी

से (विनय से) ही दीखती है। (लवावसकी) तथा लव यानी कर्मबन्ध की शंका करने वाले (अकिरियवादी) अक्रियावादी (गर्णेहि) भूत और भविष्य के द्वारा वर्तमान की असिद्धि मानकर (णो किरिय आहसु) क्रिया का निषेध करते है ।।४।।

भावार्थ

जो सत्य है, उसे असत्य, तथा जो असाधु (दुर्जन) है, उसे साधु (सज्जन) बताते हुए बहुत से विनयवादी पूछने पर विनय को ही मोक्ष का मार्ग बताते है ।।३।।

विनयवादी वस्तुतत्त्व को न समझकर, केवल यही कहते है—हमे अपने प्रयोजन की सिद्धि विनय से ही दीखती है। इसी तरह कर्मबन्ध की आशका करने वाने अक्रियावादो भूत और भविष्यकाल के द्वारा वर्तमान को असिद्ध मानकर क्रिया का निषेध करते है ।।४।।

व्याख्या

विनयवादी और अक्रियावादी का मन्तव्य

अब शास्त्रकार विनयवादियो और अक्रियावादियो के मन्तव्य प्रस्तुत करके उनके मत का निराकरण तीसरी, चौथी गाथा के द्वारा प्रस्तुत करते है। विनयवादी अपनी सद्-असद्-विवेकशालिनी बुद्धि का प्रयोग नही करते, वे प्रत्येक का विनय (जो वास्तव मे विनय नही, चापलूसी, खुशामद, चाटुकारिता या मुखमगलता होती है) करने की धुन मे अच्छे-बुरे, सज्जन-दुर्जन, धर्मात्मा-पापी, सुबुद्धि-दुर्बुद्धि, सुज्ञानी-अज्ञानी सभी को एक सरीखा मानकर सबको वन्दन-नमन, मान सम्मान, दान आदि देता है। वह सत्य-असत्य को परख नही सकता। जो सत्य है, उसे परख न सकने के कारण जो व्यक्ति जैसे समझा देता है, वैसे मानकर उसे असत्य कह देते है, और जो सरासर असत्य है, उसे लोगो के बहकावे मे आकर अपनी बुद्धि पर ताला लगाकर सत्य मान लेता है। सत्य का अर्थ है—'सद्भ्यो हितम् सत्यम्' जो प्राणियो का हित-कल्याण करने वाला वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण है, उसे सत्य कहते हैं। अथवा मोक्ष या सयम को सत्य कहते हैं, उस सत्य को विनयवादी असत्य कहते है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का वास्तविक (सत्य) मार्ग है, उसे विनयवादी असत्य कहते है। यद्यपि केवल विनय से मोक्ष नही होता, तथापि वे केवल विनय से ही मोक्ष को मानते है, इस प्रकार वे असत्य को सत्य मानते हैं। तथा जो पुरुष विशिष्ट धर्माचरण यानी साधु की क्रिया नही करता, वह असाधु है, उसे केवल वन्दन-नमन आदि औपचारिक विनय की क्रिया करने मात्र से साधु मान लेते हैं। वे धर्म के यथार्थ परीक्षक नही हैं। वे केवल औपचारिक विनय से धर्म की उत्पत्ति मानते हैं, यह युक्तिसगत नही हैं। ये बुद्धि पर ताला लगाकर चलने वाले, गवार और अनाडी लोगो की तरह केवल विनय के साथ विचरण करते हैं, वे केवल विनय (औपचारिक

विनय) से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति बताते है। जब कोई धर्मार्थी पुरुष उनसे धर्म और मोक्ष के बारे मे पूछता है तो अपना घडाघडाया पेटेंट उत्तर देते हैं—'केवल विनय करने से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है।' विनयवादी सभी कार्यो की सिद्धि के लिए सभी को विनय करने का उपदेश देते है। वे समस्त कल्याणो का द्वार विनय को मानते है। इन विनयवादियो के ३२ भेद है, जिनका विवरण हम पिछले पृष्ठो मे अकित कर आए हैं।

विनयवादियो के इस एकान्त मताग्रह का निरूपण करते हुए कार कहते हैं—'अणोवसखा अट्ठे स ओभासइ अम्ह एव।' आशय यह है कि उपसख्या—सम्यक् प्रकार से वस्तु के यथार्थस्वरूप के परिज्ञान के बिना ही मिथ्याग्रही विनयवादी महामोह से आच्छादित होकर तपाक से कह देते हैं—हमे तो अपने सभी प्रयोजनो की सिद्धि विनय से ही होती दीखती है। विनय से ही स्वग और मोक्ष की प्राप्ति होगी। परन्तु वे यह नही सोचते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना से ही होती है, यद्यपि विनय भी चारित्र का एक अग है, परन्तु सबकी जी-हुजूरी, मुखमगलपन या चापलूसी वास्तविक विनय - मोक्षमार्ग का ूत विनय नही ह। अगर विनयवादी ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप विनय को विवेकपूर्वक अपनाएँ तथा सम्यग्दर्शनपूर्वक इनकी आराधना करे, साथ ही जो आध्यात्मिक मार्ग मे आगे बढे हुए वीतराग परमात्मा हैं या सिद्ध प्रभु हैं, अथवा पच महाव्रतधारी चारित्रात्मा हैं, उन्हे विवेक की आँखो से देख-परखकर उनकी विनयभक्ति करे तो उक्त मोक्षमार्ग के अगभूत विनय से स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु इसे छोडकर अध्यात्मविहीन अविवेकयुक्त कोरे विनय से स्वर्ग या मोक्ष एँ, यह एकान्त दुराग्रह है, मिथ्यावाद है।

इससे आगे शास्त्रकार अक्रियावादियो का स्वरूप बताकर उनकी मीमासा करने हैं—'लवावसकी णो किरियमाहसु अकिरियवादी।' लव कहते हैं कर्म को। उसकी जो शका करते है, अथवा उससे जो अलग हटते है, उसे लवावशकी कहते हैं। ऐसे लवावशकी लोकायतिक हैं या शाक्यदर्शनी है। इनके मत मे आत्मा ही नही है, तो उसकी क्रिया कहाँ से हो सकती है और उस क्रिया से उत्पन्न कर्मबन्ध भी कहाँ से हो सकता है? अत इनके मत मे वास्तविक बन्ध नही है, केवल आरोपमात्र से बन्ध है। जैसे कि कहा हैं—

> बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिग्रन्थिकपोतका।
> न चाऽन्ये द्रव्यत सन्ति, मुष्टिग्रन्थिकपोतका॥

अर्थात्— जैसे लोक व्यवहार मे कहते हैं—मैंने मुट्ठी बाँध ली तथा मुट्ठी खोल ली, यहाँ मुट्ठी बाँधना और खोलना केवल आरोप है। वस्तुत वह कोई रस्सी से बाँधी और खोली नही जाती है। गाँठ और मुट्ठी मे बाँधने और खोलने

का जो व्यवहार देखा जाता है, वह एक तरह से औपचारिक व्यवहार होता है, इसी तरह जगत् मे बद्ध और मुक्त का व्यवहार जानना चाहिए।

बौद्ध पाँच स्कन्ध मानते है, वह भी आरोपमात्र से ह, परमार्थरूप से नही। उनका मन्तव्य यह है कि कोई भी पदार्थ विज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप को करने मे समर्थ नही है, अर्थात् विज्ञान के द्वारा पदार्थों का स्वरूप नही जाना जा सकता, क्योकि अवयवी पदार्थ तत्त्व और अतत्त्व इन दोनो भेदो के द्वारा विचार करने पर पूरा स मे नही आता। इसी तरह अवयव भी परमाणु पर्यन्त विचार करने पर अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आकाररहित होने से स्वरूप को धारण नही करते।

बौद्धो के कथन का आशय यह है कि घट आदि अवयवी पदार्थ, कपाल (ठीकरे) आदि अपने अवयवो से भिन्न है या अभिन्न? इस पर जब विचार किया जाता है, तब वे भिन्न या अभिन्न कुछ भी प्रतीत नही होते, क्योकि यदि अवयवी के समस्त अवयवो को अलग-अलग कर दे तो अवयवी नामक कोई पदार्थ देखने मे नही आता। ऐसी दशा मे उसे अवयवो से अभिन्न कहे, तो यह भी नही बनता है, क्योकि घट-पटादि पदार्थों के अवयवो का विचार करने पर अवयव के भी अवयव और उसके भी अवयव, इस प्रकार अवयवो की धारा निरन्तर चलती हुई परमाणु मे जाकर समाप्त होती है। और परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण सामान्य दृष्टि से ज्ञात नही होते हैं। अत अवयवो का ज्ञान भी अशक्य है। ऐसी दशा मे कोई भी पदार्थ ज्ञान के द्वारा पूरा-पूरा जाना नही जाता।

उक्त सिद्धान्त मानने वाले बौद्धमत मे भूत और भविष्य के साथ वर्तमान क्षण का कोई सम्बन्ध न होने से क्रिया नही होती। और क्रिया न होने से क्रिया-जनित कर्मबन्ध भी नही होता। तात्पर्य यह है कि आने वाला (अनागत) क्षण अभी आया ही नही है और भूतकाल विद्यमान नही है तथा पहले और पीछे के क्षणो के साथ वर्तमान क्रिया का कोई सम्बन्ध नही है, क्योकि नाश हुए के साथ वर्तमान का सम्बन्ध नही होता है। अत क्रिया के साथ सम्बन्ध न होने से उसके द्वारा कर्म-बन्ध नही होता। इस प्रकार अक्रियावादी नास्तिक हैं। वे सब पदार्थों का खण्डन करते हुए कर्मबन्ध की आशका से क्रिया का निषेध करते हैं।

इसी प्रकार आत्मा के सर्वव्यापी होने से उसे क्रियारहित मानने वाले साख्य-दर्शन वाले भी अक्रियावादी हैं। अत लोकायतिक, बौद्ध और साख्य तीनो अक्रिया-वादी बिना विचार किये ही इस सिद्धान्त को मानते हैं। वे आग्रहपूर्वक यह भी कहते हैं कि हमारे मतानुसार ही पदार्थों का स्वरूप यथार्थ रूप मे घटित होता है।

मूल पाठ

सम्मिस्सभाव च गिरा गहीए, से मुम्मुई होइ अणाणुवाई ।
इम दुपक्ख इममेगपक्ख, आहसु छलायतण च कम्मं ॥५॥
ते एवमक्खति अबुज्झमाणा, विरूव रूवाणि अकिरियवाई ।
जे मायइत्ता बहवे मणूसा, भमति ससारमणोवदग्गं ॥६॥
णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चदिमा वड्ढई हायई वा ।
सलिला न सदति, ण वतिवाया, वंझो णियतो कसिणे हु लोए ॥७॥
जहाहि अधे सह जोतिणा वि, रूवाइ णो पस्सति हीणणेत्ते ।
संत पि ते एवमकिरियवाई, किरिय ण पस्सति निरुद्धपन्ना ॥८॥
सवच्छर सुविण लक्खण च, निमित्तदेह च उप्पाइय च ।
अट्ठगमेय बहवे अहित्ता, लोगसि जाणति अणागताइ ॥९॥
केई निमित्ता तहिया भवति, केसिचि त विप्पडिएति णाण ।
ते विज्जभाव अणहिज्जमाणा, आहसु विज्जा परिमोक्खमेव ॥१०॥

त ।

सम्मिश्रभाव च गिरा गृहीते, स मूकमूकोभवत्यननुवादी ।
इद द्विपक्षमिदमेकपक्षमाहुश्छलायतन च कर्म ॥५॥
त एवमाचक्षतेऽबुध्यमाना , विरूपरुपाण्यक्रियावादिन ।
यान्यादाय वहवो मनुष्या , भ्रमन्ति ससारमनवदग्रम् ॥६॥
नादित्य उदेति नास्तमेति, न चन्द्रमा वर्धते हीयते वा ।
सलिलानि न स्यन्दन्ते, न वान्ति वाता:, वन्ध्यो नियत कृत्स्नो लोक ॥७॥
यथा ह्यन्ध सह ज्योतिषाऽपि, रूपाणि न पश्यति हीननेत्र ।
सतीमपि ते एवमक्रियावादिन , क्रिया न पश्यन्ति निरुद्ध ॥८॥
सवत्सर स्वप्न लक्षण च, निमित्त देहञ्चौत्पातिकञ्च ।
अष्टागमेतद् बहवोऽधीत्य, लोके जानन्त्यनागतानि ॥९॥
कानिचिन्निमित्तानि सत्यानि भवन्ति, केषाचित्तत् विपर्य्येतिज्ञानम् ।
ते विद्याभावमनधीयाना आहुर्विद्यापरिमोक्षमेव ॥१०॥

थं

(गिरा गहीए सम्मिस्सभाव) वे पूर्वोक्त अक्रियावादी लोकायतिक आदि अपनी वाणी से स्वीकार किये हुए पदार्थ का निषेध करते हुए मि को यानी की सत्ता और । दोनो से मिश्रित विरुद्धपक्ष को करते हैं। (से अणाणुवाई

मुम्मुई होइ) वे स्याद्वादियो के वचन का अनुवाद करने (दोहराने) मे भी असमर्थ होकर मूक हो जाते है। (इम दुपक्ख इममेगपक्ख छलायतण कम्म आहसु) वे इस परमत को द्विपक्ष-प्रतिपक्षयुक्त तथा अपने मत को एक पक्ष से युक्त (प्रतिपक्षरहित) बताते हैं तथा स्याद्वादियो के वचनो का खण्डन करने के लिए छलयुक्त वचन एव कर्म—व्यवहार का प्रयोग करते है ॥५॥

(अबुज्झमाणा ते अकिरियवाई) वस्तुस्वरूप को न समझने वाले वे अक्रियावादी (विरूवरूवाणि एवमाइक्खति) नाना प्रकार के शास्त्रो का कथन करते हैं। (जे मायइत्ता बहवे मणूसा) जिन शास्त्रो का आश्रय लेकर बहुत-से मनुष्य (अणोवदग्ग ससार भमति) अनन्तकाल तक इस चातुर्गतिक ससार मे परिभ्रमण करते है ॥६॥

(ण आइच्चो उएइ) सर्वशून्यतावादी कहते है कि न तो सूर्य उदय होता है, (ण अत्थमेइ) न अस्त होता है, (चदिमा ण वड्ढई हायई वा) और न ही चन्द्रमा बढता है, न घटता है। (सलिला न सदति) तथा पानी बहता नही है, (ण वति वाया) और हवाएँ चलती नही है। (कसिणे लोए हु णियतो वझो) यह सारा जगत् सदा अस्थायी है, और मिथ्याभूत—शून्यरूप है ॥७॥

(जहा हि अध जोतिणा अपि सह) जैसे अधा पुरुप ज्योति (प्रकाश) के साथ रहकर भी (हीणणेत्ते रूवाइ णो पस्सति) नेत्रहीन होने के कारण रूप को नही देखता। (एव निरुद्धपन्ना ते अकिरियाई) इसी तरह बुद्धिहीन अक्रियावादी (सत वि किरिय न पस्सति) सामने विद्यमान क्रिया को नही देखते ॥८॥

(सवच्छर सुविण लक्खण च) ज्योतिपशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र (निमित्त देह च उप्पाइय च) निमित्तशास्त्र, शरीर के तिल आदि चिह्नो का फल बताने वाला शास्त्र एव भूकम्प, उल्कापात, दिग्दाह आदि उत्पात का फल बताने वाला शास्त्र (एय अट्ठग अहित्ता) इन आठ अगो वाले शास्त्रो को पढकर (लोगसि बहवे) जगत् मे बहुत-से लोग (अणागताइ जाणति) भविष्य की बातो को जान जाते है ॥९॥

(केई निमित्ता तहिया भवति) कई निमित्त तो सत्य (तथ्य) होते है, (केसिंचि त णाण विप्पडिएति) किन्ही-किन्ही निमित्तवादियो का वह ज्ञान विपरीत (यथार्थ नही) होता है, (ते विज्जभाव अणहिज्जमाणा) यह देखकर ज्ञान प्राप्त कराने वाली विद्या का अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी (विज्जा परिमोक्खमेव आहसु) विद्या से छुटकारा पाने को ही कल्याणकारक करते हैं ॥१०॥

भावार्थ

पूर्वोक्त अक्रियावादी लोकायतिक आदि अपनी वाणी से स्वीकार किये

हुए पदार्थ का निषेध करके मिश्रपक्ष को अर्थात् पदार्थ के अस्तित्व और नास्तित्व दोनो से मिश्रित विरुद्ध पक्ष को स्वीकार करते है। वे स्याद्वादियो के वचन का अनुवाद करने मे भी असमर्थ होकर मूक हो जाते है। वे अपने मत को प्रतिपक्षरहित और परमत को प्रतिपक्षयुक्त बताते है। वे स्याद्-वादियो के बचनो का खण्डन करने के लिए वाक्छल का प्रयोग करते है ॥५॥

वस्तुस्वरूप को न जानने वाले वे अक्रियावादी नाना प्रकार के शास्त्रो का कथन करते है, जिन शास्त्रो का आश्रय लेकर मनुष्य अनन्तकाल तक ससार मे परिभ्रमण करते है ॥६॥

सर्वशून्यतावादी कहते है कि सूर्य उदय नही होता, अस्त नही होता, तथा चन्द्रमा न घटता है, न बढता है एव पानी बहता नही है, और हवा भी चलती नही है। किन्तु यह सारा विश्व अभावरूप और झूठा है ॥७॥

जैसे अन्धे के पास दीपक आदि का प्रकाश होते हुए भी वह घट-पटादि पदार्थो को देख नही सकता। इसी तरह जिनके ज्ञान पर मोहरूपी पर्दा पडा हुआ है, ऐसे अक्रियावादी विद्यमान क्रिया को नही देखते ॥८॥

जगत् मे बहुत-से लोग ज्योतिषशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र, निमित्तशास्त्र, शरीर के तिल आदि का फल बताने वाला शास्त्र और उल्का-पात, भूकम्प, दिग्दाह आदि का फल बताने वाला शास्त्र, इन अगो वाले शास्त्रो को पढकर भविष्य मे होने वाली बातो को जान लेते है ॥९॥

कई निमित्त सच्चे होते है, और किन्ही निमित्तवादियो का वह ज्ञान विपरीत होता है, यह देखकर विद्या का अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी विद्या के त्याग को ही कल्याणकारक कहते हैं ॥१०॥

व्याख्या

अक्रियावादियो की रीति-रीति

पाँचवी गाथा से दसवी गाथा तक मे विभिन्न पहलुओ से अक्रियावादियो की रीति-नीति का, और उनकी गति-मति का निरूपण किया गया है। अक्रियावादियो के सम्बन्ध मे कुछ वर्णन हम पहले कर चुके है। अक्रियावादी मुख्यतया तीन हैं—लोकायतिक, बौद्ध और साख्य। इन तीनो का अक्रियावाद का प्रतिपादन अलग-अलग है।

सर्वप्रथम शास्त्रकार ने अक्रियावादी लोकायतिक का मन्तव्य बताया है कि लोकायतिक अपने माने हुए सिद्धान्त से ही जब पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है, अथवा जब पदार्थ का अस्तित्व माने बिना अपने सिद्धान्त की सिद्धि होने के कारण वह पदार्थ सिद्ध हो जाता है, तब केवल वचन से उस पदार्थ का निषेध करते

हुए वे इन दोनो से मिश्रित परस्पर विरुद्ध पक्ष को स्वीकार करते हैं। अर्थात् कभी वे उसका अस्तित्व कहते है तो कभी नास्तित्व कहने लगते है। कभी-कभी वे प्रथम जिस पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उसी का नास्तित्व स्वीकार करने लगते है। 'च' शब्द से यह सूचित होता है कि पदार्थ का निषेध करते हुए नास्तिक उसी के अस्तित्व का प्रतिपादन कर बैठते हैं। जैसे कि लोकायतिक जीवादि पदार्थों का अभाव बताने वाले शास्त्रो को अपने शिष्य को उपदेश देते हुए शास्त्र के कर्ता आत्मा को तथा उपदेश के साधनरूप शास्त्र को और जिसको उपदेश दिया जाता है, उस शिष्य को तो अवश्य ही स्वीकार करते है। क्योंकि इनको स्वीकार किये बिना उपदेश आदि नही हो सकता। परन्तु सर्वशून्यतावाद मे ये तीनो पदार्थ नही आते। इसलिये वे मिश्रपक्ष का सहारा लेते है। यानी पदार्थ नही है, यह भी कहते हैं, दूसरी ओर उसका अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं। अथवा पदार्थ का निषेध करते हुए उन्हे उसका अस्तित्व स्वीकार करना पडता है।

इसी तरह बौद्ध भी परस्पर विरुद्ध मिश्रपक्ष का सहारा लेते है। बौद्धो पर आक्षेप करते हुए किसी ने कहा है—

> गन्ता च नास्ति कश्चिद् गतय षड् बौद्धशासने प्रोक्ता ।
> गम्यत इति च गति, स्यात्श्रुति कथ शोभना बौद्धी ?

जिस मत मे जाने वाला कोई नही माना गया है, उस बौद्ध शासन मे छह गतियाँ कही गई हैं। गमन करना गति कहलाती है। जब गमन करने वाला है ही नही, तब यह कथन बौद्धशासन मे कैसे सगत हो सकता है? जब कर्म ही नही माना गया है, तो उसका फल मिलना कैसे सगत होगा? जब गति करने वाला कोई आत्मा ही नही है, तब उसको ६ गतियाँ कैसी? फिर बौद्धो द्वारा मान्य ज्ञानसन्तान भी प्रत्येक ज्ञान से भिन्न नही है, अपितु वह आरोपित है तथा प्रत्येक ज्ञानक्षण क्षण-विनाशी होने के कारण स्थिर नही है। इसलिए क्रिया न होने के कारण बौद्धदर्शन मे अनेक गतियो का होना कदापि सम्भव नही है। तथा बौद्धो के आगम मे सभी कर्मो को अबन्धन माना गया है। इसके बावजूद भी बुद्ध का ५०० बार जन्म लेना भी वे बताते हैं। जब कर्मबन्धन न हो तो जन्मग्रहण कैसे होगा? साथ ही वे यह भी कहते है—"माता और पिता को मारकर एव बुद्ध के शरीर से रक्त निकाल कर अर्हद्वध करके तथा धर्मस्तूप को नष्ट करने से मनुष्य आवीचि नरक मे जाता है।"[1] यह भी कर्मबन्धन के बिना कैसे सम्भव है? जब सर्वशून्य है तो ऐसे शास्त्रो

---

१ मातापितरौ हत्वा बुद्धशरीरे च रुधिरमुत्पाद्य ।
अर्हद्वध च कृत्वा, स्तूप भित्वा, च पचैते, आवीचिनरक यान्ति ।

हुए पदार्थ का निषेध करके मिश्रपक्ष को अर्थात् पदार्थ के अस्तित्व और नास्तित्व दोनो से मिश्रित विरुद्ध पक्ष को स्वीकार करते है। वे स्याद्वादियो के वचन का अनुवाद करने मे भी असमर्थ होकर मूक हो जाते है। वे अपने मत को प्रतिपक्षरहित और परमत को प्रतिपक्षयुक्त बताते है। वे स्याद्-वादियो के बचनो का खण्डन करने के लिए वाक्छल का प्रयोग करते है ॥५॥

वस्तुस्वरूप को न जानने वाले वे अक्रियावादी नाना प्रकार के शास्त्रो का कथन करते हैं, जिन शास्त्रो का आश्रय लेकर मनुष्य अनन्तकाल तक ससार मे परिभ्रमण करते है ॥६॥

सर्वशून्यतावादी कहते है कि सूर्य उदय नही होता, अस्त नही होता, तथा चन्द्रमा न घटता है, न बढता है एव पानी बहता नही है, और हवा भी चलती नही है। किन्तु यह सारा विश्व अभावरूप और झूठा है ॥७॥

जैसे अन्धे के पास दीपक आदि का प्रकाश होते हुए भी वह घट-पटादि पदार्थो को देख नही सकता। इसी तरह जिनके ज्ञान पर मोहरूपी पर्दा पडा हुआ है, ऐसे अक्रियावादी विद्यमान क्रिया को नही देखते ॥८॥

जगत् मे बहुत-से लोग ज्योतिषशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र, निमित्तशास्त्र, शरीर के तिल आदि का फल बताने वाला शास्त्र और उल्का-पात, भूकम्प, दिग्दाह आदि का फल बताने वाला शास्त्र, इन अगो वाले शास्त्रो को पढकर भविष्य मे होने वाली बातो को जान लेते है ॥९॥

कई निमित्त सच्चे होते है, और किन्ही निमित्तवादियो का वह ज्ञान विपरीत होता है, यह देखकर विद्या का अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी विद्या के त्याग को ही कल्याणकारक कहते है ॥१०॥

व्याख्या

अ[illegible]ादियो की रीति-रीति

पाँचवी गाथा से दसवी गाथा तक मे विभिन्न पहलुओ से अक्रियावादियो की रीति-नीति का, और उनकी गति-मति का निरूपण किया गया है। अक्रियावादियो के सम्बन्ध मे कुछ वर्णन हम पहले कर चुके हैं। अक्रियावादी मुख्यतया तीन हैं— लोकायतिक, बौद्ध और साख्य। इन तीनो का अक्रियावाद का प्रतिपादन अलग-अलग है।

सर्वप्रथम शास्त्रकार ने अक्रि[illegible]ी लोकायतिक का मन्तव्य बताया है कि लोकायतिक अपने माने हुए सिद्धान्त से ही जब पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है, अथवा जब [illegible] का अस्तित्व माने बिना अपने सिद्धान्त की सिद्धि होने के कारण वह [illegible] सिद्ध हो जाता है, तब केवल वचन से उस पदार्थ का निषेध करते

हुए वे इन दोनो से मिश्रित परस्पर विरुद्ध पक्ष को स्वीकार करते हैं। अर्थात् कभी वे उसका अस्तित्व कहते है तो कभी नास्तित्व कहने लगते है। कभी-कभी वे प्रथम जिस पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार करते है, उसी का नास्तित्व स्वीकार करने लगते है। 'च' शब्द से यह सूचित होता है कि पदार्थ का निषेध करते हुए नास्तिक उसी के अस्तित्व का प्रतिपादन कर बैठते हैं। जैसे कि लोकायतिक जीवादि पदार्थों का अभाव बताने वाले शास्त्रों को अपने शिष्य को उपदेश देते हुए शास्त्र के कर्ता आत्मा को तथा उपदेश के साधनरूप शास्त्र को और जिसको उपदेश दिया जाता है, उस शिष्य को तो अवश्य ही स्वीकार करते है। क्योकि इनको स्वीकार किये बिना उपदेश आदि नही हो सकता। परन्तु सर्वशून्यतावाद मे ये तीनो पदार्थ नही आते। इसलिये वे मिश्रपक्ष का सहारा लेते है। यानी पदार्थ नही है, यह भी कहते हैं, दूसरी ओर उसका अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं। अथवा पदार्थ का निषेध करते हुए उन्हे उसका अस्तित्व स्वीकार करना पडता है।

इसी तरह बौद्ध भी परस्पर विरुद्ध मिश्रपक्ष का सहारा लेते है। बौद्धो पर आक्षेप करते हुए किसी ने कहा है—

गन्ता च नास्ति कश्चिद् गतय षड् बौद्धशासने प्रोक्ता ।
गम्यत इति च गति, स्यात्श्रुति कथ शोभना बौद्धी ?

जिस मत मे जाने वाला कोई नही माना गया है, उस बौद्ध शासन मे छह गतियाँ कही गई हैं। गमन करना गति कहलाती है। जब गमन करने वाला है ही नही, तब यह कथन बौद्धशासन मे कैसे सगत हो सकता है ? जब कर्म ही नही माना गया है, तो उसका फल मिलना कैसे सगत होगा ? जब गति करने वाला कोई आत्मा ही नही है, तब उसकी ६ गतियाँ कैसी ? फिर बौद्धो द्वारा मान्य ज्ञानसन्तान भी प्रत्येक ज्ञान से भिन्न नही है, अपितु वह आरोपित है तथा प्रत्येक ज्ञानक्षण क्षण-विनाशी होने के कारण स्थिर नही है। इसलिए क्रिया न होने के कारण बौद्धदर्शन मे अनेक गतियो का होना कदापि सम्भव नही है। तथा बौद्धो के आगम मे सभी कर्मों को अबन्धन माना गया है। इसके बावजूद भी बुद्ध का ५०० बार जन्म लेना भी वे बताते हैं। जब कर्मबन्धन न हो तो जन्मग्रहण कैसे होगा ? साथ ही वे यह भी कहते हैं—"माता और पिता को मारकर एव बुद्ध के शरीर से रक्त निकाल कर अर्हद्वध करके तथा धर्मस्तूप को नष्ट करने से मनुष्य आवीचि नरक मे जाता है।"[1] यह भी कर्मबन्धन के बिना कैसे सम्भव है ? जब सर्वशून्य है तो ऐसे शास्त्रो

---

१ मातापितरौ हत्वा बुद्धशरीरे च रुधिरमुद्पात्य ।
अर्हद्वध च कृत्वा, स्तूप भित्वा, च पचैते, आवीच्निनरक यान्ति ।

का निर्माण कैसे युक्तिसगत हो सकता हे ? यदि कर्म वन्धनदायी नही है तो प्राणियो मे जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, उत्तम, मध्यम और अधम कैसे हो सकते हैं ? इसके अतिरिक्त कर्म का नाना प्रकार का फल प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। इससे सिद्ध हे कि जीव अवश्य है, और वह कर्ता हे, तथा कर्मफल का भोक्ता भी है, और वह कर्म से युक्त है। इस तरह पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी वे सर्वशून्य-वाद को मानते है। ˚ ून्यतावाद के पक्ष मे उनकी युक्ति यह है—

गान्धर्वनगरतुल्या मायास्वप्नोपपातघनसदृशा ।
मृगतृष्णानीहाराम्बुचन्द्रिकालातचक्रसमा ॥

बादलो का नगर के-से दृश्य के समान सासारिक पदार्थ मिथ्या है। तथा वे माया, स्वप्न, मृगतृष्णा, ओसबिन्दु, चन्द्रिका एव मशाल के समान आभास मात्र हैं। यह स्पष्ट ही बौद्धो द्वारा मिश्र पक्ष का स्वीकार करना है। एक ओर वे कर्मो का पृथक्-पृथक् फल मानते हे, दूसरी ओर वे सर्वशून्यवाद से विपरीत भाषण करते हैं। वे पदार्थों का नास्तित्व बताते हुए भी उसके विपरीत अस्तित्व का भी स्वीकार करते हैं।

अब रहे साख्य। साख्यवादी भी आत्मा को सर्वव्यापी मानकर उसे क्रिया-रहित स्वीकार करके भी प्रकृति के वियोग से उसकी मुक्ति मानते है। अत वे स्वय अपने मुँह से ही आत्मा का बन्ध और मोक्ष बताते हैं। जब आत्मा का बन्ध और मोक्ष होता है तो उनकी ही वाणी से आत्मा का क्रियावान् होना भी स्वीकृत हो जाता है। इसलिए स ादी भी मिश्रपक्ष को प्राप्त हैं, क्योकि क्रिया के बिना बध-मोक्ष कदापि सम्भव नही। अतएव साख्यवादी आत्मा को क्रियारहित सिद्ध करते हुए अपने ही वाक्य से उसे क्रियावान् कह बैठते हैं।

इसके आगे शास्त्रकार कहते हैं कि जब स्याद्वादी यथार्थ हेतु, दृष्टान्त आदि प्रस्तुत करके बौ का खण्डन करने लगते हैं तो वे घबराकर बगलें झांकने लगते हैं, निरुत्तर हो जाते हैं, या असम्बद्ध प्रलाप करते हुए वहाँ से खिसकने लगते हैं। अथवा जैन-प्रतिपादित हेतु, दृष्टान्तो का अनुवाद किए बिना ही तथा उत्तर दिए बिना ही वे अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। वे अपने दर्शन को पक्ष से रहित, एकपक्षीय, पूर्वापर विरोध रहित, निर्बाध बताते हैं, लेकिन यह बात मिथ्या है। इनका दर्शन पूर्वापर विरुद्ध अर्थ को किस प्रकार बताता है ? यह हम पहले बता आए हैं।

अथवा जैनाचार्य कहते हैं कि जैन दर्शन द्विपक्षीय है, कर्मबन्ध की निर्जरा के बारे मे यहाँ दो पक्ष माने गये है। जैसे जीव अपने कर्म का फल चोर और परस्त्री-लम्पट के समान इस लोक और परलोक दोनो मे प्राप्त करता है। ऐसा सिद्धान्त

मानने के कारण जैनदर्शन द्विपक्षीय है, जबकि बौद्धदर्शन एकपक्षीय है, वह कर्म का फल इसी जन्म मे मानता है, दूसरे लोक मे नही ।

इस प्रकार अि ादी लोकायतिक, बौद्ध और सांख्य वस्तुत वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से नही जानते, उनका हृदय मिथ्यात्वमलपुज से ढका हुआ है। अपने सिद्धान्त दूसरो को समझाने हेतु अनेक शास्त्रो की प्ररूपणा करते है। जैसा कि वे कहते हैं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये ४ धातु या भूत है। इनसे भिन्न सुख-दुख भोक्ता कोई आत्मा नही है। तथा ये पदार्थ भी विचार न करने से सत्य-से प्रतीत होते है, परन्तु तत्त्वदृष्टि से सब मिथ्या है, क्योकि सभी पदार्थ स्वप्न, इन्द्र-जाल, मृगतृष्णा, दो चन्द्रमा दिखना आदि के समान प्रतिभासरूप है। सभी पदाथ क्षणिक हैं, आत्मा से रहित है, तथा सर्वशून्यता-दृष्टि से मुक्ति प्राप्त होती है, उसी मुक्ति की प्राप्ति के लिए शेष भावनाएँ की जाती है।

इस प्रकार आत्मा को क्रियारहित मानने वाले नाना प्रकार के शास्त्रो का हवाला देते है। वस्तुत ये लोग वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ है। इनके दर्शनो का आश्रय लेकर बहुत-से लोग अरहट की तरह अनन्तकाल तक ससार चक्र मे भ्रमण करते हैं।

लोकायतिक सर्वशून्यतावाद मानते है, पर सर्वशून्य मे कोई प्रमाण नही है। 'सब पदार्थ असत् हैं,' यह बात युक्ति से सिद्ध की जाती है, परन्तु वह युक्ति भी यदि असत् है, तो किसके बल पर पदार्थों की असत्ता सिद्ध की जाएगी ? यदि युक्ति को सत्य माने तो सभी पदार्थ सत्य हैं।

अगली गाथा (न० ७) मे शास्त्रकार सर्वशून्यतावादी के मत का निरूपण करते हैं—सूर्य सर्वजनप्रत्यक्ष दिनमणि एव जगत् के दीपक के समान है एव वह दिन आदि काल का विभाग करता है। परन्तु सर्वशून्यतावादी के मत से जब सूर्य ही नही है, तो उसके उदय, अस्त की तो बात ही क्या ? आकाश मे जलता हुआ तेजोमडल दिखाई तो देता है, परन्तु भ्रान्त पुरुषो को दिखाई देने वाली मृगतृष्णा के समान है। चन्द्रमा भी शुक्लपक्ष मे बढता नही, कृष्णपक्ष मे घटता भी नही। जल पर्वतो के झरनो से गिरता और बहता नही, निरन्तर गतिशील हवा भी नही चलती। कहाँ तक कहे, सौ बातो की एक बात यह है कि यह सारा दृश्यमान ससार या पदार्थ माया, स्वप्न और इन्द्रजाल के समान मिथ्या है।

अब सर्वशून्यतावादियो के मत का खण्डन करते हुए ८वी गाथा मे शास्त्रकार दृष्टान्त देकर कहते हैं—'जहाहि अधे पस्सति निरुद्धपन्ना' जैसे जन्मान्ध पुरुष या बाद मे दृष्टिरहित हुआ पुरुष दीपक, मशाल आदि के प्रकाशो के साथ मे होते हुए भी घट-पटादि पदार्थों को देख नही सकता वैसे ही अक्रियावादी विद्यमान घट-पटादि पदार्थों तथा उनकी स्पन्दन आदि क्रियाओ को देख नही सकता, क्योकि

उसकी प्रज्ञा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से ढकी रहती है। समस्त अंधेरे को मिटाने वाले, कमल समूह को विकसित करने वाले, प्रतिदिन उदय-अस्त होते एव गति करते हुए सूर्य को तो सारा जगत प्रतिदिन देखता है। चन्द्रमा भी शुक्ल-कृष्णपक्ष मे क्रमश वढता-घटता देखा जाता है। नदियाँ वर्षा ऋतु मे जल की तरगो से भरी और बहती हुई प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। वृक्ष के कम्पन आदि द्वारा वायु के बहने-चलने का भी अनुमान होता है।

अक्रियावादी जो समस्त वस्तुओ को माया या इन्द्रजाल के समान मिथ्या बताते हैं, यह भी ठीक नही। क्योकि समस्त वस्तुओ का अभाव मानने पर अमायारूप किसी भी सत्य वस्तु के न होने पर माया का भी अभाव होगा। तथा माया का जो कथन करता है, तथा जिसके प्रति कथन करता है, इन दोनो का भी अभाव होने से माया का कथन भी सिद्ध नही हो सकता है। ससार को स्वप्नवत् मिथ्या कहने वाले चार्वाक जाग्रत माने जाने पर यह सिद्ध हो जाता है कि चार्वाक जाग्रत को मानता है तो स्वप्न को तो मान ही लिया। स्वप्न भी अभावरूप नही है, क्योकि स्वप्नदृष्ट पदार्थ बाहर भी पाये जाते है। स्वप्नशास्त्र के अनुसार स्वप्न के कारण ये है—

अणुहूयदिट्ठचितिय सुयपयइवियारदेवयाऽणूया।
सुमिणस्स निमित्ताइ पुण्ण पाव च णाभावो ॥

अर्थात्— अनुभव किया हुआ, देखा हुआ, चिन्तन किया हुआ, सुना हुआ, प्रकृति का विकार, देवता का प्रभाव और पुण्य-पाप, ये सब स्वप्न के कारण होते हैं, अभाव कारण नही होता।

इन्द्रजाल का प्रयोग भी तभी किया जाता है, जब जगत् मे दूसरी सच्ची वस्तु हो, इसलिए इन्द्रजाल को भी अभावरूप नही कहा जा सकता।

दो चन्द्रमाओ की प्रतीति भी तभी हो सकती है, जब दो चन्द्रमा का प्रतिभास कराने वाले एक चन्द्रमा का सद्भाव हो, या रात्रि का समय हो। मगर सर्वशून्य हो तो दो चन्द्रमा की प्रतीति कैसे होगी? अत किसी भी वस्तु का अत्यन्त तुच्छ-रूप अभाव— अत्यन्ताभाव नही है। शशविषाण, कूर्मरोम या गगनारविन्द आदि मे भी उनके समासपदवाच्य पदार्थ का अभाव है, प्रत्येकपदवाच्य पदार्थ का अभाव नही, क्योकि जगत् में शश (खरगोश) भी है और विषाण (सीग) भी है। इसलिए शश के मस्तक पर विषाण (सीग) का उगने मात्र का निषेध यहाँ है। किन्तु वस्तु का आत्यन्तिक अभाव नही। इस प्रकार अस्ति आदि क्रिया होने पर भी बुद्धिहीन परतीर्थी अक्रियावाद का आश्रय लेते हैं।

शास्त्रकार शून्यवाद का खण्डन करते हुए फिर कहते हैं—'सवच्छर' अणा-' अर्थात् ज्योतिष आदि शास्त्रो को पढकर लोग इस लोक मे भूत और भविष्य

को जान लेते है, परन्तु शून्यवाद मान लेने पर तो यह ज्ञान होना असम्भव है। लौकिकशास्त्रो मे ८ शास्त्र ऐसे है, जो भूत या भविष्य का फल बता देते हैं। जैसे— भौम, (भूमि सम्बन्धी ज्ञान बताने वाला), उत्पात (भूकम्प, दिग्दाह, उल्कापात आदि का सूचक), स्वप्न, आन्तरिक्ष (नक्षत्रो आदि आकाशस्थ ग्रहो का सूचक), आग (अग मे उत्पन्न स्फुरण, छीक आदि का फल बताने वाला शास्त्र), स्वर (ईडा, पिंगला सुषुम्णा स्वर), लक्षण (शरीर मे श्रीवत्स, स्वस्तिक आदि लक्षणो का फलसूचक शास्त्र), व्यञ्जन (शरीर पर तिल, मष आदि का फलसूचक) तथा नवम पूर्व मे तृतीय आचार वस्तु प्रकरण मे से उद्धृत जो सुख दुख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ आदि का सूचक निमित्त शास्त्र है। ये अष्टाग निमित्त शास्त्र कहलाते है। इसी प्रकार पक्षी और मनुष्य, पशु (शृगाल आदि) की वाणी तथा प्रशस्त शकुन, छीक आदि भी लक्षणशास्त्र के अन्तर्गत है। इन सब शास्त्रो के पढने से भूत या भविष्य की जानकारी मनुष्यो को होती है, वह किसी न किसी पदार्थ की सूचक होती है, सर्वशून्यवाद मानने पर तो यह हो नही सकती।

शून्यवाद का इन प्रमाणो से खण्डन होने पर भी चार्वाक शून्यबोधक शास्त्र की दुहाई देते हैं।

इस पर शून्यतावादी अक्रियावादी कहते हैं—ज्योतिष शास्त्र आदि का ज्ञान झूठा भी देखा जाता है। जैनागमो मे भी यह बात स्वीकृत की गई है कि चतुर्दश पूर्वज्ञानी पुरुषो के ज्ञान मे भी हीयमानता-वर्द्धमानता आदि ६ प्रकार का न्यूनाधिक तारतम्य होता है। अर्थात् उनका ज्ञान भी कमोवेश होता है, इसलिए उनके द्वारा कही बातो मे भी अन्तर हो जाता है, तब फिर अष्टाग निमित्तशास्त्रवेत्ताओ के ज्ञान मे अन्तर न हो, यह कैसे हो सकता है ? क्योकि अष्टाग निमित्तशास्त्रज्ञो मे भी कनिष्ठ, श्रेष्ठ, मध्यम, मन्द आदि के भेद से छह कोटि के व्यक्ति होते है, उनके एक-दूसरे के भूत-भविष्य कथन मे भी फर्क पडता मालूम देता है। कोई निमित्त सच्चा होता है कोई झूठा भी सिद्ध होता है। किसी निमित्तज्ञ की बुद्धि की विकलता के कारण उस प्रकार का क्षयोपशम न होने से उसके निमित्त-ज्ञान मे अन्तर पड जाना स्वाभाविक है। अत इन निमित्तशास्त्रो के एक-दूसरे के ज्ञान मे अन्तर पडता देखकर अक्रियावादी इन सभी विद्याओ को सत्य न मानते हुए निमित्तशास्त्र को सच्चा-झूठा दोनो प्रकार का मानकर समस्त श्रुतज्ञान (शास्त्र आदि) के त्याग का उपदेश देते है। वे अक्रियावादी यह भी समझते है कि विद्या पढे बिना ही हम लोकालोक के पदार्थो को जानते हैं। इस प्रकार वे कहते हैं—"ये सब ज्योतिष आदि विद्याएँ झूठी हैं, बेकार हैं, छीक, अपशकुन आदि होने पर या मुहूर्त आदि देखे बिना कही जाने पर भी कार्यसिद्धि होती देखी जाती है, इसलिए ज्योतिषियो के फलादेश आदि सब मिथ्या बकवास हैं।"

इसका उत्तर देते हुए जैनाचार्य कहते हैं—शास्त्रो का भलीभाँति अध्ययन किया जाए और सोच-विचार कर कहा जाए तो निमित्तादि के कथन मे फर्क नही पडता। शास्त्राभ्यासियो मे जो ६ कोटि के न्यूनाधिक ज्ञानी व्यक्ति बतलाये गये हैं वे शास्त्रज्ञान की न्यूनाि ा की अपेक्षा से नही, अपितु अध्येता पुरुषो के क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण से बताये गये हैं। इससे शास्त्रज्ञान को न्यूनाधिक और झूठा मानना ठीक नही हे। प्रमाणाभास मे फर्क पडने से सच्चे प्रमाण को मिथ्या कहना या उसमे शका करना युक्त नही है, क्योकि मशक मे धूँआ भरकर उसका मुँह बाँधकर कोई व्यक्ति उसे किसी जगह ले जाकर खोले और कहे कि देखो इस मशक मे धूँआ है, किन्तु आग नही है, इसलिए जहाँ-जहाँ धूँआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, यह अनुमानप्रमाण झूठा है, यह कहना भी मिथ्या है। प्रमाता पुरुष के प्रमाद से प्रमाण मे दोष बताना ठीक नही है। इसी तरह निमित्तादि शास्त्र का फल भी भली-भाँति विचार करके कहा जाए तो वह सत्य होता है।

शुभ-अशुभ, छीक, शकुन आदि निमित्तो के बल से जो शुभ-अशुभ फल की विपरीतता देखी जाती है, वह भी बीच मे उसके छीक या शकुन के विपरीत दूसरे निमित्त मिल जाने पर होता है। सुनते हैं—बुद्ध ने भी अपने शिष्यो को बुलाकर एक बार कहा था—"इस देश मे १२ वर्ष का दुष्काल पडेगा, इसलिए तुम लोग दूसरे देशो मे चले जाओ।" यह सुनकर जब उनके शिष्य जाने लगे तो फिर उन्हे बुलाकर बुद्ध ने कहा—"अब तुम्हे दूसरे देशो मे जाने की जरूरत नही, क्योकि आज ही यहाँ एक महासत्वशाली पुण्यवान पुरुष का जन्म हुआ है। अत उसके प्रभाव से इस देश मे सुभिक्ष होगा।" तथागत बुद्ध की इस उक्ति से स्पष्ट जान पडता है कि पहले शकुन या निमित्त से विपरीत निमित्त या शकुन यदि बाद मे होता है तो पहले वाले शकुन या निमित्त के फल मे फर्क हो जाता है। इसलिए निमित्तशास्त्र आदि के प्रमाण को झूठा बताकर भूत-भविष्यकथनरूप क्रियावाद का निराकरण करना मिथ्या है।

मूल

ते एवम तिसमिच्च लोग, तहा तहा समणा माहणा य ।
सयं कडं णन्नकड च दुक्ख, आहसु विज्जाचरण पमोक्खं ॥११॥

स छाया

त एवमाख्यान्ति समेत्य लोक, तथा तथा श्रमणा माहनाश्च ।
स्वय कृत नाऽन्यकृत च दु खम् आहुर्विद्याचरण च मोक्षम् ॥११॥

र्थ

(ते समणा माहणा य) वे श्रमण (शाक्यभिक्षु आदि) तथा माहन यानी ब्राह्मण

(लोग समिच्च) अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार लोक को जानकर (तहा तहा एवमक्खति) कर्मानुसार फल प्राप्त होना बताते है। (सय कड णन्नकड च दुक्ख) वे यह भी कहते है कि दु ख अपने करने से होता है, दूसरो के करने मे नही होता। (विज्जाचरण पमोक्ख आहसु) परन्तु तीर्थंकरो ने ज्ञान और क्रिया से मोक्ष कहा है।

भावार्थ

शाक्यभिक्षु आदि श्रमण और ब्राह्मण आदि अपनी-अपनी मान्यतानुसार लोक को जानकर उस-उस क्रिया के अनुसार अमुक कर्मफल प्राप्त होना बताते है। तथा वे यह भी कहते है कि दु ख जीव का अपना ही किया हुआ होता है, दूसरे का किया हुआ नही होता। परन्तु तीर्थंकरो ने ज्ञान और क्रिया दोनो से मोक्ष कहा है।

व्याख्या

एकान्तक्रियावादियो के रग-ढग

अब शास्त्रकार एकान्तक्रियावादियो के मत का निरूपण करके उनके विचारो मे कहाँ-कहाँ भूल है ? इसे बताते हैं। जो लोग ज्ञानरहित केवल दीक्षा आदि क्रियाओ से मोक्ष प्राप्ति आदि मानते हैं, वे यह कहते है कि 'माता, पिता, आदि सब हैं, शुभकर्म का फल भी मिलता है।' वे ऐसा इस आधार पर कहते है कि कोरी क्रिया से ही सब कार्य सिद्ध होते है। इस प्रकार अपनी मान्यतानुसार वे स्थावर जगमरूप लोक को जानकर यह कहते हैं कि 'हम ही वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से जानते हैं।' इस प्रकार की गर्वोक्ति के साथ वे कहते है—'सब पदार्थ हैं ही,' इस प्रकार एकान्तरूप समस्त वस्तु के अस्तित्व का कथन करते हैं, लेकिन वस्तु कथचित् नही भी है, ऐसा नही कहते। उनका कहना है कि 'जीव जैसी-जैसी क्रियाएँ करता है, तदनुसार ही उसे नरक-स्वर्ग आदि कर्मफल प्राप्त होता है।' वे तथाकथित श्रमण और ब्राह्मण क्रियामात्र से ही मोक्ष प्राप्ति मानते हैं।

उनका कथन यह भी है कि ससार मे सुख-दु ख आदि जो कुछ भी होता है, वह सब अपना किया हुआ होता है, काल, ईश्वर आदि दूसरो के द्वारा किया हुआ नही होता। जो क्रिया को नही मानते, उनके मत मे ये बाते घटित नही हो सकती। क्योकि उनके मत से आत्मा क्रियारहित होने से बिना किये सुख-दु ख की प्राप्ति सम्भव नही है। यदि क्रिया बिना ही किसी को सुख-दु ख मिलने लगें तो वहाँ कृतनाश और अकृतम्यागम दोष होगे।

क्रियावादियो के इस कथन के सम्बन्ध ये जैनाचार्य कहते हैं—क्रियावादियो का कथन किसी अश तक ठीक है कि क्रिया से भी मोक्ष होता है, तथा आत्मा और सुख आदि है, परन्तु वे सर्वथा है ही, इस प्रकार की एकान्तप्ररूपणा यथार्थ नही है। यदि एकान्तरूप से उनका अस्तित्व है ही तो वे कथचित् नही है, यहबात नहीं

इसका उत्तर देते हुए जैनाचार्य कहते है—शास्त्रो का भलीभाँति अध्ययन किया जाए और सोच-विचार कर कहा जाए तो निमित्तादि के कथन मे फर्क नही पडता। शास्त्राभ्यासियो मे जो ६ कोटि के न्यूनाधिक ज्ञानी व्यक्ति बतलाये गये है वे शास्त्रज्ञान की न्यूनाधिकता की अपेक्षा से नही, अपितु अध्येता पुरुषो के क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण से बताये गये है। इससे शास्त्रज्ञान को न्यूनाधिक और झूठा मानना ठीक नही है। प्रमाणाभास मे फर्क पडने से सच्चे प्रमाण को मिथ्या कहना या उसमे शका करना युक्त नही है, क्योकि मशक मे धूँआ भरकर उसका मुँह बाँधकर कोई व्यक्ति उसे किसी जगह ले जाकर खोले और कहे कि देखो इस मशक मे धूँआ है, किन्तु आग नही है, इसलिए जहाँ-जहाँ धूँआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, यह अनुमानप्रमाण झूठा है, यह कहना भी मिथ्या है। प्रमाता पुरुष के प्रमाद से प्रमाण मे दोष बताना ठीक नही है। इसी तरह निमित्तादि शास्त्र का फल भी भलीभाँति विचार करके कहा जाए तो वह सत्य होता है।

शुभ-अशुभ, छीक, शकुन आदि निमित्तो के बल से जो शुभ-अशुभ फल की विपरीतता देखी जाती है, वह भी बीच मे उसके छीक या शकुन के विपरीत दूसरे निमित्त मिल जाने पर होता है। सुनते हैं—बुद्ध ने भी अपने शिष्यो को बुलाकर एक बार कहा था—"इस देश मे १२ वर्ष का दुष्काल पडेगा, इसलिए तुम लोग दूसरे देशो मे चले जाओ।" यह सुनकर जब उनके शिष्य जाने लगे तो फिर उन्हे बुलाकर बुद्ध ने कहा—"अब तुम्हे दूसरे देशो मे जाने की जरूरत नही, क्योकि आज ही यहाँ एक महासत्वशाली पुण्यवान पुरुष का जन्म हुआ है। अत उसके प्रभाव से इस देश मे सुभिक्ष होगा।" तथागत बुद्ध की इस उक्ति से स्पष्ट जान पडता है कि पहले शकुन या निमित्त से विपरीत निमित्त या शकुन यदि बाद मे होता है तो पहले वाले शकुन या निमित्त के फल मे फर्क हो जाता है। इसलिए निमित्तशास्त्र आदि के प्रमाण को झूठा बताकर भूत-भविष्यकथनरूप क्रियावाद का निराकरण करना मिथ्या है।

मूल

ते एवम तिसमिच्च लोग, तहा तहा समणा माहणा य ।
सयं कडं णन्नकड च दुक्ख, आहसु विज्जाचरण पमोक्खं ॥११॥

सस्कृत छाया

त एवमाख्यान्ति समेत्य लोक, तथा तथा श्रमणा माहनाश्च ।
स्वय कृत नाऽन्यकृत च दु खम् आहुर्विद्याचरण च मोक्षम् ॥११॥

र्थं

(ते समणा माहणा य) वे श्रमण (शाक्यभिक्षु आदि) तथा माहन यानी ब्राह्मण

(लोग समिच्च) अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार लोक को जानकर (तहा तहा एवमक्खति) कर्मानुसार फल प्राप्त होना बताते है। (सय कड णन्नकड च दुक्ख) वे यह भी कहते हैं कि दु ख अपने करने से होता है, दूसरो के करने मे नही होता। (विज्जाचरण पमोक्ख आहसु) परन्तु तीर्थंकरो ने ज्ञान और क्रिया से मोक्ष कहा है।

भावार्थ

शाक्यभिक्षु आदि श्रमण और ब्राह्मण आदि अपनी-अपनी मान्यतानुसार लोक को जानकर उस-उस क्रिया के अनुसार अमुक कर्मफल प्राप्त होना बताते हैं। तथा वे यह भी कहते है कि दु ख जीव का अपना ही किया हुआ होता है, दूसरे का किया हुआ नही होता। परन्तु तीर्थंकरो ने ज्ञान और क्रिया दोनो से मोक्ष कहा है।

व्याख्या

एकान्तक्रियावादियो के रग-ढग

अब शास्त्रकार एकान्तक्रियावादियो के मत का निरूपण करके उनके विचारो मे कहाँ-कहाँ भूल है ? इसे बताते हैं। जो लोग ज्ञानरहित केवल दीक्षा आदि क्रियाओ से मोक्ष प्राप्ति आदि मानते हैं, वे यह कहते है कि 'माता, पिता, आदि सब हैं, शुभकर्म का फल भी मिलता है।' वे ऐसा इस आधार पर कहते हैं कि कोरी क्रिया से ही सब कार्य सिद्ध होते है। इस प्रकार अपनी मान्यतानुसार वे स्थावर जगमरूप लोक को जानकर यह कहते हैं कि 'हम ही वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से जानते हैं।' इस प्रकार की गर्वोक्ति के साथ वे कहते हैं—'सब पदार्थ हैं ही,' इस प्रकार एकान्तरूप समस्त वस्तु के अस्तित्व का कथन करते है, लेकिन वस्तु कथचित् नही भी है, ऐसा नही कहते। उनका कहना है कि 'जीव जैसी-जैसी क्रियाएँ करता है, तदनुसार ही उसे नरक-स्वर्ग आदि कर्मफल प्राप्त होता है।' वे तथाकथित श्रमण और ब्राह्मण क्रियामात्र से ही मोक्ष प्राप्ति मानते हैं।

उनका कथन यह भी है कि ससार मे सुख-दु ख आदि जो कुछ भी होता है, वह सब अपना किया हुआ होता है, काल, ईश्वर आदि दूसरो के द्वारा किया हुआ नही होता। जो क्रिया को नही मानते, उनके मत मे ये बातें घटित नही हो सकती। क्योकि उनके मत से आत्मा क्रियारहित होने से बिना किये सुख-दु ख की प्राप्ति सम्भव नही है। यदि क्रिया बिना ही किसी को सुख-दु ख मिलने लगें तो वहाँ कृतनाश और अकृतम्यागम दोष होगे।

क्रियावादियो के इस कथन के सम्बन्ध मे जैनाचार्य कहते हैं—क्रियावादियो का कथन किसी अश तक ठीक है कि क्रिया से भी मोक्ष होता है, तथा आत्मा और सुख आदि हैं, परन्तु वे सर्वथा है ही, इस प्रकार की एकान्तप्ररूपणा यथार्थ नही है। यदि एकान्तरूप से उनका अस्तित्व है ही तो वे कथचित् नही हैं, यहबात नहीं

हो सकती, क्योकि ऐसा न मानने पर सर्ववस्तुएँ सर्ववस्तुरूप हो जाएँगी। इस प्रकार जगत् के सब व्यवहारो का उच्छेद हो जाएगा। अत वस्तु कथञ्चित् है, ऐसा ही मानना चाहिए। तथा ज्ञानरहित क्रिया से कोई कार्य सिद्ध नही होता, क्योकि उस कार्य के उपाय का ज्ञान न हो तो उस उपाय से प्राप्त होने वाले पदार्थ की प्राप्ति नही होती हे। सभी क्रियाएँ ज्ञान के साथ ही अभीष्ट फल प्रदान करती हैं। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

पढम नाण तओ दया, एव चिट्ठइ सव्वसजए ।
अन्नाणी कि काही, कि वा नाही य सेय पावग ।।

अर्थात्—पहले ज्ञान होता हे, तब दया की जाती है। सारे सयमी पुरुष पहले जीवो का ज्ञान प्राप्त करते हैं, फिर दया का आचरण करते है। जिसको जीवादि पदार्थों का ज्ञान नही है, वह पुरुप कैसे दया कर सकता हे ? वह कल्याण (पुण्य) और पाप को भी कैसे जान सकता है ?"

अत क्रिया के समान ज्ञान की प्रधानता है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि एकमात्र ज्ञान से भी कार्यसिद्धि नही होती, क्योकि क्रियारहित ज्ञान पगु के समान है, इसी तरह ज्ञानरहित क्रिया अधे के समान है। दोनो अलग-अलग रह कर कार्य करने मे समर्थ नही हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'आहसु विज्जाचरण पमोक्ख।" अर्थात्—तीर्थंकर गणधर आदि ने ज्ञान और चारित्र (क्रिया) दोनो से मोक्ष बताया है।

इस ११वी गाथा की व्याख्या दूसरी तरह से भी की जा सकती है। वह इस प्रकार—वे तीर्थंकर जिन्होने इन समवसरणो का निरूपण किया है, वे अनिरुद्धप्रज्ञ (अप्रतिहत केवलज्ञान के धनी) पूर्वोक्त रूप से या आगे कहे जाने वाले ढग से वस्तुस्वरूप का कथन करते हैं। वे केवलज्ञान के द्वारा चौदह रज्जुस्वरूप या स्थावर- इस लोक को हस्तामलकवत् जानकर तीर्थंकर पद को या केवलज्ञान को प्राप्त हैं। तथा वे श्रमण (निर्ग्रन्थ साधु) तथा माहन यानी श्रावक-सयतासयत जिस-जिस प्रकार से मोक्षमार्ग व्यवस्थित है—सत्य है, उस-उस प्रकार से उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि ससार के प्राणियो को जो कुछ सुख-दु ख प्राप्त होता है, वह सब अपने किये हुए कर्म का फल है, काल, ईश्वर आदि के द्वारा दिया हुआ नही है। इसीलिए किसी ने कहा है—

सव्वो पुव्वकयाण कम्माण पावए फलविवाग ।
अवराहेसु गुणेसु य णिमित्तमित्त परो होई ।।

अर्थात्—सभी प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मो का फल प्राप्त करते हैं, दूसरा तो बुराई और भलाई का केवल निमित्तमात्र होता है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञान और क्रिया दोनो से ही मोक्ष प्राप्त होता है। अकेले क्रियानिरपेक्ष ज्ञान से, अथवा अकेली ज्ञाननिरपेक्ष क्रिया से मोक्ष नही हो सकता।

मूल

ते चक्खु लोगसिह णायगा उ, मग्गाणुसासंति हियं पयाणं ।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव ! सपगाढा ॥१२॥
जे रक्खसा व जमलोइयावा, जे वा सुरा गधव्वा य काया ।
आगासगामी य पुढोमिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेति ॥१३॥
जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं ।
जसी विसन्ना विसयगणाहिं, दुहओऽवि लोयं अणुसंचरंति ॥१४॥
न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा ।
मेहाविणो लोभमयावतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥१५॥
ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं ।
णेतारो अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ॥१६॥
ते णेव कुव्वंति ण कारवंति, भूताभिसंकाइ दुगुंछमाणा ।
सया जता विप्पणमंति धीरा, विण्णत्ति धीरा य हवंति एगे ॥१७॥

संस्कृत छाया

ते चक्षुर्लोकस्येह नायकास्तु मार्गमनुशासति हितं प्रजानाम् ।
तथा तथा शाश्वतमाहुर्लोका यस्मिन् प्रजा मानव ! सम्प्रगाढा ॥१२॥
ये राक्षसा वा यमलौकिका वा, ये वा सुरा गन्धर्वाश्च काया ।
आकाशगामिनश्च पृथिव्याश्रिता ये, पुनः पुनर्विपर्यासमुपयान्ति ॥१३॥
यमाहुरोघं सलिलमपारगं, जानीहि वै भवगहनं दुर्मोक्षम् ।
यस्मिन् विषण्णा विषयागनाभिर्द्विधाऽपि लोकमनुसंचरन्ति ॥१४॥
न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बाला, अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीरा ।
मेधाविनो लोभमयावतीता, सन्तोषिणो नो प्रकुर्वन्ति पापम् ॥१५॥
तेऽतीतोत्पन्नानागतानि, लोकस्य जानन्ति तथागतानि ।
नेतारोऽन्येषामनन्यनेया, बुद्धा हि तेऽन्तकृतो भवन्ति ॥१६॥
ते नैव कुर्वन्ति, न कारयन्ति, भूताभिशंकया जुगुप्समाना ।
सदा यता विप्रणमन्ति धीरा, विज्ञप्तिधीराश्च भवन्त्यनेके ॥१७॥

अन्वयार्थ

(ते इह लोगंसि चक्खू) इस लोक मे वे तीर्थंकर आदि नेत्र के समान हैं (णायगा उ) वे नायक यानी धर्मनेता या प्रधान हैं (पयाणं हियं मग्गाणुसासंति) वे

प्रजाओ—जनता को कल्याण के मार्ग की शिक्षा देते है। (तहा तहा लोए सासयमाहु) इस चतुर्दश-रज्ज्वात्मक या पचास्तिकायरूप लोक मे जो-जो वस्तु जिस-जिस रूप मे अवस्थित हे, उसे शाश्वत कहते है। अथवा प्राणी जिस-जिस (मिथ्यात्वादि) कारण से जिस-जिस ससार मे शाश्वत (स्थिर- मजबूत) होते जाते हे, उसे भी उन्होने उसी प्रकार से बताया है। (माणव ! जसी पया सपगाढा) हे मनुष्यो ! जिस लोक मे प्रजा (नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव) व्यवस्थितरूप से रहती है।१२॥

(जे र । वा जमलोइया वा) जो राक्षस है अथवा जो यमपुरी मे निवास करते है, (जे वा सुरा गधव्वा य काया) तथा जो चारो निकाय के देवता हैं, या जो गन्धर्व है या पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकाय के है, (आगासगामी य पुढोसिया जे) तथा जो आकाशगामी है एव जो पृथ्वी पर रहते है, (पुणो पुणो विप्परियासुवेंति) वे सब अपने किये हुए कर्मो के फल बार-बार विभिन्न गतियो मे परिभ्रमण करते रहते हैं ॥१३॥

(ज ओह सलिल अपारग आहु) तीर्थंकरो ने तथा गणधरादि ने जिस ससार को स्वयम्भूरमण समुद्र के जलसमूह जैसा पार करने मे अशक्य दुस्तर (अपार) कहा है। (भवगहण दुमोक्ख जाणाहि) उस गहन ससार को दुर्मोक्ष (दु ख से छुटकारा पाया जा सके ऐसा) जानो, (जसी विसयगणाहि विसन्ना) क्योकि जिस ससार मे मनुष्य पचेन्द्रिय विषयो तथा ललनाओ की आसक्ति मे फॅस जाते है (दुहओ वि लोय अणुसचरति) वे स्थावर और जगम दोनो ही प्रकार से एक लोक से दूसरे लोक मे भ्रमण करते हैं ॥१४॥

(बाला कम्मुणा कम्म न खवेंति) अज्ञानी जीव पापकर्म करने के कारण अपने कर्मो का क्षय नही कर सकते, परन्तु (धीरा मुणा कम्म खवेंति) धीरपुरुष आस्रवो को रोककर पापकर्म का क्षय कर देते हैं। (मेहाविणो लोभमयावतीता) बुद्धिमान् लोग लोभ से दूर रहते हैं। (सतोसिणो पाव नो पकरेंति) और वे सतोषी होकर पापकर्म नही करते ॥१५॥

(ते लोगस्स तीय उप्पन्नमणागयाइ तहागयाइ जाणति) वे वीतरागपुरुष त्रस-स्थावर जीवात्मक लोक के भूत, वर्तमान और भविष्य काल के वृत्तान्तो को यथार्थ-रूप से जानते हैं। (अन्नेसि नेयारो अणन्नणेया) वे दूसरे जीव के नेता (पथप्रदर्शक) है। कोई नेता नही है। (ते बुद्धा अतकडा भवति) वे ज्ञानीपुरुष ससार का अन्त करते है ॥१६॥

(दुगुछमाणा ते) पाप से घृणा करने वाले वे तीर्थंङ्कर, गणधर आदि (भूताभिसकाइ) प्राणियो के सहार की आशका से, (णेव कुव्वति ण कारवति) स्वय पाप नही करते हैं, और न दूसरो से भी कराते हैं। (धीरा सया जता विप्पणमति) कर्म-विदारण करने मे निपुण वे पुरुष सदा पाप के अनुष्ठान से दूर एव ालन

मे यत्नशील रहते है। (एगे विण्णत्तिधीरा य हवंति) परन्तु कई अन्यदर्शनी अल्प पराक्रमी जीव ज्ञानमात्र से वीर बनते है, आचरण से नही ॥१७॥

भावार्थ

वे तीर्थंकर आदि इस लोक मे नेत्र के समान है, तथा वे धर्मनायक हैं, लोक मे सर्वप्रधान है। वे विविध जनता को कल्याणमार्ग की शिक्षा देते है। चौदह रज्जु-प्रमाण या पचास्तिकायरूप लोक जिस अपेक्षा से शाश्वत (नित्य) है, उस अपेक्षा से वे शाश्वत कहते है अथवा मिथ्यात्वादि जिन-जिन कारणो से जिस-जिस प्रकार से ससार प्रगाढ—स्थायी होता है, उसे वताते हैं, और कहते हैं—हे मानवो ! लोक वह है, जिसमे प्राणिगण निवास करते है ॥१२॥

राक्षस यमपुरवासी, देवता, गन्धर्व, आकाशगामी तथा पृथ्वी पर रहने वाले प्राणी सभी वार-बार भिन्न-भिन्न गतियो मे भ्रमण करते है ॥१३॥

तीर्थंकर आदि महापुरुषो ने जिस ससार को स्वयम्भूरमणसमुद्र के जल के समान अपार एव दुस्तर कहा है, अत इस गहन ससार को दुर्मोक्ष (दु ख से त्याज्य) समझो। विषयो तथा स्त्रियो की आसक्ति मे फँसे हुए जीव इस जगत् मे स्थावर और जगम दोनो प्रकार से एक गति से दूसरी गति मे भ्रमण करते रहते है ॥१४॥

अज्ञानी जीव अशुभ कर्म करने के कारण अपने पापो का नाश नही कर सकते, मगर धीर पुरुष कर्मो का निरोध (आस्रवो का निरोध) करके अशुभकर्मो को छोडकर अपने कर्मो का क्षय करते है। बुद्धिमान पुरुष लोभ से दूर रहते है और सतोषी होकर पापकर्म नही करते ॥१५॥

वे वीतरागप्रभु जीवो के भूत, वर्तमान और भविष्य के समस्त वृत्तान्तो को यथावत् जानते है। वे सबके नेता—मार्गदर्शक है, परन्तु उनका कोई नेता नही है। वे ज्ञानीपुरुष ससार का अन्त करते हैं ॥१६॥

पापकर्म से विरक्ति (नफरत) करने वाले तीर्थंकर, गणधर आदि प्राणियो के वध की आशका से स्वय पाप नही करते और न ही दूसरो से कराते हैं, किन्तु परीषह-उपसर्गसहन मे धीर, कर्म विदारण मे वीर वे पुरुष सदा पापानुष्ठान से निवृत्त रहकर यत्नपूर्वक सयम मे लीन रहते है। परन्तु अन्यतीर्थिक ज्ञानमात्र से वीर वनते है, आचरण से नही ॥१७॥

व्याख्या

ध क तीर्थंकर आदि और उनकी शिक्षाएँ

वारहवी गाथा से लेकर सत्रहवी गाथा तक शास्त्रकार ने मार्गदर्शक महापुरुषो का स्वरूप तथा उनके समवसरणात्मक उपदेशो का निरूपण किया है।

अतिशय ज्ञानी तीर्थंकर, गणधर आदि महापुरुषो के पास मानवो का समवसरण (जमघट) लगता है, यद्यपि वह समवसरण(सगम) किसी स्वार्थ, लोभ या राग से प्रेरित होकर नही लगता, वह सिर्फ धर्मार्थी भव्यजनो या मुमुक्षुओ का मेला या मिलन होता है, तीर्थंकर आदि महापुरुष उस समवसरण (एकत्रित जनसमूह) के नेता होते हैं। नेता नेत्र के समान होते है। जैसे नेत्र योग्यदेश मे स्थित पदार्थ को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही ये धर्मनायक एव नेत्ररूप महापुरुष समवसरण स्थित भव्यजनसमूह के समक्ष समस्त पदार्थों को प्रकाशित कर देते है। वे नायक हैं अर्थात् प्राणियो को सदुपदेश देकर मार्गदर्शक बनते हैं। मार्गदर्शक होने के कारण वे सर्वश्रेष्ठ माने जाते है। वे प्राणियो की आत्मा मे निहित गुणो या शक्तियो को भावात्मक समवसरण के रूप मे प्रस्तुत कर देते हे, तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप या ज्ञान-क्रिया-रूप भाव-समवसरणात्मक मोक्षमार्ग का यथार्थ उपदेश देते है, जिससे उत्तम भावो के समवसरण मे विघ्न डालने वाले अनर्थों का निवारण हो सकता है, मोक्ष या सुगति को वह प्राप्त कर सकता है।

'तहा तहा सासयमाहु लोए'—चौदह रज्जुप्रमाण या पचास्तिकायरूप इस लोक मे आत्मा, मोक्ष, धर्म या मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शनादिरूप) आदि जो शाश्वत तत्त्व हैं, जिनसे आत्मा का कल्याण हो सकता है, उसे यथातथ्यरूप से बताते हैं, अथवा प्राणिगण इस ससार मे मिथ्यात्वादि जिन-जिन कारणो से ज्यो-ज्यो स्थिर—स्थायी (शाश्वत) होते जाते है, उसे भी वे बताते है। बात यह है कि मिथ्यात्व आदि की ज्यो-ज्यो वृद्धि होती जाती है, मनुष्य आस्रवो को रोकने या निर्जरा करने का प्रयत्न बिलकुल नही करता, महारम्भादि महापापो मे रचा-पचा रहता है, त्यो-त्यो ससार की स्थायिता अधिकाधिक सुदृढ होती जाती है, तीर्थंकर, आहारक आदि को छोडकर सभी कर्मों का बन्ध होता जाता है। महारम्भादि चार कारणो से जीव नरकायु बाँधते है, तब तक ससार का उच्छेद नही होता, ज्यो-ज्यो रागद्वेष बढता है त्यो-त्यो ससार बढता है। ज्यो-ज्यो कर्मो का सचय होता जाता है, अथवा दुष्टमन, वचन, काया की प्रवृत्ति बढती जाती है, त्यो-त्यो ससार की वृद्धि होती जाती है। यह ससार-वृद्धि ही देव-मनुष्य-नरक-तिर्यञ्चगतिरूप ससार मे स्थायी निवास है। इसी बात को महापुरुष सम्बोधन करके कहते हैं—'जसी पया माणव ! ढा।' जब ससारवृद्धि होती जाती है तो इसी मे प्राणी नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवरूप से रचा-पचा पडा रहता है। मनुष्यो को इसलिए सम्बोधित किया है कि मानव ही प्राय इस उपदेश के योग्य होते हैं, वे ही ससारबन्धन को काट सकते हैं।

आगे शास्त्रकार तीर्थंकरो के उपदेश का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वे प्राणी विभिन्न योनियो एव गतियो मे बार-बार परिभ्रमण करते रहते हैं। यहाँ प्राणियो के अलग-अलग नाम बताए है—व्यन्तरदेव जाति के राक्षस, यमलोक (नरक)

या विपय एव स्त्री के वशीभूत होकर कदापि उत्तम अनुष्ठान नहीं करते, वे इस कीचड मे फँसकर आकाशलोक या पृथ्वीलोक मे वार-वार जन्म-मरण करते हैं, अथवा वे वेपमात्र से प्रव्रज्याधारी है किन्तु विरति से रहित होने से राग-द्वेपयुक्त होकर उभयभ्रष्ट होकर बार-वार जन्म-मरण करते रहते है।

कई लोग यह सोचते है कर्म कर्म से समाप्त होते है, परन्तु तीर्थकरो का यह सिद्धान्त है कि अज्ञानी जीव ही ऐसा सोचते हैं। पापकर्मो मे वे गहरे लिप्त होते है, इस कारण अपने पूर्व-पापो को क्षीण नही कर ` , नये पापकर्म और वाँधते रहते है। जो धीर और आरम्भ-परिग्रह से विरक्त होते है, वे ही अपने आस्रवो को रोककर पाप- ` य करते है। जसे उत्तम वैद्य चिकित्सा के द्वारा रोग निवारण करता है, वैसे ही वीरपुरुप आस्रवो को रोककर अशत शैलेशी अवस्था मे कर्मो का करते है। प्रज्ञोन्नत पुरुष परिग्रह का सर्वथा त्याग कर लोभ का उल्लघन कर जाते है, अथवा लोभ और भय से वे परे हो जाते हैं। अथवा वे लोभ से परे होने के कारण सतोपी है, और ऐसे परम-सतोपी पुरुप आत्मतृप्त, आत्मरत, आत्मतुष्ट हो जाते है, वे पापकर्म स्वप्न मे भी नही करते। ऐसे पुरुष या तो वीतराग है, या यहच्छालाभ सतुष्ट है।

जो पुरुप लोभातीत हो जाते है, वे वीतराग होते हैं। वे पचास्तिकायात्मक इस प्राणीलोक के अतीत, अनागत तथा वर्तमान के समस्त दु खो या वृत्तान्तो को जानते हैं। वे विभगज्ञानी की तरह विपरीत रूप से नहीं, किन्तु जिसका जैसा सुख-दु ख आदि है, उसे वे वैसा ही देखते हैं। शास्त्रकार कहते है—'णेतारो अन्नेसि अणन्नणेया।' अर्थात्—वे केवलज्ञानी या चतुर्दशपूर्वधर परोक्षज्ञानी ससारसागर को पार करना चाहते हुए दूसरे भव्यजीवो को मोक्ष मे पहुँचा देते हैं, अथवा वे उनके मार्गदर्शक बनते है, सदुपदेश देते हैं, परन्तु उनका कोई मार्गदर्शक (नेता) नही होता, वे स्वयबुद्ध होते हैं। इसलिए उन्हे किसी दूसरे पुरुष से तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा नही रहती। अथवा हित-प्राप्ति और अहित-त्याग के विषय मे ा कोई नेता नही होता। वे स्वयबुद्ध, तीर्थकर, गणधर आदि ससार अथवा ससार के कारणरूप कर्मों का अन्त करते हैं।

ऐसे स्वयबुद्ध महान् पुरुष पापकर्म से विरक्त तथा ज्ञेय पदार्थो को जानने वाले वे प्रत्यक्षदर्शी या परोक्षदर्शी पुरुष प्राणिहिंसा की आशका से न तो स्वय पाप करते हैं और न दूसरो से कराते है। वे प्राणातिपात आदि १८ ही पाप-स्थानो से सदा विरक्त-विरत होकर सयम पालन मे प्रयत्नशील रहते है। वे धीर पुरुष हेय-ज्ञेय-उपादेय को भली-भाँति जानकर नि शक मार्ग, जो जिनवरकथित है, उसे अपनाकर कर्म-विदारण करते हैं। वे ही वीर हैं, धीर हैं। परीषह-उपसर्ग को सहने मे धी-वीर हैं। इसीलिए शास्त्रकार अन्त मे एकान्त ज्ञानवाद एव एकान्त

क्रियावाद का खण्डन करने हेतु कहते है—'विण्णत्तिधीरा य हवंति' अन्य लोग केवल ज्ञानमात्र से वीर बनते हैं, ज्ञान बघारते है, किन्तु ज्ञानमात्र से अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नही होती। जो ज्ञानपूर्वक क्रिया करता हे, वही वस्तुत वीर है। इस प्रकार का वीर पुरुष ही भावसमवसरण के योग्य होता ह। यह वास्तविक क्रियावादी का स्वरूप बताया गया है।

मूल

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते आत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहती लोगमिणं महत, बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१८॥
जे आयओ परओ वावि णच्चा, अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ।
त जोइभूय च सया वसेज्जा, जे पाउकुज्जा अणुवीइ धम्म ॥१९॥
अत्ताण जो जाणइ जो य लोग, गइ च जो जाणइ णागइ च ।
जो सासय जाण असासयं च, जाइ च मरण च जणोववाय ॥२०॥
अहोऽवि सत्ताणविउट्टण च, जो आसव जाणइ सवर च ।
दुक्ख च जो जाणइ निज्जर च, सो भासिउमरिहइ किरियवाय ॥२१॥

स छाया

दहराश्च प्राणा वृद्धाश्च प्राणास्तानात्मवत् पश्यति सर्वलोके ।
उत्प्रेक्षते लोकमिम महान्त, बुद्धोऽप्रमत्तेपु परिव्रजेत् ॥१८॥
य आत्मन परतोवाऽपि ज्ञात्वाऽलमात्मनो भवत्यल परेषाम् ।
त ज्योतिर्भूतञ्च सदा वसेद् ये प्रादुष्कुर्यु रनुविचिन्त्य धर्मम् ॥१९॥
आत्मान यो जानाति, यश्च लोक, गति यो जानात्यनागतिम् च ।
य शाश्वत जानात्यशाश्वत च, जाति च मरण च जनोपपातम् ॥२०॥
अधोऽपि सत्त्वाना विकुट्टना च, य आश्रव जानाति सवर च ।
दु ख च यो जानाति निर्जरा च, स भाषितुमर्हति क्रियावादम् ॥२१॥

अन्वयार्थ

(सव्वलोए) पचास्तिकाययुक्त समस्त लोक मे (डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे) छोटे-छोटे कुन्थु आदि भी प्राणी हैं और बडे-बडे स्थूलकाय भी प्राणी है (ते आत्तओ पासइ) सुसाधु उन्हे अपनी आत्मा के समान देखता-जानता है। (इण लोग महत उव्वेहती) वह इस प्रत्यक्ष दृश्यमान 'यह विशाल लोक कर्मवश दु खरूप है', ऐसा विचार करे, (बुद्धे अपमत्तेसु परिव्वएज्जा) इस प्रकार समझता हुआ तत्त्वदर्शी पुरुप अप्रमत्त साधुओ के निकट जाकर दीक्षा धारण करे ॥१८॥

(जे आयओ परओ वावि णच्चा) जो पुरुष स्वय या दूसरे से धर्म को जान कर उपदेश करता है, (अप्पणो परेसिं य अल होइ) अपना और दूसरो का उद्धार या रक्षण करने मे समर्थ है, (जे अणुवीइ धम्म पाउकुज्जा) जो सोच-विचारकर धर्म को प्रकट करता है, (त जोइभूय च सया वसेज्जा) उस ज्योतिस्वरूप (तेजस्वी) मुनि के सान्निध्य मे सदा निवास करना चाहिए ॥१६॥

(जो अत्ताण जाणइ) जो आत्मा को जानता है। (जो य लोग गइ णागइ च जाणइ) जो लोक को, जीवो की गति और अनागति को जानता है, (जो सासय असासय जाइ मरण च जणोववाय जाण) जो शाश्वत (नित्य) अनित्य, जन्म, मरण और प्राणियो के अनेक गतियो मे गमन को जानता है ॥२०॥

(अहोऽवि सत्ताण विउट्टण च) नीचे नरक आदि मे जीवो को नाना प्रकार की पीडा होती है, यह जो जानता है, (जो आसव सवर च जाणइ) तथा जो आस्रव (कर्मों के आगमन) और सवर (कर्मों के निरोध) को जानता है। (जो निज्जर दुक्ख च जाणइ) जो निर्जरा और दु ख को जानता है। (सो किरियवाय भासिउ-मरिहइ) वही ठीक-ठीक क्रियावाद को वता सकता है ॥२१॥

भावार्थ

इस ससार मे कुथु आदि छोटे शरीर वाले भी प्राणी है और वडे शरीर वाले प्राणी भी हैं। इन प्राणियो को अपने समान समझकर तत्त्व-दर्शी पुरुष अप्रमत्तयोगो मे विचरण करे तथा विशुद्ध सयम का पालन करे अथवा वह तत्त्वदर्शी पुरुष अप्रमत्त साधुओ के सान्निध्य मे आकर सयम मे प्रगति करे या दीक्षा ग्रहण करे ॥१८॥

जो स्वय या दूसरे के द्वारा धर्म का जानकर उसका उपदेश देता है, वह अपना तथा दूसरे का उद्धार या रक्षण करने मे समर्थ है, जो सोच-विचारकर धर्म को प्रगट करता है, उस ज्योतिस्वरूप मुनि के सान्निध्य मे सदा निवास करना चाहिए ॥१६॥

जो आत्मा को जानता है, लोक के स्वरूप को जानता है, जो जीवो की गति और अनागति को जानता है, जो शाश्वत-मोक्ष और अशाश्वत यानी ससार को जानता है तथा जो जन्म, मरण और नाना गतियो मे प्राणियो के गमन को जानता है ॥२०॥

जो नीचे लोक की नरकादि गतियो मे जीवो की नाना प्रकार की यातनाओ को जानता है, तथा जो आस्रव और सवर को जानता है एव दु ख और निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद को ठीक-ठीक वता सकता है ॥२१॥

व्याख्या

यथार्थ क्रियावाद का प्ररूपक कौन और कैसे ?

१८वी गाथा से लेकर २१वी गाथा तक यथार्थ क्रियावाद के प्ररूपक की योग्यता, क्षमता एव निष्ठा के सम्बन्ध मे बताया गया है।

जो व्यक्ति क्रियावादी है यानी दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र को मानता है, वह आत्मा, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष को अवश्य मानेगा। वह सभी प्राणियो को आत्मतुल्य मानकर उनके स्वभाव, गति, स्थिति आदि को भी जानेगा, अहिंसा आदि पाँचो महाव्रतो तथा ५ समिति, ३ गुप्ति एव अन्य उत्तर-गुणो का सम्यक् परिपालन करेगा। यही बात १८वी से लेकर २१वी गाथाओ तक सक्षेप मे बताई है। जो साधक क्रियावादी होता है, वह आत्मवादी या लोकवादी अवश्य होगा। यानी वह प्रत्येक आत्मा के सुख-दु ख आदि के विषय मे जानकर समभाव रखेगा, उनकी रक्षा का ध्यान रखेगा। तत्त्वदर्शी पुरुष समस्त प्राणियो को आत्म-तुल्य समझेगा। चाहे वह प्राणी लघुकाय हो या महाकाय हो, यही उसका प्राणियो के प्रति विनय है, ऐसा सर्वभूतात्मभूत तत्त्वदर्शी पुरुष यही समझता है कि जिस प्रकार मुझे दु ख अप्रिय है, उसी प्रकार सभी प्राणियो को है। इसलिए वह किसी भी प्राणी के साथ प्रतिकूल व्यवहार नही करेगा। कहा भी है—

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा, भूतानामपि ते तथा।
आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति स पश्यति ॥

जैसे स्वय को अपने प्राण प्रिय है, वैसे ही अन्य प्राणियो को भी अपने प्राण उतने ही प्रिय है। अत समस्त प्राणियो को आत्मवत् देखता है, वास्तव मे वही द्रष्टा है। साथ ही शास्त्रकार ने साधक के लिए कहा है—'उव्वेहतो लोगमिण महत'। वह जिस समय भी धर्म-जागरण करे, उस समय इस विशाल लोक का अनुप्रेक्षण करे। लोक महान् इसलिए है कि एक तो यह षड्कायिक जीवो के सूक्ष्म-बादर भेदो से खचाखच भरा हुआ है। दूसरे काल और भाव से यह अनादि-अनन्त होने के कारण महान् है। तीसरे, यह लोक द्रव्य से षड्द्रव्यात्मक एव क्षेत्र से १४ रज्जु प्रमाण तथा अन्तरहित एव अनन्त पर्याययुक्त होने से महान् है।

महान् लोक का उत्प्रेक्षण या चिन्तन कैसे करे ? इसके लिए वृत्तिकार कहते हैं कि वह तत्त्वदर्शी साधक यह सोचे कि इस लोक मे सभी प्राणियो के स्थान अनित्य हैं, दु खपूर्ण इस लोक मे सुख का लेशमात्र भी नही है। शास्त्रकार ने कहा है—

जम्म दुक्ख जरा दुक्ख रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु ससारे जत्थ किस्सति जतवो ॥

अर्थात्—जन्म दु खरूप है, बुढापा दु खरूप है, रोग और मृत्यु भी दु खरूप हैं। आश्चर्य है कि इस दु खरूप ससार मे प्राणी नाना प्रकार के क्लेश पाता है।

कारण यह है कि इस लोक मे जीव नाना प्रकार के कर्मो के कारण दु खरूप फल भोगता है। दूसरा कोई उस दु ख को कम नही कर सकता, न उसमे हिस्सा बँटवा सकता हे। स्वयकृत कर्म स्वय को ही भोगना पडेगा। इस प्रकार लोक का अनुचिन्तन करता हुआ साधु ऐसे अप्रमत्त साधुओ के सान्निध्य मे जाकर सयम पालन करे अथवा सयम मे पराक्रम करे।

इससे आगे शास्त्रकार क्रियावादी की योग्यता का दिग्दर्शन कराते हैं—'जे आयओ अणुवीइ धम्म' क्रियावादी साधक दो प्रकार के है—एक सर्वोच्च क्रियावादी सवज्ञ, दूसरे गणधर आदि। जो सर्वज्ञ है, वे तीनो लोको के समस्त पदार्थो को यथार्थरूप से जान लेते है, और जो गणधर आदि छद्मस्थ हैं, वे तीर्थकरादि के वचनो से जीवादि पदार्थो को सम्यक्रूप से समझ लेते है, और स्वत या परत धर्म को जानकर दूसरो को उपदेश देते है। वे अपने और दूसरो का उद्धार करने मे समर्थ है तथा धर्मार्थी समवसरण को धर्मोपदेश देने मे समर्थ हैं। धर्मार्थी एव मुमुक्षु साधक ऐसे ज्योतिस्वरूप (तेजस्वी—पदार्थो के यथार्थ प्रकाशक) मुनिवरो के सान्निध्य मे रहकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र का अपूर्व लाभ उठाते हैं। वे भी ऐमे जिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ को देखकर देश, काल, पात्र, व्यक्ति की योग्यता, परिस्थिति आदि सोच-विचारकर उसकी क्षमता और योग्यता के अनुरूप धर्म बताते है। वास्तव मे गुरुकुलनिवासी को ही ऐसा सुयोग और सुफल मिल सकता है। यह तो हुआ यथार्थ क्रियावादी की योग्यता और क्षमता का विवरण। अब उसका स्वरूप भी शास्त्रकार बताते है—जो क्रियावादी साधक होगा वह आत्मवादी अवश्य होगा, और जो आत ी होगा वह लोकवादी और कर्मवादी अवश्य होगा। आचारागसूत्र मे स्पष्ट कहा है—

जे आयावाई से लोयावाई, जे लोयावाई से कम्मावाई,
जे कम्मावाई से किरियावाई।

जो आत्मवादी होगा, वह लोकवादी होगा यानी लोक-परलोक को अवश्य मानेगा, और जो लोकवादी होगा, वह कर्मवादी होगा यानी कर्म और उनके फल पर विश्वास करेगा और जो कर्मवादी होगा, वह क्रियावादी भी होगा। इसी वात को शास्त्रकार दो गाथाओ द्वारा स्पष्ट करते है—'अत्ताण · जणोववाय। अहोऽवि सत्ताण किरियवाय।' आशय यह है कि आत्मा को जो पुरुप जानता है, वह उसे कर्मानुसार परलोक मे जाने वाला, शरीर से भिन्न, सुख-दु ख का आधार, कर्त्ता-भोक्ता और पुण्य-पापरूप फल पाने वाला—यो जानकर जो आत्म-कल्याण की साधना मे प्रवृत्त होता है, वही आत्मज्ञ है।

जो पुरुप अह (मैं) इस प्रकार की प्रतीति से ग्रहण करने योग्य आत्मा को यथार्थ रूप से जानता है, वही प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप लोक को है।

आत्मज्ञ पुरुष ही जीवादि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करता है। नृत्यशाला मे दोनो हाथ कमर पर रखकर खड़े हुए पुरुष के समान १४ रज्ज्वात्मक इस चराचर विश्व को वह जानता है। अलोक (अनन्त आकाशास्तिकायरूप) को जानता है। जीवो की गति-आगति को जानता है। यानी ये नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव कहाँ से आए हैं ? अथवा किन-किन कर्मों को करने से जीव नरक, स्वर्ग, देव, मनुष्य आदि गतियो एव योनियो मे उत्पन्न होते है। कहाँ जाकर जीव वापिस नही लौटता ? कर्मो के सर्वथा क्षय से जीव को कौन सी स्थिति प्राप्त होती है, आत्मा की शुद्ध अवस्था कौन-सी और कैसी है ? मोक्ष जाने के उपाय क्या हैं ? सम्यग्दर्शनादि मोक्ष का मार्ग क्यो है ? इत्यादि जो जानता-देखता है, इस प्रकार आगति के साथ वह अनागति (सिद्धि) को भी जानता है। द्रव्यार्थिक नयानुसार सब पदार्थों को नित्य एव पर्यायार्थिक नय के अनुसार सबको अनित्य यानी उभयस्वरूप जानता है। निर्वाण को शाश्वत और ससार को अशाश्वत क्यो कहते हैं, इन दोनो को जानता है। निर्वाण शाश्वत इसलिए है कि वहाँ से फिर लौटकर ससार मे आना नही होता, और ससार अशाश्वत इसलिए है कि नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति मे ससारी जीव इधर से उधर कर्मवश भ्रमण करता रहता है। वह नरकादि मे जन्मरूप जाति को जानता है। आयुष्य के क्षयरूप मरण को भी जानता है, एव जीवो के उपपात— नरक और देवलोक के जन्म को वह जानता है। यहाँ जन्म का विचार करने पर जीवो की योनि (उत्पत्तिस्थान), जो कि २७ प्रकार की है, उसको भी जानना चाहिए। तिर्यञ्च और मनुष्य का मरण होता है, देवो का च्यवन, भवनपति व्यन्तर और नारको की उद्वर्तना होती है, इसको भी भली भाँति जान लेना चाहिए। यो आत्मवाद को वह भली-भाँति जानता है।

साथ ही जीवो को कर्म कौन करता-कराता है, फल कौन भोगता है ? फल भुगताने वाला कौन है ? इन सब प्रश्नो का यथार्थ समाधान पाकर क्रियावादी साधक यह जानता है कि नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि गतियो मे जीवो को नाना प्रकार की पीडा होती है। क्योकि जो प्राणी पापकर्म करते है, वे अपने कृतकर्मों के अनुसार फल भोगते हैं। कर्मवश नरक आदि स्थानो मे जाकर वे जीव जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से उत्पन्न नाना प्रकार की शारीरिक-मानसिक पीडा को भोगते है। सर्वार्थसिद्ध देवलोक से लेकर सातवी नरक तक जितने प्राणी हैं, वे सब कर्म से युक्त हैं। इनमे जो सबसे अधिक गुरुकर्मी है, वे अप्रतिष्ठान नामक नरक-भूमि मे जाते है। इस कर्मवाद को जो विश्वासपूर्वक जानता-मानता है। इसके अतिरिक्त आठ प्रकार के कर्म जिनके द्वारा आते है, उन आस्रवो को जानता है, उनके कारणो और रोकने के उपायो (सवरो) को भी भेद-प्रभेद एव कारणो सहित जानता है। वह असातावेदनीय के उदयरूप दु ख या उसके कारणो को, तथा उसके विपरीत जो

सुख है या उसके कारण है, उन्हे यानी पुण्य-पाप को वह जानता है। आशय यह है कि वह क्रियावादी साधक कर्मबन्ध एव कर्मक्षय के कारणो एव निवारण के उपायो को वह भली भाँति जानता है। कारण यह है कि जितने भी और जिस प्रकार के पदार्थ-ससार प्राप्ति के कारण है, उतने ही उनसे विपरीत पदार्थ मोक्ष-प्राप्ति के हेतु है। इत्यादि जो जानता है, और जो इन सबको भली-भाँति हृदयगम करके दूसरो के गले उतार देता है, उन्हे भली-भाँति समझा सकता है, वही वस्तुत सच्चा क्रियावादी है। यहाँ इन दो गाथाओ द्वारा शास्त्रकार ने जीवादि नौ ही तत्त्वो का ग्रहण कर लिया है। 'जो आत्मा को जानता है' यह कहकर जीव पदार्थ, लोक कहकर अजीव पदार्थ, तथा गति, अनागति और शाश्वत आदि कहकर इन्ही का स्वभाव बताया गया है। आस्रव और सवर का नामोल्लेख किया है। दुख कहकर बन्ध और पुण्य-पाप सूचित किए गए हैं। क्योकि ये तीनो ही दुख के कारण है। निर्जरा का नाम भी लिया गया है। मोक्ष भी कहा गया है। इस प्रकार मोक्ष के लिए उपयोगी ६ तत्त्वो के अस्तित्व या स्वीकार करने से ही क्रियावाद सिद्धान्त स्वीकृत होता है। जो व्यक्ति इन तत्त्वों को, विशेषत आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद को जानता-मानता है, वही वस्तुत क्रियावाद को जानता मानता है।

नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, मीमासक और लोकायतिक आदि सभी के मान्य तत्त्व युक्तिविरुद्ध, प्रमाणविहीन और कई लोकविरुद्ध हैं, इसलिए क्रियावाद के उपयुक्त वे कसौटी मे खरे नही उतरते। इसीलिए उनके वाद को सम्यक्वाद नही कहा गया है।

अब शास्त्रकार सम्यक्वाद को जानकर किस प्रकार की क्रिया करे ? यह अन्तिम गाथा मे बताते है—

मूल

सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो, गधेसु रसेसु अदुस्समाणे ।
णो जीविय, णो मरणाभिकंखी, आयाणगुत्तो वलयाविमुक्के ॥२२॥
त्ति बेमि॥

छाया

शब्देषु रूपेष्वसज्जमानो, गन्धेसु रसेसु चाद्विषन् ।
नो जीवित नो मरणाभिकाक्षी, आदानगुप्तो वलयाद्विमुक्त ॥२२॥
इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो) शब्द और रूप मे आसक्त न होता हुआ साधक (गधेसु रसेसु अदुस्समाणे) अमनोज्ञ गन्ध और रस मे द्वेष न करे। (णो जीविय, णो

मरणाभिकखी) तथा जीने और मरने की आकाक्षा न करता हुआ साधु (आयाणगुत्ते) सयम से गुप्त—सुरक्षित और (वलयाविमुक्के) माया से विमुक्त रहित होकर विचरण करे।

र्थ

साधु मनोहर शब्द और रूप मे आसक्त न हो, तथा अमनोज्ञ गन्ध और रस पर द्वेप न करे एव वह जीने या मरने की इच्छा न करे, किन्तु सयम से अपने को सुरक्षित और माया से रहित होकर विचरण करे।

व्याख्या

समवसरण के योग्य क्रियावादी साधु क्या करे ?

क्रियावादी साधु को सम्यक्वाद जानकर क्या करना चाहिए ? यह इस गाथा मे बताया गया है। वास्तव मे जब साधक क्रियावादी होता है तो आत्मवादी तो वह स्वत ही होता है। आत्मवादी का मतलब सम्यक्-ज्ञान सहित अध्यात्म से युक्त है। आत्मवादी शुद्ध आत्मा या आत्म स्वभाव मे जब रमण करता है तो उसके सामने इन्द्रियाँ, मन, शरीर, आदि आत्मबाह्य भौतिक पदार्थ रुकावट डालने आते है, जैसे सुन्दर रूप और मनोहर कर्णप्रिय शब्द सामने आए, इसी प्रकार अमनोज्ञ गन्ध और रस भी आ गए, साधक को उस समय झटपट फैसला करना होगा और इन पर पूर्व-सस्कारवश आने वाले राग और द्वेष, आसक्ति और घृणा को तुरत मन से निकाल देना होगा और शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना होगा।

इन विपयो मे लुभायमान होकर असयमी जीवन जीने की आकाक्षा न करे, तथा परीपहो और उपसर्गो से पीडित होने पर मरने की भी इच्छा न करे। बल्कि जीवन और मृत्यु के प्रति सममावी रहकर साधु केवल आत्म-भावो मे रमण करे। सयम (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप) मे निष्ठा रखकर मायारहित होकर मोक्षमार्ग मे पुरुषार्थ करे। आदान सयम को कहते हैं। क्योकि मोक्षार्थी पुरुप के लिए आदान — ग्रहण करने योग्य वस्तु सयम ही है। उसके द्वारा अपनी आत्मा को विषय-कषायो से गुप्त—सुरक्षित रखे, बचाए। अथवा मिथ्यात्व आदि द्वारा जो ग्रहण किया जाय उसे—कर्म को भी आदान कह सकते हैं। वह आठ प्रकार का है। साधु उन्हे (कर्मो को) ग्रहण करने मे मन-वचन-काया से गुप्त और पाँच समिति से युक्त होकर रहे। भाववलय माया को कहते हैं, उससे भी साधु मुक्त रहे।

'त्ति बेमि' शब्दो का अर्थ पूर्ववत् है।

सूत्रकृतागसूत्र का बारहवाँ समवसरण नामक अध्ययन अमर सुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

॥ समवसरण न बारहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

याथातथ्य : तेरहवाँ अध्ययन

अध्ययन का सक्षिप्त परिचय

बारहवे समवसरण अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब तेरहवें अध्ययन की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। बारहवे अध्ययन मे परमतवादियो के मत का निरूपण और उनके एकान्तमतवाद का खण्डन भी किया गया है, परन्तु वह खण्डन यथार्थ (सत्य) वचन के द्वारा होता है, इसके लिए 'याथातथ्य' नामक यह अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। किसी मत, सिद्धान्त और सूत्रवचन का अर्थ और उसकी व्याख्या सुधर्मास्वामी से लेकर अब तक आचार्यो की परम्परानुसार युक्तिसगत और मोक्षमार्गपरक यथार्थ रूप से किया जाय, उसका नाम याथातथ्य है। इस अध्ययन मे यही बताया गया है। इसका प्राकृत नाम है—आहत्तहीय, जिसका सस्कृत मे रूपान्तर होता है—**याथातथ्य**। इसमे खासतौर से विनीत-अविनीत शिष्यो के गुणावगुणो पर प्रकाश डाला गया है। अभिमानी और सरल, क्रोधी और शान्त, कपटी और सरल, लोभी और नि स्पृह शिष्य कैसे होते हैं, उनका व्यवहार कैसा होता है? यह भी बताया गया है। धर्म, समाधि, मार्ग और समवसरण नामक पूर्व-अध्ययनो मे जो वस्तु सत्य और यथार्थ तत्त्व बताई गई है, तथा प्रतिवादियो के जो मत या तत्त्व असत्य और सिद्धान्तविरुद्ध है, उनका भी प्रतिपादन सक्षेप मे किया गया है।

याथातथ्य शब्द का निर्वचन

'यथातथा' शब्द से भावप्रत्यय लगकर 'याथातथ्य' शब्द बनता है। निर्युक्तिकार ने पहले के 'यथा' शब्द को छोडकर पिछले 'तथा' शब्द का निक्षेप बताया है। अथवा जो याथातथ्य है, वही तथ्य है। अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वभाव को तथ्य कहते है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही कहना तथ्य है। और याथातथ्य का भी यही अर्थ है। इस दृष्टि से 'तथ्य' शब्द के ४ निक्षेप होते है। नामतथ्य और स्थापनातथ्य तो सुगम हैं। सचित्तादि पदार्थों मे से जिस पदार्थ का जैसा स्वभाव या स्वरूप है, उसे द्रव्य की प्रधानता को लेकर 'द्रव्यतथ्य' कहते हैं। जैसे जीव का लक्षण उपयोग है, पृथ्वी का काठिन्य है, जल का लक्षण द्रवत्व है। अथवा जिस

मनुष्य आदि का जैसा मार्दव आदि स्वभाव है, तथा गोशीर्षचन्दन आदि द्रव्यो मे जिसका जैसा स्वभाव है, उसे द्रव्यतथ्य कहते है ।

भावतथ्य नियम से ६ प्रकार के औदयिक आदि भावो मे जानना चाहिए । कर्मों के उदय से जो उत्पन्न होता है, उसे औदयिकभाव कहते है । जैसे—कर्मो के उदय से जीव जो गति आदि का अनुभव करता है, वह औदयिकभाव है। जो कर्म के उपशम से उत्पन्न होता है, उसे औपशमिक कहते है अर्थात् कर्म का उदय न होना औपशमिकभाव है। एव कर्मक्षय होने से आत्मा का जो गुण प्रकट होता है उसे क्षायिकभाव कहते है। वह अप्रतिपाती ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप है । जो कर्म के क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है, वह क्षायोपशमिक है। वह अशत क्षयरूप और उपशमरूप है । जो परिणाम से उत्पन्न होता है, वह पारिणामिकभाव है, वह जीवत्व, अजीवत्व, भव्यत्व आदि है । इन पाँचो भावो मे से दो तीन आदि के सयोग से उत्पन्न भाव सान्निपातिक कहलाता है । इन्ही ६ भेदो मे भावतथ्य समाविष्ट हो जाता है ।

अथवा आत्मा मे रहने वाला भावतथ्य चार प्रकार का है—ज्ञानतथ्य, दर्शनतथ्य, चारित्रतथ्य और विनयतथ्य । मति आदि ५ ज्ञानो के द्वारा जो वस्तु जैसी है, उसे उसी तरह समझना ज्ञानतथ्य है, शका आदि अतिचारो से रहित जीवादि तत्त्वो पर श्रद्धा करना दर्शनतथ्य है, १२ प्रकार के तप और १७ प्रकार के सयम का शास्त्रोक्त रीति से अच्छी तरह आचरण—पालन करना चारित्रतथ्य है तथा ४२ प्रकार का विनय, जो कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और औपचारिक है, उसकी यथायोग्य साधना-आराधना (क्रिया) करना विनयतथ्य है। इन ज्ञान आदि का योग्य-रीति से आराधन-आचरण न करना अतथ्य है । यहाँ भावतथ्य का प्रसग है ।

अथवा प्रशस्त और अप्रशस्त भेद से भावतथ्य दो प्रकार का है । यहाँ प्रशस्त भावतथ्य का अधिकार है । निर्युक्तिकार की दृष्टि मे प्रशस्त भावतथ्य का मतलब है—जिस प्रकार से और जिस रीति से सूत्र बनाये गये है, उसी तरह से उनके अर्थ की व्याख्या करना और उसी तरह से उनका अनुष्ठान करना । अर्थात्—जैसा सिद्धान्तसूत्र है, तदनुसार वैसा ही आचरण यानी चारित्र हो, और वही अनुष्ठान करने योग्य है, उसी को याथातथ्य कहते है। अथवा प्रस्तुत प्रसग मे जो विषय वर्णनीय है, यानी जिस विषय को लेकर उक्त सूत्र रचित है, उस विषय की ठीक-ठीक व्याख्या करना, या उस विषय को ससार से पार करने मे कारण बताकर उसकी प्रशसा करना याथातथ्य है ।

आशय यह है कि जिस दृष्टि या रीति से सूत्रो की रचना की गई है, उनकी व्याख्या यदि उसी तरह की जाय और उसी तरह उसको आचरण मे क्रियान्वित किया जाये तो वे जीव को ससारसागर से पार करने मे समर्थ होते हैं। इसलिए वह

याथातथ्य : तेरहवाँ अध्ययन

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

बारहवें समवसरण अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब तेरहवें अ की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। बारहवे अध्ययन मे परमतवादियो के मत का निरूपण और उनके एकान्तमतवाद का खण्डन भी किया गया है, परन्तु वह खण्डन यथार्थ (सत्य) वचन के द्वारा होता है, इसके लिए ' थ्य' नामक यह अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। किसी मत, सिद्धान्त और सूत्रवचन का अर्थ और उसकी व्याख्या सुधर्मास्वामी से लेकर अब तक आचार्यों की परम्परानुसार युक्तिसगत और मोक्षमार्गपरक यथार्थ रूप से किया जाय, उसका नाम याथातथ्य है। इस अध्ययन मे यही बताया गया है। इसका प्राकृत नाम है—आहत्तहीय, जिसका सस्कृत मे रूपान्तर होता है—य य। इसमे र से विनीत-अविनीत शिष्यो के गुणावगुणो पर प्रकाश डाला गया है। अभिमानी और सरल, क्रोधी और शान्त, कपटी और सरल, लोभी और नि स्पृह शिष्य कैसे होते हैं, उनका व्यवहार कैसा होता है? यह भी बताया गया है। धर्म, समाधि, मार्ग और समवसरण नामक पूर्व-अध्ययनो मे जो वस्तु सत्य और यथार्थ तत्त्व बताई गई है, तथा प्रतिवादियो के जो मत या तत्त्व असत्य और सिद्धान्तविरुद्ध है, भी प्रतिपादन सक्षेप मे किया गया है।

याथातथ्य शब्द का निर्वचन

'यथातथा' शब्द से भावप्रत्यय लगकर 'याथातथ्य' शब्द बनता है। निर्युक्तिकार ने पहले के 'यथा' शब्द को छोडकर पिछले 'तथा' शब्द का निक्षेप बताया है। अथवा जो याथातथ्य है, वही तथ्य है। अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वभाव को तथ्य कहते है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही कहना तथ्य है। और याथातथ्य का भी यही अर्थ है। इस दृष्टि से 'तथ्य' शब्द के ४ निक्षेप होते है। नामतथ्य और स्थापनातथ्य तो सुगम हैं। सचित्तादि पदार्थों मे से जिस पदार्थ का जैसा स्वभाव या स्वरूप है, उसे द्रव्य की प्र ा को लेकर 'द्रव्यतथ्य' कहते हैं। जैसे जीव का लक्षण उपयोग है, पृथ्वी का काठिन्य है, जल का लक्षण द्रवत्व है। अथवा जिस

मनुष्य आदि का जैसा मार्दव आदि स्वभाव है, तथा गोशीर्षचन्दन आदि द्रव्यो मे जिसका जैसा स्वभाव है, उसे द्रव्यतथ्य कहते है ।

भावतथ्य नियम से ६ प्रकार के औदयिक आदि भावो मे जानना चाहिए । कर्मों के उदय से जो उत्पन्न होता है, उसे औदयिकभाव कहते है । जैसे—कर्मों के उदय से जीव जो गति आदि का अनुभव करता है, वह औदयिकभाव है । जो कर्म के उपशम से उत्पन्न होता है, उसे औपशमिक कहते है अर्थात् कर्म का उदय न होना औपशमिकभाव है । एव कर्मक्षय होने से आत्मा का जो गुण प्रकट होता है उसे क्षायिकभाव कहते है । वह अप्रतिपाती ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप है । जो कर्म के क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है, वह क्षायोपशमिक है । वह अशत क्षयरूप और अशत उपशमरूप है । जो परिणाम से उत्पन्न होता है, वह पारिणामिकभाव है, वह जीवत्व, अजीवत्व, भव्यत्व आदि है । इन पाँचो भावो मे से दो तीन आदि के सयोग से उत्पन्न भाव सान्निपातिक कहलाता है । इन्ही ६ भेदो मे भावतथ्य समाविष्ट हो जाता है ।

अथवा आत्मा मे रहने वाला भावतथ्य चार प्रकार का है—ज्ञानतथ्य, दर्शनतथ्य, चारित्रतथ्य और विनयतथ्य । मति आदि ५ ज्ञानो के द्वारा जो वस्तु जैसी है, उसे उसी तरह समझना ज्ञानतथ्य है, शका आदि अतिचारो से रहित जीवादि तत्त्वो पर श्रद्धा करना दर्शनतथ्य है, १२ प्रकार के तप और १७ प्रकार के सयम का शास्त्रोक्त रीति से अच्छी तरह आचरण—पालन करना चारित्रतथ्य है तथा ४२ प्रकार का विनय, जो कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और औपचारिक है, उसकी यथायोग्य साधना-आराधना (क्रिया) करना विनयतथ्य है । इन ज्ञान आदि का योग्य-रीति से आराधन-आचरण न करना अतथ्य है । यहाँ भावतथ्य का प्रसग है ।

अथवा प्रशस्त और अप्रशस्त भेद से भावतथ्य दो प्रकार का है । यहाँ प्रशस्त भावतथ्य का अधिकार है । निर्युक्तिकार की दृष्टि मे प्रशस्त भावतथ्य का मतलब है—जिस प्रकार से और जिस रीति से सूत्र बनाये गये है, उसी तरह से उनके अर्थ की व्याख्या करना और उसी तरह से उनका अनुष्ठान करना । अर्थात्—जैसा सिद्धान्तसूत्र है, तदनुसार वैसा ही आचरण यानी चारित्र हो, और वही अनुष्ठान करने योग्य है, उसी को याथातथ्य कहते हैं । अथवा प्रस्तुत प्रसग मे जो विषय वर्णनीय है, यानी जिस विषय को लेकर उक्त सूत्र रचित है, उस विषय की ठीक-ठीक व्याख्या करना, या उस विषय को ससार से पार करने मे कारण बताकर उसकी प्रशसा करना याथातथ्य है ।

आशय यह है कि जिस दृष्टि या रीति से सूत्रो की रचना की गई है, उनकी व्याख्या यदि उसी तरह की जाय और उसी तरह उसको आचरण मे क्रियान्वित किया जाये तो वे जीव को ससारसागर से पार करने मे समर्थ होते है । इसलिए वह

याथातथ्य होता है, इसके विपरीत यदि सूत्र का अर्थ और व्याख्या ठीक-ठीक न की जाए, या भलीभाँति तदनुसार अनुष्ठान न किया जाए अथवा उसे ससार का कारण कहकर उसकी निन्दा की जाए तो वह याथातथ्य नही होता। उदाहरण के तौर पर श्री सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी और आर्यरक्षित आदि महान् आचार्यो की परम्परा और धारणा से सूत्र का जो व्याख्यान चला आ रहा है, उसी तरह से उसका व्याख्यान करना याथातथ्य है। किन्तु परम्परागत सूत्र-व्याख्यान के विपरीत मनमाना, कुतर्क मद से विकृत, कपोलकल्पित सूत्र-व्याख्यान करना अ थ्य है। कोई अपने को पण्डित और ज्ञानी मानकर मिथ्यात्व के कारण दृष्टिविपर्यास होने से सर्वज्ञकथित वस्तुतत्त्व को अयथार्थ—असत्य ठहराकर, और तरह से व्याख्या करता है, वह अयाथातथ्य है। जैसे—जो वस्तु 'की जा रही है', उसे 'की गई' नही कहना चाहिए, किन्तु जो 'की जा चुकी है' उसे ही 'की गई' कहना चाहिए, इस प्रकार की व्याख्या या प्ररूपणा भगवान महावीर के 'कडेमाणे कडे' जो क्रियमाण है, उसे लोक व्यवहार मे कृत कहना (व्यवहारनय की दृष्टि से) सिद्धान्त से विरुद्ध है—यह थ्य है। लोकव्यवहार मे भी यह देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के कानपुर जाने के लिए रवाना हो जाने पर उसके बारे मे किसी से पूछे जाने पर वह यही कहता है कि वह व्यक्ति कानपुर गया। हालाकि वह अभी तक कानपुर पहुँचा नही है। परन्तु जो मनुष्य जरा-से ज्ञान के मद मे आकर सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त की अशमात्र भी विपरीत व्याख्या करता है, वह सयम और तप मे चाहे जितना उद्यम करता हो, कि तु अयाथातथ्य प्ररूपणा के फलस्वरूप शारीरिक, मानसिक दु खो से शीघ्र छुटकारा नही पा सकता। इसलिये 'याथातथ्य' अध्ययन के द्वारा समस्त सुविहित साधुओ को यही प्रेरणा दी गई है कि स्वय के सिद्धान्तज्ञाता होने का अभिमान या श्रुतमद छोडकर नम्र बनकर सर्वज्ञोक्त सिद्धान्तो का आशय अधिकृत अधिकारी आचार्यो से समझकर यथार्थरूप से उनकी व्याख्या करे। प्रत्येक सूत्र के अर्थ, भावार्थ, परमार्थ, । आदि को भलीभाँति र निरूपण-प्ररूपण करना, तथा तदनुसार आचरण करना ही याथातथ्य अध्ययन का हार्द है।

इस अध्ययन की क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल

आहत्तहीय तु पवेडयस्सं, नाणप्पकारं पुरिसस्स जातं ।
सओ अ धम्म, असओ असील, सतिं असंतिं करिस्सामि पाउं ॥१॥

याथातथ्य तु प्रवेदयिष्यामि, ज्ञानप्रकार पुरुषस्य जातम् ।
सतश्च धर्ममसतश्चाशील, शान्तिमशान्ति च करिष्यामि प्रादु ॥१॥

अन्वयार्थ

(आहत्तहीय तु पवेइयस्स) मैं याथातथ्य अर्थात् सच्चे यथार्थ तत्त्व को बताऊँगा तथा (नाणप्पकार) ज्ञान (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र के बोध) का रहस्य कहूँगा, ((पुरिसस्स जात) जीवो के भले-बुरे स्वभावो, तथा गुणो को बताऊँगा, (असओ असील, सओ अ धम्म) कुसाधुओ का कुशील और सुसाधुओ का सुशील (धर्म) भी बताऊँगा। (संति असंति च पाउ करिस्सामि) तथा शान्ति (मोक्ष) और अशान्ति (ससार) का स्वरूप भी प्रकट करूँगा।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते है मै यथार्थ तत्त्व का, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के बोध का रहस्य बताऊँगा साथ ही मैं जीवो के अच्छे-बुरे स्वभावो एव गुणो का भी दिग्दर्शन कराऊँगा, कुसाधुओ के कुशील और सुसाधुओ के सुशील (धर्म) का भी निरूपण करूँगा, एव शान्ति (मुक्ति) और अशान्ति (बन्धन, ससारभ्रमण) के स्वरूप को भी प्रकट करूँगा।

व्याख्या

याथातथ्य के नि का अ

इस गाथा मे श्री सुधर्मास्वामी द्वारा याथातथ्य के निरूपण का अभिवचन अकित किया गया है। वास्तव मे भाव-याथातथ्य मे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और विनय इन चारो का समावेश होता है। अत 'आहत्तहीय' (यथार्थ तत्त्व) पद से दर्शन याथातथ्य के, 'नाणप्पकार' (सम्यग्ज्ञानादि के रहस्य-ज्ञान) पद से ज्ञानयाथातथ्य के, पुरिसस्स जात आदि (जीवो के स्वभाव, गुण आदि) सुशील कुशील पद से चारित्र-याथातथ्य एव संति असंति (मोक्ष और बन्ध) से विनययाथातथ्य के निरूपण करने का अभिवचन प्रतीत होता है।

वस्तु यथार्थतत्त्व या परमार्थ को याथातथ्य कहते हैं। तत्त्वो को यथार्थरूप मे समझ लेने पर ही यथार्थ श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन होता है, इसलिए सर्वप्रथम याथा-तथ्य बताने को कहा है। तदनन्तर नाणप्पकार (ज्ञानप्रकार) कहा है। यहाँ प्रकार शब्द आदि' अर्थ मे प्रयुक्त है, उसका अर्थ है ज्ञान आदि यानी ज्ञान-दर्शन-चारित्र का रहस्य। इन सबका सक्षिप्त स्वरूप हम पहले बता आए हैं। इसके पश्चात् पुरुषो के नाना प्रकार के गुण, धर्म, प्रशस्त अप्रशस्त स्वभाव आदि के निरूपण की बात कही है। जो पुरुष सज्जन है, सदाचारी है, सुसाधु है, सदनुष्ठान करता है, रत्नत्रय-सम्पन्न है, वह जो श्रुतचारित्ररूपधर्म का शुद्ध आचरण करता है, उसे समस्तकर्मक्षय-रूप शान्ति (मुक्ति) प्राप्त होती है, इसके विपरीत जो पुरुष असज्जन है, अशोभन है, प तीर्थिक पाषण्डी या पार्श्वस्थ आदि हैं, उनके अधर्म (पाप) कुशील और ससार-

भ्रमणरूप अशान्ति को प्रकट करूँगा, यह सुधर्मास्वामी का अभिवचन है, जिसे वे आगे की गाथाओ मे क्रमश पूरा करते हैं।

मूल पाठ

अहो य राओ अ समुट्ठिएहिं, तहागएहिं पडिलब्भधम्म ।
समाहिमाघातमजोसयंता, सत्थारमेव फरुस वयंति ॥२॥

स

अहनि च रात्रौ च समुत्थितेभ्यस्तथागतेभ्य प्रतिलभ्य धर्मम् ।
समाधिमाख्यातमजोपयन्त , शास्तारमेव परुष वदन्ति ॥२॥

र्थ

(अहो य राओ अ समुट्ठिएहि तहागएहिं) दिन-रात सम्यक्रूप से सदनुष्ठान करने मे प्रवृत्त तथागतो—तीर्थंकरो से (धम्म पडिलब्भ) धर्म (श्रुतचारित्ररूप) को पाकर (आघात समाहि अजोसयता) तीर्थंकरो द्वारा कथित समाधि-सम्यग्दर्शनादि मोक्षपद्धति का सेवन न करते हुए (जामालि आदि निह्नव) (सत्थारमेव फरुस वयंति) अपने प्रशास्ता— धर्मोपदेशक को ही कटुवाक्य कहते हैं।

र्थ

अहर्निश उत्तम अनुष्ठान करने मे प्रवृत्त तथागतो—तीर्थंकरो से धर्म प्राप्त करके तीर्थंकरोक्त समाधिमार्ग का आचरण न करते हुए कुछ निह्नव अपने प्रशास्ता—धर्मोपदेशक (तीर्थंकर) को ही अपशब्द कहते है।

व्याख्या

धर्मोपदेशक से धर्म पाकर उन्हीं की निन्दा करने वाले

इस गाथा मे याथातथ्य के सन्दर्भ मे शास्त्रकार ने बताया है कि कुछ लोग अहर्निश उत्तम अनुष्ठान मे तत्पर तथागत प्रशास्ता तीर्थंकरो से शुद्धधर्म का बोध पाकर भी अपनी मदभाग्यता या मिथ्यात्व एव मोहनीयकर्म के उदयवश उन्ही ाओ की एव उनके समाधिमार्ग या सिद्धान्तो की निन्दा, अवहेलना करते हैं, उनकी मखौल उडाते है और अपने आपको सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी, महात्मा सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। यह अयाथातथ्य है। इस प्रकार के अयाथातथ्य या अयथार्थ विचार, वचन एव कार्य से प्रत्येक साधक को बचना चाहिए और याथातथ्य मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

ऐसे लोग, जो वीतराग सर्वज्ञ प्रशास्ताप्रवर तीर्थंकर की मजाक उडाते हैं, और उनके सिद्धान्त के विरुद्ध कुमार्ग की प्ररूपणा करते हैं, उदाहरणार्थ—जो व्यक्ति क्रियमाण (किये जाते हुए) पदार्थ को कृत (किया हुआ) बताता है, वह सर्वज्ञ नही है, तथा जो पात्र आदि उपकरणो के परिग्रह से भी मोक्ष बताता है, वह सर्वज्ञ नही

हो सकता, इस प्रकार का अपलाप करते हुए वे निह्नव लोग सर्वज्ञोक्त मार्ग पर श्रद्धा नही रखते, यह उनका अयाथातथ्य है। इसी प्रकार सर्वज्ञोक्त मार्ग पर श्रद्धा रखते हुए भी कुछ साधक मानसिक या शारीरिक दुर्बलता के कारण लिए हुए सयम भार-रूपी दायित्व को वहन करने मे असमर्थ होते है, जब ये सयमपालन करने मे शिथिलता करते है तो आचार्य आदि उन्हे धर्मस्नेहवश वैसा न करने के लिए शिक्षा देते हैं, मगर वे अपनी उद्धतता के कारण शिक्षा देने वाले को ही अपशब्द कहने लगते हैं, यह भी चारित्रीय अयाथातथ्य है। सुसाधक को इस प्रकार के अयाथातथ्यो से बचना चाहिए।

मूल

विसोहिय ते अणुकाहयते, जे आतभावेण वियागरेज्जा ।
अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुस वएज्जा ॥३॥

संस्कृत छाया

विशोधित तेऽनुकथयन्ति, ये आत्मभावेन व्यागृणीयु ।
अस्थानिको भवति बहुगुणाना, ये ज्ञानशकया मृषा वदेयु ॥३॥

अन्वयार्थ

(ते विसोहिय अणुकाहयते) वे जामालि आदि निह्नव अच्छी तरह से शोधित इस जिनमार्ग की आचार्य परम्परागत व्याख्या से विपरीत प्ररूपण करते है, (जे आतभावेण वियागरेज्जा) जो अपनी रुचि के अनुसार आचार्य-परम्परा से विपरीत सूत्रो का अर्थ करते हैं। वे (बहुगुणाण अट्ठाणिए होइ) उत्तम गुणो के भाजन नही होते हैं। (जे णाणसकाइ मुस वएज्जा) जो वीतराग के ज्ञान मे शका करके मिथ्या-भाषण करते हैं, वे भी उत्तम गुणो के पात्र नही होते।

भावार्थ

वीतराग का मार्ग समस्त दोषो से रहित है, फिर भी अहकारवश निह्नव आदि आचार्य-परम्परागत व्याख्या से विपरीत सूत्रो का अर्थ करते है। जो पुरुष अपनी रुचि के अनुसार परम्परागत व्याख्यान से भिन्न मन-माना व्याख्यान करते है, तथा वीतराग के ज्ञान मे शका करके मिथ्याभाषण करते हैं, वे उत्तम गुणो के भाजन नही होते।

व्याख्या

परम्परा से विरुद्ध व्याख्या, प्ररूपणा श्रेष्ठ गुणो की अपात्रता का कारण

इस गाथा मे शास्त्रकार ने अयाथातथ्य प्ररूपण करने वालो की मनोवृत्ति एव उसके दुष्परिणामो पर प्रकाश डाला है। इसमे निम्न ३ प्रकार के अयाथातथ्य प्ररूपक बताये गये हैं—(१) परम्परागत व्याख्या के विपरीत प्ररूपणा करने वाले, (२) अपनी

रुचि के अनुसार परम्पराविरुद्ध मनमानी सूत्र-व्याख्या करने वाले और (३) वीतराग के ज्ञान मे शका प्रकट करके मिथ्याभाषण करने वाले। ये तीनो ही प्रकार के विरुद्धप्ररूपक (निह्नव) उत्तम गुणो के भाजन नही होते।

विसोहिय – यह वीतराग-मार्ग का विशेषण है। विशोधित का अर्थ है—विविध प्रकार से शोधन किया हुआ, अर्थात् कुमार्ग की प्ररूपणा से बचाकर जो निर्दोष रखा गया है, तथा सशय-विपर्यय-अनध्यवसाय से रहित एव युक्ति-तर्क-नय-प्रमाणसगत है, अनेकान्तवादसापेक्ष है। वह मार्ग विविध वादो, मतो एव मान्यताओ की एकान्त या विपरीत प्ररूपणाओ से वर्जित है। ऐसा मार्ग—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-रूप मोक्षमार्ग है। इस विशुद्ध शोधित मार्ग को यथार्थरूप से न समझकर अपने मताग्रह से ग्रस्त गोष्ठामाहिल, जामालि आदि निह्नव आचार्यो की परम्परागत धारणा-प्ररूपणा को छोडकर विपरीत प्ररूपणा करते है। दूसरे प्रकार के वे अयाता-तथ्य प्ररूपक हैं, जो अपने अहकार मे डूबकर स्वेच्छा से सूत्रो की स्वकल्पित व्याख्या मे मोहित होकर आचार्य-परम्परागत अर्थ को तिलाजलि देकर उससे विरुद्ध अर्थ करते हैं, और दूसरो को भी वैसा ही अर्थ ताते है। ऐसा करने वाले व्यक्ति मोह-कर्म के उदय के कारण सूत्र के गम्भीर अभिप्राय को पूर्वापर ग्रन्थ-सन्दर्भ के अनुसार समझने मे समर्थ नही होते। अत अपने को ज्ञानी और विद्वान मानकर मनमानी उत्सूत्रप्ररूपण करते है। मगर इस प्रकार अपनी मनपसन्द शास्त्र व्याख्या करना महान् अनर्थ का कारण है।

पहले निह्नव विपरीतसिद्धान्तप्ररूपक है, जबकि दूसरे निह्नव उत्सूत्र (विपरीत सूत्र व्याख्या) प्ररूपक है। है ये दोनो एक ही थैली के चट्टे बट्टे। दोनो पूरे अहकारी और अपने आपको ज्ञानी का अवतार मानने वाले हैं?

एक तीसरे प्रकार के निह्नव होते है, जो वीतराग सर्वज्ञ के ज्ञान मे शका करते हुए, उन पर कीचड उछालते हैं, उनके व्यक्तिगत विशुद्ध जीवन पर छीटाकशी करते हैं, वे मिथ्याभाषी सर्वज्ञोक्त आगम के प्रति शका प्रगट करते हुए कहते हैं—"यह आगम सर्वज्ञकथित हो ही नही सकता, अथवा इसका *अर्थ* दूसरा है या सर्वज्ञ ऐसा हो नही सकता, जिसमे कोई दोष न हो, जो पूर्णज्ञान से युक्त हो आदि।" अथवा जो अपने पाण्डित्य के अभिमान मे आकर झूठी बकवास करते है कि "मैं जैसा कहता हूँ, वही ठीक है, उसी तरह का अर्थ सम्यक् है, अन्य सब अर्थ झूठे हैं, इसका ऐसा अर्थ हो ही नही सकता। यह गलत अर्थ है।"

जहाँ तक व्यक्तिगत विचारो का प्रश्न है, व्यक्ति किसी बात को समझने के लिए जिज्ञासापूर्वक कोई प्रश्न करे, शका प्रस्तुत करे या समझने की इच्छा से उलटा-सीधा सवाल करे, यह तो क्षम्य है, किन्तु ऐसा न करके वह यथार्थ अर्थ या सत्य सिद्धान्त पर सीधा ही आक्षेप करे, उसे मिथ्या बताकर अपने मत या मान्यता

की स्थापना करे, इतना ही नही जनता मे उसका जोर-शोर से प्रचार करे, सत्यप्ररूपको पर कीचड उछाले, उनकी निन्दा करे, यह घोर निह्नवता या अयाथातथ्यप्ररूपण है।

इसका दुष्परिणाम बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'अट्ठाणिए होइ बहूगुणाण।' ये तीनो ही प्रकार के अयाथातथ्य प्ररूपक बहुत-से उत्तम ज्ञानादि गुणो के भाजन नही होते, किन्तु दोषो के ही भाजन बन जाते हैं। वे उत्तमोत्तम गुण कौन-से है ? इसलिए एक प्राचीन गाथा प्रस्तुत है –

सुस्सुसइ पडिपुच्छइ सुणेइ गेण्हइ य ईहए वावि।
तत्तो अपोहए वा धारेइ करेइ वा सम्म ॥

अर्थात—पहले गुरु से ज्ञान सुनता है, फिर प्रश्न करता है, पश्चात् उनका उत्तर सुनता है, तब उसे ग्रहण करता है, इसके बाद तर्क-वितर्क करता है, उसका समाधान होने पर निश्चय करता हे और उसे अपने दिमाग मे जमाकर याद रखता है। इन सबके बाद वह तदनुसार आचरण करता है। अथवा यो भी कहा जा सकता है कि सद्गुरु की सेवा-सुश्रूषा करने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, सम्यग्ज्ञान होने के बाद आचरण भी सम्यक् होता है और सम्यक् आचरण से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उक्त तीनो प्रकार के निह्नव इन उत्तम गुणो के पात्र नही बनते। कही-कही 'अट्ठाणिए होई बहुणिवेसे' पाठ मिलता है। इसका अर्थ यह है कि बहुत अनर्थ करने वाला कदाग्रही व्यक्ति ज्ञानादि गुणो का पात्र नही होता, अपितु दोषो का स्थान बनता है।

ऐसे लोग भयकर अनर्थकारी एव अनन्तससारी इसलिए होते है कि वे अपनी मनमानी विपरीत प्ररूपणा को हजारो-लाखो लोगो के दिलदिमागो मे ठसाकर उन्हे भी कुमार्गगामी और अनन्तससारी बना देते हैं।

मूल पाठ

जे यावि पुट्ठा पलिउचयति, आयाणमट्ठ खलु वंचयति।
ाहुणो ते इह साहुमाणी, मायण्णि एसति अणतघाय ॥४॥

स छाया

ये चाऽपि पृष्टा परिकुञ्चयन्ति, आदानमर्थं खलु वचयन्ति।
असाधवस्ते इह साधुमानिनो मायान्विता एष्यन्त्यनन्तघातम् ॥४॥

अन्वयार्थ

(जे यावि पुट्ठा पलिउचयति) जो लोग पूछने पर अपने गुरु का नाम छिपाते हैं, (आयाणमट्ठ खलु वचयति) गुरु से ग्रहण किये हुए अर्थ से श्रोता को वचित

रखते है, अथवा आदान—मोक्ष से वे स्वय वञ्चित रहते है, (ते असाहुणो इह साहुमाणी) वे वस्तुत असाधु है, परन्तु इस जगत मे अपने आपको साधु मानते हैं, (मायण्णि एसंति अणतघाय) वे मायावी पुरुप ससार मे अनन्तवार घात को प्राप्त होते है।

र्थ

जो व्यक्ति पूछने पर अपने ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाते है और दूसरे किसी वडे आचार्य आदि का नाम वताते हैं, वे मोक्ष से अपने को वचित करते है, अथवा गुरु से ग्रहण किए हुए अर्थ से श्रोता को वचित करते है, वे वास्तव मे साधु नही है, तथापि अपने आपको साधु मानते हैं। ऐसे कपटी (दम्भी) पुरुष ससार के दु खो से अनन्तवार पीडित होते हे।

व्याख्या

ऐसे मायावी लोग यथार्थ साधुता से दूर

इस गाथा मे ऐसे लोगो की मनोवृत्ति का जिक्र किया गया ह, जो याथातथ्य तत्त्वो से अनभिज्ञ है, किन्तु जरा-सा ज्ञान पाकर गर्व से छलछला उठते हैं, अपनी शेखी बघारते रहते है। जव कोई उनसे पूछता हे—'आपने किस गुरु या आचार्य से ये शास्त्र पढे हैं ?' तब वे तपाक से अपने सच्चे गुरु का नाम छिपाकर दूसरे किसी महान् प्रसिद्ध आचार्य का नाम ले लेते हैं। अथवा यो कह देते हे कि मैने स्वय इन शास्त्रो का अध्ययन किया है। इस प्रकार ज्ञानगर्वोद्धत होकर अपने गुरु का नाम छिपाते ह। अथवा जो स्वय प्रमादवश आचरण मे गलती करते है, किन्तु आलोचना के समय गुरु आदि के पूछने पर लोकनिन्दा के भय से झूठ बोलकर उसे छिपाते है। ऐसा करने वाले मायाचारी लोग अपने आपको मोक्ष से वञ्चित करते हे, अथवा वे गुरु द्वारा बताये हुए सच्चे अर्थ से लोगो को वचित रखते हैं। ऐसे मायाचार एव दम्भ करने वाले धर्मध्वजी लोग वस्तुत स्वय साधु नही है, किन्तु अपने आपको साधु मानकर दोहरा पाप करते है। कहा भी है—

पाव काऊण सय अप्पाण, सुद्धमेव वाहरइ।
दुगुण करेइ पाव बीय वालस्स मदत्त ॥

अर्थात्—एक तो वह पाप करता है, फिर पूछने पर अपने को शुद्ध ही वताता है। इस प्रकार दुगना पाप करता है, यह उस जीव की दोहरी मूर्खता है।

ऐसे मायाचारी जीव अनन्तकाल तक ससाररूपी अटवी मे परिभ्रमण करते रहेगे। 'अणतघाय एसति' का अर्थ है—अनन्तबार मृत्यु को प्राप्त होगे। यह अयाथातथ्य का दुष्परिणाम है।

मूल पाठ

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।
अधेव से दडपह गहाय, अविओसिए घासति पावकम्मी ॥५॥

स ं स्कृ त छा या

य क्रोधनो भवति, जगदर्थभाषी, व्यवसित यस्तूदीरयेत ।
अन्धइवाऽसौ दण्डपथ गृहीत्वाऽव्यवसितो धृष्यते पापकर्मा ॥५॥

अन्वयार्थ

(जे कोहणे जगट्ठभासी होइ) जो पुरुष क्रोधी है, और दूसरे के दोष को कहने वाला है, (जे उ विओसिय उदीरएज्जा) और जो शान्त हुए कलह को फिर से जगाता है, (पावकम्मी) वह पापकर्म करने वाला जीव (अविओसिए) सदा कलह मे पडा हुआ (दडपह गहाय अधेव) अधे की तरह छोटी पगडडी से चलता हुआ (घासति) दु ख का अनुभव करता है ।

भावार्थ

जो साधक सदा क्रोध करता है, और दूसरो के दोष बखानता रहता है, और शान्त हुए कलह को फिर उभाडता रहता है । वह पापकर्म करने वाला और सदा झगडो मे उलझा रहने वाला पुरुष छोटी (सकडी) पगडडी से जाते हुए अधे की तरह दु ख का भागी होता है ।

व्याख्या

कलहकारी साधक अत्यन्त दु खभागी

इस गाथा मे याथातथ्य चारित्र के सन्दर्भ मे क्रोध, कलह, असूया आदि दोषो से घिरे हुए साधक की दशा का वर्णन किया है । ऐसा व्यक्ति कषायो के याथातथ्य स्वरूप, उनके कटुफल, लोकव्यवहार मे उनसे हानि, लौकिक-पारलौकिक परिणाम आदि के यथार्थ तत्त्व को नही जानता, और न जानने की कोशिश करता है, फलत अपनी क्रोध और कलह करने को तथा दूसरो को कोसने की आदत को और बढावा देता है । वह यह समझता है कि क्रोध से भभाते हुए, कलह करते या बकझक या चखचख करते हुए देखकर लोग मुझसे दबे, सहमे, डरे रहेगे । परन्तु लोगो के मानस पर उक्त साधक की उलटी प्रतिक्रिया होती है । लोग उसे पास बैठने देना भी नही चाहते, उससे बात करने से कतराते है, उसे किसी का सहयोग नही मिलता, न प्रेम मिलता है । यह तो हुई लौकिक हानि की बात । इन हानियो की ओर से आँखे मूंदकर अधे की तरह सकडी पगडडी पर सरपट दौडता है । अर्थात् शान्त हुए कलह को फिर से भडकाता है । दूसरो को गाली देना, ताने मारना, उनके साथ बकवास करना, बात-बात मे लड पडना, दूसरो के दोषो (ऐबो) को

मुंहफट होकर बकना आदि लडाई उकसाने के नुस्खे अजमाता है। फलत वह अन्धे के समान औंधे मुंह गिर पडता है, काटा, बिच्छू, सांप आदि से पीडित होता है। ऐसा पापकर्मी जीव परलोक मे जन्ममरणरूप चतुर्गतिक ससार मे बार-बार परिभ्रमण करता रहता है, नाना प्रकार की यातनाएँ भोगता है। इसलिए कषायरूप अयाथातथ्य से बचना साधक के लिए अभीष्ट है।

मूल पाठ

जे विग्गहीए अन्नायभासी, न से समे होइ अझंझपत्ते ।
उववायकारी य हरीमणे य, एगतदिट्ठी य अमाइरूवे ।।६।।

संस्कृत छाया

यो विग्रहिकोऽन्यायभाषी, नाऽसौ समो भवत्यझंझाप्राप्त ।
उपपातकारी च ह्रीमनाश्च, एकान्तदृष्टिश्चामायिरूप ।।६।।

अन्वयार्थ

(जे विग्गहीए) जो साधक कलहकारी है, (अन्नायभासी) अन्याययुक्त बोलता है, (से समे न होइ) ऐसा व्यक्ति सम –मध्यस्थ नही हो सकता, (अझंझपत्ते) और वह कलहरहित नही होता, (उववायकारी) किन्तु जो गुरु के सान्निध्य मे रहता है, या गुरु की आज्ञा पालन करता है, (हरीमणे य) पाप करने मे गुरु आदि से लज्जित होता है, (एगतदिट्ठी य) तथा जीवादि तत्त्वो मे उसकी दृष्टि या श्रद्धा स्पष्ट एव निश्चित होती है, (अमाइरूवे) वही साधक अमायीरूप (सरलस्वभावी) होता है।

भावार्थ

जो साधक कलह करता है, न्यायविरुद्ध बोलता है, ऐसा व्यक्ति मध्यस्थ नही हो पाता और वह झगडेबाजी से भी दूर नही होता, इसके विपरीत जो साधक गुरु के सान्निध्य मे रहता है या उनके आदेश के अनुसार कार्य करता है, पाप करने मे गुरु आदि से लज्जित होता है, तथा जीवादि-तत्त्वो मे उसकी दृष्टि या श्रद्धा स्पष्ट एव निश्चित होती है, वही साधक अमायीरूप होता है।

व्याख्या

साधक के परस्परविरोधी दो रूप

इस गाथा मे अयाथातथ्य और याथातथ्य चारित्र से युक्त दो प्रकार के परस्पर विरोधी साधको का चित्राकन किया गया है। जो साधक यथार्थ तत्त्व को या जीवन के महासत्य को न जानकर रात-दिन लडाई-झगडे मे रचापचा रहता है, कोई उसे कलह से होने वाली हानियाँ बताता है, और उसे कलह से विरत होने को कहता है, तो भी वह अपनी आदत को नही छोडता। फलत ऐसे व्यक्ति राग-द्वेष

से युक्त होने के कारण मध्यस्थ—सम नही हो सकता है। बल्कि ऐसा व्यक्ति झगडेबाजी से दूर नही रह सकता। अथवा ऐसा व्यक्ति माया से रहित नही हो पाता। यह है अयाथातथ्य साधक का रूप! दूसरी ओर, इससे विपरीत एक सुविनीत साधक है, जो गुरु के सान्निध्य मे दोषो से रहित होकर रहता है, गुरु के आदेशानुसार सभी क्रियाओ मे प्रवृत्त होता है अथवा शास्त्रोक्त उपदेश के अनुसार प्रवृत्ति करता है, तथा मूलगुण-उत्तरगुणो के पालन मे दत्तचित्त रहता है अथवा साध्वाचार-विरुद्ध चलने मे गुरु आदि से लज्जित होता है, एव उसकी दृष्टि जीवादि तत्त्वो पर निश्चित (स्पष्ट) होती है। ऐसा साधक सदा समस्त मायारहित होता है। यहाँ 'य' (च) शब्द पडा है, जिससे पूर्वोक्त दोषो से रहित होना भी ध्वनित होता है। अर्थात् ऐसा साधक अपने गुरु का नाम नही छिपाता, क्रोध, कपट, कलह एव अभिमान से दूर रहता है। यह अमायी, याथातथ्य चारित्रयुक्त साधक का चित्र है।

सुविहित साधक को पूर्वोक्त दोषो से सदा दूर रहना चाहिए।

मूल पाठ

से पेसले सुहुमे पुरिसजाए, जच्चन्निए चेव सुउज्जुयारे ।
बहुंपि अणुसासिए जे तहच्चा, समे हु से होइ अझंझपत्ते ॥७॥

संस्कृत छाया

स पेशल सूक्ष्मः पुरुषजात, जात्यन्वितश्चैव सुऋज्वाचार ।
बह्वप्यनुशास्यमानो यस्तथार्च्च, सम स भवत्य झझाप्राप्त ॥७॥

अन्वयार्थ

(बहुपि अणुसासिए जे तहच्चा) भूल होने पर आचार्य आदि के द्वारा अनेक बार शिक्षा पाकर (अनुशासित होकर) भी जो अपनी चित्तवृत्ति को शुद्ध रखता है, (से पेसले सुहुमे पुरिसजाए) वही साधक विनय आदि गुणो से युक्त है, या मृदुभाषी है, सूक्ष्मदर्शी है, पुरुषार्थ करने वाला है। (जच्चन्निए चेव सुउज्जुयारे) वही साधक उत्तम जाति से समन्वित और साध्वाचार मे सहज-सरल भाव से ही प्रवृत्त रहता है। (से हु समे अझझपत्ते होइ) वही साधक सम (शत्रु-मित्र पर समभाव रखने वाला) या मध्यस्थ एव अमायाप्राप्त होता है।

भावार्थ

किसी विषय मे प्रमादवश भूल हो जाने पर गुरु आदि द्वारा बार-बार अनुशासित किया जाने (शिक्षा देने) पर भी जो चित्तवृत्ति को सही (यथार्थ) रखता है, वही साधक विनयादि गुणो से युक्त, सूक्ष्मार्थदर्शी, पुरुषार्थी है, वही जातिसम्पन्न और साध्वाचार मे सहजभाव से प्रवृत्त है।

वही साधक शत्रु-मित्र पर सम, या मध्यस्थ अथवा वीतराग के समान है, मायारहित है।

व्याख्या

याथातथ्यचारित्र से सम्पन्न साधक

इस गाथा मे याथातथ्य चारित्र से सम्पन्न साधक का चित्रण किया गया है। जो ससार से उद्विग्न विरक्त साधक होता है, वह प्रमादवश भूल हो जाने पर बार-बार गुरु द्वारा अनुशासित होने पर उन्मार्ग प्राप्त कराने वाले कारणो के त्याग, आलोचनादि द्वारा आत्मशुद्धि आदि का आदेश देने पर भी अपनी चित्तवृत्ति को यथावत् पवित्र बनाए रखता हे, आपे से बाहर नही होता। वह विनयादि गुणो से युक्त तथा मृदुभाषी होता है। वह सूक्ष्म अर्थ को देखने या करने वाला होने से 'सूक्ष्म' है, वही वस्तुत ज्ञानादि मे पुरुपार्थ करने वाला ह, जो क्रोधादि के वशीभूत हो जाता है, वह पुरुषार्थी नही है। तथा वही पुरुप जाति-कुलवान है। जो शील-सम्पन्न है, वही जाति कुलवान होता है। केवल ऊँचे कुल मे पैदा होने से कोई कुलीन नही कहलाता। वही पुरुष सहज-सरलरूप से साध्वाचार का पालन करता है जो निन्दा-प्रशसा मे सम रहता है, वही साधक क्रोध या माया से रहित है अथवा वही साधक वीतराग के समान है।

मूल

जे आवि अप्प वसुमति मत्ता, सखाय वाय अपरिक्ख कुज्जा।
तवेण वाहं सहिउत्ति मत्ता अण्ण जण पस्सति बिबभूय ॥८॥

स छाया

यश्चाऽप्यात्मान वसुमन्त मत्वा, सख्यावन्त वादमपरीक्ष्य कुर्यात्।
तपसा वाऽह सहित इतिमत्त्वा, अन्य जन पश्यति बिम्बभूतम् ॥८॥

अन्वयार्थ

(जे आवि अप्प वसुमति मत्ता) जो अपने आपको सयम एव ज्ञान का धनी मानकर (अपरिक्ख वाय कुज्जा) अपनी जाँच-परख किये बिना किसी के साथ वाद छेड देता है या अपनी बडाई हाँकता है। (तवेण वाह सहिउत्ति मत्ता) मैं बडा तपस्वी (तप से युक्त) हूँ, ऐसा मानकर (अण्ण जण पस्सति बिबभूय) दूसरे लोगो को जल मे चन्द्रमा की पडी हुई परछाई की तरह तुच्छ समझता है, या निरर्थक देखता है।

र्थ

जो स्वय को सयमी एव ज्ञानवान समझकर अपना पूरी तरह मूल्याकन किये बिना ही अपनी बडाई हाँकता है, अथवा किसी के साथ विवाद करता है, मैं वडा तपस्वी हूँ, यह मानकर दूसरो को जल मे पडे हुए चन्द्रमा के

प्रतिबिम्ब के समान निरर्थक या तुच्छ देखता है। ऐसा अभिमानी साधक याथातथ्यचारित्र से रहित है।

व्याख्या

अभिमानी साधक अपने ही मोक्ष के लिए बाधक

इस गाथा मे शास्त्रकार ने याथातथ्यचारित्र से विपरीत चलने वाले अभिमानी एव मदान्ध साधक की मनोवृत्ति का चित्रण किया है। प्राय ज्ञानी, तपस्वी और क्रियाकाण्डी साधक को अपने ज्ञान, तप और क्रियाकाण्ड पर गर्व होता है। उस मद मे आकर वह अपने आपे से बाहर हो जाता है, वह मुँहफट होकर अपने अपने मुँह से अपनी बडाई करने के लिए हरदम फटा पडा रहता है। वह प्रसग हो या न हो, कोई अन्य महत्वपूर्ण बात कर रहा हो, तब भी बीच मे टपककर अपनी रामायण सुनाने लगता है, अपने प्रशसा-पुराण के गीत गाने लगता है। लोगो को उसकी बातो मे रस आए या न आए, वह कहे चला जाता है। किन्तु यह असभ्यता और स्वत्वमोह एव मद कर्मबन्ध का भी कारण है। ऐसा साधक अपने सत्व का उचित मूल्याकन नही कर पाता और कहता फिरता है—'मैं बहुत बडा विद्वान् और ज्ञानी हूँ। मेरे सामने विवाद मे कोई नही टिक पाता।' और वह बडे से बडे तार्किक और विद्वान के साथ विवाद के लिए भिड जाता है। कोई तपस्वी हो तो अपनी तपस्या के गीत गाने लगता है। कहता है—इस इलाके मे मेरे बराबर कोई तपस्वी नही। कोई मेरे बराबर तप करके तो देखे। मैंने अपने शरीर को जितना तपाया है, उतना कोई क्या तपाएगा? कोई क्रियाकाण्डी भी दूसरो को झिडकता हुआ अपनी शेखी बघारता है—मैं उत्कृष्ट सयम का धनी हूँ। मेरे सामने वह कुछ भी नही है। अमुक साधक मेरी तो क्या, मेरी परछाई की भी होड नही कर सकता। शास्त्रकार कहते है कि ऐसा मदान्ध व्यक्ति दूसरो को जल मे पडे हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की तरह तुच्छ समझता है। यह मूल्याकन यथार्थ न होने के कारण अयाथातथ्य है। सुसाधक को इस प्रकार की मदान्धता से दूर रहना चाहिए।

मूल

एगतकूडेण उ से पलेइ, ण विज्जई मोणपयसि गोत्ते।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे ॥९॥

सस्कृत छाया

एकान्तकूटेन तु स पर्येति, न विद्यते मौनपदे गोत्रे।
यो माननार्थेन व्युत्कर्षयेत्, वसुमदन्यतरेणावबुध्यमान ॥९॥

अन्वयार्थ

(से एगतकूडेण उ पलेइ) वह पूर्वोक्त अहकारी साधु अत्यन्त मोह माया मे

वही साधक शत्रु-मित्र पर सम, या मध्यस्थ अथवा वीतराग के समान है, मायारहित है।

• ।

याथातथ्यचारित्र से सम्पन्न साधक

इस गाथा मे याथातथ्य चारित्र से सम्पन्न साधक का चित्रण किया गया है। जो ससार से उद्विग्न विरक्त साधक होता है, वह प्रमादवश भूल हो जाने पर बार-बार गुरु द्वारा अनुशासित होने पर उन्मार्ग प्राप्त कराने वाले कारणो के त्याग, आलोचनादि द्वारा आत्मशुद्धि आदि का आदेश देने पर भी अपनी चित्तवृत्ति को यथावत् पवित्र बनाए रखता है, आपे से बाहर नही होता। वह विनयादि गुणो से युक्त तथा मृदुभाषी होता है। वह सूक्ष्म अर्थ को देखने या करने वाला होने से 'सूक्ष्म' है, वही वस्तुत ज्ञानादि मे पुरुषार्थ करने वाला है, जो क्रोधादि के वशीभूत हो जाता है, वह पुरुषार्थी नही है। तथा वही पुरुष जाति-कुलवान है। जो शील-सम्पन्न है, वही जाति कुलवान होता है। केवल ऊँचे कुल मे पैदा होने से कोई कुलीन नही कहलाता। वही पुरुष सहज-सरलरूप से साध्वाचार का पालन करता है जो निन्दा-प्रशसा मे सम रहता है, वही साधक क्रोध या माया से रहित है अथवा वही साधक वीतराग के समान है।

मूल

जे आवि अप्प वसुमति मत्ता, सखाय वाय अपरिक्ख कुज्जा।
तवेण वाह सहिउत्ति मत्ता अण्ण जण पस्सति बिबभूयं ॥८॥

स छाया

यश्चाऽप्यात्मान वसुमन्त मत्वा, सख्यावन्त वादमपरीक्ष्य कुर्यात्।
तपसा वाऽह सहित इतिमत्वा, अन्य जन पश्यति बिम्बभूतम् ॥८॥

अन्वयार्थ

(जे आवि अप्प वसुमति मत्ता) जो अपने आपको सयम एव ज्ञान का धनी मानकर (अपरिक्ख वाय कुज्जा) अपनी जाँच-परख किये बिना किसी के साथ वाद छेड देता है या अपनी बडाई हाँकता है। (तवेण वाह सहिउत्ति मत्ता) मैं बडा तपस्वी (तप से युक्त) हूँ, ऐसा मानकर (अण्ण जण पस्सति बिबभूय) दूसरे लोगो को जल मे चन्द्रमा की पडी हुई परछाई की तरह तुच्छ समझता है, या निरर्थक देखता है।

भावार्थ

जो स्वय को सयमी एव ज्ञानवान समझकर अपना पूरी तरह मूल्याकन किये बिना ही अपनी बडाई हाँकता है, अथवा किसी के साथ विवाद करता है, मैं बडा तपस्वी हूँ, यह मानकर दूसरो को जल मे पडे हुए चन्द्रमा के

प्रतिबिम्ब के समान निरर्थक या तुच्छ देखता है। ऐसा अभिमानी साधक याथातथ्यचारित्र से रहित है।

व्याख्या

अभिमानी साधक अपने ही मोक्ष के लिए बाधक

इस गाथा मे शास्त्रकार ने याथातथ्यचारित्र से विपरीत चलने वाले अभिमानी एव मदान्ध साधक की मनोवृत्ति का चित्रण किया है। प्राय ज्ञानी, तपस्वी और क्रियाकाण्डी साधक को अपने ज्ञान, तप और क्रियाकाण्ड पर गर्व होता है। उस मद मे आकर वह अपने आपे से बाहर हो जाता है, वह मुँहफट होकर अपने अपने मुँह से अपनी बडाई करने के लिए हरदम फटा पडा रहता है। वह प्रसग हो या न हो, कोई अन्य महत्त्वपूर्ण बात कर रहा हो, तब भी बीच मे टपककर अपनी रामायण सुनाने लगता है, अपने प्रशसा-पुराण के गीत गाने लगता है। लोगो को उसकी बातो मे रस आए या न आए, वह कहे चला जाता है। किन्तु यह असभ्यता और स्वत्वमोह एव मद कर्मबन्ध का भी कारण है। ऐसा साधक अपने सत्व का उचित मूल्याकन नही कर पाता और कहता फिरता है—'मैं बहुत बडा विद्वान् और ज्ञानी हूँ। मेरे सामने विवाद मे कोई नही टिक पाता।' और वह बडे से बडे तार्किक और विद्वान के साथ विवाद के लिए भिड जाता है। कोई तपस्वी हो तो अपनी तपस्या के गीत गाने लगता है। कहता है—इस इलाके मे मेरे बराबर कोई तपस्वी नही। कोई मेरे बराबर तप करके तो देखे। मैंने अपने शरीर को जितना तपाया है, उतना कोई क्या तपाएगा? कोई क्रियाकाण्डी भी दूसरो को झिडकता हुआ अपनी शेखी बघारता है—मैं उत्कृष्ट सयम का धनी हूँ। मेरे सामने वह कुछ भी नही है। अमुक साधक मेरी तो क्या, मेरी परछाई की भी होड नही कर सकता। शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसा मदान्ध व्यक्ति दूसरो को जल मे पडे हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की तरह तुच्छ समझता है। यह मूल्याकन यथार्थ न होने के कारण अयाथातथ्य है। सुसाधक को इस प्रकार की मदान्धता से दूर रहना चाहिए।

मूल पाठ

एगतकूडेण उ से पलेइ, ण विज्जई मोणपयंसि गोत्ते।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे ॥९॥

संस्कृत छाया

एकान्तकूटेन तु स पर्येति, न विद्यते मौनपदे गोत्रे।
यो माननार्थेन व्युत्कर्षयेत्, वसुमदन्यतरेणावबुध्यमान ॥९॥

अन्वयार्थ

(से एगतकूडेण उ पलेइ) वह पूर्वोक्त अहकारी साधु अत्यन्त मोह माया मे

पडकर वार-वार ससार मे परिभ्रमण करता हे। (मोणपयसि गोत्ते ण विज्जई) वह समस्त आगम-वाणी के आधारभूत मौनीन्द्र—सर्वज्ञ वीतराग के पद—मार्ग मे अथवा मौनीन्द्रो के पद—सयम मे नही रहता हे। (जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा) तथा जो सम्मान प्राप्ति के लिए सयमोत्कर्ष या ज्ञानादि का मद करता है, (वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे) एव सयमी होकर भी वह ज्ञानादि का मद करने से परमार्थ को नही जानता।

भावार्थ

पूर्वोक्त मदान्ध साधक एकान्त मोह-माया रूपी भाव-कूट (पाशबन्धन) मे पडकर ससार मे बार-बार परिभ्रमण करता हे। तथा वह आगम-वाणी के आधारभूत सर्वज्ञ प्रभु के मार्ग मे अथवा मुनीन्द्रो के पद—सयम मे स्थित नही है, जो सम्मान-सत्कार पाने के लिए अपने ज्ञान, तप, सयमादि की बडाई करता है। वास्तव मे जो सयम लेकर भी ज्ञानादि का मद करता है, वह मूढ है, वह परमार्थ को नही जानता है।

व्याख्या

मूढ मदान्ध साधक मुनीन्द्र पद मे स्थित नहीं

इस गाथा मे मदान्ध साधक को मुनीन्द्रो (सवज्ञ तीर्थकरा) के मार्ग या सयम से बहिर्भूत बताकर उसकी इहलोक-परलोक मे होने वाली दुदशा का दिग्दर्शन किया गया है। वास्तव मे जो साधक पूर्वगाथाओ मे उक्त प्रकार से अहकार, मोह, माया, क्रोध आदि करता है, वह अपनी उसी वृत्ति से अभ्यस्त होने के कारण तीर्थकरो की सच्ची राह से भटक जाता है और एकान्त मोहमाया के चक्कर मे पडकर बार-बार जन्म-मरण करता रहता है। वह मुनीन्द्रो के पदरूप सयममार्ग मे अथवा आगमवाणी के आधारभूत वीतरागप्रणीत मार्ग मे स्थित नही रहता। उसकी दशा धोबी के कुत्ते की तरह न घर की रहती है, न घाट की। वह कही से थोडा सा पूजा-सत्कार पाकर गर्व से फूल उठता है, और अधिकाधिक सम्मान पाने की नीयत से अपने ज्ञानादि की स्वय प्रशसा करता है। वास्तव मे वह सयम लेकर भी ज्ञानादि के मद मे अन्धा होकर वास्तविक (याथातथ्य) मार्ग को नही देख पाता, न दूसरे से जानने-समझने का प्रयत्न करता है या वह सब शास्त्रो को पढकर तथा उनका अर्थ समझकर भी वस्तुत सर्वज्ञ मत को नही जानता।

मूल पाठ

जे माहणो खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा।
जे पव्वइए परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थब्भति माणबद्धे ॥१०॥

संस्कृत छाया

यो ब्राह्मण क्षत्रियजातको वा, तथोग्रपुत्रस्तथा लेच्छको वा ।
य प्रव्रजित परदत्तभोजी, गोत्रे न य स्तभ्नात्यभिमानबद्ध ॥१०॥

अन्वयार्थ

(जे माहणो) जो ब्राह्मण है, (खत्तियजायए वा) अथवा जो क्षत्रिय जातीय है, (तहुग्गपुत्ते) तथा उग्र कुल म उत्पन्न हुआ हे, (तह लेच्छई वा) या लिच्छवीवशीय क्षत्रिय है, (जे पव्वइए) जब वह घरवार छोडकर प्रव्रजित (दीक्षित) हो जाता है तो (परदत्तभोई) दूसरे गृहस्थो द्वारा दिया हुआ अचित्त कल्पनीय-एपणीय आहारादि का सेवन करता है, तथा (जे गोत्ते माणबद्धे ण थब्भइ) जो अभिमानयोग्य स्थानो से पूर्व सम्बन्धित होते हुए भी अपने उच्चगोत्र का गर्व नही करता, वही सर्वज्ञोक्त याथातथ्यचारित्र मे प्रवृत्त साधु है ।

भावार्थ

जो पुरुप ब्राह्मण हो, क्षत्रिय जाति मे उत्पन्न हो, उग्रवश का लाल हो, या लिच्छवीवश का हो, जब घरबार छोडकर वीतरागमार्ग मे मुनि-धर्म मे दीक्षित हो जाता है तो वह दूसरे के दिये हुए निर्दोष आहारादि का सेवन करता है । ऐसी स्थिति मे अभिमानयोग्य स्थानो से पहले से सम्बद्ध होते हुए भी अब जो उच्चगोत्रादि का गर्व नही करता वही वास्तव मे सर्वज्ञोक्त याथातथ्य मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त साधु है ।

व्याख्या

कुल, गोत्र, जाति का गर्व न करे, वही सच्चा साधु

इस गाथा मे शास्त्रकार ने जातिमद से दूर रहने वाले साधु को ही सर्वज्ञोक्त याथातथ्य मोक्षमार्ग मे उद्यत सच्चा साधु बताया है । मद के जितने भी स्थान है, उनमे जातिमद सबसे प्रबल है । मनुष्य कितने ही उच्च पद पर पहुँच जाता है, बहुत बडा पहुँचा हुआ साधु बन जाता है, धुरधर शास्त्रज्ञ, उग्रतपस्वी या चारित्र-चूडामणि बन जाता है, फिर भी कई साधको को पूर्वसस्कारवश यदाकदा जातिमद घेर लेता है । और जात्यभिमान मे आकर दूसरे तुच्छजात्युत्पन्न साधुओ या गृहस्थो का तिरस्कार कर बैठता है । परन्तु साधु को यह विचार करना चाहिए कि 'मै गृहस्थाश्रम मे चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि किसी भी जाति-कुल से, या किसी सम्मान-नीय पद से सम्बन्धित रहा होऊँ, अब जब से मैंने वीतरागप्ररूपित मुनिधर्म मे दीक्षा ले ली है, तब से पिछले सब जातिपाँति, पद-प्रतिष्ठा के पाशबन्धन या सम्बन्ध काटकर फैंक दिये, अब तो मैं केवल भिक्षाजीवी साधु हूँ, दूसरो के घरो मे जाकर, उनके सामने पात्र रखकर, उनके द्वारा दिया हुआ जो भी निर्दोप आहार विधिपूर्वक मिल जाता है, वही मुझे सेवन करना है, तब मेरी जाति-कुल आदि का गर्व वहाँ

कितना हास्यापद होगा ? मेरे मुण्डित मस्तक पर या चेहरे पर कहाँ किसी जाति की तख्ती लगी होगी ? जो वस्तु सर्वथा छोड दी है, और भयकर कर्मबन्ध का कारण है, उसे पुन व्यर्थ की अभिमानवृद्धि के लिए अपनाना कितनी मूर्खता है ?" इस प्रकार गहराई से जातिवाद की नि सारता का याथातथ्य स्वरूप समझकर जो जातिमद बिलकुल नही करता, वही सर्वज्ञोक्त मार्गानुगामी सच्चा साधु है।

मूल

न तस्स जाई व कुल व ताण, नन्नत्थ विज्जाचरण सुचिण्ण ।
णिखम्म से सेवईऽगारिकम्म, ण से पारए होइ विमोयणाए ॥११॥

सस्कृत छाया

न तस्य जातिश्च कुल च त्राण, नान्यत्र विद्याचरण सुचीर्णम् ।
निष्क्रम्य स सेवतेऽगारिकर्म, न स पारगो भवति विमोचनाय ॥११॥

अन्वयार्थ

(सुचिण्ण विज्जाचरण नन्नत्थ) अच्छी तरह आचरित ज्ञान और चारित्र के सिवाय (न तस्स जाई न व ताण) जाति आदि का मद करने वाले साधक की जाति, कुल या अन्य कोई भी पदार्थ रक्षा नही कर सकते। (णिक्खम्म से अगारि-कम्म सेवई) जो मनुष्य प्रव्रज्या लेकर फिर गृहस्थ के कर्मो (सावद्यकर्मो) का सेवन करता है, (से विमोयणाए पारए ण होइ) वह अपने कर्मों को क्षय करके मुक्त होने मे समर्थ नही होता।

भावार्थ

जाति और कुल मनुष्य को दुर्गति से बचा नही सकते। वास्तव मे भली-भाँति आचरण किए हुए ज्ञान और चारित्र के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु मनुष्य की ससार से रक्षा करने समर्थ नही है। किन्तु जो मनुष्य दीक्षा लेकर फिर गृहस्थी के सावद्य, आरम्भजन्य कामो मे पड जाता है, वह अपने कर्मों को नष्ट करके बन्धनमुक्त होने मे समर्थ नही होता।

व्याख्या

ज्ञान और चारित्र के सिवाय कोई भी वस्तु ससारपरिभ्रमण से बचा नहीं सकती

मनुष्य विविध प्रकार की योनियो और गतियो मे भटकता हुआ नाना प्रकार के असह्य दु खो को भोगता है, किन्तु वह सोचता है कि उच्च जाति या उच्च कुल धनादि दुर्गति से या इन दु खो से मेरी रक्षा कर देंगे, लेकिन उसकी तमाम आशाओ पर पानी फिर जाता है, जब मौत उसके सामने आकर खडी हो जाती है। उस समय उस व्यक्ति के द्वारा आचरित ज्ञान और चारित्र के सिवाय कोई भी सजीव या निर्जीव पदार्थ उसे उक्त दु खो या दुर्गति से बचा नही सकता। इसलिए शास्त्र-

कार जाति-कुलाभिमानी साधको को लक्ष्य मे लेकर कहते है– 'न तस्स जाई कुल व ताण, नन्नत्थ विज्जाचरण सुचिण्ण ।' आशय यह है, कि पालन किया हुआ श्रुत-चारित्ररूप धर्म ही मनुष्य को दुर्गति मे जाने से तथा विविध दु खो से वचा मकता है। इसे समझ-सोचकर यथोक्त धर्माचरण मे लगो, व्यर्थ के जाति आदि के मद के नशे मे न बहो। यहाँ जाति और कुछ शब्द उपलक्षण है, दूसरे भी जो मद के स्थान हैं, वे भी दुर्गति या दु खो से रक्षा करने मे समर्थ नही है, यह जान लेना चाहिए। माता से उत्पन्न होने वाली जाति है और पिता से उत्पन्न होने वाला कुल है। श्रुत-चारित्ररूप धर्म के सिवाय ये कोई भी रक्षा नही कर सकते, उक्त धर्म से हीन और ससारभ्रमण के कारणो को अपनाने वाला जो पुरुष दीक्षा लेकर भी पुन गृहस्थी के आरम्भ-समारम्भयुक्त कार्यो मे प्रवृत्त हो जाता है, वह गया-बीता साधक कर्मो के क्षय करने या कर्मबन्धनो को काटने का अवसर मिलने पर भी न तो कर्मक्षय कर पाता है, न कर्मबन्धनो को काटकर मुक्त हो पाता है। वह पुन चौरासी लाख जीव-योनियो मे भ्रमण करता है।

मूल पाठ

णिक्किञ्चणे भि सुलूहजीवी, जे गारवं होइ सिलोगगामी ।
आजीवमेय तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेति ॥१२॥
जे भासव भि सुसाहुवाई, पडिहाणव होइ विसारए य ।
आगाढपण्णे सुविभावियप्पा, अन्न जण पन्नया परिहवेज्जा ॥१३॥
एव ण से होइ समाहिपत्ते, जे पन्नव भिक्खु विउक्कसेज्जा ।
अहवाऽवि जे लाभमयावलित्ते, अन्न जणं खिसति बालपन्ने ॥१४॥
पन्नामय चेव तवोमय च णिन्नामए गोयमयं च भिक्खू ।
आजीवग चेव चउत्थमाहु, से पडिए उत्तमपोग्गले से ॥१५॥
एयाइ मयाइ विगिंच धीरा, ण ताणि सेवति सुधीरधम्मा ।
ते सव्वगोत्तावगया महेसी, उच्च अगोत्त च गति वयति ॥१६॥

त छाया

निष्किचनो भिक्षु सुरूक्षजीवी, यो गौरववान् भवति श्लोककामी ।
आजीवमेतत्त्ववबुध्यमान पुन पुनो विपर्य्यासमुपैति ॥१२॥
यो भाषावान् भिक्षु सुसाधुवादी, प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च ।
आगाढप्रज्ञ सुविभावितात्मा, अन्य जन प्रज्ञया परिभवेत् ॥१३॥

एव न स भवति समाधिप्राप्त य प्रज्ञावान् भिक्षुर्व्युत्कर्षेत् ।
अथवाऽपि यो लाभमदावलिप्त , अन्य जन निन्दति बालप्रज्ञ ॥१४॥
प्रज्ञामद चैव तपोमद च, निर्नामयेद् गोत्रमद च भिक्षु ।
आजीवग चैव चतुर्थमाहु , स पण्डित उत्तमपुद्गल स ॥१५॥
एतान् मदान् विविच्युर्धीरा, न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माण ।
ते सर्वगोत्रापगता महर्षय , उच्चामगोत्रा च गति व्रजन्ति ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**जे भिक्खू णिक्किचणे**) जो भिक्षाजीवी साधु निष्किचन अर्थात् अपरिग्रही है, भिक्षान्न से पेट भरता है, (**सुलूहजीवी**) जो रूखा-सूखा आहार करके जीता है, (**जे गारव सिलोगगामी होइ**) अगर वह अपनी ऋद्धि, रस और साता (सुखसामग्री) का गर्व (गौरव) करता है, तथा अपनी प्रशसा एव स्तुति की आकाक्षा रखता है, तो (**आजीवमेय तु**) तो ये सब (अकिंचनता, रूक्षजीविता, भिक्षाजीविता आदि) गुण केवल उसकी आजीविका के साधन है। (**अबुज्झमाणो पुणो पुणो विप्परियासुवेंति**) परमार्थ को जानने वाला वह अज्ञानी बार-बार ससार मे विपर्यास—सुख और सुगति की आशा के विपरीत जन्ममरणादि दु ख और दुर्गति को प्राप्त करता है ॥१२॥

(**जे भिक्खू भासव सुसाहुवादी**) जो साधु भाषा विज्ञ है, सुन्दर-सुललित भाषा मे बोलता हे या हित-मित-प्रिय भाषण करता है (**पडिहाणव**) औत्पातिकी आदि प्रतिभाओ (बुद्धियो) मे सम्पन्न है, (**विसारए होइ य**) और शास्त्रपाठो की सुन्दर व्याख्या एव अनेक प्रकार से अर्थ करने में विशारद निपुण है (**आगाढपण्णे**) तथा सत्य तत्त्व मे जिसकी बुद्धि प्रविष्ट है, (**सुविभावियप्पा**) धर्म की भावना से जिसका हृदय अच्छी तरह भावित है, वही सच्चा साधु है। परन्तु इतने गुणो मे युक्त होने पर भी जो (**अन्न जण पन्नया परिहवेज्जा**) इन गुणो के मद से ग्रस्त होकर दूसरे लोगो का अपनी बुद्धि से तिरस्कार कर देता है, वह साधु नही है ॥१३॥

(**जे पन्नव भिक्खू विउक्कसेज्जा**) जो साधु बुद्धिमान होकर जाति, बुद्धि आदि का गर्व करता है, (**अहवा वि जे लाभमयावलित्ते**) अथवा जो साधु अपने लाभ के मद मे उन्मत्त होकर (**अन्न जण खिसइ**) दूसरे लोगो की निन्दा करता है, या उन्हे झिडकता है, (**से बालपन्ने समाहिपत्ते न होइ**) वह बाल-बुद्धि-मूर्ख समाधि प्राप्त नही करता ॥१४॥

(**भिक्खू पन्नामय चेव तवोमय च**) साधु बुद्धि के (प्रज्ञा) गर्व को तथा तप के मद को, (**गोयामय च**) एव गोत्र के मद को (**चउत्थ आजीवग चेव आहु**) और चौथा जो आजीविका का मद कहा है, उसको (**णिन्नामए**) तिलाजलि दे दे, त्याग दे। (**से पडिए, से उत्तमपोग्गले**) जो ऐसा करता है, वही पण्डित साधु है और वही उत्तम आत्मा है ॥१५॥

(धीरा एयाइ मयाइ विगिंच) धीर पुरुष इन मदस्थानो से अपने को हटाए—दूर करे। (सुधीरधम्मा ताणि ण सेवंति) सुधीरवीर वीतराग पुरुषो के ज्ञान-दर्शन-चारित्र-धर्म से युक्त साधक उन मदस्थानो का सेवन नही करते। (ते सव्वगोत्ता-वगया महेसी) वे समस्त गोत्रो से अलग-अलग निर्लेप महर्षिगण (उच्च अगोत्त गति च वयंति) सर्वोच्च तथा गोत्रादि से बिलकुल रहित मोक्षगति को प्राप्त करते है ॥१६॥

भावार्थ

जो साधक अपने पास एक कौडी भी नही रखता, अकिंचन है, भिक्षा से अपना निर्वाह करता है, तथा रूखा-सूखा आहार खाकर जीता है, इसके बावजूद भी यदि वह ऋद्धि, रस और साता का गर्व करता है, और अपनी स्तुति-प्रशसा की लालसा रखता है, तो उसके ये पूर्वोक्त गुण सिर्फ जीविका के साधन है। ऐसा परमार्थ तत्त्व से अनभिज्ञ वह मूढ बार-बार ससार मे जन्म-मरण आदि के दु खो और दुर्गति को प्राप्त करता है ॥१२॥

जो साधु भाषा के गुण-दोषो तथा व्याकरण के नियमो का विज्ञ है तथा मधुर, सुललित, हित, मित भाषा मे बोलता है, प्रतिभाओ (औत्पातिकी आदि बुद्धियो) से सम्पन्न है, शास्त्रो के विभिन्न अर्थ और विश्लेषण करने मे विशारद (निपुण), यथार्थ तत्त्व मे जिसकी बुद्धि प्रविष्ट है एव धर्मभावना से जिसका अन्त करण भावित है, वही सुसाधु है। मगर जो इन गुणो से युक्त होकर भी इनके मद मे अन्धा होकर दूसरो का तिरस्कार करता है, वह अविवेकी है ॥१३॥

जो साधु बुद्धिमान् होकर गर्व करता है, अथवा जो अपने लाभ के मद से मत्त होकर दूसरे लोगो को बदनाम करता है या झिडकता है, वह अतत्त्वदर्शी मूढ समाधि प्राप्त नही कर पाता ॥१४॥

साधु प्रज्ञामद, तपोमद, गोत्रमद और आजीविकामद न करे। जो मद नही करता है, वही पण्डित साधक है और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व का धनी है ॥१५॥

धीर पुरुष पूर्वोक्त मदस्थानो से अपने को अलग रखे, क्योकि सुधीर सर्वज्ञ प्रभु के द्वारा उक्त ज्ञानदर्शनचारित्ररूप धर्म से युक्त साधक उन मद-स्थानो का सेवन नही करते। अत वे सब गोत्रो से रहित महर्षि होकर सर्वोच्च नाम गोत्रादि से बिलकुल परे मोक्षगति को प्राप्त करते है ॥१६॥

व्याख्या

इतना उच्च त्याग होने पर भी मदत्याग न करने का फल

१२वी गाथा से लेकर १६वी गाथा तक मे शास्त्रकार ने जाति आदि मदो के त्याग न करने पर उच्च से उच्च त्याग को भी नि सार और निरर्थक बताकर

जाति आदि मदो मे उन्मत्त त्यागी एव क्रियाकाण्डी साधकवर्ग को साहस भरी चुनौती दी हे। कहाँ तो इतना ऊँचा त्याग हे कि पास मे एक कौडी भी नही रखता, बिलकुल अकिंचन, मस्त और भिक्षा पर निर्भर एव रूखा-सूखा आहार करने वाला अत्यन्त नि स्पृह साधक और कहाँ इतना नीचा गिरा हुआ जीवन कि पूजा, सत्कार, प्रतिष्ठा, प्रशसा, प्रसिद्धि और नामना, कामना की तीव्र भूख लगी रहती है, हर समय और हर व्यक्ति के सामने अपने उच्च क्रियाकाण्डो और तपस्या की डीग हाँकी जाती ह, तप-सयम के प्रभाव से जो भी कुछ लब्धि या सिद्धि प्राप्त हुई, उसे सुना-सुनाकर बार-बार गर्वपूर्वक कहा जाता है—मेरे इतने शिष्य-शिष्याएँ हैं, इतने भक्त है, इतनी सिद्धियाँ प्राप्त हैं, इतना बढिया आहार आदि देने को लोगो की होड लगी रहती है, इतनी सुख-शान्ति हैं, इतना आराम हे। ये सब डीग इसलिए हाँकी जाती है कि लोगो मे हमारी पूछ हो, लोगो की भीड हाथ जोडे खडी हो, हमे भगवान माने। किन्तु शास्त्रकार कहते हैं—'आजीवमेय ।' ये सब क्रियाकाण्ड, तप, सयम आदि उसने आजीविका के साधन बना दिये। सौदेबाजी कर ली तप-सयम-साधना की। और फिर उसका नतीजा क्या मिलेगा, ऐसी सौदेबाजी करने वाले को? शास्त्रकार कहते है—'पुणो पुणो विप्परियासुवेंति'। अर्थात् जिस सुख, शान्ति और सुगति की आशा से ऐसा साधक इतनी कठोर साधना करता है, वह निराशा मे परिणत हो जाती है, उसे दुर्गति और दु खो का ही सामना करना पडेगा। वह बार-बार जन्म-मरण के चक्र मे घूमता रहेगा।

कुछ त्यागी साधु ऐसे भी होते हैं, जो कई भाषाओ के ज्ञाता होते हैं, उन भाषाओ के व्याकरण तथा गुण-दोषो को जानने मे निपुण होते है। लच्छेदार, मधुर, सुललित, प्रिय, हित, मित भाषा म भाषण करते है, इतना सुन्दर छटादार भाषण देते है कि लोग आकर्षित होकर वाह वाह कह उठते हैं। साथ ही वे इतने प्रतिभा-शाली होते है कि कोई भी व्यक्ति कैसा भी अटपटा प्रश्न पूछे, उनके पास उत्तर तैयार रहता है। धर्मकथा करते समय वे श्रोताओ के चेहरो को देखकर उनके मनो-भावो को ताड जाते है। कौन, कैसा, किसका अनुयायी है? इसे वे तुरन्त भाँप लेते है। इसके अतिरिक्त किसी भी शास्त्र की व्याख्या करने मे वे इतने सिद्धहस्त होते है कि नई-नई स्फुरणा के द्वारा नये-नये गहन अर्थो को खोल देते है, प्रत्येक शब्द का पुर्जा-पुर्जा खोल देते हैं। ही नही, सत्य तत्त्वो मे उनकी पैनी तेज-तर्रार बुद्धि गहराई तक प्रविष्ट हो जाती है और धर्मभावना उनके मनमस्तिष्क मे लबालब भरी हुई है। किन्तु सोने की थाली के समान इतने सब गुणो से युक्त होते हुए भी वे साधक थाली मे लगी हुई काँटेदार लोहे की मेखो के समान अभिमान के काँटो से भरे होते है। वे बात-बात मे अपनी भाषाविज्ञता और शास्त्रज्ञता के अभिमान को प्रकट करते रहते हैं। जब भी किसी सभा या धर्मकथा म वे किसी जिज्ञासु या कुछ

विद्वानो को देखते है तो चट से कह उठते हे—'इन बुडवकों का यहाँ क्या काम है ? ये बेकार आदमी हैं। इन मूर्खों को क्या आता-जाता है ? है कोई मेरे से टक्कर लेने वाला विद्वान् ? मेरे समान वक्ता होने मे कई जन्म लेने होगे। मुझ-सा शास्त्रज्ञ हो तो आए मेरे सामने, अभी मै उसे निरुत्तर कर दूंगा ?' इस प्रकार वह महाभिमानी बनकर दूसरो का तिरस्कार करके अपनी सुसाधुता का दिवाला निकाल देता है। इतने सब साधुता के गुणो पर वह अपने हाथो से अभिमान की कालिख पोत देता है।

अब सुन लीजिए, शास्त्रकार के द्वारा उन बौद्धिक अभिमान के दीवानो के लिए दिया गया निर्णय – 'एव ण से होइ समाहिपत्ते' अर्थात् जो प्रज्ञावान साधक समस्त शास्त्रो के अर्थ-ज्ञान मे दक्ष तथा तत्त्वज्ञान मे परिपक्व बुद्धि वाला होकर भी जो प्रज्ञाशाली साधक दूसरो का तिरस्कार, अपमान एव निन्दा, भर्त्सना करता है, अथवा लाभ के मद से उन्मत्त होकर जो अभावपीडित, या लाभान्तराय कर्म के उदय से जिन भद्र साधको को उपकरण आदि की आवश्यकता होने पर भी मिलते नही। उनके सामने लाभमद से गर्वित साधक सर्प की तरह फुकार उठता है—"अरे कगालो ! तुम्हे क्या मिलेगा ? तुम इतनी साधना करने पर भी अपना पेट नही भर सकते। धिक्कार है, तुम्हे एक वस्त्र या पात्र नही मिलता। मैं एक उपकरण चाहूँ तो दस मिल सकते है। निकालो, इन भिखमगे साधुओ को यहाँ से। इनको हम कहाँ तक ला-लाकर देंगे ? ये अपने-आप भिक्षा करके अपनी उदरपूर्ति करें या अन्य उपकरण लाएँ।" इस प्रकार अपने लाभमद की डीग हाँककर दूसरो का तिरस्कार या निन्दा करता है, झिडकता है, वह समाधिभाव को नही पा सकता। समाधि ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग को कहते हैं अथवा धर्मध्यान को भी समाधि कहते हैं।

इसके पश्चात् १५वी गाथा मे शास्त्रकार ने साधक जीवन मे अत्यन्त दुस्त्याज्य चार प्रकार के मदो का उल्लेख करके इनका सर्वथा त्याग करने वाले साधक को पण्डित एव उत्तम पुद्गल वाला यानी श्रेष्ठ व्यक्तित्व का धनी कहा है। वे चार ये है—(१) प्रज्ञामद, (२) तपोमद, (३) गोत्रमद एव (४) आजीविकामद। प्रज्ञामद की व्याख्या पहले की जा चुकी है। तपोमद तपस्या करने का अहकार है। मेरे समान कौन तपस्वी है या मैं उत्कट तप करने वाला हूँ। इस प्रकार का मद तपोमद है। अपनी जाति, कुल, वश का गर्व करना—मैं अमुक कुल का हूँ, मेरा कुल, जाति या वश बहुत ऊँचा है। अथवा मन मे जात्यभिमान लाकर दूसरे हीनजातीय का अपमान कर देना गोत्रमद है। आजीव का अर्थ है—आजीविका या जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ का सग्रह करना, जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थों की पूर्ति करना। आहार-पानी तथा वस्त्रादि के लाभ का मद करना भी आजीवमद होता है।

अन्त मे १६वीं गाथा मे सुसाधु को इन सभी मदस्थानो से अपने आप को अलग रखने का निर्देश किया गया है। क्योकि प्रज्ञादि का मद ससार का कारण है। अत रत्नत्रयरूप धर्म जिनके रग-रग मे रमा हुआ है, वह सभी मदो का त्याग करके गोत्रादि के चक्कर से अपने को बिलकुल दूर रखकर ऊँचे उठ जाते है, महर्षि पद को प्राप्त करते है और एक दिन वे सर्वोच्च गति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ नाम, गोत्र, जाति आयु आदि सब समाप्त हो जाते हैं।

मूल

भिक्खू मुयच्चे तह दिट्ठधम्मे, गाम च णगर च अणुप्पविस्सा।
से एसण जाणमणेसणं च, अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥१७॥

सस्कृत छाया

भिक्षुर्मुदर्चस्तथा दृष्टधर्मा, ग्राम च नगर चानुप्रविश्य ।
स एषणा जानन्ननेषणा च, अन्नस्य पानस्याननुगृद्ध ॥१७॥

अन्वयार्थ

(मुयच्चे तह दिट्ठधम्मे भिक्खू) मृदर्च अर्थात् उत्तम लेश्यावाला, धर्म को देखा-जाना (अनुभव किया) हुआ साधु (गाम णगर च अणुप्पविस्सा) ग्राम और नगर मे भिक्षा के लिए प्रवेश करके (से एसण जाण अणेसण च) वह एषणा और अनेषणा को जानता हुआ (अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे) अन्न और पान मे गृद्ध (आसक्त) न होता हुआ शुद्ध आहार ग्रहण करे।

भावार्थ

प्रशस्त लेश्यायुक्त तथा धर्म को जीवन मे उतारा हुआ साधक भिक्षा के लिए गाँव या नगर मे प्रवेश करके सर्वप्रथम एषणा और अनेषणा का विचार दिमाग मे बिठाकर आहार-पानी मे अनासक्त होकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे।

व्याख्या

सुसाधु एषणा-अनेषणा का विचार करके शुद्ध भिक्षा ले

साधु-जीवन मे अहिंसा, अपरिग्रह एव अस्तेयव्रत की दृष्टि से शुद्ध, दोषवर्जित भिक्षा का बहुत बडा महत्त्व है। किन्तु साधु जिस दृष्टि से या जिन हिंसादि दोषो से बचने के लिए भिक्षाचरी करता है, अगर वह एषणीय-अनेषणीय, ग्राह्य-अग्राह्य, कल्पनीय अकल्पनीय आदि का विचार न करे और जैसे-तैसे, जो भी माल मिल गया पात्रो मे भर ले, तो वह हिंसादि दोषो से बचने के बदले दोषों का भण्डार ही भर लाएगा। इसलिए शास्त्रकार एषणा-अनेषणा को जानने की सर्वप्रथम प्रेरणा देते हैं—'से एसण जाणमणेसण च'। साधु को गाँव मे भिक्षा के लिए प्रवेश के समय गवेषणा और ग्रहणैषणा दोनो का विचार करना यहाँ अपेक्षित है। इसलिए खास

हिदायत दे दी कि वह आहार पानी में गृद्धिरहित होकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे। स्थविरकल्पी साधु १६ उद्गम के, १६ उत्पादना के और १० एषणा के, या ४२ दोषो से रहित भिक्षा ग्रहण करे, और जिनकल्पी साधु सात प्रकार की भिक्षा में से ५ प्रकार की भिक्षा का अभिग्रह और दो का ग्रहण करे।[1] वह इस प्रकार है— (१) . १ जिस वस्तु के लेप से गृहस्थ के हाथ भर हो, वही लेना, (२) असंसृष्टा—जिस वस्तु से हाथ को लेप न लगता हो, वह सूखी चीज लेना, जैसे सेके हुए चने आदि, (३) उद्धृता—गृहस्थ ने अपने खाने के लिए जो आहार बर्तन में ले रखा हो, वही लेना, (४) अल्पलेपा जिस आहार मे घी-तेल आदि का थोडा लेप हो, उसे लेना, (५) उद्गृहीता—परोसने के लिए जो आहार निकाला हो, उसे ही लेना, (६) प्रगृहीता—परोसने से बचा हुआ आहार ही लेना, (७) उज्झितधर्मा—फैंक देने योग्य आहार लेना। इनमे से पिछली दो प्रकार की भिक्षा जिनकल्पी साधु के लिए कल्पनीय है, शेष पाँच भिक्षाएँ अकल्पनीय। अथवा जो अभिग्रह है, उसके लिए वह एषणा है, शेष अनैषणा है। इस प्रकार एषणा-अनैषणा का विचार दिमाग मे बिठाकर आहार आदि ग्रहण करे।

ऐसे सुसाधु के लिए यहाँ दो विशेषण प्रयुक्त हैं—मुयच्चे, दिट्ठधम्मे। मुयच्चे का मृदर्च रूप होता है, जिसका अर्थ है—प्रशस्त लेश्यायुक्त, दूसरा रूप सस्कृत मे मृतार्च होता है, जिसका अर्थ होता है जिसका शरीर मृतक की तरह है, यानी वह शरीर पर से अपनी ममता इतनी हटा ले कि कोई उसे काटे, मारे तो भी मृतवत् रहे, या किसी प्रकार का स्नानादि सस्कार न करे, शरीर-निरपेक्ष रहे। दूसरा है दृष्टधर्मा, अर्थात् जिसने धर्म को अपने जीवन मे उतार कर देख लिया है, अनुभव कर लिया है।

मूल पाठ

अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, बहुजणे वा तह एगचारी।
एगतमोणेण वियागरेज्जा, एगस्स जतो गतिरागती य ॥१८॥

सस्कृत छाया

अरतिं रतिं चाभिभूय भिक्षुर्बहुजनो वा तथैकचारी।
एकान्तमौनेन व्यागृणीयात्, एकस्य जन्तोर्गतिरागतिश्च ॥१८॥

अन्वयार्थ

(भिक्खू अरतिं रतिं च अभिभूय) साधु सयम मे अरुचि और असयम मे रुचि

---

१ सात प्रकार की भिक्षा—ससट्ठमससट्ठा तह होंति अप्पलेवा य।
उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥

अन्त मे १६वीं गाथा मे सुसाधु को इन सभी मदस्थानो से अपने आप को अलग रखने का निर्देश किया गया हे । क्योंकि प्रज्ञादि का मद ससार का कारण है । अत रत्नत्रयरूप धम जिनके रग-रग मे रमा हुआ हे, वह सभी मदो का त्याग करके गोत्रादि के चक्कर से अपने को बिलकुल दूर रखकर ऊँचे उठ जाते हैं, महर्षि पद को प्राप्त करते ह और एक दिन वे सर्वोच्च गति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेते है, जहाँ नाम, गोत्र, जाति आयु आदि सब समाप्त हो जाते हैं ।

मूल

भिक्खू मुयच्चे तह दिट्ठधम्मे, गाम च णगर च अणुप्पविस्सा ।
से एसण जाणमणेसणं च, अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥१७॥

स छाया

भिक्षुर्मुदर्चस्तथा दृष्टधर्मा, ग्राम च नगर चानुप्रविश्य ।
स एषणा जानन्ननेषणा च, अन्नस्य पानस्याननुगृद्ध ॥१७॥

अन्वयार्थ

(मुयच्चे तह दिट्ठधम्मे भिक्खू) मृदर्च अर्थात् उत्तम लेश्यावाला, धर्म को देखा-जाना (अनुभव किया) हुआ साधु (गाम णगर च अणुप्पविस्सा) ग्राम और नगर मे भिक्षा के लिए प्रवेश करके (से एसण जाण अणेसण च) वह एषणा और अनेषणा को जानता हुआ (अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे) अन्न और पान मे गृद्ध (आसक्त) न होता हुआ शुद्ध आहार ग्रहण करे ।

भावार्थ

प्रशस्त लेश्यायुक्त तथा धर्म को जीवन मे उतारा हुआ साधक भिक्षा के लिए गाँव या नगर मे प्रवेश करके सर्वप्रथम एषणा और अनेषणा का विचार दिमाग मे बिठाकर आहार-पानी मे अनासक्त होकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे ।

व्य

सुसाधु एषणा-अनेषणा का विचार करके भिक्षा ले

साधु-जीवन मे अहिंसा, अपरिग्रह एव अस्तेयव्रत की दृष्टि से शुद्ध, दोषवर्जित भिक्षा का बहुत बडा महत्त्व है । किन्तु साधु जिस दृष्टि से या जिन हिंसादि दोषो से बचने के लिए भिक्षाचरी करता है, अगर वह एषणीय-अनेषणीय, ग्राह्य-अग्राह्य, कल्पनीय-अकल्पनीय आदि का विचार न करे और जैसे-तैसे, जो भी माल मिल गया पात्रो मे भर ले, तो वह हिंसादि दोषो से बचने के बदले दोषो का भण्डार ही भर लाएगा । इसलिए शास्त्रकार एषणा-अनेषणा को जानने की सर्वप्रथम प्रेरणा देते हैं—'से एसण जाणमणेसण च' । साधु को गाँव मे भिक्षा के लिए प्रवेश के समय गवेषणा और ग्रहणैषणा दोनो का विचार करना यहाँ अपेक्षित है । इसलिए खास

केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भाव, खुद्द पि गच्छेज्ज असद्दहाणे ।
आउस्स कालाइयार वघाए, लद्धाणुमाणं य परेसु अट्ठे ॥२०॥
कम्म च छद च विगिंच धीरे, विणइज्ज उ सव्वओ आयभाव ।
रूवेहि लुप्पति भयावहेहिं, विज्ज गहाय तसथावरेहिं ॥२१॥
न पूयण चेव सिलोयकामी, पियमप्पिय कस्सइ णो करेज्जा ।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयते, अणाउले य अकसाइ भिक्खू ॥२२॥

संस्कृत छाया

स्वय समेत्याऽथवाऽपि श्रुत्वा, भाषेत धर्मं हितक प्रजानाम् ।
ये गर्हिता सनिदानप्रयोगा, न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माण ॥१९॥
केषाञ्चित्तर्केणाऽबुद्ध्वा भाव क्षुद्रत्वमपि गच्छेदश्रद्दधान ।
आयुष कालातिचार व्याघात, लब्धानुमानश्च परेष्वर्थान् ॥२०॥
कर्म च छन्दश्च विवेचयेद् धीरो, विनयेत् सर्वत आत्मभावम् ।
रूपैर्लुप्यन्ते भयावहैर्विद्वान् गृहीत्वा त्रसस्थावरेभ्य ॥२१॥
न पूजन चैव श्लोककामी, प्रियमप्रिय कस्यापि नो कुर्यात् ।
सर्वाननर्थान् परिवर्जयन्, अनाकुलश्चाकषायी भिक्षु ॥२२॥

अन्वयार्थ

(सय समेच्चा) अपने आप धर्म को जानकर (अदुवावि सोच्चा) अथवा दूसरे से सुनकर, (पयाण हियय धम्म भासेज्जा) प्रजाओ (जनता) के लिए हितकारक धर्म का भाषण करे। (जे गरहियासणियाणप्पओगा) जो कार्य निन्द्य है अथवा जो कार्य निदान (सासारिक फलाकाक्षा) की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं (सुधीरधम्मा ताणि ण सेवति) सुधीर वीतरागधर्म के अनुयायी ऐसे अकरणीय कार्यो का सेवन नही करते ॥१९॥

(केसिंचि भाव तक्काइ अबुज्झ) कुछ लोग ऐसे होते है, जिनके भावो (अभिप्रायो) को अपनी तर्कबुद्धि से न समझा जाय तो वे (असद्दहाणे खुद्दपि गच्छेज्ज) उस उपदेश पर श्रद्धा न करके क्षुद्रता (क्रोध) पर उतर आते है। (आउस्स कालाइयार वघाए) तथा वह उपदेश देने वाले की दीर्घकालिक आयु को भी आघात पहुँचाकर घटा सकता है, अर्थात् उसे मार भी सकता है। (लद्धाणुमाणे परेसु अट्ठे) इसलिए साधु अनुमान से दूसरो का अभिप्राय (भाव, जानकर फिर धर्म का उपदेश दे ॥२०॥

(धीरे कम्म च छद च विगिंच) धीर साधक श्रोता के कर्म (आचरण) एव अभिप्राय को सम्यक् प्रकार से जान ले, फिर (सव्वओ आयभाव उ वि ज)

को दवा या त्याग कर (बहुजणे वा तह एगचारी) बहुत लोगो के साथ रहता हो या अकेला रहता हो, (एगतमोणेण वियागरेज्जा) एकमात्र मौन - मुनिधर्म—सयम से अविरुद्ध— सगत हो, वही कहे । (एगस्स जतो गतिरागती य) यह ध्यान रखे कि प्राणी अकेला ही परलोक मे जाता है और अकेला ही आता ह ।

र्थ

मुनि असयम मे दिलचस्पी और सयम मे अरुचि न दिखाए, वह अपने सघाटक या गच्छ मे अनेक मुनियो के माथ रहता हो, या अकेला ही रहता हो, सिर्फ ऐसी ही बात कहे, जिससे मुनिधर्म मे आँच न आए, तथा यह ध्यान रखे कि जीव अकेला ही परलोक मे जाता है और अकेला ही आता है ।

व्याख्या

साधु के लिए साधना के कुछ सूत्र

साधु कई बार अनेक परीपहो या उपसर्गों अथवा आफतो से घिर जाने पर कठोर सयमचर्या से ऊब जाता है और तपाक से कह बैठता है या मन ही मन सोचता है—'क्या ही अच्छा होता, मैं भी स्वच्छन्द विचरण करता । इस साधु-जीवन मे तो इतनी पाबन्दी है कि कही स्वतन्त्र जा-आ नही सकते, चलचित्र नही देख सकते, इन्द्रियो के विषयो को खुलेआम मनमाना सेवन करना क्या बुरा है ?' इस प्रकार असयम के तूफानी और सयम विध्वसक विचार आ जाएँ, यानी अशुभ कर्मोदय से असयम के प्रति रुचि जग उठे, प्रबल झुकाव होने लगे, और सयम के प्रति निष्ठा शिथिल होने लगे, अरुचि होने लगे, सयम को छोड छिटका देने की मन मे हूक उठे, तो शास्त्रकार कहते है—'अरतिं रतिं च अभिभूय ।' आशय यह है, कि पूर्वोक्त विपरीत विचार आने लगे तो साधु ससार के स्वभाव तथा नरक तिर्यञ्चगतियो के दु खो के सम्बन्ध मे गहराई से सोचे कि इस प्रकार के विपरीत विचारो से घोर ' न्धन होता है, इसी असयम के ये ससारस्थ नाना जीव अनेक गतियो मे गमनागमन करते हैं और अनेक घोर दु ख पाते है । क्या मैं भी साधु होकर, मोक्ष का यात्री होकर फिर असयम मे पडकर ससार-यात्री बनूंगा ? इस प्रकार चिन्तन करके वह असयम मे रति व सयम मे अरति का झटपट त्याग कर दे । यदि पूवसस्कारवश कभी असयम मे रुचि और सयम मे अरुचि पैदा हो जाय तो उसे भी ज्ञानबल से दबा दे और निष्ठापूर्वक सयम का पालन करे ।

मूल

सय समेच्चा अदुवाऽवि सोच्चा, भासेज्ज धम्म हियय पयाण ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवति सुधीरधम्मा ॥१९॥

केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भाव, खुद्द पि गच्छेज्ज असद्दहाणे ।
आउस्स कालाइयार वधाए, लद्धाणुमाण य परेसु अट्ठे ॥२०॥
कम्म च छद च विगिंच धीरे, विणइज्ज उ सव्वओ आयभाव ।
रूवेहि लुप्पति भयावहेहि, विज्ज गहाय तसथावरेहि ॥२१॥
न पूयण चेव सिलोयकामी, पियमप्पिय कस्सइ णो करेज्जा ।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयते, अणाउले य अकसाइ भिक्खू ॥२२॥

संस्कृत छाया

स्वय समेत्याऽथवाऽपि श्रुत्वा, भाषेत धर्मं हितक प्रजानाम् ।
ये गर्हिता सनिदानप्रयोगा, न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माण ॥१९॥
केषाचित्तर्केणाऽबुद्ध्वा भाव, क्षुद्रत्वमपि गच्छेदश्रद्दधान ।
आयुष कालातिचार व्याघात, लब्धानुमानश्च परेष्वर्थान् ॥२०॥
कर्म च छन्दश्च विवेचयेद् धीरो, विनयेत्तु सर्वत आत्मभावम् ।
रूपैर्लुप्यन्ते भयावहैर्विद्वान् गृहीत्वा त्रसस्थावरेभ्य ॥२१॥
न पूजन चैव श्लोककामी, प्रियमप्रिय कस्यापि नो कुर्यात् ।
सर्वाननर्थान् परिवर्जयन्, अनाकुलश्चाकषायी भिक्षु ॥२२॥

अन्वयार्थ

(सय समेच्चा) अपने आप धर्म को जानकर (अदुवावि सोच्चा) अथवा दूसरे से सुनकर, (पयाण हियय धम्म भासेज्जा) प्रजाओ (जनता) के लिए हितकारक धर्म का भाषण करे। (जे गरहियासणियाणप्पओगा) जो कार्य निन्द्य है अथवा जो कार्य निदान (सासारिक फलाकाक्षा) की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं (सुधीरधम्मा ताणि ण सेवति) सुधीर वीतरागधर्म के अनुयायी ऐसे अकरणीय कार्यों का सेवन नहीं करते ॥१९॥

(केसिंचि भाव तक्काइ अबुज्झ) कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके भावो (अभिप्रायों) को अपनी तर्कबुद्धि से न समझा जाय तो वे (असद्दहाणे खुद्दपि गच्छेज्ज) उस उपदेश पर श्रद्धा न करके क्षुद्रता (क्रोध) पर उतर आते हैं। (आउस्स कालाइयार वधाए) तथा वह उपदेश देने वाले की दीर्घकालिक आयु को भी आघात पहुँचाकर घटा सकता है, अर्थात् उसे मार भी सकता है। (लद्धाणुमाणे परेसु अट्ठे) इसलिए साधु अनुमान से दूसरो का अभिप्राय (भाव) जानकर फिर धर्म का उपदेश दे ॥२०॥

(धीरे कम्म च छद च विगिंच) धीर साधक श्रोता के कर्म (आचरण) एव अभिप्राय को सम्यक् प्रकार से जान ले, फिर (सव्वओ आयभाव उ विणइज्ज)

श्रोताओ के मिथ्यात्व आदि को मर्वथा या मव तरह से दूर करे। (भयावहेहिं रूवेहिं लुप्पति) तथा उन्हे यह समझाए कि सुन्दरियो आदि के रूप अत्यन्त भयावह (खतरनाक) हैं, इनके निमित्त से रूप मे लुब्ध जीव नष्ट हो जाते हैं। (विज्ज गहाय तसथावरेहिं) इस प्रकार विद्वान् पुरुप श्रोताओ (दूसरो) का अभिप्राय जानकर त्रस-स्थावर जीवो का जिससे कल्याण हो, ऐसा धर्मोपदेश दे ।।२१।।

(न पूयण चेव सिलोयकामी) माधु धर्मोपदेश से अपनी पूजा और स्तुति की वाछा न करे, (पियमप्पिय कस्सइ णो करेज्जा) कोई सुने, न सुने या उपदेश पर अमल करे, न करे वह किसी के प्रति राग (प्रिय) या अप्रिय (द्वेप) न करे, या भला-बुरा न करे। (सव्वे अ ` परिवज्जयते) साधु इन समस्त अनर्थो (अहितकर वातो को छोडता हुआ, (अणाउले अकसायी भिक्खू) आकुलनारहित एव कपायरहित होकर धर्मोपदेश दे ।।२२।।

र्थ

अपनी बुद्धि से स्वय धर्म को जानकर अथवा दूसरे से सुनकर जनता के हित के लिए धर्म का उपदेश दे, तथा जो कार्य निन्दित है, अथवा जो कार्य सासारिक फल भोगो की इच्छा से किये जाते है, सुवीर पुरुषो के धर्म से युक्त साधक उनका सेवन नही करते ।।१६।।

अपनी तर्क-वितर्कयुक्त बुद्धि से दूसरो का अभिप्राय न समझकर उपदेश देने से कदाचित् वे उस उपदेश पर अश्रद्धा उत्पन्न करके क्षुद्रता (क्रोधावेश) पर उतर आते है, तथा उपदेश देने वाले की दीर्घकालिक आयु को चोट पहुँचाकर खत्म भी कर सकते हैं। इसलिए साधु अनुमान से दूसरो का अभिप्राय जानकर ही धर्मोपदेश दे ।।२०।।

धीरपुरुष श्रोताओ के कर्म (कार्य) और अभिप्राय जानकर ही धर्म का उपदेश दे। तथा उपदेश के द्वारा सुनने वालो के मिथ्यात्व आदि को सब तरह से दूर करे। उन्हे समझाए कि सुन्दरियो आदि का रूप भयानक (खतरनाक) है, उसमे लुब्ध जीव अपने प्राणो से हाथ धो बैठते है। इस प्रकार विद्वान् पुरुप धर्मसभा मे उपस्थित लोगो का अभिप्राय जानकर त्रस-स्थावरो के लिए हितकर उपदेश दे ।।२१।।

साधु धर्मोपदेश के द्वारा अपनी पूजा (सत्कार) और स्तुति (प्रशसा) की कामना न करे, तथा उपदेश सुनने, । सुनने या उपदेश पर अमल करने, न करने वाले से खुश या नाराज न होकर किसी का भला बुरा न करे, या किसी पर राग-द्वेष न करे। पूर्वोक्त सभी अनर्थो (अनिष्टो) को तिलाजलि देकर साधु आकुलता एव कषाय से रहित होकर धर्मोपदेश दे ।।२२।।

व्य

साधु धर्मोपदेश देने से पहले और पीछे क्या सोचे ?

१९वी गाथा से लेकर २२वी गाथा तक शास्त्रकार ने बताया है कि धर्मोपदेश देने वाले की योग्यता तथा धर्मोपदेश देने से पहले क्या-क्या सावधानी रखनी चाहिए ? धर्मोपदेश किस प्रयोजन से देना चाहिए, किस प्रयोजन से नही ? वास्तव मे धर्मोपदेशक का काम बहुत बडी जिम्मेवारी का है, अगर धर्मोपदेशक जनता को शास्त्र सिद्धान्तविपरीत, अहितकर, कामोत्तेजक, क्रोधोत्तेजक, या अभिमानवर्द्धक अथवा सावद्य प्रवृत्तिप्रेरक उपदेश दे बैठता है तो उसका नतीजा बहुत बुरा आता है। श्रोताओ मे कई बार धर्मोपदेशक के द्वारा उत्तेजना फैला दी जाती है अथवा उसके उपदेश से क्रोध का उफान श्रोताओ मे आ जाता है, वे आपस मे लडने-भिडने और तू-तू-मैं-मै करने पर उतारू हो जाते है, कई दफा अगर उपदेशक श्रोताओ के चेहरो पर से या उनकी चेष्टाओ पर से उनके मनोभावो को नही पढता है, और ऊटपटाँग बोल देता है, तो अश्रद्धालु व्यक्ति के मन मे उसकी भयकर प्रतिक्रिया होती है, वह वक्ता पर सहसा हमला भी कर बैठता है, कई बार उसकी जान लेने पर उतारू हो जाता है।

इसलिए धर्मोपदेशक का उत्तरदायित्व है कि वह जिस धर्म का उपदेश जनता को देना चाहता है, वह उपदेश उस देश-काल के अनुकूल है या नही ? उस उपदेश को पचाने या जीवन मे उतारने की उपस्थित श्रोताओ मे पात्रता या शक्ति है या नही ? इन सब बातो पर भलीभाँति विचार करके वह जनता अथवा प्राणियो के लिए कल्याणकर श्रुतचारित्ररूप धर्म का उपदेश दे। धर्मोपदेशक को दूसरे के उपदेश के बिना ही स्वय समझकर अर्थात् ससार चार गति वाला है, मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच कर्म-बन्ध के और परम्परा से ससार के कारण हैं, मोक्ष समस्त कर्मक्षयरूप है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये रत्नत्रय मोक्ष के कारण है—ये और ऐसी बातो को अपने आप जानकर या अन्य आचार्य आदि से सुनकर साधु भव्य जीवो को श्रुतचारित्ररूप धर्म का उपदेश दे।

धर्मोपदेशक को दूसरो को उपदेश देने से पहले स्वय अपने जीवन मे जो निन्दित, गर्हित, सावद्य और दोषयुक्त बाते हो, उन्हे निकाल देना चाहिए। जैसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, तथा हिंसा, झूठ, चोरी, आदि पाप तथा कुव्यसन आदि बाते निन्द्य हैं। इन निन्दनीय बातो का त्याग तथा धर्मकथा आदि प्रवृत्तियाँ, निदान यानी पूजा, सत्कार-प्रतिष्ठा या अन्य सासारिक वस्तुओ की प्राप्ति की आशा से नही करनी चाहिए। इन निन्द्य या अकरणीय बातो का त्याग करने पर ही श्रोताओ पर उसके धर्मोपदेश का प्रभाव पड सकता है।

साथ ही धर्मोपदेशक को पूर्वोक्त वातो की सावधानी रखकर ही अपना उपदेश शुरू करना चाहिए, अन्यथा लेने के बदले देने पड सकते है। शास्त्रकार ने निम्नोक्त ६ वातो की सावधानी की ओर धर्मोपदेशक का ध्यान खीचा है—

(१) तर्कयुक्त बुद्धि द्वारा श्रोताओ के मनोभावो को पहले जान ले, (२) अनुमान से दूसरो का अभिप्राय जानकर धर्मोपदेश शुरू करे, (३) वह श्रोताओ के कर्मो (कारनामो, लघुकर्मी या गुरुकर्मी अथवा उनके कार्यों) तथा अभिप्रायो को भलीभाँति जान ले, (४) वह पहले श्रोताओ को ऐसा उपदेश दे, जिससे कि उनका मिथ्यात्व सर्वथा दूर हो, (५) सुन्दरियो के रूप मे आसक्त होना, अपने भयकर विनाश को न्यौता देना है इस वात को श्रोताओ के दिमाग मे ठसाकर उनकी रूपादि विषयो के प्रति आसक्ति हटाए, (६) जिससे त्रसस्थावर जीवो का कल्याण हो, ऐसा धर्मोपदेश दे, (७) पूजा, सत्कार, प्रतिष्ठा, प्रशसा एव नामना-कामना आदि प्राप्त करने की दृष्टि से धर्मोपदेश न दे। (८) कोई सुने या न सुने, आचरण करे या न करे धर्मोपदेशक साधु को किसी पर राग-द्वेष रखकर किसी का भला-बुरा या प्रिय-अप्रिय नही करना चाहिए, (९) समस्त अनर्थो को छोडकर साधु शान्त, अनाकुल एव कषायरहित होकर धर्मोपदेश करे।

कभी-कभी ऐसा होता है कि मिथ्यादृष्टियो की अन्त करणवृत्ति दुष्ट होती है। मान लो, धर्मोपदेशक ने कुतीर्थिको साधु-द्वेषियो को जाने-समझे बिना उनकी गलत मान्यताओ का जोर से खण्डन कर दिया, इस पर वह कुतीर्थिक तिलमिला उठेगा, उसके मन मे उसकी भयकर प्रतिक्रिया जागेगी, अश्रद्धावश वह उस साधु के प्रति क्रुद्ध होकर साधु पर प्रहार आदि अनिष्ट कर ा है। जैसे पालक पुरोहित ने स्कन्दकाचार्य का अनिष्ट किया था। अत धर्मोपदेशक को बहुत सोच-समझकर पुरुष-विशेष को जानकर धर्मोपदेश करना चाहिए। उसे यह देखना चाहिए कि कौन किस मत पथ का अनुयायी है ? किसे देव या गुरु मानता है ? यह मताग्रही है या सरल है ? बिना देखे-समझे उपदेश देने का क्या नतीजा आने की सम्भावना है ? इस सम्बन्ध मे पहले बताया जा चुका है। वस्त्र-पात्र आदि के लाभरूप पूजा की इच्छा तथा प्रशसा की कामना तप, सयम, ज्ञान आदि मे तो बाधक है ही, धर्मोपदेश करने मे भी बाधक है। साधु इनसे निरपेक्ष रहे। सभी प्रकार के अनर्थों (जो कि याथातथ्य के विपरीत हैं) से साधक दूर रहे। श्रोता को प्रिय लगने वाली रा ा, स्त्रीकथा, विकथा, छलितकथा अथवा सावद्य प्रवृत्तिप्रेरक कथा है, तथा अप्रियकथा है—उस सम्प्रदाय, देव, गुरु की निन्दा। इन दोनो प्रकार की प्रिय-अप्रिय कथाओ से साधु दूर रहे। और सब बातें स्पष्ट है।

मूल पाठ

आहत्तहीयं समुपेहमाणे सव्वेहिं पाणेहिं णिहाय दंड   ।
णो जीविय, णो मरणाभिकखी, परिव्वएज्जा वलयाविमुक्के ।।२३।।
त्ति बेमि।।

सस्कृत छाया

याथातथ्य समुत्प्रेक्षमाण , सर्वेषु प्राणिषु निधाय दण्डम्   ।
नो जीवित, नो मरणाभिकाक्षी, परिव्रजेद् वलयाद् विमुक्त   ।।२३।।
इति   ी   ।।

अन्वयार्थ

(आहत्तहीय समुपेहमाणे) साधु याथातथ्य (सत्य)—वास्तविक रूप से स्व-परसमय को भलीभाँति   ता हुआ, (सव्वेहिं पाणेहिं दंडे णिहाय) समस्त प्राणियो को दण्ड देना छोडकर (णो जीविय, णो मरणाभिकखी) अपने जीवन-मरण की आकाक्षा न करके (वलयाविमुक्के परिव्वएज्जा) माया से विमुक्त होकर अपने सयम मे प्रगति करे ।

भावार्थ

साधु याथातथ्य रूप से स्वपरसमय को या सत्य धर्म को भलीभाँति देखता हुआ, सब प्राणियो को दण्ड देना छोडकर अपने जीवन-मरण से निर-पेक्ष होकर माया से मुक्त होकर सयमाचरण मे उद्यत रहे ।

व्याख्या

याथातथ्य (सत्य) धर्म का प्राणप्रण से पालन करे

अब शास्त्रकार इस अध्ययन का उपसहार करते हुए याथातथ्य (सत्य) धर्म या स्वपरसिद्धान्त को भलीभाँति जानकर सत्यधर्म पर मरणपर्यन्त डटे रहने की प्रेरणा देते हैं । साधु पर बहुत बडी जिम्मेदारी है कि वह स्वय याथातथ्य दर्शनादि को समझे, लोगो को सही ज्ञानादि की प्रेरणा दे, तथा धर्म, मार्ग और समवसरण नामक पूर्वोक्त तीन अध्ययनो मे उक्त तत्त्वो पर विचार करके अथवा सूत्रानुरूप सम्यक्त्व एव चारित्र का विचार करके, उत्तम अनुष्ठान मे सलग्न रहे । मरने-जीने की परवाह न करे । अपितु प्राण जाने पर भी धर्म का उल्लघन न करे । साधु का कर्तव्य है कि वह असयम के साथ या त्रसस्थावर प्राणियो का हनन करके चिरकाल तक जीने की इच्छा न करे और न परीषह-उपसर्ग आदि से पीडित होकर या रोग,

शोक, चिन्ता, आफत आदि से दु खी होकर वेदना को न सह सकने के कारण आग मे जलकर, जल मे डूबकर या अन्य किसी प्रकार से आत्महत्या करके मरने की इच्छा न करे। अर्थात् जीवन-मृत्यु दोनो मे सम रहे। मोह या माया से मुक्त होकर सयमानुष्ठान मे डटा रहे। 'त्ति' शब्द समाप्ति सूचक है, 'बेमि' का अर्थ पूर्व-वत् है।

सूत्रकृतागसूत्र का तेरहवाँ याथातथ्य नामक अध्ययन अमर-सुख-बोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

॥ याथातथ्य नामक तेरहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

ग्रन्थ : चौदहवाँ अध्ययन

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

तेरहवें अध्ययन 'याथातथ्य' की व्याख्या की जा चुकी है। अब चौदहवें अध्ययन की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है। तेरहवें अध्ययन मे शुद्ध (यातातथ्य) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विनय का निरूपण किया गया है, किन्तु ज्ञानादि तभी शुद्ध और निर्मल रह सकते हैं, जबकि बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार के ग्रन्थो (गाँठो) का त्याग किया जाय, और ग्रन्थसमूह का परित्याग भी ग्रन्थ को जानने से होता है, अत इस अध्ययन मे उस 'ग्रन्थ' का स्वरूप बताकर ा परित्याग करने की प्रेरणा दी गई है। इसीलिए इस अध्ययन का नाम 'ग्रन्थ' रखा गया है। निर्युक्तिकार के अनुसार ग्रन्थ का सामान्यतया अर्थ 'परिग्रह' होता है। ग्रन्थ के दो प्रकार है—बाह्यग्रन्थ और आभ्यन्तर ग्रन्थ। बाह्यग्रन्थ के मुख्य १० प्रकार है—(१) क्षेत्र, (२) वास्तु, (३) धन-धान्य, (४) ज्ञातिजन व मित्र या द्विपद-चतुष्पद, (५) वाहन, (६) शयन, (७) आसन, (८) दासी-दास, (९) स्वर्ण-रजत, (१०) विविध साधन-सामग्री। इन दस प्रकार के बाह्य ग्रन्थो मे मूर्च्छा रखना ही वास्तव मे ग्रन्थ है। आभ्यन्तर ग्रन्थ के मुख्यतया १४ प्रकार है—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) राग-मोह, (६) द्वेष, (७) मिथ्यात्व, (८) कामाचार (वेद), (९) असयम मे रुचि (रति), (१०) सयम मे अरुचि (अरति), (११) विकारी हास्य, (१२) शोक, (१३) भय और (१४) जुगुप्सा (घृणा)।

जो इन दोनो प्रकार के ग्रन्थो से रहित है, अर्थात्—जिन्हे इन दोनो प्रकार के ग्रन्थो से लगाव या आसक्ति नही है, तथा जो सयममार्ग की प्ररूपणा करने वाले आचाराग आदि ग्रन्थो का अध्ययन करते हैं, वे शिष्य कहलाते है। शिष्य दो प्रकार के होते हैं—दीक्षाशिष्य और शिक्षाशिष्य। जो दीक्षा देकर शिष्य बनाया जाता है, उसे दीक्षाशिष्य कहते है, और जो आचाराग आदि सूत्रो की शिक्षा देकर शिष्य बनाया जाता है, उसे शिक्षाशिष्य कहते हैं। जो शिक्षा को ग्रहण करता है, उसे शैक्ष या शैक्षक कहते हैं। इस अध्ययन मे शैक्षक तथा उसकी शिक्षा के सम्बन्ध मे कहा गया है। शिष्य की तरह आचार्य या गुरु के भी दो भेद हैं—एक दीक्षा देने वाला, दूसरा शिक्षा देने वाला, अर्थात् दीक्षागुरु और शिक्षागुरु।

शिक्षा लेने और तदनुसार आचरण करने की अपेक्षा, तथा मूलगुण-आसेवना

(आचरण) और उत्तरगुण-आसेवना के भेद से शिक्षा-शिष्य के भी दो अथवा अनेक भेद होते है, इसी प्रकार शिक्षागुरु के भी दो या अनेक भेद होते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन मे यह बताया गया हे कि ग्रन्थत्यागी शिक्षाशिष्य (शैक्षक) और शिक्षागुरु कैसे होने चाहिए ? उन्हे कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए ? उनके क्या-क्या दायित्व और कर्तव्य है ? इन सब बातो के सम्बन्ध मे सक्षेप मे २७ गाथाओ द्वारा इस अध्ययन में निरूपण किया गया है।

अत इस अध्ययन की ाप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल

गंथ विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुबभचेर वसेज्जा ।
ओवायकारी विणयं सुसि े, जे छेय विप्पमाय न कुज्जा ॥१॥

स त छाया

ग्रन्थ विहायेह शि ण , उत्थाय सुब्रह्मचर्यं वसेत् ।
अवपातकारी विनय सुशिक्षेत्, यश्छेको विप्रमाद न कुर्यात् ॥१॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक मे (गथ विहाय) बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार के ग्रन्थो (परिग्रहो) का त्याग करके (सिक्खमाणो) मोक्षमार्ग प्रतिपादक शास्त्रो का ग्रहण, अध्ययन और आसेवन (आचरण) रूप से गुरु से सीखता हुआ साधक (उट्ठाय) प्रव्रज्या लेकर (सुबभचेर बसेज्जा, उत्तम प्रकार के ब्रह्मचर्य का अच्छी तरह पालन करे, जीवन मे बसा ले—रमा ले। (ओवायकारी विणय सुसिक्खे) तथा आचार्य या गुरु के सान्निध्य मे या उनकी आज्ञा मे रहता हुआ शिष्य विनय का प्रशिक्षण (अभ्यास-तालीम) ले। (जे छेय विप्पमाय न कुज्जा) जो साधक सयम के अनुष्ठान मे दक्ष है, वह सयम या मुनिधर्म के पालन मे कदापि प्रमाद न करे।

भावार्थ

इस लोक मे बाह्य-आभ्यन्तर समस्त ग्रन्थो (परिग्रहो) का त्याग करके ग्रहण एव आसेवनरूप से शास्त्रो को सीखता हुआ शिक्षाशिष्य प्रव्रज्या लेकर उत्तम प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन करे तथा आचार्य या गुरु के चरणो मे या आज्ञा मे रहकर विनय का अभ्यास करे। सयम पालन करने मे निष्णात साधक कभी प्रमाद न करे।

ा

ग्रन्थत्यागी शिष्य गुरु के सान्निध्य मे शिक्षा ग्रहण करे

इस अध्ययन की प्रथम गाथा मे शास्त्रकार ने समस्तग्रन्थत्यागी शिष्य को

आचार्य या गुरु के सान्निध्य मे रहकर अध्ययन और आचरण दोनों तरह से शिक्षा लेनी अनिवार्य बताई है।

दीक्षा लेते ही, बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थ-त्याग का सकल्प लेते ही, साधक के जीवन मे महाव्रतो का अथवा ग्रन्थत्याग का पूर्णरूपेण आचरण नही हो जाता। उसके लिए सतत अभ्यास, प्रेरणा, वातावरण, शास्त्रो का अध्ययन, निर्ग्रन्थ गुरुओ का सान्निध्य और प्रशिक्षण की आवश्यकता है अन्यथा नवदीक्षित शिष्य के जीवन मे सयम-साधना परिपक्व और सुदृढ नही होती। वह साधक कच्चा ही रह जाता है और कच्चा एव अध-कचरा साधक जहाँ कही भी जाता है, वहाँ कई तरह की गलतियाँ कर बैठता है। वह किसी प्रश्न का या किसी बात का सन्तोष-जनक उत्तर नही दे सकता, किसी शका का यथार्थ समाधान नही कर पाता, किसी के विवाद को निपटा नही सकता, परीषहो और उपसर्गो के आने पर उनसे घबरा कर या हार खाकर असयममार्ग की ओर झुक जाता है या सयममार्ग को सर्वथा छोड बैठता है। किसी मिथ्यादृष्टि अन्य धर्म, सम्प्रदाय, पथ या गुरु के बहकावे मे आकर वह आचार मे शिथिल हो जाता है, जीवन की सही पगडडी से दूर भटक जाता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—'गथ विहाय इह सिक्खमाणो ' विप्पमाय न कुज्जा।"

आशय यह है कि दीक्षा लेते समय समस्त बाह्य एव आभ्यन्तर ग्रन्थो का त्याग करे, क्योकि ग्रन्थत्याग किये बिना साधक निर्ग्रन्थ नही बन सकता, बार-बार ये गाँठें उसके सयमी जीवन मे बाधक बनेगी।

जिस धन-धान्यादि बाह्य तथा कषायादि आभ्यन्तर परिग्रह के द्वारा आत्मा ससार के मायाजाल मे गुँथ जाता है, उसे 'ग्रन्थ' कहते हैं।

हाँ तो, ग्रन्थ का त्याग करने के बाद दीक्षा लेकर साधु ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, नववाड सहित ब्रह्मचर्य, भिक्षाचर्या, ग्रन्थत्याग, हिंसादित्याग एव साध्वा-चार के नियमोपनियमो के पालन का अभ्यास गुरु-चरणो मे रहकर करे। साथ ही गुरु की सेवा मे रहकर वह साधक शास्त्रो का अध्ययन (ग्रहण-शिक्षा) और तदनुसार आचरण (आसेवन-शिक्षा) दोनो प्रकार की शिक्षाओ का भली-भाँति अभ्यास करे। गुरु से दोनो प्रकार का प्रशिक्षण ले। गुरुदेव के चरणो मे रहने से साधु को वातावरण भी सयमपूर्ण मिलेगा, साधु मडली अध्ययन, मनन, चिन्तन, ध्यान, विनय, यम-नियम पालन आदि करेगी, वह देखेगा तो उसके अन्तर् मे भी वैसे ही सस्कार जमेगे। शास्त्रो के अध्ययन से उसे वस्तुतत्त्व का यथार्थ बोध होगा, बीच-बीच मे आचरण के सम्बन्ध मे उसे गुरुदेव द्वारा निर्देश-आदेश मिलते रहेगे, प्रेरणा मिलती रहेगी, जहाँ कही भूल होगी, वहाँ तुरन्त उसे सुधारने का प्रयत्न होगा। इस प्रकार मुमुक्षु साधक गुरु की आज्ञा का पालन करेगा, उनकी सेवा

करेगा, ग्रहण एव आसेवन दोनो प्रकार से विनय का भी वह प्रशिक्षण लेगा, और गुरु के सान्निध्य मे रहने से वह सब प्रकार से सयममार्ग की साधना मे कभी प्रमाद नही करेगा, और सब प्रकार से परिपक्व हो जाएगा।

जैसे रुग्ण व्यक्ति वैद्य की हिदायत के अनुसार, उसकी देख-रेख मे औपध-सेवन, पथ्यादि पालन करके शीघ्र ही रोग-मुक्त एव स्वस्थ हो जाता है, वैसे ही साधु सावद्य-अनुष्ठानो, ग्रन्थो एव प्रमाद का त्यागकर गुरु के सान्निध्य मे रहकर गुरु के आदेश-निर्देश के अनुसार चलकर उनकी देख-रेख मे सयमरूप औपध सेवन एव विनयादि पथ्यपालन करके एक दिन विपय-कषायो के रोग से मुक्त हो जाता है, स्वस्थ—आत्मस्वस्थ हो जाता है।

मूल

जहा दियापोतमपत्तजात, सावासगा पविउ मन्नमाण ।
तमचाइय तरुणमपत्तजातं, ढंकाइ अव्वत्तगम हरेज्जा ॥२॥
एव तु सेहंपि अपुट्ठधम्मं, निस्सारिय बुसिम मन्नमाणा ।
दियस्स छाय व अपत्तजाय, हरिंसु ण पावधम्मा अणेगे ॥३॥
ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिए णतकरिति णच्चा ।
ओभासमाणे दवियस्स वित्त , ण णिक्कसे बहिया आसुपन्नो ॥४॥

सं

यथा द्विजपोतमपत्रजात, स्वावासकात् प्लवितु मन्यमानम् ।
तमशक्नुवन्त तरुणमपत्रजात, ढकादयोऽव्यक्तगम हरेयु ॥२॥
एव तु शैक्षमप्यपुष्टधर्माण, नि सारित वश्य मन्यमानाः ।
द्विजस्य मिवापत्रजात, हरेयु पापधर्माणोऽनेके ॥३॥
अवसानमिच्छेन्मनुज समाधिमनुषितो नान्तकर इति ज्ञात्वा ।
अवभासयन् द्रव्यस्य वृत्त, न निष्कसेद् बहिराशुप्रज्ञ ॥४॥

अन्वयार्थ

(जहा दियापोतमपत्तजात) जैसे कोई पक्षी का बच्चा पूरे पख आए विना (सावासगा पविउ मन्नमाण) अपने आवास स्थान (घोसले) से उडकर अन्यत्र जाना चाहता हुआ (अ त तरुण अचाइय) पख के बिना वह तरुण पक्षी उडने मे असमर्थ होता है, (ढकाइ अवत्तगम हरेज्जा) उस उडने मे पक्षी के बच्चे को अस्पष्टरूप से (थोडा-थोडा) पख फडफडाते हुए देखकर ढक आदि मासाहारी पक्षी हरण कर लेते है और मार डालते हैं ॥२॥

(एव तु) इसी तरह (अपुट्ठधम्म) जो साधक अभी श्रुतचारित्ररूप धर्म मे

पुष्ट-परिपक्व नही है, उसे (निस्सारिय वुसिम मन्नमाणा) अपने गच्छ से निकला या निकाला हुआ देखकर अपने वशीभूत-सा मानते हुए (अणेगे पावधम्मा) अनेक पाषण्डी परतीर्थिक (अ य दियस्स छाय व) पख न लगे हुए पक्षी के बच्चे की तरह (हरिसु ण) उसका हरण कर लेते है ॥३॥

(अणोसिए मणुए) गुरुकुल मे निवास न करने वाला साधक पुरुप (णतकरिति णच्चा) अपने कर्मों का नाश नही कर सकता है, यह जानकर (ओसाण समाहि इच्छे) अपरिपक्व साधक के लिए गुरुकुल मे निवास एव समाधि अपेक्षित है। (दवियस्स वित्त ओभासमाणे) मुक्तिगमन के योग्य पुरुप के आचरण को स्वीकार करता हुआ (आसुपन्नो बहिया ण णिक्कसे) प्रत्युत्पन्नमति साधु गच्छ से वाहर न निकले ॥४॥

र्थ

जिसके पख अभी तक पूरी तरह से नही आए है, ऐसा पक्षी का बच्चा जैसे उडकर अपने घोसले से वाहर जाना चाहता है, किन्तु पख पूरी तरह से लगे बिना उड नही सकता, फिर भी पख फडफडाने का प्रयास करते दे र उसे मासाहारी ढक आदि पक्षी हरण कर लेते है और मार डालते है ॥२॥

इसी प्रकार धर्मसाधना मे अपरिपक्व, अपुष्ट शैक्ष साधक को गच्छ से निकले या निकाले हुए अकेले विचरण करते देखकर पख से विहीन पक्षी के बच्चे की तरह बहुत-से पाषण्डी परतीर्थिक बहकाकर उडा ले जाते है और धर्मभ्रष्ट कर देते है ॥३॥

जो अपरिपक्व साधक गुरुकुल में निवास नही करता, वह अपने कर्मों का नाश नही कर पाता, यह जानकर साधक गुरु के सान्निध्य मे निवास करे और समाधि की इच्छा रखे। वह मुक्ति जाने के योग्य पुरुप के आचरण को स्वीकार करे और गच्छ से बाहर न निकले ॥४॥

व्याख्या

अपरिपक्व साधक के लिए गुरुकुल से बाहर खतरा है

दूसरी, तीसरी और चौथी गाथा मे शास्त्रकार ने अपरिपक्व, कच्चे साधक को गुरुसान्निध्य से बाहर जाने से क्या-क्या खतरे पैदा होते हैं? इसे पक्षी के बच्चे का दृष्टान्त देकर समझाया है। जैसे कोई पक्षी का बच्चा अभी उडने लायक नही हुआ है, फिर भी उसके मन मे बार-बार हूक उठती है उडने की, मगर अभी तक उसके उडने लायक पख नही आए हैं। फिर भी जोश मे आकर घोसले से बाहर निकल जाता है, और थोडे-थोडे पख फडफडाकर उडने का प्रयास करता है किन्तु उड नही सकता। ठीक इसी समय कुछ मासाहारी पक्षी जो कि इसी ताक मे

बैठे रहते है, उस पक्षी के बच्चे के रगढग देखकर चट से उसे उठा ले जाते है और मार डालते है।

यही हालत गच्छ से बाहर निकलकर स्वच्छन्द विचरण करने वाले अपरिपक्व साधु की हो जाती हे। अपरिपक्व साधक गीतार्थ नही होता, वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को शीघ्र परख नही सकता, शास्त्रो के अर्थ करने एव वस्तुतत्त्व को समझने अनिपुण होता है, धर्मतत्त्व को भली-भाँति जाना-समझा नही है, और गुरु-चरणो मे चिरकाल तक रहकर उसने अध्ययन, प्रशिक्षण और आचरण किया नही है। न उसे सकटापन्न परिस्थितियो मे से रास्ता निकालने, सयम की सुरक्षा करने का अनुभव प्राप्त है। नौसिखिया साधक है। जब वह थोडा-सा बोलने और भाषण करने मे वाचाल हो जाता है, तो अपने आपको बहुत ज्ञानी कर गुरु से अलग विचरण करने लगता है। ऐसे मे उस अपरिपक्व साधक को प्राय पाषण्डी लोग, भोला-भाला या अपने सैद्धान्तिक ज्ञान मे बुद्धू या धर्मतत्त्व मे अनिपुण कर बहकाने लगते हैं—अरे मा ी! तुम्हारे मत मे तो आग जलाने, स्नान करने, विषहरण करने आदि का विधान ही नही है। यह तुम्हारा मत कैसा है? तुम्हारे मत में अणिमा आदि आठ सिद्धियो का भी वर्णन नही है और न तुम्हारे मत को राजा, सेठ, सेनापति आदि बहुत-से लोग मानते हैं। तुम्हारे मत मे अहिंसा की इतनी बारीक और अव्यावहारिक व्याख्या है कि उसका पालन ही होना असम्भव है, जबकि यह सारा ससार जीवो से ठसाठस भरा हुआ है। ये और इस प्रकार के ऐन्द्रजालिक के-से वचन सुनकर वह अपरिपक्व साधक झटपट उनके चक्कर मे पड जाता है। उसके पश्चात् धीरे-धीरे वे लोग उससे सम्पर्क बढाते जाते हैं, और जब देखते हे कि 'अब चिडिया जाल मे बिलकुल फँस गई है', अब कही जा नही सकती, तब उस परिपक्व साधक से कहते है—'अब जब इतना परिवर्तन तुमने कर लिया है तो इतना-सा परिवर्तन और कर लो, यह वेष और क्रियाकाण्ड सब छोडकर हमारे मत मे आ जाओ। हम तुम्हे सब सुख-सुविधाएँ देंगे।' इस प्रकार उक्त साधक को वे कुतीर्थी जिनका हृदय मिथ्यात्व, कषाय आदि से मलिन है, बहकाकर धर्मभ्रष्ट कर देते है। अथवा उसके स्वजन या राजा आदि कोई सत्ताधीश या धनाढ्य उसे अकेले विचरण करते देखकर उसे घर ले जाने और वेष आदि छोड देने के लिए बहकाते हैं। परिजन मधुर और प्रलोभन भरे शब्दो मे कहते है—"आयुष्मन्! तुम्हारे बिना हमारा पालन-पोषण कौन करेगा? तुम ही हमारे सर्वस्व हो। आधार हो। घर चलो। तुम्हारी इच्छा हो तो वहाँ रहकर तुम अपने क्रियाकाण्ड करते रहना। तुम्हारे लिए हम सब सुविधाएँ जुटा देंगे।" अथवा कोई राजादि शब्दादि विषयभोगो का आमत्रण देकर उसे उत्तमधर्म से भ्रष्ट कर देते

हैं। इस प्रकार धर्मतत्त्व मे अनिपुण, अधकचरे साधक को कई लोग चक्मे मे डालकर उसके सर्वस्व सयमधन का अपहरण कर लेते है।

ये और इस प्रकार के बहुत से अनर्थो की सम्भावनाएँ अपरिपक्व साधक के गुरुकुल छोडकर बाहर स्वतन्त्र विचरण करने मे है, इसी दृष्टि से शास्त्रकार चौथी गाथा मे गुरुकुलवास पर विशेष जोर देते हैं—'ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं।' अर्थात्– अगर साधक पुरुष समाधि—उत्तम धर्मध्यान या ज्ञानदर्शनचारित्रयुक्त मोक्षमार्ग की साधना करना चाहता है तो जीवनपर्यन्त या जब तक अपरिपक्व है तब तक गुरु के सान्निध्य मे, या गुरु के आदेश-निर्देश मे रहे। गुरुचरणो मे नही रहने वाला साधक कर्मो का अन्त नही कर सकता है। अथवा जो साधक गुरु के सान्निध्य मे निवास नही करता और स्वच्छन्द होकर विचरण करता है, वह प्रतिज्ञा किये हुए उत्तम अनुष्ठानरूप कार्य को पार नही लगता, यह जानकर सदा गुरुकुल में निवास करना श्रेयस्कर है। जो साधक गुरुकुल मे निवास नही करता, उसका जो भी ज्ञान-विज्ञान है, वह उपहासास्पद होता है। कहा भी है—

> न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् ।
> प्रकटितपश्चाद्भाग पश्यत नृत्य मयूरस्य ॥

गुरुकुल की उपासना नही किये हुए साधक का ि उसकी रक्षा करने मे समर्थ नही होता। जैसे गुरु के उपदेश के बिना अपने मन से मनमाना नाच करने वाले मोर का पिछला भाग बिलकुल नगा हो जाता है। जैसे एक गुरु-उपासक वैद्य ने ऊँट के गले मे अटके हुए तुम्बे को मुक्का मारकर उसे ठीक (स्वस्थ) कर दिया था, किन्तु एक राहचलते गँवार ने यह देखकर सोचा—मैं भी इसी प्रकार उपचार करके क्यो नही इस वैद्य की तरह मालामाल बन जाऊँ। चट से उसने एक दूकान ले ली, वहाँ वै बनकर बैठ गया और यो ही चूर्ण-चटनी देने लगा। एक दिन एक बुढिया को लेकर कुछ लोग उस नकली वैद्य के पास आये। बुढिया के गले मे गण्डमाल था। नकली वैद्यराज ने गुरु की उपासना से तो कुछ सीखा नही था। वे इसे उस ऊँट की तरह गला फूला हुआ समझे और बुढिया के गले पर जोर से मुक्का मारा। बेचारी बुढ़िया तो वही ढेर हो गई। बुढिया के सम्बन्धियो ने उस ऊँट-वैद्य को बहुत भला-बुरा कहा और रो-धो कर चल दिए। ऐसी ही दशा उन अधकचरे अपरिपक्व साधको की होती है, जो गुरु-उपासना से वचित होकर मनमाना विचरण करते है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'ओभासमाणे दवियस्स वित्त'। विद्वान साधक मुक्तिगमनयोग्य साधु के या रागद्वेषरहित सर्वज्ञ के अनुष्ठान को उत्तम आचरण द्वारा प्रकाशित करे। गुरुकुल मे निवास करने से साधक मे अनेक गुण स्वत सहजभाव से आ जाते हैं, वह अपने अन्दर रहे हुए विषय-कषायो को स्वत या गुरु के उपदेश से हटा लेता है। इसलिए बुद्धिमान साधक गच्छ से निकल

कर बाहर न जाए। गुरुकुल मे निवास करने वाले साधक को वहा किन गुणो की प्राप्ति होती है, यह अगली गाथा मे शास्त्रकार कहते है—

मूल

जे ठाणओ य सयणासणे य, परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते ।
समितिसु गुत्तीसु य आयपन्ने, वियागरिंते य पुढो वएज्जा ॥५॥

स छाया

य स्थानतश्च शयनासनाभ्या च, पराक्रमतश्च सुसाधुयुक्त ।
समितिषु गुप्तिषु चागतप्रज्ञो, व्याकुर्वंश्च पृथक् वदेत् ॥५॥

अन्वयार्थ

(ठाणओ सयणासणे य परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते) गुरुकुल मे निवास करने वाला साधक स्थान, आसन, शयन और पराक्रम के द्वारा उत्तम साधु के समान आचरण करता है। तथा (समितिसु गुत्तीसु य आयपन्ने) वह समितियो और गुप्तियो के विषय मे अभ्यस्त होने से अत्यन्त न (अनुभवी) हो जाता है। (वियागरिंते य पुढो वएज्जा) वह समिति और गुप्ति का यथार्थ स्वरूप पृथक-पृथक विश्लेषण करके दूसरो को भी बताता है।

र्थ

गुरुकुल मे निवास करने वाला साधु स्थान, शयन, आसन और पराक्रम के सम्बन्ध मे उत्तम साधु के समान आचरण करता है तथा वह समितियो और गुप्तियो के बारे मे अभ्यस्त होने से अत्यन्त प्रवीण हो जाता है। वह दूसरो को भी समिति और गुप्ति का पृथक् विश्लेषण करके उपदेश देता है।

व्याख्या

गुरुकुल निवास से साधक को लाभ

गुरुकुल निवासी साधु को किन-किन गुणो की प्राप्ति होती है ? यह इस गाथा मे बताया गया है। 'जैसा सग वैसा रग' इस कहावत के अनुसार साधक जब गुरुदेव के सान्निध्य मे रहता है, तब गुरुदेव और उनके पास रहने वाले साधको के उत्तमोत्तम गुणों का प्रभाव उक्त साधक पर पडे विना नही रहता। फिर रात-दिन जिन बातो का चिन्तन, मनन, श्रवण, आचरण और उपदेश होता है, उनके पवित्र सस्कार भी उसके मानस मे सुदृढ होते जाते हैं। इस दृष्टि से गुरुसान्निध्य मे रहने वाले साधक की स्थान (ठहरना), आसन (बैठना), शयन (सोना), गमन-आगमन, तप करना, कायोत्सर्ग करना, ध्यान, मौन, जप तथा सयम की विभिन्न क्रियाओ के विषय मे पराक्रम करना आदि समस्त क्रियाएँ बहुत ही सावधानी से विवेक, वैराग्य

और त्याग के साथ पवित्र आध्यात्मिक भावनाओ से सनी हुई होती है। कायोत्सर्ग करते समय भी प्रमार्जन करके मेरुपर्वत के समान अडोल और शरीर से निरपेक्ष हो जाता है, शयन करते समय बिछौना, भूमि और अपने शरीर को भलीभाँति देखभाल कर, प्रमार्जन करके गुरु की आज्ञा लेकर शास्त्रोक्तकाल मे सोता है, सोया हुआ भी वह सतर्क रहता है। जरा-सी आहट पाते ही जागृत हो जाता है। आसन आदि पर बैठा हुआ भी अपने शरीर को सकोच कर बैठता है, स्वाध्याय, ध्यान आदि दैनिक क्रियाओ मे सावधान और तत्पर रहता है। इसके अतिरिक्त गुरुकुलवासी साधु ईर्या समिति आदि प्रविचाररूप पाँच समितियो मे तथा अप्रविचाररूप तीन गुप्तियो मे विवेकवान होता है। वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हिताहित, विनय और उत्तरदायित्व के भान से युक्त होता है। निष्कर्ष यह है कि गुरु के सान्निध्य मे रहने से उस साधक के जीवन का सर्वांगीण निर्माण हो जाता है। गुरुकृपा से वह समिति, गुप्ति आदि का स्वरूप जानकर तथा उनके अभ्यास से अनुभवी एव माहिर होकर दूसरो को भी उनके यथार्थस्वरूप, उनके पालन एव फल का उपदेश देता है।

मूल

सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहकहं वा वितिगिच्छतिन्ने ॥६॥

सस्कृत छाया

शब्दान् श्रुत्वाऽथ भैरवान्, अनाश्रवस्तेषु परिव्रजेत ।
निद्रा च भिक्षुर्न प्रमाद कुर्यात्, कथ कथ वा विचिकित्सातीर्ण ॥६॥

अन्वयार्थ

(सद्दाणि अदु भेरवाणि सोच्चा) मधुर या भयकर शब्दो को सुनकर (तेसु अणासवे परिव्वएज्जा) उनमे रागद्वेषरहित होकर साधु सयम मे प्रगति करे, (भिक्खू निद्द पमाय न कुज्जा) साधु निद्रा और प्रमाद न करे, (कहकह वा वितिगिच्छतिन्ने) किसी विषय मे शका होने पर गुरु की कृपा से उससे पार हो जाए।

भावार्थ

ईर्यासमिति आदि से युक्त साधु मधुर या भयकर शब्दो को सुनकर उनमे रागद्वेष न करे, वह अपने सयम मे पराक्रम करे, तथा निद्रारूप प्रमाद न करे, और किसी विषय मे शका होने पर गुरु की कृपा से उससे पार हो जाय।

व्याख्या

निर्ग्रन्थ मुनि पचेन्द्रियविषयक ग्रन्थ को तोडे

निर्ग्रन्थ मुनि के कानो से अच्छे या बुरे, कर्णप्रिय या कर्णकटु शब्द टकराए

कर वाहर न जाए। गुरुकुल मे निवास करने वाले साधक को वहाँ किन गुणो की प्राप्ति होती है, यह अगली गाथा मे शास्त्रकार कहते है—

मूल

जे ठाणओ य सयणासणे य, परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते ।
समितिसु गुत्तीसु य आयपन्ने, वियागरिंते य पुढो वएज्जा ॥५॥

संस्कृत छाया

यः स्थानतश्च शयनासनाभ्यां च, पराक्रमतश्च सुसाधुयुक्तः ।
समितिषु गुप्तिषु चागतप्रज्ञो, व्याकुर्वश्च पृथक् वदेत् ॥५॥

अन्वयार्थ

(ठाणओ सयणासणे य परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते) गुरुकुल मे निवास करने वाला साधक स्थान, आसन, शयन और पराक्रम के द्वारा उत्तम साधु के समान आचरण करता है। तथा **(समितिसु गुत्तीसु य आयपन्ने)** वह समितियो और गुप्तियो के विषय मे अभ्यस्त होने से अत्यन्त प्रज्ञावान (अनुभवी) हो जाता है। **(वियागरिंते य पुढो वएज्जा)** वह समिति और गुप्ति का यथार्थ स्वरूप पृथक्-पृथक विश्लेषण करके दूसरो को भी वताता है।

भावार्थ

गुरुकुल मे निवास करने वाला साधु स्थान, शयन, आसन और पराक्रम के सम्बन्ध मे उत्तम साधु के समान आचरण करता है तथा वह समितियो और गुप्तियो के बारे मे अभ्यस्त होने से अत्यन्त प्रवीण हो जाता है। वह दूसरो को भी समिति और गुप्ति का पृथक् विश्लेषण करके उपदेश देता है।

व्याख्या

गुरुकुल निवास से साधक को लाभ

गुरुकुल निवासी साधु को किन-किन गुणो की प्राप्ति होती है? यह इस गाथा मे बताया गया है। 'जैसा सग वैसा रग' इस कहावत के अनुसार साधक जब गुरुदेव के सान्निध्य मे रहता है, तव गुरुदेव और उनके पास रहने वाले साधको के उत्तमोत्तम गुणों का प्रभाव उक्त साधक पर पड़े बिना नही रहता। फिर रात-दिन जिन बातो का चिन्तन, मनन, श्रवण, आचरण और उपदेश होता है, उनके पवित्र सस्कार भी उसके मानस मे सुदृढ होते जाते हैं। इस दृष्टि से गुरुसान्निध्य मे रहने वाले साधक की स्थान (ठहरना), आसन (वैठना), शयन (सोना), गमन-आगमन, तप करना, कायोत्सर्ग करना, ध्यान, मौन, जप तथा सयम की विभिन्न क्रियाओ के विषय मे पराक्रम करना आदि समस्त क्रियाएँ वहुत ही सावधानी से विवेक, वैराग्य

और त्याग के साथ पवित्र आध्यात्मिक भावनाओ से सनी हुई होती है। कायोत्सर्ग करते समय भी प्रमार्जन करके मेरुपर्वत के समान अडोल और शरीर से निरपेक्ष हो जाता है, शयन करते समय बिछौना, भूमि और अपने शरीर को भलीभाँति देखभाल कर, प्रमार्जन करके गुरु की आज्ञा लेकर शास्त्रोक्तकाल मे सोता है, सोया हुआ भी वह सतर्क रहता है। जरा-सी आहट पाते ही जागृत हो जाता है। आसन आदि पर बैठा हुआ भी अपने शरीर को सकोच कर बैठता है, स्वाध्याय, ध्यान आदि दैनिक क्रियाओ मे सावधान और तत्पर रहता है। इसके अतिरिक्त गुरुकुलवासी साधु ईर्या समिति आदि प्रविचाररूप पाँच समितियो मे तथा अप्रविचाररूप तीन गुप्तियो मे विवेकवान होता है। वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हिताहित, विनय और उत्तरदायित्व के भान से युक्त होता है। निष्कर्ष यह है कि गुरु के सान्निध्य मे रहने से उस साधक के जीवन का सर्वांगीण निर्माण हो जाता है। गुरुकृपा से वह समिति, गुप्ति आदि का स्वरूप जानकर तथा उनके अभ्यास से अनुभवी एव माहिर होकर दूसरो को भी उनके यथार्थस्वरूप, उनके पालन एव फल का उपदेश देता है।

मूल

सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहकह वा वितिगिच्छतिन्ने ॥६॥

सस्कृत छाया

शब्दान् श्रुत्वाऽथ भैरवान्, अनाश्रवस्तेषु परिव्रजेत् ।
निद्रा च भिक्षुर्न प्रमाद कुर्यात्, कथ कथ वा विचिकित्सातीर्णं ॥६॥

अन्वयार्थ

(सद्दाणि अदु भेरवाणि सोच्चा) मधुर या भयकर शब्दो को सुनकर (तेसु अणासवे परिव्वएज्जा) उनमे रागद्वेषरहित होकर साधु सयम मे प्रगति करे, (भिक्खू निद्द पमाय न कुज्जा) साधु निद्रा और प्रमाद न करे, (कहकह वा वितिगिच्छतिन्ने) किसी विषय मे शका होने पर गुरु की कृपा से उससे पार हो जाए।

भावार्थ

ईर्यासमिति आदि से युक्त साधु मधुर या भयकर शब्दो को सुनकर उनमे रागद्वेष न करे, वह अपने सयम मे पराक्रम करे, तथा निद्रारूप प्रमाद न करे, और किसी विषय मे शका होने पर गुरु की कृपा से उससे पार हो जाय।

व्याख्या

निर्ग्रन्थ मुनि पचेन्द्रियविषयक ग्रन्थ को तोडे

निर्ग्रन्थ मुनि के कानो से अच्छे या बुरे, कर्णप्रिय या कर्णकटु शब्द टकराए

बिना न रहेगे, किन्तु वह उनमे राग-द्वेष न करे। यहाँ 'अणासवे' शब्द है, उसका अर्थ है, वह उन पर न करे। वस्तु को भले या बुरेरूप से ग्रहण करना आस्रव है। साधु आस्रवरहित हो जाय। वह उनमे मध्यस्थवृत्ति धारण करके सयम मे पराक्रम करे। 'निद्रा' और 'प्रमाद' दो शब्द यह सूचित करते है कि साधु निद्रा-रूप प्रमाद न करे, साथ ही वह विकथा, कषाय, मद, विषय आदि अन्य प्रमादो से भी दूर रहे। किसी वस्तु या अपने द्वारा गृहीत महाव्रत-भार से पार होने की शका या कोई भ्राति हो तो गुरु सान्निध्य मे रहने वाला साधु गुरु से समाधान प्राप्त करके उक्त शका नदी से पार हो जाए। अथवा गुरुकुल मे रहने वाला साधक समस्त शकाओ से पार हो जाता है।

मूल पाठ

डहरेण वुड्ढेणऽणुसासए उ, राइणिएणावि समव्वएण ।
सम्म तय थिरतो णाभिगच्छे, णिज्जतए वावि अपारए से ॥७॥
विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे, डहरेण वुड्ढेण उ चोइए य ।
अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा, अगारिण व समयाणुसिसट्ठे ॥८॥
ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा, ण यावि किंची फरुस वदेज्जा ।
तहा करिस्सति पडिस्सुणेज्जा, सेय खु मेय ण पमाय कुज्जा ॥९॥
वणसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासति हियं पयाण ।
तेणावि मज्झ इणमेव सेयं, ज मे बुहा समणुसासयति ॥१०॥
अह तेण मूढेण अमूढगस्स, कायव्व पूया सविसेसजुत्ता ।
एओवम तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थ उवणेति सम्म ॥११॥

संस्कृत छाया

दहरेण वृद्धेनानुशासितस्तु, रत्नाधिकेनाऽपि समवयसा ।
सम्यक्तया स्थिरतो नाभिगच्छेन्नीयमानो वाप्यपारग स ॥७॥
व्युत्थितेन समयानुशिष्टो दहरेण वृद्धेन तु चोदितश्च ।
अत्युत्थितया घटदास्या वाऽगारिणा वा समयानुशिष्ट ॥८॥
न तेषु क्रुध्येन्न च प्रव्यथयेन्न चाऽपि किञ्चित् परुष वदेत् ।
तथा करिष्यामीति प्रतिश्रृणुयात् श्रेय खलु ममेद न प्रमाद कुर्यात् ॥९॥
वने मूढस्य यथाऽमूढा मार्गमनुशासति हित प्रजानाम् ।
तेनाऽपि मह्यमिदमेव श्रेय यन्मे वृद्धा सम्यगनुशासति ॥१०॥

अथ तेन मूढेनामूढस्य, कर्त्तव्या पूजा सविशेषयुक्ता ।
एतामुपमा तत्रोदाहृतवान् वीर, अनुगम्यार्थमपनयति सम्यक् ॥११॥

अन्वयार्थ

(डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिए) किसी प्रकार का प्रमाद होने पर अपने से छोटे या बडे साधु के द्वारा भूल सुधारने के लिए अनुशासित (शिक्षा दिया हुआ) (राइणिएणावि समव्वएण) अथवा अपने से प्रव्रज्या मे ज्येष्ठ अथवा समवयस्क साधक द्वारा भूल सुधारने के लिए प्रेरित किया हुआ जो पुरुष (सम्म तय थिरओ णाभिगच्छे) अच्छी तरह स्थिरता के साथ स्वीकार नही करता है। (णिज्जत एवावि अपारए से) वह ससार के प्रवाह मे बह जाता है, वह उसे पार करने मे समर्थ नही होता ॥७॥

(विउट्ठितेण समयाणुसिट्ठे) शास्त्र विरुद्ध कार्य करने वाले गृहस्थ तथा परतीर्थी आदि के द्वारा अर्हंद्दर्शन के आचार की शिक्षा दिया हुआ साधु (डहरेण वुड्ढेण उ चोइए य) तथा उम्र मे छोटे या बडे के द्वारा शुभ कार्य की ओर प्रेरित किया हुआ, (अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा) अत्यन्त नीचा (तुच्छ) काम करने वाली घटदासी के द्वारा भी धर्म-कार्य का उपदेश किया हुआ (अगारिण वा समयाणुसिट्ठे) अथवा किसी के द्वारा यह कहा हुआ कि "यह कार्य तो गृहस्थ के योग्य भी नही है, फिर साधुओ की तो बात ही क्या है?" साधु क्रोध न करे ॥८॥

(तेसु ण कुज्झे) पूर्वोक्त रूप से शिक्षा देने वालो पर साधु क्रोध न करे (ण य पव्वहेज्जा) तथा न उन्हे पीडित करे, (णयावि किंचि फरुस वएज्जा) एव उन्हे कटु-शब्द न कहे, (तहा करिस्सति पडिसुणेज्जा) किन्तु मैं आयदा ऐसा ही करूँगा साधु ऐसी प्रतिज्ञा करे (सेय खु मेय) और वह यह समझे कि इसी मे ही मेरा कल्याण है, (ण पमाय कुज्जा) इसलिए प्रमाद न करे ॥९॥

(जहा अमूढा) जैसे मार्ग जानने वाले पुरुष (वणसि मूढस्स) जगल मे मार्ग भूले हुए पुरुष को (पयाण हिय मग्गाणुसासति) प्रजाओ के लिए हितकर मार्ग की शिक्षा देते हैं, (तेणेव मज्झ एणमेव सेय) इसी तरह मेरे लिए भी यही कल्याणकारक उपदेश है, (ज मे बुद्धा समणुसासति) कि ये वृद्ध या तत्त्वज्ञ पुरुष मुझे शिक्षा देते है ॥१०॥

(अह तेण मूढेण) इसके पश्चात् उस मूढ पुरुष को (अमूढगस्स सविसेस । पूया कायव्व) अमूढ (विवेकी) पुरुष की विशेषरूप से पूजा करनी चाहिए। (तत्थ वीरे एओवम उदाहु) इस विषय मे वीरप्रभु ने यही उपमा बताई है। (अत्थ अणुगम्म सम्म उवणेति) पदार्थ को समझकर प्रेरक के उपकार को सम्यक्रूप से हृदय मे स्थापित कर लेता है ॥११॥

भावार्थ

प्रमादवश कदाचित् भूल होने पर अपने से छोटे या बडे अथवा दीक्षा

मे वडे या समवयस्क साधु के द्वारा भूल सुधारने के लिए प्रेरित (अनुशासित) किए जाने पर जो साधु उसे सम्यक् रूप से स्वीकार नही करता, बल्कि झुंझला उठता है। ऐसा साधक ससार के प्रवाह मे वह जाता है, वह ससार को पार करने मे समर्थ नही होता ॥७॥

शास्त्रविरुद्ध कार्य करने वाले गृहस्थ, परतीर्थी आदि के द्वारा अर्हंद्-दर्शन के आचार की शिक्षा दिए जाने पर, तथा अवस्था मे छोटे या वडे व्यक्ति के द्वारा शुभकार्य मे प्रेरित किए जाने पर अथवा अत्यन्त नीचा कर्म करने वाली घटदासी द्वारा भी धर्मकार्य की शिक्षा दिये जाने पर साधु को क्रोध नही करना चाहिए ॥८॥

पूर्वोक्त प्रकार से शिक्षा दिए जाने पर साधु शिक्षा देने वालो पर गुस्सा न करे, उन्हे किसी प्रकार से तग न करे, न उन्हे कठोर शब्द या अपशब्द कहे, अपितु उनके सामने ऐसी प्रतिज्ञा करे कि 'अब मैं ऐसा ही करूंगा।' वल्कि वह साधु यह समझे कि इसी मे मेरा कल्याण है, इसलिए प्रमाद न करे ॥९॥

जैसे जगल मे मार्ग भूला हुआ व्यक्ति मार्ग के जानकार द्वारा सर्वजन कल्याणकारक मार्ग की शिक्षा पाकर प्रसन्न हो उठता है, ठीक इसी तरह उत्तममार्ग की शिक्षा देने वालो पर साधु प्रसन्न रहे, और यह समझे कि ये बुद्ध या वृद्ध लोग मुझे जो उपदेश देते है, वही मेरे लिए कल्याणकारक है ॥१०॥

जैसे मार्गभ्रष्ट पुरुष मार्ग बताने वाले की विशेष पूजा (आदर-सत्कार) करता है, इसी तरह सन्मार्ग की शिक्षा देने वाले का सयमपालन मे भूल करने वाला साधु विशेषरूप से आदर-सत्कार करे और उसके उपदेश को हृदय मे धारण करे, उसका उपकार माने, यही उपदेश तीर्थंकरो और गणधरो ने दिया है ॥११॥

व्य

भूल बताने वाले का वचन शिरोधार्य करे

सातवी गाथा से लेकर ग्यारहवी गाथा तक शास्त्रकार ने यह बताया हे कि साधु सयमपालन मे प्रमादवश कोई गलती कर जाय और उसे कोई भी छोटा या बडा साधक या गृहस्थ या दासी तक सावधान करे तो उस समय वह उनके वचनो को ठुकराए नही, झुंझलाए नही, उन पर बरस न पडे, बल्कि शान्ति से, नम्रता से अपनी गलती स्वीकार कर उनका उपकार माने और भविष्य मे वैसी भूल न करने का उन्हे वचन दे। कितनी सुन्दर नीति है निर्ग्रन्थता की, पूर्वाग्रह—कदाग्रह की गाँठ से रहित होने की! वास्तव मे जो साधक सब घरबार, जमीन-जायदाद,

कुटुम्ब-परिवार आदि का त्याग करके गुरु के चरणो मे अपने आपको समर्पण कर देता है, तब उसे इतना अहकारशून्य हो जाना चाहिए कि गुरु या गुरुदेव की शिष्य-मडली मे से कोई साधु-साध्वी या गृहस्थ भाई-वहन, अथवा घटदासी तक उसकी भूल सुझाए तो उसे नम्रतापूर्वक उनकी वातो को सुनना चाहिए, शान्त हृदय से, ठडे दिमाग से उस पर सोचना चाहिए कि वास्तव मे अगर मेरी यह भूल है ता मुझे अपनी भूल सुझाने वाले या मुझे स्वहितकारक कोई उपदेश या सुझाव-परामर्श या सम्मति देने वाले का वहुत उपकार मानना चाहिए कि उसने विना किसी स्वार्थ या दुर्भाव से मुझे यह चेतावनी दी, गलत मार्ग पर जाते हुए मुझे सावधान किया। इसके विपरीत यह सोचकर उस व्यक्ति पर झल्ला नही उठना चाहिए, यो नही कहना या सोचना चाहिए कि "मैं उत्तम कुलोत्पन्न हूँ, उच्च चारित्रवान हूँ, मेरी इतनी प्रतिष्ठा है समाज मे, सब लोग मेरा आदर करते है और यह तीन कौडी का आदमी या मेरे से छोटा (उम्र और दीक्षा मे) साधु या यह मेरे से व्रत मे वहुत हीन गृहस्थ वहन या भाई मुझे इस प्रकार शिक्षा दे रहा है ? हटो यहाँ से, मैं तुम सवकी नही मानता, तुम मुझ से जलते हो, इसलिए मुझे इस प्रकार वदनाम करना चाहते हो। जाओ, जाओ, किसी और से कहना।" शास्त्रकार कहते है—"सम्म तय **थिरतो णाभिगच्छे णिज्जतए वावि अपारए से"** आशय यह हे कि गुरुकुलनिवासी होने पर ही साधु के जीवन का सर्वांगीण निर्माण हो सकता, क्योकि वहाँ जरा-सी गलती होने पर कोई न कोई व्यक्ति उसे सावधान करेगा ही। किन्तु वहाँ अगर प्रमादवश सयम-पालन मे कही भूल हो जाय और उम्र या दीक्षा मे अथवा शास्त्रज्ञान मे छोटा या वडा साधु उसे सावधान करे "आप जैसे योग्य, कुलीन और महान् साधु को ऐसी गलती नही करनी चाहिए,' अथवा समवयस्क सहपाठी साधु उसे कहते है—"भाई! आप जैसे विद्वान् और विवेकी साधु ऐसी भूल कैसे कर बैठे ? खैर, अव भी कोई वात नही, आप इस भूल को सुधार लीजिए।" इस प्रकार कहने वालो पर वह साधु क्रोध से भडक न उठे, बल्कि शान्तिपूर्वक सुने और सहन करे। परन्तु जो इस प्रकार नही करके, उलटे गलती से सावधान करने वालो पर वरस पडता है, उन्हे भला-बुरा (पूर्वोक्त प्रकार से) कहने लगता है, अपने आपको सभालकर **'मिच्छामि दुक्कड'** नही करता, या अपनी भूल स्वीकार नही करता, वह साधु अपनी आत्मशुद्धि के सबसे उत्तम अवसर को खो देता है, अपने जीवन-निर्माण के सुनहरे मौके को हाथ से गँवा देता है, अपने दिल-दिमाग के दरवाजे वन्द करके वह अपने सुधार का मार्ग वन्द कर देता है, भविष्य मे किसी प्रकार की छोटी-या वडी गलती होने पर उन हितैपियो द्वारा स्वय को सावधान किये जाने, प्रेरित किये जाने का मार्ग ही वन्द कर देता है, चेतावनी देने या भूल वताने वालो को अनुत्साहित करके। यह कितनी वडी हानि होगी, उसकी आत्मा के लिए। और फिर वह अपने अहकार,

पूर्वाग्रह और कदाग्रहवश जब भूल पर भूल करता जाएगा, और कोई उनकी भूल सुधारने या सुझाकर दुरुस्त कराने वाला नही मिलेगा तो भूलो का बहुत बडा जत्था इकट्ठा हो जाएगा। उसे भूलो का जत्था नही, अशुभकर्मो का जत्था समझना चाहिए। ऐसा व्यक्ति उन अशुभकर्मो के फलस्वरूप ससार के महाप्रवाह मे बहता जाता है। वह आया था मुनिधर्म मे दीक्षित होकर ससार-सागर से पार उतरने के लिए, इसके बदले वह ससारसागर मे गोते खाता फिरता है। कितनी बडी हानि है यह! आगे शास्त्रकार उसके लिए कहते है कि उसे यह चाहिए था कि यह तो घर के (सहधर्मी) साधु और गृहस्थ ही मुझे सावधान कर रहे है, अगर परधर्मी, अन्यतीर्थिक साधु या गृहस्थ, चाहे वह उम्र मे उससे छोटा हो या बडा हो, पद मे उससे कितना ही नीचा हो, व्रतो मे न्यून हो, यहाँ तक कि दासी के यहाँ काम करने वाली घटदासी भी क्यो न हो, अगर वह भी किसी शुभकार्य की ओर या धर्मकार्य की ओर प्रेरित करती है या कोई भी व्यक्ति किसी भी जाति, कुल, धर्म, सम्प्रदाय, देश और वेष का व्यक्ति उसे अपने आगमो का हवाला देकर उत्कृष्ट साधु धर्म की शिक्षा देता है, कोई सुझाव, परामर्श या प्रेरणा देता है, और यहाँ तक कह देता है कि "जो कार्य आप कर रहे हैं, यह कार्य तो गृहस्थ के करने योग्य भी नही है, अथवा आप इतने उतावले और असभ्य वचन बोल रहे है, या जल्दी-जल्दी चल रहे हैं, यह शास्त्रविहित नही है, अथवा आप जो हीन आचरण कर रहे है, वह आपके आगमो से विहित नही है, क्या आप इतना भी नही समझते कि यह आचार आपके लिए उचित नही है, ऐसा तो एक दासी भी नही कर सकती।" इतने अपमानपूर्वक और धिक्कारपूर्वक भी साधु को यदि कोई अच्छी बात सुझाता है, सुन्दर हितकारक उपदेश, या शिक्षा देता है तो साधु मन मे जरा भी बुरा न माने, बल्कि अपने मूलगुणो या उत्तरगुणो मे किसी प्रकार की हुई भूल को सुझाने के लिए उसका उपकार माने, गुस्सा तो बिलकुल न करे। और न कभी उन भूल सुझाने वालो के वचन पर आगबबूला होकर उनसे बदला लेने की कोशिश करे, उन्हे किसी प्रकार से व्यथित-पीडित न करे, उन पर मारण-मोहन-उच्चाटन आदि विद्याओ का प्रयोग करके उनका अहित न करे, न उन्हे कठोर शब्द या अपशब्द कहे। कदाचित् कोई व्यक्ति उक्त साधु के लिए कोई गलत बात भी कहता है तो वह यह सोचे कि गलत कहने वाले के प्रति क्रोध करना तो स्वय गलती करना है और उसके बराबर गलत होना है। उस समय साधु यह विचार करे—

> आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मति कार्या ।
> यदि सत्य क कोप ? स्यादनृत किं नु कोपेन ?

अर्थात्—किसी के द्वारा की जाती हुई अपनी निन्दा या बदनामी को सुनकर बुद्धिमान् पुरुष सत्य तत्त्व के अन्वेषण मे अपनी बुद्धि लगाए और यह समझे कि बात

सच्ची है तो क्रोध क्यो करना चाहिए ? यदि बात झूठी है तो भी क्रोध की क्या आवश्यकता है ? क्रोध भी झूठ हे एक प्रकार का। आत्मा का यह गुण नही है, इसलिए आत्मा की दृष्टि से यह असत्य हे। इस प्रकार चिन्तन के प्रकाश मे साधु दूसरे को भला-बुरा न कहकर या सतप्त न करके, स्वय सोचे-समझे—'यह मेरे ही असत् अनुष्ठान का फल है, जिससे यह मुझे ऐसी प्रेरणा कर रहा है। वल्कि साधु अपनी गलती को ढूंढकर चेतावनी देने वालो के प्रति कृतज्ञतापूर्वक मध्यस्थवृत्ति से यह सकल्प करे कि 'अब से मैं ऐसा ही करूंगा, या अव ऐसी गलती न होगी।' तथा अपने पूर्वाचरण के लिए 'मिच्छामि दुक्कड' कहे। पूर्वोक्त शिक्षा या प्रेरणा के सम्बन्ध मे साधु यह सोचे कि—"इन्होने जो मुझे सुझाव, परामर्श, चेतावनी, प्रेरणा या शिक्षा दी है, इसमे मेरा ही तो कल्याण है, क्योकि इन्ही लोगो की शिक्षा, प्रेरणा आदि की बदौलत अब कभी मुझसे ऐसा अनुचित कार्य न होगा।" इस प्रकार समझकर साधु कभी असत् आचरण न करे।

इसी बात को शास्त्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाते है—एक घोर जगल है। उसमे किसी यात्री को दिशाभ्रम हो गया, इस कारण वह रास्ते से भटक गया है, सही मार्ग का उसे पता नही पड रहा हे, वह घबरा रहा है, भूख, प्यास, थकान आदि के कारण हैरान हो रहा है, ऐसी स्थिति मे यदि कोई मार्ग का जानकार जो कि सही और गलत रास्तो को भलीभाँति जानता है, आकर कुमार्ग से छुडाकर जनता के लिए हितकारक तथा निर्विघ्न इष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला मार्ग बता देता है तो वह दिग्मूढ तथा मार्गभ्रष्ट यात्री उससे यथार्थमार्ग का ज्ञान पाकर अपना कल्याण मानता है, उस पर प्रसन्न होता है, इसी प्रकार भ्रान्त होकर असन्मार्ग मे प्रवृत्त साधु को भी कोई उस असत्मार्ग से छुडाने के लिए सन्मार्ग का उपदेश, सुझाव या परामर्श देता है तो उस पर प्रसन्न होना चाहिए और यह समझना चाहिए, कि इसी मे मेरा कल्याण है। इस हितैषी ने मुझ पर इतनी कृपा की हे।

साथ ही उनके लिए यह सोचना चाहिए कि जैसे पिता अपने पुत्र को अच्छे मार्ग की शिक्षा देता है, इसी तरह ये वृद्ध लोग या प्रबुद्ध लोग मुझे सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा देते हैं, इसमे मेरी हानि क्या है, वल्कि मेरा अपना कल्याण ही है।

भगवान् महावीर और उनके अनुगामी गणधरो, आचार्यो आदि ने एक उपमा देकर इसे समझाया है कि जैसे मार्गभ्रष्ट पुरुष सही-सलामत पहुँचाने वाले, सन्मार्ग को बताने वाले किरात आदि का भी परम उपकार मानकर विशेषरूप से उसका आदर सत्कार करता है, वैसे ही सयमपालन मे भूल करने वाले मार्गभ्रष्ट साधु को सन्मार्ग की प्रेरणा देने वालो की सद्भावना को समझकर, उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, तथा उनका उपकार मानकर उनकी हितशिक्षा को शिरोधार्य करना चाहिए, उनका आदर करना चाहिए। इतना ही नही, उनके उपदेशात्मक या हितशिक्षात्मक

वचनो को हृदय मे धारण करना चाहिए और यह समझना चाहिए कि "इस महानुभाव ने गलत रास्ते पर जाते हुए मुझे रोककर, सही मार्ग बताया और जन्म-जरा-मरण आदि अनेक उपद्रवो से भरे हुए मिथ्यात्वरूपी गहन वन से पार किया। यह कितना महान् उपकारी पुरुष है ? इस परम उपकारी का अभ्युत्थान, विनय, आदर-सत्कार, प्रतिष्ठा, प्रशसा आदि द्वारा जितनी पूजा करू, उतनी ही थोडी है।" वास्तव मे सयमपालन मे गलती करने वाले साधु को उसकी गलती सुझाकर जो सन्मार्ग की शिक्षा देता है, वह उसका परमहितैषी बन्धु है।

मूल

णेया जहा अधकारसि राओ, मग्ग ण जाणाइ अपस्समाणे ।
से सूरियस्स अब्भुग्गमेण, मग्ग वियाणाइ पगासियसि ॥१२॥
एव तु सेहेवि अपुट्ठधम्मे, धम्म न जाणाइ अबुज्झमाणे ।
से कोविए जिणवयणेण पच्छा, सूरोदए पासइ चक्खुणेव ॥१३॥

स त

नेता यथाऽन्धकारायां रात्रौ मार्ग न जानात्यपश्यन् ।
स सूर्यस्याभ्युद्गमेन, मार्गं विजानाति प्रकाशिते ॥१२॥
एव तु शैक्षोऽप्यपुष्टधर्मा, धर्म न जानात्यबुध्यमान ।
स कोविदो जिनवचनेन पश्चात् सूर्योदये पश्यति चक्षुषेव ॥१३॥

अन्वयार्थ

(जहा णेया अधकारसि राओ) जैसे मार्गदर्शक पुरुष अधेरी रात मे (अपस्समाणे मग्ग न जाणाइ) नही देखता हुआ मार्ग को जान नही पाता, (से सूरियस्स अब्भुग्गमेण पगासियसि) परन्तु वही सूर्योदय होने पर चारो ओर प्रकाश फैलते ही (मग्ग वियाणाई) मार्ग को स्पष्ट जान लेता है ॥१२॥

(एव तु अपुट्ठधम्मे सेहेवि) इसी प्रकार धर्मतत्त्व मे अनिपुण—अपरिपक्व शिष्य भी (अबुज्झमाणे धम्म न इ) सूत्र और अर्थ को नही समझता हुआ धर्म को भी नही जानता, (से जिणवयणेण कोविए) परन्तु वही अबोध शिष्य एक दिन जिनवचनो के अध्ययन—अनुशीलन से विद्वान् हो जाता है, (पच्छा सूरोदये पासति णेव) फिर तो वह धर्म को इस प्रकार स्पष्ट जान लेता है, जैसे सूर्योदय होने पर आँख के द्वारा व्यक्ति घट-पट आदि पदार्थों को स्पष्ट जान-देख लेता है ॥१३॥

भावार्थ

जैसे मार्गदर्शक पुरुष अधकारपूर्ण रात्रि मे न दिखाई देने के कारण मार्ग को नही जान पाता है, परन्तु वही व्यक्ति सूर्योदय होने के पश्चात्

प्रकाश फैलते ही मार्ग को स्पष्टरूप से जान लेता है। इसी तरह सूत्र और अर्थ को न जानने वाला, धर्म मे अनिपुण—अपरिपक्व साधक धर्म के स्वरूप को नही जान पाता, परन्तु जिन-वचनो के अध्ययन-अनुशीलन से वह धर्म-तत्त्व का विद्वान्—विशेषज्ञ बनकर इस प्रकार धर्म को स्पष्ट जान लेता है, जिस प्रकार सूर्योदय होने पर व्यक्ति आँख के द्वारा घट-पट आदि पदार्थों को जान-देख लेता है ॥१२–१३॥

व्याख्या

धर्मतत्त्व मे कब अनिपुण, कब निपुण ?

१२वी और १३वी गाथाओ मे शास्त्रकार ने धर्मतत्त्व मे अनिपुण, नवदीक्षित, अपरिपक्व साधक कब और कैसे निपुण हो जाता है ? इसे सूर्योदय का दृष्टान्त देकर समझाया है।

एक घोर जगल है, एक व्यक्ति उसका चप्पाचप्पा अच्छी तरह जानता है, उससे जगल का कोई भी कोना अपरिचित नही है, वह कई बार इस जगल मे भटके हुए लोगो को रास्ता [illegible] है। किन्तु काले-कजरारे जल से भरे बादलो से ढकी हुई घोर अधेरी रात्रि छाई हुई हो, जिसमे हाथ को भी हाथ न दिखता हो, क्या ऐसी घोर अधेरी रात्रि मे भी वह वनमार्गो से सुपरिचित व्यक्ति मार्ग जान-देख सकता है ? कदापि नही। किन्तु जब पौ फट जाती है, काले अधेरे को चीरता हुआ सूर्य उदय हो जाता है, दिशाएँ स्पष्ट प्रकाशित हो जाती हैं और पत्थर, टीले, पहाड, गुफा एव उबड-खाबड स्थान साफ-साफ नजर आने लगते हैं, तब उसी पुरुष को अभीष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है, क्योकि उस समय उसके नेत्रो की शक्ति प्रकट हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जो नौसिखिया, अपरिपक्व साधक अभी सूत्रो के अर्थों और वस्तुस्वरूप को ठीक-ठीक जान नही पाया है, वह धर्मतत्त्व मे अनिपुण है, अपुष्ट है, अपरिपक्व है, कच्चा है। किन्तु वही एक दिन का अपरिपक्व, नौसिखिया, अगीतार्थ, सूत्रार्थ से अबोध साधक (शिष्य) जब गुरु-चरणो मे रहकर सर्वज्ञप्रणीत आगमो का गहन अध्ययन कर लेता है, तो [illegible] आत्मा मे सर्वज्ञ का ज्ञान प्र[illegible]न हो जाता है, और वह धर्म मे निपुण होकर जीवादि पदार्थों को इसी प्रकार स्पष्ट जान देख लेता है, जिस प्रकार सूर्योदय होने पर नेत्रों के द्वारा वह घट-पटादि पदार्थों को स्पष्ट जानता देखता है। तात्पर्य यह है कि जैसे इन्द्रिय और पदार्थों के सयोग से घट-पटादि पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं, इसी तरह सर्वज्ञप्रणीत आगमो के द्वारा भी सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त, और दूरवर्ती स्वर्ग, मोक्ष, देव, पुण्य-पाप आदि का फल इत्यादि पदार्थ साफ-साफ और निश्चित प्रतीत होते हैं। शास्त्रकार का आशय, इस प्रकार दृष्टान्त देकर समझाने के पीछे यही प्रतीत होता है कि जो साधक बिलकुल अपरिपक्व, मन्दबुद्धि, बिलकुल अबोध और

बुद्धू होता है, वह गुरुकुल मे रहने से गुरुकृपा से शास्त्रज्ञान मे पारगत होकर एक दिन धर्मादि तत्त्वो का स्पष्ट ज्ञाता और विशेषज्ञ बन जाता है। उसके मन की शका की सब गाँठे खुल जाती है।

मूल

उड्ढ अहेय तिरिय दिसासु, तसा य जे थावरा जे य पाणा।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पओस अविकम्पमाणे ॥१४॥

स छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणा ।
सदा यतस्तेषु परिव्रजेत्, मनाक् प्रद्वेषमविकम्पमान ॥१४॥

अन्वयार्थ

(उड्ढ अहेय तिरिय दिसासु) ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओ मे (तसा य जे थावरा जे य पाणा) जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, (तेसु सया जए परिव्वएज्जा) उनमे सदा यत्नपूर्वक (सावधानीपूर्वक) रहता हुआ सयम मे प्रगति करे। (मणप्प-ओस अविकपमाणे) तथा उन पर जरा-सा भी द्वेप न करता हुआ सयम मे निश्चल रहे।

र्थ

ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और लिरछी दि ो मे जो भी त्रस या स्थावर जीव जहाँ है, उनकी हिसा जिस प्रकार से न हो, उस प्रकार का यत्न करता हुआ साधु सयम मे पराक्रम करे, तथा उन प्राणियो पर लेशमात्र भी द्वेष न रखता हुआ अपने सयम मे मजबूत रहे।

व्य

निर्ग्रन्थ साधु समस्त प्राणियो की हिंसा आदि ग्रन्थो से मुक्त रहे

इस गाथा मे शास्त्रकार गुरुकुलनिवास के कारण जिन-वचनज्ञाता एव मूल-उत्तर-गुणो का विशेषज्ञ हो जाने वाले साधु को प्राणातिपात आदि समस्त मूलगुण बाधक ग्रन्थो से मुक्त रहने की प्रेरणा देते हैं।

सर्वप्रथम शास्त्रकार का सकेत है— दिशा-विदिशाओ मे रहने वाले जीवो की हिंसा से निवृत्ति का। ऐसा कहकर क्षेत्र प्राणातिपात से विरत होने की प्रेरणा दी है। फिर त्रस और स्थावर (जिनके विषय मे पहले परिचय दिया जा चुका है) प्राणियो का प्राणातिपात निषेध करके द्रव्य-प्राणातिपात निवृत्ति सूचित की है। ये सब जीव प्राणी इसलिए कहलाते है कि ये दश प्राणो को धारण करते हैं। इन समस्त प्राणियो की सदा सर्वदा (सब काल मे) यतनापूर्वक रक्षा करने का उपदेश देकर शास्त्रकार ने काल-प्राणातिपात से विरति द्योतित की है। इसके पश्चात् भाव-

प्राणातिघात से विरत होने की प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं—त्रस या स्थावर प्राणी उपकार करें या अपकार, साधु को उन पर थोडा-सा भी मन मे द्वेप नही रखना चाहिए, फिर उन्हे दुर्वचन कहने या डडे आदि से उन पर प्रहार करने की तो बात ही दूर रही। कदाचित् वे अपना कोई अनिष्ट करें या हानि पहुँचाएँ तो भी उनके प्रति अमगल की भावना मन मे नही होनी चाहिए।

साधु को अपने प्रथम महाव्रत का ध्यान रखते हुए तथा प्राणातिपात को महान ग्रन्थ और पापकर्मबन्ध का महाकारण र उससे प्रत्येक क्षेत्र मे, प्रत्येक काल मे, प्रत्येक जीव के प्रति, प्रत्येक द्वेपादिभाव से बचने का प्रयत्न करना चाहिए और तीन करण तीन योग मे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप प्राणातिपात से दूर रहकर अपने सयम पर अविचल रहना चाहिए। जैसे प्राणातिपात विरति का उपदेश है, वैसे अन्य असत्य आदि ग्रन्थो से भी विरति का उपदेश भी यहाँ समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधु को ग्रहण-शिक्षा तथा आसेवना-शिक्षा से युक्त होकर समस्त महाव्रतो और उत्तरगुणो का भली-भाँति पालन करना चाहिए।

मूल

कालेण पुच्छे समियं पयासु, आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं ।
त सोयकारी पुढो पवेसे, सखा इम केवलिय समाहि ॥१५॥
अस्सि सुठिच्चा तिविहेण तायी, एएसु या संति निरोहमाहु ।
ते एवमक्खति तिलोगदसी ण भुज्ज एयतु पमायसग ॥१६॥
निसम्म से भिक्खू समीहियट्ठ, पडिभाणव होइ विसारए य ।
आयाणअट्ठी वोदाणमोणं, उवेच्च सुद्धेण उवेइ मोक्ख ॥१७॥

सस्कृत छाया

कालेन पृच्छेत् समित प्रजासु, आचक्षमाणो द्रव्यस्य वित्तम् ।
तच्छ्रोत्रकारी पृथक प्रवेशयेत्, सख्यायेम कैवलिक समाधिम् ॥१५॥
अस्मिन् सुस्थाय त्रिविधेन त्रायी, एतेषु च शान्ति निरोधमाहु ।
त एवमाचक्षते त्रिलोकदर्शिन न भूयो यन्तु प्रमादसगम् ॥१६॥
निशम्य स भिक्षु समीहितार्थं प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च ।
आदानार्थी व्यवदानमौनमुपेत्य शुद्धेनोपैति मोक्षम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(कालेण पयासु समिय पुच्छे) साधु अवसर देखकर प्राणियो के विषय मे ...नसम्पन्न आचार्य मे प्रश्न पूछे (दवियस्स वित्त आइक्खमाणो) तथा मोक्षगमन ... (द्रव्य) सर्वज्ञ वीतराग के आगम (ज्ञान-धन) को बताने वाले आचार्य की

पूजा-प्रतिष्ठा करे। (त सोयकारी पुढो पवेसे) तथा आचार्य के उपदेश को, आचार्य की आज्ञा का पालन करने वाला शिष्य अपने अन्त करण मे प्रविष्ट (स्थापित) करे। (इम केवलिय समाहि सखा) एव इस (आगे कहे जाने वाले) केवली-प्रज्ञप्त सम्यक्ज्ञानादिरूप समाधि को भली-भाँति जानकर चुपचाप हृदय मे स्थापित करे ॥१५॥

(अंसि सुठिच्चा तिविहेण तायी) गुरु ने जो उपदेश दिया है, उसमे सुस्थित होकर मन-वचन-काया से समस्त प्राणियो की रक्षा करे। (एएसु या संति निरोहमाहु) समिति और गुप्ति के पालन से ही शान्ति और कर्मों का निरोध (आस्रव निरोधरूप सवर सर्वज्ञो ने बताया है। (तिलोगदसी ते एवमक्खति) वे त्रिलोकदर्शी पुरुप यह कहते ह कि (ण भुज्जमेयतु पमाय सग) साधु को फिर कभी प्रमाद का सग नही करना चाहिए ॥१६॥

(से भिक्खू) गुरुकुल मे निवास करने वाला वह साधु (समीहियट्ठ निसम्म) साधु के आचार को सुनकर या मोक्षरूपी इष्ट अर्थ को जानकर (पडिभाणव विसारए होइ) प्रतिभावान् और अपने सिद्धान्त का वक्ता या निष्णात हो जाता है। (आयाण अट्ठी) मोक्ष या सम्यग्ज्ञान आदि से प्रयोजन रखने वाला वह साधु (वोदाण मोण उवेच्च) तप और सयम को प्राप्त करके (सुद्धेण मोक्ख उवेति) शुद्ध आहार या शुद्ध आचरण के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१७॥

र्थ

गुरुकुल निवासी साधु प्रश्न करने योग्य अवसर देखकर सम्यग्ज्ञान-सम्पन्न आचार्य से प्राणियो के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछे तथा सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के आगम या सयमाचरण का उपदेश देने वाले आचार्य का सम्मान करे। उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता हुआ शिष्य आचार्य के द्वारा कहे हुए केवली-प्रज्ञप्त सम्यग्ज्ञानादिरूप समाधि को जानकर हृदय मे धारण करे ॥१५॥

गुरु के उपदेश मे सुस्थित हुआ साधु मन-वचन-काया से प्राणियो की रक्षा करे। इस प्रकार समिति और गुप्ति के पालन से ही सर्वज्ञो ने शान्ति-लाभ और कर्मों का निरोध (सवर) होना बताया है। वे त्रिलोकदर्शी पुरुष कहते हैं कि साधु फिर कभी प्रमाद का सग न करे ॥१६॥

गुरुकुल मे निवास करने वाला साधु उत्तम साधु के आचार को सुनकर और इष्ट अर्थ— मोक्ष को जानकर बुद्धिमान और अपने सिद्धान्त का वक्ता हो जाता है। तथा मोक्ष या सम्यग्ज्ञान आदि से प्रयोजन रखता हुआ वह तप और सयम को प्राप्त करके शुद्ध आचार या शुद्ध आहार के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है ॥१७॥

व्याख्या

गुरुकुलवासी निर्ग्रन्थ द्वारा ली जाने वाली शिक्षा की विधि

१५वी गाथा से लेकर १७वी गाथा तक गुरुकुल मे निवास करने वाले साधु द्वारा ली जाने वाली शिक्षा की विधि का सक्षिप्त निरूपण किया गया है। गुरुकुल मे रहने वाले साधु को विचार और आचार दोनो तरह का प्रशिक्षण लेना अनिवार्य है। इसे ही शास्त्रीय परिभाषा मे ग्रहण-शिक्षा और आसेवना-शिक्षा कहते है। वह शास्त्रीय अध्ययन भी करता है, वाचना लेता है, आचार-विचार के सम्बन्ध मे शका-समाधान करता है, पठित पाठ को बार-बार दोहराता है, उस पर चिन्तन-मनन और आत्मिक दृष्टि से अनुप्रेक्षण भी करता है, और दूसरो को उस सम्बन्ध मे उपदेश भी देता है। यह सब ग्रहणशिक्षा के अन्तर्गत है। और आसेवना-शिक्षा मे ग्रहण की हुई विचार-आचार सम्बन्धी बातो को जीवन मे उतारता है, पारिपार्श्विक वातावरण से प्रभावित एव उत्साहित होकर तप-सयम मे वृद्धि करता है, शरीर, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि, हृदय इन सब पर नियन्त्रण करने की, कषायो और विषयो पर विजय पाने की साधना गुरु के निर्देशन मे करता है। ध्यान, मौन, यौगिक साधना, तप, जप, स्वाध्याय आदि गुरु के निर्देशन मे करता है, पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, नियमोपनियम आदि मूल-उत्तरगुणो की साधना भी सावधानी से करता है, कही भूल होने पर प्रतिक्रमण, आलोचना, आत्मनिन्दा, गर्हा और प्रायश्चित्त द्वारा आत्म-शुद्धि भी करता है। यह सारा कोर्स, जिसमे कुछ थ्योरिटिकल और कुछ प्रेक्टिकल दोनो ही प्रकार का होता है, गुरुसान्निध्य मे चलता है।

इसी के सन्दर्भ मे शास्त्रकार कहते हैं—गुरुकुलवासी शिष्य प्रश्न करने योग्य काल तथा गुरुदेव की मन स्थिति, या अन्य परिस्थिति देखकर सम्यग्ज्ञानादि से परिपूर्ण गुरु से प्रजाओ— जन्मधारी १४ प्रकार के जीवो के सम्बन्ध मे सविनय समक्ति पूछे। पूछने के बाद योग्य समाधान पाकर या मोक्षगामी वीतराग सर्वज्ञो के द्वारा कथित आगम या ज्ञान-दर्शन-चारित्र, या मोक्ष अथवा सयमरूपी धन की शिक्षा प्राप्तकर आचार्यश्री का आदर-सत्कार एव बहुमान करे। कैसे करे? इसके लिए कहते हैं—उनकी बातो को कानो से सावधानीपूर्वक श्रवण करे, उनके द्वारा बताये गए आचार-विचार सम्बन्धी उपदेश को मन-मस्तिष्क मे स्थापित करे, हृदय मे धारण करे, और उसे क्रियान्वित करने का भरसक प्रदान करे। और केवली तीर्थंकर भगवन्तो द्वारा कथित मोक्षमार्गरूप या धर्मध्यानरूप उत्तम समाधि के उपदेश को सुनकर हृदय मे पवित्रता एव भक्ति के साथ स्थापित करके तदनुसार आचरण करने का प्रयत्न करे।

गुरुदेव से उसने जो समाधिरूप मोक्षमार्ग सुना है, उसमे भलीभाँति सुस्थित होकर उसे जीवन मे रमा ले तथा मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदितरूप से उस समाधिमार्ग द्वारा आत्मा की सुरक्षा करे अथवा सदुपदेश देकर प्राणिमात्र की

रक्षा करे। इम प्रकार जो माधक अपनी तथा दूमरे की रक्षा करना है, समिति-गुप्ति आदिरूप समाधिमाग मे अच्छी तरह स्थित हो जाता हे, उसके दिलदिमाग मे या तन-मन-नयन मे समाधिमार्ग अच्छी तरह रम जाता ह, तव उसे शान्ति प्राप्त होती है, उमके तमाम द्वन्द्व छूट जाते हैं, सम्पूर्ण दु खो का क्षय हो जाता है। इस प्रकार की अनुभूतियुक्त वातें वे ही कह सकते है, जिनका इतना उत्कृष्ट अनुभव हो गया हो। इसके मम्वन्ध मे शास्त्रकार कहते हैं—'ते एवमखति तिलोगदसी।' अर्थात् ऊँची, नीची, तिरछी सभी दिशाओ मे स्थित पदार्थों को जो हस्तामलकवत् जानते-देखते है, वे त्रिलोकदर्शी मर्वज्ञ पुरुप पूर्वोक्त परमानन्द की अनुभूति साक्षी देते हैं। इसलिए शास्त्रकार शैक्ष-साधक से कहते है— अव तक जो कुछ हुआ सो हुआ, अव भविष्य मे कभी प्रमाद का सग न करना, अन्यथा यह सुनहरा अवसर हाथ से चला जाएगा।

आगे शास्त्रकार कहते है—गुरुकुलवासी साधक मोक्षगमनयोग्य साधु के आचार-विचार को सुनकर तथा अपने इष्ट-अर्थ—मोक्ष पुरुपार्थ को हृदयगम करके हेय-ज्ञेय-उपादेय को भली-भाँति जान करके गुरुकुल मे रहने के कारण प्रतिभावान हो जाता है तथा वह साधु-सिद्धान्त एव मोक्षमार्ग का इतना उच्चकोटि का ज्ञाता एव वक्ता हो जाता है कि किमी भी पदार्थ के वस्तुस्वरूप को वताने मे वह हिचकता नही। वह गुरुकुल मे मोक्षार्थी पुरुप के द्वारा ग्रहण करने (आदान) योग्य सम्यग्ज्ञानादि से ही वास्ता रखता है, इसलिए वह वारह प्रकार के तप तथा आस्रवनिरोधरूप सवर-सयम की ग्रहण एव आसेवना शिक्षा (प्रशिक्षण) पाकर इन दोनो मे पर्याप्त अभ्यस्त हो जाता है। साथ ही वह उद्‌गमादि दोपो से रहित शुद्ध आहार या शुद्ध आचार से अपना जीवनयापन करता हुआ साधु समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। कही-कही 'न उवेइ मार पाठ मिलता है, जिसका अर्थ है—ऐसा शुद्ध मार्गचारी साधु वार-वार मार-मृत्यु (जन्म-मरण) अथवा जिसमे प्राणिवर्ग स्वकर्मवश वार-वार मरते हैं, वह ससार प्राप्त नही करता। सम्यक्त्व को न त्यागने वाला ७-८ भव तक ही जन्म-मरण प्राप्त करता है, उसके वाद नही।

मूल

सखाइ धम्म च वियागरंति, बुद्धा हु ते अतकरा भवति ।
ते पारगा दोण्ह वि मोयणाए, ससोधिय पण्हमुदाहरति ॥१८॥
णो छायए णोऽवि य लूसएज्जा, माण ण सेवेज्ज पगासण च ।
ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा, ण याऽऽसियावाय वियागरेज्जा ॥१९॥

भूयाभिसकाइ दुगुछमाणे, ण णिव्वहे मतपदेण गोय ।
ण किंचिमिच्छे मणुए पयासु, असाहुधम्माणि ण सवएज्जा ॥२०॥
हास पि णो सधइ पावधम्मे, ओए तहीय फरुस वियाणे ।
णो तुच्छए णो य विकत्थइज्जा, अणाइले या अकसाइ भिक्खू ॥२१॥
सकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू, विभज्जवाय च वियागरेज्जा ।
भासादुय धम्मसमुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपन्ने ॥२२॥
अणुगच्छमाणे वितह विजाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेण ।
न कत्थइ भास विहिसइज्जा, निरुद्धग वावि न दीहइज्जा ॥२३॥
समालवेज्जा पडिपुन्नभासी, निसामिया समिया अट्ठदसी ।
आणाइ सुद्ध वयण भिउजे, अभिसधए पावविवेग भिक्खू ॥२४॥
अहाबुइयाइ सुसिक्खएज्जा, जइज्जया णाइवेल वएज्जा ।
से दिट्ठिम दिट्ठि ण लूसएज्जा, से जाणइ भासिउ त समाहि ॥२५॥
अलूसए णो पच्छन्नभासी, णो सुत्तमत्थ च करेज्ज ताई ।
सत्थारभत्ती अणुवीइ वाय, सुय च सम्म पडिवाययति ॥२६॥
से सुद्धसुत्ते उवहाणव च धम्म च जे विंदइ तत्थ तत्थ ।
आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते, स अरिहइ भासिउ त समाहि ॥२७॥

त्ति बेमि ॥

स छाया

सख्यया धर्म व्यागृणन्ति, बुद्धा हि तेऽन्तकरा भवन्ति ।
ते पारगा द्वयोरपि मोचनाय, सशोधित प्रश्नमुदाहरन्ति ॥१८॥
नो छादयेन्नाऽपि च लूपयेन् मान न सेवेत प्रकाशन च ।
न चाऽपि प्राज्ञ परिहास कुर्यान्न चाऽप्याशीर्वाद व्यागृणीयात् ॥१९॥
भूताभिशकया जुगुप्समानो, न निर्वहेन्मन्त्रपदेन गोत्रम् ।
न किञ्चिदिच्छेन्मनुज प्रजासु असाधु धर्मान्न सवदेत् ॥२०॥
हासमपि न सधयेत् पापधर्मान्, ओजस्तथ्य परुष विजानीयात् ।
न तुच्छो न च विकत्थयेदनाकुलो, वाऽकपायी भिक्षु ॥२१॥
शकेत चाऽशकितभावो भिक्षु, विभज्यवाद च व्यागृणीयात् ।
भाषाद्वय धर्मसमुत्थितैर्व्यागृणीयात् समतया सुप्रज्ञ ॥२२॥

अनुगच्छन् वितथ विजानीयात्, तथा तथा साधुरकर्कशेन ।
न कथयेद् भाषा विहिंस्यान् निरुद्धक वाऽपि न दीर्घयेत् ॥२३॥
समालपेत् प्रतिपूर्णभाषी, निशम्य सम्यगर्थदर्शी ।
आज्ञाशुद्ध वचनमभियुजीत, अभिसन्धयेत् पापविवेक भिक्षु ॥२४॥
यथोक्तानि सुशिक्षेत, यतेत नातिवेल वदेत् ।
स दृष्टिमान् दृष्टि न लूपयेत् स जानाति भाषितु त समाधिम् ॥२५॥
अलूपको नो प्रच्छन्नभाषी, नो सूत्रमर्थ च कुर्यात् त्रायी ।
शास्तृभक्त्याऽनुविचिन्त्यवाद, श्रुत च सम्यक् प्रतिपादयेत् ॥२६॥
स शुद्धसूत्र उपधानवाश्च, धर्मञ्च यो विन्दति तत्र तत्र ।
आदेयवाक्य कुशलो व्यक्त सोऽर्हति भाषितु त समाधिम् ॥२७॥
इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(धम्म च सवाइ वियागरंति) गुरुकुलनिवासी साधु सद्बुद्धि से स्वय श्रुत-चारित्ररूप धर्म को जानकर दूसरे को उपदेश करते है (ते बुद्धा हु अतकरा भवति) वे तीनो काल के ज्ञाता होकर समस्त सचित कर्मो का अन्त करने वाले होते हैं। (दोण्ह वि मोयणाए ते पारगा) वे यथार्थ धर्मोपदेष्टा साधक अपने और दूसरो को कर्मपाश से छुडाकर ससारसमुद्र के पारगामी हो जाते है। (ससोधिय पण्हमुदाहरंति) ऐसे साधु प्रश्न का उत्तर पूर्वापर अविरुद्ध (सम्यक् प्रकार से शोधित) देते है ॥१८॥

(णो छादये) साधु प्रश्नो का उत्तर देते समय शास्त्र के वास्तविक अर्थ को न छिपाए, (णो वि य लूसएज्जा) तथा अपसिद्धान्त के द्वारा शास्त्र की व्याख्या न करे , अथवा अपने आचार्य या दूसरो को दूषित (बदनाम) न करे, (माण ण सेवज्जा) तथा मै ही शास्त्र का ज्ञाता हूँ, इस प्रकार से अभिमान न करे, (पगासण च) और न ही मै बडा विद्वान् हूँ, तपस्वी हूँ, चमत्कारी हूँ, इस प्रकार से अपने आपको प्रकाशित करे। (पन्ने ण वावि परिहास कुज्जा) प्राज्ञ साधक श्रोता की हँसी न करे, (ण याऽऽसियावाय वियागरेज्जा) साधु किसी को आशीर्वाद न दे ॥१९॥

(भूताभिसकाइ दुगु छमाणे) साधु प्राणियो के विनाश की आशका से, तथा पाप से घृणा करता हुआ किसी को आशीर्वाद न दे, (मतपदेण गोय ण णिव्वहे) तथा मत्र आदि पदो द्वारा साधु अपने गोत्र—वाणी के सयम को नि सार न बनाए। (मणुए पयासु ण किंचि मिच्छे) मनस्वी साधक प्रजाओ—मनुष्यो, देवो आदि जीवो से किसी भी वस्तु की आकाक्षा न करे, (असाहु धम्माणि न सवएज्जा) एव वह असाधुओ के धम का उपदेश न करे ॥२०॥

(हासपि णो सधइ) भिक्षाजीवी साधु हँसी-मजाक न करे, या ठहाके मार-कर न हँसे अथवा विदूषक की तरह कोई शरीरादि की चेष्टा न करे, जिससे लोगो को हँसी छूटे, (पावधम्मे) मन-वचन-काया से कोई भी पापमय प्रवृत्ति न करे, (ओए

तहीए फरुसे वियाणे) राग-द्वेषरहित साधु जो कठोर सत्यवचन दूसरो को पीडा पहुँचाने वाला हो, उसे भी न कहे (अणाविले या अकसाइ भिक्खू) तथा साधु सदा लोभादि एव कपायो से रहित होकर रहे ॥२१॥

(असकित भाव भिक्खू) सूत्र और अर्थ के विपय मे शकारहित होने पर भी साधु (सकेज्ज) मैं सर्वज्ञ नही हूँ, इसलिए कही भूल न कर बैठूं, इस प्रकार सदा सशक रहे, नि शक होकर जो मन मे आए, वह बेधड़क होकर न बोले, (विभज्जवाय च वियागरेज्जा) तथा विभज्यवाद — सापेक्षवाद-स्याद्वाद युक्त वचन बोले । (धम्म-समुट्ठितेहिं भासादुय) सम्यक्रूप मे धर्माचरण मे उत्थित — उद्यत साधुओ के साथ विचरण करता हुआ साधु सत्यभापा तथा सत्यामृपा भापा (जो असत्य नही तथा मिथ्या नही है), ऐसी दो भापाएँ बोले । (समया सुपन्ने वियागरेज्जा) उत्तम बुद्धि-सम्पन्न साधु धनवान हो या दरिद्र दोनो को समभाव से धर्म का उपदेश दे ॥२२॥

(अणुगच्छमाणे) पूर्वोक्त दो भापाओ के माध्यम से प्रवचन करते हुए साधु के कथन को कोई-कोई ठीक लेते है, (वितह विजाणे) और कोई मदबुद्धि विपरीत या मिथ्या ते हैं, (तहा तहा साहु अकक्कसेण) जो विपरीत समझते है, उन्हे साधु कोमल (अ) शब्दो मे हेतु-दृष्टान्त-युक्ति द्वारा जैसे-तैसे समझाने की चेष्टा करे । (ण कत्थइ) जो यथार्थ नही समझता है, उसे भ्रू भग आदि अनादर सूचक चेष्टाओ से कहकर उसके मन को दु खित न करे, (भास विहिंसइज्जा) साधु प्रश्न करने वाले पर खीझकर या उसकी भाषा की निन्दा करके उसे व्यथित न करे, (निरुद्धग वावि न दीहइज्जा) छोटी-सी बात को शब्दाडम्बर करके लबी-चौडी न करे ॥२३॥

(पडिपुन्नभासी समालवेज्जा) जो बात सक्षेप मे न समझाई जा सके, उसे साधु विस्तृत रूप से कहकर समझाए । (निसामिया समिया अट्ठदसी)) गुरु से सुन कर अच्छी तरह पदार्थ (बात) को जानने वाला साधु (आणाइ सुद्ध वयण भिउजे) वीतराग-आज्ञ (तीर्थंकरभापित शास्त्र के विधान) शुद्ध - अनुकूल वचनो का प्रयोग करे । (भिक्खू पावविवेक अभिसधए) साधु पाप का विवेक रखकर निर्दोप वाक्यो का प्रयोग करे ॥२४॥

(अहाबुइयाइ सुसिक्खएज्जा) सर्वज्ञ अर्हत्प्रतिपादित शास्त्रो का अच्छी तरह अध्ययन करे, गुरु से शास्त्रो की सुशिक्षा ले, (जइज्जया) और सदैव उसमे प्रयत्न करे । (णाइवेल वएज्जा) मर्यादा का उल्लघन करके अधिक न बोले । (से दिट्ठिम दिट्ठि ण लूसएज्जा) वह सम्यग्दृष्टिसम्पन्न साधक अपने सम्यग्दर्शन को दूपित न करे, (से त समाधि भासिउ जाणइ) ऐसा साधक सर्वज्ञोक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप भाव समाधि को कहना जानता है ॥२५॥

(अलूसए) साधु आगम के अर्थ को दूपित न करे, (णो पच्छन्नभासी) तथा

वह सिद्धान्त को न छिपाए। (ताई सुत्तमत्थ च णो करेज्ज) प्राणिमात्र का त्राता-रक्षक सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे। (सत्थारभत्ती अणुवीइ वाय) साधु शिक्षा देने वाले (शास्ता) गुरु की भक्ति का ध्यान रखता हुआ सोच-विचारकर कोई बात कहे। (सुय च सम्म पडिवाययति) तथा गुरु से जैसा सुना है, सूत्र का वैसा ही अर्थ या व्याख्या दूसरो के सामने करे ॥ २६॥

(से सुद्धसुत्ते उवहाणव च) जो साधु यथार्थ रूप से आगमो का अध्ययन कर शुद्ध रूप से प्रतिपादन करता है, (जे तत्थ तत्थ धम्म विंदइ) जो साधु उत्सर्ग की जगह उत्सर्गरूप धर्म को एव अपवाद की जगह अपवादरूप धर्म को अगीकार करता है, (से आदेज्जवक्के) वही साधक ग्राह्यवचन (जिसका वचन लोग ग्रहण कर लें) होता है, अर्थात् उसी की बात मान्य होती है। (कुसले वियत्ते) तथा वही शास्त्र के अर्थ (व्याख्या) करने मे कुशल तथा विना विचारे कार्य न करने वाला पुरुष (त समाहिं भासिउ अरिहइ) उस सर्वज्ञोक्त समाधि का प्रतिपादन कर सकता है ॥२७॥

र्थ

गुरुकुल मे निवास करने वाले साधक सुबुद्धि से धर्म को समझकर दूसरे को उसका उपदेश देते है। इस प्रकार वे त्रिकालज्ञ होकर समस्त सचित कर्मों का अन्त कर देते है। वे यथार्थ धर्मोपदेशक साधक अपने और दूसरे को कर्मपाश से मुक्त कराकर ससार से पार हो जाते है। ऐसे साधु प्रश्न का सम्यक् प्रकार से सशोधित पूर्वापर अविरुद्ध उत्तर देते है ॥१८॥

प्रश्न का उत्तर देते समय साधु शास्त्र के वास्तविक अर्थ को न छिपाए, तथा अपसिद्धान्त का आश्रय लेकर शास्त्र की व्याख्या न करे एव यह भी अभिमान न करे कि मैं बहुत वडा विद्वान् या शास्त्रज्ञ हूँ, मैं महान् तपस्वी हूँ, क्रियाकाण्डी हूँ, और न लोगो के समक्ष अपने गुणो को प्रकाशित करे। किसी कारणवश श्रोता यदि किसी बात को न समझे तो उसकी मजाक न उडाए तथा किसी व्यक्ति को साधु खुश होकर आशीर्वाद भी न दे ॥१९॥

पाप से नफरत करता हुआ साधु प्राणियो के विनाश की आशका से किसी को आशीर्वाद न दे तथा मत्रविद्या का प्रयोग करके अपने सयम को खोखला न बनाए एव वह जनता से किसी वस्तु की (भेट, चढावे आदि के रूप मे) इच्छा न करे तथा वह असाधुओ के धर्म की भी प्रेरणा न दे ॥२०॥

किसी की हँसी-मजाक या जिन चेष्टाओ से हँसी छूटती हो, ऐसी चेष्टाएँ साधु न करे, तथा वह हँसी-मजाक मे भी पापमय प्रवृत्तियो के लिए

न कहे। रागद्वेषरहित साधु दूसरो को पीडा पहुँचाने वाले कठोर वचन सत्य हो, तो भी न कहे। साधु पूजा-सत्कार आदि पाकर गर्व न करे, तथा अपनी प्रशसा न करे। साधु सदा चित्त की शुद्धि से युक्त तथा लोभादि से मुक्त होकर रहे ।।२१।।

सूत्र और अर्थ के विषय मे नि शक होने पर भी सर्वज्ञ के वचन से कही विरुद्ध तो नही है, इस प्रकार शकित-सा विनम्र होकर बोले तथा व्याख्यान आदि के समय स्याद्वादमय वचन बोले एव धर्माचरण मे समुत्थित—समुद्यत साधुओ के साथ रहता हुआ साधु सत्य-भाषा और सत्यामृषा (जो असत्य न हो, मिथ्या भी न हो) इन दो भाषाओ का प्रयोग करे। वह धनिक और निर्धन दोनो को समभाव से धर्म कहे ।।२२।।

पूर्वोक्त दो भाषाओ का आश्रय लेकर धर्म की व्याख्या करते हुए साधु के कथन को कोई बुद्धिशाली व्यक्ति तो यथार्थरूप मे समझ लेते है, लेकिन कुछ माई के लाल मदबुद्धि होते है, जो उसका उलटा अर्थ लगाते है। अत उन विपरीत समझने वालो को साधु हेतु, युक्ति, दृष्टान्त द्वारा मधुर शब्दो मे समझाने का प्रयत्न करे। मगर उसे झिडककर या ठीक न समझने वाले का अनादर करके उसके दिल को चोट न पहुँचाए। साधु उस प्रश्नकर्ता की भाषा की मजाक न उडाए, उसे ताने या व्यग्य न कसे। जो छोटी-सी वात है उसे शब्दाडम्बर करके बहुत विस्तार से न कहे ।।२३।।

जो बात थोडे शब्दो मे कहने से समझ मे नही आती, उसे साधु विस्तार से कहकर समझाए तथा गुरुदेव से पदार्थ को अच्छी तरह समझकर वीतराग-आज्ञा (शास्त्र-वचन) से शुद्ध वचन बोले। साधु पाप का विवेक रखता हुआ निर्दोष, निरवद्य वचन बोले ।।२४।।

साधु तीर्थंकरो और गणधरो के द्वारा कथित-रचित आगमो की अच्छी तरह शिक्षा प्राप्त करे, और उसमे सतत पुरुषार्थ करे। मर्यादा का अतिक्रमण (भग) करके साधु बहुत ज्यादा न बोले। सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न साधु अपने सम्यक्त्व को दूषित न करे, जो साधु इस प्रकार उपदेश कर सकता है, वही सर्वज्ञोक्त भावसमाधि को जानता है ।।२५।।

साधु आगम के अर्थ को दूषित न करे तथा सिद्धान्त को न छिपाए, और न ही प्राणिरक्षक साधु सूत्र और अर्थ को अन्यथा करे। शिक्षा देने वाले (शास्ता) गुरु की भक्ति का ध्यान रखते हुए सोच-विचारकर कोई बात कहे। तथा उसने गुरु से जिस प्रकार से जैसा अर्थ या व्याख्या सुनी है, तदनुसार वैसी ही सूत्र की व्याख्या करे ।।२६।।

जो साधु की सूत्र प्ररूपणा, व्याख्या एव अध्ययन शुद्ध रूप से करता है, तथा जो शास्त्रोक्त तपश्चरण करता है, एव जो उत्सर्ग की जगह उत्सर्ग-धर्म को और अपवाद की जगह अपवाद धर्म को स्वीकार करता है, उसी साधु का वचन आदेय (ग्राह्य) होता है, तथा वही शास्त्र का अर्थ करने मे कुशल तथा बिना विचार किये कार्य न करने वाला पुरुष उस सर्वज्ञोक्त समाधि की व्याख्या कर सकता है। यह मैं कहता हूँ ॥२७॥

व्याख्या

गुरुकुलवासी साधु द्वारा वाणी प्रयोग कब और कैसा ?

अठारहवी गाथा से लेकर सत्ताईसवी गाथा तक शास्त्रकार ने गुरुकुलनिवासी निर्ग्रन्थ साधु के द्वारा होने वाले वचन-प्रयोग का स्पष्ट निर्देश किया है। गुरुदेव के सान्निध्य मे निवास करने के कारण साधक धर्म मे दृढ, बहुश्रुत, प्रतिभाशाली एव पदार्थज्ञान मे निपुण होकर इतना परिपक्व हो जाता है कि उसके जीवन का कोई भी कोना ऐसा नही रह जाता, जिसका सर्वांगपूर्ण निर्माण न हुआ हो। उसके मन, वचन और काया की प्रत्येक प्रवृत्ति मे गुरु की छाया रहती है, उसके हर व्यवहार मे गुरु की प्रकृति प्रतिबिम्बित हो जाती है। शास्त्रकार ने पूर्वगाथाओ मे उसके मन और तन से होने वाली कर्तव्यरूप प्रवृत्तियो का निरूपण कर दिया है। अब वे इन गाथाओ द्वारा ऐसे परिपक्व साधक के वचन-प्रयोग के सम्बन्ध मे मार्ग-दर्शन दे रहे हैं। गुरुकुल मे निवास करते-करते वे साधु उत्तम बुद्धि द्वारा ससार के प्रत्येक पदार्थ का श्रुतचारित्ररूप धर्मदृष्टि से यथार्थरूप समझ लेते है, तभी वे अपनी और दूसरे की शक्ति, रुचि, प्रकृति, योग्यता और क्षमता को जानकर अथवा सभा और प्रतिपादन योग्य बातो को भली-भाँति कर धर्म का प्रतिपादन करते हैं।

यो धर्म की व्याख्या करते-करते उनका शास्त्रीयज्ञान इतना परिपक्व हो जाता है कि वे जीवादि तत्त्वो के सम्बन्ध मे त्रिकालज्ञ हो जाते हैं, ऐसी स्थिति मे वे जन्म-जन्मान्तर मे सञ्चित कर्मों का आसानी से अन्त कर डालते हैं, इतना ही नही, वे दूसरो को भी कर्मपाश से मुक्त कराने मे या ससारासक्ति रूपी बेडियो को काटने मे समर्थ हो जाते हैं, अर्थात् ससार समुद्र के पारगामी हो जाते हैं। ऐसे परम स्नातक साधु पुरुष अच्छी तरह से शोधित करके पूर्वापर विरुद्ध वचन नही बोलते हैं। वे अपनी बुद्धि से पहले यह सोच लेते है कि श्रोता कौन है या प्रश्नकर्ता कौन है। उसकी रुचि, योग्यता और क्षमता कितनी है ? पदार्थो को ग्रहण करने की शक्ति (Grasping power) कितनी है ? यह किस भूमिका का व्यक्ति है ? इन बातो का भली-भाँति निरीक्षण-परीक्षण करके वे धर्म का प्रतिपादन करते हैं, या प्रश्न का समुचित उत्तर देते हैं। जैसा कि एक विशेषज्ञ कहते हैं—

आयरियसयासा व घारिएण अत्थेण झरियमुणिएण ।
तो सघमज्झयारे ववहरिउ जे सुह होति ॥

अर्थात्—आचार्यश्री से भलीभाँति ग्रहण किये हुए पदाथ को सुनिश्चित किया हुआ एव याद रखने मे निपुण विज्ञ साधक सघ मे (सघ के समक्ष) सुखपूर्वक पदार्थ की व्याख्या कर सकता है।

परन्तु ऐसा परमविज्ञ गुरु के सान्निध्य मे रहकर अभ्यस्त साधक भी कुछ बातो मे सावधान रहे, यह शास्त्रकार कहते हैं—(१) प्रश्न का उत्तरदाता साधु शास्त्र के अर्थ को न छिपाए, (२) अपसिद्धान्त का सहारा लेकर शास्त्र की व्याख्या न करे, (३) शास्त्रज्ञ आदि होने का अभिमान न करे, (४) अपने गुणो का भी प्रकाशन न करे, (५) कोई श्रोता न समझे तो उसकी मजाक न करे, (६) जो धर्मोपदेश को श्रद्धापूर्वक सुन ले, उसे आशीर्वाद प्रदान न करे।

प्रश्न का उत्तरदाता साधु चाहे कुत्रिकापण की तरह तीनो लोको के एकत्रित पदार्थसमूह की तरह सर्ववेत्ता हो, या रत्नमजूषा के समान समस्त ज्ञेय पदार्थो का ज्ञानाश्रय हो, अथवा चौदह पूर्वधारियो मे से एक हो तथा आचार्य से शिक्षा पाकर प्रतिभासम्पन्न एव पदार्थज्ञान मे पारगत हो, ऐसा उत्कृष्ट साधक किसी कारणवश श्रोता पर कुपित हो जाय, अथवा श्रोता पर झुझला उठे तो भी वह सूत्रार्थ को छिपाए नही, अर्थात् वह सूत्र की अन्य व्याख्या न करे, अथवा धर्मकथा करता हुआ साधु वस्तुतत्त्व को न छिपाए, अथवा वह अपने गुणो की उत्कृष्टता बताने की दृष्टि से दूसरो के गुणो को न छिपाए, दूसरो के गुणो को या शास्त्र के आशय को तोडमरोड कर विकृत या दूषित न करे। अथवा आचार्य के नाम तथा उपकार को छिपाए नही, न उन्हे बदनाम करे। अपसिद्धान्त का आश्रय लेकर शास्त्र की विपरीत व्याख्या न करे। ऐसा गर्व भी न करे कि मैं समस्त शास्त्रो का वेत्ता हूँ, मेरे समान समस्त सशयो का निवारक कोई नही है। मेरे समान हेतु और युक्तियो द्वारा पदार्थ का व्याख्याता कोई नही है। इसी प्रकार वह अपने आपको तपस्वी, बहुश्रुत, महान् गुणी आदि के रूप मे प्रकाशित न करे। क्योकि इस प्रकार गर्व करने या स्वप्रशसा करने से मनुष्य का पुण्यक्षय हो जाता है। इसलिए परिपक्व साधक को बहुत ही नम्र, अहकारशून्य, एव प्रशसा, प्रसिद्धि, नामना, कामना से दूर रहना चाहिए। कोई श्रोता मदबुद्धि के कारण न समझे तो उसकी मजाक न करे, ताने न मारे, न आक्षेप करे। इसी प्रकार खुश होकर 'जीते रहो, दीर्घायु, पुत्रवान या धनवान् हो', इत्यादि आशीर्वचन भी न कहे, क्योकि कदाचित् आशीर्वचन से उलटा हो जाए तो साधु असत्यवादी ठहरेगा, लोकश्रद्धा समाप्त हो जाएगी। प्राणियो की विराधना की आशका से आशीर्वाद देना पापयुक्त कर्म है, जिसका साधु के त्याग होता है। इसी प्रकार मन्त्र-प्रयोग करके साधु वाणीसयम को नि सार न बनाए। गोत्र के दो अर्थ

होते है। गो—वाणी, त्र—रक्षा, जो वाणी की रक्षा (सयम) करता है, उसे गोत्र कहते है, वह है – मौन या वाक्सयम। मारण, मोहन, उच्चाटन तथा अन्य सावद्य-कार्यो के लिए मन्त्र-प्रयोग जीवो की विराधना का कारण है, इसलिए सयम का घातक है अथवा प्राणियो के जीवन को गोत्र कहते हैं। उस जीवन को साधु शासक, राज-नेता आदि के साथ गुप्त-मन्त्रणा (मन्त्र) करके या गुप्त रूप से उपदेश देकर नष्ट न कराए। ऐसी मन्त्रणा प्राणघातक है, इसलिए सर्वथा वर्जित है। प्रजा कहते हैं प्राणियो को या जनता को। उनके बीच मे बैठकर धर्मोपदेश देने वाला साधु उनसे लाभ, पूजा, सत्कार आदि की इच्छा न करे। तथा असाधुओ का जो पिण्डदान, तर्पण या श्राद्ध आदि धर्म है, उसका उपदेश साधु न करे। जिस उपदेश से सम्यक्त्व की हानि होती हो, व्रत दूषित होता हो, वैसे किसी भी लौकिक धर्म या सावद्य कर्म आदि का उपदेश साधु न दे। अथवा असाधुओ (यानी दुर्जनो) के गुण्डागर्दी, व्यभिचार, अत्याचार आदि कार्यो की सराहना न करे। साधु कुप्रावचनिको की हँसी न उडाए, न आक्षेपकारक वचन कहे, न किसी के साथ कलह करा देने वाली हँसी-मजाक करे, न हास्योत्पादक वचन कहे या चेष्टा करे। हँसी मे भी पापबन्ध के कारणरूप प्रवृत्ति की प्रेरणा न करे। साधु राग-द्वेषरहित होने से ओजस्वी होता है, अथवा बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थत्यागी साधु सत्य होने पर भी जो बात दूसरो के चित्त को दु खित करने वाली हो, कर्कश हो या अनुष्ठान करने मे कठोर-दुरनुप्रेय हो, उसे न कहे। अपने पूजा-सत्कार आदि के लाभ की डीग न हाके, न बढचढकर अपनी प्रशसा करे। बहुत ही सावधानी के साथ वाणी-प्रयोग करे।

साधु धर्म की व्याख्या करते समय नि शक हो, अर्थ के बारे मे निश्चित हो, तो भी सभल-सभल कर शकित-सा बोले, बेधडक होकर या बिना विचारे अट-सट न बोले, यह न सोचे कि मुझे इस विषय पर सोचने की क्या आवश्यकता है ? मैंने पचासो दफा इस सूत्र की व्याख्या कर दी है, जो बात अत्यन्त स्पष्ट है, उसमे शका को स्थान ही कहाँ ? यह सोचकर उद्धततापूर्वक न बोले। यह सोचकर शकित-सा होकर कि 'मैं सर्वज्ञ नही हूँ, कही भूल ही हो सकती है,' नम्रतापूर्वक शास्त्र व्याख्या करे अथवा साधु ऐसी बात न कहे, जिससे श्रोता को शका उत्पन्न हो। वह पदार्थो का अलग-अलग विश्लेषण करके विभज्यवादपूर्वक अथवा विभिन्न अपेक्षाओ से पृथक् पृथक् अर्थ करके स्याद्‌वाद की दृष्टि से व्याख्या करे। अनेकान्तवाद लोक-व्यवहार से मिला-जुला होने के कारण सर्वव्यापी है, अनुभवसिद्ध है, उसमे साधु कही धोखा नही खा सकता। इसलिए उसी का आश्रय लेकर साधु बोले। जैसे द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जो पदार्थ नित्य है, वही पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य है। स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से जो वस्तु सत् है, वही परद्रव्यादि की अपेक्षा से असत् है। किसी के पूछने पर या न पूछने पर अथवा धर्मकथा के प्रसग मे

साधु दो ही भाषाओ का प्रयोग करे—पहली सत्यभाषा और अन्तिम-असत्यामृषा (यानी जो सत्य भी नही, असत्य भी नही)। महान् धर्मधुरधर साधुओ के साथ विचरण करने के कारण साधु के मन मे यह विचार नही आना चाहिए कि मैं धनिको या सत्ताधीशो का गुरु हूँ, इन्ही को उपदेश दूँ, प्रत्युत स ा साधु धनिक हो या दरिद्र, सबको समानभाव से धर्मोपदेश दे।

दो भाषाओ का आश्रय लेकर शास्त्र का अर्थ या व्याख्या समझाते हुए साधु को कई प्रकार के लोगो से वास्ता पडता है, जो जिज्ञासु, श्रद्धालु एव सूझ-बूझ वाले है, वे तो उसकी बात को यथार्थ रूप से समझ लेते है, किन्तु जो मूढ हैं, दुर्मति हैं, या मदबुद्धि और अजिज्ञासु है, वे उसके तात्पर्य को ठीक रूप मे समझ नही पाते, बल्कि कभी-कभी वे उसे विपरीत रूप मे लेते है, उस समय विज्ञ साधु का कर्तव्य है कि वह उस विपरीत समझने वाले व्यक्ति को उचित हेतु, उदाहरण और सुयुक्तियो द्वारा समझाने का भरसक प्रयत्न करे। किन्तु इसके विपरीत साधु उस पर खीझकर—'तू मूर्ख है। तू क्या समझेगा? तेरे बस की बात नही है। तेरी अक्ल तो कही दूसरी जगह चरने गई है! ि र है तुझे! लाख समझाने पर भी तू न समझा, गँवार कही का! भाग जा, यहाँ से, क्यो मेरा दिमाग चाटता है?' इत्यादि शब्द कहकर उसे झिडके नही। यदि प्रश्नकर्ता की भाषा अशुद्ध हो, प्रश्न पूछने का ढग ठीक न हो, तो भी साधु उसे डाँटे-फटकारे नही, उसकी अशुद्ध वाक्यावली की छीछालेदर न करे, न ही उसकी मखौल उडाए। उसका अपमान न करे। तथा जो बात सक्षेप मे कही जा सकती है, उसे व्यर्थ ही शब्दाडम्बर करके लम्बी न करे, क्योकि एक तो अधिक लबी बात को सुनते-सुनते श्रोता ा जाता है, दूसरे, लम्बी बात कहने मे वक्ता और श्रोता दोनो का समय भी अधिक जाता है। व्यर्थ ही समय खोने से क्या फायदा? जैसे कि एक अनुभवी साधक ने कहा है—

सो अत्थो वत्तव्वो जो भण्णइ अक्खरेहिं थोवेहिं।
जो पुण थोवो बहु अक्खरेहिं सो होइ निस्सारो॥

अर्थात्—साधु को वही बात कहनी चाहिए, जो थोडे शब्दो मे कही जा सके। थोडी बात बहुत शब्दो मे कही जाती है तो वह नि सार हो जाती है।

सूत्रशैली—सक्षिप्त शैली मे ही साधु का वश चले तो अपनी बात कहनी चाहिए, जिसका अर्थ गम्भीर हो, महान् अर्थ हो। वही प्रशस्त शैली मानी जाती है।

परन्तु जो बात अत्यन्त कठिन और दुरूह हो, जिसे श्रोतागण थोडे-से शब्दो मे कहने से पूरी तरह समझ न पाते हो, उसे साधु उत्तम हेतु, युक्तियाँ, दृष्टान्त आदि देकर विस्तृत रूप से समझाए। किसी गहन बात को थोडे से तथा क्लिष्ट शब्दो मे समझाकर छुट्टी पा लेने मे वक्ता की कृतार्थता नही है। श्रोता की योग्यता, रुचि

और ग्रहणशक्ति देखकर वक्ता को तदनुसार सक्षेप या विस्तार मे उस शब्द के स्पष्ट पृथक्-पृथक्, व पर्यायवाची शब्द बताकर उनका भावार्थ और तात्पर्य समझाकर श्रोता को सन्तुष्ट करना चाहिए। मूल बात तो अपने वक्तव्य या मन्तव्य को श्रोता के गले उतारने की है। अत साधु श्रोता की भूमिका देखकर किसी गहन विषय को स्पष्ट करने के लिए विस्तृत शैली अपनाए तो कोई हर्ज नही है।

गुरुकुलस्थ साधु आचार्य से पदार्थ को भली-भाँति सुन-समझकर उसका ठीक निश्चय करके वस्तुतत्त्व को यथार्थ रूप से जान लेता है। ऐसा सम्यगर्थदर्शी साधक सर्वज्ञप्रणीत आगम या सिद्धान्त से विरुद्ध या पूर्वापर विरुद्ध या असगत वचन न बोले, अपितु सिद्धान्तसगत शुद्ध वचन बोले। इस प्रकार का उच्चकोटि का धर्मोपदेश देकर तत्त्वदर्शी मुनि अपने भाषण के बदले किसी प्रकार के वस्त्रादि लाभ, सत्कार, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा या प्रशसा की आकाक्षा न रखे, नि स्पृहभाव से निर्दोष भाषण करे।

साधु को सिद्धान्तानुरूप आगमानुकूल वचन या भाषण करने मे सिद्धहस्त बनने के लिए पहले क्या करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'अहावुइयाइ सुसिक्खएज्जया जइज्जा।' अर्थात् गुरुकुल मे रहकर साधु तीर्थंकर और गणधर आदि ने जो वचन कहे है, जिन सिद्धान्तो का निरूपण किया है, मोक्ष-प्राप्ति के लिए जिन आचार-विचारो का प्रतिपादन किया है, उनका जमकर अध्ययन करे, सीखे, तदनुसार आचरण मे लाए, उन आचार-विचारो का भली-भाँति अहर्निश अभ्यास करे, अर्थात् ग्रहण-शिक्षा के द्वारा सर्वज्ञोक्त आगमवाणी को अच्छी तरह ग्रहण करे और आसेवना-शिक्षा के द्वारा उद्युक्तविहारी होकर उसका सेवन करे। दूसरे लोगो के सामने भी वह उसी तरह प्रतिपादन करने का प्रयत्न करे। यद्यपि साधु ग्रहण-शिक्षा, ना शिक्षा या देशना मे प्रयत्न करे, किन्तु जो जिस कर्तव्य का काल है, अ काल है या भिक्षाकाल आदि है, उसका उल्लघन करके देशना आदि देने के लिए न बोले। अथवा साधु अध्ययन, उपदेश, भाषण या अन्य कर्तव्यो की मर्यादा का उल्लघन न करे। साधु यथाप्रसग एक के बाद दूसरी सभी क्रियाएँ यथासमय करे, किसी भी क्रिया मे बाधा न डाले। जो साधु काला-नुसार आचरण करता है, वह दृष्टिमान पदार्थ के यथार्थ स्वरूप मे श्रद्धा रखने वाला है, वह साधु किसी भय या प्रलोभन के वश होकर अपनी सम्यग्दृष्टि को दूषित न करे। यह है कि साधु श्रोता की योग्यता देखकर तदनुसार धर्म का उपदेश दे ताकि वह अपसिद्धान्त को त्यागकर सम्यक्धर्म मे दृढ हो जाय, किन्तु इसके विपरीत वह इस प्रकार का उपदेश न दे, जिससे श्रोता के मन मे शका पैदा हो और उसके सम्यक्त्व मे आँच आए। वस्तुत जो इस प्रकार का उपदेश करने मे निष्णात है, सक्षम है, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप सर्वज्ञोक्त भाव-

समाधि का अथवा श्रोता के चित्तस्थैर्यरूप समाधि का भली-भाँति प्रतिपादन करना जानता है।

इसी बात को शास्त्रकार दूसरे पहलू से कहते है कि साधु सर्वज्ञोक्त आगमो की व्याख्या करते समय अपसिद्धान्त की प्ररूपणा करके सर्वज्ञोक्त आगम को दूषित या बदनाम न करे। जो सिद्धान्त शास्त्र से अविरुद्ध है, पवित्र है तथा सर्वजन-विख्यात है, उसे अस्पष्ट भाषण करके या सदिग्ध शब्दो का प्रयोग करके छिपाए नही। अथवा 'णो पच्छन्नभासी' का अर्थ यह भी होता है कि जो सिद्धान्त या बात प्रच्छन्न (गुप्त) रखने योग्य है, जिसे अपरिपक्व या अश्रद्धालु को बताने से उसके दुरुपयोग या बदनाम होने की सम्भावना है उसे किसी अपरिपक्व, अश्रद्धालु या अजिज्ञासु या दोषदर्शी को न बताए, क्योकि ऐसे व्यक्ति को सिद्धान्त का रहस्य बताने से वह दूषित हो जाता है। इसीलिए कहा है—

अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम् ।
दोषायाभिनवोदीर्णे शमनीयमिव ज्वरे ।।

अर्थात्—जिसकी बुद्धि शान्त नही है, चचल है, ऐसे व्यक्ति को शास्त्र की उत्तम बातें कहना, दोष के लिए ही होता है, जैसे नये-नये बुखार वाले रोगी को तुरत बुखार मिटाने के लिए दवा देना हानिकारक होता है।

साधु जैसे प्राणिमात्र का रक्षक होता है, वैसे ही अपनी आत्मा का भी पापो और बुराइयो से रक्षक होता है, वह षड्जीवनिकाय का रक्षक होने के नाते प्राणियो का माता-पिता है, उसकी यह जिम्मेदारी है कि वह कोई ऐसा कार्य मन-वचन-काया से न करे, जिससे इन प्राणियो को हानि पहुँचे, उनके प्राणो का वियोग हो, इसीलिए उपदेशक साधु अपनी कल्पनानुसार सूत्र या उसके अर्थ को न बदले। क्योकि अर्थ बदलने से या सूत्र बदलने से एक ही नही, हजारो व्यक्ति विपरीत मार्ग पर चलने लगेंगे, उनकी बहुत बडी हानि होगी, स्वय भी ऐसा करके ससारवृद्धि कर लेगा। कदाचित् अर्थ बदलने से सावद्य-प्ररूपण के कारण अनेक प्राणियो की हिंसा होने की समावना हो। दूसरी बात यह है कि सूत्र अथवा अर्थ के बदलने से जिस आचार्य या गुरु से उस सूत्र या अर्थ की शिक्षा ली है, उनके प्रति उसकी वफादारी या भक्ति खत्म हो जाएगी। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'सत्थारभत्ती''' सुय च सम्म पडिवाययति।' अर्थात् सत्य की आराधना या सम्यक्त्व की साधना की अपेक्षा रखता हुआ साधु व ो अर्थ दूसरे के समक्ष कहे, जैसा या जो अर्थ उसने गुरु (प्रशास्ता) के मुख से सुना है। वह दूसरे के समक्ष शास्त्र की व्याख्या करने से पूर्व शास्त्र का अध्ययन करानेवाले गुरु या आचार्य मे अपनी जो भक्ति है, उसे ध्यान मे रखते हुए यह सोच ले कि 'मेरे द्वारा इस बात को कहने से आगम मे कोई बाधा तो नही आती।' पूर्णतया सोच-विचार कर ही कोई बात कहे। ऐसा नही

और ग्रहणशक्ति देखकर वक्ता को तदनुसार सक्षेप या विस्तार मे उस शब्द के स्पष्ट पृथक्-पृथक्, व पर्यायवाची शब्द बताकर उनका भावार्थ और तात्पर्य समझाकर श्रोता को सन्तुष्ट करना चाहिए। मूल बात तो अपने वक्तव्य या मन्तव्य को श्रोता के गले उतारने की है। अत साधु श्रोता की भूमिका देखकर किसी गहन विषय को स्पष्ट करने के लिए विस्तृत शैली अपनाए तो कोई हर्ज नही है।

गुरुकुलस्थ साधु आचार्य से पदार्थ को भली-भाँति सुन-समझकर उसका ठीक निश्चय करके वस्तुतत्त्व को यथार्थ रूप से जान लेता है। ऐसा सम्यगर्थदर्शी साधक सर्वज्ञप्रणीत आगम या सिद्धान्त से विरुद्ध या पूर्वापर विरुद्ध या असगत वचन न बोले, अपितु सिद्धान्तसगत शुद्ध वचन बोले। इस प्रकार का उच्चकोटि का धर्मोपदेश देकर तत्त्वदर्शी मुनि अपने भाषण के बदले किसी प्रकार के वस्त्रादि लाभ, सत्कार, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा या प्रशसा की आकाक्षा न रखे, नि स्पृहभाव से निर्दोष भाषण करे।

साधु को सिद्धान्तानुरूप आगमानुकूल वचन या भाषण करने मे सिद्धहस्त बनने के लिए पहले क्या करना चाहिए ? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'अहाबुइयाइ सुसिक्खएज्जया जइज्जा।' अर्थात् गुरुकुल मे रहकर साधु तीर्थंकर और गणधर आदि ने जो वचन कहे हैं, जिन सिद्धान्तो का निरूपण किया है, मोक्ष-प्राप्ति के लिए जिन आचार-विचारो का प्रतिपादन किया है, उनका जमकर अध्ययन करे, सीखे, तदनुसार आचरण मे लाए, उन आचार-विचारो का भली-भाँति अहर्निश अभ्यास करे, अर्थात् ग्रहण-शिक्षा के द्वारा सर्वज्ञोक्त आगमवाणी को अच्छी तरह ग्रहण करे और आसेवना-शिक्षा के द्वारा उद्युक्तविहारी होकर उसका सेवन करे। दूसरे लोगो के सामने भी वह उसी तरह प्रतिपादन करने का प्रयत्न करे। यद्यपि साधु ग्रहण-शिक्षा, आसेवना शिक्षा या देशना मे प्रयत्न करे, किन्तु जो जिस कर्तव्य का काल है, अ काल है या भिक्षाकाल आदि है, उसका उल्लघन करके देशना आदि देने के लिए न बोले। अथवा साधु अध्ययन, उपदेश, भाषण या अन्य कर्तव्यो की मर्यादा का उल्लघन न करे। साधु यथाप्रसग एक के बाद दूसरी सभी क्रियाएँ यथासमय करे, किसी भी क्रिया मे बाधा न डाले। जो साधु कालानुसार आचरण करता है, वह दृष्टिमान पदार्थ के यथार्थ स्वरूप मे श्रद्धा रखने वाला है, वह साधु किसी भय या प्रलोभन के वश होकर अपनी सम्यग्दृष्टि को दूषित न करे। आशय यह है कि साधु श्रोता की योग्यता देखकर तदनुसार धर्म का उपदेश दे ताकि वह अपसिद्धान्त को त्यागकर सम्यक्धर्म मे दृढ हो जाय, किन्तु इसके विपरीत वह इस प्रकार का उपदेश न दे, जिससे श्रोता के मन मे शका पैदा हो और उसके सम्यक्त्व मे आँच आए। वस्तुत जो इस प्रकार का उपदेश करने मे निष्णात है, सक्षम है, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप 'ोक्त भाव-

समाधि का अथवा श्रोता के चित्तस्थैर्यरूप समाधि का भली-भाँति प्रतिपादन करना जानता है।

इसी बात को शास्त्रकार दूसरे पहलू से कहते है कि साधु सर्वज्ञोक्त आगमो की व्याख्या करते अपसिद्धान्त की प्ररूपणा करके सर्वज्ञोक्त आगम को दूपित या बदनाम न करे। जो सिद्धान्त शास्त्र से अविरुद्ध है, पवित्र है तथा सर्वजन-विख्यात है, उसे अस्पष्ट भापण करके या सदिग्ध शब्दो का प्रयोग करके छिपाए नही। अथवा 'णो प० भासी' का अर्थ यह भी होता है कि जो सिद्धान्त या वात प्रच्छन्न (गुप्त) रखने योग्य है, जिसे अपरिपक्व या अश्रद्धालु को वताने से उसके दुरुपयोग या बदनाम होने की सम्भावना है उसे किसी अपरिपक्व, अश्रद्धालु या अजिज्ञासु या दोषदर्शी को न बताए, क्योकि ऐसे व्यक्ति को सिद्धान्त का रहस्य बताने से वह दूषित हो जाता है। इसीलिए कहा है—

अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्‌भावप्रतिपादनम्।
दोषायाभिनवोदीर्णे शमनीयमिव ज्वरे॥

अर्थात्—जिसकी बुद्धि शान्त नही है, चचल है, ऐसे व्यक्ति को शास्त्र की उत्तम बातें कहना, दोप के लिए ही होता है, जैसे नये-नये बुखार वाले रोगी को तुरत बुखार मिटाने के लिए दवा देना हानिकारक होता है।

साधु जैसे प्राणिमात्र का रक्षक होता है, वैसे ही अपनी आत्मा का भी पापो और बुराइयो से रक्षक होता है, वह पड्जीवनिकाय का रक्षक होने के नाते प्राणियो का माता-पिता है, उसकी यह जिम्मेदारी है कि वह कोई ऐसा कार्य मन-वचन-काया से न करे, जिससे इन प्राणियो को हानि पहुँचे, उनके प्राणो का वियोग हो, इसीलिए उपदेशक साधु अपनी कल्पनानुसार सूत्र या उसके अर्थ को न बदले। क्योकि अर्थ बदलने से या सूत्र बदलने से एक ही नही, हजारो व्यक्ति विपरीत मार्ग पर चलने लगेंगे, उनकी बहुत बडी हानि होगी, स्वय भी ऐसा करके ससारवृद्धि कर लेगा। कदाचित् अर्थ बदलने से सावद्य-प्ररूपण के कारण अनेक प्राणियो की हिंसा होने की सभावना हो। दूसरी बात यह है कि सूत्र अथवा अर्थ के बदलने से जिस आचार्य या गुरु से उस सूत्र या अर्थ की शिक्षा ली है, उनके प्रति उसकी वफादारी या भक्ति खत्म हो जाएगी। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—'सत्थारभत्ती ·· सुय च सम्म पडिवाययति।' अर्थात् सत्य की आराधना या सम्यक्त्व की साधना की अपेक्षा रखता हुआ साधु व ी अर्थ दूसरे के समक्ष कहे, जैसा या जो अर्थ उसने गुरु (प्रशास्ता) के मुख से सुना है। वह दूसरे के समक्ष शास्त्र की व्याख्या करने से पूर्व शास्त्र का अध्ययन करानेवाले गुरु या आचार्य मे अपनी जो भक्ति है, उसे ध्यान मे रखते हुए यह सोच ले कि 'मेरे द्वारा इस वात को कहने से आगम मे कोई बाधा तो नही आती।' पूर्णतया सोच-विचार कर ही कोई वात कहे। ऐसा नही

सोचे कि अव मुझे गुरु से क्या लेना-देना है ? अव तो मै स्वतन्त्र हूँ, अपने आप मे सुखी हूँ, फिर मैं विद्वान् हूँ, इसलिए शास्त्र का जो भी अर्थ कर दूं, जिम किसी तरह से समझा दूं तो क्या हर्ज है ? पूर्वोक्त दोपो को ध्यान मे रखते हुए साधु शास्त्र की यथाश्रुत सम्यक् व्याख्या करे।

अब शास्त्रकार इस अ   का उपसहार करते हुए कहते है कि जो साधक शास्त्र के सूत्रपाठ का शुद्ध उच्चारण, अर्थ या व्याख्यान करता है, शास्त्रोक्त तप करता है, तथा श्रुतचारित्ररूप धर्म को यथायोग्य स्थान मे फिट कर देता है। अर्थात् उत्सर्ग-अपवाद, आज्ञार्थक, हेत्वर्थक, स्व-परसिद्धान्त से सिद्ध बात का जहाँ जो योग्य या प्रसग प्राप्त है, वही शुद्ध धर्म की दृष्टि से स्थापित करता है, वही साधक आदेयवाक्य, शास्त्रार्थकुशल, बिना बिचारे कार्य न करने वाला है। और ऐसा साधक— जो पूर्वोक्त उत्तम गुणो से सम्पन्न है, आगम प्रतिपादन तथा उत्तम अनुष्ठान-कर्ता है, वही सर्वज्ञोक्त सम्यग्ज्ञानादिरूप भावसमाधि की व्याख्या कर सकता है। 'त्ति बेमि' शब्द का अर्थ पूर्ववत् है।

सूत्रकृतागसूत्र का चौदहवाँ ग्रन्थ अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

॥ ग्रन्थ नामक चौदहवाँ अ   न समाप्त ॥

: पन्द्रहवाँ अध्ययन

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

चौदहवें अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब पन्द्रहवां अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है। चौदहवे अध्ययन मे कहा गया है कि साधु को बाह्य-आभ्यन्तर दोनो प्रकार के ग्रन्थो से मुक्त होना चाहिए। ग्रन्थमुक्त होने से साधु आयत (विशाल) चारित्र से सम्पन्न हो जाता है। अत इस अध्ययन मे यह बताया गया है कि साधक किस प्रकार विशाल चारित्र सम्पन्न हो सकता है? इस अध्ययन मे इस बात पर जोर दिया गया है कि साधु को -चारित्र होना चाहिए।

वैसे इस अध्ययन मे विवेक की दुर्लभता, सयम के सुपरिणाम, भगवान् महावीर या वीतराग पुरुष का स्वभाव, सयमी पुरुष की जीवन पद्धति आदि का निरूपण है। इस मे कुल २५ गाथाएँ हैं।

इस अध्ययन के तीन नाम हैं (१) आदान अथवा आदानीय (२) सकलिका अथवा शृखला, (३) जमतीत अथवा यमकीय।

आदान या आदानीय नाम इसलिए है कि मोक्षार्थी पुरुष समस्त कर्मो का क्षय करने के लिए जिस विशिष्ट ज्ञानादि का आदान—ग्रहण करते है, उसका इस अध्ययन मे निरूपण है।

इस अध्ययन का आदानीय नाम रखने के पीछे निर्युक्तिकार का मन्तव्य यह है कि इस अध्ययन मे जो पद प्रथम गाथा के अन्त मे है, वही पद अगली गाथा के प्रारम्भ मे ग्रहण (आदान) किया गया है। अथवा प्रथम गाथा के अर्धभाग के अन्त हो, वही पद, शब्द, अर्थ और उभय के द्वारा यदि द्वितीय गाथा के आदि मे हो या द्वितीय गाथा के अर्धभाग की आदि मे हो तो वह पद आदि और अन्त के सदृश होने से आदानीय कहलाता है। इस अध्ययन मे ऐसा ही हुआ है, इसलिए इसका नाम आदानीय रखा गया है।

वृत्तिकार कहते हैं कि कुछ लोग इस अध्ययन को सकलिका अथवा शृखला नाम से पुकारते हैं क्योकि एक तो इस अध्ययन मे प्रथम पद्य का अन्तिम शब्द एव द्वितीय पद्य का आदि शब्द शृखला की भाँति जुडे हुए है, अर्थात् उन दोनो की

कडियाँ एक समान है। अथवा इस अध्ययन मे अन्त और आदि पद का सकलन हुआ है, इसलिए इसका नाम 'सकलिका' है।

अथवा इस अध्ययन का आदि शब्द 'ज अतीत' है, इसलिए इसका नाम जमतीत है। अथवा इस अध्ययन मे यमक अलकार का प्रयोग हुआ है, इसलिए इस अध्ययन का नाम यमकीय है, जिसका आर्ष प्राकृतरूप 'जमईय' है। निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन का नाम आदान या आदानीय ही बताया है। दूसरे दो नाम वृत्तिकार ने बताये हैं।

निक्षेप दृष्टि से आदान शब्द के अर्थ

कार्यार्थी पुरुप जिस वस्तु को ग्रहण करता है, अथवा जिसके द्वारा अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, उसे आदान कहते है। वैसे आदान का अर्थ ग्रहण करना होता है। इसके चार निक्षेप होते है। नाम और स्थापना को छोडकर द्रव्य-आदान और भाव-आदान को समझ लेना चाहिए। द्रव्य-आदान धन के ग्रहण करने को कहते है, क्योंकि ससारी मनुष्य दूसरे सब कार्यो को छोडकर सर्वप्रथम बडे क्लेश से धन को ग्रहण करते है। अथवा उस धन के द्वारा द्विपद-चतुष्पद आदि को ग्रहण करते है। इसलिए धन को द्रव्य-आदान कहते है। भाव-आदान दो प्रकार का है— प्रशस्त और । क्रोध आदि का उदय होना अथवा मिथ्यात्व अविरति आदि ' न्ध के आदान रूप होने से अप्रशस्त भावादान है। तथा उत्तरोत्तर गुणश्रेणी के द्वारा विशुद्ध य को ग्रहण करना अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ग्रहण करना प्रशस्त भावादान है। इस अध्ययन मे इसी प्रशस्त भावादान का निरूपण है।

इसी प्रशस्त भावादान के सन्दर्भ मे इस अध्ययन की क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल

जमतीतं पडुपन्नं, आगमिस्स च णायओ।
सव्वं मन्नति त ताई, दंसणावरणतए ॥१॥

यदतीत प्रत्युत्पन्नमागमिष्यच्च नायक ।
सर्व मन्यते तत् त्रायी दर्शनावरणान्तक ॥१॥

• र्थ

(जमतीत) जो पदार्थ हो चुके है, (पडुपन्न) जो पदार्थ वर्तमान मे विद्यमान है, और (आगमिस्स च) जो पदार्थ भविष्य मे होने वाले हैं, (त सव्व) उन सबको (दसणावरणतए ताई णायओ) दर्शनावरणीयकर्म का सम्पूर्ण रूप से अन्त करनेवाले, जीवो के त्राता—रक्षक, धर्मनायक तीर्थंकर (मन्नति) जानते हैं।

भावार्थ

जो पदार्थ उत्पन्न हो चुके है, वर्तमानकाल मे जो पदार्थ विद्यमान है, और जो भविष्यकाल मे होगे, उन सब पदार्थों को दर्शनावरणीयकर्म का सर्वथा क्षय करने वाले, जीवो के त्राता एव धर्मनायक पुरुप जानते है।

व्याख्या

त्रिकालवर्ती पदार्थों का ।

इस गाथा मे तीनो काल मे होने वाले पदार्थों को कौन जानता है ? इस सम्बन्ध मे तीन विशेपण देकर बताया गया है कि जो इस प्रकार की विशेपता से युक्त होता है, वही जानता है।

जो पुरुप भूत, भविष्य, वर्तमान तीनो कालो के पदार्थों को जानता है वही समस्त बन्धनो को जानने और तोडने वाला है। साथ ही इन सब त्रिकालवर्ती पदार्थों के यथार्थस्वरूप का निरूपण करने के कारण वह पुरुप नायक अर्थात् प्रणेता है। वही पुरुप भूत-भविष्य-वर्तमान त्रिकालवर्ती पदार्थों को द्रव्यादि चार स्वरूप से तथा द्रव्य और पर्याय के निरूपण से जानता है तथा जानता हुआ विशिष्ट उपदेश देकर वह प्राणियो को ससारसागर से पार उतारता है, और सब जीवो की रक्षा करता है। दर्शनावरणीयकर्म का क्षय करने के साथ-साथ चारो घातिकर्मों का क्षय हो ही जाता है।

मूल

अतए वितिगिच्छाए, से जाणति अणेलिस ।
अणेलिसस्स अक्खाया, ण से होइ तहिं तहिं ॥२॥

सस्कृत छाया

अन्तको विचिकित्सायाः स जानात्यनीदृशम् ।
अनीदृशस्याख्याता, स न भवति तत्र तत्र ॥२॥

अन्वयार्थ

(वितिगिच्छाए अन्तए) जो सशय को दूर करने वाला है, (से अणेलिस जाणति) वह पुरुप सबसे बढकर पदार्थ को जानता है। (अणेलि अक्खाया) जो पुरुप सबसे बढकर वस्तुतत्त्व का निरूपण करने वाला है, (से तहिं तहिं ण होइ) वह इधर-उधर के बौद्धादि दर्शन मे नही है।

भावार्थ

सशय को दूर करने वाला पुरुष सबसे बढकर पदार्थ को जानता है। जो पुरुष सबसे बढकर वस्तुतत्त्व का निरूपण करने वाला है, वह इधर-उधर के बौद्धादि दर्शनो मे नही है।

व्याख्या

सशयातीत सर्ववस्तुतत्त्वनिरूपक अन्य दर्शनो मे नहीं

जो पुरुष चार घातीकर्मो को नष्ट कर चुका है, वह सब प्रकार के सशयो को दूर कर देता है। विचिकित्सा चित्त की अस्थिरता या सशयात्मक ज्ञान को कहते है। विचिकित्सा को दूर करनेवाला महापुरुष सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का भी विनाशक होता है। और ऐसा महापुरुष नि सशयज्ञान से सम्पन्न होता है।

आशय यह है कि जो पुरुष सशयादि के कारणभूत चार घातीकर्मों का क्षय कर देता है, उसमे सशय या विपर्ययरूप मिथ्याज्ञान नही होता। ऐसा पुरुष अनन्यसदृ र्ि होता है, अर्थात् उसके समान वही होता है, अन्य कोई नही, जो सूक्ष्म, बादर आदि अनन्तधर्मात्मक पदार्थो को जान सके, वह परस्पर मिले हुए सामान्य विशेषात्मक पदार्थो को जानता है। क्योकि 'सर्वज्ञ पुरुष का एक ही ज्ञान अचिंत्यशक्ति से युक्त होने के कारण वस्तु के सामान्य-विशेष दोनो का निश्चय करता है।

इस सम्बन्ध मे मीमासक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि सर्वज्ञादि सब पदार्थों के ज्ञाता हैं तो उनको स्पर्श आदि का ज्ञान बना रहने से अनभिमत वस्तु के रसास्वाद का भी ज्ञान होना चाहिए। किन्तु यह कथन यथार्थ नही है, क्योकि ॰ का ज्ञान इतरजनो (छद्मस्थो) के ज्ञान के समान नही होता। ॰ पुरुष वस्तु के अनन्त अतीत एव अनागत पर्यायो को तथा अनन्त धर्मो को युगपत् जानते है, जबकि दूसरो का ज्ञान इस प्रकार का नही होता। स्पर्श के ज्ञानमात्र से स्पर्श की अनुभूति होती है, यह कथन प्रत्यक्ष प्रमाण विरुद्ध है। फिर सर्वज्ञ वीतराग होते हैं, उन्हे कोई रस न इष्ट होता हे, न अनिष्ट। वे सब पदार्थो को मध्यस्थ भाव से ही जानते है।

मीमासक आक्षेप करते हैं कि सामान्य रूप से सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर भी महावीर आदि अर्हन्त (तीर्थंकर) ही ॰ हैं, बुद्ध या कपिल नही, इसमे क्या प्रमाण है ? यदि दोनो ही ॰ हैं तो इनमे मतभेद क्यो है।[1]

इस आक्षेप का परिहार करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—'अणेि अक्खाया' अर्थात् जो पुरुष अनन्यसदृश (अनुपम) धर्म का प्रतिपादक है, वह बौद्ध आदि दर्शनो मे नही है, क्योकि वे द्रव्य और पर्याय दोनो को यथार्थरूप से नही मानते। बौद्ध केवल पर्यायो को ही मानते है, द्रव्य को नही, क्योकि वे सभी पदार्थों को क्षणिक कहते हैं। मगर यह तो हर कोई जानता है कि द्रव्य के बिना निर्बीज

---

1 अर्हंन् यदि सर्वज्ञो, बुद्धो नेत्यत्र का प्रमा ?
अथातपि सर्वज्ञौ, मत ॰ यो कथम् ?
—मीमासा

होने के कारण पर्यायो का अस्तित्व भी कहाँ रहेगा ? इसलिए पर्याय मानने वालो को आधारभूत परिणामी द्रव्य अवश्य मानना चाहिए, लेकिन शाक्यमुनि परिणामी द्रव्य नही मानते, इसलिए उन्हे सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकता है ?

और साख्यदर्शन (कपिलप्रणीत) वाले उत्पत्ति-विनाशरहित एकमात्र स्थिर स्वभाव वाले केवल द्रव्य को ही मानते है, परन्तु यह वात प्रत्यक्ष अनुभूत है कि कार्य करने मे समर्थ पर्याय है, जिन्हे वे नही मानते। किन्तु द्रव्य कदापि पर्यायरहित होता नही। इसलिए साख्यप्रणेता कपिल भी कैसे सर्वज्ञ माने जा सकते है ?

द्रव्य और पर्याय, दूध और पानी की तरह घुले-मिले -अभिन्न-से हैं, लेकिन उन्हे सर्वथा भिन्न मानने वाले न्याय-दर्शन (उलूकमत) प्रणेता भी सर्वज्ञ नही है।

इस प्रकार अन्य दर्शनप्रणेता असर्वज्ञ होने के कारण उन दर्शनो मे से कोई भी दर्शनप्रणेता द्रव्य-पर्यायरूप अनन्यसदृश उभयविध पदार्थ का वक्ता नही है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि अर्हन्त ही भूत-भावी-वर्तमान तीनो कालो के पदार्थो के यथार्थ रूप से वक्ता हैं।

मूल पाठ

तहिं तहिं सुयक्खाय, से य सच्चे सुआहिए ।
सया सच्चेण सपन्ने, मित्ति भूएहि कप्पए ॥३॥

सं छाया

तत्र तत्र स्वाख्यात, तच्च सत्य स्वाख्यातम् ।
सदा सत्येन सम्पन्नो, मैत्री भूतेषु कल्पयेत् ॥३॥

अन्वयार्थ

(तहिं तहिं सुयक्खाय) श्री तीर्थंकरदेव ने भिन्न-भिन्न आगमादि स्थानो मे जीवादि पदार्थो का अच्छी तरह से कथन किया है, (से य सच्चे सुआहिए) वही सत्य है और वही सुभाषित है। (सया सच्चेण सपन्ने मित्ति भूएहिं कप्पए) अत सदा सत्य से समन्वित होकर जीवो के साथ मैत्रीभाव को धारण करो।

भावार्थ

श्री तीर्थंकरदेव ने आगम आदि विभिन्न स्थलो मे जीवादि तत्त्वो का जो भलीभाँति उपदेश दिया है, वही सत्य है और वही सुभाषित है। इसलिए मनुष्य को सदा सत्य से युक्त होकर जीवो से मैत्री करनी चाहिए।

व्याख्या

अर्हद्भाषित तत्त्वकथन ही सत्य है

इस गाथा मे अर्हन्त की सर्वज्ञता सिद्ध की गई है। बात यह है कि वीतराग अर्हन्तदेव ने जीव आदि तत्त्वो का युक्तिसगत एव सम्यक् निरूपण किया है, तथा मिथ्यात्व आदि पाँच पापो को बन्ध का कारण कहकर उन्हे ससार का कारण कहा है

एव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो मोक्ष का मार्ग वताया है वह सब मोक्ष के कारण तथा पूर्वापर से अविरुद्ध एव युक्तिसगत होने के कारण स्वाख्यात यानी यथार्थ सम्यक् कथन है। किन्तु अन्यतीर्थियो का कथन स्वाख्यात (पूर्वापर-अविरुद्ध एव युक्तियुक्त) नही है क्योंकि अन्यतीर्थियो ने पहले तो 'मा हिंस्यात सर्वं भूतानि' (समस्त प्राणियो की हिंसा नही करनी चाहिए) ऐसी आज्ञा देकर फिर स्थान-स्थान पर जीवो के सहारक आरम्भ की आज्ञा दी है। इसलिए उनके द्वारा कथित वचन पूर्वापर विरुद्ध है तथा विचार करने पर युक्तिविरुद्ध है, इसलिए अन्यतीर्थिको का कथन स्वाख्यात नही है। तीर्थंकरदेव अविरुद्ध अथभाषी होते हैं, क्योकि उनमे मिथ्याभाषण के कारणरूप राग, द्वेष, मोह आदि दोष नही हैं। अत अर्हत्स्वरूप के विज्ञाता पुरुष कहते हैं—तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित कथन ही सत्य है क्योकि वे असत्य के कारणभूत राग-द्वेष-मोह से रहित होते है और वे सर्वजीवहितैषी होते है। उनका कथन ही सुभाषित है, क्योकि वही समस्त प्राणियो के लिए प्रियकर होता है। रागादि दोष ही असत्य एव अप्रियभाषण के कारण रूप होते हैं, वे दोष अर्हन्त मे नही हैं, इसलिए कारण के अभाव से कार्य का अभाव स्वत सिद्ध है। कहा भी है—

वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते वच ।
यस्मात तस्माद् वचस्तेषा तथ्य भूतार्थदर्शनम् ॥

अर्थात्—सर्वज्ञ पुरुष वीतराग होते हैं, वे मिथ्यावचन नही बोलते हैं, इसलिए पुरुषो का वचन सत्य अर्थ का प्रतिपादक होता है।

इस सम्बन्ध मे कुछ लोगो का कहना है कि दूसरे दर्शनकारो मे सर्वज्ञता न हो तो भी हेय-उपादेय मात्र के ज्ञान से भी सत्यवादिता हो सकती है। जैसे कि वे कहते हैं—

सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु ।
कीटसख्यापरिज्ञान, तस्य न क्वोपयुज्यते ॥

अर्थात्—मार्गदर्शक पुरुष सब पदार्थो या जीवो को जाने-देखे या न जाने-देखे, केवल अभीष्ट पदार्थो को जान देख ले। कीडो की सख्या का ज्ञान हो जाय तो भी वह हमारे किस काम का ?

इस शका का समाधान शास्त्रकार करते है—'से य सच्चे सुआहिए।' तीर्थंकरो का कथन सदा सत्य और सुभाषित होता है। सत्य, सर्वहितकर एव प्रिय भाषण सर्वज्ञता होने पर ही किया जा सकता है, अन्यथा नही। जिनमे सर्वज्ञता नही है, उन्हे जैसे कीडो की सख्या का ज्ञान नही है, वैसे ही दूसरे पदार्थो का ज्ञान न होना भी सम्भव है। इसलिए कहा है—सहशे भवे तल्लक्ष दूषित स्यात्। एक जगह उक्त पुरुष का ज्ञान बाधित और असम्भवित होने पर दूसरी

जगह भी इसी तरह का हो सकता है। इस तरह उनकी सत्यवादिता दूषित हो जाती है। फिर उनके किसी भी वचन पर विश्वास कैसे किया सकता है। अत. तीर्थंकर भगवान् को अवश्य ही सर्वज्ञ मानना पडेगा, क्योकि उनका वचन सदैव सत्य होता है।

इसीलिए उनके लिए कहा है—'सया सच्चेण ··भूएहिं कप्पए।' अर्थात् तीर्थंकर सदा सत्य, प्राणियो के लिए हितकर वचन अथवा सयम (भूतहितकारी होने से) से सम्पन्न होकर प्राणियो मे मैत्री की स्थापना—प्राणियो की रक्षा का उपदेश देकर भूतदया की स्थापना करते हैं।

अथवा इस पंक्ति का विधिपरक यह अर्थ भी हो सकता है कि अतएव जिनोक्त वचनो का आराधक मुनि सदा सत्य से युक्त होकर सब प्राणियो के प्रति मैत्री करे या सर्वभूतदया का उपदेश देकर भूतदया की स्थापना करे।

मूल पाठ

भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे बुसीमओ ।
बुसीम जग परिन्नाय, अस्सि जीवितभावणा ॥४॥

सस्कृत छाया

भूतैश्च न विरुध्येत, एष धर्मो वृषीमतः ।
वृषीमान् जगत् परिज्ञाय, अस्मिन् जीवितभावना ॥४॥

अन्वयार्थ

(भूएहिं न विरुज्झेज्जा) प्राणियो के साथ वैर-विरोध न करे, (एस बुसीमओ धम्मे) यह सुसयमी साधुओ का धर्म है। (बुसीम जग परिन्नाय) सुसयमी साधु त्रसस्थावररूप जगत् के स्वरूप को जानकर (अस्सि जीवितभावणा) इस तीर्थंकर प्ररूपित धर्म मे जीवसमाधानकारिणी भावना करे।

भावार्थ

प्राणियो के साथ विरोध न करे, यह सुसयमी साधुओ का धर्म है। इसलिए जगत् का स्वरूप जानकर वीतराग प्रतिपादित धर्म मे जीवित भावना करे।

व्याख्या

प्राणिमात्र के साथ मैत्री की साधना का क्रम

इस गाथा मे मैत्री-साधना की एक झाकी प्रस्तुत की गई है। इसके लिए तीन क्रम प्रस्तुत किये है—(१) प्राणियो के साथ वैर-विरोध न करे, (२) त्रस-स्थावर रूप जगत् का स्वरूप जाने (३) जीवो के या जीवन के लिए समाधानकारिणी या समाधिकारिणी भावना करे। प्राणियो के साथ विरोध का कारण प्राणियो का

विघात करने वाला आरम्भ है। मैत्री की साधना के लिए साधु प्राणियो के साथ अविरोधरूप ऋषि-मुनियो के इस धर्म को अपना जीवनधर्म (अपना स्वभाव) बना ले। साथ ही वह त्रसस्थावररूप दृश्यमान जगत् का या जीवो का स्वरूप जाने और अपनी व उनकी आत्मा को शान्ति (समाधि) देने वाली २५ प्रकार की भावनाओ का अनुप्रेक्षण करे।

मूल

भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥५॥

सस्कृत छाया

भावनायोगशुद्धात्मा, जले नौरिवाहित ।
नौरिव तीरसम्पन्न सर्वदु खान् त्रुट्यति ॥५॥

अन्वयार्थ

(भावणाजोगसुद्धप्पा) भावनारूपी योग से शुद्ध आत्मा वाला पुरुष (जले णावा व आहिया) जल मे नाव के समान कहा गया है। (नावा व तीरसपन्ना) किनारे पर पहुँची हुई नाव जैसे विश्राम करती है, वैसे ही (सव्वदुक्खा तिउट्टइ) उक्त पुरुष समस्त दु खो से मुक्त—शान्त हो जाता है।

र्थ

पूर्वोक्त २५ या १२ प्रकार की भावनाओ से जिसकी आत्मा शुद्ध (पवित्र) हो गई है, वह पुरुष जल मे नौका के समान ससारसमुद्र को पार करने मे समर्थ कहा गया है। जैसे तट पर पहुँचकर नौका विश्राम करती है, वैसे ही भावना का साधक भी ससार समुद्र के तट पर पहुँच कर सारे ही दु खो से छूट जाता है।

व्याख्या

भावनायोगसाधक की गति-मति

इस गाथा मे भावनायोग के साधक की गति-मति का दिग्दर्शन कराया गया है। उत्तम भावना के योग से जिसका अन्त करण स्वच्छ एव निर्मल हो गया है, जिसके अन्तर मे क्रोधादि कालुष्य जरा भी नही रहा है, जिसके मन मस्तिष्क मे ईर्ष्या, द्वेष, वैर, विरोध, निन्दा, चुगली, विषयतृष्णा, लोकैषणा आदि का जरा भी कण नही है, वह पवित्रात्मा पुरुष सासारिकता के स्वभाव को छोडकर जल मे नाव की तरह ससारसागर मे रहता हुआ भी ससारसागर के ऊपर-ऊपर तैरता रहता है। जैसे नाव जल मे डूबती नही है, वैसे ही वह ससारसागर मे डूबता नही है। जिस प्रकार उत्तम कर्णधार (नाविक) से युक्त और अनुकूल हवा से प्रेरित नाव

समस्त द्वन्द्वो से मुक्त होकर किनारे पहुँचकर विश्राम लेती है, उसी प्रकार उत्तम चारित्रवान् कर्णधार से युक्त जीवनरूपी नौका तप-सयमरूपी पवन से प्रेरित होकर दु खात्मक ससार से छूटकर समस्त दु खो के अभावरूप मोक्ष के तट पर पहुँच जाती है।

मूल पाठ

तिउट्टइ उ मेहावी, जाण लोगसि पावगं ।
तुट्टंति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ ॥६॥

सस छाया

त्रुट्यति तु मेधावी जानन् लोके पापकम् ।
त्रुट्यन्ति पाप कर्माणि, नव कर्माकुर्वत ॥६॥

अन्वयार्थ

(लोगसि पावग जाण) लोक मे पापकर्म को जानने वाला (मेहावी उ तिउ-ट्टइ) बुद्धिमान पुरुष समस्त बन्धनो से छूट जाता है। (नव कम्म अकुव्वओ) नवीन कर्मबन्ध न करने वाले पुरुष के (पावकम्माणि तिउट्टंति) सभी पापकर्मो के बन्धन टूट जाते है।

भावार्थ

लोक मे पापकर्म के स्वरूप को जानने वाला बुद्धिमान साधक सभी बन्धनो को तोड देता है। क्योकि नया कर्मबन्धन न करने वाले पुरुष के सभी पापकर्मबन्धन टूट जाते हैं।

व्याख्या

बन्धनमुक्त मेधावी साधक

पूर्वगाथा मे भावनायोग से शुद्ध आत्मा की गति-मति बताई गई थी, उसी सन्दर्भ मे इस गाथा मे बताया गया है कि तथारूप शुद्धात्मा मन-वचन-काया द्वारा अशुम यानी पाप से छूट जाता है, अथवा वह सब प्रकार के बन्धनो को तोड देता है। वह समस्त बन्धनो से मुक्त होकर ससारसागर से पार हो जाता है। कैसे मुक्त हो जाता है, इसकी सक्षिप्त प्रक्रिया शास्त्रकार बताते हैं—'तिउट्टइ उ मेहावी · नव कम्ममकुव्वओ।' अर्थात्—शास्त्रोक्त साधु-मर्यादाओ मे स्थित अथवा सद्-असद्विवेकी साधक चौदह रज्जु परिमित तथा जीवो से भरे हुए इस लोक मे साव-द्यानुष्ठानरूप पापाचरण को अथवा उसके कार्यरूप अष्टविध कर्मो को या विशेषत पाप-कर्मो को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनके कारणो का त्याग करके उनसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार लोक अथवा कर्म को जानने वाला तथा नवीन कर्मबन्ध न करने वाला यानी आस्रवद्वारो को रोकने वाला व्यक्ति पूर्वसचित प्राचीन

कर्मों को तप, सयम आदि से क्षीण करने के लिए जुट जाता है, तो एक दिन उसके प्राचीन और नवीन समस्त कर्म नष्ट हो जाते ह और तब वह बन्धनो से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

मूल

अकुव्वओ णव णत्थि, कम्म नाम विजाणइ ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जायई ण मिज्जई ॥७॥

सस्कृत

अकुर्वत नव नास्ति, कर्म नाम विजानाति ।
विज्ञाय स महावीरो, येन जायते न म्रियते ॥७॥

अन्वयार्थ

(अकुव्वओ णव णत्थि) जो पुरुष कर्म (कार्य) नही करता हे, उसके नवीन कर्मबन्ध नही होता हे। (कम्म नाम विजाणइ) वह पुरुष अष्टविध कर्मों को विशेष-रूप से जानता है। (से महावीरे विन्नाय) इस प्रकार वह महावीर पुरुष कर्मों को जानकर (जेण जायई ण मिज्जई) ऐसा कार्य करता है, जिससे न तो वह ससार मे फिर जन्म लेता है और न ही मरता है।

भावार्थ

जो पुरुष कोई कर्म नही करता, उसके नवीन कर्मो का बन्ध नही होता। वह पुरुष आठ प्रकार के कर्मो को विशेषरूप से जानता है। इस प्रकार वह महान् वीर पुरुष आठ प्रकार के कर्मो को जानकर ऐसा प्रयत्न करता है, जिससे वह ससार मे न तो कभी उत्पन्न होता है, और न ही मरता है।

व्याख्या

• न से मुक्ति और उसके बाद

इस गाथा मे अन्य दार्शनिको की मुक्ति से वापस लौट आने की मिथ्या मान्यता का खण्डन ध्वनित करते हुए शास्त्रकार तीर्थंकरप्रतिपादित सिद्धान्त प्रस्तुत करते है—'अकुव्वओ णव णत्थि जेण जायई ण मिज्जई।

कुछ दार्शनिको की मान्यता यह है कि "कर्मक्षय हो जाने के पश्चात् जिनको मोक्ष प्राप्त हो चुका है, वे ज्ञानी भी जब अपने तीर्थ (सघ) की अवहेलना होती देखते हैं, तो पुन ससार मे लौट आते है।"[1] परन्तु यह मान्यता न तो युक्तिसगत है और न सत्य ही। क्योकि जब साधक समस्त क्रियाओ से रहित हो जाता है तो

---

१ ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तार. परम पदम् ।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भव तीर्थनिकारत ॥

उसके मन-वचन-कायारूप कारण भी नष्ट हो जाते है, और वह कुछ भी कार्य (व्यापार) नही करता। ऐसी स्थिति मे उसके ज्ञानावरणीय आदि नवीन कर्मबन्ध होने का कोई सवाल ही नही उठता। क्योंकि कारण का अभाव हो जाता है तो कार्य का अभाव स्वत हो जाता है। इस प्रकार जब मुक्ति मे पहुँचे हुए मुक्त पुरुष के कर्मो का सर्वथा अभाव हो जाता है, तो फिर कर्मो के अभाव मे ससार मे पुन कैसे आ सकता है, क्योकि ससार कर्म का ही कार्य है। वास्तव मे मुक्तजीव सभी सगो, सयोगो, आसक्तियो, बन्धनो, ग्रन्थियो एव द्वन्द्वो से रहित होता है, उसके लिए अपना-पराया कुछ भी नही होता, वह यदि अपना पराया करने लगेगा तो पुन रागद्वेप से लिप्त हो जाएगा। परन्तु मुक्त जीव रागद्वेप से सर्वथा मुक्त होता है। इसलिए उसे अपने तीर्थ की अवहेलना का कोई विचार ही नही आता।

अत शास्त्रकार इस अकाट्य सिद्धान्त को प्रस्तुत करके जन्म-मरण से रहित होने का एक क्रम सूचित करते हैं कि जव आत्मगुणो से युक्त साधक आठ प्रकार के कर्मों, उनके कारणो और उनके फलो को भी जान लेता है, साथ ही वह कर्मक्षय (निर्जरा) करने के उपाय को भी भलीभाँति जान लेता है, अथवा वह पुरुप कर्मों एव उनके नामो या स्वरूपो को, या नाम शब्द उपलक्षण होने से कर्मो की प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेशो को भी अच्छी तरह से जान लेता है। इस प्रकार उन कर्मों को, उनकी निर्जरा के उपायो को, जानकर कर्मविदारण करने मे समर्थ यह महान वीर पुरुप ऐसा पराक्रम करता है, जिससे वह फिर ससार मे न जन्म लेता है, न मरता है। अर्थात् वह जन्ममरण से सर्वथा रहित हो जाता है। यहाँ कारण के अभाव से कार्य का अभाव बताया गया है, इसलिए जो लोग कहते हैं कि जगत्पति परम पुरुप का अविनाशी, ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य और धर्म ये चारो स्वभावत अनादि-सिद्ध है, इस मान्यता का खण्डन समझ लेना चाहिए। यह मत युक्तिहीन है।

मूल

ण मिज्जइ महावीरे, जस्स नत्थि पुरेकडं ।
वाउव्व जालमच्चेति, पिया लोगसि इत्थिओ ॥८॥

सस्कृत छाया

न म्रियते महावीरो, यस्य नास्ति पुराकृतम् ।
वायुरिव ज्वालामत्येति, प्रिया लोकेषु स्त्रिय ॥८॥

अन्वयार्थ

(जस्स पुरेकड नत्थि) जिसके पूर्वकृत कर्म नही है, (महावीरे ण मिज्जइ) वह महान् वीर पुरुप जन्मता-मरता नही है। (जाल वाउव्व लोगसि पिया इत्थिओ

अच्चेति) जैसे हवा आग की ज्वाला को उल्लघन कर जाती है, उसी तरह इस लोक मे वह महावीर पुरुप प्रिय स्त्रियो (की आसक्ति) को लाँघ जाता है।

भावार्थ

जिस साधक के पूर्वकृत कर्म (वाकी) नही है, वह पुरुष जन्मता-मरता नही है। जैसे हवा आग की लपटो को लाघ जाती है, वैसे ही इस लोक मे महान् वीर साधक मनोज्ञ मनोहर स्त्रियो को उल्लघन कर जाता है, है, अर्थात् उनके फन्दे मे नही फँसता।

व्याख्या

पूर्वकृतकर्म एव स्त्रीवश्यता नही, वही पुरुष महावीर है

इस गाथा मे महावीरता की परिभापा दी है। उसके लिए इसमे दो वातें विशेपरूप से वताई है —

(१) जिसके पूर्वकृत कर्म शेप नही हैं, (२) तथा जो प्रिय स्त्रियो के वश मे नही होता।

ण मिज्जइ — नही मरता। इसका आशय है, ऐसा साधक जिसके पूर्वकृत सचित कर्म शेप नही है, वह ससार के जन्ममरण के चक्र मे नही फँसता और न ससार मे भ्रमण करता है। इसका मतलब है—वह महापराक्रमी साधक जन्म, मृत्यु जरा, व्याधि, शोक आदि दु खो से युक्त नही होता। जन्म-मरण आदि उसी के होते हैं, जिसके सैंकडो जन्मो मे उपार्जित कर्म शेप हो, तथा जिसने आस्रवद्वारो को नही रोका है।

आस्रवो मे प्रधान मैथुन है, स्त्री प्रसग उसका बहुत बडा अग है। इसीलिए शास्त्रकार उपमा देकर समझाते है— **वाउव्व जालमच्चेति, पिया लोगसि इत्थीओ।'** अग्नि की ज्वाला जलाने वाली है, वह सहसा उल्लघन नही की जा सकती, तथापि न रुकने तथा निरन्तर वहने वाली हवा उसे उल्लघन कर जाती है, इसी तरह वह महावीर पुरुप हावभाव, कटाक्ष, हास्य, विलास आदि से युक्त, अत्यन्त सुन्दर और दुस्त्यज स्त्रियो को भी उल्लघन कर जाता है, उनके फदे मे कतई नही फँसता, वह वीर साधक उनसे जीता नही जाता, क्योकि वह उनका स्वरूप जानता है। तथा वह स्त्री-परीपह विजय का फल भी जानता है। कहा भी है—

> स्मितेन भावेन मदेन लज्जया, पराङ्मुखै रर्धकटाक्षवीक्षितै ।
> वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया समस्त भावै खलु बन्धन स्त्रिय ॥१॥
> स्त्रीणा कृते भ्रातृयुगस्य भेद, सम्बन्धिभेदे स्त्रिय एव मूलम् ।
> अप्राप्तकामा बहवो नरेन्द्रा, नारीभिरुत्सादितराजवशा ॥२॥

अर्थात्—स्त्रियाँ मुस्कराकर, हावभाव दिखाकर, मद से या लज्जा से पराङ्-मुख होकर, अर्धकटाक्ष (कनखियो) से देखकर, मधुर वचनो से, ईर्ष्या से कलह से या

लीला करके, यानी सव प्रकार के नाटक करके पुरुषो को अपने प्रणय पाश मे बाँध लेती हैं। तथा स्त्रियो के लिए दो भाइयो मे आपस मे फूट हो जाती है, सम्बन्धियो मे परस्पर वैमनस्य का मूल ही स्त्रियाँ हैं। काम से अतृप्त वहुत से राजाओ ने कामिनियो के कारण युद्ध करके राजवशो को उजाड दिया है। इस प्रकार नारियो का स्वरूप जानकर महावीर साधक उनके किसी भी चक्कर मे नही आते।

एक प्रश्न है—महाव्रत तो पाँच हैं, फिर दूसरे व्रतो के विषय मे न कहकर चौथे महाव्रत के विषय मे ही क्यो कहा ? अर्थात् अन्य आस्रवो के त्याग के बारे मे न कहकर स्त्रीप्रसगरूप मैथुन के बारे मे ही क्या कहा गया ? इसका समाधान यह है कि मैथुनसेवन सव आस्रवो मे बडा है, और अधर्म का मूल है, महादोष का आश्रयस्थान है, इसीलिए सर्वप्रथम इसका त्याग करने का कहा गया है। बहुत से लोग स्त्रीप्रसग मे कोई दोष ही नही मानते, उनके भोगवादी मत का खण्डन करने के लिये भी यह पाठ है। फिर दूसरे व्रत अपवादसहित है, जवकि चतुर्थ महाव्रत मे कोई अपवाद नही है। इसी बात को सूचित करने के लिए यहाँ चौथे आस्रव के त्याग का सकेत किया है।

मूल पाठ

इत्थीओ जे ण सेवति, आइमोक्खा हु ते जणा ।
ते जणा बधणुम्मुक्का, नावकखति जीविय ॥९॥

सस्कृत छाया

स्त्रियो ये न सेवन्ते, आदिमोक्षा हि ते जना ।
ते जना बन्धनोन्मुक्ता , नावकाक्षन्ति जीवितम् ॥९॥

अन्वयार्थ

(जे इत्थीओ ण सेवति) जो साधक स्त्रियो का सेवन नही करते, (ते जणा हु आदिमोक्खा) वे साधक सबसे प्रथम मोक्षगामी होते है। (बधणुम्मुक्का ते जणा जीविय नावकखति) समस्त बन्धनो से मुक्त वे जीव जीवन (जीने) की आकाक्षा नही करते।

भावार्थ

जो वीर साधक स्त्रियो का सेवन नही करते, वे सबसे पहले मोक्षगामी होते है तथा सर्वबन्धनो से मुक्त वे साधक जीवन (असयमी जीवन) जीने की आकाक्षा नही करते।

व्याख्या

स्त्री-सेवन से दूर मोक्ष अत्यन्त निकट

इस गाथा मे शास्त्रकार स्त्री-सेवनरूप आस्रवद्वार के निरोध का फल

बताते हे। जो साधक महापराक्रमी है, वे शास्त्रीय अध्ययन से एव अनुभव से यह समझते हैं कि स्त्रीप्रसग के फल अत्यन्त कटु होते है, स्त्रियाँ सुगतिपथ मे अर्गलारूप हैं, ससार के महागर्त मे डालने वाली है, अविनयो की राजधानी है, सैकडो माया-जालो से भरी है, महामोहिनी शक्ति है। इस कारण वे स्त्री-सेवन की इच्छा कदापि नही करते। सुन्दरियो के द्वारा प्रार्थना करने पर या हावभाव आदि से आकृष्ट करने पर भी वे उनके मोहजाल मे जरा भी नही फँसते। ऐसे वीर साधक दूसरो से वहुत उत्कृष्ट हे और समस्त कर्मक्षयरूप या स -निवृत्तिमय मोक्ष को सर्वप्रथम प्राप्त करते हे। अथवा जिन पुरुषो ने दुराचरणो मे प्रधान स्त्री-प्रसग का मन-वचन-काया से पूर्णतया त्याग कर दिया है, वे ही पुरुष आदिमोक्ष है, अर्थात् वे प्रधानपुरुषार्थभूत मोक्षपुरुषार्थ मे उद्यत हैं। यहाँ आदि शब्द प्रधान अर्थ का वाचक है। ऐसे नरवीर मोक्षरूप पुरुषार्थ मे केवल उद्यत ही नही, अपितु स्त्रीरूपी पाशवन्धन से मुक्त हो जाने के कारण समस्त पाशबन्धनो से मुक्त है। इस कारण वे जीवन की—असयमी जीवन की आकाक्षा नही करते है, अथवा वे जिंदगी की परवाह नही करते, यानी स्त्री-प्रसग न करने पर चाहे मौत से ही भेट करनी पडे, वे इसकी चिन्ता नही करते, अथवा विपय-भोग की इच्छा को त्यागकर उत्तम आचार-पालन मे तत्पर एव मोक्ष मे एकाग्र वे साधक दीर्घकाल तक जीने की इच्छा नही करते।

मूल

जीविय पिट्ठओ किच्चा, अतं पावति कम्मुण ।
कम्मुणा संमुहीभूता, जे मग्गमणुसासई ॥१०॥
अणुसासण पुढो पाणी, वसुम पूयणासए ।
अणासए जए दते, दढे आरयमेहुणो ॥११॥
णीवारे व ण लीएज्जा, छिन्नसोए अणाविले ।
अणाइले सया दते, संधि पत्ते अणेलिसं ॥१२॥
अणेलिसस्स खेयन्ने, ण विरुज्झेज्ज केणई ।
मणसा वयसा चेव कायसा चेव च ुम ॥१३॥
से हु च ॄ मणुस्साण, जे कखाए व अतए ।
अतेण खुरो वहई, चक्क अतेण लोट्ठई ॥१४॥
अंताणि धीरा सेवति, तेण अतकरा इह ।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउ णरा ॥१५॥

संत ।

जीवित पृष्ठत कृत्वाऽन्त प्राप्नुवन्ति कर्मणाम् ।
कर्मणा सम्मुखीभूता, ये मार्गमनुशासति ॥१०॥
अनुशासन पृथक् प्राणिषु वसुमान् पूजनास्वादक ।
अनाशयो यतो दान्तो दृढ आरतमैथुन ॥११॥
नीवार इव न लीयेत, छिन्नस्रोता अनाविल ।
अनाविल सदा दान्त, सन्धि प्राप्तोऽनीदृशम् ॥१२॥
अनीदृशस्य खेदज्ञो, न विरुध्येत केनाऽपि ।
मनसा वचसा चैव, कायेन चैव चक्षुष्मान् ॥१३॥
स हि चक्षुर्मनुष्याणा, य काक्षायाश्चान्तक ।
अन्तेन क्षुरो वहति, चक्रमन्तेन लुठति ॥१४॥
अन्तान् धीरा सेवन्ते, तेनाऽन्तकरा इह ।
इह मानुष्यके स्थाने, धर्ममाराधयितु नरा ॥१५॥

अन्वयार्थ

(जीविय पिट्ठओ किच्चा) ऐसे वीर साधक जीवन को पीठ देकर (पीछे करके) (ण अत पावति) कर्मो के अन्त (क्षय) को प्राप्त करले हैं। (णा समुहीभूता) वे पुरुष विशिष्ट कर्म (धर्माचरण) के अनुष्ठान के कारण मोक्ष के सम्मुखीभूत है, (जे मग्गमणुसासई) जो मोक्षमार्ग पर स्वय अनुष्ठान द्वारा अधिकार (शासन) कर लेते हैं अथवा जो मोक्षमार्ग की शिक्षा मुमुक्षुओ को देते हैं ॥१०॥

(अणुसासण पुढो पाणी) उन मोक्षाभिमुख साधको का अनुशासन (धर्मोपदेश) भिन्न-भिन्न प्राणियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। (वसुम पूयणासए अणासए जए दते दढे आरयमेहुणो) सयम का धनी, पूजासत्कार मे दिलचस्पी न रखने वाला, आशय—वासना से रहित, सयम मे प्रयत्नशील, दान्त—जितेन्द्रिय अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ एव मैथुनसेवन से विरत साधक ही मोक्षाभिमुख होता है ॥११॥

(णीवारे व ण लीएज्जा) सूअर आदि प्राणी को प्रलोभित करके फँसाकर मौत के मुँह मे पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान स्त्रीप्रसग या अल्पकालिक विषयलोभ मे वह लीन नही होता, नही फँसता। (छिन्नसोए) जिसने विषयभोगरूप द्वारो) को नष्ट कर डाला है। (अणाविले) जो राग-द्वेषमल से रहित-स्वच्छ शुद्ध है, (सया दते) जो सदा इन्द्रियो और मन पर काबू करके रहता है, (अणाइले) विषयभोगो मे प्रवृत्त न होने से जो स्थिरचित्त है, वही पुरुष (अणेलिस सधि पत्ते) अनुपम भावसन्धि—मोक्षाभिमुखता को प्राप्त कर लेता है ॥१२॥

(अणेलिसस्स खेयन्ने) अनन्यसदृश (जिसके समान ससार मे और कोई उत्तम पदार्थ नही है, वह अनीदृश)—अनुपम सयम या वीतरागोक्त धर्म मे जो खेदज्ञ—

बताते है। जो साधक महापराक्रमी है, वे शास्त्रीय अध्ययन से एव अनुभव से यह समझते है कि स्त्रीप्रसग के फल अत्यन्त कटु होते है, स्त्रियाँ सुगतिपथ मे अर्गलारूप हैं, ससार के महागर्त मे डालने वाली हैं, अविनयों की राजधानी है, सैकडो माया-जालो से भरी है, महामोहिनी शक्ति है। इस कारण वे स्त्री-सेवन की इच्छा कदापि नही करते। सुन्दरियो के द्वारा प्रार्थना करने पर या हावभाव आदि से आकृष्ट करने पर भी वे उनके मोहजाल मे जरा भी नही फँसते। ऐसे वीर साधक दूसरो से बहुत उत्कृष्ट हें और समस्त कर्मक्षयरूप या सर्वद्वन्द्व-निवृत्तिमय मोक्ष को सर्वप्रथम प्राप्त करते है। अथवा जिन पुरुपो ने दुराचरणो मे प्रधान स्त्री-प्रसग का मन-वचन-काया से पूर्णतया त्याग कर दिया है, वे ही पुरुप आदिमोक्ष है, अर्थात् वे प्रधानपुरुपार्थभूत मोक्षपुरुपार्थ मे उद्यत हैं। यहाँ आदि शब्द प्रधान अर्थ का वाचक है। ऐसे नरवीर मोक्षरूप पुरुषार्थ मे केवल उद्यत ही नही, अपितु स्त्रीरूपी पाशबन्धन से मुक्त हो जाने के कारण समस्त पाशबन्धनो से मुक्त है। इस कारण वे जीवन की—असयमी जीवन की आकाक्षा नही करते हैं, अथवा वे जिंदगी की परवाह नही करते, यानी स्त्री-प्रसग न करने पर चाहे मौत से ही भेंट करनी पडे, वे इसकी चिन्ता नही करते, अथवा विषय-भोग की इच्छा को त्यागकर उत्तम आचार-पालन मे तत्पर एव मोक्ष मे एकाग्र वे साधक दीर्घकाल तक जीने की इच्छा नही करते।

मूल

जीविय पिट्ठओ किच्चा, अतं पावति कम्मुण ।
कम्मुणा समुहीभूता, जे मग्गमणुसासई ॥१०॥
अणुसासण पुढो पाणी, वसुम पूयणासए ।
अणासए जए दते, दढे आरयमेहुणो ॥११॥
णीवारे व ण लीएज्जा, छिन्नसोए अणाविले ।
अणाइले सया दते, सधि पत्ते अणेलिसं ॥१२॥
अणेलिसस्स खेयन्ने, ण विरुज्झेज्ज केणई ।
मणसा वयसा चेव कायसा चेव च ुम ॥१३॥
से हु चक्खू मणुस्साण, जे कखाए व अतए ।
अतेण खुरो वहई, चक्क अतेण लोट्ठई ॥१४॥
अंताणि धीरा सेवति, तेण अतकरा इह ।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउ णरा ॥१५॥

संस्कृत

जीवित पृष्ठत कृत्वाऽन्त प्राप्नुवन्ति कर्मणाम् ।
कर्मणा सम्मुखीभूता, ये मार्गमनुशासति ॥१०॥
अनुशासन पृथक् प्राणिषु वसुमान् पूजनास्वादक ।
अनाशयो यतो दान्तो दृढ आरतमैथुन ॥११॥
नीवार इव न लीयेत, छिन्नस्रोता अनाविल ।
अनाविल सदा दान्त, सन्धि प्राप्तोऽनीदृशम् ॥१२॥
अनीदृशस्य खेदज्ञो, न विरुध्येत केनाऽपि ।
मनसा वचसा चैव, कायेन चैव चक्षुष्मान् ॥१३॥
स हि चक्षुर्मनुष्याणा, य काक्षायाश्चान्तक ।
अन्तेन क्षुरो वहति, चक्रमन्तेन लुठति ॥१४॥
अन्तान् धीरा सेवन्ते, तेनाऽन्तकरा इह ।
इह मानुष्यके स्थाने, धर्ममाराधयितु नरा ॥१५॥

अन्वयार्थ

(जीविय पिट्ठओ किच्चा) ऐसे वीर साधक जीवन को पीठ देकर (पीछे करके) (कम्मण अत पावति) कर्मों के अन्त (क्षय) को प्राप्त करते हैं। (णा समुहीभूता) वे पुरुष विशिष्ट कर्म (धर्माचरण) के अनुष्ठान के कारण मोक्ष के सम्मुखीभूत हैं, (जे मग्गमणुसासई) जो मोक्षमार्ग पर स्वय अनुष्ठान द्वारा अधिकार (शासन) कर लेते हैं अथवा जो मोक्षमार्ग की शिक्षा मुमुक्षुओ को देते हैं ॥१०॥

(अणुसासण पुढो पाणी) उन मोक्षाभिमुख साधको का अनुशासन (धर्मोपदेश) भिन्न-भिन्न प्राणियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। (वसुम पूयणासए अणासए जए दते दढे आरयमेहुणो) सयम का धनी, पूजासत्कार मे दिलचस्पी न रखने वाला, आशय—वासना से रहित, सयम मे प्रयत्नशील, दान्त—जितेन्द्रिय अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ एव मैथुनसेवन से विरत साधक ही मोक्षाभिमुख होता है ॥११॥

(णोवारे व ण लीएज्जा) सूअर आदि प्राणी को प्रलोभित करके फँसाकर मौत के मुँह मे पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान स्त्रीप्रसग या अल्पकालिक विषयलोभ मे वह लीन नही होता, नही फँसता। (छिन्नसोए) जिसने विषयभोगरूप द्वारो) को नष्ट कर डाला है। (अणाविले) जो राग-द्वेषमल से रहित-स्वच्छ शुद्ध है, (सया दते) जो सदा इन्द्रियो और मन पर काबू करके रहता है, (अणाइले) विषयभोगो मे प्रवृत्त न होने से जो स्थिरचित्त है, वही पुरुष (अणेलिस संधि पत्ते) अनुपम भावसन्धि—मोक्षाभिमुखता को प्राप्त कर लेता है ॥१२॥

(अणेलिसस्स खेयन्ने) अनन्यसदृश (जिसके समान ससार मे और कोई उत्तम पदार्थ नही है, वह अनीदृश)—अनुपम सयम या वीतरागोक्त धर्म मे जो खेदज्ञ—

निपुण है या उसका मर्मज्ञ है, वह (मणसा, वयसा चेव कायसा चेव केणइ ण विरुज्झिज्ज, मन से, वचन से और से किसी भी प्राणी के साथ वैर विरोध नही करता, (चक्खुम) जो पुरुष ऐसा है, वही दिव्यनेत्रवान हे, यानी परमार्थदर्शी हे॥१३॥

(से हु मणुस्साण चक्खू) वही पुरुष मनुष्यो का नेत्र है - नेता है—मार्गदर्शक है, (जे य कखाए अतए) जो सब प्रकार की (विषयभोग आदि की) काक्षाओ का अन्त (नाश) करनेवाला है, अथवा काक्षाओ के अन्त सिरे पर हे। (खुरो अतेण वहति) जैसे छुरा अन्तिम भाग (अन्तिम सिरे) से कार्य करता (चलता) है, (चक्क अतेण लोटठई) रथ का पहिया भी अन्तिम भाग (किनारे) से ही चलता है—गति करता है ॥१४॥

(धीरा अताणि सेवति) परीपहो व उपसर्गो को सहने मे धीर, अथवा विषय-सुखो की इच्छारहित बुद्धि से सुशोभित साधक अन्त—प्रान्त आहार का सेवन करते हैं, (तेण इह अतकरा) इसी कारण वे ससार का अन्त कर देते हैं। (इह माणुस्सए ठाणे णरा धम्ममाराहिउ) इस मनुष्यलोक मे दूसरे मनुष्य (साधक) भी धर्माराधन करके ससार का अन्त करते हैं ॥१५॥

भावार्थ

जो मोक्षाभिमुखी साधक होते है, वे जीवन के प्रति निरपेक्ष होकर कर्मों (ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मो) का अन्त पा लेते है, यानी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जो पुरुष विशिष्ट तप, सयम आदि के उत्तम आचरण (सदनुष्ठानरूप धर्मक्रिया) से मोक्ष के सम्मुख-से होकर जीते हे, वे ही मोक्षमार्ग पर आधिपत्य (शासन) करते है, अथवा वे ही जीवन्मुक्त साधक मोक्षमार्ग की शिक्षा देते है ॥१०॥

उनके द्वारा दी जाने वाली मोक्षमार्ग की शिक्षा या धर्मदेशना भिन्न-भिन्न प्राणियो के लिए अभिप्राय, रुचि, योग्यता आदि के भेद से विभिन्न प्रकार की होती है, या वह विभिन्न रूपो मे परिणत होती है। इसलिए सयम का धनी, पूजा-सत्कार-प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि आदि मे रुचि न रखने वाला, सब प्रकार की विषयभोगो की वासना (आशय) से रहित, सयम मे पुरुषार्थ करने वाला, इन्द्रियमनोविजेता, महाव्रत आदि की कृत प्रतिज्ञा दृढ-अटल, एव मैथुनसेवन से विरत साधक ही मोक्ष के अभिमुख या मोक्षमार्ग का अनुशासक होता है ॥११॥

सूअर आदि प्राणियो को प्रलोभित करके जाल मे फँसाकर मौत के मुँह मे पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान प्रलोभनीय स्त्रीप्रसग या अल्पकालिक विषयलोभ मे जो वीर साधक लीन नही होता, फँसता नही, जिसने विषयभोगरूप या ससारागमनरूप आस्रवद्वारो को छिन्न-भिन्न कर

डाला है, जो राग द्वेषरूप मल से रहित – शुद्ध है, जो सदा इन्द्रियो और मन पर नियत्रण रखता है विषयभोगो मे प्रवृत्त न होने मे स्थितप्रज्ञ या स्थिरचित्त है, वही पुरुष अनुपम भावसन्धि—मोक्षाभिमुखता को प्राप्त करता है ॥१२॥

जो साधक अनन्यसदृश—अनुपम सयम या वीतरागप्ररूपित धर्म का मर्मज्ञ है, वह मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध नही करता। जो पुरुष ऐसा है, वही दिव्यनेत्रवान या परमार्थदर्शी है ॥१३॥

जो साधक सब प्रकार की विषयभोग आदि की काक्षाओ का अन्त (समाप्त) करने वाला या जो काक्षाओ के अन्त—सिरे पर है, वही मनुष्यो का नेत्र है—नेता मार्गदर्शक है। जैसे छुरा या उस्तरा अन्तिम भाग (अन्तिम सिरे) से कार्य करता है (चलता है), रथ का पहिया भी अन्तिम भाग (किनारे) से ही चलता है, वैसे ही मोक्षाभिमुख साधक मोहनीय आदि कर्मों का अन्त करके ही ससार के अन्त (पार) तक या मोक्ष के अन्त (किनारे) पर पहुँच जाता है ॥१४॥

परीषहो और उपसर्गों मे सहिष्णु या विषयनिरपेक्ष बुद्धि से सुशोभित धीर साधक अन्तप्रान्त (बचे-खुचे ठडे बासी रूक्ष) आहार का सेवन करते है, इस कारण वे ससार का अन्त या समस्त दु खो का अन्त कर देते है। ऐसे ही पुरुष इस मनुष्यलोक मे धर्म की आराधना करके ससारसागर का अन्त (पार) कर देते है, अथवा धर्माराधना के योग्य होते हैं ॥१५॥

व्याख्या

मोक्षाभिमुख साधको की साधना का साराश

१०वी गाथा से लेकर १५वी गाथा तक विभिन्न पहलुओ से मोक्षाभिमुख साधको की साधना का साराश बताया गया है। मोक्षाभिमुखी साधक का अर्थ है—जिसका मुख मोक्ष की ओर हो गया है, जो अब ससार या ससार के विषय-भोगो, सुख-सुविधाओ, लुभावनी भोगसामग्री, उत्तम स्वादिष्ट आहार, पानी, सुन्दर मकान, शरीरप्रसाधन, साजसज्जा आदि की ओर झाँककर भी नही देखता, अर्थात् ससार या ससार के बन्धन मे डालने वाले कारणो से विमुख हो गया है, अथवा ससार-बन्धन मे डालने वाले कर्मों, कर्मों के कारणो—आस्रवो आदि का जिसने अन्त कर दिया है। जो ससारसागर को पार करके मोक्ष के तट पर पहुँच गया है, अथवा उधर ही जिसके पैर सरपट गति से बढ रहे है, जो दृढतापूर्वक मजबूत कदमो से मोक्ष की ओर गति कर रहा है, इधर-उधर ससार की लुभावनी झाकियो को नही देखता, जो देहनिरपेक्ष, जीवननिरपेक्ष, प्रसिद्धि, नामना, कामना, पूजा-सत्कार आदि से

निपुण है या उसका मर्मज्ञ है, वह (मणसा, वयसा चेव कायसा चेव केणइ ण विरु ज्झिज्ज, मन से, वचन से और काया से किसी भी प्राणी के साथ वैर विरोध नही करता, (चक्खुम) जो पुरुष ऐसा है, वही दिव्यनेत्रवान है, यानी परमार्थदर्शी है॥१३॥

(से हु मणुस्साण चक्खू) वही पुरुष मनुष्यो का नेत्र है -नेता है—मार्गदर्शक है, (जे य कखाए अतए) जो सब प्रकार की (विषयभोग आदि की) काक्षाओ का अन्त (नाश) करनेवाला है, अथवा काक्षाओ के अन्त सिरे पर है। (खुरो अतेण वहति) जैसे छुरा अन्तिम भाग (अन्तिम सिरे) से कार्य करता (चलता) है, (चक्क अतेण लोटठई) रथ का पहिया भी अन्तिम भाग (किनारे) से ही चलता है—गति करता है ॥१४॥

(धीरा अताणि सेवति) परीषहो व उपसर्गो को सहने मे धीर, अथवा विषय-सुखो की इच्छारहित बुद्धि से सुशोभित साधक अन्त—प्रान्त आहार का सेवन करते है, (तेण इह अतकरा) इसी कारण वे ससार का अन्त कर देते है। (इह माणुस्सए ठाणे णरा धम्ममाराहिउ) इस मनुष्यलोक मे दूसरे मनुष्य (साधक) भी धर्माराधन करके ससार का अन्त करते है ॥१५॥

भावार्थ

जो मोक्षाभिमुखी साधक होते है, वे जीवन के प्रति निरपेक्ष होकर कर्मो (ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मो) का अन्त पा लेते है, यानी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जो पुरुष विशिष्ट तप, सयम आदि के उत्तम आचरण (सदनुष्ठानरूप धर्मक्रिया) से मोक्ष के सम्मुख-से होकर जीते है, वे ही मोक्षमार्ग पर आधिपत्य (शासन) करते है, अथवा वे ही जीवन्मुक्त साधक मोक्षमार्ग की शिक्षा देते है ॥१०॥

उनके द्वारा दी जाने वाली मोक्षमार्ग की शिक्षा या धर्मदेशना भिन्न-भिन्न प्राणियो के लिए अभिप्राय, रुचि, योग्यता आदि के भेद से विभिन्न प्रकार की होती है, या वह विभिन्न रूपो मे परिणत होती है। इसलिए सयम का धनी, पूजा-सत्कार-प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि आदि मे रुचि न रखने वाला, सब प्रकार की विषयभोगो की वासना (आशय) से रहित, सयम मे पुरुषार्थ करने वाला, इन्द्रियमनोविजेता, महाव्रत आदि की कृत प्रतिज्ञा दृढ-अटल, एव मैथुनसेवन से विरत साधक ही मोक्ष के अभिमुख या मोक्षमार्ग का अनुशासक होता है ॥११॥

सूअर आदि प्राणियो को प्रलोभित करके जाल मे फँसाकर मौत के मुँह मे पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान प्रलोभनीय स्त्रीप्रसग या अल्पकालिक विषयलोभ मे जो वीर साधक लीन नही होता, फँसता नही, जिसने विषयभोगरूप या ससारागमनरूप आस्रवद्वारो को छिन्न-भिन्न कर

डाला है, जो राग द्वेषरूप मल से रहित – शुद्ध है, जो सदा इन्द्रियो और मन पर नियत्रण रखता है विषयभोगो मे प्रवृत्त न होने से स्थितप्रज्ञ या स्थिरचित्त है, वही पुरुष अनुपम भावसन्धि—मोक्षाभिमुखता को प्राप्त करता है ।।१२।।

जो साधक अनन्यसदृश—अनुपम सयम या वीतरागप्ररूपित धर्म का मर्मज्ञ है, वह मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध नही करता। जो पुरुष ऐसा है, वही दिव्यनेत्रवान या परमार्थदर्शी है ।।१३।।

जो साधक सब प्रकार की विषयभोग आदि की काक्षाओ का अन्त (समाप्त) करने वाला या जो काक्षाओ के अन्त—सिरे पर है, वही मनुष्यो का नेत्र है—नेता मार्गदर्शक है। जैसे छुरा या उस्तरा अन्तिम भाग (अन्तिम सिरे) से कार्य करता है (चलता है), रथ का पहिया भी अन्तिम भाग (किनारे) से ही चलता है, वैसे ही मोक्षाभिमुख साधक मोहनीय आदि कर्मों का अन्त करके ही ससार के अन्त (पार) तक या मोक्ष के अन्त (किनारे) पर पहुँच जाता है ।।१४।।

परीषहो और उपसर्गो मे सहिष्णु या विषयनिरपेक्ष बुद्धि से सुशोभित धीर साधक अन्तप्रान्त (बचे-खुचे ठडे बासी रूक्ष) आहार का सेवन करते है, इस कारण वे ससार का अन्त या समस्त दु खो का अन्त कर देते है । ऐसे ही पुरुष इस मनुष्यलोक मे धर्म की आराधना करके ससारसागर का अन्त (पार) कर देते हैं, अथवा धर्माराधना के योग्य होते है ।।१५।।

व्याख्या

मोक्षाभिमुख साधको की साधना का साराश

१०वी गाथा से लेकर १५वी गाथा तक विभिन्न पहलुओ से मोक्षाभिमुख साधको को साधना का साराश बताया गया है। मोक्षाभिमुखी साधक का अर्थ है—जिसका मुख मोक्ष की ओर हो गया है, जो अब ससार या ससार के विषय-भोगो, सुख-सुविधाओ, लुभावनी भोगसामग्री, उत्तम स्वादिष्ट आहार, पानी, सुन्दर मकान, शरीरप्रसाधन, साजसज्जा आदि की ओर झाँककर भी नही देखता, अर्थात् ससार या ससार के बन्धन मे डालने वाले कारणो से विमुख हो गया है, अथवा ससार-बन्धन मे डालने वाले कर्मो, कर्मो के कारणो—आस्रवो आदि का जिसने अन्त कर दिया है। जो ससारसागर को पार करके मोक्ष के तट पर पहुँच गया है, अथवा उधर ही जिसके पैर सरपट गति से बढ रहे हैं, जो दृढतापूर्वक मजबूत कदमो से मोक्ष की ओर गति कर रहा है, इधर-उधर ससार की लुभावनी झाँकियो को नही देखता, जो देहनिरपेक्ष, जीवननिरपेक्ष, प्रसिद्धि, नामना, कामना, पूजा-सत्कार आदि से

बिलकुल निरपेक्ष हो गया है, जो केवल मोक्ष की ही बात करता है, मोक्ष का ही ध्यान, चिन्तन एव मनन करता है, मोक्ष के अनुष्ठानो मे ही दिलचस्पी लेता है, मोक्ष की ही क्रिया करता है, मोक्ष का ही उपदेश करता है। ससारमार्ग से कोई वास्ता नही रखता, सासारिक सम्बन्धो से कोई लगाव नही रखता, उसी महामुनि को मोक्षाभिमुख कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण को शास्त्रकार ६ गाथाओ मे स्पष्ट करते है।

मोक्षाभिमुख साधक असयमी जीवन या प्राणधारण रूप जीवन की ओर पीठ कर देते है, यानी उससे बिलकुल विमुख या निरपेक्ष हो जाते है। इस प्रकार जीने की इच्छा का त्याग करके वे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का या चार प्रकार के घातिकर्मो का अन्त कर देते है। अर्थात् वे जीवन-निरपेक्ष साधक उत्तम ज्ञान-दर्शन-चारित्र का अनुष्ठान करके ससारसागर के अन्तस्वरूप, समस्त द्वन्द्वो के अभावरूप मोक्ष को प्राप्त करते है। यद्यपि वे पुरुष समस्त दु खो की निवृत्तिरूप या सर्वकर्म-क्षयरूप मोक्ष को अभी तक प्राप्त नही है, तथापि वे तप-सयम आदि की विशिष्ट धर्मक्रिया के द्वारा मोक्ष के सम्मुख हैं—चार प्रकार के घातिकर्मो का क्षय करके दिव्य ज्ञान से युक्त एव मोक्षपद के अभिमुख हैं ऐसे मोक्षाभिमुख साधक की पहिचान क्या है ? इसके लिए शास्त्रकार कहते है—'जे मग्गमणुसासई।' इस वाक्य के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि जो मोक्षमार्ग पर अनुशासन—आधिपत्य करते हैं, यानी जिनका मोक्षमार्ग पर इतना असाधारण अधिकार हैं कि वे ससार-मार्ग की ओर जरा भी मुड नही सकते, जिनकी गति-मति और प्रगति मोक्ष की ओर अटल है। दूसरा अर्थ यह है कि जो प्राणियो के हित के लिए भव्य जीवो को मोक्षमार्ग की ही शिक्षा या धर्मदेशना देते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त साधको को मोक्षाभिमुख समझो।

मोक्षमार्ग का ही उपदेश देने वाला मोक्षाभिमुख उत्तम साधक कैसा होता है ? इसे ही शास्त्रकार वसुम, पूयणासए, अणासए, जए दते दढे, आरयमेहुणे, इन विशेषणो द्वारा बताते हैं। मोक्षमार्ग का अनुशासक या मोक्षाभिमुख वही हो सकता है, जो सयमधन से युक्त हो, जो पूजा-प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार, नामना-कामना, या प्रसिद्धि मे बिलकुल दिलचस्पी न रखता हो, जो विषयभोगो की (आशय) वासना से रहित हो, इन्द्रियो और मन को दमन करने वाला हो, अपनी महाव्रत आदि की प्रतिज्ञाओ पर दृढ रहता हो, अथवा देवता, नरेन्द्र आदि द्वारा वैषयिक प्रलोभन दिये जाने पर भी जो अपने सकल्प एव यमनियम पर चट्टान-सा अविचल, अटल रहता हो, जो मैथुनादि इन्द्रिय सम्बन्धी भोगो से बिलकुल विरक्त— निवृत्त हो। वसु धन को कहते हैं, चारित्रात्माओ के लिए सयम ही धन है। इसलिए यहाँ वसुमान का अर्थ सयम-धन से युक्त है। इन विशेषण से युक्त जीवन्मुक्त साधक ही मोक्षाभि-मुख और मोक्षमार्ग का अनुशासक होता है।

अणुसासण—यहाँ अनुशासन का अर्थ है—जिस शिक्षा या देशना से प्राणी सद्- -विवेकी बनाये जाकर सन्मार्ग पर चढाये जायें।[१]

किन्तु मोक्षाभिमुख पुरुषो द्वारा किया गया मोक्षमार्ग का इस प्रकार का अनुशासन (धर्मोपदेश) भव्य-अभव्य प्राणियो के अभिप्राय, रुचि, प्रकृति, आदत और सस्कार के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का और उन जीवो मे भिन्न-भिन रूप से परिणत होता है। जैसे पृथ्वी की विवि । के कारण मेघो से बरसा हुआ एक ही प्रकार का जल अनेक रूपो मे परिणत हो जाता है, वैसे ही प्राणियो की रुचि, योग्यता आदि की भिन्नता के कारण एक ही मोक्षाभिमुख जीवन्मुक्त साधक का उपदेश (अनु-शासन) भिन्न-भिन्न रूप मे परिणत होता है। अभव्य प्राणियो मे सर्वज्ञ मोक्षाभिमुख ज का उपदेश उचित रूप मे परिणत नही होता, इसमे सब उपायो को जानने वाले अनुशासक का कोई दोष नही है। अभव्य प्राणियो के स्वभाव का ही यह परिणाम है कि सर्वज्ञ निर्दोष धर्मोपदेशक का वाक्य एकान्त हितकर, अमृतस्वरूप एव समस्त द्वन्द्वो का विनाशक होने पर भी अभव्यो मे यथार्थरूप मे परिणत नही होता। यद्यपि मोक्षाभिमुख सर्वज्ञ महापुरुष के श्रीमुख से तो एक ही प्रकार की धर्म देशना निकलती है, तथापि श्रोताओ की विभिन्नता के कारण उसकी परिणति मे अन्तर पड जाता है। इसलिए आचार्य ने कहा है—

सद्धर्म बीजवपनानघकौशलस्य,
यल्लोकबान्धव ! तवाऽपि खिलान्यभूवन्।
तन्नाद्भुत, खगकुलेष्विह तामसेषु,
सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाता ॥

हे लोकबान्धव ! सद्धर्मरूपी बीज को बोने मे आपकी कुशलता सर्वथा निर्दोष है, उसमे कोई त्रुटि नही होती, फिर भी आपके लिए कोई-कोई भूमि ऊसर सिद्ध होती है। अर्थात् कई जीवो पर आपका प्रयास निष्फल जाता है, इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। क्योकि अन्धकार मे विचरण करने वाले कुछ पक्षी (उल्लू आदि) ऐसे भी होते हैं, जिन्हे सूर्य की किरणें भ्रमरी के पैर की तरह काली ही नजर आती हैं।

इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'अणुसासण पुढो पाणी।'

ऐसा मोक्षाभिमुख जीवन्मुक्त साधक स्त्रीप्रसग मे कदापि लीन नही होता, अर्थात् ग्रस्त नही होता, इसे उपमा देकर शास्त्रकार समझते हैं—'णीवारे व'। नीवार चावल आदि धान्य विशेष के कणो को कहते हैं। शिकारी (व्याध) आदि

---

१ अनुशास्यन्ते सन्मार्गेऽवतार्यन्ते सद्-असद्विवेकत प्राणिनो येन तदनुशासनम्—धर्मदेशनया सन्मार्गावतारणाम्।'

सूत्र० वृत्ति

बिलकुल निरपेक्ष हो गया है, जो केवल मोक्ष की ही बात करता है, मोक्ष का ही ध्यान, चिन्तन एव मनन करता है, मोक्ष के अनुष्ठानो मे ही दिलचस्पी लेता है, मोक्ष की ही क्रिया करता है, मोक्ष का ही उपदेश करता है। ससारमार्ग से कोई वास्ता नही रखता, सासारिक सम्बन्धो से कोई लगाव नही रखता, उसी महामुनि को मोक्षाभिमुख कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण को शास्त्रकार ६ गाथाओ मे स्पष्ट करते है।

मोक्षाभिमुख साधक असयमी जीवन या प्राणधारण रूप जीवन की ओर पीठ कर देते है, यानी उससे बिलकुल विमुख या निरपेक्ष हो जाते है। इस प्रकार जीने की इच्छा का त्याग करके वे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का या चार प्रकार के घातिकर्मो का अन्त कर देते है। अर्थात् वे जीवन-निरपेक्ष साधक उत्तम ज्ञान-दर्शन-चारित्र का अनुष्ठान करके ससारसागर के अन्तस्वरूप, समस्त द्वन्द्वो के अभावरूप मोक्ष को प्राप्त करते है। यद्यपि वे पुरुष समस्त दु खो की निवृत्तिरूप या सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष को अभी तक प्राप्त नही है, तथापि वे तप-सयम आदि की विशिष्ट धर्मक्रिया के द्वारा मोक्ष के सम्मुख हैं—चार प्रकार के घातिकर्मो का क्षय करके दिव्य ज्ञान से युक्त एव मोक्षपद के अभिमुख हैं ऐसे मोक्षाभिमुख साधक की पहिचान क्या है ? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'**जे मग्गमणुसासई।**' इस वाक्य के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि जो मोक्षमार्ग पर अनुशासन—आधिपत्य करते हैं, यानी जिनका मोक्षमार्ग पर इतना असाधारण अधिकार हैं कि वे ससार-मार्ग की ओर जरा भी मुड नही सकते, जिनकी गति-मति और प्रगति मोक्ष की ओर अटल है। दूसरा अर्थ यह है कि जो प्राणियो के हित के लिए भव्य जीवो को मोक्षमार्ग की ही शिक्षा या धर्मदेशना देते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त साधको को मोक्षाभिमुख समझो।

मोक्षमार्ग का ही उपदेश देने वाला मोक्षाभिमुख उत्तम साधक कैसा होता है ? इसे ही शास्त्रकार **वसुम, पूयणासए, अणासए, जए दते दढे, आरयमेहुणे,** इन विशेषणो द्वारा बताते है। मोक्षमार्ग का अनुशासक या मोक्षाभिमुख वही हो सकता है, जो सयमधन से युक्त हो, जो पूजा-प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार, नामना-कामना, या प्रसिद्धि मे बिलकुल दिलचस्पी न रखता हो, जो विषयभोगो की (आशय) वासना से रहित हो, इन्द्रियो और मन को दमन करने वाला हो, अपनी महाव्रत आदि की प्रतिज्ञाओ पर दृढ रहता हो, अथवा देवता, नरेन्द्र आदि द्वारा वैषयिक प्रलोभन दिये जाने पर भी जो अपने सकल्प एव यमनियम पर चट्टान-सा अविचल, अटल रहता हो, जो मैथुनादि इन्द्रिय सम्बन्धी भोगो से बिलकुल विरक्त— निवृत्त हो। वसु धन को कहते हैं, चारित्रात्माओ के लिए सयम ही धन है। इसलिए यहाँ वसुमान का अर्थ सयम-धन से युक्त है। इन विशेषण से युक्त जीवन्मुक्त साधक ही मोक्षाभिमुख और मोक्षमार्ग का अनुशासक होता है।

अणुसासण—यहाँ अनुशासन का अर्थ है—जिस शिक्षा या देशना से प्राणी मद् -विवेकी बनाये जाकर सन्मार्ग पर चढाये जायें।[1]

किन्तु मोक्षाभिमुख पुरुषो द्वारा किया गया मोक्षमार्ग का इस प्रकार का अनुशासन (धर्मोपदेश) भव्य-अभव्य प्राणियो के अभिप्राय, रुचि, प्रकृति, आदत और पस्कार के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का और उन जीवो मे भिन्न-भिन रूप से परिणत होता है। जैसे पृथ्वी की विि ा के कारण मेघो से वरसा हुआ एक ही प्रकार का जल अनेक रूपो मे परिणत हो जाता है, वैसे ही प्राणियो की रुचि, योग्यता आदि की ि ा के कारण एक ही मोक्षाभिमुख जीवन्मुक्त साधक का उपदेश (अनुशासन) भिन्न-भिन्न रूप मे परिणत होता है। अभव्य प्राणियो मे सर्वज्ञ मोक्षाभिमुख आप्त का उपदेश उचित रूप मे परिणत नही होता, इसमे सव उपायो को जानने वाले अनुशासक का कोई दोप नही है। अभव्य प्राणियो के स्वभाव का ही यह परिणाम है कि सर्वज्ञ निर्दोष धर्मोपदेशक का वाक्य एकान्त हितकर, अमृतस्वरूप एव समस्त द्वन्द्वो का विनाशक होने पर भी अभव्यो मे यथार्थरूप मे परिणत नही होता। यद्यपि मोक्षाभिमुख सर्वज्ञ महापुरुष के श्रीमुख से तो एक ही प्रकार की धर्म देशना निकलती है, तथापि श्रोताओ की विभिन्नता के कारण उसकी परिणति मे अन्तर पड जाता है। इसलिए आचार्य ने कहा है—

> सद्धर्म बीजवपनानघकौशलस्य,
> यल्लोकबान्धव ! तवाऽपि खिलान्यभूवन्।
> तन्नाद्भुत, खगकुलेष्विह तामसेषु,
> सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाता ॥

हे लोकबान्धव ! सद्धर्मरूपी बीज को बोने मे आपकी कुशलता सर्वथा निर्दोष है, उसमे कोई त्रुटि नही होती, फिर भी आपके लिए कोई-कोई भूमि ऊसर सिद्ध होती है। अर्थात् कई जीवो पर आपका प्रयास निष्फल जाता है, इसमे कोई र्य की बात नही है। क्योंकि अन्धकार मे विचरण करने वाले कुछ पक्षी (उल्लू आदि) ऐसे भी होते हैं, जिन्हे सूर्य की किरणें भ्रमरी के पैर की तरह काली ही नजर आती हैं।

इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'अणुसासण पुढो पाणी।'

ऐसा मोक्षाभिमुख जीवन्मुक्त साधक स्त्रीप्रसग मे कदापि लीन नही होता, अर्थात् ग्रस्त नही होता, इसे उपमा देकर शास्त्रकार समझते हैं—'णीवारे व'। नीवार चावल आदि धान्य विशेष के कणो को कहते हैं। शिकारी (व्याध) आदि

---

1 अनुशास्यन्ते सन्मार्गेऽवतार्यन्ते सद्-असद्विवेकत प्राणिनो येन तदनुशासनम्—धर्मदेशनया सन्मार्गावतारणाम्।'
सूत्र० वृत्ति

मनुष्य सूअर, कबूतर आदि प्राणियो को फँसाने के लिए जगल मे जाल बिछा देते हैं और वही चावल आदि के दाने बिखेर देते है, वह प्राणी चावल आदि के दानो के लोभ मे आकर उन दानो को खाने लगता है, और वही फँस जाता है। अर्थात् उसे बाँध दिया जाता है, और फिर उसे मौत के घाट उतार दिया जाता है। उन भोले जानवरो के लिए नीवार एक तरह से मौत का कारण है, वैसे ही स्त्रीप्रसग भी अनेक बार जन्म, मरण तथा अन्य नाना प्रकार के दु खो का कारण है, यह समझकर साधक उसमे बिलकुल नही फँसता।

छिन्नसोए जिसने आस्रवद्वारो या पाँचो इन्द्रियो के विषय-भोगो मे प्रवृत्ति के द्वारो (समारागमनद्वारो) को छिन्न-भिन्न कर दिया है, वह छिन्नस्रोत है।

रागद्वेषरूपी मल से रहित होने से जो अनाविल है, अथवा जो अनाकुल है—विषयभोगो मे प्रवृत्त न होने के कारण स्वस्थचित्त है। इन्द्रियो और मन पर सदा नियत्रण रखता है। इस प्रकार के अनुपम गुणो से विशिष्ट महापुरुष ही अनुपम भावसन्धि—कर्मक्षयरूप मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

अणेलिसस्स खेयन्ने—मोक्षाभिमुख साधक के लिए यह महत्त्वपूर्ण गुण है कि वह अनीदृश यानी अनन्यसदृश (जिसके समान ससार मे और कोई पदार्थ न हो) सयम या वीतरागप्रतिपादित धर्म का मर्मज्ञ होता है, अथवा खेदज्ञ का यह अर्थ भी प्रतीत होता है कि अनन्यसदृश धर्म या सयम पालन करने मे साधक को कितने-कितने खेदो, परीषहो, उपसर्गो या आफतो का सामना करना पडता है, इसका जो ज्ञाता-अनुभवी हो। तथा ऐसा मोक्षाभिमुख साधक मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध नही करता, अपितु सबके प्रति मैत्री-भावना, अभिन्नता, आत्मतुल्य भावना रखता है, करुणा, प्रमोद एव माध्यस्थ भावना रखता है। आशय यह है कि ऐसा महान् साधक किसी के साथ अन्त करण से विरोध नही करता, किन्तु चित्त को शान्त एव मैत्री आदि भावो से ओत-प्रोत रखता है। वचन से किसी के प्रति अपशब्द या कटुशब्द नही निकालता, अपितु हित, मित, प्रिय एव सत्य बोलता हैं। शरीर से भी वह सयम विरोधी कोई चेष्टा नही करता। ऐसा मोक्षाभिमुख

ही वस्तुत दिव्य विचारचक्षु से सम्पन्न है या परमार्थतत्त्वदर्शी है। वह सर्वोत्तम सयम या तीर्थंकरोक्त धर्म का मर्मज्ञ मोक्षाभिमुख साधक ही वास्तव मे मनुष्यो का नेत्र है, अर्थात् नेता—पथप्रदर्शक है, बशर्ते कि वह शब्दादि समस्त विषयो की आकाक्षाओ का अन्त कर चुका हो, अथवा समस्त आकाक्षाओ के अन्त पर सिरे स्थित हो। विषयतृष्णा (या आकाक्षाओ) के अन्त—सिरे पर रहने वाला

कैसे अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि कर लेता है? इसी को शास्त्रकार दो दृष्टान्तो द्वारा समझाते हैं—उस्तरा या छुरा अन्त (अग्र) भाग से ही काम करता है, रथ का पहिया भी अन्त (अन्तिम सिरे) से मार्ग पर चलता है, जैसे इन दोनो का

अन्त भाग ही कार्यसाधक होता है, वैसे ही ससार के या ससार-परिभ्रमण के या विषयकारणभूत कपायरूप मोहनीय आदि कर्मों के अन्त भाग पर या मोक्ष के अन्त (तटीय) भाग पर स्थित होकर ही मोक्षाभिमुख साधक अपना मोक्षप्राप्तिरूप कार्य सिद्ध करता है।

फिर वे मोक्षाभिमुख साधक वीर होते हैं, अर्थात् महासत्त्व होते हैं, वे देव-मनुष्य-तिर्यञ्चकृत उपसर्गों या परीपहो को सहने मे सक्षम होते है, अथवा वे विपय सुखो की इच्छा से बिलकुल रहित होते है।

अताणि सेवति—ऐसे पुरुष अन्तो का सेवन करते है। अर्थात् बच्चे-खुचे, रूखे-सूखे, ठडे, नीरस आहार—अन्तआहार अथवा प्रान्त आहार का सेवन करते है, अथवा वे ग्राम या नगर के अन्त-प्रान्त प्रदेश (निर्जन एकान्त स्थान) का सेवन करते है, जहाँ उन्हे किसी प्रकार की सुख-सुविधा न मिले, अथवा विपय-कपाय की स्पृहा के अन्त का सेवन करते है। इस प्रकार के अन्त-प्रान्त के अभ्यास से वे ससार का अन्त करते है, अथवा ससार के कारणभूत कर्मों का अन्त करते हैं। ऐसे मोक्षाभिमुख पुरुप केवल तीर्थंकर आदि ही नही, किन्तु इस मनुष्य-लोक मे या आर्यक्षेत्र मे दूसरे मानव भी सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म की आराधना करके कर्मभूमि मे सख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज होकर सदनुष्ठान की सामग्री पाकर ससार का अन्त करने वाले हुए हैं, होते हैं।

यद्यपि इस पचम आरे मे भरतक्षेत्र से मुक्त नही होते, लेकिन महाविदेह क्षेत्र से तो बहुत-से मानव सदा ही मुक्त (सिद्ध) होते रहते है।

मूल

निट्ठियट्ठा व देवा वा, उत्तरीए इय सुय ।
सुयं च मेयमेगेसिं, अमणुस्सेसु णो तहा ॥१६॥
अत करति दुक्खाण, इहमेगेसि आहिय ।
आघायं पुण एगेसि, दुल्लभेऽय समुस्सए ॥१७॥
इओ विद्धसमाणस्स, पुणो ोहि दुल्लहा ।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥१८॥

सस्कृत छाया

निष्ठितार्थाश्च देवा वा, उत्तरीये इद श्रुतम् ।
श्रुतञ्च मयेदमेकेपा, अमनुष्येषु नो तथा ॥१६॥
अन्त कुर्वन्ति दु खानामिहैकेषामाख्यातम् ।
आख्यात पुनरेकेषा, दुर्लभोऽय समुच्छ्रय ॥१७॥

इतो विध्वसमानस्य, पुन सम्बोधिर्दुर्लभा ।
दुर्लभाश्च तथार्चा॰, या धर्मार्थं व्यागृणन्ति ।।१८।।

अन्वयार्थ

(**उत्तरीए इय सुय**) लोकोत्तर प्रवचन (तीर्थंकर की धर्मदेशना) मे मैंने (सुधर्मास्वामी ने) यह (आगे कही जाने वाली) बात सुनी है कि (**निट्ठियट्ठा व देवा वा**) मनुष्य ही कर्मक्षय करके सम्यग्दर्शनादि के आराधन से कृतकृत्य (निष्ठितार्थ) होते हैं—यानी मुक्ति (सिद्धगति) प्राप्त करते हैं, अथवा कर्म शेष रहने पर सौधर्म आदि देव बनते हैं। (**एय एगेसि**) यह मोक्षप्राप्ति (कृतकृत्यता) भी किन्ही विरले मनुष्यो को ही प्राप्त होती है, (**अमणुस्सेसु णो तहा**) मनुष्य योनि या गति से भिन्न योनि या गति वाले प्राणियो को मनुष्यो के जैसी कृतकृत्यता या मुक्ति (सिद्धि) प्राप्त नही होती। (**मे सुय**) ऐसा मैंने तीर्थंकर भगवान् के मुख से साक्षात् सुना है ॥१६॥

(**एगेसि आहिय**) कई अन्यतीर्थिको का कथन है कि देव ही समस्त दु खो का अन्त करते हैं, मनुष्य नही, परन्तु ऐसा सभव नही है, क्योकि (**इह**) इस आर्हत्प्रवचन मे तीर्थंकर, गणधर आदि का कथन है कि मनुष्य ही (**दुक्खाण अत करति**) शारीरिक-मानसिक आदि समस्त दु खो का अन्त करते हैं। इस सम्बन्ध मे (**एगेसि पुण आहिय**) किन्ही गणधर आदि का कथन है कि (**अय समुस्सए दुल्लहे**) यह समुच्छ्रय—समुन्नत विकसित मानव शरीर या मानव जन्म मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, अथवा मनुष्य के बिना यह (आगे कहा जाने वाला) समुच्छ्रय यानी धर्मश्रवणादिरूप अभ्युदय भी दुर्लभ हे, फिर मोक्ष पाना तो दूर की बात है ॥१७॥

(**इओ विद्ध समाणस्स**) जो जीव इस मनुष्यभव से भ्रष्ट हो जाता है, उसे (**पुणो सबोहि दुल्लहा**) पुन जन्मान्तर मे सद्धर्म का बोध (सम्बोधि) प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ—कठिन है। (**तहच्चाओ दुल्लहाओ**) सम्बोधि (सम्यग्दर्शन) प्राप्ति के योग्य तेजस्वी मनुष्यदेह अथवा बोधिग्रहण योग्य आत्म-परिणतिरूप शुभलेश्या प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। (**जे धम्मट्ठ वियागरे**) जो जीव धर्म की व्याख्या करते हैं अथवा जो धर्म को प्राप्त करने या धर्म का अनुष्ठान पाने योग्य हैं, उनकी लेश्या प्राप्त करना दुर्लभ है ॥१८॥

भावार्थ

मैंने तीर्थंकर भगवान् के लोकोत्तर प्रवचन मे सुना है कि मनुष्य ही कर्मक्षय करके मोक्ष पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं अथवा कुछ कर्म शेष हो तो सौधर्म आदि देव होते है। तथा मैंने तीर्थंकर आदि से यह भी सुना है कि यह मोक्षप्राप्ति (कृतकृत्यता) भी किन्ही विरले ही मनुष्यो को होती है, क्योकि मनुष्य से भिन्न गति एव योनि वाले जीवो मे ऐसी योग्यता नही होती ॥१६॥

किन्ही अन्यतीर्थिको का कथन है कि देव ही क्रमश समस्त दु खो का अन्त (नाश) करते है, दूसरे प्राणी नही, किन्तु यह सम्भव नही। क्योकि इस आर्हत्प्रवचन मे तीर्थंकर, गणधर आदि का कथन है कि मनुष्य ही समस्त दु खो का अन्त (नाश) करते हैं। किन्ही गणधर आदि का यह भी कथन है कि यह समुच्छ्रय—मनुष्यभव, आर्यक्षेत्र, मंश्रवण आदि अभ्युदय प्राप्त होना दुर्लभ है, अथवा मनुष्य शरीररूप अभ्युदय प्राप्त करना वडा कठिन है ॥१७॥

जो जीव इस मनुष्य शरीर से भ्रष्ट हो जाता है, उसे फिर जन्मान्तर मे सम्बोधि (सम्यग्दृष्टि) प्राप्त होना अति दुर्लभ है। तथा बोधिप्राप्ति-योग्य आत्मा (अन्त करण) की शुभ परिणतिरूप लेश्या अथवा बोधिग्रहण-योग्य तेजस्वी देह पाना बडा कठिन है। एव जो जीव धर्म की व्याख्या करते है, अथवा धर्म की प्राप्ति के योग्य हैं, उनकी लेश्या (अन्त करण-परिणति) प्राप्त करना बहुत मुश्किल है ॥१८॥

व्याख्या

मोक्षप्राप्तियोग्य मनुष्य जन्म तथा अभ्युदय कितना दुर्लभ ?

१६वी से १८वी गाथा तक मे शास्त्रकार ने मोक्षप्राप्ति के योग्य, मनुष्य, मनुष्यभव, दु खो का अन्त, तदनुरूप लेश्या आदि की दुर्लभता का उल्लेख करके यह ध्वनित कर दिया है कि मनुष्य मोक्षप्राप्ति के लिए भरसक पुरुपार्थ करे।

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि यह मैंने लोकोत्तर तीर्थंकर भगवान से या तीर्थंकर भगवान् के लोकोत्तर प्रवचन से सुना है कि मनुष्य ही सम्यग्दर्शन आदि की आराधना करके समस्त कर्म-क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करते है, और निष्ठितार्थ यानी कृतार्थ हो जाते हैं। कई मनुष्य जिनके कर्म शेष रह जाते है, वे सौधर्म आदि विमानवासी देव हो जाते है। इससे आगे फिर वे इसी प्रकार कहते है—मनुष्य गति मे ही मोक्षप्राप्ति (सिद्धिप्राप्ति) होती है, अन्य गति मे नही। अर्थात् मनुष्य ही सर्वकर्मों का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त करता है, जो मनुष्य नही है, वह नही। इस कथन से शाक्यो ने जो यह कहा है कि देवता ही समस्त कर्मो को क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते हैं, वह मान्यता खण्डित समझनी चाहिए, क्योकि मनुष्य के अतिरिक्त जो तीन गतियाँ हैं, उनमे सम्यक्चारित्र का परिणाम नही है, इसलिए मनुष्य की तरह मोक्षप्राप्ति नही हो सकती।

१७वी गाथा मे इसी वात को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते है—'अत करति दु इहमेगेसि आहिय' आशय यह है कि किन्ही मतवादियो का यह कथन है कि देवता ही उत्तरोत्तर स्थानो को प्राप्त करते हुए समस्त दु खो का अन्त (नाश) कर सकते हैं, मनुष्य नही। यह कथन युक्तियुक्त नही है। क्योकि देव आदि भवो

मे धर्माराधन का अभाव है। अत वे मोक्षगति (देव आदि भवो से) प्राप्त नही कर सकते, न दुखो का अन्त कर सकते है। इसके विपरीत आर्हतमत मे तीर्थंकर, गणधर आदि का कथन है कि मनुष्य ही समस्त दुखो का अन्त कर सकता है और मोक्ष प्राप्त कर सकता है, दूसरे प्राणी नही।

साथ ही गणधर आदि का कहना है कि मनुष्य भव मे ही धर्माराधना की परिपूर्ण सामग्री का सद्भाव होता है। इसलिए मनुष्य के बिना मनुष्य शरीर, उत्तम क्षेत्र, सद्धर्मश्रवण, श्रद्धा तथा चारित्र मे पराक्रम आदि सब समुच्छ्रय—अभ्युदय प्राप्त होना दुर्लभ है, फिर मोक्ष पाने की बात तो दूर है। अथवा मनुष्य शरीर-रूप अभ्युदय का प्राप्त करना अतीव दुर्लभ है। जो व्यक्ति धर्माचरण नही करता है, जिसके पुण्य प्रबल नही है, उसे मानव शरीर प्राप्त होना कठिन है। जैसे महासागर मे गिरे हुए रत्न का पुन पाना अतिदुर्लभ है, इसी तरह मानव-शरीर मिलना भी दुर्लभ है। कहा भी है—

ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधससारजलधिविभ्रष्टम्।
मानुष्य खद्योततडिल्लताविलसित प्रतिमम् ॥

अर्थात्—यह मानवशरीर जुगनू के प्रकाश और बिजली की चमक के समान अत्यन्त चचल है। इसलिए यदि वह अगाध ससार-सागर मे गिर गया तो फिर इसका प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

जिस मनुष्य के पुण्य का सचय नही होता, वह धर्माराधना या सयम-पालन से रहित मानव इस उत्तम देवदुर्लभ मानव शरीर से या उत्तमधर्म से भ्रष्ट होकर इस ससार की अटपटी विविध योनियो और गतियो मे भटकता है, उसे एक बार मानव-शरीर से भ्रष्ट हो जाने के बाद फिर दूसरे तिर्यंच आदि जन्मो मे सम्बोधि—सम्यग्दृष्टि का पाना अतीव दुर्लभ है। क्योकि जैनदर्शन का यह सिद्धान्त है कि सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने के बाद उत्कृष्ट अर्धपुद्गलपरावर्तकाल के पश्चात् फिर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से मनुष्य शरीर या सम्यग्दर्शनरूप उत्तम धर्म से भ्रष्ट होने के बाद जन्मान्तर मे सम्बोधि का पाना दुर्लभ बताया है।

एक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यहाँ व्यक्त किया है कि सम्यग्दर्शन या सम्बोधि की प्राप्ति के योग्य शुभलेश्या (आत्मा या अन्त करण की शुद्ध परिणति) का प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। अथवा अर्चा का अर्थ है—तेजस्वी (ज्वाला के समान) मानव शरीर। जिसने धर्मरूपी बीज नही बोया है, उसे तेजस्वी मानव शरीर प्राप्त नही होता। तब फिर आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल मे जन्म, समस्त इन्द्रियो की पूर्णता इत्यादि सामग्री का मिलना तो और भी दुर्लभ है। साथ ही जो धर्म-प्राप्ति करने योग्य जीव है, उनकी-सी लेश्या प्राप्त करना भी जीवो के लिए अत्यन्त कठिन है।

मूल पाठ

जे धम्म सुद्धमक्खति, पडिपुन्नमणेलिस ।
अणेलिसस्स ज ठाण, तस्स जम्मकहा कओ ?॥१९॥

सस्कृत छाया

ये धर्म शुद्ध माख्यान्ति, प्रतिपूर्णमनीदृशम् ।
अनीदृशस्य यत्स्थान, तस्य जन्म-कथा कुत ॥१९॥

र्थ

(जे) जो महापुरुष (पडिपुन्नमणेलिस सुद्ध धम्म अक्खति) प्रतिपूर्ण, सर्वोत्तम, शुद्ध धर्म की व्याख्या करते हैं, (अणेलिसस्स ज ठाण) वे सर्वोत्तम (अनुपम) स्थान को प्राप्त करते है। (तस्स जम्मकहा कओ) फिर उनके लिए जन्म लेने की तो बात ही कहाँ है ?

भावार्थ

जो पुरुष प्रतिपूर्ण, सर्वोत्तम और शुद्धधर्म की व्याख्या करते है, और स्वय आचरण करते है, वे सव दु खो से रहित सर्वोत्तम पुरुष का जो स्थान है, उसको प्राप्त करते हैं, उनके लिए फिर जन्म लेने और मरने की बात भी नही है।

व्याख्या

परिपूर्ण अनुपम शुद्धधर्म के व्याख्याता जन्म-मरणरहित

धर्म का उपदेशक कैसे धर्म की व्याख्या करता है ? उसकी क्या स्थिति होती है ? इसे इस गाथा मे शास्त्रकार ने वताया है।

जो महापुरुष विशुद्ध अन्त करण वाले है, रागद्वेषरहित हैं, केवलज्ञान सम्पन्न हैं, हस्तामलकवत् सारे जगत को देखते हैं, परहितरत रहते हैं, वे आयत-चारित्र होने से धर्मपरिपूर्ण है, समस्त उपाधियो से वर्जित होने से शुद्ध है, या यथाख्यातचारित्ररूप हैं, एव जो सबसे उत्तम है तथा सब से उत्कृष्ट है, उस धर्म का प्रतिपादन एव आचरण करते हैं। ऐसे महापुरुष उस स्थान को प्राप्त कर लेते है, जो समस्त दु ख-द्वन्द्वो से रहित हैं और जो ऐसे अनुपम ज्ञानदर्शन-चारित्र-सम्पन्न महापुरुष को मिला करता है। जो इतनी उच्च भूमिका पर पहुँच जाते है, उनके लिए जन्म लेने की बात ही नही सोची जा सकती, जिसका जन्म ही नही होता, उसके मरण के बारे मे तो स्वप्न मे भी नही सोचा जा सकता, क्योकि उनके कर्मबीज नष्ट हो चुके हैं, कहा भी है—

दग्धे वीजे यथाऽत्यन्त, प्रादुर्भवति नाकुर ।
कर्मवीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाकुर ॥

अर्थात्—जैसे बीज जल जाने से उसमे से कोई अकुर बिलकुल उत्पन्न नही होता, वैसे ही कर्मबीज जल जाने पर ससाररूप अकुर उत्पन्न नही होता।

मूल

कओ कयाइ मेहावी, उप्पज्जंति तहागया ।
तहागया अप्पडिन्ना, च ू लोगस्सणुत्तरा ॥२०॥

सं ृ त

कुत कदाचित् मेधावी, उत्पद्यन्ते तथागता ।
तथागता अप्रतिज्ञाश्चक्षुर्लोकस्यानुत्तरा ॥२०॥

अन्वयार्थ

(तहागया) इस जगत् मे फिर नही आने के लिए मोक्ष मे गये हुए (मेहावी) ज्ञानी पुरुष (कओ कयाइ उप्पजति ?) क्या कभी फिर उत्पन्न हो सकते है ? कदापि नही। (अप्पडिन्ना तहागया) निदानरहित वे तीर्थंकर गणधर आदि (लोकस्सणुत्तरा चक्खू) प्राणिजगत् के लिए नेत्र के समान है।

ार्थ

जो पुनरागमन से रहित होकर मोक्ष मे पहुँच गये है, क्या कभी वे मेधावी (केवलज्ञानी) महापुरुष वापस यहाँ लौटकर जन्म ले सकते हैं ? कदापि नही। अर्थात्—उनका पुनर्जन्म नही हो सकता। वे सव प्रकार की कामनाओ (निदानो) से सर्वथा रहित तीर्थंकर गणधर आदि प्राणियो के सर्वोत्तम नेत्र है यानी पथ-प्रदर्शक हैं।

व्याख्या

ऐसे मुक्त महापुरुषो का पुन जन्म कहाँ ?

यह एक माना हुआ तथ्य है, कि मोक्ष मे व्यक्ति तभी जाता है, जब उसके समस्त कर्म कट गए हो, समस्त बन्धनो एव ससार से मुक्त हो गया हो। इसीलिए एक बार मोक्ष मे जाने के बाद फिर यहाँ लौटकर आना नही हो सकता, क्योंकि उसके समस्त कर्म कट गये है, वापस ससार मे आने और जन्ममरण का कोई भी कारण नही है। तब वे ज्ञानी महापुरुष अपवित्र गर्भाधानरूप इस ससार मे फिर कभी कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? निदानरहित अर्थात् सासारिक सुख-भोगो या पदार्थों की कामना (निदान) से रहित, प्राणिहिततत्पर तीर्थंकर, गणधर आदि ससार के सभी प्राणियो के लिए सत्-असत् पदार्थ के प्रदर्शक होने से नेत्र के समान हैं।

मूल

अणुत्तरे य ठाणे से, कासवेण पवेइए ।
ज किच्चा णिव्वुडा एगे, णिट्ठ पावति पडिया ॥२१॥

सस्कृत छाया

अनुत्तर च स्थान तत्, काश्यपेन प्रवेदितम् ।
यत्कृत्वा निर्वृता एके, निष्ठाप्राप्नुवन्ति पण्डिता ॥२१॥

अन्वयार्थ

(से ठाणे अणुत्तरे य) वह सयमरूप स्थान सबसे प्रधान है, (कासवेण पवेइए) काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने जिसका वणन किया है। (ज किच्चा णिव्वुडा एगे पडिया निट्ठ पावति) जिसका पालन करने से जिनकी कपायाग्नि शान्त हो चुकी हैं वे कई पण्डितसाधक ससार के अन्त को प्राप्त कर लेते है।

भावार्थ

काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित सयम नामक स्थान सबसे प्रधान है। जिस सयम की आराधना करके अनेक महापुरुप अपनी कषायाग्नि बुझाकर शीतल बने है और वे पापभीरु मुनि ससार के अन्त को प्राप्त करते है।

व्याख्या

सयम नामक प्रधान स्थान ससार के अन्त का कारण

इस गाथा मे सयम की महत्ता बताई है। जिससे बढकर कोई स्थान नही है, उसे अनुत्तर कहते है, वह सयम नामक स्थान है। काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने इसका कथन किया है। पाप से निवृत्त और ज्ञानादि शुभक्रिया मे प्रवृत्त कोई धीर पुरुप उस सर्वोत्तम सयम स्थान की आराधना करके कपायाग्नि को प्रशान्त करके शीतल बने हैं, और अन्त मे वे ससारचक्र का अन्त प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् वे जन्म-मरण के अन्तरूप सिद्धि को प्राप्त कर लेते है।

मूल पाठ

पडिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पवत्तग।
धुणे पुव्वकड कम्म, णव वाऽवि ण कुव्वई ॥२२॥
ण कुव्वई महावीरे, अणुपुव्वकड रय ।
रयसा सम्मुहीभूया, कम्म हेच्चा ण ज मय ॥२३॥

स ा

पण्डित वीर्यं लब्ध्वा, निर्घाताय प्रवर्त्तकम् ।
धुनीयात् पूर्वकृत कर्म, नव वाऽपि न करोति ॥२२॥
न करोति महावीर, आनुपूर्व्या कृत रय ।
रजसा सम्मुखीभूत कर्मं हित्वा यन्मतम् ॥२३॥

अन्वयार्थ

(पंडिए णिग्घायाय पवत्तग वीरिय लद्धु) पण्डितपुरुप कम का विनाश करने मे समर्थ वीय को पाकर (पुव्वकड धुणे) पूर्वकृत कम का नाश करे ओर (णव वाऽवि ण कुव्वइ) नये कमबन्ध न करे ॥२२॥

(महावीरे) कर्म विदारण करने मे समर्थ धर्मवीर (अणुपुव्वकड रय) दूसरे प्राणी जो क्रमश पाप्कर्म करते है (ण कुव्वई) उसे नही करता, (रयसा) क्योकि वह पापकर्म पूर्वकृत पाप के प्रभाव से ही किया जाता है। (ज मय कम्म हेच्चाण समुहीभूता) अत पापकर्म अथवा उसके कारण का त्याग करके जो तीर्थकर आदि महापुरुपो द्वारा सम्मत और मोक्ष के उपायरूप तप-सयमादि द्वारा आठ कर्मो को नप्ट कर मोक्ष के सम्मुख होते है। अर्थात् मोक्षप्राप्ति के योग्य आचरण मे ही तत्पर रहते हैं ॥२३॥

र्थ

पण्डितसाधक कर्म को विदारण करने मे समर्थ वीर्य को प्राप्त करके पूर्वकृत कर्मो को नष्ट करे और नवीन कर्मबन्ध न करे। दूसरे प्राणी मिथ्यात्व आदि क्रम से जो पापकर्म करते है, उसे कर्म को विदारण करने मे पराक्रमी वीर साधक नही करता। पूर्वभवो मे कृतपाप के द्वारा ही नये पापकर्म किये जाते है। परन्तु वह पुरुष अपने पूर्वकृत पापकर्मो को रोक देता है, ओर आठ प्रकार के कर्मों को त्यागकर मोक्ष के सम्मुख हो जाता है ॥२२-२३॥

व्याख्या

कर्मो से मुक्त मोक्षसम्मुख साधक

इन दो गाथाओ मे कर्मो को रोकने, क्षय करने, पापकर्मों का सर्वथा त्याग करने और आठो ही कर्मो को त्याग करके मोक्षसम्मुख होने का क्रम बताया है। वास्तव मे साधक के लिए समस्त कर्मों से रहित होने का उपाय यही है कि पहले हिताहित-विवेकी पण्डितमुनि अनेक भवो मे उपार्जित कर्मो को विदारण करने मे समर्थ वीर्य (शक्ति) प्राप्त करे, अनेक भवो मे सचित पूर्वकर्मो का त्याग करे और नवीन कर्मो को रोके यानी आस्रवनिरोध करे। साथ ही वह कर्म को विदारण करने मे समर्थ साधक दूसरे प्राणी जैसे मिथ्यात्व आदि के क्रम से पापकर्म करता है, वैसे नही करता क्योकि वह पापकर्म पूर्वभव मे कृतपाप के प्रभाव से ही किया जाता है। किन्तु वह महासमर्थ वीर साधक सुसयम का आश्रय लेकर अपने पूर्वकृत कर्मो को तो दवा देता है, और जीवो द्वारा मान्य ८ प्रकार के जो कर्म है, उन सबको त्यागकर वह मोक्ष या सत्सयम के सम्मुख हो जाता है।

मूल पाठ

ज मय सव्वसाहूण, त मयं सल्लगत्तणं ।
साहइत्ताण त तिन्ना, देवा वा अर्भावसु ते ॥२४॥
अर्भावसु पुरा धीरा, आगमिस्सा वि सुव्वया ।
दुन्निबोहस्स मग्गस्स, अत पाउकरा तिन्ने ॥२५॥

त्ति बेमि ॥

स छाया

यन्मत सर्वसाधूना, तन्मत शल्यकर्त्तयम् ।
भावयित्वा तत्तीर्णा, देवा वा अभूवश्च ते ॥२४॥
अभूवन् पुरा धीरा, आगमिन्यपि सुव्रता ।
दुर्निबोधस्य मार्गस्यान्त, प्रादुष्करास्तीर्णा ॥२५॥

इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(ज सव्वसाहूण मय) जो समस्त साधुओ को मान्य है (साहइत्ताण सल्लगत्तण त मय) उस पाप या पाप से उत्पन्न कर्मरूप शल्य को काटने वाले सयम की साधना करके (तिन्ना) अनेक जीव ससारसागर से तरे (पार हुए) हैं, (देवा वा अर्भावसु) अथवा वे देवता हुए हैं ॥२४॥

(पुरा धीरा अर्भावसु) प्राचीनकाल मे धीर (वीर) पुरुष हो चुके है, (आगमिस्सा वि सुव्वया) और भविष्य मे भी सुव्रत पुरुष होगे, (दुन्निबोहस्स मग्गस्स) यानी दु ख से प्राप्त करने योग्य सम्यग्दशन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग के (अत) अन्त को पाकर तथा (पाउकरा) उस मार्ग को प्रकाशित करके (तिन्ने) ससारसागर से पार हुए है ।

भावार्थ

समस्त साधुओ को मान्य जो सयम है, वह पाप या पाप से उत्पन्न कर्मरूप शल्य को काटने वाला है। इसलिए अनेक साधक उस सयम की आराधना करके ससारसागर से तरे (पार हुए) हैं अथवा वे देव हुए है ॥२४॥

प्राचीनकाल मे बहुत से वीर पुरुष हुए है, भविष्य मे भी होगे, वे दु ख से प्राप्त करने योग्य सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग के अन्त (सिरे) को पाकर तथा दूसरो के सामने उस मार्ग को प्रकाशित करके ससार से पार हुए है ॥२५॥

व्याख्या

सयम एव मोक्षमार्ग की साधना का सुपरिणाम

इन दोनो गाथाओ मे शास्त्रकार ने सयम एव मोक्षमार्ग की साधना का सुपरिणाम सक्षेप मे बताया है।

शास्त्रकार का कहना है कि सयम एक ऐसा महत्त्वपूर्ण एव सर्वसाधुओ द्वारा मान्य स्थान है, जो पाप या उससे उत्पन्न कर्मरूप शल्य को काटने वाला है। उस सयम का शास्त्रानुकूल सम्यक्‌रूप से अनुष्ठान करके या उसकी साधना करके बहुत से साधक ससारसागर से पार हुए है। जिनके कर्म पूर्णतया क्षय नहीं हुए, वे सम्यक्त्वप्राप्त सच्चारित्री साधक वैमानिक देव हुए हैं, या आगे चलकर होगे।

अब शास्त्रकार इस अध्ययन का उपसहार करते हुए सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का माहात्म्य और सुपरिणाम बताते हुए कहते है कि कर्म को विदारण करने मे समर्थ बहुत से वीरसाधक पूर्वकाल मे हो चुके हैं, भविष्य मे भी उत्तम सयम का अनुष्ठान करने वाले बहुत से साधक होगे और वर्तमान काल मे भी वैसे ही धीर-साधक हैं। उन साधको ने ससारसागर को कैसे पार किया, पार करेंगे या पार करते है। इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—दु ख से प्राप्त करने योग्य सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की अतिम सीमा (पराकाष्ठा) पर पहुँचकर तथा दूसरो के समक्ष उस मार्ग को प्रकाशित करके तथा स्वय उसका आचरण करते हुए ससारसागर से वे पार हुए है, हो रहे है और होगे। 'त्ति' शब्द समाप्ति का सूचक है, 'बेमि' का अर्थ पूर्ववत् है।

सूत्रकृताग सूत्र का पन्द्रहवां आदानीय नामक अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

॥ आदानीय न पन्द्रहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

गाथा : सोलहवाँ अध्य

अध्ययन का सक्षिप्त पि

पन्द्रहवे अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब सोलहवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। इस अध्ययन का नाम गाहा— गाथा हे। यह प्रथम श्रुतस्कन्ध का अन्तिम अध्ययन है। इस अध्ययन मे यह बताया गया है कि इससे पहले १५ अध्ययनो मे जो-जो बातें कही गई हैं, उनमे से जिनका विधान है, उनका विधिरूप से और ि निषेध है, उनका निषेध रूप से पालन करने वाला—यानी उन विधि-निषेधो का उसी तरह आचरण करनेवाला व्यक्ति साधु (उपलक्षण से साध्वी वृन्द भी) हो सकता है। इस अध्ययन मे प्रतिपादित अर्थ के साथ पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनो की सगति इस प्रकार है—**प्रथम अध्ययन** मे प्रतिपादित स्वसमय-परसमय का ज्ञान प्राप्त करने से साधु सम्यक्त्वगुण मे स्थिर होता है। **दूसरे अध्ययन** मे कहे हुए कर्मो को विदारण करने वाले ज्ञान आदि के द्वारा ८ कर्मों के विनाश मे समर्थ साधु होता है। **तीसरे अध्ययन** मे बताये गए अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहन करने वाला साधु होता है। **चौथे अध्ययन** मे बताये गये दु सह स्त्री-परीपह को जिसने महन कर लिया है, वही साधु है। **पचम अध्ययन** मे कही हुई नरक की पीडा को सुनकर नरक मे ले जाने वाले दुष्कर्मों का जो त्याग कर देता है, वही साधुता को प्राप्त करता है। **छठे अध्ययन** मे यह प्रेरणा दी गई कि जैसे चार ज्ञान के धारक श्रमण भगवान् महावीर ने क ˙ ˙ के लिए उद्यत होकर सयमपालन का पुरुपार्थ किया, वैसे ही अन्य छद्मस्थ साधुओ को करना चाहिए। **सातवें अध्ययन** मे यह प्ररूपण है कि कुशील के दोषो को जानकर जो साधक उन्हे त्यागकर सुशील मे स्थित होता है, वही सुविहित साधु होता है। **आठवें अध्ययन** मे बताया गया है कि मोक्षाभिलाषी साधको को बालवीर्य का त्याग करके पण्डितवीर्य के लिए उद्यत होना चाहिए। **नौवें अध्ययन** मे कहा गया है कि शास्त्रोक्त क्षमा आदि श्रमणधर्मो को यथावत् पालता हुआ साधक ससार से मुक्त हो जाता है। **दसवें अध्ययन** मे कहा है सर्वाङ्गीण समाधि से युक्त साधक मोक्ष प्राप्त करता है। **ग्यारहवें अध्ययन** मे बतलाया गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी उत्तम भावमार्ग को प्राप्त करके साधक क्लेशो का नाश करता है। **बारहवें अध्ययन** मे बताया गया है ि अन्य-

तीर्थिको के एकान्तवादी दर्शनो को गुण-दोष विचार के सहित भली भाँति जानता हुआ पुरुष उनमे श्रद्धा नही करता। तेरहवें अध्ययन मे कहा गया है कि शिष्य के गुण-दोषो को जानने वाला तथा सद्गुणो मे प्रवृत्त साधु ही स्वपरकल्याणकर्ता होता है। चौदहवें अध्ययन मे यह कथन है कि जिसका अन्त करण प्रशस्तभावो से भावित होता है, वही नि शक तथा शान्त होता है। पन्द्रहवे अध्ययन मे बताया गया है कि शास्त्रोक्त चारित्र का पालन करने वाला साधु मोक्ष-साधक होता है।

सक्षेप मे, इस अध्ययन मे यह बताया गया है कि जो समस्त पापकर्मो से विरत है, राग-द्वेष-कलह-अभ्याख्यान-पैशुन्य-परनिन्दा-अरति-रति -मायामृषावाद-मिथ्यादर्शनशल्य से रहित है, समितियुक्त है, ज्ञानादि गुण सहित है, सर्वदा सयम मे प्रयत्नशील है, क्रोध-अभिमान से दूर है, वह माहण है। इसी तरह जो अनासक्त, निदानरहित, कषायमुक्त, हिंसा-असत्य-अब्रह्मचर्य-परिग्रह से रहित है, वह श्रमण है। जो अभिमानरहित, विनयसम्पन्न, परीषहो और उपसर्गो पर विजय प्राप्त करने वाला, आध्यात्मिक वृत्तियुक्त है, परदत्तभोजी है, वह भिक्षु है। जो ग्रन्थ-रहित (परिग्रहादि विरत) एकाकी है, एकविदु (एकमात्र आत्मा का ही ज्ञाता) है, पूजा-सत्कार का अभिलाषी नही है, वह निर्ग्रन्थ है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन मे माहण, श्रमण, भिक्षु एव निर्ग्रन्थ का स्वरूप बताया गया है। यह पिछले समस्त अध्ययनो का सार है। इस अध्ययन का नाम गाथा-षोडशक भी है।

गाथा अध्ययन क्या और कैसे ?

गाथा के चार निक्षेप होते है— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। नाम-गाथा, स्थापनागाथा तो सुगम हैं। ज्ञशरीर और भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्य-गाथा यह है कि जो पुस्तक और पन्नो पर लिखी हुई है जैसे 'जयति' इत्यादि। अथवा पुस्तक और पन्नो पर लिखी हुई यह षोडश-अध्ययनरूपा गाथा ही द्रव्यगाथा है। निर्युक्तिकार 'गाथा' शब्द का विश्लेषण करते हुए कहते है— जिसका उच्चारण मधुर, कर्णप्रिय एव सुन्दर हो, वह मधुरा भी गाथा है क्योकि वह मधुर शब्दो से बनी हुई होती है। अथवा जो मधुर अक्षरो मे प्रवृत्त करके गाई—पढी जाती है, उसका नाम भी गाथा है। अथवा जो सामुद्र छन्द मे रची गई हो वह गाथा है। गाथा का सामुद्र छन्द की दृष्टि से वृत्तिकार ने इस प्रकार अर्थ किया है—जो अनिबद्ध है—छन्दोबद्ध नही है, पण्डितो ने उसे ससार मे 'गाथा' नाम दिया है।[1] मालूम होता है, यह अध्ययन किसी प्रकार के पद्य मे रचित नही है, फिर भी गाया (पढा) जा सकता है, इसलिए इसका नाम 'गाथा' रखा गया है। अथवा जिसमे बहुत-सा अर्थसमूह एकत्रकर समाविष्ट किया गया हो, वह गाथा है। अर्थात पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनो मे जो अर्थ (बातें) कहे गए है, उन सबको पिण्डित—एकत्रित

१ 'तच्चेद छन्द —अनिबद्ध च यल्लोके गाथेति तत्पण्डितै प्रोक्तम'—सूत्र० वृत्ति

करके प्रस्तुत अध्ययन मे समाविष्ट किया गया है, इस कारण इसे गाथा अध्ययन कहते है। अथवा पन्द्रह अध्ययनो मे साधुओ के क्षमा आदि जो गुण विधि-निषेधरूप मे बताये गये हैं, वे इस सोलहवें अध्ययन मे एकत्र करके प्रशसात्मक रूप मे कहे जाते है, इसलिए इस अध्ययन को गाथा कहते है। भावगाथा वह है, जिसमे क्षायोपशमिक भाव से निष्पन्न गाथा से प्रति साकारोपयोग हो, क्योकि सम्पूर्ण श्रुत क्षायोपशमिक भाव मे ही माना जाता है। श्रुतरूप शास्त्र मे निराकारोपयोग सम्भव नही है।

शास्त्रकार अब क्रमप्राप्त सूत्र का अस्खलित आदि गुणो के साथ उच्चारण करते हैं—

मूल

अहाह भगव—एव से दते, दविए, वोसट्ठकाएत्ति वच्चे माहणेत्ति वा १ समणेत्ति वा २, भिक्खूत्ति वा ३, णिग्गथेत्ति वा ४।।

पडिआह—भते ! कह नु दते, दविए, वोसट्ठकाएत्ति वच्चे माहणेत्ति वा, समणेत्ति वा, भि खूत्ति वा, णिग्गथेत्ति वा ? त नो बूहि महामुणी ! ।।सूत्र १।।

सस्कृत छाया

अथाह भगवान् एव स दान्तो, द्रव्यो, व्युत्सृष्टकाय इति वाच्य — माहन इति वा, श्रमण इति वा, भिक्षुरिति वा, निर्ग्रन्थ इति वा ।।

प्रत्याह—भदन्त ! कथ नु दान्तो, द्रव्यो, व्युत्सृष्टकाय इति वाच्य माहन इति वा, श्रमण इति वा, भिक्षुरिति वा, निर्ग्रन्थ इति वा ? तन्नो ब्रूहि महामुने ! ।।सूत्र १।।

अन्वयार्थ

(अह भगव आह) पन्द्रह अध्ययन कहने के बाद भगवान् ने कहा कि (एव से दते, दविए, वोसट्ठकाएत्ति वच्चे माहणेत्ति वा, समणेत्ति वा, भिक्खूत्ति वा, णिग्गथेत्ति वा) पन्द्रह अध्ययनो मे उक्त अर्थों (गुणो) से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मन को वश मे कर चुका है, मुक्तिगमन-योग्य है, जिसने शरीर का व्युत्सर्ग कर दिया है, उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

(पडिआह) शिष्य ने प्रतिप्रश्न किया—(भते ! कह नु दते दविए वो काएत्ति, माहणत्ति वा, समणेत्ति वा, भिक्खूत्ति वा, णिग्गथेत्ति वा वच्चे ?) हे भदन्त ! पन्द्रह अध्ययनो के कथित अर्थों (गुणो) से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय-मनोविजयी है, मुक्तिगमनयोग्य (द्रव्य) है, एव काया का व्युत्सर्ग कर चुका है, उसे क्यो माहन,

श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ? (त नो बूहि महामुणी) हे महामुने ! वह हमे आप बताइए ।

भावार्थ

पन्द्रह अध्ययन कहने के पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी ने कहा— "पन्द्रह अध्ययनो मे कथित अर्थों (बातो) से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मन को वश मे कर चुका है, मुक्तिगमन के योग्य (द्रव्य) है, जिसने शरीर पर से ममत्व का व्युत्सर्ग (त्याग) कर दिया है, उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ।" शिष्य ने पूछा—"भदन्त ! पन्द्रह अध्ययनो मे उक्त अर्थो से सम्पन्न जो पुरुष इन्द्रिय और मन को जीत चुका है, मोक्षगमन के योग्य (भव्य) है तथा कायव्युत्सर्ग कर चुका है, उसे क्यो माहन, श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ? हे महामुने ! कृपया यह हमे बताइए ।"

व्याख्या

माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ स्वरूप और प्रतिप्रश्न

इस सूत्र मे यह बताया गया है कि श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्यो के सामने जब पन्द्रह अध्ययनो मे उक्त साधु-गुणो के सम्बन्ध मे श्रमण भगवान् महावीर के उद्गार प्रस्तुत किये कि ऐसा व्यक्ति माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है, तब उसी के सम्बन्ध मे जम्बूस्वामी आदि ने प्रतिप्रश्न किया है ।

यहाँ 'अथ' शब्द प्रथम और अन्तिम मगल-रूप होने से वह इस श्रुतस्कन्ध के अन्तिम मगल का सूचक है । अथवा अथ शब्द 'अनन्तर' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, जिसका आशय है] पन्द्रह अध्ययनो के पश्चात उनके अर्थो को एकत्रित करने वाला यह सोलहवां अ प्रारम्भ किया जाता है । अर्थात् इसके पश्चात् उत्पन्न दिव्य-ज्ञानसम्पन्न भगवान् महावीर ने देवो और मनुष्यो से परिपूर्ण परिषद् मे ऐसी (आगे कही जाने वाली) बात कही है । यह कहकर श्री सुधर्मास्वामी यह कहना चाहते है कि पिछले १५ अध्ययनो मे या इस गाथा अध्ययन मे जो कुछ भी उपदेश दिया गया है, वह सब भगवान् का है, मेरा इसमे कुछ नही है । मैं तो उनके द्वारा कथित उद्गारो का व्यवस्थित रूप से सम्पादन करने वाला हूँ, इसमे मेरा अपना कुछ नही है ।

भगवान् ने क्या कहा था ? इसे शास्त्रकार उट्टंकित करते हैं—"१५ अध्ययनो मे जो विधि-निषेधरूप उपदेश दिया गया है, उसके अनुरूप आचरण करने वाला साधु दान्त, द्रव्य और व्युत्सृष्टकाय है तो नि सन्देह उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है । दान्त उसे कहते है—जो साधक इन्द्रिय और मन का दमन करता है, पापाचरण मे या सावद्यकार्यो मे प्रवृत्त होने से रोक लेता है ।

इतना ही नही, उसकी इन्द्रियाँ और मन इतने अभ्यस्त हो जाएँ कि विपरीत मार्ग पर जाएँ ही नही। तथा मुक्ति जाने योग्य होने से द्रव्यभूत है, अथवा भव्य अर्थ मे द्रव्य मे शब्द का प्रयोग होता है। इसके अनुसार उत्तम जाति के सुवर्ण की तरह राग-द्वेष के समय होने वाले अपद्रव्य—यानी बुराइयो से रहित होने के कारण जो शुद्ध द्रव्यभूत है। शरीर को सजाने-सवारने, शृगारित करने आदि शारीरिक सस्कारो का जिसने त्याग कर दिया हो और जो शरीर से सब प्रकार का ममत्व त्याग चुका हो, वह साधक व्युत्सृष्टकाय कहलाता है। ऐसे विशिष्ट गुणो से सुशोभित साधक को माहन कहना चाहिए, श्रमण कहना चाहिए, भिक्षु कहना चाहिए या उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए। माहन का अर्थ होता है जो स्वय स्थावर, जगम, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त भेद वाले प्राणियो का हनन नही करता है, 'और किसी भी प्राणी का हनन मत करो' इसी प्रकार का उपदेश वह दूसरो को भी देता ह। 'समण' शब्द प्राकृत भाषा का है, उसके सस्कृत मे तीन रूप होते हैं—श्रमण, शमन और समन। श्रमण का अर्थ है—जो तप-सयम में यथाशक्ति श्रम-पुरुषार्थ करता है। शमन का अर्थ है—कषायो का उपशमन करने वाला। तीसरे समन का अर्थ है—जो प्राणिमात्र पर समभाव रखता है, अथवा शत्रु-मित्र पर जिसका मन सम है। अथवा प्राणिमात्र पर अनुकम्पा की भावना से युक्त हो, वह भी 'समन' कहलाता है।

'भिक्षु' का अर्थ है—जो स्वय पचन-पाचन आदि क्रिया नही करता, न पैसे से भोजनादि मोल लेता है, न खरीद कर लाया हुआ भोजन लेता है, किन्तु निर्दोष, कल्पनीय, एषणीय, निरवद्य, अचित्त, आहारपानी भिक्षा के रूप मे ग्रहण करके जीवन निर्वाह करता है, जो निरवद्य भिक्षाशील है, भिक्षाजीवी है। अथवा जो आठ प्रकार के कर्मो का भेदन करता है, वह भिक्षु कहलाता है। अथवा जो इन्द्रियदमन आदि भासुर (दैदीप्यमान) गुणो से युक्त होता है, उसे भी भिक्षु कहना चाहिए।

निर्ग्रन्थ उसे कहते हैं—जिसकी बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थियाँ नष्ट हो गई हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर ने कहा कि पूर्वोक्त १५ अध्ययनो मे उक्त अर्थो के अनुसार अनुष्ठान करने वाले दान्त, शान्त, मोक्ष-प्राप्ति योग्य, विदेह (देह ममत्वत्यागी) साधु को माहन कहना चाहिए, श्रमण कहना चाहिए या भिक्षु कहना चाहिए अथवा उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

इसे सुनकर श्री जम्बूस्वामी आदि ने श्री सुधर्मास्वामी से सविनय प्रतिप्रश्न किया कि तथारूप साधक को माहन, श्रमण, आदि क्यो और किस अपेक्षा से कहा गया है? यह आप हमे बताएँ? क्योकि आप भदन्त (कल्याणकारी) है अथवा आप भय का अन्त करने वाले है, या भव (ससार) का अन्त करने वाले हैं। हे महामुने! आप त्रिकालज्ञ हैं, भगवान् के सघ के एक विशिष्ट प्रतिनिधि है।

श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ? (त नो बूहि महागुणी) हे महामुने ! वह हमे आप बताइए ।

भावार्थ

पन्द्रह अध्ययन कहने के पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी ने कहा—“पन्द्रह अध्ययनो मे कथित अर्थो (वातो) से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मन को वश मे कर चुका है, मुक्तिगमन के योग्य (द्रव्य) है, जिसने शरीर पर से ममत्व का व्युत्सर्ग (त्याग) कर दिया है, उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ।” शिष्य ने पूछा—“भदन्त ! पन्द्रह अध्ययनो मे उक्त अर्थो से सम्पन्न जो पुरुष इन्द्रिय और मन को जीत चुका है, मोक्षगमन के योग्य (भव्य) है तथा कायव्युत्सर्ग कर चुका है, उसे क्यो माहन, श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ? हे महामुने ! कृपया यह हमे वताइए ।”

व्याख्या

माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ स्वरूप और प्रतिप्रश्न

इस सूत्र मे यह बताया गया है कि श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्यो के सामने जब पन्द्रह अध्ययनो मे उक्त साधु-गुणो के सम्बन्ध मे श्रमण भगवान् महावीर के उद्गार प्रस्तुत किये कि ऐसा व्यक्ति माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है, तब उसी के सम्बन्ध मे जम्बूस्वामी आदि ने प्रतिप्रश्न किया है ।

यहाँ 'अथ' शब्द प्रथम और अन्तिम मगल-रूप होने से वह इस श्रुतस्कन्ध के अन्तिम मगल का सूचक है । अथवा अथ शब्द 'अनन्तर' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, जिसका आशय है; पन्द्रह अध्ययनो के पश्चात उनके अर्थो को एकत्रित करने वाला यह सोलहवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है । अर्थात् इसके पश्चात् उत्पन्न दिव्य-ज्ञानसम्पन्न भगवान् महावीर ने देवो और मनुष्यो से परिपूर्ण परिषद् मे ऐसी (आगे कही जाने वाली) बात कही है । यह कहकर श्री सुधर्मास्वामी यह कहना चाहते हैं कि पिछले १५ अध्ययनो मे या इस गाथा अध्ययन मे जो कुछ भी उपदेश दिया गया है, वह सब भगवान् का है, मेरा इसमे कुछ नही है । मैं तो उनके द्वारा कथित उद्गारो का व्यवस्थित रूप से सम्पादन करने वाला हूँ, इसमे मेरा अपना कुछ नही है ।

भगवान् ने क्या कहा था ? इसे शास्त्रकार उट्टंकित करते है—“१५ अध्ययनो मे जो विधि-निषेधरूप उपदेश दिया गया है, उसके अनुरूप आचरण करने वाला साधु दान्त, द्रव्य और व्युत्सृष्टकाय है तो नि सन्देह उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है । दान्त उसे कहते हैं—जो साधक इन्द्रिय और मन का दमन करता है, पापाचरण मे या सावद्यकार्यो मे प्रवृत्त होने से रोक लेता है ।

इतना ही नही, उसकी इन्द्रियाँ और मन इतने अभ्यस्त हो जाएँ कि विपरीत मार्ग पर जाएँ ही नही। तथा मुक्ति जाने योग्य होने से द्रव्यभूत ह, अथवा अन्य अर्थ मे द्र य मे शब्द का प्रयोग होता है। इसके अनुसार उत्तम जाति के सुवर्ण की तरह राग-द्वेष के समय होने वाले अपद्रव्य—यानी बुराइयो से रहित होने के कारण जो शुद्ध द्रव्यभूत है। शरीर को सजाने-सवारने, शृगारित करने आदि शारीरिक सस्कारो का जिसने त्याग कर दिया हो और जो शरीर से सब प्रकार का ममत्व त्याग चुका हो, वह साधक व्युत्सृष्टकाय कहलाता है। ऐसे विशिष्ट गुणो से सुशोभित साधक को माहन कहना चाहिए, श्रमण कहना चाहिए, भिक्षु कहना चाहिए या उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए। माहन का अर्थ होता है जो स्वय स्थावर, जगम, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त भेद वाले प्राणियो का हनन नही करता है, 'और किसी भी प्राणी का हनन मत करो' इसी प्रकार का उपदेश वह दूसरो को भी देता है। 'समण' शब्द प्राकृत भाषा का है, उसके सस्कृत मे तीन रूप होते है—श्रमण, शमन और समन। श्रमण का अर्थ है—जो तप-सयम में यथाशक्ति श्रम-पुरुषार्थ करता है। शमन का अर्थ है—कषायो का उपशमन करने वाला। तीसरे समन का अर्थ है—जो प्राणिमात्र पर समभाव रखता है, अथवा शत्रु-मित्र पर जिसका मन सम है। अथवा प्राणिमात्र पर अनुकम्पा की भावना से युक्त हो, वह भी 'समन' कहलाता है।

'भिक्षु' का अर्थ है—जो स्वय पचन-पाचन आदि क्रिया नही करता, न पैसे से भोजनादि मोल लेता है, न खरीद कर लाया हुआ भोजन लेता है, किन्तु निर्दोष, कल्पनीय, एषणीय, निरवद्य, अचित्त, आहारपानी भिक्षा के रूप मे ग्रहण करके जीवन निर्वाह करता है, जो निरवद्य भिक्षाशील है, भिक्षाजीवी है। अथवा जो आठ प्रकार के कर्मों का भेदन करता है, वह भिक्षु कहलाता है। अथवा जो इन्द्रियदमन आदि भासुर (दैदीप्यमान) गुणो से युक्त होता है, उसे भी भिक्षु कहना चाहिए।

निर्ग्रन्थ उसे कहते है—जिसकी बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थियाँ नष्ट हो गई हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर ने कहा कि पूर्वोक्त १५ अध्ययनो मे उक्त अर्थो के अनुसार अनुष्ठान करने वाले दान्त, शान्त, मोक्ष-प्राप्ति योग्य, विदेह (देह ममत्वत्यागी) साधु को माहन कहना चाहिए, श्रमण कहना चाहिए या भिक्षु कहना चाहिए अथवा उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

इसे सुनकर श्री जम्बूस्वामी आदि ने श्री सुधर्मास्वामी से सविनय प्रतिप्रश्न किया कि तथारूप साधक को माहन, श्रमण, आदि क्यो और किस अपेक्षा से कहा गया है ? यह आप हमे बताएँ ? क्योकि आप भदन्त (कल्याणकारी) है अथवा आप भय का अन्त करने वाले हैं, या भव (ससार) का अन्त करने वाले हैं। हे महामुने ! आप त्रिकालज्ञ हैं, भगवान् के सघ के एक विशिष्ट प्रतिनिधि है।

श्री सुधर्मास्वामी भगवान् के आशय को स्पष्ट करने के लिए और शिष्यो के समाधानार्थ अगले सूत्रो मे कहते है —

मूल

इति विरए सव्वपावकम्मेहिं पिज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुन्न-परपरिवाय-अरति-रति-मायामोस - मिच्छादमणसल्लविरए, सहिए समिए, सया जए णो कुज्झे, णो माणी माहणेत्ति वच्चे ।।सूत्र २।।

सस्कृत ।

इति विरत सर्वपापकर्मभ्य प्रेम-द्वेष-कलहाभ्याख्यान-पैशुन्य पर-परीवादारतिरति-माया मृषा-मिथ्यादर्शनशल्यविरत सहित समित, सदा यत न क्रुध्येन्नो मानी माहन इति वाच्य ।।सूत्र २।।

• र्थ

(इति सव्वपावकम्मेहिं विरए) पूर्वोक्त १५ अध्ययनो मे जो उपदेश दिया है, उसके अनुसार आचरण करने वाला जो साधक समस्त पापो से निवृत्त है, (पिज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुन्न-परपरिवाय-अरतिरति-मायामोस-मिच्छादसणसल्लविरए) जो किसी पर राग-द्वेष नही करता, जो कलह से दूर रहता है, किसी पर झूठा दोपारोपण नही करता, किसी की चुगली नही करता, दूसरो की निन्दा नही करता, जिसकी सयम मे अरुचि और असयम मे रुचि नही है, कपटयुक्त झूठ नही वोलता (दम्भ नही करता), यानी १८ ही पापस्थानो मे विरत होता है, (समिए सहिए) पाँच समितियो से युक्त है, ज्ञानदर्शनचारित्र से युक्त है,(सया जए) सदा षट्जीव-निकाय की यतना (रक्षा) करने मे तत्पर रहता है, अथवा सदा इन्द्रियजयी होता है, (णो कुज्झे णो माणी) किसी पर क्रोध नही करता और न मान करता है, इन गुणो से अनगार 'माहन' कहे जाने योग्य है ।

र्थ

पूर्वोक्त १५ अध्ययनो मे उपदिष्ट बातो के अनुसार आचरण करने वाला जो साधक सब पापो से निवृत्त है, किसी के प्रति राग-द्वेष नही करता, किसी से कलह नही करता, किसी के प्रति मिथ्यादोपारोपण नही करता, किसी की चुगली नही खाता, किसी की निन्दा नही करता, जिसकी सयम मे अरुचि और असयम मे रुचि नही होती, जो मायाचार नही करता तथा मिथ्यात्वरूपी शल्य से विरत है, पाँच समितियो से तथा सम्यग्दर्श ।दि रत्नत्रय से युक्त है, सदा इन्द्रियजयी है या सदा छहकाय के जीवो पर यतना

करता है, किसी पर क्रोध नहीं करता, न कभी मान करता है, ऐसा साधक ही माहन कहलाने योग्य है।

व्याख्या

ऐसे साधुओं को 'माहन' क्यों कहा जाए ?

पूर्वसूत्र में जम्बूस्वामी आदि द्वारा यह प्रश्न उठाया गया था कि पूर्वोक्त विशिष्ट गुणयुक्त साधु को माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ क्यों कहना चाहिए ? इसके उत्तर में श्री सुधर्मास्वामी के द्वारा प्रश्न के एक अंश 'माहन' के सम्बन्ध में इस सूत्र में बताया गया है। वास्तव में माहन का तात्पर्य होता है—किसी भी प्रकार से, किसी भी जीव की, मन-वचन-काया से हिंसा न करना, न कराना और न हिंसा का अनुमोदन करना। राग-द्वेष से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य[1] तक जो पापस्थान गिनाएँ हैं, उनके सेवन से भावहिंसा तो अवश्य होती है। भावहिंसा द्रव्यहिंसा से भी अधिक भयंकर है। द्रव्यहिंसा बाद में हो, चाहे न हो, घोर कर्मबन्धन तो भावहिंसा से तुरन्त हो ही जाता है। इसलिए उक्त साधक को 'माहन'[2] कहने के पीछे भगवान् का आशय यही है कि वह राग-द्वेष से लेकर मिथ्यादर्शन तक जो पापस्थान भावहिंसा के मूल कारण हैं उनसे विरत रहता है। इन सबके अर्थों का स्पष्टीकरण भावार्थ में कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त उस साधक को माहन इसलिए कहा जाना चाहिए कि वह पांच समिति और उपलक्षण से तीन गुप्तियों से युक्त है। ये अष्ट प्रवचन-माताएँ ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग की प्रवृत्ति के समय या मन-वचन-काया की प्रवृत्ति के समय अहिंसा-सत्यादि महाव्रतों की रक्षा करती हैं, साधक को सावधान रखती हैं, जैसे मारना हिंसा है, वैसे झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि भी एक तरह से हिंसा है—भावहिंसा है। जो साधु पाँच समिति और तीन गुप्ति से सम्पन्न है, वह इस प्रकार की भावहिंसा से दूर है इसलिए उसका माहन पद सार्थक है। फिर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये रत्नत्रय हिंसानिवारण का अमोघ उपायभूत मार्ग हैं, इससे सुशोभित साधु माहन ही तो कहलाएगा। इसके अनन्तर

---

१ जगत् में कोई पदार्थ नहीं है, कोई भी नित्य नहीं है, न कोई कर्म करता है, न कोई कर्म का फल भोगता है, तथा मोक्ष कोई पदार्थ नहीं है, और उसकी प्राप्ति का कोई भी उपाय नहीं है, ये ६ मिथ्यात्व के स्थान हैं, जो शल्य के समान महाभयंकर हैं, भावहिंसाजनक हैं, माहन इस मिथ्यादर्शनशल्य से निवृत्त है।

—सम्पादक

२ मा + हन (मत हिंसा करो) इन दो शब्दों से माहन शब्द बनता है, 'हन हिंसा-गत्योः' धातु से 'हन' शब्द बनता है जो हनन करता है, वह हन है, जो हनन नहीं करता वह माहन है। अर्थात् जो किसी प्रकार से हिंसा नहीं करता है।

'सया जए' शब्द है, जिसका एक अर्थ होता है, जो साधक षड्जीवनिकाय की रक्षा करने मे सदा यत्नवान होता है, दूसरा अर्थ होता है—जो इन्द्रियो को सावद्य व्यापार (जो कि हिंसाजनक होता है) मे जाने नही देता, उन पर विजय पाया हुआ है, ऐसे साधक को भी 'माहन' कहना अनुचित नही। आगे जो दो वाक्य है कि वह किसी पर क्रोध नही करता, अभिमान नही करता, वे भी उसकी परम अहिंसा के द्योतक है। क्योकि क्रोध, मान, माया लोभ इन चारो कषायो का सेवन करने से भावहिंसा होती है। जो साधक क्रोधमानरूप भावहिंसा से दूर रहता है, वह माहन कहलाने योग्य है ही। इन सब दृष्टियो से या गुणो के कारण पूर्वोक्त साधक को माहन कहा जाना युक्तियुक्त है।

मूल

एत्थवि समणे अणिस्सिए, अणियाणे, आदाणं च अतिवाय च, मुसावाय च, बहिद्ध च, कोह च, माणं च, माय च, लोह च, पिज्ज च, दोस च इच्चेव जओ जओ आदाण अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणाओ पुव्वि पडिविरए पाणाइवाया सिया दते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे ॥सूत्र ३॥

संस्कृत छाया

अत्राऽपि श्रमणोऽनिश्रितोऽनिदान आदान चातिपात च, मृषावाद च, बहिद्धञ्च, क्रोध,च, मान च, माया च, लोभ च, प्रेम च, द्वेष च, इत्येव यतो यत आदानमात्मन -प्रद्वेषहेतून् ततस्तत आदानात् पूर्वं प्रतिविरत प्राणातिपातात् स्याद् दान्ते द्रव्यो व्युत्सृष्टकाय श्रमण इति वाच्य ॥सूत्र ३॥

अन्वयार्थ

(एत्थवि समणे) जो श्रमण पूर्वोक्त विरति आदि गुणो से युक्त है उसे आगे (यहाँ) कहे जाने वाले गुणो से भी सम्पन्न होना चाहिए। (अणिस्सिए अणियाणे) जो शरीर आदि मे आसक्त नही है, तथा जो किसी भी सासारिक फल की आकाक्षा, कामना (निदान) नही करता है। (आदाण)-जिनसे कर्मो का आदान—ग्रहण हो, यानी कर्मबन्ध के कारणभूत (अतिवाय च मुसावाय च बहिद्ध च) प्राणिहिंसा, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह उपलक्षण से अदत्तादान से रहित है, (कोह च, माण च, माय च, लोह च, पिज्ज च, दोस च) इसी तरह जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष नही करता है, (इच्चेव जओ जओ अप्पणो पद्दोसहेऊ) इस प्रकार जिन-जिन बातो से आत्मा की इहलोक-परलोक मे हानि दिखती है, तथा जो-जो अपनी आत्मा के लिए द्वेष के कारण हैं, (तओ तओ पाणाइवाया आदाणाओ पुव्व पडिविरए) उन-उन प्राणातिपात आदि कर्मबन्ध के कारणो से पहले से ही जो निवृत्त है, तथा जो

(वते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे सिया) इन्द्रियविजयी, मुक्तिगमन के योग्य और जो शरीर के ममत्व से रहित है, उसे श्रमण करना चाहिए।

भावार्थ

जो श्रमण पूर्वोक्त विरति आदि गुणो से विशिष्ट है, उसे आगे (यहाँ) कहे जाने वाले गुणो से भी सम्पन्न होना चाहिए। जो शरीरादि मे आसक्त न रहता हुआ, अपनी तप आदि साधना के सासारिक फल की आकाक्षा (निदान) नही करता है, एव जो कर्मबन्धन के कारणभूत प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से रहित है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष नही करता है, एव जिन जिन प्रवृत्तियो से इहलोक और परलोक मे आत्मा की हानि होती है, या जिन-जिन कार्यो से कर्मबन्ध होता है, जिससे आत्मा द्वेष का भाजन (कारण) वनता है, उन-उन प्राणातिपात आदि कर्मबन्ध के कारणो से जो पहले से ही निवृत्त है। जो इन्द्रियविजेता है, मोक्षगमन के योग्य है, तथा शरीर के ममत्व से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिए।

व्याख्या

ऐसे साधक को 'श्रमण' कहने मे कोई आपत्ति नहीं

पहले सूत्र की व्याख्या करते समय श्रमण के हमने तीन अर्थ बताए थे। मूल मे 'समण' शब्द है, उसका पहला रूप श्रमण होता है। श्रमण अपने ही पुरुषार्थ के बल पर जीता है, वह दूसरे किसी भी देवी-देव या किसी धनिक या सत्ताधीश के आगे गिडगिडाता नही, वह कष्ट या आफत आने पर स्वय ही सामना करता है, आत्मा स्वय ही कर्मो से बधा है, इसलिए स्वय ही छूट सकता है यह उसका निश्चित सिद्धान्त है, इसीलिए यहाँ श्रमण की योग्यता के लिए 'अनिश्रित' शब्द का प्रयोग किया है। यानि वह किसी का आश्रित बनकर—परभाग्योपजीवी बनकर नही जीता, वह स्वय सयम और तप मे पुरुषार्थ करके आगे बढेगा। दूसरा विशेषण है—'अणियाणे' वह श्रमण जो तपस्या करता है, अपने कर्मों को काटने के लिए मोक्षप्राप्ति के लिए, लेकिन वह अपनी तपस्या के साथ उसके फल के रूप से किसी भी प्रकार की इह-लौकिक या पारलौकिक कामना, नामना या सासारिक सुख-भोग की आकाक्षा (निदान) को नही जोडेगा, वह निर्निदान रहेगा। इसी तरह दूसरो की आशा न रख-कर श्रमण मोक्ष के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र; या चारित्र के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना अपने श्रम के बल पर करेगा। इसी प्रकार श्रमण का जितना भी श्रम या तप होता है, वह कर्मक्षय के लिए होता है, जिन हिंसा आदि से कर्म-बन्धन होता हो, उन्हे वह क्यो अपनाएगा। इसीलिए यहाँ हिंसा, झूठ, मैथुन, परिग्रह आदि पाप कर्मबन्धन के कारणो (आदानो) से दूर

रहना श्रमण के लिए आवश्यक वताया ह । समण का एक रूप होता ह 'शमन' । जो कपायो या राग-द्वेप का शमन करता ह, वह शमन ह । इसीलिए यहाँ क्रोध से लेकर रागद्वेप तक के विकारो का शमन भी श्रमण के लिए आवश्यक वताया है । इसके अतिरिक्त जो-जो कर्मवन्धन के कारण ह, उन-उन से कर्मक्षयपुरुपार्थी श्रमण दूर ही रहता ह । और तीसरा रूप जो समन ह, वह सूचित करता है कि श्रमण के जीवन मे समभाव होना चाहिए, उसे द्वेप के कारणो एव राग या मोह के कारणो से दूर रहकर समत्व मे स्थित रहना आवश्यक ह । इसलिए 'अणिस्सिए' से लेकर वोसट्ठकाए' तक के जो गुण आवश्यक वताए ह, 'समण' शब्द के तीनो रूपो मे आ जाते हे । अत ऐसे गुणो से युक्त साधक को श्रमण कहना पूर्णतया उचित ह ।

मूल पाठ

एत्थवि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दते दविए वोसट्ठ-काए, सविधुणीय विरूवरूव परिसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे, उवट्ठिए ठिअप्पा सखाए परदत्तभोई भिक्खूत्ति वच्चे ॥सूत्र ४॥

सस्कृत

अत्राऽपि भिक्षुरनुन्नतो विनीतो नामको दान्तो द्रव्यो (द्रविक) व्युत्सृष्टकाय सविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अध्यात्मयोगशुद्धादान उपस्थित स्थितात्मा सख्याय परदत्तभोजी भिक्षुरिति वाच्य ॥सूत्र ४॥

अन्वयार्थ

(एत्थवि भिक्खू) 'माहन' और 'श्रमण' शब्द के अर्थ मे जितने गुण पूर्वसूत्र मे वर्णित है, वे यहा भिक्षु मे भी होने चाहिए । इसके अतिरिक्त यहाँ भिक्षु के लिए जो विशिष्ट गुण है, उनका होना भी आवश्यक हे । जैसे (अणुन्नए) अनुन्नत यानी वह अभिमानी न हो, (विणीए) गुरु आदि या ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि के प्रति विनयशील हो, (नामए) सबके प्रति नम्र व्यवहार करता हो, (दते) इन्द्रिय और मन को वश मे रखता हो, (दविए) मुक्ति प्राप्त करने योग्य गुणो से युक्त हो, (वोसट्ठकाए) शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर चुका हो,(विरूवरूवे परिसहोवसग्गे सविधुणीय) नाना प्रकार के परीषहो और उपसर्गो का समभाव से सामना करके सहने वाला (अज्झप्पजोग सुद्धादाणे) जिसका चारित्र अध्यात्मयोग से शुद्ध हे, (उवट्ठिए) जो सच्चारित्र के पालन मे उद्यत है—उपस्थित है,(ठिअप्पा) जो स्थितप्रज्ञ है, अथवा जिसकी आत्मा अपने शुद्धभाव मे स्थित है, या जिसका चित्त मोक्षमार्ग मे स्थिर है, (सखाए परदत्तभोई) ससार को असार जानकर दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिये गए आहार से जो अपना निर्वाह करता है, (भिक्खूत्ति वच्चे) उस साधु को भिक्षु कहना चाहिए ।

भावार्थ

'माहन' और 'श्रमण' की योग्यता के लिए जितने गुण पूर्वसूत्रो मे वर्णि . है, वे सभी गुण यहाँ वर्णित भिक्षु मे होने आवश्यक है। इसके अतिरिक्त ये (आगे कहे जाने वाले) विशिष्ट गुण भी भिक्षु मे होने चाहिए। जैसे वह साधु निरभिमानी हो, गुरु आदि अथवा सम्यग्ज्ञानादि के प्रति विनीत हो, सबके प्रति उसका व्यवहार नम्र हो, इन्द्रिय मनोविजेता हो, जो मोक्षप्राप्ति के योग्य गुणो से सम्पन्न हो, जो शरीर के प्रति अनासक्त रहकर परीषहो और उपसर्गों को समभाव से सह लेता हो, जिसका चारित्र अध्यात्मयोग के प्रभाव से निर्मल हो, जो उत्तम चारित्र-पालन मे उद्यत हो, और जो स्थितप्रज्ञ हो, अथवा जिसकी आत्मा अपने आत्मभाव मे स्थित हो या जिसका चित्त मोक्षमार्ग मे स्थिर हो, तथा जो ससार को नि सार जानकर दूसरे के द्वारा दिये हुए एषणीय प्रासुक कल्पनीय आहार-पानी (भिक्षान्नमात्र) से अपना निर्वाह करता हो, उसे नि सन्देह भिक्षु कहना चाहिए।

व्याख्या

इतने गुणों से सम्पन्न ही वास्तव मे भिक्षु है

त्यागी साधु की भिक्षा भीख माँगना नही है, साधु पेशेवर भिखारी कतई नही है और न भिक्षा से पेट पालकर शरीर को हृष्टपुष्ट बनाकर आलसी एव निकम्मे बनकर पडे रहना है। आचार्य हरिभद्रसूरि के चिन्तन के परिप्रेक्ष्य मे देखे तो जैनसाधु की भिक्षा सर्वसम्पत्करी है, उसकी भिक्षा पुरुषार्थ को नष्ट करने वाली न तो पौरुषघ्नी है, और न ही वह आजीविका भिक्षा है। दूसरी बात यह है कि आध्यात्मिक जगत् मे भिक्षा लेने का अधिकार उसी को है, जो अपने जीवन को आध्यात्मिक साधना द्वारा, या रत्नत्रय की आराधना द्वारा उन्नत बनाता हो, जो अहर्निश तप-सयम मे, स्वपरकल्याण मे पुरुषार्थ करता हो, वही सच्चे माने मे भिक्षु कहलाने योग्य है। इस तथ्य के प्रकाश मे जब हम भिक्षु के गुणो की नापतौल करते हैं तो इस सूत्र मे बताये गए सभी गुण यथार्थ हैं। एक भी गुण ऐसा नही है, जो भिक्षु के लिए उचित और अनिवार्य न हो। भिक्षु स्वपरकल्याण के लिए तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की साधना के लिए अहर्निश आध्यात्मिक पुरुषार्थ करता है। वह अहिंसा की दृष्टि से स्वय भोजन पकाता या पकवाता नही, और अपरिग्रह की दृष्टि से स्वय मोल नही खरीदता, न मोल खरीदा हुआ लेता है, ऐसी स्थिति मे वह गृहस्थवर्ग से अपने लिए बनाये हुए आहारादि मे से उनके द्वारा दिया हुआ थोडा-थोडा लेकर अपनी तृप्ति कर लेता है। गृहस्थ के यहाँ बने हुए आहार को भी वह छीनकर, चुराकर, या बिना पूछे उठाकर नही लाता और न ही वहाँ से अनेषणीय, अकल्पनीय या सचित्त वस्तु लाता है, वृक्ष आदि पर लगे हुए पके

रहना श्रमण के लिए आवश्यक बताया है। समण का एक रूप होता है 'शमन'। जो कषायो या राग-द्वेष का शमन करता है, वह शमन है। इसीलिए यहाँ क्रोध से लेकर रागद्वेष तक के विकारो का शमन भी श्रमण के लिए आवश्यक बताया है। इसके अतिरिक्त जो-जो कर्मबन्धन के कारण है, उन-उन से कर्मक्षयपुरुषार्थी श्रमण दूर ही रहता है। और तीसरा रूप जो समन है, वह सूचित करता है कि श्रमण के जीवन मे समभाव होना चाहिए, उसे द्वेष के कारणो एव राग या मोह के कारणो से दूर रहकर समत्व मे स्थित रहना आवश्यक है। इसलिए 'अणिस्सिए' से लेकर वोसट्ठकाए' तक के जो गुण आवश्यक बताए है, 'समण' शब्द के तीनो रूपो मे आ जाते है। अत ऐसे गुणो से युक्त साधक को श्रमण कहना पूर्णतया उचित है।

मूल पाठ

एत्थवि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दते दविए वोसट्ठकाए, सविधुणीय विरूवरूव परिसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे, उवट्ठिए ठिअप्पा सखाए परदत्तभोई भिक्खूत्ति वच्चे ॥सूत्र ४॥

सं छाया

अत्राऽपि भिक्षुरनुन्नतो विनीतो नामको दान्तो द्रव्यो (द्रविक) व्युत्सृष्टकाय सविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अध्यात्मयोगशुद्धादान उपस्थित स्थितात्मा सख्याय परदत्तभोजी भिक्षुरिति वाच्य ॥सूत्र ४॥

अन्वयार्थ

(एत्थवि भिक्खू) 'माहन' और 'श्रमण' शब्द के अर्थ मे जितने गुण पूर्वसूत्र मे वर्णित है, वे यहाँ भिक्षु मे भी होने चाहिए। इसके अतिरिक्त यहाँ भिक्षु के लिए जो विशिष्ट गुण है, उनका होना भी आवश्यक है। जैसे (अणुन्नए) अनुन्नत यानी वह अभिमानी न हो, (विणीए) गुरु आदि या ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि के प्रति विनयशील हो, (नामए) सबके प्रति नम्र व्यवहार करता हो, (दते) इन्द्रिय और मन को वश मे रखता हो, (दविए) मुक्ति प्राप्त करने योग्य गुणो से युक्त हो, (वोसट्ठकाए) शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर चुका हो,(विरूवरूवे परिसहोवसग्गे सविधुणीय) नाना प्रकार के परीषहो और उपसर्गो का समभाव से सामना करके सहने वाला (अज्झप्पजोग सुद्धादाणे) जिसका चारित्र अध्यात्मयोग से शुद्ध है, (उवट्ठिए) जो सच्चारित्र के पालन मे उद्यत है—उपस्थित है,(ठिअप्पा) जो स्थितप्रज्ञ है, अथवा जिसकी आत्मा अपने शुद्धभाव मे स्थित है, या जिसका चित्त मोक्षमार्ग मे स्थिर है, (सखाए परदत्तभोई) ससार को असार जानकर दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिये गए आहार से जो अपना निर्वाह करता है, (भिक्खूत्ति वच्चे) उस साधु को भिक्षु कहना चाहिए।

भावार्थ

'माहन' और 'श्रमण' की योग्यता के लिए जितने गुण पूर्वसूत्रो मे वर्णि . है, वे सभी गुण यहाँ वर्णित भिक्षु मे होने आवश्यक है। इसके अतिरिक्त ये (आगे कहे जाने वाले) विशिष्ट गुण भी भिक्षु मे होने चाहिए। जैसे वह साधु निरभिमानी हो, गुरु आदि अथवा सम्यग्ज्ञानादि के प्रति विनीत हो, सबके प्रति उसका व्यवहार नम्र हो, इन्द्रिय मनोविजेता हो, जो मोक्षप्राप्ति के योग्य गुणो से सम्पन्न हो, जो शरीर के प्रति अनासक्त रहकर परीषहो और उपसर्गो को समभाव से सह लेता हो, जिसका चारित्र अध्यात्मयोग के प्रभाव से निर्मल हो, जो उत्तम चारित्र-पालन मे उद्यत हो, और जो स्थितप्रज्ञ हो, अथवा जिसकी आत्मा अपने आत्मभाव मे स्थित हो या जिसका चित्त मोक्षमार्ग मे स्थिर हो, तथा जो ससार को नि सार जानकर दूसरे के द्वारा दिये हुए एषणीय प्रासुक कल्पनीय आहार-पानी (भिक्षान्नमात्र) से अपना निर्वाह करता हो, उसे नि सन्देह भिक्षु कहना चाहिए।

व्याख्या

इतने गुणों से सम्पन्न ही वास्तव मे भिक्षु है

त्यागी साधु की भिक्षा भीख माँगना नही है, साधु पेशेवर भिखारी कतई नही है और न भिक्षा से पेट पालकर शरीर को हृष्टपुष्ट बनाकर आलसी एव निकम्मे बनकर पडे रहना है। आचार्य हरिभद्रसूरि के चिन्तन के परिप्रेक्ष्य मे देखे तो जैनसाधु की भिक्षा सर्वसम्पत्करी है, उसकी भिक्षा पुरुषार्थ को नष्ट करने वाली न तो पौरुषघ्नी है, और न ही वह आजीविका भिक्षा है। दूसरी बात यह है कि आध्यात्मिक जगत् मे भिक्षा लेने का अधिकार उसी को है, जो अपने जीवन को आध्यात्मिक साधना द्वारा, या रत्नत्रय की आराधना द्वारा उन्नत बनाता हो, जो अहर्निश तप-सयम मे, स्वपरकल्याण मे पुरुषार्थ करता हो; वही सच्चे माने मे भिक्षु कहलाने योग्य है। इस तथ्य के प्रकाश मे जब हम भिक्षु के गुणो की नापतौल करते है तो इस सूत्र मे बताये गए सभी गुण यथार्थ हैं। एक भी गुण ऐसा नही है, जो भिक्षु के लिए उचित और अनिवार्य न हो। भिक्षु स्वपरकल्याण के लिए तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की साधना के लिए अहर्निश आध्यात्मिक पुरुषार्थ करता है। वह अहिंसा की दृष्टि से स्वय भोजन पकाता या पकवाता नही, और अपरिग्रह की दृष्टि से स्वय मोल नही खरीदता, न मोल खरीदा हुआ लेता है, ऐसी स्थिति मे वह गृहस्थवर्ग से अपने लिए बनाये हुए आहारादि मे से उनके द्वारा दिया हुआ थोडा-थोडा लेकर अपनी तृप्ति कर लेता है। गृहस्थ के यहाँ बने हुए आहार को भी वह छीनकर, चुराकर, या बिना पूछे उठाकर नही लाता और न ही वहाँ से अनेषणीय, अकल्पनीय या सचित्त वस्तु लाता है, वृक्ष आदि पर लगे हुए पके

फलो को भी वह स्वय तोडकर नही लेता, और न किसी सूने घर मे या रास्ते मे पडी किसी के स्वामित्व से रहित वस्तु को उठाता हे या उसका उपयोग या उपभोग करता हे। वह जब भी कोई चीज लेगा भिक्षावृत्ति के द्वारा भिक्षा के अपने नियमानुसार प्राप्त और दूसरे के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दी हुई वस्तु का ही उपयोग या उपभोग करेगा। इसीलिए भिक्षु का सबसे बडा गुण यहाँ बताया हे—'परदत्तभोई' किन्तु 'परदत्तभोजिता' का अर्थ यह नही है कि जैनभिक्षु का भिक्षा का पेशा या धन्धा हो। ऐसा करने वाला दीन-हीन बन जाएगा, उसकी तेजस्विता समाप्त हो जाएगी, उसे भिक्षा लेने का अधिकार उसकी स्वपरकल्याण की या मोक्ष की साधना को लेकर हे। जब कोई व्यक्ति भिक्षा को अपनी आजीविका का साधन या अधिकार की वस्तु बना लेता हे तो उसमे अभिमान आ जाता हे, वह उद्धत होकर दूसरो पर धौस जमाने लगता हे, अगर उसे भिक्षा न दोगे तो वह श्राप या अन्य अनिष्टकारक विधि से उसका अनिष्ट कर देगा, इस प्रकार की धमकी देने लगता है, अथवा जब उसे भिक्षा नही दी जाती है या नही मिलती हे तो वह उन गृहस्थो को अपशब्द कहने लगता हे, भला-बुरा कहने लगता हे या उसे या उस गाव या नगर को कोसने लगता है, यह स्थिति सर्वसम्पत्करी भिक्षाजीवी भिक्षु के लिए उचित नही हे, इसीलिए यहाँ भिक्षु के चार विशिष्ट गुण दिये हैं, जो भिक्षा करने के साथ-साथ उसमे आने जरूरी हे—'अणुन्नए विणीए नामए दते' यानी भिक्षु मे भिक्षाजीविता के साथ-साथ निरभिमानिता या अनुद्धतता (द्रव्य और भाव दोनो प्रकार से), विनीतता, नम्रता और इन्द्रिय-मनोविजयिता होनी अनिवार्य हे। वह शरीर से भी अक्खडपन न जताए तथा मन मे भी उद्धतता या गर्व न लाए। न किसी गृहस्थ पर धौस जमाए, न श्राप आदि अपशब्दो का प्रयोग करे। भिक्षा कभी न मिली या देर से मिली तो मन मे भी रोष, द्वेषभाव न लाए। और यह सोचे कि आत्मा तो निराहारी, निर्वस्त्र एव उपाधिरहित है। मैं जितना भी हो सके, इस शरीर के प्रति ममत्व छोडकर नि स्पृह, निरपेक्ष, सहायतारहित बनूं। इसी दृष्टि से यहाँ वोसट्ठकाए, सखाए, ठिअप्पा और उवट्ठिए ये चार विशिष्ट गुण भिक्षाजीवी साधु के दिए है। व्युत्सृष्टकाय (शरीर पर से अपनी आसक्ति का उत्सर्ग करने वाला) का रहस्य ऊपर दिया जा चुका हे। सखाए का रहस्यार्थ यह हे कि साधु अपने शरीर के स्वभाव का चिन्तन करे कि इसमे जितना भी भरा जाता हे, वह मल के रूप मे निकल जाता है, फिर सरस, स्वादिष्ट, औद्देशिक आहार से भरने के बजाय सादे सात्त्विक एव कल्पनीय-एषणीय आहार से इसे क्यो न भरू ? शरीर को तो जैसे चाहे वैसे रखा जा सकता है, थोडे-से सादे सात्त्विक आहार से भी शरीर निभ सकता हे। मेरा धर्म हे कि मैं शरीर को लेकर पराधीन न बनूं या कम से कम पदार्थो से अपना काम चलाऊँ। यह गुण भिक्षाजीविता के साथ बहुत ही उपयोगी है।

'ठिअप्पा' का तात्पर्य है कि भिक्षु अपने आत्मभावो मे स्थिर रहे, खाने-पीने, पहनने आदि पदार्थों का चिन्तन न करे और न ही सासारिक पदार्थों को पाने की लालसा करे। वह या तो आत्मगुणचिन्तन मे लीन रहे या मोक्षमार्ग मे स्थिर रहे। यह गुण भी भिक्षु के लिए इसलिए अनिवार्य है कि फिर वह आहारादि पदार्थों को लाचारी या निर्बलता के रूप मे ही स्वीकार करेगा, वह भी उपकृतभाव से। इसी-लिए यहाँ उवट्ठिए विशेषण का प्रयोग भिक्षु के लिए किया गया है। उसका आशय भी यही है कि भिक्षु अपने सच्चारित्र पालन मे उद्यत रहे, उसी का ही ध्यान रखे, चिन्तन करे, शरीर या शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ के चिन्तन से मन को हटा ले। 'अज्झप्पजोगसुद्धादाणे' का आशय भी यही है कि भिक्षाचर्यारूप जो चारित्र है, उसे अध्यात्म भावनाओ से ओत-प्रोत व शुद्ध रखे कि "मेरी भिक्षाचर्या अध्यात्मजीवन को पुष्ट करने और रत्नत्रय की आराधना करने के लिए है, शरीर को पुष्ट, बलवान या मोटा बनाने के लिए नही।"

साधु जब भिक्षाजीवी है तो उसे आहार, पानी, वस्त्र, धर्मोपकरण, मकान, तख्त आदि सब चीजे भिक्षा से ही प्राप्त होती है। ऐसी दशा मे साधु को कई जगह २२ परीपहो या देवादिकृत उपसर्गो मे से किसी भी परीपह या उपसर्ग से वास्ता पड सकता है। आहार, वस्त्र, उपकरण, मकान आदि न मिलने, अनुकूल न मिलने या अन्य कोई उपद्रवादि रूप परीपहो या उपसर्गो का सामना करने का अवसर आए तो तपस्वी साधु उस समय अपनी सहिष्णुता का परिचय दे। इस दृष्टि से इस सूत्र मे बताए गए सभी विशिष्ट गुण होने पर उस साधक को भिक्षु कहने मे कोई आपत्ति नही है।

मूल प

एत्थवि णिग्गंथे एगे एगविऊ बुद्धे सछिन्नसोए सुसजते सुसमिते सुसामाइए, आयवायपत्ते विऊ दुहओ वि सोयपलिच्छिन्ने णो पूयासक्कारलाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवन्ने समिय चरे दते दविए वोसट्ठकाए निग्गथेत्ति वच्चे ॥ सूत्र ५ ॥

से एवमेव जाणह जमह भयतारो। त्ति बेमि॥

सस्कृत छाया

अत्राऽपि निर्ग्रन्थ एक एकविद् बुद्ध सच्छिन्नस्रोता सुसयत, सुसमित सुसामायिक आत्मवादप्राप्त विद्वान् द्विधाऽपि स्रोतः परिच्छिन्नो नो पूजासत्कारलाभार्थी धर्मार्थी धर्मविद् नियागप्रतिपन्नः समता चरेद् दान्तो द्रव्यो व्युत्सृष्टकायो निर्ग्रन्थ इति वाच्य ॥सूत्र ५॥

तदेवमेव जानीत यदह भयत्रातार। इति ब्रवीमि ॥

वह सछिन्नसोए (आस्रवद्वारो को वन्द करने वाला), सोयपलिच्छिन्ने (द्रव्यभाव दोनो प्रकार से ससार मे आगमन के स्रोत (मार्ग) को काटने वाला) वन सकेगा।

आभ्यन्तर ग्रन्थो मे हिंसा आदि पाप भी है। निर्ग्रन्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह सुसमित बने, धर्मवेत्ता बने, इन्द्रियो और मन को विपयो मे जाने से रोके, अपने शरीर पर से ममता उतारे। ये गुण आने पर वह ईर्या आदि पाँचो समितियो से युक्त होकर हिंसा, असत्य आदि ग्रन्थो से दूर रह सकेगा। धर्मवेत्ता वनकर प्रत्येक प्रवृत्ति धर्म से युक्त कर सकेगा, हिंसा आदि पापरूप ग्रन्थि से बचेगा, साथ ही निर्ग्रन्थ एक पर राग और दूसरे पर द्वेप नही करेगा, न किसी से वैर बढाएगा न किसी से मोह, दोनो ही पर समभाव रखेगा। इसी प्रकार पूजा, सत्कार या वस्त्रादि लाभ की आकाक्षा नही करेगा, इन्हे वन्धन और आत्मा को परतन्त्रता मे डालने वाले समझेगा। इसलिए निर्ग्रन्थ के लिए पूजा-सत्कारलाभ से निरपेक्ष रहना अनिवार्य है। शरीर सब खुराफातो की जड है, इसे खाने, पीने, रहने, पहनने-ओढने और इसे सुख-सुविधा मे रखने के लिए मनुष्य नाना प्रकार के पाप कर्म करता है, उस पर ममत्व करके कर्मवन्धन करता है, सुकुमार वनाकर परीपहो और उपसर्गो का सामना करने से कतराता है, इस प्रकार सामान्य मनुष्य जहाँ शरीर पर ममत्व रखकर हिंसा, झूठ, परिग्रह आदि अनेक पापो की गाँठ बाँध लेता है, वहाँ निर्ग्रन्थ इसी शरीर पर से ममत्व हटाकर इसे सस्कारित करने एव सजाने-सँवारने मे व्यर्थ समय, शक्ति नही खोता, वह काया पर से ममत्व का व्युत्सर्ग कर देता है, उसे अनासक्तिपूर्वक आहार पानी देकर उससे सयमपालन या धर्माचरण करता है। मोक्षमार्ग मे उसे सलग्न कर देता और मोक्षगमन के योग्य (भव्य) बन जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ के वोसट्ठकाए, णियागपडिवन्ने दविए दते आदि विशिष्ट गुण सार्थक ही हैं। इस दृष्टि से निर्ग्रन्थ के ये विशिष्ट गुण जिसमे हो, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

आप्तपुरुष के इस कथन की सत्यता मे सदेह नहीं

श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं कि मैंने जो वाते आप लोगो से कही हैं, वे अपनी ओर से नही कही, अपितु तीर्थंकरदेव से सुनकर कही हैं, इसलिए ऐसे आप्तपुरुष के द्वारा उक्त वचन की सत्यता मे कोई सन्देह नही हो सकता। क्योकि एकान्तहितैपी, सबको भय से बचाने वाले, राग-द्वेप मोहादि से रहित सर्वज्ञ आप्त अन्यथा उपदेश नही करते हैं।

इति सोलसम गाहानामज्झयण समत्त ॥

इस प्रकार सूत्रकृताग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का गाथा नामक सोलहवाँ अध्ययन अमरसुखवोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

॥ पढमो सुयक्खधो समत्तो ॥

॥ प्रथम श्रुतस्कन्ध सम्पूर्ण ॥